Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Banaras Hindu University Sanskrit Series

Vol. XV

General Editor

Dr. Sudarshan Lal Jain
Head of the Department of Sanskrit

Director
Sanskrit Studies and Research

Banaras Hindu University
Varanasi

1993

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE
TAITTIRĪYA–PRĀTIŚĀKHYA

With the Commentaries
Padakramasadana of Māhiṣeya, Tribhāṣyaratna of Somayārya
and Vaidikābharaṇa of Gārgya Gopāla Yajvā With
Hindi Exposition by Prof. Vīrendra Kumar Varmā

Edited & Translated
By
Prof. Virendra Kumar Varma
M. A., Ph. D. Rgvedācārya
Professor, Department of Sanskrit & Ex.-Dean, Faculty of Arts
Banaras Hindu University

1993

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© Publisher
Banaras Hindu University
Varanasi

First edition
October, 1993

Price Rs. 250/-

Printed by
Banaras Hindu University Press
B. H. U., Varanasi 221005

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्

भाहिषेयकृतेन 'पदक्रमसदन'-भाष्येण, सोमयार्यकृतेन
'त्रिभाष्यरत्न'-भाष्येण, गार्ग्यगोपालयज्वकृतेन 'वैदिकाभरण'-भाष्येण,
प्रो० वीरेन्द्रकुमारवर्मकृतया हिन्दीव्याख्यया च विभूषितम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च
प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा
एम० ए०, पीएच० डी०, ऋग्वेदाचार्य
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, पूर्व-कलासंकाय-प्रमुख
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९९३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© प्रकाशक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रथम संस्करण
अक्टूबर १९९३

मूल्य रु० २५०/-

मुद्रक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस
वाराणसी—२२१००५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

वैदिक वाङ्मय में प्रातिशाख्यशास्त्र का विशिष्ट स्थान है। इस शास्त्र में व्याकरण तथा शिक्षा दोनों वेदाङ्गों के तत्त्व सन्निहित हैं। प्रातिशाख्यों में उन संशयों का विशेषतः समाधान प्राप्त होता है जो लौकिक व्याकरण के ज्ञाताओं के लिए व्यामोह उत्पन्न करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वेद की उच्चारण-शैली में कुछ विशेषता है, अतः उसके परिज्ञान हेतु कतिपय विशिष्ट नियम प्रतिपादित किए गए हैं। उच्चारण-शैली की विभिन्नता का मूलस्रोत ध्वनियाँ हैं तथा ध्वनियों का मूलस्रोत स्थान, करण एवं प्रयत्न हैं। इनके पारस्परिक सूक्ष्म संयोजन एवं संघर्ष से ध्वनि वर्ण के रूप में अभिव्यक्त होती है। वर्णों में बाह्य तथा आभ्यन्तर परिस्थितियों के कारण विभिन्न वर्णों की निष्पत्ति होती है। वर्णाक्षरों के पारस्परिक सन्निकर्ष से ध्वनिपरिवर्तन अथवा वर्णपरिवर्तन होता है। इस निसर्ग-सिद्ध ध्वनिविज्ञान और सन्धिविज्ञान का जैसा विश्लेषण प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

ध्वनि की अभिव्यक्ति में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की स्वरपद्धति का स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है। इसका व्यवहार सम्प्रति मात्र वेदों के उच्चारण में दृष्टिगोचर होता है। इन स्वरों में वैषम्य अथवा शैथिल्य न हो, एतदर्थ प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में सूक्ष्मेक्षिका से विवेचन किया गया है। इसी कारण वेदों में वर्णोच्चारण तथा स्वरधर्म के विषय में पाठान्तर नहीं हैं। अतः प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय के लिए अतिशय उपकारक हैं।

प्रातिशाख्य-साहित्य में अज्ञातकर्तृक तैत्तिरीयप्रातिशाख्य का अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि यह ऋग्वेद तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्यों की अपेक्षा लघुकाय है तथापि व्याख्या-सम्पत्ति की दृष्टि से यह समस्त प्रातिशाख्यों से अधिक समृद्ध है। विविध आचार्यों के मतों का निरूपण तथा अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा व्यापक एवं सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक नियमों के प्रतिपादन के कारण तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य का स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के उपलब्ध तीन भाष्य एकत्र अद्यावधि प्रकाशित नहीं थे जिन्हें इस संस्करण में एकत्र समाहित किया गया है।

संस्कृत-साहित्य के प्रेमी पाठकों के लिए तीनों भाष्यों को एक साथ प्रस्तुत करने का महनीय कार्य वैदिक जगत् के प्रख्यात मनीषी प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा जी ने किया है। पाठकों की सुविधा के लिए इस समीक्षात्मक संस्करण में मूल सूत्र, त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण भाष्यों का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद इदम्प्रथमतया प्रस्तुत किया गया है। गूढ़ विषयों की स्पष्टता के लिए यथास्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तृत टिप्पणियाँ तथा स्थल-निर्देश के कारण यह संस्करण अत्यन्त उपादेय बन गया है। इस उत्कृष्ट कार्य के सम्पादन हेतु वैदिक वाङ्मय के पुरोधा आचार्य वीरेन्द्र कुमार वर्मा जी विद्वानों के हार्दिक धन्यवाद के भाजन हैं।

इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रो० श्री नारायण मिश्र (पूर्व अध्यक्ष) के कार्य-काल में (ई० १९९० में) ही प्रायः पूर्ण हो चुका था परन्तु कतिपय अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन तत्काल सम्भव न हो सका। कुछ पृष्ठों का मुद्रण कराने के बाद अब इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ का विद्वानों में अधिकाधिक समादर हो—यह मैं शुभकामना करता हूँ।

विजयादशमी
२०५० वि०

डॉ० सुदर्शन लाल जैन
निदेशक, संस्कृत अध्ययन तथा शोध
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

प्राचीनकाल में आर्यजन गुरु-मुख से संहितात्मक मन्त्रों का अध्ययन करके उनको स्मरण रखते थे। ब्राह्मण-काल के अनन्तर जब लोक-भाषा का अधिक विकास हुआ तब संहितात्मक वैदिक-मन्त्रों को भाषा से आर्यजन अपरिचित होने लगे। ऐसी स्थिति में वर्ण, पद, संधि, स्वर इत्यादि के विशिष्ट नियमों के अभाव में वेद की पवित्र ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण करना कठिन हो गया। तत्कालीन वैदिक विद्वानों ने अनुभव किया कि वैदिक मन्त्रों के बाह्यस्वरूप से सम्बद्ध विशिष्टताओं को ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों शिक्षा-ग्रन्थों और अनुक्रमणिका-ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें प्रातिशाख्य–ग्रन्थों का स्थान सर्वोपरि है। इस प्रकार वेदों की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का उद्भव हुआ।

'प्रातिशाख्य' शब्द से ज्ञात होता है कि कभी उतने ही प्रतिशाख्य-ग्रन्थ रहे होंगे जितनी वेदों की शाखायें थी। किन्तु आजकल थोड़े ही प्रातिशाख्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये छः प्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
(३) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य
(४) शौनकीया चतुरध्यायिका
(५) अथर्ववेद-प्रातिशाख्य
(६) ऋक्तन्त्र।

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध प्रस्तुत प्रातिशाख्य-ग्रन्थप द्यबद्ध सूत्र-रूप में है। सम्पूर्ण ग्रन्थ २४ अध्यायों में विभक्त है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विस्तार की दृष्टि से ऋग्वेद-प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि-प्रातिशाख्य से छोटा है। किन्तु विषय-विधान की दृष्टि से यह अत्यन्त विस्तृत एवं प्रामाणिक है। प्रथम अध्याय में वर्ण समाम्नाय, वर्णाख्या, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वर, उदात्तादिस्वर, अपृक्त, इङ्क्ष्य आदि अनेक विषयों का सम्यक् विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में शब्दोत्पत्ति, स्वर, व्यञ्जन, स्पर्श, अनुनासिक, अन्तःस्थ, ऊष्मन् आदि वर्णों के उच्चारण–प्रकार को विधिवत् बतलाया गया है। तृतीय अध्याय में संहिता-पाठ में स्थित दीर्घ स्वर के पद-पाठ में ह्रस्व होने का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह का विस्तृत विधान किया है। इसके अतिरिक्त अनेक अध्यायों में संहिता-चतुष्टय तथा उनमें होने वाले संधिविकारों–लोप, आगम, षत्व, णत्व, उपाचार आदि का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त अनुस्वार, अनुनासिक, तथा उनका परस्पर भेद, उदात्तादि स्वरों के विवेचन के बाद स्वरित के भेदों, प्रचय स्वर तथा उनके प्रयत्नों आदि पर भी विशद विचार उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य के २३ वें अध्याय में वाणी के सात स्थानों, कुष्ठादि स्वरों तथा आह्वारक-शाखानुयायियों के स्वरों का विधान किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की अपेक्षा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की विशिष्टताओं का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है—(१) अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के रचयिताओं-शौनक, कात्यायन आदि के नामों का निर्देश किया गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के कर्त्ता के नाम का निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। इसके कर्ता का निर्देश क्यों नहीं हुआ है—इसका कारण ज्ञात नहीं है, (२) इस प्रातिशाख्य में अग्निवेश्य, आत्रेय, उख्य, काण्डमायन, कौण्डिन्य, गौतम, भरद्वाज, वाल्मीकि, शाङ्खायन, हारीत इत्यादि अनेक प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख हुआहै। अन्य प्रातिशाख्यों में इस रीति को नहीं अपनाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में बहुत से मतों का संग्रह किया गया है और यह प्रातिशाख्य अत्यन्त प्रामाणिक तथा प्राचीन है, (३) इस प्रातिशाख्य में उदाहरणों के प्रसङ्ग में तथा अन्य प्रसङ्गों में तैत्तिरीय संहिता के भागों को विशेष अभिधानों से निर्दिष्ट किया गया हैं। यथा—अग्नि, इष्टि, उख्य, ग्रह, याज्या, वाजपेय, विहव्य इत्यादि। यह रीति अन्य प्रातिशाख्यों में उपलब्ध नहीं होती है। इससे प्रातिशाख्य के सूक्ष्म विवेचन में स्पष्टता आती है, (४) अन्य प्रातिशाख्यों ने अपनी संहिताओं के संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ के विषय में ही नियमों का निर्माण किया है। किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ तथा जटा-पाठ के विषय में नियमों का निर्माण किया है। (५) सूत्रकार ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। यही कारण है कि संधियों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होने पर भी उन्हें पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के माध्यम से नहीं समझाया गया है।

अन्य प्रातिशाख्यों की तुलना में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर सर्वाधिक भाष्य लिखे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। तै० प्रा० को समझने के लिए आजकल तीन भाष्य उपलब्ध होते हैं—(१) माहिषेयकृत पदक्रमसदन (२) सोमयार्यकृत त्रिभाष्यरत्न तथा (३) गोपालयज्वाकृत वैदिकाभरण। इनके अतिरिक्त आचार्य वररुचि तथा आत्रेय द्वारा भी तै० प्रा० पर भाष्य लिखे जाने का उल्लेख त्रिभाष्यरत्न में मिलता है किन्तु इनके द्वारा लिखे गये भाष्य आज उपलब्ध नहीं होते हैं

माहिषेयकृत पदक्रमसदनभाष्य—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर लिखे गये भाष्यों में यह भाष्य सर्वाधिक प्राचीन है। माहिषेयकृत प्रस्तुत भाष्य को माहिषेयभाष्य भी कहा जाता है। यह भाष्य अन्य भाष्यों की अपेक्षा संक्षिप्त तथा सरल भाषा में लिखा गया है। सभी सूत्रों को विस्तारपूर्वक व्याख्या नहीं की गई है तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय सूत्रों पर अपेक्षाकृत विस्तृत व्याख्या लिखी गई हैं। यह भाष्य त्रुटित रूप में उपलब्ध होता है, पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं होता है। त्रिभाष्यरत्न के कर्ता सोमयार्य ने अपने भाष्य में इस भाष्य से पर्याप्त सहायता ली है।

सोमयार्यकृत त्रिभाष्यरत्न—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर लिखे गये भाष्यों में माहिषेयभाष्य के पश्चात् त्रिभाष्यरत्न का नाम आता है। यह अत्यन्त उपयोगी भाष्य है। यह अपने से पूर्ववर्ती तीन भाष्यों को प्रकाशित करने के कारण त्रिभाष्यरत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहलाता है। भाष्यकार सोमयार्य ने वररुचि, आत्रेय तथा माहिषेय-इन तीन प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के आधार पर अपने भाष्य का प्रणयन किया है। तीन भाष्यों के आधार पर लिखा गया यह भाष्य निश्चितरूप से श्रेष्ठ तथा उपादेय है।

अनेक सूत्रों को स्पष्ट करने के लिए इसमें विस्तृत व्याख्या उपलब्ध होती है। सूत्रों को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने केवल संहिता से ही उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं अपितु कहीं-कहीं ब्राह्मण-अंश को भी उद्धृत किया है। भाष्यकार ने अनेक सूत्रों की व्याख्या करते समय वररुचि इत्यादि आचार्यों के मतों को भी प्रस्तुत किया है। भाष्यकार ने सूत्रस्थ सभा पदों की उपयोगिता दिखलाने का प्रयास किया है तथा सूत्रकार द्वारा विहित नियम के विरोध में उठाई गई पूर्वपक्षी की शङ्काओं का समाधान किया है। वैदिक विद्वान् होने के कारण सोमयार्य ने उच्चारण-विषयक सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की है।

गोपालयज्वकृत वैदिकाभरण—यह भाष्य माहिषेयभाष्य तथा त्रिभाष्यरत्न की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण गोपालयज्वा ने व्याकरण-विषयक नियमों को अत्यधिक विस्तृत रूप से व्याख्या की है। गोपालयज्वा ने प्रातिशाख्य को उस वेद की अनेक शाखाओं से सम्बद्ध माना है। इनका मत है कि प्रातिशाख्य मूलतः व्याकरण-प्रधान ग्रन्थ है। इसलिए सूत्रों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने अनेक स्थलो पर पाणिनि के सूत्रों को उद्धृत किया है। तै० प्रा० में प्रयुक्त सभी पारिभाषिक शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने उस शब्द का निर्वचन करने का प्रयत्न किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। गोपालयज्वा ने अपने मत के स्थापन के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने अनेक बार पूर्ववर्ती भाष्यकार सोमयार्य को मन्दबुद्धि शब्द से भी अभिहित किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे बड़े दम्भी तथा आत्मप्रशंसी व्यक्ति थे।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के संस्करण

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के चार संस्करण उपलब्ध होते हैं-(१) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का सर्वप्रथम संस्करण प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने १८६८ में न्यू हैवेन अमेरिका से प्रकाशित किया। इस संस्करण में सूत्रानुवाद, त्रिभाष्यरत्न भाष्य तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसमें सूत्रों को देवनागरी लिपि में तथा त्रिभाष्यरत्न को रोमन लिपि में प्रस्तुत किया गया है। सूत्रों का अनुवाद तथा त्रिभाष्यरत्न की व्याख्या अंग्रेजी में है।

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का एक संस्करण त्रिभाष्यरत्न के साथ १८७२ ई० में राजेन्द्र लाल ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। यह संस्करण अनेक अशुद्धियों से भरा हुआ है। अतः विशेष उपयोगी नहीं है।

(३) आर० शामशास्त्री तथा के० रङ्गाचार्य ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्करण त्रिभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरण के साथ सन् १९०६ ई० में मैसूर से प्रकाशित किया। इसका पुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास से हुआ। यह देवनागरी लिपि में है। यह संस्करण शुद्ध तथा विशेष उपयोगी है।

(४) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का चतुर्थ संस्करण वेङ्कटराम शर्मा द्वारा माहिषेयकृत पदक्रमसदन नामक भाष्य के साथ १९३० ई० में प्रकाशित किया गया। यह शुद्ध तथा उपयोगी है। माहिषेय भाष्य को सर्वप्रथम इसी संस्करण में प्रस्तुत किया गया है।

वर्तमान संस्करण

अभी तक जो कार्य नहीं हो सका था वह है—त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण का मन्थन। इन भाष्यों का आक्षरिक अनुवाद अब तक किसी भी भाषा में नहीं हुआ था। ये भाष्य आयतन में सूत्र से कम से कम क्रमशः बीस और चालीस गुणा हैं। विचार तथा शैली की दृष्टि से ये भाष्य पातञ्जल महाभाष्य, शाबर-भाष्य तथा ऋग्वेद प्रातिशाख्य के उवट-भाष्य प्रभृति प्रसिद्ध महाभाष्यों से किसी अंश में कम नहीं हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के इन भाष्यों में विभिन्न विषयों के वैचित्र्य तथा गम्भीर्य आ गये हैं। अतः इनका मन्थन समुद्र-मन्थन सा हो जाता है। विषय-वस्तु अत्यन्त पारिभाषिक होने के कारण और आधुनिक जगत् के सतत संचरण-क्षेत्र के बाहर होने के कारण अन्य अनेक शास्त्रों की भाँति प्रातिशाख्य-शास्त्र की रक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल होकर हमारे सामने उपस्थित हो गया है। रक्षा का अर्थ केवल नाशसे बचाना ही नहीं, प्रचार भी है। प्रातिशाख्य-शास्त्र की विषय-वस्तु परिभाषिक शब्दों एवं प्राचीन शैली से प्रतिपादित होने के कारण आधुनिक जगत् इस शास्त्र के लाभ से वंचित होता जा रहा है। यही स्थिति रही तो यह सम्प्रदाय क्रमशः लुप्त ही हो जायेगा। अतएव गुरु-परम्परा-सिद्ध एवं भारतीय-ऐतिह्य-वाही इस महान् ग्रन्थरत्न तैत्तिरीयप्रातिशाख्य की रक्षा अत्यन्त स्पृहणीय है। यह इष्ट तभी सिद्ध हो सकता है जब भाष्यों का रहस्य आधुनिक सुधी-समाज के सामने खोलकर रख दिया जाये। विशेषतः इसी उद्देश्य से इस संस्करण की प्रवृत्ति हुई है।

वर्तमान संस्करण की विशेषतायें

इस संस्करण की ये विशेषतायें हैं :—

(१) पूर्ववर्ती आचार्यों से जो कार्य सिद्ध है उसका पिष्टपेषण नहीं किया गया है, अपितु उसी के आधार पर इस कार्य को आगे बढ़ाया गया है। जैसे कि आर० शामशास्त्री तथा के० रङ्गाचार्य द्वारा गृहीत सूत्रपाठ एवं भाष्यपाठ को ही अधिकांशतः अपनाया गया है। कहीं-कहीं उनके पाठ का ग्रहण न करके राजेन्द्रलाल द्वारा गृहीत पाठान्तर को अपनाया गया है (२) इस संस्करण में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर अद्यावधि उपलब्ध तीनों भाष्यों—माहिषेयभाष्य, त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण को दिया गया है, (३) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का यह संस्करण अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयास है। प्रत्येक सूत्र का तथा तत्संलग्न दो भाष्यों—त्रिभाष्यरत्न और वैदिकाभरण का हिन्दी में आक्षरिक अनुवाद किया गया है। विषय को समझने में सौविध्य की दृष्टि से अनुवाद में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधुना प्रचलित लौकिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। कोष्ठकों में पारिभाषिक शब्दों का संनिवेश करके प्रौढ़ि भी संरक्षित की गई है। सूत्रार्थ तथा भाष्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुवाद करते समय आवश्यकतानुसार कोष्ठक में अतिरिक्त शब्द जोड़े गये हैं, (४) प्रत्येक सूत्र के अनुवाद में जहाँ-जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ-वहाँ सूत्रान्तर से अनुवृत्त शब्दों का ग्रहण किया गया है। उसी प्रकार भाष्यकार ने अपने भाष्य में जहाँ सूत्र-प्रतीक को छोड़ दिया है वहाँ-वहाँ कोष्ठक में उन प्रतीकों को दिखलाया गया है जिससे मूल और उसकी व्याख्या को संलग्न करके पाठक देख सकें; (५) यतः उपर्युक्त शास्त्र-रक्षा ही इस संस्करण का उद्देश्य है, अतः भाष्यस्थ प्रत्येक कठिन स्थल के विषय में टिप्पणी लिखी गई है। टिप्पणियों को सार्थक तथा संक्षिप्त बनाने के लिए निर्यासात्मक गणितीय रूप से विषयों का उपन्यास किया गया है; (६) आवश्यकतानुसार संहिता-पाठ, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ प्रदर्शित किये गये हैं; (७) सूत्रोक्त तथा भाष्योक्त प्रत्येक उदाहरण का मूल पादटिप्पणी में उल्लिखित किया गया है।

इस संस्करण को प्रस्तुत करने में यही उद्देश्य रहा है कि ग्रन्थ स्वयं ही अपने गुणों से पाठकों को अवगत कराये। अतएव यह कर्तव्य समझा गया है कि वैयक्तिक विचारों एवं कल्पनाओं को ग्रन्थ की विषय-वस्तु में न लगाया जाये। इस बात का निरन्तर ध्यान रखा गया है कि इस दुर्बोध विषय को आधुनिक पाठकों के सम्मुख आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया जाये जिससे बुद्धिमान् पाठकों को विषय के समझने में सौविध्य हो। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता मिली है इसके निर्णय के लिए यह ग्रन्थ विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत है।

संस्कृत-विभाग कला संकाय — वीरेन्द्र कुमार वर्मा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

१९९०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥

(ऋ० प्रा० उवटभाष्यम्)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

प्रथमाध्यायः

वर्णसमाम्नानम्	१—१४
उपसर्गाः	१५
वर्णनामधेयानि	१६—२१
परिभाषाः	२२—३०
ह्रस्वदीर्घप्लुताः	३१—३६
उदात्तादिस्वराः	३८—४७
इङ्ग्यादिलक्षणम्	४८—५३
अपृक्तलक्षणम्	५४—५५
परिभाषाः	५६—६१

द्वितीयाध्यायः

वर्णोत्पत्तिप्रकारनिर्वचनम्	१—११
अकारादिस्वरोच्चारणक्रमः	१२—२९
अनुनासिकस्वरूपनिर्वचनम्	३०
स्वरव्यञ्जनभेदनिरूपणम्	३१—३४
स्पर्शोच्चारणनिरूपणम्	३५—३९
अन्तस्थोच्चारणप्रकारः	४०—४३
ऊष्मोच्चारणप्रकारः	४४—४८
विसर्जनीयानुनासिकादिस्थाननिरूपणम्	४९—५२

तृतीयाध्यायः

पदादिपदान्तदीर्घाकारस्य ह्रस्वत्वापादनम्	१— ६
एवमीकारस्य अकारस्य च	७
पदान्तदीर्घाकारस्य ह्रस्वविधिः	८—१२
एवमीकारस्य अकारस्य च	१३—१४
एवं पदादिदीर्घाकारस्य	१५

चतुर्थाध्यायः

प्रग्रहनिरूपणम्	१—५४

पञ्चमाध्यायः

संहिताविषयत्वमस्य शास्त्रस्य	१
प्रकृतिस्वरूपनिर्वचनम्	२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधिप्रवृत्तिप्रकारः ३
शकारागमविधिः ४— ७
दकारागमविधिः ८
अरादेशविधिः ९
रेफषादेशदिधिः १०
मकारवकारसकारविसर्जनीययाकारलोपविधिः ११—१९
पदान्तनकारतकारयोश्शाद्यादेशविधिः २०—२७
मकारस्य सस्थानानुनासिकविधिः २७—३१
ङणनानां ककारतकारागमविधिः ३२—३३
शकारस्य छकारादेशः ३४—३७
हकारस्य स्थाने चतुर्थादेशविधिः ३८—४१

षष्ठाध्यायः

सकारविसर्जनीययोष्षादेशविधिः १— ५
तदपवादः ६—१३
पदान्तप्राकृतनकारस्य सादेशविधिः १४

सप्तमाध्यायः

नकारस्य णत्वविधिः १३—१४
नकारस्य णत्वप्राप्तिस्थलनिर्वचनम्

अष्टमाध्यायः

उत्तमपरप्रथमस्योत्तमादेशः १— ४
विसर्जनीयस्य रेफादेशविधिः ५—१५
विसर्जनीयलोपादिविधिः १६—२२
विसर्जनीयस्य सत्त्वषत्वविधिः २३—३५

नवमाध्यायः

विसर्जनीयस्य लोपादेशविधिः १—१०
अयवाद्यादेशविधिः ११—१५
अपृक्तोकारस्य प्रकृत्या स्थानं वकारागमश्च १६—१६
ङ्नकारयोर्द्वित्वम् १८—१९
ग्रहाख्यादिषु ईकारोकारपूर्वनकारस्य रेफाद्यादेशविधि २०—२४

दशमाध्यायः

स्वरसन्धिः १— ९
सन्धिनिमित्तोदात्तादिव्यत्ययः १०—१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वचदाकारस्य प्रकृतिभावः २३
अकाराकारयो लोपिः १४
यणादेशसन्धिस्तन्निमित्तस्वरभेदश्च १५—१७
ईकारस्य प्रकृतिभावः १८
पदान्तयवकारयोर्लोपः° १९—२३
प्रकृतिभावः २४—२५

एकादशाध्यायः

अकारलोपविधिः १
अकारस्य लोपाभावः २—१८
आलोपविषषे मतान्तरकथनम् १९

द्वादशाध्यायः

अकारस्य लोपालोपौ १— ८
तन्निमित्तोदात्तादिस्वरभेदः ९—११

त्रयोदशाध्यायः

मकारस्य लोपालोपौ १— ४
नस्य णत्वविधिः प्राकृतणकारश्च ५—१५
कस्य डादेशः १६

चतुर्दशाध्यायः

द्वित्वविधिः १— ८
आगमविधिः ९—११
ऊष्मवर्णस्य सवर्गीय द्वितीयादेशः १२—१३
पूर्वोक्तविध्यपवादः मतान्तर च १४—२८
स्वरितादिविधिः २९—३३

पञ्चदशाध्यायः

अनुस्वारविधिः १— ३
स्नादिष्वनुस्वारविधिः ४— ५
समानाक्षरेष्वनुनासिकविधिः ६— ८
एकयमविधिः ९

षोडशाध्यायः

पदमध्यवत्यूष्मभ्यः पूर्वमनुस्वारागमविधिः १—३१

सप्तदशाध्यायः

मतभेदमवलम्ब्य तीव्रतराद्यनुनासिकभेदकथनम् १— ४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीव्रतरोच्चारणे व्यञ्जनकालाधिक्यम् ५
दृढप्रयत्नतरविधिः ६
उच्चारणप्रकारः ७— ८

अष्टादशाध्यायः

प्रणवोच्चारणे मतभेदप्रकथनम् १— ७

एकोनविंशाध्यायः

विक्रमस्वरूपनिर्वचनम् १— २
कम्पविधिः ३— ५

विंशाध्यायः

क्षैप्रप्रतिहताभिनिहितप्रश्लिष्टपादवृत्ततैरोव्यञ्जननिरूपणम् १— ८
तेषामुच्चारणप्रकारः ९—१२

एकविंशाध्यायः

अङ्गसंहितादिकार्यनिरूपणम् १— ९
प्रचयस्वरूपनिरूपणम् १०—११
यमनासिक्यस्वरभक्तिस्वरूपनिर्वचनम् १२—१६

द्वाविंशाध्यायः

वर्णान्यत्वनिर्वचनम् १— २
एतच्छास्त्रप्रयुक्तपरिभाषिकशब्दविवरणम् ३— ८
उच्चैःकरनीचैःकरस्वरूपनिरूपणम् ९—१०
मन्द्रादिस्थाननिरूपणम् ११—१२
विरामस्वरूपकथनम् १३
गुरुलघुस्वरूपनिरूपणम् १४—१५

त्रयोविंशाध्यायः

वर्णविशेषोत्पत्तिकथनम् १— ३
सप्त वाचस्स्थानानि ४—१३
क्रुष्टादिस्वरनिरूपणम् १६—२४

चतुर्विंशाध्यायः

संहिताचतुष्टयस्वरूपनिरूपणम् १— ३
वेदाध्येतृविज्ञेयविषयकथनम् ५— ६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट—(१) सूत्रानुक्रमणिका ९२७
(२) तैत्तिरीयप्रतिशाख्ये उद्धृताचार्याणां सूची ९३६
(३) पारिभाषिकशब्दानां सूची ९३७

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीगणेशाय नमः ।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्

माहिषेयविरचितपदक्रमसदनाख्यभाष्येण सोमयार्यविरचित-त्रिभाष्यरत्नाख्यभाष्येण गार्ग्यगोपालयज्वविरचित-वैदिकाभरणाख्यभाष्येण च सहितम् ।

(त्रिभाष्यरत्नकारकृतं मङ्गलाचरणम्)[क]

भक्तियुक्तः प्रणम्याहं गणेशचरणद्वयम् ।
गुरूनपि गिरां देवीमिदं वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १ ॥
व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम् ।
कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम् ॥ २ ॥

श्लोकयोरनयोरयमर्थः—भक्तियुक्तः अहं गणेशचरणद्वयं गुरून् ; गिरां देवीमपि = वाग्देवीम् इत्यर्थः । तां च प्रणम्य लक्षणमिदं वक्ष्यामि । यत् लक्षणम् ; (त्रिभाष्यरत्नम्=) त्रिभाष्यरत्ननामकम् ; भूसुरप्रियम् = विद्वत्प्रियम् ; सत् भासते । कीदृशं लक्षणम् ?

भक्ति से युक्त मैं गणेश जी के दो चरणों, गुरुजी तथा वाग्देवी (सरस्वती) को प्रणाम करके (तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के) इस विवरण (लक्षण) को कहता हूँ । वररुचि आदि के द्वारा किए गए प्रातिशाख्य के व्याख्यान को देखकर त्रिभाष्यरत्न का निर्माण किया गया है[ख] जो विद्वानों (पृथ्वी के देवताओं) का प्रिय बनकर शोभायमान हो रहा है ।

इन दो श्लोकों का यह अर्थ है—भक्तियुक्तः अहं गणेशचरणद्वयम् = भक्ति से युक्त मैं गणेश जी के दो चरणों को; गुरून् =गुरुजी को; गिरां देवीमपि=वाणी की देवी (= सरस्वती) को—यह अर्थ है । उस (सरस्वती) को भी; प्रणम्य = प्रणाम करके;

(क) माहिषेय ने 'पदक्रमसदन' नामक अपने भाष्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया है । सोमयार्य ने अपने 'त्रिभाष्यरत्न' नामक भाष्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में दो श्लोकों का प्रणयन किया है तथा स्वयं ही उन श्लोकों का अर्थ भी लिखा है । गार्ग्य गोपालयज्वा ने अपने 'वैदिकाभरण' नामक भाष्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में दो श्लोकों का प्रणयन तो किया है, किंतु उनका अर्थ नहीं लिखा है ।

(ख) सोमयार्य ने वररुचि, आत्रेय और माहिषेय—इन तीन प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के आधार पर अपने भाष्य का प्रणयन किया है । इन तीन भाष्यों से श्रेष्ठ (परिनिष्ठित) होने के कारण सोमयार्य ने अपने भाष्य को 'त्रिभाष्यरत्न' यह अन्वर्थ नाम दिया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातिशाख्यस्य; (व्याख्यानम् =) व्याख्यानरूपम्; वाररुचादिकं भाष्यजातं वीक्ष्य न्यूनातिरेकपरिहारेण; कृतम् = विरचितम्। आदिशब्देन आत्रेयमाहिषेये गृह्येते। अत एव त्रिभाष्यरत्नमिति नाम्न उपपत्तिः। त्रयाणां भाष्याणां समाहारः त्रिभाष्यम्; तस्य; रत्नम् = भूषणम्।

(वैदिकाभरणकारकृतं मङ्गलाचरणम्)

प्रणम्य साङ्गमाम्नायमाचार्यांश्च प्रणीयते।
व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य गार्ग्यगोपालयज्वना ॥ १ ॥
अर्थरत्नैर्न्यायगुणैः पूर्वशास्त्रार्णवोद्धृतैः।
रचितं धारयन्त्वेतद्वैदिकाभरणं बुधाः ॥ २ ॥

लक्षणमिदं वक्ष्यामि = (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के सूत्रों के) इस विवरण को कहता हूँ। (त्रिभाष्यरत्नम् =) त्रिभाष्यरत्न नामक; यत् = जो; विवरण; भूसुरप्रियम्=विद्वानों (पृथ्वी के देवताओं) का प्रिय; होकर; भासते=शोभायमान हो रहा है। (प्रश्न) (यह) कैसा विवरण है? (उत्तर) वाररुचादिकम् = वररुचि आदि के द्वारा किए गए; प्रातिशाख्यस्य = प्रातिशाख्य के; (व्याख्यानम् =) व्याख्यान के रूप में विद्यमान; भाष्य-समूह को; वीक्ष्य = देखकर; अत्यधिक संक्षेप तथा अनावश्यक विस्तार का परिहार करते हुए[क]; कृतम् = बनाया गया है। ('वाररुचादिकम्' शब्द में प्रयुक्त) 'आदि'शब्द के द्वारा आत्रेय और माहिषेय (के भाष्यों) का ग्रहण होता है। इसलिए त्रिभाष्यरत्न नाम की उपपत्ति होती है। तीन भाष्यों का समाहार = त्रिभाष्य; उसका; रत्न = भूषण।

अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) के सहित वेद (आम्नाय) और आचार्यों को नमस्कार करके गार्ग्य गोपालयज्वा के द्वारा प्रातिशाख्य के व्याख्यान का प्रणयन किया जा रहा है। (प्रातिशाख्य के) नियम (न्याय) रूपी रज्जुओं (गुण) के द्वारा पूर्वशास्त्र रूपी समुद्र (अर्णव) से निकाले गए अर्थ रूपी रत्नों से रचे गए इस वैदिकाभरण को विद्वान् लोग धारण करें।[ख]

(क) प्राचीन भाष्यकारों ने कहीं-कहीं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का अति संक्षेप में व्याख्यान किया है। प्रस्तुत भाष्य में ऐसे स्थलों का विस्तार में व्याख्यान किया जायेगा। प्राचीन भाष्यकारों ने कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार किया है। प्रस्तुत भाष्य में ऐसे अनावश्यक विस्तार का परिहार किया जायेगा।

(ख) गार्ग्य गोपालयज्वा ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का जो भाष्य किया है उसका नाम उन्होंने 'वैदिकाभरण' रखा है। उसके अनुसार यह भाष्य वैदिकों के लिये आभूषण (आभरण) का कार्य करेगा। जिस प्रकार रत्ननिर्मित आभूषण पहनने (धारण करने) से व्यक्ति सुशोभित हो जाता है, उसी प्रकार इस 'वैदिकाभरण' के अध्ययन करने (धारण करने) से वैदिक विद्वान् सुशोभित हो जायेगा। अन्तर केवल इतना ही है कि आभूषण रज्जुओं के द्वारा समुद्र से निकाले हुए रत्नों से निर्मित होता है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वर्णसमाम्नायः)

अथ वर्णसमाम्नायः ॥ १ ॥

मा०—अथशब्दः शास्त्रादौ मङ्गल्य इत्युपदिश्यते। सोऽयं मङ्गलार्थः पुनः प्रयुज्यते, यथा नः स्वस्ति च स्यात्, साधु चाध्ययनं संवृत्तं त्वाचार्यशिष्ययोरिति। वर्णानां समाम्नायो वर्णसमाम्नायः। समित्येकीभावे। न आङ् मर्यादायाम्। आम्नाय इत्यानुपूर्व्येण अकारादयो यमपर्यवसानाः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टा वर्णाः। यथा—अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह कं खं गं घम् ॥ १ ॥

त्रि०—"मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ"[1] इति मङ्गलाद्यनेकार्थत्वात् अथशब्दस्य अर्थनिर्णयार्थमेकोऽर्थो निश्चेतव्यः। तत्र प्रथमं तावन्मङ्गलार्थत्वमुच्यते, तस्य प्रणवसाधर्म्यात्। तथा च समाचक्षते शिक्षाकाराः—"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च मङ्गलाविति कीर्त्तितौ" इति। आहोस्वित्—आनन्तर्यार्थता, वेदाध्ययनानन्तरं लक्षणज्ञानं कुर्यादिति सापेक्षत्वात्

सू० अ०—अब वर्णमाला (को प्रारम्भ करते हैं)।

त्रि० अ०—'अथो', 'अथ' के मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कात्स्न्र्य अर्थ होते हैं"—इस प्रकार मङ्गल इत्यादि अनेक अर्थ होने से 'अथ' शब्द के अर्थनिर्णय के लिए एक अर्थ निश्चित कर लेना चाहिए। उनमें से प्रथमतः ('अथ' शब्द के) मङ्गल अर्थ को बतलाया जाता है। उस ('अथ' शब्द) की ओंकार (प्रणव) से समानता है। शिक्षाकार भी वैसा कहते हैं—"ओंकार और 'अथ' शब्द मङ्गल अर्थ के वाचक बतलाये गए हैं।" अथवा ('अथ' शब्द) आनन्तर्य अर्थ का वाचक है। वेद के अध्ययन के पश्चात् लक्षण[क] का ज्ञान करना चाहिए—इस प्रकार लक्षण (वेद

जबकि 'वैदिकाभरण' रूप आभूषण प्रातिशाख्य के नियमों की सहायता से पूर्ववर्ती शास्त्र (व्याकरण) से निकाले गए अर्थों से समन्वित है। प्रातिशाख्य के सूत्रों की व्याख्या करते समय उन्होंने पूर्ववर्ती शास्त्र (व्याकरण) में विद्यमान अनेक अर्थों को अपने भाष्य में संनिविष्ट किया है। यही कारण है कि इस पद्य में गार्ग्य गोपालयज्वा विद्वानों से निवेदन कर रहे हैं कि वे इस 'वैदिकाभरण' को धारण करें (अर्थात् इसका अध्ययन करें।)

(क) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर वर्गद्वयवृत्ति (पृ० ८) में विष्णुमित्र ने कहा है—वेद का अभ्यास पाँच प्रकार का होता है—"अध्ययन, विचार, अभ्यसन, जप और अध्यापन। वेद का अध्ययन करने के उपरान्त विचार का अवसर प्राप्त होता है; और वह विचार दो प्रकार का होता है—अर्थ की दृष्टि से और लक्षण की दृष्टि से। पहले मन्त्रों का लक्षण कहा जाता है, क्योंकि लक्षण के उपरान्त अर्थ का ज्ञान होता है।" इस प्रकार विष्णुमित्र ने 'लक्षण' शब्द का प्रयोग 'बाह्य स्वरूप' के अर्थ में किया

(१) अमरकोष, पृ० ६२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षणस्य। पूर्वं वेदाधिगमे सत्यथ लक्षणपरीक्षावसरः। अथवा अधिकारार्थः अथशब्दः "स्वर्थैवेति विनिवर्त्तकाधिकारकावधारकाः"[1] इति वक्ष्यमाणत्वात्।

अथ; वर्णसमाम्नायः = वर्णानां पाठक्रमः; अधिक्रियत इति सूत्रान्वयः। सम् इति एकीभावे, आ इति मर्यादायाम्, म्नायः इत्यानुपूर्व्येणोपदेशः। एकीभूता अकारादयो वर्णाः स्वरभक्तिपर्यवसाना आनुपूर्व्येण पूर्वैः शिष्टैरुपदिष्टाः। तथा हि—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ

के अध्ययन की) अपेक्षा करता है। पहले वेद का ज्ञान हो जाने पर अब लक्षण की परीक्षा का अवसर है। अथवा 'अथ' शब्द अधिकार का वाचक है जैसा कि आगे बतलाया जायेगा "तु, अथ तथा एव—ये (क्रमशः) निवृत्ति करने वाले, अधिकार करने वाले और निश्चय करने वाले हैं।"क

अथ = अब; वर्णसमाम्नायः = वर्णों का पाठक्रम (वर्णमाला); अधिकृत किया जाता है—यह सूत्र का अन्वय है। सम् 'एकत्र करने' के अर्थ में प्रयुक्त है, आ 'मर्यादा' में प्रयुक्त है, म्नाय का अर्थ है 'क्रम से उपदेश'। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अकार से लेकर 'स्वरभक्ति' पर्यन्त वर्णों को एक स्थान पर क्रम से उपदिष्ट किया है। यथा—अ आ आ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ—ये

है। यतः प्रातिशाख्य में मन्त्रों के बाह्य स्वरूप के विषय में ही नियम बनाये गए हैं, अतः त्रिभाष्यरत्नकार ने यहाँ 'प्रातिशाख्य' के लिए 'लक्षण' शब्द का प्रयोग किया है। त्रिभाष्यरत्नकार ने मङ्गल श्लोक में अपने प्रातिशाख्य-भाष्य के लिए भी 'लक्षण' शब्द का प्रयोग किया है। मन्त्रों के बाह्य स्वरूप के ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए विष्णुमित्र ने कहा है—

"लक्षणं यो न वेत्त्यृक्षु न कर्मफलभाग्भवेत्।
लक्षणज्ञो हि मन्त्राणां सकलं भद्रमश्नुते॥"

अर्थात् "जो व्यक्ति ऋचाओं का बाह्य स्वरूप (लक्षण) नहीं जानता वह कर्मफल को प्राप्त नहीं करता। मन्त्रों के बाह्य स्वरूप (लक्षण) को जानने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त कर लेता है"।

(क) भाष्यकार ने यहाँ 'अथ' शब्द के तीन अर्थ बतलाये हैं—(१) मङ्गल—शास्त्र के आदि में 'अथ' शब्द ओंकार के समान मङ्गल अर्थ में प्रयुक्त होता है; (२) आनन्तर्य—'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है अर्थात् एक विषय के बाद में आने वाले दूसरे विषय का निर्देश करता है; (३) अधिकार—'अथ' शब्द अधिकार भी करता है अर्थात् इससे एक नवीन विषय का प्रारम्भ होता है, जो किसी निश्चित सीमा तक चलता है। यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द उपर्युक्त तीनों अर्थों में ठीक बैठता है, तथापि २२।६ के अनुसार इसे यहाँ 'अधिकार' अर्थ में प्रयुक्त समझना अधिक समीचीन होगा।

---

(१) २२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊ३, ऋ ॠ, ऌ, ए ऐ, ओ औ इति स्वराः षोडश। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म इति स्पर्शाः पञ्चविंशतिः। य र ल व इति चतस्रोऽन्तःस्थाः। ≍ क श ष स ≍ प ह इति षडूष्माणः। "अनुस्वारश्च"[1] इति सूत्रेण अनुस्वार उक्तः। कालविशेषाश्रयत्वादसौ धर्मी, न त्वनुनासिकवद्धर्मः।

विधर्मं यस्थनासिक्यो न विरोधं भवेत् स्मृतः।
तस्मात् करोति कार्याणि वर्णानां धर्म एव तत्॥

इति शिक्षाकारवचनं धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षयोपपद्यते। "अथ विसर्जनीयः"[2] इत्यनेन विसर्जनीय उक्तः। "नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्"[3] इति रङ्ग उक्तः। "'"पृक्तस्वरात् परो ळो डम्"[4]

सोलह 'स्वर' हैं। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म—ये पच्चीस 'स्पर्श' हैं। य र ल व ये चार 'अन्तःस्था' हैं। ≍क श ष स ≍प ह—ये छः 'ऊष्म' (– वर्ण) हैं[क]। "अनुस्वार' भी (ह्रस्व'--संज्ञक) है"—इस सूत्र से 'अनुस्वार' को कहा गया है। काल-विशेष का आश्रय होने से यह धर्मी है 'अनुनासिक' के समान धर्म नहीं।[ख]

"पद के मध्य में विद्यमान नासिक्य विधि का विरोध नहीं करता है—यह माना गया है। इसलिए (यह 'अनुस्वार') धर्म होने पर भी वर्णों का कार्य करता है"—शिक्षाकार का यह कथन धर्म और धर्मी में अभेद की विवक्षा से उपपन्न होता है।[ग] "अब विसर्जनीय अधिकृत किया जाता है"—इस (सूत्र) से विसर्जनीय का

(क) उपर्युक्त ५१ वर्णों (१६ 'स्वर', २५ 'स्पर्श', ४ 'अन्तःस्था' और ६ 'ऊष्मन्') का प्रातिशाख्य के परवर्ती सूत्रों (क्रमशः १।५, १।७, १।८ तथा १।९) में क्रम से निर्देश किया गया है तथा इनकी गणना की गई है। अवशिष्ट नौ वर्णों ('अनुस्वार', 'विसर्जनीय', 'रङ्ग', ळकार, चार 'यम', 'स्वरभक्ति') की स्पष्टरूपेण गणना नहीं की गई है। प्रातिशाख्य के परवर्ती अंश में विद्यमान कतिपय सूत्रों के आधार पर भाष्यकार ने इन वर्णों को अनुमान से प्राप्त किया है।

(ख) तै० प्रा० में वर्णमाला के अन्तर्गत 'अनुस्वार' का साक्षात् ग्रहण नहीं किया गया है। किंतु सूत्रकार ने १।३४ में 'अनुस्वार' को 'ह्रस्व' संज्ञक बतलाया है। इससे 'अनुस्वार' का वर्ण होना निश्चित हो जाता है।

'अनुस्वार' 'स्वर' वर्ण पर आधारित एक पृथक् वर्ण है। वह अपने पूर्ववर्ती 'स्वर' का अङ्ग होता है। १।३४ में 'अनुस्वार' के उच्चारण-काल का जो विधान किया गया है उससे भी ज्ञात होता है कि 'अनुस्वार' एक पृथक् वर्ण है। 'अनुनासिक' 'स्वर' इत्यादि वर्णों का गुण (धर्म) है। यही कारण है कि 'अनुस्वार' की भाँति 'अनुनासिक' के उच्चारण-काल का विधान नहीं किया गया है।

(ग) पूर्वपक्षी—भाष्यकार का यह कथन युक्त नहीं है कि 'अनुस्वार' धर्मी है, धर्म नहीं।

---

(१) १।३४ (२) ८।५ (३) २।५२ (४) १३।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति ळकार उक्तः । "स्पर्शादनुत्तमात्"[1] इति चत्वारो यमा उक्ताः । रेफोष्मसंयोगे रेफस्वर-भक्तिः"[2] इति स्वरभक्तिरुक्ता । अनेन क्रमेण यजुर्वेदिकवर्णानां षष्टिसंख्या सूत्रत एव विस्पष्टं द्रष्टव्या । ननु "त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः"[3] इति शिक्षावचने सति कथं

कथन किया गया है । "नासिकाविवर के खुलने से आनुनासिक्य (उच्चारित होता है)"—इस (सूत्र) से 'रङ्' को कहा गया है । "पृक्त 'स्वर' (= ऋकार) से बाद में स्थित ळकार डकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से ळकार का कथन किया गया है । "अनुत्तम 'स्पर्श' से (बाद ये उत्तम 'स्पर्श' होने पर नासिक्यों का आगम होता है)"—इस (सूत्र) से चार यमों का कथन किया गया है । "रेफ और 'ऊष्मन्' का संयोग होने पर रेफ-'स्वरभक्ति' (होती है)"—इस (सूत्र) से 'स्वरभक्ति' का कथन किया गया । इस क्रम से यजुर्वेद में प्रयुक्त वर्णों की साठ संख्या सूत्रों से ही स्पष्ट रूप से समझनी चाहिए ।क (प्रश्न) "शम्भु के मत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण माने

उद्धृत शिक्षा में 'अनुस्वार' को वर्णों का धर्म माना गया है । सिद्धान्ती - शिक्षा-कार ने धर्म और धर्मी में अभेद मानकर ही ऐसा कहा है । उन्होंने स्वयं ही कहा है कि वर्णों का धर्म होने पर भी 'अनुस्वार' वर्णों का कार्य भी करता है । अत एव 'अनुस्वार' वर्ण भी है और वर्ण का धर्म भी है । शिक्षाकार ने धर्म और धर्मी में अभेद माना है ।

उल्लेखनीय है कि उद्धृत अंश किसी भी उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थ में नहीं मिलता है । भाष्यकार के द्वारा शिक्षा से उद्धृत अन्य भी अधिकांश अंश पाणिनीय शिक्षा इत्यादि किसी भी शिक्षा-ग्रन्थ में नहीं मिलते हैं । इससे यह प्रतीत होता है कि भाष्यकार के सम्मुख कोई ऐसा विशाल शिक्षा-ग्रन्थ रहा होगा जिससे ये सभी अंश उद्धृत किए गए हैं । किंतु वह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है । यदि वह शिक्षा-ग्रन्थ मिल जाय तो भाष्य के समझने में बड़ी सहायता मिलेगी ।

प्रस्तुत अंश संकेतित शिक्षा-ग्रन्थ में किस संदर्भ में आया है—यह ज्ञात न होने से इसको पूर्णतः समझना कठिन है । ८।१५ के भाष्य में इस अंश को पुनः उद्धृत किया गया है ।

(क) त्रिभाष्यरत्नकार के द्वारा स्वीकृत वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

स्वर—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, ।

व्यञ्जन—(अ) स्पर्श—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म ।

(आ) अन्तःस्था—य, र, ल, व ।

(इ) ऊष्मन्—≍क, श, ष, स, ≍प, ह ।

(ई) अन्य—अनुस्वार, विसर्जनीय, रङ्, ळकार, चार यम, स्वरभक्ति ।

---

(१) २१।१२ (२) २१।१५ (३) पा० शि० पृ० ३९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्टिसंख्या नियम्यते ? तत् लौकिकवैदिकसर्ववर्णविषयमिति न शिक्षावचनेन विरोधः। अत्र सूत्रैरेतावतामेवोपलम्भादेष निर्णयो वर्णितः। वर्णानां समाम्नायो वर्णसमाम्नायः ॥ १ ॥

वै०—अथ किमर्थं प्रातिशाख्यं नाम लक्षणं प्रणीयते ? तदुच्यते—"गुरुत्वं लघुता साम्यम्"[1] इत्यादि "सर्वं तु विज्ञेयम्"[1] इति वक्ष्यति। तदविज्ञाने पदक्रमविशेषाद्यनवगमादाचार्यत्वासिद्धिः। तदसिद्धावध्ययनाद्यसिद्धिः। न च लिखितपाठादिना वेदोऽधिगन्तव्यः, "तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"[2] इति श्रुतेः। तस्मात् "गुरुत्वं लघुता"[1] इत्यादीनां विज्ञानायेदं शास्त्रं प्रणीयते, तद्विज्ञाने सत्याचार्यत्वयोग्यतापत्त्याऽध्ययनाद्युपपत्तिरिति।

गए हैं"—शिक्षा का यह वचन होने पर किस प्रकार साठ संख्या नियत की गई है ? (उत्तर) वह (तिरसठ या चौसठ संख्या) लौकिक और वैदिक सभी वर्णों के विषय में है—अत एव शिक्षा के वचन से विरोध नहीं है। यहाँ पर तो सूत्रों से इतने ही वर्णों की प्राप्ति होती है, इसलिए यह निर्णय किया गया है।[क] वर्णों का समाम्नाय = वर्णसमाम्नाय।

वै० अ०—(प्रश्न) प्रातिशाख्य नामक लक्षणग्रन्थ का प्रणयन किसलिए किया जा रहा है ? (उत्तर) इसे बतलाते हैं—"गुरुत्व, लघुता, साम्य" इत्यादि "सबको जानना चाहिए"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। उस (गुरुत्व इत्यादि) का विशेष ज्ञान न होने पर पद-पाठ तथा क्रम-पाठ (अथवा पदों का क्रम) का भेद समझ में न आने से आचार्यत्व की सिद्धि नहीं होगी। उस (आचार्यत्व) की सिद्धि न होने से अध्ययन आदि की सिद्धि नहीं होगी। और लिखित पाठ आदि से वेद की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए क्योंकि श्रुति (यह कहती है)—"अध्ययन के द्वारा वेद को प्राप्त करना चाहिए।" इसलिए "गुरुत्व, लघुता" इत्यादि के विशेष ज्ञान के लिए इस शास्त्र का प्रणयन किया जा रहा है। उस (गुरुत्व इत्यादि) का विशेष ज्ञान हो जाने पर आचार्यत्व की योग्यता प्राप्त हो जाने से अध्ययन आदि की उपपत्ति हो जाती है।[ख]

(क) पाणिनीय शिक्षा का सम्बन्ध किसी विशेष वेद अथवा वेद की किसी विशेष शाखा के साथ नहीं है। उसमें वैदिक संस्कृत की सामान्य बातों का विधान किया गया है। इसके विपरीत तै० प्रा० का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की तै० सं० के साथ है। तै० सं० में जितने वर्णों का उपयोग किया गया है उतने ही वर्णों का तै० प्रा० में ग्रहण किया गया है।

(ख) २४५ में कहा गया है कि जो व्यक्ति वैदिक भाषा का अध्ययन करता है उसे 'गुरुत्व', 'लघुता', 'साम्य', 'ह्रस्व', 'दीर्घ', 'प्लुत', 'लोप', 'आगम', 'विकार', 'प्रकृति', 'विक्रम', 'क्रम', 'स्वरित', 'उदात्त', 'श्वास', 'नाद' और 'अङ्ग'—इन सबको—जानना चाहिए।

२४६ में कहा गया है कि जो व्यक्ति पद-पाठ और क्रम-पाठ के भेद को

---

(१) २४।५ (२) तै० आ० २।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु नैतदस्ति प्रयोजनम् । तथा हि—

गुरुलघ्वादिविज्ञानं नास्यारम्भप्रयोजनम् ।
उक्तं तत्सर्वमङ्गेषु शिक्षाव्याकरणेषु यत् ॥

शंका—यह प्रयोजन नहीं है । जैसे—

'गुरु', 'लघु' आदि के विशेष ज्ञान (की प्राप्ति) इस (= प्रातिशाख्य) के आरम्भ करने का प्रयोजन नहीं है क्योंकि वह सब ('गुरु' 'लघु' आदि) (वेद के) अङ्गों—शिक्षा और व्याकरण—में कह दिया गया है ।

जानता है, जो वर्णों के क्रम में विचक्षण है और जो 'स्वर' और 'मात्रा' के विभाग को जानता है वह आचार्यत्व को प्राप्त करे ।

उपर्युक्त से ज्ञात होता है कि 'गुरुत्व' इत्यादि सभी बातों को जानने के पश्चात् व्यक्ति पद-पाठ और क्रम-पाठ इत्यादि में विचक्षण हो सकता है और तत्परिणामस्वरूप आचार्य बन सकता है । गुरुत्व इत्यादि का ज्ञान न होने पर व्यक्ति पद पाठ, क्रम-पाठ इत्यादि को समझ नहीं सकता है और तत्परिणामस्वरूप आचार्य भी नहीं बन सकता है ।

पूर्वपक्षी—आचार्य न बने तो क्या हानि है ?

सिद्धान्ती—वेद का अध्ययन न होने से वैदिक अध्ययन की परम्परा लुप्त हो जायेगी । वेदाध्ययन के इच्छुक व्यक्ति भी आचार्य के अभाव में वेदाध्ययन नहीं कर सकेंगे ।

पूर्वपक्षी—आचार्य के अभाव में भी वेद का अध्ययन लिखित ग्रन्थों से हो सकता है । उद्देश्य तो वेद का अध्ययन है—चाहे गुरु से प्राप्त हो और चाहे लिखित ग्रन्थ से ।

सिद्धान्ती—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस श्रुतिवाक्य से ज्ञात होता है कि लिखित ग्रन्थ से वेद का अध्ययन सम्पन्न नहीं होता है । यह वाक्य तैत्तिरीय-आरण्यक में आया है । 'स्वाध्यायः' (स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः) का अर्थ है अपने पितृ पितामहों की परम्परा से प्राप्त वेद । 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु के साथ 'तव्य' प्रत्यय के योग से 'अध्येतव्यः' शब्द निष्पन्न हुआ है । 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु का अर्थ है 'अध्ययन ।' गुरुमुखोच्चारणपूर्वक शिष्यानूच्चारण को अध्ययन कहते हैं । 'तव्य' प्रत्यय का अर्थ है 'आर्थी भावना' । उस आर्थी भावना में स्वाध्याय का कर्मत्वेन और अध्ययन का करणत्वेन अन्वय होता है, जिससे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य का यह अर्थ हुआ—अध्ययनेन (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणेन) स्वाध्यायं (स्वकुलपरम्परागतं वेदम्) भावयेत् (प्राप्नुयात्) अर्थात् अध्ययन क्रिया के द्वारा अपने वेद को प्राप्त करना चाहिए ।

इस श्रुति-वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि गुरु-मुख से वेद का अध्ययन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदत्र विशेयतया वक्ष्यते "गुरुत्वं लघुता साम्यम्"[1] इत्यादि तत्सर्वं वेदाङ्गतया प्राप्तेषु शिक्षा-व्याकरणेषूपदिष्टमेव। अतो न तद्विज्ञानार्थं प्रातिशाख्यमारम्भणीयमिति॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

विकल्पभाजां शास्त्राणामपि दृष्टानुवर्तिनाम्।
तत्तच्छाखाविशेषेषु व्यवस्थार्थमिदं स्मृतम्॥

"गुरुत्व, लघुता, साम्य" इत्यादि जो यहाँ (= २४।५ में) विज्ञेय के रूप में कहा जायेगा वह सब वेदाङ्ग के रूप में प्राप्त शिक्षा और व्याकरण में उपदिष्ट किया ही गया है। अत एव उस (गुरुत्व इत्यादि) के विशेष ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य का आरम्भ नहीं करना चाहिए।[क]

यह प्राप्त होने पर कहते हैं—

वैकल्पिक कार्य का विधान करने वाली विधियों तथा दृष्ट का अनुगमन करने

करना चाहिए, लिखित ग्रन्थ से नहीं। [यही कारण है कि लिखित ग्रन्थ के आधार पर वेद का अध्ययन करने वाला पाठक निन्दा का पात्र माना जाता है। पा० शि० (पृ० ४२) में जिन पाठकों की निन्दा की गई है उनमें लिखित पाठक भी एक है]।

यह वस्तुस्थिति होने पर वेद के अध्ययन की उपपत्ति के लिए आचार्य का होना आवश्यक है और कोई व्यक्ति आचार्य तभी बन सकता है जब वह गुरुत्व, लघुता इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करके पद-पाठ, क्रम-पाठ इत्यादि में विचक्षण हो जाये। गुरुत्व, लघुता इत्यादि का ज्ञान प्रातिशाख्य के द्वारा ही हो सकता है। अतएव प्रातिशाख्य का प्रणयन किया जा रहा है।

(क) पूर्वपक्षी—पा० शि० (पृ० ४३) में कहा गया है—"तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते" अर्थात् अङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करके ही व्यक्ति ब्रह्मलोक में पूजित होता है। म० भा० में कहा गया है—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" अर्थात् ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) धर्म-स्वरूप छः अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिए और उसे जानना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना ब्राह्मण का नित्य कर्म है। इस कर्म की निष्पत्ति के लिए जब वह शिक्षा और व्याकरण का अध्ययन करेगा तब उसे गुरुत्व, लघुता, साम्य इत्यादि सभी बातों का ज्ञान हो जायेगा। गुरुत्व, लघुता, साम्य इत्यादि का ज्ञान हो जाने पर पुनः प्रातिशाख्य का आरम्भ करना अनर्थक है। वही ग्रन्थ प्रमाण है जो अज्ञात अर्थ को बतलाये। अतः यह कहना युक्त नहीं है कि गुरुत्व इत्यादि के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य का आरम्भ करना चाहिए।

---

(१) २४।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि "गुरुत्वं लघुता साम्यम्"[1] इत्यादि विज्ञेयं सर्वं शिक्षायां व्याकरणेषूपदिष्टमेव। तथापि तत्तत्र न सुग्रहं विप्रकीर्णत्वात् विषयविभागानवगमात् विशेषतोऽनुपदेशाच्च। तथा हि—सन्ति तावन्नव व्याकरणानि लौकिकवैदिकशब्दसाधारणानि। तत्र यानि कार्याणि छन्दोमात्रविषयाणि पठ्यन्ते तान्यपि प्रायशः सर्ववेदशाखासाधारणानि भवन्ति। तत्र ये कार्यविकल्पाः "स्वरितो वाऽनुदात्तेपदादौ"[2] इत्येवमादयः ते छन्दसि सर्वेषु स्वरविषयेषु न तुल्यं प्रवर्तन्ते भाषायामिव किंतु विषयभेदात् व्यवतिष्ठन्ते। अथ ये नित्याः कार्यविधयः तेऽपि छन्दसि वैकल्पिका भवन्ति,

---

वाली विधियों की उस-उस विशिष्ट शाखा में व्यवस्था के लिए यह (प्रातिशाख्य ग्रन्थ) माना गया है।[क]

यद्यपि "गुरुत्व, लघुता, साम्य" इत्यादि सभी जानने योग्य बातें (विज्ञेय) शिक्षा में और व्याकरणों में उपदिष्ट की ही गई हैं। तथापि विप्रकीर्ण होने से, विषय-विभाग का ज्ञान न होने से और विशेष रूप से उपदेश न होने से वहाँ उन (गुरुत्व, लघुता, साम्य इत्यादि) का सरलता से ग्रहण नहीं हो सकता है।[ख] जैसे—लौकिक

(क) इस श्लोक का भाव यह है—व्याकरणों और शिक्षा-ग्रन्थों में विहित नियम वेद में विकल्प से लागू होते हैं। उन नियमों से वेद में कहीं कार्य होता है और कहीं नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि वेद में जैसा रूप दिखलाई पड़ा वैसा नियम इन ग्रन्थों में बना दिया गया है। वेद के विषय में निश्चित नियम व्याकरण और शिक्षा-ग्रन्थों में नहीं बनाए गए हैं। प्रातिशाख्य-ग्रन्थ व्याकरणों और शिक्षा-ग्रन्थों में विहित नियमों की निश्चित रूप से व्यवस्था करते हैं। वेद की एक शाखा के विषय में निश्चित नियम एक प्रातिशाख्य में उपलब्ध होते हैं। व्याकरणों और शिक्षा-ग्रन्थों के अध्ययन से वेद की किसी भी शाखा के स्वरूप का निश्चित ज्ञान नहीं होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार आगे विस्तार में बतलायेंगे।

(ख) सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी ने जो ऊपर यह कहा है कि शिक्षा और व्याकरणों से गुरुत्व, लघुता इत्यादि का ज्ञान हो जाने से प्रातिशाख्य का आरम्भ करना अनर्थक है, वह युक्त नहीं है। शिक्षा और व्याकरणों के अध्ययन से गुरुत्व, लघुता इत्यादि का ज्ञान सरलता से नहीं हो सकता है, क्योंकि (१) गुरुत्व, लघुता इत्यादि विज्ञेय शिक्षा और व्याकरणों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनका सुसंबद्ध विधान नहीं हुआ है। एक विषय का एक ही स्थल पर विधान नहीं हुआ है; (२) शिक्षा और व्याकरणों में विषय-विभाग का ज्ञान नहीं होता है। यह पता नहीं चलता है कि किन विधियों के कौन लक्ष्य (विषय) हैं। यह समझना बड़ा कठिन हो जाता है कि अमुक विधि अमुक लक्ष्य (विषय) को उद्दिष्ट करके कही गई है; (३) शिक्षा और व्याकरणों में गुरुत्व, लघुता इत्यादि विषयों का सामान्य रूप से उपदेश किया गया है, विशेष रूप से नहीं। इससे विषयों का विशेष ज्ञान नहीं होता है। प्रातिशाख्यों में उपर्युक्त दोष नहीं है।

---

(१) २४।५ (२) पा० ८।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"[1] इति स्मरणात्। ये त्वनियतविषया एव विधयो "बहुलं छन्दसि"[2] इति तेषां व्यक्तं विषयविभागस्य दुष्करत्वम्। तथा 'व्यत्ययो बहुलम्'[3], "दृष्टानुविधिश्छन्दसि"[4] इत्यादौ कार्यस्वरूपमपि दुर्ग्रहम्, किमुत विषयविभागः। एवं शिक्षास्वपि क्वचित्क्वचित् लोकवेदसाधारणा उपदेशा भवन्ति,

अष्टषष्टिं पठन्त्येके चतुष्षष्टिमथापरे।

इत्येवमादयः। तथा—

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥

और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों पर समान रूप से लागू होने वाले नौ व्याकरण विद्यमान हैं।[क] वहाँ पर जो कार्य केवल वेद के विषय में पठित हैं वे (कार्य) भी प्रायः सभी वेदों की शाखाओं के लिए साधारण होते हैं। उन (छन्दोमात्र-विषयक कार्यों) में "पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त बाद में होने पर (उदात्त) विकल्प से स्वरित होता है" इत्यादि जो वैकल्पिक कार्य हैं वे लौकिक भाषा की भाँति वेद में सभी स्वर-विषयों में समान रूप से प्रवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु लक्ष्य (विषय) के भेद से व्यवस्थित होते हैं। इसके अतिरिक्त (व्याकरणों में) जो नित्य कार्य-विधियाँ हैं वे भी "वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक होती हैं"— इस उल्लेख के अनुसार वेद में वैकल्पिक होती हैं। "वेद में कार्य बहुल रूप से होता है"[ख] इत्यादि जिन विधियों के लक्ष्य (विषय) ही निश्चत नहीं हैं उनके विषय-विभाग का जानना तो स्पष्टतः ही कठिन है। उसी प्रकार "वेद में नियमों का उल्लंघन बहुल रूप से

(क) 'श्रीतत्त्वविधि' नामक वैष्णव-ग्रन्थ में निम्नलिखित नौ व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥

देखिए : युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६५।

(ख) बहुल की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

अर्थात् कहीं (प्रयोग-विशेष में) प्रवृत्ति होना, कहीं (प्रयोग-विशेष में) प्रवृत्ति न होना, कहीं विकल्प से प्रवृत्ति होना और कहीं अन्य प्रकार का ही होना—(इस प्रकार) विधि का विधान अनेक प्रकार का विचार कर बाहुलक को चार प्रकार का कहते हैं।

---

(१) पा० १।४।९ पर पतञ्जलि; परि० ३६
(२) पा० २।४।३९ (३) पा०३।१।८५ (४) पा० १।१।६ पर पतञ्जलि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिविधीनां विषयविभागो नावगम्यते। यद्यप्यविगीतशिक्षानुसारेण केषांचिद्विधीनां शक्यो विषयविभागः प्रतिभाति, तथाप्यसौ न सर्वेषां शक्यः। अपि च—अद्यत्वे नियमातिक्रमाद्दषयो न जायन्ते। न चानृषिस्सर्वाणि लक्ष्याणि लक्षणानि च शक्नोति सम्यगधिगन्तुम्, का कथा

होता है", "वेद में दृष्ट का अनुविधान होता है (अर्थात् वेद में जैसा दिखलाई पड़े वैसा कर लिया जाता है)" इत्यादि में कार्य का स्वरूप भी कठिनता से जाना जाता है, विषय-विभाग का तो कहना ही क्या? उसी प्रकार शिक्षा-ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं लोक और वेद में समान रूप से लागू होने वाले उपदेश होते हैं—

"कुछ लोग अड़सठ (वर्णों) का पाठ करते हैं जब कि दूसरे लोग चौंसठ (वर्णों का पाठ करते हैं)" इत्यादि। उसी प्रकार—

"उदात्त (उच्च) या स्वरित बाद में हो तो नित्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट - ये स्वरित स्वर कम्प को प्राप्त करते हैं अर्थात् ये कम्प के साथ उच्चारित होते हैं" इत्यादि विधियों का विषय-विभाग ज्ञात नहीं होता है।[क] यद्यपि अविगीत शिक्षा-ग्रन्थों के अनुसार कतिपय विधियों का विषय-विभाग सम्भव प्रतीत होता है, तथापि सब (विधियों) का यह (विषय-विभाग) संभव नहीं है।[ख] इसके अतिरिक्त नियमों का उल्लंघन हो जाने से आजकल ऋषि उत्पन्न नहीं होते हैं। और जो ऋषि

(क) अभिप्राय यह है—व्याकरण के सूत्रों के विषय में यह जानना कठिन होता है कि अमुक सूत्र का अमुक लक्ष्य है। अधिकतर सूत्र वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। जो सूत्र केवल वेद से सम्बद्ध हैं वे भी वेद की सभी शाखाओं पर लागू होते हैं। यह ज्ञात नहीं होता है कि अमुक सूत्र का अमुक शाखा लक्ष्य है। वेद-विषयक जो वैकल्पिक कार्य है वे सब स्थलों पर विकल्प के रूप में लागू नहीं होते हैं, अपितु लक्ष्य के अनुसार व्यवस्थित होते हैं। व्याकरण में जो नित्य विधियाँ हैं वे भी वेद में वैकल्पिक होती हैं।

शिक्षा-ग्रन्थों के भी अनेक विधान वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत पर समान रूप से लागू होते हैं। शिक्षा-ग्रन्थों में विद्यमान अधिकांश विधियों के विषय में भी यह ज्ञात नहीं होता है कि अमुक विधि का अमुक लक्ष्य है

(ख) शिक्षा-ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) कतिपय शिक्षा-ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा के साथ होता है, यथा—(i) याज्ञवल्क्य शिक्षा—इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से है; (ii) वासिष्ठी शिक्षा—इसका संम्बन्ध भी वाजसनेयी संहिता से है; (iii) नारदीय शिक्षा—इसका सम्बन्ध सामवेद से है; (iv) माण्डूकी शिक्षा—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है; (२) कतिपय शिक्षा-ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा के साथ नहीं है, यथा—पाणिनीय शिक्षा, पाराशरी शिक्षा इत्यादि। जिन शिक्षा-ग्रन्थों का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा के साथ होता है वे अविगीत शिक्षा-ग्रन्थ हैं। ऐसे शिक्षा-ग्रन्थों के लक्ष्य निश्चित हैं। किन्तु अन्य शिक्षा-ग्रन्थों के लक्ष्य निश्चित नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्व्यवस्थापनायाम्। न चैकशाखाध्यायिनोऽपि तदतद्विषयलक्षणविवेकमुखेन तत्स्वरूपनिर्णय-श्शक्य इति वाच्यम्, अतद्व्यावृत्तिरूपानवगतौ तन्निर्णायायोगाद् अतद्रूपानवगतौ व्यावृत्त्यवगमा-योगाच्च। तथा च भगवानक्षपादः—"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यां अर्थावधारणं निर्णयः"[1] इति। तदेतद्विद्वांसः परमकारुणिका महर्षयः प्रतिशाखं व्यवस्थितानां शिक्षाव्याकरणोपदिष्टकार्याणां

नहीं है वह सब लक्ष्यों और लक्षणों को अच्छी तरह नहीं जान सकता है, उनको व्यवस्थित करने का तो कहना ही क्या ?[क] यह नहीं कहना चाहिए कि एक शाखा का अध्ययन करने वाला व्यक्ति तत् विषय और अतत् विषय के बाह्य स्वरूप के ज्ञान के द्वारा तत् स्वरूप का निर्णय कर सकता है, क्योंकि अतद्व्यावृत्ति रूप अज्ञान के कारण तत् का निर्णय नहीं हो सकता और अतद्रूप अज्ञान के कारण व्यावृत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है[ख] महर्षि गौतम ने भी वैसा ही कहा है—"विचार (संदेह) करके पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहलाता है"।

(क) प्राचीन काल में विद्वानों को सभी विषयों का साक्षात् ज्ञान होता था। प्रातिशाख्य इत्यादि सहायक ग्रन्थों के बिना ही वे लोग वेदों के स्वरूप के विषय में पूर्णरूपेण जानते थे। किंतु आजकल धार्मिक नियमों का उल्लंघन होने से विद्वानों की बुद्धि में अत्यन्त ह्रास हो गया है। आजकल कोई भी व्यक्ति सभी लक्ष्य-ग्रन्थों और लक्षण-ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। व्याकरण-ग्रन्थों और शिक्षा-ग्रन्थों में विहित नियमों को शाखा-विशेष में व्यवस्थित करना तो बहुत ही कठिन कार्य है।

(ख) पूर्वपक्षी—वेद की एक शाखा के स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य की आवश्यकता नहीं है। वेद की एक शाखा का पूर्णरूपेण अध्ययन कर लेने के बाद कोई भी व्यक्ति उस शाखा के स्वरूप से भली-भाँति परिचित हो जाता है। वह उस शाखा के एक-एक वर्ण को भली-भाँति जान लेता है।

सिद्धान्ती—किसी भी पदार्थ के निर्णयात्मक ज्ञान के लिए 'अतद्व्यावृत्ति' आवश्यक है। 'अतद्व्यावृत्ति' का अर्थ है 'तद्भिन्नभिन्नत्वम्'। तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ को देख लेने से ही उसका निर्णयात्मक ज्ञान नहीं होता है। किसी भी पदार्थ का निर्णयात्मक ज्ञान तभी होगा जब इस तथ्य का पता लग जाये कि वह पदार्थ तद्भिन्न (सजातीय तथा विजातीय) पदार्थों से किस प्रकार (= किस असाधारण धर्म के आधार पर) भिन्न है। उदाहरण के लिए दस गो-व्यक्तियों में जो 'गौः', गौः' की अनुगत प्रतीत होती है, उसका कारण 'अगो-व्यावृत्ति' या 'गोभिन्नभिन्नत्व' है। प्रत्येक गो अगो अर्थात् उसके समानजातीय महिषादि चतुष्पद और उसके असमानजातीय चतुष्पद भिन्न प्राणी तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न है। इसलिए उसमें 'गौः' 'गौः' – यह एक सी प्रतीत होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गो के निर्णयात्मक ज्ञान के लिए अगो (अश्व, गज, अज, भैंस इत्यादि) का ज्ञान भी आवश्यक है। 'गो' तथा 'अगो'—इन दोनों का ज्ञान होने पर हमें 'गो' का

---

(१) न्यायसूत्रम् ४१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्पष्टोपदेशानि लक्षणानि प्रणयन्ति स्म। तन्नान्तरीयकतया तु तत्र तत्र स्पष्टोपदिष्टान्यपि कार्याण्यनुवर्ण्यन्ते। तानि प्रातिशाख्यानीत्याख्यायन्ते। तद्वशात् तु कार्यविशेषाणां शाखाविशेषु व्यवस्था सुगमा सम्पद्यते॥

यद्येवं "दीधीवेवीटाम्"[1], "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा"[2] इत्यादीन्यपि छान्दसकार्याण्यत्रावश्यवाच्यानि॥

इसलिए परम कारुणिक विद्वान् महर्षियों ने शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरणों में उपदिष्ट तथा एक-एक शाखा में व्यवस्थित कार्यों का स्पष्ट रूप से उपदेश करने वाले लक्षण-ग्रन्थों की रचना की है। अनिवार्य होने से (शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरणों में) स्थल-स्थल पर स्पष्ट रूप से उपदिष्ट भी कार्यों का अनुवर्णन (इन लक्षण-ग्रन्थों में) किया गया है। वे (लक्षण-ग्रन्थ) प्रातिशाख्य कहलाते हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर कार्य-विशेषों की शाखा-विशेषों में व्यवस्था सुगम हो जाती है।

यदि ऐसी बात है तो "दीधीङ्, वेवीङ् इन दो धातुओं तथा इडागम को गुणवृद्धि न होवे"क, "वेद में पति शब्द अकेला भी षष्ठी विभक्ति वाले पद के साथ रहने पर 'घि' होता है"ख इत्यादि वैदिक कार्य यहाँ (= प्रातिशाख्य में) अवश्य कहे

निर्णयात्मक ज्ञान होता है। उसी प्रकार वेद की किसी एक शाखा के बाह्य स्वरूप का निर्णयात्मक ज्ञान तभी होगा जब हमें अन्य शाखाओं के बाह्य स्वरूप का भी ज्ञान हो। अन्य शाखाओं के बाह्य स्वरूप और सम्बद्ध शाखा के बाह्य स्वरूप का ज्ञान होने पर ही हमें ज्ञात हो सकता है कि सम्बद्ध शाखा का बाह्य स्वरूप अन्य शाखाओं के बाह्य स्वरूप से किस प्रकार भिन्न है। यह ज्ञात होने पर ही हमें सम्बद्ध शाखा के बाह्यस्वरूप के विषय में निर्णयात्मक ज्ञान हो सकता है।

(क) 'दीधी' और 'वेवी'—ये दोनों धातुयें वैदिक हैं। इन धातुओं से निष्पन्न इन वैदिक शब्दों पर दृष्टिपात किया जाये—आदीध्यनम् (आ दीधी ल्युट् अन), आदीध्यकः (आ दीधी ण्वुल् अक), आवेव्यनम् (आ वेवी ल्युट् अन), आवेव्यकः (आ वेवी ण्वुल् अक)। यहाँ आङ्पूर्वक दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं से, ल्युट् और ण्वुल् प्रत्यय परे रहते, क्रम से सार्वधातुक गुण तथा 'अचो ञ्णिति' वृद्धि प्राप्त होती है। इस सूत्र से उनका निषेध होकर 'एरनेकाचः' से यण् हो जाता है।

(ख) पाणिनि ने उन ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों को, जो स्त्रीलिंग न हों, 'घि' संज्ञक कहा है। किन्तु 'सखि' शब्द 'घि' संज्ञक नहीं होता है और 'पति' शब्द केवल समास में ही 'घि' संज्ञक होता है, अकेला नहीं (शेषो ध्यसखि, पतिः समास एव १।४।७-८)। वेद में 'पति' शब्द अकेला भी षष्ठी विभक्ति वाले पद के साथ रहने पर 'घि' होता है। 'घि' होने से आङ् (टा, तृतीया ए० व०) के स्थान में किसी शब्द में 'ना' होता है जैसे 'मुनिना' (आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०)।

---

(१) पा० १।१।६ (२) पा० १।४।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्रोच्यते—

न च शाखाविशेषस्थं कार्यं वाच्यमिहाखिलम् ।
यस्माद् व्यवस्था शेषस्य वेद्या कतिपयोक्तितः ॥

न खलु शाखाविशेषव्यवस्थितानि सर्वाणि छान्दसकार्याणि वक्तव्यानीत्यस्ति नियमः, अपि तु बोधयितव्यानीत्येव । तत्र कतिपयेषूपदिष्टेषु अवशिष्टानामपि तद्वशेन व्यवस्था शक्यतेऽत्र गन्तुम् । तथा हि—

संहिता तत्पदाध्यायः क्रमाध्याय इति त्रिधा ।
प्रसिद्धोऽस्य समाम्नायो विषयो वक्ष्यते ततः ॥
व्यवस्थितेषु कार्येषु तद्वर्तिष्विह केषुचित् ।
कार्यान्तराणां तन्मूला व्यवस्था सुगमा भवेत् ॥

यद्यप्यात्रेयोपक्रमात् पदक्लृप्तेः पूर्वम् अस्मत्सर्वहितैकरूपैव समाम्नाता । तथाप्यर्थसम्प्रत्ययार्थं आत्रेयेण यदा पदाध्यायः प्रवर्तितः तदसंदेहार्थं क्रमाध्यायश्च, तदा प्रभृति

जाने चाहिए ।[क]

इस विषय में कहते हैं—

शाखा-विशेष में विद्यमान सम्पूर्ण कार्य को यहाँ (= प्रातिशाख्य में) नहीं कहना चाहिए । (प्रातिशाख्य की) कतिपय उक्तियों के आधार पर अवशिष्ट (कार्यों) की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए ।

शाखा-विशेष में व्यवस्थित सभी वैदिक (छान्दस) कार्यों को (प्रातिशाख्य में) कहना चाहिए—यह नियम नहीं है । अपितु (प्रातिशाख्य को सब कार्यों का) बोध ही कराना चाहिए । उनमें से कतिपय (कार्यों) का उपदेश होने पर उनके आधार पर अवशिष्ट भी (कार्यों) की व्यवस्था जानी जा सकती है । जैसे—

संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम पाठ—यह तीन प्रकार का प्रसिद्ध समाम्नाय इस (प्रातिशाख्य) का विषय कहा जायेगा । उन (संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ) में विद्यमान कतिपय कार्यों के व्यवस्थित हो जाने पर उनके आधार पर दूसरे कार्यों की व्यवस्था सुगम हो जाती है ।

'घि' न होने से 'पति' का पत्या (पति+आ) बनता है परन्तु 'क्षेत्रस्य' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ 'घि' बन जाने से यह भी 'पतिना' हो जाता है—'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' ।

(क) पूर्वपक्षी—ऊपर यह कहा गया है कि व्याकरणों और शिक्षा-ग्रन्थों में विहित छन्दो-विषयक कार्यों की शाखाविशेष में व्यवस्था करना प्रातिशाख्यों का प्रयोजन है । इससे यह ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्यों को छन्दोविषयक सभी नियमों की व्यवस्था करनी है । यह वस्तु स्थित होने पर 'दीधीवेवीटाम्' और 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि' इत्यादि सूत्रों में विहित कार्यों की व्यवस्था प्रातिशाख्यों ने क्यों नहीं की है ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूपेण पदात्मना क्रमात्मना चेति त्रिधा समाम्नायते। स खलु त्रिधा समाम्नायोऽस्य शास्त्रस्य विषय इति शास्त्रान्ते दर्शयिष्यति "पदक्रमविशेषज्ञः"[1] इति। तत्रानेन लक्षणेन समाम्नान-सिद्धपदरूपे संहितारूपे च सुविज्ञाते व्युत्पत्तिगम्यार्थानुरूपः प्रकृतिप्रत्ययविभागो रूपविशेषा-नुगुणः कार्यविशेषयोगश्च शिक्षाव्याकरणोपदिष्टस्सुगमस्सम्पद्यते। तथा चेदं लक्षणं संहिता-तत्पदरूपनिर्णयमुखेन इहानुक्तानामपि कार्याणां व्यवस्थां बोधयतीति शाखाविशेषात्मकलक्ष्याणां शिक्षाव्याकरणात्मकलक्षणानां च संघटनार्थमारम्भणीयमिति सिद्धम्।

तस्मात्तत्तत्समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधतः।
कार्यं सर्वं व्यवस्थाप्यं शिक्षाव्याकरणोदितम्॥

यद्यपि आत्रेय[क] के द्वारा किए गए पद-पाठ के निर्माण के पूर्व हमारी संहिता एक रूप (संहिता-पाठ) में ही उच्चारित होती थी (प्राप्त होती थी)। तथापि अर्थ-ज्ञान इत्यादि प्रयोजन के लिए आत्रेय के द्वारा जब पद-पाठ का निर्माण किया गया और तत्रस्थ संदेहों का निवारण करने के लिए क्रम-पाठ (का निर्माण किया गया), उस समय से लेकर स्वरूप से (अर्थात् संहिता-पाठ के रूप में), पद-पाठ के रूप में और क्रम-पाठ के रूप में—इन तीन प्रकारों से (हमारी संहिता का) पाठ होता है। यह तीन प्रकार का पाठ इस शास्त्र (= प्रातिशाख्य) का विषय है—(सूत्रकार) शास्त्र (प्रातिशाख्य) के अन्त में इसे दिखलायेंगे—"पद-पाठ और क्रम-पाठ के विशेष को जानने वाला।" इस प्रकार इस लक्षण (प्रातिशाख्य) के द्वारा वेद में उपलब्ध (पदों के) पद-रूप और संहिता-रूप के भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरणों में उपदिष्ट प्रकृति और प्रत्यय का विभाग, जो व्युत्पत्तिगम्य अर्थ के अनु-सार किया गया है तथा कार्य-विशेष का योग, जो रूप-विशेष के अनुसार किया गया है, सुगम हो जाता है। तदनुसार यह लक्षण (प्रातिशाख्य) (पदों के) संहिता-रूप और पद-रूप का निर्णय करके यहाँ (= प्रातिशाख्य में) न कहे गए कार्यों की व्यवस्था का बोध कराता है—यही कारण है कि शाखा-विशेष के रूप में विद्यमान लक्ष्यों और शिक्षा-ग्रन्थों तथा व्याकरणों के रूप में विद्यमान लक्षणों के संगठन के लिए (अर्थात् इनको परस्पर सम्बद्ध करने के लिए) इस (प्रातिशाख्य) का आरम्भ करना चाहिए—यह सिद्ध हो गया है।

इसलिए प्रातिशाख्य का विरोध न करते हुए शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरणों में कहे गए सम्पूर्ण कार्य की उस-उस वेद-शाखा में व्यवस्था करनी चाहिए।

(क) तै० सं० के पदपाठकार का नाम आत्रेय है। इस तथ्य का उल्लेख भट्ट भास्कर ने अपने तै० सं० के भाष्य के प्रारम्भ में इस प्रकार किया है—

"उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे"।

बौधायन गृह्यसूत्र (३।९।७) में ऋषितर्पण के अवसर पर पदाकार आत्रेय के लिए भी तर्पण किया गया है—"आत्रेयाय पदकाराय"।

---

(१) २४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र प्रथमाध्याये संज्ञापरिभाषमारभ्यते। तत्रादौ वर्णसमाम्नायस्तस्य विषयतया प्रस्तूयते—अथ वर्णसमाम्नायः ॥

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते, नानन्तर्यार्थः। कुतः ? "त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः"[1] इति परिभाषणात्, तस्यात्रानुपपत्त्यभावात्। वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा अकारादयः। समित्युपसर्गस्सहत्वं द्योतयति। आम्नानमभ्यासः। यत्र समुदितानामभ्यासः क्रियते स समाम्नायः। आङत्र मर्यादायामित्ययुक्तं, क्रियायोगिनस्तस्य मर्यादार्थत्वासम्भवात्। वर्णानां समाम्नाय इति षष्ठीसमासः। सोऽधिकृतो वेदितव्यः। केषां वर्णानाम् ? येऽस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः। कियन्तः ते वर्णाः, कश्च तेषां क्रमः ? तदुच्यते—

यहाँ (प्रातिशाख्य के) प्रथम अध्याय में संज्ञाओं और परिभाषाओं को प्रारम्भ किया जाता है। आदि में वर्ण-समाम्नाय को उसके (प्रथम अध्याय के) विषय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—अथ वर्णसमाम्नायः = "अब वर्णसमाम्नाय (प्रारम्भ किया जाता है)।

अथ—यह शब्द अधिकार के लिए प्रयुक्त है, आनन्तर्य के लिए नहीं। क्यों ? (उत्तर) 'तु', 'अथ' और 'एव' (क्रमशः) निवृत्ति करने वाले, अधिकार करने वाले और निश्चय करने वाले हैं"—यह कथन होने से तथा उस (अधिकार अर्थ) की यहाँ अनुपपत्ति का अभाव होने से।[क] वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूप से ध्वनित (उच्चारित) होते हैं—इस (व्युत्पत्ति) से अकार आदि वर्ण हैं। 'सम्'—यह उपसर्ग सहभाव को द्योतित करता है। आम्नान का अर्थ है अभ्यास। जहाँ एक स्थल पर इकट्ठे किये गए (वर्णों) का अभ्यास (पाठ) किया जाता है वह समाम्नाय है। 'आङ्'—यहाँ मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि क्रिया के योग में प्रयुक्त उसका मर्यादा अर्थ का वाचक होना असम्भव है।[ख] वर्णों का समाम्नाय—यहाँ षष्ठी

(क) सूत्रकार ने २२।६ में बतलाया है कि 'अथ' शब्द अधिकार अर्थ को बतलाता है। 'अथ' शब्द का अधिकार अर्थ प्रकृत में उपपन्न (संगत) है। अतः उसी अर्थ को मानना चाहिए। यह वस्तुस्थिति होने पर यह कहना उचित नहीं है कि यहाँ 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ को बतलाता है। (तु० १।१ पर त्रि०)।

(ख) आङ्मर्यादावचने। पा० १।४।८८ के अनुसार 'आङ्' की मर्यादा अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है। जैसे-आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः (पाटलिपुत्र से पूर्व तक वर्षा हुई)। आङ्मर्यादाभिविध्योः। पा० २।१।१२ से यहाँ पक्ष में समास भी हो जाता है। जैसे-आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः। इससे ज्ञात होता है कि मर्यादा अर्थ में होने पर 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और उसका सम्बन्ध सुबन्त के साथ होता है। इसके विपरीत 'सामाम्नायः' पद में 'आङ्' क्रिया के योग में प्रयुक्त है। अत एव 'उपसर्गाः क्रियायोगे' के अनुसार यह उपसर्ग है। इससे 'आङ्'

---

(१) २२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरास्स्पर्शास्तथाऽन्तस्था ऊष्माणश्चाथ दर्शिताः ।
विसर्गानुस्वारळाश्च नासिक्याः पञ्च चोदिताः ॥

इह खलु "षोडशादितस्स्वराः"[1] इति पञ्चभिः सूत्रैरकारादिहकारान्ता एकपञ्चाशद्वर्णा गणशो निर्दिष्टाः । "ऊष्मविसर्जनीय"[2] इति विसर्जनीयो दर्शितः, "अनुस्वारश्च"[3] इत्यनुस्वारः, "पृक्तस्वरःपरो ळो डम्"[4] इति ळकारः, "स्पर्शादनुत्तमात्"[5] इत्यादिभिस्त्रिभिस्सूत्रैः पञ्च नासिक्या विहिताः । एवमेकोनषष्टिवर्णा अस्मदीयैस्समाम्नायन्ते ॥

ननु व्याकरणप्रसिद्धानां नवानामचां ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदात्सप्तविंशतिस्स्वरा भवन्ति । तत्र "षोडश स्वराः" इति केषां ग्रहणम् ?

तदुच्यते—वासिष्ठशिक्षायाम् "ऌवर्णदीर्घं परिहाप्य स्वराष्षड्विंशतिः प्रोक्ताः" इत्यादिना अष्टषष्टिवर्णानुक्त्वा अष्टपञ्चाशत्पक्षार्थं पुनरपि ॠवर्णप्लुतं ऌवर्णप्लुतं सन्ध्यक्षरह्रस्वप्लुतांश्चेति दश स्वरान् परिहाप्य षोडशस्वरपक्ष उक्तः । स इहाविरुद्धत्वात्परिगृह्यते ॥

(तत्पुरुष) समास है । उस (= वर्ण-समाम्नाय) को अधिकृत जानना चाहिए । (प्रश्न) किन वर्णों का (समाम्नाय) ? (उत्तर) जो हमारे वेद (= तैत्तिरीय संहिता) में विद्यमान हैं । (प्रश्न) वे वर्ण कितने हैं और उनका क्रम क्या है ? (उत्तर) इसे बतलाते हैं--

स्वर, स्पर्श, अन्तःस्था और ऊष्मन् (स्पष्ट रूप से) दिखलाए गये हैं । विसर्ग, अनुस्वार, ळकार और पाँच नासिक्य भी कहे गये हैं ।

यहाँ (प्रातिशाख्य में) "आदि में सोलह (वर्ण) स्वर हैं"—इन पाँच सूत्रों के द्वारा अकार से प्रारम्भ करके हकार पर्यन्त इक्यावन वर्ण समूह (गण) के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं । "ऊष्म (-वर्ण), विसर्जनीय"—इस (सूत्र) से विसर्जनीय को दिखलाया गया है , "अनुस्वार भी"—इस (सूत्र) से 'अनुस्वार', "पृक्त स्वर से बाद वाला ळकार डकार"—इस (सूत्र) से ळकार, "अनुत्तम स्पर्श से"—इत्यादि तीन सूत्रों से पाँच नासिक्यों का विधान किया गया है । इस प्रकार हमारी शाखा के अनुयायियों के द्वारा उनसठ वर्णों का पाठ होता है ।

(प्रश्न) व्याकरण में सिद्ध नौ स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से सत्ताईस स्वर होते हैं । "सोलह स्वर हैं" इसके द्वारा उन (सत्ताईस) में से किन (सोलह स्वरों) का ग्रहण किया गया है ?

(उत्तर) इसे बतलाते हैं—वासिष्ठ शिक्षा में "ऌवर्ण के दीर्घ रूप (ॡ) को छोड़कर छब्बीस स्वर बतलाये गए हैं" इत्यादि के द्वारा अड़सठ वर्णों का कथन

यहाँ मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । तात्पर्य यह है कि 'समाम्नाय' शब्द में 'आङ्' मर्यादा अर्थ का वाचक नहीं है, क्योंकि क्रियावाचक शब्दों के साथ आने पर 'आङ्' मर्यादा अर्थ का वाचक नहीं हो सकता है ।

---

(१) १।५ (२) १।१२ (३) १।३४ (४) १३।१६ (५) २१।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु "स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषाम्"[1] इति अर्धैकाराधौंकारौ विधास्येते, तयोः कुत इहानुपादानम् ?

अस्मत्स्वाध्यायेऽनुपलम्भात्। तदुक्तं महाभाष्ये—ननु सभ्याश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अधीयते "सुजाते ए अश्वसूनृते", "अध्वर्यो ओ अद्रिभिस्सुतम्", "शुक्रं ते ए अन्यत्" इति। एतेन वेदस्थप्रणवस्वरस्य मात्रार्धस्य वचनं सूत्रकारस्यानिष्टमवगम्यते, तदभ्युपगमे परिमाणभेदकृताद्वर्णभेदात्सप्तदशस्वरापत्तेः। स्वाध्यायारम्भसमाप्तिप्रणवानां तु सत्यपि मात्राभेदे वेद-

---

करके अट्ठावन (वर्णों) के पक्ष के लिए पुनः ऋवर्ण के प्लुत, लृवर्ण के प्लुत, सन्ध्यक्षरों के ह्रस्वों और प्लुतों—इन दस स्वरों को छोड़कर सोलह स्वरों का पक्ष कहा गया है। अविरुद्ध होने से उस (पक्ष) का यहाँ ग्रहण किया जाता है।

(प्रश्न) "कतिपय आचार्यों के अनुसार वह (= एकार और ओकार के बाद में स्थित अकार) पूर्ववर्ती (एकार और ओकार) के आधे के सदृश होता है"—यहाँ अर्ध एकार और अर्ध ओकार का विधान किया जायेगा। उन (अर्ध एकार और ओकार) का यहाँ (= वर्ण-समाम्नाय में) ग्रहण क्यों नहीं किया गया है ?

(उत्तर) हमारे वेद (= तैत्तिरीय संहिता) में उपलब्ध न होने से (अर्ध एकार और ओकार का वर्ण-समाम्नाय में ग्रहण नहीं किया गया है)। महाभाष्य में यह कहा गया है—सामगों के मध्य में सात्यमुग्र और राणायनीय शाखाओं के सभ्य अनुयायी यह पाठ करते हैं—"सुजाते ए अश्वसूनृत", "अध्वर्यो आ आद्रिभिस्सुतम्", "शुक्र ते ए अन्यत्" इत्यादि।[क] इससे (= सूत्रकार ने सोलह स्वर मान है—इस

(क) पूर्वपक्षी—११।१९ में कतिपय आचार्यों का यह मत प्रस्तुत किया गया है—एकार और ओकार के बाद में विद्यमान अलुप्त अकार अपने पूर्ववर्ती एकार और ओकार के अर्धसदृश रूप को प्राप्त होता है। ११।१९ में विहित अर्ध एकार और अर्ध ओकार का वर्णसमाम्नाय में क्यों ग्रहण नहीं किया जा रहा है ?

सिद्धान्ती—सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओं के अनुयायी उपर्युक्त स्थलों में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का उच्चारण करते हैं। हमारी शाखा में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का उच्चारण नहीं होता है। अत एव अर्ध एकार और अर्ध ओकार का वर्ण-समाम्नाय में ग्रहण नहीं किया गया है।

महाभाष्य के अध्ययन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। महाभाष्यकार ने कहा है कि ए, ओ के स्थान में क्रमशः इ, उ ही ह्रस्वादेश हैं; क्योंकि इ, उ क्रमशः ए, ओ के तुल्य स्थान वाले हैं। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा है कि अर्ध एकार और अर्ध ओकार एकार और ओकार के साथ अधिक स्थान-तुल्यता रखते हैं। अतः ए, ओ के स्थान पर अर्ध एकार और अर्ध ओकार का आदेश होगा। इस पर महा-

---

(१) ११।१९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्यत्वान्न सप्तदशस्वरापत्तिरित्यविरुद्धं तद्वचनम्। स्पर्शेष्वन्तस्थासु च न सङ्ख्याविप्रतिपत्तिरस्ति, किंतु ऊष्मणि बहूवृचास्तु शषसह ≍ क ≍ पदुस्स्पृष्टविसर्जनीयात्मका अष्टौ ऊष्माण

तथ्य से) वेद में स्थित ओंकार (प्रणव = ओं) के स्वर (= ओ) की आधी मात्रा का उच्चारण सूत्रकार को अभीष्ट नहीं है—यह ज्ञात होता है। उस (आधी मात्रा) के स्वीकार करने पर परिमाण के भेद से जायमान वर्ण-भेद से सत्रह स्वरों की प्राप्ति होती है। वेद के आरम्भ और समाप्ति में विद्यमान ओंकारों के (ओ) (के विषय में) मात्रा का भेद होने पर भी वेद से बाह्य होने के कारण सत्रह स्वरों की प्राप्ति नहीं होती है—अतएव उस (= आधी मात्रा) के उच्चारण से कोई विरोध नहीं होता है।[क] स्पर्श-वर्णों और 'अन्तःस्था'-वर्णों के विषय में संख्या-विषयक कोई मतभेद

भाष्यकार ने कहा है कि अर्ध एकार और अर्ध ओकार—ये वर्ण हैं ही नहीं। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यह कैसे कहते हो कि अर्ध एकार और अर्ध ओकार हैं ही नहीं। सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखा के अनुयायी सामगायक "सुजाते एश्व (अश्व) सूनृते", "अध्वर्यो ओद्रिभिः (अद्रिभिः) सुतम्", "शुक्रं ते एन्यद् (अन्यद्)" "यजतं ते एन्यद् (अन्यद्)" इत्यादि मन्त्रों में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का पाठ करते हैं। इसके उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि यह तो उन आचार्यों की अपनी शाखाओं में उच्चारण करने की रीति है। न तो लोक में और न किसी दूसरी वैदिक शाखा में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का पाठ होता है।

(क) सिद्धान्ती—१८।१ में सूत्रकार ने कहा है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार ओंकार (ओं) में विद्यमान ओ के उच्चारण में २½ मात्रा का समय लगता है। ओं का उच्चारण दो स्थलों में होता है—(१) वेद में और (२) वेद के बाहर। सूत्रकार के अनुसार वेद में स्थित 'ओं' के 'ओ' का उच्चारण दो मात्रा के समय में होता है, ढाई मात्रा के समय में नहीं।

पूर्वपक्षी—यह किस आधार पर कह रहे हो ?

सिद्धान्ती—यदि सूत्रकार यह मानते हैं कि 'ओं' के 'ओ' के उच्चारण में ढाई मात्रा का समय लगता है तो उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि 'ओं' का 'ओ' सामान्य 'ओ' से भिन्न वर्ण है; क्योंकि परिमाण का भेद होने से वर्ण का भेद हो जाता है जैसा कि उन्होंने २३।२ में स्पष्ट शब्दों में बतलाया है (परीमाणाच्च पञ्च-मात्)। यदि वे दो ओकार मानते हैं तब यह मानना होगा कि उनके अनुसार स्वरों की संख्या सत्रह है। किंतु उन्होंने १।५ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'स्वर' सोलह हैं। इससे ज्ञात होता है कि वेद में स्थित 'ओं' के 'ओ' को वे सामान्य 'ओ' के समान दो मात्राओं वाला ही मानते हैं। वेद के बाहर स्थित 'ओं' के ओ का उच्चारण-काल ढाई मात्रा होने पर भी कोई हानि नहीं है। सूत्रकार के अनुसार तै० सं० में सोलह 'स्वर' हैं, अन्यत्र स्वरों की संख्या अधिक भी हो सकती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्याहुः। तत्रास्माकं विसर्जनीयस्य दुस्स्पृष्टस्य च नोष्मस्वन्तर्भावः "ऊष्मविसर्जनीय"[1] इति पृथग्ग्रहणात्, "पृक्तस्वरात्परो ळो डम्"[2] इति निर्देशसामर्थ्याच्च। दुस्स्पृष्टस्य ऊष्मान्तर्भावे तस्य अघोषत्वात् "घोषवत्परश्च"[3] इत्योत्वं न स्यात्। अत्र ळकारळ्हकारयोरस्मत्स ँ हिता-

---

नहीं है। किन्तु 'ऊष्म'-वर्णों के विषय में ऋग्वेदी लोग कहते हैं कि ये आठ 'ऊष्मन्'[1] हैं—श, ष, स, ह, ⌒ क, ⌒प, दुःस्पृष्ट और विसर्जनीय।[क] "ऊष्म और विसर्जनीय" में (विसर्जनीय का 'ऊष्म'-वर्ण से) पृथक् उल्लेख होने से तथा "पृक्त स्वर के बाद में ळकार डकार"—इस निर्देश की सामर्थ्य से (यह सिद्ध होता है कि) हमारे विसर्जनीय और दुःस्पृष्ट[ख] का 'ऊष्म'-वर्णों में अन्तर्भाव नहीं होता है। दुस्स्पृष्ट का 'ऊष्म' वर्णों में अन्तर्भाव होने पर उसके 'अघोष' होने से "सघोष (वर्ण) बाद में होने पर भी"—इस (सूत्र) से ओत्व नहीं होगा[ग]। हमारी संहिता में ळकार और ळ्हकार विद्यमान नहीं है तथापि (तैत्तिरीय शाखा के अङ्गभूत) शुक्रिय ब्राह्मण

(क) ऋ० प्रा० १।१० में कहा गया है कि आठ वर्ण 'ऊष्मन्' होते हैं। उवट के अनुसार ये आठ वर्ण 'ऊष्मन्' हैं—ह, श, ष, स, अः, ⌒क, ⌒प और अं। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदी लोग दुःस्पृष्ट (ळ) को 'ऊष्मन्' नहीं मानते हैं। अं के स्थान पर वैदिकाभरणकार ने 'ळ' का ग्रहण किया है। सम्भव है कि उवट-भाष्य के जिस हस्त-लेख के आधार पर वैदिकाभरणकार ने ऐसा लिखा है उसमें अं के स्थान पर 'ळ' लिखा हुआ हो। उल्लेखनीय है कि भारतीय साहित्य में ऋ० प्रा० ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अं की गणना 'ऊष्म'-वर्णों के अन्तर्गत की गई है।

(ख) 'दुःस्पृष्ट' का शाब्दिक अर्थ है 'कठिनाई से स्पर्श किया हुआ' अर्थात् 'थोड़ा स्पर्श किया हुआ।' उस वर्ण के लिए 'दुःस्पृष्ट' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है जिसका उच्चारण करते समय दो उच्चारणावयवों का थोड़ा-सा स्पर्श होता है। 'दुःस्पृष्ट' संज्ञा से किस वर्ण का ग्रहण होता है—इस विषय में मतभेद है। पा० शि० (पृ० २७) के अनुसार 'प्लुत' ळकार 'दुःस्पृष्ट' कहा जाता है। के० वी० अभ्यंकर ने अपने संस्कृत-व्याकरण के कोष में दुःस्पृष्ट से ळकार का ग्रहण किया है। प्रस्तुत स्थल में वैदिकाभरणकार ने ळकार के लिए 'दुःस्पृष्ट' संज्ञा का व्यवहार किया है। ळकार और ळ्हकार-ये वर्ण ऋग्वेद के मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं। ऋ० प्रा० (१।५२) में बतलाया गया है कि दो स्वरों के मध्य में आने पर डकार का ळकार हो जाता है और ढकार का ळ्हकार।

(ग) (i) १।१२ में कहा गया है कि 'ऊष्म'-वर्ण, 'विसर्जनीय', प्रथम और द्वितीय 'स्पर्श'—ये वर्ण 'अघोष' होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि तै० प्रा० में 'विसर्जनीय' को 'ऊष्म'-वर्ण नहीं माना गया है। यदि 'विसर्जनीय' 'ऊष्म'-वर्ण होता तो १।१२ में 'विसर्जनीय' के उल्लेख की आवश्यकता ही न होती। 'ऊष्म'-वर्ण के ग्रहण से

---

(१) १।१२ (२) १३।१६ (३) ९।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यामविद्यमानत्वेऽपि शुक्रियब्राह्मणे पितृमेधादिषु च विद्यमानत्वात्समाम्नानमत्र क्रियते। तथा च शिक्षायाम्—"चत्वारश्च यमास्तथा" इति चत्वार एव नासिक्याः स्मर्यन्ते। सूत्रकारस्तु समाम्नायसिद्धत्वात् अत्र "हकारान्नणमपरात्"[1] इति हकारद्वित्ववत् पञ्चमं नासिक्यं विधास्यति। यत्तु कैश्चिदुच्यते—"हकारान्नणमपरात्"[1] इति गुणविधिरेव न वर्णान्तरविधिरिति, यदपि स्वरभक्त्याख्यमुक्तवर्णव्यतिरिक्तं वर्णद्वयमस्तीति, तदुभयमेकविंशे निराकरिष्यामः। तेन व्यवस्थितमेतत्—

ह्रस्वदीर्घप्लुतावर्णैवर्णोवर्णा ऋॠ ऌ च।
एऐ ओऔ इति ज्ञेयाः षोडशेहादितस्स्वराः॥
कखौ गघौ ङचछजाः झञौ टठडढा णतौ।
थदौ धनौ पफबभमास्स्पर्शाः पञ्चविंशतिः॥

और पितृमेध आदि में (ळकार के) विद्यमान होने से यहाँ (ळकार का) पाठ किया गया है।[ख] उसी प्रकार शिक्षा में "उसी प्रकार चार यम हैं"—इससे चार ही नासिक्यों का उल्लेख किया गया है। किंतु सूत्रकार तो समाम्नाय में उपलब्ध होने से यहाँ "नकार, णकार या मकार है बाद में जिसके ऐसे हकार से बाद में"—इस (सूत्र) से हकार के द्वित्व से समन्वित पञ्चम नासिक्य का विधान करेंगे। कुछ लोगों ने जो यह कहा है कि "नकार, णकार या मकार है बाद में जिसके ऐसे हकार से बाद में"—यहाँ गुण का विधान है, दूसरे वर्ण का नहीं और जो यह भी (कहा है कि) स्वरभक्ति उक्त वर्ण से व्यतिरिक्त दो वर्ण हैं—इन दोनों का निरा-

---

'विसर्जनीय' का भी ग्रहण हो जाता। 'विसर्जनीय' के इस पृथक् ग्रहण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विसर्जनीय' 'ऊष्म'-वर्ण नहीं है।

(ii) "पृक्तस्वरात्परो ळो डम्" (१३।१६)—इस सूत्र रूप निर्देश से ज्ञात होता है कि ळ (दुःस्पृष्ट) 'ऊष्म'-वर्ण नहीं है।

पूर्वपक्षी—कैसे ?

सिद्धान्ती—९।८ में कहा गया है कि 'घोषवत्'-वर्ण बाद में होने पर 'अः' का 'ओ' हो जाता है। यहाँ 'घोषवत्'-वर्ण (ळ) बाद में होने पर 'पृक्तस्वरात्परः' का 'अः' 'ओ' हो गया जिससे वह 'पृक्तस्वरात्परो···' बन गया। यदि 'ळ' 'ऊष्म'-वर्ण होता तो वह १।१२ से 'अघोष' होता जिससे ९।८ के अनुसार 'अः' का 'ओ' न होता। किंतु प्रातिशाख्य के सूत्र (१३।१६) में 'अः' का 'ओ' हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि 'ळ' 'घोष' है और 'घोष' होने पर वह 'ऊष्म'-वर्ण नहीं है—यह भी सिद्ध होता है।

(ख) ळकार के उदाहरण के लिए १३।१६ के त्रि० को देखिए।

---

(१) २१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यरौ लवौ चतस्रोऽन्तस्थाश्च ⌒कशषस ⌒पहाः।
षड्ऊष्माणो विसर्गानुस्वारौ ळो नास्यपञ्चकम्॥
इत्येकोनाषष्टिवर्णा अस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः॥ इति॥

ये पुनः आसामकारादिवर्णजातीनां व्यक्तिभेदाः ते त्वानन्त्यादगण्या इति जातीनामेव सङ्ख्योक्ता। न च गुणभेदस्य जातिभेदकत्वं गवादिषु दृष्टम्। तथाऽनुप्रदानादिभेदादेव वर्ण-

---

करण इक्कीसवें अध्याय में किया जायेगा। इस प्रकार यह व्यवस्थित हो गया—'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत' अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ तथा औ—(वर्णमाला के) आदि में विद्यमान इन सोलह वर्णों को यहाँ 'स्वर' जानना चाहिए। क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म—ये पच्चीस स्पर्श हैं। य, र, ल, व—ये चार 'अन्तःस्था' हैं। ⌒क, श, ष, स, ⌒प, ह—ये छः ऊष्मन् हैं। विसर्ग, अनुस्वार, ळ, पञ्च नासिक्य—इस प्रकार हमारे वेद में उनसठ वर्ण हैं।

अकार आदि वर्ण-जातियों के जो व्यक्तिगत (एक एक करके) भेद हैं उनकी गणना (वर्ण-समाम्नाय) में नहीं की गई है, क्योंकि इससे वर्ण अनन्त हो जायेंगे—इसलिए (अकार आदि) जातियों की ही संख्या बतलाई गई है।[क] और गुण का भेद जाति के भेदक के रूप में गौ इत्यादि में नहीं देखा गया है। 'अनुप्रदान' इत्यादि के भेद से ही वर्ण-भेद को (सूत्रकार) (२३।२ में) बतलायेंगे। महाभाष्य

(क) महाभाष्य (पृ० ६४-६६) में पूर्वपक्षी ने कहा है कि (१) कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान के कारण अकार नाना (पृथक्-पृथक्) हैं। जैसे 'दण्ड अग्रम्'—यहाँ 'ड' के अकार और 'अग्रम्' के प्रथम अकार के उच्चारण में विवृत्ति (काल) का व्यवधान है। 'दण्ड'—यहाँ 'द' के अकार और 'ड' के अकार के मध्य में शब्द (णकार) का व्यवधान है। एक ही पदार्थ में व्यवधान नहीं होता है। अतः ये अकार एक दूसरे से पृथक् हैं। (२) एक साथ नाना स्थानों में उपलब्ध होने से भी अकार नाना (अनेक) हैं। अश्व, अर्क इत्यादि स्थलों में अकार एक साथ देखा जाता है। एक ही देवदत्त एक साथ मथुरा और प्रयाग में नहीं हो सकता है। इससे अकार व्यक्तियों का नानात्व सिद्ध होता है।

इसके उत्तर में बतलाया गया है कि जाति का ही सर्वत्र ग्रहण होने से समस्त दोषों का निवारण हो जाता है। अकार जाति का निर्देश होने से सारे अकारों का ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार इकार जाति का निर्देश होने से सारे इकारों का और उकार जाति का निर्देश होने से सारे उकारों का ग्रहण हो जाता है।

वैदिकाभरणकार ने कहा है कि वर्ण-व्यक्तियों का वर्ण-समाम्नाय में निर्देश नहीं हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार मानने पर वर्ण अनन्त हो जायेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशेष्यं वक्ष्यति। उक्तं च पुनर्महाभाष्ये—"अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्" इति। तस्मादेतावन्त एव वर्णभेदाः ॥१॥

(समानाक्षर-संज्ञा)

अथ नवादितः समानाक्षराणि ॥ २ ॥

मा०—अथशब्दः संज्ञाधिकारार्थः। वर्णसमाम्नायस्यादितो नव वर्णाः समानाक्षरसंज्ञा भवन्ति। यथा—अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ इति। समानाक्षरसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्"[1]। अत्र—

में पुनः कहा गया है—"गुण अभेदक हैं—यही न्याय है"[क] इसलिए वर्णों के इतने (उनसठ) ही भेद हैं ॥ १ ॥

सू० अ०—(वर्ण-माला के) आदि से लेकर नौ (वर्ण) 'समानाक्षर' (संज्ञक) हैं।

(क) सम्बद्ध विषय को महाभाष्य (पृ० १३५—१३६) में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

पूर्वपक्षी—'उदात्त' आदि भेदक हैं। (१) जैसे—जो शिष्य 'उदात्त' उच्चारण करने के स्थान पर 'अनुदात्त' उच्चारण करता है खण्डिकोपाध्याय उसके मुँह पर यह कहते हुए चाँटा लगाता है कि तू कुछ अन्य का उच्चारण कर रहा है। (२) ऐसा ही लोक में देखते हैं। सभी जल एक अभिन्न द्रव्य है। उसका गुणभेद से भेद हो जाता है। जैसे यह शीतल जल है और यह उष्ण जल। इससे ज्ञात होता है कि उदात्तत्व, अनुनासिकत्व तथा उष्णता इत्यादि गुण भेदक हैं।

सिद्धान्ती—गुण अभेदक भी देखे जाते हैं। जैसे—देवदत्त चाहे मुण्डित सिर वाला हो, चाहे जटा वाला और चाहे शिखा वाला—वह अपने देवदत्त नाम को नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार वही देवदत्त बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था को प्राप्त होता हुआ भी देवदत्त ही रहता है। उसी प्रकार एक ही गो-पिण्ड अवस्थाभेद से वत्स, दम्य और बलीवर्द कहलाता है। इस प्रकार गुण-भेद से देवदत्त और गो-पिण्ड इत्यादि में भेद नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त से ज्ञात होता है कि गुणों के विषय में दोनों बातें देखी जा सकती हैं—गुण भेदक भी है और अभेदक भी हैं। शास्त्र में कौन सा पक्ष युक्त (न्याय्य) है ?

सिद्धान्ती—गुण अभेदक है—यही युक्त (न्याय्य) है।

---

(१) १५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अथ इति संज्ञाधिकारार्थः। अस्मिन् वर्णसमाम्नाये आदितः आरभ्य नव वर्णाः (समानाक्षराणि =) समानाक्षरसंज्ञाः; भवन्ति। यथा—अ आ आ ३ इत्यादि।

त्रि० अ०—अथ (यह शब्द) संज्ञा के अधिकार के लिए (प्रयुक्त हुआ है) (तात्पर्य यह है कि यहाँ से लेकर विभिन्न संज्ञाओं का विधान किया जायेगा)। इस वर्णमाला (वर्ण-समाम्नाय) में; आदितः = आदि से; लेकर; नव = नौ; वर्ण[क]; (समानाक्षराणि =) 'समानाक्षर'[ख] संज्ञक; हैं। जैसे अ, आ, आ ३ इत्यादि। ('समानाक्षर') संज्ञा का प्रयोजन "('समानाक्षर') बाद में होने पर (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती) दोनों 'समानाक्षर' एक 'दीर्घ' ('स्वर' वर्ण हो जाते हैं)" इत्यादि[ग]।

(क) 'वर्ण' शब्द 'वर्णन करना' अर्थ वाली 'वर्ण्' धातु से निष्पन्न हुआ हैं। अकारादि स्वरों तथा ककारादि व्यञ्जनों को 'वर्ण' शब्द से अभिहित किया जाता है। १।१ पर वैदिकाभरण में 'वर्ण' का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि जो वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूप से ध्वनित (उच्चारित) होते हैं वे अकारादि 'वर्ण' संज्ञक हैं। २२।१ पर त्रि० में कहा गया है कि 'वर्ण' शब्द से स्वर-व्यञ्जनात्मक राशि का कथन होता है।

(ख) 'समानाक्षर' का शाब्दिक अर्थ है समान अक्षर=संधि की सहायता से न उत्पन्न होने वाले अक्षर=मूल अक्षर। इन स्वरों को 'समानाक्षर' कहने का कारण है कि इनका उच्चारण सर्वांश में समान रूप से होता है। इनके उच्चारण में समरूपता होती है। उच्चारण में प्रयुक्त जिह्वा आदि अवयव एक अवस्था में ही स्थित होते हैं। उनकी स्थिति तथा आकृति में अन्तर नहीं आता। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी नहीं जाते हैं।

इन स्वरों को 'समानाक्षर' इसलिए भी कहा जा सकता है कि इनमें तीन-तीन 'स्वर' 'स्थान' तथा 'प्रयत्न' की दृष्टि से समान होते हैं। यथा-अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३।

ऋ०प्रा० में अ आ, ऋ ॠ, इ ई तथा उ ऊ—इन आठ वर्णों को 'समानाक्षर' माना गया है। किंतु तै० प्रा० में ऋ, ॠ का ग्रहण न करके अ, इ तथा उ के 'प्लुत' रूप का ग्रहण किया गया है। ऋ तथा ॠ को 'समानाक्षर' के अन्तर्गत ग्रहण न करने का कारण यह है कि आचार्य ऋ, ॠ में रेफ का अंश मानकर उसे 'स्वर'-तत्त्व तथा 'व्यञ्जन'-तत्त्व का संयुक्त रूप मानते हैं। 'प्लुत' स्वरों आ३, ई३ तथा ऊ३ को ग्रहण करने का कारण यह है कि ये दो स्वरों की संधि से उत्पन्न नहीं हैं, केवल इनके उच्चारण में लगने वाले समय (मात्रा) में ही भेद है। इस प्रकार तै० प्रा० के अनुसार ये नौ वर्ण 'समानाक्षर' संज्ञक हैं अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ तथा ऊ३।

(ग) "संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[1] इत्यादि। नन्वीदृशी महती संज्ञा किमर्था? शिक्षादिशास्त्रप्रसिद्धयनुरोधादिति ब्रूमः ॥ २ ॥

वै०—अत्र अथेति संज्ञापरिभाषमधिक्रियते। पूर्वसूत्रस्थं "वर्णसमाम्नायः" इति पदमिहानुवृत्तं षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। तेनायमर्थः—वर्णसमाम्नायस्यादितो नव वर्णाः; (समानाक्षराणि=) समानाक्षरसंज्ञाः; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"तस्य त्राता भवसि"[1]

(पू०) इस प्रकार की बड़ी संज्ञा का क्या प्रयोजन है? (सि०) बतलाते हैं—शिक्षा आदि शास्त्रों की प्रसिद्धि को स्वीकार करने के कारण (तात्पर्य यह है कि शिक्षा आदि शास्त्रों में कतिपय प्रारम्भिक वर्णों के लिए 'समानाक्षर' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। सूत्रकार ने भी प्रथम नौ वर्णों के लिए इसी संज्ञा को स्वीकार कर लिया है)[क] ॥ २ ॥

वै० अ०—यहाँ पर अथ (शब्द के द्वारा) संज्ञा और परिभाषा का अधिकार किया जाता है।[ख] पूर्ववर्ती सूत्र (१।१) में स्थित 'वर्ण-समाम्नाय' पद यहाँ (= प्रस्तुत सूत्र में) अनुवृत्त होने पर षष्ठ्यन्त (वर्णसमाम्नायस्य) के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है।[ग] इससे यह अर्थ हुआ—वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) के; आदितः = आदि से; लेकर; नव = नौ; वर्ण; (समानाक्षराणि =) 'समानाक्षर'

अर्थात् संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार—ये छः प्रकार के सूत्र होते हैं। प्रस्तुत सूत्र संज्ञा-सूत्र है। संज्ञा-सूत्र परार्थ होता है। संज्ञा करने का यह प्रयोजन होता है कि ग्रन्थ में उस संज्ञा का व्यवहार होता है। संज्ञा का प्रयोजन बतलाने के लिए त्रिभाष्यरत्नकार प्रातिशाख्य के उस स्थल को उद्धृत कर देते हैं जहाँ प्रस्तुत संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि उस स्थल को समझने के लिए ही वह संज्ञा की गई है। यदि संज्ञा न की जाये तो उस स्थल को समझा नहीं जा सकता है।

(क) उल्लेखनीय है कि पाणिनीय शिक्षा में 'समानाक्षर' संज्ञा का उल्लेख नहीं किया गया है। किंतु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से प्राचीनतर ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'समानाक्षर' संज्ञा का विधान किया गया है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र में 'अथ' शब्द का प्रयोग संज्ञा तथा परिभाषा के अधिकार को बतलाने के लिए किया गया है। अर्थात् अब संज्ञा-सूत्रों और परिभाषा-सूत्रों का प्रारम्भ हो रहा है। यह विषय १।६१ पर समाप्त होगा।

(ग) तात्पर्य यह है कि १।१ में प्रयुक्त 'वर्णसमाम्नाय' शब्द की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में हो रही है। किन्तु अर्थ के अनुसार 'वर्णसमाम्नाय' शब्द की विभक्ति में यहाँ परिवर्तन कर दिया गया है। प्रथम सूत्र में प्रयुक्त प्रथमा विभक्तयन्त पद 'वर्णसमाम्नायः' को यहाँ षष्ठ्यन्त पद 'वर्णसमाम्नायस्य' के रूप में लिया गया है।

---

(१) १०।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यत्र पदान्तस्वराणामानुनासिक्यं भवति। अत्र समानाक्षराणीति महती संज्ञा किमर्थमाश्रिता? तदुच्यते—

अन्वर्थत्वं महासंज्ञाः व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः॥

न क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनं तदभावात्स्वरेष्वक्षरशब्दो वर्तते। "अक्षर-

---

संज्ञक; होते हैं। ('समानाक्षर') संज्ञा का प्रयोजन—"तस्य त्राता भवसि"—यहाँ पर पदान्त स्वरों की अनुनासिकता होती है।[क] (पू०) यहाँ 'समानाक्षर'—इस बड़ी संज्ञा का आश्रय किसलिए लिया गया है? (सि०) इसको बतलाते हैं—

अर्थ के अनुसार (संज्ञायें हों इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर) बड़ी संज्ञायें (की जाती हैं)। (ये बड़ी संज्ञायें) अन्य अर्थों को भी व्यक्त करती हैं। अतएव इन (बड़ी संज्ञाओं का) आश्रय पूर्ववर्ती आचार्यों तथा सूत्रकार ने लिया है (अर्थात् इनका प्रयोग किया है)।[ख]

जिनका क्षरण नहीं होता है वे 'अक्षर' हैं। क्षरण का अर्थ है दूसरे का अङ्ग बनकर चलना। उस (= क्षरण) का अभाव होने से स्वरों में 'अक्षर'[ग] शब्द

(क) १५।६ में यह विधान किया गया है कि 'प्रग्रह' से अतिरिक्त पदान्तीय 'समानाक्षर'० कुछ आचार्यों के मत से 'अनुनासिक' होते हैं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार अकार, आकार और इकार 'समानाक्षर'-संज्ञक हैं। अतः 'तस्य त्राता भवसि"—इस उदाहरण में पदान्तीय अकार, आकार और इकार इन आचार्यों के मत से 'अनुनासिक' उच्चारित होते हैं।

(ख) पूर्वपक्षी—'समानाक्षर'—यह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा क्यों की गई है? संज्ञा जहाँ तक हो छोटी होनी चाहिए, क्योंकि लाघव के लिए संज्ञा की जाती है। सिद्धान्ती—'समानाक्षर'—यह बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि यह अन्वर्थ संज्ञा मानी जाये। अर्थानुकूल, अर्थान्वित संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा कहलाती है। अन्वर्थ संज्ञाओं में उनका शाब्दिक अर्थ झलकता रहता है। इसके अतिरिक्त अन्वर्थ संज्ञायें अपने पारिभाषिक अर्थ को भी बतलाती है। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि अ, आ इत्यादि 'समानाक्षर' है, तब हमारे सम्मुख यह तथ्य सर्वदा विद्यमान रहता है कि अ, आ संधि से निष्पन्न नहीं हैं तथा इनके उच्चारण में समरूपता होती है। अन्वर्थ संज्ञा करने का यही प्रयोजन है। दूसरी बात यह है कि 'समानाक्षर' शब्द का उच्चारण होते ही हमारे सम्मुख यह तथ्य भी प्रस्फुटित हो जाता है कि इससे अ, आ, आ३; इ, ई, ई३ और उ, ऊ, ऊ३ का निर्देश किया जा रहा है।

(ग) 'अक्षर' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। तदनुसार 'अक्षर' शब्द का निर्वचन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः''[1] इति स्वरवाचित्वं दृश्यते। एकारादयस्स्वराः सन्ध्यक्षराणीत्याख्यायन्ते स्वरद्वयसंधिरूपत्वात्। तदभावात्तु समानरूपाः अकारादय इतरे स्वराः समानाक्षराणीति। अत एव शौनकेन—''अष्टौ समानाक्षराण्यादितस्ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि''[2] इति सन्ध्यक्षरेभ्यः प्राचां सर्वेषां समानाक्षरसंज्ञोच्यते। आचार्यस्तूपसर्गसंज्ञावदुपयोगानुगु-

---

विद्यमान है। "अक्षरों तथा व्यञ्जनों की अनुपलब्धि 'ध्वान' है"—यहाँ पर ('अक्षर' शब्द से) 'स्वर' का वाचकत्व दिखलाई पड़ता है (अर्थात् यहाँ 'अक्षर' शब्द का अर्थ है 'स्वर')। दो स्वरों के मेलस्वरूप होने से एकार आदि 'स्वर' 'संध्यक्षर'[क] कहे जाते हैं। किन्तु उस (मेल) का अभाव होने से समान रूप वाले अकार आदि अन्य 'स्वर' 'समानाक्षर' (कहलाते हैं)। इसलिए—"आदि में आठ 'अक्षर' 'समानाक्षर' हैं। तत्पश्चात् आगे वाले चार ('अक्षर') 'संध्यक्षर' हैं"—इसके द्वारा शौनक ने संध्यक्षरों से पूर्ववर्ती सभी (वर्णों) की 'समानाक्षर' संज्ञा कही है। किन्तु आचार्य ने तो उपयोग के अनुसार 'उपसर्ग' संज्ञा के समान नौ (वर्णों) की ही ('समानाक्षर' संज्ञा) कही है। किन्तु अन्य मत (यह है)—ऋकार आदि तीन (स्वरों) के लिए यह ('समानाक्षर') संज्ञा युक्त नहीं है क्योंकि इनमें दो स्वरों की संधि-रूप का अभाव होने पर

भी अनेक प्रकार से किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग syllable के अर्थ में किया गया है। इस अर्थ में 'अक्षर' शब्द का निर्वचन यह होगा—'न क्षरतीति अक्षरम्'। अर्थात् 'अक्षर' वह है जो चलता नहीं है। 'स्वर' वर्ण 'अक्षर' का आधार होता है क्योंकि वह किसी अन्य वर्ण का अङ्ग नहीं होता है। इसके विपरीत 'व्यञ्जन', 'अनुस्वार' और विसर्जनीय अन्य वर्णों (स्वरों) के अङ्ग होते हैं।

(क) 'संध्यक्षर' का शाब्दिक अर्थ है 'दो स्वरों की संधि से उत्पन्न 'अक्षर'। अकार की इकार, उकार, एकार और ओकार के साथ संधि होने पर क्रमशः एकार, ओकार, ऐकार और औकार की निष्पत्ति होती है। 'संध्यक्षर' का निर्वचन करते हुए ऋ० प्रा० १।२ पर उवट ने कहा है "अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह संधौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते।"

'संध्यक्षर'-संज्ञक स्वरों को 'मिश्र स्वर' (mixed vowels) अथवा 'संयुक्त स्वर' (vowels of combination) भी कहा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि तै० प्रा० में 'संध्यक्षर' संज्ञा का विधान अथवा प्रयोग नहीं किया गया है।

---

(१) २३।७ (२) ऋ० प्रा० १।१-२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ण्यान्नवानामेवाह। अन्यत्तु मतम्—ऋकारदीनां त्रयाणां स्वरद्वयसन्धिरूपत्वाभावेऽपि रूपद्वयसद्भावादेषा संज्ञा न युक्तेति नवानामेवाहेति ॥ २ ॥

(सवर्ण-संज्ञा)

द्वेद्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे ॥ ३ ॥

मा०—तेषु समानाक्षरेषु ह्रस्वदीर्घेषु द्वे द्वे सवर्णसंज्ञे भवतः। अ आ इति अन्योऽन्यस्य सवर्णः। ह्रस्वदीर्घे इत्यारब्धस्य द्वे द्वे इत्यनर्थकम्। अत्रोच्यते—द्वे द्वे इत्यनारभ्यमाणे ईकारोऽप्यकारस्य सवर्णः स्यात्। न खलु ईकारस्य आकारः सवर्णः, अकारश्च तथा। आकारस्य अकारः सवर्णः। आकारश्च तथा। एवमितरेषामपि। तस्मात् द्वे द्वे इत्यारभ्य सूत्रितम्। सवर्णसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[1] इति ॥ ३ ॥

त्रि०—तेषु समानाक्षरेषु; (द्वेद्वे ह्रस्वदीर्घे =) द्वेद्वे ह्रस्वे द्वेद्वे दीर्घे वा ह्रस्वदीर्घे वा दीर्घह्रस्वे वा; अक्षरे परस्परम्; (सवर्णे=) सवर्णसंज्ञे; भवतः। इयमन्वर्थसंज्ञा। सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते। तस्मादकारादीनामिकारादिभिर्न सवर्णसंज्ञाशङ्का, भिन्नस्थानप्रयत्नत्वात्

भी दो रूपों का अस्तित्व विद्यमान है।[क] इसलिए (सूत्रकार ने) नौ (वर्णों) की ही ('समानाक्षर' संज्ञा) कही है ॥ २ ॥

सू० अ०—(उन समानाक्षरों में) दो-दो 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' ('स्वर' वर्ण) 'सवर्ण' (संज्ञक होते हैं)।

त्रि० अ०—उन समानाक्षरों में; (द्वेद्वे ह्रस्वदीर्घे =) दो-दो 'ह्रस्व', दो-दो

(क) पूर्वपक्षी—ऋ० प्रा० में ऋ तथा ऋ् को भी 'समानाक्षर' माना गया है। इसके विपरीत तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार ने ऋ और ऋ् को 'समानाक्षर' नहीं माना है। आचार्य ने ऐसा क्यों किया ?

सिद्धांती—(१)—जिस प्रकार उपसर्गों की संख्या बाईस होने पर भी आचार्य ने उपयोग की दृष्टि से १।१५ में दस पदों की ही 'उपसर्ग' संज्ञा की है, उसी प्रकार उपयोग की दृष्टि से आचार्य ने केवल नौ स्वरों की 'समानाक्षर' संज्ञा की है; (२) अन्य मत—ऋ और ऋ् को 'समानाक्षर' मानना उचित ही नहीं है। यद्यपि ये दो वर्ण दो स्वरों की संधि से निष्पन्न नहीं होते हैं तथापि ऋ तथा ऋ् 'स्वर' तत्व तथा 'व्यञ्जन' तत्व के मिश्रित रूप हैं। दो विजातीय तत्वों से निष्पन्न ऋ और ऋ् को 'समानाक्षर' (homogeneous vowels) मानना आचार्य को उचित नहीं लगा।

---

(१) १०।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनयोः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[1] इत्यादि। ह्रस्वं च दीर्घं च= ह्रस्वदीर्घे ॥ ३ ॥

वै०—अत्र समानाक्षरविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। ह्रस्वं च दीर्घं च ह्रस्वदीर्घे। यद्यत्र समानाक्षराणामेकगणत्वमाश्रित्य तत्रत्ययोः ह्रस्वदीर्घयोर्मिथस्सवर्णसंज्ञा विधीयते तदा द्विवचनेनैव तदुपपत्तेः द्वेद्वे इति वीप्सावचनमनर्थकं स्यात्। तस्मादवर्णं इवर्णं उवर्णं इति त्रीन् गणान् समाश्रित्य तस्मिन् तस्मिन् गणे ये द्वेद्वे ह्रस्वदीर्घे ते परस्परम्; (सवर्णे)=सवर्णसंज्ञे;

'दीर्घ' अथवा 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' अथवा 'दीर्घ' और 'ह्रस्व'; 'अक्षर' परस्पर; (सवर्णे =) 'सवर्ण'[क] संज्ञक; होते हैं।[ख] यह ('सवर्ण') अर्थानुसारिणी संज्ञा है। सवर्णत्व सादृश्य को कहते हैं। इसलिए अकारादि की इकारादि के साथ 'सवर्ण' संज्ञा की शंका नहीं होती है, क्योंकि इन (अकार तथा इकार आदि) के 'स्थान' तथा 'प्रयत्न' भिन्न भिन्न हैं। ('सवर्ण') संज्ञा का प्रयोजन—"'समानाक्षर' अपना 'सवर्ण' ('स्वर') बाद में होने पर 'दीर्घ' 'स्वर' (वर्ण) (हो जाता है)" इत्यादि। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' = ह्रस्वदीर्घ ॥ ३ ॥

वै० अ०—यहाँ 'समानाक्षर' का विशेषण होने के कारण ('द्वेद्वे', 'सवर्णे' और 'ह्रस्वदीर्घे' का) नपुंसक लिङ्ग में निर्देश किया गया है। ह्रस्वदीर्घे = 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'। यदि यहाँ समानाक्षरों के एक समूह का आश्रय लेकर (अर्थात् नौ समानाक्षरों को एक समूह में रखकर) वहाँ (अर्थात् नौ समानाक्षरों के उस समूह) के 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' (स्वरों) की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा की जाती है, तब ('द्वे', 'सवर्णे' और 'ह्रस्वदीर्घे' के) द्विवचन से ही उस ('ह्रस्व' और 'दीर्घ' स्वरों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा) की उपपत्ति हो जाने से दो-दो (द्वेद्वे)—यह द्विरुक्ति अनर्थक हो जायेगी। इसलिए अवर्ण (अ, आ, आ३), इवर्ण (इ, ई, ई३), और उवर्ण (उ, ऊ, ऊ३) - इन तीन गणों का आश्रय लेकर (अर्थात् इन तीन समूहों को पृथक्-

---

(क) 'सवर्ण' का शाब्दिक अर्थ है 'समान रूप (वर्ण) वाला अर्थात् समान उच्चारण स्थान तथा समान प्रयत्न वाला वर्ण। वा० प्रा० १।३३ में कहा गया है कि समान 'स्थान', 'करण' तथा 'आस्य प्रयत्न' वाला वर्ण 'सवर्ण' संज्ञक होता है (समान-स्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः)। 'समानाक्षर' संज्ञक स्वरों के प्रत्येक (अवर्ण, इवर्ण तथा उवर्ण) समूह के प्रत्येक 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' स्वरों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होती है।

(ख) इस प्रकार अ और अ, आ और आ, अ और आ तथा आ और अ परस्पर 'सवर्ण' हैं। इसी प्रकार इ तथा उ के विषय में भी समझना चाहिए। इसके विपरीत अ, इ और उ परस्पर असवर्ण हैं क्योंकि इन तीनों के उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न में असमानता है।

---

(१) १०।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवत इत्यर्थो विज्ञायते। तेनान्यगणस्थस्य ह्रस्वस्य अन्यगणस्थस्य दीर्घस्य च न सवर्णसंज्ञाप्रसङ्गः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"राष्ट्रं यज्ञस्याशीर्गच्छति"[१], "मानवीत्याह"[२] इत्येकादेशः॥

नन्वेवं व्याख्याने सजातीययोः ह्रस्वव्यक्त्योस्सवर्णसंज्ञा न स्यात् "अथाब्रवीत्"[३], "दधतूखे"[४] तथा दीर्घव्यक्त्योरपि "स ते माऽऽस्थात्"[५] तथा "न प्लुतपूर्वम्"[६] इति द्वयो-

---

पृथक् मानकर) उस-उस समूह में जो; द्वेद्वे = दो-दो; ह्रस्वदीर्घे = 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'; हैं वे परस्पर; (सवर्णे =) 'सवर्ण' संज्ञक; होते हैं—यह अर्थ ज्ञात होता है। इससे अन्य समूह में स्थित 'ह्रस्व' ('स्वर') की और अन्य समूह में स्थित 'दीर्घ' ('स्वर') की 'सवर्ण' संज्ञा का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है।[क] ('सवर्ण') संज्ञा का प्रयोजन—"राष्ट्रं यज्ञस्याशीर्गच्छति" और "मानवीत्याह" में एकादेश।[ख]

(पू०) इस प्रकार व्याख्यान करने पर सजातीय 'ह्रस्व' स्वरों की 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होगी। जैसे "अथाब्रवीत्" और "दधतूखे" में। उसी प्रकार 'दीर्घ' स्वरों की भी ('सवर्ण' संज्ञा नहीं होगी)। जैसे "स ते माऽऽस्थात्" में। उसी प्रकार " 'प्लुत'

(क) प्रस्तुत सूत्र के ये दो अर्थ किए जा सकते हैं (प्रथम) नौ समानाक्षरों में 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' परस्पर 'सवर्ण'-संज्ञक हैं—यह अर्थ भाष्यकार के अनुसार युक्त नहीं है; (द्वितीय) समानाक्षरों के तीन समूहों—अवर्ण (अ, आ, आ३), इवर्ण (इ, ई, ई३) और उवर्ण (उ, ऊ, उ३) में 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' 'सवर्ण'-संज्ञक हैं। भाष्यकार को यह अर्थ अभीष्ट है। इस अर्थ की पुष्टि में भाष्यकार ने दो बातें कही हैं—(१) यह अर्थ करने से सूत्र में प्रयुक्त 'द्वेद्वे'—यह द्विरुक्ति सार्थक हो जाती है। यदि पूर्वोक्त अर्थ अभीष्ट होता तो सूत्र में 'द्वेद्वे' को रखना अनावश्यक है; (२) यदि प्रथम अर्थ को माना जाए तो अ की ई और ऊ, इ की आ और ऊ, उ की आ और ई के साथ 'सवर्ण' संज्ञा हो जाती है और यह सर्वथा असङ्गत है।

इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार अ और आ, इ और ई तथा उ और ऊ 'सवर्ण' हैं।

(ख) राष्ट्रम्। यज्ञस्य। आशीरित्या—शीः। गच्छति ॥ प० पा०
मानवी। इति। आह। प० पा०

१०।२ में यह विधान किया गया है कि यदि 'समानाक्षर' के बाद में उसका 'सवर्ण' हो तो वे दोनों मिलकर एक 'दीर्घ' आदेश को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार अकार और आकार तथा ईकार और इकार 'सवर्ण' हैं। अत एव उपर्युक्त उदाहरणों में अकार और आकार एक 'दीर्घ' आदेश (=आकार) को तथा ईकार और इकार एक 'दीर्घ' आदेश (= ईकार) को प्राप्त होते हैं।

---

(१) १।६।१० (२) २।६ ७ (३) ३।२।११ (४) ४।१।६
(५) १।१।२ (६) १।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिकारयोस्सवर्णसंज्ञाप्रतिषेधोऽनर्थकस्स्यात् "अग्ना३ इ । इति । आह"[1] इत्यत्र प्राप्त्यभावात् । तस्मादत्र ह्रस्वानि च दीर्घाणि च ह्रस्वदीर्घम् इति समाहारद्वन्द्वस्य सप्तम्यन्तस्येदं रूपं ह्रस्वदीर्घे इति । तथाच समानाक्षरेषु ह्रस्वदीर्घेषु द्वेद्वे सवर्णसंज्ञे भवत इति विज्ञानात्सर्वमुपपद्यते ॥

अत्रोच्यते—अस्मिन्नपि व्याख्याने यकारादिव्यक्तीनां सजातीयानां मिथस्सवर्णसंज्ञा न

('स्वर') है पूर्व में जिसके ऐसा ('समानाक्षर' 'स्वर' 'सवर्ण'-संज्ञक) नहीं (होता है)"—इसके द्वारा दो इकारों की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध करना अनर्थक हो जायेगा, क्योंकि वहाँ ('सवर्ण'-संज्ञा) की प्राप्ति ही नहीं है। जैसे—"अग्ना३ इ । इति । आह" में। इसलिए यहाँ 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' (ह्रस्वानि च दीर्घाणि च) =ह्रस्वदीर्घ (ह्रस्वदीर्घम्)—इस समाहार द्वन्द्व का सप्तमी विभक्ति में अन्त होने वाला रूप = ह्रस्वदीर्घे है। और वैसा होने पर 'ह्रस्व' और दीर्घ' समानाक्षरों में दो-दो 'सवर्ण' संज्ञक होते हैं—इस प्रकार ज्ञात होने से सब उपपन्न हो जाता है[क] ॥

(सि०) इस विषय में कहते हैं—इस प्रकार व्याख्यान करने पर भी सजातीय

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र का पूर्वोक्त अर्थ करने पर तीन कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं—(१) अ और अ, इ और इ तथा उ और उ 'सवर्ण' संज्ञक नहीं होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि अ+अ=आ, इ+इ=ई तथा उ+उ=ऊ नहीं होगा; क्योंकि १०।२ में यह कहा गया है—"यदि 'समानाक्षर' के बाद में उसका 'सवर्ण' हो तो वे दोनों मिलकर एक दीर्घ आदेश को प्राप्त करते हैं।" इससे 'अथान्नवीत्' (अथ । अन्नवीत् ॥ प० पा०) और 'दधतूखे' (दधतु । उखे ॥ प० पा०) इत्यादि संहिता-रूप अनुपपन्न हो जायेंगे; (२) आ और आ, ई और ई तथा ऊ और ऊ 'सवर्ण' संज्ञक नहीं होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि आ+आ = आ, ई+ई=ई तथा ऊ+ऊ = ऊ नहीं होगा। इससे मा । एति (आ+इति) । अस्थात् ॥ प० पा० में १०।२ लागू नहीं होगा, जिससे "माऽऽस्थात्" संहिता-पाठ निष्पन्न नहीं होगा; (३) अव्यवहित परवर्ती सूत्र १।४ अनर्थक हो जायेगा। इस सूत्र में परिस्थिति-विशेष में इ और इ की 'सवर्ण' संज्ञा का प्रतिषेध किया गया है। प्राप्त का ही प्रतिषेध करना युक्त होता है। जब प्रस्तुत सूत्र (१।३) से इ और इ की 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त ही नहीं है तब १।४ से उसका निषेध करना सर्वथा अनर्थक है।

इन तीन कारणों से भाष्यकार का अर्थ युक्त नहीं है। सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है—'ह्रस्व' और 'दीर्घ' समानाक्षरों (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ,) में दो-दो वर्ण 'सवर्ण'-संज्ञक होते हैं। इस अर्थ की प्राप्ति 'ह्रस्वदीर्घे' को सप्तम्यन्त समाहार द्वन्द्व मानने पर होती है। इससे 'द्वेद्वे' की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है।

---

(१) ६।५।८ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्। इष्यते च सा। "अन्तस्स्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्"[१], "सवर्णसवर्गीयपरः"[२] इति॥

ननु मा भूत्तत्र पारिभाषिकं सवर्णत्वं सारूप्यात्मकं तु भविष्यति। वर्णशब्दः स्वरूप-वचनोऽप्यस्ति। "साम्नो वा एष वर्णो यद्धिरण्यम्"[३] इति॥

यद्येवं "अथाब्रवीत्"[४], "दधत्खे"[५] इत्यादिष्वपि तदुपपत्तेर्नेदं सूत्रं क्लेष्टव्यम्। क्लिष्टकल्पनायामपि अकारस्य इकारादिभिस्सावर्ण्यमित्याद्यतिप्रसङ्गः तदवस्थ एव स्यात्। न

यकार आदि वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होगी और वह (= यकारादि की 'सवर्ण' संज्ञा) अभीष्ट है। जैसे—" 'अन्तःस्था' बाद में होने पर (मकार उस 'अन्तःस्था' का) सवर्ण अनुनासिक ('अन्तःस्था') (हो जाता है)" और "सवर्ण तथा अपने वर्ग का वर्ण बाद में होने पर (किसी भी वर्ण का द्वित्व नहीं होता है)" में।[क]

(पू०) वहाँ (सजातीय यकार आदि वर्णों का) पारिभाषिक सवर्णत्व भले ही न हो, किन्तु समान स्वरूप की दृष्टि से तो (अकारादि का सवर्णत्व) होगा ही। 'घर्ण' शब्द स्वरूप का वाचक भी है। जैसे " जो यह स्वर्ण है वह साम का स्वरूप (वर्ण) है" में।[ख]

(सि०) यदि ऐसी बात है तो "अथाब्रवीत्" और "दधत्खे" इत्यादि में भी उस (समान स्वरूपात्मक सवर्णत्व) की उपपत्ति हो जाने से इस सूत्र को क्लिष्ट करना उचित नहीं है। क्लिष्ट कल्पना करने पर भी अकार के इकार आदि के साथ सवर्णत्व का अतिप्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना रहता हैं। उस (अकार और इकार के सवर्णत्व) के परिहार के लिए अर्थानुसारिणी संज्ञा के बल से समान रूप वाले (स्वरों) का ही सवर्णत्व स्थापित करना युक्त नहीं है। इससे सभी स्थलों पर सवर्णत्व के अभाव का

(क) ५।२८ और १४।२३ के अध्ययन से पता चलता है कि सूत्रकार के अनुसार य् और य्ँ, ल् और ल्ँ, व् और व्ँ तथा क् और क्ँ इत्यादि अनेक वर्ण परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक हैं। सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि पूर्वपक्षी ने तोड़-मरोड़कर सूत्र का जो अर्थ किया है उससे 'ह्रस्व' 'स्वर' और 'दीर्घ' 'स्वर' परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक हो जाते हैं किन्तु इससे 'सवर्ण'-संज्ञक सभी वर्णों की उपपत्ति नहीं होती है। क्लिष्ट कल्पना करने पर भी सभी 'सवर्ण'-संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं हुआ है।

(ख) पूर्वपक्षी का कहना है कि उपर्युक्त य् और य्ँ इत्यादि पारिभाषिक दृष्टि से परस्पर 'सवर्ण' नहीं है। किन्तु समान स्वरूप वाले होने के कारण वे 'सवर्ण' हैं। 'सवर्ण' का यहाँ अर्थ है समान स्वरूप वाले=सदृश। अत एव प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सभी 'सवर्ण' वर्णों का ग्रहण आवश्यक नहीं है। जो वर्ण पारिभाषिक दृष्टि से 'सवर्ण' हैं उनका ग्रहण तो उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हो ही जाता है।

---

(१) ५।२८ (२) १४।२३ (३) २।४।११ (४) ३।३।११ (५) ४।१।६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च तत्परिहाराय अन्वर्थसंज्ञाबलात् समानरूपयोरेव सावर्ण्यमास्थेयम्; ह्रस्वदीर्घयोरसरूपत्वात् सर्वत्र सावर्ण्याभावप्रसङ्गः। तस्माद्यथोक्त एव युक्तस्सूत्रार्थः॥

नन्वत्राप्युत्तरसूत्रस्यासङ्गतिस्स्यात्, एतत्सूत्रप्राप्तविषयत्वाभावात्। नैष दोषः सति सम्भवे हि "अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा"[1] इति न्यायः प्रवर्तते। अत एव व्याकरणे "ष्णान्ता षट्"[2] इत्यनन्तरविषयो विधिरिष्यते। इह च "न तकारपरः"[3] इति तादृशप्रतिषेध इत्यलं विस्तरेण॥ ३॥

प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। इसलिए (हमारे द्वारा) पहले कहा गया सूत्रार्थ ही ठीक है।[क]

(पू०) इस (व्याख्या) में भी परवर्ती सूत्र की असंगति होगी, क्योंकि इस (प्रस्तुत) सूत्र से विषय प्राप्त नहीं होता है। (सि०) यह दोष नहीं है क्योंकि संभव होने पर (ही) "अव्यवहित पूर्ववर्ती का विधान अथवा निषेध (होता है)" यह सिद्धान्त प्रवृत्त होता है। इसीलिए व्याकरण में "षकारान्त और नकारान्त (संख्या) षट् (संज्ञक) होती है" वहाँ अव्यवहित पूर्ववर्ती विषय का विधान अभीष्ट (प्रतीत होता है)[ख]। यहाँ (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में) भी "तकार बाद में होने पर नहीं"। वैसा निषेध हैं। बस अब अधिक विस्तार न कीजिए।

(क) सिद्धान्ती—यदि समान रूप वाले होने के कारण य् और यँ् इत्यादि का सवर्णत्व सिद्ध हो जाता है तो अ और अ इत्यादि का सवर्णत्व भी इसी आधार पर सिद्ध हो जायेगा। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर अ और अ इत्यादि के सवर्णत्व की सिद्धि के लिए पूर्वपक्षी ने तोड़-मरोड़कर सूत्र की जो व्याख्या की है वह युक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी की व्याख्या के अनुसार अ और इ इत्यादि भी सवर्ण हो जाते हैं जो सर्वथा असंगत है।

पूर्वपक्षी—अ और इ इत्यादि परस्पर असवर्ण हैं क्योंकि इनके उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न में असमानता है। परस्पर समान रूप वाले स्वर ही सवर्ण होते हैं क्योंकि 'सवर्ण' का शाब्दिक अर्थ ही है समान रूप (वर्ण) वाला।

सिद्धान्ती—यदि समान रूप वाले स्वरों को ही सवर्ण माना जाये तो अ और आ इत्यादि भी सवर्ण नहीं होंगे क्योंकि अ और आ इत्यादि सर्वथा समान रूप वाले स्वर नहीं हैं। इस प्रकार सर्वत्र सवर्णत्व का अभाव हो जायेगा। इसलिए सूत्र का यह अर्थ ही ठीक है—'अवर्ण (अ, आ, आ३), इवर्ण (इ, ई, ई३) और उवर्ण (उ, ऊ, ऊ३) में ह्रस्व और दीर्घ 'सवर्ण'—संज्ञक हैं।

(ख) पूर्वपक्षी—यह व्याख्या करने पर अव्यवहित परवर्ती सूत्र अनर्थक हो जायेगा। जब प्रस्तुत सूत्र (१।३) से इ और इ की सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं है तब १।४ से उसका निषेध करना सर्वथा अनर्थक हैं।

---

(१) परिभाषेन्दुशेखरे ६१ (२) पा० १।१।२४ (३) ७।९५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्लुतपूर्वे समानाक्षरे सवर्णसंज्ञाया अभावः)

न प्लुतपूर्वम् ॥ ४ ॥

मा०—न खलु प्लुतपूर्वं समानाक्षरं सवर्णसंज्ञं भवति। प्लुतमस्याः पूर्वमिति प्लुतपूर्वम्। यथा—"अग्ना३ इत्याह"[1] इत्यत्र "दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[2] इति वचनाद् दीर्घ एकादेशः + + + + + + + प्रसक्तः। अनेन सूत्रेण तस्यां सवर्णसंज्ञायां प्रतिषिद्धायां तु परिशेषात् "इवर्णोकारौ यवकारौ"[3] इति यत्वं भवति। "लुप्यते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ[4] इति स च यकारो लुप्यते। लुप्ते यकारे "न प्लुतप्रग्रहौ"[5] इति एकादेशप्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ ४ ॥

त्रि०—प्लुतपूर्वं समानाक्षरं सवर्णसंज्ञं न भवति। प्लुतमस्मात् पूर्वमिति प्लुतपूर्वम्। यथा "अग्ना३ इत्याह" इत्यत्र "दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[2] इत्येकादेशः

सू० अ०—'प्लुत' ('स्वर') है पूर्व में जिसके वह ('समानाक्षर' 'सवर्ण' संज्ञक) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—प्लुतपूर्वम् = 'प्लुत' ('स्वर') है पूर्व में जिसके वह; 'समानाक्षर' 'सवर्ण' संज्ञक; न=नहीं; होता है। 'प्लुत' ('स्वर') है पूर्व में जिसके वह प्लुतपूर्व है। जैस—"अग्ना३ इत्याह"[क]—यहाँ 'समानाक्षर' के बाद में 'सवर्ण' ('समानाक्षर') हो तो (संधि के परिणामस्वरूप) 'दीर्घ' ('स्वर' की निष्पत्ति होती है)"—इस सूत्र से एकादेश[क] की प्राप्ति होती है। और वह अभीष्ट नहीं है।

सिद्धान्ती—संभव होने पर ही सूत्रविशेष अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र से सम्बद्ध विषय का विधान अथवा निषेध करता है। जैसे "ष्णान्ता षट्" (पा० १।१।२४) अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र (पा० १।१।२३) से 'संख्या' संज्ञा का ग्रहण तो कर लेता है किन्तु उसम व्यवहित 'बहु' इत्यादि 'संख्या' संज्ञक पदों के विषय में 'षट्' संज्ञा का विधान नहीं करता है क्योंकि 'बहु' इत्यादि पद षकारान्त अथवा नकारान्त नहीं हैं। उसी प्रकार तै० प्रा० ७।१५ अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्रद्वय (७।१३-१४) में विहित तकार के टकार अथवा थकार के ठकार होने का निषेध नहीं करता अपितु ७।१ में विहित नकार के णकार होने का निषेध करता है। इसका कारण यह है कि ऐसा उदाहरण तो मिलता है जहाँ तकार के पूर्व में नकार के णकार होने की प्राप्ति है, जिसका निषेध ७।१५ में किया गया है। किन्तु ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ तकार के पूर्व में तकार के टकार अथवा थकार के ठकार होने की प्राप्ति हो, जिसका निषेध ७।१५ से किया जा सके।

(क) अग्ना३इ। इति। आह ॥ प० पा०

---

(१) ६।५।८ (२) १०।२ (३) १०।१५ (४) १०।१९ (५) १०।२४।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसक्तः। तच्चानिष्टम्। प्रतिषिद्धायां त्वेवं सवर्णसंज्ञायां पारिशेष्यात् "इवर्णोकारौ यवकारौ"[१] इति पूर्वस्य इकारस्य यत्वं स्यात्। स च यकारः "लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ"[२] इति लुप्यते। यकारे लुप्ते सति "इवर्णपर एकारम्"[३] इत्येकादेशः प्रसक्तः। सोऽपि निषिध्यते "न प्लुतप्रग्रहौ"[४] इत्यनेन। तस्मात् "अग्ना३इत्याह"[५] इति सिध्यति ॥ ४ ॥

वै० अ०—प्लुतः पूर्वो यस्मात्समानाक्षरात् तत् प्लुतपूर्वम्। तथाभूतं समानाक्षरं प्रति सवर्णं न भवति। सवर्णतायाः परस्परप्रतियोगिकत्वात् एकस्य सावर्ण्ये प्रतिषिद्धे इतरस्यापि तत्प्रतिषिद्धं भवति। इदमेवात्रान्वर्थसंज्ञाफलम्। सावर्ण्यप्रतिषेधेन तत्कार्यमेव

किन्तु इस प्रकार (प्रस्तुत सूत्र से) 'सवर्ण' संज्ञा के प्रतिषिद्ध हो जाने से और "('स्वर' बाद में होने पर) इवर्ण और उकार यकार और वकार (हो जाते हैं)"—इस सूत्र से अवशिष्ट होने के कारण पूर्ववर्ती इकार यकार हो जाता है। और वह यकार—"('स्वर' बाद में होने पर) अवर्ण है पूर्व में जिनके ऐसे यकार और वकार लुप्त हो जाते हैं"—इस (सूत्र) से लुप्त हो जाता है। यकार का लोप हो जाने पर—"(अवर्ण पूर्व में होने पर) इवर्ण बाद में होने पर (दोनों मिलकर) एकार (हो जाता है)" इस (सूत्र) से एकादेश को प्राप्त होता है। (किन्तु) वह (एकादेश) भी "'प्लुत' और 'प्रग्रह' (संधि-कार्य को प्राप्त) नहीं (करते हैं)" इस (सूत्र) से निषिद्ध हो जाता है। इससे "अग्ना३इत्याह"—यह (संहितारूप) सिद्ध होता है[ख]।

वै० अ०—'प्लुत' ('स्वर') है पूर्व में जिस 'समानाक्षर' से वह प्लुतपूर्व है। वैसे (= प्लुतपूर्व) 'समानाक्षर' के प्रति (अन्य 'समानाक्षर') 'सवर्ण'; न = नहीं; होता है। सवर्णता के परस्पर प्रतियोगी (सम्बद्ध, आश्रित) होने से जब एक (वर्ण) की सवर्णता प्रतिषिद्ध होती है तब दूसरे (वर्ण) की भी वह (सवर्णता) प्रतिषिद्ध हो जाती है। अर्थानुसारिणी ('सवर्ण') संज्ञा का यहाँ यही फल है। जब सवर्णता का प्रतिषेध हो जाता है तब उस (सवर्णता) का कार्य भी प्रतिषिद्ध

(क) जब दो 'स्वर' मिलकर एक हो जाते हैं तो वह 'एकादेश' कहलाता है। जैसे—अ + अ = आ, इ + इ = ई, आ + इ = ए इत्यादि।

(ख) "अग्ना३ इत्याह"—इस संहिता-पाठ की सिद्धि के लिए इस सूत्र (१।४) का निर्माण किया गया है। इस सूत्र के अनुसार 'प्लुत' 'स्वर' के बाद में विद्यमान 'समानाक्षर' 'सवर्ण'-संज्ञक नहीं होता है। इस सूत्र के अभाव में इस संहिता-पाठ की प्राप्ति होती—"अग्नाईत्याह"। किंतु यह संहिता-पाठ अभीष्ट नहीं है क्योंकि यह तै० सं० में उपलब्ध नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने पर अनेक अन्य सूत्रों (जिनका व्याख्यान भाष्य में ही दे दिया गया है) की सहायता से अभीष्ट संहिता-पाठ सिद्ध हो जाता है।

---

(१) १०।१५ (२) १०।१९ (३) १०।४ (४) १०।२४ (५) ६।५।८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिषिध्यते। यथा व्याकरणे—"नाज्झलौ"[1] इत्यादिभिः सवर्णत्वप्रतिषेधः। तथा अग्ना३ इ। इति। आह"[2] इत्यत्र "दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे"[3] इत्येकादेशो न भवति, किन्तु "इवर्णोकारौ यवकारौ"[4] इति यत्वम्। "लुप्येते स्ववर्णपूर्वौ यवकारौ"[5] इति तल्लोपश्च। ततः "न प्लुतप्रग्रहौ", "परश्च परश्च"[6] इति सन्धिप्रतिषेधात् इष्टरूपसिद्धिः ॥ ४ ॥

हो जाता है। जिस प्रकार व्याकरण में—"आसहित अच् ('स्वर') और हल् ('व्यञ्जन')—(ये परस्पर 'सवर्ण') नहीं (होते हैं)" इत्यादि के द्वारा सवर्णत्व का प्रतिषेध (किया गया है)[क]। उसी प्रकार "अग्ना३ इ। इति। आह"—यहाँ "'समानाक्षर' के बाद में 'सवर्ण' ('समानाक्षर') हो तो (संधि के परिणामस्वरूप) 'दीर्घ' ('स्वर' की निष्पत्ति होती है)"—इस (सूत्र) से एकादेश (ई) नहीं होता है, किन्तु "('स्वर' बाद में होने पर) इवर्ण और उकार यकार और वकार (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से (इकार) यकार (हो जाता है)। "अवर्ण ह्रस्व में जिनके ऐसे यकार और वकार, ('स्वर' बाद में होने पर) लुप्त हो जाते हैं" इस (सूत्र) से वह (यकार) लुप्त हो जाता है। तत्पश्चात् "'प्लुत' और 'प्रग्रह' (संधि-कार्य को प्राप्त) नहीं (करते हैं)", "(यकार और वकार का लोप होने पर) बाद वाला ('स्वर') भी (संधिकार्य को नहीं प्राप्त करता है)"—इन (सूत्रों) से संधि का प्रतिषेध होने से इष्ट रूप (अग्ना३ इत्याह) की सिद्धि होती है।

(क) अ० १।१।९ में यह विधान किया गया है कि जिन दो वर्णों के उच्चारण-स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हों वे परस्पर 'सवर्ण'-संज्ञक होते हैं (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्)। इससे अ, आ; इ, ई इत्यादि वर्णों की सवर्णता सिद्ध होती है। किंतु इससे यह भी प्राप्त होता है कि इकार और शकार इत्यादि भी 'सवर्ण' हैं, क्योंकि इनके उच्चारणस्थान (तालु) और आभ्यन्तर प्रयत्न (विवृत) तुल्य हैं। ऐसे सवर्णत्व का प्रतिषेध "नाज्झलौ" (१।१।१०) के द्वारा किया गया है। इससे इकार और शकार के सवर्णत्व का निषेध हो जाता है। सवर्णता का निषेध होने पर सवर्णता के कार्य का भी प्रतिषेध हो जाता है, जिससे दधि+शीतल में "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) से इकार और शकार मिलकर ईकार नहीं होते हैं।

प्रस्तुत में भी "अग्ना३इ+इति" में 'अग्ना३इ' के इकार और 'इति' के इकार की सवर्णता का १।४ से निषेध होने पर इ+इ १०।२ से ई नहीं होते हैं। तत्पश्चात् अन्य सूत्रों के लागू होने से अभीष्ट संहिता-रूप की सिद्धि होती है।

---

(१) अ० १।१।१०
(२) ६।५।८
(३) १०।२
(४) १०।१५
(५) १०।१९
(६) १०।२४, २५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्वर-संज्ञा)

षोडशादितः स्वराः ॥ ५ ॥

मा०—सर्वस्य वर्णसमाम्नायस्यादितः षोडश ये वर्णाः ते स्वरसंज्ञा भवन्ति। अकारादय औकारान्ताः। स्वरसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"अथ स्वरपरो यकारम्"[1] इति ॥५॥

त्रि०—वर्णसमाम्नायस्य आदित आरभ्य षोडश वर्णाः (स्वराः =) स्वरसंज्ञाः; भवन्ति। अकारादय औकारपर्यन्ता इत्यर्थः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—अथ स्वरपरो यकारम्[1] इत्यादि ॥ ५ ॥

वै०—वर्णसमाम्नायस्य आदितः षोडश वर्णाः; (स्वराः =) स्वरसंज्ञाः; भवन्ति। आदित इत्यनुक्तौ समानाक्षरेभ्यः परेषामेव स्वरसंज्ञेति शङ्का स्यात्। संज्ञायाः प्रयाजनम्—

सू० अ०—(वणमाला के) आदि से लेकर सोलह (वर्ण) 'स्वर' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—वर्णमाला (वर्ण-समाम्नाय) के; आदितः=आदि से; लेकर; षोडश=सोलह; वर्ण; (स्वराः=) 'स्वर'[क] संज्ञक; होते हैं। अकार से लेकर औकार पयन्त (सोलह 'स्वर') हैं—यह अर्थ है।[ख] ('स्वर') संज्ञा का प्रयोजन—" 'स्वर' बाद में होने पर विसर्जनीय यकार हो जाता है" इत्यादि ॥ ५ ॥

वै० अ०—वर्णमाला के; आदितः=आदि से लेकर; षोडश=सोलह; वर्ण; (स्वराः=) 'स्वर' संज्ञक; होते हैं। 'आदि से लेकर' का (सूत्र में) कथन न होने

(क) वर्ण-विशेष का वाचक 'स्वर' शब्द 'शब्द करना' अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न हुआ है। ऋ० प्रा० १।१३ के भाष्य में उवट का कथन है—"स्वयंन्ते शब्द्यन्त इति स्वराः" अर्थात् किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं उच्चारित होते हैं, इसलिए 'स्वर' कहलाते हैं। पा० शि० ४ पर 'पञ्जिका' नामक टीका में 'स्वर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"स्वरा इति 'स्वृ शब्दोपतापयोः' स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच्प्रत्ययः"। इस व्याख्या के अनुसार इन वर्णों को 'स्वर' कहने का कारण यह है कि इनकी सहायता से व्यञ्जनों का उच्चारण होता है। इस बात को पा० शि० की 'शिक्षावल्ली' नाम की विवृत्ति (पृ० ७६) में इस प्रकार कहा गया है—"स्वर्यते शब्द्यते व्यञ्जनमेभिः स्वेन राजन्त इति वा" अर्थात् ये 'स्वर' इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा व्यञ्जनों का उच्चारण होता है अथवा ये स्वयं बिना किसी अन्य की सहायता के प्रकाशित (उच्चारित) होते हैं।

(ख) सोलह 'स्वर' ये हैं—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ, ऌ, ए ऐ, ओ औ।

---

(१)९।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"युङ्ङसि"[1], "आऽस्मिन्नुग्राः"[2] इति ङकारनकारयोर्द्वित्वम्। निर्वचनम्—स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः। तदुक्तम्—

यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते॥ इति॥ ५॥

(व्यञ्जन-संज्ञा)

शेषो व्यञ्जनानि॥ ६॥

भा०—स्वरेभ्यो योऽन्यो वर्णसमाम्नायराशिः स व्यञ्जनसंज्ञो भवति। ककारादयो

पर 'समानाक्षरों से बाद वाले (वर्णों) की ही 'स्वर' संज्ञा (की गयी है)'—यह शङ्का होती[क]। ('स्वर') संज्ञा का प्रयोजन—"युङ्ङसि", "आस्मिन्नुग्राः"—में ङकार और नकार का द्वित्व[ख]। ('स्वर' शब्द का) निर्वचन—जो स्वयं प्रकाशित (उच्चारित) होते हैं, वे 'स्वर' हैं। यह कहा भी गया है—

जो स्वयं प्रकाशित (उच्चारित) होता है उसको पतञ्जलि ने 'स्वर' कहा है। अधिक महत्त्वपूर्ण उस ('स्वर') के द्वारा व्यक्त (उच्चारित) होने वाले (वर्ण') को 'व्यञ्जन' कहा जाता है॥ ५॥

सू० अ०—('स्वर' वर्णों से) शेष (वर्ण) 'व्यञ्जन' (संज्ञक) हैं।

(क) १।२ में यह विधान किया जा चुका है कि वर्णमाला के प्रथम नौ वर्ण 'समानाक्षर' कहलाते हैं। १।३-४ में भी 'समानाक्षर' संज्ञक वर्णों के विषय में ही कतिपय बातें बतलाई गई हैं। यदि प्रस्तुत सूत्र में 'आदितः' (आदि से लेकर) शब्द का प्रयोग न करके केवल यह कहा जाता कि सोलह वर्ण 'स्वर' हैं तो कोई व्यक्ति यह समझ सकता था कि पूर्व में विहित 'समानाक्षर' संज्ञक नौ वर्णों के बाद वाले सोलह वर्ण 'स्वर' कहलाते हैं। इस संदेह की निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने 'आदितः' शब्द का प्रयोग करके यह बतला दिया है कि वर्णमाला के आदि से लेकर सोलह वर्ण 'स्वर' हैं।

(ख) युङ्। असि॥ प० पा०। एति (आ + इति)। अस्मिन्। उग्राः॥ प० पा०

१४।२८ में यह बतलाया गया है कि 'व्यञ्जन' बाद में होने पर पद के अन्त में विद्यमान 'स्पर्श' द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'ङ्' और 'न्' के बाद में क्रमशः 'अ' और 'इ' हैं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'अ' और 'इ' 'स्वर' संज्ञक हैं। यही कारण है कि १४।२८ से उपर्युक्त उदाहरणों में द्वित्व का निषेध नहीं होता। इससे 'ङ्' और 'न्' का द्वित्व हो जाता है।

---

(१) १।८।१५ (२) ३।३।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मपर्यन्ताः य र ल वाः ◡क श ष स ◠प ह विसर्जनीयानुस्वारनासिक्या इति। व्यञ्जन-संज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"व्यञ्जनं स्वराङ्गम्"[1] इति ॥ ६ ॥

त्रि०—स्वरेभ्यः शेषो वर्णराशिः; (व्यञ्जनानि =) व्यञ्जनसंज्ञः; भवति। ककारादिस्वरभक्तिपर्यन्त इत्यर्थः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"व्यञ्जनं स्वराङ्गम्"[1] इत्यादि ॥ ६ ॥

वै०—शिष्यत इति शेषः। स्वरेभ्यः परे वर्णाः सर्वे; (व्यञ्जनानि =) व्यञ्जन-संज्ञाः; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"विश्वाहा शर्म यच्छतु"[2] इत्यत्र ह्रस्वादेशः। निर्व-चनं तूक्तम्—परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनमिति ॥ ६ ॥

त्रि० अ०—'स्वर' (वर्णों) से; शेषः = शेष; वर्णराशि; (व्यञ्जनानि=) 'व्यञ्जन'[क] संज्ञक; होती है। ककार से लेकर 'स्वरभक्ति' पर्यन्त (वर्ण 'व्यञ्जन' संज्ञक हैं)—यह अर्थ है ख। ('व्यञ्जन') संज्ञा का प्रयोजन—" 'व्यञ्जन' 'स्वर' का अङ्ग होता है" इत्यादि ॥ ६॥

वै० अ०—(जो) अवशिष्ट रहता है (वह) शेष है। 'स्वर' वर्णों से अन्य सभी वर्ण; (व्यञ्जनानि=) 'व्यञ्जन' संज्ञक; होते हैं[ग]। (व्यञ्जन') संज्ञा का

(क) 'व्यञ्जन' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'व्यक्त होना', 'प्रकट होना', 'प्रकाशित होना' अर्थ वाली 'अञ्ज्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'व्यञ्जन' का शाब्दिक अर्थ है 'स्वर' के द्वारा व्यक्त होने वाला, प्रकट होने वाला। वै० आ० में कहा गया है कि 'स्वर' के द्वारा व्यक्त (उच्चारित) होने के कारण ये वर्ण 'व्यञ्जन' कहलाते हैं। ऋ० प्रा० १।६ के भाष्य में उवट ने 'व्यञ्जन' की व्याख्या इस प्रकार की है—"व्यञ्जयन्ति प्रकटीकुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि" अर्थात् ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं, इसलिए ये वर्ण 'व्यञ्जन' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वरों के अपरिवर्तित होने पर भी 'व्यञ्जन' के परिवर्तित होने पर ही शब्दों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। उदाहरण के लिए 'धूप', 'कूप' और 'यूप'—इन तीन शब्दों में 'स्वर' वही हैं। किंतु 'व्यञ्जन' भिन्न-भिन्न हैं। व्यञ्जनों के भिन्न-भिन्न होने से इन शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हो गए हैं।

(ख) त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार 'व्यञ्जन' ये हैं—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, ◡क श ष स ◠प ह, अनु-स्वार, विसर्जनीय, रङ्ग, ळकार, चार यम तथा स्वरभक्ति।

(ग) वैदिकाभरणकार के अनुसार 'व्यञ्जन' ये हैं—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, ◡क श ष स ◠प ह, अनु-स्वार, विसर्जनीय, पाँच नासिक्य तथा ळकार।

---

(१) २१।१। (२) ४।६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्पर्श-संज्ञा)

आद्याः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः ॥ ७ ॥

मा०—व्यञ्जनानामाद्याः पञ्चविंशतिः ये वर्णाः ते स्पर्शसंज्ञा भवन्ति। यथा ककारादयो मकारान्ताः। आदित इत्येव वक्तव्ये आद्या इति शब्दान्तरेण प्रयोजनं, तेन विना कथं व्यञ्जनाधिकारस्यादित इत्येषोऽर्थो लभ्येत। स्पर्शसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"स्पर्शपूर्वः शकारः छकारम्"[1] इति ॥ ७ ॥

त्रि०—व्यञ्जनेष्वाद्याः पञ्चविंशतिवर्णाः; (स्पर्शाः =) स्पर्शसंज्ञाः; भवन्ति। ककारादयो मकारपर्यन्ता इत्यर्थः। "अथ नवादितः समानाक्षराणि"[2], "षोडशादितः स्वराः"[3] इतिवत् आदित इति वक्तव्ये आद्या इति शब्दान्तरप्रयोगोऽर्थान्तरसूचकः। व्यञ्जने-

---

प्रयोजन—"विश्वाहा शर्म यच्छतु"क—यहाँ पर 'ह्रस्व' का आदेश। ('व्यञ्जन' का) निर्वचन तो यह कहा गया है—अन्य के द्वारा अर्थात् 'स्वर' के द्वारा व्यक्त (=उच्चारित) होते हैं, इसलिए 'व्यञ्जन' हैं ॥ ६ ॥

सू० अ०—(व्यञ्जनों में) आदि वाले पचीस (वर्ण) 'स्पर्श' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—व्यञ्जनों में; आद्याः = आदि वाले; पञ्चविंशतिः = पचीस; वर्ण; (स्पर्शाः =) 'स्पर्श'ख संज्ञक; होते हैं। ककार से लेकर मकार पर्यन्त (वर्ण 'स्पर्श' संज्ञक हैं) —यह अर्थ है। "(वर्णमाला के) आदि से लेकर नौ (वर्ण) 'समानाक्षर'

(क) विश्वाहेति विश्व–हा। शर्म। यच्छतु ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार हकार 'व्यञ्जन' संज्ञक है। यही कारण है कि 'व्यञ्जन' (हकार) बाद में होने पर 'विश्वा' का आकार पद-पाठ में ३।५ से अकार हो गया है।

(ख) इन वर्णों का उच्चारण करते समय मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को रोकते हैं और फिर एक दूसरे से अलग होकर वायु को बाहर जाने देते हैं। दो उच्चारणावयवों का स्पर्श होने के कारण इन वर्णों को 'स्पर्श' (contact consonants) कहते हैं। उच्चारणावयवों के स्पर्श से वायु क्षण भर के लिए रुक जाती है, अतः इन वर्णों को अंग्रेजी में stops कहते हैं। जितने समय तक उच्चारणावयवों का स्पर्श रहता है, तब तक कोई ध्वनि नहीं होती है। अतः इन वर्णों को अंग्रेजी में mutes (अश्रुत, inaudible) भी कहते हैं। ज्यों ही स्पर्श समाप्त होता है, त्यों ही वायु फट् से बाहर निकलती है। अतः इन्हें 'स्फोटक' (explosives. plosives) भी कहते हैं।

---

(१) ५।३४ (२) १।२ (३) १।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्वाद्या न तु स्वरेष्वाद्या इति विज्ञेयम्। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"स्पर्शः स्पर्शपरः"[१] इत्यादि ॥ ७ ॥

वै०—आद्या इति पुल्लिङ्गनिर्देशो विधेयानुसारात्। यथा "शैत्यं हि यस्या प्रकृतिर्जलस्य" इति। विधेयबोधकस्पर्शशब्दस्य तु पुल्लिङ्गत्वं वृद्धप्रयोगनिबन्धनम्। तथाऽऽह वार्तिककारः—"लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इति। एवमुत्तरयोरपि सूत्रयोर्द्रष्टव्यम्। विंशतिरित्यादिशब्दास्तु सङ्ख्येयवृत्तित्वेऽपि नियतलिङ्गसङ्ख्या भवन्ति, यथा—"शतं

(संज्ञक) हैं", "(वर्णमाला के) आदि से लेकर सोलह (वर्ण) 'स्वर' (संज्ञक) हैं" इत्यादि (सूत्रों) के समान 'आदितः' कहने के स्थान पर 'आद्याः'—इस भिन्न शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ का सूचक है। व्यञ्जनों में आदि वाले, न कि स्वरों में आदि वाले—यह जानना चाहिए।[क] ('स्पर्श') संज्ञा का प्रयोजन—"(कतिपय आचार्यों के मतानुसार) 'स्पर्श' बाद में होने पर 'स्पर्श' (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)" इत्यादि ॥ ७ ॥

वै० अ०—'आद्याः' में पुल्लिङ्ग का निर्देश विधेय (स्पर्शाः) के अनुसार है। जैसे—"जो शैत्य है वह जल की प्रकृति है" में।[ख] विधेयबोधक 'स्पर्श' शब्द का पुल्लिङ्गत्व तो वृद्धप्रयोग के आधार पर है (यतः वृद्ध लोगों ने 'स्पर्श' शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में किया है अतः सूत्रकार ने भी इस शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में किया है)। वार्तिककार ने वैसा ही कहा है—"लिङ्ग का उपदेश नहीं करना है, क्योंकि लिङ्ग का प्रयोग लोक के आश्रित है"। इसी प्रकार बाद वाले दो सूत्रों (१।८-९) में भी देखना चाहिए। 'विंशति' इत्यादि शब्द तो सङ्ख्येय के अनुसार प्रयुक्त होने पर भी निश्चित लिङ्ग एवं वचन वाले होते हैं, जैसे—"सौ ब्राह्मण पीते हैं" में।[ग]

(क) (१) भाष्यकार का कथन है कि १।२ तथा १।५ के समान प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने 'आदितः' शब्द का प्रयोग न करके जो 'आद्याः' शब्द का प्रयोग किया है वह भिन्न अर्थ का द्योतक है; (२) 'आद्याः' शब्द इस बात को द्योतित करता है कि व्यञ्जनों में आदि वाले २५ वर्ण 'स्पर्श' संज्ञक होते हैं, न कि 'स्वर' वर्णों में; (३) भाष्यकार को 'स्वरेषु' की अपेक्षा 'वर्णसमाम्नाये' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था, क्योंकि १।२ तथा १।५ में 'आदितः' से 'वर्णमाला में आदि वाले' का बोध होता है। दूसरी बात यह है कि सोलह स्वरों में आदि वाले पच्चीस वर्ण 'स्पर्श' हैं—यह कहना भी अनर्थक ही होता।

(ख) विधेयभूत 'प्रकृतिः' स्त्रीलिङ्ग में है अतः 'तत्' का प्रयोग न होकर यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'सा' का प्रयोग हुआ है। उसी प्रकार 'आद्याः' में पुल्लिङ्ग का निर्देश विधेयभूत 'स्पर्शाः' के अनुसार हुआ है।

(ग) लिङ्ग के विषय में वैदिकाभरणकार ने इन तथ्यों को बतलाया है—(१) उद्देश्य का

---

(१) १४।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मणाः पिबन्ति''[1] इति। ततश्च व्यञ्जनेषु; (आद्याः=) आदितः, पञ्चविंशतिः; (स्पर्शाः=) स्पर्शसंज्ञानि; इत्युच्यन्ते। संज्ञायाः प्रयोजनम्—''इदं क्षत्रं दुष्टरमस्तु''[2] इति मकारस्यानुनासिकादेशः। निर्वचनं तु—स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात्स्पर्शा इत्याख्यायन्ते। न त्वेवमन्तस्थानामाख्या स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वाभावात् रूढ्यभावाच्च ॥ ७ ॥

(अन्तःस्था-संज्ञा)

पराश्चतस्रोऽन्तःस्थाः ॥ ८ ॥

मा०—स्पर्शेभ्यः परे ये वर्णाः चत्वारस्ते अन्तस्थसंज्ञा भवन्ति। य र ल व इति। अन्तस्थसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—''अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्''[1] इति ॥ ८ ॥

इससे (सूत्र का अर्थ यह हुआ)–व्यञ्जनों में; (आद्याः =) आदि से लेकर; पञ्चविंशतिः=पच्चीस (वर्ण); (स्पर्शाः =) 'स्पर्श' संज्ञक; कहलाते हैं। ('स्पर्श') संज्ञा का प्रयोजन—''इदं क्षत्रं दुष्टरमस्तु''—में मकार के स्थान पर 'अनुनासिक' का आदेश।[क] ('स्पर्श' का) निर्वचन तो (यह है)—'स्पृष्ट' प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण ये 'स्पर्श' कहलाते हैं। 'स्पृष्ट' प्रयत्न से उत्पन्न न होने के कारण तथा रूढ़ि का अभाव होने के कारण 'अन्तःस्था' (वर्णों) का नाम ('स्पर्श') नहीं है।[ख] ॥ ७ ॥

लिङ्ग विधेय के अनुसार होता है; (२) शब्दों के लिङ्ग के विषय में शिष्ट लोगों के प्रयोग को प्रमाण माना जाता है; (३) 'विंशति' इत्यादि शब्द नियत लिङ्ग और वचन वाले हैं। जिन पदार्थों की संख्या बतलायी जाती है, उन पदार्थों के लिङ्ग और वचन के अनुसार 'विंशति' इत्यादि संख्यावाचक शब्दों का लिङ्ग एवं वचन नहीं होता है।

(क) इदम्। क्षत्रम्। दुष्टरम्। अस्तु॥ प० पा०।

मुद्रित तै० सं० और मुद्रित तै० प्रा० में उपर्युक्त संहिता-पाठ उपलब्ध होता है, तथापि वैदिकाभरणकार को यहाँ यह संहिता-पाठ अभीष्ट है—''इदङ् क्षत्रन्दुष्टरमस्तु''। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार क्ष् (क्+ष्) और द् 'स्पर्श' संज्ञक हैं। यही कारण है कि ५।२७ के अनुसार, 'स्पर्श' बाद में होने पर, मकार 'अनुनासिक' क्रमशः ङकार तथा नकार हो गए हैं।

(ख) इससे ज्ञात होता है कि नाम मुख्यतः दो बातों पर आधृत होते हैं—(१) अर्थ (गुण); (२) रूढ़ि (प्रसिद्धि, प्रचलन)। 'अन्तःस्था' वर्णों में न तो 'स्पृष्ट' प्रयत्न (गुण) विद्यमान है और न वे 'स्पर्श' संज्ञा में रूढ़ (प्रसिद्ध) हैं।

---

(१) १।८।१८ (२) ४।४।१२ (३) ५।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—स्पर्शेभ्यः; (पराः=) परे; (चतस्रः =) चत्वारः; वर्णाः; (अन्तःस्थाः=) अन्तःस्थासंज्ञाः; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अन्तःस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्"[1] इत्यादि ॥ ८ ॥

वै०—स्पर्शेभ्यः; (पराः=) पराणि; (चतस्रः =) चत्वारि; व्यञ्जनानि; (अन्तः-

---

सू० अ०—('स्पर्श' वर्णों से) परवर्ती चार (वर्ण) 'अन्तःस्था' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—'स्पर्श' (वर्णों) से; (पराः =) बाद वाले; (चतस्रः =) चार; वर्ण; (अन्तःस्थाः =) 'अन्तःस्था'[क] संज्ञक; होते हैं। ('अन्तःस्था') संज्ञा का प्रयोजन—" 'अन्तःस्था' (वर्ण) बाद में होने पर (मकार) 'अन्तःस्था' के सदृश 'अनुनासिक' हो जाता है" इत्यादि ॥ ८ ॥

वै० अ०—'स्पर्श' वर्णों) से; (पराः =) बाद वाले; (चतस्रः =) चार;

(क) 'अन्तःस्था' शब्द 'अन्तः' पूर्वक 'स्था' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। य, र, ल, व—इन चार वर्णों को 'अन्तःस्था' शब्द से क्यों अभिहित किया जाता है—इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'अन्तःस्था' शब्द की अनेक व्याख्यायें की गई हैं—(१) वर्ण-माला में 'स्पर्श'-वर्णों और 'ऊष्म'-वर्णों के मध्य (अन्तः) में स्थित होने के कारण इन्हें 'अन्तःस्था' कहते हैं। ऋ० प्रा० १।९ के भाष्य में उवट ने 'अन्तःस्था' की यही व्याख्या की है—"स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तःस्थाः"; (२) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' की दृष्टि से ये वर्ण (य, र, ल, व) 'स्वर' और 'व्यञ्जन' के मध्यवर्ती हैं। इनका उच्चारण करते समय दो उच्चारणावयव न तो 'स्पर्श' वर्णों की भाँति एक दूसरे का पूर्ण स्पर्श करते हैं और न 'स्वर' वर्णों की भाँति एक दूसरे से नितान्त पृथक् ही रहते हैं अर्थात् न तो 'स्पर्श वर्णों के समान 'स्पृष्ट' अवस्था में उच्चारित होते हैं और न 'स्वर' वर्णों के समान 'विवृत' अवस्था में; (३) य, र, ल, व—इन 'अन्तःस्था' वर्णों की यह विशेषता है कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः अपने समान 'स्थान' वाले 'स्वर' से सम्बन्धित होता है। 'स्वर' और 'व्यञ्जन'—इन दोनों-के गुणों से युक्त होने के कारण भी इन वर्णों को 'अन्तःस्था' या 'अर्द्ध-स्वर' कहा जाता है; (४) तै० प्रा० १।८ पर वै० आ० में कहा गया है—"जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तर्जन्यत्वाद्वरलवा अन्तःस्था इत्याख्यायन्ते" अर्थात् जिह्वामध्य आदि करणों के किनारों से उच्चारित होने के कारण य, र, ल, व 'अन्तःस्था' कहलाते हैं; (५) बोटलिंग-रॉथ के सेन्टपीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोष के अनुसार ये वर्ण वाक्य के अन्त में नहीं आते हैं, केवल वाक्य के मध्य में ही आते हैं, इसलिए 'अन्तःस्था' कहलाते हैं। किंतु यह व्याख्या पूर्णतया असंतोषजनक है क्योंकि (i) यह लक्षण 'अन्तःस्था'-वर्णों की भाँति 'ऊष्म'-वर्णों और 'सोष्म' वर्णों पर भी लागू होता है; (ii) यह नियम

---

(1) ५।२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थाः =) अन्तःस्थासंज्ञानि; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"देवासुरास्संयत्ता आसन्"[१] इत्यादिषु मकारस्य अनुनासिकादेशः। निर्वचनं तु—जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद्यरलवा अन्तःस्था इत्याख्याय ते ॥ ८ ॥

(ऊष्म-संज्ञा)

परे षडूष्माणः ॥ ९ ॥

मा०—अन्तस्थेभ्यः परे ये वर्णाः षट् ते ऊष्मसंज्ञा भवन्ति। यथा—ँक श ष स ँप ह इति। ऊष्मसंज्ञायाः प्रयोजनं "प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्"[२] इति ॥

त्रि०—अन्तःस्थाभ्यः परे षड्वर्णाः; (ऊष्माणः=) ऊष्मसंज्ञाः; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"ऊष्मा स्वरपरः"[३] इत्यादि ॥ ९ ॥

'व्यञ्जन'; (अन्तःस्थाः =) 'अन्तःस्था' संज्ञक; होते हैं। ('अन्तःस्थाः') संज्ञा का प्रयोजन—"देवासुरास्संयत्ता आसन्"[क] इत्यादि में मकार का 'अनुनासिक' आदेश। ('अन्तःस्था' शब्द का) निर्वचन तो (यह है)—जिह्वा-मध्य आदि करणों के किनारे से उच्चारित होने के कारण य, र, ल, व 'अन्तःस्था' कहलाते हैं ॥ ८ ॥

सू० अ०—('अन्तःस्था' वर्णों से) बाद वाले छः (वर्ण) 'ऊष्म' (संज्ञक) हैं

त्रि० अ०—'अन्तःस्था' (वर्णों) से; परे = बाद वाले; षड् = छः; वर्ण; (ऊष्माणः =) 'ऊष्म'[क] संज्ञक; होते हैं। ('ऊष्म') संज्ञा का प्रयोजन—

ल पर लागू नहीं होता है; (iii) सभी 'अन्तःस्था' वर्ण वाक्य के आदि में भी आते हैं, अतः यह कहना उचित नहीं कि ये वाक्य के मध्य में आते हैं।

(क) देवासुरा इति देव-असुराः। संयत्ता इति सं—यत्ताः। आसन् ॥ प० पा०

यद्यपि मुद्रित तै० सं० और मुद्रित तै० प्रा० में उपर्युक्त संहिता-पाठ उपलब्ध होता है तथा तै० सं० के मुद्रित पद-पाठ में उपर्युक्त प० पा० उपलब्ध होता है, तथापि वैदिकाभरणकार को ये सं० पा० और प० पा० अभीष्ट हैं—

देवासुरास्सꣳयत्ता आसन्। सं० पा०

देवासुरा इति देव-असुराः। संयत्ता इति सम्-यत्ताः। आसन् ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यकार की 'अन्तःस्था' संज्ञा कर दी गई है। यही कारण है कि ५।२८ के अनुसार, 'अन्तःस्था' (यकार) बाद में होने पर, मकार ँ हो गया है।

(क) 'ऊष्मन्' का शाब्दिक अर्थ है 'गर्म वायु' या 'वाष्प'। 'ऊष्म' वर्णों का उच्चारण करते समय मुख से निकलने वाली गर्म वायु की प्रधानता रहती है, इसलिए इन्हें

---

(१) १।५।१ (२) १४।१२ (३) १४।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अन्तःस्थाभ्यः; (परे=) पराणि; षट् व्यञ्जनानि; (ऊष्माणः=) ऊष्मसंज्ञानि; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"धारा व्यानशुः"[1] इत्यत्र ह्रस्वाभावः। निर्वचनं तु—ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या। न तु सा प्रथमद्वितीयादिषु रूढ्यभावात् ॥ ९ ॥

"'स्वर' (वर्ण) बाद में होने पर 'ऊष्म' (वर्ण) (द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है)" इत्यादि ॥ ९ ॥

वै० अ०—'अन्तःस्था' से; (परे=) बाद वाले; (षट्=) छः; 'व्यञ्जन'; (ऊष्माणः=) 'ऊष्म' संज्ञक; होते हैं। ('ऊष्म') संज्ञा का प्रयोजन—"धारा व्यानशुः"[क] यहाँ पर 'ह्रस्व' का अभाव। ('ऊष्मन्' का) निर्वचन तो (यह है)—ऊष्मा नामक 'बाह्य प्रयत्न' के योग से (उच्चारित होने के कारण) 'ऊष्मन्' नाम पड़ा है। रूढ़ि का अभाव होने से 'प्रथम' (क च ट त प) और 'द्वितीय' (ख छ ठ थ फ) इत्यादि में वह ('ऊष्म' संज्ञा) नहीं (लागू होती है)।[ख]

'ऊष्मन्' (breath sounds, spirants) कहते हैं। ऋ० प्रा० १।१० के भाष्य में उवट ने भी यही बात कही है—"ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः"।

'ऊष्म' वर्णों का उच्चारण करते समय मुख से निकलने वाली वायु का मार्ग 'स्पर्श' वर्णों की भाँति पूर्ण रूप से अवरुद्ध नहीं होता, अपितु थोड़ा-सा खुला रहता है। इससे वायु को दो अङ्गों के बीच के सँकरे मार्ग से घर्षण करके बाहर निकलना पड़ता है। यदि नल को पूर्णतः बन्द न करके उसको थोड़ा सा खुला रखा जाये तो उसमें से पानी एक प्रकार की शीत्कार ध्वनि करता हुआ बाहर निकलता है। उसी प्रकार 'ऊष्म' वर्णों के उच्चारण में वायु को दो उच्चारणावयवों के द्वारा पूर्णतः रोका नहीं जाता है, अपितु वायु-मार्ग को सँकरा बना दिया जाता है, जिससे वायु घर्षण करती हुई शीत्कार ध्वनि के साथ सँकरे मार्ग से निकलती है। यही कारण है कि इन वर्णों को 'संघर्षी' (fricatives) भी कहते हैं। इन वर्णों को 'सप्रवाह' (continuants) भी कहते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के समय वायु एक क्षण के लिए भी नहीं रुकती—निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इन वर्णों को अंग्रेजी में sibilants तथा hissing sounds भी कहते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के समय एक प्रकार की शीत्कार ध्वनि (hissing sound) होती है।

(क) धारा। व्यानशुरिति वि-आनशुः ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'शकार' 'ऊष्म'-संज्ञक है। यही कारण है कि ३।१५ के अनुसार 'आनशुः' का आकार पद-पाठ में अकार ('ह्रस्व') नहीं हुआ है।

(ख) 'ऊष्मा' का अर्थ है 'वायु'। 'प्रथम' (क, च, ट, त, प) और 'द्वितीय' (ख,

---

(१) ५।७।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वर्ग-संज्ञा)

स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः ॥ १० ॥

मा०—स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्च पञ्च वर्गसंज्ञा भवन्ति। यथा—क च ट त पा इति। वर्गसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"टवर्गश्च तवर्गपरः"[1] इति ॥ १० ॥

त्रि०—स्पर्शानां मध्ये आनुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्णाः; (वर्गाः=) वर्गसंज्ञा; भवन्ति। कचटतपादयो ङञणनमान्ता इत्यर्थः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"टवर्गश्च तवर्गपरः"[1] इत्यादि ॥ १० ॥

सू० अ०—'स्पर्श' (वर्णों) के (मध्य में) क्रम से पाँच-पाँच (वर्ण) 'वर्ग' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—स्पर्शानाम् = 'स्पर्श' वर्णों के; मध्य में; आनुपूर्व्येण = क्रम से; पञ्चपञ्च = पाँच-पाँच; वर्ण; (वर्गाः =) 'वर्ग'क संज्ञक; होते हैं। (ये 'वर्ग' क्रमशः) क च ट त प से प्रारम्भ (होते हैं) और ङ ञ ण न म में समाप्त (होते हैं) यह अर्थ है। ('वर्ग') संज्ञा का प्रयोजन—"(हारीत के मत से) तवर्ग बाद में होने पर टवर्ग द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है" इत्यादि ॥ १० ॥

छ, ठ, थ, फ) इत्यादि सभी वर्णों में वायु का उपयोग होता है। अत एव इस अर्थ को दृष्टि में रखा जाये तो इन सभी वर्णों को 'ऊष्मन्' कहा जा सकता है। किंतु 'ऊष्म' संज्ञा ⌢ क, श, ष, स, ⌢ प, ह के लिए रूढ़ हो गई है, क च ट त प इत्यादि के लिए नहीं। वास्तव में यह कहना निर्दोष नहीं है कि रूढ़ि का अभाव होने से 'प्रथम', 'द्वितीय' इत्यादि वर्ण 'ऊष्मन्' नहीं कहलाते हैं। 'ऊष्म' संज्ञा अर्थानुसारिणी है। 'प्रथम', 'द्वितीय' इत्यादि वर्णों की अपेक्षा 'ऊष्म' संज्ञक वर्णों में वायु की अधिक प्रधानता होती है। 'ऊष्म'-संज्ञक वर्णों का उच्चारण करते समय वायु अबाध गति से बाहर निकलती रहती है। 'प्रथम' 'द्वितीय' वर्णों के विषय में यह बात नहीं है।

(क) 'वर्ग' का शाब्दिक अर्थ है 'समूह'। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में 'वर्ग' शब्द का प्रयोग पाँच-पाँच 'स्पर्श'-वर्णों के समूह के लिए किया गया है। पाँच 'स्पर्श'-वर्णों का एक 'वर्ग' बनता है। 'स्पर्श'-वर्ण संख्या में पच्चीस हैं। अतः पाँच-पाँच स्पर्शों के पाँच 'वर्ग' होते हैं। प्रत्येक 'वर्ग' का नाम 'वर्ग' के प्रथम वर्ण के आधार पर पड़ा है यथा—कवर्ग (क ख ग घ ङ); चवर्ग (च छ ज झ ञ); टवर्ग (ट ठ ड ढ ण); तवर्ग (त थ द ध न); पवर्ग (प फ ब भ म)। प्रत्येक

---

(१) १४।२९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—स्पर्शानां मध्ये; आनुपूर्व्येण = आदित एवारभ्य क्रमेण; पञ्चपञ्च अवान्तरगणभूताः; (वर्गाः =) वर्गसंज्ञाः; भवन्ति। अत्र वर्गशब्दस्य गणपर्यायतया गणान्तरेऽपि शक्तस्य शक्त्यवच्छेदेन स्पर्शावान्तरगणेषु विनियोगात् स्पर्शमात्रसमूहस्यान्तस्थादिसमूहस्य च न वर्गत्वम्। तेन "वाक्छन्दः"[1] इत्यत्र ककारस्य "सवर्णसवर्गीयपरः"[2] इति द्वित्वनिषेधो न भवति। "उपव्ययते"[3] इत्यत्र वकारस्य च नेत्यादि द्रष्टव्यम् ॥१०॥

वै० अ०—स्पर्शानाम् = 'स्पर्श'-वर्णों के मध्य में; आनुपूर्व्येण = आदि से ही लेकर क्रम से; पञ्चपञ्च = पाँच-पाँच (वर्ण); अवान्तर समूहों (गणों) के रूप में होने पर; (वर्गाः =) 'वर्ग'-संज्ञक; होते हैं। समूह (गण) का पर्यायवाची होने के कारण अन्य समूहों (गणों) में भी समर्थ 'वर्ग' शब्द की शक्ति सीमित हो गई है क्योंकि यहाँ (= इस सूत्र के द्वारा) 'स्पर्श' (-वर्णों) के अवान्तर समूहों (गणों) में (इस शब्द का) विनियोग कर दिया गया है। इससे सभी 'स्पर्श' (-वर्णों) का समूह और 'अन्तःस्था' इत्यादि का समूह 'वर्ग' नहीं है।[क] यही कारण है कि "वाक्छन्दः" में " 'सवर्ण' बाद में हो अथवा उसी 'वर्ग' का वर्ण बाद में हो तो ('वर्ण' का द्वित्व नहीं होता है)" से ककार के द्वित्व का निषेध नहीं होता है[ख]।

'वर्ग' उच्चारण-स्थान की दृष्टि से दूसरे से भिन्न होता है। यथा—कवर्ग 'कण्ठ्य' है, चवर्ग 'तालव्य' है, टवर्ग 'मूर्धन्य' है, तवर्ग 'दन्त्य' है और पवर्ग 'ओष्ठ्य' है।

(क) 'वर्ग' शब्द का अर्थ है समूह (गण)। इस प्रकार 'स्पर्श' वर्णों के समूह, 'अन्तःस्था' वर्णों के समूह, 'ऊष्म' वर्णों के समूह तथा 'स्वर' वर्णों के समूह को भी 'वर्ग' कहा जा सकता था। किन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'स्पर्श' वर्णों के पृथक् पृथक् रूप से स्थित पाँच-पाँच वर्णों के छोटे-छोटे समूहों (क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म) के लिए 'वर्ग' संज्ञा का विधान किया गया है। इस प्रकार 'वर्ग' शब्द प्रस्तुत सूत्र से सीमित अर्थ का वाचक हो जाता है तथा इसका प्रयोग अन्य ('ऊष्म', 'अन्तःस्था' इत्यादि) समूहों के लिए नहीं होता है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र के अभाव में सभी 'स्पर्श' वर्णों के समूह के लिए 'वर्ग' शब्द का प्रयोग होता। इससे 'वाक्छन्दः' ('वाक्कछन्दः') में ककार और छकार एक ही 'वर्ग' के वर्ण होते। इसका यह परिणाम होता कि १४।२३ से समानवर्गीय वर्ण छकार बाद में होने पर ककार का द्वित्व न होता। किंतु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार सभी 'स्पर्श' वर्णों के समूह के लिए 'वर्ग' शब्द का प्रयोग नहीं होता है। अतः १४।२३ यहाँ लागू नहीं होता है, जिससे ककार के द्वित्व का निषेध न होकर ककार का द्वित्व हो जाता है।

---

(१) ४।३।७ (२) १४।२३ (३) २।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमसंज्ञा)

प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः ॥ ११ ॥

मा०—एकैकस्मिन् वर्गे आनुपूर्व्येण प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थो-त्तमसंज्ञाः स्युः । यथा-क च ट त पाः प्रथमाः । ख छ ठ थ फा द्वितीयाः । ग ज ड द ब्रास्तृतीयाः । घ झ ढ ध भाश्चतुर्थाः । ङ ञ ण न मा उत्तमाः । एतेषां संज्ञायाः प्रयोजनं—"प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्"[1] इत्येवमादि । संख्यानिमित्ते नामधेये संख्या [निधेया] + + णां च ना [हा] णां च (?) क + + + प्रथमादिसंज्ञाविधानं कादीनामेव प्रथमादिसंज्ञेति सम्प्रत्ययार्थम् ॥ ११ ॥

त्रि०—एकैकस्मिन् वर्गे यथाक्रमेण वर्णाः; (प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः =) प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमसंज्ञाः; भवन्ति । सिद्धेऽपि संख्यानिमित्ते नाम्नि नियमार्थं प्रथमा-

---

और "उपव्ययते" में वकार के (द्वित्व का निषेध) नहीं (होता है)[क]—यह समझ लेना चाहिए ॥

सू० अ०—(प्रत्येक 'वर्ग' में स्थित पाँच-पाँच वर्ण क्रमशः) 'प्रथम', 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ' और 'उत्तम' (संज्ञक) (होते हैं) ।

त्रि० अ०—प्रत्येक वर्ग में क्रम से वर्ण; (प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः=) 'प्रथम', 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ' और 'उत्तम' संज्ञक, होते हैं । संख्या पर आधृत नाम के सिद्ध होने पर भी नियम के लिए 'प्रथम' आदि संज्ञा का विधान किया गया है । वह कैसे ? ककारादि की ही 'प्रथम' आदि संज्ञा के ज्ञान के लिए तथा 'स्वर', 'अन्तःस्था' तथा 'ऊष्मन्' इत्यादि (वर्णों) में संख्या-वाचक संज्ञा के प्रतिषेध के लिए (प्रथमादि संज्ञा का विधान किया गया है)[ख] । (प्रथमादि)संज्ञा

(क) जिस प्रकार सभी 'स्पर्श' वर्णों के समूह के लिए 'वर्ग' संज्ञा का प्रयोग नहीं होता है, उसी प्रकार 'अन्तःस्था' वर्णों के समूह के लिए भी 'वर्ग' संज्ञा का प्रयोग नहीं होता है । यही कारण है कि 'उपव्ययते' ('उपव्व्ययते') में १४।२३ लागू नहीं होता है । इससे यकार बाद में होने पर वकार का द्वित्व हो जाता है ।

(ख) पूर्वपक्षी—क च ट त प के लिए 'प्रथम', ख छ ठ थ फ के लिए 'द्वितीय', ग ज ड द ब के लिए 'तृतीय', घ झ ढ ध भ के लिए 'चतुर्थ' और ङ ञ ण न म के लिए 'उत्तम' संज्ञा का विधान अनावश्यक है । कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग—इन पाँच वर्गों में उपर्युक्त वर्णों के स्थान को देखकर ही यह अनायास ज्ञात हो जाता है कि अमुक वर्ण 'प्रथम' हैं और अमुक वर्ण 'द्वितीय' इत्यादि । सिद्धान्ती—यह सूत्र अत्यन्त नवीन पदार्थ का विधान नहीं करता है, किंतु उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए यह 'प्रथम' इत्यादि संज्ञाओं का विधान करता है । इन संज्ञाओं के विधान का

---

(१) १४।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिसंज्ञाविधानम्। तत् कथम्? ककारादीनामेव प्रथमादिसंज्ञाप्रत्ययार्थं, स्वरान्तःस्थोष्म-भृतिषु तु संख्यासंज्ञाप्रतिषेधार्थम्। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्"[१] 'तृतीयं स्वरघोषवत्परः"[२] "हकारो हचतुर्थेषु"[३] "नानुत्तम उत्तमपरः"[४] इत्यादि ॥ ११॥

वै०—वर्गेषु चानुपूर्व्येण ते ते वर्णाः; (प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः =) प्रथम-द्वितीयादिसंज्ञाः; भवन्ति। कचटतपाः प्रथमाख्याः। खछठथफाः द्वितीयाख्याः। गजडदबास्तृ-तीयाख्याः। घझढधभाश्चतुर्थाख्याः। ङञणनमा उत्तमाख्या इति। इदमपि सूत्रं गणान्तरेषु संज्ञानिवृत्यर्थम्। एवं हि अकाराकारयोः प्रथमद्वितीयसंज्ञानिवृत्या "देवबर्हिश्शतवल्शम्"[५], "सा विश्वायुस्सा विश्वव्यचाः"[६] इत्यत्र "ऊष्मपरोऽघोषपरे"[७] इति विसर्जनीय-लोपो न ॥ ११ ॥

का प्रयोजन—" 'ऊष्म' (वर्ण) बाद में होने पर 'प्रथम' ('स्पर्श' वर्ण = क च ट त प) (अपने वर्ग का) 'द्वितीय'-('स्पर्श' वर्ण = ख छ ठ थ फ) (हो जाता है)", " 'स्वर' और 'घोष' वर्ण बाद में होने पर ('प्रथम' 'स्पर्श' अपने वर्ग का) 'तृतीय' ('स्पर्श' वर्ण = ग ज ड द ब) (हो जाता है), "हकार और (वर्ग का) 'चतुर्थ' (वर्ण=घ झ ढ ध भ) बाद में होने पर हकार ('अनुप्रदान' होता है)", " 'उत्तम' ('स्पर्श' वर्ण = ङ ञ ण न म) बाद में होने पर अनुत्तम ('स्पर्श' वर्ण) द्वित्व को नहीं (प्राप्त करता है)" इत्यादि ॥ ११ ॥

वै० अ०—वर्गों में क्रम से वे वे वर्ण; (प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः =) 'प्रथम', 'द्वितीय' आदि संज्ञक; होते हैं। क च ट त प 'प्रथम' संज्ञक हैं। ख छ ठ थ फ 'द्वितीय' संज्ञक हैं। ग ज ड द ब 'तृतीय' संज्ञक हैं। घ झ ढ ध भ 'चतुर्थ' संज्ञक हैं। ङ ञ ण न म 'उत्तम' संज्ञक हैं। (१।१० की भाँति) यह सूत्र भी अन्य गणों में संज्ञा की निवृत्ति के लिए है[क]। इस प्रकार अकार और आकार के लिए 'प्रथम' और 'द्वितीय' संज्ञा की निवृत्ति हो जाने से "देवबर्हिश्शतवल्शम्"

यह प्रयोजन है कि ये संज्ञायें 'स्पर्श' वर्णों पर ही लागू होवें, 'स्वर' वर्णों इत्यादि पर नहीं। इससे 'प्रथम' इत्यादि शब्दों का क्षेत्र सीमित हो जाता है। 'प्रथम' इत्यादि शब्दों के प्रयोग को निश्चित अर्थ में बाँध देना ही प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है।

(क) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार १।१० के अनुसार सभी 'स्पर्श' वर्णों के समूह तथा 'अन्तःस्था' वर्णों के समूह के लिए 'वर्ग' संज्ञा का प्रयोग नहीं होता है, उसी प्रकार 'स्वर' समूह इत्यादि में विद्यमान वर्णों के लिए 'प्रथम' इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग इस ग्रन्थ के सूत्रों में नहीं किया गया है।

---

(१) १४।१२ (२) ८।३ (३) २।९ (४) १४।२४
(५) १।१।२ (६) १।१।३ (७) ९।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अघोष-संज्ञा)

ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः ॥ १२ ॥

मा०—ऊष्माणश्च विसर्जनीयश्च वर्गाणां प्रथमद्वितीया अघोषसंज्ञा भवन्ति। अघोषसंज्ञायाः प्रयोजनं "अघोषेषु इत्रासः"[1] इति ॥१२॥

त्रि०—(ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीयाः =) ऊष्माणश्च विसर्जनीयश्च प्रथमद्वितीयाश्च; (अघोषाः=) अघोषसंज्ञाः; भवन्ति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अघोषपरस्तस्य"[2] इत्यादि ॥१२॥

और "सा विश्वायुस्सा विश्वव्यचाः" में " 'अघोष' (वर्ण) है बाद में जिसके ऐसा 'ऊष्म' (वर्ण) बाद में होने पर" इससे विसर्जनीय का लोप नहीं होता है[क] ॥११॥

सू० अ०—'ऊष्म' (वर्ण), विसर्जनीय, (प्रत्येक वर्ग के) 'प्रथम' (वर्ण) और 'द्वितीय' (वर्ण) 'अघोष' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—(ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीयाः =) 'ऊष्म' (वर्ण), 'विसर्जनीय', (प्रत्येक वर्ग के) 'प्रथम (वर्ण) (= क च ट त प) और 'द्वितीय' (वर्ण) (= ख छ ठ थ फ); (अघोषाः =) 'अघोष'[ख] संज्ञक; होते हैं। ('अघोष') संज्ञा का प्रयोजन—" 'अघोष' (वर्ण) बाद में होने पर 'विसर्जनीय' उसी ('अघोष' वर्ण) के समान 'स्थान' वाला 'ऊष्म' (वर्ण) (हो जाता है)" इत्यादि ॥ १२ ॥

(क) प्रस्तुत सूत्र के अभाव में 'स्वर'— समूह में विद्यमान अ और आ को भी 'प्रथम' और 'द्वितीय' माना जाता। उस स्थिति में अ ('प्रथम') और आ ('द्वितीय') १।१२ के अनुसार 'अघोष' होते। इससे "देववर्हिश्शतवल्शम्" और "सा विश्वायुस्सा विश्वव्यचाः" उदाहरणों में विद्यमान 'देववर्हिः' तथा 'विश्वायुः' के विसर्जनीय का लोप हो जाता, क्योंकि ९।१ में यह विधान किया गया है कि विसर्जनीय का लोप हो जाता है यदि उसके बाद में 'ऊष्म' वर्ण हो और 'ऊष्म' वर्ण के बाद में 'अघोष' वर्ण हो। प्रस्तुत उदाहरणों में विसर्जनीय के बाद 'ऊष्म' वर्ण (क्रमशः श् और स्) हैं और 'ऊष्म' वर्णों के बाद में अ ('प्रथम') और आ ('द्वितीय') हैं। किंतु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा अ और आ के लिए 'प्रथम' और 'द्वितीय' संज्ञा का निषेध कर दिया गया है। इससे अ और आ १।१२ से 'अघोष' नहीं हैं और यही कारण है कि प्रस्तुत उदाहरणों में ९।१ से विसर्जनीय का लोप नहीं होता है।

(ख) 'अघोष' का अर्थ है 'घोषरहित'। 'घोष' (कम्पन, नाद) रहित वायु से उत्पन्न होने वाले वर्णों को 'अघोष' कहते हैं। १।१२ पर वै० आ० में भी कहा गया है—

---

(१) २।१० (२) ९।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीयाः =) ऊष्माणश्च विसर्जनीयश्च प्रथमद्वितीयाश्च इति वर्णाः; (अघोषाः=) अघोषसंज्ञाः; भवन्ति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अघोषेषु श्वासः"[1] इत्यनुप्रदानविशेषसिद्धिः । निर्वचनं तु—घोषाख्यबाह्यप्रयत्नाभावादघोषा इत्याख्या ॥ १२॥

न हकारः ॥ १३ ॥

मा०—न खलु हकारः अघोषसंज्ञो भवति ॥ १३ ॥

त्रि०—न भवत्यघोषसंज्ञो हकारः । ऊष्मत्वादघोषत्वे प्राप्ते तदपवादोऽयम् ॥ १३॥

वै०—हकारस्योष्मत्वादघोषसंज्ञा प्राप्ताऽनेन प्रतिषिध्यते । ये तु "हकाराच्चणमपरात्"[2] इत्यत्र गुणविधिमिच्छन्ति तेषां "हकारः" इति कारशब्दनिर्देशो न घटते, नासिक्यत्वात् ।

वै० अ०—(ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीयाः=) 'ऊष्म' (वर्ण), 'विसर्जनीय', (प्रत्येक वर्ग के) 'प्रथम' (वर्ण) (= क च ट त प) और 'द्वितीय' (वर्ण) (= ख छ ठ थ फ)—ये वर्ण; (अघोषाः =) 'अघोष'– संज्ञक; होते हैं । ('अघोष'—) संज्ञा का प्रयोजन—" 'अघोष' वर्णों में 'श्वास' ('अनुप्रदान' होता है)"—यहाँ बाह्यप्रयत्न (अनुप्रदान) विशेष की सिद्धि करना । ('अघोष' शब्द का) निर्वचन तो (यह है)—'घोष' नामक बाह्यप्रयत्न के अभाव से 'अघोष' नाम पड़ा है ॥ १२ ॥

सू० अ०—हकार ('अघोष' संज्ञक) नहीं है ।

त्रि० अ०—हकार 'अघोष' संज्ञक; (न =) नहीं; है । 'ऊष्म' (वर्ण) होने के कारण (हकार के लिए) अघोषत्व का प्राप्ति होने पर यह (सूत्र) उस (अघोषत्व) का अपवाद है[क] ॥१३॥

वै० अ०—'ऊष्म' (वर्ण) होने के कारण हकार की 'अघोष' संज्ञा प्राप्त होने

'घोष' नामक 'बाह्यप्रयत्न के अभाव से उत्पन्न होने के कारण ये वर्ण 'अघोष' कहलाते हैं । इन्हें 'कठोर व्यञ्जन' (hard consonants) भी कहा जाता है ।

(क) यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र (१।१२) का अपवाद है । १।१२ के अनुसार 'ऊष्म' वर्ण 'अघोष' संज्ञक होते हैं । हकार भी 'ऊष्म' वर्ण है । अत एव हकार के 'अघोष' होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । किन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा हकार के 'अघोष' होने का प्रतिषेध कर दिया गया है ।

इस प्रकार तै० प्रा० के अनुसार ये सोलह वर्ण 'अघोष' हैं—क, ख; च, छ; ट, ठ; त, थ; प, फ; ⌒ क, श, ष, स, ⌒ प; अः ।

---

(१) २।१० (२) २१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोक्तमपरस्यैव नासिक्यत्वादतथाभूतस्य तदुपपत्तिः। तर्ह्युक्तमपरस्याघोषत्वं स्यात्। ततश्च "अपैवास्मै तध्नुवते"[१] इति रूपासिद्धिः। 'हकारान्नणमपरात्"[२] इति च व्याहतं स्यात् ॥ १३ ॥

पर (वह) इस (सूत्र) के द्वारा प्रतिषिद्ध कर दी जाती है। जो लोग "नकार, णकार और मकार के बाद में जिसके ऐसे हकार से"[क]—यहाँ पर गुणविधि (गुण का विधान) अभीष्ट मानते हैं, उनके मत में "हकारः"—यहाँ 'कार' शब्द का निर्देश ठीक नहीं बैठता है, क्योंकि (हकार) नासिक्य है।[ख] (वर्गों के) अन्तिम वर्ण (न्, ण्, म्) हैं बाद में जिसके उसी (हकार) के नासिक्य होने से जो वैसा (हकार) नहीं है (अर्थात् जिस हकार के बाद में अन्तिम वर्ण नहीं है) उसके साथ ('कार' शब्द की) उपपत्ति (हो जाती है)[ग]। तब वह (ह्) 'अघोष' होगा, जिसके बाद में (वर्गों का) अन्तिम (वर्ण) होगा[घ]। और इससे "अपैवास्मै तध्नुवते"

(क) २१।१४ की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—(१) त्रिभाष्यरत्नकार का कहना है कि नकार, णकार और मकार बाद में होने पर हकार सानुनासिक हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार हकार में आनुनासिक्य गुण आ जाता है। इस प्रकार त्रिभाष्यरत्नकार २१।१४ को गुणविधि मानते हैं; (२) वैदिकाभरणकार का कहना है कि नकार, णकार और मकार बाद में होने पर हकार से बाद में एक 'नासिक्य' वर्ण का आगम हो जाता है। इस प्रकार वैदिकाभरणकार २१।१४ को आगमविधि मानते हैं।

(ख) वैदिकाभरणकार का कहना है कि जो लोग २१।१४ को गुणविधि मानते हैं उनके अनुसार 'ह्' दो प्रकार का हुआ—(अ) शुद्ध ह्—जिसके बाद में नकार, णकार और मकार नहीं हैं; (आ) सानुनासिक ह् (हँ)—जिसके बाद में नकार, णकार और मकार है। सूत्रकार दोनों प्रकार के 'ह्' के 'अघोष' होने का निषेध करते हैं। किन्तु सानुनासिक 'ह्' (हँ) का निर्देश 'कार' प्रत्यय के द्वारा नहीं किया जा सकता है। 'कार' प्रत्यय के द्वारा शुद्ध वर्ण का ही निर्देश किया जाता है, सानुनासिक वर्ण का नहीं। इसलिए 'ह्' के साथ 'कार' प्रत्यय का प्रयोग युक्त नहीं है।

(ग) पूर्वपक्षी का कहना है कि सानुनासिक ह् (हँ) के साथ 'कार' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है तो कोई बात नहीं। जिस 'ह्' के बाद में नकार, णकार और मकार नहीं होता है उसके निर्देश के लिए तो 'कार' प्रत्यय का प्रयोग किया जायेगा।

(घ) वैदिकाभरणकार का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि हकार 'अघोष' नहीं होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि सानुनासिक 'ह्' (हँ) 'अघोष' हो जायेगा, क्योंकि हकार के द्वारा सानुनासिक ह् (हँ) का ग्रहण नहीं होता है।

(१) ऋ० ३।९।६ (२) २१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घोषवत्-संज्ञा)

व्यञ्जनशेषो घोषवान् ॥ १४ ॥

मा०—अघोषेभ्योऽन्यो व्यञ्जनशेषः सघोषसंज्ञो भवति। पारिशेषात् प्राप्तमेव घोषवत्त्वम्। स्वरप्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः। तथा च व्यपदिश्यते—"तृतीयँ स्वरघोषवत्परः"[१] इति। अथात्रान्य आह—"व्यञ्जनशेषो घोषवान्" इति नारब्धव्यम्। अघोषेष्वभिहितेषु घोषवन्तोऽभिहिता भवन्ति। यथा—देवदत्तयज्ञदत्तयोरपशुर्देवदत्त इत्यभिहिते यज्ञदत्तः पशुमानिति सिद्धम्। एवमिहापि "ऊष्म-विसर्जनीय-प्रथम-द्वितीया अघोषाः" इति एष्वभिहितेषु एभ्योऽन्ये ये वर्णास्ते घोषवन्त इति सिद्धम्। अत्रोच्यते—आरब्धव्यमेतत्। कस्मात्? संज्ञानिर्देशात्। अस्मिन् शास्त्रे संव्यवहारार्थं संज्ञा निर्दिश्यते क्रियत इत्यर्थः। "न हकार." इति हकारस्य नाघोषता प्रसिद्धा, नापि हकारो घोषवान् स्यात्, नाप्यघोष इति। तथा व्यञ्जनशेषः। तथा स्वराः नापि घोषवन्तो नाप्यघोषाः। यद् वक्ष्यति अघोषवत्ताया: प्रतिषिद्धाया: प्रयोजनं—"घोषवत्परश्च"[२] इति ॥ १४ ॥

त्रि०—अघोषेभ्योऽन्यो व्यञ्जनशेषः; (घोषवान् =) घोषवत्संज्ञः; भवति। यद्यपि "ऊष्मविसर्जनीयः"[३] इत्यघोषेषूक्तेषु व्यञ्जनशेषस्य पारिशेष्यात् घोषवत्त्वं सिद्धम्।

इस रूप की सिद्धि नहीं होगी।[क] "नकार, णकार और मकार हैं बाद में जिसके ऐसे हकार से"—यह (सूत्र) भी बाधित हो जायेगा।[ख]

सू० अ०—('अघोष' वर्णों से) अवशिष्ट 'व्यञ्जन' 'घोषवत्' (संज्ञक) हैं।

त्रि० अ०—'अघोष' (व्यञ्जनों) से अन्य; व्यञ्जनशेषः = अवशिष्ट 'व्यञ्जन'; (घोषवान् =) 'घोषवत्'[ग] संज्ञक; होते हैं। यद्यपि " 'ऊष्म' (वर्ण) और विसर्ज-

---

(क) ८।३ में विधान किया गया है कि 'घोषवत्' वर्ण बाद में होने पर वर्ग का प्रथम 'वर्ण' तृतीय 'वर्ण' हो जाता है। यदि सानुनासिक ह् (ह्ँ) को 'अघोष' माना जायेगा तो "तद्ध्नुवते" (तत् + ह्नुवते) रूप सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि 'तत्' के 'त्' के बाद में 'अघोष' 'ह्' है, 'घोषवत्' 'ह्' नहीं।

(ख) नकार, णकार और मकार हैं बाद में जिसके वह 'ह्' नासिक्य होता है। अतः उसके बाद में 'कार' प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर सूत्रकार ने 'हकारात्' पद का प्रयोग क्यों किया? इस प्रकार २१।१४ बाधित हो जायेगा।

उपर्युक्त कारणों से २१।१४ को आगमविधि मानना चाहिए, गुणविधि नहीं।

(ग) 'घोषवत्' शब्द का अर्थ है 'घोषसहित'। 'घोष' (कम्पन, नाद) सहित वायु से

---

(१) ८।३ (२) ९।८ (३) १।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—देवदत्तयज्ञदत्तयोरपरशुर्देवदत्त इत्युक्ते परः परशुमानिति सिद्धम्। तथाऽपि शास्त्रे संव्यवहारार्थं संज्ञानिर्देशः क्रियते, पारिशेष्यादपि कण्ठोक्तेर्विशेषात्। अन्यथा "न हकारः"[1] इति हकारस्याघोषसंज्ञा निषिध्यते। नापि हकारो घोषवान्, विध्यभावात्। तथैव व्यञ्जन-शेषः। स्वरा अपि तथा न घोषवन्तो नाप्यघोषाः। तथा सति "घोषवत्परश्च"[2] इति यत्र वक्ष्यति तत्र संदेहः स्यात् घोषवत्परो नाम किम्पर इति। तन्मा भूदितीदं सूत्रमारभ्यते।

नीय"—इस (सूत्र) के द्वारा 'अघोष' वर्णों को कह दिया गया है जिससे अवशिष्ट व्यञ्जनों का 'घोषवत्' होना परिशेष के नियम से सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार "देवदत्त और यज्ञदत्त में से देवदत्त के पास परशु नहीं है"—यह कहा जाने पर दूसरे (= यज्ञदत्त) के पास परशु है—यह सिद्ध है। तथापि व्यवहार के लिए शास्त्र में संज्ञा का निर्देश किया जाता है। किसी तथ्य का पृथक् रूप से कथन परि-शेष के नियम से अधिक अच्छा है। अन्यथा "हकार ('अघोष') नहीं है"—इस (सूत्र) से हकार की 'अघोष' संज्ञा का निषेध किया गया है। विधि का अभाव होने से हकार 'घोषवान्' भी नहीं है। उसी प्रकार अवशिष्ट 'व्यञ्जन' (भी न 'घोषवत्' हैं और न 'अघोष')। उसी प्रकार 'स्वर' भी न 'घोषवत्' हैं और न 'अघोष'। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर जहाँ (सूत्रकार) कहेंगे "'घोषवत्' (वर्ण) बाद में होने पर" वहाँ सन्देह होगा कि 'घोषवत्' (वर्ण) बाद में होने पर = कौन-कौन वर्ण बाद में होने पर? वह (संदेह) न हो इसलिए यह सूत्र आरम्भ किया गया है[क]। 'व्यञ्जन' रूप शेष = व्यञ्जनशेष। इस सूत्र में शंका और समाधान

उत्पन्न होने वाले वर्णों को 'घोषवत्' या 'सघोष' कहते हैं। वैदिकाभरणकार ने इस सूत्र के भाष्य में कहा है कि 'घोष' नामक 'बाह्य प्रयत्न' के योग से उत्पन्न होने के कारण ये वर्ण 'घोषवत्' कहलाते हैं। इन्हें 'सघोष' या 'कोमल व्यञ्जन' (soft consonants) भी कहा जाता है।

(क) उल्लेखनीय है कि ऋ०प्रा० में केवल 'अघोष' संज्ञा का विधान १।११-१२ में किया गया है। 'घोषवत्' संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। अवशिष्ट होने से ही 'अघोष'—व्यतिरिक्त व्यञ्जनों के लिए 'घोषवत्' संज्ञा का प्रयोग ऋ० प्रा० में अनेक स्थलों पर किया गया है।

१।१२ में विधान किया गया है कि 'ऊष्मन्', 'विसर्जनीय' और (प्रत्येक वर्ग के) 'प्रथम' और 'द्वितीय' (वर्ण) 'अघोष' संज्ञक होते हैं। शंका होती है कि जब शेष होने के कारण ही 'अघोष' व्यतिरिक्त व्यञ्जनों का 'घोषवत्' होना सिद्ध है तब 'घोषवत्' संज्ञा के विधायक इस सूत्र का क्या प्रयोजन है? इस शंका के समाधान में भाष्यकार का कहना है—(१) संज्ञा का विधान करने से शास्त्र के अवबोध में सुविधा होती है; (२) परिशेष से किसी तथ्य को समझाने की अपेक्षा

---

(१) १।१३ (२) ९।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यञ्जनरूपः शेषो व्यञ्जनशेषः। अत्र सूत्रे चोद्यपरिहाररूप एष विशेषो माहिषेयभाषितः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"घोषवत्परश्च"[1] इत्यादि ॥ १४ ॥

वै०—व्यञ्जनशेष इति वचनादघोषव्यतिरिक्तानि सर्वाणि व्यञ्जनानि; (घोषवान्=) घोषवत्संज्ञानि; भवन्तीति सिद्ध्यति। शेष इत्येतावत्युक्ते प्रकृतानामूष्मस्पर्शानामेव शेषस्य संज्ञा स्यात्। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"तद्गुल्गुलु"[2] इत्यत्र प्रथमस्य तृतीयादेशः। निर्वचनं तु—"घोषाख्यबाह्यप्रयत्नयोगात् घोषवदाख्येति ॥ १४ ॥

(प्रत्युत्तर, प्रतिवाद) रूप यह विशेष (तथ्य) माहिषेय के द्वारा कहा गया है। ('घोषवत्') संज्ञा का प्रयोजन—"'घोषवत्' (वर्ण) बाद में होने पर" इत्यादि ॥ १४ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनशेषः = अवशिष्ट 'व्यञ्जन'; यह कहने से 'अघोष' व्यतिरिक्त सभी 'व्यञ्जन'; (घोषवान् =) 'घोषवत्' संज्ञक; होते हैं—यह सिद्ध होता है। शेष—इतना ही कहने पर प्रस्तुत 'ऊष्म' वर्णों और 'स्पर्श' वर्णों के मध्य में ही जो अवशिष्ट हैं उनकी ('घोषवत्') संज्ञा होती है[क]। ('घोषवत्') संज्ञा का प्रयोजन—'तद्गुल्गुलु'—यहाँ 'प्रथम' का 'तृतीय' आदेश[ख]। ('घोषवत्' संज्ञा का) निर्वचन तो (यह है)—'घोष' नामक बाह्य प्रयत्न के योग से 'घोषवत्' नाम है।

उसका स्पष्ट रूप से विधान कर देना अधिक अच्छा होता है; (३) प्रस्तुत सूत्र के अभाव में यह समझना बड़ा कठिन हो जायेगा कि 'घोषवत्' संज्ञा से किन-किन वर्णों को समझना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि ये बीस 'व्यञ्जन' 'घोषवत्' हैं—ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व, ह।

(क) यहाँ 'ऊष्म'-वर्णों और 'स्पर्श'-वर्णों का प्रसङ्ग चल रहा है। अत एव यदि सूत्र में केवल यही कहा जाता कि अवशिष्ट 'घोषवत्' है तो इन वर्णों का ग्रहण होता—ह, ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म। किन्तु सूत्र में अवशिष्ट व्यञ्जन—यह कहने पर उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त य र ल व का भी 'घोषवत्' होना सिद्ध हो जाता हैं। यही युक्त है।

(ख) तत्। गुल्गुलु ॥ प० पा०

८।३ में यह विधान किया गया है कि 'स्वर'-वर्ण और 'घोषवत्'-वर्ण बाद में होने पर 'वर्ग' का प्रथम वर्ण तृतीय वर्ण हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार मकार 'घोषवत्' संज्ञक है। अतएव तकार (प्रथम वर्ण) दकार (तृतीय वर्ण) हो गया है।

---

(१) ९।८ (२) ६।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उपसर्ग-संज्ञा)

आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः ॥ १५ ॥

मा०—आ प्र अव अप उप अभि अधि प्रति परि वि नि इत्येते शब्दाः पदभूताः उपसर्गसंज्ञा भवन्ति । उपसर्गसंज्ञायाः प्रयोजनं "उपसर्गपूर्वं आरम्"[1] इति ॥

त्रि०—आ प्र अव उप अभि अधि प्रति परि वि नि इत्येते शब्दाः; (उपसर्गाः=) उपसर्गसंज्ञाः; भवन्ति । ननु प्रपरापसमन्ववनिर्दुर्व्याङित्यादि पाणिनीया विशेषेण भणन्ति ।

सू० अ०—आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि, नि—ये 'उपसर्ग' (संज्ञक) हैं ।

त्रि० अ०—आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि, नि—ये शब्द; (उपसर्गाः =) 'उपसर्ग' संज्ञक; होते हैं । (प्रश्न) पाणिनि के अनुयायी विशेष रूप से कहते हैं कि प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निः, दुः, वि, आङ् इत्यादि (बाईस 'उपसर्ग' हैं)।[क] यहाँ पर सूत्रकार ने मनमाने ढंग से 'इति' शब्द के द्वारा उपसर्गों (की संख्या) को क्यों सङ्कुचित (केवल दस) कर दिया है ? (उत्तर) बतलाते हैं—यजुर्वेद में इतने ही 'उपसर्ग' हैं—यह मानना चाहिए । (प्रश्न) तब समुच्चय में 'प्र, परा, अप, सम्···" यह विशेष पाठ क्यों उपलब्ध होता है ? (उत्तर) इतिपरत्व के विधान में उसका तात्पर्य है, 'उपसर्ग' संज्ञा के विधान में विशेष पाठ

(क) पाणिनीय व्याकरण के अनुसार बाईस 'उपसर्ग' ये हैं—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि तथा उप ।

'उपसर्ग' शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक 'सृज्' धातु से निष्पन्न हुआ है । उप + सृज् का अर्थ है 'सम्पर्क में आना', 'समीप में आना' । प्र, अभि, आ इत्यादि पदों को 'उपसर्ग' कहने का यह कारण है कि ये पद 'नाम' और 'आख्यात' के सम्पर्क में आकर ही अपना कार्य करते हैं ।

निरुक्त १।२ की वृत्ति में दुर्गाचार्य ने कहा है कि 'आख्यात' का ग्रहण करके ये उस 'आख्यात' के ही अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देते हैं (आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः) ।

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में वैदिकाभरणकार ने कहा है कि 'गति' के रूप में अथवा 'कर्मप्रवचनीय' के रूप में ये अन्य पदों के साथ जुड़ जाते हैं, इसलिए ये 'उपसर्ग' कहलाते हैं ।

---

(१) १०।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथमत्र सूत्रकृता निरर्गलमुपसर्गा इतिशब्देन सङ्कुचिताः ? उच्यते-यजुर्वेदविषये एतावन्त एवेति मन्तव्यम्। तर्हि "प्रपरापसम्" इति समुच्चये विशेषपाठः कथमुपलभ्यते ? इतिपरस्वविधाने तस्य तात्पर्यं न तु उपसर्गसंज्ञाविधाने विशेषपाठः। तस्मान्न कश्चिद्विरोधः। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे"[1] इति। इतिशब्दः प्रकारवाची वा ॥ १५ ॥

वै०—इतिशब्दः पदाधिकारप्रत्ययार्थः। आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि, नि इत्येतानि पदानि; (उपसर्गाः) उपसर्गसंज्ञानि; भवन्ति। सत्यामपि पदग्रहणपरिभाषायां आदौ पदग्रहणं न सम्भाव्यते, वर्णसमाम्नायाधिकारात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थं-

---

नहीं है।[क] ('उपसर्ग') संज्ञा का प्रयोजन—" 'अनुदात्त' युक्त पद में वर्तमान (सकार), 'उपसर्ग' या 'निः' पूर्व में होने पर (षत्व को प्राप्त करता है)"। अथवा 'इति' शब्द प्रकार का वाचक है।[ख]

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) 'इति' शब्द पद के अधिकार को बतलाने के लिए है। आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि, नि—ये पद; (उपसर्गाः =) 'उपसर्ग' संज्ञक; होते हैं। पदग्रहण-परिभाषा के होने पर भी आदि में पद के ग्रहण की सम्भावना नहीं होती है, क्योंकि वर्ण-समाम्नाय का अधिकार चल रहा है।[ग] इसलिए उस (वर्ण-समाम्नाय के अधिकार) की निवृत्ति

(क) पूर्वपक्षी—यदि यजुर्वेद में केवल उपर्युक्त दस पद ही 'उपसर्ग' हैं तब यजुर्वेद से सम्बद्ध शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में 'प्र, परा, अप, सम्'—इस पाठ में प्र, परा, अप और सम् को 'उपसर्ग' क्यों बतलाया गया है ?

सिद्धान्ती—शिक्षा-समुच्चय नामक ग्रन्थ के उद्धृत अंश में 'उपसर्ग' संज्ञा का विधान नहीं किया गया है अर्थात् वहाँ यह नहीं बतलाया गया है कि प्र, परा, अप, सम्···'उपसर्ग' है। वहाँ यह बतलाया गया है कि प्र, परा, अप, सम्···इन पदों के बाद में प०पा० में 'इति' का प्रयोग किया जाता है। अतः कोई विरोध नहीं है। ज्ञातव्य है कि शिक्षा-समुच्चय नामक ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है।

(ख) तात्पर्य यह है कि 'इति' शब्द के द्वारा उपसर्गों की संख्या को सङ्कुचित करना सूत्रकार को अभीष्ट नहीं है। सूत्रकार बतलाना चाहते हैं कि आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि, नि—इस प्रकार के पद 'उपसर्ग' संज्ञक होते हैं।

(ग) १।५० में यह विधान किया गया है कि जब किसी सूत्र में पद का ग्रहण किया जाये तो उससे वैदिक पद को समझना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में 'आ' इत्यादि पदों का ग्रहण किया गया है। अतः १।५० के अनुसार इससे 'आ' इत्यादि पदों को ही समझना चाहिए। किंतु यहाँ वर्ण-समाम्नाय का अधिकार चल रहा है। वर्ण-समाम्नाय की निवृत्ति के लिए तथा पद के अधिकार को बतलाने के लिए 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

(१) ६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मितिशब्दप्रयोगः । तेन "मा छन्दः"[१] इत्यादौ पूर्वागमो न भवति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"इमं विष्यामि"[२] इत्यत्र षत्वमित्यादि । निर्वचनं तु—गतितया कर्मप्रवचनीयतया वा पदान्तरैरुपसृज्यन्ते इत्युपसर्गाः । व्याकरणे तु—क्रियायोगमात्रनिमित्तेयं संज्ञोक्ता । तथेहाभ्युपगमे "विच्छन्दाः"[३] इत्यत्र पूर्वागमो न स्यात् । तथा तत्र प्रादयो द्वाविंशतिरुक्ताः । इह तु न तथोच्यते, "तदनु छन्दाँस्यपाक्रामन्"[४] इत्यादौ पूर्वागमो मा भूदिति ॥ १५ ॥

के लिए 'इति' शब्द का प्रयोग (सूत्र में किया गया है)। इससे "मा छन्दः" इत्यादि में पूर्वागम नहीं होता है[क]। ('उपसर्ग') संज्ञा का प्रयोजन—"इमं विष्यामि"—यहाँ षत्व इत्यादि[ख]। ('उपसर्ग' संज्ञा का) निर्वचन तो (यह है)—गति के रूप में अथवा कर्मप्रवचनीय के रूप में ये अन्य पदों के साथ जुड़ जाते हैं, इसलिए ये 'उपसर्ग' कहलाते हैं। किन्तु व्याकरण में तो केवल क्रिया के योग के आधार पर यह संज्ञा कही गई है।[ग] वैसा यहाँ (प्रातिशाख्य में) मानने पर "विच्छन्दाः"—यहाँ पर पूर्वागम नहीं होगा।[घ] उसी प्रकार वहाँ (व्याकरण में)

(क) 'छन्दः' पद के पूर्व में यदि 'उपसर्ग' हो तो १४।८ के अनुसार 'छन्दः' के छकार के पूर्व में चकार (छकार से पूर्ववर्ती वर्ण) का आगम हो जायेगा। "मा छन्दः" (मा। छंन्दः ॥ प० पा०) में छकार के पूर्व में चकार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि छकार के पूर्व में 'आ' वर्ण है 'आ' पद (उपसर्ग) नहीं। पद न होने के कारण 'आ' 'उपसर्ग' नहीं है।

(ख) ६।४ में यह विधान किया गया है कि 'उपसर्ग' पूर्व में होने पर सर्वानुदात्त पद का सकार षकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में विधान कर दिया गया है कि 'वि' 'उपसर्ग' है। अत एव 'वि' (उपसर्ग) के बाद में स्थित सर्वानुदात्त पद 'स्यामि' का सकार षकार हो गया है। (इमम्। वीति। स्यामि ॥ प० पा०)।

(ग) अ० १।४।५९ (उपसर्गाः क्रियायोगे) के अनुसार प्र, परा इत्यादि बाईस पद, क्रिया के योग में, 'उपसर्ग' संज्ञक होते हैं। अ० १।४।६० (गतिश्च) के अनुसार प्र, परा इत्यादि, क्रिया के योग में, 'गति' संज्ञक भी होते हैं। इस प्रकार क्रिया के योग में ही प्र, परा इत्यादि की दो संज्ञायें की गई हैं। फल दोनों संज्ञाओं का भिन्न-भिन्न है। प्र, परा इत्यादि जब क्रिया के साथ प्रयुक्त न होकर नाम के साथ प्रयुक्त होते हैं तो वे 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं (दे० अ० १।४।८८, २।११।१२ इत्यादि)। पाणिनि के उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय का अन्तर्भाव प्रातिशाख्य के 'उपसर्ग' में ही हो जाता है।

(घ) १४।८ के अनुसार 'उपसर्ग' पूर्व में हो तो परवर्ती छकार के पूर्व में चकार का आगम हो जाता है। जैसे—'विच्छन्दाः' (विच्छन्दा इति वि—छन्दाः ॥ प० पा०)

---

(१) ४।३।७ (२) १।१।१० (३) ५।२।११ (४) ३।३।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वर्णनामधेयानि)

वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या ॥ १६ ॥

मा०—वर्णः खलु कारशब्दोत्तरो वर्णस्याख्या भवति । यथा—"अकारपरः"[1] इति ॥

त्रि०—कारोत्तरो वर्णः; (वर्णाख्या =) वर्णस्य आख्या; भवति । यथा—"अथैकारेकारौ"[2] इत्यादि । कारशब्द उत्तरो यस्मादसौ कारोत्तरः ॥ १६ ॥

बाईस ('उपसर्ग') कहे गए हैं । किंतु यहाँ (प्रातिशाख्य में) वैसा (= बाईस 'उपसर्ग') नहीं कहा गया है, जिससे "तदनु छन्दाꣳस्यपाक्रामन्" इत्यादि में पूर्वागम न होवे[क] ।

सू० अ०—'कार' (शब्द) है बाद में जिसके ऐसा वर्ण (उस) वर्ण का निर्देशक (नाम) होता है ।

त्रि० अ०—कारोत्तरो वर्णः = 'कार'[ख] (शब्द) है बाद में जिसके वह वर्ण; (वर्णाख्या =) (उस) वर्ण का निर्देशक (नाम); होता है । जैसे—"अब एकार और ईकार (का 'प्रग्रह' के रूप में विधान किया जाता है)" इत्यादि में । 'कार' शब्द है बाद में जिसके वह = कारोत्तर ॥ १६ ॥

में चकार का आगम हुआ है । व्याकरण के समान यदि यहाँ भी क्रिया के योग में ही 'उपसर्ग' संज्ञा होती तो 'विच्छन्दाः' का 'वि' 'उपसर्ग' न होता । तब प्रस्तुत स्थल में १४।८ लागू न होता, जिससे चकार का आगम न होता । इस प्रकार अभीष्ट रूप 'विच्छन्दाः' की प्राप्ति न होती ।

(क) व्याकरण में 'अनु' को 'उपसर्ग' माना गया है । किंतु प्रस्तुत सूत्र में 'अनु' को 'उपसर्ग' नहीं माना गया है । यदि 'अनु' को यहाँ 'उपसर्ग' माना जाता तो १४.८ के अनुसार "तदनु छन्दा स्यपाक्रामन्" में भी चकार का आगम हो जाता, जो संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं होता है । 'अनु' को 'उपसर्ग' न मानने से ही अनिष्ट रूप का निवारण हुआ है ।

(ख) 'कार' शब्द वर्णों का निर्देशक है । वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए 'कार' शब्द का प्रयोग सभी प्रातिशाख्यों में किया गया है । किंतु इस संज्ञा का विधान केवल तै० प्रा० और वा० प्रा० में ही किया गया है । 'कार' शब्द 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है । 'क्रियते अयम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है 'ध्वनि' । इस प्रकार अकार = 'अ' 'ध्वनि' = 'अ' वर्ण; इकार = 'इ' ध्वनि = 'इ' वर्ण ।

---

(१) १।७ (२) ४।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—कारशब्द उत्तरो यस्मात्स तथोक्तः (= कारोत्तरः); वर्णशब्दस्वरूपम् ; कारशब्दोत्तरस्य तस्य; (वर्णाख्या =) वर्णस्याख्या; भवति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अकार-व्यवेतो व्यञ्जनानाम्"[1] इत्यादिव्यवहारः । तदनेन सूत्रेण "वर्णात्कारः"[2] इति व्याकरणोक्तः कारप्रत्ययोऽनुवर्णितः ॥ १६ ॥

अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम् ॥ १७ ॥

मा०—कारशब्दोत्तर अकारव्यवेतो व्यञ्जनानामाख्या भवति । यथा—"वसुष्ककार-परः"[3] इति ॥

त्रि०—(अकारव्यवेतः =) अकारव्यवहितः; वर्णः कारशब्दोत्तरो व्यञ्जना-नामाख्या भवति । यथा—"टनकारपूर्वश्च तकारः"[4] इत्यादि । अकारेण व्यवेतः = अकार-व्यवेतः ॥ १७ ॥

वै० अ०—'कार' शब्द है बाद में जिससे वैसा कहा गया वह (=कारोत्तरः); वर्णः = वर्ण = शब्दस्वरूप; 'कार' शब्द बाद में लगाया गया है जिससे उस; (वर्णाख्या =) 'वर्ण' का नाम; होता है । ('कार') संज्ञा का प्रयोजन—" 'कार' शब्द बाद में है जिसके ऐसा अकार से व्यवहित ('वर्ण') 'व्यञ्जन' (वर्णों) का (नाम होता है)" इत्यादि व्यवहार । इस प्रकार इस सूत्र से "वर्ण से कार (शब्द को जोड़ा जाता है) " व्याकरण में कहे गए इस 'कार' प्रत्यय का अनुवर्णन किया गया है ॥ १६ ॥

सू० अ०—('कार' शब्द बाद में है जिसके ऐसे) अकार से व्यवहित वर्ण व्यञ्जनों का (निर्देशक होता है) ।

त्रि० अ०—'कार' शब्द बाद में है जिसके ऐसा वर्ण; (अकारव्यवेतः =) अकार से व्यवहित होने पर; व्यञ्जनानाम् = व्यञ्जनों का; निर्देशक (नाम) होता है[क] । जैसे—"टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर तकार (का आगम होता है)" इत्यादि । अकार से व्यवहित (व्यवेत) = अकारव्यवेत ॥ १७ ॥

(क) १।१६ में यह बतलाया गया था कि वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए उस-उस वर्ण के बाद में 'कार' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है । प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि जब 'कार' शब्द का प्रयोग करके किसी 'व्यञ्जन' को निर्दिष्ट करना होता है तब उस 'व्यञ्जन' और 'कार' के मध्य में एक अतिरिक्त अकार

---

(१) १।१७
(२) द्र० सि० कौ० पृ० ६५५
(३) ८।३०
(४) ५।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—स किं व्यञ्जनेषूच्चारणानुपपत्तौ ज्ञेयः ? उत सुखोच्चारणार्थं वर्णान्तरं मध्ये निवेश्य प्रयोक्तव्यः ? इति संशये द्वितीयकल्प एवेष्टव्यः । "योऽसौ ककारस्तकारो वा" इति प्रयुञ्जानैर्वैयाकरणैरङ्गीकृतत्वादित्याह—

व्यञ्जनानां स्वरूपात्परः कारशब्दः; (अकारव्यवेतः =) मध्यवर्त्यकारेण व्यवहितः; (व्यञ्जनानाम्) आख्या भवति । न तु केवलस्योच्चारणानुपपत्तौ तदाख्या वर्तते । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"ङपूर्वः ककारः"[1] इत्यादिव्यवहारः ॥ १७ ॥

वै० अ०—क्या उस ('कार' शब्द) को (बिना किसी व्यवधान के) व्यञ्जनों में (प्रयुक्त होने वाला) जानना चाहिए, भले ही इससे उच्चारण की उपपत्ति न होवे ? अथवा सरलता से उच्चारण के लिए (व्यञ्जनों तथा 'कार' शब्द के) मध्य में अन्य वर्ण को रखकर (उस 'कार' शब्द का) प्रयोग करना चाहिए ?—यह संशय होने पर द्वितीय विकल्प को ही अभीष्ट समझना चाहिए। क्योंकि "योऽसौ ककारस्तकारो वा" को प्रयुक्त करके वैयाकरणों ने (द्वितीय विकल्प को) अङ्गीकार किया है।

व्यञ्जनों के स्वरूप से बाद में प्रयुक्त 'कार' शब्द; (अकारव्यवेतः =) मध्यवर्ती अकार के द्वारा व्यवहित होने पर; (व्यञ्जनानाम् = व्यञ्जनों का); निर्देशक (नाम) होता है। केवल ('व्यञ्जन') के (स्वरूप से बाद में प्रयुक्त) वह (= 'कार' शब्द) (व्यञ्जनों का) नाम नहीं होता है, क्योंकि इससे उच्चारण की उपपत्ति नहीं होती है।[क] ('कार') संज्ञा का प्रयोजन—"ङकार पूर्व में होने पर ककार (का आगम नहीं होता है)" इत्यादि व्यवहार ॥ १७ ॥

का उच्चारण कर दिया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि 'स्वर' वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए केवल 'कार' शब्द को जोड़ दिया जाता है, जबकि 'व्यञ्जन' वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए 'अ' सहित 'कार' को जोड़ा जाता है। जैसे क् को ककार = क्+अ+कार के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है।

(क) यहाँ यह शंका होती है कि किसी 'व्यञ्जन' का निर्देश करने के लिए 'कार' शब्द का प्रयोग उस 'व्यञ्जन' के अव्यवहित बाद में करना चाहिए अथवा उस 'व्यञ्जन' और 'कार' के मध्य में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान करके तब 'कार' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। इस शंका के समाधान में सूत्रकार का कहना है कि 'व्यञ्जन' और 'कार' शब्द के मध्य में 'अ' को रखकर तब 'कार' शब्द को जोड़ना चाहिए क्योंकि (१) इससे उच्चारण में सुविधा होगी और (२) वैयाकरणों ने ऐसा ही किया है।

---

(१) ५।३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम् ॥ १८ ॥

मा०—विसर्जनीयादीनां कारशब्दोत्तरा च अकारव्यवेता चाख्या न भवति। यथा—अः इति विसर्जनीयः, ⌒क इति जिह्वामूलीयः, ⌒प इति उपध्मानीयः, अनुस्वारः, नासिक्या इति ॥ १८ ॥

त्रि०—विसर्जनीयादीनां वर्णत्वाविशेषात् कारोत्तरत्वं प्राप्तमनेन निवर्त्यते। न खलु (विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम् =) विसर्जनीयादीनाम्; कारोत्तरता भवति। कुतः? सर्वत्र तथाप्रयोगानुपलम्भात्। ननु यथा—"वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या"[1] इति वर्णशब्दवाच्यस्यैव कारोत्तरत्वम्, "अथ नकारो णकारम्"[2] इत्यादि; न तु

सू० अ०—('कार' शब्द) 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय', 'उपध्मानीय', 'अनुस्वार' तथा 'नासिक्य' का (निर्देशक) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—'विसर्जनीय' इत्यादि बिना किसी विशेष के वर्ण हैं, अत एव उन ('विसर्जनीय' इत्यादि) के बाद में 'कार' शब्द के प्रयोग की प्राप्ति होने पर इस (सूत्र) से (उस प्राप्ति की) निवृत्ति की जाती है। (विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम् =) 'विसर्जनीय' इत्यादि के; बाद में 'कार' (शब्द); न = नहीं; लगता है[क]। (प्रश्न) क्यों? (उत्तर) उस प्रकार (विसर्जनीयकार, जिह्वामूलीयकार इत्यादि) का प्रयोग कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता है[ख]। (पूर्वपक्षी) जिस प्रकार "'कार' (शब्द) है बाद में जिसके ऐसा वर्ण (उस) वर्ण का निर्देशक (नाम) होता है"—इस (सूत्र) से वर्ण शब्द के वाच्य (क्, ख्, ग् इत्यादि) के बाद में ही 'कार' शब्द लगता है जैसे "नकार णकार हो जाता है" इत्यादि में; वाचक (= वर्ण) के (बाद में)

(क) १।१६ में यह विधान किया जा चुका है कि वर्ण को निर्दिष्ट करने के लिए 'वर्ण' के बाद में 'कार' शब्द जोड़ा जाता है। 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय', 'उपध्मानीय', 'अनुस्वार' और 'नासिक्य' भी अन्य वर्णों के समान वर्ण हैं। अत एव १।१६ के अनुसार इनके बाद में भी 'कार' शब्द जोड़ने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किंतु प्रस्तुत सूत्र से इनके बाद में 'कार' की प्राप्ति का निषेध कर दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र (१।१८) १।१६ का अपवाद है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र में 'विसर्जनीय' इत्यादि वर्णों के बाद में 'कार' शब्द जोड़ने का जो निषेध किया गया है उसका कारण यह है कि कहीं पर भी इन वर्णों के बाद में 'कार' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। प्रयोग तथा अप्रयोग के आधार पर ही सूत्रों का निर्माण किया जाता है।

---

(१) १।१६ (२) ७।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचकस्य। अन्यथा वर्णकार इति स्यात्। तद्वद्विसर्जनीयादीनामपि वाच्यग्रहणमेव युक्तं नान्यथा। तथा सति वाचकपरतया वररुच्यादिविरचितमुदाहरणं "अवसाने रविसर्जनीयः"[1] इत्याद्यनुचितमिति चेत् मैवं मंस्थाः। वाच्यानां केवलानामप्रयोगात् अत्र वाच्यवाचकयोरभेद-विवक्षया सूत्रसरणिरित्युदाहरणगमनिका ॥ १८ ॥

नहीं। अन्यथा वर्णकार (ऐसा प्रयोग) उपलब्ध हो जाता। उसी प्रकार 'विसर्जनीय' आदि के विषय में भी वाच्य (: , ⌣ इत्यादि) का ग्रहण करना ही युक्त है, अन्यथा नहीं। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर वाचक से सम्बद्ध होने के कारण वररुचि इत्यादि के द्वारा दिया गया (प्रस्तुत सूत्र का) यह उदाहरण "अवसान में स्थित रेफ, विसर्जनीय" अनुचित है[क]।

(सिद्धान्ती)—यदि यह (कहते हो तो हमारा यह कहना है कि) ऐसा मत मानो। केवल वाच्य (: , ⌣ इत्यादि) का प्रयोग न होने से यहाँ वाच्य और

(क) पूर्वपक्षी – १।१६ में यह विधान किया गया था कि वर्ण को निर्दिष्ट करने के लिए वर्ण के बाद में 'कार' शब्द जोड़ा जाता है। इसके अनुसार 'वर्ण' शब्द के बाद में 'कार' नहीं जोड़ा जाता है, अपितु वर्ण के वाच्य 'अ' इत्यादि के बाद में 'कार' जोड़ा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वाच्य के बाद में 'कार' शब्द जोड़ा जाता है, वाचक के बाद में नहीं। इसी आधार पर : , ⌣ (वाच्य) इत्यादि के बाद में 'कार' शब्द की प्राप्ति होती है, 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' इत्यादि शब्दों (वाचकों) के बाद में नहीं। 'विसर्जनीय' इत्यादि के साथ 'कार' शब्द का प्रयोग नहीं होता हैं—इस तथ्य के उदाहरण के रूप में वररुचि ने "अवसाने रविसर्जनीयः" को प्रस्तुत किया है। किंतु यह उचित नहीं है। 'विसर्जनीय' इत्यादि शब्दों के साथ तो 'कार' शब्द के प्रयोग की प्राप्ति ही नहीं है, तब निषेध कैसा ?

वाचक	वाच्य
(१) वर्ण (कार का प्रयोग नहीं होता है)	(१) अ, आ, क्, ख् इत्यादि ('कार' का प्रयोग होता है)
(२) विसर्जनीय, जिह्वामूलीय इत्यादि (पूर्वपक्षी के मत से कार के प्रयोग का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है)	(२) : , ⌣ इत्यादि (पूर्वपक्षी के मत से कार के प्रयोग का प्रसङ्ग उपस्थित होता है) जिसका निषेध प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

---

(१) १४।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—किमेवं विसर्जनीयादीनामपि व्यञ्जनानां सुखोच्चारणार्थं वर्णान्तरान्तर्धानेन कारशब्द आख्या भवति नेत्याह —

अः इति विसर्जनीयः। वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात्। ≍क इति जिह्वामूलीयः। जिह्वामूलेन जन्यत्वात्। ≍प इत्युपध्मानीयः। उपध्मानेन जन्यत्वात्। अनुस्वर्यते पश्चार्धे

वाचक का अभेद अभीष्ट होने से सूत्र का मार्ग उदाहरण को स्पष्ट करता है (अर्थात् उदाहरण को उचित सिद्ध करता है)।[क]

वै० अ०—(प्रश्न) क्या इस प्रकार विसर्जनीय इत्यादि व्यञ्जनों का भी, सुविधापूर्वक उच्चारण के लिए अन्य वर्ण का व्यवधान करके, 'कार' शब्द निर्देशक (नाम) होता है ? (उत्तर) (सूत्रकार ने) कहा है कि ऐसी बात नहीं है—

अः—यह 'विसर्जनीय'[ख] है। वायु के बाहर निकालने (बाहर फेंकने, विसर्जन)

(क) सिद्धान्ती—'वर्ण' शब्द (वाचक) के वाच्य (अ, आ, क्, ख् इत्यादि) हैं। अ, आ, क्, ख् इत्यादि ध्वनि हैं। इन्हें जैसा लिखते हैं वैसा ही बोलते हैं। इसके विपरीत 'विसर्जनीय' 'जिह्वामूलीय' इत्यादि (वाचक) के वाच्य : , ≍ इत्यादि हैं। इन्हें जैसा लिखते हैं वैसा बोलते नहीं हैं। इनके परम्परागत तथा वर्णनात्मक ये ही नाम हैं—'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' इत्यादि। वर्ण के वाच्य अ, आ, क्, ख् इत्यादि में तो 'कार' को जोड़े जाने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, क्योंकि यहाँ ध्वनियों का स्वरूप निश्चित है और उस स्वरूप के आधार पर इनका नाम होता है। किंतु 'विसर्जनीय' 'जिह्वामूलीय' इत्यादि के वाच्य : , ≍ इत्यादि का कोई नाम है ही नहीं। अतः वहाँ 'कार' के जोड़े जाने का अथवा न जोड़े जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत एव 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' इत्यादि के बाद में ही 'कार' शब्द के जोड़े जाने का प्रसङ्ग १।१६ से उपस्थित होता है। इसका निषेध प्रस्तुत सूत्र से किया गया है। 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' नामों के बिना : , ≍—इन लिपि-चिह्नों का प्रयोग ही नहीं हो सकता है। अत एव इन दोनों (वाचक और वाच्य) में अभेद मानकर 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' इत्यादि के बाद में 'कार' शब्द के जोड़े जाने का निषेध किया गया है।

(ख) वास्तव में 'विसर्जनीय' संज्ञक वर्ण का लिपि-चिह्न यह है— : (दो बिन्दु)। यतः विसर्जनीय सर्वदा 'स्वर' के बाद में आता है, अतः कह दिया जाता है कि अः 'विसर्जनीय' है (अ स्वरों का प्रतिनिधि है)।

'विसर्जनीय' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'सृज्' धातु में 'अनीयर्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। वायु के विसर्जन से उत्पन्न होने के कारण अः 'विसर्जनीय' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि 'विसर्जनीय' (अः) के उच्चारण में फेफड़ा वायु को शीघ्रता से बाहर फेंक देता है, इसलिए इन्हें 'विसर्जनीय' कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः। नासिकायां भवा नासिक्याः। एतेषां वर्णान्तरान्तर्हितोऽपि कारशब्द आख्या न भवति। ततश्च यथा—"कुप्वोꣳ क ꣳपौ च"[1] इति व्याकरणसूत्रे वर्ण-

---

से उत्पन्न होने के कारण (यह वर्ण 'विसर्जनीय' कहलाता है)। ꣳ क—यह 'जिह्वा-मूलीय'[क] है ॥ जिह्वामूल से उत्पन्न होने के कारण। ꣳ प—यह 'उपध्मानीय'[ख] है। फूँक मारने (उपध्मान) से उत्पन्न होने के कारण। पिछले भाग में 'स्वर' के समान उच्चारित होता है, इसलिए 'अनुस्वार'[ग] कहलाता है। नासिका में उच्चारित होने वाले (वर्ण) 'नासिक्य' हैं। इन (= 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय', 'उपध्मानीय',

---

मॉनियर विलियम ने अपने शब्द-कोष में 'विसर्जनीय' की तीन व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं—(१) यह लोप के योग्य होता है अर्थात् परिस्थितिवशात् इसका प्रायः लोप हो जाता है; (२) इसके उच्चारण में श्वास को पूर्णतया बाहर फेंक दिया जाता है; (३) प्रायः यह पद या वाक्य के अन्त में आता है। संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोष, पृ० १००१।

(क) वास्तव में 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' संज्ञक वर्णों का लिपि-चिह्न यह है—ꣳ। यतः 'जिह्वामूलीय' सर्वदा कवर्ग के पूर्व में और 'उपध्मानीय' सर्वदा पवर्ग के पूर्व में आता है, अतः कह दिया जाता है कि ꣳ क 'जिह्वामूलीय' है और ꣳ प 'उपध्मानीय' है।

'जिह्वामूलीय' का शाब्दिक अर्थ है 'जिह्वा के मूल से उच्चारित होने वाला'। जिह्वा के मूल से उच्चारित होने के कारण इस वर्ण को 'जिह्वामूलीय' कहा जाता है।

(ख) 'उपध्मानीय' शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक 'ध्मा' धातु में 'अनीयर्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण यह वर्ण (ꣳ प) 'उपध्मा-नीय' कहलाता है 'उपध्मान' का अर्थ है 'फूँक मारना'। जिस प्रकार फूँक मारकर दीपक को बुझाया जाता है, उसी प्रकार का प्रयत्न 'उपध्मानीय' (ꣳप) के उच्चारण में किया जाता है।

(ग) 'अनुस्वार' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'स्वृ' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। इसके अनुसार 'अनुस्वार' का अर्थ है 'वह वर्ण जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता है' (अनु = पश्चात् = अन्यवर्णानन्तरम्, स्वर्यते = उच्चार्यते, इत्यनुस्वारः)। इसी बात को ध्यान में रखकर पाणिनि-शिक्षा ५ पर पञ्जिका भाष्य में कहा गया है कि 'अनुस्वार' वह ध्वनि है जो किसी 'स्वर' के बाद में आती है (स्वरमनु भवतीत्यनुस्वारः)। यही कारण है कि 'अनुस्वार' को 'अनु-गामी ध्वनि' (after sound) कहा जाता है। उल्लेखनीय हैं कि 'अनुस्वार'

---

(१) अ० ८।३।३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्व्यावधिकौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ निर्दिश्येते, एवमत्र "ङपूर्वः ककारः"[1] इति विसर्जनीयस्य जिह्वामूलीयस्य वा निर्देश इति न शङ्कनीयम्। न त्वत्र विसर्जनीयकारो जिह्वामूलीयकारः इत्यादिसंज्ञापूर्वककारशब्दाख्या प्रतिषिध्यते, प्राप्तयभावात्। यदा च विसर्जनीयादीनां सुखोच्चारणार्थं वर्णान्तरप्रक्षेपयोग्या कारशब्दाख्या प्रतिषिध्यते तदा तत्प्रक्षेपानर्हानुपपन्नोच्चारणाख्या दूरत उत्सारिता। ततश्च "अकारो व्यञ्जनानाम्"[2] इति वक्ष्यमाणाऽप्याख्या एतेषामसम्भवव्युदस्तत्वान्न सम्भवति ॥ १८ ॥

एफस्तु रस्य ॥ १९ ॥

मा०—एफशब्दोत्तरो रस्याख्या भवति। यथा—"रेफ"[3] इति। तुशब्दः किमर्थम्?

'अनुस्वार' और 'नासिक्य') का दूसरे वर्ण से व्यवहित भी 'कार' शब्द निर्देशक (नाम) नहीं होता है। अत एव जिस प्रकार "कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रम से 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' भी होते हैं"—इस व्याकरण-सूत्र में 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय'—इन दो अधिक वर्णों का निर्देश किया गया है, उसी प्रकार यहाँ "ङकार पूर्व में होने पर ककार" इस (सूत्र) में 'विसर्जनीय' अथवा 'जिह्वामूलीय' का निर्देश किया गया है—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कार' शब्द 'विसर्जनीय' अथवा 'जिह्वामूलीय' का निर्देशक न होकर 'क' वर्ण का निर्देशक है)। यहाँ (= इस सूत्र में) विसर्जनीय कार, जिह्वामूलीयकार इत्यादि संज्ञापूर्वक 'कार' शब्द रूप नाम का निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि ('विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' इत्यादि में 'कार' शब्द की) प्राप्ति हा नहीं है। और जब 'विसर्जनीय' इत्यादि में, सुविधापूर्वक उच्चारण के लिए अन्य वर्ण (= अ) के व्यवधान (प्रक्षेप) से समन्वित 'कार' शब्द रूप नाम का निषेध कर दिया गया है, तब उस (अ के) व्यवधान (प्रक्षेप) से रहित (केवल 'कार' शब्द रूप नाम) की तो दूर से ही निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि उससे तो उच्चारण उपपन्न नहीं होता है। इसके अतिरिक्त "अकार व्यञ्जनों का" यह आगे कहा जाने वाला नाम भी इन (विसर्जनीय इत्यादि) में प्रयुक्त नहीं होता है, क्योंकि असंभव होने से ही उसका निराकरण हो जाता है।[क]

सू० अ०—'र्' का (निर्देशक) तो 'एफ' (होता है)।

अपने पूर्ववर्ती 'स्वर' के बिना स्थित नहीं हो सकता है, इसलिए इसे 'पराश्रित ध्वनि' (dependent sound) भी कह सकते हैं।

(क) तात्पर्य यह है कि 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय', 'उपध्मानीय', 'अनुस्वार' और 'नासिक्य' वर्णों का निर्देश करने के लिए न 'अ' सहित 'कार' का प्रयोग होता है, न केवल (='अ' रहित) 'कार' का और न १।२१ में विहित 'अ' का। इन संज्ञाओं का निर्देश केवल इन्हीं संज्ञाओं के द्वारा किया जाता है।

---

(१) ५।३२ (२) १।२१ (३) ११।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकारव्यवायननिवृत्त्यर्थम्। रेफसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"न रेफपरः"[१] इति ॥

त्रि०—रस्य तु; (एफः=) एफशब्दः; आख्या भवति। यथा "रेफोष्मपरः"[२] इति। रेफस्य व्यञ्जनत्वाविशेषात् प्राप्तं कारोत्तरत्वम्, अकारव्यवेतत्वं च तदुभयं तुशब्दो निवारयति। अन्ये त्वन्यथा मन्यन्ते, अकारव्यवेतत्वमेवेति। तदसाधु। तथा सति कदाचित् कारोत्तरता कदाचिदेफोत्तरता चेति विकल्पः स्यात्। यथा—"अकारो व्यञ्जनानाम्"[३] इति विधानाद्विकल्पः। तथा हि "रेफोष्मसंयोगे"[४] "रषः पूर्वो हवनी"[५] इत्यादि। न त्वेवं कारोत्तरत्वमपि विकल्पेन स्वीकृतं कुत्रचित्। तस्मादस्मदुक्त एव युक्तः तुशब्दार्थः ॥ १९ ॥

त्रि० अ०—रस्य तु= 'र्' का तो; (एफः=) 'एफ' शब्द; निर्देशक (नाम) होता है। जैसे—"(पदान्त मकार), रेफ और 'ऊष्म' (वर्ण) बाद में होने पर, (लुप्त हो जाता है)" में।[क] रेफ के अविशिष्ट रूप से 'व्यञ्जन' होने के कारण प्राप्त होने वाले कारोत्तरत्व तथा अकारव्यवहितत्व—इन दोनों—का निवारण (सूत्र में प्रयुक्त) 'तु' शब्द कर देता है। किंतु दूसरे लोग तो अन्य प्रकार से मानते हैं, (उनके अनुसार 'तु' शब्द) अकारव्यवहितत्व का ही (निवारण करता है)। यह ठीक नहीं है। वैसा (= अकारव्यवहितत्व का ही निवारण) होने पर कभी कारोत्तरता और कभी एफोत्तरता—यह विकल्प हो जायेगा। जिस प्रकार "अकार व्यञ्जनों का (निर्देशक है)"—इस विधान से विकल्प है। उदाहरणस्वरूप "रेफ और 'ऊष्मन्' का 'संयोग' होने पर" तथा "र अथवा ष पूर्व में होने पर हवनी··· (का नकार णकार हो जाता है)" इत्यादि में। किन्तु इस प्रकार कारोत्तरता कहीं भी विकल्प से स्वीकृत नहीं है। इसलिए हमारे द्वारा कहा गया ही 'तु' शब्द का अर्थ युक्त है।[ख]

(क) जिस प्रकार अन्य व्यञ्जनों को निर्दिष्ट करने के लिए उस 'व्यञ्जन' के बाद में अ+कार को जोड़ दिया जाता है उस प्रकार 'र्' 'व्यञ्जन' के विषय में नहीं किया जाता है। 'र्' 'व्यञ्जन' को निर्दिष्ट करने के लिए 'र्' के बाद में 'एफ' शब्द को जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार र् = र् + एफ = रेफ।

(ख) यदि यह माना जाये कि सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द केवल अकार के व्यवधान का ही निवारण करता है तब यह सिद्ध हो जायेगा कि 'र्' को निर्दिष्ट करने के लिए 'कार' शब्द तथा 'एफ' शब्द विकल्प से जोड़े जाते हैं। १।२१ के अनुसार 'अ' को जोड़कर भी 'र्' को निर्दिष्ट किया जाता है। इस प्रकार ये तीन विकल्प हुए। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं जहाँ 'एफ' को तथा 'अ' को जोड़कर 'र्' को निर्दिष्ट किया गया है, किंतु ऐसा कोई उदाहरण नहीं

---

(१) ५।२९ (२) १३।२
(३) १।२१ (४) २१।१५ (५) ७।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(रस्य =) 'र' इत्यस्य व्यञ्जनस्य; स्वरूपपूर्वकः; (एफः) एफशब्दः; आख्या। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"आशीर्पदया"[1] इत्यादौ रेफादेशः। निर्वचनं तु—रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यत इति रेफः। तथा च याज्यान्तविसर्जनीयस्यादेशविधावाश्वलायनः—"विसर्जनीयोऽनन्त्यक्षरोपधो रिफ्यते"[2] इति। अत्रापवादादेव कारशब्दाख्यानिवृत्तेस्तत्प्रतिषेधो न कर्त्तव्य इति तुशब्दार्थः। यद्वा—"रादिफः"[3] इत्यकारसहितादेव स्वरूपादिफप्रत्ययो विधीयते। न तु केवलादिति ॥ १९ ॥

वै० अ०—(रस्य =) 'र' इस 'व्यञ्जन' का; स्वरूपपूर्वक; (एफः =) 'एफ' शब्द; निर्देशक (नाम) (होता है) [अर्थात् 'र' का निर्देश करने के लिए 'र' के स्वरूप (= र्) के बाद में 'एफ' जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार रेफ = 'र्']। (रेफ) संज्ञा का प्रयोजन—"आशीर्पदया" इत्यादि में रेफ का आदेश।[क] (रेफ शब्द का) निर्वचन तो (यह है)—"फाड़ा जाता है = वस्त्रादि को फाड़ने से जो ध्वनि होती है उसके समान ध्वनि करने से जो उच्चारित होता है वह रेफ है"। उसी प्रकार याज्या के अन्त में विद्यमान विसर्जनीय के आदेश के विधान में आश्वलायन ने कहा है—"अन्त्य को छोड़कर अन्य 'अक्षर' पूर्व में हो तो 'विसर्जनीय' रेफ हो जाता है।" इस अपवाद से ही 'कार' शब्द रूप नाम की निवृत्ति हो जाने से उसका प्रतिषेध नहीं करना चाहिए[ख]—यह 'तु' शब्द का अर्थ है। अथवा "'र' से 'इफ' (शब्द को जोड़ा जाता है) (इस वार्त्तिक के समान)" अकार सहित स्वरूप (र्+अ) से ही 'इफ' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है, केवल (स्वरूप) (= र्) से नहीं ॥ १९ ॥

मिलता है, जहाँ 'कार' शब्द को जोड़कर 'र्' को निर्दिष्ट किया गया हो। इसलिए यह मानना ही युक्त है कि सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द 'कार' शब्द तथा अकार का व्यवधान—इन दोनों—का निवारण करता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र १।१६ तथा १।१७—इन दोनों—का अपवाद है।

(क) ५।१० में यह विधान किया गया है कि 'आशीः', 'धूः' और 'सुवः' का 'विसर्जनीय' रेफ हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार रेफ 'र्' का नाम है। अत एव 'आशीः' का 'विसर्जनीय' र्' (रेफ) हो गया है।

(ख) यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'एफ' शब्द का विधान किया गया है तथापि यह १।१६, १७ का अपवाद है। इससे 'कार' शब्द का भी निषेध हो जाता है। अतः 'र्' में पृथक् सूत्र से 'कार' शब्द का निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

---

(१) ६।२।९
(२) आश्व० श्रौ० १।५।१०
(३) द्र० सि० कौ० पृ० ६५५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वो वर्णोत्तरस्त्रयाणाम् ॥ २० ॥

मा०—ह्रस्वो वर्णशब्दोत्तरस्त्रयाणां ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतानां ग्राहको भवति। यथा—"लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ"[१] इति ॥

त्रि०—वर्णोत्तरो ह्रस्वः; त्रयाणाम् = ह्रस्वदीर्घप्लुतानाम्; आख्या भवति। यथा—"इवर्णपर एकारम्"[२] इत्यादि। वर्णशब्द उत्तरो यस्मादसौ वर्णोत्तरः ॥ २० ॥

वै०—ह्रस्वो वर्णः; (वर्णोत्तरः =) वर्णशब्दपरः; तदादीनां त्रयाणां वर्णानामाख्या भवति। यथा—"अवर्णे"[३] इति अकारादीनाम्। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"देवा वसव्याः"[४] इत्यादौ विसर्जनीयस्य लोपः। निर्वचनं तु—अ इति रूपमनुवृत्तं यस्मिन् वर्णत्रये तदवर्णमिति ॥ २० ॥

सू० अ०—वर्ण (शब्द) बाद में है जिसके ऐसा 'ह्रस्व' (स्वर) तीनों ('=ह्रस्व', 'दीर्घ' तथा 'प्लुत') का (निर्देशक है)।

त्रि० अ०—वर्णोत्तरो ह्रस्वः = वर्ण (शब्द) बाद में है जिसके वह 'ह्रस्व' ('स्वर'); त्रयाणाम् = तीन (वर्णों) = 'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत' (स्वरों) का; नाम होता है।[क] जैसे—"(अवर्ण पूर्व में होने पर) इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों 'अक्षर') एकार को (प्राप्त करते हैं)" इत्यादि। वर्ण शब्द है बाद में जिससे वह = वर्णोत्तर ॥ २० ॥

वै० अ०—ह्रस्वो वर्णः = 'ह्रस्व' वर्ण ('स्वर'); (वर्णोत्तरः =) वर्ण शब्द बाद में होने पर; उस ('ह्रस्व') से प्रारम्भ होने वाले; त्रयाणाम् = तीन (वर्णों) (= 'ह्रस्व', 'दीर्घ' तथा 'प्लुत' स्वरों) का; निर्देशक (नाम) होता है। जैसे—"अवर्ण में" (अवर्ण) अकारादि (= अ, आ, आ३) का निर्देशक (नाम) है। (अवर्ण) संज्ञा का प्रयोजन—"देवा वसव्याः" इत्यादि में 'विसर्जनीय' का लोप।[ख] (अवर्ण शब्द का) निर्वचन तो (यह है)—जिन तीन वर्णों में अ—यह रूप अनुगत हो वे अवर्ण हैं ॥ २० ॥

(क) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार—
(१) अवर्ण = अ, आ, आ३।
(२) इवर्ण = इ, ई, ई३।
(३) उवर्ण = उ, ऊ, ऊ३।
(४) ऋवर्ण = ऋ, ॠ (तै० सं० में ॠ३ का प्रयोग नहीं हुआ है)।
(५) ऌवर्ण = ऌ (तै० सं० में ऌ और ऌ३ का प्रयोग नहीं हुआ है)।

(ख) ९।९ में वह विधान किया गया है कि अवर्ण पूर्व में तथा 'घोषवत्' वर्ण बाद में

---

(१) १०।१९ (२) १०।४
(३) २।१३ (४) २।४।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकारो व्यञ्जनानाम् ॥ २१ ॥

मा०—अकारः खलु व्यञ्जनानां ग्राहको भवति। अकारगृहीतस्य व्यञ्जनस्य सर्वस्वरपरस्य ग्रहणं भवति। यथा—"तकारश्चकारं शचछपरः"[1] इति ॥

त्रि०—व्यञ्जनानामकारः = आख्या भवति। यथा "शचछपरः"[1] इत्यादि। कारशब्दोत्तरत्वं इदं च विकल्प्यते। समुच्चये तु "अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम्"[2] इति व्यर्थं स्यात्। ननु तर्हि कारोत्तरता किमर्था; तदानीमपि व्यवायरूपेण अकारलाभात् स एव आख्या भवतु। सत्यम्। शिक्षादिशास्त्रप्रसिद्धसंकेतानुसारायेति परिहारः। अपरे तु सङ्गिरन्ते—अकारः सर्वस्वरान्तरस्य व्यञ्जनस्य ग्राहक इति। यथा—"मनः क्षेमे"[3] "घनाघनः

सू० अ०—अकार व्यञ्जनों का (निर्देशक है)।

त्रि० अ०—व्यञ्जनानामकारः = अकार व्यञ्जनों का; निर्देशक (नाम) होता है।[क] जैसे—"श, च, छ बाद में होने पर (तकार चकार हो जाता है)" इत्यादि में। बाद में 'कार' शब्द के प्रयोग और इस (अकार के प्रयोग) में विकल्प है।[ख] समुच्चय मानने पर तो "('कार' शब्द बाद में है जिसके ऐसे) अकार से व्यवहित वर्ण व्यञ्जनों का (निर्देशक होता है)"—यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।[ग] (शंका) तब तो बाद में 'कार' शब्द का प्रयोग किसलिए (किया जाता है), क्योंकि तब भी व्यवधान के रूप में अकार की प्राप्ति होती ही है। अत एव वह (अकार) ही निर्देशक (नाम) होवे। (समाधान-) सच कहते हो। (किंतु) शिक्षादि शास्त्रों के प्रसिद्ध संकेत के अनुसार ('कार' शब्द का विधान किया गया है)—यह समाधान है। किंतु दूसरे लोग तो मानते हैं कि अकार सभी स्वरों में अन्त होने वाले व्यञ्जनों का ग्राहक है। जिससे—"मनः क्षेमे" "घनाघनः क्षोभणः" "उक्थशासः

हो तो 'विसर्जनीय' का लोप हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि अवर्ण = अ, आ, आ३। यही कारण है कि "देवा वसव्याः" में आकार पूर्व में होने पर 'देवाः' के 'विसर्जनीय' का लोप ९।९ से हो गया है।

(क) तात्पर्य यह है कि व्यञ्जनों का निर्देश करने के लिए उनके बाद में 'अ' जोड़ा जाता है। इस प्रकार क (क्+अ) ककार (क्) का निर्देशक है। ख (ख्+अ) खकार (ख्) का निर्देशक है इत्यादि।

(ख) इस प्रकार व्यञ्जनों को निर्दिष्ट करने के लिए या तो अकार-संयुक्त 'कार' शब्द का प्रयोग किया जाता है या अकार का प्रयोग किया जाता है।

(ग) यदि यह माना जाये कि इस सूत्र में विहित अकार का १।१६ में विहित 'कार' के साथ विकल्प नहीं है और व्यञ्जनों को निर्दिष्ट करने के लिए अकार तथा कार—

---

(१) ५।२२ (२) १।१७ (३) ५।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षोभणः"[१] "उक्थशासः क्षाम"[२] इत्यादि "न क्षपरः"[३] इति प्रतिषेधस्योदाहरणं स्यादिति। तदसारम्। कुतः? "वाघाषपूर्वस्तष्टम्"[४] इति षपूर्वस्य तकारस्य टत्वे कृते "इषे ट्वा" इति स्यात्। तच्चानिष्टम्। किञ्च—"यवनहस्वरपरेषु"[५] इत्यत्र स्वरपरशब्दो व्यर्थः स्यात्,

---

क्षाम" इत्यादि "क्ष बाद में होने पर ('विसर्जनीय' अपने समान स्थान वाले 'ऊष्म' वर्ण को) नहीं (प्राप्त करता है)"—इस प्रतिषेध-रूप (सूत्र) के उदाहरण हो जावें।[क] वह (मत) ठीक नहीं है। (प्रश्न) क्यों? (उत्तर) "वाघा अथवा ष् पूर्व में होने पर तकार टकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से ष् से बाद में विद्यमान तकार का टकार किया जाने पर "इषे ट्वा"—यह (रूप) बनेगा और वह (रूप) अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त "य्, व्, र्, ह् के बाद में 'स्वर' होने से (अकार का लोप हो जाता है)"—यहाँ (= इस सूत्र में) 'स्वरपर' ('स्वर' बाद में होने पर) शब्द व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि आप के मत में सब स्वरों में अन्त होने वाले ('व्यञ्जन') को

इन दोनों का साथ-साथ प्रयोग होता है, तब १।१७ व्यर्थ हो जायेगा। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'कार' के सहायक अकार का विधान होने पर सूत्रकार १।१७ के द्वारा 'कार' के सहायक अकार का विधान क्यों करते? १।१७ व्यर्थ न हो इसलिए यह मानना उचित है कि प्रस्तुत सूत्र में 'कार' के सहायक अकार का विधान न होकर एक स्वतन्त्र अकार का विधान किया गया है, जिसका 'कार' के साथ विकल्प है, समुच्चय नहीं।

(क) व्यञ्जनों के स्वरूप को निर्दिष्ट करने की दो विधियाँ हैं—(१) १।१६, १७ के अनुसार 'व्यञ्जन' के बाद में अकारव्यवहित 'कार' को जोड़कर; (२) 'व्यञ्जन' के बाद में केवल अकार को जोड़कर। पूर्वपक्षी का कहना है कि जब दोनों ही विधियों में अकार का जोड़ना अनिवार्य है और केवल अकार के जोड़ने से ही 'व्यञ्जन' निर्दिष्ट हो जाता है तब 'कार' की क्या आवश्यकता है? पूर्वपक्षी के इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार का कहना है कि पूर्वपक्षी की बात बिल्कुल ठीक है तथापि सूत्रकार ने 'कार' का विधान शिक्षा आदि अन्य शास्त्रों के आधार पर किया है। यतः व्यञ्जनों को निर्दिष्ट करने के लिए अन्य शास्त्रकारों ने 'कार' शब्द का प्रयोग किया है, अतः सूत्रकार ने भी कर दिया है। किंतु दूसरे लोगों ने पूर्वपक्षी के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—१।१६, १७ में विहित 'कार' केवल 'व्यञ्जन' का निर्देशक है, जब कि प्रस्तुत सूत्र में विहित अकार सभी स्वरों में अन्त होने वाले 'व्यञ्जन' का वाचक है। इस प्रकार दोनों विधियों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है।

---

(१) ४।६।४ (२) २।६।१२

(३) ९।३ (४) ७।१३ (५) १२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन्मते सर्वस्वरान्तस्य स्वीकारनियमात्। तस्मादनुपपन्नमेवैतन्मतं मन्महे। किन्तु वर्ण-मात्रस्याख्या ॥ २१ ॥

वै०—व्यञ्जनानां तत्तत्स्वरूपपूर्वकोऽकार आख्या भवति। यथा—"तकारश्चकारं शचछपरः"[1] इति। नन्विह व्यञ्जनानां अकारान्ताख्यया लघीयस्यैव शक्ये निर्देशे किमिति गरीयसी कारशब्दाख्या क्रियते। तदुच्यते—

शीक्षाव्याकरणानां यदयं विवरणात्मकः।
ग्रन्थस्ततोऽत्र नातीव शब्दसङ्कोच इष्यते ॥
वर्णात्कार इतीदं च व्याख्यातव्यं तु वार्तिकम्।
शीक्षास्थाश्च ककारादिशब्दा इति तदाश्रयः ॥ २१ ॥

स्वीकार करने का नियम है[क]। इसलिए हम लोग इस मत को अनुपपन्न मानते हैं। किंतु (अकार) केवल वर्ण का निर्देशक (नाम) है ॥ २१ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनानाम् = व्यञ्जनों का; उस-उस ('व्यञ्जन') के स्वरूप के बाद में प्रयुक्त; अकारः = अकार; निर्देशक (नाम) होता है (अर्थात् 'व्यञ्जन' को निर्दिष्ट करने के लिए उस 'व्यञ्जन' के बाद में 'अ' जोड़ दिया जाता है)। जैसे—"श, च, छ बाद में होने पर तकार चकार (हो जाता है)" में। शंका—यहाँ अकार में अन्त होने वाले छोटे नाम ('अ' शब्द) से ही व्यञ्जनों का निर्देश सम्भव होने पर किसलिए बड़े 'कार' शब्द रूप नाम का ग्रहण किया जाता है (अर्थात् जब 'अ' शब्द को जोड़ कर ही व्यञ्जनों का निर्देश किया जाता है तब बड़े 'कार' शब्द के द्वारा व्यञ्जनों का निर्देश क्यों किया जाता है?) इसका उत्तर देते हैं—

यतः यह (प्रातिशाख्य) शिक्षा और व्याकरण का विवरणात्मक ग्रन्थ है, अतः यहाँ शब्दों की अत्यधिक संक्षिप्तता अभीष्ट नहीं है[ख]। (दूसरी बात यह भी है कि) "वर्ण से 'कार' (शब्द को जोड़ा जाता है)" (वर्णात्कारः)—इस वार्तिक की

(क) भाष्यकार का कहना है कि दूसरे लोगों का यह मत उचित नहीं है कि अकार सभी स्वरों में अन्त होने वाले व्यञ्जनों का वाचक है। यह मानने पर (१) "इषे त्वा" ७।१३ के अनुसार "इषे ट्वा" हो जायेगा जो अनिष्ट है; (२) १२।४ में 'स्वरपर' शब्द व्यर्थ हो जायेगा।

(ख) तात्पर्य यह है कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में शिक्षा और व्याकरण में उपदिष्ट विषयों का व्याख्यान किया गया है। व्याख्यान के लिए शब्दों का विस्तार करना होता है, सङ्कोच नहीं।

---

(१) ५।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(परिभाषाः)

ग्रहणस्य च ॥ २२ ॥

मा०—अकार एव पदग्रहणस्य च ग्राहको भवति। अकारगृहीतस्य पदस्य सर्वविभक्त्यन्तस्य ग्रहणं भवति। यथा—"किँशिल"[1] इति। किँशिलशब्दस्य अकारगृहीतस्य सर्वविभक्त्यन्तस्य ग्रहणं भवति। यथाविधि प्राप्नोति। एवं सर्वत्रेति। यथा—"किँशिलश्चतुर्थः"[2] "किँशिलाय"[3]। "ग्रहणस्य च" इत्यपि विशेषेणोक्ता। किंवर्णस्य न कस्मात् इति उक्तत्वात् कस्य ग्रहणम्? सामर्थ्यात् पदस्यैव ग्रहणं भवति ॥ २२ ॥

त्रि०—लक्ष्यं निमित्तं च ग्रहणमित्युच्यते। गृह्यत इति ग्रहणं, गृह्यतेऽनेनेति निमित्तमपि ग्रहणं, पदैकदेशः, प्रातिपदिकमिति यावत्। चकारः पूर्वसूत्रोक्तमकारमाकर्षति।

व्याख्या भी (प्रातिशाख्य में) करनी है। और शिक्षा में विद्यमान ककार आदि शब्दों का आश्रय लेकर (ही सूत्रकार ने 'कार' संज्ञा का विधान किया है)।

सू० अ०—(अकार) वेद से उद्धृत शब्द (ग्रहण) का भी (निर्देशक होता है)।

त्रि० अ०—लक्ष्य और निमित्त ग्रहण कहलाता है। इसका ग्रहण किया जाता है, अत एव (लक्ष्य) ग्रहण है। इसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, अत एव निमित्त भी ग्रहण है।[क] यह पद का एक अंश (देश) होता है = प्रातिपदिक[ख]

(क) तै० प्रा० के तीन सूत्रों (१।२२,२४,५०) में 'ग्रहण' शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु भाष्य में बहुत बार इस शब्द का प्रयोग किया गया है। 'ग्रहण' शब्द का अर्थ है—प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत वैदिक शब्द। 'ग्रह' धातु का अर्थ है 'ग्रहण करना', 'लेना'। यतः ऐसे शब्द का वेद से ग्रहण किया जाता है=वेद से लिया जाता है, अतः ऐसा शब्द 'ग्रहण' कहलाता है। भाष्यकार के अनुसार ऐसा शब्द दो प्रकार का होता है—(१) लक्ष्य अर्थात् वह वैदिक शब्द जिसके विषय में सूत्र में किसी कार्य का विधान किया जाता है। इस अर्थ में भाष्यकार ने 'ग्रहण' शब्द का यह निर्वचन किया है—"गृह्यत इति ग्रहणम्" अर्थात् इसका ग्रहण किया जाता है = सूत्र के नियम के द्वारा इसे प्रभावित किया जाता है; (२) निमित्त अर्थात् वह वैदिक शब्द जो किसी अन्य वैदिक शब्द में जायमान कार्य (विकार इत्यादि) का कारण होता है। इस अर्थ में भाष्यकार ने 'ग्रहण' शब्द का यह निर्वचन किया है—"गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्" अर्थात् इसके द्वारा अन्य शब्द गृहीत होता है = अन्य शब्द प्रभावित होता है।

(ख) 'नाम' संज्ञक पदों के मौलिक रूप अर्थात् विभक्ति-प्रत्यय-रहित रूप को 'प्रातिपदिक' कहा जाता है।

---

(१) १६।२५ (२) ५।५।९ (३) ४।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणस्य प्रातिपदिकस्य सर्वावस्थस्य अकार आख्या भवति। यथा–"किँ शिल किँ शिल"[१] इति परः किँ शिलशब्दो लक्ष्यम्। उदाहरणं यथा—"किँ शिलश्चतुर्थः"[२] "किँ शिलाय च क्षयणाय च"[३]। "ओष्ठेवःपरो लुप्यते"[४] इति तु निमित्तम्। यथा—"स्वाहोष्ठाभ्याम्"[५] "उपयाममधरेणोष्ठेन"[६] ॥ २२ ॥

संज्ञक अंश। (प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त) चकार पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गये अकार को आकृष्ट (अनुवृत्त) करता है। (सूत्र का अर्थ यह हुआ—) अकार ग्रहण का = सभी अवस्थाओं में स्थित प्रातिपदिक का निर्देशक (नाम) होता है।[क] जैसे—"किँ शिल किँ शिल"—यहाँ दूसरा 'किँ शिल' शब्द लक्ष्य है।[ख] उदाहरण जैसे–"किँ शिलश्चतुर्थः" "किँ शिलाय च क्षयणाय च"। "ओष्ठ, एवः बाद में होने पर (अवर्ण) लुप्त हो जाता है"—यह तो निमित्त है।[ग] जैसे—स्वाहोष्ठाभ्याम्" "उपयाममधरेणोष्ठेन" ॥ २२ ॥

(क) तात्पर्य यह है—यदि किसी वैदिक शब्द के मौलिक रूप (प्रातिपदिक) के बाद में 'अ' जोड़कर उसको प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत किया गया हो तो उससे उस प्रातिपदिक के सभी रूपों को समझना चाहिए। उस शब्द के विषय में विहित नियम उस शब्द के सभी रूपों पर लागू होता है। भाष्यकार ने ६।१३ और १०.१४ के व्याख्यान में इस सिद्धान्त को अपनाया है।

(ख) १६।२५ में यह विधान किया गया है कि 'कि' शब्द के बाद में 'अनुस्वार' का आगम हो जाता है, यदि 'कि' के बाद में 'शिल' शब्द हो। जैसे—किँ शिल। तै० सं० में 'किँ शिल' पद भी विद्यमान है और 'किँ शिल' शब्द के अन्य रूप भी विद्यमान हैं। तै० सं० में विद्यमान 'किँ शिल' पद के 'अनुस्वार' की सिद्धि के लिए १६।२५ में प्रथम तथा 'किँ शिल' के अन्य रूपों के 'अनुस्वार' की सिद्धि के लिए द्वितीय 'किँ शिल' का ग्रहण किया गया है। द्वितीय 'किँ शिल' अकारान्त है, अतः इससे सभी रूपों का ग्रहण हो जाता है। यह लक्ष्य का उदाहरण है, क्योंकि १६।२५ से इसमें 'अनुस्वार' का आगम होता है। विशेष विवरण के लिए १६।२५ को देखिए।

(ग) १०।१४ में यह कहा गया है कि 'ओष्ठ' बाद में होने पर पूर्ववर्ती अवर्ण का लोप हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार अकारान्त 'ओष्ठ' से ओष्ठ के सभी रूपों का ग्रहण होता है। यही कारण है कि "स्वाहोष्ठाभ्याम्" (स्वाहा। ओष्ठाभ्याम्॥ प० पा०) तथा "उपयाममधरेणोष्ठेन" (उपयामम्। अधरेण। ओष्ठेन॥ प० पा०) में क्रमशः 'ओष्ठाभ्याम्' और 'ओष्ठेन' बाद में होने पर पूर्ववर्ती अवर्ण का

---

(१) १६।२५ (२) ५।५।९ (३) ४।५।९
(४) १०।१४ (५) ७।३।१६ (६) ५।७।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—गृह्यत इति ग्रहणं वेदस्थश्शब्दः। तत्त्रिविधं, कार्यभाङ्निमित्तमुपबन्ध इति। (ग्रहणस्य च =) तस्यापि; स्वरूपपूर्वकोऽकार आख्या भवति। यथा—"साहस्रसारथिः"[१] इति कार्यभाजः। "ची यत्प्रपरः"[२] इति निमित्तस्य। "न सक्रघकारपरे"[३] इत्युपबन्धस्य ॥ २२ ॥

वै० अ०—'(वेद से) ग्रहण किया जाता है' अत एव वेद में स्थित (तथा प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत) शब्द 'ग्रहण' कहलाता है। वह (ग्रहण, वेद में स्थित तथा प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत शब्द) तीन प्रकार का होता है—कार्यभाक्, निमित्त और उपबन्ध।[क] स्वरूप (= प्रातिपदिक) के बाद में जोड़ा हुआ अकार; (ग्रहणस्य च =) उस (= तीन प्रकार के वेदस्थ शब्द) का भी; निर्देशक (नाम) होता है। "साहस्र, सारथिः"—यहाँ (अकार) कार्यभाक् का (निर्देशक है)।[ख] "यत् और प्र बाद में होने पर 'ची'" यहाँ (अकार) निमित्त का (निर्देशक है)।[ग] "सकार, क्रशब्द और घकार बाद में होने पर (सकारभाव) नहीं होता है" यहाँ (अकार) उपबन्ध का (निर्देशक है)[घ] ॥ २२ ॥

लोप हो गया है। यह निमित्त का उदाहरण है। अवर्ण के लोप का निमित्त 'ओष्ठ' शब्द है।

(क) त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार प्रातिशाख्य के सूत्रों में उद्धृत शब्द दो प्रकार का होता है—कार्यभाक् (लक्ष्य) और निमित्त, जबकि वैदिकाभरणकार के अनुसार तीन प्रकार का होता है—कार्यभाक्, निमित्त और उपबन्ध। त्रिभाष्यरत्नकार के निमित्त को वैदिकाभरणकार ने निमित्त और उपबन्ध इन दो प्रकारों में विभक्त किया है। निमित्त और उपबन्ध के अन्तर के लिए १।५९ के वैदिकाभरण को देखिए।

(ख) ६।१३ में 'साहस्र', 'सारथिः' इत्यादि पदों के सकार के षकार होने का विधान किया गया है। इस प्रकार 'साहस्र' शब्द कार्यभाक् अर्थात् षत्व रूप कार्य को प्राप्त करने वाला शब्द है। 'साहस्र' शब्द को किसी विभक्ति में न रखकर अकारान्त (साहस्र् + अ) रूप में निर्दिष्ट किया गया है। इससे 'साहस्र' शब्द के सभी रूपों में सकार का षकार हो जाता है।

(ग) ४।३३ में यह विधान किया गया है कि 'यत्' और 'प्र' बाद में होने पर 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' होता है। इस प्रकार 'प्र' प्रग्रहत्व रूप कार्य का निमित्त है। इस 'प्र' रूप निमित्त को अकारान्त (प्र् + अ) रूप में निर्दिष्ट किया है। इससे 'प्र' के सभी रूपों (प्र, प्रा, प्रे इत्यादि) के बाद में रहते पूर्ववर्ती 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' होता है। विशेष विवरण के लिए ४।३३ का वैदिकाभरण देखिए।

(घ) ८।२६ में यह विधान किया गया है कि सकार, क्रशब्द और घकार है बाद में जिसके ऐसा 'कृधि' शब्द बाद में हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार नहीं होता है।

---

(१) ६।१३ (२) ४।३३ (३) ८।२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अःकार आगमविकारिलोपिनाम् ॥ २३ ॥

मा०—आगमस्य च विकारिणश्च लोपिनश्च अ⌣कारो ग्राहको भवति। आगमस्य यथा—"द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वः"[१]। विकारिणः—"अवर्णव्यपेतोऽपि"[२]। लोपिनः—"तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः"[३]। इत्येकवचनानि। "लपरौ लकारम्"[४] इति द्विवचनम्। "उत्तमपूर्व्यान्नासिक्याः"[५] इति बहुवचनम्। अ⌣कार इति प्रथमाया उपलक्षणत्वात् ॥ २३ ॥

त्रि०—(आगमविकारिलोपिनाम् =) आगमादीनाम्; अःकार आख्या भवति। अःकार इति प्रथमाविभक्तेरुपलक्षणम्। आगमस्य यथा—"द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वः"[१]। विकारिणो यथा—"अथ नकारो णकारम्"[६]। लोपिनो यथा—"तिष्ठन्त्येकया

सू० अ०—आगम के रूप में आने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले तथा लोप को प्राप्त होने वाले (शब्द) का अःकार (नाम होता है)।

त्रि० अ०—(आगमविकारिलोपिनाम् =) आगम इत्यादि का; अःकारः = 'अः' शब्द; निर्देशक (नाम) होता है।[क] 'अः' शब्द प्रथमा विभक्ति का बोधक है। जैसे आगम के रूप में आने वाले का (नाम)—"('स्वर' पूर्व में होने पर और) द्वितीय और चतुर्थ 'व्यञ्जन' बाद में होने पर (द्वितीय और चतुर्थ को) पूर्व (प्रथम और तृतीय) का (आगम होता है)"[ख]। जैसे विकार को प्राप्त होने वाले का (नाम)—"नकार णकार (हो जाता है)"[ग]। जैसे लोप को प्राप्त होने वाले का (नाम)—" 'तिष्ठन्त्येकया' (इस पद में अन्तिम वर्ण—आ) अपने पूर्व (य्)

यहाँ सकारभाव रूप कार्य का निमित्त 'कृधि' शब्द है और 'कृधि' शब्द के बाद में स्थित सकार, क्रशब्द और घकार उपबन्ध हैं। यहाँ उपबन्ध को अकारान्त (क् + अ = क) रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

(क) प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि आगम के रूप में आने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले और लोप को प्राप्त होने वाले शब्दों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ख) १४।५ के अनुसार पूर्व (= प्रथम और तृतीय) का आगम होता है। अतः इस सूत्र में 'पूर्व' शब्द को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ग) ७।१ के अनुसार नकार विकार को प्राप्त करने वाला है। अतः इस सूत्र में 'नकार' शब्द को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

---

(१) १४।५ (२) ७।५ (३) ५।१९
(४) ५।२५ (५) २१।१२ (६) ७।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सपूर्वः"[१] इत्येकवचनानि। "लपरौ लकारम्"[२] इति द्विवचनम्। "आनुपूर्व्यान्नासिक्याः"[३] इति बहुवचनम्। आगमश्च विकारी च लोपी च आगमविकारिलोपिनः, तेषाम् ॥ २३ ॥

वै०—अनेन पारिभाषिकाणां कृत्रिमाणां चागमादिवाचिनां शब्दानां विभक्तिविशेषो नियम्यते। अःकार इत्यकारविसर्जनीययोस्समुदितयोर्व्याकरणसिद्धेन कारप्रत्ययेन निर्देशः। स खलु बहुलग्रहणानुवृत्त्या वर्णसमुदायादपि भवति। अःकारेण प्रथमाविभक्तिरुपलक्ष्यते।

अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णश्श्रूयतेऽधिकः।
आगम्यमानतुल्यत्वात्स आगम इति स्मृतः ॥

सहित (लुप्त हो जाता है)"[क]—ये एकवचन (के उदाहरण हैं)। "ल् बाद में होने पर नकार और तकार लकार (हो जाते हैं)"[ख]—यह द्विवचन का उदाहरण है। "क्रम से नासिक्यों (का आगम होता है)"[ग]—यह बहुवचन (का उदाहरण है)। आगम के रूप में आने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले और लोप को प्राप्त होने वाले (वर्ण अथवा पद) = आगमविकारिलोपिन्, उन (आगम, विकारिन् और लोपिन्) का (अःकार नाम होता है)।[घ]

वै० अ०—इस (सूत्र) से पारिभाषिक और कृत्रिम आगम आदि के वाचक शब्दों की विभक्तिविशेष का नियमन किया जाता है। मिले हुए अकार और 'विसर्जनीय' (अः) का व्याकरण के द्वारा सिद्ध 'कार' प्रत्यय के द्वारा निर्देश अःकार के रूप में किया गया है। (यद्यपि "वर्णात्कारः"—इस वार्तिक के द्वारा वर्ण के बाद में ही 'कार' प्रत्यय का विधान किया गया है, तथापि) बहुलग्रहण की अनुवृत्ति से वर्णसमुदाय में भी ('कार' प्रत्यय) लगता है। अःकार के द्वारा प्रथमा विभक्ति का बोध होता है।

(क) ५।१९ से 'सपूर्व' (अन्त्य वर्ण अपने पूर्ववर्ती वर्ण के सहित) लोप को प्राप्त करता है। अतः इस सूत्र में 'सपूर्व' को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ख) ५।२५ से 'लपर' ('ल्' से पूर्व में विद्यमान तकार और नकार) विकार (=लकार) को प्राप्त करते हैं। अतः इस सूत्र में 'लपर' को प्रथमा विभक्ति-द्विवचन में रखा गया है।

(ग) २१।१२ से नासिक्य आगम के रूप में आते हैं। अतः 'नासिक्य' शब्द को प्रथमा विभक्ति-बहुवचन में रखा गया है।

(घ) प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से १।२८ का प्रस्तुत सूत्र (१।२३) के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। १।२४ का भी १।२३ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु १।२५—२७ का उपर्युक्त सूत्रों के साथ सम्बन्ध नहीं है। अतएव सूत्रकार को १।२५—२७ को १।२३—२४ तथा १।२८ के मध्य में नहीं रखना चाहिए था।

---

(१) ५।१९ (२) ५।२५ (३) २१।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य स्थाने यस्यापरो भवेत् ।
स्वतो गुणान्तरोपेतः स विकारीह तत्समः ॥
प्रकृतिस्थस्तु यश्शब्दः संहितायां न दृश्यते ।
तत्स्थाने च न शब्दोऽन्यस्स लोपी नश्वरोपमः ॥

एतेषामागमादीनां प्रथमाविभक्तिराख्या भवति । आगमस्य यथा—"त्रपुमिथुपूर्वश्शकारश्चपरः"[१] "हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्"[२] इति । विकारिणो यथा—"असम्पूर्वोऽरमृकारः"[३] "लपरौ लकारम्"[४] इति । लोपिनः—"ईं पूर्वौ मकारः"[५] इति ॥ २३ ॥

(आगम इत्यादि का लक्षण—) अन्यत्र विद्यमान (अविद्यमान ?) जो वर्ण (किसी स्थल पर) अधिक सुनाई पड़ता है, आये हुए के तुल्य होने से वह (वर्ण) आगम कहा गया है। पद-पाठ (प्रकृति) में स्थित जिस शब्द के स्थान में उसके समान (किंतु) स्वभावतः अन्य गुणों से युक्त अन्य (शब्द) हो जाये, तब वह (पद-पाठ में स्थित शब्द) विकारिन् (कहलाता है)। पद-पाठ (प्रकृति) में स्थित जो शब्द संहिता-पाठ में नहीं दिखलाई देता है और उसके स्थान पर अन्य शब्द भी नहीं आता है। नष्ट हो जाने वाले के समान वह (शब्द) लोपिन् (कहलाता है)।

इन; (आगमविकारिलोपिनाम् =) आगम इत्यादि का; (अःकार =) प्रथमा विभक्ति; निर्देशक (नाम) है। जैसे आगम के रूप में आने वाले का (नाम)—"त्रपु, मिथु पूर्व में होने पर और चकार बाद में होने पर (मध्य में) शकार का आगम होता है"क "नकार, णकार और मकार है बाद में जिसके ऐसे हकार से बाद में नासिक्य का आगम होता है"ख में। विकार को प्राप्त होने वाले का (नाम)—"असम् पूर्व में होने पर ऋकार अर् (विकार) हो जाता है"ग "लकार बाद में होने पर तकार और नकार लकार हो जाते हैं"घ में। लोप को प्राप्त

(क) ५।१४ में शकार का आगम होता है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार शकार को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ख) २१।१४ के अनुसार 'नासिक्य' का आगम होता है। अतः इस सूत्र (२१।१४) में 'नासिक्य' शब्द को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ग) ५।९ के अनुसार ऋकार विकार को प्राप्त करता है। अतः इस सूत्र (५।९) में ऋकार को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(घ) ५।२५ के अनुसार तकार और नकार विकार को प्राप्त करते हैं। अतः इस सूत्र (५।२५) में तकार और नकार की अनुवृत्ति प्रथमा विभक्ति (तकारनकारौ) के रूप में होती है।

---

(१) ५।१४ (२) २१।१४ (३) ५।९
(४) ५।२५ (५) ५।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणं वा ॥ २४ ॥

मा०—एतेषामेवागमविकारिलोपिनां क्वचिद् ग्रहणं भवति। यथा—"त्रपुमिथुपूर्वः शकारश्चपरः"[१] इति। विकारिणः—"अथ नकारो णकारम्"[२]। लोपिनः—"ईं पूर्वो मकारः"[३] इति ॥ २४ ॥

त्रि०—तेषां आगमादीनां क्वचिद् ग्रहणं वा भवति। अःकारेण विनाऽपीति तात्पर्यम्। आगमस्य यथा—"आदिरँ हतिः"[४] इत्यादि। विकारिणो यथा—"हन्यादुप्यमानं च"[५] इत्यादि। लोपिनो यथा—"एष स स्यः"[६] इत्यादि ॥ २४ ॥

होने वाले का (नाम)—" 'ईम्' (यह पद) पूर्व में होने पर मकार (का लोप हो जाता है)"[क] में ॥ २३ ॥

सू० अ०—अथवा सूत्र में उद्धृत वैदिक शब्द (ग्रहण) (ही आगम इत्यादि का वाचक होता है)।

त्रि० अ०—उन आगम इत्यादि का कहीं कहीं; वा = विकल्प से; ग्रहणम् = सूत्र में उद्धृत वैदिक शब्द; (नाम) होता है। अःकार के बिना ही—यह तात्पर्य है[ख]। जैसे—आगम का—"अँ हतिः" के आदि में ('अनुस्वार' का आगम होता है)" इत्यादि[ग]। जैसे—विकारिन् का—"हन्यात् और उप्यमानम् (में नकार णकार हो जाता है)" इत्यादि।[घ] जैसे—लोपिन् का—"एषः, सः और स्यः (का 'विसर्ज-

---

(क) ५।१२ के अनुसार मकार लोप को प्राप्त करता है। अतः इस सूत्र (५।१२) में मकार को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र १।२३ का अपवाद है। आगम के रूप में आने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले और लोप को प्राप्त होने वाले वर्णों का निर्देश प्रातिशाख्य के सूत्रों में सर्वदा प्रथमा विभक्ति में ही नहीं किया गया है। कहीं-कहीं सम्बद्ध वैदिक पदों को सूत्रों में उद्धृत कर दिया गया है।

(ग) 'अँ हतिः' में 'अनुस्वार' का आगम हुआ है। १।२३ के अनुसार 'अनुस्वार' को प्रथमा विभक्ति में न रखकर 'अनुस्वार'—समन्वित वैदिक पद 'अँ हतिः' को सूत्र में उद्धृत कर दिया गया है।

(घ) 'हन्यात्' और 'उप्यमानम्' के नकार ७।३ के अनुसार णकार हो जाते हैं। १।२३ के अनुसार नकार को प्रथमा विभक्ति में न रखकर नकार—समन्वित वैदिक पदों को सूत्र में उद्धृत कर दिया गया है।

---

(१) ५।४ (२) ७।१ (३) ५।१२
(४) १६।२९ (५) ७।३ (६) ५।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—ग्रहणं पूर्वतरसूत्रे व्याख्यातम्। तदेव सूत्रस्थं वेदस्थस्य तस्याख्या भवति। "ग्रहणस्य च"[1] इत्युक्तं अकारान्तरूपं वा। न तु तत्र विभक्तिरिष्यते इत्यर्थः। विभक्तिनिवारणार्थमेवेदं सूत्रमत्र कृतम्। इतरथा "ग्रहणस्य च"[1] इत्येतस्मात्परं क्रियेत ॥ २४ ॥

आसन्नँ सन्देहे ॥ २५ ॥

मा०—आसन्नस्य चाक्षरस्य पदस्य वा ग्रहणं भवति। "एवोत्तरे"[2], "उत्तमे"[3], "आपूषती"[4] इति ॥ २५ ॥

नीय' लुप्त हो जाता है)" इत्यादि[क] ॥ २४ ॥

वै० अ०—'ग्रहण' की पूर्वतर (पूर्ववर्ती से पहले वाले = १।२२) सूत्र में व्याख्या कर दी गई है। वही (ग्रहण = वैदिक पद) जब सूत्र में स्थित हो जाता है (अर्थात् जब सूत्र में उद्धृत कर दिया जाता है) तब (वह उद्धृत पद) वेद में स्थित उस (वैदिक पद) का निर्देशक (नाम) होता है। अथवा "(अकार) वैदिक पद का (निर्देशक होता है)"—इस (सूत्र) में कहा गया अकारान्त रूप (निर्देशक होता है)।[ख] वहाँ पर विभक्ति अभीष्ट नहीं होती है—यह अर्थ है। विभक्ति के संरक्षण (निवारण) के लिए ही इस सूत्र का यहाँ निर्माण किया गया है। अन्यथा "(अकार) वैदिक पद का भी (निर्देशक होता है)"—इस (सूत्र से) बाद में (प्रस्तुत सूत्र का) निर्माण किया जाता[ग] ॥ २४ ॥

(क) एषः, सः और स्यः के 'विसर्जनीय' ५।१५ से लोप को प्राप्त करते हैं। लोप को प्राप्त होने वाले 'विसर्जनीय' को १।२३ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में न रखकर 'विसर्जनीय' समन्वित वैदिक पदों को सूत्र में उद्धृत कर दिया गया है।

(ख) तात्पर्य यह है कि वैदिक पदों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में दो प्रकार से उद्धृत किया गया है—(१) वैदिक पद के मूल रूप (प्रातिपदिक) के बाद में अकार को जोड़कर। इस अकारयुक्त प्रातिपदिक से सम्बद्ध वैदिक पद के सभी रूपों का ग्रहण होता है, (२) वैदिक पदों को विभक्ति के सहित उल्लिखित करके। विभक्ति-सहित वैदिक पदों को ही प्रातिशाख्य के सूत्रों में अधिकतर उद्धृत किया गया है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार विभक्ति-सहित वैदिक पद का ग्रहण होता है जब कि १।२२ के अनुसार विभक्ति-रहित पद का। यदि यहाँ (= प्रस्तुत सूत्र में) भी विभक्ति की अपेक्षा न होती तो प्रस्तुत सूत्र को भी १।२२ के बाद रख दिया जाता। १।२३ में विभक्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो गया है। प्रस्तुत सूत्र में भी उस प्रसङ्ग की अनुवृत्ति हो जाती है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार विभक्ति-सहित वैदिक पद अपेक्षित है।

---

(१) १।२२ (२) ४।११
(३) ४।११ (४) ४।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि० —सन्देहे सति आसन्नं वर्णं पदं वा गृह्णीयात्। "स्वयमातृण्णां च विकर्णीं चोत्तमे"[१] इत्यत्र चकारद्वयसम्भवात् प्रग्रहनिमित्तत्वेन कतरस्योपादानं कर्तव्यमिति सन्देहे यदासन्नं कार्यभाजस्तदेव स्वीकर्तव्यं—"चोत्तमे"[२] इति सूत्रे। वर्णस्य यथा—"आपृषती"[३] इत्यादि ॥ २५ ॥

सू० अ०—सन्देह होने पर समीपस्थ (वर्ण अथवा पद) का (ग्रहण होता है)।

त्रि० अ०—सन्देहे = सन्देह होने पर; आसन्नम् = समीपस्थ; वर्ण अथवा पद का ग्रहण करना चाहिए। "स्वयमातृण्णां च विकर्णीं चोत्तमे"—यहाँ पर दो चकारों के सम्भव होने पर 'प्रग्रह' के निमित्त के रूप में किसका ग्रहण करना चाहिए—यह सन्देह होने पर कार्य को प्राप्त करने वाले (उत्तमे) के जो समीप है उसी को स्वीकार करना चाहिए—" 'च' पूर्वक 'उत्तमे' (पद) ('प्रग्रह' होता है)"—इस सूत्र में। जैसे—वर्ण का (ग्रहण)—" 'आपृषती' (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)"[क] इत्यादि ॥ २५ ॥

(क) जब किसी नियम के सन्दर्भ में किसी वैदिक पद को किसी सूत्र में उद्धृत किया जाता है तब कभी-कभी यह सन्देह हो जाता है कि सूत्र में उद्धृत यह शब्द वेद के किस अंश से उद्धृत है। यह सन्देह तभी होता है जब वह शब्द वेद के अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता हो। ऐसे स्थलों पर सूत्रकार सम्बद्ध पद के साथ-साथ उसके समीपवर्ती पद को भी सूत्र में उद्धृत कर देते हैं। उदाहरण—(१) ४।११ में सूत्रकार ने अनेक अन्य पदों की भाँति 'उत्तमे' पद के 'प्रग्रह' होने का विधान किया है। किन्तु 'उत्तमे' पद तै० सं० में अनेक बार आया है। किसी को सन्देह हो सकता था कि क्या तै० सं० में विद्यमान सभी 'उत्तमे' पद 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं। इस सन्देह के निवारण के लिए उन्होंने 'उत्तमे' के साथ-साथ उसके पूर्ववर्ती 'च' पद को भी उद्धृत कर दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संहितास्थ वही 'उत्तमे' पद 'प्रग्रह' होता है, जिसके पूर्व में 'च' पद हो, (२) सूत्रकार ने ४।१५ में अनेक अन्य पदों की भाँति 'पृषती' के 'प्रग्रह' होने का विधान किया है। किसी को सन्देह हो सकता था कि क्या संहितास्थ सभी 'पृषती' पद 'प्रग्रह' होते हैं। इस सन्देह के निवारण के लिए सूत्रकार ने 'पृषती' के साथ-साथ उसके पूर्ववर्ती 'आ' वर्ण को भी उद्धृत कर दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संहितास्थ वह 'पृषती' पद 'प्रग्रह' होता है जिसके पूर्व में 'आ' वर्ण होता है।

किन्तु भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ अन्य प्रकार से किया है। उनके अनुसार 'चोत्तमे' में यह संदेह होता है कि 'उत्तमे' के पूर्ववर्ती दो 'च' पदों में कौन सा 'च' पद 'उत्तमे' के प्रग्रहत्व का निमित्त है। प्रस्तुत सूत्र की सहायता से यह ज्ञात होता

---

(१) ५।३।७ (२) ४।११ (३) ४।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—यस्मिन् विधौ विशेष्यमेव वा, विशेषणमेव वा निर्दिश्यते, विशेषणताऽर्हं विशेष्यताऽर्हं च अनेकं प्रकृतं, तत्र कतरदस्य विशेषणं कतरदस्य विशेष्यमिति वा; (सन्देहे =) संशये; आसन्नं प्रत्येतव्यम्। यथा—"अमी चक्षुषी"[1] इत्याद्यनुक्रम्य "पूर्वश्च"[2] इति वक्ष्यते तत्र कस्मात्पूर्वं इति विशेषणाकांक्षायां आसन्नो द्यावापृथिवीशब्द एव प्रत्येतव्यः विशेषणतया। न व्यवहितास्ततः पूर्वशब्दाः। तथा—"जपरो जकारम्"[3] इति विशेषणनिर्देशे प्रकृतयोः नकारतकारयोः आसन्नस्तकार एव विशेष्यतया प्रत्येतव्यः। अन्ये तु व्याचक्षते—आसन्नं शब्दरूपं कार्यविधिषु दृश्यमानं सन्देहे उपतिष्ठते। सन्देहस्यैव निवृत्यर्थं तद्ग्रहीष्यते

वै० अ०—जिस विधि में विशेष्य का ही अथवा विशेषण का ही निर्देश किया जाता है और विशेषणता के योग्य और विशेष्यता के योग्य अनेक (शब्द) प्रकृत हों, वहाँ इस (= विधि में निर्दिष्ट विशेष्य) का कौन विशेषण है अथवा इस (विधि में निर्दिष्ट विशेषण) का कौन विशेष्य है—यह; (संदेहे =) संशय होने पर; आसन्नम् = समीपस्थ (शब्द) को; (विशेषण अथवा विशेष्य) जानना चाहिए। जैसे—"अमी, चक्षुषी ('प्रग्रह' होते हैं)" इत्यादि का अनुक्रमण करके "इससे पूर्ववर्ती (पदान्त ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है"—यह कहा जायेगा। वहाँ किससे पूर्ववर्ती—यह विशेषण की आकांक्षा होने पर समीपस्थ 'द्यावापृथिवी' शब्द को ही विशेषण के रूप में जानना चाहिए। उससे व्यवहित पूर्ववर्ती शब्दों को नहीं।[क] उसी प्रकार "ज बाद में होने पर जकार हो जाता है"—यहाँ विशेषण का निर्देश होने पर प्रकृत नकार और तकार में से समीपस्थ तकार को ही विशेष्य के रूप में जानना चाहिए।[ख] किन्तु दूसरे लोग कहते हैं—कार्य-विधियों में दिखलाई पड़ने वाला समीपस्थ शब्द सन्देह होने पर उपस्थित होता है। उसका ग्रहण संदेह

है कि 'उत्तमे' का समीपस्थ 'च' प्रग्रहत्व का निमित्त है। ४।२३ का व्याख्यान करते समय भाष्यकार ने अपने अर्थ के अनुसार ही प्रस्तुत सूत्र को दो बार उद्धृत किया है।

(क) ४।१३ में कहा गया है कि पूर्ववर्ती वर्ण 'प्रग्रह' होता है। वहाँ यह सन्देह होता है कि ४।१२ में उल्लिखित 'अमी', 'चक्षुषी' इत्यादि सभी पदों से पूर्ववर्ती वर्ण 'प्रग्रह' होता है अथवा समीपस्थ 'द्यावापृथिवी' पद से पूर्ववर्ती वर्ण ?—इस संदेह की निवृत्ति प्रस्तुत सूत्र से होती है। प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि समीपस्थ 'द्यावापृथिवी' शब्द से पूर्ववर्ती वर्ण 'प्रग्रह' होता है।

(ख) ५।२३ में यह कहा गया है कि जकार बाद में होने पर जकार होता है। वहाँ यह संदेह होता है कि क्या नकार जकार होता है या तकार जकार होता है। दोनों प्रकृत हैं। इस संदेह की निवृत्ति प्रस्तुत सूत्र से होती है। प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि समीपस्थ तकार जकार होता है।

---

(१) ४।१२ (२) ४।१३ (३) ५।२३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तु तस्य पृथक्त्वे कार्यनिवृत्त्यर्थम्। यथा—"सेदु होता"[१] इत्यत्र विसर्जनीयलोप-निमित्तस्य इच्छब्दस्यासन्नं उ इत्येतत्—"स इज्जनेन"[२] इत्यादि विषयत्वसन्देह-निवृत्यर्थमेव गृह्यते। न तु क्रमाध्याये "सेत्। इदु।"[१] इत्यत्र उशब्दस्य पृथक्त्वे लोप-निवृत्यर्थमिति। तेन तस्य पृथक्त्वेऽपि सेदिति रूपसिद्धिः। तदयुक्तम्। न हि "स इज्जनेन"[२] इत्यादिषु सन्देहोऽस्ति। किन्तु—अतिव्याप्तिरेव। यदप्युच्यते, "पूर्वजे प्रभृ-त्याऽयम्"[१] इत्यत्र कतरस्य पूर्वजेशब्दस्य ग्रहणमिति संशये उत्तरावधेरासन्नः पूर्वजेशब्दो गृह्यत इति। तत्त्वयुक्ततर अनिष्टावहत्वात्। "नानिष्टार्थे शास्त्रप्रवृत्तिः" इति हि न्यायविदां निष्ठा ॥ २५ ॥

की निवृत्ति के लिए किया जाता है, उसके पृथक् होने पर कार्य की निवृत्ति के लिए नहीं। जैसे "सेदु होता" में विसर्जनीय के लोप के निमित्त 'इत्' शब्द के पास में रखा हुआ 'उ'—यह (पद)—"स इज्जनेन" इत्यादि में लक्ष्यत्व (विषयत्व) के सन्देह की निवृत्ति के लिए ग्रहण किया जाता है। ('उ' शब्द का ग्रहण)—"सेत्। इदु"—इस क्रम-पाठ में 'उ' शब्द के पृथक् होने पर लोप की निवृत्ति के लिए नहीं है। इससे उसके पृथक् होने पर भी 'सेत्'—इस रूप की सिद्धि होती है। यह (मत) अयुक्त है। क्योंकि "स इज्जनेन" इत्यादि में सन्देह नहीं है। किंतु अतिव्याप्ति ही है।[क] यह जो कहा जाता है, "'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' पर्यन्त (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—यहाँ पर कौन से 'पूर्वजे' शब्द का ग्रहण होता है—यह संशय होने पर परवर्ती सीमा के समीप में स्थित 'पूर्वजे' शब्द का ग्रहण होता है। यह तो और भी अयुक्त है, क्योंकि यह अनिष्ट का सम्पादक है।[ख] "न्याय-वेत्ताओं की यह निष्ठा है कि अनिष्ट अर्थ में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है" ॥२५॥

(क) ५।१७ में यह विधान किया गया है कि 'इदु' (इत्+उ) बाद में होने पर 'सः' के 'विसर्जनीय' का लोप हो जाता है। इससे 'सेदु' (सः+इत्+उ) रूप निष्पन्न होता है। पूर्वपक्षी के अनुसार यहाँ 'इत्' 'विसर्जनीय' के लोप का निमित्त है और 'उ' इस संदेह की निवृत्ति करता है कि क्या ५।१७ से "स इज्जनेन" में भी 'विस-र्जनीय' का लोप होता है? ५।१७ से 'विसर्जनीय' का लोप तभी होता है जब 'इत्' के बाद में 'उ' हो। अत एव "स इज्जनेन" ५।१७ का विषय नहीं है। भाष्यकार का कहना है कि "स इज्जनेन" में संदेह नहीं है, अतिव्याप्ति है। अतिव्याप्ति के कारण "स इज्जनेन" में ५।१७ से 'विसर्जनीय' का लोप नहीं होता है।

(ख) ४।२३ में यह विधान किया गया है कि 'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' पर्यन्त (पदों के अन्तिम ईकार और एकार 'प्रगृह्य' संज्ञक होते हैं)। सम्बद्ध स्थल यह है—"पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उप-हूतोऽयम्" (२।६।७)। सूत्रकार के अनुसार सम्बद्ध अंश की पूर्ववर्ती अवधि

---

(१) १।१।१४ (२) २।३।१४ (३) ४।२३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकस्यापि ॥ २६ ॥

मा०—सन्देहे एव। अनेकपदसमुदायस्य वर्णसमुदायस्य वा आसन्नस्य ग्रहणं भवति। यथा—"वाघाषपूर्वस्तष्टम्"[1] इति ॥ २६ ॥

त्रि०—सन्देहे अनेकस्य पदस्य वर्णस्य वा ग्रहणं भवति। अपिशब्दः सन्देह इत्यन्वादिशति, यथा—"तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः"[2] "एवोत्तरे"[3] इत्यादि ॥ २६ ॥

वै०—उक्तस्य क्वचिदपवादमाह—

सू० अ०—एक से अधिक (वर्ण अथवा पद) का भी (ग्रहण होता है)।

त्रि० अ०—सन्देह होने पर; अनेकस्य = एक से अधिक; पदों का या वर्णों का ग्रहण होता है। 'अपि' शब्द (१।२५ से) 'संदेह होने पर' का अन्वादेश करता है। जैसे—"तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः";क "एवोत्तरे"ख इत्यादि ॥ २६ ॥

वै० अ०—(१।२५ में) उक्त का कहीं पर अपवाद कहते हैं—

'पूर्वजे' पद तथा उत्तरवर्ती अवधि 'अयम्' पद है। पूर्वपक्षी का कहना है कि इस अंश में 'पूर्वजे' पद दो बार आया है। इस अवस्था में यह संदेह होता है कि इस अंश की पूर्ववर्ती अवधि प्रथम 'पूर्वजे' पद है अथवा द्वितीय 'पूर्वजे' पद। "संदेह होने पर समीपस्थ का ग्रहण करना चाहिए"—इस प्रस्तुत नियम के अनुसार परवर्ती अवधि ('अयम्' पद) के समीप में स्थित द्वितीय 'पूर्वजे' पद का ग्रहण करना चाहिए। भाष्यकार का कहना है कि यह अयुक्त है, क्योंकि इससे 'ऋतावरी' पद के ईकार के प्रगृह्यत्व की सिद्धि नहीं होती, जब कि 'ऋतावरी' का ईकार वस्तुतः 'प्रगृह्य' है। इस प्रकार द्वितीय 'पूर्वजे' पद को पूर्ववर्ती अवधि मानना अनिष्ट है, अस्वीकार्य है। पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया प्रस्तुत सूत्र (१.२५) का अर्थ भी अयुक्त है, क्योंकि यह अनिष्ट का सम्पादक है।

(क) ५।१९ में यह विधान किया गया है कि 'तिष्ठन्ति' पद के बाद में स्थित 'एकया' पद का अन्तिम वर्ण (आ) पूर्व (य्) के सहित लुप्त हो जाता है। संदेह हो सकता है कि क्या संहितास्थ सभी 'एकया' पदों के अन्तिम वर्ण पूर्वसहित लुप्त हो जाते हैं। इस संदेह के निवारण के लिए सूत्रकार ने ५।१९ में 'तिष्ठन्ति' पद को भी उद्धृत कर दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'तिष्ठन्ति' पद के बाद में स्थित 'एकया' पद का अन्तिम वर्ण ही पूर्वसहित लुप्त होता है। भाष्यकार का यह उदाहरण ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यह उदाहरण तो १।२५ का विषय है। यहाँ एक ही पद का ग्रहण किया गया है, एक से अधिक पदों का नहीं।

(ख) पृ० ८२ पर व्याख्यात "चोत्तमे" के समान "एवोत्तरे" भी १।२५ का विषय है। प्रस्तुत सूत्र का यह उदाहरण भी ठीक प्रतीत नहीं होता है।

---

(१) ७।१३ (२) ५।१९ (३) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र तु विशेषणस्य द्विबहुवचनान्ततया अनेकाकांक्षा भवति, तत्रानेकस्यापि प्रकृतस्य सम्प्रत्ययो भवति। "लपरौ लकारम्"[1] इति तकारनकारयोः। "नकार एतेषु ञकारम्"[2] इति शचछजानाम्। न त्वासन्नस्यैकस्य नकारस्य जकारस्य वा व्यक्तिभेदाश्रयणेन द्विवचनबहुवचने उपपाद्ये ॥ २६ ॥

जहाँ पर विशेषण के द्विवचनान्त अथवा बहुवचनान्त होने से एक से अधिक (विशेष्यों) की आकांक्षा होती है, वहाँ एक से अधिक भी प्रकृत का ज्ञान होता है। "लकार बाद में होने पर (तकार और नकार) लकार (हो जाते हैं)" में तकार और नकार का।[क] "ये (श, च, छ, ज) बाद में हों तो नकार ञकार (हो जाता है)" में श, च, छ और ज का।[ख] समीपस्थ एक नकार और जकार के व्यक्तिभेदों का आश्रय लेकर द्विवचन और बहुवचन का उपपादन नहीं करना चाहिए।[ग] ॥ २६ ॥

(क) ५।२५ में यह विधान किया गया है कि लकार बाद में होने पर वे दोनों लकार हो जाते हैं। यहाँ द्विवचन की सामर्थ्य से तकार और नकार—इन दो (अनेक) वर्णों—का ग्रहण होता है।

(ख) ५।२४ में यह विधान किया गया है कि ये बाद में हों तो नकार ञकार हो जाता है। यहाँ बहुवचन के सामर्थ्य से श, च, छ और ज—इन चार (अनेक) वर्णों—का ग्रहण होता है।

(ग) पूर्वपक्षी—५।२५ में द्विवचन की उपपत्ति के लिए दो वर्णों (त और न) का तथा ५।२४ में बहुवचन की उपपत्ति के लिए बहुत वर्णों (श, च, छ और ज) का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। समीपस्थ एक-एक वर्ण—क्रमशः नकार और जकार का ही ग्रहण करना चाहिए। द्विवचन और बहुवचन की उपपत्ति के लिए लकार के पूर्ववर्ती नकार (५।२४) और नकार के परवर्ती जकार (५।२३) के व्यक्तिभेदों का आश्रय लेना चाहिए। अर्थात् ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जहाँ लकार का पूर्ववर्ती नकार लकार हुआ है। ऐसे उदाहरणों में दो नकारों को पृथक्-पृथक् करके गिन लेना चाहिए। उसी प्रकार ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जहाँ जकार बाद में होने पर नकार ञकार हुआ है। ऐसे उदाहरणों के प्रत्येक जकार को पृथक्-पृथक् करके गिन लेना चाहिए। इससे बहुवचन की उपपत्ति हो जाती है।

सिद्धान्ती—वर्ण-जाति को एक माना जाता है, व्यक्ति भेदों को स्वीकार नहीं किया जाता है (पृ० २३ पर टि० क) को देखिए)। व्यक्तिभेदों का आश्रय नहीं लेना चाहिए। टि० (क) और (ख) के अनुसार ५।२५ में दो वर्णों (तकार और नकार) और ५।२४ में बहुत वर्णों (श, च, छ और ज) का ग्रहण होता है। इससे ही सम्बद्ध सूत्रों का अभीष्ट व्याख्यान होता है।

---

(१) ५।२५ (२) ५।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या ॥ २७ ॥

मा०—वर्गाणां प्रथमो वर्गः वर्गशब्दोत्तरो वर्गस्याख्या भवति। यथाह—"हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति"[१] इति ॥२७॥

त्रि०—(वर्गोत्तरः=) वर्गशब्दोत्तरः; प्रथमः; (वर्गाख्या =) स्ववर्गस्याख्या; भवति, यथा—"टवर्गश्च तवर्गपरः"[२] इति। वर्गशब्द उत्तरो यस्मादसौ वर्गोत्तरः ॥२७॥

वै० —वर्गशब्द उत्तरो यस्मात्स तथोक्तः। अत्र भाविप्रयोगानुसारेणाकारान्ततया निर्दिष्टः। (प्रथमः=) प्रथमाख्यो वर्णः; (वर्गोत्तरः=) वर्गशब्दान्तः; (वर्गाख्या =) तदादेर्वर्गस्याख्या; भवतीति वेदितव्यम्। यथा—"कवर्गे स्पर्शयति"[३], "टवर्गश्च तवर्गपरः"[४] इति। निर्वचनं तु—कस्य वर्गः कवर्गः, टस्य वर्गष्टवर्ग इति ॥२७॥

सू० अ०—'वर्ग' शब्द है बाद में जिसके ऐसा 'प्रथम' (अपने सम्पूर्ण) 'वर्ग' का नाम (होता है)।

त्रि० अ०—(वर्गोत्तरः =) 'वर्ग' शब्द है बाद में जिसके ऐसा; प्रथमः = प्रथम ('स्पर्श'); (वर्गाख्या =) अपने वर्ग का नाम; होता है।[क] जैसे—"तवर्ग बाद में होने पर टवर्ग (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"। 'वर्ग' शब्द है बाद में जिससे वह = वर्गोत्तर ॥ २७ ॥

वै० अ०—'वर्ग' शब्द है बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (अर्थात् 'वर्गोत्तर') है। आगे होने वाले प्रयोग के अनुसार अकारान्त के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[ख] (प्रथमः =) 'प्रथम' संज्ञक वर्ण; (वर्गोत्तरः =) 'वर्ग' शब्द बाद में होने पर; (वर्गाख्या =) उस (प्रथम) से प्रारम्भ होने वाले 'वर्ग' का नाम; होता है - यह जानना चाहिए। जैसे—"कवर्ग (के उच्चारण) में जिह्वामूल से हनुमूल पर स्पर्श करना चाहिए", "तवर्ग बाद में होने पर टवर्ग (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"। निर्वचन तो (यह है)—'क' का 'वर्ग' = कवर्ग, 'ट' का 'वर्ग' = टवर्ग ॥ २७ ॥

(क) तात्पर्य यह है कि यदि प्रथम 'स्पर्श' के बाद में 'वर्ग' शब्द लगा दिया जाये तो वह अपने पूरे वर्ग का बोधक होता है। इस प्रकार कवर्ग = क ख ग घ ङ; चवर्ग = च छ ज झ ञ; टवर्ग = ट ठ ड ढ ण; तवर्ग = त थ द ध न; पवर्ग = प फ ब भ म।

(ख) कवर्ग से तात्पर्य है क् ख् ग् घ् ङ् इत्यादि। इस प्रकार कवर्ग = क्वर्ग। किन्तु 'स्वर' के बिना 'व्यञ्जन' का उच्चारण नहीं होता है। अतएव क्वर्ग इत्यादि के स्थान पर कवर्ग इत्यादि का निर्देश किया जाता है।

---

(१) २।३५ (२) १४।२० (३) २।३५ (४) १४।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अं विकारस्य ॥ २८ ॥

मा०—अमित्येष शब्दो विकारस्य ग्राहको भवति। यथा—"असंपूर्वोऽरमृकारः"[१] इति ॥ २८ ॥

त्रि०—अमिति शब्दो विकारस्याख्या भवति। अमिति द्वितीयाविभक्तेरुपलक्षणम्। यथा—"प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थम्",[२] "अथ नकारो णकारम्"[३] ॥ २८ ॥

वै०—अमिति द्वितीया विभक्तिरुपलक्ष्यते—

स विकारो यदन्यस्य स्थाने शब्दान्तरं स्मृतम्।
द्वितीयया तु निर्देशे तस्यैव प्रत्ययो मतः ॥

यथा—"असंपूर्वोऽरमृकारः"[४]। "उदात्तमुदात्तवति"[५]। अत्र द्वितीया विभक्तिः शब्दान्तर-

---

सू० अ०—'अम्' विकार का (निर्देशक है)।

त्रि० अ०—अम्—यह; विकारस्य = विकार का; निर्देशक (नाम) होता है। 'अम्'—यह द्वितीया विभक्ति का बोधक है।[क] जैसे—"प्रथम 'स्पर्श' पूर्व में होने पर हकार (उस प्रथम 'स्पर्श' के समान स्थान वाला) चतुर्थ ('स्पर्श' हो जाता है)", "नकार णकार (हो जाता है)"[ख] ॥ २८ ॥

वै० अ०—'अम्'—इसके द्वारा द्वितीया विभक्ति का बोध होता है—

अन्य (शब्द) के स्थान पर जो अन्य शब्द (ध्वनि, वर्ण) आता है, उसे विकार माना जाता है। द्वितीया के द्वारा निर्देश होने पर उसका ही ज्ञान होता है। जैसे—"असम् पूर्व में होने पर ऋकार अर् (हो जाता है)", "(पहले या बाद में या दोनों ओर) 'उदात्त' होने पर (वे दोनों मिलकर) 'उदात्त' (वर्ण) (हो जाते हैं)"। यहाँ पर दूसरे शब्द के स्थान पर आने वाले विकार का ही नियामक द्वितीया विभक्ति है, गुणविकार का नहीं।[ग] इससे "...पूर्ववर्ती 'स्वर' 'अनुनासिक' होता

(क) तात्पर्य यह है कि जब कोई वर्ण विकार को प्राप्त करता है तो १।२३ के अनुसार विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण प्रथमा विभक्ति में रखा जाता है। किन्तु विकार के परिणामस्वरूप आने वाला वर्ण प्रस्तुत सूत्र के अनुसार द्वितीया विभक्ति में रखा जाता है।

(ख) इन स्थलों पर 'चतुर्थ' तथा 'णकार'—इन दोनों शब्दों को द्वितीया विभक्ति में रखा गया है, क्योंकि ये विकार हैं = विकार के परिणामस्वरूप आते हैं।

(ग) तात्पर्य यह है कि जब एक वर्ण (विकारिन्) के स्थान पर दूसरा वर्ण (विकार) आता है, तब दूसरा वर्ण (विकार) द्वितीया विभक्ति में रखा जाता है। किन्तु

---

(१) ५।९ (२) ५।३८ (३) ७।१
(४) ५।९ (५) १०।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकारस्यैव नियम्यते। न तु गुणविकारस्य। तेन—"पूर्वस्वरोऽनुनासिकः",[१] "अनुदात्तानां प्रचयः"[२] इत्यादिगुणविधिषु निर्देश उपपद्यते ॥ २८ ॥

पूर्व इति पूर्वः ॥ २९ ॥

मा०—पूर्व इति यो यस्मात् पूर्वः तत्पूर्वस्य ग्रहणं भवति। यथा—"मलिम्लु बृहस्पतिपूर्वः"[३] इति ॥ २९ ॥

त्रि०—(पूर्व इति पूर्वः =) यः पूर्वशब्देन विशिष्यते स तत्रैव स्वेन रूपेणोपलक्षितो ज्ञातव्यः, न तु रूपसामान्यादन्यो भिन्नदेशस्थः। यथा—"द्यावापृथिवी"[४] "पूर्वश्च"[५] इति ग्रग्रहो भवतीति वक्ष्यति। पूर्वत्वात् "यावती द्यावापृथिवी महित्वा"[६] इति यावतीशब्दः ग्रग्रहः। "यावती वै पृथिवी"[७] इति तु न स्यात् ग्रग्रहः ॥ २९ ॥

है", " 'स्वरित' से बाद में आने वाले अनुदात्तों का···'प्रचय' (संज्ञक धर्म होता है)"—इत्यादि गुणविधियों में निर्देश उपपन्न होता है[क] ॥ २८ ॥

सू० अ०—'पूर्व'—इससे पूर्व का (ग्रहण होता है)।

त्रि० अ०—(पूर्व इति पूर्वः =) जो पूर्व शब्द से विशिष्ट होता है उसे वहीं पर (उसी स्थिति से) अपने ही रूप से उपलक्षित जानना चाहिए, न कि समान रूप वाला होने के कारण भिन्न स्थान में स्थित (शब्द) भी। जैसे—"···द्यावापृथिवी ('ग्रग्रह' होता है)", " ('द्यावापृथिवी' से) पूर्व वाला भी"—'ग्रग्रह' होता है—यह कहेंगे। पूर्ववर्ती होने के कारण "यावती द्यावापृथिवी महित्वा" में 'यावती' शब्द 'ग्रग्रह' है। "यावती वै पृथिवी" में तो ('यावती' शब्द) 'ग्रग्रह' नहीं हुआ[ख] ॥२९॥

जब एक गुण (विकारिन्) दूसरा गुण (विकार) हो जाता है, तब दूसरा गुण (विकार) द्वितीया विभक्ति में नहीं रखा जाता है।

(क) इन उदाहरणों में 'अनुनासिक' और 'प्रचय' विकार के परिणामस्वरूप आने वाले गुण हैं। अत एव इनको द्वितीया विभक्ति में नहीं रखा गया है। इसके विपरीत 'अर्' और 'उदात्त' (वर्ण) विकार के परिणामस्वरूप आने वाले शब्द (ध्वनि) हैं। अत एव इनको द्वितीया विभक्ति में रखा गया है।

(ख) ४।१२ में सूत्रकार ने अनेक शब्दों के साथ 'द्यावापृथिवी' शब्द के 'ग्रग्रह' होने का विधान किया है। ४।१३ में उन्होंने विधान किया है कि 'द्यावापृथिवी' से पूर्ववर्ती पद भी 'ग्रग्रह' होता है। इससे 'यावती' पद 'ग्रग्रह' हुआ। किन्तु इससे सभी स्थितियों में उपस्थित 'यावती' पद 'ग्रग्रह' नहीं होता है। केवल वही 'यावती'

---

(१) १५।१ (२) २१।१० (३) ६।७ (४) ४।१२
(५) ४।१३ (६) ३।२।६ (७) ५।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(पूर्व इति =) अस्मात्पूर्वः; कार्यभागिति विधाने; (पूर्वः=) तत्पूर्वदेशस्थः; एव प्रत्येतव्यः। न तु तत्स्वरूपोपलक्षणमाश्रित्य देशान्तरस्थोपि। तद्यथा—"द्यावापृथिवी"[१] "पूर्वश्च"[२] इति "यावती द्यावापृथिवी"[३] इत्यत्र यावतीशब्दान्तः प्रग्रहो विधीयते। ततः "यावती पौर्णमासी"[४] इत्यादावपि प्रग्रहत्वं न कल्प्यम् ॥ २९ ॥

पर इत्युत्तरः ॥ ३० ॥

मा०—पर इति यो यस्मादुत्तरः तत्परस्य ग्रहणं भवति। यथा—"ककुच्च मकार-परः"[५] इति ॥ ३० ॥

त्रि०—(पर इत्युत्तरः =) यः पर इतिशब्देन विशिष्यते, सोऽपि तत्रैव स्वेन रूपेण प्रत्येतव्यः। यथा—"द्वे"[६] "परश्च"[७] इति प्रग्रहो भवतीति वक्ष्यति। परत्वात् "द्वे जाये विन्दते"[८] इत्यत्र जायेशब्दः प्रग्रहः। "योनिरसि जाय एहि"[९] इत्यत्र तु न प्रग्रहः ॥ ३० ॥

वै० अ०—(पूर्व इति =) इससे पूर्ववर्ती; (पद) कार्य को प्राप्त करता है—यह विधान किया जाने पर; (पूर्वः =) उससे पूर्ववर्ती देश में स्थित; (पद) को ही जानना चाहिए। उस (पद) के स्वरूप के दर्शन मात्र को आश्रित करके अन्य स्थान में स्थित भी (पद) को नहीं (जानना चाहिए)। जैसे—"द्यावापृथिवी ('प्रग्रह' होता है)", "(द्यावापृथिवी से) पूर्व वाला भी ('प्रग्रह' होता है)" से "यावती द्यावापृथिवी"—यहाँ 'यावती' शब्द के अन्तिम 'स्वर' के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। इससे "यावती पौर्णमासी" इत्यादि में भी प्रग्रहत्व की कल्पना नहीं करनी चाहिए ॥ २९ ॥

सू० अ०—'परवर्ती'—इससे परवर्ती (का ग्रहण होता है)।

त्रि० अ०—(पर इत्युत्तरः =) जो 'परवर्ती'—इस शब्द से विशिष्ट होता है, उसे भी वहीं पर स्वकीय रूप से जानना चाहिए। जैसे—"द्वे (का अन्तिम 'स्वर' सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है)", "('द्वे' से) बाद वाला भी ('स्वर' = पदान्त ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। परवर्ती होने के कारण "द्वे जाये विन्दते"—यहाँ पर 'जाये' शब्द 'प्रग्रह' है। "योनिरसि जाय एहि"—यहाँ पर तो ('जाये' शब्द) 'प्रग्रह' नहीं है[क] ॥ ३० ॥

पद 'प्रग्रह' होता है जो 'द्यावापृथिवी' के अव्यवहित पूर्व में रखा हुआ हो। यही कारण है कि ३।२।६ में आया हुआ 'द्यावापृथिवी' से पूर्ववर्ती 'यावती' पद ही 'प्रग्रह' है, ५।२।३ में आया हुआ 'यावती' पद 'प्रग्रह' नहीं है क्योंकि उसके बाद में 'द्यावापृथिवी' पद नहीं है।

(क) ४।४९ में सूत्रकार ने 'द्वे' शब्द के 'प्रग्रह' होने का विधान किया है। ४।५० में उन्होंने विधान किया है कि 'द्वे' से परवर्ती पद भी 'प्रग्रह' होता है। इससे 'द्वे'

---

(१) ४।१२ (२) ४।१३ (३) ३।२।६ (४) १।६।९ (५) ८।४
(६) ४।४९ (७) ४।५० (८) ६।६।४ (९) १।७।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(पर इति =) अस्मात्परः; कार्यभागिति विधौ; (उत्तरः=) तदुत्तरदेशस्थः; एव प्रत्येतव्यः। न तत्स्वरूपो देशान्तरस्थोऽपि। यथा—"द्वे"[1] "परश्च"[2] इति "तस्मादेको द्वे जाये विन्दते"[3] इत्यत्र जायेशब्दः प्रगृह्यः। ततः "जाय एहि"[4] इत्यादावपि प्रगृह्यत्वं न कल्प्यम् ॥ ३० ॥

(ह्रस्व-संज्ञा)

ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ ॥ ३१ ॥

भा०—ऋकारश्च ऌकारश्च ह्रस्वसंज्ञौ भवतः। यथा—ऋ ऌ इति ॥ ३१ ॥

त्रि०—(ऋकारल्कारौ =) ऋकारश्च ऌकारश्च; (ह्रस्वौ =) ह्रस्वसंज्ञौ; भवतः। यथा—"ऋतवो वै"[5] "अक्लृप्तस्य क्लृप्त्यै"[6] ॥ ३१ ॥

वै०—ऋकारश्च ऌकारश्च ऋकारल्कारौ तौ ह्रस्वसंज्ञौ भवतः। "ब्रह्म देवा अवीवृधन्"[7] "क्लृप्ता ऋतवः"[8] "तेन च समानकालस्वरः"[9] इति वक्ष्यमाणेनात्रापि सिद्धे

वै० अ०—(पर इति =) इससे परवर्ती; (पद) कार्य प्राप्त करता है—यह विधान किया जाने पर; (उत्तरः =) उससे परवर्ती देश में स्थित (पद) को ही जानना चाहिए। उस (पद) के स्वरूप वाले अन्य स्थान में स्थित भी (पद) को नहीं (जानना चाहिए)। जैसे—"द्वे (का अन्तिम 'स्वर' सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है)" "('द्वे' से) बाद वाला भी ('स्वर' = पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)" से "तस्मादेको द्वे जाये विन्दते"—यहाँ पर 'जाये' शब्द 'प्रगृह्य' है। इससे "जाय एहि" इत्यादि में भी ('जाये' के) प्रगृह्यत्व की कल्पना नहीं करना चाहिए ॥३०॥

सू० अ०—ऋकार और ऌकार 'ह्रस्व' (संज्ञक होते हैं)।

त्रि० अ०—(ऋकारल्कारौ =) ऋकार और ऌकार; (ह्रस्वौ =) 'ह्रस्व'—संज्ञक; होते हैं। जैसे—"ऋतवो वै", "अक्लृप्तस्य क्लृप्त्यै" ॥ ३१ ॥

वै० अ०—ऋकारल्कारौ = ऋकार और ऌकार; वे दोनों; (ह्रस्वौ =) 'ह्रस्व'—संज्ञक; होते हैं। (उदाहरण —) "ब्रह्म देवा अवीवृधन्" "क्लृप्ता ऋतवः"। "उस (अकार के) समान काल वाला 'स्वर' (भी 'ह्रस्व', संज्ञक होता है)"—इस आगे कहे जाने वाले (सूत्र) से यहाँ पर (= ऋ, ऌ में) भी (ह्रस्वत्व की) सिद्ध

के बाद में स्थित 'जाये' पद 'प्रग्रह' हुआ। किन्तु इससे सभी स्थितियों में उपस्थित 'जाये' पद 'प्रग्रह' नहीं होता है। केवल वही 'जाये' पद 'प्रग्रह' होता है, जो 'द्वे' पद के अव्यवहित बाद में स्थित हो।

---

(१) ४।४९ (२) ४।५० (३) ६।६।४
(४) १।७।९ (५) ७।२।६ (६) ५।४।८
(७) १।१।४३ (८) ७।५।२० (९) १।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथग्वचनं मात्रावैषम्यशङ्कानिवृत्त्यर्थम्। न तु मात्रावैषम्यमङ्गीकृत्य ह्रस्वसंज्ञा विधीयते इति युक्तं कल्पयितुम्, सर्वशास्त्रेष्वप्रसिद्धत्वात् ॥ ३१ ॥

अकारश्च ॥ ३२ ॥

मा०—अकारश्च ह्रस्वसंज्ञो भवति। यथा—अ इति ॥ ३२ ॥

त्रि०—अकारश्च ह्रस्वसंज्ञो भवति। चकारो ह्रस्वमन्वादिशति। यथा—"अयं पुरः"[1] इति ॥ ३२ ॥

वै०—चशब्देन "ह्रस्वौ"[2] इत्यन्वादिश्यते। ततश्चात्र ह्रस्व इति विपरिणामादकारो ह्रस्वसंज्ञो भवति इत्यर्थः। "अवधूत ँ रक्षः"[3] ॥ ३२ ॥

तेन च समानकालस्वरः ॥ ३३ ॥

मा०—तेन अकारेण तुल्यकालस्वरश्च ह्रस्वसंज्ञो भवति। यथा—इकारः उकारश्च इत्यर्थः। अत्राह—अकारो ह्रस्वः, तेन च समानकालस्वर इत्यारब्धव्यम्, "ऋकार-ऌकारौ ह्रस्वौ"[4] इति नारब्धव्यम्। एवमारभ्यमाणे पुनरुक्ततया अलं प्रभवति। अत्रोच्यते—आरब्धव्यमेतत्। कस्मात्? ऋकार-ऌकारयो रेफलकारस्थानत्वात् कालव्यभिचारः स्यात्, न ह्रस्वत्वं गम्येत; तन्मा भूदिति एवमारभ्यते "ऋकार-ऌकारौ ह्रस्वौ"[4] ॥ ३३ ॥

होने पर पृथक् रूप से कथन मात्रा की विषमता (विभिन्नता) की शंका की निवृत्ति के लिए किया गया है। यह कल्पना करना युक्त नहीं है कि मात्रा की विषमता को स्वीकार करके 'ह्रस्व' संज्ञा का विधान किया जाता है[क], क्योंकि सभी शास्त्रों में यह अप्रचलित है (अर्थात् किसी भी शास्त्र में ऐसा नहीं किया गया है) ॥३१॥

सू० अ०—अकार भी ('ह्रस्व' संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—अकारश्च = अकार भी; 'ह्रस्व' संज्ञक होता है। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार 'ह्रस्व' का अन्वादेश करता है। जैसे—"अयं पुरः" ॥३२॥

वै० अ०—च शब्द के द्वारा 'ह्रस्वौ' का अन्वादेश किया जाता है। तदनन्तर उसका 'ह्रस्व'—यह विपरिणाम करके; अकारः = 'अकार; 'ह्रस्व' संज्ञक होता है—यह अर्थ है। (उदाहरण) "अवधूत ँ रक्षः" ॥३२॥

सू० अ०—उस (अकार के) समान काल वाला 'स्वर' भी (ह्रस्व' संज्ञक होता है)।

(क) वैदिकाभरणकार का कथन है कि सूत्रकार ने पृथक् सूत्र के द्वारा ऋ और ऌ के 'ह्रस्व' होने का जो विधान किया है उसके द्वारा वे यह बतलाना चाहते हैं कि ऋ और ऌ के उच्चारण में एक-एक मात्रा का ही समय लगता है, यद्यपि ऋ और ऌ स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक—इन दो—तत्त्वों के मेल से बने हैं।

---

(१) ४।३।२ (२) १।३१
(३) १।१।६ (४) १।३१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—तेन अकारेण यः; (समानकालस्वरः =) तुल्यकालस्वरः; स च ह्रस्वो भवति। अत्रापि चकारो ह्रस्वान्वादेशकः। समानकालस्वर इति इकार उकारश्चेत्यर्थः। सन्ध्यक्षराणां समानकालत्वाभावात्। यथा—"इषे त्वा"[1] "उप प्रयन्तः"।[2] अत्राह, अकारो ह्रस्वः, तेन च समानकालस्वर इत्यारब्धव्यम्। "ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ"[3] इति तु नारब्धव्यम् एवमारभ्यमाणे पुनरुक्तता गौरवं भवेदिति। उच्यते, आरब्धव्यमेवैतत्। कुतः ? ऋकारलृकारयोरन्तरा रेफलकारौ स्तः। तत्स्थानत्वादनयोः कालव्यभिचारः स्यात्, ह्रस्वत्वं न गम्येत, तन्मा भूदित्येवमारभ्यते, "ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ"[3] इति ॥ ३३ ॥

त्रि० अ०—जो ('स्वर'); तेन = उस, अकार के; (समानकालस्वरः =) तुल्य (उच्चारण) काल वाला 'स्वर' (होता है) वह; च=भी; 'ह्रस्व' होता है। यहाँ पर भी (सूत्र में प्रयुक्त) चकार 'ह्रस्व' का अन्वादेश करता है। समान काल वाला 'स्वर' = इकार और उकार—यह अर्थ है। संध्यक्षरों में (अकार के) समान काल का अभाव है (अत एव वे 'ह्रस्व' नहीं हैं)। जैसे—"इषे त्वा", "उप प्रयन्तः" (में 'इ' और 'उ' 'ह्रस्व' हैं)। यहाँ पर (अर्थात् इस विषय में) (पूर्वपक्षी ने) कहा है—"अकार 'ह्रस्व' (संज्ञक) है" "उससे समान काल वाला 'स्वर' भी ('ह्रस्व' है)"—इस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए था। "ऋकार और लृकार 'ह्रस्व' (संज्ञक) हैं"—इस प्रकार प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रारम्भ करने से पुनरुक्ति के कारण गौरव (दोष) होता है। (सिद्धान्ती) कहते हैं—इसी प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए। (पूर्वपक्षी) क्यों ? (सिद्धान्ती) ऋकार और लृकार के मध्य में रेफ और लकार विद्यमान हैं। इन दोनों (= ऋकार और लृकार) में उन (रेफ और लकार) के स्थित होने से काल की विषमता (व्यभिचार) हो जायेगी, ह्रस्वत्व की प्रतीति नहीं होगी। वह न होवे इसलिए इस प्रकार आरम्भ किया गया है—"ऋकार और लृकार 'ह्रस्व' हैं"क ॥३३॥

(क) पूर्वपक्षी—१।३२ और १।३३—इन दो सूत्रों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि अकार, इकार, उकार, ऋकार और लृकार 'ह्रस्व' हैं। तब १।३१ के द्वारा ऋकार और लृकार के ह्रस्वत्व का विधान क्यों किया गया है ? यह पुनरुक्ति मात्र होने से दोष है।

सिद्धान्ती—ऋकार और लृकार स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक तत्त्वों के मिश्रण से बने हुए हैं। ऋकार में रेफ और लृकार में लकार विद्यमान है। यह वस्तुस्थिति होने पर कोई यह शंका कर सकता है कि दो तत्त्वों से समन्वित होने के कारण ऋकार और लृकार का उच्चारण एक मात्रा काल में नहीं हो सकता है। एक मात्रा काल वाले 'स्वर' को ही 'ह्रस्व' कहते हैं। इससे ऋकार और लृकार 'ह्रस्व' संज्ञक भी नहीं होंगे। इस प्रकार की शंका के निवारण के लिए ही १।३१ में

---

(१) १।१।१ (२) १।५।५ (३) १।३१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—समानस्तुल्यः कालो यस्य स तथोक्तः। (तेन =) अकारेण; (समानकालस्वरः =) तुल्यकालस्वरः; ह्रस्वसंज्ञो भवति। कियान् पुनरकारस्य कालः? यावताऽयमुच्चार्यते। न चोच्चारणवैषम्यात्तदव्यवस्था स्यात्। "चाषस्तु वदते मात्राम्" इति शिक्षोक्तचाषरुतकालतुल्यस्य व्यवस्थितेः। तस्मादिकार उकारश्च ह्रस्व इति सिद्धम्। "मा त्वा हिँसिषम्"[१]। "ऊर्ध्वमिव हि पुँसः"[२]। नन्वत्राकार इकारउकारश्चेत्येकसूत्रेण सिद्धे किमर्थं गौरवमाश्रितम्। तदुच्यते—उत्तरसूत्रेऽकारतुल्यकालत्वं विधित्सितम्। तच्चोभयार्थम्। तदत्रोक्तमिति न गौरवदोषः॥ ३३॥

वै० अ० समान = तुल्य काल है जिसका वह उस प्रकार कहा गया (=समानकालस्वर) है। (तेन =) उस अकार के; (समानकालस्वरः =) तुल्य काल वाला 'स्वर'; 'ह्रस्व' संज्ञक होता है। (प्रश्न) किन्तु अकार का काल कितना है? (उत्तर) जितने (समय) में इसका उच्चारण होता है। उच्चारण में विषमता होने के कारण उस (= अकार के उच्चारण-काल) में अव्यवस्था नहीं होगी। "नीलकण्ठ एक मात्रा का उच्चारण करता है (अर्थात् नीलकण्ठ एक बार बोलने में जितना समय लगाता है उतना ही समय 'ह्रस्व' 'स्वर' के उच्चारण में लगता है)" शिक्षा में कहे गए नीलकण्ठ का बोली के समय के समान होने से (अकार का उच्चारण-काल) व्यवस्थित है। इसलिए इकार और उकार 'ह्रस्व' हैं—यह सिद्ध हो गया। (उदाहरण) "मा त्वा हि ५ सिषम्"। "ऊर्ध्वमिव हि पुँसः"। शंका—यहाँ पर "अकार, इकार और उकार ('ह्रस्व' हैं)—इस एक सूत्र से (कार्य) सिद्ध होने पर किसलिए गौरव का आश्रय लिया गया है?[क] इसका उत्तर देते हैं—परवर्ती सूत्र में अकार के तुल्य कालत्व का विधान करना अभिप्रेत है। और वह (अकार के तुल्य काल का विधान) दोनों के लिए है। इसलिए (अकार का तुल्य कालत्व) यहाँ (१।३३ में) कहा गया है—इससे गौरव रूप दोष नहीं है॥३३॥

यह स्पष्ट विधान कर दिया गया है कि ऋकार और ऌकार 'ह्रस्व' हैं। ह्रस्वत्व सिद्ध होने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि इनका उच्चारण एक मात्रा काल में ही हो जाता है, भले ही वे दो विजातीय तत्त्वों के मिश्रण हैं।

(क) १।३२ और १।३३ से ज्ञात होता है कि अकार, इकार और उकार 'ह्रस्व' हैं। पूर्वपक्षी का कहना है कि यह विधान तो एक ही सूत्र में किया जा सकता था। तब सूत्रकार ने किसलिए गौरव दोष को अपनाया? भाष्यकार का कहना है कि "उस (अकार) के समान काल वाला 'स्वर' 'ह्रस्व' होता है"—इससे दो कार्य सिद्ध होते हैं—(१) इससे ज्ञात होता है कि इकार और उकार 'ह्रस्व' हैं; (२) इसका अन्वादेश १।३४ में भी होता है, जिससे सिद्ध होता है कि 'अनुस्वार' भी 'अकार' के समान काल वाला है। इस प्रकार यहाँ गौरव दोष नहीं है।

---

(१) १।१।४ (२) २।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुस्वारश्च ॥ ३४ ॥

मा०—कालो ह्रस्वसंज्ञो भवति। यथा—सयन्त्रवाहे(?) इति। ह्रस्वसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"अथादावुत्तरे विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः"[१] इति ॥ ३४ ॥

त्रि०—भवति; (अनुस्वारश्च=) अनुस्वारोपि; ह्रस्वसंज्ञः। यथा—"ता ँ हस्ते"[२]। चकारो ह्रस्वान्वाकर्षकः। "अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च"[३] इति स्वरं प्रत्यङ्गत्वविधानादनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम्। तथा सति "ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्"[४] इति अर्धमात्रत्वे प्राप्ते तन्मा भूदिति ह्रस्वत्वं विधीयते। ह्रस्वसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः"[५] इति ॥ ३४ ॥

वै०—चशब्देनात्र तेन समानकाल इत्यन्वादिश्यते। तथा चानुस्वारोऽकारेण तुल्यकालो भवतीत्यर्थः। "तमू शुचि ँ शुचयो दीदिवा ँ सम्"[६]। "येषा ँ सोमस्स-मृच्छते"[७]। "अग्नि ँ स्तोमेन बोधय"[८]। शिक्षायां तु—

सू० अ०—'अनुस्वार' भी ('ह्रस्व' संज्ञक है)।

त्रि० अ०—(अनुस्वारश्च =) 'अनुस्वार' भी; 'ह्रस्व' संज्ञक होता है। जैसे—"ता ँ हस्ते"। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार 'ह्रस्व' का अन्वादेश करता है। " 'अनुस्वार' और 'स्वरभक्ति' (पूर्व 'स्वर' के अङ्ग होते हैं)"—इस (सूत्र) से 'स्वर' के प्रति अङ्गत्व का विधान होने से 'अनुस्वार' का 'व्यञ्जन' होना (ज्ञात होता है)। वैसा होने पर " 'व्यञ्जन' 'ह्रस्व'-स्वर के आधे काल वाला होता है"—इस (सूत्र) से ('अनुस्वार' की) आधी मात्रा प्राप्त होती है—वह न होवे इसलिए ('अनुस्वार' के) 'ह्रस्व' होने का विधान किया गया है।क 'ह्रस्व' संज्ञा का प्रयोजन—"पद-पाठ में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर ('दीर्घ'-'स्वर') 'ह्रस्व' हो जाता है" ॥ ३४ ॥

वै० अ०—'च' शब्द के द्वारा यहाँ (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में) "उसके समान काल वाला" का अन्वादेश होता है। और इस प्रकार (सूत्र का) अर्थ यह हुआ—(अनुस्वारश्च =) 'अनुस्वार'; अकार के तुल्य काल वाला होता है। (उदाहरण) "तमू शुचि ँ शुचयो दीदिवा ँ सम्"। "येषा ँ सोमस्समृच्छते"। "अग्नि ँ स्तोमेन बोधय"। शिक्षा में तो (यह कहा गया है)—

(क) इस सूत्र में 'अनुस्वार' के 'ह्रस्व' होने का जो विधान किया गया है इसका उद्देश्य यह बतलाना है कि 'अनुस्वार' के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। इस सूत्र के अभाव में कोई यह समझ सकता था कि 'अनुस्वार' के उच्चारण में आधी मात्रा का समय लगता है, क्योंकि 'अनुस्वार' व्यञ्जन है।

---

(१) ३।१ (२) ६।१।३ (३) २१।६
(४) १।३७ (५) ३।१ (६) २।५।१२
(७) ३।१।७ (८) ४।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्राद्द्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्र एव तु ।

इत्युक्त्वा द्विविधस्याप्यनुस्वारस्य संयोगपरत्वे द्वित्वं मात्रिकत्वं चोक्तम्—

मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत् ॥ इति ॥

तथा यो मात्रिकात्परस्संहिताकाल एव तु भवति तस्यानुस्वारस्य मात्रापरिमितः काल इत्युक्तम्—

अनुस्वारश्च यो मात्रस्संहिताकाल एव तु ॥ इति ॥

'मात्राद्द्विमात्रः' इत्येतत्तु पदमध्यवर्त्यसंयोगपरविषयमिति चोक्तम्—

पदमध्ये द्विमात्रं स्यादेकमात्रं द्विरूपवत् ॥ इति ॥

तस्मात्सिद्धम्—

स्रादिसिद्धः परो ह्रस्वादसंयोगपरस्तु यः ।

अनुस्वारो द्विमात्रोऽसावन्यस्सर्वोऽपि मात्रिकः ॥ इति ॥

एक मात्रा वाले (अर्थात् 'ह्रस्व' स्वर) से बाद में विद्यमान 'अनुस्वार' दो मात्रा वाला होता है, किन्तु दो मात्राओं वाले (अर्थात् 'दीर्घ' स्वर) से बाद में विद्यमान ('अनुस्वार') एक मात्रा वाला ही (होता है)—यह कह कर दोनों प्रकार के 'अनुस्वार' के, संयोगपर (अर्थात् संयोग से पूर्व में) होने पर, द्वित्व और एक-मात्रिकत्व को कहा है—संयोग बाद में हो तो एक मात्रा वाले (अर्थात् 'ह्रस्व' स्वर) से भी (बाद में विद्यमान 'अनुस्वार') एक मात्रा वाला (होता है) तथा द्वित्व को प्राप्त कर लेता है ।

उसी प्रकार जो ('अनुस्वार') संहिता-काल में एक मात्रा वाले (अर्थात् 'ह्रस्व' स्वर) से बाद में होता है उस 'अनुस्वार' का समय एक मात्रा परिमित कहा गया है—

जो 'अनुस्वार' संहिता काल में ('ह्रस्व' स्वर से बाद में होता है वह) एक मात्रा वाला (होता है) ।

एक मात्रा वाले (अर्थात् 'ह्रस्व' स्वर) से (बाद में विद्यमान 'अनुस्वार') दो मात्रा वाला (होता है)—यह (कथन) तो उस ('अनुस्वार') के विषय में है जो पद के मध्य में विद्यमान है और जिसके बाद से संयोग नहीं है—पद के मध्य में दो मात्रा वाला होता है । (किन्तु संयोग बाद में हो तो 'अनुस्वार') एक मात्रा वाला (होता है) तथा द्वित्व को प्राप्त हो जाता है । इसलिए यह सिद्ध हो गया—(१६।२ इत्यादि के द्वारा) 'स्र' इत्यादि पदों में विहित जो 'अनुस्वार' 'ह्रस्व' स्वर से बाद में विद्यमान होता है तथा जिसके बाद में संयोग नहीं होता है, वह दो मात्रा वाला (होता है) । इससे अन्य सभी प्रकार का 'अनुस्वार' एक मात्रा वाला (होता है) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नास्य प्रातिशाख्योक्तिर्विरोधिनी। प्रायिकत्वेनोपपत्तेः। यत्तु कैश्चित् द्वितीयश्लोकस्य अन्यथा व्याख्यानं कृतम्—दीर्घात्परोऽपि पदमध्यगतोऽसंयोगपरो द्विमात्र एवेति। तत्खलु प्रातिशाख्यविरुद्धम्। द्विमात्रभूयस्त्वापत्तेः। अनारब्धे त्वस्मिन् सूत्रे शिक्षायां द्विमात्रानुस्वारबाहुल्यमुक्तं मन्येरन् बाधकाभावादिति। तन्मा मंसत इत्येवमर्थं एवायमारम्भः॥ ३४॥

द्विस्तावान् दीर्घः॥ ३५॥

मा०—ह्रस्वात् द्विगुणकालस्वरो दीर्घो भवति दीर्घसंज्ञो भवति। यथा—आ इति। एवमितरे। दीर्घसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"दीर्घं समानाक्षरे"[1] इति॥ ३५॥

त्रि०—तावानिति प्रकृतो ह्रस्व उच्यते। द्विरिति द्विरूपः। तावान् ह्रस्वः द्विरूपः; (दीर्घः =) दीर्घसंज्ञः; भवतीति सूत्रयोजना। तात्पर्यं तु—ह्रस्वद्विगुणकालस्वरो दीर्घसंज्ञो भवतीति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं ँ समानाक्षरे सवर्णपरे"[1] इत्यादि॥ ३५॥

वै०—अत्र पूर्वतरसूत्रस्थं स्वरपदं मण्डूकगतिन्यायेन अनुवर्तते। द्विस्तावान् =

प्रातिशाख्य का कथन (कि 'अनुस्वार' का काल एक मात्रा होता है) इस (शिक्षा के कथन) का विरोध करने वाला नहीं है, क्योंकि ('अनुस्वार' की एक मात्रा की) उपपत्ति बहुलता (प्रायिकत्व) के आधार पर (होती है) (अर्थात् 'अनुस्वार' का उच्चारण-काल प्रायः एक मात्रा होता है)। कतिपय (आचार्यों) के द्वारा द्वितीय श्लोक का जो यह अन्यथा व्याख्यान किया गया है कि 'संयोग' बाद में न रहते 'दीर्घ' (स्वर) से बाद में विद्यमान भी ('अनुस्वार'), पद के मध्य में होने पर, दो मात्राओं वाला ही होता है—यह तो निश्चय ही प्रातिशाख्य के विरुद्ध है, क्योंकि इससे दो मात्राओं वाले ('अनुस्वार') की अधिकता प्राप्त होती है। इस सूत्र (१।३४) का निर्माण न होता तो बाधक के अभाव में लोग यह मानते कि शिक्षा में दो मात्राओं वाले 'अनुस्वार' का बाहुल्य कहा गया है। लोग यह न मानें इसलिए इस (सूत्र) का निर्माण किया गया है॥ ३४॥

सू० अ०—उतने (='ह्रस्व') से (काल में) दुगुना 'दीर्घ' (संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—'तावान्' इससे प्रकृत 'ह्रस्व' को कहा गया है। द्विः = दुगुना। तावान् = उतना = ह्रस्व; द्विः = दुगुना (काल वाला) होकर; (दीर्घः =) 'दीर्घ' संज्ञक; होता है—यह सूत्र की योजना है। तात्पर्य तो (यह है)—'ह्रस्व' (स्वर) से दुगुने काल वाला (= दो मात्रा काल वाला); 'स्वर' 'दीर्घ' संज्ञक होता है। ('दीर्घ') संज्ञा का प्रयोजन—" 'समानाक्षर' के बाद में (उसका) 'सवर्ण' ('स्वर') हो तो (दोनों मिल कर) 'दीर्घ' ('स्वर' हो जाते हैं)"॥ ३५॥

वै० अ०—यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) पूर्वतर सूत्र (१।३३) में विद्यमान

---

(१) १०।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विगुणः = ह्रस्वद्विगुणकालः = वायसरुततुल्यकालस्वरः; (दीर्घः =) दीर्घसंज्ञः; भवति। "यो वै देवान्"[1] ॥ ३५ ॥

त्रिः प्लुतः ॥३६॥

मा०—यावान् ह्रस्वकालः तावन्तस्त्रिगुणा स्वराः प्लुतसंज्ञा भवन्ति। यथा—"अस्तुहीऽ"[2] इति। प्लुतसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"न प्लुतप्रग्रहौ"[3] इति ॥ ३६ ॥

त्रि०—अत्रापि ह्रस्वोऽनुवर्तते, सान्निध्यात्। त्रिरिति = त्रिरूपो ह्रस्वः; (प्लुतः =) प्लुतसंज्ञः; भवति। तात्पर्यं त्वत्रापि ब्रूमः, ह्रस्वत्रिगुणकालः स्वरः प्लुतसंज्ञो भवति इति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"न प्लुतप्रग्रहौ"[3] इति ॥ ३६ ॥

वै०—स्वर इति तावानिति चानुवर्तते। त्रिस्तावान् = ह्रस्वत्रिगुणकालः = मयूररुततुल्यकालस्वरः; (प्लुतः =) प्लुतसंज्ञः; भवति। "छिनत्तीऽ इति"[4]। निर्वचनं तु—शरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते ॥ ३६ ॥

'स्वर' पद की मण्डूकगतिन्याय[क] से अनुवृत्ति हो रही है। द्विस्तावान् = उससे दुगुना = 'ह्रस्व' (स्वर) से दुगुने काल वाला = कौवे की बोली के तुल्य काल वाला[ख] 'स्वर'; (दीर्घः =) 'दीर्घ' संज्ञक; होता है। (उदाहरण—) "यो वै देवान्" ॥ ३५ ॥

सू० अ०—(ह्रस्व से काल में) तिगुना 'प्लुत' (संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—यहाँ (अर्थात् प्रस्तुत में) भी सान्निध्य के कारण 'ह्रस्व' की अनुवृत्ति हो रही है। त्रिः = तिगुना; 'ह्रस्व'; (प्लुतः =) 'प्लुत' संज्ञक; होता है। तात्पर्य तो यहाँ पर भी कहते हैं—'ह्रस्व' (स्वर) से तिगुने काल वाला 'स्वर' 'प्लुत' संज्ञक होता है। ('प्लुत') संज्ञा का प्रयोजन—" 'प्लुत' और 'प्रग्रह' (संधि-कार्य को) नहीं (प्राप्त करते हैं)" ॥ ३६ ॥

वै० अ०—(इस सूत्र में) 'स्वर' और 'तावान्' की अनुवृत्ति हो रही है। उतने से; त्रिः = तिगुना = 'ह्रस्व' (स्वर) से तिगुने काल वाला = मोर की बोली

(क) गति करते समय मेढक बीच में कुछ दूरी छोड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर छलाँग मारता है। उसी प्रकार यहाँ भी 'स्वर' शब्द की अनुवृत्ति अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र से न होकर उससे पहले वाले सूत्र (१।३३) से हो रही है।

(ख) दो मात्रायें कौवे की एक बोली के बराबर होती हैं अर्थात् कौवा एक बार बोलने में जितना समय लगाता है वह दो मात्रा है। दो मात्राओं वाला 'स्वर' 'दीर्घ' कहलाता है।

---

(१) ३।१।९ (२) ७।१।६ (३) १०।२४ (४) १।७।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम् ॥ ३७ ॥

मा०—ह्रस्वस्यार्धकालं व्यञ्जनं भवति। यथा–"सम्राट्"[1] इति ॥ ३७ ॥

त्रि०—व्यञ्जनं ह्रस्वार्धकालं भवति। न तु व्यञ्जनमिति संज्ञा। अन्यथा "व्यञ्जन-कालश्च स्वरस्यात्राधिकः"[2] इत्यत्र कालशब्दस्य पौनरुक्त्यापत्तेः। यथा—"वाक्"[3]। ह्रस्वस्यार्धं, ह्रस्वार्धं, ह्रस्वार्धं कालः परिमाणकालो यस्य तत् तथोक्तम् ॥३७॥

वै०—व्यञ्जनम्; (ह्रस्वार्धकालम् =) ह्रस्वार्धतुल्यकालम् = अर्धमात्राकालम्;

के तुल्य काल वाला[क] 'स्वर'; (प्लुतः =) 'प्लुत' संज्ञक; होता है। (उदाहरण —) "छिनत्ती३ इति"। ('प्लुत' शब्द का) निर्वचन तो (यह है)—बाण के समान दूर जाने के कारण 'प्लुत' कहा जाता है ॥ ३६ ॥

सू० अ०—'व्यञ्जन' 'ह्रस्व' (स्वर) के आधे काल वाला (होता है)।

त्रि० अ०—'व्यञ्जनम्' = व्यञ्जन; ह्रस्वार्धकालम् = 'ह्रस्व' (स्वर) के आधे काल वाला होता है। (प्रस्तुत सूत्र से) 'व्यञ्जन' संज्ञा (विहित) नहीं (की गई है), अन्यथा "यहाँ (= आनुनासिक्य के विधान में) (सानुनासिक) 'स्वर' का व्यञ्जनकाल (ह्रस्वार्धकाल) अधिक (होता है)"—यहाँ (= इस सूत्र में) काल शब्द की पुनरुक्ति हो जायेगी।[ख] जैसे—"वाक्"। 'ह्रस्व' का आधा = ह्रस्वार्ध, ह्रस्वार्धकाल परिमाण काल है जिसका वह वैसा कहा गया अर्थात् ह्रस्वार्धकाल है ॥ ३७ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनम् = 'व्यञ्जन' (वर्ण); (ह्रस्वार्धकालम् =) 'ह्रस्व'

(क) तीन मात्रायें मोर की एक बोली के बराबर होती हैं अर्थात् मोर एक बार बोलने में जितना समय लगाता है वह तीन मात्रा है। तीन मात्राओं वाला 'स्वर' 'प्लुत' कहलाता है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र में 'व्यञ्जन' वर्ण के उच्चारण में लगने वाले काल का विधान किया गया है, 'ह्रस्व' स्वर के आधे काल (= आधी मात्रा) के लिए 'व्यञ्जन' संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। यदि संज्ञा का विधान किया जाता तो यह कहा जा सकता था—व्यञ्जन = ह्रस्वार्धकाल। यदि व्यञ्जन = ह्रस्वार्धकाल हो तब "व्यञ्जनकालश्च स्वरस्यात्राधिकः" (१७।५) = "ह्रस्वार्धकालकालश्च स्वरस्यात्राधिकः"। ऐसा करने पर 'काल' शब्द की पुनरुक्ति हो गई—जो दोष माना जाता है। इसलिए यह मानना उचित नहीं है कि यहाँ 'व्यञ्जन' संज्ञा का विधान किया गया है अथवा 'व्यञ्जन' संज्ञा का अर्थ बतलाया गया है। यहाँ 'व्यञ्जन' के उच्चारण में लगने वाले काल का विधान किया गया है।

---

(१) १।२।८ (२) १७।५ (३) १।३।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति। यथा—"भुवनमसि"[1] ङञणनमानां त्ववसानवर्तिनां कालाधिक्यं शिक्षायां स्मर्यते—

ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते।
दीर्घात्प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः॥ इति॥

तत्रातिप्रसङ्गपरिहाराय श्लोकान्तरं कृतम्—

अवसाने विशेषोऽयमन्येषां च न विद्यते।
संहितायां तु तन्मात्रः पदकालेऽधिको भवेत्॥ इति॥

अत्र पूर्वार्धेन अनवसानस्थेष्वतिप्रसङ्गः परिहृतः। संहितायां तन्मात्र इति ह्रस्वात्परस्यापि संहिताप्रयोगकाले मात्रिकत्वमेवेत्युच्यते। यस्तु ह्रस्वात्परस्याधिककाल उक्तः स पदाध्याय एवेत्युक्तम् 'पदकालेऽधिको भवेत्' इति। तस्मात्सिद्धम्—

ह्रस्वात्परोऽवसानस्थः पदाध्यायेऽनुनासिकः।
द्विमात्रो मात्रिकस्त्वन्यः संहितायां तथाऽखिलम्॥ इति॥

(स्वर) के आधे (भाग) के तुल्य काल वाला = आधी मात्रा काल वाला; होता है। जैसे—"भुवनमसि"। अवसान में विद्यमान ङ, ञ, ण, न, म के काल का आधिक्य शिक्षा में बतलाया गया है—'ह्रस्व' (स्वर) से बाद में जो नासिक्य होता है उसका उच्चारण दो मात्रा काल में होता है। 'दीर्घ' (स्वर) और 'प्लुत' (स्वर) से बाद में विद्यमान (नासिक्य) का परिमाण एक मात्रा होता है—यह श्रुति है।

वहाँ अतिप्रसङ्ग के परिहार के लिए दूसरा श्लोक कहा गया है—

अवसान में विद्यमान (नासिक्य) के विषय में यह विशेष है, अन्य (नासिक्यों) के विषय में नहीं। संहिता में तो वह (नासिक्य) एक मात्रा काल वाला होता है। पद-पाठ में अधिक काल वाला होता है।

यहाँ पूर्वार्ध के द्वारा अवसान में अविद्यमान (नासिक्यों) में अतिप्रसङ्ग का परिहार किया गया है। "संहिता में एक मात्रा काल वाला" (संहितायां तन्मात्रः)—इसके द्वारा 'ह्रस्व' (स्वर) से बाद में विद्यमान भी (नासिक्य) को संहिता-पाठ में एक मात्रा काल वाला कहा गया है। 'ह्रस्व' (स्वर) से बाद में विद्यमान (नासिक्य) का जो अधिक काल बतलाया गया है वह "पद पाठ में अधिक होता है" ("पदकालेऽधिको भवेत्")—इसके द्वारा पद-पाठ में ही होता है। इससे सिद्ध हुआ—

'ह्रस्व' (स्वर) से बाद में विद्यमान तथा अवसान में स्थित 'अनुनासिक' पद-पाठ में दो मात्रा वाला होता है। अन्य ('अनुनासिक') एक मात्रा वाला होता है। उसी प्रकार संहिता में सभी प्रकार का 'अनुनासिक' (एक मात्रा वाला होता है)।

---

(१) १।१।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्ये तु संहिताप्रयोगे पूर्वोक्तो विभागः। पदाध्याये तु ह्रस्वपूर्वस्य दीर्घप्लुतपूर्वस्य च पूर्वोक्ताभ्यामधिककालत्वेत्याहुः। तदयुक्तम्। स्वतोऽर्धमात्रस्य तदासन्नकालविधिसम्भवे अतिविप्रकृष्टकालकल्पनाऽनुपपत्तेः। अत्रोदाहरणानि—"ईदृङ्। च। अन्यादृङ्। च। एतादृङ्। च"[१] "वृषण्वसू इति वृषण्-वसू।"[२] "ब्रह्मन्। विशम्।"[३] इति द्विमात्राणि। "विषूचीनान्व्यस्यताम्"[४], "समुङ्क्तलाँ३। सत्यराजा३न्"[५]। "लाजी३न्"[६]। इति मात्रिकाणि। तथा अवसानस्थलकारस्य पादोनमात्रत्वमुक्तं शीक्षायाम्—

अवसाने लकारस्य त्रिपादत्वं सदा भवेत्। इति॥

"अस्तु। बाल्"[७]। इति दीर्घप्लुताभ्यां परस्य व्यञ्जनस्य स्वरपरस्य पादमात्रत्वमुक्तम्—

अचः परे विशेषोऽति पादमात्रं विधीयते।
पूर्वकालो द्विमात्रश्चेदेकं व्यञ्जनमेव यत्॥ इति॥

अत्र द्विमात्रग्रहणं त्रिमात्रस्यापि प्रदर्शनम्। तद्यथा—"आवायो भूष"[८]। "अगा३नग्नी-दित्याह"[९]। तथा द्विप्रभृतिव्यञ्जनसंयोगे मध्यमानां पादमात्रत्वमुक्तम्—

दूसरे लोग तो कहते हैं कि संहिता-पाठ में ही पूर्वोक्त विभाग है। पद-पाठ में तो 'ह्रस्व' स्वर के बाद में विद्यमान तथा 'दीर्घ' और 'प्लुत' (स्वरों) के बाद में विद्यमान ('अनुनासिक') के लिए पूर्वोक्त से अधिक काल बतलाते हैं। यह युक्त नहीं है। स्वभाव से आधे मात्रा वाले ('अनुनासिक') के हेतु उसकी समीपवर्ती काल-विधि सम्भव होने पर अत्यधिक विप्रकृष्ट काल की कल्पना करना असङ्गत है। 'यहाँ उदाहरण ये हैं—"ईदृङ्। च। अन्यादृङ्। च", "वृषण्वसू—इति वृषण्-वसू", "ब्रह्मन्। विशम्"—ये दो मात्रा वाले ('अनुनासिक') हैं। "विषूचीनान्व्यस्यताम्", "समुङ्क्तलाँ३। सत्यराजा३न्", "लाजी३न्"—ये एक मात्रा वाले ('अनुनासिक') हैं। उसी प्रकार शिक्षा में अवसान में विद्यमान लकार के विषय में तीन चौथाई (= $\frac{3}{4}$) मात्रा बतलाई गई है।

अवसान में लकार की सर्वदा तीन चौथाई मात्रा होती है। (उदाहरण)—"अस्तु। बाल्।" 'दीर्घ' (स्वर) और 'प्लुत' (स्वर) से बाद में विद्यमान 'व्यञ्जन' की 'स्वर' बाद में होने पर चौथाई मात्रा कही गई है।

जहाँ पर ऐसा एक 'व्यञ्जन' हो जिसके पूर्व में दो मात्रा वाला 'स्वर' हो और जिसके बाद में 'स्वर' हों, उस 'व्यञ्जन' के लिए चौथाई मात्रा काल का विधान किया गया है।

यहाँ पर दो मात्राओं वाले (= 'दीर्घ' स्वर) के ग्रहण से तीन मात्राओं वाले ('प्लुत' स्वर) को भी बतलाया गया है। जैसे—"आवायो भूष"। "अगा३नग्नी

---

(१) १।८।१३ (२) ४।१।२ (३) २।३।३
(४) १।१।१३ (५) १।८।१६ (६) ७।४।२०
(७) ३।३।१० (८) ३।४।२ (९) २।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्वरव्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते । इति ॥

तद्यथा—"अत्यन्यानगाम्"[१], "उक्थउक्थे"[२] । चतुरादिसंयोगे त्वन्त्यस्याप्यणुमात्रत्वमुक्तं बहुशः—

संयोगश्चतुरादीनां व्यञ्जनानां यदा भवेत् ।
तदाऽन्त्यव्यञ्जनस्यापि अणुमात्रत्वमिष्यते ॥ इति ॥

तद्यथा—"उक्थ्यः"[३], "तार्क्ष्यः"[४] । स्वरितग्राहिणां व्यञ्जनानां कालाधिक्यमुक्तं शीक्षायाम्—

स्वाराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्कालास्स्वभावतः ।
वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तरि ॥ इति ॥

अत्र स्वरितानां कालवृद्धिवचनं तद्ग्राहिव्यञ्जनार्थमेव । वक्ष्यति—"आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः"[५] इति । तदनुदात्तसमत्वं केषुचित्स्वरितस्वरेषु न भवति । किन्तु तदङ्गभूतेषु परव्यञ्जनेष्वेव । तानि स्वरितग्राहीणीत्युच्यन्ते । तेषां कालाधिक्यं विना उच्चा-

---

दित्याह" । उसी प्रकार दो इत्यादि व्यञ्जनों का संयोग होने पर मध्य में स्थित (व्यञ्जनों) का चौथाई मात्रा काल बतलाया गया है—

स्वरविहीन 'व्यञ्जन' नित्य ही चौथाई मात्रा काल वाला होता है । जैसे—"अत्यन्यानगाम्" "उक्थउक्थे" (यहाँ क्रमशः तकार, नकार, ककार और ककार चौथाई मात्रा काल वाले हैं) । चार इत्यादि (व्यञ्जनों) का संयोग होने पर तो अन्तिम ('व्यञ्जन') का भी अनेक बार चौथाई मात्रा काल बतलाया गया है ।

जब चार इत्यादि व्यञ्जनों का संयोग होता है तब अन्तिम 'व्यञ्जन' का भी चौथाई मात्रा काल अभीष्ट होता है । जैस—"उक्थ्यः", "तार्क्ष्यः" । 'स्वरित' का ग्रहण करने वाले व्यञ्जनों के काल की आधकता शिक्षा में कही गई है—

जो 'स्वरित', 'कम्प' और 'अनुनासिक' हैं वे स्वभाव से जितने काल वाले होते हैं, उच्चारण करते समय उस (काल) से बढ़ जाते हैं, चाहे वक्ता शीघ्रता से भी (उच्चारण करने का) प्रयत्न करे ।

यहाँ पर स्वरितों के काल की वृद्धि का कथन उस ('स्वरित') के ग्रहणकर्ता 'व्यञ्जन' के लिए ही है । (सूत्रकार) कहेंगे—"इस ('स्वरित') का आदि वाला भाग उदात्तसम और अवशिष्ट भाग अनुदात्तसम (होता है)—यह आचार्य (कहते हैं)"—वह अनुदात्तसमत्व कतिपय 'स्वरित' स्वरों में नहीं होता है । किन्तु उन ('स्वरित' स्वरों) के अङ्गभूत परवर्ती व्यञ्जनों में ही (होता है) । वे (परवर्ती 'व्यञ्जन') 'स्वरितग्राही' कह जाते हैं । काल के आधिक्य के बिना उनका उच्चारण नहीं होता है । जिन 'स्वरित' स्वरों में अनुदात्तसमत्व होता है,

---

(१) १।३।५ (२) १।४।४६ (३) १।६।९
(४) ४।४।३ (५) १।४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रणं न घटते। येषु च स्वरितस्वरेष्वेव अनुदात्तसमत्वं भवति, तत्र कालाधिक्याभावेऽप्युच्चारणमुपपद्यते। तत्रानुस्वारस्तावत्स्वरितग्राही उत्तमश्च पूर्वाङ्गभूतः। तयोर्द्वित्वे तु परो मात्रिक एव। यवलास्तु ह्रस्वपूर्वका अन्तस्थापराः। ह्रस्वदीर्घाङ्गभूतास्तु रेफपूर्वका इति। तत्रायं विवेकः—

स्वरितग्राह्यनुस्वारो द्विमात्रो मात्रिकात्परः।
दीर्घादप्यर्धमात्रस्स्यात् द्वैरूप्ये मात्रिकं परम्॥
द्विमात्र उत्तमो ह्रस्वादप्यर्धो व्यञ्जनात्परः।
दीर्घादनन्तरस्तद्वन्मात्रिको व्यञ्जनान्तरः॥
द्विमात्रा यलवा ह्रस्वादप्यर्धा व्यञ्जनान्तराः।
दीर्घपूर्वात्परा रेफान्मात्रिका इति निर्णयः॥

अनुस्वारो यथा—"भर॒ ष्विन्द्र॑ꣳ सुहव॑ꣳ हवामहे"[1] "योऽल॑ꣳ श्रि॒यै सन्"[2]

वहाँ काल के आधिक्य का अभाव होने पर भी उच्चारण उपपन्न होता है। 'अनुस्वार' स्वरितग्राही होता है तथा पूर्ववर्ती ('स्वर') का अङ्गभूत उत्तम (= पञ्चम 'स्पर्श') भी (स्वरितग्राही होता है)। उनका द्वित्व होने पर तो बाद वाला मात्रिक ('अनुस्वार') ही (स्वरितग्राही होता है)। पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर' और बाद में 'अन्तःस्था' हो तो य, व, ल (भी स्वरितग्राही होते हैं)। (बाद में 'अन्तःस्था' न होने पर भी य, ल, व स्वरितग्राही होते हैं यदि) वे (पूर्ववर्ती) 'ह्रस्व' (स्वर) और 'दीर्घ' (स्वर) के अङ्ग हों और उनके पूर्व में रेफ हो। उनके विषय में यह विवेक है—

'ह्रस्व' 'स्वर' (मात्रिक) से बाद में विद्यमान स्वरितग्राही 'अनुस्वार' दो मात्राओं वाला होता है। 'दीर्घ' ('स्वर') से बाद में विद्यमान (स्वरितग्राही 'अनुस्वार') डेढ़ मात्राओं वाला होगा। ('अनुस्वार' का) द्वित्व होने पर परवर्ती ('अनुस्वार' स्वरितग्राही होता है और वह) एक मात्रा वाला होता है। 'ह्रस्व' ('स्वर') से बाद में विद्यमान (स्वरितग्राही) उत्तम (वर्ण) दो मात्राओं वाला होता है। 'व्यञ्जन' से बाद में विद्यमान (स्वरितग्राही उत्तम 'स्पर्श') डेढ़ मात्राओं वाला होता है। 'दीर्घ' (स्वर) से बाद में विद्यमान (स्वरितग्राही उत्तम 'स्पर्श') उसी प्रकार 'व्यञ्जन' से व्यवहित होने पर एक मात्रा काल वाला होता है। 'ह्रस्व' ('स्वर') से बाद में विद्यमान य, ल, व दो मात्राओं वाले होते हैं और 'व्यञ्जन' से व्यवहित होने पर डेढ़ मात्राओं वाले होते हैं। 'दीर्घ' (स्वर) है पूर्व में जिससे ऐसे रेफ से परवर्ती (य, ल, व) एक मात्रा वाले होते हैं—यह निर्णय है।

'अनुस्वार' जैसे—"भर॒ ष्विन्द्र॑ꣳ सुहव॑ꣳ हवामहे"। "योऽल॑ꣳ श्रि॒यै

---

(१) २।१।११ (२) २।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अग्नेस्त्रयो ज्यायाँ सः"[१] "तेषाँ हविष्माँश्च"[२]। उत्तमो यथा—"त्वचङ्करोति"[३] "अपां वृषण्वान्"[४] "कृष्णो रूपम्"[३] "परिभूर्विश्वान्"[५] "निर्जाल्मकेन शीर्ष्णा"[६]। यलवा यथा—"एभ्य एवैनंल्लोकेभ्यः"[७] "शरव्ये ब्रह्मसाँशिता"[८] गोभिर्यज्ञं दाधार"[९] "अथर्वणः"[१०] "सवीर्यैरेव"[११] "अनयोर्लोकयोः"[१२]।

अथ कस्मादस्मिन् ग्रन्थे शिक्षाव्याकरणेषु च मात्रिकद्विमात्राणां व्यञ्जनानां ह्रस्वदीर्घसंज्ञे न विधीयते। वर्णान्यत्वाभावात्। स्वरेष्वेव हि कालभेदात् वर्णान्यत्वम्। न व्यञ्जनेषु। न चैवं सति—"परीमाणाच्च पञ्चमादिति"[१३] इत्यनेन विरोध इति वक्ष्यामः ॥ ३७ ॥

उच्चैरुदात्तः ॥ ३८ ॥

मा०—"आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य"[१४]। उच्चलक्षणैः य उपलभ्यमानः स्वरः स उदात्तसंज्ञो भवति। यथा—"सः"[१५]। उदात्तसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितम्"[१६] इति ॥ ३८

त्रि०—"आयामो दारुण्यं"[१४] इति लक्षणलक्षितः स्वर उदात्त इत्युच्यते। यथा—"सः"[१५] इति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"उदात्तात् परोऽनुदात्तस्स्वरितम्"[१६] इति ॥ ३८ ॥

सन्"। "अग्नेस्त्रयो ज्यायाँ सः"। तेषाँ हविष्माँश्च"। उत्तम जैसे—"त्वचङ्करोति"। "अपां वृषण्वान्"। "कृष्णो रूपम्"। "परिभूर्विश्वान्"। "निर्जाल्मकेन शीर्ष्णा"। य, ल, व जैसे—"एभ्य एवैनंल्लोकेभ्यः"। "शरव्ये ब्रह्मसाँशिता"। "गोभिर्यज्ञं दाधार"। "अथर्वणः"। "सवीर्यैरेव"। "अनयोर्लोकयोः"।

अच्छा (तो बतलाइये कि) इस ग्रन्थ में और शिक्षा तथा व्याकरण में एक मात्रा वाले और दो मात्राओं वाले व्यञ्जनों की 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' संज्ञाओं का विधान क्यों नहीं किया गया है। (उत्तर) अन्य वर्णों के अभाव के कारण। क्योंकि स्वरों में ही काल (मात्रा) के भेद से अन्य वर्ण हो जाता है, व्यञ्जनों में नहीं। इस प्रकार मानने पर "पञ्चम परिमाण से···"—इस (सूत्र) से विरोध भी नहीं होता है—यह कहेंगे ॥३७॥

सू० अ०—ऊँची ध्वनि से उच्चारित ('स्वर') 'उदात्त' है।

त्रि० अ०—"(गात्रों की) दीर्घता, ('स्वर' की) कठिनता···"—इस लक्षण

---

(१) २।६।६ (२) ७।१।४ (३) ब्रा० ३।२।५
(४) २।१।११ (५) ३।२।३ (६) ब्रा० ५।७।१३
(७) २।६।५ (८) ४।६।४ (९) ४।४।८
(१०) ३।५।११ (११) ३।३।७ (१२) ५।३।२
(१३) २३।२ (१४) २२।९ (१५) १।१।३ (१६) १४।२९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै० - अत्रापि स्वर इत्यनुवर्तते। तथा व्याकरणे—"अचश्च"[1] इत्यधिकृत्य उदात्तादि-स्वरूपोपदेशात्। समानस्थाने मूर्ध्नं आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर उदात्तगुणकत्वात्; (उदात्तः =) उदात्तसंज्ञः; भवति। यथा शुक्लगुणयोगाच्छुक्लः पटः। उदादानमुत्क्षेपः। तद्यथा—"यो वै पर्वमानानाम्"[2] ॥ ३८ ॥

से लक्षित 'स्वर' 'उदात्त'[क] कहा जाता है। जैसे—"सः"। ('उदात्त') संज्ञा का प्रयोजन—" 'उदात्त' से परवर्ती 'अनुदात्त' 'स्वरित' (हो जाता है)" ॥ ३८ ॥

वै० अ०—यहाँ (= प्रस्तुत सूत्र में) भी (१।३३) से 'स्वर' की अनुवृत्ति हो रही है। उसी प्रकार व्याकरण में "अच् ('स्वर') की भी (अनुवृत्ति होती है)"—इससे ('स्वर' का) अधिकार करके 'उदात्त' आदि के स्वरूप का उपदेश किया गया है। अभिन्न (समान) सुर[ख] (Pitch) में सिर के समीपवर्ती उच्च भाग में उत्पन्न प्रयत्न से उच्चारित किया जाने वाला 'स्वर' 'उदात्त' के गुण से समन्वित होने के कारण 'उदात्त' संज्ञक होता है। जैसे शुक्ल गुण के संयोग से शुक्ल पट। ('उदात्त' का निर्वचन) ऊपर को ग्रहण करना = ऊपर को उठाना। जैसे—"यो वै पर्वमानानाम्" ॥ ३८ ॥

(क) 'उदात्त' शब्द 'उत्' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। 'उदात्त' का शाब्दिक अर्थ है 'ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ'। "उच्चैरादीयते इति उदात्तः" अर्थात् उच्च 'स्वर' से जिसका ग्रहण होता है=उच्चारण होता है, वह 'उदात्त' है।

(ख) 'उदात्त' और 'अनुदात्त' की व्याख्या करते समय भाष्यकार ने 'समानस्थाने' तथा 'समाने स्थाने' का प्रयोग किया है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—'समान-स्थाने' अथवा 'समाने स्थाने' का अर्थ है 'उसी सुर (स्थान, pitch) में'। तथ्य यह है कि 'उदात्त' के उच्च उच्चारण तथा 'अनुदात्त' के निम्न उच्चारण का कोई मापदण्ड नहीं है। एक ही ध्वनि किसी के लिए उच्च हो सकती है और किसी के लिए निम्न हो सकती है। जो ध्वनि किसी के लिए निम्न है, उसको उच्च कैसे कहा जा सकता है? उसी प्रकार जो ध्वनि किसी के लिए उच्च है, उसको निम्न कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में वही ध्वनि उच्च है, जिसका उच्चत्व सबके लिए और सदा के लिए है। उसी प्रकार वही ध्वनि निम्न है, जिसका निम्नत्व सबके लिए और सदा के लिए है।

उपर्युक्त समस्या के निराकरण के लिए ही भाष्यकार ने 'समानस्थाने' तथा 'समाने स्थाने' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि वक्ता को अपनी ध्वनि एक अभिन्न सुर पर निश्चित कर लेनी चाहिए। अब इस निश्चित सुर से उच्च

---

(१) पा० १।२।२८ (२) ३।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीचैरनुदात्तः ॥ ३९ ॥

मा०—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि"[१]। नीचलक्षणैः यः स्वर उच्चार्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति। यथा—"अब्रुवन्"[२]। अनुदात्तसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तः स्वरितम्"[३] इति ॥ ३९ ॥

त्रि०—"अन्ववसर्गः"[१] इति सूत्रलक्षणलक्षितः स्वरोऽनुदात्त इत्युच्यते। यथा—"अवदताम्"[४]। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अनुदात्तो न नित्यम्"[५] इति ॥ ३९ ॥

वै०—समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरोऽनुदात्त-गुणकःवादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः। "विप्रा अमृता ऋतज्ञाः"[६]। अवभृथयजूँषिं जुहोति"[७] ॥ ३९ ॥

समाहारः स्वरितः ॥ ४० ॥

मा०—उभयोरुदात्तानुदात्तयोः यः समाहारः सः स्वरितसंज्ञो भवति। यथा—

सू० अ०—नीची ध्वनि से उच्चारित ('स्वर') 'अनुदात्त' है।

त्रि० अ०—"गात्रों की विस्तृतता···"—इस सूत्र के लक्षण से लक्षित 'स्वर' 'अनुदात्त'[क] कहा जाता है। जैसे—"अवदताम्"। ('अनुदात्त') संज्ञा का प्रयोजन—"(मापात इत्यादि शब्द बाद में होने पर भी) 'अनुदात्त' ('ते') नित्य ('प्रग्रह') नहीं (होता है)" इत्यादि ॥ ३९ ॥

वै० अ०—अभिन्न (समान) सुर (pitch) में हृदय के समीपवर्ती नीचे वाले भाग में उत्पन्न प्रयत्न से उच्चारित होने वाला 'स्वर' 'अनुदात्त' के गुणों से समन्वित होने के कारण 'अनुदात्त' संज्ञक होता है। 'उदात्त' से विरुद्ध गुण वाला 'अनुदात्त' है। (उदाहरण) "विप्रा अमृता ऋतज्ञाः"। "अवभृथयजूँषिं जुहोति" ॥ ३९ ॥

सू० अ०—('उदात्त' और 'अनुदात्त' का) सम्मिश्रण (समाहार) 'स्वरित' है।

ध्वनि से उच्चारित 'स्वर' 'उदात्त' होगा और इस निश्चित सुर से निम्न ध्वनि से उच्चारित 'स्वर' 'अनुदात्त' होगा।

(क) 'अनुदात्त' शब्द 'अन्', 'उत्' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। 'अनुदात्त' का शाब्दिक अर्थ है 'ऊपर उठाकर न ग्रहण किया हुआ'। "नीचैरादीयते इत्यनुदात्तः" अर्थात् उच्चारणावयवों के नीचे जाने से जिस 'स्वर का ग्रहण होता है=उच्चारण होता है वह 'अनुदात्त' कहलाता है।

---

(१) २२।१० (२) २।४।२ (३) १२।९ (४) १।७।२
(५) ४।४३ (६) ४।७।१२ (७) ६।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सूत्रीयम्"[१] इति। स्वरितसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"स्वरितात् सँहितायामनुदात्तानाम्"[२] इति ॥ ४० ॥

त्रि०—तयोरुदात्तानुदात्तयोर्यः समाहारः सः स्वरित उच्यते। यथा—"तेऽब्रुवन्"[३]। समाहियत इति समाहारः। तयोर्मेलनजन्यः स्वरः, स्वरित इत्यर्थः। स्वरितस्वरूपविधिरयं उपरिष्टात्तु तत्र तत्र स्वरितो वक्ष्यते। यथा—"उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितम्"[४] "उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तः स्वरितम्"[५] "तस्मिन्ननुदात्ते पूर्व उदात्तः स्वरितम्"[६] इत्यादि ॥ ४० ॥

वै०—समाहार उभयोस्संभेदात्मकः यथोक्तभागद्वयजन्मना प्रयत्नेन कर्णमूलभागोच्चार्यमाणस्स्वरः स्वरितगुणकत्वात्; (स्वरितः =) स्वरितसंज्ञः; भवति। स्वर्यते पार्श्वत

त्रि० अ०—उन 'उदात्त' और 'अनुदात्त' का जो; समाहारः = सम्मिश्रण; है वह; स्वरितः = स्वरित[क]; कहा जाता है। जैसे—"तेऽब्रुवन्"। (समाहार का निर्वचन) एकत्र किया जाता है, अतः समाहार है। उन (= 'उदात्त' और 'अनुदात्त') के मेल से उत्पन्न 'स्वर' 'स्वरित' है—यह अर्थ है। यह 'स्वरित' के स्वरूप का विधान है, आगे उन-उन स्थलों पर 'स्वरित' को कहा जायेगा (अर्थात् 'स्वरित' कहाँ-कहाँ होता है—यह आगे बतलाया जायेगा)। जैसे—" 'उदात्त' से बाद में आने वाला 'अनुदात्त' 'स्वरित' (हो जाता है)", "उदात्त (इवर्ण अथवा उवर्ण) के बाद में आने वाला 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है" "उस 'अनुदात्त' (अकार) के (लुप्त) होने पर पूर्ववर्ती 'उदात्त' (एकार अथवा ओकार) 'स्वरित' हो जाते हैं" इत्यादि ॥ ४० ॥

वै० अ०—समाहारः = दोनों ('उदात्त' और 'अनुदात्त') का सम्मिश्रणात्मक; तथा पूर्वोक्त (अर्थात् १।३८–३९ में उक्त) दो भागों (ऊपर वाले भाग तथा नीचे वाले भाग) से उत्पन्न प्रयत्न से कर्णमूल भाग में उच्चारित होने वाला 'स्वर' 'स्वरित' के गुणों से युक्त होने के कारण; (स्वरितः =) 'स्वरित' संज्ञक; होता है।

(क) 'स्वरित' शब्द 'ध्वनि' करना अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'स्वरित' का शाब्दिक अर्थ है 'ध्वनित' या उच्चारित'। "स्वरः सञ्जातः यस्मिन् सः स्वरितः" अर्थात् 'स्वर' उत्पन्न किया जाता है जिसमें वह 'स्वरित' होता है। तात्पर्य यह है कि 'स्वरित' 'स्वर' 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के मेल से बनता है। इस मेल के कारण 'अनुदात्त' 'स्वर' भी 'उदात्त' 'स्वर' के समान उच्चारित होने लगता है। यथा–'उदात्तपूर्व स्वरित' स्वभावतः 'अनुदात्त' ही होता है। किंतु 'उदात्त' के प्रभाव से वह भी उच्च ध्वनि से उच्चारित होने लगता है। इसी वैशिष्ट्य के कारण इसे 'स्वरित' कहते हैं।

---

(१) ६।२।४ (२) २१।१० (३) ६।२।३
(४) १४।२९ (५) १०।१६ (६) १२।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्क्षिप्यत इति स्वरितः। "न ह्यग्नेरास्यं किञ्चन"[१]। अत्र शीक्षा—

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयस्स्मृतः॥ इति॥ ४०॥

तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य॥ ४१॥

मा०—तस्य स्वरितस्यादिरुच्चैस्तरां भवति; उदात्तादनन्तरे यावत् ह्रस्वार्धकालम्। यथा—"स इधानः"[२] इति॥ ४१॥

त्रि०—उदात्तादनन्तरे यः स्वरः स्वर्यते तस्यादिस्तावदुच्चैस्तराम् = उदात्ततरः; भवति, यावद्ध्रस्वस्यार्धम्। यथा—"स इधानः"[२]॥ ४१॥

वै०—अथात्र स्वरितस्वरूपं विविधत्वान्निरूप्यते—(उदात्तात् =) उदात्तगुणात्स्वरात्; अनन्तरे =अव्यवहितपरे; स्वरिते तस्यादिः; उच्चैस्तराम् उदात्ततरम्; उच्चार्यते। क्रुष्टादिषु प्रथमाख्येन यमेन तुल्यमित्यर्थः। आदिरित्यनेन पूर्वांशोऽभिहितः। यावदर्धं ह्रस्वस्य तावन्मात्रमर्धमात्रासम्मितोंऽश इत्यर्थः॥ ४१॥

('स्वरित' शब्द का निर्वचन) ध्वनित होता है = तिरछा फेंका जाता है—अतः 'स्वरित' (कहलाता है)। (उदाहरण) "न ह्यग्नेरास्यं किञ्चन"। इस विषय में शिक्षा (का कथन है)—" 'अनुदात्त' को हृदय में जानना चाहिए। 'उदात्त' को सिर में बतलाया गया है। 'स्वरित' को कर्णमूल-स्थान वाला तथा 'प्रचय' को सम्पूर्ण मुख में माना गया है"॥ ४०॥

सू० अ०—'उदात्त' के बाद में स्थित उस ('स्वरित') की आधी 'ह्रस्व' मात्रा (= आधी मात्रा) उदात्ततर (होती है)।

त्रि० अ०—उदात्तादनन्तरे = 'उदात्त' से बाद में; जो 'स्वर' 'स्वरित' हो हो जाता है; तस्यादिः = उसका प्रारम्भ में विद्यमान; उतना भाग; उच्चैस्तराम् = उदात्ततर; होता है, यावद्ध्रस्वस्यार्धम् = जितना 'ह्रस्व' ('स्वर') का आधा (होता है) (=एक मात्रा का आधा = आधी मात्रा)। जैसे—"स इधानः"॥४१॥

वै० अ०—विविध प्रकार का होने के कारण अब 'स्वरित' के स्वरूप का निरूपण किया जाता है—(उदात्तात् =) 'उदात्त' गुण वाले 'स्वर' से; अनन्तरे = अव्यवहित परवर्ती 'स्वरित' में; तस्यादिः = उसका प्रारम्भ वाला भाग; उच्चैस्तराम् = उदात्ततर; उच्चारित किया जाता है। 'क्रुष्ट' आदि में 'प्रथम' संज्ञक 'यम' के तुल्य—यह अर्थ है।[क] 'आदि'—इसके द्वारा पूर्व वाले अंश को कहा गया है। यावदर्धं ह्रस्वस्य = उतनी मात्रा = आधी मात्रा के बराबर अंश—यह अर्थ है॥४१॥

(क) 'क्रुष्ट' आदि यमों के लिए २३।१४ को देखिए।

---

(१) २।६।८ (२) ४।४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तसमः शेषः ॥ ४२ ॥

मा०—शेष उदात्तसमः, शेषो भवति सोदात्तः। "त एनम्"[१] इति ॥ ४२ ॥

त्रि०—ह्रस्वार्धकालाच्छेष उदात्तसमो भवति, न तूदात्त एव। समशब्दप्रयोगात् किञ्चित् न्यूनत्वं प्रतीयते। अन्यथा, स्वरिताभावात्। पूर्वोक्तमेवोदाहरणम् ॥ ४२ ॥

वै०—(शेषः =) योऽर्धमात्रांशात्परोऽंशः सः; तु उदात्तसम एव। न पूर्ववदुदात्ततरः। "य ईं॑ जा॒नः"[२] "प्रउ॑गमु॒क्थम्"[३] ॥ ४२ ॥

सव्यञ्जनोऽपि ॥ ४३ ॥

मा०—सव्यञ्जनोऽप्येवं भवति। यथा—"तिष्यः"[४] ॥ ४३ ॥

त्रि०—केवलस्यायं विधिः पुरस्तादुक्तः, इदानीं व्यञ्जनसहितत्वेऽपि स्वरितस्य तथा त्वमुच्यते। सव्यञ्जनोऽपि स्वरित उदात्तादनन्तरोऽन्यो वा उक्तविधिर्भवति। अपिशब्दः स्वरितमाकर्षति। यथा—"सखि॑भ्यो॒ वरि॑वः"[५] "ति॒ष्यः"[४] ॥ ४३ ॥

सू० अ०—अवशिष्ट अंश 'उदात्त' के तुल्य (होता है)।

त्रि० अ०— आधे 'ह्रस्व' काल (= आधी मात्रा) से; शेषः = अवशिष्ट अंश; उदात्तसमः = 'उदात्त' के समान; होता है, किन्तु 'उदात्त' ही नहीं। 'सम' शब्द के प्रयोग से कुछ न्यूनता प्रतीत होती है। अन्यथा 'स्वरित' का अभाव (हो जायेगा)[क]। पूर्व में कहे गए ही उदाहरण हैं।

वै० अ०— (शेषः =) आधी मात्रा वाले अंश से परवर्ती जो अंश है वह; उदात्तसमः = 'उदात्त' के तुल्य ही (होता है)। पूर्व वाले (अंश) की तरह उदात्ततर नहीं। (उदाहरण) "य ईं॑ जा॒नः", "प्रउ॑गमु॒क्थम्" ॥४२॥

सू० अ० — व्यञ्जनसहित भी ('स्वरित' स्वर पूर्वोक्त नियमों के अनुसार उच्चारित होता है)।

त्रि० अ०— व्यञ्जनरहित (केवल) ('स्वरित') का विधान पहले (१।४१-४२ में) किया गया है। अब यह बतलाया जा रहा है कि व्यञ्जनसहित होने पर भी 'स्वरित' वैसा ही होता है। सव्यञ्जनोऽपि=व्यञ्जनसहित भी; 'स्वरित', चाहे

(क) भाष्यकार का तात्पर्य यह है—'स्वरित' में 'उदात्त' और 'अनुदात्त'—इन दोनों का मिश्रण होता है। यदि 'स्वरित' के पूर्व वाले अंश का उच्चारण उदात्ततर हो और बाद वाले अंश का उच्चारण 'उदात्त' हो तब 'स्वरित' में 'अनुदात्त' का सर्वथा अभाव हो गया। तब यह 'स्वरित' कैसे हुआ ?

---

(१) २।३।११ (२) ३।४।९ (३) ४।४।२
(४) २।२।१० (५) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—सव्यञ्जन इति व्यञ्जनपूर्वक उच्यते। तस्यैवालक्षितत्वेन लक्ष्यत्वात्। तेन पूर्वोक्तव्यतिरिक्तः सर्वस्वरितः परिगृह्यते। (सव्यञ्जनः =) सः; अपि पूर्वोक्तलक्षणो भवति। "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्"[1]। तदेवं वाजसनेयिनां स्वरितो लक्षितः ॥ ४३ ॥

अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ॥ ४४ ॥

मा०—भवति। तस्य स्वरितस्य ह्रस्वार्धकालादेर्यः शेषः सोऽनुदात्ततरो भवति। नीचैस्तरां यथा—"अभ्यस्थात्"[2] इति ॥ ४४ ॥

त्रि०—तस्य स्वरितस्य ह्रस्वार्धकालाच्छेषः; नीचैस्तराम् = अनुदात्ततरः; वा भवति। अनन्तरः शेष इत्यर्थः। तदेवोदाहरणम् ॥ ४४ ॥

वह 'उदात्त' के बाद में स्थित हो अथवा अन्य हो, (१।४१-४२ में) उक्त नियम वाला होता है।[क] (सूत्र में प्रयुक्त) 'अपि' शब्द 'स्वरित' को आकृष्ट (अनुवृत्त) करता है। जैसे—"सखिभ्यो वरिवः" "तिष्ठ्यः" ॥ ४३ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनसहित—इससे व्यञ्जनपूर्वक ('स्वरित' 'स्वर' को) कहा जाता है। अलक्षित होने से वही (व्यञ्जनपूर्वक 'स्वरित' 'स्वर') लक्ष्य है।[ख] इससे पूर्वोक्त से व्यतिरिक्त सभी प्रकार के 'स्वरित' का ग्रहण होता है। (सव्यञ्जनः=) वह (=व्यञ्जनसहित); अपि=भी; पूर्वोक्त नियम वाला होता है। (उदाहरण)—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्"। वाजसनेयी शाखा के अनुयायियों के 'स्वरित' का यह लक्षण किया गया है ॥ ४३ ॥

सू० अ०—अथवा परवर्ती अंश अनुदात्ततर (उच्चारित होता है)।

त्रि० अ०—उस 'स्वरित' का आधे 'ह्रस्व' काल (=आधी मात्रा) से अवशिष्ट अंश; वा = विकल्प से; नीचैस्तराम् = अनुदात्ततर; होता है। अनन्तरः = (बाद वाला) अवशिष्ट अंश—यह अर्थ है। उदाहरण वही है।

(क) 'स्वरित' के विभाग तथा उच्चारण के विषय में १।४१-४२ में जो नियम बतलाया गया है उसका सम्बन्ध व्यञ्जनरहित 'स्वरित' के साथ है। प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि उक्त नियम (१) 'उदात्त' के बाद में स्थित तथा व्यञ्जन-सहित (व्यञ्जनपूर्व) 'स्वरित पर भी लागू होता है; (२) सभी प्रकार के व्यञ्जनसहित 'स्वरित' पर भी लागू होता है।

(ख) तात्पर्य यह है कि व्यञ्जनपूर्वक 'स्वरित' स्वर के विषय में पहले नियम नहीं बतलाया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र में उसके विभाग तथा उच्चारण के विषय में नियम बतलाया गया है।

---

(१) १।१।४ (२) ४।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अथ शाखान्तरीयो लक्ष्यते—

अनन्तर इत्युदात्ततरादंशात्परोऽश उच्यते। स नीचैस्तराम् = अनुदात्ततरम्; वा; उच्चार्यते। स तु पार्श्वत उत्क्षेपणात्स्वरितात्मको भवति। अनुदात्ततरत्वं तु अधोभागे दृढप्रयत्नमात्रेण वेदितव्यम्। आदिः पूर्ववत्। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ ४४ ॥

अनुदात्तसमो वा ॥ ४५ ॥

मा०—अस्यैव स्वरितस्य ह्रस्वात् स एव शेषः अनुदात्तसमो भवति। तत्र योगविभागः क्रियते—यद्युदात्त आदिरनुदात्तसमः शेषः, अथवा अनुदात्तसम आदिः उदात्तसमः शेषः। यथा—"स इधानः"[1]। "तिष्यः"[2] इति ॥ ४५ ॥

त्रि०—तस्य स्वरितस्य स एव शेषः अनुदात्तसमो वा भवति। तदेवोदाहरणम् ॥ ४५ ॥

वै०—अन्यशाखास्थोऽपि लक्ष्यते—

स एव शेषोऽनुदात्तसमो वा भवति। अधोभागजातेन अदृढप्रयत्नेन पार्श्वत उत्क्षेपणात्स्वरितात्मकश्च भवति। आदिः पूर्ववत्। तान्येवोदाहरणानि। एवमुक्त्वास्यशाखान्तरीयाः स्वरिताः। ते यमा यद्यप्यस्माकं नेष्टाः। तथाऽप्यस्मदीयस्य स्वरितस्य तद्विलक्षणस्वरूपप्राकट्यार्थमेव उपदिष्टाः। एवमुत्तरत्राप्यनिष्टपक्षोपदेशानां प्रयोजनमनुसन्धेयम् ॥ ४५ ॥

वै० अ०—अब दूसरी शाखा (के 'स्वरित') का लक्षण किया जाता है—

अनन्तरः = बाद वाला—इससे उदात्ततर से परवर्ती अंश को कहा जाता है। वह; वा = विकल्प से; नीचैस्तराम् = अनुदात्ततर; उच्चारित किया जाता है। तिरछे फेंकने से वह स्वरितात्मक होता है। नीचे वाले भाग में निष्पन्न दृढ़ प्रयत्न मात्र से उसे अनुदात्ततर जानना चाहिए। प्रारम्भ के अंश को पूर्व की तरह (जानना चाहिए)। उदाहरण कहे ही जा चुके हैं।

सू० अ०—अथवा 'अनुदात्त' के तुल्य (होता है)।

त्रि० अ०—उस 'स्वरित' का वही अवशिष्ट अंश; वा = विकल्प से; अनुदात्तसमः = 'अनुदात्त' के समान; होता है। उदाहरण वही है।

वै० अ०—दूसरी शाखा में विद्यमान (स्वरित) का लक्षण दिया जाता है—

वही अवशिष्ट अंश; वा = विकल्प से; अनुदात्तसमः = 'अनुदात्त के समान; होता है। नीचे वाले भाग में जायमान अदृढ़ प्रयत्न से ('अनुदात्त') और तिरछे फेंकने से स्वरितात्मक होता है। प्रारम्भ का अंश पूर्व के समान (होता है)। उदाहरण वे ही हैं। इस प्रकार दूसरी शाखा से सम्बद्ध तीन 'स्वरित' कहे गए हैं। वे 'स्वरित' ('यम') यद्यपि हमको अभीष्ट नहीं हैं। तथापि हमारे 'स्वरित' के तद्वि-

---

(१) ४।४।४ (२) २।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः ॥ ४६ ॥

मा०—आचार्या मन्यन्ते—अस्य स्वरितस्यादिः ह्रस्वार्धकालः उदात्तसमः, शेषश्चानुदात्तसम इति । यथा—"स इधानः"[१] "तिष्यः"[२] इति ॥ ४६ ॥

त्रि०—(अस्य =) तस्यैव स्वरितस्य; आदिः; ह्रस्वार्धकालः उदात्तसमो भवति। शेषः; तु; अनुदात्तसमो भवति इत्याचार्या ब्रुवते। यथा—"सखिभ्यो वरिवः"[३], "तस्यादिः"[४] इत्यारभ्याभिहितेऽस्मिन् विकल्पजाले सूत्रमेतदेवेष्टम्। "प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः"[५], "तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः"[६] इति लक्षणानुकूल्यात्। न तूपरितनमपि सूत्रमिष्टम्, एतल्लक्षणप्रातिकूल्यात् ॥ ४६ ॥

वै०—इदानीं स्वमतमुच्यते—

तस्येति प्रकृते पुनरत्र 'अस्य' इति यत्नः प्रक्रियान्तरप्रकटनार्थः। तेनात्रादिरर्धमात्रापरिमित इति नियमो न भवति। किन्त्वङ्गभूतपूर्वोत्तरव्यञ्जनसहितस्य क्वचित्स्वरार्धपर्यन्तोऽश उदात्तसमो भवति। क्वचित्स्वरपर्यन्तः क्वचित्तूपरितनैकव्यञ्जनपर्यन्त इति त्रिविध

लक्षण (उनसे विभिन्न) स्वरूप को प्रकट करने के लिए उपदिष्ट किए गए हैं। इसी प्रकार आगे भी अनिष्ट पक्ष के उपदेशों के प्रयोजन को समझना चाहिए ॥ ४५ ॥

सू० अ०—आचार्य कहते हैं कि इस ('स्वरित') का प्रारम्भ वाला अंश 'उदात्त' के समान (होता है) तथा अवशिष्ट अंश 'अनुदात्त' के समान (होता है)।

त्रि० अ०—(अस्य = इसका =) उसी 'स्वरित' का; आदिः = प्रारम्भ वाला; आधे 'ह्रस्व' का काल (= आधी मात्रा); उदात्तसमः = 'उदात्त' के समान; होता है। शेषः = अवशिष्ट अंश; तो; अनुदात्तसमः = 'अनुदात्त' के समान; होता है—ऐसा; आचार्याः = आचार्य; कहते हैं। जैसे—"सखिभ्यो वरिवः"। "उसका प्रारम्भ वाला अंश·····"—इससे प्रारम्भ करके कहे गए इस विकल्प-समूह में यही सूत्र अभीष्ट है क्योंकि (यह सूत्र) "'प्रश्लिष्ट' और 'प्रातिहत' ('स्वरित' का) मृदुतर प्रयत्न (होता है)", "'तैरोव्यञ्जन' और 'पादवृत्त' ('स्वरित' का अल्पतर प्रयत्न होता है)"—इत्यादि लक्षण के अनुकूल है। परवर्ती सूत्र भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह (= परवर्ती सूत्र) इस लक्षण के प्रतिकूल है।

वै० अ०—अब (सूत्रकार) अपने मत को कहते हैं—

'उस ('स्वरित') के (= तस्य)' प्रकृत होने पर यहाँ 'इस ('स्वरित') के (= अस्य)'—यह यत्न दूसरी प्रक्रिया को प्रकट करने के लिए है। इससे यहाँ 'प्रारम्भ का आधी मात्रा परिमित'—यह नियम होता है। किन्तु अङ्गभूत पूर्ववर्ती तथा परवर्ती व्यञ्जनों के सहित ('स्वरित' स्वर) का कहीं पर आधे 'स्वर' पर्यन्त

---

(१) ४।४।४ (२) २।२।१० (३) ३।३।११
(४) १।४१ (५) २०।११ (६) २०।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिः। शेषश्च क्वचित्स्वरार्धात्मकः क्वचित्स्वरार्धव्यञ्जनात्मकः क्वचिद्व्यञ्जनात्मकः इति त्रिविधः। सोऽनुदात्तप्रयत्नेन कर्णमूलभाजा स्वरितात्मको भवति इत्याचार्या उपदिशन्ति। तत्रैवं विवेक —

पूर्वांशस्त्वरितग्राहिव्यञ्जनादुच्चवद्भवेत्।
तदभावे तु दीर्घांशः शेषौ नीचसमाविह॥

यत्र स्वरितस्वरात्परं स्वरितग्राहि व्यञ्जनमस्ति तत्र तस्माद्व्यञ्जनात्प्राक्तनोऽंश उदात्तसमो भवति। ह्रस्वे दीर्घे च समानमेतत्। यस्मात्तु दीर्घस्वरितात्परं स्वरितग्राहि व्यञ्जनं नास्ति तस्य पूर्वार्धं मात्रापरिमितमुदात्तसमं भवति। एवमुक्तविषयद्वये यौ शेषौ स्वरितग्राहिव्यञ्जनं दीर्घोत्तरार्धं च एतौ उभौ अनुदात्तसमौ भवत इति। तत्रैष स्वरितग्राहिव्यञ्जनसंग्रहः—

स्वरितग्राह्यनुस्वारस्तथा पूर्वाङ्गमुत्तमम्।
तयोर्द्वित्वे परं रूपं पूर्वाङ्गं चेत्तदेव तु॥
तथा पूर्वाङ्गभूताश्च यलवा रेफपूर्वकाः।
ह्रस्वादनन्तरास्त्वेते यद्यन्तस्थापरास्तथा॥

अंश उदात्तसम होता है। कहीं पर 'स्वर' पर्यन्त (अंश उदात्तसम होता है)। इस प्रकार; आदिः = प्रारम्भ वाला अंश, तीन प्रकार का हुआ। और, शेषः = अवशिष्ट (अंश); कहीं पर आधे 'स्वर' के रूप में होता है, कहीं पर आधे 'स्वर' और 'व्यञ्जन' के रूप में होता है, कहीं पर 'व्यञ्जन' के रूप में (ही होता है)— इस प्रकार (शेष अंश भी) तीन प्रकार का हुआ। कर्णमूल भाग में जायमान 'अनुदात्त' प्रयत्न से वह स्वरितात्मक होता है—यह आचार्य लोग उपदिष्ट करते हैं। इस विषय में यह विवेक है—

स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' से पूर्ववर्ती अंश 'उदात्त' (उच्च) के समान होता है। उस (स्वरितग्राही 'व्यञ्जन') का अभाव होने पर तो दीर्घ ('स्वर') का अंश (१ मात्रा) (उदात्तसम होती है)। यहाँ पर जो अवशिष्ट (अंश होते हैं वे) 'अनुदात्त' (नीच) के समान (होते हैं)।

जहाँ पर 'स्वरित' स्वर के बाद में स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' होता है वहाँ उस (स्वरितग्राही) 'व्यञ्जन' से पहले वाला अंश उदात्तसम होता है। 'ह्रस्व' (स्वर) और 'दीर्घ' (स्वर) के विषय में यह समान है। जिस 'दीर्घ' (स्वर) से बाद में स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' नहीं होता है उसका एक मात्रा परिमित पूर्ववर्ती आधा भाग उदात्तसम होता है। इस प्रकार कहे गए दो स्थलों में जो दो (अंश) = स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' और 'दीर्घ' (स्वर) का बाद वाला आधा भाग–शेष होते हैं ये दोनों 'अनुदात्त' के समान होते हैं। उनमें से स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' का संग्रह यह है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति। तत्र स्वरार्धपर्यन्त आदिर्यथा—"सं त्वा सिञ्चामि"[१]। "विश्वरूपो वै"[२]। "अयं यस्सोमो न्यधाय्यस्मे"[३]। "यथा व्याघ्रम्"[४]। अत्र स्वरितग्राहिव्यञ्जनाभावादेवं भवति। स्वरपर्यन्त आदिर्यथा—"श्रोत्रꣳ सौव्वम्"[५]। "प्रियमासधस्थम्"[६]। "यजान् व आज्यंभागौ"[७]। "कल्पाञ्जुहोति"[८]। "तेनै वैनं युनक्ति"[९]। "शरव्ये ब्रह्मसꣳशिता"[१०]। अत्र स्वरितादनन्तरस्य व्यञ्जनस्य स्वरितग्राहित्वादेवं भवति। उपरितनैकव्यञ्जनपर्यन्त आदिर्यथा—"अश्मꣳस्ते क्षुदमुंते शुक्"[११]। "तस्माद्वदन्ब्राणन्"[१२]। अहर्मासꣳसेनं"[१३]। "होतर्यविष्ठ"[१४]। "यत्पूतीकैर्वा"[१५]। अत्र स्वरितग्राहिणो व्यञ्जनान्तर्हितत्वादेवं भवति ॥ ४६ ॥

'अनुस्वार' स्वरितग्राही (होता है), पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्गभूत उत्तम ('व्यञ्जन') (स्वरितग्राही होता है)। उन ('अनुस्वार' और उत्तम) का द्वित्व होने पर परवर्ती रूप (दूसरा 'अनुस्वार' और दूसरा उत्तम) (स्वरितग्राही होता है) यदि वह पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होवे। उसी प्रकार रेफ पूर्व में है जिनके ऐसे य, ल, व, पूर्ववर्ती ('स्वर') का अङ्ग होने पर, (स्वरितग्राही होते हैं)। 'ह्रस्व' स्वर के बाद में आने पर तो ये (य, ल, व) वैसे (स्वरितग्राही) तभी होते हैं यदि इनके बाद में 'अन्तःस्था' हो।

उनमें से आधे 'स्वर' पर्यन्त आदि जैसे—"सं त्वा सिञ्चामि"। "विश्वरूपो वै"। "अयं यस्सोमो न्यधाय्यस्मे"। "यथा व्याघ्रम्"। यहाँ पर स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' का अभाव होने से इस प्रकार होता है। स्वरपर्यन्त आदि जैसे—"श्रोत्रꣳ सौव्वम्"। "प्रियमासधस्थम्"। "यजान् व आज्यंभागौ"। "कल्पाञ्जुहोति"। "तेनै वैनं युनक्ति"। "शरव्ये ब्रह्मसꣳशिता"—यहाँ पर 'स्वरित' से अव्यवहित परवर्ती 'व्यञ्जन' के स्वरितग्राही होने से इस प्रकार होता है। परवर्ती एक व्यञ्जनपर्यन्त आदि जैसे—"अश्मꣳस्ते क्षुदमुं ते शुक्"। "तस्माद्वदन्ब्राणन्"। "अहर्मासꣳसेनं"। "होतर्यविष्ठ"। "यत्पूतीकैर्वा"—यहाँ पर स्वरितग्राही ('व्यञ्जन') के व्यञ्जनान्तर्हित होने से इस प्रकार होता है ॥ ४६ ॥

---

(१) १।६।१ (२) २।५।१ (३) २।२।१२
(४) ५।४।११ (५) ४।३।२ (६) ५।१।११
(७) २।६।३ (८) ५।४।८ (९) ५।५।३
(१०) ४।६।४ (११) ४।६।१ (१२) ५।२।१०
(१३) ५।७।२० (१४) १।२।१४ (१५) २।५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वः प्रवण इत्येके ॥ ४७ ॥

मा०—एके आचार्या मन्यन्ते, अस्य स्वरितस्यादिः सर्वप्रवणो भवति । "स इधानः",[१] "तिष्यः"[२] इति ॥ ४७ ॥

त्रि०—प्रवणशब्दः स्वरितपर्यायः । सव्यञ्जन एव स्वरित आदित आरभ्य सर्वः प्रवणो भवतीति एके आचार्याः ऊचिरे । यथा—"सखिभ्यो वरिवः"[३] ॥ ४७ ॥

वै०—प्रकर्षेण वन्यते व्युत्क्षिप्यत इति प्रवणः । स्वरितस्वरोऽयं सर्वः=कृत्स्न एव; (प्रवणः=) स्वरितः; भवति । न त्वस्य आदितः कश्चिदंश उदात्तसमोऽस्तीत्येके आचार्या उपदिशन्ति । यस्माद्ध्रस्वस्वरितात्परतः स्वरितग्राहि व्यञ्जनं नास्ति तद्विषयमेतत्सूत्रम् । यथा—"वायवस्थोपायवस्थ"[४] । "स्वक्तु इरिणु उपदधाति"[५] । "त्र्यतिरात्रो भवति"[६] । एवमस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्याने—

सपूर्वं स्वर्यते ह्रस्वो दीर्घोऽन्त्यांशे तदुत्तरौ ।
नादानुस्वारकावेव स्वर्यते पूर्वं उच्चवत् ॥

इति शिक्षावचनं मूलमित्यनुसन्धेयम् ॥ ४७ ॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य कहते हैं कि) सम्पूर्ण ('स्वरित' स्वर) 'स्वरित' ('प्रवण') (होता है) ।

त्रि० अ०—'प्रवण' शब्द 'स्वरित' का पर्यायवाची है । 'स्वरित' (स्वर) 'व्यञ्जन' के सहित, प्रारम्भ से लेकर, सर्वः = सम्पूर्ण; प्रवणः = 'स्वरित'; होता है; इति—यह; एके = कतिपय आचार्य; कहते हैं । जैसे—"सखिभ्यो वरिवः" ॥ ४७ ॥

वै० अ०—प्रकृष्ट रूप से आक्रान्त किया जाता है = फेंका जाता है, अत एव 'प्रवण' ('स्वरित') (कहलाता है) । यह 'स्वरित' स्वर; सर्वः = सम्पूर्ण ही; (प्रवणः =) 'स्वरित' होता है । ऐसी बात नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर इसका कुछ अंश 'उदात्त' के समान होता है—इति = यह; एके=कतिपय आचार्य; उपदिष्ट करते हैं । जिस 'ह्रस्व' 'स्वरित' से परे स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' नहीं होता है, उस ('स्वरित') के विषय में यह सूत्र है । जैसे—"वायवस्थोपायवस्थ" । "स्वक्तु इरिणु उपदधाति" । "त्र्यतिरात्रो भवति" । इस प्रकार इन दो सूत्रों के व्याख्यान में—

"'ह्रस्व' ('स्वरित' स्वर) पूर्वसहित (अर्थात् सम्पूर्ण) स्वरितात्मक होता है । 'दीर्घ' ('स्वरित' स्वर) अन्तिम अंश में स्वरितात्मक होता है । (जहाँ पर 'स्वरित' स्वर के बाद में स्वरितग्राही 'व्यञ्जन' होता है वहाँ पर) उस ('स्वरित' स्वर) के परवर्ती नाद (पञ्चम वर्ण और य, ल, व) और 'अनुस्वार' स्वरितात्मक होते हैं, पूर्ववर्ती अंश 'उदात्त' के समान होता है" ।

इस शिक्षा-वचन को मूल-रूप में समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

---

(१) ४।४।४ (२) २।२।१० (३) ३।३।११
(४) १।१।१ (५) ५।२।४ (६) ७।३।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानापदवदिङ्ग्यमसंख्याने ॥ ४८ ॥

मा० – इङ्ग्यपदं नानापदवद् भवति संख्यानविषयादन्यत्र। यथा—"सन्तृद्धे इति सं-तृद्धे"[१], "असन्तृण्णे इति असं-तृण्णे"[१]। नानापदवदिति किम्? "ओषतात्तिग्महेते"[२], "तत्प्रवाते विषजन्ति"।[३] असंख्यान इति किम्? "युग्मदयुजे जुहोति"[४], "मिथुनत्वायोत्तरावती भवतः"[४] ४८ ॥

त्रि०—(इङ्ग्यम् =) इङ्ग्यपदम्; नानापदवद्भवति; असङ्ख्याने विषये। नानापदवदिति किम्? "ओषतात्तिग्महेते"[२] "तत् प्रवाते"[३] इत्यादौ "आकारैकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य तेथे"[५] इति प्रग्रहत्वं मा भूदिति। असङ्ख्यान इति किम्? "द्वे" "परश्च" "एकव्यवेतोपि"[६] इति वक्ष्यति। "द्वे सवने शुक्रवती"[७] इत्यत्र प्रग्रहत्वं भवत्विति वदामः। नानापदमिव नानापदवत् ॥ ४८ ॥

सू० अ०—सावग्रह पद ('इङ्ग्य') को पृथक् पदों के समान (जानना चाहिए) यदि गणना न की जाये।

त्रि० अ०—(इङ्ग्यम् =) सावग्रह (= पदपाठ में अवग्रह के द्वारा दो भागों में विभक्त होने वाला) पद; नानापदवत् = पृथक् पदों के समान; होता है (अर्थात् सावग्रह पद के दोनों भागों को एक दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र पदों के समान जानना चाहिए); असङ्ख्याने = जिन स्थलों पर गणना नहीं की गई हो वहाँ। (प्रश्न) पृथक् पदों के समान—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "ओषतात्तिग्महेते", "तत् प्रवाते"[क] इत्यादि में "आकार अथवा एकार पूर्व में होने पर बहुत 'स्वर' वाले पद के 'ते' तथा 'थे' (का अन्त्य एकार 'प्रग्रह' होता है)"—इससे प्रग्रहत्व न होवे। (प्रश्न) जिन स्थलों पर गणना न की गई हो— यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "द्वे (का अन्त्य एकार 'प्रग्रह' होता है)" " ('द्वे' के) बाद वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)" एक (पद) से व्यवहित होने पर भी ('द्वे' से बाद वाला ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—यह (सूत्रकार)

(क) ओषतात्। तिग्महेत इति तिग्म-हेते ॥ प० पा०
तत्। प्रवात इति प्र-वाते ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'हेते' और 'वाते' को स्वतन्त्र पदों के समान माना जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि 'हेते' और 'वाते' के अन्तिम एकार ४।४० के अनुसार 'प्रग्रह' नहीं हुए, क्योंकि 'हेते' और 'वाते' बहुत स्वरों वाले पद नहीं हैं। ४।४० के अनुसार बहुत स्वरों वाले पदों के अन्त में विद्यमान 'ते' और 'थे' के एकार ही 'प्रग्रह' होते हैं।

---

(१) ६।२।११ (२) १।२।१४ (३) ६।४।७ (४) ५।४।८
(५) ४।४० (६) ४।४९,५०,५१ (७) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—पदमत्र समाम्नायप्रसिद्धं अभिमतम्। न व्याकरणप्रसिद्धम्। कुतः? "अप्य-कारादि"[1] इत्यादिवचनसामर्थ्यात् इङ्ग्यमिति विभागवत्पदस्य संज्ञा। इङ्ग्यते विभागेन चाल्यत इति इङ्ग्यम्। सङ्ख्यानं चात्र पदानामेव पर्युदस्यते पदसमभिव्याहारात्। तदयमर्थः—(इङ्ग्यम् =) इङ्ग्यपदम्; अस्मिन् शास्त्रे; नानापदवत् = पृथक्पदे इव; भवति; (असङ्-ख्याने =) पदसङ्ख्यानसंयुक्तविधिविषयं वर्जयित्वेति। नन्विङ्ग्यखण्डयोरपि विभागाध्यय-नात्सिद्धं नानापदत्वमविधेयम्। नैतदेवम्। न हीङ्ग्यस्य द्विविधोच्चारणात्पदभेदो भवति। "उपायव इत्युप-आयवः"[2] इति पदैक्यप्रकटनपूर्वकमेव विभागाध्ययनात्। एतच्च "स्थोपा-यवः। उपायवस्थ"[2] इति क्रमाध्ययनादवसीयते। अत एव 'इषे त्रिचत्वारि ५ शत्' इत्यादि-

---

कहेंगे। "द्वे सवने शुक्रवती"[क] यहाँ पर प्रग्रहत्व हो—इसलिए यह कहते हैं। नानापदवत् =पृथक् पदों की तरह ॥ ४८ ॥

वै० अ०—यहाँ वेद (समाम्नाय) से सिद्ध पद अभीष्ट है, व्याकरण से सिद्ध नहीं। क्यों? 'अकार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (जानना चाहिए)"—इत्यादि वचन के सामर्थ्य से। 'इङ्ग्य'—यह (पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा दो भागों में) विभक्त पद की संज्ञा है। जिस पद को अलग किया जाता है, पृथक्करण के द्वारा चलाया जाता है वह 'इङ्ग्य' है। पदों की गणना के विषय में ही (नानापदवत् का) निषेध किया गया है क्योंकि पद का यहाँ साथ में उल्लेख किया गया है। इससे यह अर्थ हुआ—इस शास्त्र में; (इङ्ग्यम् =) सावग्रह पद; नानापदवत् = दो पृथक् पदों के समान; होता है; (असंख्याने =) पदों की गणना से सम्बद्ध विधि के क्षेत्र को छोड़कर। (शंका) सावग्रह पद के दो खण्डों के पृथक् रूप से अध्ययन करने से (सावग्रह पद का) दो भिन्न पदों के समान होना सिद्ध होता है, अतः इसका विधान नहीं करना चाहिए। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। सावग्रह पद का दो प्रकार से उच्चारण होने से उसका दो पृथक् पदों के समान होना सिद्ध नहीं होता है। (जैसे—) "उपायव इत्युप-आयवः" में पहले पद के एकत्व को प्रकट करके बाद में पृथक् रूप से अध्ययन किया जाता है। यह (पद का एकत्व) "स्थोपायवः। उपायवस्थ"—इस क्रम-अध्ययन से भी निश्चित होता है।

(क) द्वे इति। सवने इति। शुक्रवती इति शुक्र-वती ॥ प० पा०

४।४९-५१ में 'द्वे' इत्यादि पदों की गणना की गई है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार सावग्रह 'शुक्रवती' पद में 'शुक्र' तथा 'वती' पदों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद नहीं माना गया है। अतः 'द्वे' से एक पद से व्यवहित पद 'शुक्रवती' है। इससे 'शुक्रवती' का 'ई' 'प्रग्रह' होता है। यदि 'शुक्र' और 'वती' को पृथक्-पृथक् पद माना जाता तो 'वती' 'द्वे' से दो पदों से व्यवहित हो जाता। ऐसी अवस्था में यहाँ पर ४।५१ लागू न होता।

---

(१) १।५२ (२) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सङ्ख्यापाठाः। तस्माद्विधेय एव नानापदवद्भावः। किं प्रयोजनमस्य विधेः? तदुच्यते—"ससादास्सृजातिष्ठायेन"[1] इति ह्रस्वत्वं वक्ष्यति। तदनिङ्ग्य एव स्यात्। "अग्निर् होता निषसादा यजीयान्"[2] इति। इङ्ग्यखण्डे तु न स्यात्। "ऋषिर् होता निषसादा पिता नः"[3] इति। कुतो न स्यात्? "पदग्रहणेषु पदं गम्येत"[4] इति नियमात्। तथा "द्वे"

इसलिए 'इषे त्रिचत्वारि ५ शत्'—इत्यादि संख्याओं का पाठ है। इसलिए (सावग्रह पद का) दो पृथक् पदों के समान होने का विधान करना चाहिए।[क] (प्रश्न) इस विधि का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) इसे बतलाते हैं—"ससादा, सृजा, तिष्ठा, येना (इन पदों का अन्तिम 'स्वर', पद-पाठ में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है)"—इस (सूत्र) से ह्रस्वत्व का विधान करेंगे। वह (ह्रस्वत्व) अवग्रह रहित (पद) में ही होगा। (उदाहरण) "अग्निर् होता निषसादा यजीयान्"। सावग्रह-पद के एक खण्ड में तो (ह्रस्वत्व) नहीं होगा। (उदाहरण) "ऋषिर् होता निषसादा पिता नः"। (प्रश्न) (ह्रस्वत्व) क्यों नहीं होगा? उत्तर "पद के उद्धरणों में उस पद को ही समझना चाहिए"—इस नियम से।[ख] उसी प्रकार "द्वे (का अन्त्य एकार 'प्रग्रह' होता है)" "('द्वे' के) बाद

(क) पूर्वपक्षी का कहना है कि पदपाठ में सावग्रह पद (इङ्ग्य) को दो खण्डों में विभक्त करके उच्चारित किया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि सावग्रह पद दो पृथक् पदों के समान है। यह वस्तुस्थिति होने पर प्रस्तुत सूत्र के द्वारा विधान करना व्यर्थ है कि सावग्रह पद दो पृथक् पदों के समान होता है। भाष्यकार का कहना है कि पद-पाठ में भी सावग्रह पद का प्रथम उच्चारण एक अभिन्न पद के रूप में ही होता है, द्वितीय उच्चारण में ही सावग्रह पद के दो खण्डों को पृथक् करके उच्चारित किया जाता है। क्रम-पाठ में भी सावग्रह पद एक अभिन्न पद के रूप में ही उच्चारित होता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि सावग्रह पद एक अभिन्न पद है। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यह विधान करना उचित ही है कि सावग्रह पद दो भिन्न पदों के समान होता है।

(ख) अग्निः। होता। नीति। ससाद। यजीयान्॥ प० पा०
ऋषिः। होता। निषसादेति नि-ससाद। पिता। नः॥ प० पा०

३।१२ के अनुसार सं० पा० में स्थित 'ससादा' पद का अन्तिम आकार प० पा० में अकार हो जाता है। उपर्युक्त द्वितीय उदाहरण में ३।१२ लागू नहीं होता है, क्योंकि यहाँ 'ससादा' पद नहीं, 'निषसादा' पद का एक अंश है। १।५० के अनुसार पद के विषय में विहित नियम पद के एक अंश पर लागू नहीं होता है। किंतु यह अभीष्ट है कि ३।१२ यहाँ लागू होवे, जिससे 'ससादा' ('निषसादा') का आकार अकार हो जाये। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान कर दिया गया है कि साव-

---

(१) ३।१२ (२) १।३।१४ (३) ४।६।२ (४) १·५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"परश्च"[१] इति प्रग्रहं वक्ष्यति। तदनिङ्ग्य एव स्यात्। "द्वे एव यजेत"[२] इति। इङ्ग्य-खण्डे तु न स्यात्। "द्वे द्वे सम्भरति"[३] इति। तथा "अन्तरनाद्युदात्ते"[४] इति रेफं वक्ष्यति। सोऽनिङ्ग्य एव स्यात् "अन्तर्यच्छ मघवन्"[५] इति। इङ्ग्यखण्डे तु न स्यात्। "अन्तर्वेद्यन्यः पादो भवति"[६] इति। नानापदवद्भावे सति तत्राभीष्टसिद्धिः। किञ्च—"आकार एकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य तेथे"[७] इति प्रग्रहत्वं वक्ष्यति। स इहापि स्यात्। "तत्प्रवाते विष-

---

वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—इससे 'प्रग्रह' का विधान करेंगे। वह (प्रग्रहत्व) अवग्रहरहित पद में ही होगा। (उदाहरण) "द्वे एव यजेत"। वह (प्रग्रहत्व) सावग्रह पद के एक खण्ड में तो नहीं होगा। (उदाहरण) "द्वे द्वे सम्भरति"।[क] उसी प्रकार "अनाद्युदात्त अन्तः (पद में वर्तमान विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—इस (सूत्र) में रेफ का विधान करेंगे। वह अवग्रह-रहित पद में ही होगा। (उदाहरण) "अन्तर्यच्छ मघवन्"। वह (रेफ) (८।१०) से सावग्रह-पद के खण्ड में नहीं होगा। उदाहरण—"अन्तर्वेद्यन्यः पादो भवति"। (सावग्रह पद के) दो पृथक् पदों के समान होने पर वहाँ (= सावग्रह पद के खण्ड में) अभीष्ट (= रेफ) की सिद्धि होती है।[ख] इसके अतिरिक्त "आकार अथवा एकार पूर्व में होने पर बहुस्वर वाले पद से सम्बन्धित 'ते' और 'थे' ('प्रग्रह' होते हैं)"—इस (सूत्र) से प्रग्रहत्व का विधान करेंगे। वह (प्रग्रहत्व)

ग्रह पद के प्रत्येक खण्ड को पद के समान जानना चाहिए। इससे 'निषसादा'-के एक अंश 'ससादा' को एक पद माना जाता है। अब ३ १२ यहाँ लागू हो जाता है, जिससे 'ससादा' का आकार प० पा० में अकार हो जाता है।

(क) द्वे इति। एव। यजेत॥ प० पा०
द्वेद्वे इति द्वे-द्वे। समिति। भरति॥ प० पा०

४।४९ में 'द्वे' पद के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। इससे 'द्वेद्वे' का कोई भी खण्ड 'प्रग्रह' नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही खण्ड पद नहीं, अपितु पद के अंश हैं। किंतु 'द्वेद्वे' के दोनों खण्डों का 'प्रग्रह' होना अभीष्ट है। इस अभीष्ट (प्रग्रहत्व) की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र से होती है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'द्वेद्वे' के दोनों खण्ड पृथक् पद के समान हैं। अब ४।४९ के अनुसार 'द्वेद्वे' के दोनों खण्ड 'प्रग्रह' हो गए।

(ख) अन्तः। यच्छ। मघवन्निति मघ-वन्॥ प० पा०
अन्तर्वेदीत्यन्तः-वेदि। अन्यः। पादः। भवति॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अभाव में द्वितीय उदाहरण में 'अन्तः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होगा, क्योंकि 'अन्तः' पद नहीं अपितु पद का अंश है। प्रस्तुत सूत्र से 'अन्तः' पद बन जाता है और तब विसर्जनीय ८।१० से रेफ हो जाता है।

---

(१) ४।४९,५० (२) २।५।५ (३) १।६।८ (४) ८।१०
(५) १।४२ (६) २।५।११ (७) ४।४०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्ति"[१]। "न्यमित्रा ँ ओषतात्तिग्महेते"[२] इति। नानापदवद्भावे सति त्विहानिष्टं न भवति। असङ्ख्यान इति किम्? वक्ष्यत्येतत् "ताभ्यामेवं।भाभ्याम्"[३] इत्यन्तत आषष्ठाःप्रग्रह-निमित्तम्। अत्र पदसङ्ख्यानस्यापर्युदासे, "एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्याम्"[४] इत्येते-शब्दस्य "ये द्वे अहोरात्रे एव ते"[५] इति येशब्दस्य चान्तः प्रग्रहो न स्यात्। अथ किमर्थं पदसङ्ख्यानस्यैव पर्युदास आश्रीयते? तदुच्यते—यदि "बहुस्वरस्य तेथे"[६] इति स्वरसङ्ख्या

यहाँ (= इन उदाहरणों में) भी होगा—"तत्प्रवाते विषजन्ति"। "न्यमित्रा ँ ओषतात्तिग्महेते"। (किन्तु यह अनिष्ट है)—(सावग्रह पद के) दो पृथक् पदों के समान होने पर तो यहाँ (= इन उदाहरणों में) अनिष्ट (= प्रग्रहत्व) नहीं होता है।[क] (प्रश्न) जिन स्थलों पर गणना न की गई हो—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) (सूत्रकार) यह कहेंगे कि "ताभ्यामेव, उभाभ्याम्" (इत्यादि निर्दिष्ट पद) अन्त से लेकर छठें (पद) तक के 'प्रग्रह' निमित्त हैं। यहाँ (=१।४८ में) पदों की गणना से संयुक्त स्थलों में (नानापदवत् का) निषेध न किया जाता तो "एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्याम्" में 'एते' शब्द का और "ये द्वे अहोरात्रे एव ते" में 'ये' शब्द का अन्तिम वर्ण 'प्रग्रह' नहीं होगा।[ख] (प्रश्न) पदों की गणना से सम्बद्ध स्थलों में ही (नानापदवत् का) निषेध क्यों किया गया है? (उत्तर) इसे बतलाते हैं—यदि "बहुस्वर से सम्बन्धित 'ते' 'थे'..." में स्वरों की गणना के

(क) तत्। प्रवात इति प्र-वाते। वीति। सजन्ति॥ प० पा०
नीति। अमित्रान्। ओषतात्। तिग्महेत इति तिग्म-हेते॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अभाव में 'प्रवाते' और 'तिग्महेते' को एक-एक पद माना जायेगा। इससे दोनों स्थलों पर 'ते' ४।४० से 'प्रग्रह' हो जायेगा। प्रस्तुत सूत्र से 'वाते' और 'हेते' को पद के समान माना जाता है। इससे 'ते' ४।४० से 'प्रग्रह' नहीं होगा। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से अनिष्ट रूप ('ते' के प्रग्रहत्व) का परिहार हो जाता है।

(ख) एते इति। वै। यज्ञस्य। अञ्जसायनी इत्यञ्जसा-अयनी। स्रुती इति। ताभ्याम्॥ प० पा०
ये इति। द्वे इति। अहोरात्रे इत्यहः-रात्रे। एव। ते इति॥ प० पा०

यदि ४।५२ के इन उदाहरणों में भी प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'अञ्जसायनी' और 'अहोरात्रे'—इन सावग्रह पदों को दो पदों के समान माना जाये तो इन उदाहरणों में ४।५२ से 'एते' शब्द तथा 'ये' शब्दों के अन्तिम एकार 'प्रग्रह' नहीं होंगे। किंतु इन एकारों का 'प्रग्रह' होना अभीष्ट है। इस अभीष्ट की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र के निषेध से होती है।

---

(१) ६।४।७ (२) १।२।१४ (३) ४।५२
(४) ७।३।७ (५) ७।४।४ (६) ४।४०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नस्याप्ययं पर्युदासस्स्यात् "तत्प्रवाते विषजन्ति"[1] इत्यादावपि प्रग्रहत्वं स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थमिति ब्रूमः ॥ ४८ ॥

तस्य पूर्वपदमवग्रहः ॥ ४९ ॥

मा०—तस्येङ्ग्यपदस्य यत्पूर्वपदं तदवग्रहसंज्ञं भवति। यथा—"देवायत इति देव-यते"[2]। अवग्रहसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"नावग्रहः"[3] इति ॥ ४९ ॥

त्रि०—तस्य इङ्ग्यपदस्य; पूर्वपदमवग्रह इत्युच्यते। यथा– "देवायत इति देव-यते"[2]। अवग्रहसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"नावग्रहः"[3] इत्यादि। पदावग्रहशब्दयोर्नियतलिङ्गत्वादन्योन्यान्वयः सम्भवति ॥ ४९ ॥

स्थल में भी (नानापदवत् का) निषेध किया जाता तो "तत्प्रवाते विषजन्ति" इत्यादि में भी प्रग्रहत्व हो जायेगा। इस (प्रग्रहत्व) की निवृत्ति के लिए (ऐसा किया गया है)—यह बतलाते हैं[क] ॥ ४८ ॥

सू० अ०—उस (सावग्रह पद) का पूर्व पद 'अवग्रह' (–संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—तस्य = उसका = सावग्रह पद का; पूर्वपदम् = पूर्व वाला पद; अवग्रहः = 'अवग्रह'[ख]; कहलाता है। जैसे—"देवायत इति देव-यते"। 'अवग्रह' संज्ञा का प्रयोजन—" 'अवग्रह' ('प्रग्रह') नहीं (होता है)" इत्यादि। 'पद'

(क) तत्। प्रवात इति प्र-वाते। वीति। सजन्ति ॥ प० पा०

४।४० स्वरों की गणना से सम्बद्ध विधि है। उपर्युक्त उदाहरण ४।४० का स्थल है। जिस प्रकार पदों की गणना से सम्बद्ध विधि के स्थलों में सावग्रह पद के खण्डों को पद नहीं माना जाता है, उसी प्रकार स्वरों की गणना से सम्बद्ध विधि (यथा ४।४०) के स्थलों में भी सावग्रह पद के खण्डों को पद नहीं माना जावे तो उपर्युक्त 'प्रवाते' (प्रऽवाते) को एक पद माना जायेगा। इससे यहाँ ४।४० लागू हो जायेगा और 'प्रवाते' का एकार 'प्रग्रह' हो जायेगा। किंतु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए उपर्युक्त स्थल में सावग्रह पद के खण्डों को पद माना जाता है। तब ४।४० यहाँ लागू नहीं होता है।

(ख) 'अवग्रह' शब्द 'अव' पूर्वक 'ग्रह्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'अवग्रह' का शाब्दिक अर्थ है--पृथक्करण। पद-पाठ में जब किसी समस्त पद को ऽ-इस चिन्ह के द्वारा पृथक् किया जाता है तब इस स्थल पर एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। एक मात्रा व्यवधान वाले इस पृथक्करण को ही ऋ० प्रा० इत्यादि में 'अवग्रह' कहा गया है। तै० प्रा० इत्यादि में समास के पूर्व पद को 'अवग्रह' कहा गया है, क्योंकि यह परवर्ती पद से पृथक् कर दिया जाता है।

---

(१) ६।४७ (२) ३।५।५ (३) ४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तस्य = इङ्ग्यस्य; यत्; (पूर्वपदम् =) पूर्वखण्डरूपं पदम्; तस्यावग्रह इति संज्ञा। यथा—"उपायवः"[१] इत्यत्र उपशब्दः। "श्रेष्ठतमाय"[१] इत्यत्र श्रेष्ठशब्द इति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अवग्रह आशीर्धूस्सुवः"[२] इत्यादिव्यवहारः ॥ ४९ ॥

पदग्रहणेषु पदं गम्येत ॥ ५० ॥

मा०—पदग्रहणेषु यावत्तस्य पदग्रहणं भवति। तत्रैव पदं गन्तव्यं न भवति। यथा—"त्वे"[३] इति। पदमिति किम्? "क्रत्वे दक्षाय"[४] ॥ ५० ।

त्रि०—पदग्रहणेषु सूत्रेषु गृहीतं पदमेव; गम्येत = ज्ञातव्यम्; न पदैकदेशः। यथा—"त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः"[३] इति वक्ष्यति। तथा सति "त्वे क्रतुम्"[५] इति प्रग्रहो भवति। "क्रत्वे दक्षाय"[४] इति पदैकदेशत्वान्न भवति। गृह्णन्तीति ग्रहणानि पदानां ग्रहणानि पदग्रहणानि तेषु ॥ ५० ॥

और 'अवग्रह' शब्दों के लिङ्ग नियत होने से एक दूसरे का सम्बन्ध संभव होता है[क] ॥ ४९ ॥

वै० अ०—तस्य = उसका = सावग्रह पद का; जो; (पूर्वपदम्=) पूर्व खण्ड-रूप पद है; उसकी; अवग्रहः = 'अवग्रह'—यह संज्ञा है। जैसे—"उपायवः" में 'उप' शब्द ('अवग्रह' संज्ञक है)। "श्रेष्ठतमाय" में 'श्रेष्ठ' शब्द ('अवग्रह' संज्ञक है)। ('अवग्रह') संज्ञा का प्रयोजन—"अवग्रह के रूप में वर्तमान 'आशीः', 'धूः' तथा 'सुवः' (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)" इत्यादि व्यवहार ॥ ४९ ॥

सू० अ०—पद के उद्धरणों में उस पद को (ही) समझना चाहिए।

त्रि० अ०—पदग्रहणेषु = जिन सूत्रों में पद को उद्धृत किया जाता है उनमें; पदम् = पद को; ही; गम्येत = जानना चाहिए; पद के एक भाग को नहीं।[ख] जैसे—"अनिङ्ग्यान्त 'त्वे' ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। वैसा होने पर "त्वे क्रतुम्" (में 'त्वे') 'प्रग्रह' होता है। पद का एक भाग होने से

(क) 'पद' शब्द नपुंसक लिङ्ग में है और 'अवग्रह' शब्द पुल्लिङ्ग में है, तथापि ये परस्पर सम्बद्ध हैं। यद्यपि इनके लिङ्ग का सामञ्जस्य नहीं होता है तथापि नियत लिङ्ग होने के कारण ये परस्पर अन्वित हैं।

(ख) तात्पर्य यह है कि जब किसी सूत्र में कोई वैदिक पद उद्धृत किया जाता है तब उससे उस वैदिक पद को ही समझना चाहिए। यदि उस उद्धृत वैदिक पद के समान स्वरूप वाला कोई पद का भाग हो तो उसका ग्रहण उस उद्धृत पद से नहीं करना चाहिए।

---

(१) १।१।१ (२) ५।१० (३) ४।१०
(४) ३।२।५ (५) ३।५।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—यानीह ग्रहणानि तत्सरूपस्य पदस्य सद्भावात्पदग्रहणानि भवितुमर्हन्ति, पदैकदेशस्य च सद्भावात् तदेकदेशग्रहणानि च तद्विषयोऽयं नियम आरभ्यते। पदग्रहणेषु सम्भवत्सु पदमेव; (गम्येत=) प्रतीयेत। न तु पदैकदेशोऽपि। यथा—"अवासचस्वा"[1] इति ह्रस्वार्थेऽवाग्रहणे "अवानो देव्या कृपा"[2] इति पदमेव गृह्यते। न तु पुनः "त्रिभिर् ऋणवा जायते"[3] इति पदैकदेशश्च। तथा "ईंपूर्वो मकारः"[4] इति लोपनिमित्ते ईंग्रहणे। "ईमन्द्रा सुप्रयसः"[5]

"क्रत्वे दक्षाय" (में 'त्वे' 'प्रग्रह') नहीं होता है।[क] (इनका संहिता से) ग्रहण करते हैं, अतः ये 'ग्रहण' हैं; पदों के ग्रहण = पदग्रहण, उनमें ॥ ५० ॥

वै० अ०—यहाँ (= सूत्र में) जो उद्धरण होते हैं उनके समान स्वरूप वाले (वैदिक) पद के विद्यमान होने पर वे उद्धरण उस (वैदिक) पद के भी हो सकते हैं, (सूत्र में उद्धृत वैदिक पद के समान स्वरूप वाले) पद के एक भाग के विद्यमान होने पर वे उद्धरण पद के एक भाग के भी (हो सकते हैं), इस विषय में यह नियम प्रारम्भ किया जाता है। पदग्रहणेषु = पद के उद्धरण सम्भव होने पर; पदम् = पद को; ही; (गम्येत =) जानना चाहिए। पद के एक भाग को नहीं।[ख] जैसे—"अवा सचस्वा··· (ये पद अवग्रह-रहित हों तो इनका अन्त्य 'स्वर' पद-पाठ में, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है)" में 'ह्रस्व' होने के हेतु 'अवा' का ग्रहण होने पर "अवा नो देव्या कृपा" में पद का ही ग्रहण होता है। किंतु "त्रिभिर् ऋणवा जायते" में पद के एक भाग का ग्रहण नहीं होता है।[ग] उसी

(क) ४।१० के अनुसार 'त्वे' पद 'प्रग्रह' होता है। इससे 'त्वे क्रतुम्' में 'त्वे' 'प्रग्रह' है। किंतु "क्रत्वे दक्षाय" में 'त्वे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि यह 'त्वे' स्वतन्त्र पद न होकर अन्य पद ('क्रत्वे') का एक भाग है। पद के विषय में विहित नियम पद के एक भाग पर लागू नहीं होता है।

(ख) प्रातिशाख्य के सूत्रों में जो वैदिक पद उद्धृत हैं उनके समान स्वरूप वाले पद भी संहिता में उपलब्ध होते हैं और उनके समान स्वरूप वाले पदों के एक भाग भी उपलब्ध होते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर सूत्रों में उद्धृत वैदिक पदों के विषय में विहित नियम क्या संहिता में उपलब्ध पदों पर लागू होते हैं अथवा पदों के एक भाग पर अथवा दोनों पर ? प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि ऐसे स्थलों पर संहिता में उपलब्ध पदों को ही समझना चाहिए, पदों के एक भाग को नहीं।

(ग) अवा। नः। देव्या। कृपा॥ प० पा०
त्रिभिरिति त्रि-भिः। ऋणवेत्यृण-वा। जायते॥ प० पा०
३।८ के अनुसार प्रथम उदाहरण में 'अवा' के 'आ' का 'अ' हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'अवा' के 'आ' का 'अ' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'अवा' पद नहीं, अपितु पद का एक भाग है।

(१) ३।८ (२) ४।१।४ (३) ६।३।१०
(४) ५।१२ (५) ४।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति पदमेव गृह्यते। न तु "पृथिवीं मा हिꣳसीः"[१] इति पदैकदेशश्च। अत्र ग्रहणेष्विति वचनाद्ग्रहणमात्ररूपासु संज्ञास्वयं नियमः। न तु "चीयत्परः"[२] "नकारश्शकारं चपरः"[३] इत्यकारान्तासु संज्ञास्त्रिति वेदितव्यम् ॥ ५० ॥

अपि विकृतम् ॥ ५१ ॥

मा०—ग्रहणेषु पदमवगन्तव्यम्। यथा—"षु-षू-कृधिसुवः"[४] इति। विकृतमिति किमर्थम्? "तां सृगेषु न्यदधात्"[५]। "देवेषु नः सुकृतो ब्रूतात्"[६] इति ॥ ५१ ॥

त्रि०—अपिशब्दः पदमन्वादिशति। पदग्रहणेषु विकृतमपि पदमवगन्तव्यम्।

प्रकार "ईम् पूर्व में हो तो मकार (लुप्त हो जाता है)" में लोप के निमित्त के रूप में 'ईम्' का ग्रहण होने पर "ईमन्द्रा सुप्रयसः" में ('ईम्') पद का ही ग्रहण होता है। "पृथिवीं मा हिꣳसीः" में पद के एक देश का नहीं।[क] यहाँ (इस सूत्र में) उद्धरणों (ग्रहण) में इस कथन से उद्धरण रूप संज्ञाओं में ही यह नियम है। "यत् अथवा प्र बाद में होने पर ची ('प्रग्रह' होता है)" "च बाद में होने पर नकार शकार (हो जाता है)"—में अकारान्त संज्ञाओं में यह (नियम) नहीं जानना चाहिए[ख] ॥५०॥

सू० अ०—विकार को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)।

(क) ईम्। मन्द्रासु। प्रयसः ॥ प० पा०
पृथिवीम्। मा। हिꣳ सीः ॥ प० पा०

५।१२ के अनुसार प्रथम उदाहरण में 'ईम्' के बाद में विद्यमान मकार का लोप हो गया है। द्वितीय उदाहरण में 'ईम्' के बाद में विद्यमान मकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि यहाँ 'ईम्' पद नहीं, अपितु पद का एक भाग है।

(ख) तात्पर्य यह है कि सूत्रों में उद्धृत वैदिक पदों के विषय में ही यह नियम लागू होता है अन्य पदों के विषय में नहीं। जैसे ४।३३ में कहा गया है कि 'प्र' बाद में होने पर 'ची' का 'ई' 'प्रग्रह' होता है। 'ची' का 'ई' 'प्रग्रह' होता है चाहे बाद में 'प्र' पद हो और चाहे पद के एक भाग के रूप में 'प्र' हो। "प्राची प्रेतम्" में स्थित 'ची' का 'ई' 'प्रग्रह' है, यद्यपि बाद में 'प्र' पद नहीं, अपितु पद का एक भाग है।

५।२० में यह विधान किया गया है कि 'च' बाद में होने पर नकार शकार हो जाता है। इस सूत्र के अनुसार नकार शकार हो जाता है चाहे बाद में पद के रूप में 'च' हो अथवा किसी अन्य पद के एक भाग के रूप में 'च' हो। जैसे—"अहीꣳश्च सर्वाञ्जम्भयन्" तथा "वृत्रान्घनꣳश्चरेत्"।

---

(१) ४।२।९ (२) ४।३३ (३) ५।२०
(४) ७।२ (५) ६।१।३ (६) १।४।४५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—णत्वापत्तौ "वाहनः"[१] इति ग्रहीष्यते पदमिति कृत्वा विसर्जनीये ओत्वमापन्नेऽपि णत्वं नैव निवर्त्तते। "प्रवाहणो वह्निः"[२] "एष स स्यः"[३] इति विसर्जनीयलोपग्रहणं पठिष्यते। "अयमुष्य प्रदेवयुः"[४] इत्यत्र सकारे षत्वमापन्नेऽपि विसर्गलोपो भवत्येव ॥ ५१ ॥

वै०—पदग्रहणेषु पदं वक्ष्यमाणकार्ययोगाद्विकृतमपि प्रतीयेत। न तु विकृतरूपस्यान्यत्वादप्रत्ययः। यथा—"अवासचस्वानुदा"[५] इति नुदापदस्य ह्रस्वत्वं वक्ष्यति। तत्पदं क्रमाध्याये णत्वयोगाद्विकृतमपि कार्यभाग्भवत्येव। "अग्ने जातान्। जातान्प्र। प्रणुद"[६]।

त्रि० अ०—'अपि' शब्द (पूर्व सूत्र से) 'पद' का अन्वादेश करता है। पद के उद्धरणों में; विकृतमपि = विकार को भी प्राप्त पद को; जानना चाहिए। जैसे-णत्व की प्राप्ति में "वाहन (इत्यादि में स्थित नकार णकार हो जाता है)"—का ग्रहण किया जायेगा। पद होने के कारण विसर्जनीय का 'ओ' हो जाने पर भी णत्व की निवृत्ति नहीं होती है। (उदाहरण) "प्रवाहणो वह्निः"[क]। "एषः, 'सः' और 'स्यः' (का विसर्जनीय, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त हो जाता है)"—में विसर्जनीय के लोप का विधान किया जायेगा। "अयमुष्य प्रदेवयुः"—यहाँ पर सकार का षकार होने पर भी विसर्ग का लोप होता ही है[ख]॥ ५१ ॥

वै० अ०—(सूत्र में) उद्धृत पदों के विषय में (यह ज्ञातव्य है कि सूत्र में उद्धृत पद से) आगे कहे जाने वाले कार्य के योग से, विकृतमपि = विकृत भी पद को; समझना चाहिए। ऐसा न हो कि विकृत रूप को अन्य (पद) समझकर उसको (सूत्र में उद्धृत पद) न समझा जाये। जैसे—"अवा सचस्वा नुदा" (ये पद अवग्रह-रहित हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' पद-पाठ में, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है)" में 'नुदा' पद के ह्रस्वत्व का विधान करेंगे। क्रम-पाठ में णत्व के योग से विकृत भी वह ('नुदा') पद कार्य (ह्रस्वत्व) को प्राप्त करता ही

(क) ७।६ में यह विधान किया गया है कि पूर्ववर्ती 'प्र' के कारण 'वाहनः' का नकार णकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि सूत्र में गृहीत पद से उसके विकृत रूप का भी ग्रहण होता है। 'वाहनो' 'वाहनः' का विकृत रूप है। अतः ७।६ 'वाहनो' पर भी लागू होता है। इससे 'वाहनः' का 'वाहनो' हो जाने पर भी 'प्र' के कारण णत्व हो जाता है।

(ख) 'व्यः' 'स्यः' का विकृत रूप है। यद्यपि ५।१५ में 'स्यः' के विसर्जनीय के लोप का विधान किया गया है, तथापि प्रस्तुत सूत्र की सहायता से ५।१५ के अनुसार 'व्यः' के विसर्जनीय का भी लोप हो गया है।

---

(१) ७।६ (२) १।३।३ (३) ५।१५
(४) ३।५।११ (५) ३।८ (६) ४।३।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा स्तरीमापदं षत्वटत्वाभ्यां विकृतमपि कार्यभाग्भवत्येव। "स्तीर्णं बर्हिः। बर्हिस्सुष्टरीम"[१]। "उदथापरश्च"[२] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। उत्पदमुत्तमापत्त्या विकृतमपि निमित्तं भवत्येव। "अमित्रानुन्नयामि स्वाꣳअहम्"[३]। अथापदं ह्रस्वापत्त्या विकृतमपि क्रमाध्याये प्रतिषेधनिमित्तं भवत्येव। "अवो यक्षि। यक्षि विद्वान्। विद्वानथ"[४] ॥ ५१ ॥

अप्यकारादि ॥ ५२ ॥

मा०—पदग्रहणेष्वेव, अकारादेरपि पदस्य ग्रहणं भवति। यथा—था इति ग्रहणे

है। (उदाहरण) "अग्ने जातान्। जातान्प्र। प्रणुद"।[क] उसी प्रकार 'स्तरीमा' पद षत्व तथा टत्व के द्वारा विकृत होने पर भी कार्य (ह्रस्वत्व) को प्राप्त करता ही है। (उदाहरण) "स्तीर्णं बर्हिः। बर्हिस्सुष्टरीम"।[ख] "'उत्' और 'अथा' बाद में होने पर (नकार नियम के अनुसार रेफ और यकार नहीं होता है)"—इससे प्रतिषेध को कहेंगे। अन्तिम वर्ण (नकार) हो जाने के कारण विकृत भी 'उत्' पद निमित्त होता ही है। (उदाहरण) "अमित्रानुन्नयामि स्वाꣳअहम्"।[ग] 'ह्रस्व' प्राप्ति के कारण विकृत भी 'अथा' पद क्रम-पाठ में प्रतिषेध का निमित्त होता ही है। (उदाहरण) "अवो यक्षि। यक्षि विद्वान्। विद्वानथ॥"[घ] ५१॥

सू० अ०—अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद) (जानना चाहिए)।

(क) अग्ने। जातान्। प्रेति। नुद॥ प० पा०

३।८ में 'नुदा' पद के 'आ' के 'अ' होने का विधान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र की सहायता से 'नुदा' के विकृत रूप 'णुदा' के 'आ' का भी ३।८ से 'अ' हो गया है।

(ख) स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा॥ सं० पा०
स्तीर्णम्। बर्हिः। सुष्टरीमेति सु-स्तरीम॥ प० पा०

३।१० में 'स्तरीमा' पद के 'आ' के 'अ' होने का विधान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र की सहायता से 'स्तरीमा' के विकृत रूप 'ष्टरीमा' के 'आ' का भी 'अ' हो गया है।

(ग) अमित्रान्। उदिति (उत्+इति)। नयामि। स्वान्। अहम्॥ प० पा०

९।२४ में यह विधान किया गया है कि 'उत्' बाद में होने पर नकार रेफ और यकार नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र की सहायता से 'उत्' का विकृत रूप 'उन्' बाद में होने पर भी नकार रेफ और यकार नहीं हुआ है।

(घ) अवो यक्षि विद्वानथा भव॥ सं० पा०

---

(१) ५।१।११ (२) ९।२४ (३) ४।१।१० (४) ३ २।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्वा इत्यस्यापि ग्रहणं भवति । यथा—"अश्वावतीं सोमवतीम्" [1] ॥ ५२ ॥

त्रि०—अत्रापि अपिशब्दः पदान्वादेशकः । पदग्रहणेष्वकारादि अपि पदं विज्ञेयम् । यथा—"श्वर्त्ता वयुना"[2] इति ह्रस्वादेशे वक्ष्यति । अकारादेरपि तस्य श्वाग्रहणस्य ह्रस्वत्वं भवति यथा—"अश्वावन्तꣳ सहस्त्रिणम्"[3] । अकार आदिर्यस्य तत्तथोक्तम् ॥ ५२ ॥

वै०—पदग्रहणेष्वकाराद्यपि तत्पदं प्रत्येतव्यम् । यथा—"श्वर्ता वयुना"[4] इति श्वापदस्य विहितं कार्यं "अश्वावन्तꣳ सहस्त्रिणम्"[3] इत्यश्वापदेऽपि भवति । "गोशुष्मः"[5] इति गोपदस्योक्तनिमित्तत्वं "अगोअर्घꣳ सोमं कुर्यात्"[6] इत्यगोपदेऽपि भवति ॥ ५२ ॥

त्रि० अ०—यहाँ पर भी 'अपि' शब्द 'पद' का अन्वादेश करता है । उद्धृत पदों के विषय में; अकारादि अपि = अकार से प्रारम्भ होने वाले पद को भी; जानना चाहिए । जैसे—"श्वा, ऋता, वयुना (के अन्तिम 'स्वर' ह्रस्व' हो जाते हैं)"—यह विधान ह्रस्व' के आदेश में करेंगे । अकार से प्रारम्भ होने वाले भी उस 'श्वा' पद का ह्रस्वत्व होता है । जैसे—"अश्वावन्तꣳ सहस्त्रिणम्" ।[क] अकार है आदि जिसका वह वैसा कहा गया (= अकारादि) है ॥५२॥

वै० अ०—उद्धृत पदों के विषय में; अकाराद्यपि = अकार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी; वही पद जानना चाहिए । जैसे—"श्वा, ऋता, वयुना (के अन्तिम 'स्वर' 'ह्रस्व' हो जाते हैं)" से 'श्वा' पद के विषय में विहित कार्य 'अश्वावन्त ꣳ सहस्त्रिणम्'—यहाँ 'अश्वा' पद में भी होता है । "गो, शुष्म (पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है)"—में कहा गया 'गो' पद का निमित्तत्व "अगोअर्घ ꣳ सोमं कुर्यात्" यहाँ 'अगो' पद में भी होता है ।[ख]

'अथा' का विकृत रूप 'अथ' बाद में होने पर भी प्रस्तुत सूत्र की सहायता से विद्वान् का नकार ९।२४ से रेफ और यकार नहीं हुआ है ।

(क) अश्वावन्तमित्यश्व–वन्तम् । सहस्त्रिणम् ॥ प० पा०

यद्यपि ३।२ में यह विधान किया गया है कि 'श्वा' का 'आ' 'अ' हो जाता है तथापि प्रस्तुत सूत्र की सहायता से ३।२ 'अश्वा' पर भी लागू हो गया है । इससे 'अश्वा' का 'आ' 'अ' हो गया हैं ।

(ख) अगोअर्घमित्यगो–अर्घम् । सोमम् । कुर्यात् ॥ प० पा०

११।१६ में यह विधान किया गया है कि 'गो' पद के बाद में विद्यमान अकार का लोप नहीं होता है । प्रस्तुत सूत्र की सहायता से इस उदाहरण में 'अगो' पद के बाद में विद्यमान भी अकार का लोप नहीं हुआ है ।

---

(१) ४।२।६ (२) ३।२ (३) ३।३।११
(४) ३।२ (५) ११।१६ (६) ६।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनूकारादि च ॥ ५३ ॥

मा०—अनूकारादेरपि पदस्य ग्रहणं भवति । यथा—"अननूयाजं प्रायणीयं कार्यम्"[१] ॥ ५३ ॥

त्रि० – चकारः पदमिति बोधयति । पदग्रहणेष्वनूकारादि अपि पदं विज्ञेयम् । "अꣳशु"[२] इत्यनुस्वारागमे वक्ष्यति । अनूकारादेरपि तस्यानुस्वारागमः स्यात् । यथा—"अनꣳशु कुर्वन्तः"[३] । अनूकार आदिर्यस्य तत्तथोक्तम् । नन्वत्र सूत्रे अन्नित्यस्य कारोत्तरत्वं कथं क्रियते "वर्णः कारोत्तरः"[४] इति सूत्रे वर्णमात्रस्य कारोत्तरत्वविधानभङ्गप्रसङ्गात । उच्यते—सत्यं एतच्छास्त्रबलान्न क्रियते किन्तु शास्त्रान्तरबलात् क्रियते । यथा—पाणिनीयाः एवकार, अपेकारः, इत्यादीनां साधुतां कथयन्ति । एवमत्रापि । एवं "अःकार आगम"[५] इत्यत्रापि चोद्यपरिहारौ विज्ञेयौ ॥ ५३ ॥

वै०—व्याख्यातमेतत्पूर्वसूत्रेण । उदाहरणं तु—"अनूहनू"[६] इत्यनूशब्दस्योक्तं

सू० अ०—अनूकार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (जानना चाहिए)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार पद का बोध कराता है। उद्धृत पदों के विषय में; अनूकारादि = अनूकार से प्रारम्भ होने वाले; (च =) भी; पद को जानना चाहिए। "अꣳशु" में 'अनुस्वार' के आगम का विधान करेंगे। उससे 'अनुस्वार' का आगम अनूकार से प्रारम्भ होने वाले ('अनꣳशु') में भी होगा। जैसे—"अनꣳशु कुर्वन्तः"क। अनूकार है आदि में जिसके वह वैसा कहा गया (= अनूकारादि) है। शंका—इस सूत्र में 'अन्' के बाद में 'कार' शब्द का प्रयोग कैसे किया गया है ? क्योंकि "कार (प्रत्यय) है बाद में जिसके ऐसा वर्ण (उस वर्ण का नाम होता है)"— इस सूत्र में केवल वर्ण के बाद में 'कार' के प्रयोग का जो विधान किया गया है उस (विधान) के भङ्ग का प्रसङ्ग यहाँ उपस्थित हो गया है। (उत्तर) कहते हैं, यह सच है, ('अन्' के बाद में कार शब्द का यह प्रयोग) इस शास्त्र के बल से नहीं किया गया है, किन्तु अन्य शास्त्र के बल से किया गया है। जैसे—पाणिनि के अनुयायी 'एवकारः', 'अपिकारः' इत्यादि की साधुता को बतलाते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी (अनूकार का प्रयोग साधु है)। उसी प्रकार "आगम के रूप में आने वाले (शब्द) का अःकार (नाम होता है)"—यहाँ भी इसी प्रकार शंका और परिहार को समझ लेना चाहिए ॥ ५३ ॥

वै० अ०—पूर्ववर्ती सूत्र (१।५२) की सहायता से इस (सूत्र) की व्याख्या

(क) यद्यपि १६।२९ के अनुसार 'अनुस्वार' का आगम 'अꣳशु' में ही होता है तथापि प्रस्तुत सूत्र की सहायता से 'अनꣳशु' में भी १६।२९ लागू हो गया।

---

(१) ६।१।५ (२) १६।२९ (३) ३।२।२
(४) १।१६ (५) १।२३ (६) ३।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यमननूशब्देऽपि भवति। 'प्रयाजवदननूयाजम्'[1] इति। अत्र विकृतादीनां पृथक्सूत्र-करणं विकृतादीनां व्यस्तानामेव योगे पदप्रत्ययः न समुदितानामित्येवमर्थम्। ततश्च "नाधामाधारय"[2] इत्युक्तं ह्रस्वत्वं "प्राणा वै सजाताः"[3] इति णत्वाकारादिश्वयोस्समवाये न भवति ॥ ५३ ॥

(अपृक्त-संज्ञा)

एकवर्णः पदमपृक्तः ॥ ५४ ॥

मा०—भवति। अपृक्तसंज्ञार्थो भविष्यति—"उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या"[4] इति। "यज्ञ-पता३विति"[5]। [सहेत्यत्रानेकवर्णत्वादस्य व्याहरतो वकारागमो यथा न स्यात् (?)] ततोऽस्य परिशेषात् "इवर्णोकारौ यवकारं स्वरपरौ"[6] इत्येतत् प्राप्नोति ॥ ५४ ॥

त्रि०—एकश्चासौ वर्णश्च एकवर्णः। स चेत् पदं भवति, सः; (अपृक्तः =) अपृक्त-संज्ञः; स्यात्। यथा—"स उवेकविꣳशवर्तनिः"[7]। पदमिति किम्? "यज्ञपता३विति"[8]।

हो गई है। उदाहरण—"अनू हनू" में 'अनू' शब्द के विषय में कहा गया कार्य (= ह्रस्वत्व) 'अननू' शब्द में भी होता है। (जैसे)—"प्रयाजवदननूयाजम्"।[क] यहाँ पर विकृत और आदि को पृथक्-पृथक् सूत्र (१।५१ तथा १।५२-५३) में यह बतलाने के लिए रखा गया है कि विकृत और आदि का अलग-अलग प्रयोग होने पर ही पद समझना चाहिए, सम्मिलित का नहीं।[ख] यही कारण है कि "ना, धामा, धारया···" में विहित ह्रस्वत्व "प्राणा वै सजाताः" में णत्व और अकारादित्व के मिलने पर नहीं होता है ॥ ५३ ॥

सू० अ०—एक वर्ण वाला पद 'अपृक्त' (संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—एकवर्णः = जो एक भी है और वर्ण भी है वह। वह यदि; पदम्= पद; होता है तो वह; (अपृक्तः =) 'अपृक्त'[ग] संज्ञक; होता है। जैसे—"स

(क) प्रयाजवदिति प्रयाज-वत्। अननूयाजमित्यननु-याजम् ॥ प० पा०
'अननू' का 'ऊ' भी ३।७ से 'उ' हो गया क्योंकि प्रस्तुत सूत्र की सहायता से 'अनू' पर विहित नियम 'अननू' पर भी लागू होता है।

(ख) तात्पर्य यह है कि सूत्र में उद्धृत वैदिक पद से एक स्थल पर या तो विकृत पद का ही ग्रहण होता है या अकारादि का (या अनकारादि का)। ऐसा नहीं है कि विकृत और अकारादि (या अनकारादि) ये सभी बातें एक स्थल पर ही सम्मिलित हो जायें और तब भी उसका उद्धृत पद से ग्रहण होवे।

(ग) 'अपृक्त' शब्द 'अ' पूर्वक 'सम्पर्क' अर्थ वाली 'पृच्' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर

---

(१) ६।१।५ (२) ३।८ (३) २।६।९
(४) ९।१६ (५) ६।६।२ (६) १०।१५
(७) ४।३।३ (८) ६।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञायाः प्रयोजनम्—"उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या"[1] इति। अपृक्त इति व्यञ्जनेनासंयुत इत्यर्थः ॥५४॥

वै०—(पदम् =) पदात्मकः; एकवर्णः; (अपृक्तः =) अपृक्तसंज्ञः; भवति। न चात्रैकशब्दाभावेऽप्येकत्वावगमात्तदानर्थक्यं शंकनीयम्। अपृक्तसंज्ञाया अन्वर्थत्वख्यापनार्थत्वात्। यथा—"आ दद्दे"[2] "उ लोकमग्ने"[3] "ओ ते यन्ति"[4]। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या"[5] इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ ५४ ॥

आद्यन्तवच्च ॥ ५५ ॥

मा०—एकवर्णपदमादिवच्च अन्तवच्च भवति। आदिर्नाम यस्य परमस्ति पूर्वं नास्ति स आदिः, अन्तो यस्य पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्यः; द्वयमपि एकवर्णपदेनोपपद्यते। यथैतदुपपदं स्यादित्येवमर्था परिभाषा। यथा—"ओ"[6] इति ॥ ५५ ॥

उवेकविꣳशवर्तनिः"।[क] 'पद'—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "यज्ञपता३ विति"।[ख] ('अपृक्त') संज्ञा का प्रयोजन—"अपृक्त उकार प्रकृति रूप से…"। 'अपृक्त' = 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ—यह अर्थ है ॥ ५४ ॥

वै० अ०—(पदम् =) पद के रूप में स्थित; एकवर्णः = एक वर्ण; (अपृक्तः=) 'अपृक्त' संज्ञक; होता है। यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि एक शब्द का अभाव होने पर भी एकत्व की प्रतीति हो जाने से वह (सूत्र में प्रयुक्त 'एक' शब्द) अनर्थक है क्योंकि 'अपृक्त' संज्ञा अर्थानुसारिणी है—यह बतलाने के लिए (सूत्र में 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है)। जैसे—"आ दद्दे", "उ लोकमग्ने", "ओ ते यन्ति"। (अपृक्त) संज्ञा का प्रयोजन—"(स्वर बाद में होने पर) अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से (रहता है)" यहाँ कहेंगे।

सू० अ०—('अपृक्त' संज्ञक पद) आदि के समान और अन्त के समान (कार्य को प्राप्त करता है)।

निष्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'न मिला हुआ'। किसी 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ एक स्वरात्मक पद 'अपृक्त' कहलाता है।

(क) सः। उ। एकविꣳशवर्तनिरित्येकविꣳश-वर्तनिः ॥ प० पा०

एक वर्ण वाला पद होने के कारण 'उ' 'अपृक्त' संज्ञक है।

(ख) यज्ञपता३विति यज्ञ-पता३उ। इति ॥ प० पा०

यहाँ 'उ' पद नहीं, अपितु पद का एक भाग है। अतः यह 'उ' 'अपृक्त संज्ञक नहीं है

---

(१) ९।१६ (२) १।१।९ (३) १।४।४६
(४) १।४।३३ (५) ९।१६ (६) १।४।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारान्त्रादिष्टं तदपृक्तसंज्ञं पदम्; (आद्यन्तवच्च=) आदिवदन्तवच्च कार्यभाक् भवति। आदिवद्यथा—"स उवेकविꣳशवर्तनिः"[१] इत्यत्र "तस्यादिरुच्चैस्तराम्"[२] इति कार्यं भवति। अन्तवद्यथा—"ओ ते यन्ति"[३] इत्यत्र "अन्तः"[४] इति प्रग्रहकार्यं भवति। आदिश्चान्तश्च आद्यन्तौ, ताविव आद्यन्तवत् ॥ ५५ ॥

वै०—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ तयोरिव। चशब्दः अपृक्तसंज्ञं वर्णमन्वादिशति। अपृक्तस्य; (आद्यन्तवच्च=) आदिवदन्तवच्च; कार्यं भवति। वदिष्यति ह्याचार्यः—"तृतीयꣳस्वरघोषवत्परः"[५] इति तत्र पदादिभूतेष्वेव स्वरघोषवत्सु परतः कार्यमिष्यते। ततश्च "उपभृदेहि"[६]। "सेदु होता"[७] इत्यादौ प्रथमस्य तृतीयादेशो न स्यात् अपृक्तस्यादित्वा-

---

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार ('च' पद) से अन्वादिष्ट वह 'अपृक्त' संज्ञक पद; (आद्यन्तवच्च=) आदि के समान और अन्त के समान; कार्य को प्राप्त करता है। आदि के समान—"स उवेकविꣳ शवर्तनिः"—यहाँ पर "—उस (स्वरित) की आधी ह्रस्व मात्रा (=आधी मात्रा) उदात्ततर (होती है)"—से कार्य होता है।[क] अन्त के समान—"ओ ते यन्ति"—यहाँ पर "(पद का) अन्त ('प्रग्रह' होता है)"—इस (सूत्र) से 'प्रग्रह' रूप कार्य होता है।[ख] आदि और अन्त=आद्यन्तौ; उन दोनों की तरह=आद्यन्तवत् ॥ ५५ ॥

वै० अ०—आदि और अन्त=आद्यन्तौ; उन दोनों की तरह। 'च' शब्द 'अपृक्त' संज्ञक वर्ण का अन्वादेश करता है। 'अपृक्त' (संज्ञक वर्ण) का; (आद्यन्तवत्=आदि के समान और अन्त के समान; कार्य होता है। आचार्य कहेंगे—"'स्वर' अथवा 'घोषवत्' (वर्ण) बाद में होने पर (प्रथम 'स्पर्श' अपने वर्ग के) तृतीय को (प्राप्त करता है)"—पद के आदि में विद्यमान 'स्वर' और घोषवत् बाद

(क) सः। उ। एकविꣳशवर्तनिरित्येकविꣳश-वर्तनिः ॥ प० पा०

भाष्यकार का कहना है कि यहाँ 'अपृक्त' पद 'उ' १।४१ के अनुसार पद के प्रथम वर्ण के समान कार्य को प्राप्त करता है भाष्यकार का मन्तव्य यहाँ स्पष्ट नहीं है और सर्वथा युक्त प्रतीत नहीं होता है। तब भी इसे यों समझा जा सकता है—जिस प्रकार पदान्तीय 'उदात्त' 'स्वर' के प्रभाव से परवर्ती पद का प्रथम 'स्वर' 'स्वरित' हो जाता है और जिस प्रकार उसका आदि वाला अंश (=आधी मात्रा) 'उदात्ततर' उच्चारित होता है, उसी प्रकार यहाँ 'अपृक्त' पद 'उ' भी पूर्ववर्ती 'उदात्त' के प्रभाव से 'स्वरित' हो गया है और इसका आदि वाला अंश (=आधी मात्रा) उदात्ततर उच्चारित होता है।

(ख) ओ इति। ते। यन्ति ॥ प० पा०

जिस प्रकार किसी पद का अन्तिम 'ओ' ४।३ से 'प्रग्रह' हो जाता है, उसी प्रकार 'अपृक्त' पद 'ओ' भी यहाँ ४।३ से 'प्रग्रह' हो गया है।

---

(१) ४।३।३ (२) १।४१ (३) १।४।३३ (४) ४।३
(५) ८।३ (६) १।१।१२ (७) १।१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावात्। यस्मात्परं किञ्चिदस्ति पूर्वं नास्ति स आदिरित्युच्यते। तथा—"ओकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति"[१] इति वक्ष्यति। "ओ ते यन्ति"[२] इत्यत्र तन्न स्यात्। अपृक्तस्यान्तत्वाभावात्। यस्मात्पूर्वं किञ्चिदस्ति परं नास्ति स अन्त इत्युच्यते। अस्माद्विधिवचनादपृक्तेऽपि कार्यसिद्धिः ॥ ५५ ॥

(परिभाषा)

वर्णस्य विकारलोपौ ॥ ५६ ॥

मा०—वर्णस्य खलु विकार-लोपौ भवतः, न सर्वस्य। विकारस्तावत्—यथा—"धूर्षाहौ"[३] इति। लोपः—"स ते जानाति"[४], "एष ते गायत्रः"[५] इति ॥ ५६ ॥

त्रि०—(वर्णस्य =) वर्णमात्रस्य; विकारलोपौ स्यातां न तु सर्वस्य पदस्य। विकारस्तावत्, "धूर्षाहौ"[३] इति। लोपस्तु, "स ते जानाति"[४] ॥ ५६ ॥

में होने पर ही यह कार्य अभीष्ट है। इससे "उपभृदेहि", "सेदु होता"[क] इत्यादि में प्रथम (= तकार) को तृतीय (= दकार) का आदेश नहीं होगा, क्योंकि 'अपृक्त' (आ और उ) का आदि के रूप में अभाव है। ('अपृक्त' आदि नहीं) क्योंकि जिससे बाद में कुछ है और पूर्व में (कुछ) नहीं है वह 'आदि' कहा जाता है। उसी प्रकार—"पदान्त ओकार 'प्रग्रह' होता है"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। "ओ ते यन्ति"[ख] में वह (प्रग्रहत्व) नहीं होगा, क्योंकि जिसके पूर्व में कुछ है और बाद में (कुछ) नहीं है वह 'अन्त' कहा जाता है। इस विधि-वचन (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में जो यह विधान कर दिया गया है कि अपृक्त पद आदि और अन्त के समान कार्य प्राप्त करता है) से 'अपृक्त' में भी कार्य की सिद्धि हो जाती है ॥५५॥

सू० अ०—विकार और लोप वर्ण के (होते हैं)।

त्रि० अ०—वर्णस्य = केवल वर्ण के; विकारलोपौ = विकार और लोप; होते

(क) उपभृदित्युप-भृत्। एति (= आ + इति)। इहि ॥ प० पा०
सः। इत्। उ। होता ॥ प० पा०

दोनों ही उदाहरणों में ८।३ से तकार दकार हो गया है, क्योंकि तकार के बाद में क्रमशः 'अपृक्त' पद (आ तथा उ) हैं, जो प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पद के आदि के समान कार्य करते हैं।

(ख) ओ इति। ते। यन्ति ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'ओ' पद के अन्तिम वर्ण के समान होता है। अतः 'ओ' ४।६ के अनुसार 'प्रग्रह' हो गया है।

---

(१) ४।६ (२) १।४।३३ (३) १।२।८
(४) १।२।१४ (५) ३।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—पदस्य यौ विकारलोपौ विधास्येते "अवग्रह आशार्धूस्वरिति रेफम्"[१], "अवग्रह इत्येकम्"[२] इति तावेकस्यैव वर्णस्य वेदितव्यौ। न कृत्स्नस्य पदस्य। नन्वेवं सति कतमस्य वर्णस्येति नावगम्यते। तदुच्यते—पदसंहिता हि पदान्तस्य पदादेश्च भवति। तयोरन्यतरस्य भविष्यतः। कतरस्येति तु तत्रैवावगम्यते ॥ ५६ ॥

(लोप-संज्ञा)

विनाशो लोपः ॥ ५७ ॥

मा०—वर्णस्य विनाशो लोपः, इति संज्ञा क्रियते। यथा—"शतक्रतो नु ते दाये"[३]। लोपसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"अथ लोपः"[४] इति ॥ ५७ ॥

त्रि०—वर्णस्य विनाशः; (लोपः =) लोपसंज्ञः; भवति। यथा—ईमन्द्रा सुप्र-

---

हैं, सम्पूर्ण (पद) के नहीं। विकार (का उदाहरण)—"धूर्षाहौ"।[क] लोप (का उदाहरण)—'स ते जानाति"[ख] ॥ ५६ ॥

वै० अ०—"आशीः, धूः तथा सुवः यदि समास का पूर्व-पद हो तो (इनका विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)", "इति शब्द से युक्त 'एकम्' यदि समास का पूर्व-पद हो तो (उसका मकार लुप्त हो जाता है)"—इत्यादि में पद के जिन; विकार-लोपौ = विकार और लोप का; विधान किया जायेगा वे; वर्णस्य = एक ही वर्ण के; जानने चाहिए। सम्पूर्ण पद के नहीं। शंका—ऐसी स्थिति होने पर किस वर्ण के—यह ज्ञात नहीं होता है। इसे बतलाते हैं—पदसंहिता पदान्त और पदादि की होती है। उनमें से किसी एक के (विकार और लोप) होंगे। (पदान्त और पदादि) में से किसके—यह तो वहाँ पर (= सम्बद्ध स्थल पर) ही ज्ञात होता है ॥ ५६ ॥

सू० अ०—वर्ण का विनाश 'लोप' (कहलाता) है।

त्रि० अ०—वर्ण का; विनाशः = विनाश; (लोपः =) 'लोप' संज्ञक; होता

(क) धूर्षाहाविति धूः—साहौ ॥ प० पा०

यद्यपि ५।१० में यह विधान किया गया है कि 'धूः' रेफ हो जाता है, तथापि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'धूः' का अन्तिम वर्ण (= विसर्जनीय) ही रेफ होता है।

(ख) सः। ते। जानाति ॥ प० पा०

यद्यपि ५।१५ में यह विधान किया गया है कि 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'सः' का लोप हो जाता है, तथापि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'सः' के अन्तिम वर्ण (= विसर्जनीय) का ही लोप होता है।

---

(१) ५।१० (२) ५।१८ (३) २।५।१२ (४) ५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यसः"[1]। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अथ लोपः"[2] इत्यादि। वर्णस्य नित्यतां केचिदाहुः। तन्निराकरणाय व्याकरणानुसारेण सूत्रमेतदभाणि ॥ ५७ ॥

वै०—विनाशः=पदावस्थायां श्रुतस्य संहितायामदर्शनं; (लोपः=) लोपसंज्ञः; भवति। अदर्शनं चानुच्चारणम्। ततश्च "ईं पूर्वो मकारः"[3] "लुप्यते"[4] इत्यादिषु अनुच्चारणमेव विधित्सितं वेदितव्यम्। प्रध्वंसो लोप इति त्वयुक्तम्। उच्चरितप्रध्वंसिनां वर्णानां संहिता-कालपर्यन्तमनवस्थानात् ॥ ५७ ॥

(परिभाषा)

अन्वादेशोऽन्त्यस्य ॥ ५८ ॥

मा०—अन्वादेशस्त्वन्त्यग्रहणे भवति। यथा—"हन्याद्युप्यमानं च"[5] इति ॥५८॥

है। जैसे—"ईमन्द्रा सुप्रयसः"।[क] ('लोप') संज्ञा का प्रयोजन—"अब लोप कहा जाता है" इत्यादि। कुछ लोग वर्ण की नित्यता बतलाते हैं। उनके (मत के) निराकरण के लिए व्याकरण के अनुसार यह सूत्र कहा गया है[ख] ॥ ५७ ॥

वै० अ०—विनाशः = पद-पाठ में सुनाई पड़ने वाले (वर्ण) का संहिता-पाठ में दिखलाई न पड़ना; (लोपः =) 'लोप' संज्ञक; होता है। दिखलाई न पड़ना = उच्चारण न होना। और इसलिए " 'ईम्' पूर्व में होने पर मकार (का लोप हो जाता है "—इत्यादि में अनुच्चारण के विधान को ही अभिप्रेत जानना चाहिए। पूर्ण विनाश लोप है—यह युक्त नहीं है। (पद-पाठ में) उच्चारित होने के बाद पूर्ण विनाश को प्राप्त हो जाने वाले वर्ण संहिता-पाठ तक अवस्थित नहीं रह सकते हैं[ग] ॥ ५७ ॥

सू० अ०—अन्वादेश अन्त्य का (होता है)।

(क) ईम् । मन्द्रासु । प्रयसः ॥ प० पा०

'ईम्' पूर्व में होने पर 'मन्द्रा' के मकार का सं० पा० में विनाश हो गया है। यही लोप है।

(ख) वर्ण का विनाश (लोप) हो जाता है—यह कहने से यह सिद्ध होता है कि वर्ण नित्य नहीं है। नित्य पदार्थ का विनाश (लोप) नहीं होता है।

(ग) तात्पर्य यह है कि पद-पाठ में उच्चारित होने के तुरन्त बाद में सभी वर्णों का विनाश हो जाता है। किन्तु सभी वर्णों के विनाश की 'लोप' संज्ञा नहीं है। जब किसी वर्ण का पद-पाठ में उच्चारण होता है, किंतु संहिता-पाठ में उच्चारण नहीं होता है, तब यह कहा जाता है कि इस वर्ण का 'लोप' हो गया है। इस प्रकार वर्ण का विनाश 'लोप' नहीं, अपितु अनुच्चारण 'लोप' है।

---

(१) ४।१।८ (२) ५।११ (३) ५।१२ (४) ११।१ (५) ७।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—निमित्तस्य निमित्तिनो वा अन्त्यस्यान्वादेशो भवति। निमित्तीति प्रधानं कार्यभागिति यावत्। निमित्तस्य यथा—"हन्यादुप्यमानं च"[१] इत्यन्त्यस्य निश्शब्दस्य। निमित्तिनो यथा—"अकारस्तु संहिताया।मपि"[२] इत्यत्र "सुश्लोकाँ३"[३] इत्यन्त्यस्य अकारस्य। अन्त्यस्येति किम्? "ब्रह्मा३न्त्व ५ राजन्"[४] "अग्ना३ इत्याह"[५] "विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति"[५] ॥ ५८॥

त्रि० अ०—अन्त्यस्य = अन्त्य निमित्त (विकार का कारण) अथवा निमित्तिन् (विकार से प्रभावित पद या वर्ण इत्यादि) का; अन्वादेशः = अन्वादेश; होता है। निमित्तिन् = प्रधान = कार्य को प्राप्त करने वाला। निमित्त का जैसे—"('निः' पूर्व में हो तो) 'हन्यात्' और 'उप्यमानम्' का (नकार णकार हो जाता है) में अन्त्य 'निः' शब्द का।[क] निमित्तिन् का जैसे—"अकार संहिता में भी ('प्लुत' और 'अनुनासिक' होता है)"– से "सुश्लोकाँ३" में अन्त्य अकार का (अन्वादेश होता है)।[ख] अन्त्य का यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "ब्रह्मा३न्त्व५ राजन्", "अग्ना३ इत्याह", "विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति"[ग] ॥ ५८ ॥

(क) ७।३ में विधान किया गया है कि 'हन्यात्' और 'उप्यमानम्' का नकार णकार हो जाता है। इस सूत्र में नकार के णकार होने का कोई निमित्त नहीं दिया गया है। किन्तु पूर्ववर्ती सूत्र (७।२) में णत्व के लिए अनेक निमित्तों को दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र (१।५८) के अनुसार उन अनेक निमित्तों में से अन्तिम ('निः') का अन्वादेश ७।३ में हो जाता है। इससे ७।३ का यह अर्थ हो जाता है—('निः' पूर्व में हो तो) 'हन्यात्' और 'उप्यमानम्' का (नकार णकार हो जाता है)।

(ख) १५।८ में यह विधान किया गया है कि अकार 'प्लुत' और 'अनुनासिक' हो जाता है। यहाँ अकार निमित्तिन् अर्थात् विहित विकार से प्रभावित होने वाला वर्ण है। प्रस्तुत सूत्र (१।५८) के अनुसार १५।८ में 'अन्त्य' का अन्वादेश हो जाता है। इससे यह अर्थ हो जाता है—अन्त्य अकार 'प्लुत' और 'अनुनासिक' हो जाता है। 'श्लोक' का अन्तिम अकार 'प्लुत' और 'अनुनासिक' हो गया है।

(ज) 'ब्रह्मन्', 'अग्ने', 'सोमः' और 'विचित्यः' में अकार अन्त्य नहीं है। अतः इनके 'प्लुत' रूपों में अनुनासिकत्व नहीं हुआ है—'ब्रह्मा३न्त्व----', 'अग्ना३----', 'विचित्यस्सोमा३----', 'विचित्या३----'।

वास्तव में इस सूत्र का भाष्य सन्तोषजनक नहीं है। 'अन्वादेश' शब्द का प्रयोग त्रिभाष्यरत्न में अनेक बार हुआ है और इसका अर्थ है पूर्ववर्ती सूत्र में उल्लिखित किसी विशिष्ट निर्देश का प्रकृत सूत्र में अर्थतः लागू होना। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र का यह अर्थ है—पूर्ववर्ती सूत्र से यदि किसी विशेष निर्देश का अन्वादेश प्रकृत

---

(१) ७।३ (२) १५।८ (३) १।८।१६
(४) ६।५।८ (५) ६।१।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै० —"चापीत्यन्वादेशकौ"[1] इति वक्ष्यति। ताभ्यामन्वादेशः क्रियमाणोऽन्त्यस्यैव वेदितव्यः। न तु समासनिर्देशात्सर्वस्येति। यथा—"षुषूकृधिसुवः"[2] इत्यादिसूत्रादनन्तरं "हन्यादुप्यमानं च"[3] इत्यत्रान्वादेशो निष्पूर्वं इत्यस्यैव भवति। न सर्वस्य। "अवर्ण-व्यवेतोऽपि"[4] इत्यत्र त्वनन्त्यस्याप्यन्वादेशे कारणं तत्रैव वक्ष्यामः ॥ ५८ ॥

उपबन्धस्तु देशाय नित्यम् ॥ ५९ ॥

मा०—उपबन्धः खलु देशसमर्थो भवति नित्यम्। उपबन्धो नाम देशाय च—"पर आ षष्ठात्"[5] इति। तुशब्दः किमर्थम्? विनिवृत्त्यर्थम्, यद्यन्यत्र दृष्टं तदुपबन्धो न भवति। यथा—"सदो हविर्धाने"[6] इति प्रग्रहः। हविर्धान इति सर्वथा न प्रग्रहो भवति।

वै० अ०—" 'च' और 'अपि' अन्वादेश करने वाले होते हैं"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। इनके द्वारा; अन्वादेशः = अन्वादेश; किया जाने पर; अन्त्यस्य = अन्त्य के; ही (अन्वादेश को) जानना चाहिए। साथ में निर्देश होने से सब (वर्णों अथवा पदों) का (अन्वादेश) नहीं (होता है)। जैसे—"षु, षू, कृधिसुवः, समिन्द्रः, अस्थूरि, उरूवाः, षट्, त्रिः, ग्राम तथा निः पूर्व (में हो तो नकार णकार हो जाता है)"—इत्यादि सूत्र के बाद में "('निः' पूर्व में हो तो) 'हन्यात्' और 'उप्यमानम्' (का नकार णकार हो जाता है)" में 'निष्पूर्व' का ही (अन्वादेश) होता है। (षु, षू इत्यादि) सभी (पदों) का नहीं। "(पारी, परि, परी तथा प्र पूर्व में हो तो) अवर्ण से व्यवहित होने पर भी (नकार णकार हो जाता है)"—यहाँ पर अनन्त्य (सब पदों) का भी जो अन्वादेश हुआ है उसमें क्या कारण है यह वहीं बतलायेंगे ॥ ५८ ॥

सू० अ०—उपबन्ध तो (उसी विशिष्ट) देश के लिए (होता है) (और) नित्य (होता है)।

सूत्र में होवे तो वह अन्वादेश अन्तिम पद अथवा वर्ण का ही होता है। भाष्यकार के द्वारा दिया गया प्रथम उदाहरण इस अर्थ के अनुसार ही है। द्वितीय उदाहरण में 'अन्त्य' शब्द का जो अन्वादेश किया गया है वह पूर्ववर्ती सूत्र से नहीं लिया गया है। वह तो एक नवीन तथ्य-(अन्त्य के रूप में) प्रकृत सूत्र में जोड़ दिया गया है।

इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार 'अन्वादेश' के दो अर्थ हुए—(१) पूर्ववर्ती सूत्र से किसी पद अथवा वर्ण की प्रकृत सूत्र में अनुवृत्ति और (२) किसी नवीन तथ्य को जोड़ना। निमित्त के विषय में प्रथम अर्थ लागू होता है और निमित्तिन् के विषय में द्वितीय अर्थ। एक ही सूत्र की व्याख्या दो अर्थों में असंगत लगती है।

---

(१) २२।५ (२) ७।२ (३) ७।३
(४) ७।५ (५) ४।५२ (६) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"हविर्धाने खायन्ते"[१]। तस्मात् "हविर्धाने चर्मन्"[१] इति। एवमस्मिन्नर्थे उपदिष्टे, तुशब्दारम्भात् "यज्ञमुखं हविर्धाने"[२] इति भवति प्रग्रहः। नित्यमिति किमर्थम्? "पूर्वजे-प्रभृत्याऽयम्"[३] इति उपबन्धे सिद्धमिति "यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति"[४] इति लक्षणं भवति। नित्यशब्दात्तदपि निवर्तते। यथा—"इत्याह देवी ह्येषा देवः सोमः"[५] इति ॥५९॥

त्रि०—उपबन्धस्तु स्वदेशायैव नित्यं निर्देशको भवति। उपबध्यत इत्युपबन्धः। एतस्मिन्नित्यधिकरणरूपः सङ्ख्यानविषयः प्रदेशश्च उपबन्ध उच्यते। यथा—"इरावती"[६]

त्रि० अ०—उपबन्धस्तु=उपबन्ध तो; अपने; देशाय = देश के लिए; नित्यम् = नित्य; निर्देशक होता है। बाँधा जाता है, सीमित किया जाता है—अतएव यह 'उपबन्ध' है। "इसमें"—इस अधिकरण रूप के द्वारा संकेतित प्रदेश और गणना से सम्बद्ध प्रदेश 'उपबन्ध' कहलाता है। जैसे—"इरावती" इत्यादि दो सूत्र[क] और "सोमाय स्व"[ख]—इस (अनुवाक) में" तथा "गमयतः, भवतः"[ग] (ये सूत्र)।

(क) ४।२२ में यह विधान किया गया है कि 'इरावती' शब्द से लेकर 'दाधार' शब्द पर्यन्त देश में ईकार और एकार 'प्रगृह्य' होता है। संकेतिक अंश इस प्रकार है—"इरावती धेनुमती हि भूत ꣳ सूयवसिनी मनवे यशस्ये। व्यस्कभ्नाद्रोदसी विष्णु-रेते दाधार" (१।२:१३)।

४।२३ में यह विधान किया गया है कि 'पूर्वजे' शब्द से लेकर 'अयम्' शब्द पर्यन्त देश में ईकार और एकार 'प्रगृह्य' होता है। संकेतित अंश इस प्रकार है—"पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्" (२।६।७)।

उपर्युक्त से ज्ञात होता है कि संहिता का वह स्थल 'उपबन्ध' कहलाता है, जिसके प्रथम शब्द तथा अन्तिम शब्द को निर्दिष्ट करके प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्-धृत किया जाता है।

(ख) ४।४८ में यह विधान किया गया है कि 'सोमाय स्वराज्ञे'—इस अनुवाक में ईकार और एकार 'प्रग्रह' होता है। इससे ज्ञात होता है कि जब संहिता के किसी अनुवाक के कतिपय प्रथम शब्दों को उद्धृत करके उस अनुवाक में किसी कार्य का विधान किया जाता है, तब वह संहिता का प्रदेश उपबन्ध कहलाता है।

(ग) ४।५२ में यह विधान किया गया है कि गमयतः, भवतः इत्यादि पदों से छठे पद पूर्व तक के ईकार और एकार 'प्रगृह्य' होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जब किसी विशिष्ट पद से लेकर कतिपय पदों तक संहिता के अंश की सीमा निश्चित करके कार्य का विधान किया जाता है, तब वह सीमित प्रदेश 'उपबन्ध' कहलाता है।

---

(१) ६।२।११ (२) ३।१।३ (३) ४।२३
(४) १।६१ (५) ६।१।७ (६) ४।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि सूत्रद्वयं, "सोमाय स्वैतस्मिन्"[१] "गमयतो भवतः"[२] इति च। उपबन्धे यदुक्तं तदन्यत्र न भवतीति तुशब्दार्थः। यथा "इत्याह देवी ह्येषा देवस्सोमः"[३]। अत्र त्रिपदप्रभृतिन्यायेन "पूर्वजे प्रभृत्यायम्"[४] इति प्राप्तिः। अन्यत्र यो निषेधः स उपबन्धे न भवतीति नित्यशब्दार्थः। यथा—"सदोहविर्धाने"[५] इति प्रग्रहो ग्रहीष्यते। केवलं हविर्धाने इति सर्वथा न

'उपबन्ध' के विषय में जो कुछ कहा गया है वह अन्यत्र नहीं होता है—यह (सूत्र में प्रयुक्त) 'तु' शब्द का अर्थ है। जैसे—"इत्याह देवी ह्येषा देवस्सोमः"—यहाँ त्रिपदप्रभृति न्याय से "'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' तक (ईकार और एकार 'प्रग्रह' होता है)" की प्राप्ति (होती है)।[क] अन्यत्र जो निषेध (होता है) वह 'उपबन्ध' में नहीं होता है—यह (सूत्र में प्रयुक्त) 'नित्य' शब्द का अर्थ है। जैसे—"सदोह-

---

उपर्युक्त से ज्ञात होता है कि भाष्यकार के अनुसार 'उपबन्ध' संहिता का वह सुसम्बद्ध अंश है, जिसे प्रातिशाख्य के सूत्रों में अनेक प्रकार से निर्दिष्ट करके उसके विषय में कार्य का विधान किया जाता है।

(क) भाष्यकार के अनुसार प्रस्तुत सूत्र (१।५९) में 'उपबन्ध' के विषय में दो तथ्य बतलाए गए हैं। पहला तथ्य उपबन्ध के विषय में विहित कार्य अन्य स्थलों में लागू नहीं होता है। पहले तथ्य के हेतु भाष्यकार ने जो उदाहरण दिया है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है—४।२३ में यह विधान किया गया है कि 'पूर्वजे' शब्द से लेकर 'अयम्' शब्द पर्यन्त प्रदेश (उपबन्ध) में ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। यह उपबन्ध इस प्रकार है—"पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्" (२।६।७)। ४।२३ से अन्य ईकार और एकार वर्णों के साथ-साथ 'देवी' पद का ईकार भी 'प्रग्रह' है। अब १।६१ के प्रकाश में इस स्थल "इत्याह देवी ह्येषा देवः सोमः" (६।१।७) पर दृष्टि डालें। उपबन्ध (२।६।७) के चार पद प्रस्तुत स्थल (६।१।७) में पुनरुक्त हैं।

१।६१ में यह विधान किया गया है कि यदि तीन से अधिक पदों का स्थल संहिता में पुनरुक्त होता है तो प्रथम स्थान पर प्रातिशाख्य के सूत्रों से सिद्ध जो पाठ है, वही पाठ अन्य स्थानों पर भी होगा। प्रातिशाख्य के दूसरे सूत्रों से वह पाठ परिवर्तित नहीं होगा। इस सूत्र (१।६१) के अनुसार -पुनरुक्त "इत्याह देवी हि" में 'देवी' का ईकार ४।२३ से 'प्रग्रह' हो जायेगा। किंतु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट का परिहार प्रस्तुत सूत्र से होता है। उपबन्ध (२ ६।७) के विषय में विहित नियम (४।२३) ६।१।७ में लागू नहीं होगा। इससे पुनरुक्त 'इत्याह देवी हि' में 'देवी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ।

---

(१) ४।४८ (२) ४।५२ (३) ६।१ ७
(४) ४।२३ (५) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रग्रहो गृह्यते। यथा—"हविर्धाने खायन्ते"[१] इत्ययमत्र निषेधो 'हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः"[२] इत्यत्र न प्रसरति। "गमयतो भवतः"[३] इत्यादिना प्राप्तिः। नन्वेतदनुपपन्नम्। अन्यत्र निषेधस्य क्वचिदुपबन्धेऽपि दर्शनात्। यथा—"अथ मिथुनी भवतः"[४] इत्यत्र "गमयतो भवतः"[५] इत्युपबन्धप्राप्तिः। "न ग्रामी"[६] इत्यादिना अन्यत्र निषेधेन निषिध्यते। तथा—"वायव आरोहणवाहौ"[७] इत्यत्र "सोमाय स्व"[८] इति प्राप्तिः। "अते समानपदे"[९] इत्यनेन अन्यत्र निषेधेन निषिध्यते। अत्रोच्यते—"ग्रामी वायवे मनवे" इत्यादीनां कण्ठोक्तत्वादेष निषेधः प्रसरतु, केवलहविर्धाने प्रग्रहो न इत्यार्थिको निषेधो न प्रसरत्येव। आर्थिककण्ठोक्तयोः

विर्धाने" को 'प्रग्रह' माना जायेगा। केवल "हविर्धाने" सर्वथा 'प्रग्रह' नहीं माना जाता है। जैसे—'हविर्धाने खायन्ते" में। अन्य स्थलों पर लागू होने वाला यह निषेध "हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः" में लागू नहीं होता है, क्योंकि "गमयतः, भवतः" इत्यादि (उपबन्ध) से प्राप्ति है।[क] (शंका) यह असङ्गत है, क्योंकि अन्य स्थलों के लिए किया गया निषेध कहीं-कहीं 'उपबन्ध' में भी लागू दिखलाई पड़ता है। जैसे—"अथ मिथुनी भवतः"—यहाँ पर "गमयतः भवतः"—इस 'उपबन्ध' से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति होती है। किन्तु "ग्रामी में नहीं"—अन्य स्थलों पर लागू होने वाले इस निषेध से (उपबन्ध में भी प्रग्रहत्व का) निषेध हो जाता है। उसी प्रकार "वायव आरोहणौ"—यहाँ पर "सोमाय स्व"—इससे (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति होती है। किन्तु "समान पद में वर्तमान 'अते' का (अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' नहीं होता है)"—अन्य स्थलों पर लागू होने वाले इस निषेध से (उपबन्ध में भी प्रग्रहत्व का) निषेध हो जाता है। (सामाधान) इस विषय में कहते हैं—'ग्रामी', 'वायवे', 'मनवे' इत्यादि का पृथक्-पृथक् शब्दतः उल्लेख होने से यह निषेध लागू होवे, केवल 'हविर्धाने' 'प्रग्रह' नहीं होता है—यह आर्थिक निषेध लागू नहीं ही होगा। क्योंकि अर्थतः किसी

(क) भाष्यकार के अनुसार प्रस्तुत सूत्र (१।५९) में उपबन्ध के विषय में दूसरा तथ्य यह बतलाया गया है—अन्य स्थलों के हेतु जो निषेध होता है वह 'उपबन्ध' में लागू नहीं होता है। जैसे—४।११ के अनुसार "सदोहविर्धाने" का एकार 'प्रग्रह' होता है। सूत्र में 'सदः' का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि केवल 'हविर्धाने' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है। यही कारण है कि "हविर्धाने खायन्ते" में 'हविर्धाने' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है। किंतु यह निषेध "हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः" पर लागू नहीं होगा, क्योंकि यह स्थल ४।५२ में विहित 'उपबन्ध' के अन्तर्गत है। अन्य स्थलों के विषय में जो निषेध होता है वह 'उपबन्ध' पर लागू नहीं होता है। इसलिए यहाँ केवल 'हविर्धाने' का एकार 'प्रग्रह' होता है।

---

(१) ६।२।११ (२) ३।१।३ (३) ४५२
(४) ६।५।८ (५) ४।५२ (६) ४५३
(७) ५।६।२१ (८) ४।४८ (९) ४५४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कण्ठोक्तस्य प्राबल्यात् । ननु "अते अवे"[1] इत्यनयोः कण्ठोक्त्यैवालं, तत्र नित्यग्रहणेन किम् । उच्यते—नितरां परिहारः । कण्ठोक्तिरुपबन्धप्राप्तिमेव निवर्तयति । नित्यशब्दस्तु प्राप्तयन्तरमपि परिहरति । यथा—"द्वे जाये विन्दते"[2] इत्यत्र "एकव्यवेतोपि"[3] इति प्राप्तिः । "वनस्पते वीड्वङ्गः"[4] इत्यत्र "वीड्" इत्यादिप्राप्तिः । एवमाद्यूहनीयम् । माहिषेयमतानुसारेणैव प्रपञ्चितम् ॥ ५९ ॥

तथ्य का ज्ञान होना और शब्दतः किसी तथ्य का कथन करना—इन दोनों में शब्दतः कथन ही प्रबल होता है ।[क] शंका—(यदि शब्दतः उल्लेख कर देने से 'उपबन्ध' में भी निषेध लागू हो जाता है तब) (४।५४ में) 'अते' और 'अवे' का शब्दतः उल्लेख कर देना ही पर्याप्त था, वहाँ 'नित्य' के ग्रहण से क्या प्रयोजन है ? (समाधान) बतलाते हैं—इससे सर्वत्र (विधान का) निषेध हो जाता है । शब्दतः जो उल्लेख कर दिया जाता है वह 'उपबन्ध' (के विधान) की प्राप्ति का ही निवारण करता है, (४।५४ में प्रयुक्त) 'नित्य' शब्द तो अन्य प्राप्ति का भी निषेध कर देता है । जैसे—"द्वे जाये विन्दते"—यहाँ पर "एक (पद) से व्यवहित भी ('द्वे' पद से परवर्ती ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति होती है । "वनस्पते वीड्वङ्गः"—यहाँ पर "वीड्" इत्यादि से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति होती है ।[ख] इस प्रकार और अधिक तर्क किया जा सकता है । माहिषेय के मत के अनुसार यह विस्तार किया गया है ।

(क) पूर्वपक्षी—यह कहना संगत नहीं है कि अन्यत्र लागू होने वाला निषेध 'उपबन्ध' में लागू नहीं होता है । जैसे—४।५२ से उपबन्ध में स्थित 'मिथुनी' का ईकार 'प्रग्रह' होना चाहिए । किंतु ४।५३ के सामान्य निषेध से 'मिथुनी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं होता है। उसी प्रकार ४।४८ से 'उपबन्ध' में स्थित 'वायवे' का एकार 'प्रग्रह' होना चाहिए । किन्तु ४।५४ के सामान्य निषेध से 'वायवे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि अन्य स्थलों में लागू होने वाला निषेध उपबन्ध में भी लागू होता है ।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त स्थलों में प्रग्रहत्व का निषेध शब्दों का उल्लेख करके किया गया है । अत एव यह निषेध 'उपबन्ध' में भी लागू होता है । केवल 'हविर्धाने' में जो प्रग्रहत्व का निषेध है वह आर्थिक है अर्थात् इस प्रकार नहीं कहा गया है कि 'हविर्धाने' में प्रग्रहत्व नहीं होता है । अतः उपबन्ध में स्थित केवल 'हविर्धाने' में प्रग्रहत्व का निषेध नहीं होता है ।

(ख) ४।५४ में प्रयुक्त 'नित्य' शब्द की सामर्थ्य से ४।५४ का निषेध 'विन्दते' और 'वनस्पते' पर लागू हो जाता है, जिससे इन पदों के एकार 'प्रग्रह' नहीं होते हैं । इस प्रकार ४।५४ का निषेध ४।५२ के उपबन्ध-विधान का ही निवारण नहीं करता, अपितु ४।३८ और ४।५१ के विधान को भी निरस्त कर देता है ।

---

(१) ४।५४ (२) ६।६।४ (३) ४।५१ (४) ४।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानापदीयं च निमित्तं प्रग्रहस्नादिषु ॥ ६० ॥

मा०—नानापदीयनिमित्तं देशाय नित्यं भवति। यथा—"देवत्ते समृद्धयै"[१]। स्नादिषु—"द्वाभ्यां मास + +" (?)। नित्यमिति किमर्थम्? 'सोमदेवत्ते मतिविदः"[२]। "तं मा संसृज पुनः"[३] ॥ ६० ॥

त्रि०—चकारः तुशब्दनिगदितं नञर्थमन्वादिशति। (प्रग्रहस्नादिषु =) प्रग्रहेषु स्नादिषु च; (नानापदीयं निमित्तं =) नानापदसम्बन्धिनिमित्तमसंहितायामपि; स्वकार्यमुपदिशतीति प्रग्रहानुस्वारकार्यं न निवर्तते। यथा वक्ष्यति—"ध्नीचक्रे पपरे"[४] प्रग्रहौ भवत इत्यत्र प्रग्रहत्वे पकारेणोपदिष्टे पदकालेऽपि तथैव। स्नादिषु च यथा—"नावग्रहपूर्वः"[५] इत्यव-

---

सू० अ०—'प्रग्रह' में और 'स्न' आदि (पदों) में पृथग्भूत पद में स्थित भी निमित्त (अपना कार्य करता है)।

त्रि० अ०—(प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त) 'च' शब्द (पूर्व सूत्र १।५९ में प्रयुक्त) 'तु' शब्द द्वारा कहे गए 'नञ्' के अर्थ (= निषेध) का अन्वादेश करता है। (प्रग्रहस्नादिषु =) 'प्रग्रह' (पदों) के विषय में और 'स्न' आदि[क] (पदों) में; (नानापदीयं निमित्तं =) पृथग्भूत पद में विद्यमान निमित्त पद-पाठ (असंहिता) में; भी अपने कार्य को उपदिष्ट करता है, जिससे 'प्रग्रह' रूप कार्य तथा 'अनुस्वार' रूप कार्य की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे—" 'प' बाद में होने पर 'ध्नी' और 'चक्रे' 'प्रग्रह' होते हैं"—यहाँ पकार के कारण होने वाले प्रग्रहत्व का उपदेश होने पर पद-पाठ में भी वैसे ही (होता है)।[ख] और जैसे 'स्न' आदि में—" 'अवग्रह' पूर्व में हो तो

(क) 'स्न' आदि पदों के लिए सोलहवाँ अध्याय देखिए। इस अध्याय में संहितास्थ उन सभी पदों की गणना कर दी गई है जिनमें 'अनुस्वार' का आगम हुआ है। ये पद 'स्न' से प्रारम्भ होते हैं। पद-पाठ में भी इन सभी पदों में 'अनुस्वार' का आगम विद्यमान रहता है।

(ख) ४।२८ में यह विधान किया गया है कि पकार बाद में हो तो 'ध्नी' और 'चक्रे' के ईकार तथा एकार 'प्रग्रह' होते हैं। उदाहरण—वार्त्रघ्नी पूर्णमासे ॥ सं० पा०
वार्त्रघ्नी इति वार्त्र-घ्नी। पूर्णमास इति पूर्ण-मासे ॥ प० पा०
चक्रे पृष्ठानि ॥ सं० पा०
चक्रे इति। पृष्ठानि ॥ प० पा०
संहिता-पाठ और पद पाठ-दोनों में ही 'घ्नी' और 'चक्रे' के ईकार और एकार 'प्रग्रह' हैं। पद-पाठ में निमित्त से पृथक् होने पर भी ईकार और एकार प्रग्रह हैं। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है—पृथग्भूत पद में विद्यमान भी निमित्त 'प्रग्रह' के विषय में अपना कार्य करता है।

---

(१) २।१।९ (२) ३।२।५ (३) १।४।४५ (४) ४।२८ (५) १६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहेणानुस्वारागमे निषिद्धे पदकालेऽपि तथैव । यथा—"अर्धमासे देवाः"[१] । षत्वणत्वादौ तु नानापदीयं निमित्तम् । संहितायामेव कार्यं करोतीत्ययमारम्भः । यथा—"शुचिषदिति शुचि-सत्"[२] । "प्रवाहण इति प्र—वाहनः"[३] ॥ ६० ॥

यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति त्रिपदप्रभृति ॥ ६१ ॥

भा०—यथोक्तं पुनर्विधाने त्रिपदप्रभृति पुनरुक्तं सिद्धं द्रष्टव्यम् । यथा—"सोम-देवते"[४], 'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोः"[५] । पुनरुक्तमिति किम् ? 'होमां अग्ने वि+ + + + न्" (!) इति । त्रिपदप्रभृतीति किमर्थम् ? "अनुनोद्यानुमतिः"[६] इति । + + + + + + + + + ॥ ६१ ॥

त्रि०—त्रयाणां पदानां समाहारस्त्रिपदम् । कार्यभाजः पदस्य तृतीयत्वं विज्ञेयम् । ईदृशं त्रिपदं प्रभृति आदिर्यस्य तत्त्रिपदप्रभति; यथोक्तम् = पूर्वोक्तविधिम्; करोति अविशेषेण

('मा' वर्ण में 'अनुस्वार' का आगम) नहीं (होता है)" में 'अवग्रह' के कारण 'अनुस्वार' का आगम निषिद्ध होने पर पद-पाठ में भी वैसा ही (होता है) । जैसे—"अर्धमासे देवाः" में ।[क] षत्व, णत्व आदि में तो पृथग्भूत पद में विद्यमान निमित्त संहिता में ही कार्य करता है—यही कारण है कि यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है ।[ख] जैसे—"शुचिषदिति शुचि-सत्" । "प्रवाहण इति प्र—वाहनः" ॥ ६० ॥

सू० अ०—तीन पदों का समुदाय है प्रारम्भ में जिसके ऐसा तीन से अधिक पदों का समुदाय पुनरुक्त होने पर पूर्व में कहे गए (पाठ के समान होता है) ।

त्रि० अ०—तीन पदों का समुदाय = त्रिपद । कार्य को प्राप्त करने वाले पद

(क) १६।११ में यह विधान किया गया है कि 'अवग्रह' (सावग्रह पद का पूर्व-पद) पूर्व में हो तो 'मा' वर्ण में 'अनुस्वार' का आगम नहीं होता है । उदाहरण —

अर्धमासे देवाः ॥ सं० पा०

अर्धमास इत्यर्ध—मासे । देवाः ॥ प० पा०

सं० पा० और प० पा०—दोनों में 'मा' वर्ण में 'अनुस्वार' का आगम नहीं हुआ है । यद्यपि प० पा० में 'मा' के पूर्व में पूर्व-पद नहीं, विराम है तथापि प्रस्तुत सूत्र (१।६०) के सामर्थ्य से पृथग्भूत 'अर्ध' (निमित्त) ने अपना कार्य ('अनुस्वार' का निषेध) किया है ।

(ख) षत्व, णत्व इत्यादि में पृथग्भूत निमित्त अपना कार्य (षत्व, णत्व) नहीं करता है, जबकि 'प्रग्रह' रूप कार्य और 'अनुस्वार' रूप कार्य पृथग्भूत निमित्त से भी होता है । यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है ।

---

(१) २।५।६ (२) १।८।१५ (३) १।३।३
(४) ३।२।५ (५) १।३।१ (६) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्रिपदप्रभृति पुनरुक्तं चेत्। तथा हि—"लुप्यते त्वकार एकारौकारपूर्वः"[१] इत्यनेन प्रथम-काण्डे तृतीयप्रश्ने "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोः"[२] इत्यत्र अकारे लुप्ते तदेव वाक्यं, वाजपेयेऽपि[३] अलोपं बाधित्वा तथैव भवति, त्रिपदप्रभृतित्वात्। "उभा वाम्"[४] इत्यत्र "सुपथा राये अस्मान्"[५] इत्यत्र "उदु त्य जातवेदसम्"[६] इत्यत्रापि तथैव। तथा "सं ते वायुः"[७]

को तृतीय जानना चाहिए। ऐसा तीन पदों का समुदाय है आदि (प्रभृति) में जिसके वह = त्रिपदप्रभृति; यथोक्तम् = पूर्व में कही गई; विधि का अनुसरण करता है, यदि वह तीन से अधिक पदों का समुदाय बिना किसी अन्तर के (= ज्यों का त्यों) पुनरुक्त हो[क]। जैसे "एकार और आकार पूर्व में हो तो अकार लुप्त हो जाता है"—इस (सूत्र) से प्रथम काण्ड के तृतीय प्रश्न में "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोः"—यहाँ पर अकार का लोप हो जाने पर वही वाक्य वाजपेय (प्रश्न) में अलोप का बाध करके वैसा ही होता है, क्योंकि तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति हुई है।[ख] "उभा वाम्"—यहाँ पर (प्रथमतः उपलब्ध) "सुपथा राये अस्मान्"—यह (शब्द समुदाय) "उदु त्यं जातवेदसम्"—यहाँ पर भी वैसा ही है।[ग] उसी

(क) तात्पर्य यह है कि यदि तीन से अधिक पदों का समुदाय संहिता में पुनरुक्त होता है तो प्रथम स्थान पर प्रातिशाख्य के सूत्रों से सिद्ध जो पाठ है वही पाठ अन्य स्थानों पर भी होगा। प्रातिशाख्य के दूसरे सूत्रों से वह पाठ परिवर्तित नहीं होगा।

तीन से अधिक पदों के पुनरुक्त समुदाय में कार्य को प्राप्त करने वाले पद का स्थान तृतीय होना चाहिए। अर्थात् इससे पहले कम से कम दो पुनरुक्त पद होने चाहिए। यह समुदाय कम से कम चार पदों का होना चाहिए।

(ख) "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्" (१।३।१) में 'अश्विनोः' के अकार का लोप ११।१ में विहित सामान्य नियम से हो जाता है। "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्" इस पद—समुदाय की पुनरुक्ति वाजपेय अनुवाक (१।७।१०) में होती है। ११।३ में यह विधान किया गया है कि वाजपेय अनुवाक में एकार अथवा ओकार के बाद में विद्यमान अकार का लोप नहीं होता है। इस सूत्र (११।३) के अनुसार उपर्युक्त स्थल में 'अश्विनोः' के अकार का लोप नहीं होना चाहिए। तब इस स्थल का पाठ यह होगा—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम्"। किन्तु यह पाठ अनिष्ट (संहिता में अनुपलब्ध) है। इस अनिष्ट पाठ का परिहार प्रस्तुत सूत्र १।६१ से होता है। प्रस्तुत सूत्र की सामर्थ्य से ११।१ से सिद्ध पाठ ही पुनरुक्त पाठ भी होगा। ११।३ उस पाठ को परिवर्तित नहीं कर सकता है।

(ग) "सुपथा राये अस्मान् विश्वानि"—यह पद-समुदाय पहली बार १।१।१४ (उभा

---

(१) ११।१ (२) १।३।१ (३) १।७।१० (४) १।१।१४
(५) १।१।१४—१।४।४३ (६) १।४।४३ (७) ४।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यत्र "स जातो गर्भो असि रोदस्योः"[१] इत्येतत् "क्रूरमिव"[२] इत्यत्रापि तथैव। ब्राह्मणवाक्येषु तु त्रिपदमात्राद्वा कार्यं भवति ब्राह्मणवाक्येषु पूर्वस्थलस्यैवोक्तम्। यथा—"इमामगृभ्णन्"[३] इत्यत्र "मर्यश्रीस्स्पृहयद्वर्णो अग्निः"[४] इत्येतद्वाक्यम् 'उत्क्राम्'[५] इत्यत्रापि

प्रकार "सं ते वायुः"—यहाँ पर (प्रथमतः उपलब्ध) "स जातो गर्भो अ सि रोदस्योः'—वह (शब्द समुदाय) "क्रूरमिव"—यहाँ पर भी वैसा ही है।[क] (तैत्तिरीय संहिता के) ब्राह्मण में तो केवल तीन पदों में भी कार्य होता है। ब्राह्मण-वाक्यों में पूर्व स्थल ही उक्त हैं।[ख] जैसे—"इमामगृभ्णन्"—यहाँ पर (उपलब्ध) "मर्यश्रीस्स्पृहयद्वर्णो अग्निः"—यह वाक्य "उत्क्राम"—यहाँ पर भी वैसा ही होता है।[ग] "कार्य को प्राप्त

वाम्···) में आता है। यतः यह याज्या अनुवाक के अन्तर्गत है, अतः ११३ के अनुसार 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं होता है। उपर्युक्त पद-समूह की पुनरुक्ति १।४।४३ (उदु त्यं जातवेदसम्···) में होती है। यह याज्या अनुवाक नहीं है। यहाँ ११।१ में विहित सामान्य नियम से 'अस्मान्' के अकार का लोप होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत सूत्र (१।६१) की सामर्थ्य से पूर्व स्थान (१।१।१४) में उपलब्ध पाठ ही यहाँ (१।४।४३) भी उपलब्ध होता है।

(क) "स जातो गर्भो असि रोदस्योः·····"—यह पद समुदाय पहली बार ४।१।४ (सं ते वायुः·····) में आता है। यतः यह उख्या अनुवाक के अन्तर्गत है, अतः ११३ के अनुसार 'असि' के अकार का लोप नहीं होता है। उपर्युक्त पद-समूह की पुनरुक्ति ५।१।५ (क्रूरमिव·····) में होती है। यह 'उख्या' अनुवाक के अन्तर्गत नहीं है। यहाँ ११।१ में विहित सामान्य नियम से 'असि' के अकार का लोप होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत सूत्र (१।६१) की सामर्थ्य से पूर्व स्थल (४।१।४) में उपलब्ध पाठ ही यहाँ (५।१।५ में) उपलब्ध होता है।

(ख) तै० सं० मन्त्र ब्राह्मणात्मक है। प्रस्तुत सूत्र मन्त्रांश (पद्य) में तभी लागू होता है जब तीन से अधिक पदों का समुदाय पुनरुक्त हो। ब्राह्मणांश (गद्य) में तो तीन पदों के समुदाय की पुनरुक्ति होने पर भी प्रस्तुत सूत्र लागू हो जाता है। इसका कारण यह है कि ब्राह्मणांश में मन्त्रांश के पद-समुदायों की पुनरुक्ति अत्यधिक मात्रा में हुई है। यह स्वाभाविक ही है कि मन्त्रांश के पद-समुदायों के पाठ को ब्राह्मणांश में बिना किसी परिवर्तन के ज्यों का त्यों रख दिया जाये।

(ग) "मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे"—यह पद-समुदाय पहली वार तै० सं० के मन्त्रांश ४।१।२ में आया है। यतः यह 'उख्या' अनुवाक के अन्तर्गत है, अतः ११।३ से 'अग्निः' के अकार का लोप नहीं होता है। यह पद-समुदाय पुनः तै० सं० के ब्राह्मणांश ५।१।३ में इस रूप में आता है—"मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निरित्याह।" यतः यह पद—समुदाय 'उख्या' अनुवाक के अन्तर्गत नहीं है, अतः यहाँ

---

(१) ४।१।४–५।१।५ (२) ५।१।५ (३) ४।१।२ (४) ४।१।२–५।१।३ (५) ५।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथैव भवति। कार्यभाजः पदस्य तृतीयत्वमिति किम्? "ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः"[१] इत्युख्ये। "येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषां"[२] इति रुद्रोत्तमानुवाके। प्रभृतीति किम्? "त्वमग्ने रुद्रः"[३] इति याज्यायां "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः"[३] इति वाक्यं "अग्नयेऽन्नवते"[४] इत्यत्र "इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः"[४] इति पुनरुक्तं सत्तथैव भवेदिति चेत्, मैवम् त्रिपदमात्रादेव तथाभाव इति नात्र वक्तुं युक्तम्। किंतु "जज्ञे सꣳस्फानः"[५] इति जज्ञेग्रहणसामर्थ्यात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात्। पदवीप्सा अध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ६१ ॥

करने वाले पद को तृतीय होना चाहिए"—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः" 'उख्य' में है। "येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषाम्"—यह रुद्र के अन्तिम अनुवाक में है। तीन पदों का समुदाय है आदि में जिसके ऐसा (अर्थात् तीन पदों से अधिक की पुनरुक्ति होने पर) यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "त्वमग्ने रुद्रः"—इस याज्या में "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः"—यह वाक्य "अग्नयेऽन्नवते"—यहाँ पर "इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः"—इस प्रकार पुनरुक्त होने पर वैसा हुआ है, यदि यह कहते हो तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। "केवल तीन पदों के समुदाय (के पुनरुक्त होने) से वैसा हुआ है"—यहाँ यह कहना युक्त नहीं है। किन्तु "जज्ञे, सꣳस्फानः (पूर्व में हो तो अकार का लोप नहीं होता है)" में 'जज्ञे' के ग्रहण के सामर्थ्य से। अन्यथा वह व्यर्थ हो जायेगा।[क] पद (त्रिपदप्रभृति) की द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति को द्योतित करती है॥ ६१॥

११।१ में विहित सामान्य नियम से 'अग्निः' के अकार का लोप हो जाना चाहिए। किन्तु यह अनिष्ट (अनुपलब्ध) है। इस अनिष्ट का परिहार प्रस्तुत सूत्र (१।६१) से होता है। यद्यपि यहाँ केवल तीन पदों की पुनरुक्ति है, तथापि ब्राह्मण-वाक्य होने के कारण यहाँ प्रस्तुत सूत्र लागू हो जाता है। इससे 'अग्निः' के अकार का लोप नहीं होता है।

(क) **सिद्धान्ती**—प्रस्तुत सूत्र (१।६१) के अनुसार तै० सं० में पुनरुक्त पद-समुदाय का पाठ पूर्व में उपलब्ध पाठ के समान वहीं होता है जहाँ कम से कम चार पदों की पुनरुक्ति हुई हो।

पूर्वपक्षी—यह कहना युक्त नहीं है। तीन पदों की पुनरुक्ति होने पर भी पुनरुक्त पाठ पूर्व में उपलब्ध पाठ के समान होता है। उदाहरण—

(अ) दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः (१।३।१४ = त्वमग्ने रुद्रः---)
यह 'याज्या' अनुवाक के अन्तर्गत है। अतः ११।३ से 'अग्निः' के अकार का लोप नहीं हुआ है।

(आ) इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः (२।२।४ = अग्नयेऽन्नवते---)
यतः यह 'याज्या' अनुवाक के अन्तर्गत नहीं है, अतः ११।१ में विहित

---

(१) ४।२।८ (२) ४।५।११ (३) १।३।१४ (४) २।२।४ (५) ११।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—त्रीणि पदानि प्रभृतिरादिर्यस्य तदिदं त्रिपदप्रभृतीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तथाभूतं चतुर्थं पदं पुनरुक्तं मन्त्रान्तरे ब्राह्मणान्तरे वा पुनः प्रयुक्तं; यथोक्तम् = यथा पूर्वम् ; एव भवेत् पूर्वस्मिन् प्रयोगे तस्य यत्कार्यं तदभावो वा दृश्यते, तदेवोत्तरस्मिन्नपि प्रयोगे भवति। एतदुक्तं भवति कार्यतदभावप्रयुक्त चतुर्थपदानां चतुर्णां पदानां मन्त्रैकदेश-

---

वै० अ०—तीन पद हैं आदि = प्रभृति में जिसके वह = त्रिपदप्रभृति; यह तद्गुणसंज्ञान बहुव्रीहि[क] है। वैसा (= तीन पद हैं आदि में जिसके) चतुर्थ पद; पुनरुक्तम् = दूसरे मन्त्र में अथवा दूसरे ब्राह्मण में पुनः प्रयुक्त होने पर; यथोक्तम्= पूर्व के समान; ही होगा। पूर्व वाले प्रयोग में उस (चतुर्थ पद) का जो कार्य अथवा उस (कार्य) का अभाव दिखलाई पड़ता है, वही, (कार्य अथवा कार्य का अभाव) बाद वाले प्रयोग में भी होता है। कहने का तात्पर्य यह है—मन्त्र के एक देश के रूप में विद्यमान उन चार पदों—जिनमें से चतुर्थ पद कार्य और उसके अभाव से

सामान्य नियम से 'अग्नि' के अकार का लोप होना चाहिए। किंतु उपलब्ध पाठ में 'अग्निः' के अकार का लोप नहीं हुआ है। इसका कारण यही है कि प्रस्तुत सूत्र के सामर्थ्य से यह पुनरुक्त पद-समुदाय पूर्व (= १।३।१४) में उपलब्ध पाठ के समान है। अतः सिद्ध हुआ कि तीन पदों की पुनरुक्ति होने पर भी प्रस्तुत सूत्र (१।६१) लागू होता है।

सिद्धान्ती—"इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः" में 'अग्निः' के अकार का जो लोप नहीं हुआ है उसका कारण १।६१ नहीं है। इसका कारण ११।१६ है। ११.१६ में विधान किया गया है कि 'जज्ञे' पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है। इसलिए यह कहना ठीक है कि चार पदों की पुनरुक्ति होने पर ही १।६१ लागू होता है।

पूर्वपक्षी—"इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः" में जो 'अग्निः' के अकार का लोप नहीं हुआ है उसका कारण १।६१ को मानना चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होगी।

सिद्धान्ती—ऐसा मानने पर ११।१६ व्यर्थ हो जायेगा। इस सूत्र का निर्माण ही "इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः" में 'अग्निः' के अकार के अलोप के लिए हुआ है। सम्पूर्ण संहिता में ऐसा कोई अन्य स्थल नहीं है जहाँ ११।१६ लागू हो सके। इसलिए ११।१६ को सार्थक करने के लिए यही मानना चाहिए कि 'अग्निः' के अकार का अलोप ११।१६ से हुआ है। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो गया है कि १।६१ वही पर लागू होता है जहाँ चार से अधिक पदों की पुनरुक्ति हुई हो।

(क) तद्गुणसंज्ञान बहुव्रीहि वह होता है जिसमें पदार्थ के साथ-साथ उसके निर्दिष्ट गुण भी परिलक्षित होते हैं। जैसे—दीर्घकर्णः (लम्बे हैं कान जिसके)—यहाँ लम्बे कान वाले पदार्थ के साथ-साथ उसके लम्बे कान भी परिलक्षित होते रहते हैं। किन्तु दृष्टसागरः (देखा गया है समुद्र जिसके द्वारा) इत्यादि बहुव्रीहि समासों में ऐसी बात नहीं है। प्रकृत में उक्त प्रकार के चतुर्थ पद के साथ-साथ उसके पहले तीन पद भी दिखलाई पड़ते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूतानां तेनैव क्रमेण मन्त्रान्तरैकदेशतया पुनश्श्रुतौ तत्रापि चतुर्थे पदे प्रापकान्तराभावेऽपि पूर्वत्र दृष्टं कार्यं भवति। निवर्तकान्तराभावे च कार्यं निवर्तते। तत्र कार्यम्—"द्रापे अन्धसस्पते"[1] इत्यत्रानुवाके "रक्षा च नो अधि च देव ब्रूहि"[2] इत्यकारलोपो दृष्टः। सः "ये ते पन्थानः"[3] इत्यत्रापि भवति। कार्याभावस्तु पौरोडाशिके—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्"[4] इत्यकारलोपो दृष्टः। स त्वकारलोपाभावस्थाने वाजपेयकाण्डेऽपि[5] तथैव भवति। त्रिपदप्रभृतीनां पदानां समूहस्त्रिपदप्रभृतीति तु व्याख्यानं न युज्यते हौत्रब्राह्मणे—"देवी

सम्बद्ध है—का उसी क्रम से दूसरे मन्त्र के एक देश के रूप में पुनः श्रवण (पुनरुक्ति) होने पर वहाँ भी चतुर्थ पद में दूसरे प्रापक के अभाव में भी पूर्व स्थल में दृष्ट कार्य होता है और दूसरे निवर्तक के अभाव में कार्य की निवृत्ति हो जाती है। उनमें से कार्य (का उदाहरण)—"द्रापे अन्धसस्पते"—इस अनुवाक में "रक्षा च नो अधि च देव ब्रूहि"—यहाँ अकार का अलोप दृष्ट है। वह (अकार का अलोप) "ये ते पन्थानः"—यहाँ पर भी होता है।[क] कार्य का अभाव तो पौरोडाशिक (प्रश्न) में—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्"—यहाँ अकार का लोप दृष्ट है। वह तो अकार के लोप के अभाव का स्थान वाजपेय काण्ड में भी वैसा ही होता है।[ख] तीन से अधिक पदों का समूह = त्रिपदप्रभृति (पुनरुक्त होने पर पूर्व के समान रूप वाला होता है)—यह व्याख्यान तो ठीक नहीं बैठता है।[ग] हौत्रब्राह्मण में—

(क) रक्षा च नो अधि च देव ब्रूहि (४।५।१० = द्रापे अन्धसस्पते)।

रुद्र प्रश्न के उपोत्तम अनुवाक के अन्तर्गत होने के कारण ११।३ से 'अधि' के अकार का लोप नहीं हुआ है।

रक्षा च नो अधि च देव ब्रूहि (७।५।२४ = ये ते पन्थानः)

यहाँ ११।३ लागू नहीं होता है। अतः ११।१ से 'अधि' के अकार का लोप होना चाहिए। किन्तु पुनरुक्त पद-समुदाय का चतुर्थ पद होने के कारण पूर्व (४।५।१०) के समान इसके अकार का भी लोप नहीं होता है।

(ख) देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम् (१।१।४)।

'अश्विनोः' के अकार का लोप ११।१ से हुआ है। वाजपेय काण्ड (१।७।१०) में यह पद-समूह इसी रूप में उपलब्ध होता है। वाजपेय काण्ड में ११।३ के अनुसार अकार का लोप नहीं होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत सूत्र (१।६१) के सामर्थ्य से पूर्व (१।१।४) के समान यहाँ भी 'अश्विनोः' के अकार का लोप हो जाता है।

(ग) इस प्रकार व्याख्यान करने पर यह सिद्ध होगा कि पुनरुक्त सभी पदों का पाठ पूर्व स्थल के समान होगा। किन्तु यह युक्त नहीं है। भाष्यकार के अनुसार पूर्व स्थल के

---

(१) ४।५।१० (२) ४।५।१०—७।५।२४ (३) ७।५।२४
(४) १।१।४ (५) १।७।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते''[१] इत्यत्र श्रुतस्य 'इत्याह देवी'[२] इति पदत्रयस्याध्वरब्राह्मणे ''सा देवि देवमच्छेहीत्याह देवी ह्येषा''[३] इति पुनश्श्रुतौ तृतीये पदे प्रग्रहप्रसङ्गात् तथोख्यकाण्डे—''ये अन्तरिक्षे ये दिवि''[४] इति श्रुतस्य पदचतुष्टयस्य शतरुद्रीयऽन्वारोहे—''येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषाम्''[५] इति पुनश्श्रुतौ द्वितीये पदे अलोपप्रसङ्गाच्च। यस्तु कृत्स्नस्य मन्त्रस्य पुनः प्रयोगस्तत्र मन्त्रान्यत्वाभावादचतुर्थेऽपि पदे पूर्ववत्कार्यं भवत्येव। यथा—''अम्बे अम्बालि''[६] इत्यत्र ''दधिक्रावण्णो अकारिषम्''[७] इति पुनश्श्रुतौ द्वितीयस्य पदस्य अलोपः। यश्च मन्त्रपदानां

"देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते"—यहाँ पर सुने गए "इत्याह देवी" इन तीन पदों का अध्वर ब्राह्मण में "सा देवि देवमच्छेहीत्याह देवी ह्येषा"—पुनः श्रवण होने पर तृतीय पद में 'प्रग्रह' का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।[क] उसी प्रकार 'उख्य' काण्ड में "ये अन्तरिक्षे ये दिवि"—यहाँ पर सुने गए चार पदों का शतरुद्रीय अन्वारोह में "येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषाम्"—इस प्रकार पुनः श्रवण होने पर द्वितीय पद में अलोप का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। सम्पूर्ण मन्त्र का जो पुनः प्रयोग होता है वहाँ मन्त्र के अन्यत्व का अभाव होने से अचतुर्थ भी पद में पूर्व के समान कार्य होता ही है। जैसे—"अम्बे अम्बालि" यहाँ पर "दधिक्रावण्णो अकारिषम्"—यह पुनः श्रवण होने पर द्वितीय पद का अलोप (होता है)।[ख] मन्त्र के पदों का ब्राह्मण में जो अनुवाद (होता है),

---

समान उसी पद का पाठ होता है जिसके पूर्व में कम से कम तीन पुनरुक्त पद हों अर्थात् पुनरुक्त पद-समूह में चतुर्थ पद इत्यादि का ही पाठ पूर्व स्थल के समान होता है, प्रथम, द्वितीय और तृतीय का नहीं।

(क) देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते (२।६।७)।

४।२३ से 'देवी' का ईकार 'प्रग्रह' है।

सा देवि देवमच्छेहीत्याह देवी ह्येषा (६।१।७)।

यहाँ ४।२३ लागू नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र का व्याख्यान यदि इस प्रकार किया जाये कि पुनरुक्त पद-समूह के सभी पदों का पाठ पूर्व स्थल में उपलब्ध पाठ के समान होगा, तब ६।१।७ में भी 'देवी' का ईकार 'प्रग्रह' हो जायेगा। किन्तु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए—जिस पद के पूर्व में कम से कम तीन पुनरुक्त पद हों उस पद का पाठ ही पूर्व स्थल में उपलब्ध पाठ के समान होगा। इसी प्रकार "येऽन्तरिक्षे" उदाहरण को भी समझ लेना चाहिए।

(ख) दधिक्रावण्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूꣳषि तारिषत्॥ १।५।११।

---

(१) २।६।७ (२) २।६।७—६।१।७ (३) ६।१।७ (४) ४।२।८
(५) ४।५।११ (६) ७।४।१९ (७) ७।४।१९—१।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मणेऽनुवादस्तत्र स एव मन्त्रोऽनूद्यत इति मन्त्रान्यत्वाभावान्मन्त्रकाण्डवदचतुर्थमपि पदं भवति। "मर्यश्रीस्स्पृहयद्वर्णो अग्निरिति"[1]। न तत्र प्रापकान्तरमपेक्षणीयम्। मन्त्रान्यत्वाभावात्। द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्तेरुपलक्षणम्॥ ६१॥

इति माहिषेयविरचिते पदक्रमसदने, सोमयार्यविरचिते त्रिभाष्यरत्ने,
गार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये प्रातिशाख्य-
व्याख्याने प्रथमोऽध्यायः॥

वहाँ वही मन्त्र अनूदित होता है—इसलिए मन्त्र के अन्यत्व का अभाव होने पर मन्त्र काण्ड के समान अचतुर्थ भी पद (पूर्व के समान) होता है। (जैसे) "मर्यश्रीस्स्पृहयद्वर्णो अग्निरिति"। वहाँ पर दूसरे प्रापक की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह अन्य मन्त्र नहीं होता (पदप्रभृति का) दो बार कथन अध्याय की समाप्ति का बोधक है॥ ६१॥

दधिक्रावणो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूꣳषि तारिषत्॥ ७।४।१९।

यहाँ सम्पूर्ण मन्त्र की पुनरुक्ति हुई है। अतः द्वितीय स्थल में भी सभी पद पूर्व के समान ही होंगे।

---

(१) ५।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयोऽध्यायः

अथ शब्दोत्पत्तिः ॥ १ ॥

म०—अथेत्यधिकारः । कतमस्य ? शब्दोत्पत्तेः । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः, तत् शब्दोत्पत्तिरिति अभिधीयते ॥ १ ॥

त्रि०—उक्तो वर्णसमाम्नायस्तेषां वर्णानां कीदृक् कारणं, कथं वा तदुपलब्धिः इत्याकांक्षानन्तरं तन्निरूप्यते इत्यानन्तर्यार्थः अथशब्दः । अथवा इत उत्तरं यद्वक्ष्यते तच्छब्दोत्पत्तिरित्यधिकृतं वेदितव्यमित्यधिकारार्थः । शब्दो नाम ध्वनिः, वर्णानामकारादीनामुपादानकारणं, तदुत्पत्तिर्जन्म, उपलब्धिर्वा यथा उदकस्य दर्शनात् पूर्वमेव भूमौ जलमस्त्येव तत् खननाद्दृश्यते तद्वत् । शब्दोत्पत्तिरुच्यत इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

वै०—इदानीं वेदवर्णानां उच्चारणप्रसिद्ध्यर्थं, "मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्"[1] इत्यादिषु सस्थानादिज्ञापनार्थं च शब्दोत्पत्तिप्रकार उपदिश्यते अथ इत्ययमधिकारः;

सू० अ०—अब शब्द की उत्पत्ति को (कहते हैं) ।

त्रि० अ०—वर्णमाला (वर्ण-समाम्नाय) का कथन कर दिया गया है, उन वर्णों का कारण क्या होता है अथवा उनकी (इन्द्रिय द्वारा) उपलब्धि कैसे होती है ?—यह आकांक्षा होने के अनन्तर उसका निरूपण किया जाता है—इस प्रकार (सूत्र में प्रयुक्त) 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अथवा इसके बाद में जो कहेंगे वह शब्दोत्पत्ति है—यह अधिकृत जानना चाहिए—इस प्रकार (सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द) अधिकार करने के लिए है । 'शब्द' का अर्थ है 'ध्वनि', (जो) अकार आदि वर्णों का उपादान कारण है, उसकी उत्पत्ति = जन्म अथवा उपलब्धि । जिस प्रकार जल के दिखलाई पड़ने से पूर्व ही भूमि में जल होता ही है, वह खोदने से दिखलाई पड़ जाता है उसी प्रकार (ध्वनि नित्य है । उच्चारण से केवल वह इन्द्रियगम्य हो जाती है) ।[क] शब्द की उत्पत्ति का कथन किया जाता है—यह सूत्र का अर्थ है ॥ १ ॥

वै० अ०—अब वैदिक वर्णों के उच्चारण की सिद्धि के लिए तथा " 'स्पर्श' बाद में होने पर मकार उस ('स्पर्श') के समान 'स्थान' वाला 'अनुनासिक' हो जाता

(क) ध्वनि नित्य है । उच्चारणावयव वास्तव में ध्वनि को उत्पन्न नहीं करते हैं । उच्चारणावयवों के व्यापार से ध्वनि व्यक्त हो जाती है, इन्द्रियग्राह्य (इन्द्रियगम्य) हो जाती है । ठीक उसी प्रकार जैसे जल भूमि में सर्वदा विद्यमान होता है, खोदने से वह दिखलाई पड़ जाता है, ग्राह्य हो जाता है ।

---

(१) ५।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शब्दोत्पत्तिः =) शब्दस्य उत्पत्तिर्जन्म; साऽधिकृता वेदितव्या। द्विविधश्शब्दो नित्यः कार्यश्चेति। तत्र नित्यः सर्वदेशव्यापक एकश्शब्दो ब्रह्मेत्यभिधीयते। तस्मात्कार्यशब्द उत्पद्यते स व्यक्तः क्वाचित्कोऽनन्तभेदश्च। तस्य वर्णात्मकस्योत्पत्तिः इह व्याख्येयतया अधिक्रियते ॥ १ ॥

वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने ॥ २ ॥

मा०—वायोः शरीरैः समस्तस्य ईरणात् कण्ठस्य उरसश्च सन्धाने शब्दस्योत्पत्तिर्भवति। अत्रोच्यते—औदरेणाग्निना समीरित ऊर्ध्वं नाभेरुत्थितो वायुः कण्ठस्योरसश्च सन्धाने, तैस्तैः करणविशेषैः पीड्यमानः, शनैः शनैः मुखनासिकाभ्यां विनिस्सृतः शब्द इत्यभिधीयते। श्लोकावप्यत्र चोदाहरन्ति—

"योऽयमन्तः शरीरेऽग्निः स प्रेरयति मारुतम्।
स शरीरं सदोपैति मनसा चोपयुज्यते ॥
ततः सञ्जायते नादः, तमिदं ब्रह्मणो विदुः।
ईश्वरः सर्वभूतानां वाचस्पतिरसंशयम् ॥ २ ॥"

त्रि०—(वायुशरीरसमीरणात् =) वायुमग्निः समीरयति। वायुश्शरीरं समीर-

---

है" इत्यादि में समान स्थान आदि के द्योतन (बतलाने) के लिए शब्द की उत्पत्ति का प्रकार उपदिष्ट किया जाता है। (सूत्र में प्रयुक्त) अथ—यह (शब्द) अधिकार (का निर्देशक) है; (शब्दोत्पत्तिः =) शब्द की उत्पत्ति = (शब्द का) जन्म, वह (शब्द की उत्पत्ति) अधिकृत जाननी चाहिए। (अर्थात् यहाँ से शब्दोत्पत्ति का अधिकार प्रारम्भ होता है)। शब्द दो प्रकार का होता है—नित्य और कार्य (उत्पन्न किया जाने वाला = अनित्य)। वहाँ (उनमें से) नित्य शब्द सब स्थानों में व्याप्त और एकरूप है तथा वह शब्दब्रह्म कहलाता है। उस (नित्य शब्द) से कार्य शब्द उत्पन्न होता है। वह (कार्य शब्द) व्यक्त (उच्चारित) होने वाला, कहीं-कहीं उपलब्ध होने वाला तथा अनन्त भेदों वाला है। वर्णात्मक उस (कार्य शब्द) की उत्पत्ति का व्याख्येय के रूप में यहाँ (= इस सूत्र में) अधिकार किया जा रहा है (अर्थात् अब कार्य शब्द का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा) ॥ १ ॥

सू० अ०—शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने से कण्ठ और उरस् के संधि—स्थल में (शब्दोत्पत्ति होती है)।

त्रि० अ०—(वायुशरीरसमीरणात् =) (शरीरस्थ) अग्नि वायु को गतिशील बनाती है। वायु शरीर को गतिशील बनाती है। उस प्रकार की गतिशीलता से = प्रेरणा से = टकराने से—यह अर्थ है। कण्ठोरसोः = कण्ठ और उरस् के; सन्धाने = संधि—स्थल में = मध्य देश में; शब्द की उत्पत्ति होती है। शिक्षा भी ऐसा ही कहती है—

---

(१) ५।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यति। तथाभूतात् समीरणात् = प्रेरणात् = अभिघातादित्यर्थः। कण्ठोरसोः; सन्धाने = मध्यदेशे; शब्दोत्पत्तिर्भवति। शिक्षा चैवमस्ति—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥[1]

वायुश्च शरीरं च वायुशरीरे तयोः समीरणं तस्मात्। अन्ये त्वाहुः—वायोः शरीरे सतः समीरणं, तस्मात् शब्दोत्पत्तिरिति। अत्रेत्थं समासः—राजदन्तादित्वाच्छरीरशब्दस्य परनिपातः। शरीरे वायुः वायुशरीरं तस्य समीरणं तस्मात्। अस्मिन्मते वायोः समीरणकर्तृत्वमेव, न तु कर्मत्वम्॥ २॥

वै०—तत्र सर्ववर्णानुवर्तिनः सामान्यरूपस्य तावदुत्पत्तिरुच्यते—

समीरणादिति संपूर्वादीर्तेर्भावे ल्युट्प्रत्ययः।

मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है। वह (शरीर की अग्नि) वायु को प्रेरित करती है। हृदय में विचरण करती हुई वायु मधुर स्वर को उत्पन्न करती है।

वायु और शरीर = वायुशरीरे, उन दोनों की गतिशीलता; उससे। दूसरे लोग कहते हैं—शरीर में स्थित वायु की गतिशीलता, उससे शब्द की उत्पत्ति होती है। यहाँ इस प्रकार समास है—राजदन्त आदि में होने से शरीर शब्द का बाद में प्रयोग होता है।[क] शरीर में स्थित वायु = वायुशरीर; उसकी गतिशीलता, उससे।[ख] इस मत में वायु में गतिशीलता का कर्तृत्व है, कर्मत्व नहीं[ग]॥ २॥

वै० अ०—उन = नित्य और कार्य शब्दों में से सब वर्णों के मूल में विद्यमान सामान्यरूप (शब्द) की उत्पत्ति कही जाती है—

(क) राजदन्ताऽऽदिषु परम् (पा० २।२।३१) अर्थात् 'राज-दन्तः' (दन्तानां राजा = दाँतों का राजा) आदि शब्दों में जिस पद का पूर्व में प्रयोग प्राप्त हो, उसे बाद में रखना चाहिए।

जिस प्रकार 'राजदन्तः' में राजा के बाद में दन्त को रखा जाता है, उसी प्रकार 'वायुशरीर' (शरीर की वायु) में वायु के बाद में शरीर का प्रयोग किया गया है।

(ख) 'वायुशरीरसमीरणात्'—इस समास का विग्रह दो प्रकार से किया गया है—(१) वायुश्च शरीरं च वायुशरीरे तयोः समीरणं तस्मात्—अग्नि वायु को गतिशील करती है और वायु शरीर को गतिशील करती है। उनके गतिशील होने पर कण्ठ और उरस् के मध्य देश में शब्द की उत्पत्ति होती है। (२) शरीरे वायुः वायुशरीरं तस्य समीरणं तस्मात्—शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने पर कण्ठ और उरस् के मध्य देश में शब्द की उत्पत्ति होती है।

(ग) प्रथम व्याख्या के अनुसार अग्नि वायु को गतिशील बनाती है। यहाँ वायु कर्म है।

---

(१) पाणिनीय शिक्षा ८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वायुशरीरसमीरणात् =) वक्त्रा प्रेर्यमाणस्य कोष्ठ्यस्य वायोश्शरीरे यत्समुत्थानं प्रयोज्य-व्यापारस्तस्मादित्यर्थः। यद्वा –संपूर्वादीर्तेर्ण्यन्ताल्ल्युट्प्रत्ययः। तस्य वायोश्शरीरे यत्स-मुत्थापनं प्रयोजकव्यापारस्तस्मादित्यर्थः। कण्ठश्चोरश्च कण्ठोरसो इति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावे कर्त्तव्ये छान्दसं द्विवचनम्। तयोस्सन्धाने मध्याकाशे शब्दस्योत्पत्तिरित्यन्वयः। अत एव संस्तुतिश्श्रूयते—"नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि"[1] "आकाशशरीरं ब्रह्म"[2] इति च। अत्र शिक्षा—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ इति।

'समीरणात्'—यह 'सम्' पूर्वक 'ईर्' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय (लगकर निष्पन्न हुआ है)। (वायुशरीरसमीरणात् =) वक्ता के द्वारा प्रेरित की जाती हुई फेफड़े की वायु का जो ऊपर की ओर उठना = प्रयोज्य व्यापार है उससे – यह अर्थ है। अथवा 'सम्' पूर्वक णिजन्त 'ईर्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगा है। उस वायु का शरीर में जो ऊपर की ओर उठाना = प्रयोजक व्यापार है उससे—यह अर्थ है।[क] कण्ठोरसोः = कण्ठ और उरस्; प्राणि के अङ्ग होने के कारण एकवचन में प्रयोग करना चाहिए था, अतः द्विवचन लौकिक व्याकरण के नियम के विपरीत (छान्दस, आर्ष) है।[ख] उन दोनों के; सन्धाने = मध्यवर्ती आकाश में; शब्द की उत्पत्ति होती है—यह अन्वय है। अत एव (वायु की) स्तुति सुनी जाती है—"नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" तथा "आकाशशरीरं ब्रह्म"। यहाँ पर शिक्षा (का कथन) है—

दूसरी व्याख्या में शरीर में स्थित वायु 'गतिशील होना' (समीरण) क्रिया का कर्ता है।

(क) किसी-किसी वाक्य में दो कर्ता होते हैं। जैसे—'यज्ञदत्त देवदत्त को खिलाता है'। इस वाक्य में देवदत्त 'खाना' क्रिया का कर्ता है और यज्ञदत्त देवदत्त कर्ता को खाने में प्रवृत्त (प्रेरित) करने वाला कर्ता है। प्रथम कर्ता (देवदत्त) को प्रयोज्य कर्ता कहते हैं और प्रेरणा के कर्ता (यज्ञदत्त) को प्रयोजक कर्ता कहते हैं। प्रकृत में वायु प्रयोज्य कर्ता है और उसका व्यापार है ऊपर की ओर उठना (वायु ऊपर की ओर उठती है)। यहाँ वक्ता प्रयोजक कर्ता है और उसका व्यापार है वायु को ऊपर की ओर उठाना (वक्ता वायु को ऊपर की ओर उठने के लिए प्रेरित करता है)।

(ख) "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" पा० २।४।२—प्राणी, तूर्य (बाजे) और सेना—इनके अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचनान्त हो—इस सूत्र से कण्ठ और उरस् (प्राणी के अङ्ग) का द्वन्द्व समास एकवचनान्त होना चाहिए था। किन्तु यहाँ द्वन्द्व समास द्विवचनान्त है। यह छान्दस प्रयोग है।

---

(१) तै० उ० १।१ (२) तै० उ० १।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदेवं सर्ववर्णानुवर्तिनः सामान्यरूपस्य कण्ठोरोमध्यं स्थानं, कोष्ठ्यो वायुः करणं, तत्समीरणं यत्न इत्युक्तं भवति ॥ २ ॥

तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठश्शिरो मुखं नासिके इति ॥ ३ ॥

मा०—तस्य खलु शब्दभूतस्य वायोः प्रातिश्रुत्कानि प्रतिश्रवण (युत्का ? क्ता) नि भवन्ति; यानि प्रति (भू ? श्रु) यन्ते—उरः, कण्ठः, शिरः, मुखम्, नासिके, इत्येतानि स्थानानि । स्थानान्यत्वात् शब्दान्यत्वं भवति ॥ ३ ॥

त्रि०—तस्य = प्रकृतस्य शब्दस्य; (उरः कण्ठश्शिरो मुखं नासिके इति =) उरःप्रभृतीनि स्थानानि; प्रातिश्रुत्कानि भवन्ति । प्रतिश्रुत् = प्रतिध्वनिः तत्सम्बन्धीनि प्रातिश्रुत्कानि ॥ ३ ॥

वै०—इदानीं विशेषरूपाणामुत्पत्तिस्थानानि सर्वाणि निर्दिशति—

तच्छब्देन प्रकृत उत्पत्त्याश्रयः शब्दः प्रत्यवमृश्यते । प्रतिनियततया श्रूयत इति प्रतिश्रुद्विशेषरूपं तदर्हन्तीति प्रातिश्रुत्कानि, प्राग्वतीयष्ठक् । (उरः कण्ठश्शिरो मुखं नासिके =) शिर इत्यास्यस्योपरि प्रावरणमुच्यते । मुखमित्युत्तरदन्ताः तन्मूलमुत्तरोष्ठो हनु-

---

मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है । वह (शरीर की अग्नि) वायु को प्रेरित करती है । हृदय में विचरण करती हुई वायु मधुर स्वर को उत्पन्न करती है ।

इस प्रकार सब वर्णों के मूल में विद्यमान सामान्य रूप (शब्द) का स्थान कण्ठ और उरस् का मध्य भाग है, फेफड़े में स्थित वायु सर्वप्रमुख कारण (करण) है, उसका समीरण = (उसका) यत्न (गतिशीलता)—यह अर्थ है ॥ २ ॥

सू० अ०—उस (शब्द) को प्रतिध्वनित करने वाले (विशेष रूप प्रदान करने वाले) (ये अङ्ग) होते हैं—उरस्, कण्ठ, शिर, मुख और नासिका ।

त्रि० अ०—तस्य = उसके = प्रकृत शब्द के; (उरः कण्ठश्शिरो मुखं नासिके इति =) उरस् इत्यादि स्थान; प्रातिश्रुत्कानि = प्रतिध्वनित करने वाले (= श्रवणयोग्य स्पष्ट ध्वनि प्रदान करने वाले) ; भवन्ति = होते हैं । प्रतिश्रुत् = प्रतिध्वनि, उस (प्रतिध्वनि) से सम्बन्धित = प्रातिश्रुत्कानि ॥ ३ ॥

वै० अ०—अब विशेष रूप वाले (शब्दों = ध्वनियों) की उत्पत्ति के सभी स्थानों का निर्देश करते हैं—

(सूत्र में प्रयुक्त) 'तत्' शब्द से उत्पत्ति के आश्रयभूत शब्द को समझा जाता है । निश्चित रूप से जो सुना जाता है वह 'प्रतिश्रुत्' = विशेष रूप, उसको उत्पन्न करने में जो समर्थ हैं वे; प्रातिश्रुत्कानि = 'प्रातिश्रुत्क' हैं ।

(उरः कण्ठश्शिरो मुखं नासिके इति =) मुख के ऊपर स्थित आवरण शिर कहा जाता है । मुख के अन्तर्गत ये हैं—ऊपर वाले दाँत, उन (दाँतों) का मूल (= दन्तमूल), ऊपर वाला होठ, हनुमूल (कोमलतालु) और तालु । नासिका के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलं तालु च। नासिके इति नासिकाछिद्रयोः कण्ठासन्नप्रदेश उच्यते। एतानि स्थानानि; तस्य = वर्णात्मकस्य शब्दस्य; विशेषरूपनिष्पत्त्यर्हाणीत्यर्थः ॥ ३ ॥

संवृते कण्ठे नादः क्रियते ॥ ४ ॥

मा०—नाद इति शब्दसंज्ञा। स खलु संवृतेन कण्ठेन कार्यं भवति। नादसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु"[1] इति ॥ ४ ॥

त्रि०—एतदादिना सूत्रत्रयेण शब्दस्य त्रैविध्यमुच्यते, नादः, श्वासः, हकारः च इति। तावन्नादलक्षणमाह—संवृते कण्ठे यः शब्दः क्रियते सः; (नादः =) नादसंज्ञः; भवति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—'नादोऽनुप्रदानम्'[1] इत्यादि ॥ ४ ॥

वै०—अथ वर्णानां विशेषरूपोत्पत्तौ प्रथमकारणभूता अनुप्रदानाख्या नादादयो बाह्य-प्रयत्ना उच्यन्ते—

दो छेद, जो कण्ठ के समीप में स्थित स्थान है, उसे नासिके कहा जाता है। ये स्थान; तस्य = उसकी = वर्णात्मक शब्द की; विशेष रूप की निष्पत्ति के योग्य होते हैं—यह अर्थ है ॥ ३ ॥

सू० अ०—कण्ठ (—विवर) के बन्द होने पर 'नाद' उत्पन्न किया जाता है।

त्रि० अ०—इस (२।४) से प्रारम्भ होने वाले तीन सूत्रों (२।४—६) से शब्द के तीन प्रकारों को कहा जाता है—नाद, श्वास और हकार। अब 'नाद' का लक्षण कहते हैं— संवृते कण्ठे = कण्ठ-विवर के बन्द होने पर; जो शब्द; क्रियते = उत्पन्न किया जाता है; वह (नादः =) 'नाद' संज्ञक; होता है। (नाद) संज्ञा का प्रयोजन—" 'स्वर' और 'घोषवत्' (व्यञ्जनों) में 'नाद' मूल-कारण ('अनुप्रदान') होता है" इत्यादि ॥ ४ ॥

वै० अ०—अब वर्णों के विशेष रूप की उत्पत्ति में प्रथम कारणभूत 'अनुप्रदान' नामक 'नाद' आदि बाह्य प्रयत्न कहे जाते हैं[क]—

(क) प्रत्येक वर्ण की उत्पत्ति के लिए कोई न कोई प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले शरीरावयवों के व्यापार को 'प्रयत्न' कहते हैं। 'प्रयत्न' दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य प्रयत्न और (२) आभ्यन्तर प्रयत्न। मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में जो प्रयत्न होता है उसे 'बाह्य प्रयत्न' कहते हैं। बाह्य प्रयत्न में स्वर-तन्त्रियाँ ही मुख्य सक्रिय उच्चारणवयव हैं। जब वायु श्वास-नलिका के मार्ग से फेफड़े से बाहर निकलती है तो स्वर-यन्त्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। स्वर-यन्त्र ही पहला उच्चारणावयव है जहाँ वायु में कुछ विकार उत्पन्न किया जाता है।

---

(१) २।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवरणं = कण्ठस्य सङ्कोचः। स खलु संवारो नाम बाह्यप्रयत्नः। (संवृते कण्ठे) तस्मिन् सति; (नादः =) नादाख्यः; बाह्यःप्रयत्नः; क्रियते = उत्पाद्यते। नादध्वनिसंसर्गात्। व्यञ्जनेषु घोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो जायते इति शिक्षायां स्मर्यते ॥ ४ ॥

विवृते श्वासः ॥ ५ ॥

मा०—श्वास इति शब्दसंज्ञा। स खलु विवृतेन कण्ठेन कार्यो भवति। श्वाससंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"अघोषेषु श्वासः"[1] इति ॥ ५ ॥

त्रि०—विवृते कण्ठे यः शब्दः क्रियते सः; (श्वासः =) श्वाससंज्ञः; भवति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अघोषेषु श्वासः"[1] ॥ ५ ॥

संवरण = कण्ठ का सङ्कोच। वह 'संवार' नामक बाह्य प्रयत्न है। (संवृते= कण्ठे) उस (संवार) के होने पर; (नादः=) 'नाद' नामक बाह्य प्रयत्न; क्रियते= किया जाता है = उत्पन्न किया जाता है।[क] 'नाद' ध्वनि के संसर्ग से व्यञ्जनों में 'घोष' नामक बाह्य प्रयत्न उत्पन्न होता है—यह शिक्षा में कहा गया है ॥ ४ ॥

सू० अ०—(कण्ठ-विवर के) खुला हुआ होने पर 'श्वास' (किया जाता है)।

त्रि० अ०—विवृ = काण्ठ-विवर के खुला हुआ ने तेहोपर; जो शब्द किया जाता है वह; (श्वासः =) 'श्वास'[ख] संज्ञक; होता है। ('श्वास') संज्ञा का प्रयोजन—" 'अघोष' (वर्णों) में 'श्वास' ('अनुप्रदान' होता है)" ॥ ५ ॥

बाह्य प्रयत्न को 'प्रकृति' या 'अनुप्रदान' भी कहा जाता है। 'अनुप्रदान' शब्द 'अनु' तथा 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न होता है। ऋ० प्रा० १३।१ के भाष्य में भाष्यकार उवट ने 'अनुप्रदान' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"वायुमनु प्रदीयत इत्यनुप्रदानम्" अर्थात् वायु से प्रदान किया जाता है (= वायु का परिणाम है), अतः 'अनुप्रदान' कहा जाता है।

(क) जब स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे के अत्यधिक निकट रहती हैं और स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) बन्द सा हो जाता है तब वायु स्वर-तन्त्रियों के साथ घर्षण करती हुई बाहर निकलती है। इससे स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। इस अवस्था में बाहर निकली हुई वायु 'नाद' संज्ञक होती है। 'नाद' शब्द ध्वन्यर्थक 'नद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। स्वरयन्त्र से ही ध्वनि करते हुए निकलने के कारण इस वायु को 'नाद' कहते हैं।

(ख) जब स्वरतन्त्रियाँ ढीली होकर एक दूसरे से दूर हो जाती हैं तब स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) पूर्णरूपेण खुला रहता है। फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वरतन्त्रियों के साथ घर्षण नहीं होता है और इसीलिए उनमें कम्पन नहीं होता है। वायु अबाध

---

(१) २।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—विवरणं कण्ठस्य विस्तरणम्। स एव विवाराख्यो बाह्यः प्रयत्नः। (विवृते =) तस्मिन् सति; श्वासो नाम बाह्यः प्रयत्नः क्रियते। तद्ध्वनिसंसर्गादघोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो जायते इति शिक्षायां स्मर्यते ॥ ५ ॥

मध्ये हकारः ॥ ६ ॥

मा०—हकार इति शब्दसंज्ञैव। स खलु हकारः संवृतविवृतकण्ठयोर्मध्येन कण्ठेन कार्यो भवति। हकारसंज्ञायाः प्रयोजनं वक्ष्यति—"हकारो हचतुर्थेषु"[1] इति ॥ ६ ॥

त्रि०—संवृतविवृतयोः; मध्ये = मध्यमप्रकारे; यः शब्दः क्रियते सः; (हकारः =) हकारसंज्ञः; भवति। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"हकारो हचतुर्थेषु"[1] इति ॥ ६ ॥

वै०—मध्ये भवो मध्यः, "अ साम्प्रतिके"[2]।

तदयमर्थः—साम्प्रतिके प्रकृतिस्थे कण्ठे सति; (हकारः =) हकारो नाम; बाह्यः प्रयत्नः क्रियते। तेन च व्यञ्जनेषु घोषो जायते ॥ ६ ॥

वै० अ०—विवरण = कण्ठ का विस्तार। वह ही 'विवार'—नामक बाह्य प्रयत्न है। (विवृते =) उस (विवार) के होने पर; श्वासः = 'श्वास' नामक बाह्य प्रयत्न; किया जाता है। उस (= श्वास) ध्वनि के संसर्ग से 'अघोष' नामक बाह्य प्रयत्न उत्पन्न होता है—यह शिक्षा में कहा गया है। ५ ॥

सू० अ०—(संवृत और विवृत के) मध्य में हकार (उत्पन्न किया जाता है)।

त्रि० अ०—संवृत और विवृत के; मध्ये = मध्य में = मध्यम प्रकार में; जो शब्द किया जाता है वह; (हकारः =) 'हकार' संज्ञक; होता है।[क] (हकार) संज्ञा का प्रयोजन—"हकार तथा (वर्गों के) चतुर्थ (वर्णों) में 'हकार' ('अनुप्रदान' होता है)" ॥ ६ ॥

वै० अ०—मध्ये = मध्य में होने वाला = मध्य। "साम्य (साम्प्रतिक) अर्थ का बोध कराने में मध्य शब्द से 'अ' प्रत्यय होता है"। इससे यह अर्थ हुआ—साम्य अवस्था में होने पर = कण्ठ के स्वाभाविक अवस्था में होने पर; (हकारः =)

गति से स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) के बीच से बाहर निकल जाती है। इस स्थिति में स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) से निकली हुई वायु 'श्वास' कहलाती है। 'श्वास' शब्द 'साँस लेना' अर्थ वाली 'श्वस्' धातु से निष्पन्न हुआ है। साँस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने के कारण इस वायु को 'श्वास' कहा जाता है।

(क) इस स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ न तो एक दूसरे से अधिक दूर रहती हैं और न अधिक निकट रहती हैं। इसके परिणामस्वरूप स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) न तो पूर्ण रूप से खुला हुआ होता है और न बन्द होता है। इस स्थिति में स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) से बाहर निकली हुई वायु 'हकार' कहलाती है।

---

(१) २।९ (२) पा० ४।३।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता वर्णप्रकृतयः ॥ ७ ॥

मा०—ता एतास्तिस्रः संज्ञाः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति । नादप्रकृतयोऽन्ये, श्वास-प्रकृतयोऽन्ये हकारप्रकृतयोऽन्ये ॥ ७ ॥

त्रि०—वर्णानां प्रकृतयः = वर्णप्रकृतयः । ता वर्णप्रकृतयो भवन्ति ये नादश्वासहकारा उक्ताः । नादप्रकृतयः केचिद्वर्णाः, श्वासप्रकृतयोऽन्ये, हकारप्रकृतयोऽन्ये । यश्चा, मृःप्रकृतयो घटशरावादयः । यथा वा, तन्तुप्रकृतयः पटाः । ननु सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शकत्वात् नादश्वास-हकारेषु पुल्लिङ्गेषु परामर्शार्हेषु सत्सु ता इति स्त्रीलिङ्गप्रयोगः कथं साधु ? उच्यते । "निर्दि-श्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोः एकतामापादयन्ति सर्वनामानि कामचारेण तल्लिङ्गतामुपाददते" इति महाभाष्यवचनात् प्रयोगसाधुत्वमध्यवसीयते । तस्मादन्योन्यान्वयसम्भवः ॥ ७ ॥

'हकार' नामक बाह्य प्रयत्न; किया जाता है । और उससे व्यञ्जनों में 'घोष' उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

सू० अ०—वे (नाद, श्वास और हकार) वर्णों के मूल कारण (प्रकृति) हैं ।

त्रि० अ०—वर्णों की प्रकृतियाँ = वर्णप्रकृतयः । जो नाद, श्वास और हकार कहे गये हैं; ताः = वे; वर्णप्रकृतयः = वर्णों की प्रकृतियाँ; होती है । कुछ वर्णों की प्रकृति 'नाद' है, अन्य (वर्णों) की प्रकृति 'श्वास' है, अन्य (वर्णों) की प्रकृति-हकार है । जैसे घट, शराव (प्याला) इत्यादि की प्रकृति मिट्टी है । अथवा जैसे वस्त्रों की प्रकृति तन्तु है (उसी प्रकार वर्णों की प्रकृति नाद है, या श्वास है या हकार है) ।[क]

सर्वनाम शब्द प्रकृत (प्रस्तुत) का परामर्श (बोध) कराने वाले होते हैं, इसलिए परामर्श के योग्य नाद, श्वास, हकार के पुल्लिङ्ग (शब्द) रहने पर 'ताः' इस स्त्रीलिङ्ग शब्द का प्रयोग किस प्रकार शुद्ध माना जा सकता है ? (इस प्रश्न के उत्तर में) कहा जाता है—उद्देश्य और विधेय इन (दोनों) की एकरूपता का प्रतिपादन करने वाले सर्वनाम शब्द स्वेच्छापूर्वक उन (उद्देश्य या विधेय) के लिङ्ग का ग्रहण करते हैं, ऐसा महाभाष्य (की टीका, कैय्यट-प्रदीप, लगभग प्रारम्भ में) के वचन से प्रयोग का शुद्ध होना निश्चित किया जाता है । इसलिए एक दूसरे का अन्वय (परस्पर सम्बन्ध) सम्भव है ।[ख]

(क) फेफड़ा और स्वर-यन्त्र वायु को 'नाद' अथवा 'श्वास' अथवा 'हकार' बनाने के बाद मुख के उच्चारणावयवों को द्रव्य के रूप में प्रदान करते हैं । 'नाद', 'श्वास' और 'हकार' वर्णों के मूल कारण (प्रकृति) हैं । 'नाद' 'श्वास' और 'हकार'—इन द्रव्यों का उपयोग मुख के उच्चारणावयव वर्णों के उत्पादन में करते हैं ।

किस द्रव्य से कौन-कौन वर्ण उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर २।८–१० में दिया गया है ।

(ख) उद्देश्य और विधेय के एकत्व का बोध कराने वाले सर्वनाम शब्द कभी उद्देश्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—प्रकृतय इत्यादिकर्मणि प्रशब्दः। करणे क्तिन् प्रत्ययः। (वर्णप्रकृतयः =) कर्तुमारभ्यन्ते आभिर्वर्णा इति प्रकृतयः। प्रकृतिशब्दस्य स्त्रीविषयत्वात् ता इति विशेषणम्। नादश्वासहकारा वर्णानां विशेषरूपोत्पत्तौ प्रथमकारणानीत्यर्थः ॥ ७ ।

नादोऽनुप्रदानꣳ स्वरघोषवत्सु ॥ ८ ॥

मा०—स्वरेषु घोषवत्सु वर्णेषु नादोऽनुप्रदानं भवति। यथा—"आददे प्रावासि"[1]। "इदं देवानाम्"[2] ॥ ८ ॥

त्रि०—(स्वरघोषवत्सु =) स्वरेषु घोषवत्सु च वर्णेषु; नादः अनुप्रदानं भवति। अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम्। अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वै० अ०—'प्रकृतयः' में 'प्र' शब्द कार्य को प्रारम्भ करने के अर्थ में प्रयुक्त है।[क] क्तिन् प्रत्यय का प्रयोग करण (अर्थ) में हुआ है। (वर्णप्रकृतयः =) इन (नाद, श्वास और हकार) के द्वारा वर्णों की निष्पत्ति प्रारम्भ की जाती है अतः ये (वर्णों की) प्रकृतियाँ हैं। प्रकृति शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने से 'ताः' इस (स्त्रीलिङ्ग) विशेषण (का प्रयोग हुआ है)। वर्णों के विशेष रूप की उत्पत्ति में नाद, श्वास और हकार प्रथम कारण हैं—यह अर्थ है ॥ ७ ॥

सू० अ०—'स्वर' और 'घोषवत्' (व्यञ्जनों) में 'नाद' मूलकारण ('अनुप्रदान') होता है।

त्रि० अ०—(स्वरघोषवत्सु =) स्वरों और 'घोषवत्' वर्णों में; नादः अनुप्रदानम् = 'अनुप्रदान'; होता है। इसके द्वारा वर्ण प्रदान किया जाता है अतः 'अनुप्रदान' मूलकारण है। 'अनुप्रदान' किया जाता है = उपादान किया जाता है = उत्पन्न किया जाता है—यह अर्थ है ॥ ८ ॥

के अनुसार लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं और कभी विधेय के अनुसार। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'ताः' शब्द उद्देश्य (पूर्वोक्त श्वास, नाद और हकार) के लिङ्ग (= पुल्लिङ्ग) में न होकर विधेय (प्रकृति) के लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) में है। अर्थात्—जिनका परामर्श किया जा रहा है वे श्वास, नाद और हकार यद्यपि पुलिङ्ग हैं तथापि 'ताः' यह परामर्शक स्त्रीलिङ्ग शब्द युक्त है क्योंकि यहाँ विधेय (वर्णप्रकृति) स्त्रीलिङ्ग में है।

इस सिद्धान्त का अन्य प्रसिद्ध उदाहरण यह है—'शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य' यहाँ 'यत्' और 'सा' नपुंसकलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं, किन्तु इनका परस्पर सम्बन्ध है।

(क) प्राचीन भारतीय कोषकारों के अनुसार 'प्र' शब्द आरम्भ, उत्कर्ष, सर्वतोभाव

---

(१) १।४।१ (२) १।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अथैषां विषयविभाग उच्यते—

(स्वरघोषवत्सु =) स्वरेषु घोषवत्सु च व्युत्पाद्येषु; नादोऽनुप्रदानं भवति। अनु-शब्दः पश्चादर्थे। कोष्ठ्यवायुसमुद्भवात्परं मूर्ध्नि प्रतिघातान्निवृत्ते तस्मिन् कण्ठस्य संवारादयो यथोक्तास्तिस्रोऽवस्था भवन्ति, तदा प्रदीयन्ते स्थानेषु निवेश्यन्ते एभिर्वर्णा इत्यनु-प्रदानानि ॥ ८ ॥

हकारो हचतुर्थेषु ॥ ९ ॥

मा०—हकारोऽनुप्रदीयते हकारे च वर्गचतुर्थेषु च। यथा—"हवामहे जनेभ्यः"[1] इति ॥ ९ ॥

त्रि०—(हचतुर्थेषु =) हकारश्च चतुर्थाश्च हचतुर्थाः तेषु वर्णेषु; हकारः अनुप्रदानं भवति। ननु संज्ञाविधानक्रमभङ्गान्नायं सूत्रमवतरति। मैवम्। घोषवत्स्विति सामान्यान्नादो हचतुर्थेषु च प्रसज्यते इत्यतिप्रसङ्गपरिहारार्थत्वादवतरत्येवेति वदामः ॥ ९ ॥

वै० अ०—अब इन (नाद, श्वास और हकार) के विषय के विभाग को कहा जाता है—

(स्वरघोषवत्सु =) स्वरों और घोषवत् (व्यञ्जनों) की उत्पत्ति में; नादोऽ-नुप्रदानम् = 'नाद' 'अनुप्रदान' होता है। 'अनु' शब्द 'पश्चात्' अर्थ में है। फेफड़े की वायु के ऊपर उठने के बाद में जब सिर में रुककर (टकराकर) वह (वायु) लौटती है तब कण्ठ की संवार आदि पूर्वोक्त तीन अवस्थायें होती हैं, तब इनके द्वारा वर्णों को प्रदान किया जाता है, (उच्चारण) स्थानों में रख दिया जाता है—अतः ये (नाद, घोष और हकार) 'अनुप्रदान' (कहलाते हैं) ॥ ८ ॥

सू० अ०—हकार तथा (वर्गों के) चतुर्थ (वर्णों) में हकार ('अनुप्रदान' होता है)।

त्रि० अ०—(हचतुर्थेषु =) हकार और (वर्गों के) चतुर्थ (वर्ण) = हच-तुर्थाः—उन वर्णों में; हकारः = हकार; 'अनुप्रदान' होता है। शंका—संज्ञाओं के विधान के क्रम का भङ्ग होने से इस सूत्र का यह उचित स्थान नहीं है। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। 'घोषवत्' (व्यञ्जनों) में ('नाद' 'अनुप्रदान' होता है)—इस सामान्य (सूत्र) से 'नाद' की ह तथा (वर्गों के) चतुर्थ (वर्णों) में प्रसक्ति होती है। इस अतिप्रसङ्ग के परिहार के लिए (यह सूत्र यहाँ) उचित स्थान में है[क]—यह कहते हैं।

प्रायस्य इत्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (दे० मॉनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष, पृ० ६५२)।

(क) पूर्वपक्षी—'नाद', 'श्वास' तथा 'हकार'—इन संज्ञाओं का विधान करते समय 'नाद'

---

(१) १।६।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(हचतुर्थेषु =) हश्च चतुर्थाश्च हचतुर्थास्तेषु; (हकारः) हकाराख्यः प्रयत्नः; अनुप्रदानं भवति। अयं हकारप्रयत्नः तृतीयतया प्रागुक्तोऽपि पूर्वसूत्रापवादतया तदनन्तरमेव विनियुज्यते। पूर्वत्र तु तृतीयतयाऽभिधानं तत्कारणभूताया मध्यावस्थाया इतरावस्थाद्वयनिरूप्यत्वादित्यनुसन्धेयम्। हचतुर्था घोषवत्सु महाप्राणा इतरे अल्पप्राणाः ॥ ९ ॥

अघोषेषु श्वासः ॥ १० ॥

मा०—अघोषेषु वर्णेषु श्वासोऽनुप्रदीयते। यथा—"ते ते चक्षुः सुवन्ताम्"[1] इति ॥ १० ॥

वै० अ०—(हचतुर्थेषु =) ह और चतुर्थ वर्ण = हचतुर्थाः = उनमें; (हकारः =) 'हकार' नामक प्रयत्न; 'अनुप्रदान' होता है। यद्यपि इस (हकार) को पहले तीसरे स्थान पर कहा गया है तथापि (यहाँ) पूर्ववर्ती सूत्र (२।८) के अपवाद के रूप में इसको उस (२।८) के (तुरन्त) बाद में प्रस्तुत किया गया है। पहले (संज्ञाओं के विधान में) तो तीसरे स्थान पर विधान किया गया है क्योंकि इस (नाद) की कारण भूत मध्यम अवस्था अन्य दो अवस्थाओं (संवृत और विवृत) के बाद ही निरूपित की जा सकती है—यह जानना चाहिए। 'घोषवत्' (व्यञ्जनों) में ह और (वर्गों के) चतुर्थ वर्ण महाप्राण हैं, अन्य अल्पप्राण हैं[क] ॥

सू० अ०—'अघोष' (वर्णों) में 'श्वास' ('अनुप्रदान' होता है)।

तथा 'श्वास' के बाद में हकार का ग्रहण किया गया है। किन्तु वर्णों की प्रकृति बतलाते समय यहाँ 'नाद' के बाद में तथा 'श्वास' के पहले हकार का ग्रहण किया गया है। यह क्रम का भङ्ग क्यों किया गया है ?

सिद्धान्ती—२।८ में 'नाद' को 'घोषवत्' वर्णों का मूलकारण बतलाया गया है। १।१३-१४ के अनुसार 'ह' और वर्गों के चतुर्थ वर्ण भी 'घोषवत्' हैं। अतः यह प्रसङ्ग उपस्थित होता है कि ह और चतुर्थ वर्णों का मूल कारण भी 'नाद' है। किन्तु यह युक्त नहीं है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए २।८ के तुरन्त बाद (= २।९) में अपवाद के रूप में यह बतलाया गया है कि ह और वर्गों के चतुर्थ वर्णों का मूल-कारण हकार है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र उचित स्थान पर रखा गया है।

(क) यद्यपि 'नाद' के बाद में तथा 'श्वास' के पहले हकार का विधान करने में पूर्ववर्ती क्रम का भङ्ग हो गया है तथापि यह आवश्यक था क्योंकि (१) २।८ के अपवाद को २।९ में ही प्रस्तुत करना युक्त है; (२) 'घोषवत्' अल्प-प्राण वर्णों के मूल-कारण को बतलाने के बाद में 'घोषवत्' महाप्राण वर्णों के मूल कारण को बतलाना युक्त है। सभी 'घोषवत्' वर्णों के मूल-कारण को यथा-सम्भव एक स्थान पर बतलाना युक्त है।

---

(१) १।८।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अघोषेषु वर्णेषु श्वासोऽनुप्रदानं भवति ॥ १० ॥

वै०—अघोषेषु श्वासोऽनुप्रदानं भवति ॥ १० ॥

भूयान् प्रथमेभ्योऽन्येषु ॥ ११ ॥

मा०—भूयान् श्वासोऽनुप्रदीयते प्रथमेभ्योऽन्येषु अघोषेषु । यथा—"शिइनथः कृतानि"[1] ॥ ११ ॥

त्रि०—सान्निध्याच्छ्वास इति लभ्यते। प्रथमेभ्यः अन्येषु अघोषेषु श्वासः; भूयान् = अधिकः; भवति ॥ ११ ॥

वै०—तत्र विशेषमाह—

त्रि० अ०—अघोषेषु = 'अघोष' वर्णों में; श्वासः = 'श्वास'; 'अनुप्रदान' होता है ॥ १० ॥

वै० अ०—अघोषेषु = 'अघोष' (वर्णों) में; श्वासः = 'श्वास'; ' अनुप्रदान' होता है[क] ॥ १० ॥

सू० अ०—(वर्गों के) प्रथम ('अघोष' 'स्पर्श' वर्णों) से अन्य ('अघोष' वर्णों) में अधिक ('श्वास') ('अनुप्रदान' होता है)।

त्रि० अ०—समीपता (सन्निधि) के आधार पर (इस सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र से) 'श्वास' की प्राप्ति होती है। प्रथमेभ्यः अन्येषु = (वर्गों के) प्रथम ('अघोष' 'स्पर्श' वर्णों) से अन्य 'अघोष' (वर्णों) में; श्वास; भूयान् = अधिक; होता है[ख] ॥ ११ ॥

वै० अ०—वहाँ (= 'श्वास' के विषय में) विशेष कहते हैं—

(क) तीन प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न वर्ण

नाद	श्वास	हकार
अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ; ऌ; ए, ऐ, ओ, औ; ग, ङ; ज, ञ; ड, ण; द, न; ब, म; य, र, ल, व; अं, ळ, अँ, कँ, खँ, गँ, घँ	क, ख; च, छ; ट, ठ; त, थ; प, फ; ≍क, श, ष, स, ≍प; अः	घ, झ, ढ, ध, भ, ह

(ख) इस प्रकार क, च, ट, त, प की अपेक्षा ख, छ, ठ, थ, फ, ≍क, श, ष, स, ≍प में 'श्वास' का अधिक प्रयोग होता है।

---

(१) १।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रथमेभ्योऽन्येषु =) प्रथमव्यतिरिक्तेषु अघोषेषु; (भूयान् =) प्रकृष्ट; श्वासः अनुप्रदानं भवति। ततश्च प्रथमा अल्पप्राणाः अघोषेषु। इतरे तु महाप्राणाः। तदुक्तं शिक्षायाम्—"महति वायौ महाप्राणा अल्पे वायावल्पप्राणाः" इति। तदेवं रूपविशेषहेतवो बाह्यप्रयत्ना उक्ता दर्शिताश्च। स्वरविशेषहेतवस्तु वक्ष्यन्ते, एवंरूपानुप्रयोगात् ॥ ११ ॥

अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम् ॥ १२ ॥

मा०—अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु भवति नातिव्यस्तम्, तदेकस्मिन् उभयं न शक्यते कर्तुम्; तत्र विषयविभागः क्रियते—अकारे नात्युपसंहृतः, आकारे च प्लुते च नातिव्यस्तः। यथा अकारे—"अस्य"[1]। आकारे—"आसामहै"[2]। प्लुते च—"होतव्या३म्"[3] इति ॥ १२ ॥

त्रि०—अवर्णे उच्चार्यमाणे ओष्ठहनु; अत्युपसंहृतम् = अतिसंश्लिष्टम्; न भवति।

(प्रथमेभ्योऽन्येषु =) (वर्गों के) प्रथम (वर्णों) से अतिरिक्त 'अघोष' (वर्णों) में; (भूयान् =) अधिक; 'श्वास' 'अनुप्रदान' होता है। इससे ही 'अघोष' (वर्णों) में (वर्गों के) प्रथम वर्ण अल्प-प्राण हैं। अन्य तो महाप्राण हैं।[क] यह शिक्षा में कहा गया है—"अधिक वायु होने पर महाप्राण, अल्प वायु होने पर अल्पप्राण"। इस प्रकार रूप-विशेष के हेतु बाह्य प्रयत्न कहे जा चुके हैं और दिखलाए जा चुके हैं। स्वर-विशेष के हेतु तो अब कहे जायेंगे, क्योंकि इन (स्वर-विशेष के हेतुओं) का प्रयोग (बाह्य प्रयत्न के) बाद में होता है ॥ ११ ॥

सू० अ०—अवर्ण (के उच्चारण) में ओष्ठ और जबड़े (हनु) न तो अधिक समीप में (सन्निकृष्ट, उपसंहृत, संश्लिष्ट) (होते हैं) और न अधिक दूर (होते हैं)।

(क) व्याकरण और शिक्षा में व्यञ्जनों का वर्गीकरण प्राणत्व के आधार पर भी किया जाता है। इसके अनुसार व्यञ्जनों के दो भेद किए जाते हैं—(१) अल्पप्राण (२) महाप्राण। अन्दर से आती हुई वायु के बल का ही नाम है प्राण। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य न हो, उन्हें अल्पप्राण कहते हैं। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य हो, उन्हें महाप्राण कहते हैं।

अल्पप्राण	महाप्राण
क, ग, ङ; च, ज, ञ; ट, ड, ण; त, द, न; प, ब, म; य, र, ल, व	ख, घ; छ, झ; ठ, ढ; थ, ध; फ, भ; ≍क, श, ष, स, ≍प, ह

---

(१) ३।२।११ (२) ७।४।२ (३) ६।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिव्यस्तम् = अतिविवृतम् ; च न भवति । ओष्ठौ च हनू च ओष्ठहनु । "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्"[1] इत्येकवद्भावः । तदेकस्मिन्नुभयथा न शक्यते कर्तुमिति योगविभागः कार्यः । अकारे नात्युपसंहृतम् , आकारे च प्लुते च नातिव्यस्तम्, इति ॥ १२ ॥

वै०—अथात्र स्थानकरणाभ्यन्तरप्रयत्ना उच्यन्ते—

उपसंहार उपश्लेषणं समीपनयनमिति यावत् । हनुशब्द आस्यपार्श्वभागयोर्वर्तते । ओष्ठौ च हनू च ओष्ठहनु । व्यस्तं विश्लिष्टम् । तदयमर्थः—अवर्णे उच्चार्ये; (नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम् =) ओष्ठयोरीषदसमाप्तः परस्परोपश्लेषः कार्यः । एवं हन्वोश्च । तथा ईषदसमाप्तः परस्परविश्लेष ओष्ठयोः कार्यः । एवं हन्वोश्च । अत्रोपश्लेषभूयस्त्वस्य विश्लेषभूयस्त्वस्य च समानविषयत्वासम्भवात् विनिवेश आश्रीयते—ह्रस्वे अवर्णे उपश्लेषभूयस्त्वं दीर्घप्लुतयोस्तु विश्लेषभूयस्त्वमिति । अत एव "अकारवदोष्ठौ"[2] इत्यतिदेक्ष्यति । न

त्रि० अ०—अवर्णे=अवर्ण के उच्चारण में; ओष्ठहनु = ओष्ठ और हनू; अत्युपसंहृतम् = अधिक मिले हुए (संश्लिष्ट); न = नहीं; होते हैं । अतिव्यस्तम् = अधिक खुले हुए (दूर, विवृत); न = नहीं; होते हैं । दो ओष्ठ और दो हनू = ओष्ठहनु । "प्राणी, तूर्य (बाजे) और सेना—इनके अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचनान्त हो"—इस (सूत्र) से एक वचन (ओष्ठहनु) का प्रयोग हुआ है । एक (वर्ण के उच्चारण) में उन दोनों (अतिसंश्लिष्टता तथा अतिविवृतता के निषेध के पालन) को करना सम्भव नहीं है, अतः योग का विभाग करना चाहिए—अकार (के उच्चारण) में (ओष्ठों और जबड़ों को) अति समीप में नहीं लाना चाहिए, आकार तथा प्लुत (आकार, आ३) (के उच्चारण) में (ओष्ठों और जबड़ों को) अति दूर नहीं ले जाना चाहिए ।। १२ ।।

वै० अ०—अब यहाँ 'स्थान', 'करण' और 'आभ्यन्तर-प्रयत्न' कहे जाते हैं—

उपसंहार = उपश्लेषण = समीप में लाना—यह अर्थ है । 'हनु' शब्द मुख के पार्श्ववर्ती भागों (के अर्थ) में है । दो ओष्ठ और दो हनु = ओष्ठहनु । व्यस्त=विश्लिष्ट (खुला हुआ) । इससे यह अर्थ हुआ—अवर्णे = अवर्ण के उच्चारण में; (नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम् =) ओष्ठों को थोड़ा अर्थात् इतना पास में लाया जाये कि उनका परस्पर पूर्णतः मिलन न होवे । इसी प्रकार जबड़ों को । उसी प्रकार ओष्ठों को थोड़ा अर्थात् एक दूसरे से इतना दूर लाया जाये कि वे पूर्णतः दूर न हो जायें । इसी प्रकार जबड़ों को । यहाँ अधिक उपश्लेष (समीप में लाना) और अधिक विश्लेष (पृथक्करण, खोलना) का एक स्थान (= अवर्ण) में होना असम्भव है, अतः उचित विभाग (विनिवेश) का आश्रय लिया जाता है—ह्रस्व अवर्ण में उपश्लेष (समीप लाना) की अधिकता और दीर्घ तथा प्लुत (अवर्ण) में विश्लेष (पृथक्करण, खोलना) की अधिकता (नहीं करनी चाहिए) । इसलिए "अकार के

---

(१) पा० २।४।२ (२) २२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ववर्णवदिति। शिक्षायां च स्मर्यते—"विवृतमूष्मणां स्वराणां च संवृतमकारस्य" इति। अत्रावर्णस्य हनू स्थानम्। ओष्ठौ करणम्। तदुत्तरत्र स्पष्टीकरिष्यते। उक्तं च शिक्षायाम्—[क]"सृक्विस्थानमवर्णमेके" इति ॥ १२ ॥

ओकारे च ॥ १३ ॥

मा०—ओकारे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु भवति। यथा—"ओषधीभ्यः"[1] इति ॥१३॥

त्रि०—(च =) चकारः; हनुमात्रकार्यान्वादेशकः। ओष्ठकार्यस्य परसूत्रेण विशेषविधानात्। ओकारे उच्चार्यमाणे हनू अतिव्यस्ते न भवतः ॥ ३ ॥

वै०—च शब्देन नातिव्यस्तमित्येतदन्वादिश्यते। "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[2] इति। नातिव्यस्तताऽत्र हन्वोरेव। ओष्ठयोर्विशेषवचनात्। तदयमर्थः। ओकारे उच्चार्ये हनू नातिव्यस्ते भवतः ॥ १३ ॥

समान ओष्ठ (होते हैं)"—यह अतिदेश करेंगे। अवर्ण के समान यह नहीं।[क] शिक्षा में भी कहा गया है—" 'ऊष्म' (वर्णों) और स्वरों का (आभ्यन्तर प्रयत्न) 'विवृत' है और अकार का (आभ्यन्तर प्रयत्न) 'संवृत' है। यहाँ जबड़े अवर्ण के स्थान हैं। ओष्ठ करण हैं। यह आगे स्पष्ट करेंगे। शिक्षा में भी कहा गया है—"कुछ लोग अवर्ण को सृक्वि (मुख का कोना) स्थान वाला मानते हैं" ॥ १२ ॥

सू० अ०—ओकार के उच्चारण में भी।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च =) चकार; (पूर्ववर्ती सूत्र से) केवल हनु के कार्य का अन्वादेश करता है। क्योंकि ओष्ठों के कार्य का विशेष विधान परवर्ती सूत्र (२।१४) से किया गया है। ओकारे = ओकार का उच्चारण करते समय; जबड़े परस्पर अति दूर (= खुले हुए) नहीं होते हैं ॥ १३ ॥

वै० अ०—च शब्द से; "अन्वादेश अन्त का होता है"—इस (नियम) से "अतिव्यस्त नहीं"—इसका अन्वादेश होता है। यहाँ अतिव्यस्तता का निषेध जबड़ों के विषय में ही (ग्रहण करना चाहिए)। क्योंकि ओष्ठों के विषय में विशेष

(क) अकार और आकार के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों की अवस्था समान नहीं होती है। इस तथ्य की पुष्टि २।२१ से भी होती है। इस सूत्र में विधान किया गया है कि जिन वर्णों के उच्चारण के हेतु ओष्ठों की अवस्था का आदेश नहीं किया गया है, उन वर्णों के उच्चारण में ओष्ठ उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार अकार के उच्चारण में। यदि अकार और आकार—इन दोनों - के उच्चारण में ओष्ठों की समान अवस्था रहती तो सूत्रकार १।१२ की भाँति २।२१ में भी अवर्ण का प्रयोग करते, अकार का नहीं।

---

(१) ३।१।९ (२) १।५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओष्ठौ तूपसꣳहततरौ ॥ १४ ॥

मा०—ओकारे एवोष्ठौ तूपसंहततरौ भवतः। यथा—"ओषधयः"[1] इति। तुशब्द-सामर्थ्यात् हन्वोरतिव्यस्तता निवर्तते ॥ १४ ॥

त्रि०—सान्निध्यादोकार इति लभ्यते। ओकारे कार्ये ओष्ठौ उपसंहततरौ स्याताम्। तुशब्द ओष्ठयोः पूर्वोक्तविधिं निवारयतीति वररुचिरुवाच। माहिषेयस्तु बभाषे—"बन्धोः"[2] इत्यादिकमोकारं सव्यञ्जनं व्यस्ततो निवारयतीति ॥ १४ ॥

वै०—तुशब्दो नातिव्यस्तमित्येतद्विनिवर्तयति। ओष्ठौ हन्वोः परस्परं च; (उपसꣳहततरौ =) उपश्लेषिततरौ; भवतः। ओकारस्य हनू उत्तरोष्ठश्च स्थानमधरोष्ठः करणम् ॥ १४ ॥

ईषत्प्रकृष्टावेकारे ॥ १५ ॥

मा०—एकारे ईषत्प्रकृष्टावेव एतौ भवतः। "+ + + ते" (?) इति ॥ १५ ॥

विधान (२।१४ में किया गया है)। इससे यह अर्थ हुआ—ओकारे = ओकार का उच्चारण करते समय; जबड़े अति दूर नहीं होते हैं ॥ १३ ॥

सू० अ०—(ओकार के उच्चारण में) ओष्ठ अधिक समीप में (= संश्लिष्ट) होते हैं।

त्रि० अ०—सन्निधि से (पूर्व सूत्र से) ओकार की प्राप्ति होती है। ओकार का उच्चारण करते समय; ओष्ठौ = दोनों ओष्ठ; उपसंहततरौ = अधिक पास में; होते हैं। (सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द ओष्ठों की पूर्वोक्त विधि का निवारण करता है—यह वररुचि ने कहा है। किन्तु माहिषेय ने कहा है कि (सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द) "बन्धोः" इत्यादि में प्रयुक्त व्यञ्जनसहित ओकार के विषय में व्यस्तता का निवारण करता है[क] ॥ १४ ॥

वै० अ०—तु शब्द "अतिव्यस्त नहीं" का निवारण करता है। दोनों ओष्ठ और जबड़े परस्पर एक दूसरे से; (उपसꣳहततरौ =) अधिक समीप में; होते हैं। जबड़े और ऊपर वाला ओष्ठ ओकार के 'स्थान' और निचला ओष्ठ 'करण' है ॥ १४ ॥

सू० अ०—एकार (के उच्चारण) में (ओष्ठ) थोड़े से फैले हुए (विस्तृत) (होते हैं)।

(क) वररुचि का मत है कि ओकार चाहे व्यञ्जनरहित हो और चाहे व्यञ्जनसहित हो उसका उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए। माहिषेय का कहना है कि केवल व्यञ्जनसहित ओकार का उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए।

---

(१) ४।२।६ (२) २।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—प्रकृष्टावित्यत्र द्विवचनेन प्रकृतावोष्ठौ गृह्येते। एकारे कार्ये ओष्ठौ ईषत् प्रकृष्टौ स्याताम्। प्रकृष्टतासन्निकृष्टता ॥ १५ ॥

वै०—ओष्ठावित्यन्वादिश्यते। एकारे उच्चार्ये ओष्ठौ परस्परं ईषत् प्रकृष्टौ भवतः। एतेनास्य विवृतप्रयत्नत्वम् ॥ १५ ॥

उपसꣳहततरे हनू ॥ १६ ॥

मा० एकारे एव उपसंहततरे हनू भवतः। यथा—"न ह स्म वै"[1] ॥ १६ ॥

त्रि०—सान्निध्यादेकार इति लभ्यते। एकारे कार्ये हनू उपसंहततरे भवतः। अतिशयेनोपसंहते उपसंहततरे ॥ १६ ॥

वै० हनू तु परस्परम्; (उपसꣳहततरे =) उपश्लेषिततरे; भवतः। प्रयत्नान्तरं चास्य वक्ष्यति—"तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे"। "एकारे च"[2] इति। तेनास्य हनू तालु च स्थानम्। ओष्ठौ जिह्वामध्यं च करणम् ॥ १६ ॥

त्रि० अ०—"प्रकृष्टौ' में प्रयुक्त द्विवचन के द्वारा प्रकृत ओष्ठों का ग्रहण होता है। एकारे = एकार (का उच्चारण करने) में; ओष्ठ; ईषत् प्रकृष्टौ = थोड़े फैले हुए (विस्तृत); होते हैं। प्रकृष्टता = असन्निकृष्टता ॥ १५ ॥

वै० अ०—(पूर्ववर्ती सूत्र २।१४ से) 'ओष्ठौ' का अन्वादेश होता है। एकारे= एकार का उच्चारण करते समय; दोनों ओष्ठ एक दूसरे से; ईषत् प्रकृष्टौ = थोड़े फैले हुए; होते हैं। इससे इस (एकार) का 'विवृत' प्रयत्न वाला होना (ज्ञात होता है) ॥ १५ ॥

सू० अ०—(एकार के उच्चारण में) दोनों जबड़े अधिक समीप में (होते हैं)।

त्रि० अ०—सान्निध्य के कारण (पूर्व सूत्र = २।१५) से एकार की प्राप्ति होती है। एकार (का उच्चारण) करने में; हनू = दोनों जबड़े; उपसंहततरे = अधिक समीप में; होते हैं। उपसंहततरे = अति समीप में स्थित ॥ १६ ॥

वै० अ०—हनू = जबड़े; तो एक दूसरे से; (उपसंहततरे =) अधिक समीप में; होते हैं। इस (एकार) के दूसरे प्रयत्न को कहेंगे—"इवर्ण (के उच्चारण) में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के (समीप में लाना चाहिए)"। "एकार (के उच्चारण) में भी (जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप लाना चाहिए)"। इससे इस (एकार) के जबड़े और तालु 'स्थान' हैं। दोनों ओष्ठ और जिह्वा का मध्य भाग 'करण' हैं।

---

(१) ५।१।१० (२) २।२२, २३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिह्वामध्यान्ताभ्यां चोत्तराञ्जम्भ्यान्त्स्पर्शयति ॥ १७ ॥

मा०—जिह्वाया मध्यं जिह्वामध्यम्, जिह्वामध्यस्य अन्तौ जिह्वामध्यान्तौ। एकारे एव ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्यामुत्तरान् जम्भ्यान् स्पर्शयति। यथा—"एव स नोदेनेषीति"[१] ॥ १७ ॥

त्रि०—एकारे कार्ये जिह्वामध्यान्ताभ्याम् उत्तरान् जम्भ्यान्; स्पर्शयति = स्पृशेदित्यर्थः। पालयतीत्यादिवत् स्वार्थे णिच्। जम्भ्यान् इति हनुमूलप्रान्तप्रदेशान् इत्यर्थः। मण्डूकप्लुतिन्यायेन चकार एकारमाकर्षति। जिह्वाया मध्यं तस्य अन्तौ ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्याम् ॥ १७ ॥

वै०—(जिह्वामध्यान्ताभ्याम् =) जिह्वाया मध्यं जिह्वामध्यं तस्यान्तौ = पार्श्वभागौ। चकार एकारमन्वादिशति। प्रकृतत्वात्। तेन स्पर्शयति च, न चेति योज्यः। (उत्तराञ्जम्भ्यान् =) हनूमूलयोरुपरिप्रदेशा उत्तरजम्भ्याः। स्पर्शयतीति स्वार्थिको णिच्। यद्वा—जिह्वामध्यस्यान्तौ प्रयोज्यकर्तारौ स्पृशतः। ताभ्यां वक्ता प्रयोजकः स्पर्शयति। एवमुत्त-

---

सू० अ०—(एकार के उच्चारण में) जिह्वा-मध्य के किनारों से ऊपर वाले जबड़े के मूल के किनारों को स्पर्श करते हैं।

त्रि० अ०—एकार (का उच्चारण) करते समय; जिह्वामध्यान्ताभ्याम् = जिह्वा-मध्य के किनारों से; उत्तरान् जम्भ्यान् = ऊपर वाले जबड़े के मूल के किनारों को; स्पर्शयति = स्पर्श करता है = स्पर्श करना चाहिए—यह अर्थ है। ('स्पर्शयति' में) 'पालयति' इत्यादि के समान स्वार्थ में 'णिच्' (प्रत्यय लगा है)। जम्भ्यान् = जबड़ों के मूल के किनारों के प्रदेशों को—यह अर्थ है। मण्डूकप्लुतिन्याय से चकार (२।१५ से) एकार को आकृष्ट (अन्वादिष्ट, अनुवृत) करता है। जिह्वा का मध्य; उस (जिह्वा के मध्य) के दोनों किनारे, उन किनारों के द्वारा = जिह्वामध्यान्ताभ्याम् ॥ १७ ॥

वै० अ०—(जिह्वामध्यान्ताभ्याम् =) जिह्वा का मध्य = जिह्वामध्य, उसके अन्त = पार्श्वभाग। चकार एकार का अन्वादेश करता है क्योंकि (एकार) प्रकृत है। उससे; (स्पर्शयति च =) स्पर्श करता भी है, (स्पर्श) नहीं भी करता है—यह जोड़ना चाहिए। (उत्तराञ्जम्भ्यान् =) जबड़ों के मूल के ऊपर वाले प्रदेश = उत्तरजम्भ्याः। 'स्पर्शयति' में स्वार्थ में णिच् हैं। अथवा—जिह्वा के मध्य के किनारे प्रयोज्य कर्ता के रूप में स्पर्श करते हैं। उनके द्वारा प्रयोजक वक्ता स्पर्श कराता है।[क]

(क) चोरयति, पालयति, स्पर्शयति, भावयति, गमयति इत्यादि शब्द 'णिच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुए हैं। 'चुर्' आदि धातुओं से 'णिच्' स्वार्थ में होता है अर्थात् 'णिच्' किसी विशेष अर्थ को प्रकट नहीं करता = प्रकृति (धातु) के अर्थ में कोई विशेषता (अन्तर) नहीं पैदा करता। ण्यन्त प्रक्रिया (भावयति, गमयति) में

---

(१) ६।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रापि द्रष्टव्यम्। अत्र अव्यञ्जनपूर्वक एकारे स्पर्शनम्। व्यञ्जनपूर्वके तु न स्पर्शनमिति विभागः। तथैव दर्शनात् ॥ १७ ॥

उपसꣳहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसꣳहरति ॥ १८ ॥

मा०—उपसंहृततरे हनू भवतः। उपसंहृततरत्वेन पूर्वविशिष्टयोः चशब्देन हन्वोरन्वादेशः क्रियते, [ऋऋऌकारे ऋकारे चकारे च]। जिह्वाग्रं च बर्स्वेषूपसंहरति। बर्स्वा इति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्टादन्यः प्रदेशः। यथा ऋकारे—"ऋषभः"[1] इति। ऋकारे—"पितृनिति"[2]। रकारे—"अग्नैः" (?) ॥ १८ ॥

त्रि०—चशब्देन हन्वोरन्वादेशः। (ऋकारर्कारल्कारेषु =) ऋकारे ऋकारे ऌकारे च कार्ये; हनू उपसंहृततरे भवतः। जिह्वाग्रं च बर्स्वेषु; उपसंहरति = निक्षिपेत्। बर्स्वेषु, इति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेषु इत्यर्थः। ननु "अरस्कारपरे"[3] इति लक्षणासम्भवा-

---

इसी प्रकार बाद में भी जानना चाहिए। 'व्यञ्जन' नहीं है पूर्व में जिसके ऐसे एकार में स्पर्श (होता है)। 'व्यञ्जन' है पूर्व में जिसके ऐसे (एकार) में स्पर्श नहीं होता है—यह विभाग है। क्योंकि वैसा ही दिखलाई पड़ता है ॥ १७ ॥

सू० अ० - ऋकार, ॠकार और ऌकार (के उच्चारण) में (दोनों जबड़े) अधिक समीप में आ जाते हैं तथा जिह्वा के अग्रभाग को मसूड़ों के समीप में ले जाते हैं।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द के द्वारा हनु (जबड़ों) का अन्वादेश (होता है)। (ऋकारर्कारल्कारेषु =) ऋकार, ॠकार तथा ऌकार (का उच्चारण) करने में; जबड़े; उपसंहृततरे = अधिक समीप में; होते हैं। और; जिह्वाग्रम् = जिह्वा के अग्र-भाग को; बर्स्वेषु उपसंहरति = मसूड़ों के पास में ले जाना चाहिए। बर्स्वेषु = दाँतों की पङ्क्ति के ऊपर उच्च प्रदेशों में—यह अर्थ है। शंका—" (अवर्ण पूर्व में हो तथा) ऋकार बाद में हो (तो दोनों मिलकर) अर् (हो जाते हैं)"—यह लक्षण सम्भव न होने पर "ऋकारर्कारल्कारेषु" में संधि कैसे

जिस णिच् का विधान होता है उसका अर्थ प्रेरणा है। शुद्ध धातु के अर्थ में प्रेरणा का अंश णिच् प्रत्यय से बढ़ जाता है। 'स्पर्शयति' में णिच् को स्वार्थ में मानते हैं तो अर्थ यह होगा जिह्वा—मध्य के किनारे जबड़े के मूल के किनारों का स्पर्श करते हैं। यदि 'स्पर्शयति' में णिच् को प्रेरणा अर्थ में मानते हैं तो अर्थ यह होगा। वक्ता (प्रयोजक कर्ता) जिह्वा-मध्य के किनारों (प्रयोज्य-कर्ता) के द्वारा जबड़े के मूल के किनारों का स्पर्श कराता है।

---

(१) ५।७।२ (२) १।७।२ (३) १०।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्टकारर्कारल्कारेष्विति कथं सन्धिः साधुः ? सत्यम्। नैतल्लक्षणात् किन्तु शास्त्रान्तरबलात् साधुः। एवं "ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ"[1] इत्यत्रापि विज्ञेयम्॥ १८॥

वै०—उपसंहृततरे इति हन्वोर्विशेषणम्। सामर्थ्यात्। बर्स्वा नाम रेफटवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशाः। (ऋटकारर्कारल्कारेषु =) ऋकारादिषु त्रिषूच्चार्येषु; हन्वोः परस्परोपश्लेषः। (जिह्वाग्रं बर्स्वेषूपसंहरति =) जिह्वाग्रस्य बर्स्वेषूपसंहारश्च कार्यः। एतेषां बर्स्वास्थानम्। जिह्वा हनू च करणम्॥ १८॥

एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च॥ १९॥

मा०—अनुस्वारस्वरभक्त्योश्च। यथासंख्येन अनुस्वारे हन्वोरुपसंहारः, स्वरभक्त्या जिह्वाग्रस्य बर्स्वेषूपसंहारो भवति। यथा अनुस्वारः—"सँशितं मे"[2]। स्वरभक्तिः—"—(ग ? ह) पश्यः" (?)॥ १९॥

ठीक है ? (उत्तर) यह सच है। इस लक्षण से नहीं, किन्तु दूसरे शास्त्र के बल से (यह संधि) ठीक है। इसी प्रकार "ऋटकारल्कारौ (ऋटकार+ऌकारौ) ह्रस्वौ" में भी जानना चाहिए[क]॥ १८॥

वै० अ०—सामर्थ्य की दृष्टि से; उपसंहृततरे—यह हनु का विशेषण है। रेफ और टवर्ग के स्थानों (दन्तमूल और मूर्धा) का मध्य प्रदेश बर्स्व है। (ऋटकारर्कारल्कारेषु =) ऋकार इत्यादि तीनों का उच्चारण करते समय; जबड़े एक दूसरे के पास में आ जाते हैं। (जिह्वाग्रं बर्स्वेषूपसंहरति =) जिह्वा के अग्रभाग को मसूड़ों के पास लाना चाहिए। मसूड़े इन वर्णों के स्थान हैं। जिह्वा तथा जबड़े करण है॥ १८॥

सू० अ०—कुछ (आचार्यों) के अनुसार 'अनुस्वार' और 'स्वरभक्ति' में भी (दोनों जबड़े अधिक समीप में हो जाते हैं तथा जिह्वा का अग्र भाग मसूड़ों के समीप में लाया जाता है)।

(क) शङ्का—१०।८ में कहा गया है कि 'अ' के बाद में ऋ हो तो वे दोनों मिलकर 'अर्' हो जाते हैं। इस सूत्र में ऋ तथा ऌ का ग्रहण नहीं किया गया है। तब इस सूत्र में अ+ऋ = अर् तथा अ+ऌ = अल् कैसे हो गये (ऋकार+ऋकार+ऌकार = ऋकारर्कारल्कार) ? समाधान—इस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध तै० सं० से है। अ+ऋ तथा अ+ऌ की संधि का कोई उदाहरण तै० सं० में उपलब्ध नहीं होता है। अतः तै० प्रा० में भी ऐसा विधान नहीं किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अ+ऋ = अर् तथा अ+ऌ = अल् अन्य शास्त्र (पाणिनीय व्याकरण) के अनुसार हुए हैं।

---

(१) १।३१ (२) ४।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(च =) चकारः; पूर्वोक्तविधिमन्वादिशति। यथासङ्ख्येन अनुस्वारस्वरभक्त्योः पूर्वोक्तविधिर्भवति। अनुस्वारे हन्वोरुपसंहारः, स्वरभक्तौ जिह्वाग्रस्य बर्स्वेषूपसंहारः। एतत् एकेषाम् मतम्। अन्येषां तु मतम् अनुस्वारस्यानुनासिकमात्रत्वं, स्वरभक्तेः ऋकारतुल्यत्वं इति। तच्चिन्त्यम्॥ १९॥

वै०—एकेषाम् = अन्येषां मतेन; (अनुस्वारस्वरभक्त्योश्च =) अनुस्वारे हनूपसंहारः कार्यः, स्वरभक्तौ जिह्वाग्रस्य बर्स्वेषूपसंहार इति; यथाक्रमं विनिवेशः। तेषामनुस्वारस्तावन्नासिक्यः। स्वरभक्तिरप्यर्कारार्धरूपेति। स्वमते तु अनुस्वारस्य वक्ष्यति आनुनासिक्यम्। "अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः"। "नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्"[1] इति। स्वरभक्तेस्तु रेफवत् स्थानादिकं भवति। "रेफस्स्वरभक्तिः"[2] इति हि वक्ष्यति॥ १९॥

अनादेशे प्रणयस्ता जिह्वा॥ २०॥

भा०—यत्र जिह्वाया अनादेशः, तत्र तस्य प्रकृतिर्न्यस्यते। यथा "ओषधीः"[3] ॥२०॥

त्रि०—यत्र; (अनादेशे =) "जिह्वाग्रेण" "जिह्वामध्येन"[4] इत्यादिः अनादेशः

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च =) चकार; पूर्वोक्त विधि का अन्वादेश करता है। जैसे—पूर्वोक्त विधि क्रमशः; अनुस्वारस्वरभक्त्योः = 'अनुस्वार' और 'स्वरभक्ति' में; होती है। 'अनुस्वार' में जबड़ों को एक दूसरे के समीप में लाया जाता है, 'स्वरभक्ति' में जिह्वा के अग्र-भाग को मसूड़ों के समीप में लाया जाता है। यह; एकेषाम् = कतिपय आचार्यों का; मत है। दूसरे (आचार्यों) का तो यह मत है कि 'अनुस्वार' 'अनुनासिक' मात्र है और 'स्वरभक्ति' ऋकार के तुल्य है। यह (मत) चिन्त्य है॥ १९॥

वै० अ०—एकेषाम् = कतिपय अन्य (आचार्यों) के मत से; (अनुस्वारस्वरभक्त्योश्च =) 'अनुस्वार' में जबड़ों को एक दूसरे के समीप में लाना चाहिए, 'स्वरभक्ति' में जिह्वा के अग्र-भाग को मसूड़ों के पास में लाना चाहिए—क्रम के अनुसार यह विभाग है। उनके मत से 'अनुस्वार' 'नासिक्य' है। 'स्वरभक्ति' भी अर्कार का आधा रूप है। अपने मत में तो 'अनुस्वार' के आनुनासिक्य को कहेंगे—"'अनुस्वार' और वर्गों के अन्तिम वर्ण (उत्तम) 'अनुनासिक' (होते हैं)" "नासिका विवर से आनुनासिक्य (होता है)" 'स्वरभक्ति' का तो रेफ के समान 'स्थान' आदि होता है। (इस तथ्य को) इस (सूत्र) में कहेंगे—" (रेफ और 'ऊष्म'—वर्ण का संयोग होने पर) रेफ-स्वरभक्ति (होती है)"॥ १९॥

सू० अ०—विशेष निर्देश न होने पर जिह्वा नीचे शान्त अवस्था में पड़ी रहती है।

त्रि० अ०—जहाँ; (अनादेशे =) "जिह्वा के अग्र-भाग से", "जिह्वा के मध्य-

---

(१) २।३०, ५२ (२) २१।१५ (३) ४।२।६ (४) २।३६, ३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपदेशः तत्र विषये; प्रण्यस्ता जिह्वा तूष्णीम्भूता भवति। प्रकर्षेण न्यस्ता प्रण्यस्ता। यथा—"उप मा"[1]। नन्वनादेशे सर्वकरणानां तूष्णीम्भावसिद्धेः किमर्थोऽयमारम्भः? उच्यते—एकारस्य जिह्वामध्यान्तनिष्पाद्यत्वमस्तीति तदवयवस्याप्यकारस्य तथात्वमस्तीति अकारत्वसाम्यात् अन्यत्रापि "अथ"[2] इत्यादौ तथात्वं प्रसज्येत। तच्चानिष्टम्। तन्मा भूदिति परिहारः। न आदेशः अनादेशः तस्मिन् उपदेशाभावे इत्यर्थः॥ २०॥

भाग से" इत्यादि उपदेश नहीं किया जाता है उस स्थल में; प्रण्यस्ता जिह्वा = जिह्वा शान्त रूप से पड़ी रहती है (अर्थात् उसमें किसी प्रकार की गति नहीं होती है)। पूर्ण रूप से निश्चल रखी हुई = प्रण्यस्त। जैसे—"उप मा"।[क] शंका—उपदेश (निर्देश) न होने पर सभी उच्चारणावयवों का शान्त रूप से रहना सिद्ध होने पर यह (सूत्र) किसलिए आरम्भ किया गया है? (उत्तर) कहते हैं—यतः एकार की निष्पत्ति जिह्वा के मध्य के किनारों से होती है, अतः उस (एकार) के अवयव अकार की भी (निष्पत्ति) वैसे ही (जिह्वा के मध्य के किनारों से) होगी। अकारत्व के समान होने पर अन्यत्र 'अथ' इत्यादि में भी वैसी ही प्रसक्ति होती है। और वह अनिष्ट है। वह न होवे इसलिए (प्रस्तुत सूत्र से) परिहार (किया गया है)।[ख] आदेश न होना = अनादेश; उसके होने पर = उपदेश का अभाव होने पर—यह अर्थ है।

(क) अ और आ के उच्चारण के विषय में जिह्वा के किसी व्यापार का विधान तै० प्रा० में नहीं किया गया है। अतः अ और आ के उच्चारण में जिह्वा शान्त रूप से पड़ी रहती है = वह किसी प्रकार की गति नहीं करती है। जैसे 'उप मा' में स्थित अ और आ के उच्चारण में।

(ख) शंका—किसी वर्ण के उच्चारण के प्रसङ्ग में जब किसी उच्चारणावयव के व्यापार का विधान नहीं किया जाता है तब यह समझा जाता है कि वह उच्चारणावयव उस वर्ण के उच्चारण के समय शान्त (निष्क्रिय) रूप में रहता है। यह वस्तु-स्थिति होने पर जिह्वा के विषय में जो प्रस्तुत विधान किया गया है वह अनर्थक है। समाधान—एकार का उच्चारण जिह्वा के मध्य के किनारों से होता है (दे० २।१७)। इससे यह सिद्ध होता है कि एकार के अवयव अकार का उच्चारण भी जिह्वा के मध्य के किनारों से होता है। यदि एकार के अवयवभूत अकार का उच्चारण जिह्वा के मध्य के किनारों से होता है तो सभी स्थलों पर अकार का उच्चारण जिह्वा के मध्य के किनारों से होगा क्योंकि अकार सर्वत्र समान है। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र में यह विधान कर दिया गया है कि जहाँ निर्देश न हो वहाँ जिह्वा निष्क्रिय रूप से पड़ी रहती है। अकार के उच्चारण के विषय में भी जिह्वा के विषय में कोई निर्देश नहीं किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अकार

---

(१) ३।१।४ (२) १।१।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(अनादेशे=) यत्र जिह्वाया व्यापारो नादिश्यते अवर्णादौ तत्र; (जिह्वा=) सा; प्रण्यस्ता=प्रसारितैव भवेत् ॥ २० ॥

अकारवदोष्ठौ ॥ २१ ॥

मा०—ओष्ठ्योर्यत्रानादेशः तत्राकारवदोष्ठौ भवतः। यथा "इत इतः"[1] ॥ २१ ॥

त्रि०—सान्निध्यादनादेश इति लभ्यते। ओष्ठ्योर्यत्रानादेशस्तत्र; अकारवत्=अकारे यथा तथा; ओष्ठौ भवतः नात्युपसंहततराविित्यर्थः। यथा—"इन्द्रः"[2] इति ॥ २१ ॥

वै०—ओष्ठावपि व्यापारानादेशे अकारवद्भवतः। अकारे यथा नात्युपसंहतौ तथा स्यातामृकारादिषु। तदनेन सूत्रद्वयेन जिह्वाया अनादेशविषये अकरणत्वम्। ओष्ठ्योस्तु तस्मिन् विषये अकारवत्त्वं चोक्तं भवति ॥ २१ ॥

वै०—(अनादेशे) अवर्ण इत्यादि में जहाँ जिह्वा का व्यापार निर्दिष्ट नहीं होता है वहाँ; (जिह्वा=) वह; प्रण्यस्ता=फैली हुई ही रहती है (अर्थात् उसमें किसी प्रकार की गति नहीं होती है) ॥ २० ॥

सू० अ०—(ओष्ठों का आदेश न होने पर) ओष्ठ अकार के समान (उच्चारणावस्था में रहते हैं)।

त्रि० अ०—सन्निधि के आधार पर (२।२० से) 'आदेश न होने पर' की प्राप्ति होती है। ओष्ठों का जहाँ आदेश नहीं होता है वहाँ; अकारवत्=जैसे अकार (के उच्चारण) में वैसे ही; ओष्ठौ=ओष्ठ; रहते हैं—एक दूसरे के अधिक समीप में नहीं आते हैं—यह अर्थ है। जैसे—"इन्द्रः" में[क] ॥ २१ ॥

वै० अ०—व्यापार (क्रिया) का आदेश न होने पर; ओष्ठौ=ओष्ठ; भी; अकारवत्=अकार के समान; होते हैं। जिस प्रकार अकार (के उच्चारण) में अधिक समीप में नहीं आते हैं वैसे ही ऋकार आदि (के उच्चारण) में होते हैं (=अधिक समीप में नहीं आते हैं)। इस प्रकार इन दो सूत्रों (२।२०, २१) के द्वारा

के उच्चारण के समय जिह्वा निष्क्रिय रूप से पड़ी रहती है। इससे उपर्युक्त अनिष्ट का परिहार हो गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र सार्थक है।

(क) २।१२ में यह विधान किया गया था कि अकार का उच्चारण करते समय ओष्ठ एक दूसरे के अधिक समीप में नहीं आते हैं। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि जहाँ किसी वर्ण के उच्चारण के प्रसङ्ग में ओष्ठों के विषय में कोई निर्देश न किया जाये वहाँ यह समझना चाहिए कि ओष्ठ एक दूसरे के अधिक समीप उसी प्रकार नहीं आते हैं जिस प्रकार अकार के उच्चारण में। इकार के उच्चारण के प्रसङ्ग में ओष्ठों के विषय में कोई निर्देश नहीं किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार वे एक दूसरे के अधिक समीप नहीं आते हैं।

---

(१) ६।५।८ (२) १।१।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे ॥ २२ ॥

मा०—इवर्णे जिह्वामध्यं तालावुपसंहर्तव्यं भवति । यथा—"समने"[1] ॥ २२ ॥

त्रि०—इवर्णे कार्ये जिह्वामध्यं तालौ उपसंहर्तव्यम् । यथा—"इषे त्वा"[2] । जिह्वायाः मध्यं जिह्वामध्यम् ॥ २२ ॥

वै०—उपसंहरतीत्यन्वयः । तालुशब्देन जिह्वाया अधस्तनप्रदेश उच्यते । स इवर्णस्य स्थानम् । जिह्वामध्यं करणम् ॥ २२ ॥

एकारे च ॥ २३ ॥

मा०—एकारे जिह्वामध्यस्य तालावुपसंहारो भवति । यथा—"एषः"[3] इति ॥ २३॥

त्रि०—(च =) चकारः; पूर्वविधिमन्वादिशति । एकारे कार्ये जिह्वामध्यं तालावुपसंहर्तव्यम् । ननु विधौ समाने पृथक् सूत्रारम्भः किमर्थः ? उच्यते—इवर्णे यथा जिह्वा-

---

आदेश न होने पर जिह्वा के अकरणत्व और उस विषय में ओष्ठों का अकारवत्त्व कहा गया है ।।[क]

सू० अ०—इवर्ण (के उच्चारण) में जिह्वा के मध्यभाग को तालु के (समीप में लाना चाहिए) ।

त्रि० अ०—इवर्णे = इवर्ण (का उच्चारण) करने में; जिह्वामध्यम् = जिह्वा का मध्य-भाग; तालौ = तालु के; अधिक समीप लाना चाहिए । जैसे—"इषे त्वा" । जिह्वा का मध्य-भाग = जिह्वामध्य ॥ २२ ॥

वै० अ०—'समीप लाता है'—यह अन्वय है । 'तालु' शब्द से जिह्वा के ऊपर वाला प्रदेश कहा जाता है । वह (तालु) इवर्ण का स्थान है । जिह्वामध्यम् = जिह्वा का मध्य-भाग (इवर्ण का) करण है ॥ २२ ॥

सू० अ०—एकार (के उच्चारण) में भी (जिह्वा के मध्य-भाग को तालु के समीप लाना चाहिए) ।

त्रि० अ०—(च =) चकार; पूर्व (= २।२२ में उक्त) विधि का अन्वादेश करता है । एकारे = एकार (का उच्चारण) करने में; जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप ले जाना चाहिए । शंका—विधि समान होने पर पृथक् सूत्र का आरम्भ किस-

---

टि० (क) २।२० में कहा गया है कि जब सूत्र में जिह्वा के विषय में कोई निर्देश न हो तो जिह्वा शान्त पड़ी रहती है । इससे यह ज्ञात हुआ कि ऐसे वर्ण के उच्चारण में जिह्वा सक्रिय उच्चारणावयव (करण) का कार्य नहीं करती है । २।२१ में कहा गया है कि जब सूत्र में ओष्ठों का निर्देश न हो वहाँ ओष्ठ उसी प्रकार एक दूसरे के समीप में नहीं आते जिस प्रकार अकार के उच्चारण में ।

---

(१) ४।६।६ (२) १।१।१ (३) ३।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्योपसंहारः, न खल्वेवमेकारे । किन्तु ततो न्यून इत्यर्थः । कुतः ? अकारमिश्रितत्वादेकारस्य अकारस्य च तदेकदेशत्वात् जिह्वामध्यनिष्पाद्यत्वं न तु स्वतः । अत एव सोपाधिकत्वान्न्यूनत्वोपपत्तिः "ईषत् प्रकृष्टौ"[1] इत्यादिसूत्रत्रयेण एकारस्य स्थानकरणे निर्दिष्टे । इह तु ततोऽन्ये तस्यैव निर्दिश्येते । तदेकस्मिन् उभयथा कर्तुं न शक्यते विरोधात् । तस्मादत्र योगविभागः कर्त्तव्यः अव्यञ्जने तल्लक्षणं सव्यञ्जने त्वेतत् इति । कुतोऽयं नियमः ? उच्यते—"एकारे"

लिए (किया गया है) ? (उत्तर) कहते हैं—इवर्ण (के उच्चारण) में जिस प्रकार जिह्वा के मध्य को (तालु के) समीप में लाया जाता है वैसे एकार (के उच्चारण) में नहीं । किन्तु उससे थोड़ा—यह अर्थ है । शंका—क्यों ? (उत्तर) एकार में अकार का मिश्रण है और उस (एकार) का एक भाग होने के कारण अकार का जिह्वा के मध्य-भाग से निष्पादन होता है अपने स्वभाव के कारण नहीं । अतः इस विशिष्ट गुण (अकार) से समन्वित होने के कारण (एकार में) (उपसंहार के) न्यूनत्व की उपपत्ति होती है ।[क] "एकार (के उच्चारण) में (ओष्ठ) थोड़े से फैले हुए (विस्तृत) (होते हैं)"—इत्यादि तीन सूत्रों (२।१५—१७) के द्वारा एकार के स्थान और करण का निर्देश किया गया है । किन्तु यहाँ तो उसी (एकार) के ही विषय में उन ('स्थान' और 'करण') से अन्य ('स्थान' और 'करण') निर्दिष्ट किए गए हैं । विरोध होने के कारण एक (वर्ण) में दोनों (निर्देशों) का पालन नहीं किया जा सकता है । इसलिए यहाँ योग का विभाग करना चाहिए । व्यञ्जन-रहित (एकार) के विषय में वह (२।१५—१७) लक्षण और व्यञ्जनसहित (एकार) के विषय में यह लक्षण (लागू होता है) । (प्रश्न) यह नियम कैसे (प्राप्त हुआ) ? (उत्तर) कहते हैं—"एकार (के उच्चारण) में"—यह सामान्य रूप से कहने पर पहले व्यञ्जनरहित (एकार) का ग्रहण उचित है । वैसा होने पर उस (व्यञ्जन-रहित एकार) की प्रथम प्रतीति होने पर प्रथम लक्षण (उसी पर लागू होना) युक्त

टि० (क) **पूर्वपक्षी**—जब इकार और एकार इन दोनों हीं वर्णों के उच्चारण में जिह्वा के मध्य को तालु के समीप में लाया जाता है तब इनका पृथक्-पृथक् सूत्र में विधान क्यों किया गया है ? **सिद्धान्ती**—एकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्य को तालु के उतना अधिक समीप में नहीं लाया जाता है जितना इकार के उच्चारण में । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर एकार के विषय में विधान पृथक् सूत्र में किया गया है । **पूर्वपक्षी**—इकार और एकार के उच्चारण में यह उपर्युक्त भेद क्यों है ? **सिद्धान्ती**—एकार की निष्पत्ति अकार और इकार के मिलने से हुई है । उनमें से अकार का कोई भी सम्बन्ध जिह्वा के मध्य के साथ नहीं है । एकार में इकार की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है । यही कारण है कि एकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के उतना समीप नहीं ले जाया जाता है जितना इकार के उच्चारण में ।

---

(१) २।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति सामान्योक्तौ सत्यां प्रथममव्यञ्जनस्यैव ग्रहणं मुख्यम्। तथा सति प्रथमप्रतीते तस्मिन् प्रथमं लक्षणं युज्यते। सव्यञ्जने तु पारिशेष्यादेतदिति विज्ञेयम् ॥ २३ ॥

वै०—चशब्दस्तालौ जिह्वामध्यमित्यन्वादिशति ॥ २३ ॥

ओष्ठोपसꣳहार उवर्णे ॥ २४ ॥

मा०—उवर्णे ओष्ठोपसंहारः भवति। यथा—"उलूखल"[1] ॥ २४ ॥

त्रि०—उवर्णे कार्ये ओष्ठोपसंहारः भवति। अत्रोपसंहारः पूर्ववन्न सन्निकृष्टतामात्रं, किन्तु "सन्निकृष्टावोष्ठौ दीर्घौ च स्याताम्" इति विवक्ष्यते। एवं "ओष्ठौ तूपसंहततरौ"[2] इत्यत्रापि विज्ञेयम्। यथा—"उलूखलबुध्नो यूपः"[3]। ओष्ठयोरुपसंहारः ओष्ठोपसंहारः ॥२४॥

वै०- उवर्णे उच्चार्ये ओष्ठोपसंहारः कार्यः। तत्रोत्तरोष्ठस्स्थानमधरोष्ठः करणम् ॥ २४ ॥

है। अवशिष्ट होने के कारण व्यञ्जनसहित (एकार) पर यह (सूत्र = २।२३) (लागू होता है)—यह जानना चाहिए ॥ २३ ॥

वै० अ०—च शब्द "जिह्वा के मध्य-भाग को तालु के समीप (ले जाया जाता है)"—इसका अन्वादेश करता है ॥ २३ ॥

सू० अ०—उवर्ण (के उच्चारण) में ओष्ठों का उपसंहार (होता है) (अर्थात् ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाया जाता है)।

त्रि० अ०—उवर्णे = उवर्ण (का उच्चारण) करने में; ओष्ठोपसंहारः = ओष्ठों का उपसंहार; होता है (अर्थात् ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाया जाता है)। यहाँ (= उवर्ण के उच्चारण में) 'उपसंहार' (शब्द) से पूर्व की तरह (यह नहीं समझना चाहिए कि उवर्ण के उच्चारण में) ओष्ठों को केवल एक दूसरे के अधिक पास में लाया जाता है, किन्तु यहाँ यह विवक्षित है कि (उवर्ण के उच्चारण में) ओष्ठ एक दूसरे के समीप में आ जाते हैं और फैल कर लम्बे हो जाते हैं (जिससे वे आगे की ओर निकल जाते हैं)। इसी प्रकार '(ओकार के उच्चारण में) ओष्ठ अधिक संश्लिष्ट होते हैं"—यहाँ पर भी जानना चाहिए (अर्थात् ओकार के उच्चारण में भी ओष्ठ एक दूसरे के समीप में आ जाते हैं तथा फैलकर लम्बे हो जाते हैं)। उदाहरण—"उलूखलबुध्नो यूपः"। ओष्ठों का उपसंहार = ओष्ठोपसंहार ॥२४॥

वै० अ०—उवर्णे = उवर्ण का उच्चारण करते समय; ओष्ठोपसंहारः = होठों का उपसंहार; करना चाहिए (अर्थात् होठों को एक दूसरे के समीप में ले जाना चाहिए)। वहाँ (= उवर्ण के उच्चारण में) ऊपर वाला ओष्ठ 'स्थान' है और नीचे वाला ओष्ठ 'करण' है।

---

(१) ७।२।१ (२) २।१४ (३) ७।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकान्तरस्तु सर्वत्र प्रकृतात् ॥ २५ ॥

मा०—ओष्ठोपसंहारात् प्रकृतादन्यस्मिन् करणे उपपद्यमाने एकान्तरेण करणकालवि (का ? रा) मो भवति । यथा—"दुन्दुभीन्"[1] । "एषोऽन्तोऽन्तम्"[2] । एकान्तर इति किम् ? "मयोभूर्वातः"[3] । तुशब्द ओष्ठोपसंहारमात्रं विनिवृत्य सर्वकरणविशेषानुप्रवेशमस्य वाचो [दधाति] सर्वत्रेति किमर्थम् ? वर्णविषयसन्निवेशमात्रस्य विधेः मा भूत् ॥ २५ ॥

त्रि०—सान्निध्यादोष्ठोपसंहार इति लभ्यते । सर्वत्र ओष्ठ्यस्वरेषु प्रकृतात् ओष्ठोपसंहारात् पृथगोष्ठोपसंहारः कर्त्तव्यः । स चेत् एकान्तरः एकान्तर इति मात्राकालव्यवेत इत्यर्थः । एकमात्रा अन्तरं व्यवधानं यस्य असौ । एकान्तर इति पृथगोष्ठोपसंहारस्य

सू० अ०—एक (मात्रा काल) से व्यवहित हो तो सभी स्थलों पर पहले किये गये (ओष्ठोपसंहार) से बाद में (पृथक् ओष्ठोपसंहार करना चाहिए) ।

त्रि० अ०—सन्निधि के कारण (२।२४ से) 'ओष्ठोपसंहारः' (ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाना) की प्राप्ति होती है । सर्वत्र = सभी स्थलों पर; 'ओष्ठ्य' स्वरों के विषय में; प्रकृतात् = पहले किए गये ओष्ठोपसंहार से बाद में; पृथक् ओष्ठोपसंहार करना चाहिये । यदि वह; एकान्तरः = एक से व्यवहित हो = मात्रा काल से व्यवहित हो—यह अर्थ है । एक मात्रा है अन्तर = व्यवधान जिसका वह । एक मात्रा काल से व्यवहित (एकान्तरः)—यह पृथगोष्ठोपसंहार का विशेषण (विशिष्ट प्रतिबन्ध) है (अर्थात् एक मात्रा काल का व्यवधान होने पर ही पृथगोष्ठोपसंहार होगा) । तु शब्द ओकार बाद में होने पर एक मात्रा काल के व्यवधान के नियम की निवृत्ति करता है ।[क]

(क) 'ओष्ठ्य' स्वरों—उ, ऊ, ओ, औ का उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाना चाहिए (दे० २।१४ तथा २।२४) । ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाने की क्रिया को 'ओष्ठोपसंहार' कहते हैं । इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक 'ओष्ठ्य' स्वर के उच्चारण में ओष्ठोपसंहार अपेक्षित है । यदि एक पद में एक 'ओष्ठ्य' स्वर है तो एक बार ओष्ठोपसंहार होगा, दो 'ओष्ठ्य' स्वर हैं तो दो बार ओष्ठोपसंहार' होगा और तीन 'ओष्ठ्य' स्वर हैं तो तीन बार । प्रस्तुत सूत्र से पता चलता है कि बात ऐसी नहीं है । 'ओष्ठ्य' स्वरों के उच्चारण में होने वाले ओष्ठोपसंहार के विषय में प्रस्तुत सूत्र इन तथ्यों को बतलाता है—(१) प्रत्येक 'ओष्ठ्य' स्वर के उच्चारण में पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा यदि एक 'ओष्ठ्य' 'स्वर' और दूसरे 'ओष्ठ्य' स्वर के मध्य में एक अथवा एक से अधिक मात्रा काल का व्यवधान हो; (२) यदि सम्बद्ध 'ओष्ठ्य' स्वरों के मध्य में आधी मात्रा काल का व्यवधान है तो प्रत्येक 'ओष्ठ्य' स्वर के लिए

---

(१) ७।५।९ (२) ७।२।७ (३) ७।४।१७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषणम्। तुशब्द ओकारपरत्वे एकान्तरत्वनियमं निवर्तयति। उदाहरणानि—"उत्पूत-शुष्मम्"[१]। "सून्नीयमिति सु-उन्नीयं"[२]। "अथो ओषधीषु"[३]। "बाहुवोर्बलम्"[४]। "तनुवौ घोराऽन्या"[५]। "चतुर्होता"[६]। ननु "योऽँशुम्"[७] इत्यत्रानुस्वारस्य मात्राकालः, शकार-स्यार्धमात्राकालः, एवमध्यर्धमात्रत्वे सत्येकान्तरत्वाभावात् कथं पृथगोष्ठोपसंहारसिद्धिः? उच्यते—शते पञ्चाशन्न्यायेन सिध्यति। अध्यर्धमात्रत्वे एकमात्रत्वं सुतरामस्ति तेन कार्यं भवति। अधिकं तु न निषिध्यते। स्वायोगव्यवच्छेदकत्वादेकशब्दस्य। अत एव "बाहुवो-

---

उदाहरण—"उत्पूतशुष्मम्"क; "सून्नीयमिति सु-उन्नीयम्"क "अथो ओष-धीषु"ख; "बाहुवोर्बलम्"ख; "तनुवौ घोराऽन्या"; "चतुर्होता"। शंका—योऽ-ँशुम्"—यहाँ पर 'अनुस्वार' का उच्चारण-काल एक मात्रा है (दे० १।३४) और शकार का उच्चारण काल आधी मात्रा है (दे० १।३७)। इस प्रकार (ओकार और उकार के मध्य में) डेढ़ मात्रा (का व्यवधान) होने पर एक मात्रा काल के व्यवधान का अभाव होने से पृथगोष्ठोपसंहार की सिद्धि कैसे होती है? (समाधान) कहते हैं—"सौ के अन्तर्गत पचास" इस न्याय से सिद्धि होती है। जहाँ डेढ़ (एक और आधा) मात्रा होती है वहाँ एक मात्रा निश्चय ही होती है, इस कारण से वहाँ कार्य होता है। अधिक का तो निषेध नहीं किया जाता है।ग क्योंकि एक शब्द केवल उसका ही निराकरण करता है जो उस तक नहीं पहुँचता (अर्थात्

पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होगा—एक ओष्ठोपसंहार से ही सम्बद्ध ओष्त्र्य स्वरों का उच्चारण हो जायेगा; (३) यदि परवर्ती 'ओष्त्र्य' स्वर ओकार है तो आधी मात्रा काल का व्यवधान होने पर भी प्रत्येक 'ओष्त्र्य' स्वर के लिए पृथक् ओष्ठोप-संहार होगा।

(क) इन उदाहरणों में एक अथवा एक से अधिक मात्रा काल का व्यवधान होने के कारण प्रत्येक 'ओष्त्र्य' स्वर के लिए पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है।

(ख) इन उदाहरणों में परवर्ती स्वर ओकार है, अतः आधी मात्रा काल का व्यवधान होने पर भी प्रत्येक 'ओष्त्र्य' स्वर के लिए पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है।

(ग) पूर्वपक्षी—'योऽ ँशुम्' में 'ओष्त्र्य' स्वरों (ओकार और उकार) के मध्य में डेढ़ मात्रा काल का व्यवधान है, एक मात्रा काल का नहीं। तब उकार के लिए पृथक् ओष्ठोपसंहार कैसे होता है?

सिद्धान्ती—जब एक मात्रा काल का व्यवधान होने पर ही पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है, तब डेढ़ मात्रा का व्यवधान होने पर तो पृथक् ओष्ठोपसंहार अवश्य ही होगा।

---

(१) १।६।१ (२) ६।२।४ (३) ३।५।५
(४) ५।५।९ (५) ५।७।३
(६) ब्रा० २।२।३ (७) ३।३।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बॅलमूरुवोरोजः"[1] इत्यादेर्न द्विरोष्ठ्यत्वं मुख्यं किन्तु स्फुरितत्वम्। उदाहरणं त्वाभासतया दर्शितम्। तर्हि "कुसुरुबिन्दः"[2] इत्यत्र ककाररेफाभ्यामुत्तरयोरुकारयोः कथं पृथगोष्ठोपसंहारो न भवति ? अध्यर्धमात्रव्यवायसम्भवात्। मैवम्। अत्र ककारसकारोत्तरयोरुकारयोस्तावन्न पृथगोष्ठता। एतल्लक्षणासम्भवात्। रेफादुत्तरस्य तु प्रकृतात् पृथक्त्वाभावान्नायं विधिः। किन्तु मध्यस्थसकारोत्तरादुकारात् पृथक्त्वम्। तथा सत्येकान्तरत्वाभावस्तदवस्थ एवेति लक्षणमिदमव्यभिचरितम् ॥ २५ ॥

जो उससे कम होता है)। इसलिए "बाहुवोर्बलमूरुवोरोजः" इत्यादि में दो ओष्ठ्यों का होना मुख्य नहीं, किन्तु दिखावामात्र है। उदाहरण तो दिखलाई पड़ने के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।[क] (पू०) डेढ़ मात्रा का व्यवधान होने पर "कुसुरुबिन्दः" के ककार और रेफ के परवर्ती उकारों में पृथक् ओष्ठोपसंहार क्यों नहीं होता ? (सि०) ऐसा नहीं है। यहाँ पर ककार और सकार के पूर्ववर्ती उकारों के उच्चारण में पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है क्योंकि यह लक्षण वहाँ सम्भव नहीं है। रेफ से परवर्ती उकार पर तो यह विधान लागू नहीं होता है क्योंकि यह (उकार) प्रथम (उकार) से पृथक् नहीं। किन्तु मध्यस्थ सकार से परवर्ती उकार से पृथक् है। वैसा होने पर एक मात्रा काल के व्यवधान का अभाव उसी प्रकार है—अतएव इस लक्षण में कोई व्यतिक्रम (अपवाद) नहीं है।[ख] ॥ २५ ॥

(क) आधी मात्रा का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है। एक ही ओष्ठोपसंहार से अनेक 'ओष्ठ्य' स्वरों का उच्चारण हो जाता है। ऊपर जो कहा गया है कि 'तु' शब्द से ज्ञात होता है—ओकार बाद में होने पर आधी मात्रा का व्यवधान होने पर भी पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है, वह भी सर्वथा निर्दोष नहीं है।

पूर्वपक्षी—तब पृथक् ओष्ठोपसंहार के लिए "बाहुवोर्बलमूरुवोरोजः"—यह उदाहरण क्यों प्रस्तुत किया गया है ?

सिद्धान्ती—उच्चारण करते समय ऐसा आभास होता है कि इस उदाहरण में उकार और ओकार के लिए पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है, वास्तव में यह पूर्णतः ठीक नहीं है।

(ख) पूर्वपक्षी—'कुसुरुबिन्दः' में एक ही ओष्ठोपसंहार से उच्चारण होता है। ऐसा क्यों ? ककार से परवर्ती उकार और रेफ से परवर्ती उकार के मध्य में डेढ़ मात्रा काल का व्यवधान है। तब इन उकारों के लिए पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार क्यों नहीं होता ?

सिद्धान्ती—यहाँ तीन 'ओष्ठ्य' स्वर (उकार) हैं। प्रथम और द्वितीय तथा

---

(१) ५।५।९ (२) ७।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—ओष्ठोपसंहारोऽनन्तरोक्त इह विशेष्यतयाऽन्वेति। एकमात्रा अन्तरं यस्य ओष्ठोपसंहारस्य स तथोक्तः। तुशब्दोऽर्धमात्रान्तरं विनिवर्तयति। प्रशब्द आदिकर्मणि। प्रकृतः प्रथमकृतः। तदयमर्थः—(एकान्तरस्तु =) एकमात्रान्तरस्तु; ओष्ठोपसंहारः सर्वत्र; (प्रकृतात् =) प्रथमकृतात् ओष्ठोपसंहारात्पृथक्कर्त्तव्य इति। अयमाशयः—प्रतिवर्णं तत्तत्प्रयत्नः कर्त्तव्य इति सार्वत्रिकी क्लृप्तिः। तत्रार्धमात्रान्तरत्वेऽपि पृथगोष्ठोपसंहारः प्राप्तस्तावदनेन निवार्यते एकान्तरस्त्विति। तेन "हुतस्स्तोको हुतो द्रप्सः"[1] इत्यादिषु सकृदेव सर्वार्थं ओष्ठोपसंहारः क्रियते। एकान्तरोदाहरणं तु, "अथो उभावेव"[2] "पेरुं तुञ्जाना"[3] "उच्छुष्मा ओषधीनाम्"[4]। औकारे त्वेकव्यञ्जनान्तरितेऽपि ओष्ठोपसंहारस्य तच्छेषमात्रगोचरत्वात् एकान्तरताऽस्तीति भवत्येव पृथगुपसंहारः। यथा—'देवश्रुतौ देवे-

---

वै० अ०—अव्यवहित पूर्व (= २।२४) में कहा गया ओष्ठोपसंहार यहाँ विशेष्य के रूप में अन्वित होता है। एक मात्रा है अन्तर (= व्यवधान) जिस ओष्ठोपसंहार का वह वैसा कहा गया (= एकान्तरः) है। (सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द आधी मात्रा के व्यवधान की निवृत्ति करता है।[क] 'प्र' शब्द आरम्भ अर्थ में (प्रयुक्त है)। प्रकृतः = पहले किया गया। इससे यह अर्थ हुआ—(एकान्तस्तु=) एक मात्रा के व्यवधान से समन्वित तो; ओष्ठोपसंहार (ओष्ठों को एक दूसरे के समीप लाना); सर्वत्र = सब स्थलों पर; (प्रकृतात् =) पहले किए गए; ओष्ठोपसंहार से पृथक् करना चाहिए। यह आशय है—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण के समय उस-उस का (अपेक्षित) प्रयत्न करना चाहिए—यह सर्वसाधारण नियम है। इसलिए आधी मात्रा का व्यवधान होने पर भी पृथक् ओष्ठोपसंहार प्राप्त होने पर इस (सूत्र) से निषिद्ध किया जाता है—"एक मात्रा का व्यवधान होने पर"। इससे "हुतस्स्तोको हुतो द्रप्सः" इत्यादि में एक बार ही सब ('ओष्ठ्य' वर्णों = क्रमशः ओकार, ओकार, उकार और ओकार) के लिए ओष्ठोपसंहार किया जाता है। एक मात्रा के व्यवधान के उदाहरण तो ये हैं—"अथो उभावेव", "पेरुं तुञ्जाना", "उच्छुष्मा ओषधीनाम्"।[ख] औकार तो एक 'व्यञ्जन' से व्यवहित होने पर भी, ओष्ठोपसंहार का उसकी अन्तिम मात्रा से सम्बद्ध होने के कारण एक मात्रा का व्यवधान होता है—अतएव पृथक् ओष्ठोपसंहार होता ही है। जैसे—

द्वितीय और तृतीय के मध्य में आधी-आधी मात्रा का व्यवधान है। अतः पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है।

(क) तात्पर्य यह है कि आधी मात्रा काल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है।

(ख) एक मात्रा का व्यवधान होने पर इन स्थलों पर 'ओष्ठ्य' स्वरों के लिए पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है।

---

(१) १।१।३ (२) ५।६।२
(३) ३।१।११ (४) ४।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्वाघोषेथाम्''[१] ''यदग्नीषोमौ''[२]। अधिककालान्तरत्वे तु कैमुतिकन्यायसिद्धः पृथगुपसंहारः। यथा—''उपाँशु हुत्वोपाँशु पात्रेऽँशुमवास्य''[३] ''पुनरूत्स्यूतं वासः''[४] ''दिक्षू। उपेति। अदधत''[५]। शिक्षायां तु—

ओष्ठ्ययोस्स्वरयोर्मध्ये दृश्येते तु तपौ यदि।
पृथग्भावस्तयोर्न स्यात्त्रुटिमात्रस्तयोर्भवेत्॥
ओष्ठ्यस्वरेषु कार्येषु प्रथमेनाक्षरद्वये।

इति श्लोकाभ्यां क्वचिदेकान्तरत्वसम्भवेऽपि पृथगोष्ठोपसंहारः प्रतिषिध्यते। ''देवो वस्सवितोत्पुनातु''[६]। ''मध्यतोऽनुष्टुभा''[७] इति। तन्निरासार्थमिह सर्वत्रेति यत्नः क्रियते। एकान्तरत्वसम्भवे सर्वत्र भवत्येव पृथगोष्ठोपसंहार इति। तदयमत्र संग्रहः—

''देवश्रुतौ देवेष्वाघोषेथाम्'', ''यदग्नीषोमौ''।[क] अधिक काल का व्यवधान होने पर तो कैमुतिक न्याय से पृथक् ओष्ठोपसंहार सिद्ध होता है। जैसे—''उपाꣳशु हुत्वोपाꣳशु पात्रेऽꣳशुमवास्य'', ''पुनरूत्स्यूतं वासः'', ''दिक्षू। उपेति। अदधत''।[ख] शिक्षा में तो—

दो 'ओष्ठ्य' स्वरों के मध्य में यदि तकार और पकार दिखलाई देते हैं तो उन ('ओष्ठ्य' स्वरों) के लिए पृथक् (ओष्ठोपसंहार) नहीं होता है। इन (दो 'ओष्ठ्य' स्वरों) का विच्छेद-मात्र होता है। (अथवा उन दो 'ओष्ठ्य' स्वरों के उच्चारणों के मध्य में अत्यन्त अल्प काल का व्यवधान होता है जिससे पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है; त्रुटि = विच्छेद या अत्यन्त अल्पकाल)। बहुत से 'ओष्ठ्य' स्वरों का उच्चारण करने में प्रथम और परवर्ती दो ('ओष्ठ्य') अक्षरों के मध्य में (पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है)।

(क) औ = अ ($\frac{1}{2}$ मात्रा) + उ ($1\frac{1}{2}$ मात्रा)

औ के उकार अंश में ओष्ठोपसंहार अपेक्षित है। ''देवश्रुतौ'' में 'श्रु' के उकार और 'औ' के उकार के मध्य में एक मात्रा काल (त् = $\frac{1}{2}$ मात्रा + अ = $\frac{1}{2}$ मात्रा) का व्यवधान है। इसी प्रकार ''अग्निषोमौ'' में 'षो' के ओकार और औकार के उकार के मध्य में एक मात्रा (म् = $\frac{1}{2}$ मात्रा + अ = $\frac{1}{2}$ मात्रा) का व्यवधान है। अतः एक-एक मात्रा का व्यवधान होने से दोनों ही स्थलों में 'ओष्ठ्य' स्वरों के लिए पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है।

(ख) कैमुतिक न्याय—इससे अधिक (अथवा थोड़े) का तो कहना ही क्या?

अर्थात् जब एक मात्रा काल का व्यवधान होने पर ही पृथक् ओष्ठोपसंहार अपेक्षित है, तब एक से अधिक मात्राओं के व्यवधान का तो कहना ही क्या? उस अवस्था में तो अवश्य ही पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा।

---

(१) १।२।१३ (२) २।६।२ (३) ३।२।२ (४) १।५।२
(५) ५।५।५ (६) १।१।५ (७) ५।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथगोष्ठोपसंहारो नार्धमात्रान्तरे भवेत्।
एकमात्रान्तरत्वस्य स्यात्तु सर्वत्र सम्भवे ॥ २५ ॥

अकारार्धमैकारौकारयोरादिः ॥ २६ ॥

मा०—अकारस्यार्धकालसमः ऐकारस्य औकारस्य च आदिर्भवति। यथा ऐकारस्य—"ऐन्द्राग्नी"[1]। औकारस्य—"औदुम्बरीम्"[2] इति ॥ २६ ॥

त्रि०—(ऐकारौकारयोः =) ऐकारस्यौकारस्य च; आदिः अकारार्धं भवति। अकारस्यार्धकालसम इत्यर्थः। अकारस्यार्धम् अकारार्धम् ॥ २६ ॥

वै०—अकारस्यार्धम् = अकारार्धम्। तत्; (ऐकारौकारयोः =) ऐकारस्य च औकारस्य च; (आदिः =) आद्यवयवः; भवति। तेन तदीयास्स्थानकरणप्रयत्नास्तस्मिन्नंशे भवन्ति ॥ २६ ॥

संवृतकरणतरमेकेषाम् ॥ २७ ॥

मा०—एकेषामाचार्याणां मते अकारादर्धं संवृतकरणतरं भवति। यथा—"ऐन्द्राग्नी"[1]। "औदुम्बरीम्"[2] इति ॥ २७ ॥

इन दो श्लोकों के द्वारा कहीं पर एक मात्रा का व्यवधान होने पर भी पृथक् ओष्ठोपसंहार का निषेध किया जा रहा है। (जैसे) "देवो वस्सवितोत्पुनातु", "मध्यतोऽनुष्टुभा"। (शिक्षा के) उस मत के निराकरण के लिए 'सर्वत्र' के द्वारा यत्न किया जा रहा है। एक मात्रा का व्यवधान होने पर सर्वत्र पृथक् ओष्ठोपसंहार होता ही है। इसलिए इस विषय में यह सङ्ग्रह है—

आधी मात्रा का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है। एक मात्रा का व्यवधान होने पर तो सर्वत्र (पृथक् ओष्ठोपसंहार) होता है ॥२५॥

सू०अ०—ऐकार और औकार का आदि (अंश) अकार का आधा (होता है)।

त्रि० अ०—(ऐकारौकारयोः =) ऐकार का और औकार का; आदिः = आदि (वाला भाग); अकारार्धम् = अकार का आधा होता है। अकार के आधे काल के समान (= अर्ध मात्रा काल)—यह अर्थ है। अकार का आधा = अकारार्धम् ॥ २६ ॥

वै० अ०—अकारार्धम् = अकार का आधा। वह (= अकार का आधा); (ऐकारौकारयोः =) ऐकार और औकार का; (आदिः =) आदि वाला अवयव; होता है। इससे उस (अकार) के स्थान, करण और प्रयत्न उस अंश में होते हैं ॥ २६ ॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मत से (ऐकार और औकार का आदि वाला अकारार्ध) संवृततर 'करण' (वाला होता है)।

---

(१) ५।५।६ (२) ५।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—सान्निध्यादकारार्धमिति लभ्यते। एकेषां मते तदकारार्धं संवृतकरणतरं भवति। संवृतानि संनिकृष्टानि करणानि यस्य तत् संवृतकरणम्। अतिशयेन संवृतकरणं संवृतकरणतरम् ॥ २७ ॥

वै०—तदकारार्धम् एकेषामाचार्याणां मते संवृतकरणतरं भवति यदनयोरादिः। स्वमते तु संवृतकरणमेव ॥ २७ ॥

इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः ॥ २८ ॥

मा०—इकारोऽध्यर्धकालसमः पूर्वस्य ऐकारस्य अर्धः अकारार्धशेषो भवति। यथा—"ऐन्द्रीमावृतम्"[1] इति ॥ २८ ॥

त्रि०—पूर्वस्य = ऐकारस्येत्यर्थः। अधस्तादैकारौकारयोः सहोच्चरितत्वात्। अध्यर्धः इकारः ऐकारस्य शेषः भवति। अधिकमर्धं यस्यासावध्यर्धः ॥ २८ ॥

वै०—अधिकमर्धं यस्मिन् सोऽध्यर्धः। (अध्यर्धः =) अध्यर्धमात्रः, इकारः पूर्वस्य ऐकारस्य शेषो भवति। तेन तदीयास्स्थानकरणप्रयत्नास्तस्मिन्नंशे भवन्ति ॥ २८ ॥

त्रि० अ०—सन्निधि के कारण (पूर्व सूत्र से) अकारार्ध की प्राप्ति होती है। एकेषाम् = कतिपय (आचार्यों) के मत में; वह अकारार्ध; संवृतकरणतरम् = संवृततर करण वाला; होता है।[क] संवृत = सन्निकृष्ट हैं करण जिसके वह = संवृत-करण है। अत्यधिक संवृत 'करण' हैं जिसके वह = संवृतकरणतर ॥ २७ ॥

वै० अ०—एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत में; वह अकारार्ध जो इनका आदि (अवयव) है, संवृतकरणतरम् = संवृततर करण वाला; होता है। अपने मत में तो संवृत करण वाला ही (होता है) ॥ २७ ॥

सू० अ०—पूर्व (= ऐकार) का अवशिष्ट (भाग) डेढ़ गुणा इकार होता है।

त्रि० अ०—पहले (= २।२६ में) ऐकार और औकार का एक साथ उल्लेख होने से; पूर्वस्य = पूर्व का = ऐकार का—यह अर्थ है। शेषः = ऐकार का शेष (भाग); अध्यर्धः इकारः = डेढ़ गुणा इकार; होता है। जिसका आधा भाग (एक से) अधिक है वह अध्यर्ध है ॥ २८ ॥

वै० अ०—(एक से) अधिक है आधा जिसमें वह अध्यर्ध है। शेषः = ऐकार का शेष (भाग), (अध्यर्धः =) डेढ़ गुणा; इकारः = इकार; होता है। इससे उस (इकार) के 'स्थान', 'करण' और 'प्रयत्न' उस अंश में होते हैं ॥ २८ ॥

(क) तात्पर्य यह है कि इन आचार्यों के मत में ऐकार और औकार के प्रारम्भिक अर्ध मात्रा वाले अकार अंश के उच्चारण में ओष्ठ और जबड़े एक दूसरे के अधिक समीप में आ जाते हैं।

---

(१) १।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उकारस्तूत्तरस्य ॥ २९ ॥

मा०—उकारोऽध्यर्धकालसमः उत्तरस्यौकारस्यार्धशेषो भवति। यथा:—"औदुम्बरीम्"[1]। तुशब्द इकारं विनिवर्त्तयतीति ॥ २९ ॥

त्रि०—उत्तरस्य = औकारस्येत्यर्थः। अध्यर्धः उकारः औकारस्य शेषः भवति। यथाऽनयोरुभयोरप्यादिरकार एव तद्वदिकार एव शेषः प्रसक्तः। तन्निषेधति तुशब्दः ॥२९॥

वै०—तुशब्दः इकारं विनिवर्तयन् अध्यर्धश्शेषः इत्युभयस्यानुवृत्तिं दर्शयति। उकारोऽध्यर्धमात्रः; (उत्तरस्य =) औकारस्य; शेषः। तेन तदीयाः स्थानकरणप्रयत्नास्तस्मिन्नंशे भवन्ति। यद्यप्येकारादीनां चतुर्णामपि संध्यक्षराणाम् एवं द्विस्वरात्मकत्वं समानम्। तथाऽपि एदोतोः प्रश्लिष्टावयवत्वात्प्रकारान्तरमेवोक्तम् ॥ २९ ॥

अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः ॥ ३० ॥

मा०—अनुस्वाराश्च वर्णानामुत्तमाश्च अनुनासिका भवन्ति। यथा अनुस्वारः—"योऽँशुम्"[2]। उत्तमाः—"प्राञ्चम्"[3] ॥ ३० ॥

त्रि०—अनुस्वारः च उत्तमाः च अनुनासिकाः भवन्ति। नासिकामनुवर्तन्त

सू० अ०—किन्तु बाद वाले (= औकार) का (अवशिष्ट भाग) उकार (होता है)।

त्रि० अ०—उत्तरस्य = बाद वाले का = औकार का—यह अर्थ है। औकार का शेष (भाग) डेढ़ गुणा; उकारः = उकार; होता है। जिस प्रकार इन दोनों (ऐकार और औकार) का आदि वाला भाग अकार ही है, उसी प्रकार ही शेष भाग इकार है—यह प्राप्त होता है। तु शब्द इसका निषेध करता है ॥ २९ ॥

वै० अ०—तु शब्द इकार की निवृत्ति करता हुआ 'अध्यर्धः' और 'शेषः'—इन दोनों की अनुवृत्ति दिखलाता है। (उत्तरस्य =) औकार का; शेष भाग डेढ़ गुणा; उकारः = उकार होता है। इससे उस (उकार) के 'स्थान', 'करण' और 'प्रयत्न' उस अंश में होते हैं। यद्यपि एकार आदि चारों संध्यक्षरों के विषय में यह समानता है कि ये दो स्वरों के मिलने से निष्पन्न हुये हैं। तथापि ए और ओ में उनके अवयव मिलकर पूर्णरूपेण एक हो गये हैं। अतः उनका कथन भिन्न प्रकार से किया गया है ॥ २९ ॥

सू० अ०—'अनुस्वार' और वर्णों के अन्तिम वर्ण (उत्तम) 'अनुनासिक' (होते हैं)।

त्रि० अ०—अनुस्वारः = 'अनुस्वार', और, उत्तमाः = वर्गों के अन्तिम वर्ण ('उत्तम'), अनुनासिकाः = 'अनुनासिक'; होते हैं। नासिका का अनुगमन करते हैं (नासिका से उच्चरित होते हैं), अतः 'अनुनासिक' (कहलाते) हैं। जैसे—

---

(१) ५।२।७ (२) ३।३।४ (३) ५।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुम्"[1]। उत्तमाश्च—"प्रत्यङ् होतारम्"[2], "प्राञ्चमुप"[3], "मणिना रूपाणि"[4], "तन्ते दुश्चक्षाः"[5], "तम्प्रत्नथा"[6] ॥ ३० ॥

वै०—(अनुस्वारोत्तमाः =) अनुस्वारश्च उत्तमाश्च; (अनुनासिकाः =) आनुनासिक्यगुणयुक्ताः; भवन्ति ? अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वेति परमतम्। तन्निरासार्थमिदमुच्यते। अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायाम्। अर्धगकाररूपत्वात् ॥३०॥

स्वराणां यत्रोपसꣳहारस्तत् स्थानम् ॥ ३१ ॥

मा०—भवति। यत्र "तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे"[7] अत्र तालु स्थानम्। एवं सर्वेषु। उपसंहारो नाम संस्पर्शनातिसंश्लेषः ॥ ३१ ॥

त्रि०—स्वराणां तत् स्थानं भवति यत्रोपसंहारः स्यात्। उपसंहारः नाम संश्लेषविशेषः ॥ ३१ ॥

'अनुस्वार' (का उदाहरण)—"योꣳशुम्"। वर्गों के अन्तिम वर्ण (= 'उत्तम') (का उदाहरण)—"प्रत्यङ् होतारम्", "प्राञ्चमुप", "मणिना रूपाणि", "तन्ते दुश्चक्षाः", "तम्प्रत्नथा" ॥ ३० ॥

वै० अ०—(अनुस्वारोत्तमाः =) 'अनुस्वार' और वर्गों के अन्तिम वर्ण (उत्तम) (अनुनासिकाः =) आनुनासिक्यगुण से युक्त; होते हैं। 'अनुस्वार' 'व्यञ्जन' भी हैं और 'स्वर' भी हैं—यह दूसरों का मत है। उस (मत) के निराकरण के लिये यह (सूत्र) कहा गया है। हमारी (तैत्तिरीय) शाखा में वर्गों के अन्तिम वर्णों की तरह 'अनुस्वार' भी 'व्यञ्जन' ही है। क्योंकि ('अनुस्वार') आधे गकार के स्वरूप वाला है ॥ ३० ॥

सू० अ०—जहाँ उपसंहार (होता है) वह (मुख-भाग) स्वरों का स्थान है।

त्रि० अ०—स्वराणाम् = स्वरों का; तत् स्थानम् = वह 'स्थान'[क]; होता है; यत्रोपसंहारः = जहाँ उपसंहार; होता है (अर्थात् जिस मुखावयव के समीप में दूसरा मुखावयव आता है वह मुखावयव 'स्थान' कहलाता है)। उपसंहार का अर्थ है संश्लेषविशेष (= एक प्रकार का संयोग) ॥ ३१ ॥

(क) ऋ० प्रा० १।४९ के भाष्य में भाष्यकार उवट ने 'स्थान' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—"अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते" अर्थात् वर्णों के आधार को 'स्थान' शब्द से अभिहित किया जाता है।

तै० प्रा० २३।४ पर त्रि० में 'स्थान' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है—"यस्मिन् तिष्ठति तत् स्थानम्" अर्थात् जिस अङ्गविशेष पर वर्ण स्थित होते हैं = उच्चारित होते हैं, वह उन वर्णों का 'स्थान' है।

---

(१) ३।३।४ (२) ६।३।१ (३) ५।२।७ (४) ७।३।१४
(५) ३।२।१० (६) १।४।६ (७) २।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उक्ताः स्वराणां प्रयत्नाः। व्यञ्जनानां च वक्ष्यन्ते। अत्रावसरे स्थानकरण-विवेक उच्यते—

स्वराणां तत्स्थानम्; (यत्र =) यस्मिन्नवयवे; अवयवान्तरस्य; (उपसंहारः =) उपश्लेषः; क्रियते। यथा—हनू अवर्णस्य। तत्र हि विचाल्यतरौ ओष्ठौ उपसंह्रियेते।

वै० अ०—स्वरों के प्रयत्न कहे जा चुके हैं। और व्यञ्जनों के (प्रयत्न) आगे बतलाये जायेंगे। इस अवसर पर 'स्थान' और 'करण'[क] का अन्तर[ख] बतलाया जाता है—

स्वराणाम् = स्वरों का; तत्स्थानम् = वह स्थान; (होता है); (यत्र =) जिस अवयव में; दूसरे अवयव का; उपसंहारः = उपश्लेष; किया जाता है। जैसे जबड़े अवर्ण के (स्थान) हैं। क्योंकि वहाँ पर अधिक गतिशील ओष्ठों का उपसंहार होता है। तालु इवर्ण का (स्थान) है। ऊपर वाला ओष्ठ उवर्ण का (स्थान) है। क्योंकि वहाँ पर अधिक गतिशील निचले ओष्ठ का उपसंहार होता

(क) प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में 'करण' संज्ञा का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। "क्रियत इति करणम्" इस व्याख्या के अनुसार 'करण' शब्द का प्रयोग ऋ० प्रा० तथा ऋ० तं० इत्यादि में 'आभ्यन्तर प्रयत्न' के लिए हुआ है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने भी 'आभ्यन्तर प्रयत्न' के लिए 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। उद्योतटीका में नागेश ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"करणमाभ्यन्तर-प्रयत्नः"। इसके विपरीत तै० प्रा०, च० अ० इत्यादि में 'करण' शब्द का प्रयोग जिह्वा आदि सक्रिय मुखावयवों के लिए किया गया है। इस अर्थ में 'करण' शब्द का यह निर्वचन होगा—"क्रियते अनेन इति करणम्" अर्थात् 'करण' वह है जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार ('प्रयत्न') किया जाता है।

(ख) वर्णों के उच्चारण को भली-भाँति समझने के लिए वर्णों की उत्पत्ति में सहायक अङ्गों के कार्य का ज्ञान आवश्यक है। अन्दर से बाहर आती हुई वायु को वर्णों के उच्चारण के लिए मुख-विवर में रोक कर अथवा अन्य कई प्रकारों से विकृत करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए दो अवयवों—'करण' तथा 'स्थान' की आवश्यकता होती है। उनमें से सक्रिय एवं गतिशील अङ्ग को 'करण' (वर्णों के उच्चारण में प्रमुख अङ्ग) (articulator, producing organ) कहते हैं और निष्क्रिय तथा अपेक्षाकृत अचल अङ्ग को 'स्थान' (place of articulation) कहते हैं। अर्थात् 'करण' वह अङ्गविशेष है, जो उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार ('प्रयत्न') करता है और 'स्थान' वह अङ्गविशेष है जहाँ अन्दर से बाहर आती हुई वायु को रोक कर या अन्य किसी प्रकार से उसमें विकार लाकर वर्णों को उत्पन्न किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिवर्णस्य। उत्तरोष्ठ उवर्णस्य। तत्र हि विचाल्यतरोऽधरोष्ठः उपसंह्रियते। वर्त्सा ऋकारादीनाम्। एकारैकारयोः हनू तालु च। ओकारौकारयोः हनू उत्तरोष्ठश्चेति ॥ ३१ ॥

यदुपसꣳहरति तत् करणम् ॥ ३२ ॥

मा०—स्वराणामेव, यस्य यदुपसंहरति तत् करणं भवति। यथा—"जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषूपसंहरति"[1]। जिह्वाग्रं करणम्। एवं सर्वस्वराणां द्रष्टव्यम् ॥ ३२ ॥

त्रि०—सान्निध्यात् स्वराणामिति लभ्यते। स्वराणां तत् करणम् भवति यत् स्वरान्; उपसंहरति = प्रापयति स्वस्थानम्। यथा—"जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु"[1] इत्यादि ॥ ३२ ॥

वै०—यदङ्गमङ्गान्तरे; (उपसꣳहरति =) वक्त्रा उपसंह्रियते; तत्स्वराणां करणम्। यथा—ओष्ठाववर्णस्य। तालु च जिह्वा च इवर्णस्य। अधरोष्ठ उवर्णस्य। ओष्ठौ हनू च जिह्वा च ऋकारादीनाम्। ओष्ठौ जिह्वाऽप्येदैतोः। ओष्ठौ ओदौतोरिति ॥ ३२ ॥

अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत् स्थानम् ॥ ३३ ॥

मा०—अन्येषां तु खलु वर्णानां स्वरेभ्यः यस्य यस्य यत्र स्पर्शनं तस्य तस्य स्थानं भवति। स्पर्शनं संश्लेषः। यथा—"जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे"[2]। तत्र मूर्धा स्थानम्। तुशब्दः अकारादिनिवृत्त्यर्थः, अथवा अनुस्वारस्वरभक्त्योः व्यञ्जनस्पर्शनं

है। मसूड़े ऋकार आदि के (स्थान) हैं। जबड़े और तालु एकार और ओकार के (स्थान) हैं। जबड़े और ऊपर वाला ओष्ठ ओकार और औकार के (स्थान) हैं ॥ ३१ ॥

सू० अ०—जो उपसंहार करता है वह (मुख-भाग) (स्वरों का) 'करण' है।

त्रि० अ०—सन्निधि के कारण (पूर्व सूत्र = २।३१ से) 'स्वराणाम्' की प्राप्ति होती है। स्वरों का; तत् करणम् = वह 'करण'; होता हैं; यत् = जो; स्वरों का; उपसंहरति = उपसंहार करता है = स्वरों को उनके स्थान पर प्राप्त कराता है (पहुँचाता है) (अर्थात् स्वरों के उच्चारण में जो मुखावयव उच्चारण स्थान के समीप में जाता है वह 'करण' है)। जैसे—"ऋकार, ऋकार और लृकार (के उच्चारण) में जिह्वा के अग्रभाग को" इत्यादि ॥ ३२ ॥

वै० अ०—यत् = जो अङ्ग; वक्ता के द्वारा दूसरे अङ्ग के; (उपसंहरति =) पास में ले जाया जाता है; तत् = वह; स्वराणाम् = स्वरों का; करणम् = 'करण'; है। जैसे—ओष्ठ अवर्ण के ('करण' हैं)। तालु और जिह्वा इवर्ण के (करण हैं)। निचला ओष्ठ उवर्ण का ('करण') है। ओष्ठ, जबड़े और जिह्वा ऋकार आदि के ('करण') हैं। ओष्ठ और जिह्वा एकार और ऐकार के ('करण') हैं। ओष्ठ ओकार और औकार के (करण) हैं ॥ ३२ ॥

---

(१) २।१८ (२) २।३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिवर्तयति। अन्यशब्दः अपवर्गवाच्यप्यस्ति। यथा—"नक्षत्रवेष्टकाः", "पुरस्तादन्याः प्रतीचीः"[1] ॥ ३३ ॥

त्रि०—स्वरेभ्यः अन्येषां वर्णानां तत् स्थानं यत्र स्पर्शनं भवेत्। अत्र व्यञ्जनानां संश्लेषमात्रं कथ्यते। स्वराणां तु पुरस्तात् संश्लेषविशेषः कथितः। उपसंहारस्पर्शनयोः शब्दशक्त्या विशेषः विदुषैव विज्ञेयः। तुशब्दः स्वरनिवृत्त्यर्थः। अथवा अनुस्वारस्वरभक्त्योर्व्यञ्जनवत् स्पर्शमात्रनिवर्तकः इति माहिषेयभाषितम् ॥ ३३ ॥

वै०—स्वरेभ्योऽन्येषां व्यञ्जनानां तत्स्थानं यत्र स्पर्शनं क्रियते। यथा—हनूमूलं कवर्गस्य। तालु चवर्गस्य। मूर्धा टवर्गस्य। दन्तमूलानि तवर्गस्य। उत्तरोष्ठः पवर्गस्य। तालु दन्तमूलानि दन्ता ह्यन्तस्थानाम्। ऊष्मादिषु तु स्पर्शनाभावादतिदेशादिना स्थानावगतिः ॥ ३३ ॥

सू० अ०—(स्वरों से) अन्य (वर्णों) का वह स्थान होता है जहाँ स्पर्श (होता है)।

त्रि० अ०—स्वरों से; अन्येषाम् = अन्य वर्णों का; तत् = वह; स्थानम् = स्थान; (होता है); यत्र = जहाँ; स्पर्शनम् = स्पर्श; होता है। यहाँ पर व्यञ्जनों के विषय में पूर्ण संपर्क (संश्लेषमात्र) का कथन किया गया है। स्वरों का तो पहले संश्लेष विशेष कह दिया गया है। उपसंहार और स्पर्श का अन्तर शब्द-शक्ति के द्वारा विद्वानों को जान लेना चाहिए।[क] तु शब्द 'स्वर' की निवृत्ति के लिए है। अथवा माहिषेय के कथनानुसार 'अनुस्वार' और 'स्वर-भक्ति' के विषय में (यह 'तु' शब्द) 'व्यञ्जन' की तरह पूर्ण स्पर्श की निवृत्ति करता है ॥ ३३ ॥

वै० अ०—अन्येषाम् = स्वरों से अन्य; व्यञ्जनों का; तत् स्थानम् = वह 'स्थान' है; यत्र = जहाँ; स्पर्शनम् = स्पर्श; किया जाता है। जैसे—जबड़े का मूल कवर्ग का ('स्थान') है। तालु चवर्ग का ('स्थान') है। मूर्धा टवर्ग का ('स्थान') है। दाँतों के मूल तवर्ग का ('स्थान') हैं। ऊपर वाला होठ पवर्ग का ('स्थान') है। तालु, दाँतों के मूल और दाँत 'अन्तःस्था' (वर्णों) के ('स्थान') हैं। 'ऊष्मन्' आदि में तो 'स्पर्श' का अभाव होने से अतिदेश आदि से 'स्थान' का ज्ञान करना चाहिए ॥ ३३ ॥

(क) व्यञ्जनों का उच्चारण करते समय दो उच्चारणावयवों ('करण' और 'स्थान') का पूर्ण सम्पर्क (स्पर्श) होता है। स्वरों का उच्चारण करते समय दो उच्चारणावयवों (करण और स्थान) का इस प्रकार सम्पर्क होता है कि ये दो अङ्ग एक दूसरे के पास-पास में तो आ जाते हैं, परन्तु वस्तुतः एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते हैं। 'उपसंहार' शब्द का अर्थ है—समीप में आ जाना, जब कि स्पर्श शब्द का अर्थ है—पूर्ण और वास्तविक सम्पर्क।

---

(१) ५।४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

येन स्पर्शयति तत् करणम् ॥ ३४ ॥

मा०—अन्येषामेव वर्णानां स्वरेभ्यः यस्य यस्य येन स्पर्शयति तत्र तत्र तत् करणं भवति। यथा—"जिह्वाग्रेण तवर्गे"[1]। तत्र जिह्वाग्रं करणम्। एवं सर्वत्र व्यञ्जनानां द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

त्रि०—सान्निध्यादन्येषामिति लभ्यते। स्वरेभ्योऽन्येषां वर्णानां तत् करणं भवति अध्येता येन व्यञ्जनानि स्पर्शयति = प्रापयति स्थानम् ॥ ३४ ॥

वै०—व्यञ्जनानां तत् करणं येनाङ्गेन स्थानं स्पर्शयति। यथा—जिह्वा कवर्गादीनां चतुर्णां वर्गाणां यरलवानां च। अधरोष्ठः पवर्गवकारयोः ऊष्मादीनां तु करणावगतिर्वक्ष्यते ॥ ३४ ॥

हनूमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति ॥ ३५ ॥

मा०—कवर्गे वक्ष्यमाणे हनुमूले जिह्वामूलेन स्पर्शयति। यथा—"कामेन कृतः"[2] ॥ ३५ ॥

त्रि०—कवर्गे उच्चार्यमाणे जिह्वामूलेन वर्णान् हनूमूले; स्पर्शयति = प्रापयेदित्यर्थः। हन्वोर्मूलं हनूमूलं तस्मिन्। मूल इति जात्यपेक्षायामेकवचनम् ॥ ३५ ॥

सू० अ०—जिस (मुखावयव) से स्पर्श करता है वह (व्यञ्जनों का) करण है।

त्रि० अ०—सान्निध्य से 'अन्येषाम्' की प्राप्ति होती है। स्वरों से अन्य वर्णों (= व्यञ्जनों) का; तत् करणम् = वह 'करण'; होता है; येन = जिससे; अध्येता व्यञ्जनों को; स्पर्शयति = स्पर्श करता है = स्थान को प्राप्त कराता है ॥ ३४ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनों का; तत् करणम् = वह 'करण' (होता है); येन = जिस अङ्ग से; (वक्ता) 'स्थान' का; स्पर्शयति = स्पर्श करता है। जैसे—कवर्ग इत्यादि चारों वर्गों का और य, र, ल तथा व का ('करण') जिह्वा है। निचला ओष्ठ पवर्ग और वकार का ('करण') है। 'ऊष्मन्' इत्यादि के 'करण' को आगे बतलायेंगे ॥ ३४ ॥

सू० अ०—कवर्ग (के उच्चारण) में जिह्वा के मूल से जबड़े के मूल पर स्पर्श करता है।

त्रि० अ०—कवर्गे = कवर्ग का उच्चारण करते समय; जिह्वामूलेन = जिह्वा के मूल से; वर्णों को; हनूमूले = जबड़े के मूल में; स्पर्शयति = स्पर्श करता है =

---

(१) २।३८ (२) १।१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—कवर्गे उच्चार्ये हनूमूले इति कर्मत्वाविवक्षया अधिकरणत्वमाश्रितम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ३५ ॥

तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे ॥ ३६ ॥

मा०—चवर्गे वक्ष्यमाणे जिह्वामध्येन तालौ स्पर्शयति। यथा—"चिदसि"[1] ॥३६॥

त्रि०—चवर्गे कार्ये जिह्वामध्येन वर्णान् तालौ स्पर्शयेत् ॥ ३६ ॥

वै०—स्पर्शयतीत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे ॥ ३७ ॥

मा०—टवर्गे वक्ष्यमाणे जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य तेन मूर्धनि स्पर्शयति। यथा—"ईडामहै"[2] ॥ ३७ ॥

त्रि०—टवर्गे कार्ये जिह्वाग्रेण वर्णान् मूर्धनि स्पर्शयेत्। किं कृत्वा ? योगत्वात् जिह्वाग्रं प्रतिवेष्ट्य = आवेष्ट्य। मूर्धशब्देन वक्त्रविवरोपरिभागो विवक्ष्यते ॥ ३७ ॥

प्राप्त कराता है—यह अर्थ है। हनू का मूल = हनूमूल, उसमें। 'मूले' में जाति की अपेक्षा में एक-वचन है[क] ॥ ३५ ॥

वै० अ०—कवर्गे = कवर्ग का उच्चारण करते समय; (जिह्वामूलेन = जिह्वा के मूल से; हनूमूले स्पर्शयति = जबड़े के मूल को स्पर्श करे)। हनूमूले—यहाँ कर्मत्व की विवक्षा न होने से अधिकरण का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार आगे भी देखना चाहिए ॥ ३५ ॥

सू० अ०—चवर्ग (के उच्चारण) में जिह्वा के मध्य से तालु पर (स्पर्श करता है)।

त्रि० अ०—चवर्गे = चवर्ग (का उच्चारण) करते समय; जिह्वामध्येन = जिह्वा के मध्य से; वर्णों को; तालौ = तालु पर; स्पर्श कराना चाहिये ॥ ३६ ॥

वै० अ० - (चवर्गे = चवर्ग के उच्चारण में; जिह्वामध्येन = जिह्वा के मध्य से; तालौ = तालु पर); स्पर्श कराना चाहिए—यह अन्वय है ॥ ३६ ॥

सू० अ०—टवर्ग (के उच्चारण) में जिह्वा के अग्रभाग से (जिह्वा के अग्र-भाग को) मोड़ कर मूर्धा पर (स्पर्श करना चाहिये)।

त्रि० अ०—टवर्गे = टवर्ग (का उच्चारण) करते समय; जिह्वाग्रेण = जिह्वा के अग्र भाग से; वर्णों को; मूर्धनि = मूर्धा में; स्पर्श करे। क्या करके ? उचित

(क) तात्पर्य यह हैं कि मूल मे जो एकवचन है वह सम्पूर्ण जाति का निर्देश करता है। यद्यपि 'मूले' में एकवचन है तथापि इससे दोनों जबड़ों का ग्रहण होता है।

---

(१) ४।७।१३ (२) २।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—मूर्धा शिरः। (मूर्धनि =) तत्र प्रतिवेष्टितेन जिह्वाग्रेण स्पर्शयति ॥ ३७ ॥

जिह्वाग्रेण तवर्गं दन्तमूलेषु ॥ ३८ ॥

मा०—तवर्गे वक्ष्यमाणे जिह्वाग्रेण दन्तमूलेषु स्पर्शयति। यथा—"तुथो वः"[1] ॥३८॥

त्रि०—तवर्गं कार्यं जिह्वाग्रेण वर्णान् दन्तमूलेषु स्पर्शयेत् ॥ ३८ ॥

वै०—जिह्वाग्रेण यथावस्थितेन उत्तरदन्तमूलेष्वधोभागे स्पर्शयति। शिक्षायां तु—तवर्गं दन्त्यं नकारं तु दन्तमूलीयं चोक्त्वा नकारस्यापि क्वचिद्दन्त्यत्वमुच्यते। तदस्माभिर्नाश्रयितव्यम्। प्रातिशाख्यविप्रतिषिद्धत्वात्। तस्मान्नकारोपि सर्वत्र दन्तमूलीयः ॥ ३८ ॥

(योग्य) होने से जिह्वा के अग्र (भाग) को; प्रतिवेष्ट्य = मोड़कर[क]। 'मूर्धन्' शब्द के द्वारा मुख-विवर का ऊपर वाला भाग विवक्षित है[ख] ॥ ३७ ॥

वै० अ०—मूर्धा = शिर। मोड़े हुए; जिह्वाग्रेण = जिह्वा के अग्र (भाग) से; (मूर्धनि =) वहाँ (= शिर में); स्पर्श करना चाहिए ॥ ३७ ॥

सू० अ०—तवर्ग (के उच्चारण) में जिह्वा के अग्र-भाग से दाँतों के मूल पर (स्पर्श करता है)।

त्रि० अ०—तवर्गं = तवर्ग (का उच्चारण) करते समय; जिह्वाग्रेण = जिह्वा के अग्र-भाग से; वर्णों को; दन्तमूलेषु = दाँतों के मूल पर; स्पर्श करे ॥ ३८ ॥

वै० अ०—स्वाभाविक अवस्था[क] में विद्यमान; जिह्वाग्रेण = जिह्वा के अग्र-भाग से; दन्तमूलेषु = ऊपर वाले दाँतों के मूल में; नीचे की ओर स्पर्श करता है।

(क) टवर्गीय वर्णों के उच्चारण के समय जिह्वा के अग्र-भाग (नोक) को ऊपर की ओर ले जाकर और तब पीछे की ओर मोड़ कर मूर्धा का स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार मुड़ी हुई जिह्वा ही टवर्गीय वर्णों के उच्चारण-हेतु अपेक्षित स्पर्श को सम्पादित करने में समर्थ होती है।

(ख) मूर्धा का शाब्दिक अर्थ है सिर। किन्तु सिर से वर्णों का उच्चारण नहीं होता है। अतः मूर्धा का गौण अर्थ हुआ—मुख-विवर का सबसे ऊपर वाला भाग; क्योंकि जिह्वा की पहुँच के अन्तर्गत यह सिर का सबसे ऊँचा भाग है।

(क) जिह्वा की साधारण स्थिति अर्थात् सीधी पड़ी अवस्था में विद्यमान जिह्वा के अग्र-भाग से दाँतों के मूल में स्पर्श करे। तात्पर्य यह है कि तवर्ग के उच्चारण में जिह्वा के अग्र-भाग को उस प्रकार नहीं मोड़ा जाता है जिस प्रकार टवर्ग के उच्चारण में।

---

(१) १।४।४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओष्ठाभ्यां पवर्गे ॥ ३९ ॥

मा०—वक्ष्यमाणे ओष्ठाभ्यामेव स्पर्शयति। यथा—"बम्भारिः"[1]। तत्र उत्तरोष्ठः स्थानम्, उत्तरत्वसामान्यात् स्थानानाम्। अधरः करणम् ॥ ३९ ॥

त्रि०—पवर्गे कार्ये ओष्ठाभ्याम् अन्योन्यं स्पर्शयेत्। अत्रोत्तरोष्ठस्स्थानं उत्तरत्व-साम्यादेषां स्थानानाम्। अधरोष्ठः करणम् ॥ ६९ ॥

वै०—पवर्गे ओष्ठाभ्यां स्पर्शनं कार्यम्। तत्राधरेण तु विचाल्यतरेण उत्तरं स्पर्शयति ॥ ३९ ॥

तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे ॥ ४० ॥

मा०—जिह्वाया मध्यं जिह्वामध्यम्, जिह्वामध्यस्यान्तौ जिह्वामध्यान्तौ। ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे वक्ष्यमाणे तालौ स्पर्शयति। यथा—"कामयेत्"[2] ॥ ४० ॥

त्रि०—यकारे कार्ये जिह्वामध्यान्ताभ्यां तालौ स्पर्शयेत्। जिह्वायाः मध्यं तस्य अन्तौ ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्याम् ॥ ४० ॥

शिक्षा में तो—तवर्ग दन्त्य है, किन्तु नकार तो दन्तमूलीय भी है—यह कह कर कहीं पर नकार को दन्त्य कहा है। हमें इसका आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि यह प्रातिशाख्य के द्वारा प्रतिषिद्ध है। इसलिए नकार भी सर्वत्र दन्त-मूलीय है ॥ ३८ ॥

सू० अ०—पवर्ग (के उच्चारण) में दोनों ओष्ठों का (परस्पर स्पर्श करना चाहिए)।

त्रि० अ०—पवर्गे = पवर्ग (का उच्चारण) करने में; ओष्ठाभ्याम् = ओष्ठों के द्वारा; एक दूसरे का स्पर्श करना चाहिये। यहाँ (= पवर्ग के उच्चारण में) ऊपर वाला ओष्ठ 'स्थान' है क्योंकि इन स्थानों के विषय में यह बात समान है कि ये मुख के ऊपर वाले अङ्ग होते हैं। नीचे वाला ओष्ठ 'करण' है ॥ ३९ ॥

वै० अ०—पवर्गे = पवर्ग (के उच्चारण) में; ओष्ठाभ्याम् = ओष्ठों के द्वारा; स्पर्श करना चाहिए। वहाँ (= उन दो ओष्ठों में से) नीचे वाले अधिक गतिशील ओष्ठ के द्वारा ऊपर वाले (ओष्ठ) को स्पर्श करता है ॥ ३९ ॥

सू० अ०—यकार (के उच्चारण) में जिह्वा के मध्य-भाग के किनारों से तालु पर (स्पर्श करता है)।

त्रि० अ०—यकारे = यकार (का उच्चारण) करने में; जिह्वामध्यान्ता-भ्याम् = जिह्वा के मध्य भाग के किनारों से; तालौ = तालु पर; स्पर्श करना चाहिये। जिह्वा का मध्य = जिह्वामध्य, उसके अन्त, उनसे = जिह्वामध्यान्ता-भ्याम् ॥ ४० ॥

---

(१) १।३।३ (२) १।७।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—जिह्वामध्यान्ताभ्यामित्यस्य पूर्ववद्व्याख्या ॥ ४० ॥

रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः ॥ ४१ ॥

मा०—रेफे वक्ष्यमाणे जिह्वाग्रमध्येन दन्तमूलेभ्यः प्रत्यक् स्पर्शयति। यथा—"रुरू रौद्रः"[1]। जिह्वाया अग्रं जिह्वाग्रम्, जिह्वाग्रस्य मध्यं जिह्वाग्रमध्यम् ॥ ४१ ॥

त्रि०—रेफे कार्ये जिह्वाग्रमध्येन दन्तमूलेभ्यः प्रत्यक् स्पर्शयेत्। प्रत्यक् इति अभ्यन्तरमुपरिभाग इत्यर्थः। यथा प्रत्यगात्मेत्यन्तरात्मा प्रतीयते ॥ ४१ ॥

वै०—(दन्तमूलेभ्यः =) दन्तमूलानामुपरि; स्पर्शयति। (जिह्वाग्रमध्येन =) जिह्वाग्रस्य मध्यं तन्निष्ठः प्रदेशः ॥ ४१ ॥

दन्तमूलेषु च लकारे ॥ ४२ ॥

मा०—चकारोऽन्वादेशकः जिह्वाग्रमध्यस्य। लकारे वक्ष्यमाणे जिह्वाग्रमध्येन दन्तमूलेषु स्पर्शयति। यथा—"ललामः"[2] ॥ ४२ ॥

वै० अ०—जिह्वामध्यान्ताभ्याम् = जिह्वा के मध्य-भाग के किनारों से—इसकी पूर्व की तरह व्याख्या (कर लेनी चाहिए) ॥ ४० ॥

सू० अ०—रेफ (के उच्चारण) में जिह्वा के अग्र-भाग के मध्य से दाँतों के मूल से अन्दर की ओर (स्पर्श करता है)।

त्रि० अ०—रेफे = रेफ (का उच्चारण) करने में; जिह्वाग्रमध्येन = जिह्वाग्र के मध्य-भाग से; दन्तमूलेभ्यः = दाँतों के मूल से; प्रत्यक् = अन्दर की ओर उपरि भाग में—यह अर्थ है। जैसे—प्रत्यगात्मा से अन्तरात्मा की प्रतीति होती है[क] ॥ ४१ ॥

वै० अ०—(दन्तमूलेभ्यः =) दाँतों के मूल के ऊपर (वाले भाग) में; स्पर्श करना चाहिये। (जिह्वाग्रमध्येन =) जिह्वा के अग्र भाग का मध्य उससे सम्बद्ध प्रदेश ॥ ४१ ॥

सू० अ०—लकार (के उच्चारण) में भी (जिह्वाग्रमध्य से) दाँतों के मूल पर (अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए)।

(क) 'प्रत्यक्' का अर्थ 'अन्दर की ओर' होता है। इसकी पुष्टि में भाष्यकार ने कहा है कि जिस प्रकार प्रत्यगात्मा (inner soul) में 'प्रत्यक्' का अर्थ 'अन्दर' होता है उसी प्रकार प्रकृत सूत्र में प्रत्यक् = अन्दर की ओर।

---

(१) ५।५।१९ (२) २।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(च =) चकारः; जिह्वाग्रमध्यं प्रत्यक्त्वं चाकर्षति। लकारे कार्ये जिह्वाग्रमध्येन दन्तमूलेषु प्रत्यक् स्पर्शयेत्। अयमर्थः—लकारस्य दन्तमूलप्रत्यासन्नप्रत्यक्प्रदेशस्स्थानमिति विज्ञेयम् ॥ ४२ ॥

वै०—चशब्दः जिह्वाग्रमध्येन इत्यन्वादिशति। तेन दन्तमूलेषु उपरिभागे स्पर्शयति ॥ ४२ ॥

ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे ॥ ४३ ॥

मा०—ओष्ठस्यान्तौ ओष्ठान्तौ। वकारे वक्ष्यमाणे ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैः स्पर्शयति। तत्र दन्ताः स्थानम्। ओष्ठान्तौ करणम्। यथा—"अपि वा एतौ" (?) ॥ ४३ ॥

त्रि०—वकारे कार्ये; (ओष्ठान्ताभ्याम् =) अधरोष्ठान्ताभ्याम्; (दन्तैः =) उत्तरदन्ताग्रैः सह; स्पर्शयेत्। दन्तैः इति स्थाननिर्देशः। ओष्ठान्ताभ्याम् इति करणनिर्देशः ॥ ४३ ॥

वै०—(ओष्ठान्ताभ्याम् =) ओष्ठशब्देनात्र अधरोष्ठ उच्यते तदन्ताभ्याम्। ओष्ठस्य बाह्याभ्यन्तरभागभिन्नतया द्विवचनं प्रयुज्यते। दन्तैरिति सप्तम्यर्थे तृतीया। उत्तरदन्तेष्वित्यर्थः। वकारोत्पत्तौ स्वभावतोऽधरोष्ठस्याभ्यन्तरोऽन्तः करणं भवति। यत्र त्वसौ ओष्ठो-

---

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च=) चकार; जिह्वाग्रमध्य (जिह्वाग्र का मध्य-भाग) और प्रत्यक्त्व (अन्दर की ओर) को (पूर्व सूत्र से) आकृष्ट करता है। लकारे = लकार (का उच्चारण) करने में; जिह्वाग्र के मध्य से; दन्तमूलेषु = दाँतों के मूल पर; अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए। अर्थ यह है—दाँतों के मूल के समीप में अन्दर की ओर विद्यमान प्रदेश को लकार का स्थान जानना चाहिए ॥ ४२ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (पूर्व सूत्र से) 'जिह्वाग्रमध्येन' (जिह्वाग्र के मध्य-भाग से) का अन्वादेश करता है। उस (= जिह्वाग्रमध्य) से; दन्तमूलेषु = दाँतों के मूल में; ऊपर वाले भाग में स्पर्श करना चाहिए ॥ ४२ ॥

सू० अ०—वकार (के उच्चारण) में ओष्ठों के किनारों से दाँतों के साथ (स्पर्श करता है)।

त्रि० अ०—वकारे = वकार (का उच्चारण) करने में; (ओष्ठान्ताभ्याम् =) निचले ओष्ठों के किनारों से; (दन्तैः =) ऊपर वाले दाँतों के अग्रभाग के साथ; स्पर्श करना चाहिए। 'दाँतों के साथ'– इससे 'स्थान' का निर्देश किया गया है। ओष्ठों के किनारों से—इससे 'करण' का निर्देश होता है ॥ ४३ ॥

वै० अ०—(ओष्ठान्ताभ्याम् =) ओष्ठ शब्द से यहाँ (= इस सूत्र से) निचला ओष्ठ कहा जाता है, उसके किनारों से। ओष्ठ के बाह्य और आभ्यन्तर भागों के भिन्न होने से द्विवचन का प्रयोग किया जाता है। 'दन्तैः' में सप्तमी के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसंहारयोरोष्ठ्यस्वरयोर्मध्यवर्ती भवति, तत्र सामर्थ्यादबाह्योऽन्तः करणम् । यथा—"ध्रुवोसि"[१] "तया देवास्सुतमाबभूवुः"[२] इति । एवं यकारादीनां चतुर्णां करणान्तव्यापार-निष्पाद्यत्वादन्तस्था इत्याख्या ॥ ४३ ॥

स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण ॥ ४४ ॥

मा०—स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण क्रमेण भवन्ति । तैस्तैः करणैः स्थानं भवति । यथा जिह्वामूलीयः कवर्गस्थानो भवति, शकारः चवर्गस्थानो भवति, उपध्मानीयः पवर्गस्थानो भवति ॥ ४४ ॥

त्रि०—ऊष्माणः; आनुपूर्व्येण = यथाक्रमेण; स्पर्शस्थानेषु उच्चारणीया भवन्ति । यथा जिह्वामूलीयः कवर्गस्थाने—"यः कामयेत्"[१] । शकारः चवर्गस्थाने—"मधुश्च

अर्थ में तृतीया (का प्रयोग हुआ) है । ऊपर वाले दाँतों पर—यह अर्थ है । वकार की उत्पत्ति में सम्भवतः निचले ओष्ठ का अन्दर वाला किनारा 'करण' होता है । जहाँ यह (वकार) ओष्ठों के उपसंहार के साथ उच्चारित होने वाले दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में विद्यमान होता है वहाँ सामर्थ्य से (निचले ओष्ठ का) बाहर वाला किनारा 'करण' होता है ।[क] जैसे—"ध्रुवोसि", "तया देवास्सुतमाबभूवुः" में । इस प्रकार यकार इत्यादि चारों वर्णों की निष्पत्ति करण के किनारों (अन्त) के व्यापार से होती है, अतः इनका 'अन्तःस्था' नाम पड़ा ॥ ४३ ॥[ख]

सू० अ०—'ऊष्म' (वर्ण) क्रम से 'स्पर्श' (वर्णों) के स्थानों में (उच्चारित होते हैं) ।

त्रि० अ०—ऊष्माणः = 'ऊष्म' (वर्ण); आनुपूर्व्येण = क्रम से; स्पर्श-स्थानेषु = 'स्पर्श' (वर्णों) के स्थानों में; उच्चारित होते हैं । 'जिह्वामूलीय' (ॅक)

(क) वकार का उच्चारण निचले ओष्ठ के अन्दर वाले भाग के किनारे से भी होता है और निचले ओष्ठ के बाहर वाले भाग के किनारे से भी होता है । जब वकार दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में होता है तब इसका उच्चारण निचले ओष्ठ के बाह्य-भाग के किनारे से होता है । अन्य सभी अवस्थाओं में वकार का उच्चारण निचले ओष्ठ के अन्दर वाले किनारे से होता है ।

(ख) २।४० के अनुसार यकार का उच्चारण जिह्वा-मध्य के किनारे (अन्त) से होता है । २।४१-४२ से रेफ और लकार का उच्चारण जिह्वाग्र के मध्य-भाग अर्थात् जिह्वा के सबसे आगे वाले किनारे (अन्त) से होता है । २।४३ से वकार का उच्चारण ओष्ठों के किनारों (अन्त) से होता है । इस प्रकार य, र, ल, व—इन चारों वर्णों का उच्चारण अपने-अपने 'करण' के अन्तिम भाग (अन्त) से होता है । अतः ये वर्ण 'अन्तस्था' कहलाते हैं ।

---

(१) १।६।२ (२) ४।१।२ (३) २।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माधवश्च"[१]। षकारः टवर्गस्थाने—"अष्टाभ्यः स्वाहा"[२]। सकारः तवर्गस्थाने—"स्तना उपरवाः"[३]। उपध्मानीयः पवर्गस्थाने—"यः पाप्मना"[४] इत्यानुपूर्व्येण विज्ञेयम्। आनुपूर्व्यनियमात् पञ्चसूष्मसु उक्तेषु हकारोऽवशिष्टः। तस्य विधिमुपरिष्टादाचष्टे ॥ ४४ ॥

वै०—हकारस्य स्थानं पृथगवक्ष्यते। ततोऽन्येषां पञ्चानामयं स्थानविधिः। जिह्वामूलीयादयः पञ्च ऊष्माणः; आनुपूर्व्येण (स्पर्शस्थानेषु =) कवर्गादीनां पञ्चानां वर्गाणां स्थानेषूत्पद्यन्ते ॥ ४४ ॥

करणमध्यं तु विवृतम् ॥ ४५ ॥

मा०—एतेषामेवोष्मणां करणमध्यं तु विवृतं भवति। पूर्वेण स्पर्शस्थाने करणं विधीयते। अनेनैव करणमध्यस्य + + + रविवृतत्वम्। ऊष्मणां तेनानुवादसिद्धौ विकल्पः तुशब्देन विनिवर्त्यते। यथा—"यः कामयेत"[५]। "पञ्चमे"[६]। "अग्निष्ट्वा"[७]। "अग्निस्ते तेजः"[८]। "यः पाप्मना गृहीतः"[९] ॥ ४५ ॥

त्रि०—तेषामूष्मणां करणमध्यं तु विवृतं भवति। स्पर्शानां करणसाम्यनिवृत्तिपरः तुशब्दः। करणानां मध्यं करणमध्यम् ॥ ४५ ॥

कवर्ग के स्थान में जैसे—"यः कामयेत"। शकार चवर्ग के स्थान में (जैसे)—"मधुश्च माधवश्च"। षकार टवर्ग के स्थान में (जैसे)—"अष्टाभ्यः स्वाहा"। सकार तवर्ग के स्थान में (जैसे)—"स्तना उपरवाः"। 'उपध्मानीय' (≍ प) पवर्ग के स्थान में (जैसे)—"यः पाप्मना"—इस प्रकार क्रम से जानना चाहिए। क्रम (आनुपूर्वी) के नियम से पाँच 'ऊष्म' वर्णों के कह देने पर हकार अवशिष्ट रह जाता है। उसकी (उच्चारण) विधि (सूत्रकार ने) आगे कही है ॥ ४४ ॥

वै० अ०—हकार का स्थान पृथक् रूप से (२।४६-४७ में) कहा जायेगा। उससे अन्य पाँच ('ऊष्म' वर्णों) के (उच्चारण-) स्थान की यह विधि है। ऊष्माणः = 'जिह्वामूलीय' आदि पाँच 'ऊष्म' वर्ण; आनुपूर्व्येण = क्रम से; (स्पर्श-स्थानेषु =) कवर्ग इत्यादि पाँचों वर्गों के स्थानों में; उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

सू० अ०—किन्तु ('ऊष्म' वर्णों के) 'करण' का मध्यभाग खुला रहता है।

त्रि० अ०—तु = किन्तु; उन 'ऊष्म' वर्णों के; करणमध्यम् = 'करण' का मध्य भाग; विवृतम् = खुला हुआ; रहता है। स्पर्शों के करण से साम्य की निवृत्ति करने के लिए 'तु' शब्द (प्रयुक्त) है।[क] करणों का मध्य = करणमध्य ॥४५॥

(क) जिस प्रकार 'ऊष्म' वर्णों के उच्चारण-स्थान वही हैं जो 'स्पर्श' वर्णों के हैं, उसी प्रकार 'ऊष्म' वर्णों के सक्रिय उच्चारणावयव ('करण') भी वही हैं जो 'स्पर्श'

---

(१) १।४।१४ (२) ७।२।१५ (३) ६।२।११
(४) २।३।१३ (५) ५।४।११ (६) ४।७।३
(७) ५।१।११ (८) १।१।१० (९) २।३।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(करणमध्यं =) जिह्वामूलादीनां तत्करणानां मध्यं; तु विवृतं भवति। तेन एतेषां विवृतप्रयत्नता। तत्र प्रथमस्योष्मणो हनूमूलोत्पादिनो जिह्वामूलोपलम्भात् जिह्वामूलीय इत्याख्याऽवकल्प्यते। "तत्र भवः"[१] इति हि च स्मर्यते। न तु "तत्र जातः"[२] इति ॥ ४५ ॥

वै० अ०—(करणमध्यम् =) उन ('ऊष्म' वर्णों) के जिह्वामूल इत्यादि सक्रिय उच्चारणावयवों ('करण') का मध्य भाग; विवृतम् = खुला हुआ रहता है। इससे (ज्ञात होता है कि) ये ('ऊष्म' वर्ण) विवृत प्रयत्न वाले हैं। उन ('ऊष्म' वर्णों) में हनुमूल (स्थान) पर उत्पन्न होने वाले तथा जिह्वामूल की क्रिया से प्राप्त होने वाले प्रथम 'ऊष्म' वर्ण (≍ क) का 'जिह्वामूलीय' यह नाम प्रयुक्त होता है।[क] क्योंकि ('जिह्वामूलीय' को) 'सम्पन्न्यन्त' पद से 'होने वाला' (भवः)

वर्णों के हैं। किन्तु 'स्पर्श' वर्णों के उच्चारण के समय सक्रिय उच्चारणावयव (करण) उच्चारण-स्थानों का पूर्ण रूप से स्पर्श करते हैं। इसके विपरीत 'ऊष्म' वर्णों के उच्चारण के समय सक्रिय उच्चारणावयव ('करण') उच्चारणावयवों का आंशिक स्पर्श करते हैं—सक्रिय उच्चारणावयवों के मध्य-भागों का उच्चारण-स्थानों के साथ स्पर्श नहीं होता है। इससे वायु का मार्ग पूर्ण रूप से अवरुद्ध न होकर थोड़ा सा खुला रहता है। वायु घर्षण करती हुई शीत्कार ध्वनि के साथ इस सँकरे मार्ग से निरन्तर बाहर निकलती रहती हैं।

(क) ≍क 'जिह्वामूलीय' है। जिह्वा के मूल से उच्चारित होने के कारण कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) इत्यादि के लिए भी 'जिह्वामूलीय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन वर्णों के उच्चारण में दो क्रियायें होती हैं—(१) जिह्वा का मूल ऊपर उठकर कोमल तालु (हनुमूल) का स्पर्श करता है और (२) कोमल तालु (हनुमूल) ऊपर उठकर नासिका-रन्ध्र रूप मार्ग को बन्द कर देता है।

'जिह्वामूलीय' वर्णों के उच्चारण के विषय में मतभेद है। च० अ० १।२० (जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्) के अनुसार इन वर्णों का सक्रिय उच्चारणावयव ('करण') कोमल तालु (हनुमूल) हैं। इससे ज्ञात होता है कि च० अ० जिह्वामूल को इन वर्णों का 'स्थान' मानता है। इस मत की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि वर्णों का नाम उनके 'स्थान' के आधार पर ही पड़ा है। यतः इन वर्णों को 'जिह्वामूलीय' कहा गया हैं, अतः इनका स्थान जिह्वामूल है। इसके विपरीत तै० प्रा० में कोमल तालु (हनुमूल) को इन वर्णों का 'स्थान' और जिह्वामूल को सक्रिय उच्चारणावयव ('करण') माना गया है। तै० प्रा० का कथन है कि कवर्ग के उच्चारण के समय व्यक्ति जिह्वामूल से कोमल तालु (हनुमूल) पर स्पर्श करता है (२।३५)। तै० प्रा० का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है,

---

(१) पा० ४।३।५३ (२) पा० ४।३।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ ॥ ४६ ॥

मा०—हकारश्च विसर्जनीयश्च कण्ठस्थानौ भवतः करणाभाव एतयोः। यथा—"हवामहे"[1] ॥ ४६ ॥

त्रि०—हकारविसर्जनीयौ कण्ठस्थानौ स्याताम्। कण्ठः स्थानं ययोस्तौ तथोक्तौ। अनयोः करणाभावः। "अहरहर् हविर्धानिनाम्"[2] ॥ ४६ ॥

अर्थ में प्रत्यय हो"—इस (सूत्र) से निष्पन्न बतलाया गया है; "सप्तम्यन्त पद से उत्पन्न हुआ (जातः) अर्थ में प्रत्यय हो"—इस (सूत्र) से नहीं[क] ॥ ४५ ॥

सू० अ०—हकार और विसर्जनीय कण्ठ-स्थान वाले हैं।

त्रि० अ०—हकारविसर्जनीयौ = हकार और विसर्जनीय; कण्ठस्थानौ = कण्ठ स्थान वाले; होते हैं। कण्ठ है स्थान जिनका वे उस प्रकार कहे गये (कण्ठस्थानौ) हैं। इन (हकार और विसर्जनीय) में 'करण' का अभाव है।[ख] (हकार का उदाहरण) "अहरहर् हविर्धानिनाम्"[ग] ॥ ४६ ॥

क्योंकि 'मूर्धन्य', 'तालव्य', 'ओष्ठ्य' आदि वर्णों में नीचे वाले तथा अधिक सक्रिय अवयव को 'करण' माना गया है और ऊपर वाले तथा अपेक्षाकृत निष्क्रिय अवयव को 'स्थान' माना गया है। इसी नियम से जिह्वामूल को 'करण' और हनुमूल (कोमल तालु) को 'स्थान' मानना चाहिए।

(क) 'जिह्वामूलीय' शब्द की निष्पत्ति पाणिनि के इस सूत्र से होती है—"जिह्वामूलाञ्ङ्गुलेश्छः" (पा० ४।३।६२)। सूत्र का अर्थ यह है—"'जिह्वामूल' और 'अङ्गुलि'—इन सप्तम्यन्त समर्थ पदों से 'होने वाला' (भव) अर्थ में 'छ' प्रत्यय हो।" (जिह्वामूले भवम् = जिह्वामूल में होने वाला)—यहाँ सप्तम्यन्त जिह्वामूल शब्द से 'होने वाला' (भव) अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'छ' प्रत्यय हुआ और प्रत्यय के छकार को "आयन्····" (पा० ७।१।२) इत्यादि सूत्र से 'ईय्' आदेश तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'जिह्वामूलीय' रूप सिद्ध हुआ।

प्रकृत सूत्र (पा० ४।३।६२) 'तत्र भवः' (पा० ४।३।५२) सूत्र के अधिकार में आया है। 'तत्रः जातः' (पा० ४।३।२५) सूत्र का अधिकार तो पहले ही समाप्त हो जाता है।

(ख) स्वरतन्त्रियों के बीच के अवकाश अथवा स्वर-यन्त्रमुख (काकल) को प्रातिशाख्य ग्रन्थों में कण्ठ अथवा कण्ठबिल से अभिहित किया गया है। स्वरयन्त्र पर वायु को एक साथ रोक कर और एक प्रकार का विशेष घर्षण करके विकार उत्पन्न किया जाता है। इससे सक्रिय उच्चारणावयव के बिना ही ह और अः का उच्चारण हो जाता है।

(ग) भाष्यकार ने 'विसर्जनीय' का उदाहरण नहीं दिया है।

---

(१) १।६।१२ (२) २।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—हकारस्य तूत्तमान्तस्थापरस्योरस्यत्वं वेदितव्यम्। "यजुषेयजुषे गृह्णामि"[१] "एण्यह्ने"[२] "ब्रह्म देवा अवीवृधन्"[३] "सं नह्ये" "अहुतम्"[४] "जुह्वेह्यग्निः"[५] तदर्थमेव "उरःकण्ठः"[६] इत्युरोपि स्थानतयोक्तम्। शिक्षा चैवमाह—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्॥
उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥

इति। करणानुक्तौ स्थानमेव करणं च वेदितव्यम्। 'शेषास्स्थानकरणाः' इत्यापिशलिशिक्षा-वचनात्॥ ४६॥

उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्॥ ४७॥

भा०—एकेषामाचार्याणामुदयस्वरादेः समानस्थानो हकारः भवति। यथा—"जहि शत्रून्"[७]। उदयस्वर इति हकार इत्यर्थः॥ ४७॥

वै० अ०—(वर्गों का) अन्तिम 'स्पर्श' अथवा 'अन्तःस्था' बाद में होने पर हकार को उरस् (छाती) से उत्पन्न जानना चाहिए।[क] (उदाहरण) "यजुषे-यजुषे गृह्णामि" "एण्यह्ने" "ब्रह्म देवा अवीवृधन्"[ख] "सं नह्ये" "अह्नुतम्" "जुह्वेह्यग्निः"[ग]। यही कारण है कि "उरस्, कण्ठ..."—इस (सूत्र) से उरस् का भी स्थान के रूप में कथन किया गया है। शिक्षा ने भी ऐसा ही कहा है—

(वर्गों के) पञ्चम (वर्णों) और 'अन्तःस्था' (वर्णों) से मिले हुए हकार को उरस् से उत्पन्न जानना चाहिये। (पञ्चम वर्णों और 'अन्तःस्था' वर्णों से) न मिले हुए (हकार को) कण्ठ से उत्पन्न (जानना चाहिये) इत्यादि।

'करण' का कथन न होने से (अर्थात् 'करण' का अभाव होने से) 'स्थान' को ही 'करण' जानना चाहिए। "शेषास्स्थानकरणाः" आपिशलिशिक्षा के इस वचन से॥ ४६॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) का (मत है कि) हकार (अपने) परवर्ती 'स्वर' (वर्ण) के आदि भाग के समान (उच्चारण) स्थान वाला (होता है)।

(क) वैदिकाभरणकार ने सूत्र का अर्थ नहीं लिखा है। उन्होंने केवल हकार के उच्चारण के विषय में कतिपय विशिष्ट बातें बतलाई हैं। दे०—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य एक परिशीलन, पृ० ३४-३५।

(ख) इन स्थलों में पञ्चम 'स्पर्श' वर्णों से संयुक्त होने के कारण हकार उरस् से उच्चारित होता है।

(ग) इन स्थलों में 'अन्तःस्था' वर्णों से संयुक्त होने के कारण हकार उरस् से उच्चारित होता है।

---

(१) १।१।१० (२) ५।५।१५ (३) १।१।१३ (४) १।१।४
(५) १।१।१२ (६) २।३ (७) १।४।४२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—एकेषां मते हकारः; उदयस्वरादिसस्थानः = आत्मन उपरिस्वरादिसस्थानः; भवति इति वाररुचोक्तम्। स्यादेतत् आदिना सस्थान इत्युक्ते शेषस्य स्थानान्तरं वक्तव्यम्। तदप्यकारेकारोकारेषु नास्ति। तथा सति स्वरस्य एकमेव स्थानमिति आदिशब्दवैयर्थ्यं स्यात्। स्वरसस्थान इत्येतावतैव सिद्धेरिति। मैवम्। सन्ध्यक्षरेषु शेषस्य स्थानान्तरोपपत्तेः "इकारोऽध्यर्धः"[1] इति सूत्रद्वयेन शेषभूतवर्णव्यक्तौ तयोः स्थानान्तरमपि प्रसिद्धमेव। एवमैकारौकारयोरपि व्याकरणे शेषस्य स्थानान्तरं विहितं विज्ञेयम्। सन्ध्यक्षरत्वाविशेषादनयोः।

त्रि० अ०—एकेषाम् = कतिपय (आचार्यों) के; मत में; हकारः = हकार; उदयस्वरादिसस्थानः = अपने बाद वाले 'स्वर' के आदि भाग के समान (उच्चारण—) स्थान वाला; होता है—यह वररुचि के द्वारा कहा गया है। (पू०) यदि ऐसी बात है तो "आदि भाग के समान स्थान वाला"—यह कहने पर ('स्वर' के) अवशिष्ट भाग का दूसरा (उच्चारण-) स्थान बतलाना चाहिये। वह (दूसरा उच्चारण स्थान) कम से कम अकार, इकार और उकार में नहीं है। यह वस्तु-स्थिति होने पर (सूत्र में) 'आदि' शब्द व्यर्थ होता है क्योंकि 'स्वर' का (आदि से लेकर अन्त तक) एक ही स्थान है। "(अतः) (परवर्ती) 'स्वर' के समान स्थान वाला"—इतने से ही सिद्धि हो जाती है।

ऐसी बात नहीं है। सन्ध्यक्षरों (ए, ऐ, ओ, औ) में (आदि वाले भाग से) अवशिष्ट के हेतु दूसरे स्थान की उपपत्ति हो जाती है। "पूर्व (= ऐकार) का अवशिष्ट (भाग) डेढ़ गुणा इकार होता है"—इन दो सूत्रों (२।२८-२९) के द्वारा अवशिष्ट रूप दो वर्णों को कहा गया है। उन दो (वर्णों) का दूसरा स्थान भी प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार एकार और ओकार के भी अवशिष्ट भाग के दूसरे स्थान को व्याकरण में विहित जानना चाहिए; क्योंकि ये दोनों (एकार और ओकार) बिना किसी विशेष के 'सन्ध्यक्षर' हैं[क]। (पू०) ऐसा होने पर भी

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र में 'आदि' शब्द व्यर्थ है। अकार, इकार और उकार का एक-एक ही उच्चारण-स्थान (क्रमशः कण्ठ, तालु और ओष्ठ) है। तब यह कहना युक्त नहीं है कि हकार का उच्चारण-स्थान परवर्ती 'स्वर' के आदि भाग के उच्चारण-स्थान के समान है। यह कहना युक्त है कि हकार का उच्चारण-स्थान परवर्ती 'स्वर' के उच्चारण-स्थान के समान है।

सिद्धान्ती—२।२६, २८, २९ में विधान किया गया है कि ऐ=अ (½ मात्रा) + इ (१½ मात्रा) तथा औ = अ (½ मात्रा) + उ (१½ मात्रा)। यद्यपि तै० प्रा० में एकार और ओकार के विभाग का विधान नहीं किया गया है, तथापि ऐकार और औकार के समान एकार और ओकार भी 'सन्ध्यक्षर' है। सामान्य व्याकरण से पता चलता है कि ए = अ + इ और ओ=

---

(१) २।२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वेवमपि "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" इति सन्ध्यक्षरादावकारस्यापि कण्ठस्थानत्वात्तेन सस्थानत्वे कथ्यमाने पूर्वसूत्रेण पौनरुक्त्यमस्य सूत्रस्य स्यात्। मैवं मंस्थाः। ऐकारौकारयोरादिवर्तिनः अकारस्य केवलस्य च विशेषोऽस्ति। केवलस्य करणं ओष्ठहनु नातिन्यस्तं नात्युपसंहृतं च। सन्ध्यक्षरादौ वर्तमानस्य तु संवृतकरणतरं तस्मात् स्थानकरणयोः सहचरितत्वादादिसस्थान इत्युक्ते आदिना समानस्थानकरण इति विज्ञेयम्। किञ्च-पूर्वसूत्रे करणाभाव उक्तः। अत्र तु करणवत्त्वमपि विद्यत इति मतान्तरमुपपद्यते न पौनरुक्त्यं च। यथा—

"अकार, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय का स्थान कण्ठ है"—इससे 'सन्ध्यक्षर' के आदि भाग में विद्यमान अकार के भी कण्ठ-स्थान वाला होने से उसके समान स्थान वाला कहे जाने पर पूर्ववर्ती सूत्र (२।४६) में उक्त (स्थान) के साथ इस सूत्र (२।४७) की पुनरुक्ति हो जायेगी।[क] ऐसा मत मानिए। ऐकार, औकार (एकार, ओकार) के आदि में विद्यमान अकार और केवल (अकार) में अन्तर है। केवल (अकार) के करण—ओष्ठ और जबड़े—न अत्यधिक समीप में होते हैं और न अत्यधिक दूर। 'सन्ध्यक्षर' के आदि में विद्यमान (अकार) का 'करण' तो अधिक सन्निकृष्ट होता है। यतः 'स्थान' और 'करण' एक दूसरे के साथ सम्बद्ध होते हैं, अतः "(परवर्ती 'स्वर' के) समान स्थान वाला"—यह कहा जाने पर "(परवर्ती 'स्वर' के) समान स्थान और समान 'करण' वाला"—यह जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती सूत्र (२।४६) में 'करण' का अभाव कहा गया है। यहाँ पर तो 'करण' भी विद्यमान है—इस प्रकार (प्रस्तुत सूत्र में) दूसरे मत की उपपत्ति होती है, पुनरुक्ति नहीं।[ख] जैसे—"तिग्महेते", "यावतीर्वा-

---

अ+उ। इस प्रकार ए, ऐ और ओ, औ—ये सभी 'सन्ध्यक्षर' दो-दो स्वरों के मिलने से बने हैं। सभी का आदि वाला भाग अकार है और बाद वाला भाग इकार या उकार है। यतः प्रत्येक 'सन्ध्यक्षर' का उच्चारण दो स्थानों से होता है।

(क) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार हकार का उच्चारण-स्थान एकार, ऐकार, ओकार और औकार के आदि भाग (= अकार) के उच्चारण-स्थान के समान है। अकार का उच्चारण-स्थान "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" से कण्ठ है। अतः हकार का उच्चारण-स्थान भी कण्ठ है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि हकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ है। २।४६ में तो साक्षात् रूपेण ही यह विधान किया गया है कि हकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ है। इस प्रकार २।४७ में २।४६ के विधान की पुनरुक्ति है। इससे २।४७ निरर्थक है।

(ख) सिद्धान्ती—'स्थान' और 'करण' परस्पर सम्बद्ध होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि हकार का स्थान परवर्ती 'स्वर' के आदि भाग के स्थान के समान होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि हकार का 'करण' भी परवर्ती 'स्वर' के आदि भाग के 'करण' के समान होता है। २।४७—यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तिग्महेते"[१]। "यावतीर्वाऽऽसामहै"[२]। "अग्निहोत्रं जुहोति"[३]। "सम्प्रयतीरहौ"[४]। उदयशब्दः उत्तरपर्यायः। उदयश्चासौ स्वरश्च तस्य आदिः तेन सस्थानः उदयस्वरादिसस्थानः ॥ ४७ ॥

वै०—एकेषां मते हकारः; (उदयस्वरादिसस्थानः =) उदयस्वरस्य आदिना समानस्थानो भवति। उदेति उपरि आगच्छतीत्युदयः परः। यथा—"हिरण्यपाणिमूतये"[५] इति तालव्यः। "हुवे वातस्वनम्"[६] इत्योष्ठ्यः। नन्वत्र आदिशब्दः किमर्थः? तदुच्यते—ऐकारौकारयोरंशद्वयं भिन्नस्थानमिष्यते। ताभ्यां पूर्वे हकारे स्थानसंशयो मा भूदित्यादिशब्दः प्रयुज्यते। "ऋध्यामा त ओहै"[७]। "आरोहणवाहावनड्वाहौ"[८] ॥ ४७ ॥

ऽऽसामहै" "अग्निहोत्रं जुहोति", "सम्प्रयतीरहौ"। 'उदय' शब्द 'उत्तर' का पर्यायवाची है। जो 'उदय' भी है और 'स्वर' भी है, उसका आदि, उससे समान 'स्थान' वाला = उदयस्वरादिसस्थानः ॥ ४७ ॥

वै० अ०—एकेषाम् = कतिपय (आचार्यों) के मत में; हकारः=हकार; (उदयस्वरादिसस्थानः =) परवर्ती 'स्वर' के आदि भाग के समान 'स्थान' वाला; होता है। उदेति = बाद में आता है—इस व्युत्पत्ति से 'उदय' का अर्थ है परवर्ती। जैसे—"हिरण्यपाणिमूतये" में (हकार) 'तालव्य' है। "हुवे वातस्वनम्" में (हकार) 'ओष्ठ्य' है। (पू०) यहाँ (सूत्र में) 'आदि' शब्द किसलिए है? (सि०) इसे बतलाते हैं—ऐकार और औकार के दो अंशों के लिए भिन्न-स्थान अभीष्ट हैं। उनसे पूर्ववर्ती हकार के स्थान के विषय में संशय न होवे—इसलिए (सूत्र में) 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है। (उदाहरण) "ऋध्यामा त ओहैः", "आरोहणवाहावनड्वाहौ" ॥ ४७ ॥

सूत्र २।४६ की पुनरुक्ति नहीं है; क्योंकि (१) २।४६ के अनुसार हकार के उच्चारण में 'करण' का अभाव है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र (२।४७) के अनुसार हकार का वही 'करण' होता है, जो सन्ध्यक्षरों के आदि में विद्यमान अकार का; (२) केवल अकार के उच्चारण में करण—ओष्ठ और जबड़े—२।१२ से न तो एक दूसरे के अधिक समीप में आते हैं और न एक दूसरे से दूर। किन्तु सन्ध्यक्षरों के आदि में विद्यमान अकार के उच्चारण में करण—ओष्ठ और जबड़े-एक दूसरे के अधिक समीप में आ जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि हकार के उच्चारण में ओष्ठ और जबड़े एक दूसरे के अधिक समीप में आ जाते हैं।

---

(१) १।२।१४ (२) ७।५।२ (३) १।५।९
(४) ५।६।१ (५) १।४।२५ (६) ३।१।११
(७) ४।४।४ (८) ५।६।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः ॥ ४८ ॥

भा०—एकेषामाचार्याणां मतेन पूर्वस्वरान्तस्य सस्थानः समानस्थानो विसर्जनीयो भवति। यथा—"अष्टौ वसवः"[१]। "एकादश रुद्राः"[२] ॥ ४८ ॥

त्रि०—विसर्जनीयः; (पूर्वान्तसस्थानः =) आत्मनः पूर्वस्वरान्तेन सस्थानः समानस्थानकरणः; भवति। अत्रापि पूर्वस्वर इति सन्ध्यक्षरमुच्यते। स्वरान्तरस्य हि स्थानान्तरत्वाभावात्। यथा—"अग्नेः"[३]। "ब्राह्मणैरायुष्मत्"[४]। "बाहुवोर्बलम्"[५]। "आऽयं गौः"[६]। पूर्वस्य अन्तः तेन सस्थानः पूर्वान्तसस्थानः ॥ ४८ ॥

वै०—एकेषामित्यन्वयः। विसर्जनीयः; (पूर्वान्तसस्थानः =) पूर्वस्वरस्यान्तेन समानस्थानो भवतीत्येकेषां मतम्। यथा—"परिबाधो अदेवीः"[७] इति तालव्यः। "दीर्घमायुः"[८] इत्योष्ठ्यः। अन्तग्रहणमप्येतदैकारौकारयोरसन्देहार्थम्। "ऋध्यामा त ओहैः"[९] "स्तनयन्निव द्यौः"[१०]। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ४८ ॥

सू० अ०—विसर्जनीय (अपने) पूर्ववर्ती ('स्वर') के अन्त (वाले भाग) के समान 'स्थान' वाला (होता है)।

त्रि० अ०—विसर्जनीयः = विसर्जनीय; अपने; (पूर्वान्तसस्थानः =) पूर्ववर्ती 'स्वर' के समान 'स्थान' वाला = (पूर्ववर्ती 'स्वर' के) समान स्थान और समान 'करण' वाला; होता है। यहाँ पर भी "पूर्ववर्ती 'स्वर' (के अन्त के समान)" में ('अन्त' शब्द को जो सूत्र में कहा गया है वह) 'सन्ध्यक्षर' के लिए कहा गया है; क्योंकि ('सन्ध्यक्षर' से) अन्य स्वरों में दूसरे स्थान का अभाव है। जैसे—"अग्नेः", "ब्राह्मणैरायुष्मत्", "बाहुवोर्बलम्", "आऽयं गौः"। पूर्व का अन्त; उसके समान स्थान वाला = पूर्वान्तसस्थानः ॥ ४८ ॥

वै० अ०—कतिपय (आचार्यों) के (मत में)—यह अन्वय है। विसर्जनीयः = 'विसर्जनीय'; (पूर्वान्तसस्थानः =) पूर्ववर्ती 'स्वर' के अन्त वाले भाग के समान 'स्थान' वाला; होता है—यह कतिपय (आचार्यों) का मत है। जैसे—"परिबाधो अदेवीः"—यहाँ (विसर्जनीय) तालु स्थान वाला है। "दीर्घमायुः"—यहाँ (विसर्जनीय) ओष्ठ स्थान वाला है। (सूत्र में) 'अन्त' (शब्द) का जो ग्रहण किया गया है वह ऐकार और औकार में सन्देह की निवृत्ति के लिए किया गया है। (उदाहरण) "ऋध्यामा त ओहैः", "स्तयन्निव द्यौः।" ये दो सूत्र (२।४७-४८) अभीष्ट नहीं हैं।

---

(१) ३।५।२ (२) ३।५।२ (३) १।१।१० (४) २।३।१०
(५) ५।५।९ (६) १।५।३ (७) १।२।१४ (८) २।४।१४
(९) ४।४।४ (१०) १।३।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिक्या नासिकास्थानाः ॥ ४९ ॥

मा०—नासिक्या वर्णा नासिकास्थाना भवन्ति। यथा—"रुक्ममुपदधाति"[१]। "आतनच्मि"[२]। "पर आट्णारः"[३]। "रत्नमभजन्त"[४]। "पाप्मा वा अंहः"[५]। "अस्न + + न्याः" (?)। "तिग्ममायुधम्"[६]। "दध्ना"[७] ॥ ४९ ॥

त्रि०—नासिक्याः = यमाः; नासिकास्थानाः भवन्ति। यथा—"रुक्मम्"[८]। "याच्ञा"[९]। "आट्णारः"[३]। "रत्नमभजन्त"[४]। "पाप्मानम्"[१०] ॥ ४९ ॥

वै०—(नासिक्याः =) नासिक्यसंज्ञानाम्; (नासिकास्थानाः =) नासिका स्थानम् ॥ ४९ ॥

मुखनासिक्यां वा ॥ ५० ॥

मा०—त एव नासिक्या मुखेन च नासिकाभ्यां चोच्चार्यमाणा मुखनासिक्या भवन्ति। यथा—"रेक्णसा"[११] ॥ ५० ॥

त्रि०—त एव नासिक्याः; (मुखनासिक्याः =) मुखनासिकाभ्याम्; वा उच्चारणीया भवन्ति। उक्तान्येवोदाहरणानि। मुखं च नासिके च मुखनासिकम्। तत्सम्बन्धिनः मुखनासिक्याः ॥ ५० ॥

वै०—मुखं च नासिका च मुखनासिकम्। तत्र भवाः मुखनासिक्याः। एवमुक्तस्य;

सू० अ०—'नासिक्य' नासिका स्थान वाले (होते हैं)।

त्रि० अ०—नासिक्याः = यम[क]; नासिकास्थानाः = नासिका स्थान वाले; होते हैं। जैसे—"रुक्मम्", "याच्ञा", "आट्णारः", "रत्नमभजन्त", "पाप्मानम्" ॥ ४९ ॥

वै० अ०—(नासिक्याः =) 'नासिक्य' संज्ञक (वर्णों) का; (नासिकास्थानाः =) 'नासिका' स्थान (होता है) ॥ ४९ ॥

सू० अ०— अथवा ('नासिक्य' वर्ण) मुख और नासिका से (उच्चारित होते हैं)।

त्रि० अ०—वा = अथवा; वे ही नासिक्य (वर्ण); (मुखनासिक्याः =) मुख और नासिका से; उच्चारित होते हैं। उदाहरण कह ही दिए गए हैं। मुख और नासिका = मुखनासिका। उनसे सम्बद्ध = मुखनासिक्याः ॥ ५० ॥

वै० अ०—मुख और नासिका = मुखनासिका। यहाँ (उच्चारित) होने

(क) 'यम के लिए पृ० ५ पर टि० देखिए।

---

(१) ५।२।७ (२) १।१।३ (३) ५।६।५ (४) २।६।१२
(५) २।२।७ (६) ४।७।१५ (७) २।५।३ (८) ५।१।१०
(९) १।५।७ (१०) १।४।४१ (११) ४।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा =) पक्षद्वयस्य योग्यतया; व्यवस्थाऽऽश्रयितव्या। स्पर्शेभ्यः परे प्रथमादिव्यपदेशभाजो मुखनासिक्याः। हकारात्परस्तु नासिकामात्रस्थान इति ॥ ५० ॥

वर्गवच्चैषु ॥ ५१ ॥

मा०—यच्च एषु नासिक्येषु स्थानकरणं तच्च वर्गवदेव भवति। यथा—"पाप्मा वा अंहः"[1] ॥ ५१ ॥

त्रि०—सिंहावलोकनेन वर्गस्योक्तं करणम्; (च =) चकारः; अनुकर्षति। एषु नासिक्येषु वर्गवत् करणं भवति। वर्गस्येव वर्गवत् ॥ ५१ ॥

वै०—(चैषु =) अत्र ये मुखनासिक्याः अनन्तरोक्ताश्चशब्दान्वादिष्टाः तेषु; वर्गवत्स्थानयोगो भवति। एतदुक्तं भवति—मुखशब्देनात्र पञ्चापि वर्गस्थानानि संगृहीतानि। तत्र कवर्गीयात्परस्य नासिक्यस्य हनुमूलं तावद्द्वितीयं स्थानं भवति। चवर्गीयात्परस्य तालु। एवं तत्तद्वर्गीयात्परस्य तत्तद्वर्गस्थानं द्वितीयस्थानमित्यवगन्तव्यम्। इति ॥ ५१ ॥

वाले = मुखनासिक्याः। इस प्रकार (२।४९-५० में) कहे गए; (वा =) दोनों पक्षों की योग्यता से; व्यवस्था कर लेनी चाहिए। स्पर्शों से बाद में विद्यमान 'प्रथम' इत्यादि नाम वाले (नासिक्य) मुख और नासिका (—स्थान) वाले हैं। हकार से परवर्ती (नासिक्य) तो केवल नासिका स्थान वाला है।

सू० अ०—इन (नासिक्यों) में वर्ग (वर्गस्थ स्पर्शों) के समान ('करण' होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च =) चकार; 'वर्ग' के विषय में कहे गए 'करण' को सिंहावलोकन न्याय[क] से आकृष्ट करता है। एषु = इनमें = 'नासिक्य' वर्णों में; वर्गवत् = वर्गों (के 'स्पर्श' वर्णों) के समान; 'करण' होता है। वर्ग की तरह = वर्गवत् ॥ ५१ ॥

वै० अ०—(चैषु =) मुख और नासिका से उच्चारित होने वाले (वर्ण) जो तुरन्त पूर्व (२।५०) में कहे गये हैं और (प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त) 'च' शब्द के द्वारा जिनका अन्वादेश हुआ है उनमें; वर्गवत् = 'वर्गों' (के 'स्पर्श'-वर्णों) के समान; 'स्थान' का योग होता है। इसका तात्पर्य यह है—मुख शब्द से यहाँ पाँचों वर्गों के स्थानों का संग्रह होता है। उनमें से कवर्गीय (वर्ण) से परवर्ती 'नासिक्य' का हनुमूल दूसरा 'स्थान' होता है। चवर्गीय (वर्ण) से परवर्ती

(क) जिस प्रकार सिंह आगे की ओर चलता हुआ पीछे की ओर बहुत दूर तक देख लेता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त चकार बहुत दूर (२।३५-३९) से 'स्पर्श' वर्गों के 'करण' को आकृष्ट करता है।

---

(१) २।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिकाविवरणादानुनासिक्यं नासिकाविवरणादानुनासिक्यम् ॥ ५२ ॥

मा०—नासिकाविवरणादनुनासिक्यो भवति । यथा—"सुश्लोकाऽ३म् सुमङ्गलाऽ३म्"[1] ॥ ५२ ॥

त्रि०—नासिकाविवरणात् = घ्राणबिलात्; आनुनासिक्यम् = रङ्गादि; कर्त्तव्यम्। यथा—"सुश्लोकांऽ३ सुमङ्गलांऽ३"[1] इत्यादि ॥ ५२ ॥

वै०—अनुनासिका ये वर्णा अनुस्वारोत्तमादयस्तेषामानुनासिक्यं; (नासिकाविवरणात् =) नासारन्ध्रस्य विस्तरणात्; भवति। नासिक्येषु नासिका संवृतैव भवति। ळकारस्य तु स्थानादिकमत्र नोच्यते। कुतः? संहितायामभावात् ॥ ५२ ॥

(नासिक्य) का तालु (द्वितीय स्थान होता है)। इसी प्रकार उस-उस वर्गीय (वर्ण) से परवर्ती (नासिक्य) का उस-उस 'वर्ग' का 'स्थान' (उसका) द्वितीय स्थान (होता है)—यह जानना चाहिए।

सू० अ०—नासिका-विवर से आनुनासिक्य (रङ्गत्व) (होता है)।

त्रि० अ०—नासिकाविवरणात् = घ्राण (नासिका) बिल से; आनुनासिक्यम् = आनुनासिक्य को = रङ्ग आदि को; करना चाहिए। जैसे—"सुश्लोकांऽ३ सुमङ्गलांऽ३" इत्यादि ॥ ५२ ॥

वै० अ०—(तै० प्रा० में कहे गये) 'अनुस्वार' और (वर्गों के) अन्तिम ('स्पर्श') इत्यादि जो 'अनुनासिक' वर्ण हैं उनका; आनुनासिक्यम् = आनुनासिक्य; (नासिकाविवरणात् =) नासिका-रन्ध्र के विस्तार से; होता है। 'नासिक्य' (-वर्णों) में नासिका संवृत ही होती है। ळकार का स्थान इत्यादि यहाँ नहीं कहा गया है। क्यों? 'संहिता' में (ळकार का) अभाव होने से[क]। ५२ ॥

(क) वर्ण-समाम्नाय में ळकार का ग्रहण किया गया है (दे० १।१)। किन्तु इस वर्ण के उच्चारण के विषय में कोई विधान नहीं किया गया है, क्योंकि तै० सं० में यह वर्ण उपलब्ध नहीं होता है।

---

(१) १।८।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथादावुत्तरे विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः । विभागे क्रियमाणे संहिताप्रकृतिपदैः विभाग उत्तरपदस्यादौ । व्यञ्जनपरः संहितायां पूर्वपदान्ते वर्तमानो दीर्घः पदकाले ह्रस्वमापद्यत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः । आदौ = पदादौ; उत्तरे = पदान्ते; च वर्तमानः संहितायां यो दीर्घः असौ; विभागे = पदविभागसमये; व्यञ्जनपरः ह्रस्वम् आपद्यते । व्यञ्जनपरत्वमत्र यथासंहितास्थं विज्ञेयम् । ननु दीर्घः कथं लभ्यते ? ह्रस्वानन्तरभावित्वात् देवाशीका[1]दिग्रहणेषु प्लुतादर्शनाच्चेति ब्रूमः । संहितायामित्यस्यायमर्थः—कार्यभाजः पदस्य

सू० अ०—(पद-) विभाग के समय व्यञ्जन बाद में होने पर (पद के) आदि या अन्त में (विद्यमान 'दीर्घ' स्वर) ह्रस्व (हो जाता है) ।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है) । आदौ = पद के आदि में; और उत्तरे = पद के अन्त में; वर्तमान (स्वर) जो संहिता में 'दीर्घ' है वह; विभागे = पद के विभाग के समय; व्यञ्जनपरः = 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; ह्रस्वम् = ह्रस्व; हो जाता है । व्यञ्जनपरत्व से यहाँ संहिता में स्थित व्यञ्जनपरत्व को जानना चाहिए । (अर्थात् संहिता में 'दीर्घ' स्वर के बाद 'व्यञ्जन' होने पर यह सूत्र लागू होता है) । (प्रश्न) दीर्घ की प्राप्ति कैसे होती है ? (उत्तर) ह्रस्व की निष्पत्ति बाद में होने से तथा 'देवा', 'शीका' इत्यादि वैदिक पदों में प्लुत के दिखलाई न पड़ने से—यह कहते हैं ।[क] 'संहिता में'—इसका यह अर्थ है—कार्य को प्राप्त करने वाले पद का परवर्ती पद के साथ सम्बन्ध है, पूर्ववर्ती पद के साथ सम्बन्ध का नियम नहीं हैं । यहाँ प्रकृति में विद्यमान पदों

(क) शंका—प्रस्तुत सूत्र में 'दीर्घ' शब्द नहीं है । भाष्यकार ने व्याख्या करते समय 'दीर्घ' शब्द को कहाँ से लिया ?

समाधान—'स्वर' तीन प्रकार के हैं—(१) ह्रस्व (२) दीर्घ और (३) प्लुत । 'ह्रस्व' स्वर तो प्रस्तुत सूत्र का परिणाम है । 'ह्रस्व' स्वर के 'ह्रस्व' होने का विधान असङ्गत है । तृतीय अध्याय के किसी भी सूत्र में ऐसे ऐसे स्थल को नहीं बतलाया गया है जहाँ 'प्लुत' स्वर 'ह्रस्व' होता है । 'ह्रस्व' और 'प्लुत' के निकल जाने से 'दीर्घ' स्वर ही अवशिष्ट रह जाता है । अतः व्याख्या में कहा गया है कि 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' होता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरपदेन सह सम्बन्धः न तु पूर्वपदेन सह सम्बन्धनियमः। विभागः अत्र प्रकृतिपदैरुच्यते। प्रकृतिर्नाम यथापाठः ? प्रकृतिपदैरिति किम् ? "स्था मयोभुवः"[1] इत्यत्र जटायां स्थशब्दस्य द्वितीयोच्चारणेऽपि दीर्घः प्रसज्येत। उत्तरपदेन विभागाभावात् स मा भूदिति परिहारः। विभागशब्दस्य अयमर्थः—पदादौ दीर्घस्य पूर्वपदेन विभागः पदान्ते दीर्घस्य उत्तरपदेन विभागः। विभागे व्यञ्जनपर इति किम् ? "ऋतधामाऽसि"[2] इत्यत्र मा भूदिति। "ना धामा धारया"[3] इति प्राप्तिः। संहितायां यो दीर्घ इति किम् ? "एष वो भरता राजा"[4]

के साथ विभाग होने को कहा गया है। प्रकृति का अर्थ है 'जैसा पाठ मिलता है' (अर्थात् मौलिक पाठ = संहिता पाठ)। प्रकृतिभूत पदों से—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "स्था मयोभुवः"—यहाँ जटा-पाठ में 'स्थ' शब्द के द्वितीय उच्चारण में भी दीर्घ की प्रसक्ति होती है। परवर्ती पद से विभाग न होने पर वह (दीर्घ) न होवे इसलिए परिहार (किया गया है)[क]। विभाग शब्द का यह अर्थ है—पद के आदि में विद्यमान दीर्घ का पूर्ववर्ती पद के साथ विभाग है, पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ का परवर्ती पद के साथ विभाग है। 'विभाग में व्यञ्जन' बाद में होने पर'—यह क्यों कहा ? (उत्तर) जिससे "ऋतधामाऽसि" में ('दीर्घ' का 'ह्रस्व' न हो।.....ना, धामा, धारया (पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)"—से प्राप्ति होती है[ख]। (प्रश्न) 'संहिता में जो 'दीर्घ' (स्वर) हो'—यह क्यों (कहा)?

(क) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार जब कोई पद अपने परवर्ती पद से विभक्त हो जाता है तब उस पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। भाष्यकार का कथन है कि ऐसा तभी होता है जब वह पद अपने उस परवर्ती पद से पृथक् होवे जो प्रकृति-पाठ (संहिता-पाठ) में उससे बाद में हो। इसको समझने के लिए "स्था मयोभुवः" के जटा-पाठ को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है स्था मयो-भुव: मयोभुवः स्थ स्था मयोभुवः। यहाँ 'स्था' का 'आ' 'अ' हो गया है, क्योंकि यह पद अपने उस परवर्ती पद (मयोभुवः) से पृथक् हो गया है जो संहिता-पाठ में उससे बाद में स्थित है। 'प्रकृति (संहिता-पाठ) में विद्यमान पद से विभक्त होने पर'—यह न कहा जाता तो 'स्था' का आकार अकार न होकर आकार ही रहता क्योंकि 'स्था' अपने परवर्ती पद 'स्था' के साथ तो संहित है, विभक्त नहीं।

(ख) ३।८ के अनुसार 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'धामा' का 'आ' 'अ' हो जाता है। इससे "ऋतधामाऽसि" में 'धामा' के 'आ' को 'अ' होना चाहिए क्योंकि 'धामा' के बाद में 'व्यञ्जन' (स्) है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए यह कहा गया है कि विभाग होने पर 'व्यञ्जन' बाद में हो तो 'दीर्घ' स्वर ह्रस्व हो जाता है।

---

(१) ५।६।१ (२) १।३।३ (३) ३।८ (४) १।८।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यत्र प्राप्तिसम्पादनार्थम्। तथा सति "भरता याज्यासु"[1] इति याज्यापदं सार्थकम्। नान्यथा। व्यञ्जनमस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः ॥ १ ॥

"ऊर्जे त्वा वायवः"[2] इत्यादावेतल्लक्षणसम्भवादतिव्याप्तिमुत्तरसूत्रैः परिहरति—

(उत्तर) "एष वो भरता राजा"—यहाँ प्राप्ति के सम्पादन के लिए। वैसा होने पर "भरता याज्यासु" में 'याज्या' पद सार्थक (होगा)। अन्यथा (सार्थक) नहीं (होगा)[क]। 'व्यञ्जन' है इससे बाद में = व्यञ्जनपरः ॥ १ ॥

"ऊर्जे त्वा वायवः" इत्यादि में इस लक्षण के सम्भव होने पर (सूत्रकार) परवर्ती सूत्रों से अतिव्याप्ति का परिहार करते हैं[ख]—

विभाग होने पर यह स्थिति होती है—'ऋतऽधामा। असि।' अब तो 'धामा' के बाद में व्यञ्जन नहीं, स्वर है। अतः ३।८ यहाँ पर लागू नहीं होता है। इससे 'धामा' का 'आ' 'अ' नहीं होता है।

(क) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'संहिता में जो दीर्घ हो' वही ह्रस्व होता है। 'संहिता में'—इसकी उपयोगिता बतलाते समय भाष्यकार ने कहा है कि "एष वो भरता राजा" में ३।११ की प्राप्ति हो, इसलिए 'संहिता में' यह कहा गया है। ३।११ के अनुसार याज्यासंज्ञक अनुवाकों में 'भरता' का अन्तिम स्वर विभागावस्था में व्यञ्जन बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है। उदाहरण ये हैं—(१) धिया भरता जातवेदसम् (धिया। भरत। जातवेदसमिति जात—वेदसम्॥ प०पा०); (२) भरता वसुवित्तमम् (भरत। वसुवित्तममिति वसुवित्—तमम्॥ प०पा०); (३) वचोग्नये भरता बृहत् (वचः। अग्नये। भरत। बृहत्॥ पा० पा०)। "याज्यासंज्ञक अनुवाकों मे" की उपयोगिता बतलाते समय भाष्यकार ने यह प्रत्युदाहरण दिया है—एष वो भरता राजा (एषः। वः। भरताः। राजा॥ प० पा०)। यहाँ 'भरता' का 'आ' 'अ' नहीं हुआ है, क्योंकि यह स्थल 'याज्या'-संज्ञक नहीं है। पद-पाठ को देखने से पता चलता है कि यहाँ पदान्त 'आ' नहीं 'आः' है। पदान्त न होने के कारण 'आ' के 'अ' होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ ३।११ की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर निषेध कैसा? ३।११ की प्राप्ति कराने के लिए ही यहाँ कहा जा रहा है कि संहिता-पाठ में जो 'दीर्घ' स्वर होता है वह ह्रस्व हो जाता है। संहिता-पाठ में तो 'आ' पदान्त है और उसके 'अ' होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इसका निषेध करने के लिए ही ३।११ में 'याज्या' पद का ग्रहण किया गया है। यदि 'संहिता में' का ग्रहण न किया जाता तो ३।११ में 'याज्या' पद का ग्रहण अनर्थक हो जाता।

(ख) पूर्वपक्षी—पद के आदि में तथा पद के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' स्वर, यदि

---

(१) ३।११ (२) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—इदानीं ह्रस्वत्वादीनि कार्याणि विधीयन्ते—

अथेत्ययमधिकारः। आदौ उत्तरे इति पदस्य आदावन्ते चेत्यर्थः। पदस्येति कुतो लभ्यते। "देवा शीका"[1] इति पदानामेवोत्तरत्र ग्रहणात्। विभागः पदविभागः स खलु पदाध्याये क्रमाध्याये च भवति। संहिताप्रयोगेऽपि यत्रापाननार्थं विरम्यते तत्रानवग्रहस्य विभागो भवति। विभाग इत्यस्य ह्रस्वं व्यञ्जनपर इत्युभयत्र सम्बन्धः। तत्र पदादेः पूर्वेण विभागः, पदान्तस्य तूत्तरेण। इह विभागे विकारस्य विधेयत्वादविभागास्थावर्ती वर्णः प्रकृतिरित्यवगम्यते। स च दीर्घः। तस्यैव ग्रहीष्यमाणत्वात्। तदयमर्थः—अविभागावस्थायां पदस्य आदावन्ते च वर्तमानो दीर्घः विभागावस्थायां व्यञ्जनपरस्तस्यामेव ह्रस्वमा-

---

वै० अ०—अब ह्रस्वत्व इत्यादि कार्यों का विधान किया जाता है। अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। आदौ उत्तरे = पद के आदि में और अन्त में—यह अर्थ है। (प्रश्न) 'पद के'—यह कहाँ से प्राप्त होता है? (सूत्र में तो 'पद' शब्द का ग्रहण नहीं किया गया है?) (उत्तर) बाद में (अर्थात् परवर्ती सूत्रों में) 'देवा' 'शीका' इत्यादि पदों का ही ग्रहण होने से (यहाँ पद का ग्रहण किया गया है)। विभाग = पद का विभाग और वह (पद का विभाग) पद-पाठ और क्रम-पाठ में ही होता है। संहिता-पाठ में भी जहाँ साँस लेने के लिए रुका जाता है वहाँ सावग्रह पद के पूर्व-पद से अन्य (पद) का विभाग होता है। विभागे = 'विभाग होने पर'—इसका; ह्रस्वम् = 'ह्रस्व', और; व्यञ्जनपरः='व्यञ्जन बाद में होने पर'—इन दोनों के साथ सम्बन्ध है। वहाँ (उन पदादि और पदान्त में से) पदादि का पूर्ववर्ती (पद) से विभाग (होता है), पदान्त का तो परवर्ती (पद) से। यहाँ (= प्रस्तुत अध्याय में) विभाग में विकार (कार्य) के विधेय होने से अविभाग अवस्था में विद्यमान वर्ण प्रकृति है—यह ज्ञात होता है। और वह दीर्घ (स्वर) होता है), क्योंकि (परवर्ती सूत्रों में) उसी का ग्रहण किया जायेगा। इसलिए यह अर्थ हुआ—अविभाग अवस्था में पद के आदि में और पद के अन्त में वर्तमान 'दीर्घ' ('स्वर') विभागावस्था में व्यञ्जनपर ('व्यञ्जन' है बाद में जिसके ऐसा) होने पर उसी (विभागावस्था) में 'ह्रस्व' हो जाता है—यह अधिकार किया जाता है। (पू०) "(पद के) आदि में और

व्यञ्जन बाद में हो तो विभाग होने पर, क्या सर्वत्र ह्रस्व हो जाता है?
सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है। यह विधान अतिव्याप्त है। अतिव्याप्ति के निवारण के लिए सूत्रकार ने परवर्ती सूत्रों (३।२—१४) का प्रणयन किया है। 'दीर्घ' स्वर केवल उन-उन स्थलों पर ही 'ह्रस्व' होता है जिनको परवर्ती सूत्रों में कहा गया है। "ऊर्जे त्वा वायवः (ऊर्जे। त्वा। वायवः॥ प० पा०) इत्यादि स्थलों में 'आ' 'अ' नहीं होता है, क्योंकि 'त्वा' के 'आ' के 'अ' होने का विधान किसी भी परवर्ती सूत्र में नहीं किया गया है।

---

(१) ३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्यते इत्येतदधिक्रियत इति। आदावुत्तर इति किमर्थम्? "शीका दीर्घा वीर्या"[1] इत्यादीनां मध्ये मा भूदित्येवमर्थम्। नन्वेवमपि "आहुती ईरयथा आरिथा"[2] इत्येषामादौ कस्मान्न भवति। अत्राहुः। "देवा शीका"[3] इत्यादि "मक्षू"[4] पर्यन्तं उत्तर इत्येतत्पदमनुवर्तिष्यते। यद्येवं "उत्तरे देवा शीका" इति तत्रैवोत्तरेग्रहणं कर्त्तव्यं तदेव मक्षूपर्यन्तं सम्भन्त्स्यते। तस्मादस्मिन् सूत्रे आदौ उत्तरे इति द्वयं न वक्तव्यम् प्रयोजनाभावादिति। अत्राभिधीयते—शाखान्तराद्व्यावृत्तिरस्मच्छाखाया इह क्रियते। शाखान्तरे हि दशतय्यां पदमध्येऽपि ह्रस्वत्वं भवति। अस्मच्छाखायां च आद्यन्तयोरेवेति। विभागे व्यञ्जनपर इति किम्? "विश्वाऽहा वयꣳसुमनस्यमानाः"[5] "ऋतधामाऽसि सुवर्ज्योतिः"[6]। ननु यथा विभक्तरूपं प्रकृतिमाश्रित्य "अपुमिथुपूर्वश्शकारः"[7] इत्यादिभिस्संहितानुरूपाणि कार्याणि विधास्यन्ते। एवं देवाशीका-

---

अन्त में"—यह (सूत्र में) किसलिए (कहा गया है)? (सि०) "'शीका', 'दीर्घा', 'वीर्या'"—इत्यादि के मध्य में (ह्रस्वत्व) न हो—इसलिए (पद के आदि और अन्त में कहा गया है)। (पू०) ऐसा होने पर भी 'आहुती', 'ईरयथा', 'आरिथा'—इन (पदों) के आदि में (ह्रस्वत्व) किस कारण से नहीं होता है? (सि०) इस विषय में कहते हैं—"देवा, शीका" से प्रारम्भ करके 'मक्षू' पर्यन्त "(पद के) अन्त में" (उत्तरे)—इस पद की अनुवृत्ति होगी (जिससे ३।२-१४ में उल्लिखित पदान्त 'दीर्घ' स्वर ही 'ह्रस्व' होते हैं, पदादि 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' नहीं होते हैं)। (पू०) यदि ऐसी बात हो तो "देवा, शीका के अन्त में (विद्यमान 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' हो जाता है) ("उत्तरे देवा शीका·····")—इस प्रकार वहीं पर 'उत्तरे' (शब्द) का ग्रहण करना चाहिए। उसी का 'मक्षू' (शब्द) पर्यन्त सम्बन्ध हो जायेगा। इसलिए प्रयोजन का अभाव होने से इस सूत्र में 'आदि में' और 'अन्त में'—इन दोनों को नहीं कहना चाहिए। (सि०) इस विषय में कहा जाता है—यहाँ दूसरी शाखा से हमारी शाखा का अन्तर बतलाया गया है। क्योंकि दूसरी शाखा में=दशमण्डलात्मक ऋग्वेद में पद के मध्य में भी ह्रस्वत्व होता है। और हमारी शाखा में (पद के) आदि में और अन्त में ही (ह्रस्वत्व होता है) (इस तथ्य को 'आदावुत्तरे' का प्रयोग करके प्रथम ही सूत्र में बतला दिया गया है)। "विभाग में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "विश्वाहा वयꣳसुमनस्यमानाः"; "ऋतधामासि सुवर्ज्योतिः"[क]। (पू०) जिस प्रकार विभक्तरूप (प०पा०)

(क) (i) विश्वाहेति विश्व-अहा। वयम्। सुमनस्यमाना इति सु-मनस्यमानाः॥ प०पा०

(ii) ऋतधामेत्यृत-धामा। असि। सुवर्ज्योतिरिति सुवः—ज्योतिः॥ प० पा०

यदि केवल यह कहा जाता कि 'व्यञ्जन' बाद में होने पर सूत्र में विहित कार्य (= ह्रस्वत्व) होता है, तब 'व्यञ्जन' (क्रमशः हकार और सकार) बाद

---

(१) ३।२,५ (२) ३।७।१० (३) ३।२ (४) ३।१४
(५) ४।६।६ (६) १।३।३ (७) ५।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशब्दानां ह्रस्वान्तविभागरूपं प्रकृतिमाश्रित्य संहिताधिकार एव दीर्घो विधातव्यः। तथा व्याकरणे बह्वृचानां प्रातिशाख्ये च स्मर्यते। तथा सत्यैकरूप्यं लभ्यते। अत्रोच्यते—सत्यमेवमैकरूप्यं सिद्धयति। मन्दमतीनां तु कश्चिद्भ्रमः प्रादुष्याद्विभक्तपदात्मको वेद इति। तन्निवारणार्थं त्विहाविभक्तरूपं प्रकृतिमाश्रित्य विभागे ह्रस्वत्वं विधीयते। तेन संहिताम्नाय एव वेद इति ख्यापनात्स भ्रमो निवर्तते। नन्वेवमुभयस्य प्रकृतित्वाश्रयणात्कतररूपो वेद इति संशय एव स्यात्। मैवम् अस्ति ह्यत्र प्रसिद्धं प्रमाणान्तरम्। विदुरनेन धर्मानिति हि वेद समाख्या। तदाह भगवानापस्तम्बः—"मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्"[1] "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"[2] इति, शास्त्रसमाख्या च वेदस्य धर्मशासनाद्भवति। ततश्च वाक्यानामेव बोधकतया वेदत्वं विधायकतया शास्त्रत्वं चेति सत्सम्प्रदायप्रसिद्ध एवायमर्थः संहिताम्नाय

को प्रकृति मान कर "'त्रपु' और 'मिथु' पूर्व में तथा चकार बाद में होने पर शकार का आगम होता है" इत्यादि (सूत्रों) के द्वारा संहिता के अनुरूप कार्यों का विधान किया जायेगा। उसी प्रकार 'देवा', 'शीका' इत्यादि शब्दों के ह्रस्वान्त विभागरूप (प० पा० में उपलब्ध देव, शीक) को प्रकृति मानकर संहिता के अधिकार में ही दीर्घत्व का विधान करना चाहिए। व्याकरण में और ऋग्वेदियों के प्रातिशाख्य में वैसा ही कहा गया है। (यहाँ = तै० प्रा० में भी) वैसा होने पर एकरूपता प्राप्त होती है। (सि०) इस विषय में कहते हैं—यह सच है कि ऐसा किया जाने पर एकरूपता सिद्ध होती है। किन्तु मन्द बुद्धि वाले लोगों को ऐसा भ्रम हो सकता है कि वेद विभक्त पदों (प० पा०) के रूप में है। उस (भ्रम) के निवारण के लिए यहाँ अविभक्त रूप (सं० पा०) को प्रकृति मानकर विभाग (प० पा०) में ह्रस्वत्व का विधान किया जा रहा है। इससे संहिता-पाठ ही वेद है—यह बतला दिया जाने से उस भ्रम का निवारण हो जाता है। (पू०) इस प्रकार दोनों (सं० पा० और प० पा०) को (तै० प्रा० के भिन्न-भिन्न स्थलों में) प्रकृति मानने से यह संशय होता है कि इन दोनों में वेद कौन है? (सि०) ऐसी बात नहीं है। इस विषय में दूसरा प्रसिद्ध प्रमाण है। इससे लोग धर्मों को जानते हैं, अतः इसका वेद नाम है। आपस्तम्ब ने कहा है—"मन्त्र और ब्राह्मण यज्ञ के प्रमाण हैं"; "मन्त्र और ब्राह्मणों का ही नाम वेद है"। धर्म का शासन करने से वेद का शास्त्र नाम होता है। (संहितात्मक) वाक्य ही बोधक

में होने से क्रमशः ३।५ और ३।८ से 'विश्वा' और 'धामा' के आकार प० पा० में अकार (ह्रस्व) हो जाते। किन्तु यह अनिष्ट रूप है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए ही कहा गया है कि विभाग में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर विहित कार्य (= ह्रस्वत्व) होता है। विभाग (= प० पा०) में 'विश्वा' और 'धामा' के बाद में 'व्यञ्जन' नहीं अपितु 'स्वर' है। अतः 'विश्वा' और 'धामा' के आकार अकार नहीं होते और अभीष्ट प० पा० की प्राप्ति होती है।

---

(१) आप० प० सू० १।३२ (२) आप० प० सू० १।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एव वेद इति। स इह प्राथमकल्पिकेन ह्रस्वविधिना ख्याप्यते। न तु प्रकृतित्वाश्रयणमेव वेदत्वे प्रमाणमिति ब्रूमः विभक्तरूपस्य तु प्रकृतित्वं व्युत्पादनसौकर्यार्थमाश्रियते। तस्य पदत्वेनाक्षरत्वेन अङ्गाङ्गित्वेन च बहुविधत्वान्न तस्य वेदत्वं प्राज्ञाः प्रवदन्तीत्यलं प्रपञ्चेन ॥ १ ॥

देवा शीका सुम्ना श्वर्ता वयुना हृदयाऽघोक्था शुद्धा ॥ २ ॥

मा०—इत्येतेषु ग्रहणेषु अवग्रहेषु व्यञ्जनपरः संहितायां दीर्घः पदकाले ह्रस्वमापद्यते। यथा—"देवायते"[१]। "शीकायते"[२]। "सुम्नायन्तः"[३]। "पृथिव्या श्ववित्"[४]। श्वा इत्येतस्मिन् ग्रहणे अश्वा इत्यस्मिन्नपि प्राप्नोति। कस्मात्? "अप्यकारादि"[५] वचनात्। यथा—"अश्वावतीम्"[६]। "ऋतावरीः"[७]। "वयुनाविदेकः"[८]। "हृदयाविधश्चित्"[९]। "वृका अघायवः"[१०]। "इन्द्राय त्वोक्थायुवे"[११]। "शुद्धायुवः"[१२] ॥ २ ॥

त्रि०—देवा शीका सुम्ना श्वा ऋता वयुना हृदया अघा उक्था शुद्धा इत्येतेषु ग्रहणेष्ववग्रहेष्वन्त्यस्वरः विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"देवायते यज-

---

(अर्थ के प्रतिपादक) होने के कारण वेद हैं और विधायक (विधान करने वाले) होने के कारण शास्त्र हैं—यह स्थिति होने से यह तथ्य सम्प्रदाय से ही सिद्ध है कि संहिता-पाठ ही वेद है। इस तथ्य को यहाँ प्रथम किये गये ह्रस्व-विधान से बतलाया जा रहा है। प्रकृति के रूप में मान लेना ही वेदत्व में प्रमाण नहीं है—हम यह कहते हैं। विभक्त रूप को तो विषय-प्रतिपादन की सुविधा के लिए प्रकृति माना गया है और वह (विभक्त रूप) पद-रूप, अक्षर-रूप, अङ्गाङ्गिरूप—इस प्रकार बहुत प्रकार का है, अतः बुद्धिमान लोग उसे वेद नहीं मानते हैं—अब अधिक विस्तार मत कीजिये ॥ १ ॥

सू० अ०—देवा, शीका, सुम्ना, श्वा, ऋता, वयुना, हृदया, अघा, उक्था, शुद्धा (ये सावग्रह पद हों तो इनके अन्तिम 'स्वर' परवर्ती पद से विभक्त होने पर 'व्यञ्जन' बाद में रहते, 'ह्रस्व' हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—देवा···शुद्धा—सावग्रह पदों के पूर्व-पद[क] के रूप में अवस्थित इन वैदिक पदों में अन्तिम 'स्वर' विभक्त होने पर, 'व्यञ्जन' बाद में रहते, 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"देवायते यजमानाय", "शीकायते स्वाहा", "सुम्नायन्तो

(क) ३।७ के अन्त में विद्यमान 'इत्यवग्रहः' का सम्बन्ध ३।२-७ में उद्धृत सभी पदों के साथ है। अतः जब ये उद्धृत पद सावग्रह पदों के पूर्वपद होते हैं तभी इनका अन्तिम 'स्वर' 'ह्रस्व' होता है।

---

(१) ३।५।५ (२) ७।५।११ (३) १।५।११ (४) ५।५।२०
(५) १।५२ (६) ४।२।६ (७) १।१।३ (८) १।२।१३
(९) १।४।४५ (१०) १।२।९ (११) १।४।१२ (१२) १।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानाय"[१]। "शीकायते स्वाहा"[२]। "सुम्नायन्तो हवामहे"[३]। "द्यावापृथिव्या श्वावित्"[४]। "अप्यकारादि"[५] इति वचनादिदमप्युदाहर्तव्यम्—"अश्वावतीꣳसोमवतीम्"[६]। "ऋतायवः पुराऽन्नमक्षन्"[७] "वयुनाविदेकः"[८] "हृदयाविधश्चित्"[९] "अघायवो मा गन्धर्वो विश्वावसुरा दधत्"[१०]। "उक्थामदानां धेनुः"[११]। "आपो देवीश्शुद्धायुवः"[१२] ॥ २ ॥

वै०—उत्तर इत्यनुवर्तते। संहितायाम्; (देवा"'शुद्धा =) देवाशीकेत्यादीनां;

हवामहे", "द्यावापृथिव्या श्वावित्"। "(पद ग्रहण में) अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिये)"—इस विधान से यह भी उदाहरण देना चाहिए—"अश्वावतीꣳसोमवतीम्"क। "ऋतायवः पुराऽन्नमक्षन्", "वयुनाविदेकः", "हृदयाविधश्चित्", "अघायवो मा गन्धर्वो विश्वावसुरा दधत्"। "उक्थामदानां धेनुः"। "आपो देवीश्शुद्धायुवः"ख ॥ २ ॥

वै० अ०—(पूर्ववर्ती सूत्र से) उत्तरे (अन्त में)—इसकी अनुवृत्ति हो रही

(क) यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'श्वा' के आकार के अकार होने का विधान किया गया है, तथापि १।५२ की सहायता से 'अश्वा' का आकार भी प्रस्तुत सूत्र से अकार हो जाता है।

(ख) (१) देवायत इति देव—यते। यजमानाय ॥ प० पा०

(२) शीकायत इति शीक—यते। स्वाहा ॥ प० पा०

(३) सुम्नायन्त इति सुम्न—यन्तः। हवामहे ॥ प० पा०

(४) द्यावापृथिव्येति द्यावा—पृथिव्या। श्वाविदिति श्व—वित् ॥ प० पा०

(५) अश्वावतीमित्यश्व—वतीम्। सोमवतीमिति सोम—वतीम् ॥ प० पा०

(६) ऋतायव इत्यृत—यवः। पुरा। अन्नम्। अक्षन् ॥ प० पा०

(७) वयुनाविदिति वयुन—वित्। एकः ॥ प० पा०

(८) हृदयाविध इति हृदय—विधः। चित् ॥ प० पा०

(९) अघायव इत्यघ—यवः। मा। गन्धर्वः। विश्वावसुरिति विश्व—वसुः। एति। दधत् ॥ प० पा०

(१०) उक्थामदानामित्युक्थ—मदानाम्। धेनुः ॥ प० पा०

(११) आपः। देवीः। शुद्धायुव इति शुद्ध—युवः ॥ प० पा०

---

(१) ३।५।५ (२) ७।५।११ (३) १।५।११
(४) ५।५।२० (५) १.५२ (६) ४।२।६
(७) २।२।५ (८) १।२।१३ (९) १।४।४५
(१०) १।२।९ (११) २।४।११ (१२) १।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदानामन्ते वर्तमानो दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। ननु "आदावुत्तरे"[१] इति प्रथमसूत्रेऽधिकृतम्। तेन पदादेरेव ह्रस्वत्वमग्रे विधातव्यम्। तत्क्रमानुरोधात्। सत्यम्। उत्तर इति ग्रहणस्यानुवृत्तिलाभाय तु तदनन्तरं पदान्तह्रस्वत्वमेव अग्रे विधीयते। तदलाभे "आहुती ईरयथा आरिथा"[२] इत्येतेषां आदावपि ह्रस्वत्वं स्यात्। अधिकृतक्रमभङ्गे तु न काचित्क्षतिः। उदाहरणं तु—देवा—"देवायते यजमानाय"[३]। शीका—"शीकायते स्वाहा"[४]। सुम्ना—"सुम्नायन्तो हवामहे"[५]। श्वा—"द्यावापृथिव्या श्वावित्"[६]। "अप्यकारादि"[७] इति वचनात् "अश्वावतीꣳसोमवतीम्"[८] इत्यप्युदाहरणम्। ऋता—"ऋतावरीरूर्मिणीः"[९]। इह कस्मान्न भवति—"ऋतायुभ्यां त्वा"[१०]। "पदग्रहणेषु पदं गम्येत"[११] इति नियमात्। एवं "मनोसि प्राजापत्यम्"[१२] इत्यादावपि द्रष्टव्यम्। वयुना—"वयुनाविदेक इत्"[१३]। हृदया—"हृदयाविधश्चित्"[१४]। अघा—"मा त्वा वृका अघायवः"[१५]। उक्था—"उक्थायुवे"[१६]। शुद्धा—"आपो देवीश्शुद्धायुवः"[१७] ॥ २ ॥

है। संहिता-पाठ में; (देवा····शीका =) देवा, शीका इत्यादि; पदों के अन्त में वर्तमान 'दीर्घ' (स्वर) (परवर्ती 'स्वर' से) विभक्त होने पर, 'व्यञ्जन' बाद में रहते, 'ह्रस्व' हो जाता है। (पू०) 'आदि और अन्त में'—इसका प्रथम सूत्र (= ३।१) में अधिकार किया गया है। इससे उस (= पूर्ववर्ती सूत्र के) क्रम का पालन करने से पद के आदि में विद्यमान ही ('दीर्घ' स्वर के) ह्रस्वत्व का विधान पहले करना चाहिए। सच कहते हो। किन्तु (अन्वादेशो अन्त्यस्य = "अन्तिम का अन्वादेश होता है" के अनुसार) 'उत्तरे' (अन्त में)—इस पद की अनुवृत्ति की प्राप्ति के लिए उस (= ३।१) के बाद में पद के अन्त में विद्यमान ('दीर्घ' स्वर) के ह्रस्वत्व का ही पहले विधान किया जाता है। उस (अनुवृत्ति) के प्राप्त न होने पर 'आहुती, ईरयथा और आरिथा'—इन (पदों) के आदि में भी ह्रस्वत्व हो जायेगा (जो इष्ट नहीं है)। अधिकार में विद्यमान क्रम के भङ्ग होने पर तो कोई हानि नहीं है। उदाहरण तो ये हैं—देवा—"देवायते यजमानाय"। शीका—"शीकायते स्वाहा"। सुम्ना—"सुम्नायन्तो हवामहे"। श्वा—"द्यावापृथिव्या श्वावित्"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस विधान से "अश्वावतीꣳसोमवतीम्"—यह भी उदाहरण है। ऋता—"ऋतावरीरूर्मिणीः"। (पू०) यहाँ ('ऋता' के आकार का अकार) किस कारण से नहीं होता है—"ऋतायुभ्यां त्वा"। (सि०) "पद के उद्धरणों में उस पद को (ही)

---

(१) ३।१ (२) ३।७।१० (३) ३।५।५ (४) ७।५।११
(५) १।५।११ (६) ५।५।२० (७) १।५२ (८) ४।२।६
(९) १।१।३ (१०) १।४।५ (११) १।५०
(१२) १।६।२ (१३) १।२।१३ (१४) १।४।४५
(१५) १।२।६ (१६) १।४।१२ (१७) १।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रा वद्वन्वान्परः ॥ ३ ॥

मा०—इन्द्रा इत्येतस्मिन्नवग्रहे वत्-वन्-वान्परः संहितायां दीर्घः पदकाले ह्रस्वमापद्यते। यथा—"इन्द्रावतीमपचितीम्"[१]। "इन्द्रावन्तो मरुतः"[२]। "इन्द्रावान् स्वाहा"[३]। वद्वन्वान्पर इति किम्? "इन्द्रावरुणयोरहम्"[४]। "अश्विना सूनृतावती"[५]। "ऊर्णावन्तं प्रथमः"[६]। "प्रजावान्"[७]। दीर्घः ॥ ३ ॥

त्रि०—इन्द्रा इत्येतस्मिन् अवग्रहे अन्त्यस्वरः; (वद्वन्वान्परः =) वत्, वन्, वान् इत्येवम्परः; विभागे ह्रस्वमापद्यते। यथा—"इन्द्रावतीमपचितीम्"[१]। "इन्द्रावन्तो मरुतः"[२]। "इन्द्रावान् स्वाहा"[३]। इन्द्रेति किम्? "ऊर्णावन्तं प्रथमः"[६]। "असुर प्रजावान्"[८]। "प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः"[९]। एवं पर इति किम्? "इन्द्रावरुणयोरहम्"[४] ॥ ३ ॥

समझना चाहिए"—इस नियम से[क]। इसी प्रकार "मनोसि प्राजापत्यम्" इत्यादि में भी समझना चाहिए[ख]। वयुना—"वयुनाविदेक इत्"। हृदया—"हृदयाविधश्चित्"। अघा—"मा त्वा वृका अघायवः"। उक्था—"उक्थायुवे"। शुद्धा—"आपो देवीश्शुद्धायुवः" ॥ २ ॥

सू० अ०—वत्, वन् और वान् बाद में होने पर इन्द्रा (का अन्तिम 'स्वर' 'ह्रस्व' हो जाता है, यदि 'इन्द्रा' सावग्रह पद का पूर्व-पद हो)।

त्रि० अ०—इन्द्रा—इस पूर्व-पद (अवग्रह) में अन्तिम 'स्वर'; (वद्वन्वान्परः =) वत्, वन् और वान्—ये पद बाद में होने पर; विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"इन्द्रावतीमपचितीम्"। "इन्द्रावन्तो मरुतः"। "इन्द्रावान् स्वाहा"[ग]। इन्द्रा—यह क्यों (कहा)? "ऊर्णावन्तं प्रथमः"। "असुर प्रजा-

---

(क) ऋतायुभ्यामित्यृतायु–भ्याम् । त्वा ॥ प० पा०

यहाँ 'ऋता' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि यहाँ 'ऋता' पद नहीं, अपितु पद का एक भाग है। १।५० में यह विधान किया गया था कि जब किसी सूत्र में वैदिक पद का ग्रहण किया जाता है तो उससे उस वैदिक पद को ही समझना चाहिए, पद के एक भाग को नहीं।

(ख) मनः । असि । प्राजापत्यमिति प्राजा–पत्यम् ॥ प० पा०

यद्यपि ३।५ में 'प्रा' के आकार के अकार होने का विधान किया गया है, तथापि 'प्राजापत्यम्' के 'प्रा' का आकार अकार नहीं होता है, क्योंकि यहाँ 'प्रा' पद नहीं, पद का एक भाग है।

(ग) इन्द्रावतीमितीन्द्र—वतीम् ॥ इन्द्रावन्त इतीन्द्र—वन्तः ॥ इन्द्रावानितीन्द्र—वान् ॥ प० पा०

---

(१) ५।७।४ (२) ४।७।१४ (३) १।१।१२ (४) २।५।१२ (५) १।४।६
(६) ३।५।११ (७) ७।१।७ (८) ३।१।११ (९) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—इन्द्रापदस्यान्ते दीर्घः; (वद्वन्वान्परः =) वत्, वन्, वान् इत्येतेषु परतः; विभागे ह्रस्वमापद्यते। "इन्द्रावतीमपचितीम्"[१] "इन्द्रावन्तो मरुतः"[२] "इन्द्रावान्थ्स्वाहा"[३]। इन्द्रेति किम्? "ऊर्णावन्तम्"[४]। "प्रजावान् पशुमान्"[५]। "प्रजावतीरनमीवाः"[६]। एवं पर इति किम्? "इन्द्रावरुणयोरहम्"[७]। "इन्द्रासोमीयमेकादशकपालम्"[८] ॥ ३ ॥

चित्रा वपरः ॥ ४ ॥

मा०—चित्रा इत्येतस्मिन्नवग्रहे दीर्घो वकारपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"चित्रावसो स्वस्ति ते"[९]। वपर इति किम्? "चित्रा पूर्णमासे"[१०]। चित्रा इति किम्? "मित्रावरुणौ"[११] ॥ ४ ॥

वान्"। "प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः"क। ये (वत्, वन् और वान् इत्यादि) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "इन्द्रावरुणयोरहम्"ख ॥ ३ ॥

वै० अ०—इन्द्रा पद के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' (स्वर); (वद्वन्वान्परः =) वत्, वन् और वान्—ये (पद) बाद में होने पर; विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है। (उदाहरण)—"इन्द्रावतीमपचितीम्", "इन्द्रावन्तो मरुतः", "इन्द्रावान्थ्स्वाहा"। इन्द्रा—यह क्यों (कहा)? "ऊर्णावन्तम्"। "प्रजावान् पशुमान्"। "प्रजावतीरनमीवाः"। ये (वत्, वन् और वान्) बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "इन्द्रावरुणयोरहम्"। "इन्द्रासोमीयमेकादशकपालम्"ग ॥ ३ ॥

सू० अ०—'व' बाद में होने पर 'चित्रा' (का अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है)।

(क) उर्णावन्तमित्यूर्णा—वन्तम् ॥ प्रजावानिति प्रजा—वान् ॥ प्रजावतीरिति प्रजा—वतीः ॥ प० पा०

क्रमशः 'वन्', 'वान्' और 'वत्' बाद में होने पर भी 'ऊर्णा' और 'प्रजा' के आकार अकार नहीं हुए हैं, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में केवल 'इन्द्रा' पद के आकार के अकार होने का ही विधान किया गया है।

(ख) इन्द्रावरुणयोरितीन्द्रा—वरुणयोः ॥ प० पा०

'इन्द्रा' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि 'इन्द्रा' के बाद में सूत्र में उल्लिखित कोई भी शब्द नहीं है।

(ग) इन्द्रासोमीयमितीन्द्रा—सोमीयम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।७।४ (२) ४।७।१४ (३) १।१।१२ (४) ३।५।११
(५) ७।१।७ (६) १।१।१ (७) २।५।१२ (८) १।८।८
(९) १।५।५ (१०) ७।४।८ (११) २।१।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चित्रा इत्येतस्मिन्नवग्रहे अन्त्यस्वरः; (वपरः =) वकारपरः; विभागे ह्रस्वमापद्यते। यथा—"चित्रावसोस्स्वस्ति ते पारमशीय"[१]। चित्रेति किम्? "मित्रावरुणावेव"[२]। वपर इति किम्? "चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्"[३] ॥ ४ ॥

वै०—चित्रा इत्येतस्मिन्नवग्रहेऽन्त्यस्वरः; (वपरः =) वकारपरः; विभागे ह्रस्वमापद्यते। "चित्रावसोस्स्वस्ति"[१]। वपर इति किम्? "चित्रापूर्णमासे"[३] ॥ ४ ॥

प्रस्थेन्द्रिया द्रविणा विश्वदेव्या दीर्घा वीर्या विश्वा वाता त्वा भङ्गुरा कर्णका वृष्णिया सुगोपकर्सामाऽद्या सत्रा वर्षा पुष्पा मेघा प्रा स्वा ॥ ५ ॥

मा०—इत्येतेष्ववग्रहेषु व्यञ्जनपरः संहितायां दीर्घः पदकाले ह्रस्वमापद्यते। यथा—"प्रस्थावद्रथवाहनम्"[४]। "इन्दो इन्द्रियावतः"[५]। "द्रविणावतः कुरुते"[६]। "विश्वदेव्यावते"[७]। "दीर्घाधियो रक्षमाणाः"[८]। "वीर्यावतीः"[९]। "गन्धर्वो विश्वावसुः"[१०]।

त्रि० अ०—चित्रा—इस पूर्व-पद (अवग्रह) में अन्तिम स्वर; (वपरः =) वकार बाद में होने पर; विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"चित्रावसोस्स्वस्ति ते पारमशीय"क। चित्रा—यह क्यों (कहा)? "मित्रावरुणावेव"ख। वकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्"ग ॥ ४ ॥

वै० अ०—चित्रा—इस पूर्व-पद (अवग्रह) में अन्तिम 'स्वर'; (वपरः =) वकार बाद में होने पर; विभागावस्था में ह्रस्व हो जाता है। "चित्रावसोस्स्वस्ति"। वकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "चित्रापूर्णमासे" ॥ ४ ॥

सू० अ०—प्रस्था, इन्द्रिया, द्रविणा, विश्वदेव्या, दीर्घा, वीर्या, विश्वा, वाता, त्वा, भंगुरा, कर्णका, वृष्णिया, सुगोपा, ऋक्सामा, अद्या, सत्रा, वर्षा, पुष्पा, मेघा,

---

(क) चित्रावसो इति चित्र—अवसो ॥ प० पा०

(ख) मित्रावरुणाविति मित्रा—वरुणौ ॥ प० पा०

'व' बाद में होने पर भी 'मित्रा' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में केवल 'चित्रा' पद के आकार के अकार होने का ही विधान किया गया है।

(ग) चित्रा पूर्णमास इति चित्रा—पूर्णमासे ॥ प० पा०

'चित्रा' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि 'चित्रा' के बाद में वकार नहीं है।

---

(१) १।५।५ (२) २।१।७ (३) ७।४।८
(४) ४।२।५ (५) १।४।२७ (६) ५।३।११
(७) १।४।१ (८) २।१।११ (९) २।४।२ (१०) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वातावद्वर्षन्"[१] "त्वावतो मघोनः"[२]। "भेत्तारं भंगुरावतः"[३]। "कर्णकावत्येतया"[४]। "वृष्णियावतस्तवाग्ने"[५]। "सुगोपातमो जनः"[६]। "ऋक्सामाभ्यां यजुषा"[७]। "अद्याश्वादेवैनम्"[८]। "सत्राजितं धनजितम्"[९]। "वर्षाह्वां जुहोति"[१०]। "पुष्पावतीः प्रसूवतीः"[११]। "मेघायते स्वाहा"[१२]। "प्रावणेभिः सजोषसः"[१३]। "स्वाधियं जनयथ्सूदयच्च"[१४] ॥ ५ ॥

त्रि०—प्रस्था इन्द्रिया द्रविणा विश्वदेव्या दीर्घा वीर्या विश्वा वाता त्वा भंगुरा कर्णका वृष्णिया सुगोपा ऋक्सामा अद्या सत्रा वर्षा पुष्पा मेघा प्रा स्वा इत्येतेष्ववग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"प्रस्थावद्रथवाहनम्"[१५]। "इन्द्रियावते पुरोडाशम्"[१६]। "द्रविणावतः कुरुते"[१७]। "विश्वदेव्यावते श्वात्राः"[१८]। "दीर्घाधियो रक्षमाणाः"[१९]। "वीर्यावन्तमभिमातिषाहम्"[२०]। "विश्वामित्रस्य सूक्तम्"[२१]। "वातावद्वर्षन्"[१]। "त्वावतो मघोनः"[२]। "भेत्तारं भंगुरावतः"[३]। "कर्णकावत्येतया"[४]। "वृष्णियावतस्तव"[५]। "सुगोपातमो जनः"[६]। "ऋक्सामाभ्यां यजुषा"[७]। "अद्याश्वादेवैनम्"[८]। "सत्राजितं धनजितम्"[९]। "वर्षाह्वां जुहोति"[१०]। "पुष्पावतीस्सुपिप्पलाः"[२२]। "मेघायते स्वाहा"[१२]। "प्रावणेभिस्सजोषसः"[१३]। "स्वाधियं जनयथ्सूदयच्च"[१४] ॥ ५ ॥

वै०—(प्रस्थेन्द्रिया····स्वा =) प्रस्था इन्द्रिया इत्यादीनाम्; पदानामन्ते दीर्घो

प्रा, स्वा—(इन पूर्व-पदों में अन्तिम 'स्वर' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—प्रस्था····स्वा—इन पूर्व-पदों में अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।·····क ॥ ५ ॥

वै० अ०—(प्रस्थेन्द्रिया·····स्वा =) प्रस्था, इन्द्रिया इत्यादि पदों के

(क) प्रस्थावदिति प्रस्थ—वत्। रथवाहनमिति रथ—वाहनम् ॥ प० पा०
द्रविणावत इति द्रविण—वतः। कुरुते ॥ प०पा०
विश्वदेव्यावत इति विश्वदेव्य—वते। श्वात्राः ॥ प०पा०
दीर्घाधिय इति दीर्घ—धियः। रक्षमाणाः ॥ प०पा०
वीर्यावन्तमिति वीर्य—वन्तम्। अभिमातिषाहमित्यभिमाति—साहम् ॥ प०पा०
विश्वामित्रस्येति विश्व—मित्रस्य। सूक्तमिति सु—उक्तम् ॥ प०पा०

---

(१) २।४।७ (२) २।२।१२ (३) १।५।६ (४) १।५।७
(५) ३।५।६ (६) ४।२।११ (७) १।२।३ (८) ३।१।७
(९) ४।१।१ (१०) २।४।१० (११) ४।२।६ (१२) ७।५।११
(१३) ४।२।४ (१४) १।३।१४ (१५) ४।२।५ (१६) २।२।७
(१७) ५।३।११ (१८) १।४।१ (१९) २।१।११
(२०) १।२।७ (२१) ५।२।३ (२२) ४।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—प्रस्था—"प्रस्थावद्रथवाहनम्"[१]। इन्द्रिया—"इन्द्रियावान्मदिन्तमः"[२]। द्रविणा—"द्रविणावतः कुरुते"[३]। विश्वदेव्या—"विश्वदेव्यावते श्वात्रास्स्व"[४]। दीर्घा—"दीर्घाधियो रक्षमाणाः"[५]। वीर्या—"वीर्यावन्तमभिमातिषाहम्"[६]। विश्वा—"गन्धर्वोसि विश्वावसुः"[७]। वाता—"वातावद्धर्षन्"[८]। त्वा—त्वावतो मघोनः"[९]। भंगुरा—भेत्तारं भंगुरावतः"[१०]। कर्णका—"कर्णकावत्येतया"[११]। वृष्णिया—"वृष्णियावतस्तवाग्ने"[१२]। सुगोपा—"सुगोपातमो जनः"[१३]। ऋक्सामा—"ऋक्सामाभ्यां यजुषा"[१४]। अद्या—"बृहदद्याश्वादेवैनम्"[१५]। सत्रा—"सत्राजितं धनजितम्"[१६]। वर्षा—"वर्षाह्वां जुहोति"[१७]। पुष्पा—"पुष्पावतीस्सुपिप्पलाः"[१८]। मेघा—मेघायते स्वाहा"[१९]। प्रा—"द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्"[२०]। स्वा—"जरते स्वाधीः"[२१] ॥ ५ ॥

अन्त में स्थित 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।.....क ॥ ५ ॥

वातावदिति वात्—वत्। वर्षन् ॥ प० पा०
भेत्तारम्। भङ्गुरावत इति भङ्गुर—वतः ॥ प०पा०
कर्णकावतीति कर्णक—वती। एतया ॥ प०पा०
वृष्णियावत इति वृष्णिय—वतः। तव ॥ प० पा०
सुगोपातम इति सुगोप—तमः। जनः ॥ प०पा०
ऋक्सामाभ्यामित्यृक्साम—भ्याम्। यजुषा ॥प०पा०
अद्याश्वादित्यद्य—श्वात्। एव। एनम् ॥ प० पा०
सत्राजितमिति सत्र—जितम्। धनजितमिति धन—जितम् ॥ प०पा०
वर्षाह्वामिति वर्ष—ह्वाम्। जुहोति ॥ प०पा०
पुष्पावतीरिति पुष्प—वतीः। सुपिप्पला इति सु—पिप्पलाः ॥ प० पा०
मेघायत इति मेघ—यते। स्वाहा ॥ प०पा०
प्रावणेभिरिति प्र—वनेभिः। सजोषस इति स—जोषसः ॥ प०पा०
स्वाधियमिति स्व—धियम्। जनयत्। सूदयत्। च ॥ प०पा०

(क) इन्द्रियावानितीन्द्रिय—वान्। मदिन्तमः ॥ प०पा०
गन्धर्वः। असि। विश्वावसुरिति विश्व—वसुः ॥ प०पा०
द्युम्नस्य। प्रासहेति प्र—सहा। रयिम् ॥ प० पा०
जरते। स्वाधीरिति स्व—धीः ॥ प०पा०

---

(१) ४।२।५ (२) १।२।३ (३) ५।३।११ (४) १।४।१
(५) २।१।११ (६) १।२।७ (७) १।१।११ (८) २।४।७
(९) २।२।१२ (१०) २।५।६ (११) १।५।७ (१२) ३।५।६
(१३) ४।२।११ (१४) १।२।३ (१५) ३।१।७
(१६) ४।१।१ (१७) २।४।१० (१८) ४।१।४
(१९) ७।५।११ (२०) १।३।१४ (२१) ४।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक एवेष्टा ॥ ६ ॥

मा०—इष्टा इत्येतस्मिन्नवग्रहे "लोक" "एव" इत्येवम्पूर्वो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"अमुष्मिँल्लोक इष्टापूर्त्तेन"[१]। "स त्वेवेष्टापूर्ती"[२]। लोकएवेष्टेति किम्? "एनमिष्टापूर्ते सँसृजेथाम्"[३] ॥ ६ ॥

त्रि०—लोके एव इत्येवम्पूर्वे इष्टा इत्येतस्मिन् अवग्रहे अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"सममुष्मिल्लोक इष्टापूर्तेन"[१] "स त्वेवेष्टापूर्ती"[२]। एवम्पूर्व इति किम्? "एनमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथाम्"[३]। इष्टेति किम्? "साक्षादेव प्रजापतये"[४] ॥ ६ ॥

वै०—लोके एव इत्येताभ्यामुपबन्धाभ्यां पूर्वाभ्यामुपलक्षिते देशे इष्टापदस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"लोक इष्टापूर्तेन गच्छते"[१]। "स त्वेवेष्टापूर्ती"[२]। एताभ्यामुपबन्धाभ्यां किम्? "इष्टापूर्ते कृणुतात्"[५] ॥ ६ ॥

सू० अ०—'लोके' और 'एव' (पूर्व में होने पर) इष्टा (का अन्त्य 'स्वर' 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—लोके, एव—ये पूर्व में होने पर इष्टा—इस पूर्व-पद (अवग्रह) में अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"सममुष्मिल्लोक इष्टापूर्तेन", "स त्वेवेष्टापूर्ती"क। ये (लोक, एव) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "एनमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथाम्"ख। इष्टा—यह क्यों (कहा)? "साक्षादेव प्रजापतये"ग ॥ ६ ॥

वै० अ०—लोके, एव—इन दो पूर्ववर्ती उपबन्धों से लक्षित (विशिष्ट) स्थल में स्थित 'इष्टा' पद के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' (स्वर), विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"लोक इष्टापूर्तेन गच्छते"। "स त्वेवेष्टापूर्ती"। ये उपबन्ध पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "इष्टापूर्ते कृणुतात्" ॥ ६ ॥

(क) इष्टापूर्तेनेतीष्ट—पूर्तेन ॥ इष्टापूर्तीतीष्ट—पूर्ती ॥ प० पा०

(ख) इष्टापूर्ते इतीष्टा—पूर्ते ॥ प० पा०
'इष्टा का आकार अकार नहीं हुआ, क्योंकि 'इष्टा' के पूर्व में न 'लोक' है और न 'एव'।

(ग) एव। प्रजापतय इति प्रजा-पतये ॥ प० पा०
'एव' पूर्व में होने पर भी 'प्रजा' का आकार अकार नहीं हुआ, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में 'इष्टा' के आकार के अकार होने का ही विधान किया गया है।

---

(१) ३।३।८ (२) १।७।३ (३) ४।७।१३
(४) ५।१।२ (५) ५।७।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ती रथी त्विषी वाशी रात्र्योषध्याहुती व्याहृती स्वाहाकृती ह्रादुनी शची चिती श्रोणी पृष्टी पूत्यभी चर्षणी पर्यधी पारी शत्रू विषू वसू अनू हनू सू विभू इत्यवग्रहः ॥ ७ ॥

मा०—शक्त्यादय अवग्रहा व्यञ्जनपरा विभागे ह्रस्वमापद्यन्ते। यथा—"शक्तीवन्तो गभीराः"[१] "रथीतमौ रथीनाम्"[२]। "त्विषीमते"[३]। "वाशीमन्त इष्मिणः"[४]। "रात्रीभिरस्मिन्"[५]। "ओषधीभ्यः स्वाहा"[६]। "आहुतीभिरनूयाजेषु"[७]। "व्याहृतीभिर्हवींषि"[८]। "स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्य"[९]। "ह्रादुनीभ्यः स्वाहा"[१०]। "चष्टे शचीभिः"[११]। द्वाभ्यां चितीभ्याम्"[१२]। "श्रोणीभ्याम्"[१३]। "पृष्टीभ्यः स्वाहा"[१४]। "पूतीगन्धस्यापहत्यै"[१५]। "अभीवृतो घृणीवान्"[१६]। "ओमासश्चर्षणीधृतः"[१७]। "वीरयन्तं परीणसम्"[१८]। "अधीवासं या हिरण्यानि"[१९]। "पारीणह्यस्य[२०]। शञ्वादयः अवग्रहा व्यञ्जनपरा विभागे ह्रस्वमापद्यन्ते। यथा—"शत्रूयतो हन्ता"[२१]। "विषूवान् सम्पद्यते"[२२]। "अरमतिर्वसूयुः"[२३]। "अनूराधानक्षत्रम्"[२४]। अनू इत्येतस्मिन् ग्रहणे अननू इत्येतस्यापि विधिर्भवति। यथा—"प्रयाजवदननूयाजम्"[२५]। "हनूभ्यां स्वाहा"[२६]। "सूयवसं सोदकम्"[२७]। "विभूदाव्न्ने"[२८]। इत्यवग्रहः। देवा शीका इत्येवमादय अवग्रहा एव कार्या भवन्ति। अवग्रह इत्येकवचनान्तं देवा शीका इत्येवमादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते। किमर्थमिदमारभ्यते? "विश्वावसू निदधिरे"[२९], "कृष्णश्चा चतुरक्षः"[३०] इत्येवमादिषु ह्रस्वो मा भूदित्येवमर्थम्। इतीमे अवग्रहा व्याख्याताः ॥ ७ ॥

त्रि०—शक्ती रथी त्विषी वाशी रात्री ओषधी आहुती व्याहृती स्वाहाकृती ह्रादुनी शची चिती श्रोणी पृष्टी पूती अभी चर्षणी परी अधी पारी शत्रू विषू वसू

सू० अ०—शक्ती, रथी, त्विषी, वाशी, रात्री, ओषधी, आहुती, व्याहृती, स्वाहाकृती, ह्रादुनी, शची, चिती, श्रोणी, पृष्टी, पूती, अभी, चर्षणी, परी, अधी, पारी, शत्रू, विषू, वसू, अनू, हनू, सू, विभू—ये पूर्व-पद हों (तो इनका अन्तिम 'स्वर' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—शक्ती·····विभू; (इत्यवग्रहः =)—इन पूर्व-पदों में अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; 'ह्रस्व' हो जाता है।·····।

---

(१) ४।६।६	(२) ४।७।१५	(३) ४।५।२	(४) २।१।११
(५) २।४।१	(६) ७।३।१९	(७) २।६।९	(८) १।६।१०
(९) ६।३।९	(१०) ७।४।१३	(११) ४।२।५	(१२) ५।७।५
(१३) ७।३।१६	(१४) ७।३।१६	(१५) २।२।२	(१६) ३।५।११
(१७) १।४।१६	(१८) २।२।१२	(१९) ४।६।११	(२०) ६।२।१
(२१) १।५।६	(२२) ७।४।८	(२३) ४।३।१३	(२४) ४।४।१०
(२५) ६।१।५	(२६) ७।३।१६	(२७) १।७।५	
(२८) ३।५।८	(२९) ४।२।२	(३०) ५।५।१९	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनू हनू सू विभू इत्येतेषु (अवग्रहः =) अवग्रहेषु अन्त्यस्वरः, विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"शक्तीवन्तो गभीराः"[१]। "रथीतमौ रथीनाम्"[२]। "त्विषीमते पथीनाम्"[३]। "वाशीमन्त इष्मिणः"[४]। "रात्रीभिरस्मभ्यम्"[५]। "ओषधीभ्यो वेहतम्"[६]। "आहुतीभिरनूयाजेषु"[७]। "एताभिर्व्याहृतीभिः प्रजापतिः"[८]। "स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्य"[९]। "ह्रादुनीभ्यः स्वाहा"[१०]। "चष्टे शचीभिः"[११]। "चितीभ्यामुपायन्"[१२]। "श्रोणीभ्याꣳ स्वाहा"[१३]। पृष्टीभ्यः स्वाहा"[१४]। "पूतीगन्धस्यापहत्यै"[१५]। "अभीवृतो घृणीवान्"[१६]। "मित्रस्य चर्षणीधृतः"[१७]। "वीरवन्तं परीणसम्"[१८]। "अधीवासं या हिरण्यानि"[१९]। "पारीणह्यस्येशे"[२०]। "शत्रूयतो हन्ता"[२१]। "विषूवान्विषूवन्तः"[२२]। "अरमतिर्वसूयुः"[२३]। "अनूराधा नक्षत्रम्"[२४]। "अन्कादि च"[२५] इति वचनात् "अननूयाजं प्रायणीयम्"[२६] इत्येतदप्युदाहरणं भवति। "हनूभ्याꣳ स्वाहा"[२७] "सूयवसिनी मनवे"[२८]। "विभूदाव्ने"[२९]। 'इत्यवग्रहः इति' अनेन प्रकारेण उक्तः पदसमुदायः अवग्रहः विज्ञेयः॥ ७॥

"(पद-ग्रहण में) अन्कार पूर्व में होने पर भी (उसे पद जानना चाहिए)"—इस विधान से "अननूयाजं प्रायणीयम्"—यह भी उदाहरण होता है।[क] (प्रस्तुत सूत्र के अन्त में प्रयुक्त) 'इत्यवग्रहः' (का अर्थ है कि) इस प्रकार (३।२-७

(क) शक्तीवन्त इति शक्ति-वन्तः॥ रथीतमाविति रथि-तमौ॥ त्विषीमत इति त्विषीमते॥ वाशीमन्त इति वाशि-मन्तः॥ रात्रीभिरिति रात्रि-भिः॥ ओषधीभ्य इत्योषधि-भ्यः॥ आहुतीभिरित्याहुति-भिः॥ व्याहृतीभिरिति व्याहृति-भिः॥ स्वाहाकृतीभ्य इति स्वाहाकृति-भ्यः॥ ह्रादुनीभ्य इति ह्रादुनि-भ्यः॥ शचीभिरिति शचि-भिः॥ चितीभ्यामिति चिति-भ्याम्॥ श्रोणीभ्यामिति श्रोणि-भ्याम्॥ पृष्टीभ्य इति पृष्टि-भ्यः॥ पूतीगन्धस्येति पूति-गन्धस्य॥ अभीवृत इत्यभि-वृतः॥ चर्षणीधृत इति चर्षणि-धृतः॥ परीणसमिति परि-नसम्॥ अधीवासमित्यधि-वासम्॥ पारीणह्यस्येति पारि-नह्यस्य॥ विषूवानिति विषु-वान्॥ विषूवन्त इति विषु-वन्तः॥ वसूयुरिति वसु-युः॥ अनूराधा इत्यनु-राधाः॥ अननूयाजमित्यननुयाजम्॥ प्रायणीयमिति प्र-अयनीयम्॥ हनूभ्यामिति हनु-भ्याम्॥ सूयवसिनी इति सु-यवसिनी॥ विभूदाव्न इति विभु-दाव्ने॥

---

(१) ४।६।६ (२) ४।७।१५ (३) ४।५।२ (४) २।१।११
(५) २।४।१ (६) २।१।५ (७) २।६।६ (८) १।६।१०
(९) ६।३।६ (१०) ७।४।१३ (११) ४।२।५ (१२) ५।७।५
(१३) ७।३।१६ (१४) ७।३।१६ (१५) २।२।२ (१६) ३।५।११
(१७) ३।४।११ (१८) २।२।१२ (१९) ४।६।११ (२०) ६।२।१
(२१) १।५।६ (२२) ७।४।३ (२३) ४।३।१३
(२४) ४।४।१० (२५) १।५३ (२६) ६।१।५
(२७) ७।३।१६ (२८) १।१।१३ (२९) ३।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(शक्ती····विभू =) शक्ती रथीत्यादिपदानामन्ते वर्तमानो दीर्घः विभज्यमान-व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। शक्ती—"शक्तीवन्तो गभीराः"[१]। रथी—"रथीतमꣳरथीनाम्"[२]। ष्विधी—"ष्विधीमते पथीनाम्"[३]। वाशी—"वाशीमन्त इष्मिणः"[४]। रात्री—"रात्रीभिरसुम्नन्"[५]। ओषधी—"ओषधीभ्यस्सूपस्थाः"[६]। आहुती—"तं देवा आहुतीभिः"[७]। व्याहृती—"व्याहृतीभिर् हवीꣳषि"[८]। स्वाहाकृती—"स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्येति"[९]। ह्रादुनी—"ह्रादुनीभ्यस्स्वाहा"[१०]। शची—"अभि चष्टे शचीभिः"[११]। चिती—"चितीभ्यामुपायन्"[१२]। श्रोणी—"श्रोणीभ्याꣳस्वाहा"[१३]। पृष्टी—"पृष्टीभिर्दिवम्"[१४]। पूती—"पूतीगन्धस्यापहत्यै"[१५]। अभी—"रथो न योरभीवृतः"[१६]। चर्षणी—"मित्रस्य चर्षणीधृतः"[१७]। परी—"वीरवन्तं परीणसम्"[१८]। अधी—"अधीवासं या हिरण्यान्यस्मै"[१९]। पारी—"पारीणह्यस्येशे"[२०]। शत्रू—"शत्रूयतो हन्ता"[२१]। विषू—"अथो एष वै विषूवान्"[२२]। वसू—"उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः"[२३]। अनू—"अनूयाजेष्वन्वविन्दन्"[२४]। "अन्कारादि च"[२५] इति वचनात् "प्रयाजवदननूयाजम्"[२६]। हनू—"हनूभ्याꣳस्तेनान्भगव"[२७]। सू—"एतद्वै सूयवसम्"[२८]। विभू—"विभूदाव्ने ज्योतिष्मते"[२९]। इत्यवग्रह इतिशब्देन पूर्वोक्तः पदगणो निर्दिश्यते। अत्र द्विविधो नियम

में) कहे गए पद-समुदाय को सावग्रह पदों का पूर्वपद (अवग्रह) जानना चाहिए[क] ॥ ७ ॥

वै० अ०—(शक्ती·····विभू =) शक्ती, रथी इत्यादि; पदों के अन्त में वर्तमान 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।·····।[ख] इत्यवग्रहः—यहाँ 'इति' शब्द के द्वारा पहले कहे गये (३।२–७ में उक्त 'देवा' से 'विभू' पर्यन्त) पद-समूह का निर्देश किया जाता

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'अनू' के ऊकार के उकार होने का विधान किया गया है, तथापि १।५३ की सहायता से 'अननू' का ऊकार भी प्रस्तुत सूत्र से उकार हो जाता है।

(क) पृ० २१३ पर टि० (क) को देखिये।

(ख) ॥ अनूयाजेष्वित्यनु—याजेषु। सुयवसम् ॥ प० पा०

---

(१) ४।६।६ (२) ४।६।३ (३) ४।५।२ (४) २।१।२१
(५) २।४।१ (६) १।२।२ (७) २।६।९ (८) १।६।१०
(९) ६।३।९ (१०) २।४।१३ (११) ४।२।५ (१२) ५।७।५
(१३) ७।३।१६ (१४) ५।७।१७ (१५) २।२।२ (१६) ३।५।११
(१७) ३।४।११ (१८) २।२।१२ (१९) ४।६।११
(२०) ६।२।१ (२१) १।५।६ (२२) ७।४।३
(२३) ४।३।१३ (२४) २।६।९ (२५) १।५३
(२६) ६।१।५ (२७) ४।१।१० (२८) १।७।५ (२९) ३।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इष्यते—"देवाशीका"[१] इत्यादिशब्दगणोऽवग्रहात्मक एव ह्रस्वभाग्भवतीत्येकः। तेन "श्वर्ता"[१] इत्यनयोः "कृष्णश्श्वा चतुरक्षः"[२]। "शुचा ह्यृता लोमतः"[३]। इत्यत्र ह्रस्वत्वं न भवति। कथं तर्हि? "अद्या देवान् जुष्टतमः"[४] "मोषूण इन्द्र"[५]। उत्तरत्रापि ग्रहणात्। तथा देवाशीकादिरेव अवग्रहस्वेन ह्रस्वभाग्भवति। न तु "अवासचस्वा"[६] इत्यादिरित्यपरः। तेन "अनागतं वा एतस्य पयः"[७] इत्यादौ नाशब्दस्य "अप्यकारादि"[८] इति ह्रस्वो न भवति। कथं तर्हि? "अद्याश्वात्"[९]। "सूयवसम्"[१०] इति। पूर्वत्रापि ग्रहणात् ॥ ७ ॥

है। यहाँ दो प्रकार का नियम इष्ट होता है—'देवा', 'शीका' इत्यादि शब्द-समूह सावग्रह पद का पूर्व-पद होने पर ही ह्रस्वत्व को प्राप्त करता है—यह एक नियम है। "कृष्णश्श्वा चतुरक्षः", "शुचा ह्यृता लोमतः"—यहाँ पर 'श्वा' और 'ऋता'—इन दोनों का ह्रस्वत्व नहीं होता है। (पू०) तब "अद्या देवान् जुष्टतमः" और "मोषूण इन्द्र" में (ह्रस्वत्व) कैसे (हुआ)। (सि०) बाद में भी ग्रहण होने से। उसी प्रकार 'देवा', 'शीका' इत्यादि (शब्द-समूह) ही सावग्रह पद का पूर्वपद होने पर 'ह्रस्व' होता है, 'अवा', 'सचस्वा' इत्यादि (शब्द-समूह) नहीं—यह दूसरा (नियम है)। इससे "अनागतं वा एतस्य पयः" इत्यादि में "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद) (जानना चाहिए)" इस आधार पर 'ना' शब्द 'ह्रस्व' नहीं होता है। (पू०) तब "अद्याश्वात्" और "सूयवसम्" में (ह्रस्वत्व) कैसे (हुआ)? (सि०) पहले भी ग्रहण होने से[क] ॥ ७ ॥

(क) प्रथम नियम—

३।२ से लेकर ३।७ तक उल्लिखित 'देवा', 'शीका' इत्यादि पदों का अन्तिम 'दीर्घ' स्वर तभी 'ह्रस्व' होता है, जब ये पद सावग्रह पद के पूर्व-पद होते हैं। यही कारण है कि "कृष्णश्श्वा चतुरक्षः" (कृष्णः। श्वा। चतुरक्ष इति चतुः-अक्षः ॥ प० पा०) तथा "शुचा ह्यृता लोमतः" (शुचा। हि। ऋता। लोमतः ॥ प० पा०)—इन स्थलों पर ३।२ में उल्लिखित 'श्वा' और 'ऋता' का आकार अकार नहीं हुआ है। यहाँ पर 'श्वा' और 'ऋता' सावग्रह पद के पूर्व-पद नहीं हैं।

पूर्वपक्षी—अद्या देवान् जुष्टतमः (अद्य। देवान्। जुष्टतम इति जुष्ट-तमः ॥ प० पा०)। मोषूण इन्द्र (मो इति। स्विति। नः। इन्द्र ॥ प० पा०)।

'अद्या' और 'षू' (सू) पद भी यहाँ पर सावग्रह पदों के पूर्व-पद नहीं हैं।

---

(१) ३।२ (२) ५।५।१९ (३) ५।१।४ (४) ४।६।७
(५) १।८।३ (६) ३।८ (७) २।५।५ (८) १।५२
(९) ३।१।७ (१०) १।७।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवा सचस्वा नुदा मृडा वर्धा शिक्षा रक्षाऽद्या भवा भजा यत्रा चरा पिबा ना धामा धारया धर्षा घा वर्धया बोधाऽत्रा तत्रा मुञ्चाऽश्वस्या पृणस्वा हिष्ठा त्वंतरा जनिष्वा युद्वाऽच्छा ॥ ८ ॥

मा०—अथानवग्रहा व्याख्यास्यन्ते । ये ऽनवग्रहास्ताननुक्रमिष्यामः—इत्येतानि पदानि व्यञ्जनपराणि विभागे ह्रस्वमापद्यन्ते । यथा—"अवा नो देव्या

सू० अ०—अवा, सचस्वा, नुदा, मृडा, वर्धा, शिक्षा, रक्षा, अद्या, भवा,

---

तब क्रमशः ३।५ और ३।७ में उल्लिखित 'अद्या' और 'धू' (सू) के आकार और ऊकार 'ह्रस्व' (अकार और उकार) कैसे हुए हैं ?

सिद्धान्ती—क्रमशः ३।५ और ३।७ में उल्लिखित होने के कारण 'अद्या' और 'धू' (सू) के आकार और ऊकार 'ह्रस्व' (अकार और उकार) नहीं हुए हैं। 'अद्या' और 'सू' के अन्तिम 'दीर्घ' स्वर के 'ह्रस्व' होने का विधान पुनः क्रमशः ३।८ और ३।१४ में किया गया है। इस परवर्ती विधान से ही, सावग्रह पदों के पूर्व-पद न होने पर भी, 'अद्या' और 'धू' (सू) के अन्तिम 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' हुए हैं।

द्वितीय नियम—

३।२ से लेकर ३।७ तक उल्लिखित 'देवा', 'शीका' इत्यादि पद ही ऐसे हैं, जो सावग्रह पदों के पूर्व-पद होने पर ह्रस्वत्व को प्राप्त करते हैं। ३।८ से लेकर ३।१४ तक उल्लिखित 'अवा', 'सचस्वा' इत्यादि पद जब सावग्रह पदों के पूर्व-पद होते हैं, तब ये ह्रस्वत्व को प्राप्त नहीं करते हैं। यही कारण है कि "अनागतं वा एतस्य पयः" (अनागतमित्यना—गतम् । प० पा०)—इस स्थल पर ३।८ में उल्लिखित ना शब्द का आकार अकार नहीं होता है। १।५२ के सामर्थ्य से इस स्थल पर ३।८ की प्राप्ति होती है। किन्तु यहाँ 'अना' सावग्रह पद का पूर्व-पद है। अतः 'अना' का आकार अकार नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—अद्याश्वात् (अद्याश्वादित्यद्य—श्वात् ॥ प० पा०), सूयवसम् (सूयवसमिति सु—यवसम् ॥ प० पा०)। 'अद्या' और 'सू' सावग्रह पदों के पूर्वपद हैं। तब ३।८ और ३।१४ में उल्लिखित 'अद्या' और 'सू' के आकार और ऊकार 'ह्रस्व' कैसे हुए ?

सिद्धान्ती—क्रमशः ३।८ और ३।१४ में उल्लिखित होने के कारण 'अद्या' और 'सू' के आकार और ऊकार 'ह्रस्व' (अकार और उकार) नहीं हुए हैं। 'अद्या' और 'सू' के अन्तिम 'दीर्घ' स्वर के 'ह्रस्व' होने का विधान पहले ३।५ और ३।७ में किया गया है। इस पूर्ववर्ती विधान से ही सावग्रह पदों के पूर्व-पद होने पर 'अद्या' और 'सू' के अन्तिम 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' हुए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृपा"[१]। "सचस्वा नः स्वस्तये"[२]। "प्रणुदा नः सपत्नान्"[३]। "मृडा जरित्रे"[४]। "वर्द्धा नो अमवत्"[५]। "शिक्षा नो अस्मिन्"[६]। "रक्षा च नः"[७]। "अद्या देवान् जुष्टतमः"[८]। "तूर्णितमो भवा पायुः"[९]। "व्रजे भजा त्वं नः"[१०]। "यत्रा नरः"[११]। "प्र चरा सोम"[१२]। "पिबा सोममिन्द्र"[१३]। "ना ह देभुः"[१४]। "धामा ह यत्ते"[१५]। "बृहस्पते धारया वसूनि"[१६]। "धर्षा मानुषान्"[१७]। "उत वा घा स्यालात्"[१८]। "तमग्ने वर्द्धया त्वम्"[१९]। "बोधा नो अस्य"[२०]। "अत्रा ते भद्राः"[२१]। "तत्रा रथमुप"[२२]। "प्र मुञ्चा व्यंहः"[२३]। "अश्वस्या विशस्ता"[२४]। "पूणस्वा घृतेन"[२५]। "आपो हि ष्ठा मयोभुवः"[२६]। हिष्ठेति किम्? "प्रतिष्ठा वा एकविँशः"[२७]। "अग्ने त्वं तरा मृधः"[२८]। त्वन्तरेति किम्? "अन्तरतरा तसन्नतः"[२९]। "जनिष्वा हि जेन्यः"[३०]। "युक्ष्वा हि देवहूतमान्"[३१]। "अच्छावोचो विदुष्टरः"[३२] ॥ ८ ॥

त्रि०—अवा सचस्वा नुदा मृडा वर्द्धा शिक्षा रक्षा अद्या भवा भजा यत्रा चरा पिबा ना धामा धारया धर्षा घा वर्द्धया बोधा अत्रा तत्रा मुञ्चा अश्वस्या पूणस्वा हिष्ठा त्वन्तरा जनिष्वा युक्ष्वा अच्छा इत्येतेष्वनवग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो

भजा, यत्रा, चरा, पिबा, ना, धामा, धारया, धर्षा, घा, वर्द्धया, बोधा, अत्रा, तत्रा, मुञ्चा, अश्वस्या, पूणस्वा, हिष्ठा, त्वन्तरा, जनिष्वा, युक्ष्वा, अच्छा (पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—अवा·····अच्छा—ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है।·····।क

(क) अव। नः॥ सचस्व। नः॥ प्रेति। नुद। नः॥ मृड। जरित्रे॥ वर्ध। नः॥ शिक्ष। नः॥ रक्ष। च॥ अद्य। देवान्॥ भव। पायुः॥ व्रजे। भज॥ यत्र। नरः॥ प्रेति। चर। सोम॥ पिब। सोमम्॥ रिपवः। नः॥ प्राणा इति प्र–अनाः॥ धाम। ह॥ धारय। वसूनि॥ धर्ष। मानुषान्॥ वा। घ। स्यालात्॥ अग्ने। वर्धय। त्वम्॥ बोध। नः। अस्य॥ अत्र। ते। रूपम्॥ तत्र। रथम्॥ प्रेति। मुञ्च॥ त्वष्टुः। अश्वस्य। विशस्तेति वि–शस्ता॥

---

(१) ४।१।४	(२) १।५।६	(३) ४।३।१२	(४) ४।५।१०
(५) २।६।११	(६) ७।५।७	(७) ४।५।१०	(८) ४।६।७
(९) १।२।१	(१०) १।६।१२	(११) ३।१।११	(१२) १।२।१०
(१३) २।४।१४	(१४) १।२।१४	(१५) ३।१।११	(१६) १।३।७
(१७) १।३।८	(१८) १।१।४	(१९) ४।६।३	(२०) ४।२।३
(२१) ४।६।७	(२२) ४।६।६	(२३) ४।७।१५	(२४) ४।६।९
(२५) १।५।३	(२६) ४।१।५	(२७) ५।२।३	(२८) ४।१।९
(२९) ६।२।२	(३०) ४।१।३	(३१) २,६।११	(३२) २।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वमापद्यते। यथा—"अवा नो देव्या कृपा"[१]। "सचस्वा नस्स्वस्तये"[२]। "प्रणुदा नस्सपत्नान्"[३]। "मृडा जरित्रे रुद्र"[४]। "वर्द्धा नो अमवच्छवः"[५]। "शिक्षा नो अस्मिन्"[६]। "रक्षा च नो अधि"[७]। "अद्या देवान् जुष्टतमः"[८]। "भवा पायुर्विशो अस्याः"[९]। "व्रजे भजा त्वं नः"[१०]। "यत्रा नरो मरुतः"[११]। "प्र चरा सोम दुर्यान्"[१२]। "पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा"[१३]। "रिपवो ना ह देभुः"[१४]। "अपि विकृतम्"[१५], "अप्यकारादि"[१६] इति वचनाभ्यां "प्राणा वा अꣳशवः"[१७] इत्यत्र ह्रस्वादेशः किं न स्यात्? मैवम्। "अपि विकृतम्"[१५] इति वचनं कण्ठोक्तपदविषयम्, न त्वकारादिपदविषयम्। प्राणा

(पू०) "(पद-ग्रहण में) विकार को प्राप्त (पद) को भी (पद जानना चाहिए)" तथा "(पद-ग्रहण में) अकार यदि आदि में हो तब भी (उसे पद जानना चाहिए)"—इन (सूत्रों) से "प्राणा वा अꣳशवः"—यहाँ 'ह्रस्व' का आदेश क्यों नहीं होता? (सि०) ऐसी बात नहीं है। "(पद-ग्रहण में) विकार को प्राप्त (पद) को भी (पद जानना चाहिए)"—यह नियम पृथक् रूप से कहे गये पद के विषय में लागू होता है न कि अकारादि (प्रारम्भ में अकार के जोड़ने से बने हुए) पद के विषय में। "प्राणाः" इसके भी अकारादि होने से यह विधि लागू नहीं होती है।[क]

एति। पृणस्व। घृतेन॥ हि। स्थ॥ प्रतिष्ठेति प्रति—स्थ॥ त्वम्। तर। मृधः॥ अन्तरतरेत्यन्तर—तरा॥ जनिष्व। हि॥ युक्ष्व। हि॥ अक्ष। नक्षि॥ प०पा०।

(क) १।५१ में यह विधान किया गया है कि किसी पद के विषय में विहित नियम उस पद के विकृत रूप पर भी लागू होता है। १।५२ में यह विधान किया गया है कि किसी पद के विषय में विहित नियम उस पद पर तब भी लागू होता है, जब उसके पूर्व में अकार जोड़ दिया गया है। उपर्युक्त दो सूत्रों के सामर्थ्य से 'ना' के ह्रस्वत्व का विधायक सूत्र (३।८) "प्राणा वा अꣳशवः" (प्राणा इति प्र–अनाः। वै। अꣳशवः॥ प० पा०) के 'प्राणा' (प्र अणा) शब्द पर भी लागू होता है। इससे पद-पाठ में 'प्राणा' के आकार का अकार हो जाना चाहिए। **सिद्धान्ती**—किसी पद के विषय में विहित नियम उसके विकृत रूप पर १।५१ से तभी लागू होता है, जब उस मूल-पद का स्पष्ट रूप से सूत्र में ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत सूत्र (३।८) से 'प्राणा' (प्र अणा) का आकार अकार नहीं होता है, क्योंकि 'अना' का सूत्र में ग्रहण नहीं किया गया है। सूत्र में उल्लिखित 'ना' के प्रारम्भ में १।५२ से 'अ' जोड़कर 'अना' बना है। पृ० १२४ पर टि० (ख) को भी देखिए।

---

(१) ४।१।४ (२) १।५।६ (३) ४।३।१२ (४) ४।५।१०
(५) २।६।११ (६) ७।५।७ (७) ४।५।१० (८) ४।६।७
(९) १।२।१४ (१०) १।६।१२ (११) ३।१।११ (१२) १।२।१०
(१३) २।४।१४ (१४) १।२।१४ (१५) १।५१
(१६) १।५२ (१७) ६।४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यस्यापि अकारादित्वान्नायं विधिः। तर्हि वैकृतत्वाभावादना इत्यस्येङ्ग्यांशस्य किं न स्यादयं विधिः? एवंरूपस्य संहितायां दीर्घाभावात्। "धामा ह यत्ते अजर"[1]। "बृहस्पते धारया वसूनि"[2]। "धर्षा मानुषानन्नयः"[3]। "उत वा घा स्यालात्"[4]। "तमग्ने वद्धंया त्वम्"[5]। "बोधा नो अस्य वचसो यविष्ठ"[6]। "अत्रा ते रूपम्"[7]। "तत्रा रथमुप"[8]। "प्र मुञ्चा स्वस्तये"[9]। "एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता"[10]। "सप्त योनीरा पृणस्वा घृतेन"[11]। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"[12]। हि इति किम्? "प्रतिष्ठा वा एकविंशः"[13]। "अग्ने त्वं तरा मृधः"[14]। त्वमिति किम्? "अन्तरतरा तप्तव्रतो भवति"[15]। "जनिष्वा हि जेन्यः"[16]। "युद्धा हि देवहूतमान्"[17]। "अच्छा नक्षि द्युमत्तमः"[18] ॥ ८ ॥

वै०—(अवा··· अच्छा =) अवासचस्वेत्यादिपदानाम्; अनवग्रहणामन्ते दीर्घो

तब वैकृतत्व का अभाव होने से 'अना' इस सावग्रह पद (इंग्य) के अंश में यह विधि क्यों नहीं लागू होती है? (सि०) इस प्रकार का रूप (= सावग्रह पद का अंश = अना) संहिता-पाठ में दीर्घ नहीं है।क·····। "आपो हिष्ठा मयोभुवः" 'हि'—यह क्यों (कहा)? "प्रतिष्ठा वा एकविंशः"ख। "अग्ने त्वन्तरा मृधः"। 'त्वम्'—यह क्यों (कहा)? "अन्तरतरा तप्तव्रतो भवति"।ग——॥ ८ ॥

वै० अ०—(अवा··· अच्छा =) अवा, सचस्वा इत्यादि पद; जब पूर्व-पद नहीं होते तो इनके अन्त में वर्तमान 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन'

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र (३।८) मे संहितास्थ 'ना' के आकार के अकार होने का विधान किया गया है। १।५२ के सामर्थ्य से संहितास्थ 'अना' का आकार भी अकार होना चाहिए, चाहे वह 'अना' स्वतन्त्र पद हो अथवा सावग्रह पद का एक अंग हो।

सिद्धान्ती—संहिता में कहीं भी 'अना' पद नहीं मिलता है। अतः 'अना' के आकार के अकार होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है।

(ख) प्रस्तुत उदाहरण में 'ष्ठा' के पूर्व में 'हि' नहीं है अपितु 'प्रति' है। अतः 'ष्ठा' का अन्त्य 'स्वर' पद-पाठ में 'ह्रस्व' नहीं होता है।

(ग) प्रस्तुत उदाहरण में 'तरा' के पूर्व में 'त्वं' नहीं अपितु 'अन्तर' है। अतः 'तरा' का आकार पद-पाठ में 'ह्रस्व' नहीं होता है।

---

(१) ३।१।११	(२) १।३।७	(३) १।३।८	(४) १।१।१४
(५) ४।६।३	(६) ४।२।३	(७) ४।६।७	(८) ४।६।६
(९) ३।२।८	(१०) ४।६।९	(११) १।५।३	(१२) ४।१।५
(१३) ५।२।३	(१४) ४।१।९	(१५) ६।२।२	(१६) ४।१।३
(१७) २।६।११	(१८) १।५।६		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभज्यमानव्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। अवा—"अवा नो देव्या कृपा"[१]। सचस्वा—"सचस्वा नस्स्वस्तये"[२]। नुदा—"प्रणुदा नस्सपत्नान्"[३]। मृडा—"मृडा नो रुद्र"[४]। वर्धा—"वर्धा नो अमवच्छवः"[५]। शिक्षा—"शिक्षा नो अस्मिन्"[६]। रक्षा—"रक्षा राजन्नघायतः"[७]। अद्या—"अद्या वृणीमहे"[८]। भवा—"भवा तोकाय"[९]। भजा—"व्रजे भजा त्वं नः"[१०]। यन्ना—"यन्ना नरो मरुतः"[११]। चरा—"प्र चरा सोम दुर्यान्"[१२]। पिबा—"पिबा सोममिन्द्र"[१३]। ना—"ना ह देभुः"[१४]। धामा—"धामा ह यत्ते"[१५]। धारया—"धारया वसूनि"[१६]। "अग्ने पिन्वस्व धारया"[१७] इत्यत्र ह्रस्वत्वं न भवति। विभागाभावात्। धर्षा—"धर्षा मानुषान्"[१८]। घा—"उत वा घा स्यालात्"[१९]। वर्धया—"तमग्ने वर्धया त्वम्"[१०]। बोधा—"बोधा स बोधीत्युप तिष्ठते"[२१]। अन्ना—"अन्ना ते भद्राः"[२२]। तन्ना—"तन्ना रथमुप"[२३]। मुञ्चा—"मुञ्चा व्यꣳहः"[२४]। अश्वस्या—"अश्वस्या विशस्ता"[२५]। पृणस्वा—"आ पृणस्वा घृतेन"[२६]। हिपदेन पूर्वेणोपलक्षिते देशे स्थाशब्दो ह्रस्वभाक्। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"[२७]। हीत्युपबन्धेन किम्? "अजाऽसि रयिष्ठा"[२८]। त्वं तरा—त्वं पदेन पूर्वेणोपलक्षिते देशे तराशब्दो ह्रस्वभाक्। "अग्ने त्वं तरा मृधः"[२९]। त्वमित्युपबन्धेन किम्? "प्रजा वा उत्तरा देवयज्या पशवः"[३०]। ननु त्वन्तरेति तुशब्दपूर्वकोऽन्तराशब्दः किं न स्यात्। सुप्रायणा भवन्तु।

बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।.....। पूर्ववर्ती 'हि' शब्द से लक्षित (विशिष्ट) स्थल में 'स्था' शब्द (का अन्तिम 'स्वर') 'ह्रस्व' होता है। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"। 'हि'—इस उपबन्ध से क्या (लाभ) है? "अजाऽसि रयिष्ठा"।[क] त्वं तरा—पूर्ववर्ती 'त्वम्' पद से लक्षित (विशिष्ट) स्थल में 'तरा' शब्द (का अन्तिम स्वर) 'ह्रस्व' हो जाता है। "अग्ने त्वं तरा मृधः"। 'त्वम्'—इस उपबन्ध से क्या (लाभ) है? "प्रजा वा उत्तरा देवयज्या पशवः"[ख]। (पू०)

(क) रयिष्ठेति रयि–स्था ॥ प० पा०

प्रस्तुत उदाहरण में 'ष्ठा' के पूर्व में 'हि' नहीं अपितु 'रयि' है। अतः 'ष्ठा' का अन्त्य स्वर पद-पाठ में ह्रस्व नहीं होता है।

(ख) प्रजेतिप्र-जा। वै। उत्तरेत्युत्-तरा। देवयज्येति देव-यज्या। पशवः ॥ प० पा०

यहाँ 'तरा' के पूर्व में 'त्वम्' न होकर 'उत्' है। अतः 'तरा' का आकार अकार नहीं हुआ है।

---

(१) ४।१।४	(२) १।५।६	(३) ४।३।१२	(४) ४।५।१०
(५) २।६।११	(६) ७।५।७	(७) २।३।१४	(८) ३।४।११
(९) १।१।१४	(१०) १।६।१२	(११) ३।१।११	(१२) १।२।१०
(१३) २।४।१४	(१४) १।२।१४	(१५) ३।१।११	(१६) १।६।७
(१७) १।५।३	(१८) १।३।८	(१९) १।१।१४	(२०) ४।६।३
(२१) ५।२।२	(२२) ४।६।७	(२३) ४।६।६	(२४) ४।७।१५
(२५) ४।६।९	(२६) १।५।३	(२७) ४।१।५	
(२८) ३।४।२	(२९) ४।१।९	(३०) २।६।७	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अन्तरा मित्रावरुणा"[1] इति 'पदग्रहणेषु पदं गम्येत"[2] इति नियमात्। जनिष्वा—"जनिष्वा हि जेन्यः"[3]। युज्वा—"युज्वा हि देवहूतमान्"[4]। अच्छा—"अग्ने अच्छा वदेह नः"[5] ॥ ८ ॥

अधाऽग्नियाज्ये ॥ ९ ॥

मा०—चार्थे द्वन्द्वसमासः। अग्निश्च याज्या च अग्नियाज्ये, तस्मिन्नग्नियाज्ये। अधा इत्येतस्मिन् ग्रहणे व्यञ्जनपरः पदकाले ह्रस्वमापद्यते। अग्निरित्यग्निकाण्डस्याख्या। तत्र महापृष्ठं वर्जयित्वा "उभा वामिन्द्राग्नी"[6] इत्येवमादीनां प्रश्नोत्तमादीनामनुवाकानां यावत् "अग्निर्वृत्राणि"[7] इति, "युज्वा हि"[8] इत्येतस्यानुवाकस्य च याज्येति संज्ञा भवति। यथा अग्निकाण्डे—"अधा ह्यग्नेः क्रतोः"[9]। याज्यायाः—"अधा ते सुम्नम्"[10]। "अधा यथा नः"[11]। अग्नियाज्येति किमर्थम्? "तत्प्रत्ययग्रहादधामेति"[12] ॥ ९ ॥

त्रि०—अग्निश्च याज्याश्च अग्नियाज्यं तस्मिन्। "चार्थे द्वन्द्वः" इति समासः।

'त्वन्तरा'—इसके अनुसार 'तु' शब्दपूर्वक 'अन्तरा' शब्द (में ह्रस्वत्व) क्यों नहीं होता है? (जैसे) "सुप्रायणा भवन्तु। अन्तरा मित्रावरुणा" में 'पद के उच्चारणों में उस पद को (ही) समझना चाहिए' इस नियम से ('तु' शब्द पूर्वक 'अन्तरा' पद का ग्रहण नहीं होता है)।[क]... ॥ ८ ॥

सू० अ०—'अग्नि' और 'याज्या' (अनुवाकों) में 'अधा' (का अन्तिम 'स्वर' 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—'अग्नि' और 'याज्या' = अग्नियाज्य, उसमें। 'चकार' अर्थ में

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र (३।८) में यह विधान किया गया है कि 'त्वम्' पद पूर्व में होने पर 'तरा' पद का आकार अकार हो जाता है। उल्लिखित उदाहरण में 'भवन्तु' के 'तु' और परवर्ती 'अन्तरा' पद की संधि होने पर 'त्वन्तरा' (= त्वम् + तरा) रूप निष्पन्न हो सकता है। अतः प्रस्तुत सूत्र (३।८) के अनुसार उल्लिखित उदाहरण के 'अन्तरा' पद को पद-पाठ में 'अन्तर' हो जाना चाहिए। किंतु पद-पाठ में ऐसा होता नहीं है। इसका क्या कारण है?

सिद्धान्ती—१।५० में यह विधान किया गया है कि सूत्र में उद्धृत पद से संहितास्थ उसी पद को समझना चाहिए, उसके समान स्वरूप वाले अन्य पद को नहीं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'त्वम्' पद के बाद में स्थित 'तरा' पद के विषय में 'ह्रस्वत्व' का विधान किया गया है, 'तु' शब्द के बाद में स्थित 'अन्तरा' पद के विषय में नहीं। यही कारण है कि 'अन्तरा' का 'अन्तर' नहीं होता है।

---

(१) ५।१।११ (२) १।५० (३) ४।१।३
(४) २।६।११ (५) १।७।१० (६) १।१।१४
(७) ४।३।१३ (८) २।६।११ (९) ४।४।४
(१०) २।६।११ (११) २।६।१२ (१२) ३।४।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अग्निः' इत्यग्निप्रकाशकमन्त्रा लक्ष्यन्ते चतुर्थकाण्ड इत्यर्थः। उभावामिन्द्राग्नी[1] प्रभृत्यग्निर्वृत्राणि[2] पर्यन्ताः प्रश्नोत्तमानुवाका याज्यासंज्ञका भवन्ति, 'युक्त्वा हि'[3] इत्यनुवाकश्च। (अग्नियाज्ये =) अत्र विषये; अधा इत्येतस्मिन् ग्रहणे अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"अधा ह्यग्ने क्रतोः"[4]। "अधा च नश्शर्म यच्छ"[5]। "अधा ते सुम्नमीमहे"[6]। "अधा यथा नः"[7]। अग्नियाज्ये इति किम्? "अधा मेति तद्विष्णवेऽति"[8] ॥ ९ ॥

में द्वन्द्व समास (अग्नियाज्यम्) है। (सूत्र में प्रयुक्त) 'अग्नि'—इस शब्द से अग्नि के प्रकाशक (प्रतिपादक) मन्त्र कहे जाते हैं, चतुर्थ काण्ड—यह अर्थ है।[क] 'उभा वामिन्द्राग्नी' से लेकर 'अग्निर्वृत्राणि' पर्यन्त (प्रत्येक) प्रश्न के उत्तम (अन्तिम) अनुवाक 'याज्या' संज्ञक होते हैं, "युक्त्वा हि"—यह अनुवाक भी ('याज्या' संज्ञक है)। (अग्नियाज्ये = 'अग्नि' और 'याज्या' अनुवाकों में)—इन स्थलों में; अधा—इस वैदिक पद में अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—"अधा ह्यग्ने क्रतोः"। "अधा च नश्शर्म यच्छ"। "अधा ते सुम्नमीमहे"। "अधा यथा नः"।[ख] 'अग्नि' और 'याज्या' (अनुवाकों में—यह क्यों (कहा)? "अधा मेति तद्विष्णवेऽति"[ग] ॥ ८ ॥

(क) प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द से चतुर्थ काण्ड के सब मन्त्रों का ग्रहण होता है।

(ख) अध। हि। अग्ने ॥ अध। च ॥ अध। ते ॥ प० पा०

(ग) अधा। मा। इति। तत्। विष्णवे। अति ॥ प० पा०

'अधा' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि यह मन्त्र न चतुर्थ काण्ड (अग्नि) का है और न याज्या संज्ञक अनुवाकों का है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'याज्या' शब्द से अधोलिखित तेईस अनुवाकों के मन्त्रों का ग्रहण होता है—

(१) उभा वामिद्रानी आहुवध्या·····	(१।१।१४)
(२) कृष्णुष्व पाजः प्रसितिं न·····	(१।२।१४)
(३) त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो ···· ····	(१।३।१४)
(४) यस्त्वा हृदा कीरिणा ···· ····	(१।४।४६)
(५) वैश्वानरो न ऊत्याऽऽप्र यातु ···· ····	(१।५।११)
(६) इन्द्रं वो विश्वतस्परि ···· ···· ····	(१।६।१२)
(७) अन्वह मासा अन्विद्वनान्यन्वो ···· ····	(१।७।१३)

---

(१) १।१।१४ (२) ४।३।१३ (३) २।६।११ (४) ४।४।४
(५) ४।५।१० (६) २।६।११ (७) २।६।१२ (८) २।४।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अग्निश्च याज्याश्च अग्नियाज्यम्। अग्निशब्देन चित्याग्निमन्त्ररूपाः "युञ्जानः प्रथमं मनः"[1] इत्यादिसप्तप्रपाठका उच्यन्ते। याज्याशब्देन "उभा वामिन्द्राग्नी"[2] इत्यादयः "अग्निर्वृत्राणि"[3] पर्यन्ताः प्रश्नोत्तमानुवाकाः, "युक्त्वा हि देवहूतमान्"[4] इत्येष चेति त्रयोविंशतिरुच्यन्ते। (= अग्नियाज्ये) तत्र; अधाशब्दस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—अग्नौ—"अधा ह्यग्ने"[5]। "अधा च नश्शर्म"[6]। याज्यासु खल्वपि—"अधा ते सुम्नमीमहे"[4]। "अधा यथा नः"[7]। अग्नियाज्य इति

वै० अ०—अग्नि और याज्या = अग्नियाज्यम्। 'अग्नि' शब्द से अग्नि-चयन के मन्त्ररूप "युञ्जानः प्रथमं मनः" इत्यादि सात प्रपाठक (= पूरा चतुर्थ काण्ड) कहे जाते हैं। 'याज्या' शब्द से "उभा वामिन्द्राग्नी" से लेकर "अग्निर्वृत्राणि" पर्यन्त (प्रत्येक) प्रश्न के उत्तम (अन्तिम) अनुवाक तथा "युक्त्वा हि देवहूतमान्"—यह (अनुवाक)—ये तेईस अनुवाक कहे जाते हैं। वहाँ (= अग्नियाज्ये = 'अग्नि' और 'याज्या' अनुवाकों में) अधा शब्द के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' ('स्वर') विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है। जैसे—अग्नि (= चतुर्थ काण्ड) में—"अधा ह्यग्ने"। "अधा च नश्शर्म"। 'याज्या' (अनुवाकों) में भी—"अधा ते सुम्नमीमहे"। "अधा यथा नः"।

---

(८) अग्नाविष्णू महि तद्वा .... (१।८।२२)
(९) इन्द्रं वो विश्वतस्परि .... (२।१।११)
(१०) हिरण्यगर्भ आपो ह यत्..... .... (२।२।१२)
(११) स प्रत्नवन्नि काव्येन्द्र.... .... (३।३।१४)
(१२) नवोनवो भवति जायमानो .... (२।४।१४)
(१३) आयुष्ट आयुर्दा अग्न आ..... .... (२।५।१२)
(१४) उशन्तस्त्वा हवामह .... (२।६।१२)
(१५) अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव..... (३।१।११)
(१६) प्र सो अग्ने तवोतिभिः.... .... (३।२।११)
(१७) इदं वामास्ये हविः .... (३।३।११)
(१८) त्वमग्ने बृहद्वयो दधासि..... .... (३।४।११)
(१९) प्र देवं देव्या धिया भरता.... .... (३।५।११)
(२०) अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः.... .... (४।१।११)
(२१) इन्द्राग्नी रोचना दिवः .... (४।२।११)
(२२) अग्निर्वृणाणि जङ्घनद .... (४।३।१३)
(२३) युक्त्वा हि देवहूतमाꣳ अश्वाꣳ .... (२।६।११)

---

(१) ४।१।१ (२) १।१।१४ (३) ४।३।१३ (४) २।६।११
(५) ४।४।४ (६) ४।५।१० (७) २।६।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "अधा मेति तद्विष्णवे"[१] । ननु अधा मेत्यत्र पदान्तस्य कः प्रसङ्गः । तदुच्यते—संहितायां यः पदान्तो दीर्घः स इह कार्यभागुच्यते । तत्र विसर्जनीयलोपाद्भवत्येवायं दीर्घः पदान्त इत्यस्ति प्रसङ्गः । एवं "भरता याज्यासु"[२] इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

कुत्रा दक्षिणेना स्वेना हन्तना जगामा रुहेमा विद्मध्यामा चकृमा क्षामा स्तरीमा भरेमा वर्षयथेरयथाऽऽरिथा पाथाऽथा सिञ्चथा जनयथा जयतोक्षताऽवता याता शृणुता कृणुता बिभृता ॥ १० ॥

मा०—इत्येतानि पदानि व्यञ्जनपराणि पदकाले ह्रस्वमापद्यन्ते । यथा—"कुत्रा चिद्यस्य"[३] । "दक्षिणेना वसूनि"[४] । "स्वेना हि वृत्रम्"[५] । "तपसा हन्तना तम्"[६] । "आ जगामा परस्याः"[७] । "आ रुहेमा स्वस्तये"[८] । "विद्मा ते अग्ने"[९] । "ऋध्यामा त ओहैः"[१०] । "चकृमा कच्चनागः"[११] । "क्षामा भिन्दन्तः"[१२] । "सुष्टरीमा जुषाणा"[१३] । "प्र भरेमा मनीषाम्"[१४] । "वर्षयथा पुरीषिणः", "उदीरयथा मरुतः"[१५] । "उदारिथा यजे"[१६] । "पाथा दिवो वि महसः"[१७] । "अथा सोमस्य"[१८] । "सिञ्चथा मधु"[१९] । "जनयथा च नः"[२०] । "उप प्रेत जयता नरः"[२१] । "घृतमुक्षता मधुवर्णम्"[२२] । "अवता हवेषु"[२३] । "रथैर्याता हिरण्ययैः"[२४] । "मरुतः शृणुता हवम्"[२५] । "कृणुता बृहन्नमः"[२६] । "बिभृतामुपस्थे"[२७] ॥ १० ॥

'अग्नि' और 'याज्या' (अनुवाकों) में—यह क्यों (कहा) ? "अधा मेति तद्विष्णवे" । (पू०) 'अधा मे'—यहाँ पदान्त का क्या प्रसङ्ग है ? (सि०) इसका उत्तर देते हैं—संहिता (—पाठ) में जो पदान्त 'दीर्घ' ('स्वर') (होता है) वह यहाँ कार्य (= ह्रस्वत्व) को प्राप्त करने वाला कहा जाता है । वहाँ (= संहिता पाठ में) विसर्जनीय का लोप होने से पदान्त 'दीर्घ' होता ही है—यह प्रसङ्ग है । इस प्रकार "भरता याज्यासु"—यहाँ भी देखना चाहिए[क] ॥ ९ ॥

सू० अ०—कुत्रा, दक्षिणेना, स्वेना, हन्तना, जगामा, रुहेमा, विद्मा, ऋध्यामा, चकृमा, क्षामा, स्तरीमा, भरेमा, वर्षयथा, ईरयथा, आरिथा, पाथा, अथा, सिञ्चथा, जनयथा, जयता, उक्षता, अवता, याता, शृणुता, कृणुता तथा बिभृता (ये पूर्व-पद न

(क) पृ० २३७ पर टि० (ख) को देखिए ।

---

(१) २।४।१२	(२) ३।११	(३) २।१।११	(४) ३।४।११
(५) ७।४।१५	(६) ४।३।१३	(७) १।६।१२	(८) १।५।११
(९) ४।२।२	(१०) ४।४।४	(११) ४।७।१५	(१२) २।६।१२
(१३) ५।१।११	(१४) १।६।१२	(१५) २।४।८	(१६) ४।६।५
(१७) ४।२।११	(१८) १।१।१४	(१९) ३।१।११	(२०) ४।१।५
(२१) ४।६।४	(२२) ४।३।१३	(२३) ४।६।४	(२४) ४।७।१२
(२५) ४।२।११	(२६) ५।७।२	(२७) ४।६।६	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—कुत्रा दक्षिणेना स्वेना हन्तना जगामा रुहेमा विद्मा ऋध्यामा चकृमा क्षामा स्तरीमा भरेमा वर्षयथा ईरयथा आरिथा पाथा अथा सिञ्चथा जनयथा जयता उक्षता अवता याता शृणुता कृणुता बिभृता एतेष्वनवग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"कुत्रा चिद्यस्य समृतौ"[१]। "दक्षिणेना वसूनि"[२]। "स्वेना हि वृत्रꣳ-शवसा"[३]। "तपसा हन्तना तम्"[४]। "आ जगामा परस्याः"[५]। "अन्नवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये"[६]। "विद्मा ते अग्ने"[७]। "ऋध्यामा त ओहैः"[८]। "चकृमा कच्चनागः"[९]। "क्षामा रेरिहद्वीरुधस्समञ्जन्"[१०]। "सुष्टरीमा जुषाणा"[११]। "अꣳहोमुचे प्र भरेमा मनीषाम्"[५]"। वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः"[१२]। "उदीरयथ्रा मरुतः"[१२]। "उदारिथा यजे तम्"[१३]। "क्षये पाथा दिवो विमहसः"[१४]। "अथा सोमस्य"[१५]। "यत्रा नरो मरुत-स्सिञ्चथा मधु"[१६]। "आपो जनयथा च नः"[१७]। "उप प्रेत जयता नरस्स्थिराः"[१८]। "घृतमुक्षता मधुवर्णम्"[१९]। "अस्मान् देवा अवता हवेषु"[२०]। "देवा रथैर्याता हिर-ण्ययैः"[२१]। "मरुतश्शृणुता हवम्"[२२]। "संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः"[२३]। "पुत्रं बिभृता स्वेनम्"[२४] ॥ १० ॥

वै०—(कुत्रा···बिभृता =) कुत्रादक्षिणेनेत्यादिपदानाम्; अनवग्रहाणामन्ते दीर्घौ

हों तो इनका अन्तिम स्वर, विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—कुत्रा···बिभृता—ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।···क ॥ १० ॥

वै० अ०—(कुत्रा···बिभृता =) कुत्रा, दक्षिणेना इत्यादि पदः जब पूर्व-पद

(क) कुत्र। चित्॥ दक्षिणेन। वसूनि॥ स्वेन। हि॥ हन्तन। तम्॥ जगाम। परस्याः। एति। रुहेम॥ विद्म। ते॥ ऋध्याम। ते॥ चकृम। कत्। क्षाम॥ रेरिहत्॥ सुष्टरीमेति सु—स्तरीम॥ प्रेति। भरेम॥ वर्षयथ। पुरीषिणः॥ उदिति। ईरयथ॥ उदारिथेत्युत्—आरिथ॥ पाथ। दिवः॥ अथ। सोमस्य॥ यत्र। नरः। मरुतः। सिञ्चथ। मधु॥ आपः। जनयथ॥ इत। जयत॥ घृतम्। उक्षत॥ अवत। हवेषु॥ रथैः। यात॥ शृणुत। हवम्॥ कृणुत। बृहत्॥ बिभृत्। स्विति॥ प० पा०

---

(१) २।१।११ (२) ३।४।११ (३) ७।४।१५ (४) ४।३।१३
(५) १।६।१२ (६) १।५।११ (७) ४।२।२ (८) ४।४।४
(९) ४।७।१५ (१०) १।३।१४ (११) ५।१।११ (१२) २।४।८
(१३) ४।६।५ (१४) ४।२।११ (१५) १।१।१४ (१६) ३।१।११
(१७) ४।१।५ (१८) ४।६।४ (१९) ४।३।१३ (२०) ४।६।४
(२१) ४।७।१२ (२२) ४।२।११ (२३) ५।७।२ (२४) ४।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभज्यमानव्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—कुत्रा—"कुत्रा चिद्यस्य"[१]। दक्षिणेना—"दक्षिणेना वसूनि"[२]। स्वेना—"स्वेना हि वृत्रम्"[३]। हन्तना—"तपसा हन्तना तम्"[४]। जगामा—"आ जगामा परस्याः"[५]। रुहेमा—"आ रुहेमा स्वस्तये"[६]। विद्मा—"विद्मा ते अग्ने"[७]। ऋध्यामा—"ऋध्यामा त ओहैः"[८]। चकृमा—"अविद्वाꣳसश्चकृमा कच्चनागः"[९]। क्षामा—"द्यावा क्षामा रुक्मः"[१०]। स्तरीमा—"सुष्टरीमा जुषाणा"[११]। भरेमा—"अꣳहोमुचे प्र भरेमा मनीषाम्"[५]। वर्षयथा—"वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः"[१२]। ईरयथा—"उदीरयथा मरुतः"[१३]। आरिधा—"उदारिधा यजे"[१४]। पाथा—"क्षये पाथा दिवो विमहसः"[१५]। अथा—"अथा सपत्नाꣳइन्द्रो मे"[१५]। सिञ्चथा—"सिञ्चथा मधु"[१६]। जनयथा—"आपो जनयथा च नः"[१७]। जयता—"उप प्रेत जयता नरः"[१८]। उञ्जता—"घृतमुक्षता मधुवर्णम्"[१९]। अवता—"प्रावता वचः"[२०]। याता—"याता हिरण्ययैः"[२१]। शृणुता—"मरुतश्शृणुता हवम्"[२२]। कृणुता—"कृणुता बृहन्नमः"[२३]। बिभृता—"बिभृता स्वेनम्"[२४] ॥ १० ॥

भरता याज्यासु ॥ ११ ॥

मा०—भरता इत्येतत्पदं याज्यासु व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"भरता वसुवित्तमम्"[२५]। याज्यास्विति किम्? "एष वो भरता राजा"[२६] ॥ ११ ॥

त्रि०—भरता इत्येतस्मिन् ग्रहणे अन्त्यस्वरो याज्यासु विषये विभागे व्यञ्जनपरो

नहीं होते तो इनके अन्त में वर्तमान 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।.....क ॥ १० ॥

सू० अ०—'याज्या' (अनुवाक्यों) में 'भरता' (का अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—भरता—इस वैदिक पद में अन्तिम 'स्वर'; याज्यासु = 'याज्या' संज्ञक स्थलों में; विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।

(क) द्यावा। क्षाम। रुक्मः ॥ अथ। सपत्नान् ॥ प्रेति। जयत। नरः ॥ प्रेति। अवत। वचः ॥

---

(१) २।१।११ (२) ३।४।११ (३) ७।४।१५ (४) ४।३।१३
(५) १।६।१२ (६ (१।५।११ (७) ४।२।२ (८) ४.४।४
(९) ४।७।१५ (१०) ४।१।९ (११) ५।१।११ (१२) २।४।८
(१३) ४.६।५ (१४) ४।२।११ (१५) १।१।१२ (१६) ३।१।११
(१७) ४।१।५ (१८) ४।६।४ (१९) ४।३।१३ (२०) ४।२।६
(२१) ४।७।१२ (२२) ४।२।११ (२३) ५।७।२ (२४) ४।२।३
(२५) ३।५।११ (२६) १।८।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वमापद्यते। यथा—"धिया भरता जातवेदसम्[१]"। "भरता वसुवित्तमम्"[१]। "वचोग्नये भरता बृहत्"[२]। याज्यास्विति किम्? "एष वो भरता राजा"[३] ॥ ११ ॥

वै०—(याज्यासु) भरतापदस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। "अग्नये भरता बृहत्"[२]। याज्यास्विति किम्? "एष वो भरता राजा"[३] ॥ ११ ॥

अत्ता भवताऽनदता तरता तपता जुहुता वोचताऽमुञ्चता चृता घुष्या जनया वर्तया सादया पारया दीया हरा भराऽपा ससादा सृजा तिष्ठा येना ॥ १२ ॥

मा०—अत्ताभवतादीनि पदानि व्यञ्जनपराणि विभागे ह्रस्वमापद्यन्ते। यथा—"अत्ता हवीँषि"[४]। "भवता मृडयन्तः"[५]। "अनदता हते"[६]। "रुहाणास्तरता रजांसि"[७]। "तपता सुवृक्तिभिः"[८]। "जुहुता विश्वकर्मणे"[९]। "अधि वोचता मे"[१०]। "पदि पिताममुञ्चता यजत्राः"[११]। "वि चृता बन्धमेतम्"[१२]। "अनुघुष्या वि शस्त"[१३]। "जनया दैव्यम्"[१४]। "आ वर्तया पुनः"[१५]। "सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ"[१६]। "स्वं पारया

जैसे—"भरता जातवेदसम्"। "भरता वसुवित्तमम्"। "वचोग्नये भरता बृहत्"। 'याज्या' (अनुवाकों) में—यह क्यों (कहा)? "एष वो भरता राजा"क ॥ ११ ॥

वै० अ०—(याज्यासु = 'याज्या' अनुवाकों में) भरता पद के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में व्यञ्जन बाद में होने पर; ह्रस्व हो जाता है। (उदाहरण) "अग्नये भरता बृहत्"। याज्या (अनुवाकों) में—यह क्यों (कहा)? "एष वो भरता राजा"ख ॥ ११ ॥

सू० अ०—अत्ता, भवता, अनदता, तरता, तपता, जुहुता, वोचता, अमुञ्चता, चृता, घुष्या, जनया, वर्तया, सादया, पारया, दीया, हरा, भरा, अपा, ससादा, सृजा

(क) भरत। जातवेदसमिति जात—वेदसम् ॥ भरत। वसुवित्तममिति वसुवित्—तमम् ॥ अग्नये। भरत। बृहत् ॥ प० पा०

(ख) एषः। वः। भरताः। राजा ॥ प० पा०

'याज्या' संज्ञक अनुवाकों के अन्तर्गत न होने से इस मन्त्र का 'भरता' प० पा० में 'भरत' नहीं हुआ। पृ० २३४ पर टि० (क) को भी देखिए ॥

---

(१) ३।५।११ (२) ३।२।११ (३) १।८।१० (४) २।६।१२
(५) १।४।२२ (६) ५।६।१ (७) ३.५।४ (८) १।६।१२
(९) ४।६।२ (१०) ४।७।१४ (११) ४।७।१५ (१२) ४।२।५
(१३) ४।६।९ (१४) ३।४।२ (१५) ३।३।१० (१६) ३।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव्यः"[1]। "दीया रथेन"[2]। "हरा निहारम्"[3]। "आ भरा दद्धि तन्नः"[4]। "श्रुत्या अपा वृधि"[5]। "निषसादा यजीयान्"[6]। "सृजा वृष्टिं दिवः"[7]। "तिष्ठा देवो न"[8]। "येना सहस्रम्"[9] ॥ १२ ॥

त्रि०—अत्ता भवता अनदता तरता तपता जुहुता वोचता अमुञ्चता चृता घुष्या जनया वर्तया सादया पारया दीया हरा भरा अपा ससादा सृजा तिष्ठा येना एतेषु अनवग्रहेष्वन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"अत्ता हवीꣳषि"[10]। "आदित्यासो भवता मृडयन्तः"[11]। "अहावनदता हते"[12]। "सुवो रुहाणास्तरता रजाꣳसि"[13]। "तपता सुवृक्तिभिः"[14]। "पित्रे जुहुता विश्वकर्मणे"[15]। "विश्वे देवासो अधि वोचता मे"[16]। "पदि पितामुञ्चता यजत्राः"[17]। "अयस्मयं वि चृता बन्धमेतम्"[18]। "परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त"[19]। "मनुर्भव जनया दैव्यम्"[20]। "ताभिरा वर्तया पुनः"[21]। "सादया यज्ञम्"[22]। "अग्ने त्वं पारया नव्यः"[1]। "बृहस्पते परि दीया रथेन"[2]। "निहारमिन्नि मे हरा निहारम्"[3]। "मा नो मर्धीरा भरा दद्धि"[4]। "वाज ꣳ श्रुत्या अपा वृधि"[5]। "अग्निर्होता निषसादा यजीयान्"[6]। "सृजा वृष्टिं दिवः"[7]। "तिष्ठा देवो न सविता"[8]। "येना सहस्रं वहसि"[9] ॥ १२ ॥

वै०—(अत्ता ··· येना =) अत्ता भवतेत्यादिपदानाम्; अन्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो

तिष्ठा और येना (ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)।

त्रि० अ०—अत्ता ··· येना—ये पूर्व पद न हों तो इनका अन्तिम स्वर विभागावस्था में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाता है।···क ॥ १० ॥

वै० अ०—(अत्ता ··· येना =) अत्ता, भवता इत्यादि; पदों के अन्त में विद्य-

---

(क) अत्त। हवीꣳषि ॥ भवत। मृडयन्तः ॥ अनदत। हते ॥ रुहाणाः। तरत ॥ तपत। सुवृक्तिभिरिति सुवृक्ति–भिः ॥ जुहुत। विश्वकर्मण इति विश्व–कर्मणे ॥ अधीति। वोचत। मे ॥ सिताम्। अमुञ्चत ॥ वीति। चृत ॥ अनु-घुष्येत्यनु–घुष्य ॥ भव। जनय ॥ एति। वर्तय ॥ सादय। यज्ञम् ॥ पारय। नव्यः ॥ परीति। दीय। रथेन ॥ मे। हर ॥ एति। भर ॥ श्रुत्यै। अपेति ॥ सृज। वृष्टिम् ॥ तिष्ठ। देवः ॥ येन। सहस्रम् ॥ प० पा०

---

(१) १।१।१४	(२) ४।६।४	(३) १।८।४
(४) १।७।१३	(५) २।२।१२	(६) १।३।१४
(७) २।४।८	(८) ४।१।४	(९) ४।७।१३
(१०) २।६।१२	(११) १।४।२२	(१२) ५।६।१
(१३) ३।५।४	(१४) १।६।१२	(१५) ४।६।२
(१६) ४।७।१४	(१७) ४।७।१५	(१८) ४।२।५
(१९) ४।६।९	(२०) ३।४।२	(२१) ३।३।१० (२२) ३।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वमापद्यते। अत्ता—"अत्ता हवीꣳषि"[१]। भवता—"भवता मृडयन्तः"[२]। अनदता—"अहावनदता हते"[३]। तरता—"रुहाणास्तरता रजाꣳसि"[४]। तपता—"तपता सुवृक्तिभिः"[५]। जुहुता—"जुहुता विश्वकर्मणे"[६]। वोचता—"अधि वोचता मे"[७]। अमुञ्चता—"अमुञ्चता यजत्राः"[८]। चृता—"वि चृता बन्धमेतम्"[९]। घुष्या—"अनुघुष्या वि शस्त"[१०]। जनया—"जनया दैव्यं जनम्"[११]। वर्तया—"ताभिरा वर्तया पुनः"[१२]। सादया—"सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य"[१३]। पारया—"अग्ने त्वं पारया नव्यः"[१४]। दीया—"परि दीया रथेन"[१५]। हरा—"इन्नि मे हरा निहारम्"[१६]। भरा—"भरा दद्धि तन्नः प्र"[१७]। अपा—"श्रुत्या अपा वृधि"[१८]। ससादा—"निषसादा यजीयान्"[१९]। सृजा—"सृजा वृष्टिम्"[२०]। तिष्ठा—"तिष्ठा देवो न सविता"[२१]। येना—"येना सहस्रं वहसि"[२२] ॥ १२ ॥

उश्मसी क्रयी कृधी श्रुधी यदी सू तू नू मिथू मक्षू ऊ ॥ १३ ॥

मा०—उश्मस्यादि पदानि व्यञ्जनपराणि विभागे ह्रस्वमापद्यन्ते। यथा—"उश्मसी गमध्ये"[२३]। क्रयी परं नास"[२४]। "कृधी स्वस्मान्"[२५]। "श्रुधी हवम्"[२६]। "यदी भूमिं जनयन्"[२७]। मोषूण इन्द्र"[२८]। "आ तू न उप गन्तन"[२९]। "एतशस्य नू रणे"[३०]। "असिना मिथू कः"[३१]। "मक्षू देववतः"[३२]। "अस्माभिरू नु"[३३] ॥ १३ ॥

त्रि०—उश्मसी क्रयी कृधी श्रुधी यदी सू तू नू मिथू मक्षू ऊ इत्येतेष्वनवग्रहेषु

मान 'दीर्घ' (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन' वाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।.....क ॥ १२ ॥

सू० अ०—उश्मसी, क्रयी, कृधी, श्रुधी, यदी, सू, तू, नू, मिथू, मक्षू तथा ऊ (ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' वाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)।

(क) नीति। ससाद ॥ प० पा०

---

(१) २।६।१२ (२) १।४।२२ (३) ५।६।१ (४) ३।५।४
(५) १।६।१२ (६) ४।६।२ (७) ४।७।१४ (८) ४।७।१५
(९) ४।२।५ (१०) ४।६।९ (११) ३।४।२ (१२) ३।३।१०
(१३) ३।५।११ (१४) १।१।१४ (१५) ४।६।४ (१६) १।८।४
(१७) १।७।१३ (१८) २।२।१२ (१९) १।३।१४ (२०) २।४।८
(२१) ४।१।४ (२२) ४।७।१३ (२३) १।३।६ (२४) १।८।१४
(२५) ४।७।१५ (२६) २।१।११ (२७) ४।६।२
(२८) १।८।३ (२९) १।५।११ (३०) ४।६।९
(३१) ४।६।७ (३२) १।८।२२ (३३) १।४।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। यथा—"उश्मसी गमध्ये"[१]। "रुद्र यत्ते क्रयी परम्"[२]। "कृधी स्वस्माꣳ अदितेः"।[३] "इमं मे वरुण श्रुधी हवम्"[४]। "यदी भूमिं जनयन् विश्वकर्मा"[५]। "मोषूण इन्द्र"[६]। "आ तू न उप गन्तन"[७]। "एतशस्य नू रण आ"[८]। "गात्राण्यसिना मिथू कः"[९]। "मक्षू देववतो रथः"[१०]। "अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याऽभूत्"[११] ॥ १३ ॥

वै०—(उश्मसी····ऊ =) उश्मसी क्रयीत्यादीनाम्; पदानामन्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते। उश्मसी—"उश्मसी गमध्ये"[१]। क्रयी—"क्रयी परं नाम"[२]। कृधी—"कृधी स्वस्मान्"[३]। श्रुधी—"श्रुधी हवमद्या च"[४]। यदी—"यदी भूमिं जनयन्"[५]। सू—"मोषूण इन्द्र"[६]। तू—"आ तू न उप"[७]। नू—"नू रणे"[८]। मिथू—"असिना मिथू कः"[९]। मक्षू—"मक्षू देववतो रथः"[१०]। ऊ—"ऊर्ध्व ऊषुणः"[१२]॥१३॥

व्युतपूर्व आननुदात्तोऽनूष्मवत्यनूष्मवति ॥ १४ ॥

मा०—विपूर्वश्च उत्पूर्वश्च आनित्येष स्वरः अनुदात्तः संहितायां दीर्घः पदकाले ह्रस्वमापद्यते अनूष्मवति पदे। यथा—"व्यानायेति वि अनाय"[१३]। "उदानायेत्युत् अनाय"[१३]। व्युत्पूर्व इति किम्? "पर्याणीयाहवनीयस्य"[१४]। आनिति किम्? "यद्वक्मं व्याधारयति"[१५]। "उदादाय पृथिवीम्"[१६]। अनुदात्त इति किम्? "नेष्टः पत्नीमुदानय"[१७]। "व्यानट् तमग्ने"[१८]। अनूष्मवतीति किम्? "मधोर्धारा व्यानशुः"[१९]। "उदानिषुर्महीरिति"[२०] ॥ १४ ॥

त्रि० अ०—उश्मसी·····ऊ—ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।···क ॥ १३ ॥

वै० अ०—(उश्मसी····ऊ =) उश्मसी, क्रयी इत्यादि; पदों के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ (स्वर) विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है।·····॥ १३ ॥

सू० अ०—'वि' अथवा 'उत्' पूर्व में होने पर 'अनुदात्त' 'आन्' 'ऊष्म'-वर्ण-रहित (पद) में (विद्यमान होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)।

(क) उश्मसि। गमध्ये ॥ क्रयि। परम् ॥ कृधि। स्विति ॥ श्रुधि। हवम् ॥ यदि। भूमिम्। मो इति। स्विति। नः ॥ एति। तु ॥ नु। रणे ॥ असिना। मिथु। कः ॥ मक्षु ॥ उ। नु ॥ प० पा०

---

(१) १।३।६	(२) १।८।१४	(३) ४।७।१५	(४) २।१।११
(५) ४।६।२	(६) १।८ ३	(७) १।५।११	(८) ४।६।१
(९) ४।६।९	(१०) १।८।२२	(११) १।४ ३३	(१२) ४।१।४
(१३) ४।२।९	(१४) ७।१।६	(१५) ५।२।७	(१६) १।१।९
(१७) ६।५।८	(१८) ४।२।१०	(१९) ५।७।७	(२०) ५।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि० --वि इत्येवम्पूर्वं उत्पूर्वो वा आन् इत्येष स्वरः अनुदात्तः; अनूष्मवति = ऊष्मरहिते पदे वर्तमानः; व्यञ्जनपरः पदादौ वर्तमानत्वात् पूर्वपदेन विभागे सति ह्रस्वमापद्यते। यथा—"व्यानायेति वि—अनाय"[1]। "उदानायेत्युत्—अनाय"[1]। एवम्पूर्व इति किम्? "यदानृचुस्तेन"[2]। "पर्याणीयाहवनीयस्य"[3]। नकारः किमर्थः? "यद्रुक्मं व्याधारयति"[4]। "उदादाय पृथिवीं जीरदानुः"[5]। अनुदात्त इति किम्? "विश्वकर्मा व्यानट्"[6]। "नेष्टः पत्नीमुदानय"[7]। अनूष्मवतीति किम्? "मधोर्धारा व्यानशुः"[8]। "उदानिषुर्महीरिति"[9] ॥ १४ ॥

त्रि० अ०—(व्युत्पूर्वः =) 'वि'—यह पूर्व में होने पर अथवा 'उत्' पूर्व में होने पर; आन्—इसका 'स्वर' (= आ); अनुदात्त होने पर; और; अनुष्मवति = 'ऊष्म' वर्ण रहित पद में वर्तमान होने पर; 'व्यञ्जन' बाद में रहते, पद के आदि में वर्तमान होने के कारण पूर्व-पद से विभाग होने पर; 'ह्रस्व' स्वर को प्राप्त करता है[क]। जैसे—"व्यानायेति वि—अनाय"। "उदानायेत्युत्—अनाय"। ये ('वि' अथवा 'उत्') पूर्व में हों—यह क्यों (कहा)? "यदानृचुस्तेन"। "पर्याणीयाहवनीयस्य"[ख]। ('आन्' में स्थित) नकार किसलिए है? "यद्रुक्मं व्याधारयति"। "उदादाय पृथिवीं जीरदानुः"[ग]। 'अनुदात्त'—यह क्यों (कहा)? "विश्वकर्मा व्यानट्"। "नेष्टः पत्नीमुदानय"[घ]। 'ऊष्म' (वर्ण) रहित पद में—यह क्यों (कहा)? "मधोर्धारा व्यानशुः"। "उदानिषुर्महीरिति"[ङ] ॥ १४ ॥

(क) तात्पर्य यह है कि 'आन्' का आकार अकार हो जाता है यदि (१) आकार 'अनुदात्त' हो; (२) यह 'ऊष्म'-वर्ण रहित पद में विद्यमान हो; (३) इसके पूर्व में 'वि' अथवा 'उत्' हो; (४) इसके बाद में 'व्यञ्जन' हो और (५) यह अपने पूर्ववर्ती शब्द (वि अथवा उत्) से विभक्त हो।

(ख) यत्। आनृचुः। तेन ॥ प० पा०
पर्याणीयेति परि-आनीय। आहवनीयस्येत्या—हवनीयस्य ॥ प० पा०
इन स्थानों में 'आन्' का आकार प० पा० में अकार नहीं हुआ है, क्योंकि 'आन्' के पूर्व में न 'वि' है न 'उत्' ॥

(ग) व्याधारयतीति वि-आधारयति ॥ प० पा
पूर्व में 'वि' और 'उत्' होने पर भी आकार अकार नहीं हुआ, क्योंकि आकार के बाद में नकार नहीं है। यह सूत्र 'आन्' पर लागू होता है 'आ' पर नहीं।

(घ) उदादायेत्युत्-आदाय ॥ प० पा०
'वि' और 'उत्' के बाद में स्थित 'आन्' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि 'आ' 'अनुदात्त' नहीं, है।

(ङ) व्यानडिति वि-आनट् ॥ उदानयेत्युत्-आनय ॥ व्यानशुरिति वि-आनशुः ॥ उदिति। आनिषुः ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।९ (२) ७।३।१ (३) ७।१।६ (४) ५।२।७ (५) १।१।९
(६) ४।२।१० (७) ६।५।८ (८) ५।७।७ (९) ५।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उत्तर इत्यत्र नानुवर्तते। असम्भवात्। ततः पारिशेष्यादनेन सूत्रेण पदादेर्ह्रस्वत्वं विधीयते। तस्य तु सामर्थ्यात् पूर्वपदविभागो निमित्तमिति। व्यञ्जनपर इत्येतदप्यत्र न संबध्यते। तदयमर्थः। (व्युत्पूर्वः =) वि, उत् इत्यनयोः पूर्वयोः; (आन् =) आकारो नकारपरः; अनुदात्तः; (अनूष्मवति =) ऊष्मरहिते पदे वर्तमानः; विभागे ह्रस्वमापद्यते। विपूर्वः—"व्यानाय"[१]। "व्यानेन मनुष्यान्"[२]। उत्पूर्वः खल्वपि—"उदानाय प्रतिष्ठायै"[३]। "तदुदानं दधति"[४]। एवं पूर्व इति किम्? "यदानृचुः"[५]। "आनुषूको भवति"[६]। नकारपर इति किम्? "पृथिवीमनु व्यार्छत्"[७]। "रिप्रमुदाभ्यश्शुचिः"[८]। अनुदात्त इति किम्? "विश्वकर्मा व्यानट्तमग्ने"[९]। "पत्नीमुदानयेत्याह"[१०]। अनूष्मवतीति किम्? "धारा व्यानशुः"[११]। "उदानिषुर्महीरिति"[११] ॥ १४ ॥

वै० अ०—असम्भव होने से 'उत्तरे' (= अन्त में)—वह (पद) यहाँ अनुवृत्त नहीं हो रहा है। (क्योंकि 'आन्' के आदि में 'दीर्घ' स्वर है अन्त में 'दीर्घ' स्वर नहीं है)। तब अवशिष्ट होने से इस सूत्र से पद के आदि (स्वर) के ह्रस्वत्व का विधान किया जाता है। सामर्थ्य होने से पूर्वपद से विभाग (उस ह्रस्वत्व का) निमित्त है। 'व्यञ्जन' बाद में होने पर—यह भी यहाँ सम्बद्ध नहीं होता है। इससे (सूत्र का) यह अर्थ है—(व्युत्पूर्वः =) 'वि' अथवा 'उत्'—ये पूर्व में हों तो; (आन् =) नकार बाद में होने पर आकार; अनुदात्त होने पर; (अनूष्मवति =) 'ऊष्म'— रहित पद में विद्यमान होने पर; विभागावस्था में 'ह्रस्व' हो जाता है। 'वि' पूर्व (का उदाहरण)—"व्यानाय"। "व्यानेन मनुष्यान्"। 'उत्' पूर्व (का) भी (उदाहरण)—"उदानाय प्रतिष्ठायै"। "तदुदानं दधति"। ये ('वि' अथवा 'उत्') पूर्व में हों—यह क्यों (कहा)? "यदानृचुः"। "आनुषूको भवति"। नकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पृथिवीमनु व्यार्छत्"। "रिप्रमुदाभ्यश्शुचिः"[क]। अनुदात्त (आकार) यह क्यों (कहा)? "विश्वकर्मा व्यानट्तमग्ने"। "पत्नीमुदानयेत्याह"। ऊष्म (वर्ण) रहित (पद) में—वह क्यों (कहा)? "धारा व्यानशुः"। "उदानिषुर्महीरिति" ॥ १४ ॥

'वि' और 'उत्' के बाद में स्थित 'अनुदात्त' 'आन्' का आकार अकार नहीं हुआ है, क्योंकि 'आन्' 'ऊष्म'-वर्ण-रहित पद में विद्यमान न होकर 'ऊष्म'-वर्ण (शकार और षकार)-सहित पद में विद्यमान है।

(क) व्यानेनेति वि—अनेन ॥ उदानमित्युत्-अनम् ॥ आनुषूक इत्यानु-सूकः ॥ वीति। आर्छत् ॥ उदिति। आभ्यः ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।६ (२) १।७।२ (३) ७।५।६ (४) ७।३।१
(५) २।३।४ (६) २।५।३ (७) १।२।१ (८) ४।२।१०
(९) ६।५।८ (१०) ५।७।७ (११) ५।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ प्रग्रहाः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। प्रग्रहा इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। प्रग्रहा उच्यन्ते इत्येतदधिकृतं विज्ञेयम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

वै०—उक्तं विभागविषयं ह्रस्वत्वम्। संहिताविषयाणि च शकारागमादीनि कार्याणि वक्ष्यन्ते। अत्रान्तरे उभयविषयं प्रगृह्यत्वं चतुर्थेनाध्यायेन विधीयते—

इह; (प्रग्रहाः =) प्रग्रहाख्याः; वर्णा व्याख्येयतया; (अथ =) अधिक्रियन्ते ॥१॥

नावग्रहः ॥ २ ॥

मा०—न खल्ववग्रहः प्रग्रहो भवति। इहाप्राप्ते विधौ प्रतिषेधः "ऊकारः"[1]

सू० अ०—अब 'प्रग्रह' (कहे जाते हैं)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है। इससे बाद में जो कहेंगे वे; प्रग्रहाः = 'प्रग्रह'; कहे जाते हैं—यह अधिकार जानना चाहिए[क] ॥१॥

वै० अ०—विभाग से सम्बद्ध ह्रस्वत्व को कह दिया गया है। संहिता से सम्बद्ध शकारागम इत्यादि कार्य आगे कहे जायेंगे। यहाँ मध्य में दोनों (विभाग तथा संहिता) से सम्बद्ध प्रगृह्यत्व का चतुर्थ अध्याय के द्वारा विधान किया जाता है—

यहाँ (= चतुर्थ अध्याय में); (प्रग्रहाः, =) 'प्रग्रहः संज्ञक वर्ण; व्याख्येय के रूप में; (अथ = अब) अधिकृत किए जाते हैं (अर्थात् अब 'प्रग्रह' संज्ञक वर्णों का विधान किया जायेगा) ॥ १ ॥

सू० अ०—सावग्रह पद का पूर्व-पद (अवग्रह) 'प्रग्रह' (संज्ञक) नहीं (होता है)।

(क) अन्य प्रातिशाख्यों में 'प्रगृह्य'-संज्ञक पदों अथवा वर्णों को कतिपय श्रेणियों में रखकर उनका संक्षेप में थोड़े से सूत्रों के द्वारा विधान कर दिया गया है। किंतु तै०प्रा० में 'प्रगृह्य'-संज्ञक वर्णों का बहुत विस्तार में विधान किया गया है। एक-एक स्थल को सूत्रबद्ध किया गया है। तै०प्रा० में 'प्रगृह्य' -संज्ञा के स्थान पर 'प्रग्रह' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

---

(१) ४।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति। उत्सर्गो वक्ष्यते "ओकारोऽसांहितोऽकारव्यञ्जनपरः"[१] इति 'अथैकारैकारौ"[२] इत्यधिकृत्य "अस्मे"[३], "त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः"[४], "अमी चक्षुषी"[५] इत्येवमादीनां च ग्रहणं भविष्यति। "नानापदवदिङ्ग्यमसंख्याने"[६], "तस्य पूर्वपदमवग्रहः"[७] इति परिभाषाप्रामाण्यादवग्रहाः पदान्तस्य नेकारस्य वा ओकारस्य वा (ईकारै ? औकारै) कारयोर्वा प्रग्रहत्वं कथं स्यादिति ? अत्राह—अपदार्थोऽयमादिव एव प्रतिषेधः क्रियते। यथा ऊकारः—"तनूनप्त्रे त्वा"[८]। "तनूनपातम्"[९]। ओकारः—"अगो अर्घम्"[१०]। "अश्वेभ्यः"[११]। "गोपतौ"[१२]। एकारः—"द्वे द्वे इति"[१३]। ईकारः—"अग्नीषोमौ"[१४] ॥ २ ॥

त्रि०—अवग्रहः प्रग्रहो न भवति। "ऊकारः"[१५] "ओकारोऽसांहितोऽकारव्यञ्जनपरः"[१], "ग्नी"[१६], "नहिपरः"[१७], "द्वे"[१८] इति वक्ष्यति। तत् उद्दिश्य पुरस्तादपवादोऽनेन विधीयते। यथा—"तनूनपादसुरः"[१९]। "अगोअर्घं यजमानम्"[१०]। "अग्नीषोमौ मा"[१४]। "द्वे द्वे पुरोऽनुवाक्ये कुर्यात्"[११]। अवग्रह इति जात्यपेक्षमेकवचनम् ॥ २ ॥

त्रि० अ०—अवग्रहः = सावग्रह पद का पूर्व-पद 'प्रग्रह' (-संज्ञक); न = नहीं; होता है।[क] "(पदान्त) ऊकार (सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है)", "असांहित ओकार अकार अथवा 'व्यञ्जन' बाद में होने पर ('प्रग्रह' संज्ञक नहीं होता है)", "ग्नी ('प्रग्रह' होता है)", "'हि' बाद में होने पर ('ग्नी') 'प्रग्रह' (संज्ञक) नहीं (होता है)", "द्वे (सर्वत्र 'प्रग्रह' संज्ञक होता है)"—यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे। इन (सूत्रों) को उद्दिष्ट करके इस (सूत्र = ४।२) के द्वारा पहले ही अपवाद का विधान किया जाता है। जैसे—"तनूनपादसुरः"[ख]। "अगोअर्घं यजमा-

---

(क) इस अध्याय में कतिपय पदों के अन्तिम स्वरों के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। सावग्रह पदों के पूर्व-पद भी १।४८ के अनुसार पद माने जाते हैं, अतः उनके अन्तिम स्वरों के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किंतु यह अभीष्ट नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यह विधान कर दिया गया है कि सावग्रह-पदों के पूर्व-पदों के अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' नहीं होते हैं।

(ख) तनूनपादिति तनू- नपात्। असुरः ॥ प० पा०

४।५ के अनुसार 'तनू' का ऊकार 'प्रग्रह' होना चाहिए। किंतु 'तनू' सावग्रह पद (तनू-नपात्) का पूर्व-पद है। अतः प्रस्तुत अपवाद सूत्र (४।२) से 'तनू' का 'ऊकार' 'प्रग्रह' नहीं होता है।

---

(१) ४।६ (२) ४।८ (३) ४।९ (४) ४।१०
(५) ४।१२ (६) १।४८ (७) १।४९ (८) १।२।१०
(९) २।६।१ (१०) ६।१।१० (११) ४।५ ३ (१२) १।१।१
(१३) २।२.९ (१४) २।५।२ (१५) ४।५ (१६) ४।३६
(१७) ४।३७ (१८) ४।४९ (१९) ४।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अवग्रहः प्रग्रहभाक् न भवति। "तनूनप्त्रे त्वा गृह्णामि"[१]। "देवानां वायो-यान्यसि"[२]। द्वे द्वे सम्भरति"[३]। "कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा स्वाहा"[४]। ननु "न रुन्धे नित्यम्"[५] इत्यादिवद्विधेरुर्ध्वं अवग्रहप्रतिषेधोऽपि किं न क्रियते? तदुच्यते—इह त्रिधा प्रग्रहविधिर्भविष्यति। ऊकारस्य ओकारस्य एकारेकारयोरिति। तत्रान्यतमस्य विधेरनन्तरं क्रियमाणोऽयं प्रतिषेधस्तन्मात्रविषयस्स्यात्। सर्वविषयश्चेष्यते। तदर्थं सर्वतः प्रागेव

नम्"क। "अग्नीषोमौ मा"ख। "द्वे द्वे पुरोऽनुवाक्ये कुर्यात्"ग। 'अवग्रहः' में जाति को दृष्टि में रखकर एकवचन है (अर्थात अवग्रहः = अवग्रहाः) ॥ २ ॥

वै० अ०—अवग्रहः = सावग्रह पद का पूर्व-पद 'प्रग्रह' को प्राप्त; न = नहीं; होता है (अर्थात सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' नहीं होता है। (उदाहरण)—"तनूनप्त्रे त्वा गृह्णामि"घ। "देवानां वायोयान्यसि"घ। "द्वे द्वे सम्भ-रति"घ। "कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा स्वाहा"घ। (पू०) "रुन्धे का अन्तिम 'स्वर' कभी भी 'प्रग्रह' नहीं होता है" इत्यादि की तरह सावग्रह पद के पूर्व-पद से सम्बद्ध प्रतिषेध भी विधान के बाद में क्यों नहीं किया जाता है? (सि०) इसे कहते हैं—यहाँ (= चतुर्थ अध्याय में) 'प्रग्रह' का विधान तीन प्रकार का होगा—

(क) अगोअर्घमित्यगो-अर्घम्। यजमानः ॥ प० पा०

४।६ के अनुसार 'अगो' का ओकार 'प्रग्रह' होना चाहिए। किन्तु 'अगो' सावग्रह पद (अगो-अर्घम्) का पूर्व-पद है। अतः प्रस्तुत सूत्र (४।२) से 'अगो' का ओकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(ख) अग्निषोमावित्यग्नी-सोमौ। मा ॥ प० पा०

४।३६ के अनुसार 'अग्नी' का ईकार 'प्रग्रह' होना चाहिए। किंतु 'अग्नी' सावग्रह-पद (अग्नी-सोमौ) का पूर्व-पद है। अतः प्रस्तुत सूत्र (४।२) से 'अग्नी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(ग) द्वेद्वे इति द्वे-द्वे। पुरोनुवाक्ये इति पुरः—अनुवाक्ये। कुर्यात् ॥ प० पा०

४।४९ से द्वे द्वे—इन दोनों पदों के एकारों को 'प्रग्रह' होना चाहिए। किन्तु प्रथम 'द्वे' पद सावग्रह पद (द्वे-द्वे) का पूर्व-पद है। अतः प्रस्तुत सूत्र से प्रथम 'द्वे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(घ) तनूनप्त्र इति तनू—नप्त्रे। त्वा। गृह्णामि ॥ प० पा०
देवानाम्। वायोयानीति वायो—यानी। असि ॥ प० पा०
द्वेद्वे इति द्वे-द्वे। समिति। भरति ॥ प० पा०
कृष्णः। असि। आखरेष्ठः इत्याखरे—स्थः। अग्नये। त्वा। स्वाहा ॥ प० पा०

---

(१) १।२।१० (२) ४।४।६ (३) १।६।८
(४) १।२।११ (५) ४।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियते। नन्वेवमपि "इतिपरोपि"[1] इत्यस्मादनन्तरं कर्त्तव्यः। तथा सति "अन्तः"[2] "इतिपरोपि"[3] इति सूत्रयोः प्रतिषेधानन्वयश्च स्पष्टो भवति। तत्किमर्थं सर्वादौ क्रियते? तदुच्यते "अन्तः"[4] इति पदान्तः सर्वविध्यन्वयी कार्यभागधिकरिष्यते। ततः पूर्वसवग्रह-प्रतिषेधादवग्रहव्यतिरिक्तस्यैव पदस्यान्तः सर्वविधिषु कार्यभाक्त्वेन गृह्यत इति सिद्धम्। तेन "द्वे" "परश्च" "एकव्यवेतोपि"[5] इत्यत्रावग्रहस्यैकव्यवेतत्वे तमतिक्रम्योत्तरखण्डान्त एकव्य-

---

ऊकार का, ओकार का तथा एकार और ईकार का। उनमें से किसी एक विधान के के बाद में किया जाने पर यह प्रतिषेध केवल उस (विधान) से सम्बद्ध हो जायेगा। और यह अभीष्ट है कि (यह प्रतिषेध) सब (=तीनों विधानों) से सम्बद्ध हो। इसीलिए सब (विधानों) से पहले ही (यह प्रतिषेध) किया जाता है।[क] (पू०) ऐसा होने पर भी "(विभाग के समय 'प्रग्रह' स्वर के) बाद में 'इति' (पद) भी (होता है)"—इसके बाद में (प्रतिषेध) करना चाहिए। वैसा किया जाने पर "(पद का) अन्तिम ('स्वर') ('प्रग्रह' होता है)" और "(विभाग के समय 'प्रग्रह' स्वर के) बाद में 'इति' (पद) भी (होता है)"—इन दो सूत्रों में प्रतिषेध का अनन्वय स्पष्ट हो जाता है। तब किसलिए सब (सूत्रों) के आदि में (प्रतिषेध) किया जाता है?[ख] (सि०) इसे बतलाते हैं—"(पद का) अन्तिम ('स्वर' 'प्रग्रह' होता है)"—इससे सब विधियों में अन्वित (सम्बद्ध) पदान्त को कार्यभाक् (कार्य को प्राप्त करने वाला) के रूप में अधिकृत किया जाता है। उससे पहले सावग्रह पद के पूर्व-पद-विषयक प्रतिषेध से सावग्रह पद के पूर्व-पद से व्यतिरिक्त ही पद का अन्तिम 'स्वर' सब विधियों में कार्यभाक् (कार्य को प्राप्त करने वाला) के रूप में

(क) **पूर्वपक्षी**—पहले किसी कार्य का विधान करने के अनन्तर तब तत्कार्यविषयक निषेध (अपवाद) किया जाता है। किंतु यहाँ 'प्रग्रह' का विधान करने से पूर्व में ही प्रग्रहविषयक निषेध किया गया है। यह युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त तीन प्रकार के प्रग्रह-विधान में से किसी एक के बाद में निषेध करने पर वह निषेध उस विधान से सम्बद्ध हो जायेगा। 'प्रग्रह' के तीनों प्रकार के विधान से यह निषेध सम्बद्ध हो, इसलिए सब विधानों से पहले ही यह निषेध कर दिया गया है।

(ख) **पूर्वपक्षी**—४।२ में उक्त निषेध का सम्बन्ध 'प्रग्रह' के विधायक सूत्रों (४।५ इत्यादि) के साथ है। ४।३ और ४।४ में तो 'प्रग्रह' का विधान नहीं किया गया है। इसलिए ४।२ को ४।३ तथा ४।४ से पहले रखना युक्त नहीं है। ऐसा करने से ४।२ का सम्बन्ध ४।३ और ४।४ से भी हो गया है। ४।२ में उक्त निषेध को ४।३ और ४।४ के बाद में करना चाहिये। इससे उस निषेध का सम्बन्ध ४।३ और ४।४ के साथ नहीं होगा।

---

(१) ४।४ (२) ४।३ (३) ४।४ (४) ४।४७, ४८, ४९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेतः प्रग्रह इति लभ्यते—"द्वे द्रधसी सतती वस्त एकः"[१] "द्वे वाव देवसत्रे"[२]। इत्येतदर्थमयं प्रतिषेधः सर्वादौ क्रियते। यद्येवं यत्नो न क्रियेत, तदा "द्वे ह्वेते देवते"[३]। इत्याद्येकव्यवेतविषयसद्भावादवग्रहे एकव्यवेते सति तदुत्तरखण्डे प्रग्रहो न स्यात् ॥ २ ॥

गृहीत होता है—यह सिद्ध होता है।[क] इससे "'द्वे' (='प्रग्रह' होता है), "('द्वे' से) परवर्ती (पद) भी ('प्रग्रह' होता है)", "('द्वे' से) एक पद से व्यवहित (पद) भी ('प्रग्रह' होता है)"—यहाँ पर सावग्रह पद के पूर्व-पद के एकव्यवहित होने पर उस (=सावग्रह के पूर्व-पद) का अतिक्रमण करके (सावग्रह पद के) परवर्ती खण्ड का अन्तिम वर्ण एकव्यवहित होकर 'प्रग्रह' होता है। (जैसे) "द्वे द्रधसी सतती वस्त एकः" "द्वे वाव देवसत्रे"[ख]— इसलिए ही यह प्रतिषेध सब (सूत्रों) के आदि में किया जाता है। यदि इस प्रकार यत्न न किया जाता, तब "द्वे ह्वेते देवते" इत्यादि एकव्यवहित स्थल के विद्यमान होने से सावग्रह पद के पूर्व-पद के एक व्यवहित होने पर उस (सावग्रह पद) के परवर्ती खण्ड में 'प्रग्रह' न होगा[ग] ॥ २ ॥

(क) सिद्धान्ती—४।३ के पूर्व में जो ४।२ को रखा गया है वह सप्रयोजन है। यदि ४।३ के पूर्व में ४।२ को न रखा जाता तो ४।३ के अनुसार सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्तिम 'स्वर' में भी प्रग्रहत्व की प्राप्ति हो जाती। वर्तमान स्थिति में ४।२ में ही यह प्रतिषेध कर दिया गया है कि सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' नहीं होता है। अब ४।३ के अनुसार सावग्रह पदों के पूर्व-पद से व्यतिरिक्त पदों के अन्तिम स्वरों में ही प्रग्रहत्व की प्राप्ति होती है।

(ख) द्वे इति। द्रधसी इति। सतती इति स—ततीः॥
द्वे इति। वाव। देवसत्रे इति देव—सत्रे ॥ प० पा०

(ग) प्रग्रह के विधायक सभी सूत्रों के साथ ४।३ का सम्बन्ध है। यतः ४।३ के पहले ही यह विधान कर दिया गया है कि सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' नहीं होता है, अतः ४।३ की दृष्टि सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्तिम 'स्वर' की ओर नहीं है। पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है, चाहे वह सावग्रह पद हो अथवा सामान्य पद हो। इससे ज्ञात होता है कि ४।३ की दृष्टि से सावग्रह पद के पूर्व-पद का कोई महत्व नहीं, वह अविद्यमान के समान है। अविद्यमान के समान मानने पर ये उदाहरण समझे जा सकेंगे—

द्वे इति। द्रधसी इति। सतती इति स ततीः। वस्ते। एकः ॥ प० पा०
द्वे इति। वाव। देवसत्रे इति देव-सत्रे ॥ प० पा०

४।५१ में यह विधान किया गया है कि 'द्वे' पद से एक पद से व्यवहित परवर्ती पद 'प्रग्रह' होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि सावग्रह पदों के पूर्व-

---

(१) ३।२।२ (२) ७।४।५ (३) २।१।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तः ॥ ३ ॥

मा०—पदान्तस्य प्रग्रहो भवति। अत्राह—किं वा अपदान्तोऽपि स्यात्? अत्रोच्यते—"ऊकारः"[1] इत्यविशेषेण विधानम्, "ओकारोऽसंहित"[2] इति, "ची यत्परः"[3] इति च अपदान्तस्यापि ऊकारस्य वा ओकारस्य चीशब्दस्य यत्परस्य वा प्रग्रहत्वं स्यात्, तन्मा भूदिति इदं सूत्रम्। ननु सिद्धान्त इत्येव (?) यथा तत् "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[4] इति वचनात् अनुक्ते वर्णसमुदायेऽप्यन्त्यत्वमुपपद्यते। ऊकार इत्येवमादय एकवर्णस्यैव निर्देशः। ऊकारः—"ऊर्ध्वो भव प्रति"[5]। ओकारः—"ओषधीः"[6]। चीशब्दः—"ऐक्षवी तिरश्ची यत्"[7] ॥ ३ ॥

त्रि०—पदस्य अन्तः प्रग्रहसंज्ञो भवति। यथा—"देवते समृद्धयै"[8]। अत्राह—किं अपदान्तोऽपि प्रग्रहः स्यात्? अत्रोच्यते—"ऊकारः"[1] इत्यविशेषेण वक्ष्यति, "ओकारो-

---

सू० अ०—(पद का) अन्तिम ('स्वर') ('प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—पद का; अन्तः = अन्तिम स्वर; 'प्रग्रह' संज्ञक होता है। जैसे—

पदों (क्रमशः श और देव) को विद्यमान माना जाये तो 'ततौ' और सत्रे के ईकार और एकार प्रग्रह नहीं होंगे, क्योंकि ये दोनों 'द्वे' पद से दो पदों से व्यवहित हैं, एक पद से नहीं। किन्तु 'ततौ' और सत्रे के ईकार और एकार वास्तव में प्रग्रह हैं। इस अभीष्ट की सिद्धि तभी हो सकती है जब स और देव को अविद्यमानवत् माना जाये अर्थात् सततौ और देवसत्रे को एक-एक ही पद माना जाये। वैसा मानने पर ४।५१ के अनुसार 'सततौ' और 'देवसत्रे' के ईकार और एकार 'प्रग्रह' हो जाते हैं। (४।५१ पर वै० आ० को भी देखिये)।

उपर्युक्त उदाहरणों को सिद्ध करने के लिए सावग्रह पदों के पूर्व-पदों को अविद्यमानवत् मानने के लिए जो ४।२ को सब सूत्रों के प्रारम्भ में रखा गया है—वह युक्त नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरण तो ४।५१ से सिद्ध हो ही जायेंगे। अन्यथा ४।५१ निरवकाश होकर अनर्थक हो जायेगा।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी ४।५१ सावकाश है। जैसे—

द्वे इति। हि। एते इति। देवते इति ॥ प० पा०

'एते' पद सावग्रह नहीं है। 'एते' का अन्तिम एकार ४।५१ सावकाश है। यतः ४।५१ से उपर्युक्त स्थलों में प्रग्रहत्व की सिद्धि नहीं होगी, अतः उपर्युक्त उदाहरणों की सिद्धि के लिए ४।२ को सब सूत्रों के आदि में जो रखा गया है वह सर्वथा युक्त है।

---

(१) ४।५ (२) ४।६ (३) ४।३३ (४) १।५६
(५) १।२।१४ (६) ४।२।३ (७) ६।२।१ (८) २।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽसांहितोऽकारव्यञ्जनपरः"[1] इति च "चीयत्प्रपरः"[2] इति च। अपदान्तस्य ऊकारस्य ओकारस्य चीशब्दस्य वा ग्रहणं मा भूदिति। ननु सिद्धमेवैतत्। एतत्सूत्रशेषे उत्तरसूत्रेऽपिशब्देन "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[3] इत्यन्त्यस्यैव कार्यनिर्वाहात्। नेति ब्रूमः, अनेकवर्णसमुदाये ह्यन्त्यत्वमुपपन्नम्। अयं पुनरेकवर्णनिर्देशः। ऊकार इत्यादिवर्णस्य यौ विकारलोपौ तयोरेव "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[1] इत्यनेन अन्त्यप्रत्यय इत्युक्तम्। प्रग्रह इति तु संज्ञामात्रं न तु निमित्तं निमित्ति वा। तस्मादत्रान्वादेशो न प्रसरति ॥ ३ ॥

"देवते समृद्ध्यै"।[क] इस विषय में (पूर्वपक्षी ने) कहा है—क्या पद के अन्त में अविद्यमान भी ('स्वर') 'प्रग्रह' होता है? (सि०) इस विषय में कहते हैं—"(पदान्त) ऊकार ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)"—यह (सूत्रकार) बिना किसी विशेष (प्रतिबन्ध) के कहेंगे, "अकार अथवा 'व्यञ्जन' बाद में होने पर संहिता से निष्पन्न न होने वाला ओकार ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)" तथा "यत् अथवा प्र बाद में होने पर 'ची' (का ईकार 'प्रग्रह' होता है)" इत्यादि। पद के अन्त में अविद्यमान ऊकार, ओकार अथवा 'ची' शब्द का प्रग्रहत्व न हो (इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह विधान कर दिया गया है कि पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह होता है)।[ख] (पू०) यह तो सिद्ध ही है। इस सूत्र के शेषभूत परवर्ती सूत्र (४।४) में प्रयुक्त 'अपि' शब्द के द्वारा "अन्त्य का अन्वादेश होता है"—इस (नियम) से अन्त्य ('स्वर') का ही कार्य को प्राप्त करने वाले के रूप में (अन्वादेश किया जाता है)। (सि०) (इस विषय में) कहते हैं कि यह बात नहीं है। अनेक वर्णों के समुदाय में अन्त्यत्व की उपपत्ति होती है। किन्तु यहाँ तो एक वर्ण का ही निर्देश है। ऊकार इत्यादि वर्णों के जो विकार और लोप (होते) हैं उनमें ही "अन्त्य का अन्वादेश होता है"—इससे अन्त्य का ज्ञान होता है—यह कहा जा चुका है। 'प्रग्रह' तो

(क) देवते इति। समृद्ध्या इति सम—ऋद्ध्यै ॥ प० पा०
४।११ से 'देवते' का अन्तिम एकार 'प्रग्रह' है, प्रथम एकार नहीं।

(ख) पूर्वपक्षी—यह सर्वविदित है कि पद का अन्तिम 'स्वर' ही 'प्रग्रह' होता है। जो 'स्वर' पद के अन्त में स्थित नहीं होता है, वह कभी भी 'प्रग्रह' नहीं होता है। यह वस्तुस्थिति होने पर सूत्रकार ने व्यर्थ में यह विधान किया है कि पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है।

सिद्धान्ती—सूत्रकार ने कतिपय परवर्ती सूत्रों में यह विधान किया है कि ऊकार इत्यादि 'स्वर' 'प्रग्रह' होते हैं। इन सामान्य विधानों से कोई यह समझ सकता था कि पद के अन्त में स्थित न होने पर भी ऊकार इत्यादि 'स्वर' 'प्रग्रह' होते हैं। अतएव सूत्रकार के लिए यह विधान करना आवश्यक था कि पद के अन्त में स्थित ही ऊकार इत्यादि 'स्वर' 'प्रग्रह' होते हैं।

---

(१) ४।६ (२) ४।३३ (३) १।५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अन्त इति पदस्यान्तः सर्वविध्यन्वयी कार्यभागधिक्रियते। स चावग्रह—व्यतिरिक्तस्य पदस्य विज्ञायते "नावग्रहः"[1] इति प्रतिषेधात्। वक्ष्यति च—"ऊकारः"[2] इत्यूकारः पदान्तः प्रग्रहो भवतीत्येवं तत्रतत्र सम्बन्धोऽनुसन्धेयः ॥ ३ ॥

इतिपरोऽपि ॥ ४ ॥

मा०—"अपि पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु"[3] इति वचनात् अत्रापिशब्दः सम्भावनायां द्रष्टव्यः। यत्र [प्रग्रहणो यः कालन्निरित्येतिपरतन्त्र स्यात् इति ?] अथवा "चापीत्यन्वादेशकौ"[4] इत्येव स्वशास्त्रन्यायेन। इतिपरतायामप्यनार्षक इतिकरणे प्रगृह्यत्वमेवान्वादिश्यते। यथा—"युग्मदयुजे"[5] ॥ ४ ॥

केवल संज्ञा है, न तो निमित्त है और न निमित्तिन् है। इसलिए अन्वादेश की प्रसक्ति नहीं होती है[क] ॥ ३ ॥

वै० अ०—सब विधियों से सम्बद्ध अन्तः = पद का अन्तिम 'स्वर'; कार्य को प्राप्त करता है— यह अधिकार किया जाता है। और वह "सावग्रह पद का पूर्व-पद ('प्रग्रह' नहीं होता है)—इस प्रतिषेध से सावग्रह पद के पूर्व-पद से व्यतिरिक्त पद का (प्रग्रहत्व) समझा जाता है (अर्थात् सावग्रह पद के पूर्व-पद से व्यतिरिक्त पदों का ही अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है, सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम 'स्वर' नहीं)। (सूत्रकार) कहेंगे—"ऊकार ('प्रग्रह' होता है)"—(इसका अर्थ यह है) – पद का अन्तिम ऊकार 'प्रग्रह' होता है। इस प्रकार स्थल-स्थल पर (अन्त = पद के अन्तिम 'स्वर' के) सम्बन्ध को समझ लेना चाहिए ॥ ३ ॥

सू० अ०—(विभाग के समय 'प्रग्रह' स्वर के) बाद में 'इति' (पद) भी (होता है)।

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र से अन्तिम ('स्वर') के प्रग्रहत्व के विधान करने की आवश्यकता ही नहीं है। परवर्ती सूत्र (४।४) में प्रयुक्त 'अपि' शब्द के द्वारा १।५८ के सामर्थ्य से 'अन्त्य' का अन्वादेश हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पद का अन्तिम 'स्वर' (अन्त्य) 'प्रग्रह' होता है।

सिद्धान्ती—यहाँ 'अपि' शब्द से 'अन्त्य' का अन्वादेश नहीं होता है क्योंकि (१) जहाँ पूर्ववर्ती सूत्र में अनेक पद अथवा वर्ण उल्लिखित हों, वहाँ परवर्ती सूत्र में उनमें से अन्तिम पद अथवा वर्ण का अन्वादेश होता है। यहाँ ऐसी बात नहीं है; (२) १।५८ के भाष्य में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि लोप और विकार के प्रसङ्ग में अन्त्य निमित्त अथवा निमित्तिन् (कार्यभाक्) का अन्वादेश होता है। 'प्रग्रह' स्वर न तो निमित्त है और न निमित्तिन्। यह तो केवल परिस्थिति विशेष में कतिपय स्वरों की संज्ञा है।

---

(१) ४।२ (२) ४।५ (३) पा० १।४।९६
(४) २२।५ (५) ५।४।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—'अपि' शब्दः सिंहावलोकनेन "अथादावुत्तरे विभागे"[1] इत्यत्र विभागपदमन्वादिशति। सोऽयं प्रग्रहो विभागे इतिपरोऽपि भवति। यथा—"देवते इति"[2]। "उभे इति"[3]। इतिशब्दः परः यस्मात् असौ इतिपरः ॥ ४ ॥

वै०—अपिशब्देन पूर्वाध्यायस्थं विभागपदमन्वादिश्यते। तेन संहितायां प्रग्रहस्येतिकरणो निवार्यत इति केचित्। तन्न। न ह्यनादौ नित्यशुद्धे संहिताम्नाये वर्णमात्रस्याप्युपजननं शक्यशङ्कम्। का कथा वर्णसमुदायात्मकस्येतिकरणस्य? न चाध्यायान्तरस्थस्यातिदविष्ठस्यान्वादेश उचितः। तदन्वादेशे चेङ्गयोत्तरपदस्य प्रग्रहान्तस्य विभागे पुनरितिकरणः प्रसजन् केन

त्रि० अ०—(प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त) 'अपि' शब्द सिंहावलोकन न्याय से "(पद) विभाग के समय (पद के) आदि या अन्त में" (३।१ से) यहाँ 'विभाग' पद का अन्वादेश करता है। (इससे प्रस्तुत सूत्र का यह अर्थ हुआ)—यह 'प्रग्रह' (स्वर) विभाग में (=पद-पाठ इत्यादि पाठों में, जहाँ 'प्रग्रह' पद अपने परवर्ती पद से विभक्त हो जाता है), इतिपरोऽपि = इतिपर ('इति' पद है बाद में जिसके वैसा) भी; होता है (अर्थात् पद-पाठ इत्यादि में 'प्रग्रह' पद के बाद में 'इति' पद जोड़ दिया जाता है)। जैसे—"देवते इति"। "उभे इति"। 'इति' शब्द है बाद में जिससे वह इतिपर है ॥ ४ ॥

वै० अ०—'अपि' शब्द के द्वारा पूर्ववर्ती अध्याय में स्थित विभाग पद का अन्वादेश किया जाता है। इससे संहिता में 'प्रग्रह' के साथ इतिशब्द के प्रयोग का निवारण किया जाता है—यह कतिपय आचार्य कहते हैं।[क] यह युक्त नहीं है। क्योंकि अनादि और नित्य शुद्ध संहिता-पाठ में एक भी वर्ण के जोड़ने की शङ्का नहीं की जा सकती है। वर्णों के समुदाय रूप 'इति' शब्द (के जोड़ने) का तो कहना ही क्या?[ख] (दूसरी बात यह है कि) दूसरे अध्याय में स्थित अति दूरवर्ती ('विभाग' पद) का अन्वादेश उचित नहीं है। और उस (विभाग) का अन्वादेश होने पर सावग्रह पद के प्रग्रहान्त (= 'प्रग्रह' स्वर में अन्त होने वाले) उत्तर-पद का (परवर्ती पद से) विभाग होने पर दोबारा प्रसक्त (प्राप्त) होता हुआ 'इति'

(क) तात्पर्य यह है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है—पद-पाठ इत्यादि विभक्त पाठों में 'इति' शब्द का प्रयोग होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि संहिता-पाठ में 'इति' शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

(ख) इस प्रकार संहिता-पाठ में 'इति' शब्द के प्रयोग (जोड़ने) का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है। तब उसके निवारण की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए इन आचार्यों की व्याख्या उचित नहीं है।

---

(१) ३।१ (२) २।१।६ (३) १।४।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्थः ? "इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू इति"[1] तस्मात्समुच्चयार्थ एवायमपिशब्दः। तदयमर्थः प्रग्रहः पदाध्याये; (इतिपरोऽपि =) इतिपरश्च; भवति, केवलोऽपीति। व्यवस्थितं चैतदुभयं विज्ञेयम्। यस्मिन् पदेऽन्यतः प्रग्रहाभिव्यक्तिः। यथेङ्क्ष्यान्ते तत्र केवलो भवति। अनिङ्क्ष्ये त्वितिपर इति। इङ्क्ष्यान्ते तु विभज्यानुवादार्थं नैवेतिकरणेन प्रग्रहोऽभिव्यज्यते। "इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू"[1] ततो विभक्तस्यैवोत्तरपदस्य नेतिकरणः प्रयोक्तव्यः। अश्रुतभावात्। अनिङ्क्ष्ये त्वितिकरणः प्रग्रहाभिव्यक्त्यर्थं प्रयुज्यते। "विष्णो इति। हव्यम्"[2]।

शब्द किसके द्वारा रोका जा सकता है ? (जैसे) "इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू इति।"[क] इसलिए यह 'अपि' शब्द समुच्चय के लिए ही है। इससे (सूत्र का) यह अर्थ है—पद-पाठ में 'प्रग्रह'; (इतिपरोऽपि =) इतिपर ('इति' शब्द जोड़ दिया जाता है बाद में जिसके ऐसा) भी होता है और केवल भी। और इन दोनों को व्यवस्थित जानना चाहिए (अर्थात् यह निर्णीत है कि कहाँ 'प्रग्रह' स्वर के बाद में 'इति' शब्द जोड़ा जाता है और कहाँ नहीं जोड़ा जाता है)। जिस पद में अन्य प्रकार से 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति हो जैसे सावग्रह पद (इङ्क्ष्य) के अन्त में, वहाँ केवल होता है। अवग्रहरहित में तो बाद में 'इति' लगता है। सावग्रह पद में तो उस 'इति' शब्द के द्वारा ही 'प्रग्रह' अभिव्यक्त हो जाता है, जो (सावग्रह पद को) विभक्त करके उसका पुनः कथन (अनुवाद) करने के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे—"इन्द्रवायू इतीन्द्र - वायू"। तदनन्तर (पूर्व-पद से) विभक्त उत्तर-पद के बाद में 'इति' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि (उस 'इति' शब्द के प्रयोग का) कोई प्रयोजन नहीं है। अवग्रह-रहित (पद) में तो 'इति' शब्द 'प्रग्रह' की

(क) यदि उपर्युक्त आचार्यों के इस मत को मान लिया जाये कि पूर्ववर्ती अध्याय में स्थित 'विभागे' पद का अन्वादेश प्रस्तुत सूत्र में हो रहा है, तब इस सूत्र का अर्थ यह होगा—जब प० पा० में 'प्रग्रह' 'स्वर' का विभाग परवर्ती पद से होता है, तब 'प्रग्रह' 'स्वर' के बाद में 'इति' प्रयुक्त होता है। इस अर्थ के अनुसार सावग्रह पद के उत्तर-पद के अन्तिम 'प्रग्रह' 'स्वर' के बाद में भी 'इति' युक्त हो जायेगा। जैसे—इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू इति। यहाँ 'वायू का विभाग परवर्ती पद से हुआ है। अतः 'वायू' के बाद में 'इति' लग गया है। किंतु यह दूसरा 'इति' शब्द अभीष्ट नहीं है—प० पा० में यह उपलब्ध नही होता है। अतः इन उपर्युक्त आचार्यों का मत युक्त नहीं है।

इस प्रकार इन आचार्यों के मत में तीन दोष हुए—(१) अप्रसक्त (अप्राप्त) का निवारण; (२) दूसरे अध्याय में स्थित अति दूरवर्ती पद ('विभागे') का अन्वादेश; (३) सावग्रह पद के उत्तर-पद के बाद में अनिष्ट 'इति' शब्द की प्रसक्ति। इन दोषों के कारण यह मत ग्राह्य नहीं है।

---

(१) १।१।७ (२) १।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वितिकरणः प्रग्रहाभिव्यक्त्यर्थ इति न युज्यते। इङ्ग्येषूपसर्गेषु च तद्दर्शनात्। मैवम्। वर्ण-लोपासंयुक्तविवृत्तिपूर्वकस्येति करणस्य प्रग्रहासाधारणतया तदभिव्यञ्जकत्वोपपत्तेः। यद्येवं "उरो अन्तरिक्ष"[1] इत्यादिषु प्रग्रहेषु वर्णलोपासंयुक्तविवृत्तया प्रग्रहाभिव्यक्तेरितिकरणो न

अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। (जैसे) "विष्णो इति। हव्यम्"।[क] 'इति' शब्द 'प्रगह' की अभिव्यक्ति के लिए (होता है)—यह (कहना) युक्त नहीं है। क्योंकि (वह 'इति' शब्द) सावग्रह पदों (इङ्ग्य) और उपसर्गों में भी दिखलाई पड़ता है। (सि०) ऐसी बात नहीं है। वर्णलोप से असंयुक्त 'विवृत्ति' है पूर्व में जिसके ऐसा 'इति' शब्द 'प्रग्रह' का असाधारण (चिह्न) है, अतः (यह 'इति' शब्द) उस ('प्रग्रह') की अभिव्यक्ति के लिए ही है—यह उपपन्न होता है।[ख] यदि ऐसी बात है तो "उरो अन्तरिक्ष" इत्यादि प्रग्रहों में वर्ण—लोप से असंयुक्त 'विवृत्ति'

(क) इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू ॥ प० पा०

'इन्द्रवायू' सावग्रह पद (इङ्ग्य) है। १।४८ के अनुसार इसे दो पृथक् पदों के समान समझना चाहिए। 'इन्द्रवायू' में दो अंश कौन-कौन हैं? यह दिखलाने के लिए प० पा० में 'इन्द्रवायू' के बाद में 'इति' शब्द से पृथक् करके दिखलाया जाता हैं। इस प्रकार 'इति' शब्द का यह प्रयोजन है कि इसे मध्य में रखकर सावग्रह पद के दो अंशों को दिखलाया जाता है। किंतु 'इति' शब्द के द्वारा यह भी अभिव्यक्त हो गया है कि 'इन्द्रवायू' का ऊकार 'प्रग्रह' है। 'प्रग्रह' होने के कारण ही 'इन्द्रवायू' के ऊकार की संधि 'इति' के इकार के साथ नहीं है। यतः इस मध्यवर्ती 'इति' शब्द के द्वारा ही 'इन्द्रवायू' के ऊकार के 'प्रग्रह' स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है, अतः इन्द्रवायू के बाद में 'इति' शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

विष्णो इति। हव्यम् ॥ प० पा०

'विष्णो' के ओकार के 'प्रग्रह' स्वरूप की अभिव्यक्ति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती है, अतः 'विष्णो' पद के बाद में 'इति' शब्द लगाया जाता है। यहाँ 'इति' शब्द के प्रयोग का एक ही प्रयोजन है—'विष्णो' के ओकार के 'प्रग्रह' स्वरूप की अभिव्यक्ति।

(ख) **पूर्वपक्षी**—प० पा० में 'इति' शब्द का प्रयोग 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति के लिए होता है—यह कहना युक्त नहीं है। प० पा० में 'इति' शब्द का प्रयोग सावग्रह शब्दों तथा उपसर्गों के साथ भी होता है।

सिद्धान्ती—यह तो सच है कि 'इति' शब्द का प्रयोग केवल 'प्रग्रह' की

---

(१) १।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्। नैतदस्ति। "आरे अस्मे च शृण्वते"[1] इत्यादिष्वपि दर्शनात्। वर्णलोपासंयुक्तविवृत्तेः प्रग्रहव्यभिचारित्वात् ॥ ४ ॥

से 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति हो जाने से 'इति' शब्द का प्रयोग (प० पा० में) नहीं होगा।[क] यह बात नहीं है। क्योंकि "आरे अस्मे च शृण्वते" में भी (वैसी 'विवृत्ति') दिखलाई पड़ने से (ज्ञात होता है कि) वर्ण-लोप से असंयुक्त विवृत्ति 'प्रग्रह' का व्यतिक्रम करती है[ख] ॥ ४ ॥

अभिव्यक्ति के लिए ही नहीं होता है। अन्य भी अनेक स्थल हैं जहाँ प० पा० में 'इति' शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु सं० पा० में 'उरो अन्तरिक्ष' इत्यादि कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ स्वर-लोप-रहित विवृत्ति होती है। प० पा० में प्रथम पद के बाद में 'इति' शब्द लगाया जाता है। यह 'इति' शब्द केवल 'प्रग्रह' का अभिव्यञ्जक है। इससे ज्ञात होता है कि 'इति' शब्द 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

(क) पूर्वपक्षी—"उरो अन्तरिक्ष"—१०।२४ के अनुसार 'उरो' के ओकार की संधि 'अन्तरिक्ष' के अकार के साथ होनी चाहिए। किन्तु 'ओकार' 'प्रग्रह' है, अतः १०।२४ के अनुसार इस 'प्रग्रह' ओकार की संधि 'अन्तरिक्ष' के अकार के साथ नहीं होती है। सं० पा० में ओकार और अकार की जो संधि नहीं हुई उससे ओकार के 'प्रग्रह' होने की अभिव्यक्ति हो जाती है। अब प० पा० में 'उरो' के साथ 'इति' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'इति' शब्द का कोई प्रयोजन नहीं है। जब 'प्रग्रह' स्वरूप की अभिव्यक्ति न हो तभी 'इति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

(ख) यह नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ सं० पा० में वर्णलोप रहित 'विवृत्ति' होगी अर्थात् जहाँ-जहाँ दो स्वरों में संधि नहीं होगी, वहाँ-वहाँ पूर्ववर्ती पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होगा। जैसे—"आरे अस्मे" में 'आरे' के एकार और 'अस्मे' के अकार की सं० पा० में संधि नहीं हुई है। तथापि 'आरे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है—

आरे। अस्मे इति। च। शृण्वते ॥ प० पा०

इस प्रकार सं० पा० में 'उरो अन्तरिक्ष' में संधि न होने से 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति नहीं होती है। 'प्रग्रह' की अभिव्यक्ति के लिए प० पा० में 'उरो' के बाद में 'इति' शब्द का प्रयोग किया जाता है—

उरो इति। अन्तरिक्ष ॥ प० पा०

---

(१) १।५५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊकारः ॥ ५ ॥

मा०—ऊकारः पदान्ते वर्तमानः सर्वत्र प्रग्रहो भवति। यथा—"वासन्तिकावृतू"[१]। "हनू वा एते"[२] ॥ ५ ॥

त्रि०—ऊकारः पदान्तः सर्वत्र प्रग्रहो भवति पदसमये वर्तमानः। यथा—"हनू वा एते"[२]। "वासन्तिकावृतू"[१]। "बाहू उपस्तुतं"[३]। पदसमये वर्तमान इति किम्? "सूतूनूमिथूमक्षूऊ"[४] इत्यादावपि स्यात् ॥ ५ ॥

वै०—ऊकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "इन्द्रवायू वि मुञ्चताम्"[५] "अन्तनामानावृतू भवतः"[६]। "द्वे सक्थ्यौ द्वौ बाहू"[७]। पदान्त इति किम्? "ऊर्जे त्वा"[८]। इतिकरणः

सू० अ०—(पदान्त) ऊकार ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—पदान्त ऊकार सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है यदि वह पद-पाठ में (भी दीर्घ रूप में) वर्तमान हो। जैसे—"हनू वा एते"।[क] "वासन्तिकावृतू"।[ख] "बाहू उपस्तुतम्"।[ग] (प्रश्न) पद (-पाठ) में (दीर्घ रूप में) वर्तमान होने पर—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "सू, तू, नू, मिथू, मक्षू तथा ऊ (ये पूर्व-पद न हों तो इनका अन्तिम 'स्वर' विभागावस्था में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'ह्रस्व' हो जाता है)"—में भी ('प्रग्रहत्व') हो जायेगा घ॥ ५ ॥

वै० अ०—पदान्त ऊकार 'प्रग्रह' होता है। (उदाहरण) "इन्द्र वायू विमुञ्चताम्"[ङ] "अन्तनामानावृतू भवतः"।[च] "द्वे सक्थ्यौ द्वौ बाहू"।[छ] पदान्त (ऊकार)

(क) हनू इति। वै। एते इति ॥ प० पा०

(ख) वासन्तिकौ। ऋतू इति ॥ प० पा०

(ग) बाहू इति। उपस्तुतमित्युप—स्तुतम् ॥ प० पा०

हनू, ऋतू तथा बाहू पदों के अन्त में विद्यमान ऊकार 'प्रग्रह' है, क्योंकि ये ऊकार पद-पाठ में भी ऊकार हैं, उकार नहीं।

(घ) सू, तू, नू, मिथू इत्यादि के ऊकार पद-पाठ में ३।१४ से 'ह्रस्व' हो जाते हैं। अतः ये 'प्रग्रह' नहीं हैं। इनके प्रग्रहत्व का निषेध करने के लिए भाष्यकार ने कहा है कि पद-पाठ में (दीर्घ-रूप में) वर्तमान होने पर।

(ङ) इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू। वीति। मुञ्चताम् ॥ प० पा०

(च) अन्तनामानावित्यन्त—नामानौ। ऋतू इति। भवतः ॥ प० पा०

(छ) द्वे इति। सक्थ्यौ। द्वौ। बाहू इति ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र से इन्द्रवायू, ऋतू तथा बाहू के पदान्त ऊकार 'प्रग्रह' हैं।

---

(१) ४।४।११ (२) ६।२।११ (३) ४।२।८ (४) ३।१४
(५) १।१।७ (६) ७।४।८ (७) ७।४।११ (८) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदाध्यायेऽस्य स्यात्। किञ्च—अपदान्तस्य प्रग्रहत्वे "अप्रग्रहाः समानाक्षराणि"[1] इति प्रग्रहसदृशानामपदान्तानामपि समानाक्षराणामानुनासिक्यं स्यात् ॥ ५ ॥

ओकारोऽसंहितोऽकारव्यञ्जनपरः ॥ ६ ॥

मा०—असंहित ओकारः अकारपरो वा व्यञ्जनपरो वा प्रग्रहो भवति। यथा अकार

यह क्यों (कहा)? "ऊर्जे त्वा"। पद-पाठ में इसका इतिकरण हो जायेगा।[क] इसके अतिरिक्त अपदान्त (ऊकार) का प्रग्रहत्व होने पर "अप्रग्रह 'समानाक्षर' (कतिपय आचार्यों के मत से 'अनुनासिक' होते हैं)"—इस (सूत्र) से 'प्रग्रह' के समान दिखलाई पड़ने वाले अपदान्त भी समानाक्षरों का आनुनासिक्य हो जायेगा ॥५॥[ख]

सू० अ०—अकार अथवा 'व्यञ्जन' बाद में होने पर संहिता से निष्पन्न न होने वाला ओकार ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)।

(क) ऊर्जे। त्वा ॥ प० पा०

'ऊर्जे' पद में स्थित ऊकार पदान्त नहीं हैं। इसलिए यह 'प्रग्रह' नहीं है। यदि अपदान्त ऊकार भी 'प्रग्रह' संज्ञक होता तो पद-पाठ में 'ऊर्जे' के अपदान्त 'ऊकार' के बाद में 'इति' लगता। क्योंकि 'प्रग्रह' संज्ञक पद पद-पाठ में 'इति' लगाकर दिखलाए जाते हैं। किन्तु ऊर्जे के ऊकार के बाद में प० पा० में 'इति' उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि भाष्यकार ने कहा है कि पदान्त ऊकार ही 'प्रग्रह' होता है अपदान्त ऊकार नहीं।

(ख) १५।६ में यह विधान किया गया है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार अप्रग्रह 'समानाक्षर' 'अनुनासिक' होते हैं। इस सूत्र के भाष्य में वैदिकाभरणकार ने कहा है कि जिस प्रकार अब्राह्मण कहने से ब्राह्मणसदृश क्षत्रिय इत्यादि का ग्रहण होता है, उसी प्रकार 'अप्रग्रह' कहने से प्रग्रहव्यतिरिक्त किन्तु प्रग्रहसदृश स्वरों का ग्रहण होता है। यतः 'प्रग्रह' सर्वदा पदान्त ही होता है, अतः प्रग्रहसदृश कहने से पदान्तभूत स्वरों का ग्रहण होता है। इस प्रकार १५।६ का यह अर्थ होता है—प्रग्रहव्यतिरिक्त जो पदान्तभूत 'समानाक्षर' होते हैं, वे 'अनुनासिक' होते हैं।

यहाँ वैदिकाभरणकार का कथन यह है—यदि अपदान्त 'स्वर' भी 'प्रग्रह' हो जाये तो यह सिद्ध हो जायेगा कि पदान्त 'स्वर' भी 'प्रग्रह' होता है और अपदान्त 'स्वर' भी। उस स्थिति में १५।६ की व्याख्या में 'प्रग्रहसदृश' का अर्थ होगा—पदान्तभूत 'स्वर' और अपदान्तभूत 'स्वर'। यह स्थिति होने पर १५।६ का अर्थ यह होगा—प्रग्रहव्यतिरिक्त जो पदान्तभूत और अपदान्तभूत 'समानाक्षर' होते हैं; वे 'अनुनासिक' होते हैं। किन्तु यह अर्थ इष्ट नहीं है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि पदान्तभूत ऊकार ही 'प्रग्रह' होता है।

---

(१) १५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परः—"सहसो यहो। अस्मे"[१]। व्यञ्जनपरः—"विष्णो हव्यं रक्षस्व"[२]। "वायो शतं हरीणाम्"[३]। असांहित इति किम्? "सोऽकोंऽभवत्"[४]। "अपशव्योऽपशुः"[५]। अकार-व्यञ्जनपर इति किम्? "विष्णवे हीदम्"[६]। "वायविष्टये दुरोणे"[७] ॥ ६ ॥

त्रि०—असाꣳहितः ओकारः; (अकारव्यञ्जनपरः =) अकारपरः व्यञ्जनपरो वा; प्रग्रहः स्यात्। यथा—"वद्मा हि सूनो असि"[८]। "विष्णो हव्यꣳरक्षस्व"[२]। असाꣳ-हित इति किम्? "सोऽब्रवीत्"[९]। एवम्पर इति किम्? "विष्णवे हीदम्"[६]। सꣳहितानिमित्तः साꣳहितः न साꣳहितः असाꣳहितः। अकारश्च व्यञ्जनं च अकारव्यञ्जने एते परे यस्मात् सः तथोक्तः ॥ ६ ॥

वै०—संहितायां जातः सांहितः। यः पदाध्याये न विद्यते, विद्यते तु संहितायां स

त्रि० अ०—असाꣳहितः ओकारः = संहिता से निष्पन्न न होने वाला ओकार; (अकारव्यञ्जनपरः =) अकार बाद में होने पर अथवा 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"वद्मा हि सूनो असि"। "विष्णो हव्यꣳरक्षस्व"।[क] संहिता से निष्पन्न न होने वाला (ओकार)—यह क्यों (कहा)? "सोऽब्रवीत्"।[ख] ये (अकार अथवा 'व्यञ्जन') बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "विष्णवे-हीदम्"।[ग] संहिता (संधि) के परिणामस्वरूप निष्पन्न = साꣳहित; जो साꣳहित नहीं है वह = असाꣳहित। अकार और व्यञ्जन = अकारव्यञ्जने; ये दोनों हैं बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (= अकारव्यञ्जनपरः) है ॥ ६ ॥

वै० अ०—संहिता (संधि) में उत्पन्न = सांहित। जो पद-पाठ में विद्यमान

(क) वद्मा। हि। सूनो इति। असि ॥ प० पा०
विष्णो इति। हव्यम्। रक्षस्व ॥ प० पा०

'सूनो' तथा 'विष्णो' के ओकार 'प्रग्रह' हैं, क्योंकि (१) दोनों असांहित अर्थात् संहिता से निष्पन्न नहीं हैं और (२) ओकार के बाद में क्रमशः अकार तथा 'व्यञ्जन' (हकार) हैं।

(ख) सः। अब्रवीत् ॥ प० पा०

'सो' का ओकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि ओकार संहिता से निष्पन्न है। अकार परे रहते विसर्जनीय ६।१।७ से ओकार हो गया है।

(ग) विष्णो। एति (आ+इति)। इहि। इदम् ॥ प० पा०

'विष्णो' का ओकार 'प्रग्रह' नहीं हैं, क्योंकि ओकार के बाद में न अकार है और न 'व्यञ्जन', अपितु आकार है।

---

(१) ४।४।४ (२) १।१।३ (३) २।२।१२ (४) ५।४।३
(५) ६।३।३ (६) २।४।१२ (७) २।२।१२ (८) १।३।१४
(९) २।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांहितः । ततोऽन्यः असांहितः । तथाभूतः (= असांहितः); ओकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति; (अकारव्यञ्जनपरः =) अकारे व्यञ्जनेषु च परतः । अकारपरस्तावत्—"अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो पाहि"[१] । "उरो अन्तरिक्ष सजूर्देवेन"[२] । व्यञ्जनपरः खल्वपि—"विष्णो हव्यꣳरक्षस्व"[३] । "एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे"[४] । असांहित इति किम् ? "मातरिश्वनो घर्मोसि"[५] । अकारलोपो न स्यात् । वक्ष्यति—"आयोऽध्वर्यो क्रतोपूर्वः"[६] इति तत्रान्यतस्सिद्धस्य लोपस्य विधानं प्रग्रहान्तरपूर्वकस्यालोपार्थम् । नन्वेवं सति "लुप्यते स्वकारः"[६] इति

नहीं होता किन्तु संहिता (—पाठ) में विद्यमान होता है वह सांहित है । उससे अन्य असांहित है । वैसा (= असांहितः = संहिता में निष्पन्न न होने वाला); पदान्तः ओकारः = 'ओ' वर्ण; (अकारव्यञ्जनपरः =) अकार अथवा 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; 'प्रग्रह' होता है । अकारपर (का उदाहरण)—"अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो पाहि" ।[क] "उरो अन्तरिक्ष सजूर्देवेन" ।[क] व्यञ्जनपर का भी (उदाहरण)—"विष्णो हव्यꣳरक्षस्व" ।[ख] "एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे" ।[ख] असांहित (ओकार) यह क्यों (कहा) ? "मातरिश्वनो घर्मोऽसि" ।[ग] अकार का लोप नहीं होता ।[घ] "आयो, अध्वर्यो, क्रतो पूर्व में हो (तो अकार का लोप हो जाता है)"—यह आगे कहेंगे—वहाँ अन्य (सूत्र) से सिद्ध लोप का विधान प्रग्रहान्तरपूर्वक (दूसरा 'प्रग्रह' है पूर्व में जिसके ऐसे) (अकार) के अलोप के लिए है ।[ङ] (शङ्का)

(क) अग्ने । अदब्धायो इत्यदब्ध-आयो । अशीततनो इत्यशीत—तनो । पाहि ॥ प० पा०

संहिता-पाठ में 'अदब्धायो' के बाद में विद्यमान अकार का लोप १२।८ से हुआ है ।

उरो इति । अन्तरिक्ष । सजूरिति स—जूः । देवेन ।

(ख) विष्णो इति । हव्यम् । रक्षस्व ॥ प० पा०

एति (आ + इति) । इहि । वसो इति । पुरुवसो इति पुरु—वसो । प्रियः । मे ॥ प० पा०

(ग) मातरिश्वनः । घर्मः । असि ॥ प० पा०

(घ) उपर्युक्त उदाहरण में 'घर्मो' का ओकार संहिता से उत्पन्न है । पद-पाठ में स्थित 'घर्मः' का विसर्जनीय (अः) ९।७ से सं० पा० में 'ओ' हो गया है । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार संहिता से निष्पन्न ओकार 'प्रग्रह' नहीं होता है । अतः 'घर्मो' का ओकार 'प्रग्रह' नहीं है । यदि सूत्र में 'असांहितः' का उल्लेख न किया जाता तो 'घर्मो' का ओकार भी 'प्रग्रह' हो जाता । तब 'घर्मो' के बाद मे स्थित अकार का लोप न होता, जबकि लोप अभीष्ट है ।

(ङ) १२।८ में यह विधान किया गया है कि 'आयो', 'अध्वर्यो' और 'क्रतो' पूर्व में होने

---

(१) १।१।१३ (२) १।३।८ (३) १।१।३ (४) ३।२।५
(५) १२।८ (६) ११।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओकारपूर्वस्याकारस्य लोपे "विधिरुत्सर्गो नावकल्पते" इति तदुपपत्त्यर्थं "आयोऽध्वर्यो क्रतोपूर्वः"[१] इत्येष पुनर्विधिः अतोऽन्यस्मादसांहिताद्योकारात्परस्याकारस्यालोपार्थमाश्रयिष्यते। ततः सांहितस्य ओकारस्य प्रग्रहत्वेऽपि नानिष्टं किञ्चिदस्तीति व्यर्थमसांहितविशेषणम्। अत्रोच्यते—न ह्यनिष्टं नास्तीति संज्ञाः क्रियन्ते। अपि तु कार्यमस्तीत्येव। कार्यार्थं हि संज्ञापरिभाषम्। तस्मात्सांहित ओकारे प्रग्रहकार्यरहिते संज्ञा मा भूदित्यसांहितविशेषणं प्रयुज्यते। अकारव्यञ्जनपर इति किम्? "विष्णवे हीदम्"[२]। "वायविष्टये"[३] ॥ ६ ॥

ओकार है पूर्व में जिसके ऐसे अकार के लोप के विषय में "एकार और ओकार पूर्व में होने पर अकार लुप्त हो जाता है" यह विधान अपवादरहित नियम नहीं है। उस (लोप) की उपपत्ति के लिए "आयो, अध्वर्यो और क्रतो है पूर्व में जिसके (वह अकार लुप्त हो जाता है" यह पुनर्विधान इस (अर्थात् इन पदों के अन्तिम ओकार) से अन्य असांहित ओकार से परवर्ती अकार के अलोप के लिए स्वीकार किया जायेगा। इसलिए सांहित ओकार के प्रग्रह होने पर भी कोई अनिष्ट नहीं होता है, इसलिए (प्रस्तुत सूत्र में) असांहित विशेषण व्यर्थ है। इस विषय में कहते हैं—कोई अनिष्ट नहीं होता है, इसलिए संज्ञा नहीं की जाती है। अपितु कार्य होता है (इसलिए संज्ञा की जाती है)। क्योंकि संज्ञा और परिभाषा कार्य के लिए होती हैं। इसलिए 'प्रग्रह' के कार्य से रहित सांहित ओकार में ('प्रग्रह') संज्ञा न हो जावे—इसलिए (सूत्र में) असांहित विशेषण प्रयुक्त किया गया है।[क] 'अकार अथवा व्यञ्जन बाद में होने पर' यह क्यों कहा? "विष्णवे हीदम्"। 'वायविष्टये" ॥६॥

पर अकार लुप्त हो जाता है। १२।८ के भाष्य में पूर्वपक्षी ने यह शङ्का की है—'आयो' और 'अध्वर्यो'—इन दो पदों से परवर्ती अकार का लोप ११।१ से सिद्ध है। 'क्रतो' से परवर्ती अकार का लोप १२।४ से सिद्ध है। यह वस्तुस्थिति होने पर पहले से ही सिद्ध लोप का पुनर्विधान १२।८ के द्वारा क्यों किया गया है। इस शङ्का का समाधान सिद्धान्ती ने इस प्रकार किया है—सिद्ध होने पर जो पुनर्विधान किया गया है वह नियम के लिए है। इससे यह निर्णय होता है—'आयो', 'अध्वर्यो' और 'क्रतो'—केवल ये तीन पद ऐसे हैं जिनके 'प्रग्रह' ओकार के बाद में स्थित अकार लुप्त हो जाता है। अन्य किसी भी प्रग्रह एकार अथवा ओकार के बाद में स्थित अकार का लोप नहीं होता है।

यदि प्रस्तुत सूत्र (४।६) में 'असांहित' पद को न रखा जाये तो 'धर्मोऽसि' का सांहित ओकार भी 'प्रग्रह' हो जायेगा और तब 'धर्मो' के बाद में स्थित 'असि' के अकार का लोप नहीं होगा। किंतु लोप अभीष्ट है। अतः प्रस्तुत सूत्र में 'असांहित' पद को रखा गया है।

(क) इस विषय के सम्यक् अवबोध के लिए १२।८ पर वै० देखिए।

---

(१) १२।८ (२) २।४।१२ (३) २।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समहदथपित्पूर्वश्च ॥ ७ ॥

मा०—असांहित एवोकारः स म ह द थ पित् इत्येवपूर्वः अकारादन्यस्वरपरोऽपि प्रग्रहो भवति। यथा—"सो एवैषैतस्य"[१]। "माऽरो मो एषाम्"[२]। "उपहूतां हो इति"[३]। "इन्दो इति"[४]। "तथो एवोत्तरे"[५]। "पितो आ विशस्व"[६]। पित् इति किम्? "शतक्रतवुद्दँशमिव"[७] ॥ ७ ॥

त्रि०—पूर्वोक्तनिमित्ताभावेऽपि कार्यविधानार्थमोकारं विशिनष्टि—चकार ओकारमन्वादिशति। (समहदथपित्पूर्वश्च =) स, म, ह, द, थ, पित् एवं पूर्वः; असांहित ओकारः अकारव्यञ्जनाभ्यामन्यपरोऽपि प्रग्रहो भवति। यथा—"सो एवैषैतस्य"[१]। "मा भैर्माऽरो मो एषाम्"[२]। "उपहूतांऽहो इत्याह"[३]। "इन्दो इत्याह"[४]। "तथो एवोत्तरे"[५]

सू० अ०—स, म, ह, द, थ और पित् पूर्व में होने पर भी (असांहित ओकार 'प्रग्रह' संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—पूर्व (सूत्र) में कहे गए निमित्त (अकार अथवा 'व्यञ्जन') का अभाव होने पर भी कार्य—विधान के लिए ओकार के वैशिष्ट्य को दिखलाते हैं (वह ओकार जिसके पहले स, म, ह, द, थ अथवा पित् हो—यह ओकार का वैशिष्ट्य है)। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार (असांहित) ओकार का अन्वादेश करता है।[क] (समहदथपित्पूर्वश्च =) स, म, ह, द, थ तथा पित्—ये पूर्व में होने पर; असांहित ओकार, अकार और 'व्यञ्जन' से अन्य (वर्ण) बाद में होने पर भी, 'प्रग्रह' होता है, जैसे—"सो एवैषैतस्य"। "मा भैर्माऽरो मो एषाम्"। "उपहूतांऽहो इत्याह"। "इन्दो इत्याह"। "तथो एवोत्तरे"। "पितो आ विशस्व"।[ख] ये (स,

---

(क) भाष्यकार ने 'च' शब्द से ओकार का ही 'अन्वादेश किया है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से सांहित तथा असांहित दोनों ओकारों का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'च' शब्द से पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट असांहित ओकार का ग्रहण होता है—यह कहना चाहिए।

(ख) सो इति। एव। एषा। एतस्य ॥ प० पा०
मा। भैः। मा। अरः। मो इति। एषाम् ॥ प० पा०
उपहूताऽम् इत्युप—हूताऽम्। हो इति। इति। आह ॥ प० पा०
इन्दो इति। इति। आह ॥ प० पा०
तथो इति। एव। उत्तरे इत्युत्—तरे ॥ प० पा०
पितो इति। एति। विशस्व ॥ प० पा०
इन उदाहरणों में अकार अथवा 'व्यञ्जन' बाद में न होने पर भी क्रमशः सो, मो, हो, इन्दो, तथो तथा पितो के ओकार 'प्रग्रह' संज्ञक हैं, क्योंकि इन ओकारों के पूर्व में क्रमशः स, म, ह, द, थ तथा पित् हैं।

---

(१) २।२।६ (२) ४।५।१० (३) २।६।७ (४) ६।५।८
(५) ३।४।९ (६) ५।७।२ (७) १।६।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पितो आ विशस्व"[१]। एवम्पूर्व इति किम्? "शतक्रतवुद्वꣳशमिव"[२]। असाꣳहित इति किम्? "प्र सो अग्ने"[३] ॥ ७ ॥

वै०—आकारादिस्वरपरार्थोऽयमारम्भः। तेन ओकारोऽसांहित इत्येतावत्पूर्वसूत्रादनुवर्तते। समहदथपित्पूर्व इति कार्यभाजो विशेषणमात्रम्। पदकार्यविधिषु कार्यभाक्पदैकदेशस्य निमित्तत्वोपबन्धत्वायोगात्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। तदयमर्थः—(समहदथपित्पूर्वश्च =) स। म। ह। द। थ। इत्येतद्व्यञ्जनपूर्वकः पित्शब्दपूर्वकश्च; असांहित ओकारः पदान्तः प्रग्रहो भवतीति। स—"वशाऽनूबन्ध्या सो एवैषैतस्य"[४]। म—"मा भेर्मारो मो एषाम्"[५]। ह—"उपहूतांऽहो इत्याह"[६]। द—"इन्दो इन्द्रियावतः"[७]। थ—"अथो आहुः"[८]। पित्—"पितो आ विशस्व"[९]। एवं पूर्व इति किम्? "शविष्ठ धृष्णवा गहि"[१०] ॥ ७ ॥

म, ह, द, थ तथा पित्) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "शतक्रतवुद्वꣳशमिव"।[क] असाꣳहित—यह क्यों (कहा)? "प्र सो अग्ने"[ख] ॥ ७ ॥

वै० अ०—आकारादि 'स्वर' हैं बाद में जिसके ऐसे (ओकार) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया है। इससे 'असांहित ओकार'—इतने अंश की पूर्व सूत्र (४।६) से अनुवृत्ति हो रही है। स, म, ह, द, थ अथवा पित् पूर्व में होने पर यह कार्य को प्राप्त करने वाले (ओकार) का विशेषण मात्र है। क्योंकि पद कार्य विधियों में कार्य को प्राप्त करने वाले पद का एक अंश निमित्त और उपबन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार आगे भी देखना चाहिए। इससे यह अर्थ हुआ—(समहदथपित्पूर्वश्च =) स, म, ह, द, थ—ये 'व्यञ्जन' पूर्व में हों अथवा 'पित्' शब्द पूर्व में हो; तो असांहित पदान्त ओकार 'प्रग्रह' होता है। स (का उदाहरण)—"वशाऽनूबन्ध्या सो एवैषैतस्य"। म (का उदाहरण)—"मा भेर्माऽरो मो एषाम्"। ह (का उदाहरण)—"उपहूतांऽहो इत्याह"। द (का उदाहरण)—"इन्दो इन्द्रियावतः"। थ (का उदाहरण)—"अथो आहुः"। 'पित्' (का उदाहरण)—"पितो आ

(क) शतक्रतविति शत—क्रतो। अदिति। वꣳशम्। इव ॥ प० पा०

प्रस्तुत प्रत्युदाहरण में 'शतक्रतो' का ओकार 'प्रग्रह' संज्ञक नहीं है, क्योंकि ओकार के पूर्व में स, म, ह, द, थ अथवा पित् नहीं है।

(ख) प्रेति (प्र+इति)। सः। अग्ने ॥ प० पा०

पद-पाठ में स्थित 'सः' का विसर्जनीय सन्धि के परिणामस्वरूप ९।७ से ओकार हो गया है। अतः यह ओकार असांहित नहीं है। यही कारण है कि

---

(१) ५।७।२ (२) १।६।१२ (३) ३।२।११ (४) २।२।९
(५) ४।५।१० (६) २।६।७ (७) १।४।२७ (८) ७।१।१
(९) ५।७।२ (१०) १।४।३९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथैकारेकारौ ॥ ८ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। ईकारश्च एकारश्च प्रग्रहत्वेनाधिकृतावित्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ ८ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। एकारेकारौ प्रग्रहत्वेन विधीयेते इति एतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ८ ॥

वै०—एकारश्च ईकारश्च = एकारेकारौ। कुत एवमिति चेत्, "देवते उभे" "अमी चक्षुषी"[1] इति तयोरेवोत्तरत्रोपादानात्। शाखान्तरेऽप्येकारादेः प्रगृह्यत्वानुपदेशाच्च।

विशस्व"।[क] ये (स, म, ह, द इत्यादि) पूर्व में हों—यह क्यों (कहा)? "शविष्ठ धृष्णवा गहि"[ख] ॥ ७ ॥

सू० अ०—अब एकार और ईकार ('प्रग्रह' के रूप में विहित किए जाते हैं)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है। एकारेकारौ—एकार और ईकार; 'प्रग्रह' के रूप में विहित किए जाते हैं—इसे अधिकृत जानना चाहिए ॥ ८ ॥

वै० अ०—एकारेकारौ—एकार और ईकार। यदि (कोई पूछे कि) इस प्रकार क्यों? (उत्तर) "देवते, उभे···" और "अमी, चक्षुषी···" इत्यादि परवर्ती (सूत्रों) में उन दो का ही ग्रहण किया गया है। और दूसरी शाखा में भी ऐकार आदि के प्रगृह्यत्व का उपदेश नहीं किया गया है।[ग] एकार और ईकार का यहाँ

स पूर्व में होने पर भी प्रस्तुत सूत्र से यह ओकार 'प्रग्रह' नहीं है। असांहित ओकार के ही 'प्रग्रह' होने का विधान प्रस्तुत सूत्र से किया गया है।

(क) वशा। अनूबन्ध्येत्यनु—बन्ध्या। सो इति। एव। एषा ॥ प० पा०
मा। भेः। मा। अरः। मो इति। एषाम् ॥ प० पा०
उपहूता३म् इत्युप—हूता३म्। हो इति। इति। आह ॥ प० पा०
इन्दो इति। इन्द्रियावत इतीन्द्रिया—वतः ॥ प० पा०
अथो इति। आहुः ॥ प० पा०
पितो इति। एति। विशस्व ॥ प० पा०

(ख) शविष्ठ। धृष्णो। एति। गहि ॥ प० पा०
इस प्रत्युदाहरण में 'धृष्णो' का ओकार 'प्रग्रह' संज्ञक नहीं है, क्योंकि ओकार के पूर्व में स्, म्, ह्, द्, थ् अथवा पित् नहीं है।

(ग) पूर्वपक्षी—सूत्रस्थ "अथैकारेकारौ" का संधि-विच्छेद इस प्रकार भी किया जा

---

(१) ४।११,१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकारेकाराविह उत्तरेषां विधीनां संज्ञित्वेन अधिक्रियेते। "द्यावापृथिवी" "पूर्वश्च"[1] इत्यादिषु वर्णान्तरस्य प्रग्रहसंज्ञा न भवति ॥ ८ ॥

अस्मे ॥ ९ ॥

मा०—अस्मे इत्येतत्पदं सर्वत्र प्रग्रहो भवति। यथा—"अस्मे रायः"[2] ॥ ९ ॥

त्रि०—अस्मे इत्येतस्मिन् ग्रहणे, अन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति। यथा—"अस्मे ते बन्धुः"[3] ॥ ९ ॥

वै०—अस्मे इत्यत्र विद्यमानोऽधिकृतो वर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "अस्मे ज्योतिः"[4]। "अस्मे इन्द्राबृहस्पती"[5] ॥ ९ ॥

(= इस सूत्र में) परवर्ती विधियों के संज्ञी के रूप में अधिकार किया गया है। (इसलिए) "द्यावापृथिवी" और "('द्यावापृथिवी' से) पूर्व वाला भी (पद) ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)"—इत्यादि में अन्य वर्ण की 'प्रग्रह' संज्ञा नहीं होती है[क] ॥ ८ ॥

सू० अ०—अस्मे (का अन्तिम एकार 'प्रग्रह' संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—अस्मे—इस पद में अन्त्य 'स्वर' (एकार) 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"अस्मे ते बन्धुः"[ख] ॥ ९ ॥

वै० अ०—अस्मे—यहाँ पर विद्यमान अधिकृत वर्ण (= एकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। (जैसे) "अस्मे ज्योतिः"। "अस्मे इन्द्राबृहस्पती"[ग] ॥ ९ ॥

सकता है—अथ + ऐकार + इकारौ इत्यादि। तब भाष्यकार ने यह संधि—विच्छेद किस आधार पर किया है—अथ + एकार + ईकारौ।

सिद्धान्ती—(१) परवर्ती सूत्रों में एकार और ईकार के ही 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है, ऐकार इत्यादि का नहीं; (२) दूसरी शाखा में भी ऐकार के 'प्रग्रह' होने का विधान नहीं किया गया है।

(क) ४।८ अधिकार-सूत्र है। इसमें एकार और ईकार का संज्ञी के रूप में अधिकार किया गया है। परवर्ती सूत्रों में एकार और ईकार—इन दो स्वरों की ही 'प्रग्रह' संज्ञा की गई है, अन्य स्वरों की नहीं ॥

(ख) अस्मे इति। ते। बन्धुः ॥ प० पा०

(ग) अस्मे इति। ज्योतिः ॥ प० पा०
अस्मे इति। इन्द्राबृहस्पती ईतीन्द्रा—बृहस्पती ॥ प० पा०

---

(१) ४।१२,१३ (२) १।२।५ (३) १।२।७
(४) १।२।७ (५) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः ॥ १० ॥

मा० – प्रग्रहो भवति । यथा—"त्वे रायः"[१] । "त्वे क्रतुम्"[२] । अनिंग्यान्त इति किम् ? "अनागास्त्वे अदितित्वे"[३] ॥ १० ॥

त्रि०—इतिशब्दः केवलपदग्रहणत्वं द्योतयति । अनिंग्यान्तः त्वे इत्येष शब्दः प्रग्रहो भवति । यथा—"त्वे क्रतुमपि"[२] । अनिंग्यान्त इति किम् ? "अनागास्त्वे अदितित्वे तुरासः"[३] । इंग्यस्यान्तः इंग्यान्तः न इंग्यान्तः अनिंग्यान्तः ॥ १० ॥

वै०—इङ्ग्यस्य अन्तः = इङ्ग्यान्तः । ततो नञ्समासः । त्वे इत्यत्राधिकृतो वर्णः पदान्तोऽनिङ्ग्यान्तः प्रग्रहो भवति । "त्वे रायस्तोते रायः"[१] । अनिङ्ग्यान्त इति किम् ? "अनागास्त्वे अदितित्वे"[३] । अनिङ्ग्यस्यान्त इति विग्रहे विधिबलात्पदग्रहणपरि-

---

सू० अ०—सावग्रह पद के अन्त में जो विद्यमान नहीं है वह 'त्वे' ('प्रग्रह' होता है) ।

त्रि० अ०—इति शब्द केवल पद के ग्रहणत्व को द्योतित करता है (अर्थात् 'इति' शब्द का प्रयोग सूत्र में यह बतलाने के लिए किया गया है कि वेद से उद्धृत अवग्रहरहित 'त्वे' पद के विषय में ही यह नियम है) । अनिङ्ग्यान्तः = सावग्रह पद के अन्त में जो विद्यमान नहीं है, (अर्थात् अवग्रह-रहित पद के अन्त में जो विद्यमान है) वह; त्वे – यह शब्द 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"त्वे क्रतुमपि" ।[क] सावग्रह पद के अन्त में जो विद्यमान नहीं है—यह क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अनागास्त्वे अदितित्वे तुरासः"[ख] । इङ्ग्य का अन्त = इङ्ग्यान्त, इङ्ग्य के अन्त में जो नहीं है वह = अनिङ्ग्यान्त ॥

वै० अ०—इङ्ग्य का अन्त = इङ्ग्यान्त । इसके पश्चात् (इग्ङ्यान्त में) नञ् समास है ।[ग] त्वे—यहाँ अधिकृत वर्ण (= ए) पदान्त होने पर तथा; अनिङ्ग्यान्तः = सावग्रह पद के अन्त में विद्यमान न होने पर; 'प्रग्रह' होता है । (उदाह-

---

(क) त्वे इति । क्रतुम् । अपीति ॥ प० पा०

(ख) अनागास्त्व इत्यनागाः—त्वे । अदितित्व इत्यदिति—त्वे । तुरासः ॥ प० पा०
यहाँ 'त्वे' सावग्रह पद के अन्त में विद्यमान है । अतः यह 'त्वे' 'प्रग्रह' नहीं है ।

(ग) निषेधार्थक 'न' को नञ् कहते हैं । पा० २।२।६ से नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है । प्रस्तुत में विग्रह यह होगा—न इङ्ग्यान्तः । पा० ६।३।७ के अनुसार इङ्ग्यान्त बाद में होने पर 'न' के नकार का लोप होकर यह विग्रह हुआ—अ इङ्ग्यान्तः । पा० ६।३।७४ से अ के बाद में नुट् का आगम होकर यह रूप बना—अन् इङ्ग्यान्तः = अनिङ्ग्यान्तः ॥

---

(१) १।२।५ (२) ३।५।१० (३) २।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा न स्यात्। ततश्च। "क्रत्वे दक्षाय जीवसे"[1]। इत्यादौ प्रग्रहत्वं स्यात्। इष्टं च न सिध्येत्। तन्निवारणार्थं इतिकरणः। तेन हि पदरूपताऽभिव्यक्तेस्तद्विरुद्धविग्रहो निवार्यते ॥ १० ॥

रण) "त्वे रायस्तोते रायः"।[क] सावग्रह पद के अन्त में न विद्यमान होने पर—यह क्यों (कहा)? "अनागास्त्वे अदितित्वे"।[ख] 'अवग्रह—रहित पद का अन्त' यह विग्रह करने पर विधि के बल से पदग्रहण परिभाषा नहीं होगी। और उससे "क्रत्वे दक्षाय जीवसे" इत्यादि में प्रग्रहत्व हो जायेगा। और इष्ट की सिद्धि नहीं होगी। उसके निवारण के लिए इति—शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे पद-रूप ('त्वे') की अभिव्यक्ति होने पर उसके विरुद्ध विग्रह का निवारण किया जाता है[ग] ॥ १० ॥

(क) त्वे इति। रायः। तोते। रायः ॥ प० पा०

(ख) अनागास्त्व इत्यनागाः—त्वे। अदितित्व इत्यदिति—त्वे ॥ प० पा०

यहाँ 'त्वे' सावग्रह पद (इङ्ग्य) के अन्त में विद्यमान है। अतः 'अदितित्वे' का 'त्वे' 'प्रग्रह' नहीं है।

(ग) भाष्यकार के अनुसार 'त्वे' के बाद में स्थित 'इति' शब्द 'त्वे' के पद—स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रयुक्त है। इससे 'त्वे इति' का अर्थ है 'त्वे'—यह पद। सूत्र का अर्थ यह होगा—'त्वे' यह पद अवग्रह—रहित पद का अन्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। १।५० में यह विधान किया गया है कि जब सूत्र में किसी पद का ग्रहण किया गया हो, वहाँ वह सूत्र संहितास्थ उस पद पर ही लागू होता है, उस पद के स्वरूप वाले पदैकदेश पर नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र (४।१०) से 'त्वे' पद होने पर ही 'प्रग्रह' होता है, पद का एक देश होने पर नहीं।

उपर्युक्त के विपरीत यदि 'इति' 'त्वे' के साथ सम्बद्ध न होकर 'अनिङ्ग्-धान्तः' के साथ सम्बद्ध हो तो वह 'त्वे' के पद-स्वरूप को नहीं बतलायेगा। तब सूत्र का अर्थ यह होगा—अवग्रह-रहित पद का अन्त जो 'त्वे' है वह 'प्रग्रह' होता है। अब यहाँ १।५० लागू नहीं होगा। इससे अवग्रहरहित पद का अन्त 'त्वे' 'प्रग्रह' होगा, चाहे वह पद हो अथवा पद का एक अंश हो। उदाहरण—"क्रत्वे दक्षाय जीवसे" में 'क्रत्वे' पद का अंश 'त्वे' 'प्रग्रह' हो जायेगा। किन्तु यह अनिष्ट है अर्थात् यहाँ 'त्वे' को 'प्रग्रह' नहीं माना गया है। इस अनिष्ट के निवारण के लिए 'इति' को 'त्वे' के साथ सम्बद्ध माना गया है। इससे 'इति' पद-स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इस स्थिति में पदभूत 'त्वे' ही 'प्रग्रह' होता है, पद का अंशभूत 'त्वे' नहीं।

---

(१) १।८।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवते उभे भागधे ऊर्ध्वे विशाखे शृङ्गे एने मेध्ये तृष्णे तृद्ये कनीनिके पार्श्वे शिवे चोत्तमे एवोत्तरे शिप्रे रथन्तरे वत्सरस्यरूपे विरूपे विषुरूपे सदोहविर्धाने अधिषवणे अहोरात्रे धृतव्रते स्तुतशस्त्रे ऋक्सामे अक्ते अर्पिते रैवते पूर्ते प्रत्ते विधृते अनृते अच्छिद्रे बहुले पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने ॥ ११ ॥

मा०—इत्येतानि पदानि प्रग्रहाणि भवन्ति। यथा—"द्वे ह्येते देवते समृध्यै"[१]। "उभे एव संवत्सरस्य"[२]। "भागधे भागधा अस्मै"[३]। भागधे इति किम्? "अग्न उदधे"[४]। "ऊर्ध्वे समिधौ"[५]। "विशाखे नक्षत्रम्"[६]। विशाखे इति किम्? "तस्मिन् सहस्रशाखे"[७] इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "शिशीते शृंगे"[८]। "मेध्ये एवैने"[९]। "असन्तृष्णे"[१०]। "सन्तृद्ये धृत्यै"[११]। "कनीनिके अग्निष्टोमौ"[१२]। "पार्श्वे पररसामानः"[१३]। "शिवे नो द्यावापृथिवी"[१४]। "विकर्णी चोत्तमे"[१५]। चोत्तमे इति किम्? "अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु"[१६]। "तथो एवोत्तरे निर्वपेत्"[१७]। "शिप्रे अवेपयः"[१८]। "यद् बृहद्रथन्तरे अन्वर्जेयुः"[१९]। "संवत्सरस्य रूपे आप्नुवन्ति"[२०]। "विरूपे धापयेते"[२१]। "विषुरूपे अहनीद्योः"[२२]। वत्सरस्य रूपे विरूपे विषुरूपे इति किम्? "दृश आ रूपे अन्नम्"[२३]। "सदोहविर्धाने एव सम्मिनोति"[२४]। सदोहविर्धान इति किम्? "उपरवा हविर्द्धाने खायन्ते"[२५]। "अहोरात्रे प्राविशन्"[२६]। अहोरात्र इति किम्? "अतिरात्रे पशुकामस्य"[२७]। "हनू अधिषवणे जिह्वा"[२८]। अधिषवण इति किम्? "माध्यन्दिन एव सवने"[२९]। "धृतव्रते आविक्षा"[३०]। धृतव्रत इति किम्? "यस्य व्रते पुष्टिपतिः"[३१]। "स्तुतशस्त्रे एवैतेन"[३२]। स्तुतशस्त्र इति किम्? "उक्थ्यशस्त्रे प्रतिनियमः" इत्यन्यस्यां

सू० अ०—देवते, उभे, भागधे, ऊर्ध्वे, विशाखे, शृङ्गे, एने, मेध्ये, तृष्णे, तृद्ये, कनीनिके, पार्श्वे, शिवे, चोत्तमे, एवोत्तरे, शिप्रे, रथन्तरे, वत्सरस्यरूपे, विरूपे, विषुरूपे, सदोहविर्धाने, अधिषवणे, अहोरात्रे, धृतव्रते, स्तुतशस्त्रे, ऋक्सामे, अक्ते, अर्पिते, रैवते, पूर्ते, प्रत्ते, विधृते, अनृते, अच्छिद्रे, बहुले, पूर्वजे और कृणुध्वꣳसदने—ये पद प्रग्रह संज्ञक होते हैं।

---

(१) २।१।६ (२) ७।५।१ (३) २।५।६ (४) ५।५।९
(५) २।६।६ (६) ४।४।१० (७) तै०उ० १।४ (८) १।२।१४
(९) ६।२।९ (१०) ६।२।११ (११) ६।२।११ (१२) ७।२।६
(१३) ७।३।१० (१४) ४।६।६ (१५) ५।३।७ (१६) ४।६।४
(१७) ३।४।९ (१८) १।४।३० (१९) ७।५।३ (२०) ७।५।१
(२१) ४।१।१० (२२) ४।१।११ (२३) ४।३।१३ (२४) २।५।५
(२५) ६।२।११ (२६) १।५।६ (२७) ६।६।११ (२८) ६।२।११
(२९) ३।२।९ (३०) १।८।१२ (३१) ३।१।११ (३२) ५।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाखायाम्। "ऋक्सामे वै देवेभ्यः"[१]। ऋक्साम इति किम्? "शक्वरसामे" इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "घृतेनाक्ते वृषणम्"[२]। "द्यावापृथिवी भुवनेष्वर्पिते"[३]। "शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्यै"[४]। "इष्टापूर्ते संसृजेथाम्"[५]। "प्रत्ते काममन्नाद्यम्"[६]। "चक्षुषी विधृते सर्वतः"[७]। विधृत इति किम्? "धृते मनन्ति" इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "सत्यानृते अवपश्यन्"[८]। "अच्छिद्रे बहुले उभे"[९]। "प्रपूर्वजे पितरा"[१०]। पूर्वज इति किम्? "प्रयाजे"[११]। "गीर्भिः कृणुध्वँ सदने ऋतस्य"[१२]। कृणुध्वं सदन इति किम्? "अर्णवे सदने सीद"[१३] इति॥ ११॥

त्रि०—देवते उभे भागधे ऊर्ध्वे विशाखे शृङ्गे एने मेध्ये तृण्णे तृद्ये कनीनिके पार्श्वे शिवे चोत्तमे एवोत्तरे शिप्रे रथन्तरे वत्सरस्यरूपे विरूपे विषुरूपे सदोहविर्धाने अधिषवणे अहोरात्रे धृतव्रते स्तुतशस्त्रे ऋक्सामे अक्ते अर्पिते रैवते पूर्ते प्रत्ते विधृते अनृते अच्छिद्रे बहुले पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने—एतानि पदानि प्रग्रहसंज्ञानि स्युः। यथा—"देवते समृद्ध्यै"[१४]। "उभे सुश्चन्द्र"[१५]। "भागधे भागधा अस्मै"[१६]। भाग इति किम्? "अग्न उदधे"[१७]। "ऊर्ध्वे समिधावा दधाति"[१८]। "विशाखे नक्षत्रं"[१९]। वीति

त्रि० अ०—देवते, उभे, भागधे, ऊर्ध्वे, विशाखे, शृङ्गे, एने, मेध्ये, तृण्णे, तृद्ये, कनीनिके, पार्श्वे, शिवे, चोत्तमे, एवोत्तरे, शिप्रे, रथन्तरे, वत्सरस्यरूपे, विरूपे, विषुरूपे, सदोहविर्धाने, अधिषवणे, अहोरात्रे, धृतव्रते, स्तुतशस्त्रे, ऋक्सामे, अक्ते, अर्पिते, रैवते, पूर्ते, प्रत्ते, विधृते, अनृते, अच्छिद्रे, बहुले, पूर्वजे, कृणुध्वꣳसदने—ये पद 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं। जैसे—"देवते समृद्ध्यै"।क "उभे सुश्चन्द्र"।ख "भागधे भागधा अस्मै"।ग भाग—यह क्यों (कहा)? "अग्न उदधे"।घ "ऊर्ध्वे समिधावा दधाति"।ङ "विशाखे नक्षत्रं"।च ('विशाखे' में)

(क) देवते इति। समृद्ध्या इति सम्—ऋद्ध्यै॥ प० पा०

(ख) उभे इति। सुश्चन्द्रेति सु—चन्द्र॥ प०पा०

(ग) भागधे इति भाग—धे। भागधा इति भाग—धाः। अस्मै॥ प० पा०

(घ) अग्ने। उदध इत्युद—धे॥ प० पा०
'धे' प्रग्रह नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'भाग' नहीं है।

(ङ) ऊर्ध्वे इति। समिधाविति सम्—इधौ। एति। दधाति॥ प० पा०

(च) विशाखे इति वि—शाखे॥ प० पा०

---

(१) ६।१।३ (२) १।३।७ (३) ४।७।१३ (४) ४।४।२
(५) ४।७।१३ (६) ५।४।९ (७) ६।४।१० (८) ५।६।१
(९) ४।१।३ (१०) ४।१।११ (११) २।३।२ (१२) ४।१।११
(१३) ४।३।१ (१४) २।१।९ (१५) ४।४।४ (१६) २।५।६
(१७) ५।५।९ (१८) २।६।६ (१९) ४।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम्? "तस्मिन् सहस्रशाखे"[१] इति शाखान्तरे। "अन्तरा शृङ्गे"[२]। "मेध्ये एवैने करोति"[३]। "प्रणेनेक्ति मेध्ये"[३]। "असंतृण्णे हि हनू"[४]। "संतृद्ये धृत्यै"[४]। "कनीनिके अग्निष्टोमौ यत्"[५]। "पार्श्वे परस्सामानः"[६]। "शिवे नो द्यावापृथिवी"[७]। "विकर्णी चोत्तमे उप दधाति"[८]। चेति किम्? "सम्पाद्योत्तमे मासि"[९]। "तथो एवोत्तरे निर्वपेत्"[१०]। एवेति किम्? "नैति षोडश्युत्तरे"[११]। "शिप्रे अवेपयः"[१२]। "यद्बृहद्रथन्तरे अन्वर्जेयुः"[१३]। "संवत्सरस्य रूपे आप्नुवन्ति"[१४]। "विरूपे धापयेते"[१४]। "विषुरूपे अहनी"[१५]। वत्सरस्य वि विषु इति किम्? "अरूक्षितं दश आ रूपे अन्नम्"[१६]। रूपशब्दस्य प्रतिविशेषणमुच्चारणं विस्पष्टार्थं द्रष्टव्यम्। "सदोहविर्धाने एव सं मिनोति"[१७]।

'वि'—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "तस्मिन् सहस्रशाखे"।[क] यह अन्य शाखा में (विद्यमान है)। "अन्तरा शृङ्गे"।[ख] "मेध्ये एवैने करोति"।[ग] "प्रणेनेक्ति मेध्ये"।[घ] "असंतृण्णे हि हनू"।[ङ] "संतृद्ये धृत्यै"।[च] "कनीनिके अग्निष्टोमौ यत्"।[छ] "पार्श्वे परस्सामानः"।[ज] "शिवे नो द्यावापृथिवी"।[झ] "विकर्णी चोत्तमे उप दधाति"।[ञ] 'च'—यह क्यों (कहा)? "सम्पाद्योत्तमे मासि"।[ट] "तथो एवोत्तरे निर्वपेत्"।[ठ] 'एव'—यह क्यों (कहा)? "नैति षोडश्युत्तरे"।[ड] "शिप्रे अवेपयः"।[ढ]

(क) 'शाखे' प्रग्रह नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'वि' नहीं हैं।

(ख) अन्तरा। शृङ्गे इति॥ प० पा०

(ग) मेध्ये इति। एव। एने इति। करोति॥ प० पा०

(घ) प्रेति। नेनेक्ति। मेध्ये इति॥ प० पा०

(ङ) असंतृण्णे इत्यसं—तृण्णे। हि। हनू॥ प० पा०

(च) संतृद्ये इति सं—तृद्ये। धृत्यै॥ प० पा०

(छ) कनीनिके इति। अग्निष्टोमावित्यग्नि—स्तोमौ। यत्॥ प० पा०

(ज) पार्श्वे इति। परः सामान इति परः—सामानः॥ प० पा०

(झ) शिवे इति। नः। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी॥ प० पा०

(ञ) विकर्णीमिति वि—कर्णीम्। च। उत्तमे इत्युत्—तमे॥ प० पा०

(ट) संपाद्येति सं—पाद्य। उत्तम इत्युत्—तमे। मासि॥ प० पा०

(ठ) तथो इति। एव। उत्तरे इत्युत्—तरे। निरिति। वपेत्॥ प० पा०

(ड) न। एति। षोडशि। उत्तर इत्युत्—तरे॥ प० पा०

'उत्तरे' प्रग्रह नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'एव' नहीं हैं।

(ढ) शिप्रे इति। अवेपयः॥ प० पा०

---

(१) तै० उ० १।५ (२) ६।२।८ (३) ६।२।६ (४) ६।२।११ (५) ७।२।६
(६) ७।३।१० (७) ४।६।६ (८) ५।३।७ (९) ७।५।३
(१०) ३।४।९ (११) ७।१।४ (१२) १।४।३० (१३) ७।५।१
(१४) ४।१।१० (१५) ४।१।११ (१६) ४।३।१३ (१७) २।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद इति किम्? "उपरवा हविर्धाने खायन्ते"[१]। ननु "पद ग्रहणेषु पदंगम्येत"[२]। इति सामर्थ्यात् हविर्धाने इत्येकपदस्यैव कार्यसिद्धिः सदः पदं व्यर्थम्। मैवम्। पदग्रहणस्य स्थलान्तरे भिन्नरूपत्वसम्भावनायां विशेषणं सार्थकम्। भिन्नरूपत्वाभावे तु चोद्यमेवैतदवेत्। ननु तर्हि देवते इति पदग्रहणस्य स्थलान्तरे "सोम देव ते मतिविदः"[३] इत्यत्र भिन्नरूपत्वात् विशेषणेन भवितव्यम्। तच्च नास्ति। उच्यते, देवते इत्यखण्डपदस्यैव कार्यविधानादत्र विशेषणं न युज्यते। अखण्डस्य विधानमिति कथं प्रतीयते? ते इत्यंशस्य "ते भा पातं"[४] इत्या-

---

"यद्बृहद्रथन्तरे अन्वर्जेयुः"।[क] "संवत्सरस्य रूपे आप्नुवन्ति"।[ख] "विरूपे धापयेते"।[ग] "विषुरूपे अहनी"।[घ] ('रूप' शब्द के विशेषण के रूप में) 'वत्सरस्य', 'वि', 'विषु'—यह क्यों (कहा)? "अरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम्'।[ङ] प्रत्येक विशेषण के साथ 'रूप' शब्द का पृथक् उच्चारण स्पष्टता के लिए जानना चाहिए।

"सदोहविर्धाने एव सं मिनोति"।[च] सदः—यह क्यों (कहा)? "उपरवा हविर्धाने खायन्ते"।[छ] (पू०) "सूत्र में गृहीत पद से उस पद को ही जानना चाहिए"—इस (सूत्र) के सामर्थ्य से 'हविर्धाने'—इस एक पद की ही कार्यसिद्धि होती है, अतः (सूत्र में) 'सदः' पद व्यर्थ है। (सि०) ऐसी बात नहीं है। दूसरे स्थल में गृहीत पद के भिन्न रूप की सम्भावना होने पर विशेषण सार्थक होता है। भिन्न रूप का अभाव होने पर तो यह शङ्का करना उचित होता। (पू०) तब तो (सूत्र में) गृहीत 'देवते' पद के दूसरे स्थल "सोम देव ते मतिविदः"—यहाँ भिन्न रूप होने से (सूत्र में 'देवते' के साथ भी) विशेषण होना चाहिए। और वह (विशेषण सूत्र में) नहीं हैं। (सि०) बतलाते हैं। 'देवते'—इस अखण्ड पद के ही कार्य का विधान होने से यहाँ विशेषण युक्त नहीं है। (पू०) अखण्ड ('देवते' पद) का विधान—यह कैसे ज्ञात होता है? (उत्तर) 'ते'—इस अंश का "मा

(क) यत्। बृहद्रथंतरे इति बृहत्—रथंतरे। अन्वर्जेयुरित्यनु—अर्जेयुः॥ प० पा०

(ख) संवत्सरस्येति सं—वत्सरस्य। रूपे इति। आप्नुवन्ति॥ प० पा०

(ग) विरूपे इति वि—रूपे। धापयेते इति॥ प० पा०

(घ) विषुरूपे इति विषु—रूपे। अहनी इति॥ प० पा०

(ङ) अरूक्षितम्। दृशे। एति। रूपे। अन्नम्॥ प० पा०
'रूपे' प्रग्रह नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में न 'वत्सरस्य' है, न 'वि' और न 'विषु'।

(च) सदोहविर्धाने इति सदः—हविर्धाने। एव। समिति। मिनोति॥ प०पा०

(छ) उपरवा इत्युप—रवाः। हविर्धान इति हविः—धाने। खायन्ते॥ प०पा०
यहाँ 'हविर्धाने' पद 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'हविर्धाने' के पूर्व में 'सदः' नहीं है।

---

(१) ६।२।११ (२) १।५० (३) ३।२।५ (४) ४।४२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिना पृथक्करणादिति ब्रूमः। नैवं हविर्धाने इत्यस्याखण्डत्वद्योतकं किञ्चिदप्यस्ति येन सदः पदं वैयर्थ्यमालम्बेत। "अधिषवणे[1] जिह्वा चर्म"[1]। अधीति. किम्? "सवनेसवनेऽभि

पातम्...बाद में होने पर 'ते' (शब्द 'प्रग्रह' होता है)" इत्यादि के द्वारा पृथक् (पद) के रूप में विधान किया जाने से—यह बतलाते हैं। इस प्रकार 'हविर्धाने'—इस (पद) के अखण्डत्व का द्योतक कुछ भी नहीं है, जिससे 'सदः' पद का वैयर्थ्य हो।[क]

(क) **पूर्वपक्षी**—सूत्र में 'हविर्धाने' का ग्रहण पर्याप्त था। 'हविर्धाने' के विशेषण के रूप में 'सदः' का सूत्र में ग्रहण करना व्यर्थ है। यह कहना ठीक नहीं है कि 'हविर्धाने' (हविः—धाने) में प्रग्रह के निवारण के लिए 'सदः' शब्द का ग्रहण किया गया है। सूत्र में 'हविर्धाने' पद के ग्रहण से अखण्ड हविर्धाने (हविर्धाने॥ प० पा०) पद ही 'प्रग्रह' होता क्योंकि १।५० में यह विधान किया गया है कि सूत्र में गृहीत पद से उस पद को ही समझना चाहिए। 'हविर्धाने' (हविः—धाने) पद नहीं, अपितु दो पदों का समुदाय है अतः 'हविर्धाने' (हविः—धाने) के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है। तब इसके प्रग्रहत्व के निवारण के लिए सूत्र में 'सदः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हुआ।

सिद्धान्ती—गृहीत पद से अखण्ड पद को भी समझा जाता है और सावग्रह (सखण्ड) पद को भी। १।५० में यह कहा गया है कि गृहीत पद से पद के एक अंश को नहीं समझना चाहिए। अत एव 'हविर्धाने' (हविः—धाने) के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, जिसके निवारण के लिए सूत्र में 'सदः' शब्द का ग्रहण किया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि सूत्र में गृहीत पद से उसके समान रूप वाले पद का ग्रहण होता है, चाहे वह पद दो पृथक् पदों का मेल ही क्यों न हो।

पूर्वपक्षी—यह वस्तुस्थिति होने पर तो प्रस्तुत सूत्र में गृहीत 'देवते' पद से "सोम देव ते मतिविदः" (सोम। देव। ते। मतिविद इति मति—विदः॥ प० पा०) में 'देव ते' का भी ग्रहण होता है। किंतु 'देव ते' 'प्रग्रह' नहीं है। अतः 'देव ते' के प्रग्रह के निवारण के लिए सूत्र में 'देव ते' के हेतु भी सूत्र में विशेषण को जोड़ना चाहिए था। किंतु ऐसा नहीं किया गया है। क्यों?

सिद्धान्ती—प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड 'देवते' पद के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। अतः 'देव ते' के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है। तब विशेषण की क्या आवश्यकता?

पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड 'देवते' पद के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है—यह कैसे ज्ञात होता है?

सिद्धान्ती—विभिन्न शब्दों के बाद में स्थित पृथक् 'ते' पद के 'प्रग्रह' होने

(१) ६।४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृह्णाति"[१]। "अहोरात्रे प्राविशन्"[२]। अहरिति किम्? "अतिरात्रे पशुकामस्य"[३]। "द्यावा-पृथिवी धृतव्रते अविन्ना"[४] : धृतेति किम्? "यस्य व्रते पुष्टिपतिः"[५]। "स्तुतशस्त्रे एवैतेन दुहे"[६]। स्तुतेति किम्? "ऊर्ध्वशस्त्रे प्रतिष्ठिते" इति शाखान्तरे। "ऋक्सामे वै"[७]।

"अधिषवणे जिह्वा चर्म"।[क] 'अधि'—यह क्यों (कहा)? "सवनेसवनेऽभि गृह्णाति"।[ख] "अहोरात्रे प्राविशन्"।[ग] 'अहः'—यह क्यों (कहा)? "अतिरात्रे पशुकामस्य"।[घ] "द्यावापृथिवी धृतव्रते आविन्ना"।[ङ] 'धृत'—यह क्यों (कहा)?

का विधान ४।४२ में किया गया है। पूर्ववर्ती शब्दों में 'देव' शब्द उल्लिखित नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि 'देव' के बाद में स्थित 'ते' पद 'प्रग्रह' नहीं होता है। पृथक्भूत 'ते' का विधान ४।४२ में हो जाने से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सूत्र में पृथक्भूत 'ते' के 'प्रग्रह' होने का विधान नहीं हो सकता है। अतः यहाँ अखण्ड 'देवते' पद के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है—यह ज्ञात होता है।

जहाँ तक 'हविर्धाने' पद का सम्बन्ध है, कोई भी तथ्य यह नहीं बतलाता है कि प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड 'हविर्धाने' के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। 'ते' की भाँति यदि कतिपय शब्दों के बाद में स्थित 'धाने' के 'प्रग्रह' होने का विधान भी किसी सूत्र में किया गया होता तो यह माना जा सकता था कि पृथक्भूत 'धाने' का अन्यत्र विधान हो जाने से प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड 'हविर्धाने' के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है। किंतु ऐसी बात नहीं हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में गृहीत 'हविर्धाने' से अखण्ड तथा सावग्रह दोनों ही प्रकार के 'हविर्धाने' के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, जिससे 'हविर्धाने' (हविः—धाने) 'प्रग्रह' हो जाता। अत एव 'हविर्धाने' (हविः—धाने) के प्रग्रहत्व का निवारण करने के लिए 'हविर्धाने' के विशेषण के रूप में 'सदः' का सूत्र में ग्रहण किया गया है।

(क) अधिषवणे इत्यधि—सवने। जिह्वा। चर्म॥ प० पा०

(ख) सवनेसवन इति सवने—सवने। अभीति। गृह्णाति॥ प०पा०
'सवने' पद 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'अधि' नहीं है।

(ग) अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे। प्रेति। अविशन्॥ प०पा०

(घ) अतिरात्र इत्यति—रात्रे। पशुकामस्येति पशु—कामस्य॥ प०पा०
'रात्रे' पद 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'अहः' नहीं है।

(ङ) द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी। धृतव्रते इति धृत-व्रते। आविन्ना॥ प०पा०

---

(१) १।५।९ (२) ६।६।११ (३) १।८।१२
(४) ३।१।११ (५) ५।६।८ (६) ६।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋगिति किम् ? "ब्रह्मसामे" इति शाखान्तरे । "घृतेनाक्ते वृषणं दधाथाम्"[१] । "भुवनेष्व-र्पिते"[२] । "शाक्वररैवते"[३] । "जागृह्येनमिष्टापूर्ते"[४] । "प्रत्ते कामं"[५] । "विधृते समानी"[६] । वीति किम् ? "अग्निधृते" इति शाखान्तरे । "सत्यानृते अवपश्यन्"[७] । "अच्छिद्रे बहुले उभे"[८] । "पूर्वजे पितरा"[९] । पूर्वेति किम् ? "प्रथमजे" इति शाखान्तरे । "गीर्भिः कृणुध्वꣳसदने ऋतस्य"[१०] । कृणुध्वमिति किम् ? "अपां त्वा सदने सादयामि"[११] ॥ ११ ॥

"यस्य व्रते पुष्टिपतिः"क । "स्तुतशस्त्रे एवैतेन दुहे" ।ख 'स्तुत'—यह क्यों (कहा) ? "ऊर्ध्वशस्त्रे प्रतिष्ठिते"—यह दूसरी शाखा में है ।ग "ऋक्सामे वै" ।घ 'ऋक्'—यह क्यों (कहा) ? "ब्रह्मसामे"—यह दूसरी शाखा में है ।ङ "घृतेनाक्ते वृषणं दधाथाम्" ।च "भुवनेष्वर्पिते" ।च "शाक्वररैवते" ।च "जागृह्येनमिष्टापूर्ते" ।च "प्रत्ते कामम्" ।च "विधृते समानी" ।च 'वि'—यह क्यों (कहा) ? "अग्निधृते"—यह दूसरी शाखा में है ।छ "सत्यानृते अवपश्यन्" ।ज "अच्छिद्रे बहुले उभे" ।झ "पूर्वजे पितरा" ।ज 'पूर्व'—यह क्यों (कहा) ? "प्रथमजे"—यह दूसरी शाखा में है ।झ "गीर्भिः कृणुध्वꣳसदने ऋतस्य" ।ञ 'कृणुध्वम्'—यह क्यों (कहा) ? "अपां त्वा सदने सादयामि"ट ॥११॥

(क) यस्य । व्रते । पुष्टिपतिरिति पुष्टि—पतिः ॥ प० पा०
'व्रते' पद 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'धृत' नहीं है ।

(ख) स्तुतशस्त्रे इति स्तुत-शस्त्रे । एव । एतेन । दुहे ॥ प० पा०

(ग) यहाँ 'शस्त्रे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'स्तुत' नहीं है ।

(घ) ऋक्सामे इत्यृक्—सामे । वै । देवेभ्यः ॥ प० पा०

(ङ) यहाँ 'सामे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'ऋक्' नहीं है ।

(च) घृतेन । अक्ते इति । वृषणम् । दधाथाम् ॥ भुवनेषु । अर्पिते इति ॥ शाक्वररैवते इति शाक्वर—रैवते ॥ जागृहि । एनम् । इष्टापूर्ते इतीष्टा—पूर्ते ॥ प्रत्ते इति । कामम् ॥ विधृते इति वि—धृते । समानी इति ॥ प० पा०

(छ) यहाँ 'धृते' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'वि' नहीं है ।

(ज) सत्यानृते इति सत्य—अनृते । अवपश्यन्नित्यव—पश्यन् ॥ अच्छिद्रे इति । बहुले इति । उभे इति ॥ पूर्वजे इति पूर्व—जे । पितरा ॥ प० पा०

(झ) यहाँ 'जे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'पूर्व' नहीं है ।

(ञ) गीर्भिः । कृणुध्वम् । सदने इति । ऋतस्य ॥ प० पा०

(ट) अपाम् । त्वा । सदने । सादयामि ॥ प० पा०
'सदने' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'कृणुध्वम्' नहीं है ।

---

(१) १।३।७ (२) ४।७।१३ (३) १।८।१३
(४) ५।४।९ (५) २।३।८ (६) ५।६।१
(७) ४।१।३ (८) ४।१।११ (९) ४।३।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(देवते···कृणुध्वꣳसदने) देवते इत्यादिषु; अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—देवते—"द्वे ह्येते देवते"[1]। "अते समानपदे नित्यम्"[2] इति प्रतिषेधः अते-शब्दान्तसामान्यविषयः सदेवतेग्रहणेनानेन विशेषविषयेण बाध्यते। इह कस्मान्न भवति—"सोम देव ते मतिविदः"[3]। "अनुदात्तो न नित्यम्"[4] इति प्रतिषेधात्। देवतेग्रहणं पदद्वयैक-पदसाधारणम्। "अनुदात्तो न नित्यम्"[4] इति प्रतिषेधस्तु तेपदात्मकविशेषविषयत्वादितरस्य बाधकः। नत्वेकपदानेकपदयोर्मुख्यामुख्यत्वमस्ति। तुल्यरूपत्वात्। अत एव "सदो हवि-

वै० अ०—(देवते···कृणुध्वꣳसदने =) 'देवते' इत्यादि में; अधिकृत वर्ण पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। जैसे—देवते—"द्वे ह्येते देवते"।[क] 'अते शब्दान्त-रूप सामान्य विषय वाला "एक-पद में वर्तमान 'अते' शब्द किसी भी अवस्था में 'प्रग्रह' नहीं होता है"—यह प्रतिषेध इस विशेष विषय वाले (सूत्र में) गृहीत 'देवते' पद से बाध दिया जाता है।[ख] "सोम देव ते मतिविदः" यहाँ 'देव ते' 'प्रग्रह' क्यों नहीं होता है ? (उत्तर) "पदान्त 'ते' (का एकार) 'अनुदात्त' होने पर 'प्रग्रह' नहीं होता है"—इस प्रतिषेध से। 'देवते'—यह उद्धरण दो पदों और एक पद के रूप में साधारण (सामान्य) है "पदान्त 'ते' 'अनुदात्त' होने पर 'प्रग्रह' नहीं होता है"—यह प्रतिषेध 'ते' पद-रूप विशेष विषय वाला होने से अन्य का बाधक है। तुल्य-रूप होने से एक-पद और अनेक पदों में मुख्यत्व और अमुख्यत्व नहीं है। अत एव 'सदोहविर्धाने' और 'ऋक्सामे' को (प्रस्तुत सूत्र में) विशेषण के साथ (कहा गया है) और "एक-पद में वर्तमान 'अते' शब्द किसी भी अवस्था में 'प्रग्रह' नहीं होता है"—यहाँ (समानपदे को) कहेंगे।[ग]

(क) द्वे इति। हि। एते इति। देवते इति॥ प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—४।५२ में कहा गया है कि 'अते' में अन्त होने वाला पद कभी 'प्रग्रह' नहीं हो सकता है। तब 'अते' में समाप्त होने वाला 'देवते' पद कैसे 'प्रग्रह' हुआ।

सिद्धान्ती—४।५२ का सम्बन्ध 'अते' में अन्त होने वाले सभी पदों के साथ है, अतः वह सामान्य विधि है। प्रस्तुत सूत्र में गृहीत 'देवते' पद का सम्बन्ध केवल वैदिक 'देवते' पद के साथ है, अतः यह विशेष विधि है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सामान्य और विशेष का विरोध होने पर विशेष बलवान् (मान्य) होता है। इससे 'देवते' पद 'प्रग्रह' होता है।

(ग) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र के विधान के अनुसार "सोम देव ते मतिविदः (सोम। देव। ते। मतिविद इति मति—विदः॥ प० पा०) में 'देव ते' 'प्रग्रह' क्यों नहीं होता है।

सिद्धान्ती—४।४३ के प्रतिषेध के कारण 'देव ते' 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(१) २।१।९ (२) ४।५२ (३) ३।२।५ (४) ४।४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धाने"[1] "ऋक्सामे"[2] इति सविशेषणं, वक्ष्यति–"अते समानपदे"[3] इति च। तस्मान्नान्यथा

इससे दूसरी प्रकार समाधान करना उक्त नहीं है। उभे—"उभे

प्रस्तुत सूत्र में गृहीत 'देवते' से अखण्ड 'देवते' पद का भी ग्रहण होता है और दो पदों से मिले हुए सखण्ड 'देव ते' का भी ग्रहण होता है। दूसरी ओर ४।४३ का सम्बन्ध केवल 'ते' पद के साथ है। इस प्रकार ४।४३ प्रस्तुत सूत्र (जहाँ तक 'देवते' का सम्बन्ध है) की अपेक्षा विशेष विषय वाला हो गया। अत एव ४।४३ प्रस्तुत सूत्र के विधान का बाधक हो गया। इससे "सोम देव ते मतिविदः" का 'देव ते' 'प्रग्रह' नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—सूत्र में उक्त 'देवते' से अखण्ड 'देवते' पद का ही ग्रहण होता है। अतः उपर्युक्त समाधान युक्त नहीं है। "सोम देव ते मतिविदः" में 'देव ते' 'प्रग्रह' क्यों नहीं है—इस समस्या का समाधान इस प्रकार करना अधिक अच्छा होगा—प्रस्तुत सूत्र में जो 'देवते' का ग्रहण किया गया है उससे अखण्ड 'देवते' पद का ग्रहण करना चाहिए। "सोम देव ते मतिविदः" में 'देव ते' अखण्ड पद नहीं है, अतः यह 'प्रग्रह' नहीं है।

सिद्धान्ती—यह कहना ठीक नहीं है कि सूत्र में उक्त 'देवते' से अखण्ड 'देवते' पद का ही ग्रहण होता है। अखण्ड और दो पदों के समुदाय रूप सखण्ड—इन दोनों अवस्थाओं में 'देवते' का तुल्य रूप है। अतः सूत्र में उक्त 'देवते' से दोनों का ग्रहण होता है। अधोलिखित से यह बात स्पष्ट हो जायेगी —

(अ) प्रस्तुत सूत्र में 'हविर्धाने' के विशेषण के रूप में सूत्रकार ने 'सदः' का ग्रहण किया है। क्यों ? "सदोहविर्धाने एव सं मिनोति" (सदोहविर्धाने इति सदः—हविर्धाने। एव। समिति। मिनोति। प० पा०) का अखण्ड 'हविर्धाने' 'प्रग्रह' होवे और "हविर्धाने खायन्ते" (हविर्धान इति हविः—धाने। खायन्ते। प० पा०) का सखण्ड (पदद्वयात्मक) 'हविर्धाने' 'प्रग्रह' न होवे—इसलिए 'सदः' का ग्रहण किया गया है। यदि सूत्रोक्त 'हविर्धाने' से अखण्ड 'हविर्धाने' का ही ग्रहण होता तब सखण्ड 'हविर्धाने' के प्रग्रहत्व की निवृत्ति के लिए 'सदः' के ग्रहण की आवश्यकता न होती।

(आ) प्रस्तुत सूत्र में ही 'सामे' के विशेषण के रूप में सूत्रकार ने 'ऋक्' का ग्रहण किया है। "ऋक्सामे वै देवेभ्यः" (ऋक्सामे इत्यृक्-सामे। वै। देवेभ्यः। प० पा०) का अखण्ड 'सामे' 'प्रग्रह' होवे और "सा मे सत्याऽऽशीः" (सा। मे। सत्या। आशीरित्या—शीः। प० पा०) का सखण्ड (पदद्वयात्मक) 'सा मे' 'प्रग्रह' न होवे—इसलिए 'ऋक्' का ग्रहण किया गया है। यदि सूत्रोक्त 'सामे' से अखण्ड 'सामे' का ही ग्रहण होता तब सखण्ड 'सा मे' के प्रग्रहत्व की निवृत्ति के लिए 'ऋक्' के ग्रहण की आवश्यकता न होती।

(१) २।५।५ (२) ६।१।३ (३) ४।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिहारः। उभे—"उभे निपासि"[1]। भागधेभागेत्युपबन्धात्परः। "भागधे असाव"[2]। भागेति किम्? "अग्न उदधे"[3]। ऊर्ध्वे—"ऊर्ध्वे समिधौ"[4]। विशाखे—"विशाखे नक्षत्रम्"[5]। वीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्य आख्या विरुध्यते। नैतदस्ति। द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतया उपपत्तेः। तथा बह्वृचानां शाकलकबाष्कलकात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्ट-

---

निपासि"[क]। भागधे—'भाग'—इस उपबन्ध से बाद में स्थित (धे)—"भागधे असाव"। 'भाग'—यह क्यों (कहा)? "अग्न उदधे"।[ख] ऊर्ध्वे—"ऊर्ध्वे समिधौ"।[ग] विशाखे—"विशाखे नक्षत्रम्"।[ग] 'वि'—इस उपबन्ध का प्रत्युदाहरण (व्यावर्त्य = अर्थात् वह स्थल जहाँ 'वि' के अभाव में 'शाखे' को 'प्रग्रह' रूप कार्य की व्यावृत्ति हुई हो)—दूसरी शाखा में उपलब्ध होता है। (पू०) इस प्रकार अनेक शाखाओं से सम्बद्ध होने पर ग्रन्थ के 'प्रातिशाख्य' इस नाम का (वस्तुस्थिति से) विरोध हो जाता है। (सि०) यह बात नहीं है। दो-तीन शाखाओं से सम्बद्ध होने पर भी उस (प्रातिशाख्य-ग्रन्थ) के असाधारण रूप की उपपत्ति हो जाती है (अर्थात् तब भी यह उपपन्न हो जाता है कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थ सम्बद्ध वेद की सब शाखाओं का साधारण—सामान्य—ग्रन्थ नहीं है)। उसी प्रकार ऋग्वेदियों का प्रातिशाख्य (ऋग्वेद—प्रातिशाख्य) शाकल और बाष्कल—

(इ) ४।१२ में यह विधान किया गया है कि एक पद में वर्तमान 'अते' कभी 'प्रग्रह' नहीं होता है। इससे "यजते" इत्यादि का 'अते' 'प्रग्रह' नहीं होता है, किन्तु "एव ते" इत्यादि का 'अ ते' 'प्रग्रह' होता है। यदि सूत्र में उक्त 'अते' से केवल अखण्ड 'अते' का ही ग्रहण होता तो यह कहने की आवश्यकता ही न होती कि 'एक पद में वर्तमान होने पर' (समानपदे)। यहाँ अखण्ड 'अते' अभीष्ट है, अतः सूत्र में ही कह दिया गया है कि एक पद में वर्तमान होने पर ही यह निषेध लागू होता है। जहाँ सूत्र में इस प्रकार न कहा गया हो वहाँ सूत्रोक्त शब्द से अखण्ड तथा सखण्ड (पदद्वयात्मक) दोनों रूपों का ग्रहण होता है—यह स्पष्ट हो गया है। अत एव "सोम देव ते मतिविदः" में 'देव ते' 'प्रग्रह' क्यों नहीं होता है—इसका जो समाधान हमने ऊपर दिया है वह ही युक्त है।

(क) उभे इति। नीति। पासि॥

(ख) अग्ने। उदध इत्युद—धे॥ प० पा०

'धे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व में 'भाग' नहीं है।

(ग) ऊर्ध्वे इति। समिधाविति सम्—इधौ॥ विशाखे इति वि—शाखे। नक्षत्रम्॥ प० पा०

---

(१) १।४।२२ (२) २।५।६ (३) ५।५।९
(४) २।६।६ (५) ४।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यम्। शृङ्गे—"शिशीते शृङ्गे"[१]। मेध्ये—"मेध्ये एवैने"[२]। एने इति चात्रैव। तृण्णे—"असंतृण्णे हि"[३]। तृद्ये—संतृद्ये धृत्यै"[३]। कनीनिके—"कनीनिके दध्युः"[४]। पार्श्वे—"पार्श्वे परस्सामानः"[५]। शिवे—"शिवे नो द्यावापृथिवी"[६]। चोत्तमे—च। उत्। इति पदद्वयात्समुदितादुपबन्धात्परः "विकर्णी चोत्तमे"[७]। चेति किम्? "उत्तमे नाके"[८]। एवोत्तरे—एव। उत्। इति पदद्वयमुपबन्धः। "तथो एवोत्तरे निर्वपेत्"[९]। एवेति किम्?

इन दो शाखाओं से सम्बद्ध है—यह तथ्य प्रसिद्ध है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।[क] अङ्गे—"शिशीते शृङ्गे"।[ख] मेध्ये—"मेध्ये एवैने"ख—'एने'—यह भी यहीं (=इसी उदाहरण में) विद्यमान है। तृण्णे—"असन्तृण्णे हि।"ख तृद्ये—"संतृद्ये धृत्यै"।ख कनीनिके—"कनीनिके दध्युः।"ख। पार्श्वे—"पार्श्वे परस्सामानः।"ख शिवे—"शिवे नो द्यावापृथिवी।"ख चोत्तमे—'च' और 'उत्'—इन मिले हुए पदद्वयात्मक उपबन्ध से बाद में (स्थित 'तमे')—"विकर्णी चोत्तमे"ख। 'च'—यह क्यों (कहा)? "उत्तमे नाके।"ग एवोत्तरे—'एव' और

(क) पूर्वपक्षी—'प्रातिशाख्य' शब्द का निर्वचन यह है—"शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखं भवम् प्रातिशाख्यम्"। इससे ज्ञात होता है कि 'प्रातिशाख्य' नाम का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थ'। यह वस्तुस्थिति होने पर अन्य शाखाओं से उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत करना युक्त नहीं है। इससे तो यही सिद्ध है कि तै० प्रा० का सम्बन्ध अनेक शाखाओं के साथ है और यह कृष्ण यजुर्वेद की सभी शाखाओं का साधारण ग्रन्थ है।

सिद्धान्ती—दो-तीन शाखाओं से सम्बद्ध होने पर भी यह सिद्ध नहीं होता है कि तै० प्रा० कृष्ण यजुर्वेद की सब शाखाओं का साधारण ग्रन्थ है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थ दो—तीन शाखाओं से सम्बद्ध हो सकता है। यह बात तै० प्रा० के ही साथ नहीं है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य भी शाकल और बाष्कल इन दो शाखाओं के साथ सम्बद्ध है।

(ख) शिशीते। शृङ्गे इति॥ मेध्ये इति। एव। एने इति॥ असंतृण्णे इत्यसं—तृण्णे। हि॥ संतृद्ये इति सं—तृद्ये। धृत्यै॥ कनीनिके इति। दध्युः॥ पार्श्वे इति। परः सामान इति परः—सामानः॥ शिवे इति। नः। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी॥ विकर्णीमिति वि—कर्णीम्। च। उत्तमे इत्युत्—तमे॥ प० पा०

(ग) उत्तम इत्युत्—तमे। नाके॥ प० पा०—'तमे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पहले केवल 'उत्' है, 'च' और 'उत्' दोनों नहीं।

---

(१) १।२।१४ (२) ६।२।६ (३) ६।२।११
(४) ७.२।९ (५) ७।३।१० (६) ४।६।६
(७) ५।३।७ (८) ३।५।१ (९) ३।४।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"त्रैष्टुभमुत्तर ओजो वै"[१]। शिप्रे—"शिप्रे अवेपयः"[२]। रथन्तरे—"बृहद्रथन्तरे पूर्वेषु"[३]। वत्सरस्य। वि। विषु। इति त्रिभ्य उपबन्धेभ्यः परे रूपेशब्दे। "उभे एव संवत्सरस्यरूपे आप्नुवन्ति"[४]। "विरूपे धापयेते"[५]। "विषुरूपे अहनी"[६]। अत्र प्रत्युपबन्धं रूपेशब्दस्य पृथक्पाठो विस्पष्टार्थः। विचित्रा हि सूत्रकृतिः। उपबन्धैः किम्? "दृश आ रूपे अन्नम्"[७]। सदोहविर्धाने—"सदोहविर्धाने एव सं मिनोति"[८]। सद इति किम्? "हविर्धाने खायन्ते"[९]। अधिषवणे—"हनू अधिषवणे"[९]। अधीति किम्? "माध्यन्दिने सवने"[१०]। अहोरात्रे—"अहोरात्रे गच्छ स्वाहा"[११]। अहरिति किम्? "अतिरात्रे पशुकामस्य"[१२]। धृतव्रते—"आविन्ने द्यावापृथिवी धृतव्रते"[१३]। धृतेति किम्? "वयमादित्य व्रते तव"[१४]।

'उत्'—ये दो पद उपबन्ध हैं—"तथो एवोत्तरे निर्वपेत्।"क 'एव'—यह क्यों (कहा)? "त्रैष्टुभमुत्तर ओजो वै।"ख "शिप्रे अवेपयः।"ग रथन्तरे—"बृहद्रथन्तरे पूर्वेषु।"ग वत्सरस्य', 'वि', 'विषु'—इन तीन उपबन्धों से बाद में स्थित 'रूपे' शब्द—"उभे एव संवत्सरस्य रूपे आप्नुवन्ति।"ग "विरूपे धापयेते।"ग "विषुरूपे अहनी।"ग यहाँ प्रत्येक उपबन्ध के साथ 'रूपे' शब्द का पृथक् पाठ विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए है। क्योंकि सूत्रों का निर्माण विचित्र होता है। उपबन्धों (संवत्सरस्य, वि, विषु) से क्या (लाभ है)? "दृश आ रूपे अन्नम्।घ सदोहविर्धाने—"सदोहविर्धाने एव सं मिनोति"।ङ 'सदः'—यह क्यों (कहा)? "हविर्धाने खायन्ते"।च

(क) तथो इति। एव। उत्तरे इत्युत्—तरे। निरिति। वपेत्॥ प० पा०

(ख) त्रैष्टुभम्। उत्तर इत्युत्—तरे। ओजः। वै॥ प० पा०—'तरे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पहले 'उत्' है, 'एव' और 'उत्' दोनों नहीं।

(ग) उभे इति। एव। संवत्सरस्येति सं—वत्सरस्य। रूपे इति। आप्नुवन्ति॥ विरूपे इति वि—रूपे। धापयेते इति॥ विषुरूपे इति विषु—रूपे। अहनी इति।

(घ) दृशे। एति (आ+इति)। रूपे। अन्नम्॥ प० पा०—'रूपे' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पहले न 'संवत्सरस्य' है, न 'वि' और न 'विषु'।

(ङ) सदोहविर्धाने इति सदः—हविर्धाने। एव। समिति। मिनोति॥ प० पा०

(च) हविर्धान इति हविः—धाने। खायन्ते॥ प० पा०—'हविर्धाने' 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पहले 'सदः' नहीं है।

---

(१) ७।१।४ (२) १।४।३० (३) ७।२।२ (४) ७।५।१
(५) ४।१।१० (६) ४।१।११ (७) ४।३।१३ (८) २।५।५
(९) ६।२।११ (१०) ३।२।८ (११) १।३।११ (१२) ६।६।११
(१३) १।८।१२ (१४) १।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तुतशस्त्रे—"स्तुतशस्त्रे माऽऽविशता ँ समीची"[१]। स्तुतेत्युपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। ऋक्सामे—"ऋक्सामे वै देवेभ्यः"[२]। ऋगिति किम्? "सा मे सत्याऽऽशीः"[३]। अक्ते—"अक्ते वृषणं दधाथाम्"[४]। अर्पिते—"भुवनेष्वर्पिते"[५]। रैवते—"शाक्वररैवते"[६]। पूर्ते—"इष्टापूर्ते"[५]। प्रत्ते—"प्रत्ते काममन्नाद्यं दुहाते"[७]। विधृते—"विधृते सर्वतः"[८]। वीत्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। अनृते—"मध्ये सत्यानृते"[९]। अच्छिद्रे—"अच्छिद्रे बहुले उभे"[१०]। अत्रैव बहुले च। पूर्वजे—"पूर्वजे पितरा"[११]। पूर्व इत्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। कृणुध्वं सदने—"गीर्भिः कृणुध्व ँ सदने ऋतस्य"[११]। कृणुध्वमिति किम्? "अर्णवे सदने सीद"[१२] ॥ ११ ॥

अधिषवणे—"हनू अधिषवणे"।[क] 'अधि'—यह क्यों (कहा)? "माध्यन्दिने सवने"।[क] अहोरात्रे—"अहोरात्रे गच्छ स्वाहा"।[क] 'अहः'—यह क्यों (कहा)? "अतिरात्रे पशुकामस्य"।[क] धृतव्रते—"आविन्ने द्यावापृथिवी धृतव्रते"।[क] 'धृत'—यह क्यों (कहा)? "वयमादित्य व्रते तव"।[क] स्तुतशस्त्रे—"स्तुतशस्त्रे माऽऽविशता ँ समीची"।[क] 'स्तुत'—इस उपबन्ध का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में है। ऋक्सामे—"ऋक्सामे वै देवेभ्यः"।[क] 'ऋक्'—यह क्यों (कहा)? "सा मे सत्याऽऽशीः"।[क] अक्ते—"अक्ते वृषणं दधाथाम्"।[क] अर्पिते—"भुवनेष्वर्पिते"।[क] रैवते—"शाक्वररैवते"।[क] पूर्ते—"इष्टापूर्ते"।[क] प्रत्ते—"प्रत्ते काममन्नाद्यं दुहाते"।[क] विधृते—"विधृते सर्वतः"।[क] 'वि' इस उपबन्ध का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में है। अनृते—"मध्ये सत्यानृते"।[क] अच्छिद्रे—"अच्छिद्रे बहुले उभे"।[क] यहीं पर (=इसी उदाहरण में) बहुले भी है। पूर्वजे—"पूर्वजे पितरा"।[क] 'पूर्व'—इस उपबन्ध का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में है। कृणुध्व ँ सदने—"गीर्भिः कृणुध्व ँ सदने ऋतस्य"।[क] 'कृणुध्वम्'—यह क्यों (कहा)? "अर्णवे सदने सीद"[क] ॥ ११ ॥

(क) हनू इति। अधिषवणे इत्यधि—सवने॥ माध्यन्दिने। सवने॥ अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे। गच्छ। स्वाहा॥ अतिरात्र इत्यति—रात्रे। पशुकामस्येति पशु-कामस्य॥ आविन्ने इति। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी। धृतव्रते इति धृत—व्रते॥ वयम्। आदित्य। व्रते। तव॥ स्तुतशस्त्रे इति स्तुत—शस्त्रे। मा। एति। विशताम्। समीची इति॥ ऋक्सामे इत्यृक्—सामे। वै। देवेभ्यः॥ सा। मे। सत्या। आर्शिरित्या—शीः॥ अक्ते इति। वृषणम्। दधाथाम्॥ भुवनेषु। अर्पिते इति। शाक्वररैवते इति शाक्वर—रैवते॥ इष्टापूर्ते इतीष्टा—पूर्ते॥ प्रत्ते इति। कामम्। अन्नाद्यमित्यन्न—अद्यम्। दुहाते इति॥ विधृते इति वि—धृते। सर्वतः॥ मध्ये।

---

(१) ७।३।१३ (२) ६।१।३ (३) १।६।३ (४) १।३।७
(५) ४।७।१३ (६) १।८।१३ (७) ५।४।९ (८) ६।४।१०
(९) ५।६।१ (१०) ४।१।३ (११) ४।१।११ (१२) ४।३।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमी चक्षुषी काष्णीं देवताफल्गुनी मुष्टी धी नाभी वपाश्रपणी अहनी जन्मनी सुम्निनी सामनी वैष्णवी ऐक्षवी दर्वी द्यावापृथिवी ॥ १२ ॥

मा०—इत्येतानि पदानि प्रग्रहाणि भवन्ति। यथा—"अमी वा इदम्"[१]। "चक्षुषी वा एते"[२]। "काष्णीं उपानहौ"[३]। "पितरो देवता फल्गुनी"[४]। देवताफल्गुनी इति किम्? "यद्वितीयं सा फल्गुनी यत्तृतीयम्"[५]। "मुष्टी करोति वाचम्"[६]। "प्रधीतावुक्थ्या मध्ये"[७]। "पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ"[८]। "वपाश्रपणी प्रहरति"[९]। वपाश्रपणी इति किम्? "स पशुश्रपणी" इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "विषुरूपे अहनी द्यौः"[१०]। "उभे निपासि जन्मनी"[११]। "सुम्नाय सुम्निनी"[१२]। "सामनी प्रतिष्ठित्यै"[१३]। "वैष्णवी रक्षोहणौ"[१४]। "ऐक्षवी तिरश्ची यदाश्ववालः"[१५]। "दर्वी श्रीणीष आसनि"[१६]। "द्यावापृथिवी एव स्वेन"[१७]। द्यावापृथिवीति किम्। "मही द्यौ पृथिवी"[१८] ॥ १२ ॥

त्रि०—अमी चक्षुषी काष्णीं देवताफल्गुनी मुष्टी धी नाभी वपाश्रपणी अहनी जन्मनी सुम्निनी सामनी वैष्णवी ऐक्षवो दर्वी द्यावापृथिवी एतानि पदानि प्रग्रहसंज्ञानि

सू० अ०—अमी, चक्षुषी, काष्णीं, देवताफल्गुनी, मुष्टी, धी, नाभी, वपाश्रपणी, अहनी, जन्मनी, सुम्निनी, सामनी, वैष्णवी, ऐक्षवी, दर्वी, द्यावापृथिवी (ये पद 'प्रग्रह'—संज्ञक होते हैं)।

त्रि० अ०—अमी···द्यावापृथिवी—ये पद 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं। जैसे—"अमी त्वा जहति"···क ॥ १२ ॥

सत्यानृते इति सत्य—अनृते ॥ अच्छिद्रे इति। बहुले इति। उभे इति ॥ पूर्वजे इति पूर्व—जे। पितरा ॥ गीर्भिः। कृणुध्वम्। सदने इति। ऋतस्य ॥ अर्णवे। सदने। सीद ॥ प० पा०

(क) अमी इति। त्वा। जहति ॥ चक्षुषी इति। वै। एते इति ॥ काष्णीं इति ॥ देवता। फल्गुनी इति ॥ सा। फल्गुनी ॥ मुष्टी इति। करोति ॥ प्रधी इति प्र—धी ॥ रजतनाभी इति रजत—नाभी। वैश्वदेवाविति वैश्व—देवौ ॥ वपाश्रपणी इति वपा—श्रवणी ॥ अहनी इति। द्यौः ॥ उभे इति। नीति। पासि। जन्मनी इति। सुम्निनी इति ॥ सामनी इति। प्रतिष्ठित्या इति प्रति—स्थित्यै ॥ वैष्णवी इति ॥ ऐक्षवी इति। तिरश्ची इति ॥ दर्वी इति ॥ द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी ॥ मही। द्यौः। पृथिवी च ॥ प० पा०

---

(१) ३।३।७ (२) २।६।२ (३) ५।४।४ (४) ४।४।१०
(५) २।१।२ (६) ५।२।१ (७) ७।४।११ (८) ५।५।२४
(९) ६।३।९ (१०) ४।१।११ (११) १।४।२२ (१२) १।१।१३
(१३) ४।४।२ (१४) १।३।२ (१५) ६।२।१ (१६) ४।४।४
(१७) २।१।४ (१८) ३।३।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन्ति। यथा—"अभी त्वा जहति"[१]। "चक्षुषी वा एते"[२]। "कृष्णी उपानहौ"[३]। "पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रम्"[४]। देवतेति किम्? "यद्वितीयꣳसा फल्गुनी"[५]। "मुष्टी करोति वाचम्"[६]। "प्रधीतावुकथ्याः"[७]। "रजतनाभी वैश्वदेवौ"[८]। "वपाश्रपणी प्र हरति"[९]। वपेति इति किम्? "पशुश्रपणी" इति शाखान्तरे। "अहनी द्यौरिवासि"[१०]। "उभे निपासि जन्मनी"[११]। "सुम्नाय सुम्निनी"[१२]। "सामनी प्रतिष्ठित्यै"[१३]। "वलगहनौ वैष्णवी"[१४]। "ऐक्षवी तिरश्ची"[१५]। "दर्वी श्रीणीष आसनि"[१६]। "द्यावापृथिवी एव स्वेन"[१७]। द्यावेति किम्? "मही द्यौः पृथिवी च नः"[१८] ॥ १२ ॥

वै०—(अभी···द्यावापृथिवी =) अभी चक्षुषी इत्यादिष्वधिकृतवर्णः, पदान्तः प्रग्रहो भवति। अभी—"अभी वा इदमभूवन्"[१९]। चक्षुषी—"तस्मादमितो नासिकां चक्षुषी"[२०]। कार्ष्णी—"कार्ष्णी उपानहौ"[२१]। देवता फल्गुनी—"अर्यमा देवता फल्गुनी नक्षत्रम्"[४]। देवतेति किम्? "यद्वितीयꣳसा फल्गुनी"[५]। मुष्टी—"मुष्टी करोति वाचम्"[६]। धी—"प्रधीतावुकथ्या मध्ये नभ्यम्"[७]। नाभी—"रजतनाभी वैश्वदेवौ"[८]। वपाश्रपणी—"वपाश्रपणी पुनरन्वारभते"[२२]। वपेत्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। अहनी—"अहनी द्यौरिवासि"।[१०] जन्मनी—"उभे निपासि जन्मनी"[११]। सुम्निनी—"सुम्नाय·सुम्निनी"[१२]। सामनी—"सामनी प्रतिष्ठित्यै"[१३]। वैष्णवी—"उप दधामि वैष्णवी"[२३]। ऐक्षवी—"ऐक्षवीतिरश्ची"[१५]। दर्वी—"दर्वी श्रीणीष आसनि"[१६]। द्यावापृथिवी—"इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी"[२४]। द्यावेत्युपबन्धेन किम्? "प्रथोसि पृथिव्यसि"[२५] ॥ १२ ॥

पूर्वश्च ॥ १३ ॥

मा०—द्यावापृथिवी इत्येतस्मात् पदात् यः पूर्वः पदान्त ईकार एकारो वा प्रग्रहो भवति। यथा—"आविन्ने द्यावापृथिवी"[२६] ॥ १३ ॥

त्रि०—चकारेणान्वादिष्टात् द्यावापृथिवी इत्येतस्मात्; (पूर्वश्च =) पूर्वोपि; ईकार

वै० अ०—(अभी···द्यावापृथिवी =) अभी, चक्षुषी इत्यादि में; अधिकृत वर्ण पदान्त होने पर प्रग्रह होता है।···॥ १२ ॥

सू० अ०—('द्यावापृथिवी' से) पूर्व वाला भी (पद) ('प्रग्रह' संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—(१।५८ की सामर्थ्य से) चकार के द्वारा (पूर्व सूत्र से) अन्वा-

---

(१) ३।२।११	(२) २।६।२	(३) ५।४।४	(४) ४।४।१०
(५) २।१।२	(६) ५।२।१	(७) ७।४।११	(८) ५।५।२४
(९) ६।३।९	(१०) ४।१।११	(११) १।४।१२	(१२) १।१।१३
(१३) ४।४।२	(१४) १।३।२	(१५) ६।२।१	(१६) ४।४।४
(१७) २।१।४	(१८) ३।३।१०	(१९) ३।३।७	(२०) २।३।८
(२१) ५।४।४	(२२) ६।३।९	(२३) १।३।२	(२४) १।२।१
(२५) ४।२।९	(२६) १।८।१२		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"यावती द्यावापृथिवी"[1]। "आविन्ने द्यावापृथिवी"[2] ॥ १३ ॥

वै०—चशब्देनान्त्यः पृथिवीशब्दो द्यावाशब्दोपलक्षितः अन्वादिश्यते। तस्मात्पूर्वोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। तत्र अवग्रहस्य कार्यभाक्त्वप्रतिषेधात्तमतिक्रम्य पूर्वपदान्तः पूर्वत्वेन गृह्यते। "यावती द्यावापृथिवी"[1]। "आविन्ने द्यावापृथिवी"[2] ॥ १३ ॥

न रुन्धे नित्यम् ॥ १४ ॥

मा०—रुन्धे इत्येतत्पदं द्यावापृथिवी इत्येतस्मात्पूर्वं न प्रग्रहो भवति। यथा—"अव-

---

दिष्ट 'द्यावापृथिवी'—इससे; (पूर्वश्च =) पूर्व वाला भी पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"यावती द्यावापृथिवी"। "आविन्ने द्यावापृथिवी"[क] ॥ १३ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द के द्वारा (पूर्व सूत्र से) 'द्यावा' शब्द से उपलक्षित 'पृथिवी' शब्द का अन्वादेश (अनुवृत्ति) होता है। उससे; पूर्वः = पूर्व वाला; अधिकृत वर्ण (ईकार, एकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है।

वहाँ पर सावग्रह पद के पूर्व-पद (अवग्रह) के कार्यभाक्त्व का प्रतिषेध हो जाने से उसका अतिक्रमण करके पूर्ववर्ती पद के अन्त का पूर्व के रूप में ग्रहण होता है। (जैसे) "यावती द्यावापृथिवी"। "आविन्ने द्यावापृथिवी"[क] ॥ १३ ॥

सू० अ०—'रुन्धे' किसी भी स्थिति में ('प्रग्रह') नहीं (होता है)।

(क) यावती इति। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी ॥ प० पा०
आविन्ने इति। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी ॥ प० पा०

पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'पृथिवी' के पूर्ववर्ती पद का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'पृथिवी' से पूर्ववर्ती पद 'द्यावा' है (ज्ञातव्य है कि सावग्रह पद के दो खण्ड दो स्वतन्त्र पदों के समान होते हैं)। यह वस्तुस्थिति होने पर यह कहना युक्त नहीं कि 'यावती' और 'आविन्ने' के अन्तिम 'स्वर' (क्रमशः ईकार और एकार) प्रस्तुत सूत्र से 'प्रग्रह' होते हैं।

सिद्धान्ती—४।२ में कह दिया गया है कि सावग्रह पद का पूर्व—पद 'प्रग्रह' नहीं होता है। 'प्रग्रह' के प्रसङ्ग में सावग्रह पद के पूर्व—पद को अविद्यमान के समान माना जाता है। अतः 'यावती' और 'आविन्ने' ही 'पृथिवी' के पूर्ववर्ती पद हैं। इस प्रकार 'यावती' और 'आविन्ने' के ईकार और एकार प्रस्तुत सूत्र से 'प्रग्रह' होते हैं।

---

(१) ३।२।६ (२) १।८।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ"[1] । नित्यमिति किम् ? लक्षणान्तरप्राप्तस्यापि प्रतिषेध एव स्यादिति । यथा—"अव रुन्धे यदा सहस्रम्"[2] ॥ १४ ॥

त्रि०—रुन्धे इत्यन्त्यः स्वरो द्यावापृथिवी इत्येतस्मात् पूर्वोपि न प्रग्रहो भवति । "रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ"[1] । (नित्यम् =) नित्यशब्दः; प्राप्त्यन्तरनिषेधार्थः । "अव रुन्धे यदा सहस्रं"[2] । "वीड्"[3] इत्यादिप्राप्तिः ॥ १४ ॥

वै०—रुन्धे शब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तो द्यावाशब्दोपलक्षितात्पृथिवीशब्दात्पूर्वः प्रग्रहो न भवति । "पशूनेवाव रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ"[1] । (नित्यम् =) नित्यग्रहणात्प्राप्त्यन्तरस्य बाध्यते । "लक्ष्मियैव पशूनव रुन्धे यदा"[2] । "वीड्द्वारौ"[3] इति प्राप्तिः ॥ १४ ॥

हरी सहुरी सहूती कल्पयन्ती आपृषती आहुती ॥ १५ ॥

मा०—इत्येतानि पदानि प्रग्रहाणि भवन्ति । यथा—"इन्द्रमिद्धरी वहतः"[4] । "सहुरी"[5] । सहुरी इति किम् ? "तमाहुरी" इत्यन्यस्यां शाखायाम् । "सहूती वनतं गिरः"[6] ।

त्रि० अ०—रुन्धे—इसका अन्तिम 'स्वर' 'द्यावापृथिवी'—इस (पद) से पूर्व में होने पर भी 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है । (उदाहरण) "रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ" ।[क] (नित्यम् =) 'नित्य' शब्द; अन्य (सूत्र) से प्राप्ति के निषेध के लिए है । (उदाहरण) "अव रुन्धे यदा सहस्रम्" । "वीड्, द्वारौ…" इत्यादि से ('प्रग्रह' की) प्राप्ति थी[ख] ॥ १४ ॥

वै० अ०—रुन्धे शब्द में अधिकृत वर्ण (एकार) पदान्त होने पर तथा 'द्यावा' शब्द से उपलक्षित 'पृथिवी' शब्द से पूर्व में होने पर 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है । (उदाहरण) "पशूनेवाव रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ"[क] । (सूत्र में) नित्य के ग्रहण से इसके विषय में अन्य प्राप्ति का प्रतिषेध किया जाता है । (उदाहरण) "लक्ष्मियैव पशूनव रुन्धे यदा"[ख] । "वीड्, द्वारौ…"—इस (सूत्र) से ('रुन्धे' के पदान्त एकार को) (प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी) ॥ १४ ॥

सू० अ०—हरी, सहुरी, सहूती, कल्पयन्ती, आपृषती तथा आहुती (ये पद 'प्रग्रह' संज्ञक हैं) ।

(क) पशून् । एव । अवेति । रुन्धे । द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी । गच्छ ॥ प० पा०

(ख) लक्ष्मिया । एव । पशून् । अवेति । रुन्धे । यदा । सहस्रम् ॥ प० पा०

४।३८ से 'रुन्धे' के एकार को 'प्रग्रह' होना चाहिए । किन्तु सूत्रकार ने 'नित्य' शब्द का प्रयोग करके यह बतला दिया है कि 'रुन्धे' का एकार किसी भी परिस्थिति में 'प्रग्रह' नहीं होता है । अतः यहाँ 'रुन्धे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है ।

---

(१) ६।४।१ (२) २।१।५ (३) ४।३८
(४) १।४।३८ (५) ४।२।११ (६) २।३।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहूती इति किम् ? "हूती पुनर्जुहोति" इत्यन्यस्यां शाखायाम् । "कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञम्"[१] । "हरी ते युञ्जा पृषती"[२] । आपृषतीति किम् ? "पृषतो स्थूलपृषती"[३] । "पुरोडाशमेते आहुती"[४] । आहुती इति किम् ? "ऊर्जा जुहोति तस्यां देवाः" इत्यन्यस्यां शाखायाम् ॥ १५ ॥

त्रि०—हरी सहुरी सहूती कल्पयन्ती आपृषतो आहुती एतेषु पदेष्वन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—"हरी ते युञ्जा पृषती"[२] । "सहुरी सपर्यात्"[५] । सेति किम् ? "तमाहुरी ह्वयति" इति शाखान्तरे । "सहूती वनतं गिरः"[६] । सेति किम् ? "हूती पुनर्जुहोति" इति शाखान्तरे । "अध्वरं कल्पयन्तो ऊर्ध्वम्"[१] । "युञ्जा पृषती अभूताम्"[२] । आकारेण किम् ? "पृषती स्थूलपृषती"[३] । "पुरोडाशमेते आहुती"[४] । आ इति किम् ? "हुती तस्माद्वेधाः" इति शाखान्तरे ॥ १५ ॥

वै०—(हरी आहुती =) हरी इत्यादिषु; अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । हरी—"योजा न्विन्द्र ते हरी"[७] । सहुरी—"सहुरी सपर्यात्"[५] । सहूती—"सहूती वनतं गिरः"[६] । उभयत्र सेत्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे । कल्पयन्ती—"अध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वम्"[१] । आपृषती—"हरी ते युञ्जा पृषती अभूताम्"[२] । आकारोपबन्धेन किम् ? "पृषती स्थूलपृषती"[३] । आहुती—"यदभितः पुरोडाशमेते आहुती जुहोति"[४] । आकारोपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे ॥ १५ ॥

त्रि० अ०—हरी ··· आहुती—इन पदों में अन्तिम 'स्वर' (ईकार) 'प्रग्रह' होता है ।[क] ॥ १५ ॥

वै० अ०—(हरी ··· आहुती =) हरी इत्यादि में; अधिकृत वर्ण (ईकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है ।[ख] ··· ॥ १५ ॥

(क) हरी इति । ते । युञ्जा । पृषती इति ॥ प० पा०
सहुरी इति स—हुरी । सपर्यात् ॥ प० पा०
सहूती इति स—हूती । वनतम् । गिरः ॥ प० पा०
अध्वरम् । कल्पयन्ती इति । ऊर्ध्वम् ॥ प० पा०
युञ्जा । पृषती इति । अभूताम् ॥ प० पा०
पृषती । स्थूलपृषतीति स्थूल—पृषती ॥ प० पा०
पुरोडाशम् । एते इति । आहुती इत्या—हुती ॥ प० पा०

(ख) योजा । नु । इन्द्र । ते । हरी इति ॥ प० पा०

---

(१) १।२।१३ (२) ४।६।९ (३) ५।६।१२
(४) १।५।२ (५) ४।२।११ (६) २।३।१४
(७) १।८।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वश्च ॥ १६ ॥

मा०—आहुतीत्येतस्मात्पूर्वं ईकारो एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"पुरोडाशमेते आहुती"[1] ॥ १६ ॥

त्रि०—चकारान्वादिष्टादाहुती इत्येतस्मात् पूर्वोपि ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"पुरोडाशमेते आहुती"[1] ॥ १६ ॥

वै०—पूर्ववद्व्याख्या। अत्राप्यवग्रहात्पूर्वः पदान्तः हुतीशब्दात्पूर्वत्वेन गृह्यते। "पशव एते आहुती"[1] ॥ १६ ॥

वाससी तपसी रोदसी ॥ १७ ॥

मा०—इत्येतानि पदानि प्रग्रहाणि भवन्ति। यथा—"वाससी इव विवसानौ"[2]। "अप्सु दीक्षातपसी"[3]। "इमे वै रोदसी"[4] ॥ १७ ॥

त्रि०—वाससी तपसी रोदसी इत्येतेषु पदेष्वन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति। यथा—"वाससी इव विवसानौ"[2]। "दीक्षातपसी अव रुन्धे"[3]। "इमे वै रोदसी तयोः"[4] ॥१७॥

सू० अ०—('आहुती' से) पूर्व वाला भी (पद 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि०—(च =) चकार; के द्वारा (पूर्व सूत्र से) अनुवृत्त 'आहुती'—इससे; पूर्वः = पूर्व वाला; भी; ईकार अथवा एकार पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"पुरोडाशमेते आहुती"क ॥ १६ ॥

वै० अ०—पूर्ववर्ती (४।१३) के समान (प्रस्तुत सूत्र की) व्याख्या है। यहाँ भी सावग्रह पद के पूर्व-पद से पूर्ववर्ती पदान्त का पूर्व के रूप में ग्रहण होता है। (जैसे)—"पशव एते आहुती"ख ॥ १६ ॥

सू० अ०—वाससी, तपसी तथा रोदसी (—ये पद 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं)।

त्रि० अ०—वाससी, तपसी, रोदसी—इन पदों में अन्तिम 'स्वर' (ईकार) 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"वाससी इव विवसानौ"। "दीक्षातपसी अव रुन्धे"। "इमे वै रोदसी तयोः"ग ॥ १७ ॥

(क) पुरोडाशम्। एते इति। आहुती इत्या—हुती ॥ प० पा०
'आहुती' से पूर्ववर्ती होने के कारण 'एते' का एकार प्रस्तुत सूत्र से 'प्रग्रह' है।

(ख) पशवः। एते इति। आहुती इत्या—हुती ॥ प० पा०

(ग) वाससी इति। इव। विवसानाविति वि—वसानौ ॥ प० पा०
दीक्षातपसी इति दीक्षा—तपसी। अवेति। रुन्धे ॥ प० पा०
इमे इति। वै। रोदसी इति। तयोः ॥ प० पा०

---

(१) १।५।२ (२) १।५।१० (३) ६।१।१ (४) ५।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(वाससी···रोदसी =) वाससीत्यादिष्वधिकृतवर्णः, पदान्तः प्रग्रहो भवति। वाससी—"वाससी इव विवसानौ"[1]। तपसी—"अप्सु दीक्षातपसी"[2]। रोदसी—"आ रोदसी अपृणा जायमानः"[3] ॥ १७ ॥

परश्च ॥ १८ ॥

मा०—रोदसी इत्येतस्मात् पदात्परः पदान्त ईकार एकारो वा प्रग्रहो भवति। "अन्विन्द्रँ रोदसी वावशाने"[4] ॥ १८ ॥

त्रि०—चकारान्वादिष्टाद्रोदसी इत्येतस्मात् पर ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"अन्विन्द्रꣳरोदसी वावशाने"[4] ॥ १८ ॥

वै०—रोदसीशब्दात्पर पदान्तोऽधिकृतवर्णः प्रग्रहो भवति। "रोदसी वावशाने अनु"[4] ॥ १८ ॥

व्यचस्वती भरिष्यन्ती नःपृथिवी ॥ १९ ॥

मा०—इत्येतानि पदानि प्रग्रहाणि भवन्ति। यथा—"व्यचस्वती सं वसाथाम्"[5]। "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती"[6]। "द्यावा नः पृथिवी इमम्"[7]। नः पृथिवी इति किम्? "विलिष्टं सूदयन्तु ते पृथिवी"[8] ॥ १९ ॥

वै० अ०—(वाससी···रोदसी =) 'वाससी' इत्यादि; में अधिकृत वर्ण (ईकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है।···॥ १७ ॥

सू० अ०—('रोदसी' से) बाद वाला भी ('पदान्त' स्वर 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—(च =) चकार; के द्वारा (पूर्व सूत्र से) अनुवृत्त 'रोदसी'—इस (पद) से; परः = बाद वाला; ईकार अथवा एकार पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"अन्विन्द्रꣳरोदसी वावशाने"[क] ॥ १८ ॥

वै० अ०—(परश्च =) 'रोदसी' शब्द से बाद वाला; अधिकृत वर्ण (ईकार, एकार), पदान्त होने पर, 'प्रग्रह' होता है। (जैसे—) "रोदसी वावशाने अनु" ॥ १८ ॥

सू० अ०—व्यचस्वती, भरिष्यन्ती तथा नः पृथिवी (—ये पद 'प्रग्रह' होते हैं)।

(क) रोदसी इति। वावशाने इति। अन्विति ॥ प० पा०

---

(१) १।५।१० (२) ६।१।१ (३) ४।२।२ (४) १।७।१३
(५) ४।१।३ (६) ४।१।३ (७) ४।१।११ (८) ५।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(व्यचस्वती भरिष्यन्ती नः पृथिवी =) एतेषु; पदेष्वन्त्यः स्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—"व्यचस्वती सं वसाथाम्"[१] । "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती"[२] । "द्यावा नः पृथिवी इमम्"[३] । न इति किम् ? "रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः"[३] ॥ १९ ॥

वै०—(व्यचस्वती भरिष्यन्ती नः पृथिवी =) व्यचस्वती इत्यादिष्वधिकृतवर्णः; पदान्तः प्रग्रहो भवति । व्यचस्वती—"व्यचस्वती सं वसाथाम्"[१] । भरिष्यन्ती—"अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती"[२] । नः पृथिवी—"द्यावा नः पृथिवी इमम्"[३] । न इत्युपबन्धेन किम् ?

त्रि० अ०—(व्यचस्वती भरिष्यन्ती नः पृथिवी =) इन पदों में; अन्तिम 'स्वर' (ईकार) 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"व्यचस्वती सं वसाथाम्" । "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती" । "द्यावा नः पृथिवी इमम्" ।[क] 'नः'—यह क्यों (कहा) ? "रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः"[ख] ॥ १९ ॥

वै० अ०—(व्यचस्वती···नः पृथिवी =) व्यचस्वती इत्यादि; में अधिकृत वर्ण, पदान्त होने पर, 'प्रग्रह' होता है । व्यचस्वती—"व्यचस्वती सं वसाथाम्" । भरिष्यन्ती—"अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती" । नः पृथिवी—"द्यावा नः पृथिवी इमम्" ।[ग] 'नः'—इस उपबन्ध से क्या (तात्पर्य है) ? (उत्तर) "पृथिव्यसि" ।[घ] (पू०)—" 'लोके' और 'एव' से परवर्ती 'इष्टा' (पद के अन्त में विद्यमान 'दीर्घ' स्वर 'ह्रस्व' हो जाता है"—इसकी तरह "द्यावा नः पृथिवी" के रूप में दोनों उपबन्धों का पहले ही पाठ करना उचित था, पृथक् पाठ रूप गौरव से क्या लाभ हुआ ? (सि०) इसे बतलाते हैं—"द्यावा नः पृथिवी" के रूप में अथवा "नो द्यावापृथिवी" के रूप में साथ में पाठ करने पर 'चोत्तमे' और 'एवोत्तरे' की तरह दोनों पदों में एक उपबन्ध

(क) व्यचस्वती इति । समिति । वसाथाम् ॥ प० पा०
अग्निम् । अन्तः । भरिष्यन्ती इति ॥ प० पा०
द्यावा । नः । पृथिवी इति । इमम् ॥ प० पा०

(ख) रेजते । अग्ने । पृथिवी । मखेभ्यः ॥ प० पा०
इस प्रत्युदाहरण में 'पृथिवी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'पृथिवी' के पूर्व में 'नः' नहीं है ॥

(ग) व्यचस्वती इति । समिति । वसाथाम् ॥ प० पा०
अग्निम् । अन्तः । भरिष्यन्ती इति ॥ प० पा०
द्यावा । नः । पृथिवी इति । इमम् ॥ प० पा०

(घ) पृथिवी । असि ॥ प० पा०
'पृथिवी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'पृथिवी' के पूर्व में 'नः' नहीं है ॥

---

(१) ४।१।३ (२) ४।१।३ (३) ४।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पृथिव्यसि"[१]। ननु—"लोक एवेष्टा"[२] इतिवत् "द्यावा नः पृथिवी"[३] इत्युपबन्धद्वयं पूर्वत्रैव युक्तं पठितुम् किं पृथक्पाठगौरवेण ? तदुच्यते—"द्यावा नः पृथिवी"[३] इति वा "नो द्यावापृथिवी" इति वा सहपाठे "चोत्तमे एवोत्तरे"[४] इतिवत् पदद्वयस्यैकोपबन्धत्वशङ्का स्यात्। व्यावर्त्यं च शाखान्तरे कल्प्येत। तन्मा भूदिति पृथक्पाठगौरवमाश्रितम् ॥ १९ ॥

की शंका हो जायेगी। और दूसरी शखा में प्रत्युदाहरण (व्यावर्त्य) की कल्पना कर ली जायेगी। वह न होवे, इसलिए पृथक् पाठ रूप गौरव का आश्रय लिया गया है[क] ॥ १९ ॥

(क) ४।१२ में यह विधान किया गया है कि 'द्यावा' पद से परवर्ती 'पृथिवी' पद का ईकार 'प्रग्रह' होता है। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि 'नः' पद से परवर्ती 'पृथिवी' पद का ईकार 'प्रग्रह' होता है। यह वस्तुस्थिति है—

पूर्वपक्षी—४।१२ में ही यह विधान कर देना चाहिए था कि 'द्यावा' और 'नः' से परवर्ती 'पृथिवी' का ईकार 'प्रग्रह' होता है। वे इसे इस प्रकार रख सकते थे—'द्यावा नः पृथिवी' अथवा 'नो द्यावापृथिवी'। सूत्रकार के लिए यह कोई नई बात न होती। वे पहले ही ३।६ में इस प्रकार का विधान कर चुके हैं। वहाँ उन्होंने कहा है कि 'लोके' और 'एव' से परवर्ती 'इष्टा' पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ 'स्वर' 'ह्रस्व' हो जाता है। एक ही सूत्र के द्वारा विधान सम्भव होने पर सूत्रकार ने पृथक् सूत्रों के द्वारा 'पृथिवी' के ईकार के प्रग्रहत्व का जो विधान किया है वह उचित नहीं है।

सिद्धान्ती—सूत्रकार ने ४।११ में 'चोत्तमे' और 'एवोत्तरे' को 'प्रग्रह' के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। 'चोत्तमे' का अर्थ है—'च' और 'उत्'—इन दोनों पदों से परवर्ती 'तमे' का एकार 'प्रग्रह' होता है। 'एवोत्तरे' का अर्थ है—'एव' और 'उत्'—इन दोनों पदों से परवर्ती 'तरे' का एकार 'प्रग्रह' होता है।

४।११ के 'चोत्तमे' और 'एवोत्तरे' का अध्ययन करने के अनन्तर जब कोई पाठक ४।१२ में 'द्यावा नः पृथिवी' (अथवा नो द्यावा पृथिवी) का अध्ययन करता तो वह इसका यही अर्थ करता—'द्यावा' और 'नः'—इन दोनों से परवर्ती 'पृथिवी' का ईकार 'प्रग्रह' होता है, जब कि वस्तुतः केवल 'द्यावा' से परवर्ती और केवल 'नः' से परवर्ती 'पृथिवी' का ईकार 'प्रग्रह' होता है। अनिष्ट अर्थ के परिहार के लिए तथा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए दो पृथक् सूत्रों में 'पृथिवी' के ईकार के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त अनिष्ट अर्थ करने पर भाष्य में 'द्यावा' और 'नः' के 'ग्रहण' की उपयोगिता दिखलाने के लिए कोई प्रत्युदाहरण नहीं मिलेगा।

---

(१) ४।२।९ (२) ३।६ (३) ४।१।११ (४) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये अप्रथेतामुर्वी ते अस्य यं क्रन्दसी छन्दस्वती ते आचरन्ती अन्तरैतासु ॥ २० ॥

मा०—एतासु ऋक्षु ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—"ये अप्रथेतामभितेभिः"[१] । अप्रथेतामिति किम् ? "ये ते सरस्व ऊर्मयः"[२] । "उर्वी रोदसी वरिव."[३] । "ते अस्य योषणे"[४] । अस्येति किम् ? "ते नो अर्वन्तः"[५] । "यं क्रन्दसी अवसा"[६] । क्रन्दसीति किम् ? "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्"[७] । "छन्दस्वती उषसा"[८] । "ते आचरन्ती समना"[९] । आचरन्तीति किम् ? "ते वर्द्धन्त" [अतमाहदिति][१०] । "अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती"[११] ॥ २० ॥

त्रि०—ये अप्रथेताम्, उर्वी, ते अस्य, यं क्रन्दसी, छन्दस्वती, ते आ चरन्ती अन्तरा एतासु ऋक्षु ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—"ये अप्रथेताममितेभिः"[१] । अप्रथेतामिति किम् ? "ये ते पन्थानः"[१२] । "उर्वी रोदसी वरिवः"[३] । "ते

सू० अ०—ये अप्रथेताम्, उर्वी, ते अस्य, यं क्रन्दसी, छन्दस्वती, ते आ चरन्ती, और अन्तरा—इन (से प्रारम्भ होने वाली ऋचाओं) में (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है ।

त्रि० अ०—ये अप्रथेताम्, उर्वी, ते अस्य, यं क्रन्दसी, छन्दस्वती, ते आ चरन्ती, अन्तरा; एतासु = इन ऋचाओं में; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"ये अप्रथेताममितेभिः"क । 'अप्रथेताम्'—यह क्यों (कहा) ? "ये

सिद्धान्ती—भाष्य में अनेक स्थलों पर प्रत्युदाहरण न देकर यह कह दिया गया है कि अन्य शाखा में प्रत्युदाहरण मिलेगा । उसी प्रकार यहाँ भी यह कह दिया जायेगा कि अन्य शाखा में प्रत्युदाहरण को देख लेना चाहिए ।

अत एव अनिष्ट अर्थ के परिहार के लिए सूत्रकार ने पृथक् सूत्रों के द्वारा जो 'पृथिवी' के ईकार के प्रग्रहत्व का विधान किया है वह सोद्देश्य होने के कारण उचित है ।

(क) ये अप्रथेताममितेभिरोजोभिर्ये प्रतिष्ठे अभवतां वसूनाम् । स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमꣳहसः ॥ (ये इति । अप्रथेताम् । अमितेभिः । ओजोभिः । ये इति । प्रतिष्ठे इति । अभवताम् । वसूनाम् । स्तौमि । द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी । नाथितः । जोहवीमि । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अꣳहसः ॥ प० पा०)

इस ऋचा में पाँच प्रग्रह हैं ।

---

(१) ४।७।१५	(२) ३।१।११	(३) ४।७।१५	(४) ४।१।८
(५) १।७।८	(६) ४।१।८	(७) १।३।१३	(८) ४।३।११
(९) ४।६।६	(१०) ४।१।११	(११) ५।१।११	(१२) ७।५।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्य योषणे"[1]। अस्येति किम्? "तेऽवर्धन्त स्वतवसः"[2]। "यं क्रन्दसी अवसा"[3]। क्रन्दसीति किम्? "यमग्ने पृत्सु मर्त्यं"[4]। "छन्दस्वतो उषसा पेपिशाने"[4] "ते आचरन्ती

ते पन्थानः"।क "उर्वी रोदसी वरिवः"ख "ते अस्य योषणे"।ग 'अस्य'—यह क्यों (कहा)? "तेऽवर्धन्त स्वतवसः"।घ "यं क्रन्दसी अवसा"।ङ 'क्रन्दसी'—यह क्यों (कहा)? "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्"।च "छन्दस्वती उषसा

(क) सूत्र में 'अप्रथेताम्' को छोड़कर केवल 'ये' का ही ग्रहण किया जाता तो 'ये' से प्रारम्भ होने वाली "ये ते पन्थानः" इत्यादि किसी भी ऋचा को समझा जा सकता था, जिससे अभीष्ट की सिद्धि न होती। तै० सं० में अनेक ऋचायें 'ये' से प्रारम्भ होती हैं। किन्तु 'ये अप्रथेताम्' से केवल प्रस्तुत एक ही ऋचा प्रारम्भ होती है।

(ख) उर्वी रोदसी वरिवः कृणोतं क्षेत्रस्य पत्नी अधि नो ब्रूयातम्। स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते मुञ्चतमꣳहसः॥ (उर्वी इति। रोदसी इति। वरिवः। कृणोतम्। क्षेत्रस्य। पत्नी इति। अधीति। नः। ब्रूयातम्। स्तौमि। द्यावापृथिवी इति द्यावा—पृथिवी। नाथितः। जोहवीमि। ते इति। मुञ्चतम्। अꣳहसः॥ प० पा०)

इस ऋचा में पाँच प्रग्रह हैं।

(ग) ते अस्य योषणे दिव्ये न योनावुषासानक्ता। इमं यज्ञमवतामध्वरं नः॥ (ते इति। अस्य। योषणे इति। दिव्ये इति। न। योनौ। उषासानक्ता। इमम्। यज्ञम्। अवताम्। अध्वरम्। नः॥ प० पा०)

इस ऋचा में तीन प्रग्रह हैं।

(घ) सूत्र में 'अस्य' को छोड़कर यदि 'ते' का ही ग्रहण किया जाता तो 'ते' से प्रारम्भ होने वाली "तेऽवर्धन्त स्वतवसः" इत्यादि किसी भी ऋचा को समझा जा सकता था, जिससे अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। तै० सं० में अनेक ऋचाएँ 'ते' से प्रारम्भ होती हैं किन्तु 'ते अस्य' से केवल प्रस्तुत एक ही ऋचा प्रारम्भ होती है।

(ङ) यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितौ व्येति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (यम्। क्रन्दसी इति। अवसा। तस्तभाने इति। अभ्यैक्षेतामित्यभि-ऐक्षेताम्। मनसा। रेजमाने इति। यत्र। अधीति। सूरः। उदितवित्युत्—इतौ। व्येतीतिवि—एति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥ प० पा०)

इस ऋचा में तीन प्रग्रह हैं।

(च) सूत्र में 'क्रन्दसी' को छोड़कर यदि 'यं' का ही ग्रहण किया जाता तो 'यं' से

---

(१) ४।१।८ (२) ४।१।११ (३) १।३।१३ (४) ४।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समना"[1]। आचरन्तीति किम्? "ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतः"[2]। "अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती"[3] ॥ २० ॥

पेपिशाने"।[क] "ते आचरन्ती समना"।[ख] 'आचरन्ती'—यह क्यों (कहा)? "ते नो अर्वन्तो हवनश्रुत"।[ग] "अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती"[घ] ॥ २० ॥

प्रारम्भ होने वाली "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्" इत्यादि किसी भी ऋचा को समझा जा सकता था, जिससे अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। तै० सं० में अनेक ऋचाएँ 'यं' से प्रारम्भ होती हैं किन्तु 'यं क्रन्दसी' से केवल प्रस्तुत एक ही ऋचा प्रारम्भ होती है।

(क) छन्दस्वती उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सञ्चरन्ती। सूर्यपत्नी वि चरतः प्रजानती केतुं कृण्वाने अजरे भूरिरेतसा ॥ (छन्दस्वती इति। उषसा। पेपिशाने इति। समानम्। योनिम्। अन्विति। सञ्चरन्ती इति सं—चरन्ती। सूर्यपत्नी इति सूर्य—पत्नी। वीति। चरतः। प्रजानती इति प्र—जानती। केतुम्। कृण्वाने इति। अजरे इति। भूरिरेतसेति भूरि—रेतसा ॥ प० पा०)

इस ऋचा में छः प्रग्रह हैं।

(ख) ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे। अप शत्रून् विध्यताꣳसंविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्। (ते इति। आचरन्ती इत्या—चरन्ती। समना। इव। योषा। माता। इव। पुत्रम्। बिभृताम्। उपस्थ इत्युप—स्थे। अपेति। शत्रून्। विध्यताम्। संविदाने इति सं—विदाने। आर्त्नी इति। इमे इति। विष्फुरन्ती इति वि—स्फुरन्ती ॥ प० पा०)

इस ऋचा में छः प्रग्रह हैं।

(ग) सूत्र में यदि 'आचरन्ती' को छोड़कर केवल 'ते' का ग्रहण किया जाता तो 'ते' से प्रारम्भ होने वाली "ते नो अर्वन्तो हवनश्रुत" इत्यादि ऋचा को भी समझा जा सकता था जो अनिष्ट है। तै० सं० में 'ते' से अनेक ऋचाएँ प्रारम्भ होती हैं। किन्तु 'ते आचरन्ती' से केवल प्रस्तुत एक ही ऋचा प्रारम्भ होती है।

(घ) अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने। उषासा वाꣳसुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनाविह सादयामि ॥ (अन्तरा। मित्रावरुणेति मित्रा-वरुणा। चरन्ती इति। मुखम्। यज्ञानाम्। अभीति। संविदाने इति सं—विदाने। उषासा। वाम्। सुहिरण्ये इति सु—हिरण्ये। सुशिल्पे इति सु—शिल्पे। ऋतस्य। योनौ। इह। सादयामि ॥ प० पा०)

इस ऋचा में चार प्रग्रह हैं।

---

(१) ४।६।६ (२) १।७।८ (३) ५।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—ये अप्रथेतामित्यादिषु सप्तस्वृक्षु अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। ये अप्रथेताम्—"ये अप्रथेतां—ये प्रतिष्ठे"[१]। अप्रथेतामिति किम्? "ये वाजिनम्"[२] इत्यादौ मा भूदिति। उर्वी—"उर्वी रोदसी—पत्नी अधि नो ब्रूयातम्"[१]। ते अस्य—"ते अस्य योषणे दिव्ये"[१]। अस्येति किम्? "ते ते धामानि"[३] इत्यादौ मा भूदिति। यं क्रन्दसी—"यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने—रेजमाने"[१]। क्रन्दसी इति किम्? "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्"[५] इत्यादौ मा भूदिति। छन्दस्वती—"छन्दस्वती—उषसा पेपिशाने—सञ्चरन्ती—सूर्यपत्नी—प्रजानती—कृण्वाने—अजरे"[६]। ते आचरन्ती—"ते आचरन्ती समनेव योषा—संविदाने—आर्त्नी—इमे—विष्फुरन्ती"[७]। आचरन्ती इति किम्? पूर्ववत्प्रत्युदाहरणम्। अन्तरा—"अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती—संविदाने—सुहिरण्ये—सुशिल्पे"[८] ॥ २० ॥

नोपस्थे ॥ २१ ॥

मा०—उपस्थ इत्येतत्पदमेतास्वृक्षु प्रग्रहो न भवति। "मातेव पुत्रं बिभृता-मुपस्थे"[७] ॥ २१ ॥

त्रि०—एतास्वृक्षु उपस्थे इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो न भवति। यथा—"बिभृतामुपस्थे"[७]। उपेति किम्? "ये प्रतिष्ठे अभवताम्"[१] ॥ २१ ॥

वै० अ०—(ये अप्रथेताम् अन्तरा =) 'ये अप्रथेताम्' इत्यादि सात ऋचाओं में; अधिकृत वर्ण, पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है·····॥ २० ॥

सू० अ०—उपस्थे (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह') नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—इन ऋचाओं में उपस्थे का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है। जैसे—"बिभृतामुपस्थे"।[क] 'उप'—यह क्यों (कहा)? "ये प्रतिष्ठे अभवताम्"[ख] ॥ २१ ॥

(क) बिभृताम्। उपस्थ इत्युप—स्थे ॥ प० पा०

यद्यपि 'उपस्थे' पद "ते आचरन्ती" से प्रारम्भ होने वाली ऋचा में स्थित है, तथापि प्रस्तुत सूत्र से 'उपस्थे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है।

(ख) ये इति। प्रतिष्ठे इति प्रति—स्थे ॥ प० पा०

"ये अप्रथेताम्" से प्रारम्भ होने वाली ऋचा में उपस्थित होने के कारण 'स्थे' का एकार 'प्रग्रह' है। 'स्थे' के पूर्व में 'उप' न होकर 'प्रति' है, अतः प्रस्तुत सूत्र से यहाँ प्रग्रहत्व का निषेध नहीं होता है।

---

(१) ४।७।१५ (२) ४।६।९ (३) ४।१।८
(४) १।३।६ (५) १।३।१३ (६) ४।३।११
(७) ४।६।६ (८) ५।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उपस्थे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो न भवति। "मातेव पुत्रं बिभृता-मुपस्थे"[1]। उपेति किम्? "प्रतिष्ठे अभवताम्"[2] ॥ २१ ॥

इरावती प्रभृत्यादाधार ॥ २२ ॥

मा०—इरावती इत्येतस्मात्पदात् प्रभृति यावद् दाधार इति एतस्मिन्नन्तराल ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"इरावती धेनुमती"[3]। "रोदसी विष्णुरेते"[3] ॥ २२ ॥

त्रि०—इरावतीप्रभृति = इरावतीशब्दमारभ्य; आदाधार = दाधारशब्दपर्यन्तम्; ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"इरावती धेनुमती हि भूतम्"[3] "विष्णु-रेते दाधार"[3] ॥ २२ ॥

वै०—इरावती शब्दः; प्रभृतिः = आदिः; यस्य तदिदमिरावतीप्रभृतीति क्रिया-विशेषणम्। "इरावती धेनुमती"[3] इत्यादि दाधारपर्यन्ते देशेऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—"वती। मती। यवसिनी। यशस्ये। एते"[3] नन्वियमिरावतीप्रभृतिः त्रिष्टुप्। तेन

वै० अ०—उपस्थे—यहाँ अधिकृत वर्ण (एकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है।..... ॥ २१ ॥

सू० अ०—इरावती से लेकर दाधार पर्यन्त (पदान्त ईकार और एकार 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं)।

त्रि०अ०—इरावतीप्रभृति = 'इरावती' शब्द से लेकर; आदाधार = 'दाधार' पर्यन्त[क] ईकार अथवा एकार पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"इरावती धेनुमती हि भूतम्"। "विष्णुरेते दाधार" ॥ २२ ॥

वै० अ०—इरावती शब्द है; प्रभृतिः = आदि; जिसका वह इरावती-प्रभृति—यह क्रिया-विशेषण है। "इरावती धेनुमती" से लेकर "दाधार" पर्यन्त देश में अधिकृत वर्ण (ईकार और एकार); पदान्त होने पर, 'प्रग्रह' होता है—वती, मती, यवसिनी, यशस्ये, एते। (पू०) यह 'इरावती' से प्रारम्भ होने

(क) निर्दिष्ट अंश यह है—"इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे यशस्ये। व्यस्क-भ्नाद्रोदसी विष्णुरेते दाधार" (इरावती इतीरा—वती। धेनुमती इति धेनु—मती। हि। भूतम्। सूयवसिनी इति सु—यवसिनी। मनवे। यशस्ये इति। वीति। अस्कभ्नात्। रोदसी इति। विष्णुः। एते इति। दाधार ॥ प० पा०) इस अंश में छः पदों (वती, मती, यवसिनी, यशस्ये, रोदसी तथा एते) के पदान्त ईकार तथा एकार 'प्रग्रह' हैं। 'रोदसी' में तो 'प्रग्रह' की सिद्धि ४।१७ से भी हो जाती है। ४।५४ में निषिद्ध हो जाने से 'मनवे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है।

---

(१) ४।६।६ (२) ४।७।१५ (३) १।२।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वोक्ताभिः ऋग्भिः सहैव पाठः किमिति न ? सत्यम्। पूर्वेण त्वर्धर्चेन संहितास्नानाद्ऋग्विभागस्यास्पष्टत्वादेवमुच्यत इति वेदितव्यम् ॥ २२ ॥

पूर्वजेप्रभृत्याऽयम् ॥ २३ ॥

मा०—पूर्वजे इत्येतत्प्रभृति यावदयमित्यस्मिन्नन्तराले यत्पदमीकारान्तं एकारान्तं वा प्रग्रहो भवति। "पूर्वजे ऋतावरी इत्याह"[1]। "देवी ह्येते देवपुत्रे"[1] ॥ २२ ॥

त्रि०—पूर्वजेप्रभृतिः (आऽयम् =) अयं पर्यन्तम्; ईकार एकारो वा पदान्तः

वाली (ऋचा) त्रिष्टुप् (छन्दस्क) है। तब पूर्वोक्त ऋचाओं के साथ ही इसका पाठ क्यों नहीं किया गया है ? (सि०) सच कहते हो। किन्तु पूर्ववर्ती अर्धर्च से संयुक्त रूप में पाठ होने से ऋचा का विभाग अस्पष्ट होने से इस प्रकार कहा गया है—यह जानना चाहिए[क] ॥ २२ ॥

सू० अ०—'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' पर्यन्त (पदान्त ईकार तथा एकार 'प्रग्रह' संज्ञक होते हैं)।

त्रि० अ०—पूर्वजेप्रभृति = पूर्वजे से लेकर; (आऽयम् =) अयं पर्यन्त[ख];

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र के निर्माण की आवश्यकता नहीं थी। ४।२० में उल्लिखित सात ऋचाओं के साथ ही 'इरावती' से प्रारम्भ होने वाली ऋचा का भी उल्लेख कर देते। इससे भी 'वती', 'मती', 'यवसिनी' इत्यादि के 'प्रग्रह' होने की सिद्धि हो जाती। इसके अतिरिक्त किसी अन्य पद के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग भी न उपस्थित होता। तब प्रस्तुत सूत्र का विधान क्यों किया गया है ?

सिद्धान्ती—यह बात ठीक है। किन्तु ऐसा करने से एक कठिनता आ जाती है। ४।२० में उल्लिखित ऋचाओं के विषय में कोई संदेह नहीं है। 'इरावती' से प्रारम्भ होने वाला अंश पूर्ववर्ती अर्धर्च से सम्बद्ध है और यह स्पष्ट नहीं है कि ऋचा का प्रारम्भ किस पद से होता है। इसी सन्देह के कारण ४।२० में इसका उल्लेख नहीं किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में सम्बद्ध अंश का पृथक् रूप से कथन किया गया है।

(ख) संहिता का सम्बद्ध अंश यह है—"(ह्येते) पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्" (पूर्वजे इति पूर्व—जे। ऋतावरी इत्यृत—वरी। इति। आह। पूर्वजे इति पूर्व—जे। हि। एते इति। ऋतावरी इत्यृत—वरी। देवी इति। देवपुत्रे इति देव—पुत्रे। इति। आह। देवी इति। हि। एते इति। देवपुत्रे इति देव—पुत्रे। उपहूत इत्युप—हूतः। अयम् ॥ प० पा०)

---

(१) २।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रग्रहो भवति। यथा—"पूर्वजे ऋतावरी इत्याह"[1]। आङ्पदं मर्यादायां वर्तते। ननु—"प्र पूर्वजे पितरा"[2] इत्यारभ्य "अयं पुरो भुवः"[3] इत्येतत्पर्यन्तं स्थलमेतत्सूत्रविषयः किं न स्यात्? उच्यते, भवत्पक्षे उपबन्धान्तःपातित्वात् "कृणुध्वꣳसदने"[4] इति ग्रहणस्य वैयर्थ्यं

ईकार अथवा एकारः पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"पूर्वजे ऋतावरी इत्याह"। 'आङ्' पद मर्यादा अर्थ में वर्तमान है।[क] (पू०) "प्र पूर्वजे पितरा"—यहाँ से आरम्भ करके "अयं पुरो भुवः"—इस स्थल तक इस सूत्र का विषय क्यों नहीं होता है? (सि०) बतलाते हैं—आप के पक्ष में इस उपबन्ध (४।१।११—४।३।२) के मध्य में आने से "कृणुध्वꣳसदने" का (४।११ में) ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए वह स्थल इस सूत्र का विषय नहीं है।[ख] (पू०) यहाँ पर 'पूर्वजे' पद का

इस अंश में दस 'स्वर' 'प्रग्रह' संज्ञक है। इनमें से दो पदों (पूर्वजे, पूर्वजे) का प्रग्रहत्व ४।११ से ही सिद्ध है।

(क) 'आङ्' पद मर्यादा और अभिविधि—इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। मर्यादा किसी अवधि को कहते हैं। अभिविधि भी अवधि ही होती है। अन्तर केवल इतना है—अभिविधि में अवधि के रूप में निर्दिष्ट पदों का भी अन्तर्भाव होता है। इसके विपरीत मर्यादा में अवधि के रूप में निर्दिष्ट पदों का अन्तर्भाव नहीं होता है। जैसे—४।२२ में 'आ' पद अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त है, जिससे अवधि के रूप में निर्दिष्ट 'इरावती' पद के 'प्रग्रह' होने की भी सिद्धि ४।२२ से हो जाती है। भाष्यकार कह रहे हैं कि प्रस्तुत सूत्र में 'आ' मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है, जिससे 'पूर्वजे' के 'प्रग्रह' होने की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र से नहीं होती है। 'पूर्वजे' के 'प्रग्रह' होने की सिद्धि तो ४।११ से ही हो जाती है।

(ख) पूर्वपक्षी—(प्र) पूर्वजे पितरा (४।१।११) से लेकर अयं (पुरो भुवः) (४।३।२) तक—यह स्थल भी प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय हो सकता है। यह स्थल भी 'पूर्वजे' से प्रारम्भ होता है। और 'अयम्' पर समाप्त होता है।

सिद्धान्ती—'कृणुध्वꣳसदने'—यह द्वैपद इस स्थल के अन्तर्गत है। यदि इस स्थल को प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय माना जायेगा तो 'सदने' के एकार का प्रग्रहत्व इस सूत्र (४।२३) से सिद्ध हो जायेगा। यह वस्तुस्थिति होने पर ४।११ के द्वारा 'सदने' के एकार के प्रग्रहत्व का जो विधान किया गया है वह व्यर्थ (पुनरुक्त) हो जायेगा। ४।११ में 'कृणुध्वꣳसदने' के ग्रहण को सार्थक बनाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि यह स्थल (४।१।११—४।३।२) प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय नहीं है। पृ० २९३ पर टि० (ख) में उल्लिखित स्थल ही प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय है।

---

(१) २।६।७ (२) ४।१।११ (३) ४।३।२ (४) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्। तस्मात् तत्स्थलमेतत्सूत्रविषयः न भवति। नन्वत्र पूर्वजेग्रहणमनर्थकम्। "पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने"[1] इति तत्रैवोक्तत्वात्। किन्तु वरीग्रभृतीत्येतावतैवालम्। नेति ब्रूमः। वरी-ग्रहणद्वयसम्भवात् कुत्र वा अवधित्वेन स्वीकार इति सन्देहः स्यात्। किञ्च—"आसन्नꣳसन्देहे"[2] इति वचनादुत्तरावधिसन्निकृष्टो द्वितीयवरीशब्द एव स्वीकर्त्तव्यः। तथा सति पूर्ववरीशब्दस्य च प्रग्रहत्वं न स्यात् तच्चानिष्टम्। ननु भवन्मतेऽपि पूर्वजेद्वयसम्भवात् कुत्र वा ग्रहणमिति

ग्रहण व्यर्थ है। क्योंकि "पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने"—इसे वहाँ (= ४।११ में) ही कह दिया गया है। किन्तु (प्रस्तुत सूत्र में) "'वरी' से प्रारम्भ करके"—इतना कहना ही पर्याप्त है। (सि०) 'नहीं'—यह कहते हैं। (उक्त अंश में) दो 'वरी' पदों के सम्भव होने से कौन से ('वरी' पद को) अवधि (सीमा) के रूप में स्वीकार करें—यह सन्देह होगा। इसके अतिरिक्त "सन्देह होने पर समीपस्थ (वर्ण अथवा पद) का बोध होता है"—इस वचन से बाद वाले सीमा ('अयम्') के समीप में स्थित द्वितीय 'वरी' शब्द को ही स्वीकृत करना चाहिए। और वैसा होने पर पूर्व वाले 'वरी' शब्द का प्रग्रहत्व नहीं होगा। और वह अनिष्ट है।[क] (पू०) आपके मत में

(क) पूर्वपक्षी—पूर्वजे पद के एकार के प्रग्रहत्व का विधान ४।११ में ही कर दिया गया है। अतएव प्रस्तुत सूत्र (४।२३) से 'पूर्वजे' के एकार के प्रग्रहत्व का विधान अभीष्ट नहीं है। यह वस्तुस्थिति होने पर प्रस्तुत सूत्र (४।२३) में 'पूर्वजे' पद का ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र (४।२३) में यह विधान करना चाहिए—"'वरी' से लेकर 'अयम्' पर्यन्त पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है"। तब सम्बद्ध अंश यह होगा—(ऋता) वरी इत्याह पूर्वजे ह्यते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्यते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्।

सिद्धान्ती—यह युक्त नहीं है। सम्बद्ध अंश में 'वरी' पद दो बार आया है। संदेह होता है कि सम्बद्ध अंश को प्रथम 'वरी' पद से प्रारम्भ करके माना जाये अथवा द्वितीय पद से प्रारम्भ करके।

१।२५ में यह विधान किया गया है कि संदेह होने पर समीपवर्ती वर्ण अथवा पद का ग्रहण करना चाहिए। सम्बद्ध अंश में बाद वाली सीमा के रूप में विद्यमान 'अयम्' पद के समीप में द्वितीय 'वरी' पद स्थित है। अतः उसी का ग्रहण करना चाहिए। उस स्थिति में सम्बद्ध अंश यह होगा—(ऋता) वरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्यते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्। यदि इस उपर्युक्त स्थल को प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय माना जायेगा, तब प्रथम 'वरी' पद के ईकार के प्रग्रहत्व की सिद्धि नहीं होगी, जबकि प्रथम 'वरी' पद का ईकार वास्तव में 'प्रग्रह' है। अत एव 'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' तक के अंश को ही प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय माना गया है।

---

(१) ४।११ (२) १।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्देहः समानः। किञ्च युक्तयुक्तमनिष्टं च समानम्। मैवं, पूर्वजे इति पदमत्र कार्यभाक्त्वेन नोच्यते, येन पौनरुक्त्यं भवेत्, किन्तु पूर्वश्चासौ जेशब्दश्च पूर्वजे। एतत्प्रभृतीत्युपलक्षणत्वेनोच्यते। ननु तर्हि उपहूत इति पदमतिक्रम्य अयमित्यवधित्वेन किमुच्यते? उपहूत इति पदानां बाहुल्येऽपि "आसन्नꣳसन्देहे"[1] इति वचनात् प्राथमिकस्यैव ग्रहणसिद्धेः। मैवम्। उपहूत इतिग्रहणे सूत्रगौरवदोषः। उपेत्येतावन्मात्रस्येङ्ग्यांशस्य पदत्वं गौणम्। अयं इत्यस्य तु मुख्यम्। "मुख्ये संभवति न गौणं" इति न्यायादयमिति युक्तं ग्रहणम्। नन्वेतेनैव न्यायेन

भी दो 'पूर्वजे' (पदों) के सम्भव होने से कौन से ('पूर्वजे' पद का) ग्रहण किया जाये—यह सन्देह समान है। इसके अतिरिक्त उस सम्बन्ध में कहा गया अनिष्ट भी समान है। (सि०) ऐसी बात नहीं है। यहाँ पर 'पूर्वजे'—यह पद कार्यभाक् ('प्रग्रह' रूप कार्य को प्राप्त करने वाले) के रूप में नहीं कहा गया है जिससे पुनरुक्ति दोष हो, किन्तु 'पूर्वजे' का अर्थ है दोनों में से पहले वाला 'जे' शब्द। इस (पूर्ववर्ती 'जे' शब्द) से लेकर—यह केवल बोध कराने के लिए कहा गया है।[क] (पू०) तब 'उपहूत'—इस पद का अतिक्रमण करके 'अयम्' पद को सीमा के रूप में क्यों कहा गया है? क्योंकि 'उपहूत'—इन पदों का बाहुल्य होने पर भी "सन्देह होने पर समीपस्थ (वर्ण अथवा पद) को समझना चाहिए"—इस कथन से पहले ('उपहूत') पद के ही ग्रहण की सिद्धि होती है। (सि०) ऐसी बात नहीं है। 'उपहूत'—इस (पद) के ग्रहण से सूत्र में गौरवदोष (हो जायेगा)। सावग्रह पद के केवल 'उप' इतने अंश का पदत्व गौण है। किन्तु 'अयम्'—इसका (पदत्व)

(क) पूर्वपक्षी—आपके द्वारा उल्लिखित सम्बद्ध अंश को प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय मानने पर ये तीन दोष होते हैं। (१) इस सम्बद्ध अंश में 'पूर्वजे' पद दो बार आता है। यह संदेह होता है कि कौन—से 'पूर्वजे' पद को सीमा के रूप में स्वीकार किया जाये, (२) १।२५ के अनुसार यदि द्वितीय 'पूर्वजे' पद को सम्बद्ध अंश की पूर्ववर्ती सीमा माना जाये तो प्रथम 'वरी' पद के ईकार के प्रग्रहत्व की सिद्धि नहीं होगी, जबकि प्रथम 'वरी' पद का ईकार वास्तव में 'प्रग्रह' है, (३) 'पूर्वजे' पद के प्रग्रहत्व की सिद्धि ४।११ से ही हो जाती है। इस सूत्र में केवल पुनरुक्ति है, जो युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—प्रस्तुत सूत्र (४।२३) में प्रयुक्त 'पूर्वजे' पद का अर्थ है पूर्ववर्ती 'जे' शब्द। यहाँ 'पूर्वजे' पद के ईकार के प्रग्रहत्व का विधान नहीं किया गया है। इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। पूर्ववर्ती 'जे' शब्द को सम्बद्ध अंश की पहली वाली सीमा माना गया है। इस पूर्ववर्ती 'जे' शब्द से बाद में आने वाले ईकार और एकार स्वरों के प्रग्रहत्व का विधान ही इस सूत्र में किया गया है। ऐसा मानने पर उपर्युक्त तीन दोष नहीं होते हैं।

---

(१) १।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आद्यावधेरनुपपन्नता । नायं पक्षः । मुख्यसम्भवाभावात् । तत्रा हि । ह्वयत इति मुख्ये स्वीकृते अभिविधिन्यायेन तस्यापि प्रग्रहत्वं स्यात् । तच्चानिष्टम् । "अते समानपदे"[1] इतिवचनादेत-

मुख्य है । "मुख्य के सम्भव होने पर गौण का ग्रहण नहीं करना चाहिए"—इस न्याय से 'अयं' (पद) का ग्रहण ठीक है ।[क] (पू०) इसी न्याय से पूर्ववर्ती (पूर्वजे)

(क) प्रस्तुत सूत्र (४।२३) से जिन आठ पदों के अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होते हैं, उनमें अन्तिम (अष्टम) पद 'देवपुत्रे' है । 'देवपुत्रे' से तुरन्त बाद में विद्यमान 'उपहूतः' पद को परवर्ती सीमा के रूप में मानकर उसका ही प्रस्तुत सूत्र (४।२३) में ग्रहण करना चाहिए । 'उपहूतः' पद का अतिक्रमण करके 'अयम्' पद का जो सूत्र में ग्रहण किया गया है वह उचित नहीं है ।

पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयं—यजमान इत्याह यजमानमेवोप ह्वयत उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूतो भूयसि हविष्करण उपहूतो दिव्ये धामन्नुपहूत इत्याह····।

उपर्युक्त स्थल को देखने से पता चलता है कि 'देवपुत्रे' के बाद में स्थित 'उपहूतः' से बाद में 'उपहूत' पद अनेक बार आया है । इस सूत्र में 'अयम्' पद के ग्रहण की पुष्टि कोई व्यक्ति इस आधार पर कर सकता है—यतः सम्बद्ध स्थल में 'उपहूतः' पद अनेक बार आया है, अतः यह संदेह हो सकता है कि कौन से 'उपहूतः' पद को परवर्ती सीमा के रूप में माना जाये । सूत्र में 'अयम्' पद का ग्रहण करने से इस प्रकार का कोई संदेह नहीं होता है ।

वास्तव में उपर्युक्त संदेह का निवारण सरलता से १।२५ की सहायता से किया जा सकता है । यतः 'देवपुत्रे' पद के बाद में स्थित 'उपहूतः' पद पूर्ववर्ती सीमा के अधिक समीप है, अतः सूत्र में उसी का ग्रहण किया गया है और यह अभीष्ट भी है । अतः सूत्र में 'उपहूतः' पद का ही ग्रहण करना चाहिए था, 'अयम्' पद का नहीं ।

सिद्धान्ती—प्रस्तुत सूत्र (४।२३) में 'अयम्' पद का ग्रहण न करके उसके स्थान पर यदि 'उपहूतः' पद का ग्रहण किया जाये तो सूत्र गौरवदोष से ग्रस्त हो जायेगा । 'उपहूतः' यह सावग्रह पद है, जबकि 'अयम्' एक छोटा तथा अवग्रह-रहित पद है ।

यदि कोई कहे कि गौरवदोष से बचने के लिए सूत्र में केवल 'उप' पद का ग्रहण करना चाहिए—यह भी उचित नहीं है । अयम्—यह पूर्ण पद है । इसमें पदत्व मुख्य है । इसके विपरीत 'उप' मुख्यतः पद नहीं है । यह तो सावग्रह पद (उपऽहुतः) का एक अंश है, जिसे १।४८ के विधान के अनुसार पद के समान

(१) ४।५४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दनिष्टं न भवतीति चेत्। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरं' इति न्यायात्, ह्वयत इत्युच्चार्य तस्य निषेधकथनादपि तदनुच्चारणमेव रमणीयमिति मुख्यसम्भवाभावस्तदवस्थ एव। तस्मादस्मिन् सूत्रेऽनुपपत्तिलेशो नास्ति ॥ २३ ॥

सीमा भी अनुपपन्न (असंगत) है। मुख्य (पद) में औचित्य (उपयुक्तता) का अभाव होने से—यह (मत) ठीक नहीं है। क्योंकि 'ह्वयते'—इस मुख्य (पद) को (सूत्र में) स्वीकृत करने पर अभिविधि न्याय से उसका भी प्रग्रहत्व हो जायेगा। और वह अनिष्ट है। और यदि कहा जाये कि "एक (समान) पद में वर्तमान 'अते' और 'अवे' (का पदान्त एकार) किसी भी स्थिति में ('प्रग्रह' नहीं होता है)"—इस (सूत्र) से यह अनिष्ट नहीं होता है तो "धोने की अपेक्षा कीचड़ का दूर से ही स्पर्श न करना ठीक है"—इस न्याय से 'ह्वयते' इसका (सूत्र में) उच्चारण करके फिर उसके निषेध के कथन से उसका अनुच्चारण ही रमणीय है—इस प्रकार मुख्य के औचित्य का अभाव उसी अवस्था में है। इसलिए इस सूत्र में असंगति का थोड़ा भी अंश नहीं है[क] ॥ २३ ॥

माना जाता है। इस प्रकार 'उप' में जो पदत्व है वह गौण है, मुख्य नहीं। नियम यह है कि मुख्य का ग्रहण संभव होने पर गौण का ग्रहण नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में मुख्य पद—अयम्—का ग्रहण किया गया है, गौण पद —उप—का नहीं।

(क) पूर्वपक्षी—जिस प्रकार सावग्रह पद (उपहूतः) के अंश 'उप' को परवर्ती सीमा के रूप में न मानकर परवर्ती 'अयम्' पद को सम्बद्ध स्थल की सीमा माना गया है, उसी प्रकार सावग्रह पद (पूर्वऽजे) के अंश 'जे' को पूर्ववर्ती सीमा के रूप में न मानकर पूर्ववर्ती 'ह्वयते' पद को सम्बद्ध स्थल की सीमा मानना चाहिए। जिस प्रकार 'उप' में पदत्व गौण है, उसी प्रकार 'जे' में भी पदत्व गौण है।

सिद्धान्ती—मुख्य 'पद' 'ह्वयते' पूर्ववर्ती सीमा बनने के योग्य नहीं है। 'ह्वयते' पद एकारान्त है। यदि सूत्र में इसका ग्रहण किया जाये तो अभिविधि न्याय से इसका अन्तर्भाव भी सम्बद्ध स्थल में हो जाता है। इससे यह ज्ञात होगा कि 'ह्वयते' का एकार 'प्रग्रह' है, जबकि 'ह्वयते' का एकार वास्तव में 'प्रग्रह' नहीं है।

पूर्वपक्षी—यदि 'ह्वयते' के एकार का प्रग्रहत्व सिद्ध भी हो जाये तब भी कोई हानि नहीं है। ४।५४ के द्वारा 'ह्वयते' के एकार के प्रग्रहत्व का निषेध हो जायेगा।

सिद्धान्ती—'ह्वयते' के एकार के प्रग्रहत्व का विधान करके तब उसके प्रग्र-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(पूर्वजेप्रभृति =) 'पूर्वजे ऋतावरी' इत्यादिः (आऽयम् =) अयंशब्द-पर्यन्ते; देशेऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—"जे । वरी । जे । एते । वरी । देवी । पुत्रे । देवी । एते । पुत्रे"[१] । नन्वत्र पूर्वजेप्रभृत्यायमिति "प्र पूर्वजे पितरा"[२] इत्यादिः "प्र प्राय-मग्निः"[३] इत्ययंशब्दपर्यन्तो देशः किं न स्यात् ? "पूर्वजे कृणुध्व्ँसदने"[४] इति विधानसा-मर्थ्यात् । "वाजे-वाजे"[५] । "अग्नेऽभ्यावर्तिन्"[५] । इत्यादीनां प्रतिषेधानुपदेशाच्च । अथ

वै० अ०—(पूर्वजेप्रभृति=) 'पूर्वजे ऋतावरी' से प्रारम्भ करके; (आऽयम्=) अयं शब्द पर्यन्त; देश में अधिकृत वर्ण (ईकार अथवा एकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है—(इस सूत्र से ये 'प्रग्रह' हैं) "जे । वरी । जे । एते । वरी । देवी । पुत्रे । देवी । एते । पुत्रे ।" (पू०) 'पूर्वजे' से लेकर 'अयम्' तक—यहाँ "प्र पूर्वजे पितरा" (४।१।११) से प्रारम्भ करके "प्र प्रायमग्निः" (४।२।३)—में 'अयम्' शब्द-पर्यन्त देश क्यों नहीं होता है ? (सि०) "पूर्वजे कृणुध्व्ँसदने"—इस विधान के सामर्थ्य से । तथा "वाजेवाजे", "अग्नेऽभ्यावर्तिन्"—इत्यादि के प्रतिषेध का कथन न होने से ।[क] अच्छा हौत्र ब्राह्मण (तै० सं० २।६।७) में भी 'पूर्वजे' से लेकर यहाँ

ह्रत्व के निषेध करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उसका विधान ही न किया जाये ।

इस प्रकार 'ह्वयते' पद पूर्ववर्ती सीमा बनने के योग्य नहीं है । यही कारण है कि सूत्र में पूर्ववर्ती सीमा के रूप में 'पूर्वजे' (पूर्ववर्ती 'जे' शब्द) का ग्रहण किया गया है ।

(क) पूर्वपक्षी—(प्र) पूर्वजे पितरा (४।१।११।१८) से लेकर प्र प्रायम् (अग्निः) (४।२।३।५) तक—यह स्थल भी प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय हो सकता है । यह स्थल भी 'पूर्वजे' से प्रारम्भ होता है और 'अयम्' पर समाप्त होता है ।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त स्थल इन दो कारणों से प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय नहीं हो सकता है—(१) कृणुध्व्ँसदने यह द्वैपद इस उपर्युक्त स्थल के अन्तर्गत है । यदि इस स्थल को प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय माना जायेगा तो 'सदने' के एकार का प्रग्रहत्व इस सूत्र (४।२३) से सिद्ध हो जायेगा । यह वस्तुस्थिति होने पर ४।११ के द्वारा 'सदने' के एकार के प्रग्रहत्व का जो विधान किया गया है वह व्यर्थ (पुनरुक्त) हो जायेगा । ४।११ में 'कृणुध्व्ँसदने' के ग्रहण को सार्थक बनाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि यह स्थल (४।१।११।१८—४।२।३।५) प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय नहीं हैं; (२) यदि उपर्युक्त स्थल प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय है तो इस स्थल में विद्यमान पदान्त ईकार और एकार 'प्रग्रह' होंगे । इससे 'वाजेवाजे' (४।१।११।२२) और 'अग्ने' (४.२।१।६)

---

(१) २।६।७ (२) ४।१।११ (३) ४।२।३
(४) ४।११ (५) ४।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हौत्रब्राह्मणेऽपि पूर्वजेप्रभृतीति किं मन्त्रानुवादांशस्थः पूर्वजेशब्दो गृह्यते ? आहोस्विद्विवरण प्रवादांशस्थः ? इति संशयो भवति। न च पूर्वजे इति पूर्वशब्दोपबन्धस्य व्यावर्त्यं पश्यामः। तेन पूर्वजेप्रभृतीति पूर्वस्माज्जेशब्दादारभ्येति व्याख्येयमित्यन्ये। तदिदं बालसंमोहनं न सम्यङ्न्यायविद्भ्यो रोचते। यत्तावत् "पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने"[1] इत्यत्र पूर्वशब्दोपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरीयं परिगृहीतं तदत्रापि व्यवच्छेद्यमेव। तेन पूर्वश्चासौ जेशब्दश्चेतीदं न

क्या मन्त्रानुवादरूप अंश में स्थित 'पूर्वजे' शब्द का ग्रहण होता है ? अथवा विवरण संज्ञक अंश में स्थित ('पूर्वजे' शब्द का ग्रहण होता है) ? यह सन्देह होता है। 'पूर्वजे' में 'पूर्व'—इस उपबन्ध का व्यावर्त्य (प्रत्युदाहरण) भी नहीं देखते हैं। इसलिए 'पूर्वजे से लेकर' इसकी व्याख्या यह करनी चाहिए—'पहले 'जे' शब्द से लेकर'—यह दूसरे (कहते हैं)[क]। यह बच्चों जैसी मूर्खता न्यायवेत्ताओं को अच्छी नहीं लगती है। "पूर्वजे कृणुध्वꣳसदने"—यहाँ पर 'पूर्व' शब्द रूप उपबन्ध के दूसरी शाखा वाले जिस व्यावर्त्य का ग्रहण किया गया है, वह यहाँ पर भी व्यवच्छेद्य है। इसलिए पूर्ववर्ती 'जे' शब्द—यह (व्याख्या) युक्त नहीं है। यहाँ पर (= प्रातिशाख्य में) 'ये अप्रथेताम्' इत्यादि जो स्थल निश्चित किए गए हैं, उनका उद्देश्य बहुत पदों का संग्रह करना है। इससे यहाँ पर प्रथम 'पूर्वजे' शब्द से

इत्यादि के एकार का प्रग्रहत्व भी सिद्ध होता है, जबकि वास्तव में इन पदों के एकार 'प्रग्रह' नहीं हैं। इस अनिष्ट का परिहार करने के लिए सूत्रकार के लिए यह आवश्यक था कि वे परवर्ती सूत्रों में 'वाजेवाजे' 'अग्ने' इत्यादि पदों के एकार के प्रग्रहत्व का निषेध करते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार उपर्युक्त स्थल को प्रस्तुत (४।२३) का स्थल नहीं मानते।

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में प्रयुक्त 'पूर्वजे' शब्द की यह व्याख्या करनी चाहिए—पूर्ववर्ती 'जे' शब्द (से लेकर)। यह व्याख्या न करके यदि 'पूर्वजे' का अर्थ 'पूर्वजे' (पद से लेकर) किया जाता है तो दो कठिनताएँ आती हैं—

(१) पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी। 'पूर्वजे ऋतावरी इत्याह'—यह अंश तै० ब्रा० (३।५।८) में विद्यमान 'पूर्वजे ऋतावरी'—इस मन्त्र का अनुवाद है। 'पूर्वजे ह्येते ऋतावरी'—यह अंश उपर्युक्त मन्त्र का विवरण (व्याख्या) है। इस प्रकार सम्बद्ध स्थल में 'पूर्वजे' पद दो बार आया हैं—पहली बार मन्त्र के अनुवाद में और दूसरी बार मन्त्र के विवरण में। यहाँ यह सन्देह होता है कि सूत्र में कौन से 'पूर्वजे' पद का ग्रहण किया गया है; (२) तै० सं० में 'पूर्वजे' में स्थित 'पूर्व' शब्द का व्यावर्त्य उपलब्ध नहीं होता है अर्थात् ऐसा कोई स्थल उपलब्ध नहीं होता है, जहाँ 'जे' शब्द के पहले 'पूर्व' शब्द न हो और 'जे' शब्द का एकार 'प्रग्रह' न हो। अतः सूत्र में पूर्व का ग्रहण अनर्थक है।

---

(१) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्तम्। इह 'ये अप्रथेताम्'[1] इत्यादयो देशनिबन्धा बहुपदसङ्ग्रहार्थाः। तेनात्र प्रथमस्य पूर्वेजेशब्दस्य प्रभृतित्वे पदद्वयमधिकं गृह्यत इति स एव युक्तः पूर्वावधिः। यद्येवं "वि वा अयमार्धि"[2] इत्यादिरयंशब्द उत्तरावधिः स्यात्। नैतदेवम्। प्रगृह्यान्तरसम्भवे हि देशवैपुल्यमिष्यते। न तावत् "उपहूतोऽयम्"[3] इत्यस्य व्यतिक्रमे विध्यन्तरासङ्गृहीतं किमपि प्रगृह्यं सङ्गृह्यते। प्रत्युत 'करणे'[4] 'दत्ते'[4] प्रभृतीनां प्रतिषेधः कर्त्तव्य आपद्यते। तस्मान्न तस्य युज्यतेऽतिक्रम इत्येषा दिक्॥ २३॥

लेकर—यह मानने पर दो अधिक पदों का ग्रहण होता है इसलिए उसे ही पहली वाली सीमा मानना युक्त है।[क] (पू०) यदि ऐसी बात है तो "वि वा अयमार्धि" इत्यादि में जो 'अयम्' शब्द है वह परवर्ती सीमा होवे। (सि०) यह ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे प्रगृह्यों के सम्भव होने पर स्थल की विपुलता अभीष्ट होती है। "उपहूतोऽयम्"—इसका अतिक्रमण करने पर दूसरी विधियों के द्वारा असंगृहीत किसी भी 'प्रगृह्य' का सङ्ग्रह नहीं होता है। प्रत्युत 'करणे' 'दत्ते' इत्यादि का प्रतिषेध करना पड़ता है। इसलिए उस (उपहूतोऽयम्) का अतिक्रमण युक्त नहीं है[ख]—यह दिग्दर्शनमात्र है॥ २३॥

(क) सिद्धान्ती—दूसरी कठिनाई का समाधान—यह सच है कि 'पूर्वेजे' के 'पूर्व' शब्द की उपयोगिता दिखलाने के लिए तै० सं० में कोई व्यावर्त्य उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु जिस प्रकार ४।११ के भाष्य में कहा गया था कि व्यावर्त्य को दूसरी शाखा में उपलब्ध करना चाहिए, उसी प्रकार यहाँ भी कहा जा सकता है।

पहली कठिनाई का समाधान—सूत्रकार ने अपने पूर्ववर्ती सूत्रों में यही प्रयत्न किया है कि जहाँ तक संभव हो अधिक से अधिक पदों के प्रग्रहत्व का विधान हो जावे। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने पहले वाले 'पूर्वेजे' पद का ही पूर्ववर्ती सीमा के रूप में ग्रहण किया है। पहले वाले 'पूर्वेजे' पद को पूर्ववर्ती सीमा मानने पर यह लाभ होता है कि इससे दो अधिक पदों ('पूर्वेजे' और 'ऋतावरी') के प्रग्रहत्व की सिद्धि होती है

(ख) पूर्वपक्षी—जिस प्रकार दो से अधिक पदों के प्रग्रहत्व की सिद्धि के लिए पूर्ववर्ती 'पूर्वेजे' पद का ग्रहण सूत्रकार को अभीष्ट है, उसी प्रकार परवर्ती सीमा के रूप में 'उपहूतोऽयम्' के ग्रहण की अपेक्षा उससे बहुत बाद में स्थित 'वि वा अयमार्धि' के 'अयम्' को सूत्र में अभीष्ट मानना चाहिए। ऐसा मानने से विपुल स्थल प्रस्तुत सूत्र (४।२३) का विषय बन जाता है।

सिद्धान्ती—यह युक्त नहीं है क्योंकि (१) विपुल स्थल को सूत्र का विषय तभी माना जाता है, जब उससे कोई लाभ होवे। उपर्युक्त विपुल स्थल

---

(१) ४।२० (२) २।६।८ (३) २।६।७ (४) २।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमे गर्भमुपैवरसेनपरः ॥ २४ ॥

मा०—गर्भम्, उप एवरसेन इत्येवम्पर इमे इति प्रग्रहो भवति। यथा—"यदिमे गर्भमदधाताम्"[१]। "यं वा इमे उपावर्त्स्यतः"[२]। "इमे एव रसेनानक्ति"[३]। एवरसेनेति किम्? "इम एवास्मै लोकाः"[४] ॥ २४ ॥

त्रि०—इमे इत्यन्त्यस्वरो गर्भम्, उप, एवरसेन एवम्परः प्रग्रहः स्यात्। यथा—"यदिमे गर्भमदधाताम्"[१]। "इमे उपावर्त्स्यतः"[२]। "इमे एव रसेनानक्ति"[३]। रसेनेति किम्? "इम एवास्मै लोकाः"[४]। एवम्पर इति किम्? "अध्वर्तव्या वा इमे देवाः"[५] ॥२४॥

वै०—इमे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—गर्भम्, उप, एवरसेन इत्येतेषु; (परः=) परतः। "यदिमे गर्भमदधाताम्"[१]। "इमे उपावर्त्स्यतः"[२]। "इमे

सू० अ०—गर्भम्, उप अथवा एवरसेन बाद में होने पर 'इमे' (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—इमे—इसका अन्तिम 'स्वर' (एकार) गर्भम्, उप अथवा एवरसेन—ये; परः = बाद में होने पर; 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"यदिमे गर्भमदधाताम्"।[क] "इमे उपावर्त्स्यत"[क]। "इमे एव रसेनानक्ति"।[क] 'रसेन'—यह क्यों (कहा)? "इम एवास्मै लोकाः"[ख]। ये (गर्भम्, उप अथवा एवरसेन) बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "अध्वर्तव्या वा इमे देवाः"[ग] ॥ २४ ॥

वै० अ०—इमे—यहाँ अधिकृत वर्ण (एकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है—गर्भम्, उप, एवरसेन—ये; (परः =) बाद में होने पर।...॥ २४ ॥

(पूर्वजे.....वि वा अयम्) को सूत्र का विषय मानने पर ऐसे पदों के प्रग्रहत्व की सिद्धि नहीं होती है, जो अन्य सूत्रों से सिद्ध न हों; (२) 'करणे', 'दत्ते' इत्यादि ऐसे बहुत से पदों के पदान्त 'स्वर' 'प्रग्रह' हो जाते हैं, जो वास्तव में 'प्रग्रह' नहीं हैं। ऐसे पदों के प्रग्रहत्व का निषेध करना आवश्यक हो जायेगा।

अत एव उपर्युक्त स्थल को प्रस्तुत सूत्र का विषय नहीं माना जा सकता है।

(क) यत्। इमे इति। गर्भम्॥ इमे इति। उपावर्त्स्यत॥ इमे इति। एव॥ प० पा०

(ख) इमे। एव। अस्मै॥ प० पा०

'इमे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'एव' के बाद में 'रसेन' नहीं है।

(ग) इमे। देवाः॥ प० पा०

इमे का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि बाद में न गर्भम् है, न उप और न एवरसेन।

---

(१) ३।४।३ (२) ६।१।३ (३) ६।३।११
(४) २।४।१० (५) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एव रसेनानक्ति"[1]। रसेनेति किम्? "इम एवास्मै लोकाः"[2]। एवंपर इति किम्? "इमे वै प्रयाजाः"[3] ॥ २४ ॥

क्रूरमापस्सजूर्ब्रह्मजैतेषु च ॥ २५ ॥

मा०—क्रूरम्, आपो वरुणस्य, सजूशब्दः, ब्रह्मजज्ञानम् इत्येतेष्वनुवाकेषु इमे इत्येतत्पदं प्रग्रहो भवति। यथा—"क्रूरम्"[4] इत्येतस्मिन्। "इमे वै रोदसी"[4]। "आपो वरुणस्य"[5]। "उपदधातीमे एवोपधत्ते"[6]। "सजूरब्दः"[7]। "इमे अश्विना संवत्सरः"[7]। "ब्रह्म जज्ञानम्"[8]। "इमे यजुषाऽऽप्तुमर्हति"[9]। ब्रह्मज इति किम्! "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः"[10]। [नान्नेति यथा] "त्रेधानक्ति त्रय इमे"[10] ॥ २५ ॥

त्रि०—इमे इति शब्दमन्वादिशति चकारः। क्रूरम् आपः सजूः ब्रह्मज एतेषु अनुवाकेषु इमे इत्यन्त्यस्वरः, पूर्वोक्तपरनिमित्ताभावेऽपि प्रग्रहो भवति। "क्रूरमिव वै"[4] इत्यत्र यथा—"इमे वै रोदसी"[4]। "आपो वरुणस्य"[5] इत्यत्र यथा—"इमे एवोपधत्ते"[5]। "सजूरब्दः"[7] इत्यत्र यथा—"इमे अश्विना संवत्सरः"[7]। "ब्रह्म जज्ञानम्"[8] इत्यत्र यथा—"न हीमे यजुषाऽऽप्तुम्"[9]। जेति किम्? "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः"[10] इत्यत्र "त्रय इमे लोकाः"[10] इत्यस्य प्रग्रहत्वं मा भूदिति ॥ २५ ॥

सू० अ०—क्रूरम्, आपः, सजूः, ब्रह्मज—इन (अनुवाकों) में भी ('इमे' का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च =) चकार; (पूर्व सूत्र से) 'इमे' की अनुवृत्ति करता है। क्रूरम्, आपः, सजूः तथा ब्रह्मज; एतेषु = इन अनुवाकों में; 'इमे' का अन्तिम 'स्वर' पहले कहे गए परवर्ती निमित्तों (गर्भम्, उप, एवरसेन) के न होने पर भी 'प्रग्रह' होता है। "क्रूरमिव वै"—यहाँ (= इस अनुवाक में) जैसे—"इमे वै रोदसी"।[क] "आपो वरुणस्य"—यहाँ (= इस अनुवाक में) जैसे—"इमे एवोपधत्ते"।[क] "सजूरब्दः"—यहाँ (=इस अनुवाक में) जैसे—"इमे अश्विना संवत्सरः"।[क] "ब्रह्मजज्ञानम्"—यहाँ (= इस अनुवाक में) जैसे—"न हीमे यजुषाप्तुं"।[ख] 'ज'—यह क्यों (कहा)? "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः"—यहाँ

(क) इमे इति। वै। रोदसी इति ॥ प० पा०
इमे इति। एव। उपेति। धत्ते ॥ प० पा०
इमे इति। अश्विना। संवत्सर इति सं—वत्सरः ॥ प० पा०
(ख) न। हि। इमे इति। यजुषा। आप्तुम् ॥ प० पा०

---

(१) ६।३।११ (२) २।४।१० (३) ६।१।५ (४) ५।१।५
(५) ५।५।४ (६) ५।५।४ (७) ५।६।४ (८) ५।२।७
(९) ५।२।७ (१०) २।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देनेमेशब्दोऽन्वादिश्यते। (क्रूरमापस्सजूर्ब्रह्मजैतेषु=) "क्रूरमिव वै"[१]। "आपो वरुणस्य"[२]। "सजूरृन्दः"[३]। "ब्रह्म जज्ञानमिति"[४]—इत्येतेष्वनुवाकेषु; इमेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। क्रूरम्—"इमे वै रोदसी"[१]। आपः—"इमे एवोपधत्ते"[२]। सजूः—"इमे अश्विना संवत्सरः"[३]। ब्रह्म जज्ञानम्—"असावौदुम्बरीमे एवोपधत्ते"[४]। "न हीमे यजुषाऽऽप्तुमर्हति"[४]। जेति किम्? "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः"[५] इत्यत्र मा भूदिति। "त्रय इमे लोकाः"[५]। अत्र समाम्नानक्रममुल्लङ्घ्य ब्रह्मजेत्यन्ततो ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ २५ ॥

पूर्णे च ॥ २६ ॥

मा०—"अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[६] इति "ब्रह्मज"[७] इत्यस्यानुवाकस्य अन्वादेशः क्रियते।

"त्रय इमे लोकाः" में इस ('इमे') का प्रग्रहत्व न हो जाये[क] ॥ २५ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) 'च' शब्द के द्वारा (पूर्व सूत्र से) 'इमे' शब्द की अनुवृत्ति होती है। (क्रूरमापस्सजूर्ब्रह्मजैतेषु =) "क्रूरमिव वै", "आपो वरुणस्य", "सजूरृन्दः" तथा "ब्रह्म जज्ञानम्"—इन अनुवाकों में; 'इमे' शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है।.....। यहाँ समाम्नान के क्रम का उल्लङ्घन करके 'ब्रह्मज' का अन्त में ग्रहण आगे वाले (सूत्र) के लिए किया गया है[ख] ॥ २५ ॥

सू० अ०—('ब्रह्म जज्ञानम्' अनुवाक में) 'पूर्णे' भी ('प्रग्रह' होता है)।

(क) यदि सूत्र में 'ज' का ग्रहण न करके केवल 'ब्रह्म' का ग्रहण किया जाता तो "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः....."—इस अनुवाक का भी ग्रहण हो जाता। इससे इस अनुवाक में स्थित "त्रय इमे लोकाः" के 'इमे' के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता। किन्तु यह 'इमे' वास्तव में 'प्रग्रह' नहीं है। "ब्रह्मवादिनो वदन्त्यद्भिः"—इस अनुवाक का 'इमे' 'प्रग्रह' न हो, इसलिए 'ज' का ग्रहण किया गया है।

(ख) इस सूत्र में इन चार अनुवाकों का उल्लेख किया गया है—(१) क्रूरम् (५।१।५); (२) आपः (५।५।४); (३) सजूः (५।६।४) तथा (४) ब्रह्मज (५।२।७)। इन अनुवाकों की संख्या को देखने से पता चलता है कि संहिता के क्रम को दृष्टि में रखने पर 'ब्रह्मज' (५।२।७) का उल्लेख 'आपः' (५।५।४) तथा सजूः (५।६।४) के पहले होना चाहिए। किन्तु सूत्र (४।२५) में ब्रह्मज (५।२।७) का उल्लेख सबसे बाद में किया गया है। इसका कारण यह है कि परवर्ती सूत्र (४।२६) में ब्रह्मज का अन्वादेश अभीष्ट है और १।५८ के अनुसार अन्वादेश अन्त्य का ही होता है।

---

(१) ५।१।५ (२) ५।५।४ (३) ५।६।४ (४) ५।२।७
(५) २।६।५ (६) १।५८ (७) ५।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्मिन्नुवाके पूर्णे इत्येतत्पदं प्रग्रहो भवति। "पूर्णे उपदधाति पूर्णे एवैनम्"[1]। अस्मिन्निति किम्? "यो वै पूर्ण आ सिञ्चति"[2] ॥ २७ ॥

त्रि०—च शब्दो 'ब्रह्म जज्ञानम्'[1] इत्यन्वादिशति। पूर्णे इत्यन्त्यस्वरः ब्रह्मजज्ञानमित्यनुवाके प्रग्रहो भवति। यथा—"पूर्णे उप दधाति पूर्णे एवैनम्"[1]। अस्मिन्ननुवाक इति किम्? "यो वै पूर्ण आ सिञ्चति"[2] ॥ २६ ॥

वै०—च शब्दान्वादिष्टे 'ब्रह्म जज्ञानम्'[1] इत्यनुवाके पूर्णेशब्दस्थोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "पूर्णे उप दधाति पूर्णे एवैनम्"[1]। अन्वादेशेन किम्? "यो वै पूर्ण आ सिञ्चति"[2] ॥ २६ ॥

दृढे ॥ २७ ॥

मा०—दृढे इत्येतत्पदं प्रग्रहं भवति। यथा—"पृथिवी च दृढे येन"[3] ॥ २७ ॥

त्रि०—दृढे इत्यन्त्यस्वरः सर्वत्र प्रग्रहो भवति। यथा—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढे"[3] ॥ २७ ॥

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (पूर्व सूत्र से) 'ब्रह्म जज्ञानम्' की अनुवृत्ति करता है। पूर्णे—इसका अन्तिम 'स्वर' 'ब्रह्म जज्ञानम्' अनुवाक में 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"पूर्णे उप दधाति पूर्णे एवैनम्"।[क] इस अनुवाक (= 'ब्रह्म जज्ञानम्') में—यह क्यों (कहा)? "यो वै पूर्णे आ सिञ्चति"[ख] ॥ २६ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द से (पूर्व सूत्र से) अन्वादिष्ट 'ब्रह्म जज्ञानम्'—इस अनुवाक में; पूर्णे शब्द में स्थित अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है। "पूर्णे उप दधाति पूर्णे एवैनम्"। अनुवृत्ति से क्या (लाभ है)? "यो वै पूर्ण आ सिञ्चति" ॥ २६ ॥

सू० अ०—'दृढे' (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—दृढे—इसका अन्तिम 'स्वर' सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढे"[ग] ॥ २७ ॥

(क) पूर्णे इति। उपेति। दधाति। पूर्णे इति। एव। एनम् ॥ प० पा०

(ख) यः। वै। पूर्णे। आसिञ्चतीत्या—सिञ्चति ॥ प० पा०

प्रस्तुत प्रत्युदाहरण 'ब्रह्म जज्ञानम्' अनुवाक का नहीं है। अतः यहाँ 'पूर्णे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है।

(ग) येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृढे इति ॥ प० पा०

---

(१) ५।२।७ (२) ७।५।६ (३) ४।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—दृढे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "उग्रा पृथिवी च दृढे"[१] ॥ २७ ॥

घ्नी चक्रे पपरे ॥ २८ ॥

मा०—घ्नी, चक्रे इत्येते पदे पपरे प्रग्रहे भवतः । यथा—"वार्त्रघ्नी पूर्णमासे"[२] । "चक्रे पृष्ठानि यत्"[३] । पपर इति किम् ? "वार्त्रघ्नीरूपम्"[४] । "समिधान चक्रे नीचा"[५] । घ्नीचक्र इति किम् ? "येषामीशे पशुपतिः"[६] । "अग्नये पवमानाय"[७] ॥ २८ ॥

त्रि०—घ्नी चक्रे इत्येते पदे पपरे प्रग्रहे भवतः । यथा—"वार्त्रघ्नी पूर्णमासे"[२] । "चक्रे पृष्ठानि"[३] । पपर इति किम् ? "यद्द्विरूपया वार्त्रघ्नी स्यात्"[८] । "समिधान-चक्रे नीचा तम्"[५] । घ्नीचक्रे इति किम् ? "शका भौमी पान्त्रः"[९] । "येषामीशे पशु-पतिः"[६] । पकारः परः याभ्यां ते पपरे ॥ २८ ॥

वै० अ०—दृढे—यहाँ अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है । (जैसे—) "उग्रा पृथिवी च दृढे" ॥ २७ ॥

सू० अ०—'प' बाद में होने पर घ्नी और चक्रे ('प्रग्रह' होते हैं) ।

त्रि० अ०—घ्नी और चक्रे—ये पद; पपरे = 'प' बाद में होने पर; 'प्रग्रह' होते हैं । जैसे—"वार्त्रघ्नी पूर्णमासे" । "चक्रे पृष्ठानि" ।[क] पकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "यद्द्विरूपया वार्त्रघ्नी स्यात्" । "समिधानचक्रे नीचा तम्" ।[ख] घ्नी, चक्रे—यह क्यों (कहा) ? "शका भौमी पान्त्रः" । "येषामीशे पशुपतिः" ।[ग] पकार है बाद में जिन (घ्नी और चक्रे) के वे = पपर ॥ २८ ॥

(क) वार्त्रघ्नी इति वार्त्र—घ्नी । पूर्णमास इति पूर्ण—मासे ॥ प० पा०
चक्रे इति । पृष्ठानि ॥ प० पा०

(ख) यत् । द्विरूपयेति द्वि—रूपया । वार्त्रघ्नीति वार्त्र—घ्नी । स्यात् ॥ प० पा०
समिधानेति सम्—इधान । चक्रे । नीचा । तम् । धक्षि । अतसम् ॥ प० पा०

(ग) शका । भौमी । पान्त्रः ॥
येषाम् । ईशे । पशुपतिरिति पशुपतिः ॥ प० पा०
पकार बाद में होने पर भी 'भौमी' का ईकार तथा 'ईशे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'घ्नी' और 'चक्रे' का ईकार तथा एकार ही 'प्रग्रह' होता है यदि उनके बाद पकार हो ।

---

(१) ४।१।८ (२) २।५।२ (३) ६।६।८
(४) ७।१।६ (५) १।२।१४ (६) ३।१।४
(७) २।२।४ (८) ६।१।६ (९) ५।५।१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—घ्नी चक्रे इत्यनयोरधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। (पपरे =) पकारे परे। "वार्त्रघ्नी पूर्णमासे"[१]। "चक्रे पृष्ठानि"[२]। पपर इति किम्? "यत्कर्णगृहीता वार्त्रघ्नी स्यात्"[३]। "चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसम्"[४] ॥ २८ ॥

न्वती ॥ २९ ॥

भा०—न्वती इति पदं प्रग्रह् भवति। यथा—"ओमन्वती तेऽस्मिन्"[५]। "वृधन्वती अमावास्यायाम्"[६]। न्वती इति किम्? "कर्णकावती"[७] ॥ २९ ॥

त्रि०—न्वती इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति। यथा—"ओमन्वती तेऽस्मिन्"[५]। "वृधन्वती अमावास्यायाम्"[६]। नकारेण किम्? "कर्णकावत्येतया ह स्म"[७] ॥ २९ ॥

वै०—(न्वती =) नकारेण पूर्वेणोपलक्षिते वतीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "वृधन्वती अमावास्यायाम्"[६]। नकारोपबन्धेन किम्? "इयं विमृधेयमिन्द्रियावतीत्यब्रवीत्"[८] ॥ २९ ॥

वै० अ०—घ्नी तथा चक्रे—इनका अधिकृत पदान्त वर्ण 'प्रग्रह्' होता है। (पपरे =) पकार बाद में होने पर। (जैसे)...॥ २८ ॥

सू० अ०—न्वती (का अन्तिम स्वर 'प्रग्रह्' होता है)।

त्रि० अ०—न्वती—इसका अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह्' होता है। जैसे—"ओमन्वती तेऽस्मिन्"।[क] "वृधन्वती अमावास्यायाम्"।[क] नकार से क्या (लाभ है)? "कर्णकावत्येतया ह स्म"[क] ॥ २९ ॥

वै० अ०—(न्वती =) पूर्व में स्थित नकार के द्वारा उपलक्षित 'वती'; शब्द में अधिकृत वर्ण (ईकार), पदान्त होने पर 'प्रग्रह्' होता है। "वृधन्वती अमावास्यायाम्"।[क] नकार—इस उपबन्ध से क्या (लाभ है)? "इयं विमृधेयमिन्द्रियावतीत्यब्रवीत्"[क] ॥ २९ ॥

(क) ओमन्वती इत्योमन्—वती। ते। अस्मिन् ॥ प० पा०

वृधन्वती इति वृधन्—वती। अमावास्यायामित्यमा—वास्यायाम् ॥ प० पा०

कर्णकावतीति कर्णक—वती। एतया। ह। स्म ॥ प० पा०

इयम्। इन्द्रियावतीतीन्द्रिय—वती। इति। अब्रवीत् ॥ प० पा०

इन प्रत्युदाहरणों में 'वती' के पूर्व में 'न्' नहीं है। अतः 'वती' का ईकार 'प्रग्रह्' नहीं है।

---

(१) २।५।२ (२) ६।६।८ (३) ६।१।६ (४) १।२।१४
(५) २।६।६ (६) २।५।२ (७) ५।४।७ (८) २।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पपरो न ॥ ३० ॥

मा०—न खलु न्वती पकारपरः प्रग्रहो भवति । यथा—"मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या"[१] ॥ ३० ॥

त्रि०—सान्निध्यात् न्वती इति लभ्यते । पपरः न्वती इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहः न भवति । यथा—"मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या भवति"[१] ॥ ३० ॥

वै०—(पपरः =) पकारपरः; चेत् न भवति । "मूर्धन्वती पुरोनुवाक्या भवति"[१] ॥ ३० ॥

समीची ॥ ३१ ॥

मा०—समीची इत्येतत्पदं प्रग्रहं भवति । यथा—"समीची रेतः सिञ्चतः"[२] ॥३१॥

त्रि०—समीची इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—"समीची रेतस्सिञ्चतः"[२] । "पश्चात् समीची ताभिः"[३] ॥ ३१ ॥

वै०—समीचीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "समीची माꣳहसस्पातम्"[४] ॥ ३१ ॥

सू० अ०—पकार बाद में होने पर ('न्वती' का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह') नहीं (होता है) ।

त्रि० अ०—सान्निध्य से (पूर्व सूत्र से) 'न्वती' की प्राप्ति होती है । पपरः = पकार बाद में होने पर; न्वती—इसका अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है । जैसे—"मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या भवति"क ॥ ३० ॥

वै० अ०—यदि; (पपरः =) पकार बाद में हो; तो ('न्वती' का अन्तिम ईकार 'प्रग्रह'); न = नहीं; होता है ।...क ॥ ३० ॥

सू० अ०—समीची (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है) ।

त्रि० अ०—समीची का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"समीची रेतस्सिञ्चतः" । "पश्चात् समीची ताभिः"ख ॥ ३१ ॥

वै० अ०—समीची शब्द में अधिकृत वर्ण (ईकार) पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है । "समीची माꣳहसस्पातम्"ख ॥ ३१ ॥

(क) मूर्धन्वतीति मूर्धन्—वती । पुरोनुवाक्येति पुरः—अनुवाक्या । भवति ॥ प० पा०

(ख) समीची इति । रेतः । सिञ्चतः ॥ प० पा०
पश्चात् । समीची इति । ताभिः ॥ प० पा०
समीची इति । मा । अꣳहसः । पातम् ॥ प० पा०

---

(१) २।६।२ (२) ५।५।४ (३) ५।२।३ (४) ३।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नपरो न ॥ ३२ ॥

मा०—न खलु समीची इति नकारपरः प्रग्रहो भवति। यथा—"समीची नामासि"[१] ॥ ३२ ॥

त्रि०—सान्निध्यात् समीची इति लभ्यते। न खलु समीची इत्यन्त्यस्वरः नकारपरः प्रग्रहो भवति। यथा—"समीची नामासि"[१] ॥ ३२ ॥

वै०—नकारपरश्चेत्; न भवति। "समीची नामासि"[१] ॥ ३२ ॥

ची यत्प्रपरः ॥ ३३ ॥

मा०—ची इति पदान्तः यत्परश्च प्रपरश्च प्रग्रहो भवति। यथा—"ऐक्षवी तिरश्ची यत्"[२]। "तिरश्ची प्रजापतेः"[२]। "विषूची प्रहरति यत्"[३]। प्रपर इति किम्? "अग्ने यत्ते दिवि"[४]। "अग्ने प्रेहि प्रथमः"[५]। "तस्मात् सारस्वती यत्"[६] ॥ ३३ ॥

त्रि०—ची इत्यन्त्यस्वरः; (यत्प्रपरः=) यत्परः प्रपरः वा; प्रग्रहः स्यात्। यथा—"ऐक्षवी तिरश्ची यत्"[२]। "प्राची प्रेतम्"[७]। एवम्पर इति किम्? "प्राची दिक्"[८]।

सू० अ०—नकार बाद में होने पर ('समीची' का अन्तिम स्वर 'प्रग्रह') नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—सान्निध्य से (पूर्व सूत्र से) 'समीची' को प्राप्ति होती है। 'समीची' का अन्तिम 'स्वर'; (नपरः=) नकार बाद में होने पर; 'प्रग्रह'; न=नहीं; होता है। जैसे—"समीची नामासि"[क] ॥ ३२ ॥

वै० अ०—यदि; नकारपरः=नकार बाद में हो; तो ('समीची' का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह'); न=नहीं; होता है[क] ॥ ३२ ॥

सू० अ०—यत् अथवा प्र बाद में होने पर ची (का ईकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—ची—इसका अन्तिम स्वर; (यत्प्रपरः=) 'यत्' बाद में होने पर अथवा 'प्र' बाद में होने पर; 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"ऐक्षवी तिरश्ची यत्"। "प्राची प्रेतम्"।[ख] ये (यत् अथवा प्र) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)?

(क) समीची। नाम। असि ॥ प० पा०

(ख) ऐक्षवी इति। तिरश्ची इति। यत् ॥ प० पा०
प्राची इति। प्रेति। इतम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।५।१०
(२) ६।२।१
(३) ६।३।९
(४) ४।२।४
(५) ४।६।५
(६) ३।४।३
(७) १।२।१३
(८) ४।३।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकाररेफाभ्यां किम् ? "गौघृ॑ताची यज्ञः"[१] । "प्राची पत्न्यन्वास्ते"[२] । चीति किम् ? "एकादशिनी यदग्नौ"[३] । "प्रजनने प्रजननम्"[४] ॥ ३३ ॥

वै०—समीचीशब्दस्य विशेष उक्तः । ततोऽन्यत्र चीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति; (यत्प्रपरः =) यत्, प्र इत्येतयोः परतः । यदिति केवलग्रहणं प्रेति त्वकारान्तम् । यथोक्तं "ग्रहणस्य च"[५] इति । "ऐक्षवी तिरश्ची यदाश्ववालः"[६] । "ऐक्षवी तिरश्ची प्रजापतेरेव"[६] । नन्वत्र प्रेति केवलमपि ग्रहणं भवितुमर्हतीति भवति संशयः । तत्र

"प्राची दिक्" ।[क] तकार और रेफ से क्या (लाभ है) ? "गौघृ॑ताची यज्ञः" । "प्राची पत्न्यन्वास्ते" ।[ख] 'ची'—यह क्यों (कहा) ? "एकादशिनी यदग्नौ" । "प्रजनने प्रजननम्"[ग] ॥ ३३ ॥

वै० अ०—'समीची' शब्द का विशेष कह दिया गया है (अर्थात् 'समीची' पद के अन्तिम स्वर के प्रग्रहत्व का विधान ४।३१ में कर दिया गया है) । उससे अन्य स्थलों पर; (यत्प्रपरः =) 'यत्' अथवा 'प्र' बाद में होने पर; ची शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण 'प्रग्रह' होता है । 'यत्'—यह केवल पद है, किन्तु 'प्र' अकारान्त है । जैसा—"(अकार) वेद में उद्धृत शब्द (ग्रहण) का भी (निर्देशक होता है)" में कहा गया है ।[घ] (उदाहरण) "ऐक्षवी तिरश्ची यदाश्ववालः" । "ऐक्षवी तिरश्ची

(क) प्राची । दिक् ॥ प० पा०

'प्राची' के 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'ची' के बाद 'यत्' अथवा 'प्र' नहीं है ।

(ख) गौः । घृताची । यज्ञः ॥ प० पा०
प्राची । पत्नी । अन्विति । आस्ते ॥ प० पा०

'घृताची' तथा 'प्राची' के 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'ची' के बाद 'यत्' और 'प्र' न होकर क्रमशः 'यज्' और 'प' है । 'ची' का ईकार तभी प्रग्रह होगा जब उसके बाद तकारयुक्त य = यत् अथवा रेफयुक्त प् = प्र् हो ।

(ग) एकादशिनी । यत् । अग्नौ ॥ प्रजनन इति प्र—जनने । प्रजननमिति प्र—जननम् ॥ प० पा०

यत् और प्र के पूर्व में 'ची' नहीं हैं, अतः 'प्रग्रह' होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

(घ) सूत्र में 'यत्'—इस केवल पद का ग्रहण किया गया है । सूत्र में गृहीत यह 'यत्' पद १।२४ से वेदस्थ 'यत्' पद का वाचक है । इससे १।५० के अनुसार 'ची' का ईकार तभी 'प्रग्रह' होगा, जब इसके बाद में 'यत्' पद होगा । पद का एक देश रूप 'यत्' बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं होगा ।

---

(१) २।५।७ (२) ५।३।७ (३) ५।५।७
(४) १।५।९ (५) १।२२ (६) ६।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं नियामकम् ? तदुच्यते—यत्र लक्षणस्य विधाऽन्तरैर्व्याख्यानं घटते तत्रलक्ष्यानुरूपैव विधा परिगृह्यते । यदि तु लक्ष्यानुरूपायां विधायां लक्षणमशक्तं स्यात्तदा हि दोषस्स्यात् । उक्तं च महाभाष्ये—"सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहाद-लक्षणम्" इति । अत्र प्रशब्दस्य केवलग्रहणत्वाश्रयणे पदग्रहणपरिभाषाप्रवृत्तेः "ऐक्षवी तिरश्ची प्रजापतेः"[1] इत्यत्र प्रग्रहो न स्यात् । किन्तु "प्राची प्रेतम्"[2] इत्यादावेव स्यात् । अकारान्त-ग्रहणत्वाश्रयणे तु सर्वत्र सिध्यतीति तदेवाश्रितम् । एवं "त्रपुमिथुपूर्वः शकारश्चपरः"[3] इत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । यत्प्रपर इति किम् ? "ध्रुवाऽसि घृताची नाम्ना"[4] । "गौर्घृताची यज्ञः"[5] । "प्राची पत्न्यन्वास्ते"[6] ॥ ३३॥

प्रजापतेरेव" । (पू०) यहाँ 'प्र' केवल भी पद हो सकता है—यह संशय होता है । इस विषय में निर्णायक (निश्चायक) क्या है ? इसे बतलाते हैं—जहाँ विभिन्न प्रकारों से लक्षण का व्याख्यान हो सकता है, वहाँ लक्ष्य के अनुरूप प्रकार को ही स्वीकार किया जाता है । किन्तु यदि लक्ष्य के अनुरूप प्रकार में लक्षण व्याख्यात नहीं हो सकता है तब दोष होगा । महाभाष्य में भी कहा गया है—"सभी संदेहों में यह लागू होता है । (संदेह होने पर) व्याख्यान से एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान होता है । संदेह मात्र से लक्षण (= शास्त्र) अलक्षण नहीं हो जाता है" । यहाँ पर 'प्र' शब्द के केवल ग्रहणत्व का आश्रय लेने पर पदग्रहण परिभाषा की प्रवृत्ति होने से "ऐक्षवी तिरश्ची प्रजापतेः"—यहाँ पर 'प्रग्रह' न होगा । किन्तु "प्राची प्रेतम्" इत्यादि में ही होगा । अकारान्त ग्रहणत्व का आश्रय लेने पर तो सर्वत्र सिद्ध होता है—इसलिए उसी का आश्रय लिया है ।[क] इसी प्रकार " 'त्रपु' अथवा 'मिथु' पूर्व में हो तथा 'च' बाद में हो तो (मध्य में) शकार (का आगम होता है)"

सूत्र में प्रयुक्त 'प्र' अकारान्त शब्द है अर्थात् 'प्र्'—इस अंश के बाद में 'अ' जोड़ा गया है । यह जोड़ा गया अकार १।२२ से वेदस्थ 'प्र्' का वाचक है । 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' होगा, जब इसके बाद में 'प्र्' होगा ।

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में प्रयुक्त 'प्र' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है—(१) 'प्र' शब्द १।२४ से वेदस्थ 'प्र' पद का वाचक है; (२) प्र = प्र्+अ—अकार १।२२ से सब स्वरों में समाप्त होने वाले 'व्यञ्जन' का ग्राहक है । पहली व्याख्या अपनाई जावे तो 'प्र' पद बाद में होने पर ही पूर्ववर्ती 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' होगा । दूसरी व्याख्या अपनाई जावे तो 'प्र्' से प्रारम्भ होने वाला कोई भी पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'ची' का ईकार 'प्रग्रह' होता है । यह वस्तुस्थिति होने पर किस आधार पर निर्णय हो सकता है कि कौन सी व्याख्या को अपनाया जाये ।

---

(१) ६।२।१ (२) १।२।१३ (३) ५।४
(४) १।१।११ (५) २।५।७ (६) ५।३।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्महीं ॥ ३४ ॥

मा०—आन्मही इति प्रग्रहो भवति । यथा—"महान् मही अस्तभायत्"[१] । आनिति किम् ? "एक इन्मही"[२] ॥ ३४ ॥

त्रि०—आन् इत्येतद्विशिष्टे महीग्रहणे अन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—"महान्मही अस्तभायत्"[१] । आनिति किम् ? "मही द्यौः पृथिवी च नः"[३] । आकारेण किम् ? "वयुनाविदेक इन्मही"[२] ॥ ३४ ॥

वै०—आनित्युपबन्धात्परे महीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "महा-

---

इत्यादि में भी समझना चाहिए । 'यत्' और 'प्र' बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "ध्रुवाऽसि घृताची नाम्ना" । "गौर्घृताची यज्ञः" । "प्राची पत्न्यन्वास्ते" ॥ ३३ ॥

सू० अ०—आन्मही (का अन्तिम स्वर 'प्रग्रह' होता है) ।

त्रि० अ०—आन् —इससे विशिष्ट मही पद में अन्तिम 'स्वर' (ईकार) 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"महान्मही अस्तभायत्" ।[क] आन्—यह क्यों (कहा) ? "मही द्यौः पृथिवी च नः" ।[ख] आकार से क्या (लाभ है) ? "वयुनाविदेक इन्मही"[ग] ॥ ३४ ॥

वै० अ०—आन्—इस उपबन्ध से बाद में स्थित मही शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार) 'प्रग्रह' होता है । "महान्मही अस्तभायत्" । आन्—यह

सिद्धान्ती—जहाँ किसी सूत्र (लक्षण) की व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती हो वहाँ लक्ष्य के अनुसार ही व्याख्या करनी चाहिए । इस आधार पर उपर्युक्त दूसरी व्याख्या ही अपनाई जाती है । पहली व्याख्या अपनाने पर "ऐक्षवी तिरश्ची प्रजापतेः" (ऐक्षवी इति । तिरश्ची इति । प्रजापतेरिति प्रजा-पतेः) इस स्थल पर 'तिरश्ची' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं होगा, क्योंकि 'तिरश्ची' के बाद में 'प्र' पद नहीं, अपितु दूसरे पद (प्रजापतेः) का एक देश है । किन्तु 'तिरश्ची' का 'ई' वास्तव में 'प्रग्रह' है ।

दूसरी व्याख्या अपनाई जाने पर सर्वत्र प्रग्रहत्व की सिद्धि हो जाती है ।

(क) महान् । मही इति । अस्तभायत् ॥ प० पा०

(ख) मही । द्यौः । पृथिवी । च । नः ॥ प० पा०

'मही' के पूर्व में 'आन्' नहीं है । अतः 'मही' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है ।

(ग) वयुनाविदिति । वयुन—वित् । एकः । इत् । मही ॥ प० पा०

'न्मही' के पूर्व में 'आ' नहीं अपितु 'इ' है । अतः 'न्मही' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है ।

---

(१) २।३।१४ (२) १।२।१३ (३) ३।३।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्मही अस्तभायत्"[१]। आनिति किम्? "स्वाहा। मही द्यौः"[२]। आकारव्यावर्त्यं शाखान्तरे। तकारनकारसंशयस्तु व्याख्यानत एव व्यवच्छिद्यते ॥ ३४ ॥

पतीश्रुतिः ॥ ३५ ॥

मा०—पती इति यत्र श्रूयते तत्र प्रग्रहो भवति। यथा—"नैका द्वौ पती विन्दते"[३]। श्रुतिरिति किम्? "इन्द्राबृहस्पती"[४] ॥ ३५ ॥

त्रि०—पती इत्यस्य यत्रयत्र श्रुतिः = श्रवणमस्ति, तत्रतत्र प्रग्रहत्वं विज्ञेयम्। यथा—"तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते"[३]। "शुभस्पती इदम्"[४]। श्रुतिरिति किम्? "दम्पती वाममश्नुतः"[५]। "प्रियमिन्द्राबृहस्पती"[६] इत्यादावपि पदैकदेशे प्रग्रहत्वाय ॥३५॥

क्यों (कहा)? "स्वाहा। मही द्यौः"। आकार का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में है। किन्तु तकार और नकार का संशय व्याख्या से ही हटा दिया जाता है[क] ॥ ३४ ॥

सू० अ०—'पती' (शब्द) का जहाँ-जहाँ श्रवण होता है (वहाँ-वहाँ 'पती' का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—पती—इसका जहाँ-जहाँ; श्रुतिः = श्रवण; होता है, वहाँ-वहाँ प्रग्रहत्व जानना चाहिए। जैसे—"तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते"। "शुभस्पती इदम्"।[ख] श्रुति—यह क्यों (कहा)? "दम्पती वाममश्नुतः"। "प्रियमिन्द्राबृहस्पती"—इत्यादि में भी पद के एक भाग में 'प्रग्रह' के लिए है[ग] ॥ ३५ ॥

(क) आन्मही = आत् + मही भी हो सकता है। मकार बाद में होने पर तकार नकार हो जाता है। और आन्मही = आन् + मही भी हो सकता है। भाष्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ आन्मही = आन् + मही है, आत् + मही नहीं।

(ख) तस्मात्। न। एका। द्वौ। पती इति। विन्दते ॥ प० पा०
शुभः। पती इति। इदम् ॥ प० पा०
इन स्थलों में 'पती' पद का ईकार 'प्रग्रह' है।

(ग) दम्पती इति। वामम्। अश्नुताम् ॥ प० पा०
प्रियम्। इन्द्राबृहस्पती इतीन्द्रा—बृहस्पती ॥ प० पा०
'दम्पती' में स्थित 'पती' का ईकार तथा 'इन्द्राबृहस्पती' में स्थित 'पती' का ईकार 'प्रग्रह' है। क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि जहाँ-जहाँ 'पती' का श्रवण होता है वहाँ-वहाँ 'पती' का ईकार 'प्रग्रह' होता है चाहे 'पती' पद वा एक भाग ही क्यों न हो।

---

(१) २।३।१४ (२) ३।३।१० (३) ६।६।४
(४) ३।२।१० (५) ३।२।८ (६) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—श्रुतिग्रहणं पदैकदेशस्यापि सम्प्रत्ययार्थम्। पतीशब्दे सर्वत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "उत्पिपीते शुभस्पती"[१]। "प्रियमिन्द्रावृहस्पती"[२] ॥ ३५ ॥

ग्नी ॥ ३६ ॥

मा०—ग्नी इति पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"अन्तराऽग्नी पशूनाम्"[३] ॥ ३६ ॥

त्रि०—ग्नी इति प्रग्रहो भवति। यथा—"अन्तराग्नी पशूनाम्"[३]। "विश्वामित्र-जमदग्नि"[४] ॥ ३६ ॥

वै०—ग्नीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे"[५]। "अभि वा एषोऽग्नी आरोहति"[६] ॥ ३६ ॥

हिपरः ॥ ३७ ॥

मा०—न खलु ग्नी इति हिपरः पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्येति ब्रूयात्"[७]। हिपर इति किम्? "इन्द्राग्नी हवामहे" इत्यन्यस्यां शाखा-याम् ॥ ३७ ॥

वै० अ०—श्रुति शब्द का ग्रहण पद के एक देश के भी ज्ञान के लिए है। 'पती' शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार) सर्वत्र (अर्थात् 'पती' शब्द के पद होने पर तथा पद के एक देश होने पर) 'प्रग्रह' होता है। (उदाहरण) "उत्पिपीते शुभस्पती"। "प्रियमिन्द्रावृहस्पती"[क] ॥ ३५ ॥

सू० अ०—ग्नी (का ईकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—ग्नी—यह 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"अन्तराऽग्नी पशूनाम्"। "विश्वामित्रजमदग्नी"[ख] ॥ ३६ ॥

वै० अ०—ग्नी शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार) 'प्रग्रह' होता है। (उदाहरण—) "अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे"। "अभि वा एषोऽग्नी आरोहति"[ख] ॥ ३६ ॥

सू० अ०—'हि' बाद में होने पर (ग्नी का ईकार 'प्रग्रह') नहीं (होता है)।

(क) उत्पिपीत इत्युत्—पिपीते। शुभः। पतीः इति ॥ प० पा०

(ख) अन्तरा। अग्नी इति। पशूनाम् ॥ प० पा०
विश्वामित्रजमदग्नी इति विश्वामित्र—जमदग्नी ॥ प० पा०
अभीति। वै। एषः। अग्नी इति। एति। रोहति ॥ प० पा०

---

(१) ३।२।१० (२) ३।३।११ (३) १।६।७ (४) ३।१।७
(५) १।६।४ (६) १।५।९ (७) ५।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—ग्नी इति सान्निध्याल्लभ्यते। न खलु ग्नी इति पदान्तः हिपरः प्रग्रहो भवति। यथा—"ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्या"[१]। एवम्पर इति किम्? "इन्द्राग्नी हवामहे" इति शाखान्तरे ॥ ३७ ॥

वै०—हिपरश्चेन्न प्रग्रहः। "ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्या"[१] ॥ ३७ ॥

वीड्द्वारौ कृष्णश्चरावोंयदापरः ॥ ३८ ॥

मा०—वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः, यदा इत्येवम्पर ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"धिषणे वीड् सती"[२]। वीडिति किम्? "आपश्च मे वीरुधश्च"[३]। "देवी द्वारौ मा मा"[४]। द्वाराविति किम्? "तानि द्वादशाहानि"[५]। "यज्ञायातिष्ठमाने कृष्णः"[६]। कृष्ण इति किम्? "चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति"[७]। "विवसानौ ये चरावः"[८]। "नन्नमाने यदेदन्ताः"[९] ॥ ८ ॥

त्रि०—वीड् द्वारौ कृष्णः चरावः यदा इत्येवं परः ईकार एकारौ वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"धिषणे वीड् सती वीडयेथाम्"[२]। डकारेण किम्? "आपश्च मे वीरुधश्च"[३]। "देवी द्वारौ मा मा"[४]। रौ इति किम्? "द्वादश संपद्यन्ते द्वादश"[१०]। "अतिष्ठमाने कृष्णो रूपम्"[६]। विसर्गेण किम्? "चात्वाले कृष्णविषाणाम्"[६]। "विवसानौ ये चरावः"[७]। राव इति किम्? "राये च नस्त्वपत्याय"[८]। "नन्नमाने यदेदन्ताः"[९]। नतु

त्रि० अ०—सान्निध्य से (पूर्व सूत्र से) ग्नी—यह प्राप्त होता है। ग्नी—यह पदान्त; हिपरः = 'हि' बाद में होने पर; 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है। जैसे—"ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्या"।[क] यह (हि) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "इन्द्राग्नी हवामहे"[ख]—यह दूसरी शाखा में है ॥ ३७ ॥

वै० अ०—यदि; हिपरः = 'हि' बाद में हो तो (ग्नी का ईकार) 'प्रग्रह'; न = नहीं; (होता है)। (उदाहरण) "ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्या" ॥ ३७ ॥

सू० अ०—वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः, और यदा बाद में होने पर (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः—ये; परः = बाद में होने पर; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"धिषणे वीड् सती वीडये-

---

(क) ऐन्द्राग्नीत्यैन्द्र—अग्नी। हि। बार्हस्पत्या ॥ प० पा०

(ख) यहाँ 'ग्नी' का ईकार ४।३६ से 'प्रग्रह' है, क्योंकि बाद में 'हि' नहीं, 'ह' है।

---

(१) ५।५।६ (२) १।४।१ (३) ४।७।५ (४) ३।२।४
(५) ७।४।११ (६) ६।१।३ (७) १।५।१० (८) ५।५।४
(९) ४।६।२ (१०) १।५।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यतन्ते यदाक्षिषुः"[1] इत्यत्र प्रग्रहत्वं किं न स्यात्? "पदप्रहणेषु पदं गृह्येत"[2]। इति वचनात् नेति ब्रूमः ॥ ३८ ॥

थाम्"क। डकार से क्या (लाभ है)? "आपश्च मे वीरुधश्च"ख। "देवी द्वारौ मा मा"ग। रौ - यह क्यों (कहा)? "द्वादश सं पद्यन्ते द्वादश"।घ "अतिष्ठमाने कृष्णो रूपम्"।ङ विसर्ग से क्या (लाभ है)? "चात्वाले कृष्णविषाणाम्"।च "विवसानौ ये चरावः"।छ रावः—यह क्यों (कहा)? "राये च नस्स्वपत्याय"।ज "नन्नमाने यदेदन्ताः"।झ (शंका) "यतन्ते यदाक्षिषुः"—यहाँ प्रग्रहत्व क्यों नहीं होता है? "पद के उद्धरणों में उस पद को ही समझना चाहिए"—इस वचन से (प्रग्रहत्व) नहीं (होता है)—यह कहते हैं ञ ॥ ३८ ॥

(क) धिषणे इति। वीड्व इति। सती इति। वीडयेथाम् ॥ प० पः०

(ख) आपः। च। मे। वीरुधः। च ॥ प० पा०

'मे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद 'वी' है 'वीड्' नहीं।

(ग) देवी इति। द्वारौ। मा। मा ॥ प० पा०

(घ) द्वादश। समिति। पद्यन्ते। द्वादश ॥ प० पा०

'पद्यन्ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद 'द्वादश' हैं 'द्वारौ' नहीं।

(ङ) अतिष्ठमाने इति। कृष्णः। रूपम् ॥ प० पा०

(च) चात्वाले। कृष्णविषाणामिति कृष्ण-विषाणाम् ॥ प० पा०

'चात्वाले' का एकार 'प्रगह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद 'कृष्ण' है 'कृष्णः' नहीं।

(छ) विवसानाविति वि—वसानौ। ये इति। चरावः ॥ प० पा०

(ज) राये। च। नः। स्वपत्यायेति सु—अपत्याय ॥ प० पा०

'राये' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद 'चरावः' न होकर केवल 'च' है।

(झ) नन्नमाने इति। यदा। इत्। अन्ताः ॥ प० पा०

(ञ) यतन्ते। यत्। अक्षिषु ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र में 'यदा' पद का ग्रहण किया गया है। अतः १।५० के अनुसार 'यदा' पद बाद में होने पर ही ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होगा। इस प्रत्युदाहरण में 'यतन्ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि एकार के बाद में 'यदा' पद न होकर यत्+आ है।

---

(१) ४।६।७ (२) १।५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः, यदा इत्येतेषु; (परः =) परतः; अधिकृत-वर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "धिषणे वीड् सती वीडयेथाम्"[१] । "देवी द्वारौ मा मा संता-पम्"[२] । "अतिष्ठमाने कृष्णः"[३] । "विवसानौ ये चरावः"[४] । "अजन्नन्नमाने यदेदन्ताः"[५] । एतत्पर इति किम् ? "अनु देवा ममिरे वीर्यम्"[६] । "अष्टौ च मे द्वादश च मे"[७] ॥ ३८ ॥

न ज्ञे अह्ने नित्यम् ॥ ३९ ॥

मा०—ज्ञे अह्ने इत्येतौ पदान्तौ वीडादिपरावपि प्रग्रहौ न भवतः नित्यम् । यथा—"वरुणाय राज्ञे कृष्णः"[८] । "एण्य ह्ने कृष्णः"[९] । ज्ञे इत्यपदग्रहणं संक्षेपार्थम् । "यज्ञेऽपि कर्तोरिति तावन्न भूताम्"[१०] । "गमयतो भवतः"[११] इत्यादिना प्राप्तिः प्रतिषिध्यते । नित्य-मिति किम् लक्षणान्तरप्राप्तयोः प्रतिषेध इति । यथा—"सोमाय स्व"[१२] । "स्वराज्ञेऽनो वाहौ"[१३] ॥ ३९ ॥

त्रि०—ज्ञे अह्ने इत्येतयोरन्त्यस्वरः नित्यं प्रग्रहः न स्यात् । यथा "वरुणाय राज्ञे कृष्णः"[८] । "एण्यह्ने कृष्णः"[९] । 'वीड्'[१४] आदिग्राहिरनयोः । नित्यशब्दः प्राप्त्यन्तरप्रतिषेध-

---

वै० अ०—वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः, यदा—ये; (परः =) बाद में होने पर; अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है । "धिषणे वीड् सती वीडयेथाम्" । "देवी द्वारौ मा मा संताप्तम्" । "अतिष्ठमाने कृष्णः" । "विवसानौ ये चरावः" । "अजन्नन्नमाने यदेदन्ताः" । ये (वीड् आदि) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "अनु देवा ममिरे वीर्यम्" ।[क] "अष्टौ च मे द्वादश च मे"[ख] ॥ ३८ ॥

सू० अ०—ज्ञे तथा अह्ने (का अन्तिम 'स्वर') किसी भी स्थिति में ('प्रग्रह') नहीं (होता है) ।

त्रि० अ०—ज्ञे, अह्ने—इनका अन्तिम 'स्वर'; नित्यम् = किसी भी स्थिति में; 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है । जैसे—"वरुण राज्ञे कृष्णः" । "एण्यह्ने कृष्णः"—इन दोनों (उदाहरणों) में "वीड्, द्वारौ, कृष्णः, चरावः और यदा बाद में होने पर

(क) 'ममिरे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद में 'वी' है 'वीड्' नहीं ।

(ख) अष्टौ । च । मे । द्वादश । च । मे ॥ प० पा० .

'मे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद में 'द्वा' है, द्वारौ नहीं ।

---

(१) १।४।१ (२) ३।२।४ (३) ६।१।३ (४) १।५।१०
(५) ४।६।२ (६) ४।६।७ (७) ४।७।११ (८) ५।५।११
(९) ५।५।१५ (१०) २।६।७ (११) ४।५२ (१२) ४।४८
(१३) ५।६।२१ (१४) ४।३८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोजकः। "यज्ञेऽपि कर्तोरिति तावब्रूताम्"[१]। "गमयतो भवतः"[२] इत्यादिना प्राप्तिः। "स्वराज्ञेऽनोवाहौ"[३]। "सोमाय स्व"[४] इति प्राप्तिः ॥ ३९ ॥

वै०—ज्ञे अह्ने इत्यनयोः अधिकृतवर्णः पदान्तः वीडादिपरः प्रग्रहो न भवति। "वरुणाय राज्ञे कृष्णः"[५]। "एण्यह्ने कृष्णः"[६]। नित्यग्रहणाद्विध्यन्तरप्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते। "सोमाय स्वराज्ञे"[३] इत्यत्र "सोमाय स्वैतस्मिन्"[४] इति प्राप्तिः ॥ ३९ ॥

पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति थी।[क] 'नित्य' शब्द अन्य (सूत्र से) प्राप्ति का प्रतिषेध करने वाला है।[ख] "यज्ञेऽपि कर्तोरिति तावब्रूताम्" में "गमयतः, अकार से अतिरिक्त वर्ण से बाद में विद्यमान 'भवतः' (पद)..."—इस (सूत्र) से प्राप्ति थी।[ग] "स्वराज्ञेऽनोवाहौ"—में "सोमाय स्व-इस (अनुवाक) में (पदान्त ईकार तथा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्ति थी[घ] ॥३९॥

वै० अ०—ज्ञे, अह्ने—इन (पदों) में अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार), 'वीड्' आदि बाद में होने पर, 'प्रग्रह'; न=नहीं होता है। (उदाहरण) "वरुणाय राज्ञे कृष्णः"। "एण्यह्ने कृष्णः"। 'नित्य' (शब्द) के ग्रहण से दूसरी विधि से प्राप्ति

(क) वरुणाय। राज्ञे। कृष्णः ॥ प० पा०
एणी। अह्ने। कृष्णः ॥ प० पा०

'कृष्णः' बाद में होने के कारण 'राज्ञे' तथा 'अह्ने' के एकार को ४।३८ से 'प्रग्रह' होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत सूत्र इस 'प्रग्रह' का निषेध कर देता है। 'ज्ञे' और 'अह्ने' का एकार किसी भी परिस्थिति में 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र (४।३९) ४।३८ का अपवाद है। ४।३८ में विहित 'प्रग्रह' का प्रस्तुत सूत्र प्रतिषेध करता है। सूत्रकार ने सूत्र में 'नित्य' शब्द का प्रयोग करके यह बतलाया है कि 'ज्ञे' और 'अह्ने' के एकार 'प्रग्रह' नहीं होते हैं चाहे वे किसी अन्य सूत्र से भी 'प्रग्रह' सिद्ध होते हों।

(ग) यज्ञे। अपीति। कर्तोः। इति। तौ। अब्रूताम् ॥ प० प०

'यज्ञे' के एकार को, 'अब्रूताम्' बाद में होने के कारण ४।५२ से प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी। किन्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'नित्य' शब्द के सामर्थ्य से 'ज्ञे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(घ) सोमाय। स्वराज्ञ इति स्वराज्ञे। अनोवाहावित्यनः—वाहौ ॥ प० पा०

प्रस्तुत उदाहरण "सोमाय स्व" अनुवाक का है। अतः ४।४८ से 'राज्ञे'

---

(१) २।६।७ (२) ४।५२ (३) ५।६।२१ (४) ४।४८
(५) ५।५।११ (६) ५।५।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकारं एकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य तेथे ॥ ४० ॥

मा०—आकारपूर्वश्च एकारपूर्वश्च बहुस्वरस्य पदस्य पदान्ते ते थे इति पदान्तौ प्रग्रहौ भवतः। यथा आकारपूर्वे—"मृजाते यो विद्विषाणयोः"[१]। "विवा एतौ द्विषाते"[२]। "पृथिव्या रिरिचाथे"[३]। एकारपूर्वे—"शुक्रामन्थिनौ गृह्णते"[४]। "दृꣳहणा यं नुदेथे"[५]। आकारपूर्व इति किम्? "शरीरं वा एतद्यजमानः संस्कुरुते"[६]। "प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि"[७]। बहुस्वरस्येति किम्? "पुत्रे जाते यदष्टाकपालः"[८]। ते थे इति किम्? "यस्मानेऽर्द्धमासे स्याताम्"[९]। तुशब्दः अधस्तात् प्रतिषेधप्राप्तमिदानीं निवर्तयति। तुशब्दारम्भान्नित्यशब्दो प्रतिषेधे निवर्तत इत्येतज्ज्ञापयति ॥ ४० ॥

त्रि०—बहुस्वरस्य पदस्य सम्बन्धी ते इति थे इति वा शब्दः; (आकार एकारपूर्वः =) आकारपूर्व एकारपूर्वो वा; प्रग्रहो भवति। यथा—"मृजाते यो विद्विषाणयोः"[१]। "शुक्रामन्थिनौ गृह्णते"[२]। "पृथिव्या रिरिचाथे"[३]। "दृꣳहणा यं नुदेथे"[५]। एवम्पूर्व इति किम्? "आवृश्च्यते वा एतत्"[१०]। "त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्"[११]। बहुस्वरस्येति किम्? "तत् प्रवाते"[१२]। "यदेते गृह्णन्त एषाम्"[१३]। ते थे इति किम्? "अनूच्यमान आ

का भी प्रतिषेध हो जाता है। "सोमाय स्वराज्ञे" यहाँ "सोमाय स्व—इस (अनुवाक) में....."—इस (सूत्र) से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति थी ॥३९॥

सू० अ०—किन्तु आकार अथवा एकार पूर्व में होने पर बहुत स्वरों वाले पद के 'ते' तथा 'थे' (का अन्तिम 'स्वर' एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—बहुस्वरस्य = बहुत स्वरों वाले पद का ते अथवा थे शब्द; (आकार एकारपूर्वः =) आकार पूर्व में होने पर अथवा एकार पूर्व में होने पर; 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"मृजाते यो विद्विषाणयोः"। "शुक्रामन्थिनौ गृह्णते"। "पृथिव्या रिरिचाथे"। "दृꣳहणा यं नुदेथे"।[क] ये (आकार अथवा एकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "आवृश्च्यते वा एतत्"। "त्रीणि व्रता विदथे

के एकार को प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'नित्य' शब्द के सामर्थ्य से 'राज्ञे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

(क) मृजाते इति। यः। विद्विषाणयोरिति वि–द्विषाणयोः ॥ प० पा०
शुक्रामन्थिनाविति शुक्रा–मन्थिनौ। गृह्णते इति ॥ प० पा०
पृथिव्याः। रिरिचाथे इति ॥ प० पा०
दृꣳहणा। यम्। नुदेथे इति ॥ प० पा०

---

(१) २।२।६ (२) ५।२।४ (३) ४।२।११ (४) ६।४।१०
(५) ४।७।१५ (६) ५।६।६ (७) ४।६।८ (८) २।२।५
(९) ७।१।४ (१०) ३।३।८ (११) २।१।११
(१२) ६।४।७ (१३) ३।३।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सादयति"[1]। "वीड्"[2] आदिनिमित्तसापेक्षतानिवर्तकः तुशब्द इति वररुचिपक्षः। माहिषेय-पक्षस्तु वक्ष्यते—पूर्वसूत्रोक्तनिषेधं नित्यशब्दज्ञापितानुवृत्तिं निवारयतीति। तत्र वररुचिमतं रुचिरम्। बहवः स्वराः यस्मिन् तत् बहुस्वरं, तस्य। अत्र स्वरशब्देनोपादानमचाम्। बहु-शब्देन व्यक्तिभेदो विज्ञेयः ॥ ४० ॥

वै०—आकार एकारेति प्रकृतिभावश्छान्दसः। तस्मादैकारशङ्का न भवति। आका-

---

अन्तरेषाम्"।[क] बहुत स्वरों वाले (पद) का—यह क्यों (कहा)? "तत् प्रवाते"। "यदेते गृह्यन्त एषाम्"।[ख] ते, थे—यह क्यों (कहा)? "अनूच्यमान आ सादयति"।[ग] (सूत्र में प्रयुक्त) 'तु' शब्द 'वीड्' इत्यादि निमित्तों की सापेक्षता का निवर्त्तक है—यह वररुचि का पक्ष है। माहिषेय का पक्ष भी कहा जाता है—(तु शब्द) पूर्व सूत्र में कहे गए निषेध तथा नित्य शब्द के द्वारा सूचित अनुवृत्ति का निवारण करता है।[घ] (इन दोनों में) वररुचि का मत ठीक है। बहुत 'स्वर' है जिसमें वह बहुस्वर है, उसका। यहाँ 'स्वर' शब्द के द्वारा स्वरों का ग्रहण होता है। 'बहु' के द्वारा व्यक्ति-भेद जानना चाहिए ॥४०॥

वै० अ०—आकार एकार—यहाँ प्रकृतिभाव छान्दस हैं। इसलिए ऐकार

(क) एति। वृश्च्यते। वै। एतत् ॥ प० पा०
त्रीणि। व्रता। विदथे। अन्तः। एषाम् ॥ प० पा०

बहुत स्वरों वाले 'वृश्च्यते' तथा 'विदथे' के 'ते' तथा 'थे' का अन्तिम स्वर एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'ते' और 'थे' के पूर्व में आकार अथवा एकार नहीं, अकार है।

(ख) तत्। प्रवात इति प्र—वाते ॥ प० पा०
यत्। एते। गृह्यन्ते। एषाम् ॥ प० पा०

(ग) अनूच्यमान इत्यनु—उच्यमाने। एति। सादयति ॥ प० पा०

बहुत स्वरों वाले 'अनूच्यमाने' पद का 'ने' आकार पूर्व में होने पर भी 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में 'ते' और 'थे' के 'प्रग्रह' होने का विधान किया गया है, 'ने' का नहीं।

(घ) आचार्य वररुचि के अनुसार सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द ४।३८ तथा ४।३९ में 'वीड्' आदि जिन परवर्ती निमित्तों की अपेक्षा होती है, उनका निवारण करता है। अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में जिस 'प्रग्रह' का विधान किया गया है उसके लिये बाद में 'वीड्' इत्यादि पदों की अपेक्षा नहीं है। आचार्य माहिषेय का मत है कि 'तु' शब्द पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त निषेध तथा 'नित्य' शब्द से सूचित 'किसी भी स्थिति में नहीं' का निवारण करता हैं।

---

(१) २।२।५ (२) ४।३८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रैकारौ पूर्वौ यस्मात्स तथोक्तः। एतच्च कार्यभाज एव विशेषणम्। न तु निमित्तमुपबन्ध-इचेत्युक्तम्। तत्पूर्वको यो बहुस्वरस्य पदस्य सम्बन्धी तेशब्दः थेशब्दश्च तत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। आकारे—"वि वा एतौ द्विषाते"[१]। "रिरिचाथे दिवश्च"[२]। एकारे—"देवता इज्येते देवतानाम्"[३]। "न पराजयेथे"[४]। एतत्पूर्वं इति किम्? "अदित एहि"[५]। "विदथे अन्तरेषाम्"[६]। बहुस्वरस्येति किम्? "तत्प्रवाते विषजन्ति"[७]। "तिग्म-हेते। यो नो अरातिम्"[८]। तु शब्दो दशतय्यां प्रसिद्धमैकारपूर्वकप्रग्रहमस्मच्छाखातो विनिवर्तयति ॥ ४० ॥

की शङ्का नहीं होती हैं।[क] आकार और एकार है पूर्व में जिससे वह वैसा कहा गया (= आकार एकारपूर्वः) है। और यह कार्य को प्राप्त करने वाले (पद) का विशेषण है। न यह निमित्त है और न उपबन्ध—यह कहा जा चुका है। (आकार, एकार है) पूर्व में जिसके ऐसे उस बहुत 'स्वर' वाले पद का जो 'ते' शब्द और 'थे' शब्द हैं उसमें अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है। आकार (है पूर्व) में (जिसके उसका उदाहरण)—"वि वा एतौ द्विषाते"। "रिरिचाथे दिवश्च"।[ख] एकार (है पूर्व) में (जिसके उसका उदाहरण)—"देवता इज्येते देवतानाम्"। "न पराजयेथे"।[ग] ये (आकार अथवा एकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अदित एहि"। "विदथे अन्तरेषाम्"।[घ] बहुत स्वरों वाले (पद) के—यह क्यों (कहा)? "तत्प्रवाते विषजन्ति"। "तिग्महेते। यो नो अरातिम्"।[ङ] (सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द ऋग्वेद में प्रसिद्ध ऐकारपूर्व

(क) व्याकरण के अनुसार आकार + एकार = आकारैकार होने चाहिए। किन्तु यहाँ आर्ष प्रकृतिभाव है। इससे यह लाभ हुआ कि इससे ऐकार की शंका नहीं होती है। व्याकरण के अनुसार सन्धि हो जाती तो कोई आकारैकार को आकार + ऐकार भी समझ सकता था।

(ख) वीति। वै। एतौ। द्विषाते इति ॥ प० पा०
रिरिचाथे इति। दिवः। च ॥ प० पा०

(ग) देवताः। इज्येते इति। देवतानाम् ॥ प० पा०
न। परेति। जयेथे ॥ प० पा०

(घ) अदिते। एति। इहि ॥ प० पा०
विदथे। अन्तः। एषाम् ॥ प० पा०

(ङ) तत् प्रवात इति प्र-वाते। वीति। सजन्ति ॥ प० पा०
तिग्महेत इति तिग्म—हेते। यः। नः। अरातिम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।२।४ (२) ४।२।११ (३) २।६।२ (४) ३।२।११
(५) १।६।३ (६) २।१।११ (७) ६।४।७ (८) १।२।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न शार्याते ॥ ४१ ॥

मा०—न खलु शार्याते इत्येतत्पदं प्रग्रह्यं भवति। यथा—"शार्याते अपिबः"[१] ॥४१॥

त्रि०—शार्याते इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहः न भवति। यथा—"यथा शार्याते अपिबस्सुतस्य"[१]। पूर्वसूत्रप्राप्तौ सत्यां कण्ठोक्तनिषेधोऽनेन विधीयते ॥ ४१ ॥

वै०—शार्यातेशब्दे पूर्वसूत्रप्राप्त्या प्रग्रहो न भवति। "यथा शार्याते अपिबः"[१] ॥ ४१ ॥

ते मापातं नम एनमभि वायुर्गर्भमुपाहस्तु परः ॥ ४२ ॥

मा०—यथा—"मा पातमाऽस्य"[२]। मापातमिति किम्? "ते माऽस्मिन् यज्ञे"[३]। "परि दधावहै पुनस्ते। नमोऽग्नये"[४]। "ते एनमभि समनह्येताम्"[५]। एनमभीति किम्?

(ऐकार है पूर्व में जिसके) 'प्रग्रह' का हमारी (तैत्तिरीय) शाखा से निवारण करता है[क] ॥४०॥

सू० अ०—शार्याते (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह') नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—शार्याते—इसका अन्तिम 'स्वर' (एकार) 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है। जैसे—"यथा शार्याते अपिबः सुतस्य"।[ख] ('शार्याते' के एकार को प्रग्रहत्व की प्राप्ति) पूर्व सूत्र से प्राप्त होने पर इस (सूत्र) से पृथक्शः स्पष्ट निषेध का विधान किया गया है[ग] ॥४१॥

वै० अ०—शार्याते शब्द में पूर्व सूत्र से प्राप्त 'प्रग्रह' नहीं होता है। (उदाहरण) "यथा शार्याते अपिबः" ॥४१॥

सू० अ०—मापातं, नमः, एनमभि, वायुः, गर्भम्, उप, अहः और तु बाद में होने पर 'ते' (का एकार 'प्रग्रह' होता है)।

(क) ऋग्वेद में 'यतैते', 'ब्रवैते', 'अश्नवैथे' इत्यादि पद उपलब्ध होते हैं। ये पद लेट् लकार के द्विचन के हैं। इन पदों के एकार ऋ० प्रा० १।७१ से 'प्रग्रह' हैं। स्पष्ट है कि इन पदों में एकार के बाद में 'ते' और 'थे' का एकार 'प्रग्रह' है। तै० सं० में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते हैं, जहाँ ऐकार के बाद में 'ते' और 'थे' 'प्रग्रह' हों।

(ख) यथा। शार्याते। अपिबः। सुतस्य ॥ प० पा०

(ग) 'शार्याते' के एकार को आकार पूर्व में होने के कारण ४।४० से 'प्रग्रह' होना चाहिये। किन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'शार्याते' के एकार के प्रग्रहत्व का निषेध स्पष्ट रूपेण कर दिया गया है।

---

(१) १।४।१९ (२) १।२।२ (३) ३।२।४ (४) १।५।१० (५) २।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"त एनं भिषज्यन्ति"[१]। "ते वायुर्व्यवात्"[२]। "ते गर्भम्"[३]। "ते उपामन्त्रयन्त"[४]। "ते अहोरात्रयोः"[५]। "ते त्वाव नोत्सृज्ये"[६]। एवंपर इति किम्? "ते देवा अब्रुवन्"[७]। ते इति किम्? "बृहदुक्थे नमः"[८]। "अमुष्मिन् लोक उप शेरे"[९]। "यन्ति वा एते सवनाद्येऽहः"[१०] ॥ ४२ ॥

त्रि०—मापातं नमः एनमभि वायुः गर्भम् उप अहः तु एवं परः ते इति शब्दः, प्रग्रहः स्यात्। यथा—"ते मा पातमाऽस्य"[१]। पातमिति किम्? "ते माऽस्मिन् यज्ञे"[२]। "परि दधावहै पुनस्ते। नमोऽग्नये"[३]। म इति किम्? "ते न व्यजयन्त"[४]। "ते एनमभि समनह्येताम्"[५]। अभीति किम्? "त एनं भिषज्यन्ति ब्रह्मणः"[६]। ते वायुर्व्यवात्"[७]। युरिति किम्? "ते वाचꣳस्त्रियम्"[८]। "ते गर्भमदधाताम्"[९]। "ते उपामन्त्रयन्त"[१०]। "ते अहोरात्रयोः"[११]। "ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः"[१२]। उकारेण किम्? "ते ते धामान्युश्मसि"[१३]। एवम्पर इति किम्? "ते देवाः"[१४]? ते इति किम्? "बृहदुक्थे नमः"[१५]। "अमुष्मिंल्लोक उपशेरे"[१६]। "यन्ति वा एते सवनाद्येऽहः"[१७] ॥ ४२ ॥

त्रि० अ०—मापातं, नमः, एनमभि, वायुः, गर्भम्, उप, अहः, तु—ये; परः = बाद में होने पर; ते—यह शब्द 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"ते मा पातमास्य"। पातम्—यह क्यों (कहा)? "ते मास्मिन् यज्ञे"। "परिदधावहै पुनस्ते"। "नमोऽग्नये"। मः—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "ते न व्यजयन्त"। "ते एनमभिसमनह्येताम्"। अभि—यह क्यों (कहा)? "त एनं भिषज्यन्ति ब्रह्मणः"। "ते वायुर्व्यवात्"। युः—यह क्यों (कहा)? "ते वाचꣳ स्त्रियम्"। "ते गर्भमदधाताम्"। "ते उपामन्त्रयन्त"। 'ते अहोरात्रयोः"। "ते त्वावनोत्सृज्ये इत्याहुः"। उकार से क्या (लाभ है)? "ते ते धामान्युश्मसि"। ये (मापातं इत्यादि) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "ते देवाः"। ते—यह क्यों (कहा)? "बृहदुक्थे नमः"। "अमुष्मिंल्लोक उपशेरे"। "यन्ति वा एते सवनाद्येऽहः"[क] ॥४२॥

(क) ते इति। मा। पातम्॥ ते। मा। अस्मिन्। यज्ञे॥ ते इति। नमः॥ ते। न। व्यजयन्त॥ ते इति। एनम्। अभि॥ ते। एनम्। भिषज्यन्ति॥ ते इति। वायुः॥ ते। वाचम्। स्त्रियम्॥ ते इति। गर्भम्॥ ते इति। उपेति॥

---

(१) २।३।११ (२) ३।४।३ (३) ६।१।३ (४) ७।५।७
(५) ६।२।४ (६) १।४।२६ (७) ५।३।७ (८) ७।५।६
(९) १।२।२ (१०) ३।२।४ (११) १।५।१० (१२) ५।४।१
(१३) २।५।६ (१४) २।३।११ (१५) ३।४।३ (१६) ६।१।६
(१७) ३।४।३ (१८) ६।१।३ (१९) ६।१।३ (२०) ७।५।७
(२१) १।३।६ (२२) १।४।१० (२३) १।४।२६
(२४) ५।३।७ (२५) ७।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—मापातम्। नमः। एनमभि। वायुः। गर्भम्। उप। अहः। तु। इत्येतेषु; (परः=) परतः। "ते मा पातमाऽस्य"[१]। पातमिति किम्? "ते माऽस्मिन् यज्ञे"[२]। "पुनस्ते। नमोऽग्नये"[३]। "ते एनमभि समनह्येताम्"[४]। अभीति किम्? "त एनꣳसुवन्ते"[५]। "ते वायुर्व्यवात्"[६]। "ते गर्भमदधाताम्"[७]। "ते उपामन्त्रयन्त"[७]। "ते अहोरात्रयोः"[७]। "ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः"[८] ॥ ४२ ॥

अनुदात्तो न नित्यम् ॥ ४३ ॥

मा०—ते इत्यनुदात्तः मापातमित्येवमादिपरोऽपि न भवति प्रग्रहो नित्यम्। यथा—"बाहुभ्यामुत ते नमः"[९]। नित्यमिति किम्? लक्षणान्तरप्राप्तस्यापि प्रतिषेधः स्यादिति। यथा—"नमस्ते अस्त्वायुधाय"[१०]। "गमयतो भवतः"[११]। इत्यादिना प्राप्तिः। "देवते उभे" इति देवताशब्दस्य स्वरूपग्रहणात् प्रग्रहत्वं प्राप्तम्। वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः इत्यत एतेशब्दस्य स्वरूपग्रहणात् प्रग्रहो भवति। अनुदात्तो न भवति ॥ ४२ ॥

त्रि०—मापातमित्यादिपरोपि ते इत्यन्त्यस्वरः अनुदात्तः नित्यं प्रग्रहो न भवति। यथा—"उभाभ्यामुत ते नमः"[९]। नित्यमिति किम्? लक्षणान्तरप्राप्तस्यापि प्रतिषेधो यथा स्यात्। "नमस्ते अस्त्वायुधाय"[१०]। "गमयतो भवतः"[११] इति प्राप्तिः ॥ ४३ ॥

वै० अ०—ते शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है। मापातम्, नमः, एनमभि, वायुः, गर्भम्, उप, अहः, तु—ये; (परः =) बाद में होने पर।.....॥४२॥

सू० अ०—('ते' का एकार) अनुदात्त होने पर किसी भी स्थिति में ('प्रग्रह') नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—'मापातम्' इत्यादि बाद में होने पर भी ते—इसका अन्तिम 'स्वर' (एकार); अनुदात्तः = अनुदात्त होने पर; नित्य = किसी भी स्थिति में 'प्रग्रह'; न = नहीं; होता है। जैसे—"उभाभ्यामुत ते नमः"।[क] नित्यम्—यह क्यों (कहा)? जिससे दूसरे सूत्र (लक्षण) से प्राप्त ('प्रग्रह') का भी प्रतिषेध हो जाये।

ते इति। अहोरात्रयोरित्यहः—रात्रयोः ॥ ते इति। तु। वाव ॥ ते। ते। धामानि। उश्मसि ॥ ते। देवाः ॥ बृहत्। उक्षे। नमः ॥ अमुष्मिन्। लोके। उपेति। शेरे ॥ यन्ति। वै। एते ॥ प० पा०

(क) उभाभ्याम्। उत। ते। नमः ॥ प० पा०

---

(१) १।२।२ (२) ३।२।४ (३) १।५।१० (४) २।५।६
(५) ५।६।२ (६) ३।४।३ (७) ६।१।३ (८) ७।५।७
(९) ४।५।१ (१०) ४।५।१ (११) ४।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—ते इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तोऽनुदात्तः पूर्वसूत्रप्राप्त्या प्रग्रहो न भवति। "उत ते नमः"[१]। नित्यग्रहणाद्विध्यन्तरप्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते। "सोम देव ते मतिविदः"[२]। "देवते उभे"[३] इति प्राप्तिः। "नमस्ते अस्त्वायुधाय"[४]। "उभाभ्यां—आषष्ठात्"[५] इति प्राप्तिः ॥ ४३ ॥

एते तनुवौवैसमेवहियज्ञपदिष्टक्परः ॥ ४४ ॥

मा०—तनुवौ, वैसम्, एव, हि, यज्ञ, पत्, इष्टक्, इत्येवम् परः एते इति प्रग्रहो भवति। यथा—"एते तनुवौ घोरान्या"[६]। "एते वै संवत्सरस्य"[७]। वैसमिति किम्? "एते वा इडायै"[८]। "स एते एव नमस्यन्"[९]। "एते हि देवानाम्"[१०]। "चक्षुषी वा एते यज्ञस्य"[११]। "एते पदे अथो"[१२]। "यदेते इष्टके उप दधाति"[१३]। एवंपर इति किम्? "अथ कतम एते देवाः"[१४]। "यन्ति वा एते सवनात्"[१५]। एते इति किम्? "मनुत एवैनमेतानि"[१६]। "पुष्करपर्णे ह्येनम्"[१७]। "अग्ने यज्ञपतिन्धत्त"[१८]। "सप्तमे पदे जुहोति"[१९] ॥ ४४ ॥

"नमस्ते अस्त्वायुधाय"। "गमयतः, ऊकार से अतिरिक्त वर्ण से बाद में विद्यमान भवतः..." से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति थी[क] ॥४३॥

वै० अ०—ते—यहाँ अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'अनुदात्त' होने पर पूर्व सूत्र की प्राप्ति से 'प्रग्रह' नहीं होता है। "उत ते नमः"। नित्य (शब्द) के ग्रहण से दूसरी विधि से प्राप्ति का भी प्रतिषेध हो जाता है। "सोम देव ते मतिविदः" में "देवते; उभे (ये पद प्रग्रह-संज्ञक होते हैं)"—इस (सूत्र) से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति थी। "नमस्ते अस्त्वायुधाय" में "...उभाभ्याम् और अवान्तरम् बाद में होने पर (पूर्व में) छठे पद तक (वर्तमान पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह संज्ञक होता है।"—इस (सूत्र) से (प्रग्रहत्व की) प्राप्ति थी ॥

सू० अ०—तनुवौ, वैसम्, एव, हि, यज्ञ, पत् और इष्टक् बाद में होने पर 'एते' (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है)।

(क) प्रस्तुत प्रत्युदाहरण में स्थित 'ते' के एकार को ४।५२ से प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'नित्य' शब्द की सामर्थ्य से 'ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं होता है।

---

(१) ४।५।१ (२) ३।२।५ (३) ४।११ (४) ४।५।१
(५) ४।५२ (६) ५।७।३ (७) २।५।६ (८) १।७।१
(९) २।५।६ (१०) २।५।६ (११) २।६।२ (१२) ५।१।६
(१३) ५।३।५ (१४) २।६।९ (१५) ७।५।६ (१६) ५।५।६
(१७) ५।१।४ (१८) १।१।५ (१९) ६।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—तनुवौ वैसम् एव हि यज्ञ पत् इष्टक् एवं परः एते इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति। यथा—"तस्यैते तनुवौ"[१]। "एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी"[२]। समिति किम्? "एते वा इडायै स्तनाः"[३]। "स एते एव नमस्यन्नुपाधावत्"[४]। "एते हि देवानाम्"[४]। "चक्षुषी वा एते यज्ञस्य"[५]। "एते पदे अथो"[६]। "यदेते इष्टके उपदधाति"[७]। एवम्पर इति किम्? "अथ कतम एते देवाः"[८]। एते इति किम्? "मनुत एवैनम्"[९]। "पुष्करपर्णे ह्येनम्"[१०]। "अग्ने यज्ञपतिंधत्त"[११]। "सप्तमे पदे जुहोति"[१२] ॥ ४४ ॥

वै०—एतेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—तनुवौ। वैसम्। एव। हि। यज्ञ। पत्। इष्टक्। इत्येतेषु; (परः=) परतः। "तस्यैते तनुवौ"[१]। "एते वै संवत्सरस्य"[२]। समित्युपबन्धेन किम्? "एते वै देवाश्वाः"[३]। "स एते एव नमस्यन्"[४]। "एते हि देवानाम्"[४]। "चक्षुषी वा एते यज्ञस्य"[५]। "यज्ञस्य ह्येते पदे"[६]। "यदेते इष्टके उपदधाति"[७] ॥ ४४ ॥

परश्च द्वयोः ॥ ४५ ॥

मा०—चशब्द अन्वादेशकः। द्वयोरेतयोर्निमित्तनिमित्तिनोः पूर्वं तत्रोक्तयोरन्वादेशः

त्रि० अ०—तनुवौ, वैसम्, एव, हि, यज्ञ, पत् और इष्टक्—ये; परः = बाद में होने पर; एते का अन्तिम 'स्वर' (एकार) 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"तस्यैते तनुवौ"। "एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी"। सम्—यह क्यों (कहा)? "एते वा इडायै स्तनाः"। "स एते एव नमस्यन्नुपाधावत्"। "एते हि देवानाम्"। "चक्षुषी वा एते यज्ञस्य"। "एते पदे अथो"। "यदेते इष्टके उपदधाति"। 'एते'—यह क्यों (कहा)? "मनुत एवैनम्"। "पुष्करपर्णे ह्येनम्"। "अग्ने यज्ञपतिं धत्त"। "सप्तमे पदे जुहोति"[क] ॥ ४४ ॥

वै० अ०—एते शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है—तनुवौ, वैसम्, एव, हि, यज्ञ, पत्, इष्टक्—ये; (परः=) बाद में होने पर ··· ॥ ४४ ॥

(क) तस्य। एते इति। तनुवौ ॥ एते इति। वै। संवत्सरस्येति सं—वत्सरस्य। चक्षुषी इति ॥ एते। वै। इडायै। स्तनाः ॥ सः। एते इति। एव। नमस्यन्। उपेति। अधावत ॥ एते इति। हि। देवानाम् ॥ चक्षुषी इति। वै। एते इति ॥ एते इति। पदे इति। अथो इति ॥ यत्। एते इति। इष्टके इति। उपदधातीत्युप—दधाति ॥ अथ। कतमे। एते। देवाः ॥ मनुते। एव। एनम् ॥ पुष्करपर्णं इति पुष्कर—पर्णे। हि। एनम्। अग्ने। यज्ञपतिमिति यज्ञ—पतिम् ॥ सप्तमे। पदे। जुहोति ॥

---

(१) ५।७।३ (२) २।५।६ (३) १।७।१ (४) २।५।६
(५) २।६।२ (६) ५।१।६ (७) ५।३।५ (८) २।६।६
(९) ५।५।६ (१०) ५।१।४ (११) १।१।५ (१२) ६।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियते पत् इष्टक् इति । एतयोः पदान्त य एकारः स च प्रग्रहो भवति । अन्येभ्यस्त्वनन्तरा प्रग्रहभाङ् न सम्भवति (?) यथा—"एते पदे अथो प्रतिष्ठित्यै"[१] । "एते इष्टके उप दधाति"[२] । एतयोरन्वादेशः किम् ? "सप्तमे पदे जुहोति"[३] । "तस्यास्ते देवीष्टके"[४] ॥ ४५ ॥

त्रि०—निमित्तिन उपरि वर्तमानयोः पत् इष्टक् इत्येतयोः चकारान्वादिष्टयोः द्वयोः परः एकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—"यज्ञस्य ह्येते पदे"[१] । "यदेते इष्टके उपदधाति"[२] । निमित्तिन उपरि वर्तमानयोरिति किम् ? "सप्तमे पदे जुहोति"[३] । "तस्यास्ते देवीष्टके"[४] ॥ ४५ ॥

वै०—चशब्दस्समुच्चयार्थः । द्वयोरिति निमित्तनिमित्तिनोर्वादः । तयोस्समुदितयोस्सतोः ततः परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "यज्ञस्य ह्येत पदे"[१] । "यदेते इष्टके उपदधाति"[२] । द्वयोरित्यधिकोक्तियत्नस्समुदितसम्प्रत्ययार्थः । तेन पृथग्भूतयोर्न भवति । "यदेते गृह्यन्ते"[५] । "इडायाः पदे"[६] । "तस्यास्ते देवीष्टके"[७] । अन्ये तु—चशब्दान्वादि-

---

सू० अ०—(पूर्व सूत्र में स्थित पत् तथा इष्टक्—इन) दो के बाद वाला भी (पदान्त एकार 'प्रग्रह' होता है) ।

त्रि० अ०—(पूर्व सूत्र में स्थित) निमित्तिन् (एते) के बाद में वर्तमान; द्वयोः = दोनों (पत् और इष्टक्); जिनका अन्वादेश चकार के द्वारा हुआ है; परश्च=उनके बाद वाला; पदान्त एकार 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"यज्ञस्य ह्येते पदे" । "यदेते इष्टके उपदधाति"क । निमित्तिन् (एते) के बाद में वर्तमान (पत् और इष्टक्) के—यह क्यों (कहा) ? "सप्तमे पदे जुहोति" । "तस्यास्ते देवीष्टके"ख ॥ ४५ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द समुच्चय के लिए है । द्वयोः—यह निमित्त और निमित्तिन् का सूचक है । उन दोनों का साथ में उल्लेख होने पर उन (निमित्त और निमित्तिन्) के; परः = बाद वाला; अधिकृत पदान्त वर्ण 'प्रग्रह' होता

(क) यज्ञस्य । हि । एते इति । पदे इति ॥ प० पा०

यत् । एते इति । इष्टके इति । उपदधातीत्युप—दधाति ॥ प० पा०

एते (निमित्तिन्) के बाद में वर्तमान 'पत्' और 'इष्टक्' का परवर्ती एकार 'प्रग्रह' है ।

(ख) तस्याः । ते । देवि । इष्टके ॥ प० पा०

'पत्' और 'इष्टक्' का परवर्ती एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि 'पत्' और 'इष्टक्' के पूर्व में 'एते' (निमित्तिन्) नहीं हैं ।

---

(१) ५।१।६ (२) ५।३।५ (३) ६।१।८ (४) ४।२।६
(५) ३।३।६ (६) १।२।५ (७) ४।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्टाभ्यां निमित्ताभ्यामन्त्याभ्यां पर इति व्याचक्षते। तेषां निमित्तस्य पृथग्भावेऽपि प्रग्रहस्स्यात्। ननु निमित्तिविप्रयोगे निमित्तत्वं नास्तीति न स्यात्प्रग्रहः। एवं तर्हि "परश्चोभयोः"[1] इत्यत्र उभशब्दोऽनर्थकस्स्यात्। "वृषणौ स्थ उर्वश्यसि"[2] इत्यादावतिप्रसङ्गाभावात्। तस्मादत्रापि

है। "यज्ञस्य ह्येते पदे"क। "यदेते इष्टके उपदधाति"ख। (सूत्र में) दोनों का (द्वयोः=)—इस अधिक, कथन का प्रयत्न परस्पर इकट्ठे रखे हुए (निमित्त और निमित्तिन्) के ज्ञान के लिए हुआ है। इसलिए (निमित्त और निमित्तिन् के) अलग-अलग होने पर (विहित प्रग्रहत्व) नहीं होता हैग। "यदेते गृह्यन्ते"घ। "इडायाः पदे"। "तस्यास्ते देवीष्टके"ङ। अन्य लोग तो (कहते हैं)—(सूत्र में प्रयुक्त) 'च' शब्द के द्वारा (पूर्ववर्ती सूत्र से) अन्वादिष्ट अन्तिम दो निमित्तों ('पत्' और 'इष्टक्') से बाद में स्थित ('स्वर' 'प्रग्रह' होता है)। उनके (मत में) निमित्त के पृथक् होने पर भी 'प्रग्रह' होगा। (पू०) निमित्तिन् से पृथक् होने पर निमित्तत्व नहीं होता है—इसलिए 'प्रग्रह' नहीं होगाच। (सि०) ऐसी बात होने पर तो "(पूर्व-

(क) यज्ञस्य। हि। एते इति। पदे इति॥ प० पा०

'पदे' का एकार 'प्रग्रह' है, क्योंकि इस एकार के पूर्व में निमित्तिन् (एते) और निमित्त (पत्)—ये दोनों साथ में उल्लिखित हैं।

(ख) यत्। एते इति। इष्टके इति। उपदधातीत्युप—दधाति॥ प० पा०

'इष्टके' का एकार 'प्रग्रह' है, क्योंकि इस एकार के पूर्व में निमित्तिन् (एते) और निमित्त (इष्टक्)—ये दोनों साथ में उल्लिखित हैं।

(ग) प्रस्तुत सूत्र (४।४५) में 'द्वयोः' का उल्लेख न होने पर भी निमित्तिन् और निमित्त ने बाद में स्थिति 'स्वर' ही 'प्रग्रह' होता। सूत्र (४।४५) में 'द्वयोः' का ग्रहण यह बतलाने के लिये किया गया है कि निमित्तिन् और निमित्त—इन दोनों का साथ में उल्लेख होने पर, उनके बाद में स्थित 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है।

(घ) यत्। एते। गृह्यन्ते॥ प० पा०

यहाँ 'एते' के साथ न 'पत्' का उल्लेख है और न 'इष्टक्' का। अतएव प्रस्तुत सूत्र से प्रग्रहत्व नहीं हुआ है।

(ङ) इडायाः पदे॥ प० पा०

तस्याः। ते। देवि। इष्टके॥ प० पा०

इन स्थलों पर 'पत्' तथा 'इष्टक्' के पूर्व में 'एते' नहीं है। अतः 'पत्' तथा 'इष्टक्' के बाद में विद्यमान एकार 'प्रग्रह' नहीं है।

(च) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र (४।४५) में यह विधान किया गया है कि पूर्ववर्ती सूत्रस्थ अन्तिम दो निमित्तों—पत् और इष्टक्—के बाद में स्थित 'स्वर' प्रग्रह नहीं है।

(१) ४।४४ (२) १।३।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वयोरिति निमित्तनिमित्तिनोरेव युक्तो वादः। शब्दभेदस्तु—"पर्णमयेन स्रुवेण जुहोति"[१]। "षट्पालाशाः"[२] इत्यादिवदर्थभेदाभावेऽपि न दोषाय। अर्थभेदकल्पनायां पर्यायतैव शब्दानामुत्सीदेदित्यलम् ॥ ४५ ॥

वर्ती सूत्र में कह गए निमित्त और निमित्तिन्) दोनों के बाद वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)"—यहाँ पर 'उभ' शब्द अनर्थक हो जायेगा। क्योंकि "वृषणौ स्थ उर्वश्यसि" इत्यादि में अतिप्रसङ्ग का अभाव है[क]। इसलिए यहाँ पर भी निमित्तिन् और निमित्त का कथन युक्त है। शब्द-भेद तो "पर्णमयेन स्रुवेण जुहोति"; "षट्पालाशाः" इत्यादि की तरह अर्थभेद का अभाव होने पर भी

सिद्धान्ती—इससे तो यह सिद्ध होता है कि निमित्तिन् के अभाव में भी 'पत्' और 'इष्टक्' के बाद में स्थित 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है। किन्तु यह युक्त नहीं है।

पूर्वपक्षी—निमित्तिन् (एते) के अभाव में निमित्त (पत् और इष्टक्) के बाद में स्थित 'स्वर' के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है। निमित्तिन् (एते) के अभाव में 'पत्' और 'इष्टक्' का निमित्तत्व ही समाप्त हो जाता है।

(क) सिद्धान्ती—४।४७ में यह विधान किया गया है कि निमित्त (स्थः) और निमित्तिन् (पूर्ववर्ती 'प्रग्रह')—इन दोनों के बाद में स्थित 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है। उदाहरण—"दृढे स्थशिथिरे समीची"—यहाँ पर 'स्थः' निमित्त है और 'दृढे' निमित्तिन् है। निमित्तिन् (दृढे) और निमित्त (स्थः)—इन दोनों के बाद में स्थित 'शिथिरे' पद का एकार प्रस्तुत सूत्र (४।४७) से 'प्रग्रह' होता है। प्रत्युदाहरण—"वृषणौ स्थ उर्वशी"—यहाँ 'उर्वशी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि इसके पूर्व में केवल निमित्त (स्थः) है, निमित्तिन् (पूर्ववर्ती 'प्रग्रह' पद) नहीं है। ४।४७ में 'उभयोः' पद का ग्रहण न करके केवल 'परश्च' का ग्रहण किया जाता तो प्रकृत स्थल में 'उर्वशी' का ईकार 'प्रग्रह' हो जाता। इस प्रकार ४।४७ में 'उभयोः' पद का ग्रहण सार्थक है।

यदि उपर्युक्त टि० में उल्लिखित पूर्वपक्षी का यह कथन युक्त हो कि निमित्तिन् के अभाव में निमित्तत्व ही समाप्त हो जाता है तो "वृषणौ स्थ उर्वशी" में स्थित 'स्थ' पद निमित्त नहीं है और तब उसके बाद में विद्यमान 'उर्वशी' पद के ईकार के 'प्रग्रह' होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि निमित्त के बाद में स्थित ही पद के 'स्वर' के 'प्रग्रह' होने का विधान प्रस्तुत सूत्र (४।४७) में किया गया है। अत एव "वृषणौ स्थ उर्वशी" में 'उर्वशी' के ईकार के 'प्रग्रह' के निवारण के लिए ४।४७ में 'उभयोः' पद का ग्रहण अनावश्यक है। अत एव ४।४७ में 'उभयोः' पद अनर्थक है। 'उभयोः' पद की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए यह मानना

---

(१) ब्रा० १।७।१ (२) ब्रा० ३।८।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थःपरः ॥ ४६ ॥

मा०—स्थ इत्येवंपर ईकार एकारो वा प्रग्रहो भवति पदान्तः । यथा—"विष्णोः श्न्यप्त्रे स्थः"[१] ॥ ४६ ॥

त्रि०—स्थः इत्येवंपरः ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—"विष्णोः श्न्यप्त्रे स्थः"[१] । विसर्गेण किम् ? "लोके स्थ युष्माꣳस्तेऽनु"[२] ॥ ४६ ॥

दोष नहीं है । अर्थ-भेद की कल्पना करने पर शब्दों की पर्यायता समाप्त हो जायेगी—अब बस कीजिए[क] ॥ ४५ ॥

सू० अ०—स्थः बाद में होने पर (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है) ।

त्रि०—स्थः—यह; परः=बाद में होने पर; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"विष्णोः श्न्यप्त्रे स्थः"[ख] । (स्थः में स्थित) विसर्ग से क्या लाभ है ? "लोके स्थ युष्माꣳस्तेऽनु"[ग] ॥ ४६ ॥

पड़ेगा कि उपर्युक्त टि० में उल्लिखित पूर्वपक्षी का यह मत युक्त नहीं है कि निमित्तिन् के अभाव में निमित्तत्व ही समाप्त हो जाता है ।

(क) सिद्धान्ती—जिस प्रकार ४।४७ में यह विधान किया गया है कि पूर्वसूत्रोक्त निमित्त और निमित्तिन् के बाद में स्थित 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र (४।४५) में भी यह विधान किया गया है कि पूर्वसूत्रोक्त निमित्त और निमित्तिन् के बाद में स्थित 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है ।

पूर्वपक्षी—यह युक्त नहीं है । ४।४५ में प्रयुक्त 'द्वयोः' शब्द के स्थान पर ४।४७ में 'उभयोः' शब्द का प्रयोग किया गया है । दूसरे शब्द का यह प्रयोग सूचित करता है कि दोनों सूत्रों के अर्थ में अन्तर है ।

सिद्धान्ती—'द्वयोः' और 'उभयोः' पर्यायवाची शब्द हैं । यदि समानार्थक शब्दों के प्रयोग में इस प्रकार अर्थ-भेद की कल्पना की जाये तो पर्यायवाची शब्दों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाये । जिस प्रकार "पर्णमयेन स्रुवेण जुहोति" और "षट्पालाशाः" में एक ही अर्थ के लिए 'पर्णमय' और 'पालाश' शब्दों का प्रयोग होने पर भी कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार ४।४५ और ४।४७ में एक ही अर्थ के लिए 'द्वयोः' और 'उभयोः' शब्दों का प्रयोग होने पर भी कोई दोष नहीं है ।

(ख) विष्णोः । श्न्यप्त्रे इति । स्थः ॥ पा० पा०

(ग) ये । एतस्मिन् । लोके । स्थ । युष्मान् । ते । अन्विति । प० पा०
'लोके' का एकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके बाद विसर्गयुक्त 'स्थः' पद नहीं, अपितु 'स्थ' है ।

---

(१) १।२।१३ (२) ३।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—स्थश्शब्दे परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "विशो यन्त्रे स्थः"[१]। "यज्ञस्य पदे स्थः"[२]। एवंपर इति किम्? "य एतस्मिन् लोके स्थ"[३] ॥ ४६ ॥

परश्चोभयोः ॥ ४७ ॥

मा०—उभयोरेतयोः प्रग्रहस्थयोरन्वादेशः क्रियते। प्रग्रहस्थशब्दाच्च पर ईकार एकारो वा पदान्तः स च प्रग्रहो भवति। यथा—"शिल्पे स्थस्ते वामा रभे"[४]। उभयोरिति किम्? "वृषणौ स्थ उर्वश्यसि"[५]। "परश्च द्वयोः" "परश्चोभयोः" इति एतयोर्विषयभेद-प्रदर्शनार्थमुभयग्रहणम्। पूर्वसूत्रेणोद्भावितयोर्निमित्तनिमित्तिनोरनन्तरः प्रग्रहो भवत्यनेन इति विषयभेदः। अत एव तयोर्विभागः क्रियते ॥ ४७ ॥

त्रि०—चकारान्वादिष्टयोः पूर्वसूत्रोक्तनिमित्तनिमित्तिनोः उभयोः परः ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"शिल्पे स्थस्ते वामा रभे ते"[४]। "दृढे स्थश्शिथिरे समीची"[६]। उभयोरिति किम्? "वृषणौ स्थ उर्वशी"[५]। "परश्च द्वयोः"[७] इतिवत् द्वयो-

---

वै० – स्थः शब्द; परः = बाद में होने पर; अधिकृत पदान्त वर्ण 'प्रग्रह' होता है। "विशो यन्त्रे स्थः"। "यज्ञस्य पदे स्थः"क। यह (स्थः) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "य एतस्मिन् लोके स्थ"। ॥ ४६ ॥

सू० अ०—(पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गए निमित्त और निमित्तिन्) दोनों के बाद वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ० –उभयोः = चकार के द्वारा अन्वादिष्ट पूर्व सूत्र में कहे गए निमित्त (स्थः) तथा निमित्तिन् (पदान्त एकार) इन दोनों के; परः = बाद वाला; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"शिल्पे स्थस्ते वामा रभे ते"ख। "दृढे स्थश्शिथिरे समीची"ख। उभयोः—यह क्यों (कहा)? "वृषणौ स्थ उर्वशी"ग।

(क) विशः। यन्त्रे इति। स्थः॥ प० पा०
यज्ञस्य। पदे इति। स्थः॥ प० पा०

(ख) शिल्पे इति। स्थः। ते इति। वाम्। एति। रभे। ते इति॥ प० पा०
दृढे इति। स्थः। शिथिरे इति। समीची इति॥ प० पा०
एकार (निमित्तिन्) के बाद में स्थित 'स्थः' (निमित्त) के बाद वाले 'ते' तथा 'शिथिरे' के एकार 'प्रग्रह' हैं।

(ग) वृषणौ। स्थः। उर्वशी॥ प० पा०
यहाँ निमित्त 'स्थः' तो वर्तमान है, किन्तु उसके पूर्व में निमित्तिन् पदान्त एकार न होकर औकार है। अतः 'उर्वशी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है। निमित्तिन्

---

(१) १।१।११ (२) ५।१।६ (३) ३।२।५ (४) १।२।२
(५) १।३।७ (६) ३।२।४ (७) ४।४५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिति वाच्ये उभयोरिति शब्दान्तरप्रयोगोऽर्थान्तरज्ञापकः। निमित्तसहितयोः पूर्वसूत्रोक्तयोर्निमित्तयोः परः प्रग्रहो भवतीति, "परश्च द्वयोः"[1] इति सूत्रार्थः। अत्र तु सूत्रे निमित्तनिमित्तिनोरुभयोः परः प्रग्रहः स्यादिति विषयभेदो विज्ञेयः ॥ ४७ ॥

वै०—व्याख्यातमेतत्पूर्वतरेण सूत्रेण। उदाहरणं तु—"ऋक्सामयोश्शिल्पे स्थस्ते वाम्"[2]। "दृढे स्थश्शिथिरे समीची"[3]। उभयोरिति किम्? "वृषणौ स्थ उर्वश्यसि"[4] ॥ ४७ ॥

"परश्च द्वयोः" के समान 'द्वयोः'—यह कहने के स्थान पर 'उभयोः'—इस अन्य शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ का बोधक है। निमित्तिन् (एते) के सहित पूर्व सूत्र में कहे गए निमित्तों (पत् तथा इष्टक्) के बाद वाला (ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है—यह "परश्च द्वयोः"—इस सूत्र का अर्थ है। किन्तु यहाँ (प्रस्तुत) सूत्र में निमित्त (स्थः) तथा निमित्तिन् (पदान्त एकार) दोनों[क]—के बाद वाला 'प्रग्रह' होता है—यह विषय-भेद जानना चाहिए[ख] ॥ ४७ ॥

वै० अ०—यह (सूत्र) पूर्वतर सूत्र (४।४५) (की व्याख्या) से स्पष्ट कर दिया गया है। उदाहरण तो (ये है)—"ऋक्सामयोश्शिल्पे स्थस्ते वाम्"। "दृढे स्थश्शिथिरे समीची"[ग]। दोनों का—यह क्यों (कहा)? "वृषणौ स्थ उर्वश्यसि"[घ] ॥ ४७ ॥

(पदान्त एकार) तथा निमित्त (स्थः) दोनों साथ वर्तमान हों तभी उनके बाद वाला ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है।

(क) वास्तव में क्रम यह है—निमित्तिन् (पदान्त एकार) और निमित्त (स्थः) के बाद वाला 'प्रग्रह' होता है। किन्तु भाष्य में निमित्त को पहले रख दिया गया है, क्योंकि 'निमित्त' में थोड़े 'स्वर' हैं। दे० पा० "अल्पाऽच्—तरम्" २।२।३४। जिस पद में अन्य पदों की अपेक्षा थोड़े 'स्वर' हों, 'द्वन्द्व' में उसका पहले प्रयोग हो।

(ख) भाष्यकार का तात्पर्य यह है—(१) ४।४५ में प्रयुक्त द्वयोः (दो का) = (पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त) दो निमित्तों (पत् और इष्टक्) का। यह व्याख्यान से ज्ञात होता है कि उन दो निमित्तों (पत् और इष्टक्) के पूर्व में निमित्तिन् (एते) का होना भी अनिवार्य है; (२) प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'उभयोः' (दोनों का) = (पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त) निमित्त (स्थः) और निमित्तिन् (पदान्त एकार) का।

(ग) ऋक्सामयोरित्यृक्—सामयोः। शिल्पे इति। स्थः। ते इति। वाम् ॥ प० पा०

(घ) वृषणौ। स्थः। उर्वशी। असि ॥ प० पा०

'उर्वशी' का ईकार 'प्रग्रह' नहीं है, क्योंकि इसके पहले दोनों (निमित्तिन् और निमित्त नहीं हैं, केवल निमित्त (स्थः) है।

---

(१) ४।४५ (२) १।२।२ (३) ३।२।४ (४) १।३।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोमाय स्वैतस्मिन् ॥ ४८ ॥

मा०—"सोमाय स्वराज्ञे"[१] इत्येतस्मिन्नुवाके यत्पदमीकारान्तं एकारान्तं वा प्रग्रहं भवति । यथा—"सीरवाहावबी द्वे"[१] । "वारूणी कृष्णे वशे"[१] । सोमाय स्वेति किमर्थम् ? "सोमाय पितृमते"[२] इत्यत्र मा भूदिति । यथा—"अभिवान्यायै दुग्धे मन्थम्"[३] ॥४८॥

त्रि०—"सोमाय स्वराज्ञे"[१] इत्येतस्मिन्नुवाके ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—"अवी द्वे धेनू भौमी"[१] इत्यादि । स्वेति किम् ? "सोमाय पितृमते"[२] । इत्यत्र मा भूदिति ॥ ४८ ॥

वै०—"सोमाय स्वराज्ञे"[१] इत्येतस्मिन् अनुवाके अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । "अवी"[१] । "वडवे"[१] । "वैराजी"[१] । इत्यादि । स्वग्रहणं किम् ? "सोमाय पितृमते"[२] इत्यस्य व्यावृत्त्यर्थम् ॥ ४८ ॥

द्वे ॥ ४९ ॥

मा०—द्वे इत्येतत्पदं प्रग्रहं भवति । यथा—"द्वे यजेत"[४] । "द्वे नश्येताम्"[४] इति ॥ ४९ ॥

सू० अ०—सोमाय स्व—इस (अनुवाक) में (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है) ।

त्रि० अ०—"सोमाय स्वराज्ञे"—एतस्मिन्=इस, अनुवाक में; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है । जैसे—"अवी द्वे धेनू भौमी" इत्यादि[क] । सु—यह क्यों (कहा) ? "सोमाय पितृमते"—यहाँ न हो जाये[ख] ॥ ४८ ॥

वै० अ०—"सोमाय स्वराज्ञे"—एतस्मिन्=इस अनुवाक में; अधिकृत पदान्त वर्ण 'प्रग्रह' होता है । "अवी", "वडवे", "वैराजी" इत्यादि । (सूत्र में) 'स्व' का ग्रहण क्यों (किया गया है) ? "सोमाय पितृमते"—इस (अनुवाक) की व्यावृत्ति के लिए ॥ ४८ ॥

सू० अ०—द्वे (का अन्तिम 'स्वर' 'प्रग्रह' होता है) ।

(क) अवी इति । द्वे इति । धेनू इति । भौमी इति ॥ प० पा०

यह उदाहरण 'सोमाय स्व' (५।६।२१)—इस अनुवाक का है, अतः 'अवी', 'द्वे' तथा 'भौमी' का अन्तिम ईकार तथा एकार 'प्रग्रह' हैं ।

(ख) सूत्र में 'सोमाय' के बाद 'सु' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इससे "सोमाय पितृमत" (१।८।५) इस अनुवाक की आशंका न हो जाये । यदि 'सु'

---

(१) ५।६।२१ (२) १।८।५ (३) २।५।५ (४) २।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—द्वे इत्यन्त्यस्वरः सर्वत्र प्रग्रहो भवति। यथा—"द्वेद्वे सं भरति"[१]। "यद्द्वे नश्येताम्"[२] ॥ ४९ ॥

वै०—द्वे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "न द्वे यजेत"[३] ॥ ४९ ॥

परश्च ॥ ५० ॥

मा०—द्वे इत्येतस्मात्पदाद्यः पर ईकार एकारो वा पदान्तः स च प्रग्रहो भवति। यथा—"द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे"[४] ॥ ५० ॥

त्रि०—चकारो द्वे इत्यन्वादिशति। द्वे इत्येतस्मात् परः ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे मूर्धन्वतीः"[४] ॥ ५० ॥

वै०—चशब्दान्वादिष्टात् द्वेशब्दात्परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे"[४]। "द्वे उत्तरे द्विपदः"[५] ॥ ५० ॥

त्रि० अ०—द्वे—इसका अन्तिम 'स्वर' (एकार) सर्वत्र 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"द्वेद्वे सं भरति"। "यद्द्वे नश्येताम्"[क] ॥ ४९ ॥

वै० अ०—द्वे—यहाँ पर अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' होता है। "न द्वे यजेत"[ख] ॥ ४९ ॥

सू० अ०—('द्वे' के) बाद वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—(च =) चकार; (पूर्व सूत्र से) 'द्वे' का अन्वादेश करता है। द्वे—इससे; परः = बाद वाला; पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे मूर्धन्वती"[ग] ॥ ५० ॥

वै० अ०—च शब्द से अन्वादिष्ट 'द्वे' शब्द से; परः = बाद वाला; अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है। "द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे"[ग]। "द्वे उत्तरे द्विपदः"[घ] ॥ ५० ॥

का प्रयोग न किया जाता तो "सोमाय पितृमत" इस अनुवाक में भी पदान्त ईकार अथवा एकार को प्रग्रहत्व की प्राप्ति हो जाती।

(क) द्वेद्वे इति द्वे–द्वे। समिति। भरति ॥ प० पा०
यत्। द्वे इति। नश्येताम् ॥ प० पा०

(ख) न। द्वे इति। यजेत ॥ प० पा०

(ग) द्वे इति। शुक्ले इति। द्वे इति। कृष्णे इति ॥ प० पा०

(घ) द्वे इति। उत्तरे इत्युत्—तरे। द्विपद इति द्वि—पदः ॥ प० पा०

---

(१) १।६।८ (२) २।६।३ (३) २।५।५
(४) ५।३।१ (५) ६।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकव्यवेतोऽपि ॥ ५१ ॥

मा०—एकेनापि पदेन व्यवेतः द्वे इत्येतस्मात्परः पदान्त ईकार एकारो वा प्रग्रहो भवति। यथा—"द्वे वाव देवसत्रे"[1]। एवमारभ्यमाणे अल्पाक्षरं सूत्रं भवति। उक्तं शाखान्तरे—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं साग्वद्विश्वतोमुखम्।
निर्दोषं हेतुयुक्तार्थं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

इति। अत्रोच्यते—एकशब्दं प्रत्याख्याय व्यवेतोऽपि इत्येवमारभ्यमाणे अविशेषविधानादनेकेनापि पदेन व्यवहितं प्रग्रहं भवति। तन्मा भूदिति एवमारभ्यते—एकव्यवेतोऽपीति ॥ ५१ ॥

त्रि०—एकव्यवेतोऽपि द्वे इत्येतस्मात् पर ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"द्वे ह्येते देवते"[2]। "द्वे वाव देवसत्रे"[1]। एकेन पदेन व्यवेतः एकव्यवेतः। अपिशब्दो द्वे इत्यन्वादिशति, मण्डूकप्लुतिन्यायेन ॥ ५१ ॥

वै०—अपिशब्देन द्वे इत्यन्वादिश्यते। द्वेशब्दादेकव्यवेतः परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति। "द्वे वा एते विराजौ"।[3] "तस्माद्द्वे सवने शुक्रवती"।[4] अत्र परौ चेत्ये-

---

सू० अ०—एक (पद) से व्यवहित होने पर भी ('द्वे' से बाद वाला पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—एकव्यवेतोऽपि=एक (पद) से व्यवहित होने पर भी; द्वे—इससे बाद वाला पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है। जैसे—"द्वे ह्येते देवते"। "द्वे वाव देवसत्रे"[क]। एक पद से व्यवेत=एकव्यवेत। मण्डूकप्लुतिन्याय से (सूत्र में प्रयुक्त) 'अपि' शब्द 'द्वे'—का अन्वादेश करता है ॥ ५१ ॥

वै० अ०—अपि शब्द से 'द्वे' का अन्वादेश (अनुवृत्ति) होता है। 'द्वे' शब्द से, एकव्यवेतः = एक (पद) से व्यवहित; परवर्ती अधिकृत पदान्त वर्ण (ईकार अथवा एकार) 'प्रग्रह' होता है। "द्वे वा एते विराजौ"[ख]। "तस्माद्द्वे सवने शुक्रवती"। यहाँ पर "परवर्ती दो"—इस प्रकार एक विधि में कार्य हो सकने पर "एक (पद) से व्यवहित होने पर भी"—यह जो व्यवाय के निर्देश से सम्बद्ध पृथक् विधि निर्मित की गई है वह सावग्रह पद के पूर्व-पद (अवग्रह) के अव्यवायित्व को

(क) द्वे इति। हि। एते इति। देवते इति॥ प० पा०
द्वे इति। वाव। देवसत्रे इति देव—सत्रे ॥ प० पा०

(ख) तस्मात्। द्वे इति। सवने इति। शुक्रवती इति शुक्र—वती ॥ प० पा०

---

(१) ७।४।५ (२) २।१।६ (३) ७।३।९ (४) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस्मिन् विधौ शक्ये एकव्यवेतोपीति व्यवायनिर्देशसंयुक्तपृथग्विधिकरणमवग्रहस्याव्यवायित्व-प्रकटनार्थम् तेन द्वितीयोदाहरणमप्युपपन्नं भवति ॥ ५१ ॥

गमयतो भवतोऽनूकारात्परं तनूयदकरो-
त्कुर्यादिष्टिष्वब्रूतां प्रवर्तास्ता स्तभ्नीतां
वाचयति बिभृतस्ताग्नि गायत्रं ताभ्या-
मेवोभाभ्यामवान्तरं पर आषष्ठात् ॥ ५२ ॥

मा०—गमयतः, भवतः इत्येतत् न चेदूकारात्परम्; तनूयत्, अकरोत्, कुर्यात् इत्येतदिष्टिषु; इष्टिर्नाम् दशमादयस्त्रयः प्रश्नाः उत्तमानुवाकादर्वाक्; अब्रूताम् प्रवर्त,

---

प्रकट करने के लिए की गई है। इससे द्वितीय उदाहरण भी उपपन्न हो जाता है[क] ॥ ५१ ॥

सू० अ०—'गमयतः', ऊकार से अतिरिक्त वर्ण से बाद में विद्यमान 'भवतः'

(क) पूर्वपक्षी—४।५० और ४।५१ के विधान से यह ज्ञात होता है कि 'द्वे' से परवर्ती दो पदों के अन्तिम 'स्वर' भी 'प्रग्रह' होते हैं। यह कार्य तो तब भी सिद्ध हो जाता, यदि एक ही सूत्र (परौ च = परवर्ती दो) का निर्माण कर दिया जाता। एक सूत्र के द्वारा कार्य का विधान सम्भव होने पर सूत्रकार ने दो सूत्रों का निर्माण क्यों किया ?

सिद्धान्ती—एक सूत्र के स्थान पर जो दो सूत्रों का निर्माण किया गया है वह सोद्देश्य है। इस उदाहरण को देखा जाये—

तस्माद् द्वे सवने शुक्रवती ॥ सं० पा०

तस्मात्। द्वे इति। सवने इति। शुक्रवती इति शुक्र—वती ॥ प० पा०

यदि यह विधान किया जाता कि 'द्वे' से परवर्ती दो पद 'प्रग्रह' होते हैं तो 'शुक्रवती' (शुक्र—वती) का ईकार 'प्रग्रह' न होता, क्योंकि 'द्वे' से परवर्ती दो पद—'सवने' और 'शुक्र' हैं। सावग्रह पद का पूर्व-पद १।४८ से स्वतन्त्र पद माना जाता है। किन्तु 'शुक्रवती' (शुक्र—वती) का ईकार वास्तव में 'प्रग्रह' है। इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने एक सूत्र के स्थान पर दो सूत्रों का निर्माण किया है। ४।५१ में उन्होंने 'व्यवेत' शब्द का प्रयोग किया है। सूत्रकार ने 'व्यवेत' शब्द से सम्बद्ध पृथक् सूत्र (४।४७) का निर्माण यह बतलाने के लिए किया है कि 'प्रग्रह' के प्रसङ्ग में सावग्रह पद के पूर्व-पद को व्यवधान नहीं माना जाता है—उसे अविद्यमानवत् माना जाता है। ऐसा मानने पर शुक्रवती (शुक्र—वती) का पूर्व-पद अविद्यमानवत् हो गया और 'शुक्रवती' का ईकार 'प्रग्रह' हो जाता है क्योंकि 'द्वे' और 'शुक्रवती' के मध्य में एक पद (सवने) का व्यवधान है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्ताम्, स्तभ्नीताम्, वाचयति, बिभृतस्त, अग्निं गायत्रम्, ताभ्यामेव, उभाभ्याम्, अवान्तरम्, इत्येतेषु पदेषु परेषु षाष्ठात् पदात् पूर्वो वर्तमान ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। यथा—"एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः"[१]। "उत्तरावती भवतः"[२]। नोकारात्पर-मिति किम्? "दीक्षन्तेऽन्तनामानावृतू भवतः"[३] "महायज्ञस्यान्त्ये तनू यत्"[४]। तनूयदिति किम्? "परिपतये त्वा गृह्णामि तनूनप्त्रे त्वा"[५]। "शक्वरी याज्यानुवाक्ये अकरोत्"[६]। "मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्"[७]। इष्टिष्विति किम्? "दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्"[८]। "ते अब्रूतां द्यावापृथिवी"[९]। "हविर्द्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः"[१०]। प्रवर्त्त इति किम्? "तेऽदित्याँ समध्रियन्त त्वया प्र जानाम"[११]। "इमे वै सहास्ताम्"[१२]। "अव्यथ-यन्ती स्तभ्नीताम्"[१३]। "औदुम्बरी वाचयति"[१४]। "ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्त-स्मात्"[१५]। बिभृतस्तेति किम्? "मन्महे यावात्मन्वद बिभृतः"[१६]। "अग्निं गाय-त्रम्"[१७]। अग्निं गायत्रमिति किम्? "सधस्थेऽग्निम्"[१८]। "अञ्जसायनी स्रुती ताभ्या-मेव"[१९]। ताभ्यामेवेति किम्? अपहूँस्यग्ने। ताभ्यां पूतेम"[२०]। "अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"[२१]। "आहुर्यं अवान्तरम्"[२२]। अवान्तरमिति किम्? "आप्यायस्व सं तेऽव ते"[२३] ॥ ५२ ॥

त्रि०—गमयतः भवतः अनूकारात्=ऊकारव्यतिरिक्तवर्णात्; परम् भवतः इति पदम्। नञो यद्यप्यभावो मुख्योऽर्थः, तथाऽपि तदन्यार्थता स्वीकृता, लक्ष्यानुसारात्। तन

(पद), 'तनू यत्', 'अकरोत्', इष्टि (संज्ञक प्रश्नों) में विद्यमान 'कुर्यात्', 'अब्रू-ताम्', 'प्रवर्त', 'आस्ताम्', 'स्तभ्नीताम्', 'वाचयति', 'बिभृतस्त', 'अग्निं गायत्रम्', 'ताभ्यामेव', 'उभाभ्याम्' और 'अवान्तरम्—ये बाद में होने पर (पूर्व में) छठें (पद) तक (वर्तमान पदान्त ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है)।

त्रि० अ०—गमयतः, भवतः, अनूकारात्=ऊकार से व्यतिरिक्त वर्ण से; परम्=परवर्ती; भवतः—यह पद। यद्यपि नञ् (अन्) का मुख्य अर्थ अभाव है, तथापि लक्ष्य के अनुसार उस (नञ्) का दूसरा अर्थ स्वीकार किया गया है[क]।

(क) तात्पर्य यह है कि नञ् (अन्) का प्रयोग यहाँ अभाव (निषेध) को प्रतिपादित करने के लिए नहीं हुआ है। ऊकार के अभाव का प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है। सूत्रकार यह बतलाना चाहते हैं कि ऊकार से अतिरिक्त अन्य वर्ण के बाद में विद्यमान 'भवतः' पद से पूर्ववर्ती ईकार अथवा एकार 'प्रग्रह' होता है।

---

(१) २।१।४ (२) ५।४।८ (३) ७।४।८ (४) २।२।७
(५) १।२।१० (६) २।२।८ (७) २।२।१० (८) २।५।५
(९) २।५।२ (१०) ३।१।३ (११) ६।१।५ (१२) ३।४।३
(१३) ४।४।२ (१४) ५।१।१० (१५) ५।६।८ (१६) ४।७।१५
(१७) ६।३।५ (१८) ४।१।३ (१९) ७।२।१ (२०) ४।७।१३
(२१) ७।४।४ (२२) ७।५।७ (२३) २।५।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत् अकरोत्; कुर्यादिष्टिषु = कुर्यादिति पदमिष्टिषु। इष्टयो नाम दशमादयस्त्रयः प्रश्ना उत्तमानुवाकरहिताः। अब्रूताम् प्रवर्त आस्ताम् स्तभ्नीताम् वाचयति बिभृतस्त अग्निं गायत्रम् ताभ्यामेव उभाभ्याम् अवान्तरम् इत्येवंपरः आषष्ठात् पदात् पूर्वो वर्तमान ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति। अभिविधावथमाकारः। तेन सहेत्थमभिविधिः। यथा—"ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः"[१]। "उत्तरावती भवतः"[२]। अनूकारा परमिति किम्? "दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत् भवतः"[३]। "एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यत्"[४]। यदिति किम्? "परिपतये त्वा गृह्णामि तनूनप्त्रे त्वा गृह्णामि"[५]। "बुध्नवती अग्रवती

तनू यत्, अकरोत्, कुर्यादिष्टिषु = इष्टियों में 'कुर्यात्' यह पद। दशम (प्रश्न) से प्रारम्भ करके अन्तिम अनुवाकों को छोड़कर तीन प्रश्न इष्टियाँ हैं[क]। अब्रूताम्, प्रवर्त, आस्ताम्, स्तभ्नीताम्, वाचयति, बिभृतस्त अग्निं गायत्रम्, ताभ्यामेव, उभाभ्याम्, अवान्तरम्—ये; परः = बाद में होने पर; आषष्ठात्=छठें पद तक; पूर्व वाला ईकार अथवा एकार पदान्त होने पर 'प्रग्रह' होता है। यह आकार अभिविधि में है। उसके साथ—यह अभिविधि है[ख]। जैसे—"ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः"[ग]। "उत्तरावती भवतः"[घ]। ऊकार से अतिरिक्त वर्ण से परवर्ती—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत् भवतः"[ङ]। "एते वै महायज्ञस्यान्त्ये

(क) तै० सं० के अधोलिखित स्थल 'इष्टि' कहलाते हैं—

(१) दशम प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर = २।२।१–११

(२) एकादश प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर = २।३।१–१३

(३) द्वादश प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर = २।४।१–१३

ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त अन्तिम अनुवाक (२।२।१२, २।३।१४, २।४।१४) 'याज्या' कहलाते हैं।

(ख) 'अभिविधि' कहने का यह तात्पर्य है कि छठा पद भी 'अवधि' से अन्तर्गत है।

(ग) ते इति। एव। एनम्। प्रतिष्ठामिति प्रति-स्थाम्। गमयतः॥ प० पा०

'गमयतः' पद के कारण 'ते' पद का एकार 'प्रग्रह' हो गया है।

(घ) उत्तरावती इत्युत्तरा—वती। भवतः॥ प० पा०

'भवतः' के कारण 'उत्तरावती' का ईकार 'प्रग्रह' हो गया है।

(ङ) दीक्षन्ते। अन्तनामानावित्यन्त—नामानौ। ऋत् इति। भवतः॥ प० पा०

'दीक्षन्ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'भवतः' के पूर्व में ऊकार है।

---

(१) २।१।४ (२) ५।४।८ (३) ७।४।८
(४) २।२।७ (५) १।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याज्यानुवाक्ये अकरोत्"[१]। "मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्"[२]। इष्टिष्विति किम्? "अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्"[३]। "ते अब्रूतां वरं वृणावहै"[४]। हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः"[५]। वर्तेति किम्? "तेऽदित्याः समग्रियन्त त्वया प्र जानाम"[६]। इमे वै सहा-

---

तनु यत्"[क]। यत्—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "परिपतये त्वा गृह्णामि तनूनप्त्रे त्वा गृह्णामि"[ख]। "बुध्नवती अग्रवती याज्यानुवाक्ये अकरोत्"[ग]। "मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्"[घ]। इष्टियों में—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्"[ङ]। "ते अब्रूतां वरं वृणावहै"[च]। "हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः"[छ]। वर्त—यह

(क) एते इति। वै। महायज्ञस्येति महा—यज्ञस्य। अन्त्ये इति। तनू इति। यत् ॥ प० पा०

'तनू यत्' के कारण 'एते' तथा 'अन्त्ये के एकार 'प्रग्रह' हो गये हैं।

(ख) परिपतये इति परि-पतये। त्वा। गृह्णामि। तनूनप्त्र इति तनू—नप्त्रे। त्वा। गृह्णामि ॥ प० पा०

'परिपतवे' का एकार 'प्रग्रह' नही हुआ है, क्योंकि 'तनू' के बाद में 'यत्' नहीं है।

(ग) बुध्नवती इति बुध्न—वती। अग्रवती इत्यग्र—वती। याज्यानुक्ये इति याज्या—अनुवाक्ये। अकरोत् ॥ प० पा०

'अकरोत्' के कारण 'बुध्नवती' और 'अग्रवती' के ईकार तथा 'याज्यानुवाक्ये' का एकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(घ) मानवी इति। ऋचौ। धाय्ये इति। कुर्यात् ॥ प० पा०

'कुर्यात्' के कारण 'मानवी' का ईकार तथा 'धाय्ये' का एकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(ङ) अग्नये। दात्रे। पुरोडाशम्। अष्टाकपालमित्यष्टा—कपालम्। कुर्यात् ॥ प० पा०

'कुर्यात्' के कारण 'अग्नये' और 'दात्रे' के एकार 'प्रग्रह' नहीं हुए हैं क्योंकि यह उदाहरण तै० सं० के 'इष्टि' संज्ञक अंश का नहीं है।

(च) ते इति। अब्रूताम्। वरम्। वृणावहै ॥ प० पा०

'अब्रूताम्' के कारण 'ते' का एकार 'प्रग्रह' हो गया है।

(छ) हविर्धाने इति हविः—धाने। प्राची इति। प्रवर्तयेयुरिति प्र—वर्तयेयुः ॥ प० पा०

'प्रवर्त' के कारण 'हविर्धाने' का एकार तथा 'प्राची' का ईकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

---

(१) २।२।८ (२) २।२।१० (३) २।५।५
(४) २।५।२ (५) ३।१।३ (६) ६।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्ताम्"[१]। "वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथयन्ती स्तभ्नीताम्"[२]। "उत्तमे औदुम्बरी वाचयति"[३]। "ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्तस्मात्"[४]। तेति किम्? "मन्महे यावात्मन्वद्बिभृतो यौ च रक्षतः"[५]। "एते दधाते ये अग्निं गायत्रम्"[६]। गायत्रमिति किम्? "सधस्थेऽग्निं पुरीष्यम्"[७]। "एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्तुती ताभ्यामेव"[८]। अत्र पदद्वय-

---

क्यों (कहा)? (उत्तर) "तेऽदित्याꣳसमध्रियन्त त्वया प्र जानाम"[क]। "इमे वै सहास्ताम्"[ख]। "वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथयन्ती स्तभ्नीताम्"[ग]। "तत्तमे औदुम्बरी वाचयति"[घ]। "ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्तस्मात्"[ङ]। 'त'—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "मन्महे यावात्मन्वद्बिभृतो यौ च रक्षतः"[च]। "एते दधाते ये अग्निं गायत्रम्"[छ]। गायत्रम्—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "सधस्थेऽग्निं पुरीष्यम्"[ज]।

(क) 'ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'प्र' के बाद 'वर्ता' नहीं है।

(ख) इमे इति। वै। सह। आस्ताम्॥ प० पा०

'आस्ताम्' के कारण 'इमे' का एकार 'प्रग्रह' हो गया है।

(ग) वैश्वदेवाग्निमारुते इति वैश्वदेव—अग्निमारुते। उक्थे इति। अव्यथयन्ती इति। स्तभ्नीताम्॥ प० पा०

'स्तभ्नीताम्' के कारण 'वैश्वदेवाग्निमारुते' तथा 'उक्थे' के एकार तथा 'अव्यथयन्ती' का ईकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(घ) उत्तमे इत्युत्—तमे। औदुम्बरी इति। वाचयति॥ प० पा०

'वाचयति' के कारण 'उत्तमे' का एकार और 'औदुम्बरी' का ईकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(ङ) ते इति। एव। यजमानस्य। बिभृतः। तस्मात्॥ प० पा०

'बिभृतस्त' के कारण 'ते' का एकार 'प्रग्रह' हुआ है।

(च) मन्महे। यौ। आत्मन्वदित्यात्मन्—वत्। बिभृतः। यौ। च। रक्षतः॥ प० पा०

'मन्महे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'बिभृतः' के बाद में 'त' नहीं है।

(छ) एते इति। दधाते इति। ये इति। अग्निम्। गायत्रम्॥ प० पा०

'अग्निं गायत्रम्' के कारण 'एते', 'दधाते' और 'ये' के एकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(ज) सधस्थ इति सध—स्थे। अग्निम्। पुरीष्यम्॥ प० पा०

'सधस्थे' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'अग्निम्' के बाद में 'गायत्रम्' नहीं है।

---

(१) ३।६।३ (२) ४।४।२ (३) ५।१।१० (४) ५।६।८
(५) ४।७।१५ (६) ६।३।५ (७) ४।१।३ (८) ७।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेवं निमित्तमित्येतेपदमुद्दिश्य षाष्ठनियमभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्, नायं प्रसङ्गः। निमित्तैकदेशस्य षष्ठत्वोपपत्तेः सकलस्यापि निमित्तस्य षष्ठत्वमुपपद्यते। लोकेऽप्यवयवधर्मेणावयविनो विशेषसिद्धेः। तथा हि, कर्णे कुण्डलं धारयन्तं कुण्डली देवदत्त इति वदन्ति। एवेति किम्?

"एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्यामेव"क। यहाँ दो पद एक निमित्त हैं—इसलिए 'एते' पद को उद्दिष्ट करके—छठे (पद) तक के नियम के भङ्ग का प्रसङ्ग (उपस्थित हो जाता है)—यदि (कोई यह कहे तो हमारा कहना है कि) यह प्रसङ्ग (उपस्थित नहीं होता है)। निमित्त के एक भाग के विषय में षष्ठत्व (छठे पद तक की सीमा) की उपपत्ति हो जाने से सम्पूर्ण ही निमित्त के विषय में षष्ठत्व (छठे पद तक की सीमा) की उपपत्ति हो जाती है। लोक में भी अवयव के धर्म से अवयवी का वह विशेष (गुण) सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए कर्ण में कुण्डल धारण किए हुए (देवदत्त) के विषय में लोग कहते हैं कि कुण्डल वाला देवदत्त है[ख]। एव—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "अप हꣳस्यग्ने। ताभ्यां

(क) एते इति। वै। यज्ञस्य। अञ्जसायनी इत्यञ्जसा—अयनी। स्रुती इति। ताभ्याम्। एव ॥ ५० पा०

'ताभ्यामेव' के कारण 'एते' का एकार और 'अञ्जसायनी' तथा 'स्रुती' के ईकार 'प्रग्रह' हो गए हैं।

(ख) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र (४।५२) में यह विधान किया गया है कि सूत्र में निर्दिष्ट पदों से लेकर छठे पद पूर्व तक के पदों के ईकार और एकार 'प्रग्रह' होते हैं। इस कसौटी पर इस उदाहरण को कसा जाये—

एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्यामेव ॥ सं० पा०

एते इति। वै। यज्ञस्य। अञ्जसायनी इत्यञ्जसा—अयनी। स्रुती इति। ताभ्याम्। एव ॥ प० पा०

ऊपर टि० (क) में कहा गया है कि 'ताभ्यामेव' के कारण 'एते' का एकार 'प्रग्रह' हुआ है, यह युक्त नहीं है। निमित्तभूत 'एव' तथा 'एते' के मध्य में पाँच अन्य पद हैं। 'एव' से 'एते' पद सातवाँ है। सूत्र में विहित छठे पद तक की सीमा का भङ्ग हो गया है।

सिद्धान्ती—'ताभ्याम्' निमित्त का एक भाग है। 'ताभ्याम्' और 'एते' के मध्य में चार पद हैं। 'ताभ्याम्' से 'एते' छठा पद है। अतः निमित्त के एक भाग के विषय में तो सूत्र में विहित छठे पद तक की सीमा उपपन्न हो जाती है। निमित्त के एक भाग (ताभ्याम्) के विषय में सूत्र में विहित छठे पद तक की उपपत्ति हो जाने पर सम्पूर्ण (ताभ्यामेव) के विषय में छठे पद तक की सीमा को उपपन्न मानना चाहिए। 'ताभ्याम्' से छठा पद 'एते' 'ताभ्यामेव' से भी छठा ही पद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपहꣳस्यग्ने। ताभ्यां पतेम"[1]। ये द्वे अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"[2]। उत्सृज्ये इत्यार्हुर्ये अवान्तरम्"[3]। अन्तरमिति किम्? सं तेऽव ते हेड उदुत्तमम्"[4]। आषष्ठादिति किम्? "पर इत्युत्तरः"[5] इति परिभाषया अनन्तरस्यैव परत्वं स्यात्। तन्मा भूदिति ॥ ५२ ॥

वै०—(गमयतो ··· अवान्तरम् =) गमयतः भवतः इत्यादिशब्दः; आषष्ठात्परः

पतेम"क। "ये द्वे अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"ख। "उत्सृज्ये इत्याहुर्ये अवान्तरम्"ग। अन्तरम्—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "सं तेऽव ते हेड उदुत्तमम्"घ। छठे (पद) तक—यह क्यों (कहा)? "'परवर्ती' इससे परवर्ती (का ग्रहण होता है)" इस परिभाषा से अव्यवहित परवर्ती को ही परवर्ती माना जाता। वह न होवे—इसलिए (सूत्र में 'आषष्ठात्' = छठे पद तक का ग्रहण किया गया है)ङ ॥ ५२ ॥

वै० अ०—(गमयतो ··· अवान्तरम् =) 'गमयतः', 'भवतः' इत्यादि शब्द;

इस तथ्य की पुष्टि भाष्योक्त लौकिक उदाहरण से भी हो जाती है। यद्यपि देवदत्त का कर्ण कुण्डली (कुण्डल) को धारण करने वाला होता है, तथापि यह कहा जाता है कि देवदत्त कुण्डली (कुण्डल को धारण करने वाला) होता है।

(क) अपहꣳसीत्यप—हꣳसि। अग्ने। ताभ्याम्। पतेम ॥ प० पा०

'अग्ने' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'ताभ्याम्' के बाद में 'एव' नहीं है।

(ख) ये इति। द्वे इति। अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे। एव। ते इति। उभाभ्याम् ॥ प० पा०

'उभाभ्याम्' के कारण 'ये', 'द्वे', 'अहोरात्रे' तथा 'ते' के एकार 'प्रग्रह' हुए हैं।

(ग) उत्सृज्ये इत्युत्—सृज्ये। इति। आहुः। ये इति। अवान्तरमित्यव—अन्तरम् ॥ प० पा०

'अवान्तरम्' के कारण 'उत्सृज्ये' और 'ये' के एकार 'प्रग्रह' हुए हैं।

(घ) समिति। ते। अवेति। ते। हेडः। उदिति। उत्तममित्युत्—तमम् ॥ प० पा०

'ते' का एकार 'प्रग्रह' नहीं हुआ है, क्योंकि 'अव' के बाद में 'अन्तरम्' नहीं है।

(ङ) यदि 'छठे (पद) तक' का सूत्र में ग्रहण न होता तो 'गमयतः' इत्यादि से अव्यवहित पूर्ववर्ती पद का ईकार और एकार ही 'प्रग्रह' होता। 'छठे (पद) तक'—यह कहने से 'गमयतः' इत्यादि से पूर्ववर्ती पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे पद तक का ईकार और एकार भी 'प्रग्रह' होता है और यही अभीष्ट है।

---

(१) ४।७।१३ (२) ७।४।४ (३) ७।५।७ (४) २।५।१२ (५) १।३०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयादिषष्ठान्तानां अन्यतमतया परश्चेदधिकृतवर्णः पदान्तः ग्रग्रहो भवति। "ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः"[१]। भवत इत्येतदूकारव्यतिरिक्ताद्वर्णात्परमेव निमित्तम्। "प्रियवती याज्यानुवाक्ये भवतः"[२]। "ते व्युत्ते उपजीवनीये भवतः"[३]। अनूकारात्पमिति किम्? "य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत् भवतः"[४]। तनू यदिति तनूपदं निमित्तं यदिति तस्योपबन्धः। एवं प्रवर्त बिभृतस्त इत्यादावपि पदादधिकशब्द उपबन्धो विज्ञेयः। "एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यत्"[५]। यदिति किम्? "लोके प्रति तिष्ठति तनूनपातं यजति"[६]। "शक्वरी याज्यानुवाक्ये अकरोत्"[७]। कुर्यादिष्टिषु, "प्रजापतिः प्रजा असृजत"[८]। इत्यादयः त्रयः प्रश्नाः काम्येष्टिविधायका इष्टय इत्याख्यायन्ते। तत्रस्थं कुर्यात्पदं निमित्तम्। "मारुति याज्यानुवाक्ये कुर्यात्"[९]। इष्टिष्विति किम्? "अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्"[१०]। "ते वियती अब्रूताम्"[११]। "हविर्धाने प्रवर्तयति"[१२]। वर्तेति किम्? "तेऽग्नये प्रवते"[१३]। "अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्"[१४]। "अव्यथयन्ती स्तभ्नीताम्"[१५]। उत्तमे औदुम्बरी वाचयति"[१६]। ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्तस्मात्"[१७]। स्तोपबन्धेन किम्?

परः=बाद में हों तो; आषष्ठात्=छठे (पद) तक; द्वितीय (पद) से छठे (पद) तक में से किसी के बाद में हो तो; अधिकृत वर्ण, पदान्त होने पर 'ग्रग्रह' होता है। "ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः"। भवतः—यह (पद) ऊकार से अतिरिक्त वर्ण से बाद में होने पर ही निमित्त (होता है)। "प्रियवती याज्यानुवाक्ये भवतः"। "ते व्युत्ते उपजीवनीये भवतः"। ऊकार से अतिरिक्त (वर्ण) से बाद में विद्यमान—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत् भवतः"। 'तनू यत्' में 'तनू' पद निमित्त है, 'यत्' उसका उपबन्ध है। इसी प्रकार 'प्रवर्त', 'बिभृतस्त' इत्यादि में भी एक पद से अधिक शब्द को उपबन्ध जानना चाहिए। "एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यत्"। यत्—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "लोके प्रति तिष्ठति तनूनपातं यजति"। "शक्वरी याज्यानुवाक्ये अकरोत्" कुर्यादिष्टिषु=इष्टियों में 'कुर्यात्'। "प्रजापतिः प्रजा असृजत" इत्यादि काम्य इष्टियों के विधायक तीन प्रश्न 'इष्टियाँ' कहलाते हैं। वहाँ (=इष्टियों में) स्थित 'कुर्यात्' पद निमित्त है। "मारुती याज्यानुवाक्ये कुर्यात्"। इष्टियों में—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्"। "ते वियती अब्रूताम्"। "हविर्धाने प्रवर्तयति'। वर्त—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "तेऽग्नये प्रवते"। "अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्"। "अव्यथयन्ती स्तभ्नीताम्"। "उत्तमे औदुम्बरी वाचयति"। "ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्तस्मात्"। 'स्त'—इस उपबन्ध से क्या (लाभ है)? "विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्बिभृतो यौ च रक्षतः"। "वृषणंह्वते दधाते ये अग्नि

---

(१) २।५।१२ (२) २।६।२ (३) ३।१।९ (४) ७।४।८ (५) २।२।७
(६) २।६।१ (७) २।२।८ (८) २।२।१ (९) २।३।३
(१०) २।५।५ (११) ५।२।३ (१२) ६।२।९ (१३) २।४।१
(१४) ४।३।१० (१५) ४।४।२ (१६) ५।१।१० (१७) ५।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्बिभृतो यौ च रक्षतः"[१]। "वृषणꣳ ह्येते दधाते ये अग्निं गायत्रम्"[२]। गायत्रमिति किम्? "तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निमेतम्"[३]। "एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्यामेव"[४]। एवेति किम्? "अपहꣳस्यग्ने। ताभ्याम्"[५]। "ये द्वे अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"[६]। "ये अवान्तरं यज्ञं भेजाते इति"[७]। अन्तरमिति किम्? "यज्ञेयज्ञे न उदव"[८] ॥ ५२ ॥

न ग्रामी वर्चसी मिथुनी मासे लोके धत्ते ॥ ५३ ॥

मा०—ग्रामी इत्येवमादीनि, पराप्यपि प्रग्रहाणि न भवन्ति। यथा—"ग्राम्येव भवति गणवती याज्यानुवाक्ये भवतः"[९]। "ब्रह्मवर्चस्येव भवत्युभयतो रक्मौ भवतः"[१०]। "अथ मिथुनी भवतः"[११]। "पूर्णमासे प्रायच्छत्तावत्र तान्"[१२]। "लोके प्रतितिष्ठन्तो यन्ति द्वौ षडहौ भवतः"[१३]। "ज्योतिर्धत्ते ज्योतिष्मन्तावस्मा इमौ लोकौ भवतः"[१४] ॥ ५३ ॥

त्रि०—ग्रामी वर्चसी मिथुनी मासे लोके धत्ते, एतेष्वन्त्यस्वरो "गमयतो भवतः"[१५]

गायत्रम्"। गायत्रम्—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निमेतम्"। "एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्रुती ताभ्यामेव"। एव—यह क्यों (कहा)? "अपहꣳस्यग्ने। ताभ्याम्"। "ये द्वे अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"। "ये अवान्तरं यज्ञं भेजाते इति"। अन्तरम्—यह क्यों (कहा)? "यज्ञेयज्ञे न उदव"[क] ॥ ५२ ॥

सू० अ०—ग्रामी, वर्चसी, मिथुनी, मासे, लोके और धत्ते (—इनका अन्तिम 'स्वर' ('प्रग्रह') नहीं (होता है)।

(क) ते इति। व्युत्ते इति वि—उत्ते। उपजीवनीये इत्युप—जीवनीये। भवतः ॥ प० पा०
लोके। प्रतीति। तिष्ठति। तनूनपातमिति तनू—नपातम्। यजति ॥ प० पा०
शक्वरी इति। याज्यानुवाक्ये इति याज्या—अनुवाक्ये ॥ प० पा०
प्रजापतिरिति प्रजा—पतिः। प्रजा इति प्र—जाः। असृजन ॥ प० पा०
मारुती इति। याज्यानुवाक्ये इति याज्या—अनुवाक्ये। कुर्यात् ॥ प० पा०
ते इति वियती इति वि—यती। अब्रूताम् ॥ प० पा०
हविर्धाने इति हविः—धाने। प्रेति। वर्तयति ॥ प० पा०
ते। अग्नये। प्रवत इति प्र—वते ॥ प० पा०
वृषणम्। हि। एते इति। दधाते इति। ये इति। अग्निम्। गायत्रम् ॥ प० पा०
अपहꣳसीत्यप—हꣳसि। अग्ने। ताभ्याम् ॥ प० पा०
ये यति। अवान्तरमित्यव—अन्तरम्। यज्ञम्। भेजाते इति ॥ प० पा०
यज्ञे-यज्ञ इति यज्ञे—यज्ञे। नः। उदिति। अव ॥ प० पा०

---

(१) ४।७।१५ (२) ६।३।५ (३) ४।७।१३ (४) ७।२।१
(५) ४।७।१३ (६) ७।४।४ (७) ७।५।७ (८) ३।१।११
(९) २।३।३ (१०) २।३।२ (११) ६।५।८ (१२) २।५।२
(१३) ७।४।११ (१४) २।६।२ (१५) ४।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिपरोपि प्रग्रहो न भवति । यथा—"ग्राम्येव भवति गणवती याज्यानुवाक्ये भवतः"[1] । "ब्रह्मवर्चस्येव भवत्युभयतो रुक्मौ भवतः"[2] । "अथ मिथुनी भवतः"[3] । "पूर्णमासे प्रायच्छत्तावब्रूताम्"[4] "लोके प्रतितिष्ठन्तो यन्ति द्वौ षडहौ भवतः"[5] । "धत्ते ज्योतिष्मन्तावस्मा इमौ लोकौ भवतः"[6] ॥ ५३ ॥

वै०—पूर्वेण प्राप्तेऽतिप्रसङ्गोऽनेन निवार्यते । (ग्रामी····धत्ते=) ग्रामी वर्चसीत्यादीनामपि; अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो न भवति । "ग्राम्येव भवति प्रियवती याज्यानुवाक्ये भवतः"[7] । "ब्रह्मवर्चस्येव भवत्युभयतो रुक्मौ भवतः"[2] । "अथ मिथुनी भवतः"[3] । एतेषां "भवतोऽनूकारात्परम्"[8] इति प्राप्तिः । "पूर्णमासे प्रायच्छत्तावब्रूताम्"[4] । "लोके प्रतितिष्ठन्तो यन्ति द्वौ षडहौ भवतः"[5] । "ज्योतिर्धत्ते ज्योतिष्मन्तावस्मा इमौ लोकौ भवतः"[6] ॥ ५३ ॥

अते समानपदे नित्यमवे चावे च ॥ ५४ ॥

मा०—अते, अवे इत्येतावेकारौ पदान्तौ पूर्वेण अकारेण सह समानपदस्थौ न प्रग्रहौ

त्रि० अ०—ग्रामी ···धत्ते—इन पदों में अन्तिम स्वर "गमयतः, भवतः"—इत्यादि वाद में होने पर भी, 'प्रग्रह'; न=नहीं; होता है । जैसे···क ॥ ५३ ॥

वै० अ०—पूर्व (सूत्र) से प्राप्त अतिप्रसङ्ग का इस (सूत्र) से निवारण किया जाता है । (ग्रामी ···धत्ते=) ग्रामी, वर्चसी इत्यादि; का अधिकृत पदान्त वर्ण भी 'प्रग्रह'; न=नहीं; होता है ।···॥ ५३ ॥

सू० अ०—एक (समान) पद में (वर्तमान) 'अते' और 'अवे' (का अन्तिम एकार) किसी भी स्थिति में ('प्रग्रह' नहीं होता है) ।

(क) ग्रामी । एव । भवति । गणवती इति गण—वती । याज्यानुवाक्ये इति याज्या—अनुवाक्ये । भवतः ॥ प० पा०

ब्रह्मवर्चसीति ब्रह्म—वर्चसी । एव । भवति । उभयतः । रुक्मौ । भवतः ॥ प० पा०

अथ । मिथुनी । भवतः ॥ प० पा०

पूर्णमास इति पूर्ण—मासे । प्रेति । अयच्छत् । तौ । अब्रूताम् ॥ प० पा०

लोके । प्रतितिष्ठन्त इति प्रति—तिष्ठन्तः । यन्ति । द्वौ । षडहाविति । षट्—अहौ । भवतः ॥ प० पा०

धत्ते । ज्योतिष्मन्तौ । अस्मै । इमौ । लोकौ । भवतः ॥ प० पा०

---

(१) २।३।३ (२) २।३।२ (३) ६।५।८
(४) २।५।२ (५) ७।४।११ (६) २।६।२
(७) २।२।११ (८) ४।५२ (९) २।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवतः। नेतिशब्दोऽन्वादिश्यते। यथा—"अवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो भवतः"[१]। "अनाततायं धृष्णवे। उभाभ्याम्"[२]। समानपद इति किम्? "पुनरभ्यायत ते अग्नूताम्"[३]। नित्यमिति किमर्थम्? लक्षणान्तरप्राप्तयोरपि प्रतिषेधः स्यादिति। यथा—"द्वे जाये विन्दते"[४]। "वनस्पते वीड्वंगो हि"[५]। "मनवे यशस्ये"[६]। "वायव आरोहणवाहौ"[७] ॥ ५४ ॥

त्रि०—निषेधं चकारोऽन्वादिशति। अते अवे इत्यनयोः पदैकदेशयोरन्त्यस्वरः समानपदे वर्तमानो "गमयतो भवतः"[८] इत्यादिपरोपि नित्यं प्रग्रहो न भवति। यथा—"अवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो भवतः"[१]। "अभ्याह्वयते वज्रमेनमभि प्रवर्तयति"[९]। "अनाततायं धृष्णवे। उभाभ्यामुत ते नमः"[२]। समानपद इति किम् "एव ते उभाभ्याम्"[१०]। अत्र नित्यशब्दः प्राप्त्यन्तरपरिहारार्थम् इति सोदाहरणं "उपबन्धस्तु देशाय"[११] इति सूत्रे प्रसङ्गादुक्तम्। समानं च तत् पदं च समानपदं, तस्मिन् समानपदे ॥ ५४ ॥

(अते समानपदे नित्यम्)

वै०—अतेशब्दो यस्समानपदे = एकपदे; वर्तते तत्रस्थोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो न भवति। "प्रजामवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो भवतः"[१]। "दर्शपूर्णमासौ यजते ताभ्यामेव"[१२]।

त्रि० अ०—चकार (पूर्व सूत्र से) निषेध का अन्वादेश करता है। पद के एक अंश के रूप में विद्यमान अते और अवे—इनका अन्तिम स्वर; समानपदे = एक पद में; वर्तमान होने पर; "गमयतः, भवतः" इत्यादि बाद में होने पर भी; नित्यम् = किसी भी स्थिति में; 'प्रग्रह' नहीं होता है। जैसे—"अवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो भवतः"। "अभ्याह्वयते वज्रमेनमभि प्रवर्तयति"। "अनाततायं धृष्णवे उभाभ्यामुत ते नमः"क। एक पद में—यह क्यों (कहा)? "एव ते उभाभ्याम्"ख। यहाँ (= प्रस्तुत सूत्र में) नित्य शब्द दूसरे (सूत्र से) प्राप्ति के परिहार के लिए है—इसे उदाहरण के सहित "उपबन्ध तो (उसी विशिष्ट) देश के लिए (होता है) (और) नित्य (होता है)" इस सूत्र में प्रसङ्ग से कह दिया गया है। जो समान है तथा पद है वह समानपद है, उसमें—समानपदे ॥ ५४ ॥

वै० अ०—जो अते शब्द; समानपदे = एक पद में; वर्तमान होता है उसमें

(क) अवेति। रुन्धते। अतिरात्राविति—रात्रौ। अभितः। भवतः॥ अभ्याह्वयत इत्यभि—आह्वयते। वज्रम्। एनम्। अभि। प्रेति। वर्तयति॥ अनाततायेत्यना—ताय। धृष्णवे। उभाभ्याम्। उत। ते। नमः॥ प० पा०

(ख) एव। ते इति। उभाभ्याम्॥ प० पा०

---

(१) ७।२।६ (२) ४।५।१ (३) २।५।२ (४) ६।६।४
(५) ४।६।६ (६) १।२।१३ (७) ५।६।२१ (८) ४।५२
(९) ३।२।६ (१०) ७।४।४ (११) १।५६ (१२) २।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समानपद इति किम् ? "अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"[१] । (नित्यम्=) नित्यग्रहणाद्विध्यन्तर-प्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते । "वनस्पते वीड्वङ्गो हि"[२] । "द्वे जाये विन्दते"[३] ।

(अवे चावे च)

चशब्दो नित्यं नेत्यन्वादिशति । अवेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो न भवति । "अनाततायं धृष्णवे । उभाभ्याम्"[४] । नित्यग्रहणाद्विध्यन्तरप्राप्तिरपि निवार्यते । "सूयवसिनी मनवे"[५] । "वायव आरोहणवाहौ"[६] ॥ ५४ ॥

स्थित अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' नहीं होता है । "प्रजावरुन्धतेऽतिरात्रा-वभितो भवतः" । "दर्शपूर्णमासौ यजते ताभ्यामेव"[क] । एक पद में—यह क्यों (कहा ?) "अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्"[ख] । (नित्यम्=) नित्य; का ग्रहण करने से दूसरे नियम से प्राप्ति का भी प्रतिषेध किया जाता है । "वनस्पते वीड्वङ्गो हि"[ग] । "द्वे जाये विन्दते"[ग] ।

च शब्द 'नित्य नहीं होता है'—इसका अन्वादेश करता है । अवे शब्द में अधिकृत पदान्त वर्ण (एकार) 'प्रग्रह' नहीं होता है । "अनाततायं धृष्णवे । उभाभ्याम्" । नित्य ग्रहण से दूसरी विधि से प्राप्ति का भी निवारण किया जाता है । "सूयवसिनी मनवे" । "वायव आरोहणवाहौ"[क] ॥ ५४ ॥

(क) प्रजामिति प्र—जाम् । अवेति । रुन्धते । अतिरात्रावित्यति—रात्रौ । अभितः भवतः ॥ दर्शपूर्णमासाविति दर्श-पूर्णमासौ । यजते । ताभ्याम् । एव ॥

(ख) अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे । एव । ते इति । उभाभ्याम् ॥

(ग) वनस्पते । वीड्वङ्ग इति वीडु—अङ्गः । हि ॥ द्वे इति । जाये इति । विन्दते ॥ प० पा०

(क) वैदिकाभरणकार ने 'अवे च' को पृथक् सूत्र के रूप में माना है ।
अनाततायेत्यना—ताय । धृष्णवे । उभाभ्याम् ॥
सूयवसिनी इति सु—यवसिनी । मनवे ॥
वायवे । आरोहणवाहावित्यारोहण—वाहौ ॥ प० पा०

---

(१) ७।४।४ (२) ४।६।६ (३) ६।६।४
(४) ४।५।१ (५) ११।२।१३ ५।६।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ संहितायामेकप्राणभावे ॥ १ ॥

भा०—अथेत्यधिकारः। संहितायामेकप्राणभाव इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः। एकस्य प्राणभावः एकप्राणभावः, यावदेकोच्छ्वासेनोच्चार्यते तावत्संहिताविधिः। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः तदवसाने पदविधिरिति। अत्राह—अथ संहितायामिति अथैकप्राण इति वा उभयारम्भेण किं प्रयोजनम्? अत्रोच्यते—एकप्राणभाव इत्यनारभ्यमाणे संहिताविधिप्रवृत्तस्य पदावसानत्वं नेष्यते। अत्रापि संहितायामित्येवं नारभ्यते पदेष्वप्येकप्राणभाव इत्युपपद्यते। अत्र सन्देह एव स्यात्। तस्मादुभयारम्भः क्रियते। संहितेति कोऽर्थः? "नानापदसन्धानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते"[1]। "परः सन्निकर्षः संहिता"[2] इति वैयाकरणाः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। संहितायामेकप्राणभावे इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। संहितेति कोऽर्थः? नानापदसन्धानसंयोगः"[1] इति सूत्रेणोक्तः संहितार्थः। "परः सन्निकर्षः संहिता"[2] इति वैयाकरणाः पठन्ति। एकसमुत्थः प्राणः एकप्राणः तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन्, इत्यात्रेयमतम्। अन्यथापि समासः सङ्गच्छते, एकप्राणेन भाव्यते जन्यते उच्चार्यते इत्येकप्राणभावः। एकेनोच्छ्वासेन यावानुच्चार्यते वेदभागः, तावान्

सू० अ०—(परवर्ती नियम) 'संहिता में' (और वहाँ भी) 'एक श्वास से उच्चारित भाग में' (लागू होते हैं)।

त्रि० अ०—अथ–यह अधिकार का वाचक है। इसके बाद में जिन (नियमों) को कहेंगे उन्हें; संहितायामेकप्राणभावे = 'संहिता में' (और वहाँ भी) 'एक श्वास से उच्चारित भाग में'; अधिकृत जानना चाहिए।[क] संहिता का क्या अर्थ है? "पृथक् पदों के मिलने से जो संयुक्त रूप निष्पन्न होता है वह पद-संहिता कहलाती है" इस सूत्र के द्वारा संहिता का अर्थ कहा गया है। "वर्णों का अत्यधिक सामीप्य संहिता है" यह वैयाकरण मानते हैं। एक बार उठा हुआ (उत्पन्न) प्राण (श्वास) = एकप्राण, उसका भाव (निष्पत्ति) = तद्भाव, उसमें—यह आत्रेय का मत है। दूसरे

(क) इस अधिकार-सूत्र का सम्बन्ध परवर्ती अनेक अध्यायों के साथ है (२४।२ पर-त्रिभाष्यरत्न को देखिए)। इन परवर्ती अध्यायों में उन नियमों का विधान किया गया है जिनकी सहायता से पद-पाठ में स्थित पृथग्भूत पदों के मिलने से संहिता सम्पन्न होती है।

---

(१) २४।३ (२) पा० १।४।१०९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकप्राणभाव इत्यर्थः। अत एवावसाने पदविधिः। ननु संहितायामित्येतावतैवालम्, एकप्राणभाव इति वा उभयारम्भेण किम्? उच्यते—एकप्राणभाव इत्यनारभ्यमाणे प्रवृत्तस्य संहताविधेः पदावसानत्वं नेष्यते। संहितायामित्यनारभ्यमाणे तु पदेष्वप्येकप्राणभावः उपपद्यते इति वक्ष्यमाणं कार्यं क्व भवतीति सन्देहः स्यात्। तस्मादस्मिन्नुभयारम्भे प्रयोजनमस्ति ॥ १ ॥

वै०—अधिकारोऽयं आ षोडशाध्यायपरिसमाप्तेः। यानित ऊर्ध्वमधिकरिष्यामः ते विधयस्संहितायामेकप्राणभावे च वेदितव्याः। इह द्विविधो विरामः समाम्नायसिद्धः अशक्त्यादिहेतुकश्च। तत्र समाम्नायसिद्धोऽनुवाकान्तेषु तन्मध्यनिष्ठावसानेषु पदक्रमान्तेषु

प्रकार से भी समास की संगति बैठती है—एक प्राण (श्वास) से निष्पन्न होता है, उत्पन्न होता है, उच्चारित होता है = एकप्राणभाव। एक श्वास से जितना वेदभाग उच्चारित होता है वह एकप्राणभाव है—यह अर्थ है। इसलिए अवसान में पद का नियम लागू होता है।[क] (पू०) 'संहिता में' इतना ही पर्याप्त था अथवा 'एक श्वास से उच्चारित भाग में' (इतना ही पर्याप्त था), दोनों का ग्रहण करने से क्या प्रयोजन? बतलाते हैं—यदि 'एक श्वास से उच्चारित भाग में' इसका ग्रहण न करके संहिता के नियम प्रवृत्त होते तो (सम्प्रदायसिद्ध अवसानों के अतिरिक्त) पद के अन्त में (अशक्ति आदि के कारण) अवसान अभीष्ट न होते और यदि 'संहिता में' इसका ग्रहण न किया जाता तो (पद-पाठ में स्थित) पदों में भी एकप्राणभाव (एक श्वास से उच्चारित होने की बात) उपपन्न होती है—इससे आगे कहे जाने वाले नियम कहाँ लागू होते हैं—यह संदेह होता। इसलिए दोनों का ग्रहण करने में प्रयोजन है।

वै० अ०—यह अधिकार सोलहवें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त है। इससे बाद में जिन (विधियों) का कथन करेंगे उन विधियों को; संहितायामेकप्राणभावे = संहिता में और (वह भी) एक श्वास के प्रवाह में जानना चाहिए। यहाँ (= संहिता में) दो प्रकार का विराम होता है—(१) वेद के उच्चारण की मौखिक परम्परा से सिद्ध (विराम); (२) असामर्थ्य इत्यादि के कारण होने वाला (विराम)।[ख]

(क) जहाँ पर अवसान होता है (अवसान के दो प्रकारों के लिए ५।१ पर वैदिकाभरण को देखिए), वहाँ अन्तिम पद और उससे परवर्ती पद की संधि का विच्छेद हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तिम पद का अन्त और उससे परवर्ती पद का आदि अपने-पद-पाठ वाले रूप में ही अवस्थित रहते हैं

(ख) अवसान (विराम) दो प्रकार का माना गया है—(१) वेद के उच्चारण की मौखिक परम्परा से सिद्ध अवसान = संहिता-पाठ, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ इत्यादि में नियमतः उपलब्ध अवसान; (२) असामर्थ्य इत्यादि के कारण होने वाला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च भवति। इतरस्त्वनियतदेशः। तत्र संहितायामिति पूर्वस्य अभाव उच्यते। एकप्राणभाव इत्यपरस्य च। एकश्चासौ प्राणो निश्वास एकप्राणः तेन भाव उच्चारणं एकप्राणभावः। तदुभयं समुदितमधिक्रियते तेनान्यतराभावेऽपि कार्याणि न भवन्ति। यथा—"देवंगममसि"[1]। "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे"[1] इत्यत्र सत्यप्येकप्राणभावे "नोदात्तस्वरितपरः"[2]

उन (दोनों) में से वेद के उच्चारण की मौखिक परम्परा से सिद्ध (विराम) अनुवाकों के अन्त में, उन (अनुवाकों) के मध्य में स्थित नित्य अवसान-स्थलों में, (पद-पाठ में) पदों तथा (क्रमपाठ में) क्रम (वर्गों) के अन्त में होता है। दूसरा (असामर्थ्य इत्यादि के कारण होने वाला विराम) तो निश्चित स्थान वाला नहीं (होता) है।[क] वहाँ (सूत्र में) 'संहिता में'—(यह कहने से) उन (पूर्वोक्त अवसानों) में से पहले (अवसान) का अभाव कहा जाता है।[ख] 'एक श्वास के प्रवाह में'—(यह कहने से) दूसरे (अवसान) का (अभाव) कहा जाता है।[ग] एक प्राण = निश्वास = एकप्राण। उस (=एक श्वास) से उच्चारण = एकप्राणभाव। साथ में मिले हुए इन दोनों ('संहिता में' तथा 'एक श्वास के प्रवाह में') का अधिकार किया जाता है। इससे दोनों में से एक का अभाव होने पर भी (आगे (विहित) कार्य नहीं होते हैं। जैसे—"देवं गममसि", "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे"—यहाँ पर एक श्वास से उच्चारण होने पर भी "उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर (अनुदात्त प्रचय) नहीं (होता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्त निषेध नहीं

अवसान—नियमतः उपलब्ध अवसान के स्थलों से अन्यत्र जहाँ उच्चारण-कर्ता असामर्थ्य इत्यादि कारणों से रुक जाता है और साँस छोड़ देता है।

(क) तात्पर्य यह है कि उच्चारण-कर्ता जहाँ भी उच्चारण करने में असमर्थ हो जाता है वह वहीं अवसान कर देता है। ऐसे अवसान का कोई निश्चित स्थान नहीं है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र में 'संहिता में' ('संहितायाम्') कहने से यह सिद्ध हो जाता है कि नियमतः उपलब्ध अवसानों में परवर्ती सूत्र नहीं लागू होते हैं। अवसानों में 'संहिता' का अभाव होता है, जबकि परवर्ती सूत्र संहिता में लागू होते हैं। अवसानस्थ पद के अन्तिम वर्ण और परवर्ती पद के प्रथम वर्ण में कोई विकार नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि नियमतः उपलब्ध अवसान परवर्ती सूत्रों का विषय नहीं है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र में 'एक श्वास के प्रवाह में' (एकप्राणभावे) कहने से यह सिद्ध हो जाता है कि वक्ता द्वारा असामर्थ्य से निष्पादित अवसानों में परवर्ती सूत्र लागू नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि नियम से अनुपलब्ध, किन्तु वक्ता द्वारा अपनी असामर्थ्य से निष्पादित अवसान परवर्ती सूत्रों का विषय नहीं है।

---

(१) १।१।२ (२) २१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति निषेधो न भवति। तथा संहिताप्रयोगे "श्रेष्ठतमाय कर्मणे"[1] इत्येतावत्यशक्त्यादि-कारणवशादपानने अयादेशादिकार्यं न भवति ॥ १ ॥

यथायुक्ताद्विधिस्सा प्रकृतिः ॥ २ ॥

भा०—यथायुक्तात्पदविधेः तथा संहिताविधिर्भवति अविकारेण सा प्रकृतिसंहितेत्युच्यते। यथा—"स्वधा अस्तुर्वी चासि"[2] "प्र बुध्निया ईरते"[3]। "श्येति अकुरुत"[4] ॥२॥

त्रि०—प्रकृतिसंहितास्वरूपम् अनेनोच्यते—"प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः"[5] इति विज्ञेयत्वेन

होता है।[क] उसी प्रकार संहिता के प्रयोग में "श्रेष्ठतमाय कर्मणे"—इतने (अंश) के बाद में असामर्थ्य इत्यादि के कारणवश श्वास छोड़ने पर 'अय्' आदेश इत्यादि कार्य नहीं होता है।[ख] ॥१॥

सू० अ०—मौलिकरूप में अवस्थित पदपाठ से परिवर्तित न होने वाले (रूप) का जो विधान है उसे प्रकृति-संहिता (जानना चाहिए)।

त्रि० अ०—इस सूत्र के द्वारा प्रकृतिसंहिता का स्वरूप कहा जाता है क्योंकि

(क) संहिता के अभाव में—

"देवं गमसि" तथा "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" को मिलाकर इनका एक श्वास से उच्चारण करने पर भी परवर्ती 'उदात्त' (शु) के कारण पूर्ववर्ती 'प्रचय' (सि) का २१।११ से निषेध नहीं होता है। इस निषेध के न होने का कारण यह है कि आगे वाले सूत्र संहिता में ही लागू होते हैं, जबकि "देवं गमसि" की "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" के साथ संहिता नहीं है।

'गमसि' पर तै० सं० के प्रथम काण्ड के प्रथम प्रपाठक का द्वितीय अनुवाक समाप्त होता है और वहाँ निश्चितरूपेण अवसान होता है। अवसान के बाद तृतीय अनुवाक 'शुन्धध्वं' से प्रारम्भ होता है।

(ख) एक श्वास से उच्चारण के अभाव में—

"श्रेष्ठतमाय कर्मण आ प्यायध्वम्" ॥ सं० पा०

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय। कर्मणे। एति (आ+इति)। प्यायध्वम् ॥ प० पा०

'आ' बाद में होने के कारण 'कर्मणे' का 'ए' ६।१।११ से 'अय्' आदेश को प्राप्त करता है। इससे यह रूप बनता है—कर्मणय् आ। 'कर्मणय्' का 'य्' १०।१६ से लुप्त हो जाता है। इससे यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है—कर्मण आ। यदि कोई वक्ता 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' का उच्चारण करने के बाद किसी कारणवश रुक जाता है तो 'कर्मणे' का एकार एकार ही रहेगा। उसमें उपर्युक्त विकार—'अय्' का आदेश तथा लोप नहीं होंगे। परवर्ती सूत्र केवल उसी संहिता पर लागू होते हैं, जिसका उच्चारण एक साँस के प्रवाह में होता है।

---

(१) १।१।१ (२) १।१।६ (३) ४।३।१३ (४) ५।५।८ (५) २४।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधानात्। यथायुक्तात् = यत्रास्थितात्; पदपाठात् कूटस्थात् अविचालिनः विधिः सा; (प्रकृतिः =) प्रकृतिसंहिता; विज्ञेया। विधिः विधानं प्रकृतिरित्यर्थः। यथा—"स्वधा अस्युर्वी चासि"[१]। "धन्वन्निव प्रपा असि"[२]। "सहस्रस्य प्रमा असि"[३]। "प्रबुध्निया ईरते"[४]। "ज्या इयꣳसमने"[५]। "अमिनन्त एवैः"[६]। अत्र सूत्रे पदानां परस्परान्वयो महाभाष्यवचनेन विज्ञेयः। तच्च वचनं "ता वर्णप्रकृतयः"[७] इत्यत्र पठितम्। एवमन्यत्रापि "स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्"[८] इत्यादौ मन्तव्यम् ॥२॥

वै०—इह संहितायामित्यधिकारात्तत्प्रतियोगिविभक्तरूपं प्रकृतित्वेन आश्रितमिति तावद्विज्ञायते। तच्चतुर्विधम्। पदानि वर्णा अक्षराण्यङ्गानि चेति। कुत एवमिति चेत्,

---

'प्रकृति, विक्रम, क्रम (को जानना चाहिए)" (इस सूत्र में) विज्ञेय (जानने योग्य) के रूप में (प्रकृतिभाव) का विधान किया गया है।[क] यथायुक्तात् = मौलिक रूप में अवस्थित आधारभूत पद-पाठ से परिवर्तित न होने वाले (रूप) का जो; विधिः = विधान है उसे; प्रकृतिः = प्रकृतिसंहिता; जानना चाहिए। विधि = विधान। प्रकृति का अर्थ है प्रकृतिभाव। जैसे—"स्वधा अस्युर्वी चासि"। "धन्वन्निव प्रपा असि"। "सहस्रस्य प्रमा असि"। "प्रबुध्निया ईरते"। "ज्या इयꣳसमने"। "अमिनन्त एवैः"। इस सूत्र में पदों के परस्पर अन्वय को महाभाष्य के वचन से समझना चाहिए और वह वचन "वे वर्णों की प्रकृति हैं" इस (सूत्र के भाष्य) में उल्लिखित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी "दो स्वरितों के मध्य में जहाँ अनुदात्त हो" इत्यादि में समझना चाहिए।[ख]

वै० अ०—यहाँ पर 'संहिता में' इस अधिकार के कारण उसके विरोधी विभक्तरूप को प्रकृति माना गया है—यह ज्ञात होता है। वह (विभक्त रूप) चार प्रकार का है—पद, वर्ण-अक्षर और अङ्ग। यदि पूछते हो कि यह कैसे (किस

(क) त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार इस सूत्र में प्रकृतिभाव का विधान किया गया है। २४।५ में यह विधान किया गया है कि वैदिक भाषा के ज्ञाता को प्रकृतिभाव का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ५।१ में यह बतलाया गया है कि परवर्ती अध्यायों में उन नियमों का विधान किया गया है जिनकी सहायता से पद-पाठ में स्थित पृथग्भूत पदों के मिलने से संहिता सम्पन्न होती है। प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि परवर्ती अध्यायों के सूत्रों में विहित विकार कभी-कभी नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि पद-पाठ में उपलब्ध पदों का स्वरूप पद-पाठ में ज्यों का त्यों रह जाता है। इसे प्रकृतिभाव कहते हैं। विस्तार के लिए १०।१३ पर त्रिभाष्यरत्न को देखिए।

(ख) पृ० १५८ पर टि० (ख) को देखिए।

---

(१) १।१।६ (२) २।५।१२ (३) ४।४।११ (४) ४।३।१३
(५) ४।६।६ (६) ३।१।११ (७) २।७ (८) १६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अथ चतस्रस्संहिताः"[1] इत्यभ्युपगमात्। तत्र पदात्मकं विभक्तरूपं पदाध्याये वर्तते क्रमाध्याये चोपयुज्यत इति यद्यपि साध्यतामर्हति—अतएव विभागे ह्रस्वत्वादिकार्यं विहितम्—तथाऽपि वक्ष्यमाणकार्यविपर्ययरूपाणां तद्विभागप्रकाराणां विचित्रतया विस्तरप्रतिपाद्यत्वात्तद्व्युत्पादनं दुष्करमिति तदिह प्रधानसाध्यस्य संहिताम्नायस्य प्रकृतिरूपं साधनमाश्रीयते। वर्णात्मकं तु विभक्तरूपं न क्वचिदपि समाम्नाये विद्यत इति नैव साध्यतामर्हति। कल्प्यमानं तु तदन्यार्थतयैव कल्प्यमिति। तदपि त्रिविधम्। प्रधानसाध्यस्य संहिताम्नायस्य प्रकृतिरूपं साधनं परिकल्प्यते। तदनेन सूत्रेणाभिधीयते। यथायुक्तो यथाभूतः। तस्माल्ल्यब्लोपे पञ्चमी। (यथायुक्तात्=) यथाभूतं शब्दमाश्रित्य; विधिः करिष्यते पदात्मकं वर्णात्मकं वा। साऽस्मिन्नधिकारे प्रकृतिर्वेदितव्या। न तु पूर्ववत्संहिताम्नायसिद्धं शब्दरूपमिति। अपि च अक्षरसंहिताऽङ्गसंहिता च वर्णसंहिताया अवान्तरभेदौ वर्णाविशेषत्वादक्षराणामङ्गानां च। तेन "अथ वर्णानाम्"[1] इति वर्णसंहिताधिकारात्प्राक्पदसंहिता विधीयत इति ताव-

---

आधार पर) कहते हो (तो हमारा उत्तर यह है कि) "संहितायें चार प्रकार की होती हैं"—(इस सूत्र में) यह स्वीकार किया गया है। उनमें से पदात्मक विभक्त रूप पद-पाठ में विद्यमान (उपलब्ध) होता है और क्रम-पाठ में उपयुक्त होता है—इस प्रकार यद्यपि (वह पदात्मक विभक्त रूप साध्य) होने के योग्य है—इसलिए पद-विभाग (पद-पाठ) में ह्रस्वत्व आदि कार्य का (तृतीय अध्याय में) विधान किया गया है—तथापि आगे कहे जाने वाले कार्य और निषेध के रूपों तथा उस (पद) के विभाग के प्रकारों के विचित्र होने के कारण तथा विस्तारपूर्वक प्रतिपाद्य होने के कारण उसकी व्युत्पत्ति कठिन है, इसलिए उसे यहाँ प्रधान साध्य संहिता-पाठ का प्रकृतिरूप साधन माना जाता है। वर्णात्मक विभक्त रूप तो किसी भी पाठ में विद्यमान (उपलब्ध) नहीं होता है, इसलिए साध्य होने के योग्य नहीं है। कल्पित किये जाने पर भी उसे दूसरे के लिए ही कल्पित करना होगा। वह भी तीन प्रकार का है। उसे प्रधान साध्य संहिता-पाठ का प्रकृतिरूप साधन माना जाता है। उसे इस सूत्र से कहा जाता है। यथायुक्त=मौलिक रूप में स्थित। उस (यथायुक्त) से ल्यप् का लोप होने पर पञ्चमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।[क] (यथायुक्तात्=) पदात्मक अथवा वर्णात्मक मौलिक शब्द को आश्रय मानकर; विधिः=विधान किये जायेंगे। उसे (विभक्त रूप को) इस अधिकार में प्रकृति जानना चाहिए। पूर्व (=तृतीय अध्याय) की भाँति संहिता-पाठ में सिद्ध शब्दरूप को (प्रकृति नहीं मानना चाहिए)। अक्षर-संहिता और अङ्ग-सहिता वर्ण-संहिता के अवान्तर भेद हैं क्योंकि अक्षर और अङ्ग वर्ण-विशेष हैं। यही कारण है कि 'वर्णों की संहिता (कही

(क) जहाँ ल्यबन्त शब्द अप्रयुक्त हो अर्थात् वाक्य में ल्यबन्त पद का प्रयोग न हो, किन्तु उसका भाव प्रकट हो रहा हो वहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है।

---

(१) १३।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्स्पष्टमवगम्यते। इदं तु न विवेक्ष्यते—कुत्र वर्णसामान्यसंहिता ? कुत्राक्षरसंहिता ? कुत्राङ्गसंहितेति ? तदप्यनेन सूत्रेण विविच्यते—यथायुक्ताद्विधिः सा प्रकृतिरिति। यत्राक्षरत्वनिबन्धनः कार्यविधिः, यथा—"उदात्तात्परोऽनुदात्तः"[1] इत्यध्यायशेषे "स्वरितात्संहितायाम्"[2] इति सूत्रद्वये च—तत्राक्षराणां प्रकृतित्वम्। यत्र त्वङ्गत्वनिबन्धनः कार्यविधिः—"व्यञ्जनꣳ स्वराङ्गम्"[3] इत्यादि "स्पर्शश्चोष्मपरः"[4] इत्यन्ते ग्रन्थे, तत्राङ्गानां प्रकृतित्वम्। शिष्टे वर्णसंहिताधिकारे वर्णसामान्यस्येति। किञ्च वर्णसंहिताधिकारविहितानां णकारादीनां नकारादयः प्रकृतय इत्येतद्विधित एव अवगन्तव्यमित्येतदप्यनेन सूत्रेण ख्याप्यते। अन्ये तु दशमाध्यायेऽक्षरसंहिताविधिरित्याहुः। "पदसꣳहिताऽक्षरसꣳहिता"[5] इत्यनुक्रमणात्। तेषां "प्रउगमुक्थम्"[6] इत्यादौ सन्धिकार्यं स्यादेव। "अक्षरसंहितावर्णसंहिता"[5] इत्यनुक्रमणं तु वर्णसमाम्नाये स्वराणां प्राथम्यादित्यनुसन्धेयम्॥ २॥

जायेगी)" इस वर्ण संहिता के अधिकार से पहले पद-संहिता का विधान किया गया है—यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। यह विभाजन तो नहीं किया जायेगा—कहाँ वर्णसामान्य की संहिता है ? कहाँ अक्षर-संहिता है ? कहाँ अङ्ग संहिता है ? उसका विवेचन भी इसी सूत्र से किया जाता है—यथाभूत शब्द को आश्रय मानकर विधान किये जायेंगे, वह प्रकृति है। जहाँ पर कार्यविधि अक्षर पर आधृत है जैसे—"उदात्त से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है" इस (चतुर्दश अध्याय) के अवशिष्ट (सूत्रों १४।२९–३३) में और "संहिता में स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय हो जाता है" इन दो सूत्रों में अक्षर प्रकृति है। जहाँ पर कार्यविधि अङ्ग पर आधृत है—"व्यञ्जन स्वर का अङ्ग होता है" इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके "ऊष्मन् बाद में होने पर स्पर्श भी" इस (सूत्र) तक, वहाँ अङ्ग प्रकृति है। वर्ण-संहिता के अवशिष्ट अधिकार में वर्णसामान्य (प्रकृति है)। इसके अतिरिक्त वर्ण संहिता के अधिकार में विहित णकार आदि की नकार आदि प्रकृति हैं—उस विधि से ही जानना चाहिए—यह भी इसी सूत्र से बतलाया जाता है। दूसरे लोग तो कहते हैं कि दशम अध्याय में अक्षर—संहिता का विधान किया गया है।[क] क्योंकि "पद-संहिता, अक्षर-संहिता" इस (सूत्र) में (अक्षर-संहिता का) उल्लेख (त्रयोदश अध्याय में विहित वर्ण-संहिता से पूर्व में) हुआ है उनके अनुसार "प्रउगमुक्थम्" इत्यादि में संधिकार्य होगा ही।[ख] "अक्षर-संहिता, वर्ण-संहिता" यह (वर्ण-संहिता से पूर्व में अक्षर-संहिता का जो) उल्लेख है वह तो वर्ण-समाम्नाय में स्वरों (अक्षरों) के प्रथम उल्लेख के कारण है—यह समझना चाहिए।

(क) २४।२ पर त्रिभाष्यरत्न को देखिए।

(ख) १०।५ पर वैदिकाभरण को देखिए।

---

(१) १४।२९ (२) २१।१० (३) २१।१ (४) २१।९
(५) २४।२ (६) ४।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम् ॥ ३ ॥

मा०—तत्र संहिताविधाने यद्यत्पूर्वं तत्तत्प्रथमं सन्धेयं भवति। पूर्वपदेनोत्तरं द्विपदं सन्दध्यात्। तत्संहितान्तरमुपपद्यते। यथा—"भक्षेहि"[1]। "त्वं वेद"[2]। "उदु ष्यं जातवेदसम्"[3] इत्यत्र यथाविकृतौ उत् इति स्थिते वकारागमः एकादेशश्च, विधिप्रकृतौ सावकाशत्वादन्योन्यप्रतिषेधेन नैव प्राप्नुत इति विप्रतिषेधे पूर्वं कार्यम्, यथा वैयाकरणानां विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ ३ ॥

त्रि०—तत्र = संहिताविधाने, पूर्वं पूर्वं पदं सूत्रं च प्रथमं कर्त्तव्यम्। यथा—"भक्ष आ इहि"[1] इत्यत्र "दीर्घं समानाक्षरे"[4] इति दीर्घः। "भक्षा इहि"[1] इति स्थिते "इवर्णपर एकारम्"[5] इत्येकारे कृते "भक्षेहि"[1] इति भवति। अन्यथा एहीति कृत्वा भक्षशब्देन सन्धीयमाने भक्षैहीति स्यात्। तच्चानिष्टम्। पूर्वपदकर्तव्यत्वे एतदुदाहरणम्।

सू० अ०—वहाँ (संहिता निर्माण में) पहले वाले (पद और सूत्र) को पहले (अपनाना चाहिए)।

त्रि० अ०—तत्र = वहाँ संहिता-निर्माण में; पूर्वं पूर्वम् = पहले आने वाले पद को और सूत्र को; प्रथमम् = पहले; लेना चाहिए (= ग्रहण करना चाहिए)।[क] जैसे—"भक्ष आ इहि"—यहाँ "समानाक्षर के बाद में उसका सवर्ण (स्वर) हो तो (वे दोनों स्वर) एक दीर्घ (स्वर हो जाते हैं)"—इससे 'दीर्घ' (स्वर) (होता है)। (इससे) "भक्षा इहि"—ऐसा होने पर "(अवर्ण पूर्व में होने पर और) इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) एकार (हो जाते हैं)"—इससे एकार करने पर 'भक्षेहि'—यह (अभीष्ट रूप) होता है अन्यथा 'एहि' करके 'भक्ष' शब्द के साथ संधि करने पर "भक्षैहि" रूप हो जायेगा। और वह अनिष्ट (अशुद्ध)

(क) तात्पर्य यह है कि पद-पाठ के आधार पर संहिता-पाठ का निर्माण करते समय पद-पाठ में स्थित पदों के क्रम को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् प्रथम पद की दूसरे पद के साथ, दूसरे की तीसरे, तीसरे की चौथे के साथ—इस प्रकार क्रमशः संधि करनी चाहिए।

उसी प्रकार एक स्थल पर प्रातिशाख्य के दो अथवा दो-से अधिक सूत्र लागू हों तो प्रातिशाख्य में जो सूत्र सबसे पहले स्थित है उसको सबसे पहले, उसके बाद उसके बाद वाले सूत्र को और उसके बाद उसके बाद वाले सूत्र को अपनाना चाहिए।

---

(१) ३।२।५ (२) १।६।११ (३) १।४।४३ (४) १०।२
(५) १०।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वसूत्रकर्तव्यत्वेऽपि वदामः । यथा—"षट्त्रिग्रामनिष्पूर्वः"[1] इति नकारस्य णत्वे कृते "उत्तमपर उत्तमश्चवर्गीयम्"[2] इत्यनेन टकारस्य णत्वे कृते "षण्णवत्यै"[3] इति भवति । अन्यथा "उत्तमपर उत्तमम्"[2] इति सूत्रे प्रथमं प्रवृत्ते सति षण् नवत्या इति स्यात् । तच्चानिष्टम् । तथा, "वट्थ् स्वयमभिगूर्तायै"[4] इत्यत्र "टनकारपूर्वश्च तकारः"[5] "प्रथम ऊष्मपरः"[6] इति सूत्रद्वयं प्रसक्तम् । तत्र पूर्वत्वात् "टनकारपूर्वः"[5] इत्येतदेव प्रथमं कर्तव्यम् । अन्यथा

हैं ।[क] पहले पद का (पहले) ग्रहण करना चाहिए—इसके लिए यह उदाहरण है । पहले सूत्र का (पहले) ग्रहण करना चाहिए—इसके लिए भी (उदाहरण) कहते हैं । जैसे—"....षट्, त्रिः, ग्राम तथा निः पूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)"—से नकार का णत्व करने पर "उत्तम (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श) उसी वर्ग का उत्तम (स्पर्श हो जाता है)"—इससे टकार का णत्व करने पर "षण्णवत्यै"—यह (रूप) होता है । अन्यथा "उत्तम (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श) उसी वर्ग का उत्तम (—स्पर्श हो जाता है)"—इस (सूत्र) के प्रथम प्रवृत्त होने पर 'षण् नवत्यै'—यह (रूप) हो जायेगा । और वह अनिष्ट (अशुद्ध) है ।[ख] उसी प्रकार "वट्थ् स्वयमभिगूर्तायै"—यहाँ पर "टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर (तथा सकार अथवा षकार बाद में होने पर) तकार (का

(क) भक्ष । एति । इहि ॥ प० पा०

संहिता-पाठ का निर्माण करते समय पहले 'भक्ष' (प्रथम) तथा 'आ' (द्वितीय) की संधि न करके यदि पहले 'आ' (द्वितीय) तथा 'इहि' (तृतीय) की संधि की जाती है तो १०।४ से 'एहि' रूप हो जाता है । तब 'भक्ष' (प्रथम) की 'एहि' के साथ संधि करने पर १०।६ से 'भक्षैहि'—यह संहिता-रूप हो जाता है । किन्तु यह अशुद्ध संहिता है ।

अभीष्ट संहिता-पाठ की प्राप्ति के लिए पहले 'भक्ष' (प्रथम) और 'आ' (द्वितीय) की संधि करनी चाहिए । और इस प्रकार प्राप्त 'भक्षा' की 'इहि' के साथ संधि करनी चाहिए । तब 'भक्षेहि'—इस अभीष्ट रूप की सिद्धि होती है ।

(ख) षण्णवत्या इति षट्—नवत्यै ॥ प० पा०

प्रस्तुत स्थल में यदि ७।२ से पहले ८।२ को प्रयुक्त कर दिया जाता है तो अनिष्ट संहिता-पाठ—"षण् नवत्यै" प्राप्त होता है । अभीष्ट संहिता-पाठ "षण्णवत्यै" की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पहले ७।२ को प्रयुक्त करते हैं और तब ८।२ को प्रयुक्त करते हैं ।

---

(१) ७।२ (२) ८।२ (३) ७।२।१५
(४) ३।२।८ (५) ५।३३ (६) १४।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वट्ठ्स्वयम् इति स्यात्। तच्चानिष्टम्। अथवा "इमं विष्ष्यामि"[१] इत्यत्र "उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे"[२] "स्वरपूर्वं व्यञ्जनं"[३] इति सूत्रद्वयं प्राप्तम्। तत्र द्वित्वसूत्रप्राथम्ये "इमं विष्स्यामि" इति स्यात्। तन्मा भूदिति षत्वमेव प्रथमं कर्तव्यम्। पूर्वं पूर्वमिति वीप्सा सर्वत्रैवमर्थं समर्थयति ॥ ३ ॥

आगम होता है)" तथा "प्रथम ('स्पर्श') 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर (अपने वर्ग का) द्वितीय (स्पर्श) (हो जाता है)"—ये दो सूत्र प्राप्त होते हैं। उनमें से पूर्ववर्ती होने के कारण "टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर (तथा सकार अथवा षकार बाद में होने पर) तकार (का आगमन होता है)"—इस (सूत्र) को ही पहले करना चाहिए। अन्यथा 'वट्ठ्स्वयम्'—यह (रूप) हो जायेगा। और वह अनिष्ट है।[क] अथवा "इमं विष्ष्यामि"—यहाँ पर "उपसर्ग अथवा 'निः' पूर्व में होने पर सर्वानुदात्त पद में (वर्तमान सकार षकार हो जाता है)" तथा "स्वर पूर्व में होने पर (तथा व्यञ्जन बाद में होने पर) व्यञ्जन (द्वित्व को प्राप्त करता है)"—ये दो सूत्र प्राप्त होते हैं। उनमें से द्वित्व वाले सूत्र (१४।१) को पहले प्रयुक्त करने पर "इमं विष्स्यामि"—यह रूप हो जायेगा। वह न हो जाये इसलिए (६।४ से) षत्व को ही पहले करना चाहिए।[ख] 'पूर्वं-पूर्वम्'—यह पुनरुक्ति सर्वत्र ही अर्थ का समर्थन करती है[ग] ॥ ३ ॥

(क) वट्। स्वयमभिगूर्तायेति स्वयम्—अभिगूर्ताय ॥ प० पा०

प्रस्तुत स्थल में यदि १४।१२ को पहले और उसके बाद ५।३३ को प्रयुक्त करते हैं तो यह अशुद्ध संहिता-पाठ "वट्ठ्स्वयम्" निष्पन्न होता है। अभीष्ट संहिता-पाठ "वट्थ्स्वयम्" की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पहले ५।३३ को और तब १४।१२ को प्रयुक्त करते हैं।

(ख) इमम्। वीति। स्यामि ॥ प० पा०

प्रस्तुत स्थल में १४।१ को पहले और उसके बाद ६।४ को प्रयुक्त करते हैं तो यह अशुद्ध संहिता-पाठ "इमं विष्स्यामि" निष्पन्न होता है। इस अशुद्ध संहिता-पाठ के निवारण के लिए तथा अभीष्ट संहिता-पाठ ("इमं विष्ष्यामि") की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पहले ६।४ को और तब १४।१ को प्रयुक्त करते हैं।

(ग) तात्पर्य यह है कि 'पूर्वम् पूर्वम्' का सूत्र में दो बार प्रयोग करके सूत्रकार ने यह बतलाया है कि प्रस्तुत सूत्र में किया गया विधान सर्वत्र लागू होता है। इसका कोई अपवाद नहीं है।

---

(१) १।१।१० (२) ६।४ (३) १४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तत्र = संहिताविधिविषये; (पूर्वपूर्वम् =) पूर्वपूर्वसूत्रविहितम्; कार्यं प्रथमं भवति। न परसूत्रविहितम्। यथा—"आयुषा नाम्नेहि"[१] इत्यत्र आङः "दीर्घं समानाक्षरे"[२] इति पूर्वेणैकादेशः कर्तव्यः। "इवर्णपर एकारम्"[३] इति परेण। तत्र पूर्वसूत्रविहितो दीर्घादेशः प्रथमं भवति। तत एकादेश इतीष्टरूपसिद्धिः। यदि तु "इवर्णपर एकारम्"[४] इति विधिः प्रथमं स्यात्। तदा नाम्ना एहीति तावद्भवति। ततः "एकारैकारपर ऐकारम्"[५] इत्यैकारादेशादनिष्टरूपं स्यात्। तथा—"अथैता आहुतीर्जुहोति"[६] इत्यत्र थकारात्परस्याकारस्य "एकारैकारपर ऐकारम्"[५] इत्येकादेशः कार्यः। "उदात्तात्परोऽनुदात्तस्स्वरितम्", "व्यञ्जनान्तर्हितोपि"[७] इति स्वरितादेशश्च। तत्र पूर्वसूत्रविहित

वै० अ०—तत्र = वहाँ = संहिता के निर्माण के विषय में; (पूर्वपूर्वम् =) पहले-पहले सूत्र में विहित; कार्य; प्रथमम् = पहले; होता है। न कि बाद वाले सूत्र में विहित (कार्य पहले होता है)। जैसे—"आयुषा नाम्नेहि"—यहाँ पर "समानाक्षर के बाद में उसका सवर्ण (स्वर) हो तो (वे दोनों स्वर) एक दीर्घ (स्वर) (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से 'आ' का पूर्ववर्ती (पद) से एकादेश करना चाहिए। "(अवर्ण पूर्व में होने पर और) इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) एकार (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से परवर्ती (पद) से (एकादेश करना चाहिए)। उनमें पहले सूत्र (१०।२) में विहित 'दीर्घ' का आदेश पहले होता है। तत्पश्चात् (१०।४ से) एकादेश (होता है)—इससे इष्ट रूप की सिद्धि होती है। किन्तु यदि "(अवर्ण पूर्व में होने पर और) इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) एकार (हो जाते हैं)"—यह विधान पहले किया जाये तब "नाम्ना एहि"—यह (रूप) होता है। इसके बाद "अवर्ण पूर्व में होने पर और) एकार तथा ऐकार बाद में होने पर (वे दोनों) ऐकार (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से ऐकार का आदेश होने से अनिष्ट रूप (नाम्ना ऐहि) हो जायेगा।[क] उसी प्रकार "अथैता आहुतीर्जुहोति"—यहाँ पर थकार से बाद में स्थित अकार का (अवर्ण) पूर्व में होने पर और इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) एकार (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से एकादेश (ऐकार) करना चाहिए। उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है) तथा "व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी (उदात्त से बाद वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है"—इन (सूत्रों) से स्वरित का आदेश भी (करना चाहिए)। उनमें पूर्व सूत्र (१०।६) से विहित एकादेश पहले होता है। और वह (एकादेश = ऐकार) अनुदात्त प्रकृति वाला होने के कारण 'अनुदात्त' (ही होता है)। इसके पश्चात् उस (ऐकार) को स्वरित का

(क) आयुषा। नाम्ना। एति (आ + इति)। इहि ॥ प० पा०

---

(१) १।२।१२ (२) १०।२ (३) १०।४ (४) १०।४
(५) १०।६ (६) २।४।६ (७) १४।२९,३०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादेशः प्रथमं भवति। स चानुदात्तप्रकृतिकत्वादनुदात्तः। ततस्तस्य स्वरितादेशे प्राप्ते "नोदात्तस्वरितपरः"[१] इति प्रतिषेधादिष्टस्वरसिद्धिः। यदि तु प्रथमं स्वरितादेशस्स्यात्। तत एकादेशो भवन् "स्वरितानुदात्तसन्निपाते स्वरितम्"[२] इति स्वरितस्स्यात्। तस्य तु न बाधकं किञ्चिदिति स एव श्रूयेत ॥ ३ ॥

त्रपुमिथुपूर्वश्शकारश्चपरः ॥ ४ ॥

मा०—त्रपु, मिथु इत्येवंपूर्वः शकार आगमो भवति चकारपरः। यथा—

आदेश होने पर "उदात्त या स्वरित बाद में होने पर (उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित) नहीं (होता है;)"—इस प्रतिषेध से इष्ट स्वर की सिद्धि होती है। किन्तु यदि पहले (१४।२९) से स्वरित का आदेश हो जाता है। तदनन्तर (१०।६ से) एकादेश होने पर "स्वरित और अनुदात्त का एकादेश होने पर (वे दोनों) स्वरित (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से स्वरित हो जायेगा। उस (स्वरित) का तो कोई बाधक नहीं है—इसलिए उसका ही श्रवण होगा[क] ॥ ३ ॥

सू० अ०—त्रपु अथवा मिथु पूर्व में हो तथा च बाद में हो तो (मध्य में) शकार (का आगम होता है)।

(क) अथ। एताः। आहुतीरित्या—हुतीः। जुहोति ॥ प० पा०

प्रस्तुत उदाहरण में 'अथ्' तथा 'एताः' की सन्धि करते समय १०।६ तथा १४।२९,३० की प्रसक्ति होती है। पहले १०।६ के अनुसार 'अथ्' तथा 'एताः' की सन्धि करके 'अथैताः' रूप की सिद्धि करनी चाहिए। यहाँ अनुदात्त अकार और अनुदात्त एकार मिलकर अनुदात्त ऐकार होते हैं। तत्पश्चात् १४।२९,३० से 'अथैताः' में उदात्त अकार के बाद में स्थित 'थै' के अनुदात्त ऐकार को स्वरित का आदेश करने पर उस स्वरित का निषेध १४।३१ से हो जाता है। इससे थै (ऐ) अनुदात्त ही रहता है और यही अभीष्ट 'स्वर' है।

इसके विपरीत यदि १४।२९,३० को पहले लागू किया जाता तो 'अथ' में स्थित अनुदात्त अकार पूर्ववर्ती उदात्त के कारण स्वरित हो जाता है और अथै यह रूप निष्पन्न होता है। तत्पश्चात् 'अथै' का 'एताः' के साथ १०।६ से एकादेश करने पर १०।१२ से 'अथैताः'—यह रूप निष्पन्न होता है। अब 'थै' के ऐकार के 'स्वरित' को बाधित करने वाला कोई सूत्र प्रातिशाख्य में नहीं है। किन्तु यह 'स्वरित' अभीष्ट नहीं है। अतः अनिष्ट स्वर के निवारण के लिए तथा अभीष्ट स्वर की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र के विधान का पालन करते हुए पहले १०।६ को प्रयुक्त करना चाहिए और तदनन्तर १४।२९, ३० को प्रयुक्त करना चाहिए।

---

(१) १४।३१ (२) १०।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"त्रपुश्च मे"[१]। "मिथुश्चरन्तम्"[२]। त्रपुमिथुपूर्वं इति किम्? "थ उ चैना एवं वेद"[३] ॥ ४ ॥

त्रि०—(त्रपुमिथुपूर्वः =) त्रपु मिथु एवम्पूर्वः; (शकारः =) शकारागमः भवति; (चपरः =) चकारपरः। यथा—"सीसं च मे त्रपुश्च मे"[१]। "मिथुश्चरन्तमुपयाति"[२]। एवम्पूर्वं इति किम्? "विभु च मे प्रभु च मे"[४]। एवंपर इति किम्? "असिना मिथू कः"[५] ॥ ४ ॥

वै०—चपर इत्यकारान्तः व्यञ्जननिर्देशः। न तु केवलं ग्रहणम्। तथा सति पद-ग्रहणपरिभाषाप्रवृत्तेः मिथुपूर्वे तदसम्भवात्। शकार इहागमो विधीयते। एषामागमाना-

---

त्रि० अ०—(त्रपुमिथुपूर्वः =) त्रपु, मिथु—ये पूर्व में हों; (चपरः =) चकार बाद में हो (तो दोनों के मध्य में); (शकारः =) शकार का आगम; होता है। जैसे—"सीसञ्च में त्रपुश्च मे"।[क] "मिथुश्चरन्तमुपयाति"।[क] ये (त्रपु अथवा मिथु) पूर्व में हो—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "विभु च मे प्रभु च मे"।[ख] यह (चकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "असिना मिथू कः"[ग] ॥ ४ ॥

वै० अ०—चपरः—इससे अकारान्त व्यञ्जन (च) का निर्देश (किया गया है)। न कि केवल (च) पद का (किया है)। वैसा होने पर पदग्रहणपरिभाषा

(क) सीसम्। च। मे। त्रपुः। च। मे ॥ प० पा०

मिथु। चरन्तम्। उपयातीत्युप—याति ॥ प० पा०

इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'त्रपु' और 'मिथु' पूर्व में हैं तथा चकार बाद में है। अतः मध्य में शकार का आगम हुआ है।

(ख) विभ्विति वि-भु। च। मे। प्रभ्विति प्र-भु। च। मे ॥ प० पा०

त्रपु अथवा मिथु से अन्य उकारान्त पद 'विभु' तथा 'प्रभु' पूर्व में हैं। अतः चकार बाद में होने पर भी मध्य में चकार का आगम नहीं हुआ है।

(ग) असिना। मिथु। कः ॥ प० पा०

मिथु के बाद चकार नहीं है। अतः मध्य में शकार का आगम नहीं हुआ है।

---

(१) ४।७।५ (२) ४।७।१५ (३) ५।६।२
(४) ४।७।४ (५) ४।६।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तत्वात्पूर्वोत्तरे पदे निमित्ते भवतः। यस्त्वागमोऽन्यतरभक्तस्तस्येतरत्पदं निमित्तमिति वेदितव्यम्। तदयमर्थः—(त्रपुमिथुपूर्वः =) त्रपु, मिथु इत्येतयोः पदयोः पूर्वयोः; शकार आगमो भवति; (चपरः =) चकारादौ पदे परतः। यथा—"सीसं च मे त्रपुश्च मे"[१]। "मिथुश्चरन्तम्"[२]। एतत्पूर्व इति किम्? "दिवं दृंह चक्षुः"[३]। चपर इति किम्? "असिना मिथू कः"[४] ॥ ४ ॥

सुपूर्वश्च चन्द्रपरः ॥ ५ ॥

मा०—सुपूर्वः शकार आगमो भवति चन्द्रपरः। यथा—"सुश्चन्द्र दस्म"[५]। सुश्चन्द्रेति प्राप्ते। सुपूर्व इति किम्? "स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा"[६]। चन्द्रपर इति किम्? "आ मा सुचरिते"[७] ॥ ५ ॥

की प्रवृत्ति होने पर 'मिथु' पूर्व में होने पर वह ('च' पद) सम्भव नहीं होता है।[क] शकार का यहाँ आगम के रूप में विधान किया जाता है। यतः ये आगम (पूर्ववर्ती पद अथवा परवर्ती पद) से सम्बद्ध नहीं हैं, अतः पूर्ववर्ती पद और परवर्ती पद—ये दोनों—(इन आगमों के) निमित्त होते हैं। किन्तु जो आगम (पूर्ववर्ती पद और परवर्ती पद) इन दोनों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होता है वहाँ अन्य पद निमित्त (होता है)—यह जानना चाहिए। इससे (सूत्र का) यह अर्थ हुआ—(त्रपुमिथुपूर्वः =) 'त्रपु' अथवा 'मिथु'—ये पद पूर्व में होने पर; शकार का आगम होता है; (चपरः =) चकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर (अर्थात् 'त्रपु' अथवा 'मिथु' पूर्व में और चकारादि पद बाद में हो तो मध्य में शकार का आगम होता है)। जैसे—"सीसं च मे त्रपुश्च मे"। "मिथुश्चरन्तम्"। ये ('त्रपु' अथवा 'मिथु') पूर्व में हों—यह क्यों (कहा)? "दिवं दृंह चक्षुः"। चकार बाद में हो—यह क्यों (कहा)? "असिना मिथू कः" ॥४॥

सू० अ०—'सु' पूर्व में हो तथा 'चन्द्र' शब्द बाद में हो (तो मध्य में शकार का आगम होता है)।

(क) सूत्र में प्रयुक्त 'चपर' में स्थित 'च' को अकारान्त = च्+अ जानना चाहिए। इसका यह परिणाम होगा कि चकार से प्रारम्भ होने वाला कोई भी पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'त्रपु' और 'मिथु' तथा उस चकार से प्रारम्भ होने वाले पद के मध्य में शकार का आगम हो जायेगा। यदि 'च' को अकारान्त न मानकर 'च' पद माना जाता है तो १।५० के अनुसार इससे केवल 'च' पद का ही ग्रहण होगा। च् से प्रारम्भ होने वाले अन्य पद का नहीं। किन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है जहाँ 'मिथु' के बाद में 'च' पद हो। तब सूत्र में 'मिथु' का ग्रहण अनर्थक हो जायेगा। 'च' को अकारान्त मानने पर सब ठीक हो जाता है।

---

(१) ४।७।५ (२) ४।७।१५ (३) १।१।७ (४) १।४।१३
(५) ४।४।४ (६) १।१।१४ (७) १।१।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारः शकारमन्वादिशति। सुपूर्वः शकार आगमो भवति चन्द्रपरः। यथा—"सुश्चन्द्र दस्म विश्पते"[१]। एवम्पूर्व इति किम्? "प्र चन्द्रमास्तिरति"[२]। एवम्पर इति किम्? "आ मा सुचरिते भज"[३]। सु इत्येष शब्दः पूर्वो यस्मादसौ सुपूर्वः॥ ५॥

वै०—(सुपूर्वः=) सु इति पदे पूर्वे; शकारागमो भवति; (चन्द्रपरः=) चन्द्र-शब्दे परतः। यथा—"उभे सुश्चन्द्र सर्पिषः"[१]। सुपूर्व इति किम्? "प्रेत चन्द्रदक्षिणा यज्ञस्य"[४]। चन्द्रपर इति किम्? "सुचरिते भज"[३]॥ ५॥

सम्पूर्वस्सकारः कुरुपरः॥ ६॥

मा०—समित्येवं पूर्वः सकारः कुरुपर आगमो भवति। "शरीरं वा एतद्यजमानः सँस्कुरुते"[५]। "मकारः स्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्"[६] इति संकुरुत इति प्राप्ते। सम्पूर्व इति किम्? "संक्रन्दनोऽनिमिषः"[७]॥ ६॥

त्रि० अ०—(च=) चकार (पूर्व सूत्र से) शकार का अन्वादेश करता है। सुपूर्वः='सु' पूर्व में होने पर; शकार का आगम होता है; चन्द्रपरः=(यदि) चन्द्र (शब्द) बाद में हो। जैसे—"सुश्चन्द्र दस्म विश्पते"।[क] यह (सु) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "प्र चन्द्रमास्तिरति"[ख]। यह ('चन्द्र') बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "आ मा सुचरिते भज"[ग]। सु—यह शब्द पूर्व में है जिससे वह=सुपूर्वः॥ ५॥

वै० अ०—(सुपूर्वः=) सु—यह पद पूर्व में होने पर; शकार का आगम होता है; (चन्द्रपरः=) 'चन्द्र' शब्द बाद में होने पर। जैसे—"उभे सुश्चन्द्र सर्पिषः"[घ]। सु पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "प्रेत चन्द्रदक्षिणा यज्ञस्य"[ङ]। चन्द्र बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सुचरिते भज"[ग]॥५॥

सू० अ०—सम् पूर्व में हो तथा कुरु बाद में हो (तो मध्य में शकार का आगम होता है)।

(क) सुश्चन्द्रेति सु—चन्द्र। दस्म। विश्पते॥ प० पा०

(ख) प्रेति। चन्द्रमाः। तिरति॥ प० पा०

(ग) एति। मा। सुचरित इति सु—चरिते। भज॥ प० पा०

(घ) उभे इति। सुश्चन्द्रेति सु—चन्द्र। सर्पिषः॥ प० पा०

(ङ) प्रेति। इत। चन्द्रदक्षिणा इति चन्द्र-दक्षिणाः। यज्ञस्य॥ प० पा०

---

(१) ४।४।४ (२) २।४।१४ (३) १।१।१२ (४) १।४।४३
(५) ५।६।६ (६) ५।२७ (७) ४।६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(सम्पूर्वः =) सम् इत्येवम्पूर्वः; सकारः आगमो भवति, कुरुपरः। यथा—"यजमानस्सꣳस्कुरुते"[१]। एवम्पूर्व इति किम्? "पुरोडाशाꣳअलंकुरु"[२]। एवंपर इति किम्? "संकृत्यच्छावाकसामं भवति"[३]। कुरुशब्दः परो यस्मादसौ कुरुपरः॥ ६॥

वै०—(सम्पूर्वः =) समिति पदे पूर्वे; सकार आगमो भवति; (कुरुपरः =) कुरुशब्दे परतः। यथा—"यजमानस्सꣳस्कुरुते"[१]। संपूर्व इति किम्? "यज्ञमुख एव ब्रह्म कुरुते"[४]। कुरुपर इति किम्? "संवपामि"[५]॥ ६॥

अकुर्व च प्रत्ययापरः॥ ७॥

भा०—"अडभ्यासव्यवायेऽपि" (वर्तिकम्) इति सुट् कात्पूर्वो भवति। "अकुर्वत" इत्येतस्मिन् सकार आगमो भवति, प्रत्ययात्परः अकारादित्यर्थः। केन व्यञ्जनानि प्रत्याय्यन्ते? सम्पूर्व इति चकारो ज्ञापयति। यथा—"इषुँ समस्कुर्वत"[६]? इति समस्कुर्वतेति प्राप्ते। सम्पूर्व इति किमर्थम्? "अग्निहोत्रं व्रतमकुर्वत"[७]। तस्मात्प्रत्ययात्पर इति किम्? सँकुर्वतेति मा भूदिति॥ ७॥

त्रि० अ०—(सम्पूर्वः =) सम्—यह पूर्व में होने पर; सकार का आगम होता है; (कुरुपरः =) (यदि) 'कुरु' बाद में हो। जैसे—"यजमानः संस्कुरुते"। यह (सम्) पूर्व में हो—यह क्यों (कहा)? "पुरोडाशाꣳअलंकुरु"[क]। यह (कुरु) बाद में हो—यह क्यों (कहा)? "संस्कृत्यच्छावाकसामं भवति"। 'कुरु' शब्द है बाद में जिससे वह = कुरुपरः॥ ६॥

वै० अ०—(सम्पूर्वः =) सम्—यह पद पूर्व में होने पर; सकार का आगम होता है; (कुरुपरः =) कुरु बाद में होने पर। जैसे—"यजमानस्सꣳस्कुरुते"। 'सम्' पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यज्ञमुख एव ब्रह्म कुरुते"। 'कुरु' बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सं वपामि"॥ ६॥

सू० अ०—('सम्' पूर्व में) और 'अकुर्व' बाद में होने पर प्रत्यय (अ) से बाद में (सकार का आगम होता है)।

(क) यजमानः। समिति। कुरुते॥ प० पा०
पुरोडाशान्। अलम्। कुरु॥ प० पा०
संकृतीति सं-कृति। अच्छावाकसाममित्यच्छावाक—साम्। भवति॥
समिति। वपामि॥ प० पा०

---

(१) ५।६।६ (२) ६।३।१ (३) ५।४।१२ (४) १।६।१०
(५) १।१।८ (६) ६।२।३ (७) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारः सम्पूर्वत्वमागमं चान्वादिशति। अकुर्व इति ग्रहणे प्रत्ययात् परः सकार आगमो भवति, सम्पूर्वः। यथा—"त इषुꣳसमस्कुर्वत"[1]। प्रत्ययो नाम अकार उच्यते। प्रत्याय्यन्ते अभिव्यज्यन्ते व्यञ्जनान्यनेनेति प्रत्ययः। सम्पूर्व इति किम्? "अग्निहोत्रं व्रतमकुर्वत"[2] ॥ ७ ॥

वै०—चशब्देन सम्पूर्व इत्यन्वादिश्यते। प्रत्येति पश्चादागच्छतीति प्रत्ययः परः। तथा बह्वृचानां प्रातिशाख्ये च प्रयुज्यते—"विवृत्तेश्च प्रत्ययस्सन्नुकारः"[3] इति। तदयमर्थः—सम्पदे पूर्वे ततः; (प्रत्ययात्=) परः अकुर्वशब्दसम्बन्धी यो वर्णः तस्मात्परस्सकार आगमो भवति। "त इषुꣳसमस्कुर्वत"[1]। अन्वादेशेन किम्? "यद्यज्ञेऽकुर्वत"[4]। अकारात्पर इत्युक्ते कतरस्मादिति संशयस्स्यात्। उभाभ्यां वा परस्स्यात्। तन्मा भूदिति प्रत्ययादित्युक्तम् ॥ ७ ॥

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) (च =) चकार (पूर्व सूत्र से) 'सम्पूर्व' अंश का और 'आगम' का अन्वादेश करता है। अकुर्व—इस वैदिक पद में; प्रत्ययात् = प्रत्यय (= अ) से; परः = बाद में; सकार का आगम होता है, 'सम्' पूर्व में होने पर। जैसे—"त इषुꣳसमस्कुर्वत"क। प्रत्यय (शब्द से) अकार को कहा जाता है। इससे 'व्यञ्जन' विदित किये जाते हैं, अभिव्यक्त (उच्चारित) किये जाते हैं, इसलिए (अ) 'प्रत्यय' है। सम् पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अग्निहोत्रं व्रतमकुर्वत"ख ॥ ७ ॥

वै० अ०—च शब्द से (पूर्व सूत्र से) 'सम्' पूर्व में होने पर का अन्वादेश किया जाता है। प्रत्येति=बाद में आता है इस (निर्वचन) से प्रत्यय का अर्थ परवर्ती है। ऋग्वेदियों की प्रातिशाख्य (ऋ० प्रा०) में भी उसी प्रकार (अर्थात् परवर्ती के अर्थ में प्रत्यय का) प्रयोग किया गया है—"विवृत्ति से परवर्ती उकार (प्रकृतिभाव से रहता है)"। इससे (सूत्र का) यह अर्थ हुआ 'सम्' पद पूर्व में होने पर उस ('सम्' पद) से; (प्रत्ययात्=) परवर्ती जो 'अकुर्व' शब्द का वर्ण (अ) है उससे; परः=बाद में; सकार का आगम होता है। "त इषुꣳसमस्कुर्वत"ग। ('सम्' पूर्व में होने पर—इस) अन्वादेश से क्या (लाभ)

(क) ते। इषुम्। समिति। अकुर्वत ॥ प० पा०

प्रस्तुत उदाहरण में 'सम्' पूर्व में है तथा 'अकुर्वत' बाद में है। अतः 'अकुर्व' के 'अ' के बाद में सकार का आगम हुआ है।

(ख) अग्निहोत्रमित्यग्नि—होत्रम्। व्रतम्। अकुर्वत ॥ प० पा०

'अकुर्व' के पूर्व में 'सम्' नहीं है। अतः 'अकुर्व' के 'अ' के बाद में सकार का आगम नहीं हुआ हैं।

(ग) ते। इषुम्। समिति। अकुर्वत ॥ प० पा०

---

(१) ६।२।३ (२) ३।२।२ (३) ऋ० प्रा० २।५६ (४) १।७।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीचापूर्वो दकार उच्चापरः ॥ ८ ॥

मा०—नीचा इत्येवंपूर्वो दकार आगमो भवति उच्चापरः। "मध्यान्नीचादुच्चा"[१]। 'उवर्णपर ओकारम्"[२] इति नीचो [तेच्च] स्येवं प्राप्ते। नीचापूर्व इति किम्? "लोकं यन्त्युच्चावचान्"[३]। उच्चापर इति किम्? "नीचा यच्छ पृतन्यतः"[४] ॥ ८ ॥

त्रि०—नीचापूर्वः दकारः आगमो भवति उच्चापरः। यथा—"मध्यान्नीचादुच्चा स्वधया"[१]। एवम्पूर्व इति किम्? "लोकं यन्त्युच्चावचान् हि"[३]। एवम्पर इति किम्? "नीचा तं धक्षि"[५]। आगमा एते ॥ ८ ॥

वै०—(नीचापूर्वः =)नीचापदे पूर्वे; दकार आगमो भवति; (उच्चापरः =) उच्चापदे परतः। यथा—"मध्यान्नी चादुच्चा"[१]। नीचापूर्व इत्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। उच्चापर इति किम्? "नीचा तं धक्षि"[५] ॥ ८ ॥

है? "यद्यज्ञेऽकुर्वत"क। अकार से बाद में—यह कहने पर कौन से (अकार से) बाद में—यह संशय होता है। अथवा दोनों (अकारों) से बाद में होगा। वह न हो इसलिए ('सम्' से) बाद वाले (अकार) से'—यह कहा गया हैख ॥७॥

सू० अ०—'नीचा' पूर्व में हो और उच्चा बाद में हो तो दकार (का आगम होता है)।

त्रि० अ०—नीचापूर्वः = नीचा पूर्व में होने पर; दकार का आगम होता है; उच्चापरः = 'उच्चा' बाद में होने पर। जैसे "मध्यान्नीचादुच्चा स्वधया"ग। यह ('नीचा') पूर्व में हो यह क्यों (कहा)? "लोकं यन्त्युच्चावचान् हि"घ। यह (उच्चा) बाद में हो—यह क्यों (कहा)? "नीचा तं धक्षि"ङ। ये (५।४-८ तक) आगम है ॥ ८ ॥

वै० अ०—(नीचापूर्वः =) 'नीचा' पद पूर्व में होने पर; दकार का आगम

(क) यत्। यज्ञे। अकुर्वत ॥ प० पा०

(ख) यदि 'प्रत्ययात्' के स्थान पर 'अकारात्' का प्रयोग किया जाता तो यह सन्देह होता कि 'अकुर्व' के प्रथम 'अ' से बाद में सकार का आगम होगा अथवा परवर्ती 'अ' से बाद में अथवा दोनों से बाद में। इस संदेह के निवारणार्थ 'प्रत्ययात्' शब्द का प्रयोग किया गया हैं। इससे ज्ञात हो जाता है कि 'सम्' पद से परवर्ती जो अकार है उससे बाद में सकार का आगम होता है।

(ग) मध्यात्। नीचा। उच्चा ॥ स्वधयेति स्व—धया ॥ प० पा०

(घ) लोकम्। यन्ति। उच्चावचान्। हि ॥ प० पा०

(ङ) नीचा। तम्। धक्षि ॥ प० पा०

---

(१) २।३।१४ (२) १०।५ (३) ७।४।३
(४) १।६।१२ (५) १।२।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्पूर्वोऽरमृकारः ॥ ९ ॥

मा०—असमित्येवंपूर्वः ऋकारः अरं विकारमापद्यते। यथा—"यतया समर्च्छते"[१]। ऋकार इति किम्? "असन्तृण्णे हि हनू"[२] ॥ ९ ॥

त्रि०—(असम्पूर्वः =) असम् इत्येवम्पूर्वः; ऋकारः अरं विकारमापद्यते। यथा—"गृहाणामसमर्त्यै"[३]। अत्र निमित्तमेकपदस्थं विज्ञेयम्। अन्यथा "कल्याणी रूपसमृद्धा"[४]। "वही ह्येष समृद्धयै"[५] इत्यादावपि भवेत्। ऋकार इति किम्? "असंतृण्णे हि"[२] ॥ ९ ॥

वै०—अत्रेदं सामर्थ्यसिद्धमनुसन्धेयम्। पदादेयौ लोपविकारौ तत्र पूर्वपदं निमित्तम्। यौ तु पदान्तस्य तत्रोत्तरपदमिति। तदयमर्थः—(असम्पूर्वः =) असंशब्दे पूर्वे;

होता है; (उच्चापरः =) 'उच्चा' पद बाद में होने पर। "मध्यान्नीचादुच्चा"। 'नीचा' पूर्व में होने पर इसका प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में मिलता है। 'उच्चा' बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "नीचा तं धक्षि" ॥

सू० अ०—असम् पूर्व में होने पर ऋकार अर् (हो जाता है)।

त्रि० अ०—(असम्पूर्वः =) असम्—यह पूर्व में होने पर; ऋकार; अरम्=अर् विकार को; प्राप्त होता है। जैसे—"गृहाणामसमर्त्यै"[क]। यहाँ निमित्त (असम्) को एक पद में स्थित जानना चाहिए।[ख] अन्यथा "कल्याणी रूपसमृद्धा" "वही ह्येष समृद्धयै" इत्यादि में भी हो जायेगा।[ग] ऋकार यह क्यों (कहा)? "असंतृणेहि"[घ] ॥ ९ ॥

वै० अ०—यहाँ पर यह सामर्थ्य से सिद्ध समझना चाहिए। पद के आदि के जो लोप और विकार (होते हैं) वहाँ पर पूर्ववर्ती पद (उस लोप और विकार का) निमित्त होता है। किन्तु जो पद के अन्त के (लोप और विकार होते) हैं वहाँ तो परवर्ती पद (निमित्त होता है)। इससे (सूत्र का) यह अर्थ हुआ—

(क) गृहाणाम्। असमर्त्या इत्यसम्—ऋत्यै ॥ प० पा०

(ख) तात्पर्य यह है कि सूत्र में प्रयुक्त 'असम्' एक पद में होना चाहिए। एक पद से 'अ' को ग्रहण करके तथा दूसरे पद से 'सम्' को ग्रहण करके 'असम्' का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(ग) कल्याणी। रूपसमृद्धेति रूप—समृद्धा ॥
वही। हि। एषः। समृद्ध्या इति सम्—ऋद्ध्यै ॥ प० पा०

(घ) असंतृण्णे इत्यसं—तृण्णे। हि ॥ प० पा०

---

(१) ३।२।६ (२) ६।२।११ (३) ३।३।८
(४) ७।१।६ (५) २।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋकारः; (अरम् =) अर् इत्यादेशम्; अश्नुते संहितायां सर्वत्र । यथा—"गृहाणामसमत्यै बहवः"[१] असंपूर्व इति किम्? "यज्ञस्य समृद्धयै"[२] । नन्वत्राप्यसंशब्दोऽस्ति-। सत्यम् । अपदत्वान्न गृह्यते ॥ ९ ॥

अवग्रह आशीर्धूस्सुवरिति रेफं परस्सकारष्षकारम् ॥ १० ॥

मा०—आशीः, धूः, सुवः इत्येतेषु ग्रहणेषु अवग्रहे विसर्जनीयो रेफमापद्यते, परश्च सकारः षकारमापद्यते । यथा—"आशीर्पदयर्चा"[१] । "कखपकारपरः षमकारपूर्वः समवग्रहः"[४] इति आशीष्पदया इत्येवंप्राप्ते । "उत्तावेतं धूर्षाहौ"[५] । "सुवर्षां जिह्वामग्ने"[६] । "अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्"[७] इत्यत्र सत्वे प्राप्ते । अवग्रह इति किम्? "देवसुवस्स्थ ते"[८] ॥ १० ॥

त्रि०—अवग्रहे इति सप्तम्यन्तं पदं आशीः प्रभृतीभिः प्रत्येकमभि. सम्बध्यते । आशीः धूः सुवः इति; एतेषु; (अवग्रहे =) अवग्रहेषु विसर्जनीयो रेफमापद्यते । एतेभ्यः परः यदि वर्तते सकारः तर्हि सोपि षकारम् आपद्यते । यथा—"इत्याशीर्पदयर्चा"[१] ।

(असम्पूर्वः =) 'असम्' शब्द पूर्व में होने पर; ऋकार; संहिता-पाठ में सर्वत्र; (अरम् =) अर्—इस आदेश को; प्राप्त करता है । जैसे—"गृहाणामसमत्यै बहवः" । 'असम्' पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यज्ञस्य समृद्धयै"क । (पू०) यहाँ पर भी 'असम्' शब्द है । (सि०) ठीक है । किन्तु पद न होने के कारण (इसका) ग्रहण नहीं होता है ॥

सू० अ०—आशीः, धूः तथा सुवः—ये पूर्व-पद (हों तो इनका विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है) और परवर्ती सकार षकार (हो जाता है) ।

त्रि० अ०—'अवग्रहे'—यह सप्तमी में अन्त होने वाला पद 'आशीः' इत्यादि प्रत्येक के साथ सम्बद्ध है । (आशीर्धूःसुवरिति =) आशीः, धूः तथा सुवः—इन; (अवग्रहे =) पूर्वपदों में; वर्तमान विसर्जनीय; रेफम् = रेफ को; प्राप्त होता है । परः = इनके बाद में; यदि; सकार होता है तो वह भी; षकारम् = षकार को; प्राप्त होता है । जैसे—"इत्याशीर्पदयर्चा" । "धूर्षाहावनश्रू" ।

(क) यज्ञस्य । समृद्धया इति सम्—ऋद्धयै ॥ प० पा०

यहाँ 'असम्' पद नहीं है, अपितु 'यज्ञस्य' के अन्तिम 'अ' तथा 'समृद्धयै' के 'सम्' के मिलने से 'असम्' बनता है । यही कारण है कि यहाँ ऋकार अर् नहीं हुआ है ।

---

(१) ३।३।८ (२) १।५।२ (३) ६।२।९ (४) ८।२३
(५) १।२।८ (६) ४।४।४ (७) ९।२ (८) १।८।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"धूर्षाहावनश्रू"[१]। "सुवर्षां जिह्वामग्ने"[२]। अवग्रह इति किम्? "देवसुवस्स्थ ते"[३]। "ककखपकारपरः"[४] इत्यनेन आशीष्पदयेति प्राप्तम्। "अघोषपरस्तस्य सस्थानम्"[५] इति धूस्साहौ, सुवस्सां इति च प्राप्तम्। तदुभयभङ्गायायमारम्भः। इतिशब्द एषामेवैष विशेषो नान्येषामिति प्रकारवाची ॥ १० ॥

वै०—आशीर्धूस्सुवरित्यवग्रहः; (रेफम् =) रेफमादेशमश्नुते संहितायां सर्वत्र। अवग्रहस्योत्तरपदसंहितैव प्राथमकल्पिकीति तत्संहितायां कार्याणि विधीयन्त इत्यनुसन्धेयम्। एवं परपदस्य निमित्तत्वे सिद्धे पूर्वपदान्तस्यायं विकारो विधीयत इत्यर्थात्सम्पद्यते। अवग्रहा-

---

"सुवर्षां जिह्वामग्ने"[क]। अवग्रह में—यह क्यों (कहा)? "देवसुवस्स्थ ते"[ख]। "ककार, खकार अथवा पकार बाद में होने पर——"—इस (सूत्र) से "आशीष्पदया" यह प्राप्त था। "अघोष बाद में हो (तो विसर्जनीय) उस (अघोष) के समान स्थान वाला 'ऊष्म' (वर्ण हो जाता है)"—इस (सूत्र) से "धूस्साहौ" तथा "सुवस्साम्"—यह प्राप्त था। इन दोनों (सूत्रों) के निराकरण के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया (=बनाया) गया है।[ग] 'इति' शब्द यह निर्दिष्ट करता है कि इन (आशीः, धूः इत्यादि) की ही यह विशेषता है, अन्य की नहीं—इस प्रकार इति शब्द प्रकार का वाचक है ॥ १० ॥

वै० अ०—आशीर्धूस्सुवरित्यवग्रहः[घ] = आशीः, धूः और सुवः—ये पूर्व-पद; संहिता (—पाठ) में सर्वत्र; (रेफम् =) रेफ रूप आदेश को; प्राप्त करते है। सावग्रह पद के पूर्व-पद की उत्तर-पद के साथ संहिता का ही पहले निर्माण

(क) इति। आशीर्पदयेत्याशीः—पदया। ऋचा ॥ धूर्षाहाविति धूः—साहौ। अनश्रू ॥ सुवर्षामिति सुवः—साम्। जिह्वाम्। अग्ने ॥ प० पा०

आशीः, धूः तथा सुवः सावग्रह पदों के पूर्वपद हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र से इनका विसर्जनीय रेफ हो गया है तथा बाद वाले दो स्थलों में सकार षकार हो गया है।

(ख) देवसुव इति देव—सुवः। स्थ ॥ प० पा०

'सुवः' सावग्रह पद का पूर्वपद नहीं, अपितु उत्तरपद है। अतः सुवः का विसर्जनीय रेफ न होकर ९।२ से सकार हो गया है।

(ग) इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र ८।२३ और ९।२ का अपवाद है। भाष्य में उल्लिखित अनिष्ट रूपों के निवारण के लिए तथा अभीष्ट रूपों की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

(घ) त्रिभाष्यरत्नकार सूत्र में 'अवग्रहे' को ग्रहण करते हैं, किन्तु वैदिकाभरणकार ने इसे 'अवग्रहः' के रूप में स्वीकार किया है।

---

(१) १।२।८ (२) ४।४।४ (३) १।८।१० (४) ८।२३ (५) ९।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्परस्सकारश्च षकारमादेशमश्नुते संहितायाम्। पदादेर्विकारस्य पूर्वपदं निमित्तमित्युक्तमेव। तद्यथा—"आशीर्पदयर्चा"[१]। "उस्रावेतं धूर्षाहावनश्"[२]। "दिवि मूर्धानं दधिषे सुवर्षाम्"[३]। आशीरित्यस्य रेफादेशेन "कखपकारपरः"[४]। इत्युपचारो निवर्त्यते। विशेषविषयत्वादस्य रेफविधेः। धूस्सुवरित्यनयोस्तु "अघोषपरस्तस्य"[५] इत्यूष्मादेशो निवर्त्यते। अवग्रह इति किम्? "ये देवा देवसुवस्स्थ"[६]। सकार इति किम्? "आशीर्पदयर्चा"[१] ॥ १० ॥

करना होता है इसलिए उस (पूर्व-पद) की उस संहिता के कार्यों का (पहले) विधान किया जाता है—यह जानना चाहिए।[क] इस प्रकार उत्तर-पद का निमित्तत्व सिद्ध होने पर पूर्व-पद के अन्त (अन्तिम वर्ण) का यह विकार (प्रस्तुत सूत्र में) विहित किया जा रहा है—यह तात्पर्य से ज्ञात होता है। और पूर्व-पद से बाद में स्थित सकार संहिता में षकार आदेश को प्राप्त करता है। पद के आदि के विकार का पूर्वपद निमित्त (होता है)—यह कहा ही जा चुका है।[ख] जैसे—"आशीर्पदयर्चा", "उस्रावेतं धूर्षाहावनश्", "दिवि मूर्धानं दधिषे सुवर्षाम्"। आशीः—इसके (विसर्जनीय के) रेफादेश से "ककार, खकार अथवा पकार बाद में होने पर (अवग्रहवर्ती विसर्जनीय षकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से विहित सकार-भाव (उपचार) की निवृत्ति की जाती है, क्योंकि यह रेफ-विधि विशेष विषय है।[ग] 'धूः' तथा 'सुवः'—इनमें तो "अघोष (वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) उसे (अघोष) के समान स्थान वाला ऊष्म (वर्ण) (हो जाता है)"—इस (सूत्र से विहित) ऊष्मादेश की निवृत्ति की जाती है। 'पूर्व-पद' (अवग्रह)—यह क्यों (कहा)? "ये देवा देवसुवस्स्थ"। सकार—यह क्यों (कहा)? "आशीर्पदयर्चा"[घ] ॥ १० ॥

(क) तात्पर्य यह है कि सावग्रह पद की उसके पूर्ववर्ती पद और परवर्ती पद के साथ संधि करने से पहले उस सावग्रह पद के दोनों खण्डों (पूर्व-पद और उत्तर-पद) की परस्पर संधि पहले कर ली जाती है, अतएव उसी (पूर्व-पद तथा उत्तर-पद की परस्पर संधि) का विधान यहाँ पहले किया गया है।

(ख) तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार उत्तर-पद के आदि-भूत जिस सकार का षकार होता है उसका निमित्त पूर्व-पद होता है।

(ग) सामान्यविधि और विशेषविधि का विरोध होने पर विशेषविधि लागू होती है।

(घ) आशीर्पदयेत्याशीः—पदया। ऋचा ॥ प० पा०
'आशीः' के बाद में सकार नहीं, अपितु पकार है। अतः सकार के षकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

(१) ६।२।६ (२) १।२।८ (३) ४।४।४
(४) ८।२।३ (५) ९।२ (६) १।८।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ लोपः ॥ ११ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। लोप इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ ११ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। लोपः इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। अयमधिकारः "तिष्ठन्त्येकया"[1] इति सूत्रपर्यन्तो मन्तव्यः ॥ ११ ॥

वै०—लोपाधिकारोऽयं लोपागमविवेचनार्थः। लोपविधेरन्यत्र यः अःकार स आगमस्य संज्ञेति भावः। "तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः"[1] इत्येतदन्तोऽयमधिकारः ॥ ११ ॥

ईम्पूर्वो मकारः ॥ १२॥

मा०—ईमित्येवंपूर्वो मकारः लोपमापद्यते। यथा—"स ई मन्द्रासु"[2]। ईंपूर्व इति किम्? "इमं मे वरुण"[3]। मकार इति किम्? "अधस्पदं तमीं कृधि"[4] ॥ १२ ॥

त्रि०—मकारः; (ईम्पूर्वः=) ईम् इत्येवम्पूर्वः; लुप्यते। यथा—"ईं मन्द्रासु प्रयसः"[2]। एवम्पूर्व इति किम्? "इमं मे वरुण"[3]। दीर्घेण किम्? "अग्निं मित्रं

सू० अ०—अब लोप (का विधान किया जाता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ लोप का अधिकार जानना चाहिए। यह अधिकार "तिष्ठन्त्येकया"—इस सूत्र तक जानना चाहिए ॥ ११ ॥

वै० अ०—(अथ लोपः=) यह लोप का अधिकार; लोप और आगम के विवेक के लिए है। लोप-विधि से अन्यत्र जो अःकार है वह 'आगम' की संज्ञा है—यह भाव है।[क] "तिष्ठन्त्येकया (का अन्तिम वर्ण) अपने पूर्ववर्ती (वर्ण) के सहित (लुप्त हो जाता है)"—इस (सूत्र) के अन्त तक यह अधिकार है ॥११॥

सू० अ०—ईम् पूर्व में हो तो मकार (का लोप हो जाता है)।

त्रि० अ०—(ईम्पूर्वः=) ईम्—यह पूर्व में होने पर; मकार लुप्त हो जाता

(क) पूर्ववर्ती अनेक सूत्रों में 'आगम' का विधान किया गया है। यदि ५।११ में 'लोप' का अधिकार न किया जाता तो कोई यह समझ सकता था कि ५।१२ इत्यादि में भी 'आगम' का ही विधान किया गया है। जिन वर्णों का आगम होता है और जिन वर्णों का लोप होता है उन दोनों के वाचक पदों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति (अःकार) में रखा जाता है।

---

(१) ५।११ (२) ४।१।८ (३) २।१।११
(४) १।६।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरुणम्"[१] । ईमिति पदग्रहणम् । इतरथा "पृथिवीं मा हिꣳसीः"[२] इत्यादौ मकारो लुप्येत । तच्चानिष्टम् । मकार इति किम् ? "ईङ्काराय स्वाहेङ्कृताय"[३] ॥ १२ ॥

वै०—(ईम्पूर्वः =) ईमिति पदे पूर्वे मकारो लुप्यते । "ई मन्द्रासु प्रयसः"[४] । ईम्पूर्व इति किम् ? "मा वस्स्तेन ईशत माऽघशꣳसः"[५] । पद इति किम् ? "पृथिवीं मा हिꣳसीः"[६] ॥ १२ ॥

है । जैसे—"ई मन्द्रासु प्रयसः"क । यह (ईम्) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "इमं मे वरुण" ।ख दीर्घ (ईम्) से क्या (लाभ है) ? "अग्निं मित्रं वरुणम्" ।ग 'ईम्'—इससे पद का ग्रहण होता है । अन्यथा "पृथिवीं मा हिꣳसीः" इत्यादि में मकार का लोप हो जायेगा ।घ और वह अनिष्ट है । मकार—यह क्यों (कहा) ? "ईङ्काराय स्वाहेङ्कृताय"ङ ॥ १२ ॥

वै० अ०—(ईम्पूर्वः =) ईम्—यह पद पूर्व में होने पर; मकार लुप्त हो जाता है । "ई मन्द्रासु प्रयसः" । 'ईम्' पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ?

(क) ईम् । मन्द्रासु । प्रयसः ॥ प० पा०

'ईम्' पूर्व में होने के कारण 'मन्द्रासु' के मकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से हुआ है । अब ईम् + मन्द्रासु = ईमन्द्रासु । ऋ० प्रा० ४।८३ की भाँति यहाँ यह विधान करना अधिक युक्त होता कि मकार बाद में होने पर 'ईम्' के मकार का लोप हो जाता है ।

(ख) इमम् । मे । वरुण ॥ प० पा०

पूर्व में 'ईम्' नहीं है । अतः 'में' के मकार का लोप नहीं हुआ है ।

(ग) अग्निम् । मित्रम् । वरुणम् ॥ प० पा०

'अग्निम्' में स्थित 'इम्' के बाद में स्थित 'मित्रम्' के मकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि 'अग्निम्' पद का अंशभूत जो 'इम्' है वह 'ह्रस्व' है, दीर्घ (ईम्) नहीं ।

(घ) पृथिवीम् । मा । हिꣳसीः ॥ प० पा०

सूत्र में उक्त 'ईम्' से पद का बोध होता है । किसी पद के अंशभूत 'ईम्' का नहीं । यदि ऐसा न माना जाये तो 'पृथिवीम्' के 'ईम्' के कारण परवर्ती 'मा' के मकार का लोप हो जाता और इससे अशुद्ध सं० पा० की निष्पत्ति होती । अत एव सूत्रोक्त 'ईम्' से 'ईम्' पद का ही ग्रहण करना चाहिए ।

(ङ) ईकारायेतीं—काराय । स्वाहा । ईंकृतायेतीं—कृताय ॥ प० पा०

'ईम्' के बाद मकार नहीं अपितु ककार है । अतः बाद वाले मकार के लोप का प्रश्न ही नहीं उठता ।

---

(१) २।१।११ (२) ४।२।९ (३) ७।१।१९
(४) ४।१।८ (५) १।१।१ (६) ४।२।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुनुपूर्व उदात्तयोर्वकारः ॥ १३ ॥

मा०—तु नु इत्येवंपूर्वो वकारो लोपमापद्यते उदात्तयोस्तुन्वोः। यथा—"स त्वै दर्शपूर्णमासौ"[१]। "स इन्वै तमुपाच्छ्रति"[२]। तुनुपूर्व इति किम्? "अप्सु वै वरुणः"[३]। उदात्तयोरिति किम्? "अनु वासि रात्रियै त्वा"[४]। वकार इति किम्? "भूय इन्नु ते"[५] ॥ १३ ॥

त्रि०—(तुनुपूर्वः =) तु नु इत्येवम्पूर्वः; वकारः लुप्यते तयोः तुन्वोः उदात्तयोः सतोरिति विभज्य विनियोगो विज्ञेयः। यथा—"स त्वै यजेत"[६]। "इन्वा उपस्तीर्णम्"[७]। उदात्तयोरिति किम्? "अनु वृत्रहत्ये"[८]। "अप्यकारादि"[९] इति प्राप्तिः। एवम्पूर्व इति

"मा वस्तेन ईशत माऽघशꣳसः"क। पद—यह क्यों (कहा)? "पृथिवीं मा हिꣳसीः" ॥ १२ ॥

सू० अ०—तु, नु पूर्व में हो तो वकार (लुप्त हो जाता है) यदि वे (तु, नु) उदात्त हों।

त्रि० अ०—(तुनुपूर्वः =) तु, नु—ये पूर्व में होने पर; वकार लुप्त हो जाता है उन तु, नु के; (उदात्तयोः =) 'उदात्त' होने पर—इस प्रकार (सूत्र का) विभाग करके (सूत्र के शब्दों का) सम्बन्ध जानना चाहिए। जैसे—"स त्वै यजेत"। "इन्वा उपस्तीर्णम्"ख। (तु, नु के) उदात्त होने पर—यह क्यों (कहा)? "अनुवृत्रहत्ये"—यहाँ "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद) (जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से प्राप्ति थी।ग ये (तु, नु) पूर्व में होने पर—यह क्यों

(क) मा। वः। स्तेन। ईशत। मा। अघशꣳस इत्यव—शꣳसः ॥ प० पा०

(ख) सः। तु। वै। यजेत ॥ इत्। नु। वै। उपस्तीर्णꣳ मित्युपस्तीर्णम् ॥ प० पा०

(ग) अन्विति (अनु + इति) वृत्रहत्य इति वृत्र—हत्ये ॥ प० पा०

'वृत्रहत्ये' के वकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि पूर्व में स्थित 'नु' 'उदात्त' नहीं है।

पूर्वपक्षी—यहाँ 'वृत्रहत्ये' के पूर्व में 'नु' पद नहीं, अपितु 'अनु' पद है। अतः वकार के लोप होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है।

सिद्धान्ती—१।५२ में कहा गया है कि सूत्रोक्त पद से अकारादि पद का भी ग्रहण होता है, अतः 'नु' कहने से 'अनु' का भी ग्रहण होता है। अतः यहाँ वकार के लोप का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, किन्तु 'नु' के उदात्त न होने से वकार का लोप नहीं होता है।

---

(१) २।५।४ (२) १।५।९ (३) २।३।१२ (४) ४।४।१
(५) १।४।२२ (६) २।६।६ (७) १।६।७ (८) १।६।१२ (९) १।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "इदं वामास्ये हविः"[1] । वकार इति किम् ? "प्र तु जनयतीति"[2] । "विदुषो नु यज्ञम्"[3] । तुश्च नुश्च तुनू तौ पूर्वौ यस्मात् स तथोक्तः ॥ १३ ॥

वै०—(तुनुपूर्व उदात्तयोः =) तु, नु इत्येतयोः पदयोः उदात्तयोः पूर्वयोः; वकारो लुप्यते । "स त्वै दर्शपूर्णमासौ यजेत"[4] । "मनुष्यायेन्त्वै"[5] । तुनुपूर्वं इति किम् ? "मा वस्स्तेन ईशत"[6] । उदात्तयोरिति किम् ? "अक्तꣳरिहाणा वियन्तु वयः"[7] ।

(कहा) ? "इदं वामास्ये हविः" ।[क] वकार—यह क्यों (कहा) ? "प्र तु जनयतीति"[ख] । "विदुषो नु यज्ञम्"[ख] । तु और नु = तुनू - वे दोनों पूर्व में हों जिससे वह वैसा कहा गया (तुनुपूर्वः) है ॥ १३ ॥

वै० अ०—(तुनुपूर्व उदात्तयोः =) उदात्त 'तु', 'नु'—ये पद पूर्व में होने पर; वकार लुप्त हो जाता है । "स त्वै दर्शपूर्णमासौ यजेत" । "मनुष्यायेन्त्वै" ।[ग] तु, नु पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "मा वस्स्तेन ईशत" ।[घ] उदात्त होने पर—यह क्यों (कहा) ? "अक्तꣳरिहाणा वियन्तु वयः" । ऐसा कुछ आचार्य (कहते हैं) । वह ठीक नहीं है । क्योंकि पदग्रहण-परिभाषा से ही (उसकी) निवृत्ति हो जाती है ।[ङ] "सत्रा ते विश्वमनु वृत्रहत्ये" इत्यादि प्रत्युदाहरण प्रस्तुत

(क) इदम् । वाम् । आस्ये । हविः ॥ प० पा०
वकार के पूर्व में तु, नु नहीं है । अतः वकार का लोप नहीं हुआ ।

(ख) प्रेति । तु । जनयति । इति । विदुषः । नु । यज्ञम् ॥ प० पा०
'तु' 'नु' के बाद वकार नहीं है । अतः लोप का प्रश्न नहीं उठता है ।

(ग) सः । तु । वै । दर्शपूर्णमासाविति दर्श—पूर्णमासौ । यजेत ॥ प० पा०
मनुष्याय । इत् । नु । वै ॥ प० पा०
उदात्त 'तु' तथा 'नु' के बाद में स्थित वकार का लोप हो गया है । तत्पश्चात् १०।१५ से तु+ऐ तथा नु+ऐ की संधि होकर 'त्वै' तथा 'न्वै' रूप बनते हैं ।

(घ) मा । वः । स्तेन । ईशत ॥ प० पा०

(ङ) अक्तꣳ । रिहाणाः । वियन्तु । वयः ॥ प० पा०
'तु' 'नु' के 'उदात्त' होने पर वकार का लोप होता है—इसकी पुष्टि में कतिपय आचार्यों ने यह प्रत्युदाहरण दिया है । किन्तु यह युक्त नहीं है । १।५० के अनुसार सूत्रोक्त 'तु' से 'तु' पद का ही ग्रहण करना चाहिए । इस स्थल पर 'तु' पद नहीं, अपितु पद का एक अंश है । अतः यहाँ वकार के लोप का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है ।

---

(१) ३।३।११ (२) १।७।२ (३) १।३।१३ (४) २।५।४
(५) १।५।६ (६) १।१।१ (७) १।१।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति केचित्। तदयुक्तम्। पदग्रहणपरिभाषयैव निरस्तत्वात्। "सत्रा ते विश्वमनु वृत्रहत्ये"[१] इत्यादि प्रत्युदाहर्तव्यम्। अत्र तु "अप्यकारादि"[२] इति विधानादस्ति हि प्राप्तिः। वकार इति किम्? "प्र तु जनयतीति"[३]। "भूय इन्नु ते दानम्"[४] ॥ १३ ॥

उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः ॥ १४ ॥

मा०—उत् इत्येवंपूर्वः सकारः लोपमापद्यते व्यञ्जनपरः। यथा—"उत्थास्यते"[५]। "दिवमुत्तभान"[६]। उत्पूर्व इति किम्? "आदित्यासो जगत्स्थाः"[७]। सकार इति किम्? "उत्क्रँस्यते"[८]। व्यञ्जनपर इति किम्? "शर्करामुत्सादेन"[९] ॥ १४ ॥

त्रि०—व्यञ्जनपरः सकारः उत्पूर्वः लुप्यते। "प्रत्युत्तब्ध्यै सयत्वाय"[१०]। व्यञ्जनमस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः। एवम्पूर्व इति किम्? "जगत्स्था देवाः"[७]। सकार इति

करना चाहिए। यहाँ पर तो "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद) (जानना चाहिए)"—इस विधान से प्राप्ति ही है।[क] वकार—यह क्यों (कहा)? "प्र तु जनयतीति"। "भूय इन्नु ते दानम्"[ख] ॥ १३ ॥

सू० अ०—'उत्' पूर्व में हो और 'व्यञ्जन' बाद में हो तो सकार (का लोप हो जाता है)।

त्रि० अ०—व्यञ्जनपरः = 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; उत्पूर्वः = 'उत्' पूर्व में होने पर; सकार लुप्त हो जाता है। "प्रत्युत्तब्ध्यै सयत्वाय"।[ग] 'व्यञ्जन'

यह वस्तुस्थिति होने पर यहाँ यह कहना युक्त नहीं है कि 'तु' के उदात्त न होने के कारण यहाँ वकार का लोप नहीं हुआ है। अतः यह प्रत्युदाहरण युक्त नहीं है।

(क) सत्रा। ते। विश्वम्। अन्विति। वृत्रहत्य इति वृत्र—हत्ये ॥ प० पा०

१।५२ के अनुसार 'अनु' के बाद में स्थित 'वृत्रहत्ये' के वकार के लोप का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किन्तु यहाँ 'अनु' का 'नु' 'उदात्त' नहीं, अपितु 'अनुदात्त' है। अतः वकार का लोप नहीं होता है।

(ख) प्रेति। तु। जनयति। इति ॥ प० पा०
भूयः। इत्। नु। ते। दानम् ॥ प० पा०

'तु' तथा 'नु' के बाद में वकार नहीं है। अतः उसके लोप का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(ग) प्रतीति। उत्तब्ध्या इत्युत्—स्तब्ध्यै। सयत्वायेति सय—त्वाय ॥ प० पा०

---

(१) १।६।१२ (२) १।५२ (३) १।७।२ (४) १।४।२२
(५) ७।१।१६ (६) ४।६।५ (७) २।१।११ (८) ७।१।१९
(९) ५।७।११ (१०) ६।६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "उत्क्रँस्यते स्वाहा"[१] । एवम्पर इति किम् ? "उत्सादेन जिह्वामवक्रन्देन"[२] ॥ १४ ॥

वै०—(उत्पूर्वः =) उदिति पदे पूर्वे; व्यञ्जनपरस्सकारो लुप्यते । "ज्योतिषा दिवमुत्तभान"[३] । "उत्थास्यते स्वाहा"[४] । उत्पूर्व इति किम् ? "मा वस्स्तेन ईशत"[५] । व्यञ्जनपर इति किम् ? "देवस्त्वा सवितोत्सृजतु"[६] । ननु मूलशास्त्रे "उदस्थास्तम्भ्नोः पूर्वस्य"[७] इति स्थास्तम्भ्नोरेव सकारस्य पूर्वसवर्णादेशपूर्वको लोपस्स्मर्यते । इह तु व्यञ्जनपर इति सामान्येनोक्तम् । ततोऽन्यस्यापि लोपः प्राप्नोति । "पुनरुत्स्यूतं वासः"[८] । "शृत उत्स्नाति जनिता मतीनाम्"[९] इति । नैष दोषः । न ह्यत्र मूलशास्त्रसिद्धं पदपरिमाणमि-

---

है इससे बाद में = व्यञ्जनपर । यह (उत्) पूर्व में हो—यह क्यों (कहा) ? "जगत्स्था देवाः" ।[क] सकार—यह क्यों (कहा) ? "उत्क्रँस्यते स्वाहा"[ख] । यह ('व्यञ्जन') बाद में हो—यह क्यों (कहा) ? "उत्सादेन जिह्वामवक्रन्देन"[ग] ॥ १४ ॥

वै० अ०—(उत्पूर्वः =) 'उत्' यह पद पूर्व में होने पर; व्यञ्जनपरः = 'व्यञ्जन' बाद में होने पर; सकार लुप्त हो जाता है । "ज्योतिषा दिवमुत्तभान" ।[घ] "उत्थास्यते स्वाहा" ।[ङ] 'उत्' पूर्व में हो—यह क्यों (कहा) ? "मा वस्स्तेन ईशत" ।[च] 'व्यञ्जन' बाद में हो—यह क्यों (कहा) ? "देवस्त्वा सवितोत्सृजतु" ।[छ] (पू०) व्याकरणशास्त्र में " 'उद्' उपसर्ग से परवर्ती 'स्था' तथा 'स्तम्भ' धातुओं के स्थान में पूर्व (वर्ण) का (सवर्ण आदेश हो)"—इस (सूत्र) से 'स्था' तथा 'स्तम्भ' के ही सकार का पूर्व सवर्ण के आदेशपूर्वक लोप का स्मरण किया जाता है । किन्तु यहाँ (प्रातिशाख्य में) 'व्यञ्जन' बाद में होने पर'—यह सामान्य रूप से कहा गया है । इससे अन्य का भी लोप प्राप्त होता है । (जैसे) "पुनरुत्स्यूतं वासः", "शृत उत्स्नाति जनिता मतीनाम्" में । (सि०) यह दोष नहीं है । क्योंकि

(क) जगत् । स्थाः । देवाः ॥ प० पा०

(ख) उत्क्रँस्यत इत्युत्—क्रँस्यते । स्वाहा ॥ प० पा०

(ग) उत्सादेनेत्युत्—सादेन । जिह्वाम् । अवक्रन्देनेत्यव—क्रन्देन ॥ प० पा०

(घ) ज्योतिषा । दिवम् । उदिति (उत् + इति) । स्तभान ॥ प० पा०

(ङ) उत्थास्यत इत्युत्—स्थास्यते । स्वाहा ॥ प० पा०

(च) मा । वः । स्तेन । ईशत ॥ प० पा०

(छ) देवः । त्वा । सविता । उदिति (उत् + इति) । सृजतु ॥ प० पा०

---

(१) ७।१।१९ (२) ५।७।११ (३) ४।६।५
(४) ७।१।१९ (५) १।१।१ (६) २।३।१०
(७) पा० ८।४।६१ (८) १।५।२ (९) ब्रा० ३।७।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्यते। अपि तु समाम्नानप्रसिद्धमेव। तेन पुनरुत्स्यूतमित्यत्र उच्छब्दस्य पदैकदेशत्वान्न प्रसङ्गः। नापि श्रृत उत्स्नातीत्यत्र प्रसङ्गः। संहिताग्रन्थमात्रविषयत्वादस्य शास्त्रस्य। इह तर्हि "उदायुषा स्वायुषा"[1] इत्यनुवाके स्वायुषोदिति क्रमस्य जटायां स्यात् "स्वायुषोदुद्वायुषा स्वायुषोत्"[1] इति। अत्रोच्यते—

"नासमाम्नातरूपस्य प्रातिशाख्यं प्रवर्तकम्।
जटा ततोऽसमाम्नाता नास्य शास्त्रस्य गोचरः॥

यहाँ (= प्रातिशाख्य में) व्याकरण-शास्त्र में प्रसिद्ध पद-परिमाण इष्ट नहीं है (अर्थात् प्रातिशाख्य-ग्रन्थ में व्याकरण-शास्त्र में उल्लिखित पदों का ग्रहण नहीं किया गया है), अपितु वेद में सिद्ध (पद-परिमाण) ही (इष्ट होता है)। इससे 'पुनरुत्स्यूतम्'—यहाँ (सकार के लोप का) प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है क्योंकि 'उत्' शब्द पद का एकदेश है। 'श्रृत उत्स्नाति'—यहाँ पर भी (सकार के लोप का) प्रसङ्ग नहीं (उपस्थित होता है)। क्योंकि इस (प्रातिशाख्य) शास्त्र का केवल संहिता-ग्रन्थ ही विषय है।[क] (पू०) तब यहाँ "उदायुषा स्वायुषा"—इस अनुवाक

(क) पूर्वपक्षी—व्याकरण-शास्त्र (मूल-शास्त्र) के अनुसार 'उद्' से बाद में विद्यमान 'स्था' और 'स्तम्भ' धातुओं के सकार का लोप होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'उद्' के बाद में विद्यमान सकार का लोप हो जाता है, चाहे उस सकार के बाद में कोई भी 'व्यञ्जन' हो। यह युक्त नहीं है क्योंकि (१) इससे व्याकरण-शास्त्र (मूलशास्त्र) का उल्लंघन हो जाता है; (२) 'पुनरुत्स्यूतं वासः', "श्रृत उत्स्नाति जनिता मतीनाम्" इत्यादि स्थलों पर भी सकार के लोप का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, जब कि इन स्थलों पर सकार का लोप अभीष्ट नहीं है।

सिद्धान्ती—(१) व्याकरण-शास्त्र में सिद्ध पद-परिमाण यहाँ अभीष्ट नहीं है। वेद-सिद्ध (वेद में उपलब्ध) पद ही यहाँ आधार माने गए हैं। यदि व्याकरण में 'स्था' और 'स्तम्भ'—इनके सकार के लोप का विधान किया गया है तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रातिशाख्य में भी इन्हीं दो के सकार के लोप का विधान किया जाये; (२) 'पुनरुत्स्यूतम्' में सकार के लोप का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है। १।५० के अनुसार 'उत्' पद के बाद में स्थित सकार का ही लोप होता है। इस स्थल पर 'उत्' पद नहीं, अपितु अन्य पद का एकदेश है। 'श्रृत उत्स्नाति' यह ब्राह्मण का उदाहरण है। ब्राह्मण प्रातिशाख्य का विषय नहीं है। अतः इस उदाहरण में सकार के लोप का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है।

---

(१) १।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिविधो हि समाम्नायः समाम्नायते। संहिताम्नायः पदाम्नायः क्रमाम्नाय इति। जटा तु न कदाचित्समाम्नायते। किन्त्वभिज्ञैर्जातुचित्प्रयुज्यते। तदुक्तं शीक्षायाम्—

प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशीक्षाविशारदः।
बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति॥
कार्यं व्याकरणेऽनुक्तं समाम्नानबलात्क्वचित्।
दृष्टं ह्यनुविधातव्यं नानाऽऽम्नातं च कल्प्यते॥
छन्दोवैशेषिकं कार्यं यच्च व्याकरणादिषु।
स्मर्यते हेतुरत्रापि समाम्नानबलं खलु॥

तस्मादसमाम्नातसन्धिषु छन्दोवैशेषिकं व्याकरणानुक्तं च कार्यं नारोपयितव्यम्। किञ्च—जटा नास्य शास्त्रस्य विषय इत्येकादशाध्याये—"राये स इन्द्रः पूर्वः"[1] इति सूत्रे स्पष्टं

में 'स्वायुषोत्' (स्वायुषा उत्)—इस क्रम (—वर्ग) के जटा (—पाठ) में (सकार का लोप) होगा—"स्वायुषोदुद्वायुषा स्वायुषोत्"[क]। इस पर कहते हैं—

असमाम्नात रूप का प्रातिशाख्य प्रवर्त्तक नहीं है। इसलिए असमाम्नात जटा (—पाठ), इस (प्रातिशाख्य) शास्त्र का विषय नहीं है। क्योंकि तीन प्रकार का ही समाम्नाय (वेद-पाठ) माना गया है—संहिता-पाठ, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ। किन्तु जटा (—पाठ) को कभी भी समाम्नाय नहीं माना गया है। किन्तु विद्वानों के द्वारा कभी-कभी प्रयोग किया जाता है। शिक्षा में भी इसे कहा गया है—

जो प्रातिशाख्य इत्यादि शास्त्रों का ज्ञाता, सम्पूर्ण शिक्षा—ग्रन्थों में प्रवीण तथा बुद्धि-रूप शक्ति से युक्त है वह जटा (—पाठ) को कहने में समर्थ हो सकता है। व्याकरण में न कहे गये कार्य का कहीं-कहीं वेद-पाठ के आधार पर विधान करना पड़ता है क्योंकि वेद में दृष्ट का अनुविधान होता है (वेद में जैसा दिखलाई पड़े वैसा विधान कर लिया जाता है)। किन्तु वेद-पाठ में अनुपलब्ध की कल्पना नहीं की जाती है। वेद का जो विशिष्ट कार्य (वेद का विशेष रूप) व्याकरण आदि में कहा जाता है उसका कारण भी वेद-पाठ ही है (अर्थात् वेद में उपलब्ध होने के कारण ही उसका विधान किया जाता है)।

इसलिए असमाम्नात (वेद-पाठ में अनुपलब्ध) संधियों में वेद-विशिष्ट और व्याकरण में न कहे गये कार्य को आरोपित नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त

(क) उदायुषा स्वायुषोदोषधीनाꣳरसेन। सं० पा०
उदिति। आयुषा। स्वायुषेति सु-आयुषा। उदिति। ओषधीनाम्। रसेन॥ प०पा०
पूर्वपक्षी के अनुसार 'स्वायुषोत्' (स्वायुषा उत्) के जटा-पाठ 'स्वायुषोदुद्वायुषा स्वायुषोत्' में प्रस्तुत सूत्र के अनुसार सकार का लोप हो जाता है। किन्तु यह अनिष्ट है।

---

(१) ११।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्यति। तस्मान्नात्रत्यानि कार्याणि जटायामसमाम्नातसन्धिषु निवेशयितव्यानि। ये च "अविभः पितः"[1] इत्यादीनां विधयस्तेषामपि जटाव्यतिरिक्तविषयाः तत्र तत्र दर्शयिष्यन्त इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ १४ ॥

एष स स्य इति च ॥ १५ ॥

मा०—एषः, सः, स्यः, इत्येतेषु ग्रहणेषु विसर्जनीयो लोपमापद्यते। व्यञ्जनपर इति चकारो ज्ञापयति। यथा—"एष ते गायत्रः"[2]। "अधोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्"[3] इति "एषस्ते गायत्र" इति प्राप्ते। "एष वै देवरथः"[4]। "ओकारमः सर्वोऽकारपरः"[5], "घोषवत्परश्च"[6] इति एषो वा इति प्राप्ते। "स ते जानाति"[7]। "अघोषपर"[8] इत्यादिना सत्वे प्राप्ते अनेन लोपो विधीयते। "एष स्य वाजी"[9]। "अघोषपर"[8] इत्यादिना उपध्मानीये प्राप्ते। व्यञ्जनपर इति किम्? "परा वा एषोऽग्निं वपति"[10]। "सोऽमुं लोकं गत्वा"[11]। "इत्थं वाव स्य आर्त्तिम्"[12] ॥ १५ ॥

त्रि०—व्यक्तिविषयः इतिशब्दः प्रत्येकमेष इत्यादीन् विसर्जनीयान्तान् द्योतयति। चकारो व्यञ्जनपरतामन्वादिशति। (एष स स्य इति च =) एषः, सः, स्यः एषु पदेषु;

एकादश अध्याय में "राये, सः और इन्द्रः पूर्व में होने पर (तथा अकार बाद में होने पर अस्मान् का अकार लुप्त नहीं होता है)" इस सूत्र में यह स्पष्ट हो जायेगा कि जटा-पाठ इस प्रातिशाख्य-शास्त्र का विषय नहीं है। इसलिए यहाँ के कार्य (अर्थात् प्रातिशाख्य में विहित कार्य) जटा पाठ में असमाम्नात सन्धियों में लागू नहीं करने चाहिये। और जो "अविभः पितः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)" इत्यादि की विधियाँ हैं उनके भी जटा-पाठ से अतिरिक्त विषय (स्थल) वहाँ-वहाँ (= उन-उन सूत्रों के भाष्य में) दिखलाये जायेगें—इसलिए अब विस्तार न कीजिए।

सू० अ०—एषः, सः तथा स्यः का (विसर्जनीय) भी ('व्यञ्जन' बाद में होने पर लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—स्पष्टता का वाचक 'इति' शब्द 'एषः' इत्यादि सभी को विसर्जनीय में अन्त होने वाला बतलाता है।[क] सूत्र में प्रयुक्त (च =) चकार; (पूर्व सूत्र से)

(क) अर्थात् 'इति' शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने यह बतलाया है कि 'एषः', 'सः' और 'स्यः' के अन्त में विसर्जनीय विद्यमान है, जिसके लोप का विधान प्रस्तुत सूत्र के द्वारा किया गया है।

---

(१) ८।८ (२) ३।१।२ (३) ९।२
(४) २।५।६ (५) ६।७ (६) ९।८
(७) १।२।१४ (८) ६।२ (९) १।७।८
(१०) ५।२।२ (११) १।५।६ (१२) २।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसर्जनीयो व्यञ्जनपरो लुप्यते। यथा—"एष ते गायत्रः"[१]। "स ते जानाति"[२]। "एष स्य वाजी"[३]। एवम्पर इति किम्? "दम एवास्यैष उप तिष्ठते"[४]। "स इधानः"[५] ॥ १५ ॥

वै०—चशब्देन व्यञ्जनपर इत्यन्वादिश्यते। एषः। सः। स्यः। इत्येतानि पदानि लुप्यन्ते व्यञ्जने परतः। अत्रान्त्यो वर्णो लुप्यते "वर्णस्य विकारलोपौ"[६] इति परिभाषणात्। "एष वै देवरथः"[७]। "एष ते यज्ञो यज्ञपते"[८]। "स खदिरोऽभवत्"[९]। "स गिरिमुदैत्तमग्निरनूदैत्"[१०]। "एष स्य वाजी"[११]। "अयमुष्य प्र देवयुः"[१२]। अन्वादेशेन किम्?

'व्यञ्जन' बाद में होने पर' का अन्वादेश करता है। (एष स स्य इति च =) 'एषः', 'सः' तथा 'स्यः'—इन पदों में स्थित; विसर्जनीय; 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त हो जाता है। जैसे—"एष ते गायत्रः"क। "स ते जानाति"क। "एष स्य वाजी"क। यह ('व्यञ्जन') बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "दम एवास्यैष उप तिष्ठते"ख। "स इधानः"ख ॥ १५ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द से (पूर्व सूत्र से) 'व्यञ्जन बाद में होने पर' की अनुवृत्ति हो रही है। एषः, सः तथा स्यः—ये पद, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त हो जाते हैं। यहाँ पर अन्तिम वर्ण (विसर्जनीय) लुप्त होता है, क्योंकि "वर्ण (मात्र) के विकार और लोप (होते हैं)"—यह कह दिया गया है। "एष वै देवरथः"। "एष ते यज्ञो यज्ञपते"। "स खदिरोऽभवत्"। "स गिरिमुदैत्तमग्निरनूदैत्"। "एष स्य वाजी"। "अयमुष्य प्र देवयुः"ग। अन्वादेश से क्या (लाभ

(क) एषः। ते। गायत्रः॥ सः। ते। जानाति॥ एषः। स्यः। वाजी॥ प० पा०

(ख) दमः। एव। अस्य। एषः। उपेति। तिष्ठते॥ सः। इधानः॥ प० पा०

'एषः' तथा 'सः' का विसर्जनीय प्रस्तुत सूत्र से लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि इनके बाद में 'व्यञ्जन' नहीं, अपितु 'स्वर' है। इन स्थलों में 'विसर्जनीय' का जो लोप हुआ है उसके लिए प्रस्तुत सूत्र पर वै० को देखिए।

(ग) एषः। वै। देवरथ इति देव—रथः॥ प० पा०
एषः। ते। यज्ञः। यज्ञपत इति यज्ञ—पते॥ प० पा०
सः। खदिरः। अभवत्॥ प० पा०
सः। गिरिम्। उदिति। ऐत्। तम्। अग्निः। अनु। उदिति। ऐत्॥ प० पा०
एषः। स्यः। वाजी॥ प० पा०

---

(१) ३।१।२ (२) १।२।१४ (३) १।७।८
(४) १।५।७ (५) ४।४।४ (६) १।५६
(७) २।५।६ (८) १।४।४४ (९) ३।५।७
(१०) २।३।३ (११) १।७।८ (१२) ५।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यस्यैष उपधीयते"[१]। "स इन्द्रोऽमन्यत"[२]। नन्वत्रापि यकारादेशपूर्वको लोपोऽस्तीति कथं प्रत्युदाहरणम्? उच्यते—यकारलोपे हि "परश्च"[३] इति सन्धिकार्यनिषेधादिष्टरूपसिद्धिः। विसर्जनीयस्य साक्षाल्लोपे तु सन्धिकार्यप्रसङ्गादनिष्टरूपापत्तिः ॥ १५ ॥

नासः ॥ १६ ॥

मा०—नेति प्रतिषेधः। अस इत्येतस्मिन् ग्रहणे न खलु विसर्जनीयो लोपमापद्यते।

है)? "यस्यैष उपधीयते"। "स इन्द्रोऽमन्यत"क। (पृ०) यहाँ पर भी यकार के आदेशपूर्वक (एषः और सः के विसर्जनीय) का लोप होता है—तब यह प्रत्युदाहरण क्यों दिया गया है? (सि०) बतलाते हैं—क्योंकि यकार का लोप होने पर "(यकार और वकार का लोप होने पर) दूसरी (संधि नहीं होती है)"—इस (सूत्र) से संधि रूप कार्य का निषेध हो जाने से इष्ट रूप की सिद्धि होती है। विसर्जनीय का साक्षात् लोप होने पर तो संधि रूप कार्य के प्रसङ्ग से अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती हैख ॥ १५ ॥

सू० अ०—'असः' (का विसर्जनीय, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त) नहीं (होता है)।

(क) यस्य। एषः। उपधीयत इत्युप—धीयते ॥ प० पा०

'एषः' तथा 'सः' के बाद में 'व्यञ्जन' नहीं अपितु 'स्वर' (उ तथा इ) हैं। अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय का लोप नहीं हुआ है।

(ख) 'एषः। उपधीयते' तथा 'सः। इन्द्रः'—यहाँ पर ६।१० से विसर्जनीय यकार हो जाता है, जिससे ये रूप निष्पन्न होते हैं—'एष य् उपधीयते' तथा 'स य् इन्द्रः'। तत्पश्चात् १०।१६ से यकार का लोप होकर ये अभीष्ट रूप निष्पन्न होते हैं—'एष उपधीयते' तथा 'स इन्द्रः'।

पूर्वपक्षी—विसर्जनीय का यकार आदेश होकर भी विसर्जनीय का लोप होता है। प्रस्तुत सूत्र से भी विसर्जनीय का लोप होता है। यह वस्तु-स्थिति होने पर दोनों में से किसी भी प्रकार से विसर्जनीय का लोप किया जा सकता है। तब इन स्थलों को प्रस्तुत सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में क्यों प्रस्तुत किया गया है?

सिद्धान्ती—६।१० से विसर्जनीय का यकार आदेश करके १०।१९ से लोप करने पर १०।२५ से बाद वाले पद का सन्धि रूप कार्य नहीं होता और इष्ट रूपों की सिद्धि होती है। किन्तु यदि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार साक्षात् रूप से 'एषः' और 'सः' के विसर्जनीय का लोप किया जाता तो परवर्ती पद के साथ सन्धि-रूप कार्य होता है और १०।५ तथा १०।४ से 'एषोपधीयते' तथा 'सेन्द्रः'—इन अनिष्ट रूपों की निष्पत्ति होती है।

---

(१) ५।६।२ (२) ७।१।५ (३) १०।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"हृत्स्वसो मयोभून्यः"[१]। अस इत्येतस्मिन् प्रहणे व्यञ्जनपरस्य विसर्जनीयस्य लोपे प्राप्ते "अप्यकारादि"[२] वचनात् प्रतिषेधः क्रियते ॥ १६ ॥

त्रि०—असः इत्यस्मिन् प्रहणे विसर्जनीयः व्यञ्जनपरो न लुप्यते। "हृत्स्वसो मयोभून्"[१]। "अप्यकारादि"[२] इतिप्राप्तेर्निषेधः ॥ १६ ॥

वै०—अस इति पदं व्यञ्जने परतः न लुप्यते। "हृत्स्वसो मयोभून्"[१]। "अप्यकारादि"[२] इति प्राप्तिः ॥ १६ ॥

इद्विदग्न इमान्न एनौषधीः परः सः ॥ १७ ॥

मा०—इदु, इदग्ने, इमान्नः, एना, ओषधीः इत्येवंपरो विसर्जनीयो लोपमापद्यते। स इत्येतस्मिन्निति चकारो ज्ञापयति। यथा—"यजात्सेदु होता"[३]। "सेदग्ने अस्तु"[४]। इद्विदग्न इति किम्? "स इद्देवेषु गच्छति"[५]। "सेमां नो हव्यदातिं जुषाणः"[६]। इमान्न इति किम्? "स इमामप्रयत्ताम्"[७]। "सैनाऽनीकेन सुविदत्रः"[८]। "सौषधीरनु रुध्यसे"[९]। स इत्येतस्मिन्निति किम्? "परो दिवा पर एना"[१०] ॥ १७ ॥

त्रि०—इदु, इदग्ने, इमां नः, एना, ओषधीः इत्येवंपरः सः इत्यत्र विसर्जनीयो

त्रि०अ०—असः—इस पद में स्थित विसर्जनीय, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त; न = नहीं; होता है। "हृत्स्वसो मयोभून्"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से ('असः' के विसर्जनीय के लोप की) प्राप्ति का निषेध (प्रस्तुत सूत्र से किया गया है)[क] ॥ १६ ॥

वै० अ०—असः—यह पद, 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, न = नहीं; लुप्त होता है। "हृत्स्वसो मयोभून्"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय के लोप की) प्राप्ति थी ॥ १६ ॥

सू० अ०—इदु, इदग्ने, इमां नः, एना अथवा ओषधीः बाद में हो तो सः (का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—इदु, इदग्ने, इमां नः, एना, ओषधीः—ये; परः = बाद में होने

(क) हृत्स्वस इति हृत्सु—असः। मयोभूनिति मयः—भून् ॥ प० पा०
५।१५ में 'सः' पद के विसर्जनीय के लोप का विधान किया गया है। १।५२ के सामर्थ्य से 'असः' पद के विसर्जनीय के लोप की प्राप्ति होती है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र उसका निषेध करता है। इसलिए 'व्यञ्जन' (म्) बाद में होने पर भी 'असः' के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है।

---

(१) ४।२।११ (२) १।५२ (३) १।१।१४ (४) १।२।१४
(५) ४।१।११ (६) ४।६।६ (७) ७।१।५
(८) ४।३।१३ (९) ४।२।३ (१०) ४।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुप्यते। यथा—"सेदु होता"[१]। "सेदग्ने अस्तु"[२]। उ अग्ने इत्येताभ्यां किम्? "स इज्जनेन"[३]। "स इदेवेषु गच्छति"[४]। "सेमां नो हव्यदातिम्"[५]। न इति किम्? "स इमामभ्यमृशत्"[६]। "सैनाऽनीकेन"[७]। "सौषधीरनु रुध्यसे"[८]। स इति किम्? "परो दिवा पर एना"[९] ॥ १७ ॥

वै०—इदु। इदग्ने। इमां नः। एना। ओषधीः। इत्येतेषु; (परः =) परतः; स इति पदं लुप्यते। अव्यञ्जनपरार्थं वचनम्। "सेदु होता"[१]। "सेदग्ने अस्तु"[२]। उ

पर; सः—यहाँ पर विसर्जनीय लुप्त हो जाता है। जैसे—"सेदु होता"। "सेदग्ने अस्तु"[क]। 'उ' और 'अग्ने'—इनसे क्या (लाभ है)? "स इज्जनेन"[ख]। "स इदेवेषु गच्छति"।[ख] "सेमां नो हव्यदातिम्"।[ग] नः—यह क्यों (कहा)? "स इमामभ्यमृशत्"।[घ] "सैनाऽनीकेन"।[ङ] "सौषधीरनु रुध्यसे"।[ङ] सः—यह क्यों (कहा)? "परो दिवा पर एना"[च] ॥ १७ ॥

वै० अ०—इदु, इदग्ने, इमां नः, एना तथा ओषधीः—ये; (परः =) बाद

(क) सः। इत्। उ। होता ॥ सः। इत्। अग्ने। अस्तु ॥ प० पा०

'इदु', 'इदग्ने' बाद में होने के कारण 'सः' के विसर्जनीय का लोप हो गया है। तदनन्तर 'स' के अकार की परवर्ती इकार के साथ सन्धि होकर अभीष्ट रूप निष्पन्न हुए हैं।

(ख) सः। इत्। जनेन ॥ सः। इत्। देवेषु। गच्छति ॥ प० पा०

'इत्' के बाद 'उ' तथा 'अग्ने' नहीं हैं। अतः 'सः' के विसर्जनीय का लोप नहीं हुआ है। इन स्थलों पर ९।१० से पहले विसर्जनीय का यकार हुआ है और १०।१६ से उस यकार का लोप हुआ है। तत्पश्चात् १०।२५ से बाद वाले पद के साथ सन्धि नहीं हुई है। अतः इष्ट रूपों की प्राप्ति हुई है।

(ग) सः। इमाम्। नः। हव्यदातिमिति हव्य—दातिम् ॥ प० पा०

(घ) सः। इमाम्। अभीति। अमृशत् ॥ प० पा०

(ङ) सः। एना। अनीकेन ॥
सः। ओषधीः। अन्विति। रुध्यसे ॥ प० पा०

(च) परः। दिवा। परः। एना ॥ प० पा०

'एना' बाद में होने पर भी 'परः' के विसर्जनीय का लोप प्रस्तुत सूत्र से नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में केवल 'सः' के विसर्जनीय के लोप का विधान किया गया है।

---

(१) १।१।१४ (२) १।२।१४ (३) २।३।१४
(४) ४।१।११ (५) ४।६।६ (६) ५।५।२
(७) ४।३।१३ (८) ४।२।३ (९) ४।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्ने इत्युपबन्धाभ्यां किम् ? "स इज्जनेन"[१] । "सेमां नो हव्यदातिम्"[२] । न इत्युपबन्धेन किम् ? "स इमामभ्यमृशत्"[३] । "सैनाऽनीकेन"[४] । "सौषधीरनु रुध्यसे"[५] ॥ १७ ॥

अवग्रह इत्येकम् ॥ १८ ॥

मा०—इतिशब्दविशिष्ट एकमित्येष अवग्रहो लोपमापद्यते । "वर्णस्य विकार—लोपौ"[६] इति मकारः । "पापीयान् स्यादित्येकैकं तस्य"[७] । इत्येकमिति किम् ? "यदेकमेकँ संभरेत्"[८] । अवग्रह इति किम् ? "इत्येकमग्रेऽथ द्वावथ त्रीन्"[९] । एकमेकमिति प्राप्ते ॥ १८ ॥

त्रि०—(इत्येकम् =) इतिशब्दविशिष्टे एकम् ; इत्यस्मिन् अवग्रहे मकारो लुप्यते । यथा—"इत्येकैकं तस्य जुहुयात्"[७] । अवग्रह इति किम् ? "इत्येकमग्रेऽथ"[९] । इतिशब्दविशिष्ट इति किम् ? "यदेकमेकꣳ संभरेत्"[८] ॥ १८ ॥

में होने पर; सः—यह पद लुप्त हो जाता है । अव्यञ्जनपर के लिए (यह सूत्र) कहा गया है ।[क] "सेदु होता"। "सेदग्ने अस्तु"। उ, अग्ने—इन उपबन्धों से क्या (लाभ है) ? "स इज्जनेन" । "सेमां नो हव्यदातिम्" । नः—इस उपबन्ध से क्या (लाभ है) ? "स इमामभ्यमृशत्" । "सैनाऽनीकेन" । "सौषधीरनु रुध्यसे" ॥ १७ ॥

सू० अ०—'इत्येकम्' (का मकार लुप्त हो जाता है यदि 'एकम्') सावग्रह पद का पूर्वपद हो ।

त्रि० अ०—(इत्येकम् =) 'इति' शब्द से विशिष्ट 'एकम्' इस; (अवग्रहे =) पूर्वपद में; वर्तमान मकार लुप्त हो जाता है । जैसे—"इत्येकैकं तस्य जुहुयात्"[ख] । पूर्व-पद में—यह क्यों (कहा) ? "इत्येकमग्रेऽथ द्वावथ त्रीन्"[ग] । 'इति' शब्द से

(क) 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'सः' के विसर्जनीय के लोप का विधान ५।१५ में कर दिया गया है । इन स्थलों में 'स्वर' (अव्यञ्जन) बाद में होने पर 'सः' के विसर्जनीय का लोप होता है । अतः इसका प्रस्तुत सूत्र में पृथक् रूपेण विधान किया गया है ।

(ख) इति । एकैकमित्येकम्—एकम् । तस्य । जुहुयात् ॥ प० पा०

(ग) इति । एकम् । अग्ने । अथ ॥ प० पा०
'एकम्' सावग्रह पद का पूर्व-पद नहीं है । अतः 'एकम्' के मकार का लोप नहीं हुआ है ।

---

(१) २।३।१४	(२) ४।६।६	(३) ५।५।२
(४) ४।३।१३	(५) ४।२।३	(६) १।५७
(७) ५।१।१	(८) १।६।८	(९) ६।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(इत्येकम् =) इतिशब्दोपबन्धात्पर एकमिति; अवग्रहः संहितायां लुप्यते। "पापीयान्त्स्यादित्येकैकम्"[१]। अवग्रह इति किम्? "अर्धुकꣳस्यादित्येकमग्रे"[२]। इतीत्युपबन्धेन किम्? "यदेकमेकꣳसंभरेत्"[३] ॥ १८ ॥

तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः ॥ १९ ॥

मा०—तिष्ठन्त्येकया इत्यस्मिन् ग्रहणे पूर्वेण यकारेण सह अन्त्य अकारो लोपमाप्यते। "प्रति तिष्ठन्त्येकैकयाऽस्तुतया"[४]। तिष्ठन्त्येकयेति किम्? "एकयैकयोत्सर्गम्"[५]। तिष्ठन्त्येकयेकयेति प्राप्ते ॥ १९ ॥

त्रि०—(तिष्ठन्त्येकया =) तिष्ठन्तिशब्दविशिष्टे एकया; इत्यस्मिन् ग्रहणे अन्त्यो वर्णः; सपूर्वः = पूर्वसहितः; लुप्यते। यथा—"तिष्ठन्त्येकैकयाऽस्तुतया समायन्ति"[४]। तिष्ठन्तीति किम्? "करोत्येकयैकयोत्सर्गम्"[५]। पूर्वेण सह वर्तत इति सपूर्वः ॥ १९ ॥

विशिष्ट (एकम्) में—यह क्यों (कहा)? "यदेकमेकꣳसंभरेत्"[क] ॥ १८ ॥

वै० अ०—(इत्येकम् =) 'इति' शब्द रूप उपबन्ध से बाद में स्थित 'एकम्'—यह; अवग्रहः[ख] = सावग्रह पद का पूर्व-पद; संहिता में लुप्त हो जाता है। "पापीयान्त्स्यादित्येकैकम्"[ग]। सावग्रह पद का पूर्वपद—यह क्यों (कहा)? "अर्धुकꣳस्यादित्येकमग्रे"[घ]। 'इति'—इस उपबन्ध से क्या (लाभ है)? "यदेकमेकꣳसंभरेत्"[ङ] ॥ १८ ॥

सू० अ०—'तिष्ठन्त्येकया' (का अन्तिम वर्ण) अपने पूर्ववर्ती (वर्ण) के सहित (लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—(तिष्ठन्त्येकया =) 'तिष्ठन्ति' शब्द से विशिष्ट एकया; इस पद में; अन्तिम वर्ण; सपूर्वः = पूर्व सहित; लुप्त हो जाता है। जैसे—"तिष्ठन्त्येकैकयाऽ

(क) यत्। एकमेकमित्येकम्—एकम्। सम्भरेदिति सं—भरेत् ॥ प० पा०

'एकम्' यद्यपि सावग्रह पद का पूर्व-पद है, तथापि इसके पूर्व में 'इति' नहीं है। अतः मकार का लोप नहीं हुआ है।

(ख) सूत्रस्थ 'अवग्रह' को त्रिभाष्यरत्नकार ने 'अवग्रहे' के रूप में ग्रहण किया है जबकि वैदिकाभरणकार ने इसे 'अवग्रहः' के रूप में स्वीकार किया है।

(ग) पापीयान्। स्यात्। इति। एकैकमित्येकम्—एकम् ॥ ६० पा०

(घ) अर्धुकम्। स्यात्। इति। एकम्। अग्रे ॥ प० पा०

(ङ) यत्। एकमेकमित्येकम्—एकम्। संभरेदिति सं—भरेत् ॥ प० पा०

---

(१) ५।१।१ (२) ६।२।३ (३) १।६।८
(४) ७।५।८ (५) ६।१।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(तिष्ठन्त्येकया =) तिष्ठन्तीत्युपबन्धात्परमेकयेति; पदं लुप्यते। एकयेत्यस्य अवग्रहत्वात् उत्तरपदसंहितायां अन्त्यो वर्णो लोपमर्हति। स इह; सपूर्वः = पूर्वेण उपान्त्येन वर्णेन सहितः; लुप्यते। "प्रति तिष्ठन्त्येकैकया"[१]। तिष्ठन्तीति किम्? "करोत्येकयैकयोत्सर्गम्"[२] ॥ १९ ॥

नकारः शकारं चपरः ॥ २० ॥

मा०—नकारः शकारमापद्यते चपरः। यथा—"अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्"[३]। "ऋतूँश्च"[४]। नकार इति किम्? "शञ्च मे"[५]। चपर इति किम्? "ताञ्छन्दोभिरन्वविन्दत्"[६] ॥ २० ॥

त्रि०—(चपरः =) चकारपरः; नकारः शकारम् आपद्यते। यथा—"अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्"[३]। ऋतूँश्च तस्य नक्षत्रियां च"[४]। "कर्णाँश्चाकर्णाँश्च"[७]। नकार इति किम्? "शं च मे"[५]। चपर इति किम्? "ताञ्छन्दोभिरन्वविन्दत्"[६]। चकारः परो यस्मादसौ चपरः ॥ २० ॥

स्तुतया समायन्ति"क। 'तिष्ठन्ति'—यह क्यों (कहा)? "करोत्येकयैकयोत्सर्गम्"ख। पूर्व के सहित वर्तमान=सपूर्व ॥ १९ ॥

वै० अ०—(तिष्ठन्त्येकया=) 'तिष्ठन्ति'—इस उपबन्ध से परवर्ती 'एकया'—यह पद; लुप्त हो जाता है। सावग्रह पद का पूर्व-पद होने के कारण एकया—इसकी उत्तर-पद के साथ संहिता होने पर इसका अन्तिम वर्ण लोप के योग्य होता है। वह (अन्तिम वर्ण) यहाँ; सपूर्वः=पूर्ववर्ती उपोत्तम वर्ण (य्) के सहित; लुप्त होता है। "प्रति तिष्ठन्त्येकैकया"। तिष्ठन्ति—यह क्यों (कहा)? "करोत्येकयैकयोत्सर्गम्" ॥ १९ ॥

सू० अ०—'च' बाद में होने पर नकार शकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—(चपरः =) चकार बाद में होने पर; नकार; शकार हो जाता है। जैसे—"अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्"। "ऋतूँश्च तस्य नक्षत्रियां च"। "कर्णाँश्

(क) तिष्ठन्ति। एकैकयेत्येकया—एकया। स्तुतया। समायन्ति ॥ प० पा०
'एकया' का आकार अपने पूर्ववर्ती यकार के सहित लुप्त हो गया है।

(ख) करोति। एकयैकयेत्येकया—एकया। उत्सर्गमित्युत्—सर्गम् ॥ प० पा०
'एकया' के पूर्व में 'तिष्ठन्ति' नहीं है। अतः 'एकया' का 'या' लुप्त नहीं हुआ है।

---

(१) ७।५।८ (२) ६।१।९ (३) ४।५।१ (४) ७।१।३
(५) ४।७।३ (६) १।५।९ (७) १।८।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चपर इत्यत्रापि अकारान्तो व्यञ्जननिर्देशः। "नायन्नैरयन्"[1] इति प्रतिषेध सामर्थ्यात्। पदान्तो नकारः शकारमादेशमश्नुते चकारे पदादौ परतः। यथा—"भुवो नॄँश्च्यौत्नः"[2]। "सजाताँश्च्यावयति"[3]। "वृत्रान्घ्नँश्चरेत्"[4]। चपर इति किम्? "तानाहरत्"[5] ॥ २० ॥

श्चाकर्णाँश्च"क। नकार—यह क्यों (कहा)? "शं च मे"ख। 'च' बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "ताञ्छन्दोभिरन्वविन्दत्"ग। चकार है बाद में जिससे वह=चपर ॥ २० ॥

वै० अ०—चपरः = चकार बाद में होने पर—यहाँ पर भी अकारान्त 'व्यञ्जन' (च्+अ) का निर्देश है। "आयन्, ऐरयन्…(—इन पदों का नकार शकार) नहीं (होता है)"—इस प्रतिषेध के सामर्थ्य से।घ नकारः=पदान्त नकार; शकारम् = शकार आदेश को; प्राप्त करता है; (चपरः =) पदादि चकार बाद में होने पर। जैसे—"भुवो नॄँश्च्यौत्नः"। "सजाताँश्च्यावयति"। "वृत्रान्घ्नँश्चरेत्"ङ। 'च' बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तानाहरत्"च ॥ २० ॥

(क) अहीन्। च ॥ ऋतून्। च ॥ कर्णान्। च ॥ प० पा०

(ख) शम्। च। मे ॥ प० पा०

चकार के पूर्व में नकार नहीं, अपितु अनुस्वार है। अतः नकार के शकार होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है।

(ग) तान्। छन्दोभिरिति छन्दः—भिः। अन्विति ॥ प० पा०

बाद में चकार नहीं, अपितु छकार है। अतः नकार शकार नहीं हुआ है।

(घ) चपरः की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है—(१) 'च' पद बाद में होने पर और (२) 'च्' व्यञ्जन बाद में होने पर (दे० १।२१)। यहाँ द्वितीय व्याख्या अभीष्ट है क्योंकि अव्यवहित परवर्ती सूत्र ५।२१ में 'च्' व्यञ्जन बाद में होने पर कतिपय पदों के नकार के शकार होने का निषेध किया गया है।

(ङ) भुवः। नन्। च्यौत्नः ॥ सजातानिति स-जातान्। च्यावयति ॥ वृत्रान्। घ्नन्। चरेत् ॥ प० पा०

(च) तान्। आहरत् ॥ प० पा०

---

(१) ५।२१ (२) ३।४।११ (३) २।२।५
(४) २।४।१३ (५) ७।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायन्नैरयन्नाध्नुवन्ननड्वान्घृणीवान्वारुणानेवास्मिन् ॥ २१ ॥

मा०—इत्येतेषु ग्रहणेषु न खलु नकारः शकारमापद्यते। यथा—"सुवर्गं लोकमायन् चतस्रः"[१]। "यामैरयञ्चन्द्रमसि"[२]। "आध्नुवञ्चरुणाऽस्मिन्"[३]। "अनड्वाञ्च मे"[४]। "घृणीवाञ्चेतति"[५]। "वारुणाञ्चतुष्कपालान्"[६]। "एवास्मिञ्चक्षुर्धत्तः"[७]। एवास्मिन्निति किम्? "अस्मिँश्चामुष्मिँश्च"[८]। इति ॥ २१ ॥

त्रि०—आयन्, ऐरयन्, आध्नुवन्, अनड्वान्, घृणीवान्, वारुणान् एवास्मिन् एतेषु ग्रहणेषु नकारः शकारं नापद्यते, चपरोऽपि। यथा—"लोकमायञ्चतस्रः"[१]। "यामैरयञ्चन्द्रमसि"[२]। "आध्नुवञ्चरुणाऽस्मिन्"[३]। "अनड्वाञ्च मे धेनुश्च मे"[४]। 'घृणीवाञ्चेतति त्मना"[५]। "वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत्"[६]। "एवास्मिञ्चक्षुर्धत्तः"[७]। एवेति किम्? "अस्मिꣳश्चामुष्मिꣳश्च"[८] ॥ २१ ॥

सू० अ०—आयन्, ऐरयन्, आध्नुवन्, अनड्वान्, घृणीवान्, वारुणान्, तथा एवास्मिन् (इन पदों का नकार शकार) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—आयन्, ऐरयन्, आध्नुवन्, अनड्वान्, घृणीवान्, वारुणान् तथा एवास्मिन्—इन पदों में स्थित नकार शकार नहीं होता है, 'च' बाद में होने पर भी। जैसे—"लोकमायञ्चतस्रः"। "यामैरयञ्चन्द्रमसि"। "आध्नुवञ्चरुणाऽस्मिन्"। "अनड्वाञ्च मे धेनुश्च मे"। "घृणीवाञ्चेतति त्मना"। "वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत्"। "एवास्मिञ्चक्षुर्धत्तः"।[क] 'एव'—यह क्यों (कहा)? "अस्मिꣳश्चामुष्मिꣳश्च"[ख] ॥ २१ ॥

(क) लोकम्। आयन्। चतस्रः ॥ प० पा०
याम्। ऐरयन्। चन्द्रमसि ॥ प० पा०
आध्नुवन्। चरुणा। अस्मिन् ॥ प० पा०
अनड्वान्। च। मे। धेनुः। च। मे ॥ प० पा०
घृणीवान्। चेतति। त्मना ॥ प० पा०
वारुणान्। चतुष्कपालानिति चतुः—कपालान्। निर्वपेत् ॥ प० पा०
एव। अस्मिन्। चक्षुः। धत्तः ॥ प० पा०
'आयन्', 'ऐरयन्' इत्यादि पदों में स्थित नकार चकार बाद में होने पर भी शकार को प्राप्त नहीं हुआ है।

(ख) अस्मिन्। च। अमुष्मिन्। च ॥ प० पा०
'अस्मिन्' के पूर्व में 'एव' नहीं है। अतः यहाँ प्रस्तुत निषेध लागू नहीं होता है जिससे ५।२० से नकार शकार हो जाता है।

---

(१) ५।२।३ (२) १।१।९ (३) ५।५।१ (४) ४।७।१०
(५) ३।५।११ (६) २।३।१२ (७) २।२।६ (८) ७।३।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(नायन्नैरयन्नार्ध्नुवन्ननड्वान्घृणीवान्वारुणानेवास्मिन् =) आयन्नित्यादिषु; नकारश्शकारं नाश्नुते चकारे पदादौ परतः । आयन्—"लोकमायञ्चतस्रः"[१] । ऐरयन्—"यामैरयञ्चन्द्रमसि"[२] । आर्ध्नुवन्—"लोक आर्ध्नुवञ्चरुणाऽस्मिन्"[३] । अनड्वान्—"अनड्वानञ्च मे"[४] । घृणीवान्—"घृणीवाञ्चेतति त्मना"[५] । वारुणान्—"तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्"[६] । एवास्मिन्—"तावेवास्मिञ्च्छुर्धत्तः"[७] । एवेत्युपबन्धेन किम् ? "अस्मिꣳश्चामुष्मिꣳश्च"[८] ॥ २१ ॥

तकारश्चकारꣳशचछपरः ॥ २२ ॥

मा०—तकारः चकारमापद्यते शकारचकारछकारपरः । यथा—"तच्छंयोरावृणीमहे"[९] । "तच्चाददुः"[१०] । "आच्छच्छन्दः"[११] । शछपर इति किम् ? "तदन्तरिक्षम्"[१२] । "तत्सवितुः"[१३] इति ॥ २२ ॥

त्रि०—शचछपरस्तकारश्चकारम् आपद्यते । यथा—"तच्छंयोः"[९] । "तच्चाददुः"[१०] । "तच्छन्दसाम्"[१४] । अत्र शचछपर इति समान्येनोक्तानां निमित्तानां प्राकृतत्वं विज्ञेयम्, मुख्यत्वात् । प्राकृतवैकृतयोः प्राकृतं मुख्यम् । अन्यथा शकारग्रहणवैयर्थ्याच्च । कुतो वैयर्थ्यम् ? "स्पर्शपूर्वंश्शकारश्छकारम्"[१५] इति शकारस्य छत्वे कृते "तकारश्चकारं

वै० अ०—(नायन्नैरयन्नार्ध्नुवन्ननड्वान्घृणीवान्वारुणानेवास्मिन् =) 'आयन्' इत्यादि में; पदादि चकार बाद में होने पर नकार शकार नहीं होता है ।...॥

सू० अ०—श्, च् तथा छ् बाद में होने पर तकार चकार (हो जाता है) ।

त्रि० अ०—शचछपरः = श्, च् अथवा छ् बाद में होने पर; तकारः; चकारम् = चकार; हो जाता है । जैसे—"तच्छंयोः", "तच्चाददुः", "तच्छन्दसाम्"[क] । यहाँ श्, च्, छ् बाद में होने पर—इससे सामान्य रूप से कहे गए निमित्तों के प्रकृत रूप को ही जानना चाहिए, मुख्य होने से । प्राकृत तथा वैकृत में प्राकृत मुख्य (होता है) । अन्यथा शकार का ग्रहण भी व्यर्थ हो जायेगा । (पू०) क्यों व्यर्थ हो जायेगा ? (सि०) "स्पर्श पूर्व में होने पर शकार छकार (हो जाता है)" इस (सूत्र) से शकार का छत्व करने पर "च् तथा छ् बाद में होने पर तकार चकार (हो जाता है)"—इतने से ही सिद्धि हो जाती है—यह कहते हैं । इसके अतिरिक्त बाद वाले सूत्र के प्रवृत्त होने पर बाद में पूर्व सूत्र की प्रसक्ति (लागू करना) उप-

---

(क) तत् । शंयोरिति शं—योः ॥ तत् । च । अददुः ॥ तत् । छन्दसाम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।२।३ (२) १।१।६ (३) ५।५।१ (४) ४।७।१०
(५) ३।५।११ (६) २।३।१२ (७) २।२।६ (८) ७।३।४
(९) २।६।१० (१०) ७।१।५ (११) ४।३।१२ (१२) ७।१।७
(१३) ४।१।११ (१४) ५।५।६ (१५) ५।३४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चछपरः" इत्येतावतैव सिद्धिरिति ब्रूमः। किञ्च-परसूत्रे सति प्रवृत्ते पश्चात् पूर्वसूत्रप्रसरणं न स्वरसम्। "तत्र पूर्वपूर्वं प्रथमम्"[1] इति नियमभङ्गप्रसङ्गात् ॥ २२ ॥

युक्त नहीं है। क्योंकि इससे "वहाँ (संहिता-निर्माण में) पहले वाले (पद और सूत्र) को पहले (अपनाना चाहिए)"—इस नियम के भङ्ग का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है[क] ॥ २२ ॥

(क) सिद्धान्ती—प्राकृत शकार, चकार और छकार बाद में होने पर तकार चकार होता है। जैसे—"तच्छंयोः" (तत्। शंयोरिति शं—योः ॥ प० पा०) में प्राकृत शकार बाद में होने पर, "तच्चाददुः" (तत्। च। अददुः ॥ प० पा०) में चकार बाद में होने पर और "तच्छन्दसाम्" में प्राकृत छकार बाद में होने पर तकार चकार हो गया है। "तच्छंयोः" में पहले तकार प्रस्तुत सूत्र (५।२२) से चकार हो जाता है और तब परवर्ती शकार ४।३४ से छकार हो जाता है। इससे इष्ट रूप (तच्छंयोः) की सिद्धि हो जाती हैं। द्वितीय और तृतीय उदाहरण तो केवल प्रस्तुत सूत्र (४।२२) से ही सिद्ध हो जाते हैं। अभीष्ट की सिद्धि होने के कारण यह मानना चाहिए कि प्राकृत शकार, चकार और छकार बाद में होने पर चकार हो जाता है।

पूर्वपक्षी—'प्राकृत' कहना अनावश्यक है। तकार चकार हो जाता है, चाहे बाद में प्राकृत शकार, चकार और छकार हो और चाहे वैकृत (विकार के परिणामस्वरूप अन्य वर्ण के स्थान पर आया हुआ) शकार, चकार और छकार हो।

सिद्धान्ती—(१) प्राकृत और वैकृत—इन दोनों—में प्राकृत मुख्य है। किसी सूत्र के द्वारा विहित कार्य जब मुख्य में संभव हो, तब अमुख्य में उस कार्य की प्रवृत्ति युक्त नहीं है; (२) आपका मत स्वीकार किया जाने पर प्रस्तुत सूत्र में शकार का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र (५।२२) में शकार का ग्रहण व्यर्थ क्यों हो जायेगा ?

सिद्धान्ती—तकार के बाद में विद्यमान शकार ४।३४ से छकार हो जाता है। यदि वैकृत छकार बाद में होने पर भी तकार चकार हो जाये, तब शकार वाले सभी उदाहरण वैकृत छकार के आधार पर सिद्ध हो जायेंगे। ऐसा कोई भी स्थल नहीं है, जहाँ तकार के बाद में विद्यमान शकार छकार न हो जाये। प्रस्तुत सूत्र (५।२२) में शकार के ग्रहण की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्राकृत छकार बाद में होने पर ही तकार चकार होता है। उस अवस्था में 'तच्छंयोः' इत्यादि स्थलों की सिद्धि के लिए ५।२२ में शकार का ग्रहण सार्थक होगा।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो पता चलता है कि 'तच्छंयोः'

---

(१) ५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तकारश्चकारमादेशमश्नुते; (शचछपरः =) श, च, छ इत्येतेषु व्यञ्जनेषु पदादिषु परतः। "यच्छयामाकः"[१]। "यच्चिद्धि ते"[२]। "आच्छच्छन्दः"[३]। एतत्पर इति किम्? "यज्ञस्य घोषदसि"[४] ॥ २२ ॥

जपरो जकारम् ॥ २३ ॥

मा०—जकारपरस्तकारो जकारमापद्यते। यथा—"तज्जयानां जयत्वम्"[५]। उज्जितिमनु"[६]। जपर इति किम्? "अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः"[७] ॥ २३ ॥

त्रि०—सान्निध्यात्तकार इति लभ्यते। जपरः तकारः जकारम् आप्नोति। यथा—"तज्जयानां जयत्वम्"[५]। एवम्पर इति किम्? "तत्प्रवाते"[८] ॥ २३ ॥

वै०—जपर इति तकारस्य विशेषणम्। न नकारस्य। "आसन्नꣳसन्देहे"[९] इति

वै० अ०—(शचछपरः =) पद के आदि में विद्यमान श, च, छ—ये व्यञ्जन बाद में होने पर; तकारः चकारम्=चकार आदेश को; प्राप्त करता है। —॥क२२॥

सू० अ०—जकार बाद में होने पर (तकार) जकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—सान्निध्य के कारण (५।२२ से) तकार—यह प्राप्त होता है। जपरः = जकार बाद में होने पर; तकारः जकारम् = जकार को; प्राप्त करता है। जैसे—"तज्जयानां जयत्वम्"ख। यह (जकार) बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "तत्प्रवाते"ग॥२३॥

वै० अ०—'ज' बाद में होने पर'—यह (५।२२ में उल्लिखित) तकार का

(तत्। शंयोरिति शं-योः प० पा० ॥) में ५।२२ से तकार का चकार होने से पहले ५।३४ से शकार का छकार होना युक्त नहीं है। यदि ५।३४ से शकार का छकार होने के बाद ५।२२ से तकार का चकार किया जाता है तो ५।३ के द्वारा विहित नियम का उल्लंघन होता है।

अत एव पहले ५।२२ से तकार का चकार होता है और तब शकार ५।३४ से छकार होता है। इस प्रकार यही कहना युक्त है कि प्राकृत शकार, चकार और छकार बाद में होने पर तकार चकार होता है।

(क) यत्। श्यामाकः ॥ यत्। चित्। हि ॥ आच्छत्। छन्दः ॥ यज्ञस्य। घोषत्। असि ॥ प० पा०

(ख) तत्। जयानाम्। जयत्वमिति जय—त्वम् ॥ प० पा०

(ग) तत्। प्रवात इति प्र—वाते ॥ प० पा०

---

(१) २।३।३	(२) ३।४।११	(३) ४।३।१२
(४) १।१।२	(५) ३।४।४	(६) १।६।४
(७) ४।४।४	(८) ६।४।७	(९) १।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वचनात्। तकारो जकारमश्नुते; (जपरः =) जकारे पदादौ परतः। "अग्नेरहमुज्जिति-मनूज्जेषम्"[१] ॥ २३ ॥

नकार एतेषु ञकारम् ॥ २४ ॥

मा०—नकार एतेषु शचछजेषु परेषु ञकारमापद्यते। यथा—"पशून्शुचार्पयति"[२]। "अनड्वाञ्च मे"[३]। "ताञ्छन्दोभिः"[४]। "तस्मा एताञ्जयान्"[५]। एतेष्विति किम्? "विद्वान् सोमेन"[६] ॥ २४ ॥

त्रि०—एतेष्विति बहुवचननिर्देशात् प्रत्यासन्नसूत्रद्वयस्थेषु परनिमित्तेषु सम्प्रत्ययः। तस्मात् एतेषु इति = शचछजेषु परत इत्यर्थः। नकारो ञकारम् आपद्यते। यथा—"तेनै-वैनाञ्छमयति"[७]। शत्वापत्तौ निषिद्धो यो नकारः सोऽत्र चपरत्वेन विषयीक्रियते। "लोक-मायञ्चतस्रः"[८]। "ताञ्छन्दोभिरनु"[४]। "अपरूपमाप्नञ्जायते"[९]। एषम्पर इति किम्? "तान्थ्सुध्वान्"[१०] ॥ २४ ॥

विशेषण है। (५।२० में उल्लिखित) नकार का नहीं। "सन्देह होने पर समीपस्थ (वर्ण अथवा पद) का (ग्रहण होता है)"—इस कथन के कारण। तकार; जकारम् = जकार को; प्राप्त करता है; (जपरः =) पदादि जकार बाद में होने पर। "अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषम्"[क] ॥२३॥

सू० अ०—ये (श, च, छ, ज) बाद में होने पर नकार ञकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—'एतेषु' में बहुवचन के निर्देश से समीपवर्ती दो सूत्रों (५।२२, २३) में स्थित बाद में आने वाले निमित्तों को जानना चाहिए। इसलिए; एतेषु = ये बाद में होने पर = श, च, छ और ज बाद में होने पर—यह अर्थ है। नकारः; ञकारम् = ञकार; हो जाता है। जैसे—"तेनैवैनाञ्छमयति"। शत्व की प्राप्ति में निषिद्ध जो नकार है वह यहाँ, च बाद में होने पर विषय बनाया गया है।[ख]

(क) अहम्। उज्जितिमित्युत्—जितिम् ॥ प० पा०

(ख) प्रश्न हो सकता है कि चकार बाद में होने पर नकार, शकार और ञकार दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि ५।२१ में जिस नकार के शकार होने का निषेध किया गया है वही नकार प्रस्तुत सूत्र के अनुसार, चकार बाद में होने पर ञकार हो जाता है।

---

(१) १।६।४ (२) ५।१।४ (३) ४।७।१० (४) १।५।९
(५) ३।४।४ (६) ३।२।२ (७) ३।४।८ (८) ५।२।३
(९) ३।५।७ (१०) २।४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—एतेष्विति शचछजाः प्रत्यवमृश्यन्ते। न त्वासन्नस्य जकारस्य व्यक्तिभेदा गृह्यन्ते। "अनेकस्यापि"[१] इति वचनात्। "तेनैवैनाञ्छमयति"[२]। चकारपरत्वे तु यत्र शकारादेशः प्रतिषिद्धस्तत्र; (नकार ञकारम् =) एष विधिः; प्रवर्तत इत्यविरोधः। "यामैरयञ्चन्द्रमसि"[३]। "क्षुरो भृज्वाञ्छन्दः"[४]। "असुराञ्जयाम"[५]। एतेष्विति किम्? "तान्कल्पयति"[६] ॥ २४ ॥

लपरौ लकारम् ॥ २५ ॥

मा०—लकारपरौ नकारतकारौ लकारमापद्येते। यथा—"+ + + नाम" (?) + + +। "अस्मिँल्लोके"[७]। लपराविति किम्? "तत्सवितुः"[८]। "विद्वान् सोमेन"[९] ॥ २५ ॥

"लोकमायञ्चतस्रः"। "ताञ्छन्दोभिरनु"। "अपरूपमात्मञ्जायते"क। ये (श, च, छ, ज) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तान्थ्सुब्धान्"ख ॥ २४ ॥

वै० अ०—एतेषु = ये बाद में होने पर—यहाँ श, च, छ, ज समझे जाते हैं। समीपवर्ती जकार के व्यक्तिभेदों का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि "एक से अधिक (वर्ण अथवा पद) का भी (ग्रहण होता है;)"—यह कह दिया गया है। "तेनैवैनाञ्छमयति"। चकार बाद में होने पर तो जहाँ शकार का आदेश प्रतिषिद्ध है वहाँ; (नकार ञकारम् = नकार ञकार हो जाता है =) यह विधि; लागू होती है—इसलिए कोई विरोध नहीं है। "यामैरयञ्चन्द्रमसि"। "क्षुरो भृज्वाञ्छन्दः"। "असुराञ्जयाम"ग ये (श, च, छ, ज) बाद में हों—यह क्यों (कहा)? "तान्कल्पयति"घ ॥ २४ ॥

सू० अ०—ल बाद में होने पर (तकार और नकार) लकार (हो जाते हैं)।

(क) आयन्। चतस्रः ॥ तान्। छन्दोभिरिति छन्दः—भिः ॥
आत्मन्। जायते ॥ प० पा०

(ख) तान्। सुब्धान् ॥ प० पा०
'तान्' का नकार ञकार नहीं हुआ है, क्योंकि इसके बाद में श, च, छ अथवा ज नहीं है।

(ग) याम। ऐरयन्। चन्द्रमसि ॥ क्षुरः। भृज्वान्। छन्दः ॥ असुरान्। जयाम ॥ प० पा०

(घ) तान्। कल्पयति ॥ प० पा०

---

(१) १।२६ (२) ३।४।८ (३) १।१।९
(४) ४।३।१२ (५) २।४।१ (६) ५।३।१
(७) १।५।६ (८) ४।१।११ (९) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—द्विवचनसामर्थ्यात् गृहीतौ प्रकृतौ तकारनकारौ लकारम् आपद्येते लपरौ। यथा—"यल्लोहितं पराऽपतत्"[१]। "त्री ँल्लोकानुदजयत्"[२]। लकारः परः याभ्यां तौ लपरौ ॥ २५ ॥

वै०—आसन्नौ तकारनकारौ; (लकारम्=) लकारमादेशम्; अश्नुवाते; (लपरौ=) लकारे पदादौ परतः। "उक्षत्येभ्य एवैनल्लोकेभ्यः"[३]। छन्दोभिरिमाँल्लोकान्"[४] ॥ २५ ॥

नकारोऽनुनासिकम् ॥ २६ ॥

मा०—नकारो लकारपरोऽनुनासिकं विकारमापद्यते। एतदेवोदाहरणं भवति—"अस्मिँल्लोके"[५] ॥ २६ ॥

त्रि०—"अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः"[६] इति नकारस्यानुनासिकत्वे सिद्धे पुनरत्रापि तत्कथनमनुपपन्नम्। तस्मादत्र लक्षणया नकारः नाम तत्स्थानो लकार इत्यर्थः। (नकारः=) असौ; अनुनासिकं भजते। पूर्वोक्तमेवोदाहरणम् ॥ २६ ॥

त्रि० अ०—द्विवचन के सामर्थ्य से गृहीत प्रकृत तकार और नकार; लकारम्=लकार; हो जाते हैं; लपरौ=लकार बाद में होने पर। जैसे—"यल्लोहितं परा ऽपतत्" "त्री ँल्लोकानुदजयत्"क। लकार है बाद में जिससे वे (तकार और नकार) = लपरौ ॥

वै० अ०—समीपवर्ती तकार और नकार; (लकारम्=) लकार आदेश को; प्राप्त करते हैं; (लपरौ=) पदादि लकार बाद में होने पर। "उक्षत्येभ्य एवैनल्लोकेभ्यः" "छन्दोभिरिमाँल्लोकान्"ख ॥ २५ ॥

सू० अ०—(लकार बाद में होने पर) नकार अनुनासिक (लकार) (हो जाता है)।

त्रि० अ०—"अनुस्वार और वर्गों के अन्तिम वर्ण (उत्तम) अनुनासिक (होते हैं)"—इस सूत्र से नकार का अनुनासिकत्व सिद्ध होने पर पुनः यहाँ भी उसका कथन असङ्गत है। इससे यहाँ लक्षणा से; नकारः=नकार के स्थान पर आया हुआ लकार—यह अर्थ है। वह; अनुनासिकम्=अनुनासिक हो जाता है। उदाहरण पूर्वोक्त ही हैं।

(क) त्रीन्। लोकान्। उदिति। अजयत्॥ प० पा०

(ख) एव। एनत्। लोकेभ्यः॥ इमान्। लोकान्॥ प० पा०

---

(१) २।१।७ (२) १।७।११ (३) २।६।५
(४) १।७।५ (५) १।५।६ (६) २।३०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—नकारस्य तु अत्र विशेषमाह—नकारो लपरोऽनुनासिकं लकारमादेशमश्नुते। न तु शुद्धम्। तथैवोदाहृतम् ॥ २६ ॥

मकारः स्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम् ॥ २७ ॥

मा०—स्पर्शपरो मकारस्तस्य स्पर्शस्य सस्थानमनुनासिकं आपद्यते। यथा—"यङ्कामयेत"[१]। "शञ्च मे"[२]। "तन्ते दुश्चक्षाः"[३] ॥ २७ ॥

त्रि०—स्पर्शपरः मकारः तस्य स्पर्शस्य सस्थानमनुनासिकं भजते। यथा—"यङ्कामयेत"[१]। "शञ्च मे"[२]। "दीक्षितदण्डम्प्र यच्छति"[४]। "तन्ते दुश्चक्षाः"[५]। "तम्प्रत्नथा"[५]। समानं स्थानं यस्यासौ सस्थानः, तम्। स्पर्शः परो यस्मादसौ स्पर्शपरः ॥ २७ ॥

वै०—मकारः; (स्पर्शपरः =) पदादौ स्पर्शे परतः; तस्य स्पर्शस्य; (सस्थानमनुनासिकम् =) समानस्थानमनुनासिकम्; अश्नुते। "यङ्कामयेत"[१]। "त्वचङ्गृह्णीष्व"[६]। "तङ्घेदग्निः"[७]। "पौष्णञ्चरुम्"[८]। "तच्छन्दसाञ्छन्दस्त्वम्"[९]। "यञ्जीवमश्न-

---

वै० अ०—(पूर्व सूत्र से उक्त लपर) नकार के विषय में (सूत्रकार) यहाँ विशेष बात कह रहे हैं—लकार बाद में होने पर नकार; अनुनासिकम् = अनुनासिक लकार रूप आदेश को; प्राप्त करता है, शुद्ध (लकार) को नहीं। उदाहरण वे ही हैं ॥ २६ ॥

सू० अ०—स्पर्श है बाद में जिसके वह मकार उस (स्पर्श) के समान स्थान वाला अनुनासिक (हो जाता है)।

त्रि० अ०—स्पर्शपरः मकारः = स्पर्श है बाद में जिसके वह मकार; तस्य = उस स्पर्श के; सस्थानमनुनासिकम् = समान स्थान वाला अनुनासिक; हो जाता है। जैसे—यङ्कामयेत"। "शञ्च मे"। "दीक्षितदण्डम्प्र यच्छति"। "तन्ते दुश्चक्षाः"। "तम्प्रत्नथा"क। समान है स्थान जिसका वह = सस्थान। स्पर्श है बाद में जिससे वह = स्पर्शपर ॥ २७ ॥

वै० अ०—मकारः = मकार; (स्पर्शपरः =) पदादि स्पर्श बाद में होने पर; तस्य = उस स्पर्श के; (सस्थानमनुनासिकम् =) समान स्थान वाले अनुनासिक

(क) शम्। च। मे॥ दीक्षितदण्डमिति दीक्षित—दण्डम्॥ तम्। ते॥ तम्। प्रत्नथा॥ प० पा०

---

(१) १।६।१० (२) ४७।३ (३) ३।२।१०
(४) ६।१।४ (५) १।४।९ (६) १।१।८
(७) २।६।११ (८) १।८।२ (९) ५।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामहै"[1]। "तन्ते दुश्चक्षाः"[2]। "तन्देवाः"[3]। "प्रथमन्धातारं करोति"[4]। "तम्प्रत्यथा"[5]। "तम्भागधेयेन"[6]। स्पर्शपर इति किम्? "प्रेयमगाद्धिषणा"[7]। पदसंहिताविधौ वचनात् "अर्यम्णे"[8], "धाम्नेधाम्ने"[9] इत्यपदान्तस्य न भवति ॥ २७ ॥

अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम् ॥ २८ ॥

मा०—अन्तस्थापरो मकारः अन्तस्थायाः सवर्णं रूपमनुनासिकमापद्यते। यथा—"सयँयत्ता आसन्"[10]। "सोऽमुयँलोकम्"[11]। "सयँवथ्सरमुख्यम्"[12]। चशब्दो मकार इति ज्ञापयति ॥ २८ ॥

को; प्राप्त करता है।.....।[क] स्पर्श बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "प्रेयमगाद्धिषणा"[ख]। पद-संहिता की विधि में कथन होने से—"अर्यम्णे", "धाम्नेधाम्ने"—यहाँ अपदान्त (मकार) का (अनुनासिकत्व) नहीं (होता है)[ग] ॥२७॥

सू० अ०—अन्तःस्था है बाद में जिसके ऐसा (मकार) भी सवर्ण अनुनासिक (हो जाता है)।

(क) त्वचम्। गृह्णीष्व ॥ प० पा०
तम्। घ। इत्। अग्निः ॥ प० पा०
पौष्णम्। चरुम् ॥ प० पा०
तत्। छन्दसाम्। छन्दस्त्वमिति छन्दः—त्वम् ॥ प० पा०
यम्। जीवम्। अश्नवामहै ॥ प० पा०
तम्। देवाः ॥ प० पा०
प्रथमम्। धातारम्। करोति ॥ प० पा०
तम्। भागधेयेनेति भाग—धेयेन ॥ प० पा०

(ख) प्रेति। इयम्। अगात्। धिषणा ॥ प० पा०
मकार के बाद में 'स्पर्श' नहीं, अपितु 'स्वर' (अ) है। अतः मकार अनुनासिक नहीं हुआ है।

(ग) अर्यम्णे ॥ धाम्नेधाम्न इति धाम्ने—धाम्ने ॥ प० पा०
पद-संहिता का अधिकार चल रहा है। इस अधिकार में विद्यमान सूत्रों से दो पदों के सन्धि-स्थल (पदान्त और पदादि) में ही विकार होता है।
उपर्युक्त दोनों स्थलों में स्थित मकार पद के अन्त में नहीं, अपितु पद के

---

(१) ४।२।६ (२) ३।२।१० (३) ७।३।५
(४) ३।४।९ (५) १।४।६ (६) २।२।६
(७) १।१।२ (८) २।३।४ (९) १।१।१०
(१०) १।५।१ (११) १।५।९ (१२) ५।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारो मकारमन्वादिशति। अन्तस्थापरः मकारस्तस्या अन्तस्थायाः; सवर्णम्=सदृशम्; अनुनासिकम्=अनुनासिकधर्मविशिष्टम्; भजते। यथा—"सयँयत्ता आसन्"[१]। "सुवर्गलँलोकम्"[२]। "सवँवथ्सरः"[३]। नन्वनुनासिकमित्यनेन सानुनासिकं कथमुपलभ्यते? उच्यते नितरां परिहारः—यतो धर्मवाचकः शब्दो धर्मिणमपि कथयति "शुक्लः पटः। नीलमुत्पलम्" इत्यादिवत् ॥ २८ ॥

वै०—चशब्दो मकारमन्वादिशति। सः; (अन्तस्थापरः=) अन्तस्थासु पदादिषु परतः; तासां सवर्णमनुनासिकमादेशमश्नुते। अत्र पारिभाषिकसवर्णासम्भवाल्लौकिकं सवर्णमाश्रित्य तां तामन्तस्थां अनुनासिकमश्नुत इति विज्ञेयम्। "सयँयत्ताः"[१]। "सुवर्ग-

---

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्व सूत्र से) मकार का अन्वादेश करता है। अन्तःस्थापरः=अन्तःस्था है बाद में जिसके ऐसा वह मकार; उस अन्तःस्था के; सवर्णम्=सदृश; अनुनासिकम्=अनुनासिक धर्म से विशिष्ट (अनुनासिक); हो जाता है। जैसे—"सयँयत्ता आसन्"। "सुवर्गलँलोकम्"। "सवँवथ्सरः"[क]। (पू०) अनुनासिकम्—इससे सानुनासिक (अन्तःस्था) की प्राप्ति कैसे होती है। (इसके उत्तर में) कहते हैं—समस्या का समाधान पूर्ण रूप से हो जाता है, क्योंकि धर्म का वाचक शब्द धर्मी को भी कहता है— शुक्ल-वस्त्र, नील-कमल इत्यादि की तरह[ख] ॥ २८ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) मकार का अन्वादेश करता है। वह (मकार); (अन्तस्थापरः=) पदादि अन्तःस्था बाद में होने पर; उनके; सवर्णमनुनासिकम्=सवर्ण अनुनासिक आदेश को; प्राप्त करता है। यहाँ पारिभाषिक सवर्ण के असम्भव होने से लौकिक सवर्ण का आश्रय लेकर उस-उस अनुनासिक अन्तःस्था को प्राप्त करता है—यह जानना चाहिए।[क] "सयँयत्ताः"।

मध्य में आया है। अतः स्पर्श बाद में होने पर भी पद के मध्य में स्थित मकार समान स्थान वाला अनुनासिक नहीं हुआ है।

(क) संयत्ता इति सं–यत्ताः ॥ सुवर्गमिति सुवः–गम्। लोकम् ॥ संवत्सर इति सं–वत्सरः ॥

(ख) जिस प्रकार शुक्लः पटः=शुक्लवर्णविशिष्टः पटः और नीलमुत्पलम्=नीलवर्णविशिष्टम् उत्पलम्, उसी प्रकार अनुनासिकम् (वर्णम्)=अनुनासिकधर्मविशिष्टम् (=सानुनासिकम्) (वर्णम्)।

(क) १।३ के अनुसार दो-दो 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' स्वर 'सवर्ण'—संज्ञक होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ह्रस्व और दीर्घ स्वर ही पारिभाषिक दृष्टि से 'सवर्ण' होते हैं। 'अन्तःस्था' इत्यादि वर्णों के लिए पारिभाषिक सवर्ण संज्ञा प्रयुक्त नहीं

---

(१) १।५।१ (२) १।५।४ (३) १।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ꣳलोकम्"[१]। "प्रजवꣳवै"[२]। पदसंहिताऽधिकारात् "भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि"[३] इत्यादौ न भवति ॥ २८ ॥

न रेफपरः ॥ २९ ॥

भा०—रेफपरो मकारो न खलु सवर्णमनुनासिकमापद्यते। यथा—"सम्राडसि भ्रातृव्यहा"[४] ॥ २९ ॥

त्रि०—अन्तस्थात्वाद्रेफस्य तत्परस्यापि मकारस्य तत्सवर्णानुनासिकापत्तिः प्राप्ता अनेन प्रतिषिद्ध्यते। न खलु मकारो रेफपरः पूर्वोक्तं भजते। यथा—"प्रसम्राजम्"[५]। "साम्राज्याय सुक्रतुः"[६]। रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ २९ ॥

"सुवर्गल्ँलोकम्"। "प्रजवꣳवै"[क]। पद-संहिता के अधिकार से "भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि"—इत्यादि में (मकार अन्तःस्था) नहीं (होता है) ॥ २८ ॥

सू० अ०—रेफ बाद में होने पर (मकार उसका सवर्ण अनुनासिक) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—रेफ के अन्तःस्था होने से वह (रेफ) बाद में होने पर भी मकार को (५।२८ से) उस (=रेफ) के सदृश अनुनासिक (ꣳ) की प्राप्ति होने पर इस (सूत्र) से प्रतिषिद्ध की जाती है। रेफपरः=रेफ बाद में होने पर; मकार पूर्व में कहा गया (=अनुनासिक अन्तःस्था); न=नहीं; होता है। जैसे—"प्रसम्राजम्"। "साम्राज्याय सुक्रतुः"[ख]। रेफ है बाद में जिससे वह=रेफपर ॥ २९ ॥

होती है। अतः प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सवर्ण' शब्द का अर्थ है—समान रूप (वर्ण) वाला = सदृश (१।३ पर वै० को देखिए)।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'य्' बाद में होने पर 'म्' का 'यँ्' हो जाता है, 'ल्' बाद में होने पर 'म्' का 'लँ्' हो जाता है और 'व्' बाद में होने पर 'म्' का 'व्ँ' हो जाता है। 'य्' और 'यँ्', 'ल्' और 'लँ्' तथा 'व्' और 'वँ्' एक दूसरे के सदृश हैं।

(क) संयत्ता इति सं—यत्ताः ॥ प० पा०
सुवर्गमिति सुवः—गम्। लोकम् ॥ प० पा०
प्रजवमिति प्र—जवम्। वै ॥ प० पा०

(ख) प्रेति। सम्राजमिति सम्—राजम् ॥ साम्राज्यायेति साम्—राज्याय ॥ प० पा०

---

(१) १।५।४ (२) ७।३।१ (३) ४।१।२
(४) १।३।२ (५) १।६।१२ (६) १।८।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(रेफपरः =) रेफे परतः; मकारोऽनुनासिकरेफं नाश्नुते। "त्वꣳ राजन्ब्रह्माऽसि"[१]। "सम्राजोरव आ वृणे"[२] ॥ २९ ॥

यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम् ॥ ३० ॥

मा०—यवकारपरो रेफपरश्च न खलु सवर्णमनुनासिकमापद्यते। यथा—"पृथ्वीं याहि"[३]। "संवथ्सरः"[४]। "इषां रयीणाम्"[५] ॥ ३० ॥

त्रि०—चकारो निषेधान्वादेशकः। प्रकृतो मकारः एकेषामाचार्याणां पक्षे; (यवकारपरः=) यकारपरः वकारपरो वा; न सवर्णमनुनासिकं भजते। यथा—"संयत्ताः"[४]। "संवथ्सरः"[४] ॥ ३० ॥

वै०—चशब्दो निषेधमन्वादिशति। यश्च वकारश्च यवकारौ। (एकेषामाचार्याणाम्=) केषांचिदाचार्याणां मते; यवकारपरो मकारः परसवर्णमनुनासिकं नाश्नुते। पूर्वतरसूत्रोक्तमेवोदाहरणम् ॥ ३० ॥

वै० अ०—(रेफपरः =) रेफ बाद में होने पर; मकार अनुनासिक रेफ को; न = नहीं; प्राप्त करता है। "त्व ꣳ राजन्ब्रह्माऽसि"। "सम्राजोरव आ वृणे"क ॥ २९ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मत से यकार अथवा वकार बाद में होने पर भी (मकार सवर्ण अनुनासिक नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध का अन्वादेश करने वाला है। प्रकृत मकार; एकेषामाचार्याणाम्=कतिपय आचार्यों के मत में; (यवकारपरः=) यकार अथवा वकार बाद में होने पर; सवर्ण अनुनासिक नहीं होता है। जैसे—"संयत्ताः"। "संवथ्सरः"ख ॥ ३० ॥

वै० अ०—च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध का अन्वादेश करता है। यकार और वकार=यवकारौ। (एकेषामाचार्याणाम् =) कतिपय आचार्यों के मत में; यवकारपरः = यकार अथवा वकार बाद में होने पर; परवर्ती (अन्तःस्था) के समान अनुनासिक को नहीं प्राप्त करता है। पूर्वतर (५।२८) सूत्र में कहे गए उदाहरण ही (इस सूत्र के भी उदाहरण) हैं ॥ ३० ॥

(क) त्वम्। राजन्॥ प० पा०

(ख) संयत्ता इति सं—यत्ताः॥ संवत्सर इति सं—वत्सरः॥ प० पा०

---

(१) १।८।१६ (२) २।५।१२ (३) १।२।१४
(४) १।५।१ (५) १।१।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः ॥ ३१ ॥

मा०—उत्तमस्य नकारस्य मकारस्य वा लभावात् पूर्वस्वरोऽनुनासिकमापद्यते; आत्रेयस्य मतम्। यथा—"इमाँल्लोकान्"[१]। मकारस्य—"सुकृताँल्लोके सीदत"[२]। उत्तमलभावादिति किम्? "आदित्यो वा अस्माल्लोकात्"[३] ॥ ३१ ॥

त्रि०—(उत्तमलभावात् =) उत्तमस्य नकारस्य मकारस्य वा लभावात् = लकारापत्तेः; (पूर्वः =) पूर्वस्वरः; अनुनासिकः भवतीति आत्रेयो नाम मुनिः मन्यते। यथा—"त्रीँल्लोकान्"[४]। "सुवर्गँल्लोकम्"[५]। उत्तमयोर्लभावः उत्तमलभावः, तस्मात्। सूत्रद्वयमेतदनिष्टम् ॥ ३१ ॥

वै० यः; (उत्तमलभावात् =) अयमुत्तमसंज्ञयोर्नकारमकारयोर्लभावः, उक्तः "नकारोऽनुनासिकम्"[६] "अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्"[७] इति स लकारोऽनुनासिको न भवति। किन्तु ततः (पूर्वोऽनुनासिकः =) पूर्वस्वरोऽनुनासिकम्; इत्यात्रेयो मन्यते। "त्रीँल्लोकानुदजयत्"[८]। "तँल्लोकंपृणयोपैत्"[९]। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३१ ॥

सू० अ०—आत्रेय के मतानुसार उत्तम (नकार अथवा मकार) का लकार होने पर पूर्ववर्ती (स्वर) अनुनासिक (हो जाता है)।

त्रि० अ०—(उत्तमलभावात् =) उत्तम का = नकार अथवा मकार का; लकार की प्राप्ति से; (पूर्वः =) पूर्ववर्ती स्वर; अनुनासिक होता है; इत्यात्रेयः = यह आत्रेय नामक मुनि मानते हैं। जैसे—"त्रीँल्लोकान्"। "सुवर्गँल्लोकम्"[क]। उत्तम (स्पर्श) का लभाव = उत्तमलभाव उससे। ये दोनों सूत्र (५।३०, ३१) अभीष्ट नहीं हैं ॥ ३१ ॥

वै० अ०—"(लकार बाद में होने पर) नकार अनुनासिक (लकार) (हो जाता है)", "अन्तःस्था है बाद में जिसके ऐसा (मकार) भी सवर्ण अनुनासिक (हो जाता है)"—इन (सूत्रों) के द्वारा; (उत्तमलभावात् =) 'उत्तम' संज्ञक नकार और मकार का जो लकार होना; कहा गया है, वह लकार 'अनुनासिक' नहीं होता है। किन्तु उस (लकार) से; (पूर्वोऽनुनासिकः =) पूर्ववर्ती स्वर 'अनुनासिक' (होता है); इत्यात्रेयः = यह आत्रेय मानते हैं। "त्रीँल्लोकानुदजयत्"। "तँल्लोकंपृणयोपैत्"[ख]। यह सूत्रद्वय (५।३०, ३१) इष्ट नहीं है ॥ ३१ ॥

(क) त्रीन्। लोकान् ॥ सुवर्गमिति सुवः—गम्। लोकम् ॥ प० पा०

(ख) तम्। लोकंपृणयेति लोकं—पृणया ॥ प० पा०

---

(१) ३।३।६	(२) १।४।४३	(३) १।५।९
(४) १।७।११	(५) १।५।४	(६) ५।२६
(७) ५।२८	(८) १।७।११	(९) ५।७।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङपूर्वः ककारः सषकारपरः ॥ ३२ ॥

मा०—ङकारपूर्वः ककार आगमो भवति सकारपरः षकारपरः। यथा—"प्रत्यङ्ख्-सोमो अतिद्रुतः"[१]। षकारपरः—"प्रत्यङ्ख् षडहो भवति"[२]। ङपूर्वः ककारः ऊष्मपरः इत्येवमारब्धव्यम्। किमर्थम्? लघ्वर्थम्। अत्रोच्यते—ऊष्मपर इत्येवमारभ्यमाणे अविशेषविधानात् अन्यस्मिन्नूष्मणि परे ङपूर्वः ककार आगमः स्यात्। तन्मा भूदिति एवमारभ्यते सषकारपर इति। यथा—"प्रत्यङ्होतारमतिसर्पेत्"[३]। ङपूर्व इति किम्? "विद्वान् सप्तरात्रेण"[४] ॥ ३२ ॥

त्रि०—(सषकारपरः=) सकारपरः षकारपरः वा; ककारः आगमो भवति; ङपूर्वः। यथा—"प्रत्यङ्क् सोमो अतिद्रुतः"[१]। "प्रत्यङ्क् षडहः"[२]। एवम्पर इति किम्? "प्रत्यङ् होतारम्"[३]। एवम्पूर्व इति किम्? "तत्सवितुः"[५]। "यत्षोडशी गृह्यते"[६] ॥३२॥

वै०—(ङपूर्वः=) ङकारात्परः; ककार आगमो भवति; (सषकारपरः=) सकारषकारयोः पदाद्योः परतः। "सदृङ्क्समानैः"[७]। "प्रत्यङ्क्षडहः"[२]। सषकारपर इति किम्? "पराङ् वाव यज्ञ एति"[८] ॥ ३२ ॥

सू० अ०—ङकार पूर्व में होने पर तथा सकार और षकार बाद में होने पर ककार (का आगम होता है)।

त्रि० अ०—(सषकारपरः=) सकार बाद में होने पर अथवा षकार बाद में होने पर; ङपूर्वः = ङकार पूर्व में होने पर; ककार का आगम होता है। जैसे—"प्रत्यङ्क् सोमो अतिद्रुतः"। "प्रत्यङ्क् षडहः"।[क] ये (सकार तथा षकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "प्रत्यङ् होतारम्"[ख]। यह (ङकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तत्सवितुः"। "यत्षोडशी गृह्यते"[ग] ॥ ३२ ॥

वै० अ०—(ङपूर्वः=) ङकार से बाद में; ककार का आगम होता है; (सषकारपरः=) पदादि सकार अथवा षकार बाद में होने पर। "सदृङ्क् समानैः"। "प्रत्यङ्क्षडहः"[घ]। सकार अथवा षकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पराङ् वाव यज्ञ एति"[ङ] ॥ ३२ ॥

(क) प्रत्यङ्। सोमः ॥ प्रत्यङ्। षडह इति षट्—अहः ॥ प० पा०

(ख) प्रत्यङ्। होतारम् ॥ प० पा०

(ग) तत्। सवितुः ॥ यत्। षोडशी ॥ प० पा०

(घ) सदृङ्डिति स—दृङ्। समानैः ॥ प० पा०

(ङ) पराङ्। वाव। यज्ञः। एति ॥ प० पा०

---

(१) १।८।२१ (२) ७।४।२ (३) ६।३।१
(४) ७।२।२ (५) १।५।६ (६) ६।६।११
(७) २।२।८ (८) १।७।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टनकारपूर्वश्च तकारः ॥३३॥

मा०—टकारपूर्वो नकारपूर्वो वा तकार आगमो भवति सषकारपरः। सषकारपर इति चशब्दो ज्ञापयति। यथा—"वट्त् स्वयमभिगूर्तायै"[१]। एवम्—"विद्वान्त्सोमेन"[२]। मासान् षडहो (?) सषकारपर इति किम्"? "एतान् होमानजुह्वुः"[३]। टनकारपूर्व इति किम्? "सं सोमस्तनूभिः"[४] ॥ ३३ ॥

त्रि०—चकारः सषकारावन्वादिशति। (टनकारपूर्वः=) टकारपूर्वः वा नकारपूर्वः वा; तकारः आगमो भवति, सषकारपरः। यथा—"वषट्त् स्वाहा"[५]। "विद्वान्त् सोमेन यजते"[२]। "अनूथाजौ षट्त् षडनूथाजावनूथाजौ षट्"[६]। एवम्पर इति किम्? "षड्वा ऋतवः"[६]। "तान्रुद्रा अब्रुवन्"[७] ॥ ३३ ॥

वै०—चशब्देन सषकारपर इत्यन्वादिश्यते। (टनकारपूर्वः=) टनकारयोः पदान्तयोः पूर्वयोः सतोः सकारषकाराभ्यां पूर्वस्तकार आगमो भवति। "षट्त्सम्पद्यन्ते"[८]। "पितरं च प्रयन्त्सुवः"[९]। षकारोदाहरणं शाखान्तरे। एतत्पूर्व इति किम्? "तत्सवितुः"[१०]।

सू० अ०—टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर (तथा सकार अथवा षकार वाद में होने पर) तकार (का आगम होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) सकार अथवा षकार का अन्वादेश करता है। (टनकारपूर्वः=) टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर; तकार का आगम होता है, सकार अथवा षकार वाद में होने पर। जैसे—"वषट्त् स्वाहा" "विद्वान्त् सोमेन यजते"। "अनूयाजौ षट्त् षडनूयाजावनूयाजौ षट्"[क]। ये (सकार अथवा षकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "षड्वा ऋतवः"। "तान्रुद्रा अब्रुवन्"[ख] ॥ ३३ ॥

वै० अ०—च शब्द में (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'सकार अथवा षकार बाद में होने पर' इसका अन्वादेश होता है। (टनकारपूर्वः=) पदान्त टकार अथवा नकार पूर्व में होने पर; सकार और षकार से पहले; तकार का आगम होता है। "षट्त्सम्पद्यन्ते"। "पितरं च प्रयन्त्सुवः"। षकार का उदाहरण दूसरी शाखा में (उपलब्ध होता है)। ये (टकार और नकार) पूर्व मे होने पर—यह क्यों (कहा)? "तत्सवितुः"। "तत्षोडशी"। (पू०) शकार आदि आगमों की सन्निधि को छोड़कर

(क) विद्वान्। सोमेन। यजते॥ अनूयाजावित्यनु—याजौ। षट्॥

(ख) षट्। वै। ऋतवः॥ तान्। रुद्राः। अब्रुवन्॥ प० पा०

---

(१) ३।२।८ (२) ३।२।२ (३) १।५।४ (४) २।१।११
(५) ७।३।१२ (६) ६।६।३ (७) ५।५।२ (८) ६।६।३
(९) १।५।३ (१०) १।५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तत्षोडशी"[1]। ननु शकाराद्यागमसन्निधिमतीत्य किमर्थमेतावागमाविह पृथगुच्येते? श्रूयताम्—अभक्तांशकाराद्यागमास्ते। एतौ तु यथाक्रमं पूर्वोत्तराङ्गभूताविति ख्यापनार्थम्।

किस कारण से ये दो आगम यहाँ पृथक् करके कहे गये हैं? (सि०) सुनो—वे शकार आदि आगम (पूर्ववर्ती पद अथवा परवर्ती पद से) सम्बद्ध नहीं हैं। किन्तु ये दो (आगम) तो क्रमशः पूर्ववर्ती (पद) और परवर्ती (पद) के अङ्ग हैं—यह बतलाने के लिये (पृथक स्थल पर कहे गये हैं)।[क] उसी प्रकार मूल-शास्त्र (व्याकरण) में "पदान्त ङकार तथा णकार को क्रमशः 'कुक्' तथा 'टुक्' का आगम विकल्प से होता है, यदि शर् प्रत्याहार बाद में हो"—यहाँ ककार कित्कृत है।[ख] "ङकारान्त पद से बाद में यदि सकारादि पद हो तो उस (सकारादि पद) को विकल्प से 'धुट्' का आगम होता है"[ग] और "नकारान्त पद से भी बाद में यदि

(क) पूर्वपक्षी—तै० प्रा० ५।४—८ में शकार, सकार और दकार के आगम का विधान किया गया है। तै० प्रा० ५।३२—३३ में ककार और तकार के आगम का विधान किया गया है। शङ्का होती है कि शकारादि और ककारादि आगमों का पृथक्-पृथक् स्थलों पर क्यों विधान किया गया है। (सिद्धान्ती) ५।४—८ में जिन शकारादि आगमों का विधान किया गया है वे आगम पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पद से सम्बद्ध नहीं है। उन शकारादि आगमों के लिये पृथक्-पृथक् निमित्तों का निर्देश नहीं किया गया है। अतः पूर्ववर्ती पद और परवर्ती पद दोनों उन आगमों के निमित्त होते हैं। इसके विपरीत ककार—आगम पूर्ववर्ती पद (पदान्त) के साथ और तकार—आगम परवर्ती पद (पदादि) के साथ सम्बद्ध है। नियम यह है कि जो आगम पूर्ववर्ती पद और परवर्ती पद इन दोनों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होता है वहाँ अन्य पद निमित्त होता है।

(ख) इस सूत्र से किसी पद के अन्त में स्थित 'ङ्' तथा 'ण्' के बाद में क्रमशः कुक् (क्) तथा टुक् (ट्) का आगम होता है। उपर्युक्त दोनों कुक् (=क् उ क्) और टुक् (ट् उ क्) में केवल क् और ट् शेष रहता है। दोनों में 'उक्' भाग का लोप हो जाता है। इस प्रकार पदान्त 'ङ्' के बाद में केवल 'क्' और पदान्त 'ण्' के बाद में केवल 'ट्' बचता है। इन दोनों ही आगमों के अन्त्य 'क्' की इत्संज्ञा होने से ये दोनों आगम 'कित्' हैं और 'कित्' होने से ये दोनों आगम "आद्यन्तौ टकितौ" (पा० १।१।४६) के अनुसार अपने स्थानी के अन्तिम अवयव बनकर जुड़ जाते हैं। जैसे—प्राङ् षष्ठः=प्राङ्क् षष्ठः और सुगण् षष्ठः=सुगण्ट् षष्ठः।

(ग) यह सूत्र ङकारान्त पद से परे स् वर्ण रहते विकल्प से 'धुट्' (ध्) का आगम करता है। 'धुट्' से 'उट्' का लोप हो जाने के कारण यह 'टित्' होता है।

---

(१) ६।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा मूलशास्त्रे "ङ्णोः कुक् टुक् शरि"[१] इति ककारः कित्कृतः। धकारस्तु "डस्सि धुट्"[१]। "नश्च"[१] इति टित्कृतः ॥ ३३ ॥

स्पर्शपूर्वः शकारश्छकारम् ॥ ३४ ॥

मा०—स्पर्शपूर्वः शकारः छकारमापद्यते। यथा—"यावच्छो वै रेतसः"[२]। "अनुष्टुप्छारदी"[३]। स्पर्शपूर्व इति किम्? "आशुः शिशानः"[४] ॥ ३४ ॥

त्रि०—शकारश्छकारं आपद्यते स्पर्शपूर्वः। यथा—"शरच्छौत्री"[५]। एवम्पूर्व इति किम्? "आशुश्शिशानः"[४]। स्पर्शः पूर्वः यस्मादसौ स्पर्शपूर्वः ॥ ३४ ॥

सकारादि पद हो तो उस (सकारादि पद) को विकल्प से 'धुट्' का आगम होता है"क—यहाँ धकार टित्कृत है[ख]।

सू० अ०—स्पर्श पूर्व में होने पर शकार छकार (हो जाता है)।

त्रि०अ०—स्पर्शपूर्वः = स्पर्श पूर्व में होने पर; शकारश्छकारम् = शकार छकार; हो जाता है। जैसे—"शरच्छौत्री"। ये (स्पर्श) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "आशुश्शिशानः"[ग]। स्पर्श पूर्व में है जिससे वह = स्पर्शपूर्व ॥३४॥

"आद्यन्तौ टकितौ" (पा० १।१।४६) के अनुसार यह 'ध्' अपने स्थानी (अर्थात् स् वर्ण) से पूर्व में जुड़कर उसका अवयव बन जाता है। जैसे—षड्+सन्तः = षड् ध्सन्तः।

(क) नकारान्त पद से परे भी सकारादि पद को विकल्प से 'धुट्' (ध्) का आगम होता है। जैसे—सन्+सः = सन् ध्सः।

(ख) जिस प्रकार मूलशास्त्र (व्याकरण) में 'कित्' आगम अन्त्यावयव (बाद में) तथा 'टित्' आगम आद्यावयव (पूर्व में) होता है, उसी प्रकार ५।३ में विहित ककार आगम पदान्त का तथा ५।३३ में विहित तकार आगम पदादि का अङ्ग होता है।

तात्पर्य यह है कि शकारादि आगम अभक्त (निर्दिष्ट निमित्त वाले न होने के कारण = पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पद से सम्बद्ध न होने के कारण) पृथक् रूप से अध्याय के प्रारम्भ में विहित हैं तथा ककारादि (ककार और तकार) आगम भक्त (निर्दिष्ट निमित्त वाले) होने के कारण = क्रमशः पूर्ववर्ती और परवर्ती पद से सम्बद्ध होने के कारण पृथक् रूप से अध्याय के अन्त में विहित हैं।

(ग) शरत्। श्रौत्री ॥ आशुः। शिशानः ॥ प० पा०

---

(१) पा० ८।३।२८, २९, ३० (२) १।५।१९
(३) ४।३।२ (४) ४।६।४ (५) ४।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(स्पर्शपूर्वः =) स्पर्शे पदान्ते पूर्वे; शकारः छकारमश्नुते। "यच्छ्यामाकः"[१]। "अनुष्टुप्छारदी"[२]। स्पर्शपूर्व इति किम्? "सुश्लोकाऽम्"[३]। "पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिम्"[४]। इत्यत्र तु न भवति अपदान्तत्वात् ॥ ३४ ॥

न मकारपूर्वः ॥ ३५ ॥

मा०—न खलु मकारपूर्वः शकारः छकारमापद्यते। यथा—"सँश्रवा ह"[५] इति ॥ ३५ ॥

त्रि०—मकारपूर्वः शकारश्छकारं नापद्यते। यथा—"सꣳशितं मे ब्रह्म"[६]। "सꣳश्रवा ह"[५]। स्पर्शत्वान्मकारस्य तत्पूर्वे शकारे प्राप्तं छत्वमनेन निषिध्यते। नन्वेतदनुपपन्नम्; "रेफोष्मपरः"[७] इति मकारस्य लोपविधानान्न शकारस्य छत्वापत्तिनिमित्तमस्ति। सत्यम्; छत्वप्रापकं मकारलोपविधायकं च सूत्रं परत्वान्मकारलोपविधायकं बाधते। ततश्च मकारलोपे कृते शकारस्य छत्वं भवत्येव। तस्मात् छत्वप्रापकं सूत्रमारभ्यते ॥ ३५ ॥

वै० अ०—(स्पर्शपूर्वः =) पदान्त स्पर्श पूर्व में होने पर; शकारः छकारम् = शकार छकार को; प्राप्त करता है। "यच्छ्यामाकः"। "अनुष्टुप्छारदी"। स्पर्श पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सुश्लोकाऽम्"। "पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्"—यहाँ पदान्त न होने से (शकार छकार) नहीं होता है[क] ॥ ३४ ॥

सू० अ०—मकार पूर्व में होने पर (शकार छकार) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—मकारपूर्वः = मकार पूर्व में होने पर; शकार छकार; न = नहीं; होता है। जैसे—"सꣳशितं मे ब्रह्म"। "सꣳश्रवा ह"।[ख] मकार के स्पर्श होने से वह (मकार) पूर्व में होने पर (५।३४ से) शकार में प्राप्त छत्व इस (सूत्र) से निषिद्ध किया जाता है। (पू०) यह असंगत है। "रेफ और ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर (पदान्त मकार लुप्त हो जाता है)"—इस (सूत्र) से मकार के लोप-विधान से शकार की छत्व-प्राप्ति का निमित्त नहीं है। (सि०) ऐसी बात नहीं है। छत्व के प्रापक तथा मकार के लोप (के विधायक) सूत्रों में छत्व के प्रापक सूत्र परत्व से मकार लोप के विधायक सूत्र को बाधते हैं। तब मकार लोप होने पर शकार का छत्व होता ही है। इसलिए छत्व के प्रापक सूत्र का आरम्भ किया जाता है ॥ ३५ ॥

(क) यत्। श्यामाकः ॥ अनुष्टुबित्यनु—स्तुप्। शारदी ॥ सुश्लोकाँ३ इति सु—श्लोकाँ३ ॥ विरप्शिन्निति वि—रप्शिन् ॥ प० पा०

(ख) सꣳशितमिति सं—शितम् ॥ सꣳश्रवा इति सं—श्रवा ॥ प० पा०

मकार (स्पर्श) के बाद शकार है। अतः ५।३४ से शकार को छकार होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से मकार (स्पर्श) पूर्व में होने पर शकार का छकार होना निषिद्ध कर दिया गया है। अतः शकार छकार नहीं होता है। १३।२ से मकार का लोप हो जाता है और १५।३ से 'अनुस्वार' का आगम हो जाता है। इससे अभीष्ट रूपों (सꣳशितम् तथा सꣳश्रवा) की सिद्धि होती है।

---

(१) २।३।३ (२) ४।३।२ (३) १।८।१६ (४) १।१।९
(५) १।७।२ (६) ४।१।१० (७) १३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तीति। मैवम्। छत्वापादकमलोपसूत्रयोश्छत्वापादकस्यैव पूर्वत्वात् "तत्र पूर्वम्"[1] इति न्यायेन छत्वमेव कर्तव्यं स्यात्। तथा सति "मकारः स्पर्शपरस्तस्य"[2] इति मकारे ञत्वमापन्ने "सञ्छितं मे ब्रह्म"[3] इति स्यात्। तन्मा भूदित्येतत्सूत्रमुपपन्नमेव ॥ ३५ ॥

वै०—(मकारपूर्वः=) मकारे पूर्वे; शकारश्छकारं नाश्नुते। "सꣳशि-शाधि"[4] ॥ ३५ ॥

पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः ॥ ३६ ॥

मा०—वाल्मीकेः शाखिनः पकारपूर्वः शकारः छत्वापत्तिं न प्राप्नोति। चशब्दः प्रतिषिध्यते ॥ ३६ ॥

(सूत्र) के पूर्ववर्ती होने से "वहाँ (संहिता-निर्माण में) पहले वाले (पद और सूत्र) को पहले (अपनाना चाहिए)"—इस नियम से छत्व को ही करना चाहिए। वैसा होने पर "स्पर्श है बाद में जिसके वह मकार उस (स्पर्श) के समान स्थान वाला अनुनासिक (हो जाता है)"—मकार में ञत्व की प्राप्ति होने पर "सञ्छितं मे ब्रह्म"—यह (अशुद्ध रूप) होगा। वह (अशुद्ध रूप) न हो इसलिए यह सूत्र सङ्गत ही है[क] ॥ ३५ ॥

वै० अ०—(मकारपूर्वः=) मकार पूर्व में होने पर; शकार छकार; न=नहीं; होता है। "सꣳशिशाधि" ॥ ३५ ॥

सू० अ०—वाल्मीकि (आचार्य) के मत में पकार पूर्व में होने पर (शकार छकार नहीं होता है)।

(क) पूर्वपक्षी—५।३४ से शकार के छकार होने का निमित्त मकार है। उस मकार (निमित्त) का १३।२ से लोप हो जाता है। अब निमित्त के अभाव में शकार के छकार होने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा शकार के छकार होने का जो निषेध किया गया है वह युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—५ ३ के अनुसार १३।२ की अपेक्षा ५।३४ पहले लागू होता है। ५।३४ के लागू होने के समय मकार (निमित्त) विद्यमान होता है। अतः ५।३४ के अनुसार शकार छकार हो जाता है और तत्पश्चात् ५।२७ से मकार ञकार हो जाता है। इससे 'सञ्छितम्' इस अशुद्ध रूप की प्राप्ति होती है। इस अशुद्ध रूप के निवारण के लिए ही प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

---

(१) ५।३ (२) ५।२७ (३) ४।१।१० (४) ४।१।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारः प्रतिषेधाकर्षकः। वाल्मीकेः मते पकारपूर्वः शकारश्छत्वं नापद्यते। यथा—"अनुष्टुप्शारदी"[१] ॥ ३६ ॥

वै०—चशब्दो नेत्यन्वादिशति। (पकारपूर्वः=) पकारे पदान्ते पूर्वे; शकारः छकारं नाश्नुते वाल्मीकेर्मतात्। "अनुष्टुप्शारदी"[१]। अत्र पकारस्य द्वितीयादेशः ॥ ३६ ॥

व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च अकारम् ॥ ३७ ॥

मा०—व्यञ्जनपरः पौष्करसादेरिति वाक्यच्छेदः। चशब्दः प्रतिषेधमन्वादिशति। "आदित्यान् श्मश्रुभिः"[२]। "तस्मात् श्रेयाँसम्"[३]। व्यञ्जनपर इति किम्? "तच्छंयोरावृणीमहे"[४] इति। व्यञ्जनपरान्नपूर्वस्य णत्वप्रतिषेधः न स्वरपरादिति इह मा भूत् "तेनैवैनाञ्छमयति"[५] ॥ ३७ ॥

त्रि०—पौष्करसादेः मते व्यञ्जनपरः शकारः स्पर्शपूर्वोऽपि छत्वं नापद्यते। शकारात् पूर्वः नकारश्च अकारं न आपद्यते। यथा—"आदित्यान् श्मश्रुभिः"[२]। पापीयान्

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) प्रतिषेध का आकर्षक है। वाल्मीकेः= वाल्मीकि (आचार्य) के मत में; पकारपूर्वः = पकार पूर्व में होने पर; शकार छत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"अनुष्टुप्शारदी"[क] ॥ ३६ ॥

वै० अ०—च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'न' (नहीं = निषेध) का अन्वादेश करता है। (पकारपूर्वः =) पदान्त पकार पूर्व में होने पर; शकार छकार को नहीं प्राप्त करता है; वाल्मीकेः = वाल्मीकि (आचार्य) के मत से। "अनुष्टुप्शारदी"। यहाँ पकार का द्वितीयादेश है[ख] ॥ ३६ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन है बाद में जिसके ऐसा (शकार) पौष्करसादि के मत से (छकार नहीं होता है) और (शकार से) पूर्व वाला (नकार) अकार (नहीं होता है)।

त्रि० अ०—पौष्करसादेः = पौष्करसादि के मत में; व्यञ्जनपरः = 'व्यञ्जन' है बाद में जिसके वह; शकार स्पर्श पूर्व में होने पर भी छत्व को नहीं प्राप्त करता है। और शकार से; पूर्वश्च = पूर्ववर्ती नकार भी; अकारम् = अकार को; न = नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"आदित्यान् श्मश्रुभिः"। "पापीयान् श्रेयसे"[ग]। (पू०)

(क) अनुष्टुबित्यनु—स्तुप्। शारदी ॥ प० पा०
पकार पूर्व में होने पर 'शारदी' का शकार छकार नहीं हुआ है।

(ख) 'ऊष्म' वर्ण (शकार) बाद में होने के कारण १४।१२ से प्रथम स्पर्श (=पकार) अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श (=फकार) हो जाता है। इससे "अनुष्टुप्शारदी" रूप की प्राप्ति होती है।

(ग) आदित्यान्। श्मश्रुभिरिति श्मश्रु-भिः ॥ पापीयान्। श्रेयसे ॥ प० पा०

---

(१) ४।३।२ (२) ५।७।१२ (३) ५।१।२
(४) २।६।१० (५) ३।४।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेयसे"[1] पूर्व इत्युक्ते नकार इति कथं लभ्यते ? अकारापत्तिरस्यैवेति ब्रूमः। प्रसक्तस्यैव हि प्रतिषेधः। व्यञ्जनं यस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः। नैतत् सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३७ ॥

वै०—व्यञ्जनपरः शकारः छकारं नाश्नुते पौष्करसादेर्मतात्। शकारात्पूर्वश्च वर्णो अकारं नाश्नुते। अत्र शकारे परतो नकारस्यैव अत्वविधानान्नकारपूर्वकशकार-विषयकमिदं सूत्रम्। "पुरीषमिष्टका उपधास्यन् श्वेतमश्वमभिमृशेत्"[2]। नेदं सूत्रद्वय-मिष्टम् ॥ ३७ ॥

प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्कर-सादीनाम् ॥ ३८ ॥

मा०—प्रथमपूर्वो हकारस्तस्य प्रथमस्य सस्थानं सवर्गीयं चतुर्थमापद्यते प्लाक्ष्या-दीनामाचार्याणां मतेन। यथा—"अर्वाग्ध्येनं परैः"[3]। "सरद्ढ वा अश्वस्य"[4]। प्रथमपूर्व इति किम् ? "प्रत्यङ्होतारमतिसर्पेत्"[5] ॥ ३८ ॥

पूर्व वाला—ऐसा कहने पर नकार कैसे प्राप्त होता है ? (सि०) इस (नकार) को ही अकार की प्राप्ति होती है—यह कहते हैं ! प्राप्त का ही प्रतिषेध (किया जाता है)[क]। व्यञ्जन' है बाद में जिससे वह = व्यञ्जनपर। ये दोनों सूत्र (५।३६, ३७) इष्ट नहीं हैं ॥ ३७ ॥

वै० अ०—व्यञ्जनपरः = व्यञ्जन है बाद में जिसके वह; शकार छकार को; न = नहीं; प्राप्त करता है; पौष्करसादेः = पौष्करसादि के मत से। पूर्वश्च = और शकार से पूर्व वाला वर्ण; अकारम् = अकार को; न = नहीं; प्राप्त करता है। यहाँ शकार बाद में होने पर नकार का ही अत्व—विधान होने से यह सूत्र नकार-पूर्वक शकार विषयक है। "पुरीषमिष्टका उपधास्यन् श्वेतमश्वमभिमृशेत्"। ये दोनों सूत्र (५।३६,३७) इष्ट नहीं हैं ॥ ३७ ॥

सू० अ०—प्लाक्षि, कौण्डिन्य, गौतम तथा पौष्करसादि के मत से प्रथम (स्पर्श) है पूर्व में जिसके ऐसा हकार उस (प्रथम स्पर्श) के समान स्थान वाला चतुर्थ (स्पर्श हो जाता है)।

शकार के बाद क्रमशः मकार तथा रेफ 'व्यञ्जन' हैं। अतः शकार छकार नहीं हुआ है तथा शकार से पूर्ववर्ती नकार भी ५।२४ से अकार नहीं हुआ है।

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में नकार का उल्लेख नहीं किया गया है। 'पूर्व वाला अकार नहीं होता है'—यहाँ 'पूर्व वाला' कहने से नकार का कैसे ग्रहण होता है।

सिद्धान्ती—५।२४ में नकार के अकार होने का विधान किया गया है। अतः उसी (=नकार) का निषेध यहाँ हो सकता है, क्योंकि प्राप्त का ही निषेध होता है।

---

(१)१।५।७ (२) ५।७।१ (३) ६।३।३ (४) ५।३।१२ (५) ६।३।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम् =) प्लाक्षिप्रभृतीनां मते; प्रथमं-पूर्वो हकारः तस्य प्रथमस्य सस्थानं चतुर्थं भजते। यथा—"अर्वाग्ध्येनम्"[१]। सरद्ढ वा अश्वस्य"[२]। "तद्धिरण्यम्"[३]। एवम्पूर्वं इति किम् ? "प्रत्यङ् होतारम्"[४]। हकार इति किम् ? "वाक्त आप्यायताम्"[५]। "वषट्ते"[६]। "तत्ते"[७]। प्रथमः पूर्वो यस्मादसौ प्रथमपूर्वः ॥ ३८ ॥

वै०—(प्रथमपूर्वः =) प्रथमे पदान्ते पूर्वे; हकारस्तस्य; प्रथमस्य; (सस्थानम् =) समानस्थानम् ; चतुर्थमादेशमश्नुते। "अर्वाग्ध्येनम्"[७]। "सरड्ढ्वै"[८]। 'इन्द्रमिद्धरी"[९]।

त्रि० अ०—(प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम् =) प्लाक्षि इत्यादि के मत में; प्रथमपूर्वः हकारः = प्रथम हैं पूर्व में जिसके ऐसा हकार; तस्य = उस प्रथम (स्पर्श) के; सस्थानम् = समान स्थान वाला; चतुर्थम् = चतुर्थ (स्पर्श); हो जाता है। जैसे—"अर्वाग्ध्येनम्"। "सरद्ढ वा अश्वस्य"। "तद्धिरण्यम्"क। यह (प्रथम स्पर्श) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "प्रत्यङ् होतारम्"ख। हकार—यह क्यों (कहा) ? "वाक्त आप्यायताम्"। "वषट्ते"। "तत्ते"ग। प्रथम है पूर्व में जिससे वह = प्रथमपूर्व ॥ ३८ ॥

वै० अ०—(प्रथमपूर्वः =) पदान्त प्रथम (स्पर्श) पूर्व में होने पर; हकार; तस्य = उस प्रथम (स्पर्श) के; (सस्थानम् =) समान स्थान वाला; चतुर्थम् = चतुर्थ (स्पर्श) रूप आदेश को; प्राप्त करते हैं। "अर्वाग्ध्येनम्"। "सरड्ढ्वै"। "इन्द्रमिद्धरी"घ। प्रथम (स्पर्श) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "रुद्रस्य हेतिः"। "एतान् होमान्"ङ। (प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम् =) प्लाक्षि

(क) अर्वाक्। हि। एनम् ॥ सरट्। ह। वै। अश्वस्य ॥ तत्_। हि-रण्यम् ॥ प०पा०

(ख) प्रत्यङ्। होतारम् ॥ प०पा०

हकार के पूर्व में प्रथम स्पर्श न होकर पञ्चम स्पर्श है। अतः परवर्ती हकार चतुर्थ स्पर्श नहीं हुआ है।

(ग) वाक्। ते। एति। प्यायताम् ॥ वषट्। ते ॥ तत्_। ते ॥ प० पा०

प्रथम स्पर्श के बाद में हकार नहीं है। अतः हकार के चतुर्थ स्पर्श में परिवर्तित होते का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(घ) इन्द्रम्। इत्_। हरी इति ॥ प० पा०

(ङ) रुद्रस्य। हेतिः ॥ एतान्। होमान् ॥ प० पा०

---

(१) ६।३।३ (२) ५।३।१२ (३) ५।४।२
(४) ६।३।१ (५) १।३।६ (६) २।२।१२
(७) ६।३।३ (८) ५।३।१२ (९) १।४।३८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमपूर्व इति किम्? "रुद्रस्य हेतिः"[१]। "एतान् होमान्"[२]। (प्लाक्षिकौण्डिन्य-गौतमपौष्करसादीनाम् =)प्लाक्ष्यादिग्रहणं तेषां पूजार्थम्। न स्वमतप्युदासार्थम् ॥३८॥

अविकृत एकेषाम् ॥ ३९ ॥

मा०—एकेषां शाखिनां प्रथमपूर्वो हकारः अविकृतो भवति। यथा—"सरट् ह वा अश्वस्य"[३] ॥ ३९ ॥

त्रि०—एकेषां मते प्रथमपूर्वो हकारः अविकृतः भवति। यथा—"अर्वाग् ह्येनम्"[४] ॥ ३९ ॥

वै०—एकेषां मते प्रथमपूर्वो हकारः; (अविकृतः=) न विक्रियते। प्रथमस्य तु वक्ष्यमाणविधिना तृतीयादेशः पूर्ववद्भवत्येव। "अर्वाग्ह्येनम्"[४]। सरड्ह् वै"[३]। "इद्धरी वहतः"[५] ॥ ३९ ॥

इत्यादि का; ग्रहण उनके सम्मान के लिए है, न कि अपने मत के निराकरण करने के लिए[क] ॥ ३८ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मतानुसार (प्रथमपूर्व हकार) अविकृत (रहता है)।

त्रि० अ०—एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत में; प्रथम (स्पर्श) है पूर्व में जिसके ऐसा हकार; अविकृत रहता है। जैसे—"अर्वाग् ह्येनम्"[ख] ॥ ३९ ॥

वै० अ०—एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत में; प्रथमपूर्वक हकार; (अविकृतः=) विकृत नहीं होता है। प्रथम (स्पर्श) का तो आगे कही गई विधि

(क) पदान्त प्रथम स्पर्श-वर्णों और पदादि हकार की संधि होने पर क्या विकार होता है—इस सम्बन्ध में सूत्रकार ने स्पष्टतया यह नहीं बतलाया है कि उनका इस विषय में क्या मत है? उन्होंने चार सूत्रों (५।३८—४१) में विभिन्न आचार्यों के परस्पर-विरोधी मतों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने किसी एक मत की पुष्टि में भी कुछ नहीं कहा है, जिससे समझा जा सके कि सूत्रकार को यह मत अभीष्ट है। भाष्यकार ने ५।४१ के अन्त में कहा है कि ये तीन सूत्र (५।३९—४१) इष्ट नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार के अनुसार प्रस्तुत सूत्र (५।३८) में प्रतिपादित मत ही सूत्रकार को अभीष्ट है। यही कारण है कि भाष्यकार यहाँ कह रहे हैं कि प्लाक्षि आदि आचार्यों का ग्रहण उनके सम्मान के लिए किया गया है। सूत्रकार यह नहीं कह रहे हैं कि इस सूत्र में प्रतिपादित मत इन आचार्यों का ही हैं, उनका अपना यह मत नहीं हैं। यही मत उनका भी है।

(ख) अर्वाक्। हि। एनम् ॥ प० पा०

---

(१) १।१।१ (२) १।५।४ (३) ५।३।१२
(४) ६।३।३ (५) १।४।३८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थोऽन्तरे शैत्यायनादीनाम् ॥ ४० ॥

मा०—शैत्यायनादीनां कोहलीपुत्र-भारद्वाज-स्थविरकौण्डिन्य-पौष्करसादीनां शाखिनां प्रथमहकारयोरन्तराले चतुर्थ आगमो भवति। तस्येदानीमनियमेन प्राप्तिरन्याचार्याणाम्। तस्मात् प्रकृत एव सस्थानश्चतुर्थः स्यात्। "सरट्ढ् ह वै"[१]। "यत्ध् हारियोजनीरिति"[२] ॥ ४० ॥

त्रि०—शैत्यायनादीनां मते हकारप्रथमयोः; अन्तरे=मध्ये: प्रथमसस्थानः चतुर्थः आगमो भवति। यथा—"अर्वाग्ह्येनं परैः"[३]। आदिशब्देन कौहलीपुत्रभरद्वाजस्थविरकौण्डिन्यपौष्करसादयो गृह्यन्ते ॥ ४० ॥

वै०—शैत्यायनादीनां मते; अन्तरे=प्रथमहकारयोर्मध्ये; चतुर्थ आगमो भवति। अत्रापि प्रथमस्य तृतीयादेशो भवत्येव। "अर्वाग्ह्येनम्"[४] ॥ ४० ॥

मीमाꣳसकानां च मीमाꣳसकानां च ॥ ४१ ॥

मा०—मीमांसकानां च शाखिनां प्रथमहकारयोरन्तराले प्रथमसस्थानश्चतुर्थ आगमो भवति। यथा—"अर्वाग्ध्ह्येनम्"[५]। "यद्ध्होष्यामि"[५] ॥ ४१ ॥

(८।३) से तृतीयादेश पूर्ववत् ही होता है। "अर्वाग्ह्येनम्"। "सरड्ढ्वै"। "इद्ध्हरी वहतः"क ॥ ३९ ॥

सू० अ०—शैत्यायन आदि के मत में (प्रथम स्पर्श और हकार के) मध्य में चतुर्थ (स्पर्श का आगम होता है)।

त्रि० अ०—शैत्यायनादीनाम् = शैत्यायन इत्यादि (आचार्यों) के मत में; हकार और प्रथम स्पर्श के; अन्तरे = मध्य में; प्रथम (स्पर्श) के समान स्थान वाले चतुर्थ (स्पर्श) का आगम होता है। जैसे—"अर्वाग्ह्येनं परैः"। आदि शब्द से कौहलीपुत्र, भरद्वाज, स्थविर, कौण्डिन्य, पौष्करसादि का ग्रहण होता है ॥ ४० ॥

वै० अ०—शैत्यायनादीनाम्=शैत्यायन इत्यादि के मत में; अन्तरे = प्रथम (स्पर्श) और हकार के मध्य में; चतुर्थ (स्पर्श) का आगम होता है। यहाँ भी प्रथम का तृतीयादेश होता ही है। "अर्वाग्ह्येनम्"ख ॥ ४० ॥

सू० अ०—मीमांसकों के अनुसार भी (प्रथम स्पर्श और हकार के मध्य में प्रथम स्पर्श के समान स्थान वाले चतुर्थ स्पर्श का आगम होता है)।

(क) सरट्। ह। वै ॥ इत्। हरी इति ॥ प० पा०

(ख) अर्वाक्। हि। एनम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।३।१२ (२) ६।५।६ (३) ६।३।३
(४) ६।३।३ (५) ६।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारः पूर्वोक्तविधिमन्वादिशति। मीमांसकानां चान्तरागममतं सम्मतम्। पूर्वमेवोक्तमुदाहरणम्। मीमांसकानां पूजार्थं पृथक् सूत्रारम्भः। नैतत् सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ४१ ॥

वै०—चशब्दोऽनन्तरोक्तं चतुर्थमागममन्वादिशति। (मीमाꣳसकानाम्=) मीमाꣳसकाः केचिदृषयस्तेषामपि मतात्; चतुर्थागमो भवति। नेदं सूत्रत्रयमिष्टम् ॥ ४१ ॥

त्रि० अ०—चकार पूर्वोक्त (=५।४० में उक्त) विधि का अन्वादेश करता है। मीमांसकानां च = मीमांसकों को भी; मध्य में आगम वाला मत मान्य है। उदाहरण पूर्वोक्त ही हैं। मीमांसकों के आदर के लिए पृथक् सूत्र का आरम्भ (किया गया है)।[क] ये तीनों (५।३९—४१) सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥४१॥

वै० अ०—च शब्द अव्यवहित पूर्व में कहे गए चतुर्थ (स्पर्श) के आगम का अन्वादेश करता है। (मीमाꣳसकानाम् =) मीमांसक कतिपय ऋषि हैं, उनके भी मत से; चतुर्थ (स्पर्श) का आगम होता है। ये तीनों सूत्र इष्ट नहीं हैं।

(क) पूर्ववर्ती सूत्र (५।४०) में उक्त विधान मीमांसकों को भी मान्य है, अतः मीमांसकों का ग्रहण भी पूर्ववर्ती सूत्र में ही किया जा सकता था। इस प्रकार लाघव होता—एक सूत्र कम हो जाता। किन्तु मीमांसकों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए गौरव को अपनाकर भी उनका उल्लेख पृथक् सूत्र में किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथ षकारःसकारविसर्जनीयौ ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः सकारविसर्जनीयौ षकारमापद्येते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्र उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। सकारविसर्जनीयौ षकारम् आपद्येते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

वै०—अधिकारोऽयमर्वाङ् नकारस्य णकारादेशात्। (सकारविसर्जनीयौ=) सकारविसर्जनीययोः; (षकारम्=) षत्वम्; अधिक्रियते। तत्रादौ सकारस्य विधीयते ॥१॥

स्वानासोदिव्यापोह्ययमुकमूमोप्रोत्रीमहिद्यविपद्यवग्रहपूर्वः ॥ २ ॥

मा०—स्वानासोदिवि, आपोहि, अयमु, कमु, ऊ, मो, प्रो, त्री, महि, द्यवि, पदि, इत्येवंपूर्वं अवग्रहपूर्वश्च सकारः षकारमापद्यते। यथा—"स्वानासो दिविषन्त्स्वग्ने"[1]। स्वानासो दिवीति किम्? "तृतीयस्यामितो दिविसोमः"[2]। "आपो हि ष्ठा मयोभुवः"[3]। आपो हीति किम्? "न हि स्वस्त्वँ हिनस्ति"[4]। "अयमुष्य प्र देवयुः"[5]। "कमु ष्विदस्य"[6]। अयमुकमु इति किम्? "तदु सोम आह"[7]। "ऊर्ध्व ऊषुण"[8]। "मो षू ण इन्द्र"[9]। "प्रो ष्वस्मै पुरो रथम्"[10]। "त्री षधस्थेति"[11]। "महि षद्द्युम-

---

सू० अ०—अब सकार और विसर्जनीय षकार (हो जाते हैं) (—यह अधिकार जानना चाहिए)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ; सकारविसर्जनीयौ= सकार और विसर्जनीय; षकारम्= षकार हो जाते हैं—यह अधिकार जानना चाहिए ॥१॥

वै० अ०—नकार के णकारादेश से पहले तक यह अधिकार (चलेगा)। (सकारविसर्जनीयौ=) सकार और विसर्जनीय के; (षकारम्=) षकार होने का; अधिकार किया जाता है। उनमें से पहले सकार के (षकार होने का) विधान किया जाता है ॥१॥

सू० अ०—स्वानासोदिवि, आपो हि, अयमु, कमु, ऊ, मो, प्रो, त्री, महि, द्यवि (पद), अथवा समास का पूर्व-पद पूर्व में होने पर (सकार षकार हो हो जाता है)।

---

(१) १।२।१४ (२) ३।५।७ (३) ४।१।५ (४) ५।१।७
(५) ३।५।११ (६) २।६।११ (७) ४।२।८ (८) ४।१।४
(९) १।८।३ (१०) १।७।१३ (११) २।४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्नमः"[१]। "य उप द्यविष्ठ"[२]। "पदि षितामुञ्चता"[३]। अवग्रहपूर्वः—"हंसः शुचि-षत्"[४]। "नृषदं त्वा द्रुषदम्"[५] ॥ २ ॥

त्रि०—स्वानासोदिवि आपोहि अयमु कमु ऊ मो प्रो त्री महि द्यवि पदि इत्येव-म्पूर्वोऽवग्रहपूर्वश्च सकारः षकारमापद्यते। यथा—"उत स्वनासो दिविषन्तु"[६]। स्वानास इति किम्? "तृतीयस्यामितो दिविसोम आसीत्"[७]। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"[८]। आप इति किम्? "न हि स्वस्त्वद्दिनस्ति"[९]। "अयमुष्य प्र देवयुः"[१०]। "कमुष्विदस्य सेनया"[११]। अथं, कम् इति किम्? "तदु सोम आह"[१२]। "ऊपुण ऊतये"[१३]। "मोषूण इन्द्र"[१४]। "प्रोष्वस्मै"[१५]। "त्रीषधस्था"[१६]। "महिषद्यु मन्नमः"[१७]। "य उप द्यविष्ठ"[१८]। "पदिषिताम्"[१९]। "शुचिषद्वसुः"[२०]। "अया विष्ठा जनयन्"[२१]। "गोष्टोमं द्वितीयम्"[२२]। अवग्रहः पूर्वो यस्मादसौ अवग्रहपूर्वः ॥ २ ॥

वै०—अत्र पूर्वपदनिमित्तं षत्वमुच्यमानं पदान्तनियतस्य विसर्जनीयस्याभावात्सकार-स्यैव भवति। तदयमर्थः—स्वानासो दिवि। आपो हि। अयमु। कमु। ऊ। मो। प्रो। त्री। महि। द्यवि। पदि। अवग्रहे। स्वानासो दिवीत्यादिषु; (अवग्रहपूर्वः =) अवग्रहे च पूर्वेषु; सकारः षकारं विकारमेति। "उत स्वानासो दिविषन्त्वग्नेः"[६]। स्वानास इति

त्रि० अ०—स्वानासोदिवि.....पदि—ये (पद) पूर्व में होने पर अथवा; अवग्रहपूर्वः = समास का पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने पर; सकार षकार हो जाता है।[क].....॥२॥

वै० अ०—यहाँ पूर्व-पद है निमित्त जिसका ऐसे षत्व का कथन होने पर निश्चित रूप से पद के अन्त में आने वाले विसर्जनीय का अभाव होने से सकार का ही (षत्व) होता है।[ख] इससे यह अर्थ हुआ—स्वानासो दिवि···अवग्रहपूर्वः=

(क) स्वानासः। दिवि। सन्तु॥ दिवि। सोमः। आसीत्॥ आपः। हि। स्थ॥ न। हि। स्वः॥ अयम्। उ। स्यः। प्रेति॥ तत्। उ। सोमः॥ उ। स्विति॥ मो इति। स्विति॥ प्रो इति। स्विति॥ त्री। सधस्थेति सध—स्था॥ महि। सत्॥ द्यवि। स्थ॥ पदि। सिताम्॥ शुचिषदिति शुचि—सत्॥ विष्ठा इति वि—स्थाः॥ गोष्टोममिति गो—स्तोमम्॥ प० पा०

(ख) इस सूत्र में जिस षत्व का विधान किया जा रहा है उसका निमित्त पूर्व-पद होता है। पूर्व-पद के कारण जो कार्य होता है वह पद के आदि में होता है। यह

---

(१) ३।२।८ (२) २।४।१४ (३) ४।७।१५ (४) १।८।२५
(५) १।७।१२ (६) १।२।१४ (७) ३।५।७ (८) ४।१।५
(९) ५।१।७ (१०) ३।५।११ (११) २।६।११ (१२) ४।२।८
(१३) ४।१।४ (१४) १।८।३ (१५) १।७।१३ (१६) २।४।११
(१७) ३।२।८ (१८) २।४।१४ (१९) ४।७।१५ (२०) १।८।१५
(२१) १।७।१२ (२२) ७।४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्"[१] । "आपो हिष्ठा मयोभुवः"[२] । आप इति किम् ? "वद्मा हि सूनो अस्यद्मसद्वा चक्रे"[३] । "अयमुष्य प्र देवयुः"[४] । "कमुष्विदस्य सेनया"[५] । "समत ऊषु मधु मधुनाऽभि योधि"[६] । अयम् कम् इत्युपबन्धाभ्यां दीर्घेण च किम् ? "तदु सोम आह"[७] । "मोषूणः"[८] । "प्रोष्वस्मै"[९] । "ओषधस्था"[१०] । "महिषद्युमन्नमः"[११] । "य उप द्यविष्ठ"[१२] । "पदिषितामुञ्चत"[१३] । अवग्रह-पूर्वः । "सुषदा योनिꣳस्वाहा"[१४] । "मध्यतोऽनुष्टुभा"[१५] ॥ २ ॥

असदामासिञ्चꣳश्च ॥ ३ ॥

मा०——असदाम असिञ्चन् इत्येतयोर्ग्रहणयोः सकारः षकारमापद्यते । अवग्रह-पूर्व इति चकारो ज्ञापयति । यथा—"येन कामेन न्यषदामेति"[१६] । "याभिर्मित्रावरुणावभ्य-षिञ्चन्"[१७] । अवग्रहपूर्व इति किम् ? "अजायां धर्मं प्रासिञ्चन्"[१८] । अवग्रहपूर्वे अकारेण व्यवहतिरिति सूत्रारम्भः ॥ ३ ॥

त्रि०—असदाम, असिञ्चन् इत्येतयोः सकारः षकारमापद्यते । यथा—"येन कामेन न्यषदामेति"[१६] । "मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्"[१७] । चकारोऽवग्रहपूर्वत्वान्वादेशकः । अन्वादेशेन किम् ? "अजायां धर्मं प्रासिञ्चन्"[१८] । अवग्रहपूर्वत्वेऽप्यकारेण व्यवेत इत्ययमारम्भः ।

स्वानासो दिवि इत्यादि तथा समास का पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने पर ; सकार षकाररूप विकार को प्राप्त करता है । .....क ॥२॥

सू० अ०— असदाम और असिञ्चन् (का सकार) भी (षकार हो जाता है) ।

त्रि० अ०—असदाम और असिञ्चन् —इन दोनों का सकार षकार हो जाता है । जैसे—"येन कामेन न्यषदामेति" ।"मित्रावरुणाभ्यषिञ्चन्" ।ख चकार

विदित ही है कि विसर्जनीय सर्वदा पद के अन्त में आता है, पद के आदि में कभी नहीं । अतः इस सूत्र में सकार के षत्व का विधान किया जा रहा है, विसर्जनीय के षत्व का नहीं, यद्यपि अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र (६।१) में सकार और विसर्जनीय के षत्व का अधिकार किया गया है ।

(क) वद्मा । हि । सूनो इति ॥ सुषदेति सु—सदा ॥ अनुष्टुभेत्यनु—स्तुभा ॥ प० पा०

(ख) न्यषदामेति नि—असदाम ॥ अभ्यषिञ्चन्नित्यभि—असिञ्चन् ॥ प० पा०

---

(१) ३।५।७ (२) ४।१।५ (३) १।३।१४ (४) ३।५।११
(५) २।६।११ (६) ३।५।१० (७) ४।२।८ (८) १।८।३
(९) १।७।१३ (१०) २।४।११ (११) ३।२।८ (१२) २।४।१४
(१३) ४।७।१५ (१४) १।१।१३ (१५) ५।१।३ (१६) ७।५।२
(१७) १।८।११ (१८) ५।४।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु, लाघवादकारव्यवेतोपीत्येतावतैवालम्, कण्ठोक्तया किम्? उच्यते—"ह्रस्वसो मया-भून्"[1] इत्यादौ मा भूदिति ॥ ३ ॥

वै०—चशब्देनावग्रहपूर्वं इत्यन्वादिश्यते। अनन्तरार्थं त्विदं वचनम्। अवग्रहे पूर्वे

(पूर्वसूत्र से) अवग्रह-पूर्वत्व का अन्वादेशक है। अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "अजायां घर्मं प्रासिञ्चन्"।[क] पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने पर भी अकार से व्यवहित है, इसलिए यह सूत्र आरम्भ किया है।[ख] (प्र०) लघु होने से "अकार-व्यवेतोऽपि"—यह (सूत्र) कहना ही पर्याप्त था, पृथक् शब्दों (= असदाम और असिञ्चन्) के स्पष्ट रूप से कथन से क्या (लाभ है)? (उ०) कहते हैं—"ह्रस्वसो मयाभून्" इत्यादि में (सूत्र की प्रवृत्ति) न हो (इसलिए इन शब्दों को कहा है)[ग] ॥ ३ ॥

वै० अ०—च शब्द से (पूर्ववर्ती सूत्र से) अवग्रहपूर्व का अन्वादेश होता है।

(क) अजायाम्। घर्मम्। प्रेति। असिञ्चन् ॥ प० पा०

पूर्व-पद (अवग्रह) के बाद में विद्यमान 'असिञ्चन्' का सकार षकार होता है। यदि पूर्ववर्ती सूत्र (६।२) से अवग्रहपूर्वत्व का अन्वादेश न किया जाये तो उपर्युक्त स्थल में भी 'असिञ्चन्' का सकार षकार हो जायेगा। किन्तु यह इष्ट नहीं है। अतः अवग्रहपूर्वत्व का अन्वादेश आवश्यक है।

(ख) पूर्वपक्षी—अवग्रह पूर्व में होने पर 'असदाम' और 'असिञ्चन्' का सकार ६।२ से ही षकार हो जायेगा। तब इस पृथक् सूत्र से इन पदों के सकार के षकार होने का विधान क्यों किया गया है? सिद्धान्ती—इस सूत्र के द्वारा पृथक् विधान करने का यह कारण है कि अवग्रह और 'असदाम' तथा 'असिञ्चन्' के मध्य में अकार का व्यवधान होने पर भी इन पदों का सकार षकार हो जाता है। इस व्यवधान के कारण ६।२ से इन पदों का सकार पकार नहीं होता है।

(ग) ह्रस्वस इति ह्रस्वसु—असः ॥ प० पा०

यदि 'असदाम' और 'असिञ्चन्' का कथन न करके यह कहा जाता कि अकार से व्यवहित होने पर भी षत्व हो जाता है तब उपर्युक्त स्थल में पूर्व-पद (ह्रस्वसु) के बाद में स्थित 'असः' का सकार षकार हो जाता। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। इस अनिष्ट रूप के निवारण के लिए ही 'अकार से व्यवहित होने पर भी' का कथन न करके 'असदाम' और 'असिञ्चन्' पदों का सूत्र में ग्रहण किया गया है।

---

(१) ४।२।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असदाम असिञ्चन् इत्यनयोः सकारः षकारं विकारमेति। "न्यषदामेति तासाम्"[१]। "मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्"[२]। अन्वादेशेन किम्? "अजायां घर्मं प्रासिञ्चन्"[३] ॥ ३ ॥

उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे ॥ ४ ॥

मा०—उपसर्गपूर्वः निष्पूर्वश्च सकारः षकारमापद्यते अनुदात्ते पदे वर्तमानः। यथा उपसर्गपूर्वः—"साम्राज्येनाभिषिञ्चामि"[४]। "यजमाने प्रतिष्ठापयन्ति"[५]। "अश्मन्नूर्जमिति परि षिञ्चति"[६]। "इमं विष्यामि"[७]। "निष्टनिहि दुरिता"[८]। "विप्रो दूतः परिष्कृतः"[९]। उपसर्गनिष्पूर्व इति किम्? "अर्णवे सदने सीद"[१०]। "बृहतः शर्मणि स्यामग्नेः"[११]। अनुदात्ते पद इति किम्? "वि सीमतः सुरुचो वेन आवः"[१२]। "अभि सवना पाहि विष्णुः"[१३]। अनुदात्त इति सप्तम्या आधारो निर्दिश्यते। प्रकृतत्वाच्च तस्यैवाधारत्वम्। पदग्रहणेन कालार्थः पदकाल इति। अन्यथा संहितायामाधारे विकृत्युपगतिः स्यात् ॥ ४ ॥

त्रि०—(अनुदात्ते पदे=) सर्वानुदात्ते पदे; वर्तमानः सकारः; (उपसर्गनिष्पूर्वः=) उपसर्गपूर्वो निष्पूर्वो वा; षत्वमापद्यते। यथा—"अश्मन्नूर्जमिति परिषिञ्चति"[६]। "इमं विष्यामि"[७]। "साम्राज्येनाभिषिञ्चामि"[४]। "यजमाने प्रतिष्ठाप-

---

व्यवधान के लिए यह कथन (विधान) किया गया है।[क] अवग्रह पूर्व में होने पर 'असदाम' 'असिञ्चन्'—इन दोनों का सकार षकार विकार को प्राप्त करता है। "न्यषदामेति तासाम्"। "मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्"। अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "अजायां घर्मं प्रासिञ्चन्" ॥ ३ ॥

सू० अ०—उपसर्ग अथवा निः पूर्व में होने पर सर्वानुदात्त पद में (स्थित सकार षकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—(उपसर्गनिष्पूर्वः=) उपसर्ग अथवा निः पूर्व में होने पर; (अनुदात्ते पदे=) सर्वानुदात्त पद में; वर्तमान सकार; षत्व को प्राप्त करता है। जैसे—"अश्मन्नूर्जमिति परिषिञ्चति"। "इमं विष्यामि"। "साम्राज्येनाभिषिञ्चामि"।

(क) ६।२ से पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने पर अव्यवहित बाद वाला सकार षकार होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से पूर्व-पद और सकार के मध्य में अकार का व्यवधान होने पर भी सकार षकार हो जाता है।

---

(१) ७।५।२ (२) १।८।११ (३) ५।४।३
(४) १।७।१० (५) ६।१।४ (६) ५।४।४ (७) १।१।१०
(८) ४।६।६ (९) ३।२।११ (१०) ४।३।१ (११) ४।१।५
(१२) ४।२।८ (१३) १।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यन्ति"[१]। "निषसाद धृतव्रतः"[२]। एतान्युपसर्गपूर्वाणि। निष्पूर्वमपि यथा—"निष्टनिहि दुरिता"[३]। एवम्पूर्व इति किम्? "सदने सीद"[४]। "बृहतश्शर्मणि स्याम्"[५]। सर्वानुदात्त इति किम्? "वि सीमतः"[६]। "अभि सवना पाहि"[७]। पद इति किम्? कालार्थम्। पदकाले अनुदात्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

वै०—उपसर्गेषु निश्शब्दे च पूर्वे सर्वानुदात्तपदस्थः सकारः षकारं विकारमेति। अनवग्रहपूर्वार्थं वचनम्। "अभिष्यामः पृत्सुतीः"[८]। "प्रतिष्टोभन्ति"[९]। "निष्टनिहि"[१०]। एवं पूर्व इति किम्? "किꣳस्विदासीत्"[११]। अनुदात्त इति किम्? "प्रतिस्तोमाꣳशस्यमानं गृभाय"[१२]। पद इति किम्? अनुदात्तपरमात्रेण माभूत्। "वि सीमतस्सुरुचः"[१३] ॥४॥

रासः सप्तेऽग्निर्निर्विदुर्मीढुः पायुभिर्वेः सुमतिर्माकिरीयुरायुराभिः सधिर्न-किस्तकारपरो नित्यम् ॥ ५ ॥

मा०—रासोऽग्निः, सप्तेऽग्निः, निः, विदुः, मीढुः, पायुभिः, वेः, सुमतिः, माकिः,

---

"यजमाने प्रतिष्ठापयन्ति"। "निषसाद धृतव्रतः"।[क] ये उपसर्ग-पूर्व (के उदाहरण है)। निः-पूर्व (का उदाहरण) भी जैसे—"निष्टनिहि दुरिता"।[ख] ये (उपसर्ग तथा निः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सदने सीद"। "बृहतश्शर्मणि स्याम्"[ग]। सर्वानुदात्त (पद) में—यह क्यों (कहा)? "वि सीमतः"। "अभि सवना पाहि"।[घ] पद—यह क्यों (कहा)? काल के ज्ञान के लिए। पद (=पाठ) की अवस्था में अनुदात्त—यह अर्थ है ॥४॥

वै० अ०—'उपसर्ग' अथवा 'निः' शब्द पूर्व में होने पर सर्वानुदात्त पद में वर्तमान सकार षकार विकार को प्राप्त करता है। (यह) कथन (विधान) अवग्रह पूर्व में नहीं है जिसके ऐसे (पद में स्थित सकार) के लिए है। (उदाहरण—) "अभिष्यामः पृत्सुती"। "प्रतिष्टोभन्ति"। "निष्टनिहि"। ये (उपसर्ग तथा निः) पूर्व में होने पर—यह क्यों कहा? "किꣳस्विदासीत्"। अनुदात्त (पद) में यह क्यों कहा? "प्रतिस्तोमाꣳ शस्यमानं गृभाय"। पद यह क्यों कहा? केवल अनुदात्त बाद में होने से (सकार का षकार) न होवे। "वि सीमतस्सुरुचः" ॥४॥

सू० अ०—रासः तथा सप्ते से युक्त अग्निः, निः, विदुः, मीढुः, पायुभिः, वेः,

---

(क) अश्मन्। ऊर्जम्। इति। परीति। सिञ्चति॥ इमम्। वीति। स्यामि॥ अभीति। सिञ्चामि॥ प्रतीति। स्थापयन्ति॥ नीति। ससाद॥ प० पा०

(ख) निरिति। स्तनिहि॥ प० पा०

(ग) सदने। सीद॥ शर्मणि। स्याम्॥

(घ) वीति। सीमतः॥ अभीति। सवना॥

---

(१) ६।१।१४ (२) १।८।१६ (३) ४।६।६ (४) ४।३।१ (५) ४।१।५ (६) ४।२।८ (७) १।४।१० (८) १।४।४६ (९) २।२।१२ (१०) ५।४।३ (११) ७।४।१८ (१२) १।२।१४ (१३) ४।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईयुः, आयुः, आभिः, सधिः, नकिः, इत्येतेषु तकारपरो विसर्जनीयः षकारमापद्यते। यथा—"अविदुष्टरासः। अग्निष्टत्"[१]। "मेध्यश्च सप्ते। अग्निष्ट्वा"[२]। रासस्सप्तेति किम्? "तेजोऽनुप्रेहि अग्निस्ते तेजः"[३]। "अग्निस्तत्पुनः"[४]। "तेजसा निष्टपामि"[१]। "विदुष्टरँ सपेम"[५]। विदुरित्येतस्मिन् ग्रहणे अविदुरित्यस्मिन्नपि विधिः प्राप्नोति। कस्मात्? "अप्यकारादि"[६] वचनात्। यथा—"विदुषा अविदुष्टरासः"[१]। "भीदुष्टम शिवतम"[७]। "अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वम्"[८]। पायुभिरिति किमर्थम्? "त्रिभिस्तिष्ठँस्तिष्ठति"[९]। "पावक शोचे वेष्टवँ हि"[१०]। "गम्भीरा सुमतिष्टे अस्तु"[११]। सुमतिरिति किम्? "प्रमतिस्ते देवानाम्' इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्"[१२]। "ईयुष्टे ये पूर्वतराम्"[१३]। "आयुष्टे विश्वतो दधत्"[१४]। "आभिष्टे अद्य"[१५]। "सधिष्टव सौषधीः"[१६]। "नकिष्टं ध्नन्त्यन्तितः"[१७]। तकारपर इति किम्? "आयुश्च मे"[१८]। नित्यमिति किम्? "ऋकाररेफवति"[१९], "अवग्रहः"[२०] इति। अवग्रहप्रतिषेधात् विदुरित्यस्मिन् ग्रहणे अवग्रहस्थस्य विसर्जनीयस्य षत्वं न स्यात्। अन्यथा अनवग्रहः स्यात्? यथा निष्टपामि तस्मान्नित्यं इत्यारभ्यते। "विदुष्टरं सपेम"[५] इति सिध्यति॥ ५॥

त्रि०—(रासः सप्तेऽग्निः =) रासः सप्ते इत्येताभ्यां विशिष्टे अग्निरित्यस्मिन् ग्रहणे; निः विदुः मीढुः पायुभिः वेः सुमतिः माकिः ईयुः आयुः आभिः सधिः नकिः इत्येतेषु च विसर्जनीयः तकारपरः षकारं नित्यं आपद्यते। यथा—"अविदुष्टरासः अग्निष्टत्"[१]। "मेध्यश्च सप्ते। अग्निष्ट्वा"[२]। एताभ्यां विशिष्ट इति किम्? "नाकेऽग्निस्ते तनुवम्"[२१]। "निष्टपामि गोष्ठम्"[२२]। "विदुष्टरꣳसपेम"[५]। "अप्यकारादि"[६]।

सुमतिः, माकिः, ईयुः, आयुः, आभिः, सधिः, नकिः (में स्थित विसर्जनीय) तकार बाद में होने पर, नित्य (षकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—(रासः सप्तेऽग्निः =) रासः, सप्ते—इनसे विशिष्ट अग्निः—इस पद में; निः···नकिः—इनमें भी स्थित विसर्जनीय; तकारपरः = तकार बाद में होने पर; नित्य षकार हो जाता है···। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस कथन से "अविदुष्टरासः"—यह भी उदाहरण है[क]।

(क) अविदुष्टरास इत्यविदुः—तरासः॥ प० पा०

---

(१) १।१।१४ (२) ५।१।११ (३) १।१।१० (४) ३।२।५
(५) २।५।१२ (६) १।५२ (७) ४।५।१० (८) १।४ २४
(९) ५।४।१२ (१०) ४।३।१३ (११) १।४।४५ (१२) १।२।१४
(१३) १।४।३३ (१४) १।३।१४ (१५) ४।४।४ (१६) ४।२।३
(१७) २।१।११ (१८) ४।७।१ (१९) ६।८ (२०) ६।६
(२१) १।१।८ (२२) १।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति वचनात् "अविदुष्टरासः"[1] इत्यप्युदाहरणम्। "मीढुष्टम शिवतम"[2]। "पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिः"[3]। पाय्विति किम्? "त्रिभिस्तिष्ठꣳतिष्ठति"[4]। "शोचे वेष्ट्वꣳहि यज्ञा"[5]। "सुमतिष्टे अस्तु"[6]। स्विति किम्? "प्रमतिस्ते देवानाम्" इति शाखान्तरे। "माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्"[7]। "ईयुष्टे ये पूर्वतराम्"[8]। "आयुष्ट आयुर्दाः"[9]। "आभिष्टे अद्य"[10]। "अपस्वग्ने सधिष्टव"[11]। "नकिष्टं घ्नन्ति"[12]। नित्यशब्दः किमर्थः? "ऋकाररेफवति"[13] "अत्रग्रहः"[14] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। "अविदुः"[15] इत्यत्र विसर्जनीयस्यावग्रहस्थत्वात् षत्वं न स्यात्तन्मा भूदिति, कण्ठोक्तिरपि विदुरित्यस्यैव न त्वविदुरित्यस्येति दौर्बल्यात् तत्सङ्ग्रहणार्थो नित्यशब्द उपयुज्यते। "अघोषपरस्तस्य सस्थानम्"[15] इत्यस्य पुरस्तादपवादोऽयम् ॥ ५ ॥

....क। 'सु'—यह क्यों (कहा)? "प्रमतिस्ते देवानाम्"—यह (प्रत्युदाहरण) दूसरी शाखा में मिलता है।....ख 'नित्य' शब्द का प्रयोग किसलिए (किया गया है)? "ऋकार और रेफ से युक्त पद में (सकार षकार नहीं होता) है", "पूर्व-पद में (स्थित सकार षकार नहीं होता है)" (इससे सूत्रकार) प्रतिषेध को कहेंगे। 'अविदुः'—यहाँ पूर्व-पद में स्थित होने से विसर्जनीय का षत्व नहीं होगा—वह (षत्व का प्रतिषेध) न हो, इसलिए (सूत्र में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग किया गया है)। स्पष्टतः (=शब्दतः) उल्लेख भी 'विदुः' इस (पद) का ही (किया गया है), 'अविदुः'—इस (पद) का तो नहीं (किया गया है)—इसलिए (कण्ठोक्ति के) दुर्बल होने से उस (अविदुः) के ग्रहण के लिए 'नित्य' शब्द प्रयुक्त किया जाता है।ग "अघोष (वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) उस (अघोष) के समान

(क) मीढुष्टमेति मीढुः—तम ॥ पायुभिरिति पायु—भिः ॥ त्रिभिरिति त्रि—भिः ॥ वेः। त्वम् ॥ सुमतिरिति सु—मतिः ॥ प० पा०

(ख) माकिः। ते ॥ ईयुः। ते ॥ आयुः। ते ॥ आभिः। ते ॥ अप्स्वित्यप्—सु। अग्ने ॥ नकिः। तम् ॥ प० पा०

(ग) "अविदुःऽतरासः"—पूर्व-पद (अविदुः) के विसर्जनीय के षकार होने का निषेध ६।९ में किया गया है। वह निषेध 'अत्रिदुः' पर लागू न हो इसलिए सूत्र में 'नित्यम्' का प्रयोग किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र से 'अविदुः' का विसर्जनीय षकार हो जाता है।

पूर्वपक्षी—६।९ में पूर्व-पद के अन्तिम विसर्जनीय के षत्व का निषेध सामान्य रूप से किया गया है। इसके विपरीत प्रस्तुत सूत्र में शब्दों का उल्लेख

---

(१) १।१।१४ (२) ४।५।१० (३) १।४।२४ (४) ५।४.१२
(५) ४।३।१३ (६) १।४।४५ (७) १।२।१४ (८) १।४।३३
(९) २।५।१२ (१०) ४।४।४ (११) ४।२।३ (१२) २।१।११
(१३) ६।८ (१४) ६।९ (१५) ९।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अथ विसर्जनीयस्योच्यते—

(रासस्सप्ते···नकिः =) रासस्सप्तेऽग्निरित्यादिषु; सकारस्य तकारपरत्वाभावात्तत्रत्यो विसर्जनीयः षकारं विकारमेति; (तकारपरः =) तकारे परतः; नित्यमिति इति विज्ञायते। रासः सप्त इत्याभ्यामुपबन्धाभ्यां परे अग्निरित्यत्र। "अविदुष्टरासः। अग्निष्टद्विश्वम्"[१]। "मेध्यश्च सप्ते। अग्निष्ट्वा देवैः"[२]। उपबन्धाभ्यां किम्? "नाकेऽग्निस्ते तनुवम्"[३]। "निष्टपामि"[४]। "विदुष्टरꣳसपेम"[५]। "मीढुष्टम शिवतम"[६]। "पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिः"[७]। पायिवति किम्? "त्रिभिस्तिष्ठꣳस्तिष्ठति"[८]। "शोचे वेष्ट्वꣳहि यज्ञा"[९]। "सुमतिष्टे अस्तु"[१०]। स्वित्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। "माकिष्टे व्यथिरा"[११]। "ईयुष्टे

स्थान वाला ऊष्म (= वर्ण) (हो जाता है)"—इस (सूत्र) का यह पहले किया गया अपवाद है[क] ॥ ५ ॥

वै० अ०—अब विसर्जनीय का (षत्व) कहा जाता है—(रासस्सप्ते ··· नकिः =) रासः, सप्ते से युक्त अग्नि इत्यादि में; सकार के बाद में तकार का अभाव होने से वहाँ का (= अग्निः इत्यादि का) विसर्जनीय; (तकारपरः =) तकार बाद में होने पर; नित्यम् = नित्य; षकार रूप विकार को प्राप्त करता है—यह ज्ञात होता है। ···। "अघोष (—वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) उस (अघोष) के समान स्थान वाला ऊष्म (—वर्ण) (हो जाता है)"—यह इस (सूत्र) का अपवाद है।

करके विशेष विधान (वा०ठोक्ति) किया गया है। सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान् होता है। अतः 'नित्यम्' के ग्रहण न होने पर भी 'अविदुः' का विसर्जनीय षकार हो जाता है।

सिद्धान्ती—प्रस्तुत सूत्र में 'विदुः' का शब्दतःविधान किया गया है, 'अविदुः' का नहीं। इससे 'अविदुष्टरासः' में 'अविदुः' के विसर्जनीय को षत्व की प्राप्ति दुर्बल पड़ जाती है। अतः प्रस्तुत सूत्र से 'अविदुः' का विसर्जनीय भी षकार होवे—इसलिए सूत्र में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(क) ६।२ में यह विधान किया गया है कि अघोष (स्पर्श) बाद में होने पर (विसर्जनीय) उस (अघोष) के समान स्थान वाला 'ऊष्म' (वर्ण) हो जाता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार तकार (अघोष-स्पर्श) बाद में होने पर 'अग्निः' इत्यादि का विसर्जनीय षकार होता है। अतः प्रस्तुत सूत्र ६।२ का अपवाद है। सामान्य तथा अपवाद में अपवाद अधिक शक्तिशाली होता है। यही कारण है कि निर्दिष्ट स्थलों पर प्रस्तुत सूत्र ही लागू होता है।

---

(१) १।१।१४ (२) ५।१।११ (३) १।१।८ (४) १।१।१०
(५) २।५।१२ (६) ४।५।१० (७) १।४।२४ (८) ५।४।१२
(९) ४।३।१३ (१०) १।४।४५ (११) १।२।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये पूर्वतराम्"[१]। "आयुष्टे विश्वतो दधत्"[२]। "आभिष्टे अद्य गीर्भिः"[३]। "अप्स्वग्ने सधिष्टव"[४]। "नकिष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात्"[५]। सोऽयं "अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्"[६] इत्यस्यापवादः। नित्यग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। तेन विदुर्मीढुरित्यनयोः "अवग्रहः"[७] इति निषेधो न भवति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। विदुर्मीढुर्ग्रहणस्य विशिष्टविषयतयैव सामान्यविषयत्वबाधसिद्धेः। एवं तर्हि "विदुषां देवा अविदुष्टरासः"[८] इत्यत्र "अप्यकारादि"[९] इति सर्वकार्यसाधारणो विधिः "अवग्रहः"[७] इति षत्वनिषेधेन बाध्येत। तन्मा भूदित्येवमर्थं नित्यग्रहणं कृतम् ॥ ५ ॥

'नित्य' शब्द का प्रयोग प्रतिषेध (बाधक) के निवारण (बाधन) के लिए है। 'विदुः' तथा 'मीढुः' इनमें (विसर्जनीय के षत्व का) "पूर्व-पद (का सकार षकार नहीं होता है)"—इससे निषेध नहीं होता है। यह प्रयोजन नहीं है। विदुः तथा मीढुः पदों के विशिष्ट विषय होने से ही सामान्य विषय (६।९) के बाध (प्रतिषेध) की सिद्धि हो जाती है। ऐसी बात है तो "विदुषां देवा अविदुष्टरासः"—यहाँ पर "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—सभी कार्यों के लिए सामान्य यह विधान "पूर्व-पद (में स्थित सकार षकार नहीं होता है)"—इससे षत्व के निषेध से बाधित हो जायेगा। वह न हो जाये इसलिए नित्य (शब्द) का ग्रहण किया गया है[क] ॥ ५ ॥

(क) सिद्धान्ती—६।९ में यह कहा गया है कि पूर्व-पद में स्थित सकार षकार नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'नित्य' शब्द के प्रयोग से ६।९ में प्रतिपादित प्रतिषेध का बाध हो जाता है। इससे 'विदुः तरम्' तथा 'मीढुः तमः' में स्थित विसर्जनीय षकार हो जाता है।

पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र में 'विदुः' तथा 'मीढुः' का विशेष रूप से विधान किया गया है। ६।९ में सामान्य निषेध किया गया है। सामान्य-नियम तथा विशेष नियम-इन दोनों में विशेष नियम अधिक प्रबल होता है। अतः सामान्य सूत्र (६।९) में प्रतिपादित षत्व के निषेध का प्रस्तुत विशेष नियम से प्रतिषेध हो जाता है। अतः 'नित्यम्' का उपर्युक्त प्रयोजन नहीं है।

सिद्धान्ती—१।५२ के अनुसार अकार से प्रारम्भ होने वाले पद को भी पद जानना चाहिए। यह नियम सभी कार्यों का सामान्य नियम है अर्थात् सभी प्रकार के कार्यों में यह सूत्र लागू होता है। इसका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। इसी सूत्र की सहायता से 'अविदुः' का भी विसर्जनीय प्रस्तुत सूत्र से षकार होता

---

(१) १।४।३३ (२) १।३।१४ (३) ४।४।४
(४) ४।२।३ (५) २।१।११ (६) ६।२
(७) ६।९ (८) १।१।१४ (९) १।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ न ॥ ६ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः । नेत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तर—त्रोदाहरिष्यामः ॥ ६ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः । न इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ ६ ॥

वै०—अनेन षत्वनिषेधोऽधिक्रियते ॥ ६ ॥

अवर्ण्यव्यञ्जनशकुनिपत्न्यृतुमृत्युमलिम्लुबृहस्पतिपूर्वः ॥ ७ ॥

मा०—अवर्णपूर्वः व्यञ्जनपूर्वश्च शकुनि, पत्नि, ऋतु, मृत्यु, मलिम्लु, बृहस्पति, इत्येवंपूर्वः लक्षणान्तरप्राप्तेः सकारः षकारं नापद्यते । यथा अवर्णपूर्वः—"वसुरन्तरिक्षसत्"[१] । "यष्ठविरासाद्याग्निम्"[२] । इत्यादिषु अवग्रहपूर्वत्वात् सकारस्य षत्वे प्राप्ते, अवर्णपूर्वत्वा-प्रतिषेधः । "आ सिञ्चस्व जठरे"[३] । "हवींष्यासादयेत्"[४] । "उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे"[५] इत्यत्र षत्वं प्राप्तं अवर्णपूर्वत्वात् प्रतिषिध्यते । व्यञ्जनपूर्वः—"ऋक्सामे वै देवेभ्यः"[६] । "उत्सादेन जिह्वाम्"[७] । अवग्रहपूर्वत्वात् षत्वं प्राप्तं व्यञ्जनपूर्वत्वात् प्रतिषिध्यते । "बृहस्पतिं शकुनिसादेन"[८] । "पत्नी संयाजानामृचा"[९] । "ऋतुस्थास्तस्य"[१०] । "मृत्यु-संयुत इव"[११] । "नैनं मलिम्लुसेना विन्दति"[१२] । "बृहस्पतिसुतस्य ते"[१३] ॥ ७ ॥

सू० अ०—अब (षत्व का) निषेध (कहा जाता है) ।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है । इससे आगे जो कहेंगे वहाँ (षत्व) न=नहीं; (होता है)—यह अधिकार जानना चाहिए ॥ ६ ॥

वै० अ०—इस (सूत्र) से; (अथ न=) षत्व के निषेध का अधिकार किया जाता है ॥ ६ ॥

सू० अ०—अवर्ण, व्यञ्जन, शकुनि, पत्नी, ऋतु, मृत्यु, मलिम्लु अथवा बृह-स्पति पूर्व में होने पर (सकार षकार नहीं होता है) ।

है । किन्तु सब कार्यों में लागू होने वाले इस सामान्य नियम का बाध ६।६ से हो जाता है । इससे 'अविदुः' का सकार षकार नहीं होगा । यह वस्तुस्थिति होने पर ६।६ के बाध के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया गया है । इससे 'अविदुः' का सकार षकार हो जाता है ।

---

(१) १।८।१५ (२) ६।२।१ (३) १।४।१६ (४) १।६।१०
(५) ६।४ (६) ६।१।३ (७) ५।७।११ (८) ५।७।१४
(६) २।६।१० (१०) ५।७।६ (११) १।५।६ (१२) ६।३।२
(१३) १।४।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(अवर्ण···बृहस्पतिपूर्वः =) अवर्णपूर्वो व्यञ्जनपूर्वश्च शकुनि पत्नी ऋतु मृत्यु मलिम्लु बृहस्पतिः इत्येवम्पूर्वश्च; सकारः षकारं नापद्यते। यथा—"अन्तरिक्षसत्"[१]। अवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः। "आ सिञ्चस्व"[२]। उपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः। "ऋक्सामे वै"[३]। "शकुनिसादेन रथम्"[४]। "पत्नीसंयाजानामृचा"[५]। "ऋतुस्थास्तस्य"[६]। "मृत्युसंयुत इव"[७]। "नैनं मलिम्लुसेना विन्दति"[८]। "बृहस्पतिसुतस्य ते"[९]। अवग्रहपूर्वत्वादेषां प्राप्तिः ॥ ७ ॥

वै०—(अवर्ण···बृहस्पतिपूर्वः =) अवर्णपूर्वो व्यञ्जनपूर्वः। शकुनि। पत्नी। ऋतु। मृत्यु। मलिम्लु। बृहस्पति। शकुन्यादिपदपूर्वश्च सकारः षकारं विकारं नैति। "वाजिनं त्वा सपत्नसाहꣳसं मार्ज्मि"[१०]। "बर्हिरासदे"[११]। अवग्रहपूर्वतया प्राप्तिः "देव सवितः प्र सुव"[१२]। "स्योनामा सीद"[१३]। उपसर्गपूर्वकतया प्राप्तिः। "दीर्घामनु प्रसितिमायुषेधाम्"[१४]। "तꣳशृतमासन्नमेतेन"[१५]। उभयथा प्राप्तिः। "ऋक्सामयोश्शिल्पेस्थः"[१६]।

त्रि० अ०—(अवर्ण···बृहस्पतिपूर्वः =) अवर्ण है पूर्व में जिसके और 'व्यञ्जन' है पूर्व में जिसके और शकुनि, पत्नी, ऋतु, मृत्यु, मलिम्लु, अथवा बृहस्पति है पूर्व में जिसके वह सकार षकार नहीं होता है। जैसे—"अन्तरिक्षसत्"क। पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने के कारण (षत्व की) प्राप्ति थी। "आ सिञ्चस्व"ख। उपसर्ग पूर्व में होने के कारण (षत्व की) प्राप्ति थी। "ऋक्सामे वै"। 'शकुनिसादेन रथम्"। 'पत्नीसंयाजानामृचा"। "ऋतुस्थास्तस्य"। "मृत्युसंयुत इव"। "नैनं मलिम्लुसेना विन्दति"। "बृहस्पतिसुतस्य ते"ग। पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने के कारण इनमें (षत्व की) प्राप्ति थी ॥ ७ ॥

वै० अ०—(अवर्ण··बृहस्पतिपूर्वः =) अवर्ण है पूर्व में जिसके, व्यञ्जन है पूर्व में जिसके, शकुनि, पत्नी, ऋतु, मृत्यु, मलिम्लु, बृहस्पतिः, शकुनि इत्यादि पद हैं पूर्व में जिसके वह सकार षकार रूप विकार को नहीं प्राप्त करता है। "वाजिनं त्वा सपत्नसाहꣳसं मार्ज्मि"। "बर्हिरासदे"। पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने के

(क) अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्ष—सत् ॥ प० पा०

(ख) एति। सिञ्चस्व ॥ प० पा०

(ग) ऋक्सामे इत्यृक्—सामे ॥ शकुनिसादेनेति शकुनि—सादेन ॥ ऋतुस्था इत्यृतु—स्थाः ॥ मृत्युसंयुत इति मृत्यु—संयुतः ॥ मलिम्लुसेनेति मलिम्लु—सेना ॥ बृहस्पतिसुतस्येति बृहस्पति—सुतस्य ॥ प० पा०

---

(१) १।८।१५	(२) १।४।१९	(३) ६।१।३	(४) ५।७।१४
(५) २।६।१०	(६) ५।७।६	(७) १।५।६	(८) ६।३।२
(९) १।४।२७	(१०) १।१।१०	(११) १।१।२	(१२) १।७।७
(१३) १।८।१६	(१४) १।१।६	(१५) २।४।३	(१६) १।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पयो अघ्नियासु ह्रत्सु क्रतुम्"[१]। "सꣳसमिद्युवसे वृषन्"[२]। यत्तु "धूर्षाहावनश्रू"[३]। "सुवर्षां जिह्वामग्ने"[४]। "निष्टनिहि दुरिता बाधमानः"[५]। इत्येतेषां षत्वं तदनेन न निषिध्यते विशेषविहितत्वान्निरवकाशत्वाच्च। "शकुनिसादेन रथम्"[६]। "आज्येन पत्नीसंयाजा ऋचम्"[७]। "यो वा अग्निमृतुस्थां वेद"[८]। "मृत्युसंयुत इव ह्ययम्"[९]। "नैनं मलिम्लुसेना"[१०]। "बृहस्पतिसुतस्थ"[११]। एतेष्ववग्रहपूर्वत्वात्प्राप्तिः ॥ ७ ॥

कारण (६।९ से षत्व की) प्राप्ति थी। "देव सवितः प्र सुव"। "स्योनामा सीद"। उपसर्ग पूर्व में होने के कारण (६।४ से षत्व की) प्राप्ति थी। "दीर्घामनु प्रसितिमायुषेधाम्"। "तꣳशृतमासन्नमेतेन"क। दोनों प्रकार (पूर्व-पद पूर्व में होने के कारण ६।९ से और उपसर्ग पूर्व में होने के कारण ६।४ से) से (षत्व की) प्राप्ति थी। "ऋक्सामयोश्शिल्पे स्थः"। "पयो अघ्नियासु ह्रत्सु क्रतुम्"। "सꣳसमिद्युवसे वृषन्"।ख "धूर्षाहावनश्रू"। "सुवर्षां जिह्वामग्ने"। 'निष्टनिहि दुरिता बाधमानः"। इनका जो षत्व है वह इस (सूत्र) से निषिद्ध नहीं किया जाता, विशेष रूप से विहित होने के कारण और निरवकाश होने के कारण।ग "शकुनिसादेन रथम्"। "आज्येन पत्नीसंयाजा ऋचम्"। "यो वा अग्निमृतुस्थां वेद"। "मृत्युसंयुत इव ह्ययम्"। "नैनं मलिम्लुसेना"। "बृहस्पतिसुतस्थ"घ—इनमें पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने के कारण (६।९ से) प्राप्ति थी ॥ ७ ॥

(क) सपत्नसाहीमिति सपत्न—साहीम् ॥ आसद इत्या—सदे ॥ प्रेति । सुवः ॥ एति । सीद ॥ प्रसितिमिति प्र—सितिम् ॥ आसन्नमित्या—सन्नम् ॥ प० पा०

(ख) ऋक्सामयोरित्यृक्—सामयोः ॥ ह्रत्स्विति ह्रत्—सु ॥ सꣳसमिति सं—सम् ॥ प० पा०

(ग) धूर्षाहाविति धूः—साहौ ॥ सुवर्षामिति सुवः—साम् ॥ निरिति । स्तनिहि ॥

प्रस्तुत सूत्र में व्यञ्जन के बाद में विद्यमान सकार के षकार होने का निषेध किया गया है। किन्तु उपर्युक्त तीन स्थलों में व्यञ्जन के बाद में विद्यमान सकार षकार हो गए हैं। प्रस्तुत सूत्र का निषेध इन तीन स्थलों पर लागू नहीं होता है, क्योंकि (१) इन तीनों के षत्व का विधान विशेष रूप से (६।९ तथा ६।४ में) किया गया है; (२) इन स्थलों पर भी यदि षत्व का निषेध हो जायगा तो सम्बद्ध विधियों में निरवकाश हो जायगा। इनका अन्य कोई स्थल है ही नहीं।

(घ) शकुनिसादेनेति शकुनि—सादेन ॥ पत्नीसंयाजा इति पत्नी—संयाजाः ॥ ऋतुस्थामित्यृतु—स्थाम् ॥ मृत्युसंयुत इति मृत्यु—संयुतः ॥ मलिम्लुसेनेति—मलिम्लु—सेना ॥ प० पा०

---

(१) १।२।८ (२) २।६।११ (३) १।२।८ (४) ४।४।४
(५) ४।६।६ (६) ५।७।१४ (७) २।६।१० (८) ५।७।६
(९) १।५।९ (१०) ६।३।२ (११) १।४।२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋकाररेफवति ॥ ८ ॥

मा०—ऋकारवति रेफवति च पदे न खलु सकारः षकारमापद्यते। यथा—"विसृपो विरप्शिन्"[१]। "असन्दितो विसृज"[२]। रेफवति—"विस्रंसयेदमेहे न"[३]। "अनुस्तरणी स्यात्"[४]। "प्रतिसरं वहन्ति"[५] ॥ ८ ॥

त्रि०—(ऋकाररेफवति =) ऋकारश्च रेफश्च ऋकाररेफौ, तावस्मिन् स्त इति ऋकाररेफवत् तस्मिन् पदे; वर्तमानः सकारः षकारं नापद्यते। यथा—"विसृजते शान्त्यै"[६]। उपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः। "तस्माच्छ्स विस्रस्यः"[७] अवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः ॥ ८ ॥

वै०—(ऋकाररेफवति =) ऋकारो रेफो वा यस्मिन् अस्ति तस्मिन्पदे; सकारः षकारं विकारं नैति। "सुसम्भृता त्वा सं भरामि"[८]। "वाचो विसर्जनं देववीतये"[९]। "असंदितो वि सृज"[१०]। "न विस्रꣳसयेत्"[११] ॥ ८ ॥

अवग्रहः ॥ ९ ॥

अवग्रहस्थः सकारः षत्वं नापद्यते। यथा—"तस्यां देवा अधि सं वसन्तः"[१२]। "अभि समगच्छन्तेति"[१३]। "यज्ञानामभि संविदाने"[१४]। एतेषूदाहरणेषूपसर्गपूर्वत्वात् षत्वं प्राप्तम्, अवग्रह इति प्रतिषेधः कृतः। तस्मान्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

सू० अ०—ऋकार और रेफ से युक्त (पदों) में (सकार षकार नहीं होता है)।

त्रि० अ०— (ऋकाररेफवति =) ऋकार और रेफ = ऋकाररेफौ, वे दोनों जिसमें विद्यमान हैं वह = ऋकाररेफवत्, उस पद में; वर्तमान सकार षकार नहीं होता है। जैसे—"विसृजते शान्त्यै"। उपसर्ग पूर्व में होने के कारण (६।४ से षत्व की) प्राप्ति थी। "तस्माच्छ्स विस्रस्यः"—पूर्व-पद पूर्व में होने के कारण (६।९ से षत्व की) प्राप्ति थी[क] ॥ ८ ॥

वै० अ०—(ऋकाररेफवति =) ऋकार अथवा रेफ है जिसमें उस पद में; सकार षकार रूप विकार को नहीं प्राप्त करता है।... ॥ ८ ॥

सू० अ०—पूर्व-पद (अवग्रह) (में स्थित सकार षकार नहीं होता है)।

(क) वीति। सृजते ॥ विस्रस्य इति वि—स्रस्यः ॥ प० पा०

---

(१) १।१।९ (२) १।२।१४ (३) ६।२।९ (४) ६।१।७
(५) ७।२।८ (६) १।७।६ (७) ६।२।९ (८) १।१।२
(९) १।१।५ (१०) १।२।१४ (११) ६।२।९
(१२) ३।५।१ (१३) २।५।३ (१४) ५।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(अवग्रहः =) अवग्रहस्थः; सकारः षकारं नापद्यते, विसर्जनीयश्च । अवग्रह इत्यवग्रहस्थो लक्ष्यते । मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्था यथा । यथा च स्थूलो जानातीति स्थूलदेहस्थः । उदाहरणानि—"तस्यां देवा अधि संवसन्तः"[१] । "अभि समगच्छन्तेति"[२] । "यज्ञानामभि संविदाने"[३] ॥ ९ ॥

वै०—(अवग्रहः =) अवग्रहस्थः; सकारः षकारं विकारं नैति । एतदादेस्सकारस्य तदन्तस्य विसर्जनीयस्य च षत्वप्रतिषेधः क्रियते । विसर्जनीये त्वयं विशेषविधिना नित्यग्रहणेन च निवर्तितः । सकारेऽर्थवान् भवति । "प्रति स्विष्टकृतं निराह"[४] । "यज्ञानामभि संविदाने"[५] ॥ ९ ॥

सवस्थानम् ॥ १० ॥

मा०—सव, स्थानम् इत्येतयोर्ग्रहणयोः सकारः षकारं नापद्यते । यथा—"अग्निसवश्चित्यः"[६] । "अनुसवनं पुरोडाशानाम्"[७] । "सवने सवने अभि गृह्णाति"[८] । सव इत्येतस्य ग्रहणस्याकारगृहीतस्य नामार्थस्य सर्वविभक्त्यन्तस्य प्रतिषेधो भवति, "अकारो व्यञ्जनानाम्"[९], "ग्रहणस्य च"[१०] इति वचनात् । स्थानम्—"व्रजं गच्छ गोस्थानम्"[११] ॥१०॥

त्रि० अ०—(अवग्रहः =) पूर्व-पद (अवग्रह) में स्थित; सकार षकार को नहीं प्राप्त करता है, विसर्जनीय भी (षकार को नहीं प्राप्त करता है)। पूर्व-पद (अवग्रह) का अर्थ है पूर्व-पद (अवग्रह) में स्थित । जैसे—"मञ्च चिल्ला रहे हैं"= मञ्च पर स्थित (लोग चिल्ला रहे हैं)। जैसे—"मोटा जानता है"=मोटे शरीर में स्थित (आत्मा) जानता है । उदाहरण—"तस्यां देवा अधि संवसन्तः"। "अभि समगच्छन्तेति"। "यज्ञानामभि संविदाने"क ॥ ९ ॥

वै० अ०—(अवग्रहः =) पूर्व-पद (अवग्रह) में स्थित; सकार षकार विकार को नहीं प्राप्त करता है । इससे (पूर्व-पद के) आदि के सकार का और उस (पूर्व-पद) के अन्त के विसर्जनीय के षत्व का प्रतिषेध किया जाता है । विसर्जनीय में तो विशेष-विधान से तथा नित्य ग्रहण से इस (निषेध) का निवारण कर दिया गया है, अतः सकार के विषय में सार्थक होता है ।ख "प्रति स्विष्टकृतं निराह" । "यज्ञानामभि संविदाने"ग ॥ ९ ॥

सू० अ०—सव और स्थानम् (का सकार षकार नहीं होता है)।

(क) संवसन्त इति सं—वसन्तः ॥
संविदाने इति सं—विदाने ॥ प० पा०
(ख) ६।५ को देखिए ।
(ग) स्विष्टकृतमिति स्विष्ट—कृतम् ॥ संविदाने इति सं—विदाने ॥ प० पा० ॥

---

(१) ३।५।१ (२) २।५।३ (३) ५।१।११ (४) १।५।२
(५) ५।६।२ (६) ६।५।११ (७) ६।४।११ (८) १।२१
(९) १।२२ (१०) १।१।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—सव स्थानम् इत्येतयोः सकारः षकारं नापद्यते। सवेति पदैकदेशो बहूपादानार्थः। यथा—"अग्निसवश्चित्यः"[१]। "अनुसवनं पुरोडाशान्"[२]। "सवनेसवनेऽभि गृह्णाति"[३]। "प्रसवाय सावित्रः"[४]। "गच्छ गोस्थानम्"[५] ॥ १० ॥

वै०—सवेति पदैकदेशग्रहणम्। स्थानमिति पदग्रहणम्। तयोः सकारः षकारं विकारं नैति। "अनुसवनं पुरोडाशान्"[२]। "तस्मान्मनुसवः"[६]। "गच्छ गोस्थानम्"[५] ॥ १० ॥

न धिपूर्वे ॥ ११ ॥

मा०—नेति प्रतिषेधः। प्रतिषेधप्रतिषेधोऽयम्। सवस्थानमित्येतयोर्ग्रहणयोः न खलु धिपूर्वस्य सकारस्य षत्वप्रतिषेधो भवति। "अधिषवणमसि"[७]। "अधिष्ठानमारंभणम्"[८] ॥ ११ ॥

त्रि०—सवः स्थानमित्येतयोः सकारे धिपूर्वे निषेधः न प्रसरति। यथा—"अधिष-

---

त्रि० अ०— सव, स्थानम्—इनका सकार षकार नहीं होता है। सव—यह पद का एक देश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है।[क] जैसे—"अग्निसवश्चित्यः"। "अनुसवनं पुरोडाशान्"। "सवनेसवनेऽभि गृह्णाति"। "प्रसवाय सावित्रः"। "गच्छ गोस्थानम्"[ख] ॥ १० ॥

वै० अ०—सव—इससे पद के एक देश का ग्रहण (होता है)। स्थानम्—इससे पद का ग्रहण (होता है)। उन दोनों का सकार षकार विकार को नहीं प्राप्त करता है। "अनुसवनं पुरोडाशान्"। "तस्मान्मनुसवः"। "गच्छ गोस्थानम्"[ग] ॥ १० ॥

सू० अ०—'धि' पूर्व में होने पर (६।१० में उक्त निषेध) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—सव तथा स्थानम्—इन दोनों के सकार के; धिपूर्वे = पूर्व में

(क) सूत्र में 'सव' इस प्रातिपदिक का ग्रहण होने से 'सव' प्रातिपदिक से समन्वित सभी पदों (सवने, सवनम्, सवनानि इत्यादि) का बोध होता है। किन्तु 'स्थानम्' से केवल द्वितीया एकवचन में प्रयुक्त 'स्थानम्' का ही बोध होता है, अन्य का नहीं।

(ख) अग्निसव इत्यग्नि—सवः ॥ अनुसवनमित्यनु—सवनम् ॥
सवनेसवन इति सवने—सवने ॥ प्रसवायेति प्र—सवाय ॥
गोस्थानमिति गो—स्थानम् ॥ प० पा०

(ग) मनुसव इति मनु—सवः ॥ प० पा०

---

(१) ५।६।२ (२) ६।५।११ (३) ६।४।११ (४) ६।६।५
(५) १।१।९ (६) ७।५।१५ (७) १।१।५ (८) ४।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वणमसि"[१]। "अधिषवणे जिह्वा"[२]। "अधिष्ठानमारम्भणम्"[३]। धीत्ययं वर्णः पूर्वो यस्मादसौ धिपूर्वः, तस्मिन् ॥ ११ ॥

वै०—(धिपूर्वे=) धिशब्दे पूर्वे; सवस्थानमित्येते षत्वप्रतिषेधं न प्रतिपद्येते। "अधिषवणमसि"[१]। "अधिष्ठानमारम्भणम्"[३] ॥ ११ ॥

सन्तानेभ्यः सप्ताभिः सम्मिताꣳस्तनाꣳसीतꣳस्पशः सक्
सनिसनिः सनीः सभेयः सत्त्वाꣳसस्यायै ॥१२॥

मा०—सन्तानेभ्यः, सप्ताभिः, सम्मिताम्, स्तनाम्, सीतम्, स्पशः, सक्, सनि, सनिः, सनीः, सभेयः, सत्त्वा, सस्यायै, इत्येतेषु ग्रहणेषु सकारः षकारं नापद्यते। यथा—"परि सन्तानेभ्यः"[४]। "त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य"[५]। "वेदिसम्मितां मिनोति"[६]। "द्विस्तनां करोति"[७]। "अनुसीतं वपति"[८]। "तनूपा नः प्रतिस्पशः"[९]। "पृश्निसक्थमा लभेत"[१०]। "पृश्निसक्थास्रयः"[११]। अपदग्रहणं संक्षेपार्थम्। "तस्मादेतत् गोसनि"[१२]। "विद्युत्सनिरसि"[१३]। "वृष्टिसनीरुप दधाति"[१४]। "स्वध्वर्युः सुसभेयः"[१५]। "अभि सत्त्वा सहोजाः"[१६]। "कृष्यै त्वा सुसस्यायै"[१७] ॥ १२ ॥

'धि' होने पर; निषेध; न=नहीं; लागू होता है।[क] जैसे—"अधिषवणमसि"। "अधिषवणे जिह्वा"। "अधिष्ठानमारम्भणम्"।[ख] 'धि' यह वर्ण है पूर्व में जिससे वह = धिपूर्व, उसमें ॥ ११ ॥

वै० अ०—(धिपूर्वे=) 'धि' शब्द है पूर्व में जिनके ऐसे; 'सव' और 'स्थानम्'—ये षत्व के प्रतिषेध को; न = नहीं; प्राप्त करते हैं। "अधिषवणमसि"। "अधिष्ठानमारम्भणम्" ॥ ११ ॥

सू० अ०—सन्तानेभ्यः, सप्ताभिः, सम्मितां, स्तनां, सीतं, स्पशः, सक्, सनि, सनिः, सनीः, सभेयः, सत्त्वा, सस्यायै (—इनमें स्थित सकार षकार नहीं होता है)।

(क) तात्पर्य यह है कि 'धि' पूर्व में होने पर 'सव' तथा 'स्थानम्' का सकार षकार नही होता है।

(ख) अधिषवणमित्यधि—सवनम्॥
अधिष्ठानमित्यधि—स्थानम् ॥ प० पा०

---

(१) १।१।५ (२) ६।२।११ (३) ४।६।२ (४) ७।४।२१
(५) ५।२।६ (६) ५।६।८ (७) ५।१।६ (८) ५।२।५
(९) ५।७।३ (१०) २।१।३ (११) ५।६।२३
(१२) ७।५।२ (१३) ४।४।६ (१४) ५।३।१
(१५) ७।१।८ (१६) ४।६।४ (१७) १।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—सन्तानेभ्यः, सप्ताभिः, सम्मितां, स्तनां, सीतं, स्पशः, सक्, सनि, सनिः, सनीः, सभेयः, सत्त्वा, सस्यायै एतेषु सकारः, षकारं नापद्यते। यथा—"परिसन्तानेभ्यस्स्वाहा"[१]। "त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य"[२]। "वेदिसम्मितां मिनोति"[३]। "द्विस्तनां करोति"[४]। "अनुसीतं वपति"[५]। "तनूपा नः प्रतिस्पशः"[६]। सगिति पदैकदेशो बहूपादानार्थः यथा—"पृश्नात्पृश्निसक्थो भवति"[७]। "पृश्निसक्थास्त्रयो हेमन्तिकाः"[८]। "पृश्निसक्थमा लभेत"[९]। "पृश्निसक्थाय स्वाहा"[१०]। तस्मादेतद्गोसनि"[११]। "असि स्तनयित्नुसनिरसि"[१२]। "वृष्टिसनीरुप दधाति"[१३]। सनित्येतावतैव सिद्धे किमखिलपदपाठेन? "मृधा वा एषोऽभिषण्णः"[१४]। "निषण्णाय स्वाहा"[१५] इत्यादौ मा भूदिति।

त्रि० अ०—सन्तानेभ्यः.....सस्यायै—इनमें सकार षकार को नहीं प्राप्त करता है।.....।क सक्—यह पद का एक देश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है।ख.....ग. सन्—इतने से ही सिद्धि हो जाने से सभी पदों (सनि, सनिः, सनीः) के पाठ से क्या (लाभ है)? "मृधा वा एषोऽभिषण्णः"। "निषण्णाय स्वाहा"—इत्यादि में (षत्व का निषेध) न हो जाये।घ "सुसभेयो य एवम्"।

(क) परिसन्तानेभ्य इति परि—संतानेभ्यः॥ त्रिसप्ताभिरिति त्रि—सप्ताभिः॥ वेदिसंमितामिति वेदि—संमिताम्॥ द्विस्तनामिति द्वि—स्तनाम्॥ अनुसीतमित्यनु—सीतम्॥ प्रतिस्पश इति प्रति—स्पशः॥ प० पा०

(ख) सक्—पद के इस एक देश का ग्रहण किया गया है। इससे सक् से समन्वित सभी पदों का ग्रहण हो जाता है।

(ग) पृश्निसक्थमिति पृश्नि—सक्थम्॥ पृश्निसक्था इति पृश्नि—सक्थाः॥ पृश्निसक्थमिति पृश्नि—शक्थम्॥

गोसनीति गो—सनि॥ स्तनयित्नुसनिरिति स्तनयित्नु—सनिः॥ वृष्टिसनीरिति वृष्टि—सनीः॥ प० पा०

(घ) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'सन्' का ग्रहण करने से ही सनि, सनिः तथा सनीः के सकार के षत्व का निषेध हो जाता है। तब सनि, सनिः, सनीः का पृथक्-पृथक् कथन क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—यदि केवल 'सन्' का ग्रहण किया जाता तो "अभिषण्ण इत्यभि—सन्नः"—इस स्थल पर भी इस सूत्र से 'सन्नः' के सकार का षत्व न होता। किन्तु यहाँ षत्व अभीष्ट है। अतः सनि, सनिः तथा सनीः का पृथक्-पृथक् विधान किया गया है।

---

(१) ७।४।२१ (२) ५।२।६ (३) ५।६।८ (४) ५।१।६
(५) ५।२।५ (६) ५।७।३ (७) २।१।३ (८) ५।६।२३
(९) २।१।३ (१०) ७।३।१८ (११) ७।५।२ (१२) ४।४।६
(१३) ५।३।१ (१४) २।४।२ (१५) ७।१।१९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुसभेयो य एवम्"[१]। "अभिसत्वा सहोजाः"[२]। "सुसस्यायै सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः"[३]। सन्तानेभ्यः सत्त्वा इत्येतयोरुपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः। सर्वेषामन्येषामवग्रहपूर्वत्वात् ॥ १२ ॥

वै०—(सन्तानेभ्य····सस्यायै =) सन्तानेभ्य इत्यादीनि; ग्रहणानि षकारं णिकारं न यन्ति। "परिसन्तानेभ्यस्स्वाहा"।[४] "त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य"[५]। "वेदिसम्मितां मिनोति"[६]। "द्विस्तनां करोति"[७]। "प्रति तिष्ठन्त्यनुसीतं वपति"[८]। "तनूपा नः प्रतिस्पशः"[९]। सक् इति पदैकदेशग्रहणम्। "पृश्निसक्थमा लभेत"[१०]। "पृश्निसक्थास्रयः"[११]। "तस्मादेतद्दोसनि"[१२]। "स्तनयिष्नुसनिरसि"[१३]। "वृष्टिसनीरुप दधाति"[१४]। सन् इति समानरूपग्रहणे "मृधा वा एषोऽभिषण्ण."[१५] इत्यादावपि प्रतिषेधः स्यादिति त्रयाणां ग्रहणम्। "सुसभेयो य एवं विद्वाँश्चतूरात्रेण"[१६]। "अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र"[१७]। "कृष्यै त्वा सुसस्यायै"[१८] ॥ १२ ॥

न स्वरस्पर्धास्तरीमसाहस्रसारथिस्फुरन्तीस्तु-
ब्ज्योतिरायुश्चतुः पूर्वस्तो ॥१३॥

मा०—नेति प्रतिषेधः। स्वर, स्पर्द्धाः, स्तरीम, साहस्र, सारथिः, स्फुरन्ती, स्तूप् इत्येतेषु ग्रहणेषु सकारस्य षत्वप्रतिषेधो न भवति। यथा—"आधावन्त्वंव निष्वर"[१९] "विष्पर्द्धाइच्छन्दः"[२०]। "सुष्टरीमा जुषाणः"[२१]। साहस्रशब्दस्याकारगृहीतस्य सर्वविभक्त्यन्तस्य विधिः प्राप्नोति "ग्रहणस्य च"[२२] इति वचनात्। "द्विषाहस्रं चिन्वीत"[२३]। "त्रिषा-

---

"अभिसत्वा सहोजाः"। "सुसस्यायै सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः"।[क] 'सन्तानेभ्यः' तथा 'सत्त्वा'—इन दोनों में उपसर्ग पूर्व में होने के कारण (६।४ से षत्व की) प्राप्ति थी। अन्य सब को पूर्व-पद (अवग्रह) पूर्व में होने के कारण (६।२ से षत्व की) प्राप्ति थी ॥१२॥

वै० अ०—(सन्तानेभ्य····सस्यायै =) सन्तानेभ्यः इत्यादि पद; षकार रूप विकार को नहीं प्राप्त करते हैं।·····॥१२॥

सू० अ०—स्वर, स्वर्धा, स्तरीम, साहस्र, सारथिः, स्फुरन्ती, स्तुप्, (का

(क) सुसभेय इति सु—सभेयः ॥ अभिसत्वेत्यभि—सत्वा।

---

(१) ७।१।८ (२) ४।६।४ (३) १।२।२ (४) ७।४।२१
(५) ५।२।६ (६) ५।६।८ (७) ५।१।६ (८) ५।२।५
(९) ५।७।३ (१०) २।१।३ (११) ५।६।२३ (१२) ७।५।२
(१३) ४।४।६ (१४) ५।३।१ (१५) २।४।२ (१६) ७।१।८
(१७) ४।६।४ (१८) १।२।२ (१९) १।४।१ (२०) ४।३।१२
(२१) ५।१।११ (२२) १।२२ (२३) ५।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्रो वा असौ"[१]। "कामयते सुषारथिः"[२]। "विष्फुरन्ती अमित्रान्"[२]। "सुष्टुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दः"[३]। "ज्योतिष्टोमं प्रथममुप यन्ति"[४]। "आयुष्टोमं तृतीयमुप यन्ति"[५]। "चतुष्टोमो अभवत्"[६]। एवंपूर्व इति किम्? "एता अक्ष्णयास्तोमीया अपश्यन्"[७]। स्तोम इति किम्? "चतुस्स्तनां करोति"[८] ॥ १३ ॥

त्रि०—स्वर, स्पर्द्धाः, स्तरीम, साहस्र, सारथिः, स्फुरन्ती, स्तुप् इत्येतेषु सकारः ज्योतिः, आयुः, चतुः, एवम्पूर्वश्च स्तो इत्यत्र सकारः "ऋकाररेफवति", "अवर्णव्यञ्जन"[९] इति चोक्तं निषेधं न आपद्यते, किन्तु षत्वं प्रतिपद्यत इति प्रतिप्रसवार्थोऽयं नकारः। यथा—"अस्त्र निष्वर"[१०]। "विष्पर्द्धाश्छन्दः"[११] उपसर्गपूर्वस्यादनयोः प्राप्तिः। "सुष्टरीमा जुषाणा"[१२]। "ग्रहणस्य च"[१३] इति वचनादकारगृहीतं साहस्रमनेकार्थम्। यथा—"द्विषाहस्रं

सकार) तथा ज्योतिः, आयुः, चतुः पूर्व में होने पर स्तो (का सकार षत्व के निषेध को नहीं (प्राप्त करता है) ॥१३॥

त्रि० अ०—स्वर....स्तुप्—इन (पदों) में स्थित सकार; ज्योतिः....स्तो = ज्योतिः, आयुः, चतुः—ये पूर्व में होने पर 'स्तो' का सकार "ऋकार और रेफ से युक्त (पदों) में (सकार षकार नहीं होता है)", "अवर्ण, व्यञ्जन....."—से कहे गए निषेध को; न = नहीं; प्राप्त करता है, किन्तु षत्व को प्राप्त करता है—इस प्रकार (सूत्र में प्रयुक्त) नकार अपवाद के अपवाद के लिए है।[क] जैसे—"अस्त्र निष्वर"। "विष्पर्द्धाश्छन्दः"।[ख] उपसर्ग पूर्व में होने से (६।४ से) इनमें (षकार की) प्राप्ति

(क) प्रस्तुत सूत्र में जिन पदों के षत्व का विधान किया गया है उन पदों में ६।७ तथा ६।८ से षत्व का निषेध हो जाता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उनका पृथक् रूप से उल्लेख होने से ६।७ तथा ६।८ में प्रतिपादित षत्व के निषेध का निषेध हो जाता है और उनका सकार षकार हो जाता है।

(ख) नीति। स्वर ॥ विस्पर्धा इति वि—स्पर्धाः ॥ सुष्टरीमेति सु—स्तरीम ॥ द्विषाहस्रमिति द्वि—साहस्रम् ॥ त्रिषाहस्र इति त्रि—साहस्रः ॥ सुषारथिरिति सु—सारथिः ॥ विष्फुरन्ती इति वि—स्फुरन्ती ॥ सष्टुबिति स—स्तुप् ॥ ज्योतिष्टोममिति ज्योतिः—स्तोमम् ॥ आयुष्टोममित्यायुः—स्तोमम् ॥ चतुष्टोम इति चतुः—स्तोमः ॥ अक्ष्णयास्तोमीय इत्यक्ष्णया—स्तोमीयाः ॥ चतुस्स्तनामिति चतुः—स्तनाम् ॥ शततर्हानिति शत—तर्हान् ॥ प० पा०

---

(१) ५।६।८ (२) ४।६।६ (३) ४।३।१२ (४) ७।४।११
(५) ७।४।११ (६) ४।३।११ (७) ५।३।३ (८) ५।१।६
(९) ६।८।७ (१०) १।४।१ (११) ४।३।१२ (१२) ५।१।११
(१३) १।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्वीत"[1]। "त्रिषाहस्रो वा असौ"[2]। "कामयते सुषारथिः"[3]। "विष्फुरन्ती अमित्रान्"[4]। "सष्टुप् छन्दः"[5]। "ज्योतिष्टोमं, प्रथमम्"[6]। "आयुष्टोमं तृतीयमुप यन्ति"[7]। "चतुष्टोमो अभवत्"[8]। स्तरीमादीनामेषामवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः। ज्योतिरादिपूर्वत्वेन किम्? "यदद्दणयास्तोमीयाः"[9]। स्तो इति किम्? "चतुस्स्तनां करोति"[10]। "ज्योतिस्त्वा अस्य"[11] ॥ १३ ॥

वै०—उक्ताः सकारस्य षत्वनिषेधाः। तेषु "सवस्थानम्"[12] इत्यस्य "न धिपूर्वे"[13] इति भङ्ग उक्तः। अनेन तु ततोऽन्येषां प्रतिषेधानां क्वचिद्भङ्ग उच्यते। स्वरस्पर्धा इत्यादीनां सप्तानां ग्रहणानां, ज्योतिः। आयुः। चतुः। इत्येवं पूर्वस्य स्तोशब्दस्य च षत्वनिषेधो न भवति। स्वर—"अम्ब निष्वर"[14]। स्पर्धाः—"विष्पर्धाश्छन्दः"[15]। स्तरीम—"सुष्टरीमा जुषाणा"[16]। साहस्रेति पदैकदेशस्याकारान्तनिर्देशः। "द्विषाहस्रं चिन्वीत"[17]। "त्रिषाहस्रो वा असौ"[18]। सारथिः—"कामयते सुषारथिः"[19]। स्फुरन्ती—"विष्फुरन्ती अमित्रान्"[20]। एतेषु "रेफवति"[21] इति निषेधः। स्तुप्—"सष्टुप्छन्दः"[22]। अत्रावर्णपूर्वनिषेधः। "अनुष्टुप्"[23] इत्यत्र तु न निषेधप्रसक्तिरिति नोदाहरणम्। स्तो—"ज्योतिष्टोमं

थी। "सुष्टरीमा जुषाणा"। "सूत्र में उल्लिखित पद से वैदिक पदों को जानना चाहिए"—इस विधान से अकार के साथ उल्लिखित 'साहस्र' अनेक (पदों) के ग्रहण के लिए है।...। इन 'स्तरीम' आदि में पूर्व पद (अवग्रह) पूर्व में होने से (६।२ से षकार की) प्राप्ति थी। 'ज्योतिः' आदि पूर्व में होने पर-यह क्यों (कहा)? "यदद्दणयास्तोमीयाः"। स्तो—यह क्यों (कहा)? "चतुस्स्तनां करोति"। "ज्योतिस्त्वा अस्य" ॥१३॥

वै० अ०—सकार के षत्व (षकार होने) का अपवाद कह दिया गया। उनमें से "सव तथा स्थानम् का सकार षकार नहीं होता है" इसका "धि पूर्व में होने पर षत्व का निषेध नहीं होता है" इससे अपवाद कहा गया है। इस (सूत्र) के द्वारा अन्य निषेधों (सकार के षकार न होने) का अपवाद कहा जा रहा है। 'स्वर', 'स्पर्धा' इत्यादि सात पदों तथा 'ज्योतिः, 'आयुः' और 'चतुः' पूर्व में होने पर 'स्तो' पद का षत्व निषेध नहीं होता है। (उदाहरण—) स्वर—"अम्ब निष्वर"। स्पर्धाः—"विष्पर्धाश्छन्दः"। स्तरीम—"सुष्टरीमा जुषाणा"। 'साहस्र' यह पद के एक देश का अकारान्त निर्देश है। "द्विषाहस्रंचिन्वीत"। "त्रिषाहस्रो वा असौ"। सारथिः—

---

(१) ५।६।८ (२) ५।६।८ (३) ५।६।६ (४) ४।३।१२
(५) ७।४।११ (६) ४।३।११ (७) ५।३।३ (८) ५।१।६
(९) २।२।४ (१०) ६।१० (११) ६।११ (१२) १।४।१
(१३) ४।३।१२ (१४) ५।१।११ (१५) ५।६।८ (१६) ४।६।६
(१७) ६।८ (१८) ४।३।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वनिषेधः । "अनुष्टुप्"[1] इत्यत्र तु न निषेधप्रसक्तिरिति नोदाहरणम् । स्तो—'ज्योतिष्टोमं प्रथमम्"[2] । "आयुष्टोमं तृतीयम्" । "चतुष्टोमस्स्तोमो भवति"[3] । अत्र व्यञ्जनपूर्वतया निषेधप्राप्तिः । एवं पूर्व इति किम् ? "अग्निः प्रस्तोता"[4] । स्तो इति किम् ? "चतुस्स्तनां करोति"[5] ॥ १३ ॥

तर्हाँस्तस्मिन्लोकान्विद्वाँस्ताँस्त्रीन्युष्मानूर्ध्वानम्बकानृतूनश्मन्कृण्वन्पितॄननान्कपालाँस्तिष्ठन्नाद्युदात्ते नेमिर्देवान्त्सवने पशूँस्तकारपरस्सकारं प्राकृतो नित्ये प्राकृतो नित्ये ॥ १४ ॥

मा०—तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्, ऊर्ध्वान्, अम्बकान्, ऋतून्, अश्मन्, कृण्वन्, पितॄन्, अनान्, कपालान्, तिष्ठन्नाद्युदात्ते, नेमिर्देवान्, सवने पशून् । तर्हानित्येतदादिषु पदान्ते नकारः प्राकृततकारपरः सकारमापद्यते । तस्मिन् तकारे यथा—"शततर्हाँस्तृहन्ति"[6] । "तस्मिँस्त्वा दधामि"[7] । "लोकाँस्त्रेधा दुहत्"[8] । "विद्वाँस्त्रैधात्तवीयेन"[9] । "ताँस्ते दधामि जम्भयोः"[10] । "त्रीँस्तृचाननु ब्रूयात्"[11] । "युस्माँस्तेऽनु येऽस्मिन्"[12] । "ऊर्ध्वांस्तानुपब्दिमतः"[13] । "म्यम्बकाँस्तृतीयसवनम्"[14] । "ऋतूँस्तन्वते कवयः"[15] । "अस्मँस्ते क्षुत्"[16] । "पुनः कृण्वँस्त्वापितरम्"[17] । "पितॄँस्तन्तुरिति"[18] । "प्राणाँस्तस्यान्तर्यन्ति"[19] । "द्वादशकपालाँस्तृतीयसवने

"कामयते सुषारथिः" । स्फुरन्ती—"विष्फुरन्ती अमित्रान्" इनमें "ऋकार अथवा रेफ वाले पद में सकार का षकार नहीं होता है" इससे निषेध प्राप्त था । स्तुप्—"षष्टुप्छन्दः" । यहाँ अवर्ण पूर्व में होने से सकार के षकार होने का निषेध प्राप्त था । "अनुष्टुप्" यहाँ (सकार के षकार होने के) निषेध की प्राप्ति न होने से यह (प्रस्तुत सूत्र) का उदाहरण नहीं है । स्तो—"ज्योतिष्टोमं प्रथमम्" । "आयुष्टोमं तृतीयम्" । "चतुष्टोमस्तोमो भवति । यहाँ व्यञ्जन पूर्व में होने से (सकार के षकार होने का) निषेध प्राप्त था । यह ('स्तूप् इत्यादि) पूर्व में होने पर यह कहने का क्या प्रयोजन ? "अग्निः प्रस्तोता" । स्तः यह क्यों (कहा) ? "चतुस्स्तनां करोति" ॥ १३ ॥

सू० अ०—तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्, ऊर्ध्वान्, अम्बकान्, ऋतून्, अश्मन्, कृण्वन्, पितॄन्, अनान्, कपालान्, आयु-

---

(१) ४।३।१२ (२) ७।४।११ (३) ५।३।१२ (४) ३।३।८
(५) ५।१।६ (६) १।५।७ (७) १।६।५ (८) २।३।६
(९) २।४।११ (१०) ४।१।१० (११) २।५।१० (१२) ३।२।५
(१३) ३।१।९ (१४) ३।२।२ (१५) ४।३।११ (१६) ४।६।१
(१७) ४।७।१३ (१८) ५।३।६ (१९) ७।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दांसि"[1]। तिष्ठन्नित्येतस्मिन्नाद्युदात्ते—"त्रिभिस्तिष्ठँस्तिष्ठति यच्छतस्र"[2]। आद्युदात्त इति किम्? "न प्रत्यतिष्ठन् ता वसुकोऽसि"[3]। तिष्ठन्नित्यनेन अतिष्ठन्नित्यस्य ग्रहणम्। कस्मात्? "अभ्यकारादि"[4]। वचनात्। "नेमिर्देवाँस्त्वं परिभूः"[5]। नेमिर्देवानिति किम्? "वपया गच्छ देवान् त्वम्"[6]। "माध्यन्दिने सवने पशूँ स्तृतीयसवने"[7]। सवने पशूनिति किम्? "घोरा तनूस्तान्तेन"[8]। नित्य इति किम्? "य एवं विद्वान्थ्सोमेन"[9]॥ १४॥

त्रि०—(तर्हान्"'सवने पशून् =) तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्, ऊर्ध्वान्, अम्बकान्, ऋतून्, अश्मन्, कृण्वन्, पितॄन्, अनान्, कपालान्, तिष्ठन्, आद्युदात्ते तिष्ठन् ग्रहणे, नेमिर्देवान्, सवने पशून्; एतेषु ग्रहणेषु प्राकृत नकारः नित्ये पदे वर्त्तमानः; तकारपरः सकारम् आपद्यते। यथा—"शततर्हाꣳस्तृहन्ति"[10]। "तस्मिꣳस्त्वादधामि"[11]। "इमानेव लोकाꣳस्तीर्त्वा"[12]। "विद्वाꣳस्त्रैधातवीयेन यजेत"[13]। ताꣳस्ते दधामि जम्भयो"[14]। "त्रीꣳस्तृचानु"[15]। "युष्माꣳतेन"[16]। "ऊर्ध्वाꣳस्तानुपब्दिमतः"[17]। "त्रयम्बकाꣳस्तृतीयसवनम्"[18]। ऋतूꣳस्तन्वते"[19]। "अश्मꣳस्ते क्षुत्"[20]। "पुनः कृण्वꣳस्त्वा"[21]। पितॄꣳस्तंतुरिति"[22]। "प्राणाꣳस्तस्यांतपयति"[23]। "अपि विकृतम्"[24] इति वचनादेतद्भवति। "द्वादशकपालाꣳस्तृतीयसवने"[25]। "त्रिभिस्तिष्ठꣳस्ति-

---

दात्त (पद) में तिष्ठन्, नेमिर्देवान् और सवने पशून् का प्राकृत नकार नित्य तकार बाद में होने पर सकार हो जाता है।

त्रि० अ०—(तर्हान्"'प्राकृतो नित्ये =) तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्, ऊर्ध्वान्, अम्बकान्, ऋतून्, अश्मन, कृण्वन्, पितॄन्, अनान्, कपालान्, आद्युदात्त तिष्ठन् पद, नेमिर्देवान्, सवनेपशून्, इन पदों में प्राकृत नकार नित्य पद में वर्तमान तकार बाद में होने पर सकार हो जाता है। जैसे—"शततर्हा ꣳ स्तृहन्ति"। "तस्मि ꣳ स्त्वादधामि"। "इमानेव लोका ꣳ स्तीर्त्वा" विद्वा ꣳ स्त्रैधातवीयेन यजेत" "ता ꣳ स्ते दधामि जम्भयो"। "त्री ꣳ स्तृचानु"। "युष्मा ꣳ तेन"। "ऊर्ध्वा ꣳ स्तानुपब्दिमतः"। "त्रयम्बका ꣳ स्तृतीयसवनम्"। "ऋतू ꣳ स्तन्वते"। "अश्म ꣳ स्ते क्षुत्"। "पुनः कृण्वꣳस्त्वा"। "पितॄ ꣳ स्तन्तुरिति"। "प्राणा ꣳ स्तस्यान्तपयति"। "विकृत-पद को भी समझना चाहिए" इस विधान से यह होता है। "द्वादशकपाला ꣳ स्तृतीयसवने"। "त्रिभिस्तिष्ठꣳ-

---

(१) ७।५।६	(२) ५।४।१२	(३) ५।३।६	(४) १।५२
(५) २।५।६	(६) ३।१।४	(७) ३।२।६	(८) ५।७।३
(९) ३।२।२	(१०) १।५।७	(११) १।६।५	(१२) २।३।६
(१३) २।४।११	(१४) ४।१।१०	(१५) २।५।१०	(१६) ३।२।५
(१७) ३।१।९	(१८) ३।२।२	(१९) ४।३।११	(२०) ४।६।१
(२१) ४।७।१३	(२२) ५।३।६	(२३) ७।१।३	(२४) १।५१
(२५) ७।५।६			

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्ठति"[१]। आद्युदात्त इति किम्? "न प्रत्यतिष्ठन्तावसुकोसि"[२]। "अप्यकारादि"[३] इति प्राप्तिः। नेमिर्देवाꣳस्त्वं परिभूरसि"[४]। नेमिरिति किम्? "जातवेदो वपया गच्छ देवान् त्वꣳहि"[५]। "माध्यन्दिने सवने पशूꣳस्तृतीयसवने"[६]। सवन इति किम्? "प्रजां पशून्तेनवर्धत्"[७]। तकारपर इति किम्? "तस्मिन् प्रजापतिः"[८]। प्राकृत इति किम्? "तान् प्रेरय"[९]। प्राकृतोऽयं नकारो मकारस्पर्शपर इति प्रासत्वात्। नित्ये तकारतः किम्? "विद्वान्थ्सोमेन यजते"[१०]। अनित्योयन्तकारः। यतः पदसमये नास्ति। तकारः परो यस्मादसौ तथोक्तः॥ १४॥

वै०—तर्हाꣳतस्मिन्नित्यादिषु पदान्तः प्राकृतो नकारः सकारं विकारमेति नित्ये तकारे परतः। प्रकृतौ पदरूपे भवः प्राकृतः। नित्यः सार्वत्रिकः। संहिताम्नाये पदाम्नाये च विद्यमानः इत्यर्थः। "तर्हान्—शततर्हाꣳस्तृꣳहन्ति"[११]। "तस्मिꣳस्त्वा दधामि"[१२]। "इमानेव लोकाꣳस्तीर्त्वा"[१३]। "विद्वाꣳस्त्रैधातवीयेन"[१४]। "ताꣳस्ते अग्नेऽपि दधामि"[१५]। "त्रीꣳस्तूचानु"[१६]। "युष्माꣳस्ते नु"[१७]। "यानूर्ध्वाꣳस्तान्"[१८]। "त्रयम्त्रकाꣳस्तृतीयसवनम्"[१९]। "ऋतूꣳस्तन्वते कवयः"[२०]। "अश्वꣳस्ते क्षुत्"[२१]। "पुनः कृण्वꣳस्या"[२०]। "पितॄꣳ-

---

स्तिष्ठति"। आद्युदात्त यह क्यों कहा? "न प्रत्यतिष्ठन्तावसुकोसि"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले पद को भी समझना चाहिए" इससे प्राप्ति थी। "नेमिर्देवाꣳ स्त्वं परिभूरसि"। नेमिः यह क्यों कहा? "जातवेदो वपया गच्छ देवान् त्वꣳहि"। "माध्यन्दिने सवने पशूꣳस्तृतीयसवने"। 'सवन' यह क्यों कहा? "प्रजां पशून्तेनावर्धत्"। तकार बाद में होने पर यह क्यों कहा? "तस्मिन् प्रजापतिः"। प्राकृत (नकार) यह क्यों कहा? "तान् प्रेरय"। नित्य तकार यह क्यों कहा? "विद्वान् थ्सोमेन यजते"। यह तकार नित्य नहीं है जो पद-पाठ के समय नहीं रहता है। तकार बाद में है जिससे वह वैसा कहा गया (=तकारपर) है॥ १४॥

वै० अ०—(तर्हाꣳ प्राकृतो नित्ये=) तर्हान्, तस्मिन् इत्यादि में पदान्त प्राकृत नकार नित्य तकार बाद में होने पर सकार विकार को प्राप्त करता है। प्रकृति=पद-पाठ के रूप में होने वाला=प्राकृत। नित्य (का अर्थ) सर्वत्र। संहिता-पाठ और पद-पाठ में विद्यमान यह अर्थ है।—। आद्युदात्त (पद) में तिष्ठन् का नकार कार्य (=सकार विकार) को प्राप्त होता है। "त्रिभिस्तिष्ठꣳ स्तिष्ठति। आद्युदात्त

---

(१) ५।४।१२	(२) ५।३।६	(३) १।५१	(४) २।५।६
(५) ३।१४	(६) ३।२।६	(७) ७।४।३	(८) ७।१।५
(९) ५।७।३	(१०) ३।२।२	(११) १।५।७	(१२) १।६।५
(१३) ३।५।४	(१४) २।४।११	(१५) ४।१।१०	(१६) २।५।१०
(१७) ३।२।५	(१८) ३।१।६	(१९) ३।२।२	(२०) ४।३।११
(२१) ४।६।१	(२२) ४।७।१३		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तन्तुरिति"[१]। "प्राणाꣳस्तस्यान्तर्यन्ति प्राणेषु"[२]। "द्वादशकपालाꣳस्तृतीय सवने"[३]। तिष्ठन्नाद्युदात्ते नकारः कार्यभाक्। "त्रिभिस्तिश्रः"[४]। आद्युदात्त इति किम्? "प्रजातान् प्रत्यतिष्ठन्ता वसुकः"[५]। "अभ्यकारादि"[६] इति प्राप्तिः। "अराꣳइवाग्ने नेमिर्देवाꣳस्त्वम्"[७]। नेमिरिति किम्? "वपया गच्छ देवान्त्वꣳहि होता"[८]। "माध्यन्दिने सवने पशूꣳस्तृतीयसवने"[९]। सवन इति किम्? "प्रजां पशून्तेनावर्धत"[१०]। तकारपर इति किम्? "त्रीलँ्लोकान्"[११]। प्राकृत इति किम्? "तान्तेन शमयति"[१२]। सांहितोऽत्र पदान्तनकारः। नित्य इति किम्? "य एवं विद्वान्थ्सोमेन"[१३] आगमोऽत्र तकारः॥ १४॥

यह क्यों कहा? "प्रजाता न प्रत्यतिष्ठन्ता वसुकः" यहाँ "अकार से प्रारम्भ होने वाले पद को भी जानना चाहिए" इस सूत्र से (अतिष्ठन् के नकार के सकार) की प्राप्ति थी। "अराꣳइवाग्ने नेमिर्देवाꣳस्त्वम्"। 'नेमिः' यह क्यों कहा? "वयपा गच्छ देवान्त्वꣳहि होता"। "माध्यन्दिने सवने पशूꣳस्तृतीयसवने"। सवन यह क्यों कहा? "प्रजां पशून्तेनावर्धत्" तकार बाद में होने पर यह क्यों कहा? "त्रीन् लोकान्" प्राकृत यह क्यों कहा? "तान्तेन शमयति" यहाँ पदान्त नकार सांहित है। नित्य यह क्यों कहा? "य एवं विद्वान्थ्सोमेन" यहाँ तकार आगम (के परिणाम स्वरूप प्राप्त) है॥ १४॥

---

(१) ५।३।६ (२) ७।१।३ (३) ७।५।६ (४) ५।४।१२
(५) ५।३।६ (६) १।५२ (७) २।५।६ (८) ३।१।४
(९) ३।२।६ (१०) ७।४।३ (११) १।७।११ (१२) ५।७।३
(१३) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथ नकारो णकारम् ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। नकारो णकारमापद्यते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथेत्ययमधिकारः। नकारो णकारमापद्यते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

वै०—नकारो णकारमाप्नोतीत्यधिक्रियते। द्विविधंणत्वम्। नानापदीयनिमित्तं समानपदस्थनिमित्तं च। तत्र पदसंहिताधिकारेऽस्मिन्नानापदीयनिमित्तमेव वचनाद्गमिति तदिहोच्यते ॥ १ ॥

षुषूकृधिसुवः समिन्द्रास्थूर्युरुवाः षट्त्रिग्रामनिष्पूर्वः ॥ २ ॥

मा०—षु, षू, कृधिसुवः, समिन्द्र, अस्थूरि, उरु, वाः, षट्, त्रि, ग्राम, निः इत्येवंपूर्वो नकारो णकारमापद्यते। यथा—ऊर्ध्व ऊषू ण ऊतये"[1]। "मो षू ण इन्द्र"[2]। विकृत-

---

सू० अ०—अब नकार णकार हो जाता है, (यह अधिकार जानना चहिए)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है। आगे जो कहेंगे वहाँ नकार णकार—हो जाता है, यह अधिकार जानना चाहिए ॥१॥

वै० अ०—नकार णकार—को प्राप्त करता है—यह अधिकार किया जाता है। णत्व दो प्रकार का होता है। भिन्न पद में स्थित निमित्त वाला।[क] पद-संहिता के इस अधिकार में उनमें से भिन्न पद में स्थित निमित्त वाला ही (णत्व) कथन (विधान) के लिए उचित है इसलिए उसे यहाँ (सूत्रकार के द्वारा) कहा जाता है।

सू० अ०—षु, षू कृधिसुवः, समिन्द्र, अस्थूरि, उरु, वाः, षट्, त्रि, ग्राम और निः पूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)।

(क) णत्व दो प्रकार का होता है—(१) समान (= एक, उसी पद में) स्थित वर्ण के प्रभाव से निष्पन्न णत्व, जैसे—पितृणाम्; (२) भिन्न पद में स्थित वर्ण अथवा पद के प्रभाव से निष्पन्न णत्व, जैसे—मो षू णः। यहाँ पद-संहिता का अधिकार चल रहा है। अतः भिन्न पद में स्थित वर्ण अथवा पद के प्रभाव से निष्पन्न णत्व का ही विधान इस अध्याय में किया जा रहा है।

---

(१) ४।१।४ (२) १।८।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणं किमर्थम् ? सु सू इत्येतयोर्यदा आधारस्य षत्वं नास्ति तदा णत्वनिवृत्यर्थम्। "ब्रह्मणा कृधि सुवर्णं शुक्रम्"[१]। कृधि सुवरिति किम् ? "सुवर्नं शुक्रः स्वाहा"[२]। "समिन्द्रणो मनसा"[३]। समिन्द्रेति किम् ? "वर्तयेन्द्र नर्दबुद"[४]। "अस्थूरिणो गार्हपत्यानि सन्तु"[५]। "उरुकृदुरुणस्कृधि"[६]। "तस्माद्वार्णाम वोहितम्"[७]। "षण्णवत्यै स्वाहा"[८]। "त्रिणवस्स्तोमः"[९]। "ग्रामणी राजन्यस्तेषाम्"[१०]। "ताभिर्निर्णेनिक्ते"[११] ॥ २ ॥

त्रि०—षु, षू, कृधिसुवः, समिन्द्र, अस्थूरि, उरु, वाः, षट्, त्रि, ग्राम, निः एवम्पूर्वो नकारो णकारमापद्यते। यथा—"ऊर्ध्व ऊषुण ऊतये"[१२]। "इन्द्रो धर्ता गृहेषु नः"[१३]। इत्यत्र णत्वं न भवति। कथम् ? "पदग्रहणेषु"[१४]। इति वचनात्। "मोषूण इन्द्र"[१५]। सुसू इत्येतयोर्यदा षत्वं नास्ति तदा णत्वनिषेधार्थं वैकृतग्रहणम्। यथा—"सुनः। न ऊतये"[१६]। "सूनः। न इन्द्र"[१५]। "ब्रह्मणा कृधि सुवर्णं शुक्रम्"[१७]। कृधीति किम् ? "सुवर्नं शुक्रस्स्वाहा"[१८]। "समिन्द्रणो मनसा"[१९]। समिति किम् ? "वर्तयेन्द्र नर्दबुद"[२०]। "अस्थूरिणो गार्हपत्यानि सन्तु"[२१]। "उरुकृदुरुणस्कृधि"[२२]। "तस्माद्वार्णाम वो हितम्"[२३]। "षण्णवत्यै स्वाहा"[२४]। "त्रिणवस्स्तोमो वसूनाम्"[२५]। "ग्रामणीयं प्राप्नुवन्ति"[२६]। "निर्णेनिजति ततोऽधि"[२७]। विसर्गेण किम् ? "नि नो रयिꣳ सुभोजसम्"[२८] ॥ २ ॥

त्रि० अ०—षु निः—ये (पद); पूर्वः = पूर्व में हैं जिसके वह; नकार णकार हो जाता है। जैसे—"ऊर्ध्व ऊषुण ऊतये"।[क] "इन्द्रो धर्ता गृहेषु नः"—यहाँ पर णत्व नहीं होता है। क्यों ? "पद के उद्धरणों में उस पद को (ही) समझना चाहिए" इस विधान से।[ख] "मोषूण इन्द्रः"। सु, सू—इनका जब षत्व नहीं होता

(क) ऊर्ध्वः। उ। स्विति। नः। ऊतये ॥ प० पा०

(ख) इन्द्रः। धर्ता। गृहेषु। नः ॥ प० पा०

यहाँ पर 'षु' पद नहीं, अपितु पद का एक देश है। पद न होने के कारण यह नकार को णकार में परिणत नहीं कर सकता है।

---

(१) २।२।१२ (२) ५।७।५ (३) १।४।४४ (४) ३।३।१०
(५) ५।७।२ (६) २।६।११ (७) ५।६।१ (८) ७।२।१५
(९) ४।३।६ (१०) २।५।४ (११) ७।२।१० (१२) ४।१।४
(१३) २।४।५ (१४) १।५० (१५) १।८।३ (१६) ४।१।४
(१७) २।२।१२ (१८) ५।७।५ (१९) १।४।४४ (२०) ३।३।१०
(२१) ५।७।२ (२२) २।६।११ (२३) ५।६।१ (२४) ७।२।१५
(२५) ४।३।९ (२६) ३।५।७ (२७) ७।२।१० (२८) २।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(षुषू····निष्पूर्वः =) षुष् इत्यादिषु पदेषु पूर्वेषु नकारो णत्वमाप्नोति। षु—"ऊषुणः"[1]। षू—"मोषूणः"[2]। नन्वत्र षुष् इत्यनयोरन्यतरस्य ग्रहणे "अपि विकृतम्"[3] इति परिभाषया इतरस्यापि निमित्तत्वं किं न स्यात्? तदुच्यते—विहितविकारयोगाद्विकृतं भवति। न चात्र षुशब्दस्य दीर्घादेशो विधीयते। षू इत्यस्य तु यद्यपि ह्रस्वादेशो विधीयते। तथाऽप्यसौ विभागविषयत्वात्संहितायां नोपकरोति। अतः उभयं गृह्यते। तथा क्रमाध्याये षत्वाभावविषये णत्वं न भवति। प्रकृतिरूपस्य विकृतत्वाभावात्। यथा—"ऊर्ध्व उ। ऊषुणः। सुनः। न ऊतये"[1]। "मोषूणः। मो इति मो। सूनः। न इन्द्र"[2]। कृधिसुवः—"ब्रह्मणा कृधि सुवर्ण शुक्रम्"[4]। कृधीति किम्? "सुवर्न धर्मस्त्वाहा"[4]। समिन्द्र—"समिन्द्रणो मनसा"[1]। समिति किम्? "इन्द्र नर्दबुद"[5]। अस्थूरि—"अस्थूरिणो गार्हपत्यानि सन्तु"[6]। उरु—"उरुकृदुरुणस्कृधि"[7]। वाः—"तस्माद्वार्णाम वो

है तब षत्व के निषेध के लिए वैकृत (षु, षू) का (सूत्र में) ग्रहण (किया गया है)।[ख]—।[ग] ।।२।।

वै० अ०—(षुषू····निष्पूर्वः =) षु, षू इत्यादि पद पूर्व में होने पर; नकार णत्व को प्राप्त करता है। षु—"ऊषुणः"। षू—मोषूणः"।[क] (षू) यहाँ षु, षू—इन दोनों (पदों) में से किसी एक का ग्रहण करने पर "विकार को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)"—इस परिभाषा से दूसरे (पद) का भी निमित्तत्व क्यों नहीं होगा? (सि०) इसे बतलाते हैं—(प्रतिशाख्य में) विहित विकार के योग से विकृत (पद) होता है। और यहाँ पर 'षु' शब्द के दीर्घादेश का विधान नहीं किया गया है। यद्यपि 'षू' इसके ह्रस्वादेश का विधान तो (३।१४ में) किया

(ख) पूर्ववक्षी—सूत्र में केवल 'सु' का ग्रहण पर्याप्त होता। १।५१ की सामर्थ्य से केवल 'सु' के ग्रहण से 'षु' और 'षू' दोनों का बोध होता।

सिद्धान्ती—यह ठीक है। किन्तु सु तथा सू में जब षकारभाव नहीं होता तब परवर्ती नकार भीं णकार को प्राप्त नहीं करता—इस तथ्य को बतलाने के लिए सूत्र में वैकृत षु तथा षू का ग्रहण किया गया है।

(ग) मो इति। स्विति। नः॥ स्विति। नः। ऊतये॥ सुवः। न। शुक्रम्॥ इन्द्र। नः। मनसा॥ वर्तय। इन्द्र। नर्दबुद॥ अस्थूरि। नः॥ उरुकृदित्युरु—कृत्। उरु। नः॥ तस्मात्। वाः। नाम॥ षण्णवत्या इति षट्—नवत्यै॥

ग्रामणीयमिति ग्राम—नीयम्॥ निर्णेनिजतीति निः—नेनिजति॥ नीति। नः। रयिम्॥ प० पा०

(क) उ। स्विति। नः॥ मो इति। स्विति। नः॥ प० पा०

---

(१) १।४।४४ (२) १।८।३ (३) २।२।१२ (४) ५।७।५
(५) ३।३।१० (६) ५।७।२ (७) २।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हितम्"[१]। षड्—"षण्णवत्यै स्वाहा"[२]। त्रि—"एवा त्रिणामन्"[३]। ग्राम—"ग्रामण्यो गृहे"[४]। "सर्वं ग्रामणीयम्"[५]। निः—"यन्निर्णिजा"[६] ॥ २ ॥

हन्यादुप्यमानं च ॥ ३ ॥

मा०—हन्यात्, उप्यमानम्, इत्येतयोः निष्पूर्वयोः नकारो णकारमापद्यते। यथा—"योनेर्गर्भं निर्हण्यात्"[७]। "निरुप्यमाणमभि मन्त्रयेत"[८]। निष्पूर्व इति चशब्दो ज्ञापयति। कस्मात्? "न नि हन्यात् न लोहितं कुर्यात्"[९] ॥ ३ ॥

त्रि०—चकारो निष्पूर्वत्वमन्वादिशति। निःशब्दोत्तरयोर्हन्यादुप्यमानमित्येतयोर्म-हणयोर्नकारो णकारमापद्यते। यथा—"योनेर्गर्भं निर् हन्यात्"[७]। "निरूप्यमाणमभि मन्त्रयेत"[८]। अन्वादेशः किमर्थः? "न नि हन्यान्न लोहितम्"[९] ॥ ३ ॥

गया है। तथापि उसके विभाग-विषयक होने से वह संहिता में उपयोगी नहीं होता है। अतः दोनों (षु, षू) का ग्रहण किया जाता है।[ख] उसी प्रकार क्रम-पाठ में षत्व का अभाव होने पर णत्व नहीं होता है, क्योंकि प्रकृति—रूप में विकार का अभाव होता है।.....क ॥ २ ॥

सू० अ०—(निः पूर्व में होने पर) हन्यात् और उप्यमानम् (का नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'निः पूर्व में होने पर' का अन्वादेश करता है। 'निः' शब्द के बाद में स्थित हन्यात् और उप्यमानम्—इन दोनों पदों का नकार णकार हो जाता है। जैसे—"योनेर्गर्भं निर् हण्यात्"। "निरुप्यमाणमभि

(ख) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'षु' अथवा 'षू' का ग्रहण होने पर १।५१ की सामर्थ्य से दोनों का ग्रहण हो जाता। सूत्र में दोनों का ग्रहण क्यों किया गया है?
सिद्धान्ती—प्रातिशाख्य के सूत्रों में विहित नियमों के अनुसार जो पद विकार को प्राप्त करता है उसी का विकृत के रूप में १।५१ के द्वारा ग्रहण होता है। 'षु' शब्द के दीर्घ होने का विधान प्रातिशाख्य में कहीं भी नहीं किया है। यद्यपि 'षू' के ह्रस्व होने का विधान ३।१४ में किया गया है, तथापि 'षू' का ह्रस्व होना पद-पाठ से सम्बद्ध है। उसका उपयोग यहाँ नहीं हो सकता है क्योंकि यहाँ संहिता-पाठ के निर्माण-हेतु नियमों का अधिकार चल रहा है। इसलिए सूत्र में षू तथा षु दोनों पदों का ग्रहण किया गया है।

(क) एवा। त्रिणामन्निति त्रि—नामन् ॥ निरिति। हन्यात् ॥ प० पा०

---

(१) ५।६।१ (२) ७।२।१५ (३) २।१।११ (४) १।८।६
(५) ७।४।५ (६) ४।६।८ (७) ५।६।९ (८) १।६।८
(९) २।६।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देन निष्पूर्वं हृत्यन्वादिश्यते। आनन्तर्यार्थं वचनम्। निश्शब्दे पूर्वे हन्यादुप्यमानमित्यनयोर्नकारो णत्वमाप्नोति। "योनेर्गर्भं निर् हण्यात्"[१]। "निरुप्यमाणमभि मन्त्रयेत"[२]। अन्वादेशेन किम्? "अग्निरनूत्थाय हन्यात्"[३]। विसर्गेण किम्? "न नि हन्यात्"[४] ॥ ३ ॥

पारीपरिपरीप्रपूर्वः ॥ ४ ॥

मा०—पारी, परि, परी, प्र, इत्येतेषां पूर्वो नकारः णकारमापद्यते। यथा—"पारीणह्यस्येशे"[५]। "परि णो रुद्रस्य हेतिः"[६]। "वीरवन्तं परीणसम्"[७]। "प्र णो देवी सरस्वती"[८] ॥ ४ ॥

त्रि०—पारी, परि, परी, प्र एवंपूर्वो नकारो णकारमापद्यते। यथा—"पारीणह्यस्येशे"[५]। "परि णो रुद्रस्य"[६]। "वीरवन्तं परीणसम्"[७]। "प्र णो देवी सरस्वती"[८] ॥४॥

मन्त्रयेत"।[क] ('निः पूर्व में होने पर' का) अन्वादेश किसलिए (किया गया है)? "न नि हन्यान्न लोहितम्"[ख] ॥ ३ ॥

वै० अ०—च शब्द से 'निः पूर्व में होने पर' का अन्वादेश होता है। आनन्तर्य के लिए यह कथन (विधान) है[ग]। निः शब्द पूर्व में होने पर हन्यात् और उप्यमानम् का नकार णकार हो जाता है। "योनेर्गर्भं निर् हण्यात्"। "निरुप्यमाणमभि मन्त्रयेत"। ('निः पूर्व में होने पर' के) अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "अग्निरनूत्थाय हन्यात्"। विसर्ग से क्या (लाभ है)? "न नि हन्यात्" ॥ ३ ॥

सू० अ०—पारी, परि, परी तथा प्र पूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—पारी, परि, परी, प्र—ये, पूर्वः=पूर्व में हैं जिसके वह; नकार णकार हो जाता है। जैसे—"पारीणह्यस्येशे"। "परि णो रुद्रस्य"। वीरवन्तं परीणसम्"। "प्र णो देवी सरस्वती"[घ] ॥ ४ ॥

(क) निरिति। हन्यात् ॥ निरुप्यमाणमिति निः—उप्यमानम् ॥ प० पा०

(ख) नीति। हन्यात् ॥ प० पा०
पूर्व में 'निः' नहीं, अपितु 'नि' है। अतः 'हन्यात्' का नकार णकार नहीं हुआ है।

(ग) ७।२ से निः से अव्यवहित परवर्ती नकार णकार होता है, जब कि प्रस्तुत सूत्र से निः से व्यवहित परवर्ती नकार णकार होता है।

(घ) पारीणह्यस्येति परि—नह्यस्य ॥ परीति। नः ॥ परीणसमिति परि—नसम् ॥ प्रेति। नः ॥ प० पा०

---

(१) ५।६।६ (२) १।६।८ (३) ३।४।१० (४) २।६।१०
(५) ६।२।१ (६) ४।५।१० (७) २।२।१२ (८) १।८।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(पारी, परि, परी, प्रपूर्वः =) पारीस्थादिषु पदेषु पूर्वेषु; नकारो णत्वमाप्नोति। "पारीणह्यस्येशे"[१]। "अग्रं परिणयति"[२]। "वीरवन्तं परीणसम्"[३]। "प्रणिनाथ महते"[४] ॥ ४ ॥

अवर्णव्यवेतोऽपि ॥ ५ ॥

मा०—अपिरन्वादेशकः। पार्यादीनामन्वादेशः क्रियते। पार्यादिपूर्वः नकारः अवर्णेन व्यवेतो णकारमापद्यते। यथा—"पर्याणीयाहवनीयस्याम्"[५]। "प्राणाय स्वाहा"[६] ॥ ५ ॥

त्रि०—अपिशब्दः पर्याद्यन्वादेशकः। पर्यादिपूर्वो नकारः; (अवर्णव्यवेतोऽपि =) अवर्णव्यवहितोऽपि णत्वं भजते। यथा—"अग्रं पर्यणयत्"[७]। "पर्याणीयाहवनीयस्य"[८]। "प्राणाय स्वाहा"[९]। "अनु प्राण्यात्प्रथमाम्"[१०]। अवर्णव्यवेत इति किम्? "परि मिनुयात्"[९]। "प्रमिनाम व्रतानि"[१०] ॥ ५ ॥

वै०—अपिशब्देनात्र परिप्रपूर्वं, इत्यनयोरन्वादेशः। न केवलमन्त्यस्य। कुतः? अवर्णग्रहणसामर्थ्यात्। परिपूर्वस्य ह्रस्वदीर्घाभ्यां व्यवायोऽस्ति। प्रपूर्वस्य त्वकारेणैव।

वै० अ०—(पारी प्रपूर्वः =) पारी इत्यादि पद पूर्व में होने पर; नकार णत्व को प्राप्त करता है।···क ॥ ४ ॥

सू० अ०—अवर्ण से व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—'अपि' शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'परि' इत्यादि का अन्वादेशक है।ख परि इत्यादि पूर्व में होने पर नकार; (अवर्णव्यवेतोऽपि =) अवर्ण से व्यवहित होने पर भी; णत्व को प्राप्त करता है। जैसे—"अग्रं पर्यणयत्"। "पर्याणीयाहवनीयस्य"। "प्राणाय स्वाहा"। "अनु प्राण्यात्प्रथमाम्"ग। अवर्ण से व्यवहित होने पर—यह क्यों (कहा)? "परि मिनुयात्"। "प्रमिनाम व्रतानि"घ ॥ ५ ॥

वै० अ०—'अपि' शब्द से यहाँ 'परि' तथा 'प्र'—इन दो का अन्वादेश होता है। केवल अन्तिम (प्र) का नहीं। क्यों? अवर्ण के ग्रहण की सामर्थ्य से।

(क) परीति। नयति ॥ प्रणिनायेति प्र—निनाय ॥ प० प०

(ख) पूर्ववर्ती सूत्र से 'परि' तथा 'प्र'—इन दो पदों का ही अन्वादेश होता हैं, क्योंकि 'परी' का कोई उदाहरण नहीं मिलता है।

(ग) परीति। अनयत् ॥ पर्याणीयेति परि—आनीय ॥ प्राणायेति प्र—अनाय ॥ प्रेति। अन्यात् ॥ प० पा०

(घ) परीति। मिनुयात् ॥ प्रमिनामेति प्र—मिनाम ॥ प० पा०

---

(१) ६।२।१ (२) २।३।४ (३) २।२।१२ (४) १।३।५
(५) ७।१।६ (६) ७।१।१९ (७) २।३।४ (८) ५।५।५
(९) ५।२।६ (१०) १।१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तावन्मात्रान्वादेशे रवकारव्यवेत इति ब्रूयात्। प्रतिपत्तिलाघवात्। तथा "न तकारपरः"[१] इति प्रतिषेधसामर्थ्याच्च परिपूर्वोऽप्यन्वादिश्यते। स हि तदेकविषयः। अननन्तरार्थोऽयमारम्भः। परिपूर्वः प्रपूर्वश्च अवर्णव्यवेतो नकारो णत्वमाप्नोति "अग्रं पर्यणयत्"[२]। "आग्नीध्रं पर्याणीयाहवनीयस्य"[३]। "प्राणाय स्वाहा"[४]। अवर्णेति किम्? "प्रेन्द्राग्नी विश्वा"[५]। "इन्द्रः प्र स्तौतु"[६] ॥ ५ ॥

'परि' पूर्व का ह्रस्व तथा दीर्घ (अकार) से व्यवधान है। 'प्र' पूर्व का तो अकार से ही (व्यवधान है)। केवल उस (प्र) का अन्वादेश होने पर तो अकार से व्यवहित—यह कहना चाहिए था। क्योंकि इससे समझने में सुविधा होती। और उसी प्रकार "तकार बाद में होने पर (नकार णकार) नहीं (होता है)"—इस प्रतिषेध की सामर्थ्य से 'परि' पूर्व का भी अन्वादेश होता है। क्योंकि वह (प्रतिषेध) केवल उस (परि) के विषय में है।[क] अनानन्तर्य (व्यवधान) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ (किया गया है)। 'परि' पूर्व में होने पर और 'प्र' पूर्व में होने पर; अवर्णव्यवेतः=अवर्ण से व्यवहित; नकार णत्व को प्राप्त करता है। "अग्रं पर्यणयत्"। "आग्नीध्रं पर्याणीयाहवनीयस्य"। "प्राणाय स्वाहा"। अवर्ण—यह क्यों (कहा)? "प्रेन्द्राग्नी विश्वा"। "इन्द्रः प्र स्तौतु"[ख] ॥ ५ ॥

(क) सूत्र में प्रयुक्त 'अपि' शब्द के द्वारा पूर्ववर्ती सूत्र से 'परि' तथा 'प्र' का अन्वादेश होता है।

पूर्वपक्षी—१।५८ के अनुसार अन्वादेश तो अन्तिम का ही होता है। तब यहाँ यह कैसे कह रहे हैं कि 'परि' तथा 'प्र'—इन दोनों का अन्वादेश होता हैं।

सिद्धान्ती—परि तथा प्र—इन दोनों—का अन्वादेश दो कारणों से होता है—(१) अवर्ण से अ तथा आ—दोनों का ग्रहण होता है। सूत्र में अवर्ण के ग्रहण से यह सिद्ध हो जाता है कि 'प्र' इत्यादि पूर्व में होने पर अवर्ण (अ, आ—दोनों) से व्यवहित होने पर नकार णकार हो जाता है। 'परि' पूर्व में होने पर अ या आ—दोनों से व्यवहित होने पर तकार णकार हो जाता है, किन्तु 'प्र' का ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ आकार से व्यवधान होने पर भी परवर्ती नकार णकार हुआ हो। अतः यदि 'अपि' से केवल 'प्र' का अन्वादेश होता तो सूत्र में 'अकारव्यवेतोऽपि' कहना ही पर्याप्त था। इससे समझने में सुविधा होती; (२) ७।१५ में कहा गया है कि तकार बाद में होने पर नकार णकार नहीं होता है। इस प्रतिषेध का उदाहरण यह है—पर्यन्तरिक्षात्। यदि प्रस्तुत सूत्र से 'परि' से बाद में स्थित नकार के णकार होने की प्राप्ति न हो तो ७।१५ व्यर्थ हो जायेगा। ७।१५ को सार्थक बनाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्रस्तुत सूत्र में 'परि' का अन्वादेश भी होता है।

(ख) प्रेति। इन्द्राग्नी इतीन्द्र—अग्नी॥ इन्द्रः। प्रेति। स्तौतु॥ प० पा०

(१) ७।१५ (२) २।३।४ (३) ७।१।६ (४) ७।१।१९
(५) ४।२।११ (६) ३।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाहनउह्यमानोयानमयन्यवेनवञ्च ॥ ६ ॥

मा०—प्रपूर्वेष्विति चकारो ज्ञापयति। "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[१] इति अन्त्यस्यान्वादेशः। वाहनः, उह्यमानः, यानम्, अयन्, यवेन, वन्, इति एतेषु ग्रहणेषु प्रपूर्वेषु नकारो णकारमापद्यते। यथा—"विभूरसि प्रवाहणः"[२]। "यस्य प्रयाणमन्वन्ये"[३]। "यो वै यज्ञस्य प्रायणम्"[४]। "तासामु यन्ति प्र यवेण"[५]। "प्राचीनमाहवनीयात् प्रवणँ स्यात्"[६]। अन्वादेशः किम्? "वन्हिरसि हव्यवाहनः"[७]। "ऋतुशो देवयानम्"[८]। अकृन्तन्यवेन सम्मितम्"[९]। अयन्वचनं संक्षेपार्थम् ॥ ६ ॥

त्रि०—वाहनः, उह्यमानः, यानम्, अयन्, यवेन, वन्, एषु ग्रहणेषु चकाराकृष्टप्रपूर्वेषु नकारो णत्वं भजते। यथा—"प्रवाहणो वह्निरसि"[१]। "प्रोह्यमाणोऽधिपतिः"[१०]। "प्रयाणमन्वन्ये"[११]। अयन्नितिपदैकदेशो बहूपादानार्थः। "तस्मादादित्य प्रायणीयः"[१२]। "प्रायणीयं कार्यम्"[१३]। "प्रायमेषा प्रतिष्ठा"[१४]। "प्रायणीयस्य पुरोऽनुवाक्याः"[१५]। "प्रायणीयेऽहन्"[१६]। "प्रयवेण पञ्च"[१७]। वन्निति पदैकदेशो बहूपादनार्थः। "यदि वा तावत्प्रवणम्"[१७]। "आहवनीयात्प्रवणꣳस्यात्"[१८]। अन्वादेशेन किम्? "असि हव्यवाहनः"[१९]। "उदयनं वेद"[२०] ॥ ६ ॥

सू० अ०—(प्र पूर्व में होने पर) वाहनः, उह्यमानः, यानम्, अयन्, यवेन, वन् (का नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—वाहनः···वन्—इन पदों में; चकार से (७।४ से) आकृष्ट 'प्र' पूर्व में होने पर, नकार णकार हो जाता है। जैसे—"प्रवाहणो वह्निरसि"। "प्रोह्यमाणोऽधिपतिः"। "प्रयाणमन्वन्ये"। अयन्—पद का यह एक देश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है। "तस्मादादित्यः प्रायणीयः"। "प्रायणीयं कार्यम्"। "प्रायणमेषा प्रतिष्ठा"। "प्रायणीयस्य पुरोऽनुवाक्याः"। "प्रायणीयेऽहन्"। "प्रयवेण पञ्च"। वन्—पद का यह एक देश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है "यदि वा तावत्प्रवणम्"। "आहवनीयात्प्रवणꣳस्यात्"। अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "असि हव्यवाहनः"। "उदयनं वेद"क ॥ ६ ॥

(क) प्रवाहण इति प्र—वाहनः ॥ प्रोह्यमाण इति प्र—उह्यमानः ॥
प्रयाणमिति प्र—यानम् ॥ प्रायणीय इति प्र—अयनीयः ॥
प्रायणीयमिति प्र—अयनीयम् ॥ प्रायणमिति प्र—अयनम् ॥

---

(१) १।५८ (२) १।३।३ (३) ४।१।१ (४) १।६।११
(५) ४।३।११ (६) ६।२।६ (७) १।३।३ (८) ४।६।८
(९) २।६।८ (१०) ४।४।९ (११) ६।१।५
(१२) ६।१।५ (१३) १।६।११ (१४) ६।१।५
(१५) ७।२।८ (१६) ४।३।११ (१७) २।४।१२
(१८) ६।२।६ (१९) १।३।३ (२०) १।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अयमप्यननन्तरार्थ आरम्भः। चशब्देन प्रपूर्व इत्यन्वादिश्यते। (वाहन··· वन् =) वाहन इत्यादिषु; नकारः प्रशब्दे पूर्वे णत्वमाप्नोति। वाहनः—"प्रवाहणो वह्निः"[१]। उह्यमानः—"प्रोह्यमाणः"[२]। यानम्—"यस्य प्रयाणम्"[३]। अयन्निति पदैकदेशः अनेकसंग्रहार्थः। "यो वै यज्ञस्य प्रायणं प्रतिष्ठाम्"[४]। "प्रायणीये च"[५]। यवेन—"तासामु यन्ति प्रयवेण"[६]। वन्निति पदैकदेशग्रहणमुत्तरार्थम्। "यदि वा तावत्प्रवणमासीत्"[७]। अन्वादेशेन किम्? "अग्नेः पुरीषवाहनः"[८]। "उदयनं वेद"[९]। "अकृन्तन् यवेन"[१०]। "स्तेनासस्तस्करावने"[११] ॥ ६ ॥

प्रापूर्वश्च ॥ ७ ॥

मा०—चकारोऽन्वादेशकः। वन् इत्येतस्मिन् ग्रहणे प्रापूर्वो नकारो णकारमापद्यते। यथा—"प्रावणेभिः"[१२] ॥ ७ ॥

त्रि०—चकाराकृष्टे वन्निति ग्रहणे नकारः प्रा इत्येवंपूर्वो णकारं भजते। यथा—"प्रावणेभिस्सजोषसः"[१२] ॥ ७ ॥

वै० अ०—यह (सूत्र) भी अनानन्तर्य के लिए आरम्भ (किया गया है)। च शब्द से 'प्र पूर्व में होने पर' का अन्वादेश होता है। (वाहन···वन्=) वाहन इत्यादि में; स्थित नकार, प्र शब्द पूर्व में होने पर, णत्व को प्राप्त करता है। वाहनः-"प्र-वाहणो वह्निः"। उह्यमानः—"प्रोह्यमाणः"। यानम्—"यस्य प्रयाणम्"। अयन्—यह पद का एक देश अनेक (पदों) के संग्रह के लिए है। "यो वै यज्ञस्य प्रायणं प्रतिष्ठाम्"। "प्रायणीये च"। यवेन—"तासामु यन्ति प्रयवेण"। वन्-पद के इस एक देश का ग्रहण बाद वाले (सूत्र) के लिए है। "यदि वा तावत्प्रवणमासीत्"। अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "अग्नेः पुरीषवाहनः"। "उदयनं वेद"। "अकृन्तन् यवेन"। "स्तेनासस्तस्करा वने"।[क] ॥ ६ ॥

सू० अ०—प्रा पूर्व में होने पर भी (वन् का नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—चकार से आकृष्ट वन्—'इस पद में स्थित नकार, प्रा; पूर्वः=पूर्व

प्रायणीयस्येति प्र—अयनीयस्य ॥ प्रायणीय इति प्र—अयनीये ॥
प्रयवेणेति प्र—यवेन ॥ प्रवणमिति प्र—वनम् ॥
आहवनीयादित्या—हवनीयात्। प्रवणमिति प्र—वनम् ॥
हव्यवाहन इति हव्य—वाहनः ॥ उदयनमित्युत्—अयनम् ॥ प० पा०

(क) पुरीषवाहन इति पुरीष—वाहनः ॥ अकृन्तन्। यवेन ॥ स्तेनासः। तस्कराः। वने ॥ प० पा०

---

(१) १।३।३ (२) ४।४।६ (३) ४।१।१ (४) १।६।११
(५) ३।५।१० (६) ४।३।११ (७) २।४।१२ (८) ४।१।४
(९) १।६।११ (१०) २।६।८ (११) ४।१।१० (१२) ४।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देन वन्नित्यन्वादिश्यते। प्रापूर्वो वन्नित्यत्र नकारः णत्वमाप्नोति। "प्रावणेभिस्सजोषसः"[१] ॥ ७ ॥

इन्द्रोऽयजुः पूर्व एनं केन ॥ ८ ॥

मा०—इन्द्रः, अयजुः, इत्येवंपूर्वयोः एनम्, केन, इत्येतयोर्नकारो णकारमापद्यते यथासंख्येन। यथा—"इन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्"[२]। "अयजुष्केण क्रियते"[३]। इन्द्रोऽयजुष्पूर्व इति किम्? "त एनं भिषज्यन्ति"[४]। "ब्रह्मवादिनः केन तदजामीति"[५]। एनं केनेति किम्? "इन्द्रो नेषदति"[६] ॥ ८ ॥

त्रि०—इन्द्रः, अयजुः इत्येवंपूर्वयोरेनं केन इत्येतयोर्नकारो णत्वं भजते। यथा—"इन्द्र एणं प्रथमः"[२]। "अयजुष्केण क्रियते"[३]। एवम्पूर्व इति किम्? "रुद्र एनं भूत्वा"[७]। "ब्रह्मवादिनः केन"[५]। एनं केनेति किम्? "इन्द्रो नेषदति"[६] ॥ ८ ॥

वै०—(इन्द्रोऽयजुः पूर्वः =) इन्द्रः, अयजुः इत्यनयोः पूर्वयोः, यथाक्रमं एनं केन

में होने पर' णकार को प्राप्त करता है। जैसे—"प्रावेणेभिस्सजोषसः"[क] ॥ ७ ॥

वै० अ०—च शब्द से वन् का अन्वादेश होता है। प्रापूर्वः = प्रा पूर्व में होने पर; वन्—यहाँ पर स्थित नकार णत्व को प्राप्त करता है। "प्रावणेभिस्सजोषसः"[ख] ॥ ७ ॥

सू० अ०—'इन्द्रः' और 'अयजुः' पूर्व में होने पर एनम् और केन (का नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—(इन्द्रोऽयजुः पूर्वः =) इन्द्रः और अयजुः—ये दोनों पूर्व में होने पर; एनम् और केन—इन दोनों का नकार णत्व को प्राप्त करता है। जैसे—"इन्द्र एणं प्रथमः"। "अयजुष्केण क्रियते"। ये (इन्द्र और अयजुः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "रुद्र एनं भूत्वा"। "ब्रह्मवादिनः केन"। एनम्, केन—यह क्यों (कहा)? "इन्द्रो नेषदति"[क] ॥ ८ ॥

वै० अ०—(इन्द्रोऽयजुः पूर्वः =) इन्द्रः और अयजुः—ये दोनों पूर्व में होने

(क) प्रावणेभिरिति प्र—वनेभिः ॥ प० पा०

(ख) इन्द्रः। एनम्। प्रथमः ॥ अयजुष्केणेत्ययजुः—केन ॥ प० पा०
रुद्रः। एनम्। भूत्वा ॥ ब्रह्मवादिन इति [ब्रह्म—वादिनः। केन ॥ इन्द्रः। नेषत्। अतीति ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।४ (२) ४।६।७ (३) ५।१।२ (४) २।३।११
(५) ७।४।१० (६) ५।७।२ (७) ३।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यनयोः नकारो णत्वमाप्नोति। "इन्द्र एणं प्रथमः"[१]। "अयजुष्केण"[२]। एवंपूर्व इति किम्? "ईश्वरा एनं प्रदहः"[३]। "प्रौक्षीः केनाप इति"[४]। एनमिति किम्? "इन्द्रो नस्तत्र वृत्रहा"[५]। केनेत्यनुक्ते विधिर्निर्विषयस्स्यात्। अनन्तरासम्भवात् ॥ ८ ॥

नृश्रीपूर्वो मनाः ॥ ९ ॥

मा०—नृ, श्री, इत्येवं पूर्वो नकारो णकारमापद्यते मना इत्येतस्मिन् ग्रहणे। यथा—"तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम्"[६]। "देवश्रीः श्रीमणाः"[७]। नृश्रीपूर्व इति किम्? "सुमना नामेष्टिर्यमद्य"[८] ॥ ९ ॥

त्रि०—नृ, श्री इत्येवम्पूर्वो मना इत्यत्र नकारो णकारं भजते। "यथा—"नृमणा अजस्रम्"[९]। "श्रीमणाश्शतपथाः"[७]। एवम्पूर्व इति किम्? "सुमना उपागहि"[९] ॥ ९ ॥

पर; क्रम से एनम् तथा केन—इन दोनों का नकार णत्व को प्राप्त करता है। "इन्द्र एणं प्रथमः"। "अयजुष्केण"। ये (इन्द्र और अयजुः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "ईश्वरा एनं प्रदहः"। "प्रौक्षीः केनाप इति"। एनम्—यह क्यों (कहा)? "इन्द्रो नस्तत्र वृत्रहा"[क]। केन—इसका कथन न करने से (प्रस्तुत सूत्र में विहित) विधि विषयविहीन हो जायेगी क्योंकि व्यवधान के बिना (एन) सम्भव नहीं[ख] ॥ ८ ॥

सू० अ०—नृ अथवा श्री पूर्व में होने पर मनाः (का नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—नृ, श्री, पूर्वः=पूर्व में है जिसके उस; मनाः का नकार णकार हो जाता है। जैसे—"नृमणा अजस्रम्"। "श्रीमणाश्शतपथाः"। ये (नृ, श्री) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सुमना उपागहि"[ग] ॥ ९ ॥

(क) ईश्वराः। एनम् ॥ प्रेति। औक्षीः ॥ इन्द्रः। नः। तत्र ॥ प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—'केन' में भी 'एन' है। अतः सूत्र में केवल 'एन' का ग्रहण करना ही पर्याप्त है।
सिद्धान्ती—ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता हैं जहाँ 'अयजुः' पद के बाद में 'क्' के व्यवधान के बिना 'एन' मिलता हो। केन का ग्रहण न करने पर विधि उदाहरण-रहित हो जायेगी। अतः सूत्र में 'केन' का ग्रहण किया गया है।

(ग) नृमणा इति नृ—मनाः ॥ श्रीमणा इति श्री—मनाः ॥ सुमना इति सु—मनाः ॥ प० पा०

---

(१) ४।६।७ (२) ५।१।२ (३) ३।४।१०
(४) २।६।५ (५) ४।६।४ (६) २।३।१४
(७) ४।६।३ (८) २।५।५ (९) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(नृश्रीपूर्वः =) नृ श्री इत्यनयोः पूर्वयोः; मना इति नकारो णत्वमाप्नोति। "नृमणा अजस्रम्"[१]। "श्रीमणाःशतपयाः"[२]। नृश्रीपूर्वं पूर्वं किम्? "यो हतमनाः"[३]। मना इत्युक्ते विधिर्निर्विषयस्स्यात्। अनन्तरासम्भवात् ॥ ९ ॥

अङ्गानामोनेगानिगानांग्यानियामेन ॥ १० ॥

मा०—अङ्गानाम्, ओने, गानि, गानाम्, ग्यानि, यामेन, इत्येतेषु ग्रहणेषु नकारो णकारमापद्यते। यथा—"यत्र्यंगाणां समवद्यति"[४]। "दुरोणे"[५]। "अति दुर्गाणि विश्वा"[६]। "नमः सखीनां पुरोगाणाम्"[७]। "यानि वै छन्दाँसि सुवर्ग्याण्यासन्"[८]। "अन्तर्यामेणान्तरधत्त"[९] ॥ १० ॥

त्रि०—अङ्गानाम्, ओने, गानि, गानां, ग्यानि, यामेन पदु नकारः संहितायां णत्वं भजते। यथा—"यत्र्यङ्गाणाःसमवद्यति"[४]। "आयुषि दुरोणे"[५]। "अति दुर्गाणि विश्वा"[६]। "पुरोगाणां चक्षुषे"[७]। "सुवर्ग्याण्यासन्"[८]। "अन्तर्यामेणान्तरधत्त"[९] ॥ १० ॥

वै०—(अङ्गानां····यामेन =) अङ्गानामित्यादिष्वङ्गयोत्तरपदेषु; नकारोऽवग्रहसंहितायां णत्वमाप्नोति। अङ्गानाम्—"यत्र्यङ्गाणाःसमवद्यति"[४]। ओने—"वाथविष्टये

वै० अ०—(नृश्रीपूर्वः=) नृ और श्री—ये दोनों पूर्व में होने पर; 'मनाः' का नकार णत्व को प्राप्त करता है। "नृमणा अजस्रम्"। "श्रीमणाश्शतपयाः"। नृ और श्री पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यो हतमनाः"[क]। मना—इसका कथन न करने से (प्रस्तुत सूत्र में विहित) विधि विषयविहीन हो जायेगी। क्योंकि अव्यवहित बाद में (नकार) उपलब्ध नहीं होता है[ख] ॥ ९ ॥

सू० अ०—अङ्गानाम्, ओने, गानि, गानाम्, ग्यानि और यामेन (—इनका नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—अङ्गानाम्....यामेन—इनमें स्थित नकार संहिता में णत्व को प्राप्त करता है।....[ग] ॥ १० ॥

वै० अ०—(अङ्गानाम् ···यामेन=) अङ्गानाम् इत्यादि सावग्रह पदों के उत्तर

(क) हतमना इति हत—मनाः ॥ प० पा०

(ख) यदि 'मना' का कथन न किया जाता तो सूत्र में विहित विधि को उदाहरण न मिलता। क्योंकि नृ तथा श्री के अव्यवहित बाद में नकार उपलब्ध नहीं होता है।

(ग) त्र्यङ्गाणामिति त्रि—अङ्गानाम् ॥ दुरोण इति दुः—ओने ॥ दुर्गाणीति दुः—गानि ॥ पुरोगाणामिति पुरः—गानाम् ॥ सुवर्ग्याणीति सुवः—ग्यानि ॥ अन्तर्यामेणेत्यन्तः—यामेन ॥ प० पा०

---

(१) १।३।१४ (२) ४।६।३ (३) २।२।८
(४) ६।३।१० (५) १।२।१४ (६) १।१।१४
(७) ३।२।४ (८) ५।३।५ (९) ६।४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुरोणे"[१] । गानि—"अति दुर्गाणि विश्वा"[२] । गानां—"सखीनां पुरोगाणाम्"[३] । ग्यानि—"सुवर्ग्याण्यासन्"[४] । थामेन—"तानिन्द्रोऽन्तर्यामेण"[५] ॥ १० ॥

रषःपूर्वो हवन्यह्वेहन् ॥ ११ ॥

मा०—रपूर्वः षपूर्वश्च हवनी, अह्वे, हन्, इत्येतेषु ग्रहणेषु नकारो णकारमापद्यते । यथा—"अग्निहोत्रहवणी च शूर्पम्"[६] । "शरद्यपराह्णे"[७] । "वृत्रहणं पुरन्दरम्"[८] । षःपूर्वः—"रक्षोहणं वाजिनम्"[९] । षःपूर्व इति किम् ? "रक्षोहणो वलगहनः"[१०] । हन्नित्यपदग्रहणं संज्ञेपार्थम् । एवमन्यत्राप्यपदग्रहणं वेदितव्यम् । रषःपूर्व इति किम् ? "पुण्यह्वकृष्णः"[११] । "वलगहनो वैष्णवान्"[१२] ॥ ११ ॥

त्रि०—हवनी, अह्वे, हन्, एषु ग्रहणेषु नकारः, (रषः पूर्वः =) रेफपूर्वः ष इत्येवम्पूर्वो वा; णत्वं भजते । यथा—"अग्निहोत्रहवणी च"[६] । "शरद्यपराह्णे"[७] । हन्निति पदैकदेशो बहूपादानार्थः । "रक्षोहणम्"[९] । "वैष्णवी रक्षोहणौ"[१०] । "वृत्रहणं पुरन्दरम्"[८] । एवम्पूर्व इति किम् ? "साह्न एवास्मै"[११] । "वलगहनः"[१२] ॥ ११ ॥

वै०—(रषः पूर्वः =) र ष इत्यनयोः पदान्तयोः पूर्वयोः, हवनी अह्वे हन् इत्येतेषां नकारो णत्वमाप्नोति । रपूर्वंस्तावत्—"अग्निहोत्रहवणी च"[६] । "अपराह्णे"[७] ।

पदों के रूप में विद्यमान; नकार पूर्व-पद के साथ संहिता होने पर, णत्व को प्राप्त करता है ।…॥ १० ॥

सू० अ०—र अथवा षः पूर्व में होने पर हवनी, अह्वे तथा हन् (का नकार णकार हो जाता है) ।

त्रि० अ०—हवनी, अह्वे, हन्—इन पदों में स्थित नकार; (रषःपूर्वः =) रेफ पूर्व में होने पर अथवा षः पूर्व में होने पर; णत्व को प्राप्त करता है । जैसे—"अग्निहोत्रहवणी च" । "शरद्यपराह्णे" । हन्—यह पद का एक देश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है । "रक्षोहणम्" । "वैष्णवी रक्षोहणौ" । "वृत्रहणं पुरन्दरम्" । ये (र अथवा ष) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "साह्न एवास्मै" । "वलगहनः"[क] ॥ ११ ॥

वै० अ०—(रषःपूर्वः) र और षः—ये पदान्त पूर्व में हों तो; हवनी, अह्वे

(क) अग्निहोत्रहवणीत्यग्निहोत्र—हवनी ॥ अपराह्ण इत्यपर —अह्वे ॥ रक्षोहणमिति रक्षः—हनम् ॥ रक्षोहणाविति रक्षः—हनौ ॥ वृत्रहणमिति वृत्र—हनम् ॥ प०पा० साह्न इति स—अह्वे ॥ वलगहन इति वलग—हनः ॥ ॥ १० ॥

---

(१) २।२।१३ (२) १।१।१४ (३) ३।२।४ (४) ५।३।५
(५) ६।४।६ (६) १।६।८ (७) २।१।२ (८) ३।५।११
(९) १।२।१४ (१०) १।३।२ (११) ५।५।१५ (१२) १।३।२
(१३) ६।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हन्नितिपदैकदेशोऽपि ग्राह्य एव। पदमात्रग्रहणे तु ष इति निमित्तग्रहणमनर्थकं स्यात्। तत्पूर्वकार्यभाजोऽसम्भवात्। रपूर्वस्य तु हन्पदस्य सम्भवेऽपि तदीयस्य विधेः "अन्तश्च"[1] इति निषेधस्य चैकविषयत्वाद्विधिनिषेधावुभावप्यनारम्भणीयौ स्याताम्। तत्सामर्थ्यात्पदैकदेशस्याप्यत्र ग्रहणं युक्तमिति स उदाह्रियते—"वृत्रहणं पुरन्दरम्"[2]। "वृत्रहणा जुषेथाम्"।[क] षः पूर्वं में होने पर तो 'हन्' शब्द ही उपलब्ध होता है और वह

तथा हन्—इनका नकार णत्व को प्राप्त करता है। र पूर्व में होने पर—"अग्निहोत्रहवणी च"। "अपराह्णे"। हन्—यह पद का एक देश भी ग्राह्य ही है। केवल पद का ग्रहण करने पर तो 'ष' इस निमित्त का ग्रहण अनर्थक हो जायेगा। वह (ष) पूर्व में होने पर कार्यभाक् (पद) उपलब्ध न होने से। रपूर्व हन् पद के उपलब्ध होने पर भी उस विधि का और "पदान्त (नकार णकार नहीं होता है)"—इस निषेध का एक विषय होने से विधि और निषेध—इन दोनों का—आरम्भ करना अनावश्यक हो जायेगा। इसके सामर्थ्य से पद के एक देश का भी यहाँ ग्रहण युक्त है—अतएव उसका उदाहरण देते हैं—"वृत्रहणं पुरन्दरम्"। "वृत्रहणा जुषेथाम्"।[क] षः पूर्व में होने पर तो 'हन्' शब्द ही उपलब्ध होता है और वह

(क) १।५० के अनुसार जब किसी सूत्र में किसी पद का ग्रहण किया जाता है तब उससे संहितास्थ पद को ही समझना चाहिए, पद के एक देश को नहीं। भाष्यकार का यहाँ कहना है—यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'हन्' पद का ग्रहण किया गया है, तथापि 'हन्' से संहितास्थ पद 'हन्' और पद के एक देश 'हन्'—इन दोनों-का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा मानने के ये दो कारण हैं–(१) यदि सूत्रस्थ 'हन्' से संहितास्थ 'हन्' पद का ही ग्रहण किया जाये तो प्रस्तुत सूत्र में 'षः'–इस निमित्त का ग्रहण अनर्थक हो जायेगा, क्योंकि 'षः' के बाद में 'हन्' पद उपलब्ध नहीं होता है, जहाँ सूत्र में विहित कार्य (णत्व) हो जावे। 'षः' के बाद में 'हन्' पद के एक देश के रूप में ही उपलब्ध होता है, जैसा कि टि० (क) पृ० ४४६ में देखा जा सकता है; (२) र के बाद में 'हन्' पद केवल इस एक स्थल पर उपलब्ध होता है–"वृत्रहच्छूर विद्वान्" (वृत्रहन्निति वृत्र—हन्। शूर। विद्वान्॥ प० पा०)। 'र' के बाद में होने के कारण 'हन्' पद (हन्–यहाँ पद है, क्योंकि १।४८ के अनुसार सावग्रह पद का प्रत्येक खण्ड पद के समान होता है) के नकार को णकार होना चाहिए। किन्तु ७।१६ में यह विधान किया गया है कि पदान्त नकार णकार नहीं होता है। इससे यहाँ 'हन्' का नकार णकार नहीं होता। इस प्रकार ७।११ में प्रकृत 'हन्' में णत्व का विधान किया गया है और ७।१६ में उस णत्व का निषेध किया गया है। निषेध विधान का बाधक होता है, जिससे प्रकृत 'हन्' में णत्व नहीं होता है। इस प्रकार विधान और निषेध—ये दोनों—अनावश्यक हो जाते हैं। इस असंगत स्थिति का सामना तभी किया जा सकता है, यदि प्रस्तुत सूत्र (७।११) में स्थित 'हन्' से पद के एक देश का भी ग्रहण किया जावे। ऐसा मानने पर यह स्थिति

---

(१) ७।१६ (२) ३।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Sámaj Foundation Chennai and eGangotri

धाम्"[१]। षःपूर्वस्तु हन्शब्द एव सम्भवति। स च पदैकदेश एव "रक्षोहणं वाजिनम्"[२]। "रक्षोहणः"[३]। एवम्पूर्व इति किम्? "एण्यह्ने"[४]। "न नि हन्यात्"[५]। हवनीशब्द-प्रत्युदाहरणं शाखान्तरे ॥ ११ ॥

रुपूर्वो मयान्यनी ॥ १२ ॥

मा०—मयानि, अनी, इत्येतयोर्ग्रहणयो रुपूर्वः नकारः णकारमापद्यते। यथा—"दारुमयाणि पात्राणि"[६]। "त्वे वसूनि पूर्वणीक"[७]। रुपूर्व इति किम्? "अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशम्"[८] ॥ १२ ॥

पद का एक देश ही होता है। "रक्षोहणं वाजिनम्"। "रक्षोहणः"।[क] ये (र तथा षः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "एण्यह्ने"। "न नि हन्यात्"।[ख] हवनी शब्द का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में (उपलब्ध होता है)[ग] ॥ ११ ॥

सू० अ०—रु पूर्व में होने पर मयानि और अनी (का नकार णकार हो जाता है)।

होगी—७।१।१ के अनुसार वृत्रहन् (वृत्र–हन्) में णत्व की प्राप्ति होती है, जिसका निषेध ७।१।६ से हो जाता है। तब ७।१।१ के उदाहरण के रूप में इन स्थलों को उद्धृत किया जा सकेगा—

वृत्रहणमिति वृत्र—हनम् ॥ प० पा०

वृत्रहणेति वृत्र—हना। जुषेथाम् ॥ प० पा०

इन दो स्थलों में 'र' पूर्व में होने पर पद के एक देश 'हन्' का नकार णकार हो गया है।

(क) रक्षोहणमिति रक्षः—हनम्। वाजिनम् ॥ प० पा०

रक्षोहण इति रक्षः–हनः ॥ प० पा०

इन दो स्थलों में 'षः' पूर्व में होने पर पद के एक देश 'हन्' का नकार णकार हो गया है।

(ख) एणी। अह्ने ॥ प० पा०

न। नीति। हन्यात् ॥ प० पा०

अह्ने और हन्यात् के नकार णकार नहीं हुए हैं, क्योंकि इन पदों के पूर्व में न 'र' है और न 'षः'।

(ग) तै० सं० में ऐसा स्थल उपलब्ध नहीं होता है, जहाँ 'हवनी' के पूर्व में 'र' अथवा 'षः' न हो और 'हवनी' के नकार का णकार न हुआ हो। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि किसी दूसरी शाखा में प्रत्युदाहरण मिल जायेगा।

---

(१) १।१।१४ (२) १।२।१४ (३) १।३।२ (४) ५।५।१५
(५) २।६।१० (६) ६।४।७ (७) १।३।१४ (८) १।८।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—मयानि, अनी इत्यत्र रुपूर्वो नकारो णत्वं भजते। यथा—"दारुमयाणि पात्राणि"[१]। "त्वे वसूनि पुर्वणीक"[२]। एवम्पूर्व इति किम्? "यानि मृन्मयानि"[१]। "अग्नयेऽनीकवते"[३]। रेफग्रहणेन किम्? "स्वनीकसन्दृक्"[४] ॥ १२ ॥

वै०—(रुपूर्वः=) रुशब्दे पदान्ते पूर्वे; मयानि, अनी इत्यनयोः नकारो णत्वमाप्नोति। "यानि हि दारुमयाणि"[१]। "त्वे वसूनि पुर्वणीक"[२]। एवं पूर्व इति किम्? "अश्मन्मयानि"[५]। "स्वनीकसन्दृक्"[४] ॥ १२ ॥

वाघाषपूर्वस्तष्टम् ॥ १३ ॥

मा०—वाघाषपूर्वः षकारपूर्वश्च तकारः टत्वमापद्यते। यथा—"दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्"[६]। "अग्निष्टद्विश्वमा पृणाति"[७]। वाघाषपूर्व इति किम्? "दार्वाघाट इति दारु—आघातः"[६]। "वयं संघातं जेष्म"[८]। "अग्निस्ते तेजो मा विनैत्"[९]। "उत वा घा स्यालात्"[७]। "निष्कृतिर्नाम वः"[१०] ॥ १३ ॥

त्रि० अ०—मयानि, अनी—यहाँ पर; रुपूर्वः = रु पूर्व में होने पर; नकार णत्व को प्राप्त करता है। जैसे—"दारुमयाणि पात्राणि"। "त्वे वसूनि पुर्वणीक"।[क] यह (रु) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यानि मृन्मयानि"। "अग्नयेऽनीकवते"[ख]। रेफ के ग्रहण से क्या (लाभ है)? "स्वनीकसन्दृक्"[ग] ॥ १२ ॥

वै० अ०—(रुपूर्वः=) पदान्त रु शब्द पूर्व में होने पर; मयानि और अनी—इनका नकार णत्व को प्राप्त करता है। "यानि हि दारुमयाणि"। "त्वे वसूनि पुर्वणीक"। यह (रु) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अश्मन्मयानि"। "स्वनीकसन्दृक्"[घ] ॥ १२ ॥

सू० अ०—वाघा अथवा ष पूर्व में होने पर तकार टकार (हो जाता है)।

(क) दारुमयाणीति दारु—मयानि ॥ पुर्वणीकेति पुरु—अनीक ॥ प० पा०

(ख) मृन्मयानीति मृत्—मयानि ॥ अनीकवत इत्यनीक—वते ॥ प० पा०

(ग) स्वनीकेति सु—अनीक ॥ प० पा०

'अनी' के पूर्व में 'रु' नहीं अपितु उ (सु) है।
अतः 'अनी' का नकार णकार नहीं हुआ है।

(घ) अश्मन्मयानीत्यश्मन्—मयानि ॥ प० पा०

---

(१) ६।४।७ (२) १।३।१४ (३) १।८।४ (४) ४।३।१३
(५) ३।४।११ (६) ५।५।१५ (७) १।१।१४ (८) १।१।५
(९) १।१।१० (१०) ४।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(वाघाषपूर्वः =) वाघा इत्येवम्पूर्वः षकारपूर्वश्च; (तष्टम् =) तकारः, टकारम्; आपद्यते। यथा—"दार्वाघाट इति दारु-आघातः"[१]। "आयुष्ट आयुर्दाः"[२]। वाघा इति किम्? "प्रघात आदित्यानाम्"[३]। षपूर्व इति किम्? "अग्निस्ते तेजः"[४] ॥१३॥

वै०—एवं नानापदीयनिमित्तं नकारस्य णत्वं विहितम्। तस्य प्रतिषेधश्च वक्ष्यते। अत्रान्तरे तथयोर्द्वयोरपि मूर्धन्यादेशो विधीयते। रुपूर्वस्यानुवृत्तिर्लभ्यत इति—

रुपूर्वं इत्यनुवर्तत इत्युक्तम्। आघापूर्व इति तु कार्यभाज एव विशेषणमात्रं न निमित्तोपबन्धौ कार्यभाक्पदैकदेशत्वात्। षपूर्व इत्यपि तथा नानापदीयत्वनियमाभावात्। तदयमर्थः—(वाघाषपूर्वः =) रुशब्दे पूर्वे आघाशब्दात्परस्य; (तष्टम् =) तकारस्य टत्वम्; भवतीति, तथा पूर्वपदे निमित्ते षकारात्परस्य। नन्वत्र कुतः पूर्वपदस्य निमित्तत्वम्? आघापूर्वेण समभिव्याहारात् पदादिमध्यवर्तिनां मूर्धन्यादेशानां पूर्णपदनिमित्तत्वदर्शनाच्च। आघा—"[१]दार्वाघाटः"[५]। ष—"अग्निष्टद्विश्वम्"[६]। "विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम्"[७]।

त्रि० अ०—(वाघाषपूर्वः=) वाघा—यह पूर्व में होने पर और षकार पूर्व में होने पर; (तष्टम् =) तकार टकार; हो जाता है। जैसे—"दार्वाघाट इति दारु—आघातः"। "आयुष्ट आयुर्दाः"। वाघा—यह क्यों (कहा)? "प्रघात आदित्यानाम्"। 'ष' पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अग्निस्ते तेजः"[क] ॥ १३ ॥

वै० अ०—इस प्रकार भिन्न पद में स्थित है निमित्त जिसका ऐसे नकार के णत्व का विधान कर दिया गया है। और उसका प्रतिषेध आगे कहा जायेगा। इनके मध्य में तकार और थकार—इन दोनों के भी मूर्धन्यादेश का विधान किया जाता है। 'रु' पूर्व में 'होने पर' की अनुवृत्ति (पूर्व सूत्र से) प्राप्त होती है—

'रु' पूर्व में होने पर'—इसकी अनुवृत्ति हो रही है—यह कहा जा चुका है। "आघा पूर्व में है जिसके वह" यह कार्य को प्राप्त करने वाले (कार्यभाक्) पद का विशेषण मात्र है, निमित्त और उपबन्ध नहीं, कार्य को प्राप्त करने वाले पद का एक देश होने से। 'ष पूर्व में है जिसके वह'—यह भी उसी प्रकार (कार्य को प्राप्त करने वाले पद का विशेषण मात्र है, निमित्त और उपबन्ध नहीं)। क्योंकि (षकार) भिन्न पद में स्थित होता है—ऐसा नियम नहीं है। इससे यह अर्थ हुआ—(वाघाषपूर्वः =) रु शब्द पूर्व में होने पर 'आघा' शब्द से परवर्ती; (तष्टम् =) तकार का टत्व; होता है, उसी प्रकार पूर्व-पद के निमित्त होने पर

(क) दार्वाघाट इति दारु—आघातः ॥ आयुर्दा इत्यायुः— दाः ॥
प्रघात इति प्र—घातः ॥ अग्निः। ते। तेजः ॥ प० पा०

---

(१) ५।५।१५ (२) २।५।१२ (३) ६।१।१ (४) १।१।१०
(५) ५।५।१५ (६) १।१।१४ (७) १।४।४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आघापूर्व इति किम् ? "उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्"[१]। पूर्वस्य षस्य टकारनिमित्तत्वे वर्ण-संहिता स्यात्। नानापदीयत्वनियमाभावात्। आघापूर्वस्तष्टमित्येतावदुक्त्वा वर्णसंहिता-ऽधिकारे षपूर्वस्तष्टमित्युक्तं चेद्विस्तरस्स्यात्। तस्मादत्र पूर्वपदस्य निमित्तत्वमाश्रयितव्यम्—आघापूर्वस्य तु पूर्वपदमात्रनिमित्तत्वे आकारघाशब्दयोः पृथग्विशेषणशङ्कया "तेज एवात्म-न्धत्ते"[२]। "वयꣳसंघातं जेष्म"[३] इत्यादौ टत्वं स्यात्। रुपूर्वानुवृत्तौ तु आघाशब्द एक एवैतद्विशेषणं सिद्धयति। अन्ये त्वस्य सूत्रस्य आदितो वकारमधिकं पठन्तो वाघाशब्दं षकारं चैव निमित्तमाहुः। तेषां वर्णसंहितापत्तेर्णत्वविधिनिषेधयोर्मध्ये सङ्गतिर्न स्यात् ॥१३॥

थश्च ठम् ॥ १४ ॥

मा०—षपूर्व इति चकारो ज्ञापयति। षपूर्वः थकारः ठकारमापद्यते। यथा—

षकार से परवर्ती (तकार का टत्व होता है)। (शंका) यहाँ पूर्व-पद को निमित्त क्यों माना गया है? (समाधान) आघा पूर्व के साथ उल्लिखित होने से और पद के आदि और मध्य में होने वाले मूर्धन्य के आदेशों के लिये पूर्व-पद के दिखलाई पड़ने से (पूर्व-पद को यहाँ निमित्त माना गया है)। आघा—"दार्वाघाटः"। ष—"अग्निष्टद्विश्वम्"। "विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम्"क। "आघा' पूर्व में होने पर'—यह क्यों (कहा)? "उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्"ख। पूर्ववर्ती ष को टकार का निमित्त मानने पर यह वर्ण-संहिता होगी। क्योंकि (षकार) भिन्न पद में स्थित होता है—ऐसा नियम नहीं है। "आघा है पूर्व में जिसके वह तकार टकार हो जाता है"—यहाँ पर इतना कहकर यदि वर्ण-संहिता के अधिकार में "ष है पूर्व में जिसके वह तकार टकार हो जाता है"—यह कहा जाता तो विस्तार हो जायेगा। इसलिए यहाँ पूर्व-पद के निमित्तत्व का आश्रय लेना चाहिए। आघा पूर्व में है जिसके ऐसे (तकार) का निमित्त पूर्व-पद मात्र को मानने पर तो आकार और घा शब्द के पृथक् विशेषण की शङ्का होने से "तेज एवात्मन्धत्ते" और "वयꣳसङ्घातं जेष्म"ग इत्यादि में टत्व हो जायेगा। 'रु पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति होने से तो 'आघा' शब्द एक ही है—यह विशेषण सिद्ध होता है। दूसरे लोग तो इस सूत्र के आदि में एक अधिक वकार का पाठ करते हुए 'वाघा' शब्द और षकार को ही निमित्त बतलाते हैं। उनके मत से वर्ण-संहिता की प्राप्ति होने से णत्व की विधि और निषेध के मध्य में संगति नहीं होगी ॥१३॥

सू० अ०—थकार भी (ठकार हो जाता है)।

(क) दार्वाघाट इति दारु—आघातः ॥ अग्नि। तत्। विश्वम् ॥ विप्राः। वर्धन्ति ॥ प० पा०

(ख) उरु। ते। यज्ञपतिरिति यज्ञ—पतिः। प्रथताम् ॥ प०पा०

(ग) तेजः। एव। आत्मन्। धत्ते ॥ वयम्। संघातमिति सं—घातम् ॥ प० पा०

---

(१) १।१।८ (२) १।५।८ (३) १।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गोष्ठं मा"[१]। "आपो हि ष्ठा मयोभुवः"[२]। षपूर्वं इति किम्? "व्रजं गच्छ गोस्थानम्"[३] ॥ १४ ॥

त्रि०—चकारः षकारपूर्वत्वाकर्षकः। (थः =) थकारः; षकारपूर्वः; (ठम् =) ठकारम्; भजते। यथा—"गोष्ठं मा"[१]। एवम्पूर्व इति किम्? "गच्छ गोस्थानम्"[३] ॥ १४ ॥

वै०—चशब्दान्वादिष्टषपूर्वः; (थः =) थकारः; पूर्वपदसंहितायाम्; (ठम् =) ठत्वम्; आप्नोति। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"[४]। "द्यविष्ठ"[५]। "आखरेष्ठः"[६]। अन्वादेशेन किम्? "वायवस्थ"[७]। नन्वत्र षकारस्य निमित्तत्वेऽप्युपपत्तेः किमर्थं निमित्तान्तराश्रयण-

---

त्रि० अ०—चकार (पूर्व सूत्र से) 'षकार पूर्व में होने पर' का अन्वादेशक है। षकार है पूर्व में जिसके वह; (थः =) थकार; (ठम् =) ठकार; हो जाता है। जैसे—"गोष्ठं मा"।[क] यह (षकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "गच्छ गोस्थानम्"[ख] ॥ १४ ॥

वै० अ०—च शब्द से अन्वादिष्ट षकार पूर्व में होने पर; (थः =) थकार; पूर्व-पद के साथ संहिता होने पर; (ठम् =) ठत्व को प्राप्त करता है। "आपो हिष्ठा मयोभुवः"। "द्यविष्ठ"। "आखरेष्ठः"[ग]। अन्वादेश से क्या (लाभ है)? "वायवस्थ"[घ]। (शङ्का) यहाँ षकार के निमित्त होने पर भी (कार्य की)

(क) गोष्ठमिति गो—स्थम् ॥ प० पा०

६।२ से पूर्व-पद (अवग्रह) 'गोः' पूर्व में होने पर 'स्थम्' का सकार षकार हो जाता है (गो ष्थम्)। तत्पश्चात् प्रस्तुत सूत्र से षकार के बाद में स्थित थकार ठकार हो जाता हैं और 'गोष्ठम्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) गोस्थानमिति गो—स्थानम् ॥ प० पा०

६।१० से 'स्थानम्' का सकार षकार नहीं होता है। तब प्रस्तुत सूत्र से 'स्थानम्' का थकार भी ठकार नहीं होता, क्योंकि उसके पूर्व में षकार नहीं अपितु सकार है।

(ग) द्यवि। स्थ ॥ आखरेष्ठ इत्याखरे—स्थः ॥ प० पा०

इन स्थलों पर ६।२ से स्था, स्थ तथा स्थः का सकार पूर्व-पद पूर्व में होने से षकार हो जाता है। तत्पश्चात् प्रस्तुत सूत्र से उस षकार के बाद वाला थकार ठकार हो जाता है॥

(घ) वायवः। स्थ ॥ प० पा०

थकार के पूर्व में षकार नहीं अपितु सकार है। अतः थकार ठकार नहीं हुआ है।

---

(१) १।१।१० (२) ४।१।५ (३) १।१।९ (४) ४।१।५
(५) २।४।१४ (६) १।१।११ (७) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौरवमभ्युपगम्यते ? नैतदस्ति। न ह्येतदर्थमिह पृथक्पदसंहिता परिगृह्यते। किन्त्वन्यार्थं परिगृहीताऽत्रापि सम्बध्यते। अतो न गौरवदोषः ॥ १४ ॥

न तकारपरः ॥ १५ ॥

मा०—नेति प्रतिषेधः। तकारपरो नकारः णत्वं नापद्यते। यथा—"पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्"[1]। "अवर्णव्यवेतोऽपि"[2] इति प्राप्तम् ॥ १५ ॥

त्रि०—वाघाषादिविधिरनधिकृतत्वादुत्पन्नप्रध्वंसी। तस्मादत्र नायं निषेधः किन्तु प्रकृतो णत्वविधिरनेन विषयीक्रियते। तकारपरो नकारो णत्वं नापद्यते। यथा—"पर्यन्तरिक्षात्"[1]। "पारीपरिपरीप्रपूर्वः" "अवर्णव्यवेतोपि"[2] इत्येताभ्यां प्राप्तिः ॥ १५ ॥

उपपत्ति होने पर किस कारण दूसरे निमित्त (पूर्व-पद) का आश्रय लेकर गौरव (दोष) को अपनाया जाता है? (स०) ऐसी बात नहीं है। क्योंकि इस (= ठत्व) के लिए यहाँ पृथक् पदों की संहिता का ग्रहण नहीं किया जाता है। किन्तु दूसरे (षत्व) के लिए ग्रहण की गई यहाँ भी सम्बद्ध की जाती है। इसलिए गौरवदोष नहीं है[क] ॥ १४ ॥

सू० अ०—तकार बाद में होने पर (नकार णकार) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—वाघा, ष इत्यादि विधि अनधिकृत होने के कारण उत्पन्न हुई और फिर विनष्ट हो गई। इसलिए यह निषेध वहाँ लागू नहीं होता है। किन्तु प्रकृत णत्व-विधि इस (सूत्र) से विषय बनायी जाती है।[ख] तकरपरः=तकार

(क) पूर्वपक्षी—यहाँ थकार के ठकार होने का निमित्त षकार को मानकर कार्य (ठत्व) की सिद्धि हो जाती है। तब पूर्व-पद को निमित्त के रूप में ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—यहाँ थकार के ठकार होने के निमित्त के रूप में पूर्व-पद का ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु सकार के षकार होने के लिए पूर्व-पद को निमित्त माना गया है। पूर्व-पद के बिना सकार षकार नहीं हो सकता है और षकार के बिना थकार ठकार नहीं हो सकता है। इस प्रकार षत्व और ठत्व दोनों के लिए पूर्व-पद को निमित्त मानने में गौरव-दोष नहीं है।

(ख) ७।१ में नकार के णकार होने का अधिकार किया गया है और यही इस अध्याय का मुख्य विषय है। पूर्ववर्ती दो सूत्रों (७।१३, १४) में विहित कार्य (टत्व और ठत्व) इस अध्याय के मुख्य विषय से सम्बद्ध नहीं है। अत एव यह विधि उत्पन्न हुई और विनष्ट हो गई। इसका विषय आगे नहीं चलेगा। अब जो निषेध किया जायेगा, उसका सम्बन्ध इस अध्याय के मुख्य विषय (णत्व) से है।

---

(१) ३।१।१० (२) ७।४,५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अत्र नकारस्य मूर्धन्यादेशः प्रतिषिध्यते। नानन्तरयोस्तथयोः। कुतः ? सम्भवासम्भवाभ्याम्। तदयमर्थः—तकारपरो नकारो णत्वं न प्राप्नोति। "पर्यन्तरिक्षात्"[१]। "अवर्ण्यवेतोऽपि"[२] इति प्राप्तिः ॥ १५ ॥

नह्यतिनूनंनृत्यन्त्यन्योऽन्याभिरन्यान्यन्तश्चान्तश्च ॥ १६ ॥

मा०—नह्यति, नूनम्, नृत्यन्ति, अन्यः, अन्याभिः, अन्यानि, एतेषु ग्रहणेषु नकारः, पदान्तवर्ती च, णत्वं नापद्यते। चशब्दः प्रतिषेधान्वादेशकः। यथा—"वाससा पर्यानह्यति"[३]। "प्र नूनं पूर्णवन्धुरः"[४]। "दास्योमार्जालीयं परिनृत्यन्ति"[५]। "प्रान्यः शँसति"[६]। "प्रान्याभिर्यच्छति"[७]। "प्रान्यानि पात्राणि युज्यन्ते"[८]। अन्य इति अकारान्तेनैव ग्रहणेनैव सिद्धे अन्योऽन्याभिरन्यानीति पदग्रहणम् "अनुप्राण्यात् प्रथमाँ स्वयमातृण्णाम्"[९] इत्येवमादिषु णत्वप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थः। एतेषु णत्वप्राप्तिः "पारीपरिपरीप्रपूर्वं"[१०] इति, "अवर्ण्यवेतोऽपि"[११] इति च यथायोगम्। पदान्ते—"आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते"[१२] ॥ १६ ॥

बाद में होने पर; नकार णत्व को; न=नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"पर्यन्तरिक्षात्"क। "पारी, परि, परी तथा प्र पूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)" "अवर्ण से व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता)"—इन दो (सूत्रों) से (णत्व की) प्राप्ति थी (किन्तु प्रस्तुत सूत्र उसका निषेध करता है)।

वै० अ०—यहाँ नकार के मूर्धन्यादेश का प्रतिषेध किया जाता है। अव्यवहित पूर्ववर्ती तकार और थकार (के मूर्धन्यादेश) का नहीं। क्यों ? उपलब्धि और अनुपलब्धि के अधार पर।ख इससे यह अर्थ हुआ—तकारपरः=तकार बाद में होने पर; नकार णत्व को; न=नहीं; प्राप्त करता है। "पर्यन्तरिक्षात्"।"अवर्ण से व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता है)"-इस (सूत्र) से प्राप्ति थी ॥ १५ ॥

सू० अ०—नह्यति, नूनम्, नृत्यन्ति, अन्यः, अन्याभिः, अन्यानि और पदान्त (का नकार णकार नहीं होता है)।

(क) परीति। अन्तरिक्षात् ॥ प० पा०

(ख) तात्पर्य यह है कि ऐसा उदाहरण तो मिलता है जहाँ तकार के पूर्व में नकार के णकार होने की प्राप्ति हो, जिसका निषेध प्रस्तुत सूत्र से किया जा रहा है। किन्तु ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जहाँ तकार के पूर्व में तकार के टकार अथवा थकार के ठकार होने की प्राप्ति हो, जिसका निषेध प्रस्तुत सूत्र से किया जाये। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नकार के णकार होने का निषेध किया जा रहा है।

---

(१) ३।१।१०
(२) ७।५
(३) ६।१।११
(४) १।८।५
(५) ७।५।१०
(६) ७।५।९
(७) ५।१।६
(८) ६।५।११
(९) ५।५।५
(१०) ७।४
(११) ७।५
(१२) १।४।३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारो निषेधाकर्षकः। नह्यति, नूनं, नृत्यन्ति, अन्यः, अन्याभिः अन्यानि एतेषु ग्रहणेषु नकारः, पदान्तश्च नकारो णत्वं न भजते। यथा—"वाससा पर्यानह्यति"[१]। "अवर्णव्यवेतोऽपि"[२] इति प्राप्तिः। "प्रनूनं पूर्णवन्धुरः"[३]। "परि नृत्यन्ति पदो निघ्नतीः"[४]। "प्रान्यश्शꣳसति"[५]। "प्रान्याभिर्यच्छति"[६]। "प्रान्यानि पात्राणि"[७]। "पारीपरिपरीग्रपूर्वः"[८] इत्येषां प्राप्तिः। अनित्येतावता सिद्धे, अन्योऽन्याभिरन्यानीति किं प्रतिपदपाठेन? "अनुग्राण्यात्प्रथमाम्"[९] इत्यत्र नैष निषेधः प्रसरत्विति। पदान्तो नकारो णत्वं न भजते। यथा—"वृत्रहन्छूर विद्वान्"[१०]। "रषः पूर्वः"[११] इति प्राप्तिः॥ १६॥

वै०—(नह्यति···अन्तश्च=) नह्यतीत्यादिषु यो नकारः यश्च पदान्तः स; णत्वं न प्राप्नोति। नह्यति—"वाससा पर्यानह्यति"[१२]। नूनम्—"प्रनूनं पूर्णवन्धुरः"[१३]।

त्रि० अ०—चकार (पूर्व सूत्र से) निषेध का अन्वादेशक है। नह्यति···अन्यानि—इन पदों में स्थित नकार और अन्तः=पदान्त नकार; णत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"वाससा पर्यानह्यति"क। "अवर्ण से व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से (णत्व की) प्राप्ति थी। "प्रनूनं पूर्णवन्धुरः"। "परि नृत्यन्ति पदो निघ्नतीः"। "प्रान्यश्शꣳसति"। "प्रान्याभिर्यच्छति"। "प्रान्यानि पात्राणि"ख। "पारी, परि, परी तथा ग्रपूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से इनमें (णत्व की) प्राप्ति थी। अन्—इतना कहने से ही (अभीष्ट की) सिद्धि हो जाने पर, अन्यः, अन्याभिः और अन्यानि—इनमें से प्रत्येक पद के पाठ से क्या (लाभ है)? "अनुग्राण्यात्प्रथमाम्"ग—यहाँ यह निषेध लागू न होवे इसलिए (सभी पदों का पाठ किया गया है)। पदान्त नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"वृत्रहञ्छूर विद्वान्"घ। "र अथवा षः पूर्व में होने पर हवनी, अहे तथा हन् (का नकार णकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्ति थी॥ १६॥

वै० अ०—(नह्यति···अन्तश्च=) नह्यति इत्यादि में स्थित जो नकार और जो पदान्त (नकार) है वह; णत्व को नहीं प्राप्त करता है। नह्यति—"वाससा

(क) पर्यानह्यतीति परि—आनह्यति॥ प० पा०

(ख) प्रेति। नूनम्॥ परीति। नृत्यन्ति॥ प्रेति। अन्यः॥ प्रेति। अन्याभिः॥ प्रेति। अन्यानि॥ प० पा०

(ग) अनु। प्रेति। अन्यात्॥ प० पा०

(घ) वृत्रहन्निति वृत्र—हन्॥ प० पा०

---

(१) ६।१।११ (२) ७।५ (३) १।८।५ (४) ७।५।१०
(५) ७।५।९ (६) ५।१।६ (७) ६।५।११ (८) ७।४
(९) ५।५।५ (१०) १।४।४२ (११) ७।११ (१२) ६।१।११
(१३) १।८।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृत्यन्ति—"मार्जालीयं परि नृत्यन्ति"[१]। अन्यः—"प्रान्यश्शꣳसति"[२]। अन्याभिः—"प्रान्याभिर्यच्छति"[३]। अन्यानि—"प्रान्यानि पात्राणि"[४]। "पारीपरिपरी"[५] इत्यादि-सूत्रद्वयेन प्राप्तिः। अन् इति सामान्यरूपग्रहणे "अग्रं पर्यणयत्"[६] इत्यादेरकारव्यवेतस्य सर्वस्य प्रतिषेधप्रसङ्गात् "अवर्णव्यवेतोऽपि"[७] इति सूत्रस्य व्याकोपस्स्यात्। अन्तः—"आ तिष्ठ वृत्रहन् रथम्"[८]। "रषःपूर्वः"[९] इति प्राप्तिः। ननु—"इन्द्राय त्वा वृत्रघ्ने"[१०] इत्यादौ हन्शब्दविकारत्वात् "अपि विकृतम्"[११] इति घकारात्परस्य नकारस्य णत्वं कस्माच्च भवति? तदुच्यते—"पदग्रहणेषु पदं गम्येत"[१२] इत्यस्मिन्विषये हि "अपि विकृतम्"[११]

पर्यानह्यति"। नूनम्—"अनूनं पूर्णवन्धुरः"। नृत्यन्ति—"मार्जालीयं परि नृत्यन्ति"। अन्यः—"प्रान्यश्शꣳसति"। अन्याभिः—"प्रान्याभिर्यच्छति"। "प्रान्यानि पात्राणि"।[क] "पारी, परि, परी तथा प्र पूर्व में होने पर (नकार णकार हो जाता है)"—इत्यादि दो सूत्रों (७।४,५) से (णकार की) प्राप्ति थी। अन्—इस सामान्य रूप का ग्रहण करने पर "अग्रं पर्यणयत्" इत्यादि में अकार से व्यवहित सभी (स्थलों) के प्रतिषेध का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से "अवर्ण से व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता है)"—इस सूत्र का विरोध हो जायेगा।[ख] अन्तः—"आ तिष्ठ वृत्रहन् रथम्"। "र अथवा षः पूर्व में होने पर हवनी, अह्न तथा हन् (का नकार णकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से (णकार की) प्राप्ति थी। शंका—"इन्द्राय त्वा वृत्रघ्ने" इत्यादि में 'हन्' शब्द का विकार होने से "विकार को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)"—इस (सूत्र) से (वृत्रघ्ने में) घकार से बाद में स्थित नकार का णत्व किस कारण से नहीं होता है? इसको बतलाते हैं—"पद के उद्धरणों में उस पद को (ही समझना चाहिए)"—केवल इस विषय में ही "विकार

(क) पर्यानह्यतीति परि—आनह्यति ॥ प्रेति। नूनम् ॥ परीति। नृत्यन्ति ॥ प्रेति। अन्यः ॥ प्रेति। अन्याभिः ॥ प्रेति। अन्यानि ॥ प० पा०

(ख) यदि 'अन्' का ग्रहण किया जाता तो ७।५ से विरोध हो जाता। ७।५ के अनुसार 'परि' इत्यादि से बाद में स्थित अकार व्यवहित नकार (अन्) का णकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में 'अन्' का ग्रहण करने पर यह सिद्ध होता है कि परि इत्यादि के बाद में स्थित 'अन्' (अकारव्यवहित नकार) का नकार णकार नहीं होता है। विरोध स्पष्ट है। इस विरोध से बचने के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'अन्' का ग्रहण न करके अन्यः, अन्याभिः तथा अन्यानि का पृथक् रूप से ग्रहण किया गया है।

---

(१) ७।५।१०　(२) ७।५।९　(३) ५।१।६
(४) ६।५।११　(५) ७।४,५　(६) २।३।४
(७) ७।५　(८) १।४।३७　(९) ७।११
(१०) १।४।१　(११) १।५१　(१२) १।५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति विधिर्भवति। इह तु पदं गम्येत इति न नियमः इत्युपपादितम्। यच्च एतच्छास्त्रविहितविकारयोगि तदेव विकृतं गृह्यते। ततश्च "अपि विकृतम्"[1] इति परिभाषाया नायं विषय इति प्रापकाभावादेव न भवति। न हि वृत्रघ्न इत्यादौ हन्शब्दांशस्य समाम्नायसिद्धं मूलशास्त्रसिद्धं वा पदत्वमस्ति। न चास्मिन् शास्त्रे तस्योपधालोपो घत्वं वा विधीयते। मूलशास्त्रविहितानामपि विकाराणामिह परिग्रहे तेषां सर्वेषामवश्यं वेद्यत्वापत्तेस्तत्सापेक्षमिदं शास्त्रं ततोऽपि गुरुतरं सल्लाघवार्थतारम्भहेतुमतीयात्। अत एव "पारी परिपरी"[2] इत्येवमादिषु नैकशब्दग्रहणं क्रियते। तस्मादेतच्छास्त्रविहितादेव विकाराद्विकृतमिह गृह्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ १६ ॥

को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)"—यह विधि होती है। यहाँ पर तो "पद जानना चाहिए"—यह नियम लागू नहीं हुआ है—यह उपपादित किया जा चुका है। और (दूसरी बात यह है कि) इस शास्त्र में विहित विकार से युक्त जो (पद होता है) वही विकृत के रूप में गृहीत होता है। इससे "विकार को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)"—इस परिभाषा का यह स्थल नहीं है—इस प्रकार प्रापक के अभाव से ही (वृत्रघ्ने में णत्व) नहीं होता। क्योंकि 'वृत्रघ्ने' इत्यादि में 'हन्'—इस शब्दांश में समाम्नायसिद्ध अथवा मूलशास्त्रसिद्ध पदत्व नहीं है। इस शास्त्र में उसकी उपधा का लोप अथवा घत्व का विधान नहीं किया गया है। मूल-शास्त्र में विहित भी विकारों का यहाँ पर ग्रहण किया जाने पर उन सब (विकारों) के वेद्यत्व के रूप से प्राप्त होने पर उस (मूल-शास्त्र) की अपेक्षा करने वाला यह शास्त्र उस (मूल-शास्त्र) से अधिक बड़ा होकर लाघव के लिए आरम्भ किये जाने के अपने प्रयोजन का अतिक्रमण कर जायेगा। इसलिए "पारी, परि, परी और प्र पूर्व में होने पर नकार णकार को प्राप्त करता है" इत्यादि में एक शब्द का ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए इस शास्त्र (प्रातिशाख्य) में विहित विकार से ही यहाँ विकृत का ग्रहण किया जाता है—इसलिए अब अधिक विस्तार न किया जाये ॥ १६ ॥

---

(१) १।५१ (२) ७।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ अष्टमोऽध्यायः

अथ प्रथमः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः । प्रथम इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

त्रि०—अथेत्ययमधिकारः । प्रथम इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । "अश्च विसर्जनीयः"[1] इतिपर्यन्तोऽयमधिकारः ॥ १ ॥

वै०—इह प्रथमः = प्रथमाख्यो वर्णः कार्यभाक्त्वेन अधिक्रियते । तस्यैवात्र विकारात् अन्यस्य आऽधिकारात् ॥ १ ॥

उत्तमपर उत्तमःसवर्गीयम् ॥ २ ॥

मा०—तत्र प्रथमाः कचटतपाः । उत्तमाः ङञणनमाः । कचटतपानामन्यतमस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य ङञणनमानामन्यतमेन उत्तरत्रावस्थितेन संहितायां क्रियमाणायां प्रथमस्सवर्गीयमुत्तममापद्यते । यथा—"वाङ्म आसन्"[2] । "त्रिष्टुङ्मुखो वै तृतीयः"[3] । "षण्मासो दक्षिणेनैति"[4] । "षण्णवत्यै स्वाहा"[5] । "य+++वमेत्तन्नव+" (?) उत्तमपर इति किम् ? "वाक्त आप्यायताम्"[6] । "षट्पदान्यनु निक्रामति"[7] ॥ २ ॥

त्रि०—उत्तमपरः प्रथम आत्मनः सवर्गीयमुत्तममापद्यते । यथा—"वाङ्म

सू० अ०—अब प्रथम (स्पर्श के विकार को कहते हैं)।

त्रि० अ०—अथ यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे आगे जो कहेंगे उसमें; प्रथम (स्पर्श-वर्ण विकार को प्राप्त करता है)—यह अधिकार जानना चाहिए। "अब विसर्जनीय (के विकार को कहते हैं)"—इस (सूत्र) पर्यन्त यह अधिकार (जानना चाहिए) ॥ १ ॥

वै० अ०—यहाँ; प्रथमः = प्रथम—संज्ञक वर्ण (क, च, ट, त, प) का कार्य को प्राप्त करने वाले (वर्ण) के रूप में अधिकार किया जाता है। अन्य (वर्ण) के अधिकार तक उस (प्रथम वर्ण) के ही विकार का (विधान किया गया है) ॥१॥

सू० अ०—अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श) अपने वर्ग का अन्तिम (स्पर्श) (हो जाता है)।

त्रि० अ०—उत्तमपरः = अन्तिम स्पर्श है बाद में जिसके वह; प्रथम (स्पर्श);

---

(१) ८।५ (२) ५।५।९ (३) ७।२।१५ (४) ६।५।३
(५) ७।२।१५ (६) १।३।९ (७) ६।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आसन्"[१]। "षण्णवत्यै स्वाहा"[२]। "तन्महेन्द्रस्य"[३]। एवम्पर इति किम्? "वाक्क आ प्यायताम्"[४]। प्रथम इति किम्? "इमां नो वाचम्"[५]। उत्तमः परो यस्मादसौ उत्तमपरः ॥ २ ॥

वै०—(उत्तमपरः =) उत्तमे पदादौ परतः; प्रथमः स्व; (सवर्गीयम् =) समानवर्गीयम्; उत्तमं प्रतिपद्यते। "वाङ्म आसन्"[१]। "षण्णवत्यै स्वाहा"[२]। "अवतान्मा नाथितम्"[६]। उत्तरसूत्रस्यायमपवादः। उत्तमपर इति किम्? "हव्यवाड्जुह्वास्यः"[७]। पदसंहितायां किम्? "रुक्ममुप दधाति"[८] ॥ २ ॥

तृतीयꣳ स्वरघोषवत्परः ॥ ३ ॥

मा०—स्वरपरश्च घोषवत्परश्च प्रथमस्तृतीयमापद्यते सवर्गीयमेव। यथा—"स ते मा स्यादिन्द्रस्य त्वा"[९]। "यद्वै हाताध्वर्युम्"[१०]। "वाग्वै देवेभ्यः"[११]। एवंपर इति किम्? "व्यानट् तमग्ने"[१२] ॥ ३ ॥

त्रि०—(स्वरघोषवत्परः =) स्वरपरो वा घोषवत्परोवा; प्रथमः सवर्गीयं तृतीय-

---

सवर्गीयम्=अपने वर्ग का; उत्तमम्=अन्तिम (स्पर्श); हो जाता है।.....क। अन्तिम है बाद में जिससे वह = उत्तमपर ॥ २ ॥

वै० अ०—(उत्तमपरः =) पदादि अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर; प्रथम (—स्पर्श वर्ण) अपने; (सवर्गीयम् =) समान वर्ग के; उत्तमम्=अन्तिम (स्पर्श) को; प्राप्त करता है।.....ख। परवर्ती सूत्र (८।३) का यह (सूत्र) अपवाद है। अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "हव्यवाड्-जुह्वास्यः"। पदों की संहिता में—यह क्यों (कहा)? "रुक्ममुप दधाति"[ग] ॥ २ ॥

सू० अ०—स्वर और घोषवत् बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का) तृतीय (स्पर्श हो जाता है)।

त्रि० अ०—(स्वरघोषवत्परः =) स्वर है बाद में जिसके अथवा घोषवत्

(क) वाक्। मे॥ षण्णवत्या इति षट्—नवत्यै॥ तत्। महेन्द्रस्येति महा—इन्द्रस्य॥ वाक्। ते॥ इमाम्। नः॥ प० पा०

(ख) अवतात्। मा॥ हव्यवाडिति हव्य—वाट्॥ प० पा०

(ग) यहाँ पदों की संहिता का अधिकार चल रहा है। अतः पद के मध्य में स्थित प्रथम स्पर्श (ककार) मकार (अन्तिम स्पर्श) बाद में होने पर भी, अपने वर्ग का अन्तिम स्पर्श (ङकार) नहीं हुआ है।

---

(१) ५।५।६	(२) ७।२।१५	(३) ६।५।५	(४) १।३।६
(५) ६।४।७	(६) १।२।१२	(७) १।४।४६	(८) ५।२।७
(९) १।१।२	(१०) ३।२।९	(११) ६।१।४	(१२) ४।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मापद्यते। यथा—"ऋधगयाडृधगुत"[१]। "यद्वै होता"[२] इत्यादि। स्वराश्च घोषवन्तश्च स्वरघोषवन्तः ते परे यस्मादसौ तथोक्तः ॥ ३ ॥

वै०—(स्वरघोषवत्परः =) स्वरेषु घोषवत्सु च पदादिषु परतः; प्रथमस्तृतीयं प्रपद्यते। "प्रागपागुदगधराक्"[३]। "विराडसि"[४]। "हव्यवाड्जुह्वास्यः"[५]। "तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्"[६]। "तद्धिरण्यमभवत्"[७]। एतत्पर इति किम्? "ऋक्च मे"[८]। पदसंहितायां किम्? "त्रिककुद्वा एष यज्ञः"[९]। "परिपतये त्वा गृह्णामि"[१०] ॥ ३ ॥

ककुच्च मकारपरः ॥ ४ ॥

मा०—ककुदित्येतस्मिन् ग्रहणे मकारपरः प्रथमस्तृतीयमापद्यते सवर्गीयमेव। यथा—"ककुद्मान् प्रतूर्तिः"[११]। ककुद्मानिति प्राप्ते। ककुदिति किम्? "य उन्माचेत्"[१२]। मकारपर इति किम्? "ककुच्छन्दः"[१३] ॥ ४ ॥

(वर्ण) है बाद में जिसके वह; प्रथम (स्पर्श) उसी वर्ग का ; तृतीयम् = तृतीय (स्पर्श) हो जाता है।....इत्यादि[क]। स्वर और घोषवत् (वर्ण) = स्वरघोषवत्; वे (स्वर और घोषवत् वर्ण) हैं बाद में जिससे वह = वैसा (स्वरघोषवत्परः) कहा गया है ॥ ३ ॥

वै० अ०—(स्वरघोषवत्परः =) पदादि स्वर और घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर; प्रथम (स्पर्श); तृतीयम् = (अपने वर्ग का) तृतीय (स्पर्श); हो जाता है। ... .। पद-संहिता में—यह क्यों (कहा)? "त्रिककुद्वा एष यज्ञः"। "परिपतये त्वा गृह्णामि"[ख] ॥ ३ ॥

सू० अ०—मकार बाद में होने पर ककुत् (का तकार) (अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है)।

(क) ऋधक्। अयाट्। ऋधक्। उत्॥ यत्। वै॥ प० पा०
त्रिककुदिति त्रि—ककुत्। वै॥ परिपतय इति परि—पतये। त्वा॥ प० पा०
यहाँ पदों की संहिता का अधिकार चल रहा है। अतः पद के मध्य में स्थित ककार, तकार, पकार इत्यादि प्रथम 'स्पर्श' स्वर और घोषवत् (-वर्ण) बाद में होने पर भी, अपने वर्ग के तृतीय स्पर्श नहीं हुए हैं।

(ख) प्राक्। अपाक्। उदक्। अवराक्॥ विराडिति वि—राट्। असि॥ हव्यवाडिति हव्य—वाट्। जुह्वास्य इति जुह्व—आस्यः॥ तत्। रुद्रस्य। रुद्रत्वमिति रुद्र—त्वम्॥ तत्। हिरण्यम्। अभवत्॥ प० पा०

---

(१) १।४।४४ (२) ३।२।६ (३) १।४।१ (४) १।३।२
(५) १।४।४६ (६) १।५।१ (७) ६।१।७ (८) ४।७।९
(९) ७।२।५ (१०) १।२।१० (११) १।७।७
(१२) ३।४।८ (१३) ४।३।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—ककुदित्यस्मिन् ग्रहणे अन्त्यो वर्णः; मकारपरः, चकाराकृष्टं तृतीयं सवर्गीयमापद्यते। यथा—"ककुद्मान्प्रतूर्तिः"[१]। ककुदिति किम्? "य उन्माद्येत्"[२]। एवम्पर इति किम्? "ककुच्छन्दः"[३]। मकारः परो यस्मादसौ मकारपरः। "उत्तमपर उत्तमꣳसवर्गीयम्"[४] इत्यस्यापवादोऽयम् ॥ ४ ॥

वै०—चशब्देन तृतीयमन्वादिश्यते। ककुदित्यत्र प्रथमः तृतीयमापद्यते; (मकारपरः=) मकारे पदादौ परतः। "ककुद्मान्"[१]। ककुदिति किम्? "उन्माद्येत्"[२]। मकारपर इति किम्? "ककुच्छन्दः"[३]। "उत्तमपर उत्तमम्"[४] इत्यस्यापवादः ॥ ४ ॥

अथ विसर्जनीयः ॥ ५ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। विसर्जनीय इत्येवाधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

त्रि०—अथेत्ययमधिकारः। अथशब्दो विसर्जनीयं लक्ष्यत्वेनाधिकरोति, इत उत्तरं यदुच्यते। "अथ स्वरपरो यकारम्"[५] इत्यवधिभूतोऽयमधिकारः ॥ ५ ॥

वै०—विसर्जनीयः कार्यभाक्त्वेनाधिक्रियते। अन्यस्य आऽभिधानात् ॥ ५ ॥

त्रि० अ०—मकारपरः=मकार बाद में होने पर; 'ककुत्'—इस पद में अन्तिम वर्ण; चकार से आकृष्ट उसी वर्ग का तृतीय (स्पर्श) हो जाता है। .....क। मकार है बाद में जिससे वह=मकारपर। "अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श) अपने वर्ग का अन्तिम (स्पर्श) (हो जाता है)"—इस (सूत्र) का यह (प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है ॥ ४ ॥

वै० अ०—च शब्द से (८।३ से) 'तृतीयम्' का अन्वादेश होता है। ककुत्—इसमें प्रथम स्पर्श (त्) (अपने वर्ग का) तृतीय (स्पर्श) हो जाता है; (मकारपरः=) पदादि मकार बाद में होने पर। .....ख ॥ ४ ॥

सू० अ०—अब विसर्जनीय (के विकार को कहते हैं)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ, अथ शब्द विसर्जनीय को लक्ष्य के रूप में अधिकृत करता है। "अब "(अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)"—इस सीमा तक यह अधिकार है ॥ ५ ॥

वै० अ०—विसर्जनीय कार्य को प्राप्त करने वाले (वर्ण) के रूप में अधिकृत किया जाता है। अन्य (वर्ण) का कथन होने तक[ग] ॥ ५ ॥

(क) ककुद्मानिति ककुत्—मान् ॥ यः। उन्माद्येदित्युत्—माद्येत् ॥ ककुत्। छन्दः ॥ प० पा०

(ख) ककुद्मानिति ककुत्—मान् ॥ प० पा०

(ग) विसर्जनीय का अधिकार ६।१० तक चलता है। ६।११ के एकार, ओकार आदि अन्य स्वरों का विकार प्रारम्भ होता है।

---

(१) १।७।७ (२) ३।४।८ (३) ४।३।१२ (४) ८।२ (५) ९।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेफमेतेषु ॥ ६ ॥

मा०—रेफमेतेषु, स्वरघोषवत्सु परेषु विसर्जनीयो रेफमापद्यते। यथा—"तदग्निराह"[१]। "अग्निर्देवता वातः"[२]। "यो दुर्ब्राह्मणः"[३]। एतेष्विति किम्? "अग्निश्च मे"[४] ॥ ६ ॥

त्रि०—एतेषु=स्वरेषु घोषवत्सु च परतः; विसर्जनीयो रेफमापद्यते। यथा—"तदग्निराह"[१]। "आशीर्म ऊर्जम्"[५]। एतेष्विति बहुवचनान्तस्य सर्वनाम्नो निर्देशात् स्वरघोषवतां परनिमित्तानामुपादानं तेषामेव प्रकृतत्वात्। एतेष्विति किम्? "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे"[४] ॥ ६ ॥

वै०—एतेषु=आसन्नेषु स्वरेषु घोषवत्सु च परतः; विसर्जनीयो रेफं प्रपद्यते। "प्रजावतीरनमीवाः"[६]। "अग्निर्गृहपतिः"[७]। "मयोभूर्वातः"[८]। एतेष्विति किम्? "महि वर्चः क्षत्रियाय"[९] ॥ ६ ॥

न रेफपरः ॥ ७ ॥

मा०—रेफपरो विसर्जनीयः रेफं नापद्यते। यथा—"रुरू रौद्रः"[१०]। रेफपरस्योत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ७ ॥

सू० अ०—ये (स्वर और घोषवत् वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)।

त्रि० अ०—एतेषु = स्वर और घोषवत् वर्ण बाद में होने पर; विसर्जनीय; रेफम् = रेफ को; प्राप्त करता है। जैसे—"तदग्निराह"। "आशीर्म ऊर्जम्"। 'एतेषु'—इस बहुवचनान्त सर्वनाम के निर्देश से स्वर और घोषवत्—इनका परनिमित्तों के रूप में ग्रहण होता है, क्योंकि वे ही प्रकृत हैं। ये (स्वर और घोषवत्) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे"क ॥६॥

वै० अ०—एतेषु = ये बाद में होने पर = समीपवर्ती (८।३ में स्थित) स्वर और घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर; विसर्जनीय; रेफ हो जाता है। .....ख॥ ६ ॥

सू० अ०—रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय रेफ) नहीं (होता है)।

(क) तत्। अग्निः। आह ॥ आशीरित्या—शीः। मे ॥ अग्निः। च। मे। इन्द्रः। च। मे ॥ प० पा०

(ख) प्रजावतीरिति प्रजा—वतीः ॥ अग्निः। गृहपतिरिति गृह—पतिः ॥ मयोभूरिति मयः—भूः। वातः ॥ महि। वर्चः। क्षत्रियाय ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।८ (२) ४।३।७ (३) २।१।१० (४) ४।७।६
(५) ३।२।८ (६) १।१।१ (७) २।४।५
(८) ७।४।१७ (९) १।८।१२ (१०) ५।५।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—रेफपरो विसर्जनीयो रेफं नापद्यते। यथा—"सुवो रोहाव"[१]। अहोरात्रे"[२]। घोषवत्त्वाद्रेफस्य पूर्वविधिप्राप्तिः। रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ ७ ॥

वै०—रेफपरो विसर्जनीयो रेफं न प्रपद्यते। "जाय एहि सुवो रोहाव"[१]। "अश्वा रथेभिः"[३] ॥ ७ ॥

ह्वारभावार्हारबिभरजीगरकरनन्तर्विवः सुवः पुनरहरहः प्रातर्वस्तः शमितः सवितः सनुतस्स्तनुतः स्तोतर्होतः पितर्मातर्यष्टरेष्टर्नेष्टस्त्वष्टः ॥ ८ ॥

मा०—ह्वाः, अभाः, वाः, हाः, अबिभः, अजीगः, अकः, अनन्तः, विवः, सुवः, पुनः, अहरहः, प्रातः, वस्तः, शमितः, सवितः, सनुतः, स्तोतः, होतः, पितः, मातः, यष्टः, एष्टः, नेष्टः, त्वष्टः, इत्येतेषु ग्रहणेषु स्वरपरो वा घोषवत्परो वा विसर्जनीयो रेफमापद्यते। स्वरघोषवत्पर इत्येतत् प्रकृतत्वाल्लभ्यते। यथा—"ह्वँहस्व मा ह्वार्मिन्नस्य त्वा"[४]। "स्वे योनावभारुरवा"[५]। "तस्माद्वार्णाम वो हितम्"[६]। "मा मे ग्रहारस्ति वा इदम्"[७]। "अबिभस्तं तमब्रिभरब्रिभः"[८]। "ओषधीरजीगरजीगरोषधीरोषधीरजीगः, अजीगरित्यजीगः"[९]। "देवन्नाऽकरजक्षीरेण"[१०]। "यज्ञपरुषोऽनन्तरित्यै"[११]। "विवर्विवश्च च विवः, विवरिति विवः"[१२]। "सुवरसि सुवर्मे"[१३]। "पुनरग्न इषायुषा"[१४]। "अहरहर्याचिष्यतीति"[१५]। "अहरहर्मनुष्या अशनमिच्छन्ते"[१६]। अहरहरिति किम्? "पञ्चाहो भवति"[१७]। "प्रातरेतेन कक्षम्"[१८]। "दोषावस्तर्धिया वयम्"[१९]। "श्रुतं हवीऽशमितरिति"[२०]। "देव

त्रि० अ०—रेफपरः=रेफ बाद में होने पर; विसर्जनीय रेफ; न=नहीं; होता है। जैसे—"सुवोरोहाव"। "अहोरात्रे"क। घोषवत् होने के कारण रेफ को पूर्ववर्ती विधि की प्राप्ति होती है। रेफ है बाद में जिससे वह=रेफपर ॥ ७ ॥

वै० अ०—रेफपरः=रेफ बाद में होने पर; विसर्जनीय रेफ; न=नहीं होता है।.....ख ॥ ७ ॥

सू० अ०—ह्वाः, अभाः, वाः, हाः, अबिभः, अजीगः, अकः, अनन्तः, विवः, सुवः, पुनः, अहरहः, प्रातः, वस्तः, शमितः, सवितः, सनुतः, स्तनुतः, स्तोतः, होतः,

---

(क) सुवः। रोहाव। अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे ॥ प० पा०

(ख) अश्वा। रथेभिः ॥ प० पा०

---

(१) १।७।६ (२) १।५।६ (३) ४।६।६ (४) १।१।४
(५) ४।२।५ (६) ५।६।१ (७) २।४।१२ (८) २।५।१
(९) ४।६।७ (१०) ५।१।७ (११) ५।२।५ (१२) ४।२।८
(१३) ५।७।६ (१४) १।५।३ (१५) १।५।९ (१६) २।५।६
(१७) ७।३।८ (१८) ३।३।८ (१९) १।५।६ (२०) ६।३।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवितरेतत्ते प्राह"[१]। "आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु"[२]। "एतं स्तोतरेतेन"[३]। "होतर्यविष्ठ"[४]। "मरुतां पितस्तदहं गृणामि पितरिति पितः मरुतां पितः"[५]। "पृथिवी मातर्मा मा हिंसीः"[६]। "अग्ने यष्टरिदन्नमः"[७]। "अशीयेष्टरेष्टरशोयाशीयेष्टः"[८]। "नेष्टः"[९] इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "शिवस्त्वष्टरिहागहि"[१०] "करावनुदात्ते पदे"[११] इति वक्ष्यति। तेनैवाकरित्यपि सिद्धम्। अनुदात्ते तद्वदिति तद्वदन्यस्वरार्थं वचनम्। "द्रविणोदा वाज्यर्वाकः[१२]। "अकार्वा" (१)। "अन्तरनाद्युदात्ते"[१३] इति वक्ष्यति। तेनैवानन्तरित्यपि सिद्धे आद्युदात्ते तद्वदिति अन्यस्वरार्थं वचनम्। स्वरघोषवत्पर इति किम्? "तां संवत्सरमबिभस्तम्"[१४]। "प्रातस्तनेन जनयति"[१५]। "सीद होतः स्व उ लोके"[१६]। "देवसवितः प्रसुव"[१७]। "नेष्टः पत्नीमुदानय"[१८] ॥ ८ ॥

त्रि०—ह्वाः, अभाः, वाः, हाः, अबिभः, अजीगः, अकः, अनन्तः, विवः, सुवः, पुनः, अहरहः, प्रातः, वस्तः, शमितः, सवितः, सनुतः, स्तनुतः, स्तोतः, होतः, पितः, मातः, यष्टः, एष्टः, नेष्टः, त्वष्टः, एतेषु विसर्जनीयो रेफमापद्यते स्वरघोषवत्परः। यथा—

पितः, मातः, यष्टः, एष्टः, नेष्टः, त्वष्टः (का विसर्जनीय, स्वर और घोषवत् वर्ण बाद में होने पर रेफ हो जाता है)।

त्रि० अ०—ह्वाः···त्वष्टः—इनमें स्थित विसर्जनीय, स्वर और घोषवत् वर्ण बाद में होने पर, रेफ हो जाता है। जैसे—"मा ह्वामित्रस्य"।·····।[क] (अकः) "देवत्राऽकरजक्षीरेण"। "अनुदात्त पद में (विद्यमान होने पर) कः, आवः (का

(क) 'अबिभः' और 'अजीगः'—ये पद तै० सं० में केवल एक-एक बार (क्रमशः २।५।१ और ४।६।७ में) प्रयुक्त हुए हैं और वहाँ इनके विसर्जनीय रेफ नहीं हुए हैं। अतः भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में जटा-पाठ को उद्धृत किया है।

ह्वाः। मित्रस्य ॥ अभाः। उखा ॥ वाः। नाम ॥ हाः। अस्ति ॥ अबिभः। तम् ॥ अजीगः ॥ अकः। अजक्षीरेणेत्यज—क्षीरेण ॥ अर्वा। अकः ॥ अनन्तरित्या इत्यनन्तः—इत्यै ॥ च। विवः ॥ सुवः। असि। सुवः। मे ॥ पुनः। आसद्येत्या-सद्य। सदनम् ॥ अहरहरित्यहः—अहः ॥ प्रातः। उपसद इत्युप—सदः ॥ दोषावस्तरिति दोषा—वस्तः ॥ हवी३ः। शमितः। इति ॥ देवः। सवितः। एतत् ॥ द्वेषः। सनुतः। युयोतु ॥ स्तोतः। एतेन ॥ होतः। यविष्ठ ॥ मातः। मा ॥ यष्टः। इदम् ॥ अशीय। एष्टः ॥ नेष्टः। पत्नीम् ॥ त्वष्टः। इह ॥ अबिभः। तम् ॥ पुनः। ते ॥ प० पा०

---

(१) ३।२।७ (२) १।७।१३ (३) ७।४।२० (४) १।२।१४
(५) ३।३।६ (६) ३।३।२ (७) १।१।१२ (८) १।२।११
(९) ६।५।८ (१०) ३।१।११ (११) ८।८ (१२) ४।१।२
(१३) ८।१० (१४) २।५।१ (१५) १।५।६ (१६) ३।५।११
(१७) १।७।७ (१८) ६।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मा ह्वार्मित्रस्य"[१]। "योनावभारुरवा"[२]। "तस्माद्वार्णाम वो हितम्"[३]। "मां मे प्र हारस्ति वा इदम्"[४]। "अत्रिभस्तन्तमबिभरत्रिभस्तम्"[५]। "ओषधीरजीगरजीगरोषधीरोषधीरजीगः। अजीगरित्यजीगः"[६]। "देवत्राऽकरजक्षीरेण"[७]। "करावरनुदात्ते पदे"[८]। इति वक्ष्यति। तेनैतदपि सिध्यति, "अप्यकारादि"[९] इतिवचनादिति चेत्। मैवम्। अनुदात्ते कंश्शब्दे तद्भवति। इदं त्वन्यस्वरार्थमपि। यथा—"अर्वाकरकरर्वाऽर्वाऽकः"[१०]। आद्युदात्तस्त्वयम्। "यज्ञपरुषोऽनन्तरित्यै"[११]। "अन्तरनाद्युदात्ते"[१२] इति वक्ष्यति। तस्मात्। "अन्कारादि च"[१३] इति वचनात् सिद्धयतीति चेत्। मैवम्। अनाद्युदात्ते तद्भवति। आद्युदात्तस्त्वयमिति ग्रहणम्। 'च विवर्विवश्च च विवः। विवरिति विवः"[१४]। "सुवरसि सुवर्मे"[१५]। "पुनरासद्य सदनम्"[१६]। "अहरहर्

विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे। इससे यह (अकः) भी सिद्ध होता है। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद) समझना चाहिए"—इस विधान से। ऐसी बात नहीं है। अनुदात्त कः शब्द में वह होता है। यह तो अन्य स्वरों के लिए भी है।[क] जैसे—"अर्वाकरकरर्वाऽर्वाऽकः"—यह आद्युदात्त है।[ख] "यज्ञपरुषोऽनन्तारत्यै"। "आद्युदात्त न होने पर अन्तः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे। इससे "अन्कार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से यह भी सिद्ध होता है—यदि ऐसा कहो। ऐसी बात नहीं है। आद्युदात्त न होने पर—ऐसा होता है। यह तो आद्युदात्त है, अतः ग्रहण किया गया है।[ग] "अहरहर्विर्द्धानिनाम्"। "अहाः, अहः और सुवः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—इस (सूत्र) से सावग्रह पद के अन्त (में स्थित विसर्जनीय के रेफ होने) का निषेध किया जाता

(क) पूर्वपक्षी—१।५२ की सामर्थ्य से 'अकः' का विसर्जनीय ८।९ से रेफ हो जाता है। तब प्रस्तुत सूत्र में 'अकः' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—८।९ से अनुदात्त 'अकः' का विसर्जनीय रेफ होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार प्रत्येक 'अकः' पद का विसर्जनीय रेफ हो जाता। यहाँ 'स्वर' का कोई बन्धन नहीं है।

(ख) यह जटा-पाठ है। आद्युदात्त 'अकः' पद का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(ग) यज्ञपरुष इति यज्ञ—परुषः। अनन्तरित्या इत्यनन्तः—इत्यै॥ प० पा०

पूर्वपक्षी—१।५३ के सामर्थ्य से 'अनन्तः'। का विसर्जनीय ८।१० से रेफ हो

---

(१) १।१।४ (२) ४।२।५ (३) ५।६।१ (४) २।४।१२
(५) २।५।१ (६) ४।६।७ (७) ५।१।७ (८) ८।९
(९) १।५२ (१०) ४।१।२ (११) ५।२।५ (१२) ८।१०
(१३) १।५३ (१४) ४।२।८ (१५) ५।७।६ (१६) ४।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हविर्धानिनाम्"[१]। "अहारहर्"[२] इतीङ्यान्तो निपिध्यत इत्येवंरूपस्यायं नियमः। "प्रातरुपसदः"[३]। "दोषावस्तर्धिया वयम्"[४]। "हवी३श्शमितरिति"[५]। देवसवितरेतत्ते"[६]। "द्वेषस्सनुतर्युयोतु"[७]। स्तनुतः इति शाखान्तरे। "एतꣳस्तोतरेतेन"[८]। "होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः"[९]। "मरुतां पितः पितर्मरुतां मरुतां पितः"[१०]। "पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीः"[११]। "अग्ने यष्टरिदं नमः"[१२]। "अशीयेष्टरेष्टरशीयायेष्टः"[१३]। "नेष्टः पत्नीं पत्नीं नेष्टर्नेष्टः पत्नीम्"[१४]। "शिवस्त्वष्टरिहागहि"[१५]। स्वरघोषवत्पर इति किम्? "अविभस्तं

है—इस प्रकार के रूप वाले का यह नियम है।[क]...। 'स्तनुतः' का दूसरी शाखा में (उदाहरण) है।...। "मरुतां पितः पितर्मरुतां मरुतां पितः"।[ख]—। "अशीयेष्टरेष्टरशीयाशीः" "नेष्टः पत्नीं पत्नीं नेष्टर्नेष्टः पत्नीम्"। "शिवस्त्वष्टरिहागहि"। स्वर और घोषवत् (वर्ण) वाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अविभस्तं भूतानि"। "पुनस्तेऽमैषाम्"। "अवर्ण पूर्व में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय को) कहीं लोप की प्राप्ति होती है। "अब (अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर वाद में होने पर यकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय को) कहीं यकार की प्राप्ति होती है। "सम्पूर्ण अः, अकार वाद में होने पर, ओकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय को) कहीं

जाता है। तब प्रस्तुत सूत्र में 'अनन्तः' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—८।१० से केवल अनाद्युदात्त 'अनन्तः' पद का विसर्जनीय रेफ होता है। प्रस्तुत 'अनन्तः' पद आद्युदात्त है। अतः ८।१० से इस 'अनन्तः' पद का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में 'अनन्तः' का ग्रहण किया गया है।

(क) अहरहरित्यहः—अहः। हविर्धानिनामिति हविः—धानिनाम्॥ प० पा०

८।१३ में यह विधान किया गया है कि सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर 'अहः' का विसर्जनीय रेफ होता है। इससे ज्ञात होता है कि सावग्रह पद के अन्त में स्थित 'अहः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र से अवग्रह-सहित पद 'अहः' का विसर्जनीय रेफ होता है।

(ख) 'पितः'—यह पद तै० सं० में केवल एक बार (३।३।९ में) प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है। अतः भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में जटा-पाठ को उद्धृत किया है।

---

(१) २।५।६ (२) ८।१३ (३) ६।२।३ (४) १।५।६
(५) ६।३।१० (६) ३।२।७ (७) १।७।१३ (८) ७।४।२०
(९) १।२।१४ (१०) ३।३।९ (११) ३।३।२ (१२) १।१।१२
(१३) १।२।११ (१४) ६।५।८ (१५) ३।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूतानि"[१] । "पुनस्तेऽमैषाम्"[२] । "अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते"[३] इति क्वचिल्लोपप्राप्तिः । "अथ-स्वरपरो यकारम्"[४] । इति क्वचिद्यत्वप्राप्तिः । ओकारमस्सर्वोकारपरः"[५] इति क्वचिदोत्व-प्राप्तिः । ता एताः प्राप्तीः प्रतिषेद्धुं ह्लारभाराद्यारम्भः ॥ ८ ॥

वै०—एतदादीनि रेफादेशविधायकानि सूत्राणि "ओकारमस्सर्वोऽकारपरः"[६] इत्या-दीनां चतुर्णां सूत्राणामपवादतयाऽऽरभ्यन्ते । ह्लाः अभाः इत्यादीनां विसर्जनीयः स्वरेषु रेफ-व्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतः रेफं प्रपद्यते । अत्र "न रेफपरः"[७] इत्युक्तत्वात् रेफव्यतिरिक्त-घोषवत्सु इति लभ्यते । ह्लाः—"दृꣳहस्व मा ह्लार्वसूनाम्"[८] । अभाः—"योनावभारुरवा"[९] । वाः—"तस्माद्वार्णाम वो हितम्"[१०] । हाः—"मा प्रहारावम्"[११] । "अध्यकारादि"[१२] इति वचनात् "पुनराहार्जातवेदाः"[१३] इत्यप्युदाहरणम् । अब्भिः—"ताꣳसंवत्सरमब्भिः"[१४] । "इतिपरोपि"[१५] इति परमतं वक्ष्यति । तस्मिन् पक्षे इदमुदाहरणम्—"ताम् संवत्सर-मिति सं-वत्सरम् । अब्भिरिति"[१४] । न च परमतानुसारेण कार्यविधिर्नोपपद्यते । "अनुनासिकेऽनुनासिकम्"[१६] इत्यादिषु दर्शनात् । एवं "पितः" इत्यादिष्वपि

ओकार की प्राप्ति होती है। इन सब प्राप्तियों के प्रतिषेध के लिए "ह्लाः, अभाः इत्यादि (प्रस्तुत सूत्र) का आरम्भ किया गया है ॥ ८ ॥

वै० अ०—इस (सूत्र=८।८) से प्रारम्भ होने वाले (तथा) रेफ के आदेश का विधान करने वाले सूत्र "सम्पूर्ण अः, अकार बाद में होने पर, ओकार (हो जाता है)"—इत्यादि चार सूत्रों के अपवाद के रूप में आरम्भ किए जाते हैं। (ह्लारभाः···· त्वष्टः=) ह्लाः, अभाः इत्यादि का; विसर्जनीय, स्वर और रेफव्यतिरिक्त घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर, रेफ हो जाता है। यहाँ "रेफ बाद में होने पर (विसर्ज-नीय रेफ) नहीं (होता है)"—इस (सूत्र) के कथन से रेफव्यतिरिक्त घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर—यह प्राप्त होता है। हाः—"मा प्रहारावम्"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से "पुनराहार्जा-तवेदाः"—यह भी उदाहरण है। अब्भिः—"ताꣳसंवत्सरमाबभः"। "इति बाद में होने पर भी (विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—(सूत्रकार) दूसरों के इस मत को आगे कहेंगे। उस पक्ष में यह उदाहरण है—"ताम्। संवत्सरमिति सं-वत्सरम्। अब्भिरिति"—यह कहना उचित नहीं है कि दूसरे के मत से विधि की उपपत्ति नहीं होती है। "(दो स्वरों की) जिस (संधि) में एक (पूर्ववर्ती या परवर्ती भी अक्षर) अनुनासिक (उदात्त) हो, वहाँ (संधि के परिणामस्वरूप निष्पन्न अक्षर)

---

(१) २।५।१	(२) ४।७।१४	(३) ६।६	(४) ६।१०
(५) ६।७	(६) ६।७	(७) ८।७	
(८) १।१।३	(९) ४।२।५	(१०) ५।६।१	
(११) २।५।२	(१२) १।५२	(१३) ३।२।५	
(१४) २।५।१	(१५) ८।१२	(१६) १०।११	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रष्टव्यम्। तथा च—अब्भिः, पितः इत्यादीनां रेफादेशस्यान्यथोपपन्नत्वान्नास्य शास्त्रस्य जटायां तात्पर्यं शक्यते कल्पयितुम्। अजीगः "अजीगरित्यजीगः"[1]। "ओषधीः। अजीगरिति"[1]। स एष परमतसिद्ध इतिकरणः पदाध्याये क्रमाध्याये च परिग्रहार्थः। अकः—"अधराञ्अकः। अकरित्यकः"[2]। "यज्ञमेवाकर्विष्णो"[3]। ननु "करावरनुदात्ते

अनुनासिक (उदात्त) होता है"—इत्यादि (सूत्र) में यह दिखलाई नहीं पड़ता है। इसी प्रकार 'पितः' इत्यादि में भी जानना चाहिए। और उसी प्रकार 'अब्भिः' पितः, इत्यादि के रेफादेश की अन्य प्रकार से उपपत्ति हो जाने से इस शास्त्र का तात्पर्य जटापाठ में कल्पित नहीं किया जा सकता है।[क] अजीगः—"अजीगरित्य-जीगः"। "ओषधीः। अजीगरिति"। दूसरों के मत से सिद्ध यह इति शब्द पद-पाठ और क्रम-पाठ में परिग्रह के लिए है।[ख] अकः—"अधराञ्अकः। अकरि-त्यकः"। "यज्ञमेवाकर्विष्णो"। पू०—"अनुदात्त पद में (विद्यमान होने पर)

(क) सिद्धान्ती—८।१२ में यह विधान किया गया है कि ८।८ इत्यादि में उल्लिखित पदों के बाद में पद-पाठ में 'इति' शब्द भी लगाया जाता है। जैसे—ताम्। संवत्सरमिति सं—वत्सरम्। अबिभरिति। यहाँ 'इति' बाद में होने पर 'अबिभः' का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

पूर्वपक्षी—८।१२ में जो यह विधान किया गया है कि ८।८ इत्यादि में उल्लिखित पदों के बाद में पद-पाठ में 'इति' शब्द भी लगाया जाता है—वह तैत्तरीय शाखा वालों का मत नहीं है। यह मत दूसरे लोगों का है। अत एव 'अबिभः' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया वह युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—यह उदाहरण युक्त है। यह कहना ठीक नहीं है कि दूसरे लोगों के मत से कोई कार्य-विधि उपपन्न नहीं होती है। १५।६ में यह विधान किया गया है कि अन्य लोगों के अनुसार 'प्रग्रह' से अतिरिक्त 'समानाक्षर' पद के अन्त में होने पर, अनुनासिक होते हैं। अन्य लोगों के अनुसार सिद्ध इस 'अनुनासिक को को उद्दिष्ट करके ११।११ में यह विधान किया गया है कि अननुनासिक (वर्ण) पूर्व में हो और अनुनासिक (वर्ण) बाद में हो तो ये दोनों मिलकर 'अनुनासिक' (वर्ण) हो जाते हैं और इस प्रकार १०।११ का तैत्तिरीय शाखा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं। दूसरों के मत के अनुसार ही १०।११ उपपन्न है। इससे ज्ञात होता है कि दूसरों के मत से सम्बद्ध विधि भी उपपन्न हो जाती है। अत एव ८।१२ को उद्दिष्ट करके प्रस्तुत किया गया 'अबिभः' का उदाहरण युक्त है।

(ख) 'परिग्रह' के विस्तृत विवेचन के लिये देखिए 'ऋग्वेद-प्रतिशाख्य' (एक परिशीलन) पृ० ३६५-३७४।

---

(१) ४।६।७ (२) १।१।१३ (३) ३।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदे"[1] इति वक्ष्यति। ततः "अभ्यकारादि"[2] इति वचनात् एतदपि सिध्यति। सत्यम् क्वचित्सिद्ध्यति। "अकस्स लोकम्"[3] इत्यत्र तु न सिद्ध्यति "अकरिति। सः। लोकम्"[4] अनन्तः—"अनन्तरायाय"[5] अत्राद्युदात्तत्वात् "अन्तरनाद्युदात्ते"[6] इति न भवति। विवः—"असतश्च विवः। विवरिति विवः"[7]। "सुवः सुवरसि सुवर्मे"[8]। पुनः—"पुनरूर्जा"[9]। अहरहः—अहश्शब्दात्परस्मिन्नहश्शब्दे विसर्जनीयो गृह्यते। "योऽहरहराहृत्य"[10]। प्रातः—"वसन्ता प्रातराग्नेयीम्"[11]। वस्तः—"दोषावस्तर्धिया वयम्"[12]। शमितः—"श्रतꣳहवी-३श्शमितरिति"[13]। सवितः—"देव सवितरेतत्"[14]। सनुतः—"सनुतर्युयोतु"[15]। "स्त-नुतः" इति शाखान्तरे। स्तोतः—"एतꣳस्तोतरेतेन"[16]। होतः—"यथा होतर्मनुषः"[17]। पितः—"मरुतां पितस्तदहम्। पितरिति"[18]। मातः—"पृथिवी मातर्मा मा"[19]। यष्टः—"अग्ने यष्टरिदं नमः"[20]। एष्टः—"एष्टा रायः। एष्टरिति"[21]। नेष्ट—"नेष्टः पत्नीम्। नेष्टरिति"[22]। त्वष्टः—"देव त्वष्टर्वसुरण्व"[23]। एवम्पर इति किम्? सुवश्च मूर्धा च"[24] ॥ ८ ॥

करावरनुदात्ते पदे ॥ ९ ॥

मा०—कः, आवः, इत्येते परे अनुदात्ते स्वरघोषवत्परे रेफमापद्येते। "वर्णस्य विकारलोपौ"[25] इति, विसर्जनीयस्यैव विकारो भवति। यथा—"मा देवानां मिथुया कर्भागधेयम्"[26]। "सुरुचो वेन आवः। आवरित्यावः"[27]। अनुदात्त इति किम्? "क

कः, आवः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे। उससे "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस विधान से यह भी सिद्ध हो जाता है। (सि०) सच कहते हो, कहीं सिद्ध होता है। "अकस्स लोकम्"—यहाँ तो सिद्ध नहीं होता है—"अकरिति। सः। लोकम्"। अनन्तः—"अनन्तरायाय"—यहाँ आद्युदात्त होने से "आद्युदात्त न होने पर अन्तः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—यह (सूत्र) लागू नहीं होता है। अह-रहः—'अहः' शब्द से परवर्ती 'अहः' शब्द में स्थित विसर्जनीय का ग्रहण होता है॥ ८॥

सू० अ०—अनुदात्त पद में विद्यमान होने पर कः, आवः का (विसर्जनीय) रेफ हो जाता है।

---

(१) ८।९ (२) १।५२ (३) ४।१।२ (४) ४।१।२
(५) ५।४।१२ (६) ८।१० (७) ४।२।८ (८) ५।७।६
(९) १।५।३ (१०) १।५।९ (११) २।१।२ (१२) १।५।६
(१३) ६।३।१० (१४) ३।२।७ (१५) १।७।१३ (१६) ७।४।२०
(१७) ४।३।१३ (१८) ३।३।९ (१९) ३।३।२ (२०) १।१।१२
(२१) १।२।११ (२२) ६।५।८ (२३) १।३।७ (२४) १।७।९
(२५) १।५६ (२६) १।३।७ (२७) ४।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमामसिञ्चतीति"[१]। "आवो वाजेषु"[२]। पद इति किम्? "सहि गृहीतवसतीवरीको वसतीवरीः"[३]। स्वरघोषवत्पर इति किम्? "आवः क्षेम उत योगे"[४] ॥ ९ ॥

त्रि०—कः, आवः इत्येतयोर्विसर्जनीयः पदकाले अनुदात्ते पदे वर्तमानः स्वरघोषवत्परो रेफमापद्यते। यथा—"मिथुया कर्भागधेयम्"[५]। "सुरुचो वेन आवः। आवरित्यावः"[६]। अनुदात्त इति किम्? "कोऽस्येश्वरः"[७]। "आवो वाजेषु यं जुनाः"[२]। एवम्पर इति किम्? "अधिपामकस्समष्ट्यै"[८] ॥ ९ ॥

वै०—कः, आवः इत्यनुदात्ते पदे वर्तमानो विसर्जनीयः रेफं प्रपद्यते स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतः। "मिथुया कर्भागधेयम्"[५]। "वेन आवः। आवरित्यावः"[६]। अनुदात्त इति किम्? "कोऽस्येश्वरः"[७]। "आवो वाजेषु"[२]। पद इति किम्? पदद्वयस्योत्तरपदे मा भूत्। "आवोऽर्वाची"[९]। "आ वो देवास ईमहे"[१०]। पदग्रहणपरिभाषया सिद्धे पदे इत्येकवचनान्तस्याधिकस्य प्रयोगादेतत्सिद्धं भवति ॥ ९ ॥

त्रि० अ०—कः और आवः—इनका विसर्जनीय रेफ हो जाता है, पद-पाठ में; अनुदात्ते पदे=अनुदात्त पद में विद्यमान होने पर; तथा स्वर और घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर।...क॥ ९ ॥

वै० अ०—कः (अथवा) आवः—इस; अनुदात्ते पदे=अनुदात्त पद में वर्तमान; विसर्जनीय रेफ हो जाता है, स्वर और रेफव्यतिरिक्त घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर। "मिथुया कर्भागधेयम्"। "वेन आवः। आवरित्यावः"। अनुदात्त (पद) में—यह क्यों (कहा)? "कोऽस्येश्वरः"। "आवो वाजेषु"। पद—यह क्यों (कहा)? दो पदों के बाद वाले पद में न हो जाये। "आ वोऽर्वाची"। "आ वो देवास ईमहे"। पदग्रहण परिभाषा से सिद्ध हो जाने पर 'पदे' इसके अधिक प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है[ख]।

(क) कः। भागधेयमिति भाग—धेयम् ॥ सरुच इति सु—रुचः॥ कः। अस्य। ईश्वरः॥ आवः। वाजेषु। यम्। जुनाः॥ अधिपामित्यधि—पाम्। अकः। समष्ट्या इति सम्—अष्ट्यै ॥ प० पा०

(ख) एकवचनान्त 'पदे' शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि 'आवः' का विसर्जनीय तभी रेफ होता है जब वह एक पद हो। इसके विपरीत यदि 'आवः' दो पदों के रूप में विद्यमान हो तो उत्तर-पद 'वः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होगा।

---

(१) ६।२।३ (२) १।३।१३ (३) ६।४।२ (४) ३।४।१०
(५) १।३।७ (६) ४।२।८ (७) २।६।७ (८) ६।१।७
(९) १।४।२२ (१०) १।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तरनाद्युदात्ते ॥ १० ॥

मा०—अन्तरित्येतस्मिन् ग्रहणे अनाद्युदात्ते स्वरघोषवत्परो विसर्जनीयो रेफमापद्यते। यथा—"अन्तरग्ने रुचा"[१]। "अन्तर्यामे मघवन्"[२]। अनाद्युदात्त इति किम्? "एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः"[३]। स्वरघोषवत्पर इति किम्? "अन्तस्ते दधामि"[२] ॥ १० ॥

त्रि०—अन्तरित्यस्मिन् पदे अनाद्युदात्तो विसर्जनीयः स्वरघोषवत्परो रेफमाप्नोति। यथा—"अन्तरग्ने रुचा"[१]। "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती"[४]। "अन्तर्यामे मघवन्"[२]। अनाद्युदात्त इति किम्? "एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः"[३]। एवम्पर इति किम्? "अन्तस्ते दधामि"[२]। अन्तोदात्त इति वक्तव्ये बहुस्वरत्वं बहूपादानार्थम्। अन्यथा त्वन्तोदात्तस्यैव स्यात्। इह तु न स्यात्। "अन्तर्वेदि मिथुनौ"[५]। अन्तर्यामे मघवन्"[२]। आदावुदात्तः यस्य तत् आद्युदात्तं, न आद्युदात्तं अनाद्युदात्तं तस्मिन् ॥ १० ॥

सू० अ०—आद्युदात्त न होने पर अन्तः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है)।

त्रि० अ०—अनाद्युदात्ते=आद्युदात्त न होने पर; अन्तः—इस पद में स्थित विसर्जनीय, स्वर और घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर, रेफ हो जाता है। जैसे—'अन्तरग्ने रुचा" "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती"। "अन्तर्यामे मघवन्"।क आद्युदात्त न होने पर—यह क्यों (कहा)? "एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः"।ख ये (स्वर और घोषवत् वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अन्तस्ते दधामि"।ग 'अन्तोदात्त' कहने के स्थान पर जो (अनाद्युदात्त) कहा गया है वह (अन्तोदात्त की अपेक्षा) अधिक स्वरों वाले बहुत स्थलों के ग्रहण के लिए (कहा गया है)। अन्यथा होने

(क) अन्तः। अग्ने ॥ अन्तः। भरिष्यन्ती इति ॥
अन्तर्याम इत्यन्तः-यामे ॥ प० पा०

उपर्युक्त स्थलों पर 'अन्तः' का विसर्जनीय रेफ हो गया है, क्योंकि (१) 'अन्तः' आद्युदात्त नहीं है और (२) 'अन्तः' के बाद में 'स्वर' और 'घोषवत्' वर्ण हैं।

(ख) एषः। अन्तः। अन्तम् ॥ प० पा०

'अन्तः' का विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है, क्योंकि 'अन्तः' आद्युदात्त है।

(ग) अन्तः। ते। दधामि ॥ प० पा०

यद्यपि 'अन्तः' आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त है, तथापि 'अन्तः' का विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है, क्योंकि 'अन्तः' के बाद में न 'स्वर' है और न घोषवत्-वर्ण, अपितु 'अघोष' वर्ण (तकार) है।

---

(१) ४।१।९ (२) १।४।३ (३) ७।२।७
(४) ४।१।३ (५) ७।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अन्तरित्यनाद्युदात्ते पदे वर्तमानो विसर्जनीयो रेफमापद्यते स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतः। "अन्तरुर्वन्तरिक्षम्"[१]। "अन्तर्वेदि सं यौति"[२]। अनाद्युदात्त इति किम्? "एवान्तो नास्ति यत्"[३] ॥ १० ॥

आवृत्परः ॥ ११ ॥

मा०—आवृदित्येवंपरो विसर्जनीयो रेफमापद्यते। यथा—"जिन्वरावृत् स्वाहा"[४] ॥ ११ ॥

त्रि०—आवृत् इत्येवम्परो विसर्जनीयो रेफमाप्नोति। यथा—"जिन्वरावृथ्स्वाहा"[४]। "उग्ररावृथ्स्वाहा"[४]। "भीमरावृथ्स्वाहा"[४] ॥ ११ ॥

पर 'अन्तोदात्त' ही (अन्तः पद का विसर्जनीय रेफ) होता। यहाँ तो न होता।[क] "अन्तर्वेदि मिथुनौ" "अन्तर्यामे मघवन्"।[ख] आदि में उदात्त है जिसके वह= आद्युदात्त। (जो) आद्युदात्त नहीं है वह= अनाद्युदात्त, उसमें ॥ १० ॥

वै० अ०—अनाद्युदात्ते=अनाद्युदात्त पद में वर्तमान; अन्तः—इसका विसर्जनीय, स्वर और रेफव्यतिरिक्त घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर रेफ हो जाता है। "अन्तरुर्वन्तरिक्षम्"। "अन्तर्वेदि सं यौति"।[ग] आद्युदात्त न होने पर—यह क्यों (कहा)? "एवान्तो नास्ति यत्"[घ]।

सू० अ०—आवृत् बाद में होने पर (विसर्जनीय रेफ हो जाता है)।

त्रि० अ०—आवृत्—यह है; परः=बाद में; जिसके वह विसर्जनीय रेफ हो जाता है। जैसे—"जिन्वरावृथ्स्वाहा"। "उग्ररावृथ्स्वाहा"। "भीमरावृथ्स्वाहा"।[ङ]

(क) प्रस्तुत सूत्र में 'अन्तोदात्ते' इस छोटे पद की अपेक्षा जो 'अनाद्युदात्ते'—इस बड़े पद का ग्रहण किया गया है, उससे बहुत से पदों के विसर्जनीय के रेफत्व की सिद्धि हो जाती है। यदि 'अन्तोदात्ते' पद का ग्रहण किया जाता तो अन्तोदात्त 'अन्तः' पद के विसर्जनीय के ही रेफत्व की सिद्धि होती है। अब तो सर्वानुदात्त 'अन्तः' पद के विसर्जनीय के रेफत्व की भी सिद्धि हो जाती है।

(ख) अन्तर्वेदीत्यन्तः—वेदि ॥ अन्तर्यामे इत्यन्तः—यामे ॥ प० पा०
सर्वानुदात्त 'अन्तः' पदों का विसर्जनीय, घोषवत् वर्ण (वकार तथा यकार) बाद में होने पर, रेफ हो गया है।

(ग) अन्तः। उरु। अन्तरिक्षम् ॥ अन्तर्वेदीत्यन्तः—वेदिः ॥ प० पा०

(घ) एव। अन्तः। न ॥ प० पा०

(ङ) जिन्वः। आवृदित्या—वृत् ॥ उग्रः। आवृदित्या—वृत् ॥ भीमः। आवृदित्या—वृत् ॥ प० पा०

---

(१) १।४।३ (२) २।४।६ (३) ७।३।१ (४) २।४।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(आवृत्परः =) आवृच्छन्दे परतः; विसर्जनीयो रेफमापद्यते। "जिन्वरावृध्स्वाहा"[1] ॥ ११ ॥

इतिपरोऽपि ॥ १२ ॥

मा०—अपीत्यन्वादेशः क्रियते। आवृत्परस्यान्वादेशः क्रियते। आवृत्पर असौ विसर्जनीय इतिपरोऽपि रेफमापद्यते। यथा—"श्रुतः श्रुतरितीति श्रुतः"[1] ॥ १२ ॥

त्रि०—अपिशब्द आवृत्परं विसर्जनीयमन्वादिशति। असौ विसर्जनीयः, इतिपरोऽपि रेफमाप्नोति। "इति श्रुतश्श्रुतरिति श्रुतः"[1]। अन्वादेशः किमर्थः? "हवनश्रुतो हवम्"[2]। इतिः परः यस्मादसौ इतिपरः ॥ १२ ॥

वै० अ०—(आवृत्परः =) आवृत् शब्द बाद से होने पर; विसर्जनीय रेफ हो हो जाता है। "जिन्वरावृध्स्वाहा"।

सू० अ०—'इति' बाद में होने पर भी (विसर्जनीय रेफ हो जाता है)।

त्रि० अ०—'अपि' शब्द आवृत्पर (आवृत् है बाद में जिसके उस) विसर्जनीय का अन्वादेश करता है। वह विसर्जनीय; इतिपरोऽपि = इति बाद में होने पर भी; रेफ हो जाता है। (जैसे—) "इति श्रुतरितीति श्रुतः"।[क] अन्वादेश किस लिए (किया गया है)? "हवनश्रुतो हवम्"।[ख] इति है बाद में जिससे वह इतिपर है ॥१२॥

'आवृत्' बाद में होने पर जिन्वः, उग्रः तथा भीमः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

(क) तै० सं० २।४।७ के इन स्थलों में 'आवृत्' बाद में होने पर, विसर्जनीय रेफ हुआ है—"जिन्वरावृत् स्वाहा"; "उग्ररावृत् स्वाहा"; "भीमरावृत् स्वाहा"; "त्वेषरावृत् स्वाहा"; "पूतिरावृत् स्वाहा"; "श्रुतरावृत् स्वाहा"; "भूतरावृत् स्वाहा"। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि 'आवृत्' बाद में होने पर जिन पदों के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान पूर्ववर्ती सूत्र में किया गया है, यदि उन पदों के बाद में 'इति' आ जाये, तब भी उन पदों का विसर्जनीय रेफ हो जायेगा। उस विधान का केवल एक ही उदाहरण है और वह भी जटा-पाठ में। उदाहरण यह है—इति श्रुतश्श्रुतरितीति श्रुतः"। ८।११ के अनुसार 'आवृत् बाद में होने पर 'श्रुतः' का विसर्जनीय रेफ हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'इति' बाद में होने पर भी 'श्रुतः' का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(ख) 'हवनश्रुतः' यह सावग्रह पद है। अत एव इसका पद-पाठ यह होगा—हवनश्रुत इति हवन-श्रुतः। 'हवनश्रुतः' पद अवसान में विद्यमान है। अत एव इसका जटा-पाठ भी यही होगा—हवनश्रुत इति हवन-श्रुतः। यहाँ पर इति बाद में होने पर भी (हवन-) श्रुतः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है, क्योंकि 'आवृत्'

---

(१) २।४।७ (२) २।४।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तदेवमवर्णपूर्वस्य विसर्जनीयस्योभावलोपयत्वानां अपवादत्वेन "ह्वारभार्"[१] इत्यादिसूत्रैः रेफादेश उक्तः। तस्याव्याप्तिरतिव्याप्तिश्च परिहरिष्यते। अत्रान्तरे रेफि-विसर्जनीयान्तानां "ह्वारभार्"[१] इत्यादिपदानां पदाध्याये परमतसिद्धो विशेष उच्यते—

प्रग्रहाध्यायवद्व्याख्येयम्। योऽयं रेफी कथितः "ह्वारभार्"[१] इत्यादिपदेषु विसर्ज-नीयः स खलु पदाध्याये इतिपरश्च भवति, केवलश्च। तत्र यस्य संहितायां निमित्तसंयोगा-द्रेफत्वमभिव्यज्यते स पदाध्याये केवलः प्रयुज्यते। अन्यत्र त्वितिपरः। यथा—"दृꣳहस्व मा ह्वाः"[२]। "अग्निꣳ स्वे योनावभारुरवा"[३] इति केवलः। "ताम्! संवथ्सरमिति सं-वथ्सरम्। अविभरिति"[४]। "आत्। इत्। प्रसिष्टः। ओषधीः। अजीगरिति"[५]।

वै० अ०—इस प्रकार अवर्णपूर्व (अ या आ है पूर्व में जिसके उस) विसर्जनीय के उभाव, लोप और यत्व के अपवाद के रूप में "ह्वाः, अभाः" इत्यादि सूत्रों से रेफादेश कहा गया है। उसकी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का परिहार किया जायेगा। यहाँ (दोनों के) मध्य में रेफिविसर्जनीय में अन्त होने वाले "ह्वाः, अभाः" इत्यादि पदों का पद-पाठ में दूसरों के मत से सिद्ध विशेष कहा जाता है—

'प्रग्रह' के अध्याय के समान व्याख्या करनी चाहिए। (अर्थात् जिस प्रकार प्रग्रह-विधायक चतुर्थ अध्याय में स्थित 'इतिपरोऽपि' सूत्र की व्याख्या की गई है वैसे ही यहाँ करनी चाहए)। "ह्वाः, अभाः" इत्यादि पदों में जो यह रिफित विसर्जनीय कहा गया है वह पद-पाठ में इतिपर ('इति' है बाद में जिसके ऐसा) भी होता है और केवल (इतिरहित) भी। उनमें से जिसका संहिता-पाठ में निमित्त के संयोग से रेफत्व अभिव्यक्त होता है वह पद-पाठ में इतिरहित (केवल) प्रयुक्त (होता है) अन्यत्र इतिपर (होता है) (अर्थात् जिसका रेफत्व अभिव्यक्त नहीं होता है उसके रेफत्व को व्यक्त करने के लिए पद-पाठ में उसके बाद में 'इति' लगाया जाता है)।[क] जैसे—"दृꣳ हस्व मा ह्वाः"। "अग्निꣳ स्वे योनावभारुरवा" यहाँ इतिरहित (होता-

---

बाद में होने पर (हवन-) श्रुतः का विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है। प्रस्तुत सूत्र में उसी पद के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान किया गया है, जिसका विसर्जनीय ८।११ से 'आवृत्' बाद में होने पर रेफ हुआ हो।

(क) रिफित-संज्ञक पदों के रिफित-विसर्जनीय के रिफित स्वरूप को दिखलाने के लिए ऋग्वेद के पद-पाठ में उसके आगे 'इति' लगाया जाता है। किन्तु 'इति' शब्द केवल वहीं प्रयुक्त होता है, जहाँ संहिता-पाठ में रिफित विसर्जनीय, विसर्जनीय के रूप में रहता है। इसके विपरीत जहाँ संहिता-पाठ में रिफित-संज्ञक पदों के अन्त में रिफित विसर्जनीय न होकर रेफ होता है वहाँ रिफित विसर्जनीय का स्वरूप स्पष्ट होने से पद-पाठ में इति शब्द नहीं लगाया जाता हैं।

---

(१) ८।८ (२) १।१।४ (३) ४।२।५ (४) २।५।१ (५) ४।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमादिरितिपरः। सोऽयं बह्वृचानां पक्षः। अन्ये तु व्याचक्षते—योऽयमावृत्परो विसर्जनीयः सः; (इतिपरोऽपि=) इतिशब्दे परतः; रेफं प्रपद्यते। अस्य "अवृषादिति श्रुतरावृध्स्वाहा"[1] इत्यत्र "इति श्रुतः"[1] इत्यस्य क्रमस्य जटोदाहरणमिति "इति श्रुतश्श्रुतरितीति श्रुतः"[1] इति। तदयुक्तम् परनिमित्तान्तरवति विध्यन्तरे विध्यन्तरोक्तपरनिमित्तसम्बन्धस्य कार्यभाजस्सम्बन्धायोगात्, तथाऽभ्युपगमे "ओकारमस्सर्वोऽकारपरः"[2] "घोषवत्परश्च"[3] इत्यत्रापि अकारपरतया क्वचिद्दृष्टस्यैव अःकारस्यान्यत्र घोषपरत्वे ओभावः स्यात्। "आ वोऽर्वाची"[4] "आ वो देवास ईमहे"[5] इति। इतरस्य तु न स्यात्। "अयज्ञो वा एषः"[6] "रजनो वै कौण्डेयः"[7] इति। किञ्च-एवमनुचिताऽपि क्लृप्तिराश्रीयेत यदि किञ्चिदनन्य-

---

है)।[क] "ताम्। संवथ्सरमिति सं—वथ्सरम्। अविभरिति"। "आत्। इत्। ग्रसिष्ठः। ओषधीः। अजीगरिति" इत्यादि इतिपर है।[ख] यह ऋग्वेद के अध्येताओं का पक्ष है। अन्य लोग तो कहते हैं—जो यह आवृत्पर (आवृत् है बाद में जिसके वह) विसर्जनीय है वह; (इतिपरोऽपि=) इति शब्द बाद में होने पर; रेफ हो जाता है। इसका "अवृषादिति श्रुतरावृध्स्वाहा"[ग]—यहाँ पर 'इति श्रुतः'—इस क्रम (वर्ग) का जटा (-पाठ) उदाहरण है—"इति श्रुतश्रुतरितीति श्रुतः"। यह युक्त नहीं है। दूसरे परवर्ती निमित्त वाली दूसरी विधि में कहे गए परवर्ती निमित्त से सम्बद्ध कार्यभाक् का योग नहीं हो सकता है। वैसा मानने पर "सम्पूर्ण अः, अकार बाद में होने पर, ओकार (हो जाता है)", "घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर भी (अःकार ओकार हो जाता है)" यहाँ पर भी अकारपर के रूप में कहीं पर दिखलाई पड़े हुए ही अःकार के अन्य स्थान पर घोषवत्-पर होने पर ओकार होगा। जैसे—"आ वोऽर्वाची" तथा "आ वो देवास ईमहे"। अन्य का तो नहीं होगा—"अयज्ञो वा एषः", "रजनो वै

(क) दꣳ हस्व। मा। ह्वाः॥ प० पा० (दꣳहस्व मा ह्वार्मित्रस्य। सं० पा०)

संहिता-पाठ में ह्वाः तथा अभाः के रिफित विसर्जनीय का रिफित स्वरूप स्पष्ट है, अतः पद-पाठ में इसके आगे 'इति' शब्द नहीं लगा है।

(ख) ताꣳ संवत्सरमबिभस्तं॥ सं० पा०

आदिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥ सं० पा०

संहिता-पाठ में 'अबिभः' तथा 'अजीगः' के रिफित विसर्जनीय का रिफित स्वरूप स्पष्ट नहीं है, अतः पद-पाठ में 'इति' लगाकर इनके रिफित स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

(ग) अवृषात्। इति। श्रुतः। आवृदित्या—वृत्॥ प० पा०

---

(१) २।४।७ (२) ६।७ (३) ९।८ (४) १।४।२२
(५) १।२।१ (६) १।५।७ (७) २।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रासिद्धं समाम्नानरूपमनया सिद्ध्येत्, न खेतदस्ति। नन्वेवमनभ्युपगमे इतिशब्दपरस्य सर्वस्य विसर्जनीयस्य रेफादेशस्स्यात्। "मा प्र हारावयोर्वै श्रित इति ते अब्रूताम्"[1]। ततो वरं क्वचिज्जटायां रेफापादनम् तस्यास्त्वसमाम्नातत्वात् न हि शक्यते वक्तुमयुक्तोऽत्र रेफादेश इति। हन्तैवमुचितार्थाप्रतिभानमूलमेतद्व्याख्यानमित्युक्तं भवति। प्रसिद्धो हि रेफिणां अव्यक्तरेफाणामितिकरणो बह्वृचानां पदाध्याये तदभावश्च व्यक्तरेफाणाम्।

कौणेयः"।[क] इसके अतिरिक्त इस प्रकार अनुचित भी कल्पना का आश्रय लिया जा सकता है, यदि इस (कल्पना) से अन्य प्रकार से असिद्ध कोई समाम्नान रूप सिद्ध हो जाये। किन्तु ऐसी बात तो नहीं है। (शंका) ऐसा स्वीकार न करने पर 'इति' शब्द बाद में होने पर सभी विसर्जनीय (-वर्णों) का रेफ हो जायेगा। (जैसे) "मा प्र हारावयोर्वै श्रित इति ते अब्रूताम्" में। इसलिए कहीं जटा-पाठ में रेफ का होना ही अधिक अच्छा है। क्योंकि वह (जटा-पाठ) तो असमाम्नात है, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि यहाँ रेफ का आदेश युक्त नहीं है। (समाधान) ओह! उचित अर्थ न समझने के कारण ही यह व्याख्यान किया गया है—यह स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि ऋग्वेदियों के पद-पाठ में यह तथ्य प्रसिद्ध है कि उन रिफित (विसर्जनीयों) के बाद में 'इति' शब्द लगाया जाता है, जिनका रेफत्व अव्यक्त होता है और जिन (विसर्जनीयों) का रेफत्व व्यक्त होता है वहाँ (इति का) अभाव होता

(क) ८।११ में 'आवृत्' निमित्त है और 'श्रुतः' इत्यादि निमित्तिन् (कार्यभाक्) है। ८।१२ में 'इति' निमित्त है और ८।११ के निमित्तिन् (कार्यभाक्) को ही यहाँ निमित्तिन् (कार्यभाक्)—इन अन्य लोगों ने माना है। यह युक्त नहीं है। एक ही कार्य का विधान करने वाली तथा भिन्न-भिन्न परवर्ती निमित्तों वाली दो पास-पास वाली विधियों में यदि यह मान लिया जाये कि पूर्ववर्ती विधि का निमित्तिन् (कार्यभाक्) ही दूसरी विधि का निमित्तिन् (कार्यभाक्) होता है तो इससे यह अधोलिखित अनिष्ट होगा—

९।७ तथा ९।८ में एक ही कार्य (अः के ओभाव) का विधान किया गया हैं। ९।७ तथा ९।८ के परवर्ती निमित्त भिन्न-भिन्न (क्रमशः अकार और घोषवत् वर्ण) हैं। "आ वोऽर्वाची"—९।७ के इस उदाहरण में 'वः' निमित्तिन् (कार्यभाक्) है। "आ वो देवास ईमहे"—९।८ के इस उदाहरण में भी 'वः' निमित्तिन् (कार्यभाक्) है। इस प्रकार यहाँ पर उपर्युक्त नियम से कार्य हो जाता है। किन्तु "अयज्ञो वा एषः" तथा "रजनो वै कौणेयः" में 'अयज्ञः' तथा 'रजनः' के विसर्जनीय कैसे 'ओ' हो गये। 'अयज्ञः' तथा 'रजनः' के विसर्जनीय कहीं भी अकार बाद में होने पर ओकार नहीं हुए हैं। अत एव इन अन्य लोगों की उपर्युक्त व्याख्या युक्त नहीं है।

---

(१) २।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्धश्चास्मिन्छास्त्रे तत्रतत्र परमतोपन्यासः। प्रसिद्धा च यथोक्ता व्याख्या प्रग्रहाध्याये। अतो नेदं सूत्रं रेफादेशस्य विधायकं किन्त्वितिकरणस्येति न जटारूपं दूषयितव्यम् ॥ १२ ॥

अहारहः सुवरनिङ्क्ष्यान्तः ॥ १३ ॥

मा०—"पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः"[१]। "अहर्देवानामासीत्"[२]। "सुवरसि सुवर्मे"[३]। अनिङ्क्ष्यान्ता इति किम्? "षडहा भवन्ति"[४]। "पृष्ठ्यष्षडहो भवति"[५]। "ये देवा देवसुव स्थः"[६]। स्वरघोषवत्पर इति किम्? "एवमुत्तममहः स्यात्"[७]। "सुवश्च मूर्धा च"[८] ॥ १३ ॥

त्रि०—अहाः, अहः, सुवः एतेषु पदेषु विसर्जनीयोऽनिङ्क्ष्यान्तः स्वरघोषवत्परो रेफमापद्यते। यथा—"अहार्जातवेदाः"[१]। "अहर्देवानामासीत्"[२]। "सुवर्देवाꣳअगन्म"[९]। अनिङ्क्ष्यान्त इति किम्? "अभिपूर्वं व्यहा भवन्ति"[१०]। "प्रत्यङ्क्ष्षडहो भवति"[४]।

है। इस शास्त्र में दूसरों के मतों को स्थल-स्थल पर उपन्यस्त किया गया है—यह भी प्रसिद्ध है। जैसी व्याख्या हमने की है वह 'प्रग्रह' के अध्याय में प्रसिद्ध है। इसलिए यह सूत्र रेफ के आदेश का विधायक नहीं है, किन्तु 'इति' शब्द का (विधायक) है— इसलिए जटा-रूप को दूषित नहीं करना चाहिए ॥१२॥

सू० अ०—अहाः, अहः, और सुवः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है) सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर।

त्रि० अ०—अहाः, अहः तथा सुवः—इन पदों में स्थित विसर्जनीय, अनिङ्क्ष्यान्तः=सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर; स्वर और घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर, रेफ हो जाता है। जैसे—"अहार्जातवेदाः"। "अहर्देवानामासीत्"। "सुवर्देवाꣳअगन्म"क। सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर—यह क्यों (कहा)? "अभिपूर्वं व्यहा भवन्ति"। "प्रत्यङ्क्ष्षडहो भवति"ख।

(क) अहाः। जातवेदा इति जात—वेदाः ॥ अहः। देवानाम् ॥ सुवः। देवान् ॥ प० पा०

'अहाः' 'अहः' तथा 'सुवः' के विसर्जनीय, 'घोषवत्' वर्ण (क्रमशः जकार, दकार और दकार) बाद में होने पर, रेफ हो गये हैं।

(ख) व्यहा इति त्रि—अहाः। भवन्ति ॥ षडह इति षट्—अहः। भवति ॥ प० पा०

घोषवत् (वर्ण) भकार बाद में होने पर भी अहाः और अहः के विसर्जनीय रेफ नहीं हुए हैं, क्योंकि ये विसर्जनीय सावग्रह-पदों के अन्त में विद्यमान हैं।

---

(१) ३।२।५ (२) १।५।९ (३) ५।७।६ (४) ७।४।२
(५) ७।२।६ (६) १।८।१० (७) ७।२।२ (८) १।७।९
(९) १।७।९ (१०) ७।३।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देवसुव इति देव–सुवः"[१]। एवम्पर इति किम्? "एवमुत्तममहस्स्यात्"[२]। "सुवश्च मूर्द्धा च"[३]। "ह्रारभार्"[४] आदिसूत्रे हारित्यनेनैव ग्रहणेन अहाःशब्दस्य "अप्यकारादि"[५] इतिवचनाद्रेफसिद्धौ सत्यामत्र पुनर्वचनमिङ्ग्यान्तस्य अहाःशब्दस्य प्रतिषेधार्थम्। नन्वत्रैव हारिति वक्तव्यं, "अप्यकारादि"[५] इतिवचनेन कार्यसिद्धेः न तु तत्र गौरवदोषापत्तेरिति चेत्। मैवम्। अनिङ्ग्यान्त इत्युक्तेरनिङ्ग्यान्तत्वमपि सम्भावनीयम्। तच्च

"देवसुव इति देव—सुवः"क। ये (स्वर और घोषवत्-वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "एवमुत्तममहस्स्यात्"ख। "सुवश्च मूर्द्धा च"ख। (शंका) "ह्राः अभाः···" इत्यादि सूत्र में 'हाः'—इस पद के ग्रहण करने से 'अहाः' शब्द का भी "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) से रेफ सिद्ध होने पर यहाँ (अहाः शब्द का) पुनः कथन सावग्रह पद के अन्त में स्थित 'अहः' शब्द के प्रतिषेध के लिए है।ग (शंका) यहाँ पर 'हाः' कहना चाहिए, क्योंकि "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी (पद जानना चाहिए)"—इस विधान से कार्य-सिद्धि हो जायेगी। वहाँ पर (हाः का ग्रहण) नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे गौरव रूप दोष की प्राप्ति होती है। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। 'सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर'—यह कहने पर सावग्रह

(क) 'सुवः' का युक्त प्रत्युदाहरण संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं होता है, अतः यहाँ 'देवसुवः' पद का पद-पाठ प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'स्वर' (इ) बाद में होने पर भी 'हुवः' का विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है, क्योंकि यह विसर्जनीय सावग्रह-पद 'देवसुवः के अन्त में स्थित है।

(ख) एवम्। उत्तममित्युत्—तमम्। अहः। स्यात्॥ सुवः। च। मूर्धा च॥ प० पा०

अवग्रह-रहित भी पदों—अहः और सुवः—के विसर्जनीय रेफ नहीं हुए हैं, क्योंकि बाद में न तो 'स्वर' हैं और न घोषवत् वर्ण।

(ग) पूर्वपक्षी—८।८ में 'हाः' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान किया गया है। १।५२ के सामर्थ्य से 'अहाः' के विसर्जनीय का रेफ होना भी ८।८ से सिद्ध हो जाता है। यह वस्तुस्थिति होने पर प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में 'अहाः' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—यह कहना ठीक है कि 'अहाः' का विसर्जनीय ८।८ से ही रेफ हो जायेगा। प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में 'अहाः' का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि सावग्रह पद के अन्त में स्थित होने पर 'अहाः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है।

---

(१) १।८।१० (२) ७।२।२ (३) १।७।९ (४) ८।८
(५) १।५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हारित्येवंरूपे ग्रहणे नास्तीत्यत्रेदं विशेषणमनर्थकं स्यात्। तथा सत्येवंरूपे मा भूत् किं त्वकारादित्वे भवतीति जघन्यः पक्षः न तु सरल इति सूत्रेऽहारिति ग्रहणं सुतरामुपयुज्यते ॥१३॥

पद के अन्त में स्थित (अहाः इत्यादि) की भी सम्भावना होती है। और वह 'हाः' इस पद में नहीं है। अतः यहाँ (हाः शब्द के विषय में) यह विशेषण (=अनिङ्न्यान्तः) अनर्थक हो जायेगा। वैसा होने पर इस रूप (हाः) में न हो जाये, अकार से प्रारम्भ होने वाले (अहाः) में होता है—यह तो जघन्य पक्ष है, सरल नहीं। अत एव सूत्र में 'अहाः' पद का ग्रहण नितान्त उपयुक्त है[क] ॥ १३ ॥

(क) पूर्वपक्षी—भाष्यकार (सिद्धान्ती) के वक्तव्य से यह ज्ञात होता है कि ८।८ में जो 'हाः' पद का ग्रहण किया गया है, उससे 'हाः' तथा 'अहाः' के विसर्जनीय के रेफ होने की सिद्धि होती है। प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में जो 'अहाः' पद का ग्रहण किया गया है, उससे सावग्रह पद के अन्त में स्थित 'अहाः' के विसर्जनीय के रेफ होने का निषेध हो जाता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि तब भी हो जाती यदि प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में 'अहाः' का ग्रहण न करके 'हाः' का ग्रहण किया जाये और ८।८ में 'हाः' का ग्रहण किया ही न जाये। केवल प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में 'हाः' का ग्रहण करने पर—(१) 'हाः' का विसर्जनीय रेफ हो जायेगा; (२) १।५२ की सामर्थ्य से 'अहाः' का विसर्जनीय भी रेफ हो जायेगा; (३) सावग्रह पद के उत्तर खण्ड के रूप में विद्यमान 'हाः' और 'अहाः' के विसर्जनीय रेफ नहीं होंगे।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। यदि प्रस्तुत सूत्र से यह विधान किया जाता है कि सावग्रह पद के अन्त में न होने पर 'हाः' का विसर्जनीय रेफ होता है तो इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि 'हाः' सावग्रह पद का उत्तर-पद भी होगा। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि ऐसा कोई स्थल तैत्तिरीय संहिता में नहीं है, जहाँ 'हाः' सावग्रह पद का उत्तर पद हो। जब 'हाः' सावग्रह पद का उत्तर-पद कहीं है ही नहीं तब यह कहना अनर्थक ही है "सावग्रह पद का उत्तर-पद न होने पर"।

पूर्वपक्षी—यद्यपि 'हाः' सावग्रह पद का उत्तर-पद कहीं भी नहीं है, तथापि 'हाः' में 'अ' जोड़ने पर जो 'अहाः' बनता है, वह सावग्रह पद के उत्तर पद के रूप में उपलब्ध होता है। इस प्रकार "सावग्रह पद का उत्तर-पद न होने पर"—यह विशेषण 'अहाः' के विषय में सार्थक हो जायेगा। इसका यह फल होगा कि जहाँ 'अहाः' सावग्रह पद का उत्तर-पद होता है वहाँ 'अहाः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होगा।

सिद्धान्ती—इस प्रकार तोड़ मरोड़कर "सावग्रह पद का उत्तर-पद न होने पर"—इस विशेषण की सार्थकता सिद्ध करना युक्त नहीं है। यह पक्ष कठिन है, सरल नहीं। अत एव सूत्रकार ने ८।८ में जो 'हाः' का ग्रहण और प्रस्तुत सूत्र (८।१३) में 'अहाः' का ग्रहण किया है वह सर्वथा युक्त है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—ननु "ह्वारभार्"[1] इत्यादिसूत्रमयुक्तं अव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्याम्। तथाहि—अहश्शब्दपूर्वकस्याहश्शब्दस्य रेफादेश उक्तः। सोऽतत्पूर्वके न स्यात् "रात्रिया अध्यहरभि"[2] "अहर्माꣳसेन"[3]। किञ्च—हास्सुवश्शब्दावविशेषेण गृहीतौ। तेन "षडहा भवन्ति"[4]। "ये देवा देवसुवस्स्थ"[5] इत्यत्रापि स्यात्। तत्परिहारायेदं सूत्रमारभ्यते—

अहाः, अहः, सुवः इत्येतेषु विसर्जनीयः; (अनिङ्ग्यान्तः =) इङ्ग्यान्तेतरः; स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतो रेफं प्रपद्यते। अनिङ्ग्यस्यान्त इति विग्रहस्त्वयुक्तः, सुवश्शब्दे तदसम्भवात्। एतेनेङ्ग्यान्तव्यतिरिक्तस्य अहश्शब्दस्य रेफादेशविधानादव्याप्तिः

वै० अ०—(शंका) "ह्वाः, अभाः....." इत्यादि सूत्र युक्त नहीं है अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति से। जैसे—'अहः' शब्द पूर्व में होने पर 'अहः' शब्द का रेफादेश कहा गया है। वह (रेफादेश) वह (अहः) पूर्व में न होने पर नहीं होगा—(जैसे) "रात्रिया अध्यहरभि"क, "अहर्माꣳसेन"क में। इसके अतिरिक्त हाः, सुवः ये दो शब्द बिना किसी विशेष के ग्रहण किए गए हैं। इससे "षडहा भवन्ति", "ये देवा देवसुवस्स्थ"ख—यहाँ भी (रेफादेश) हो जायेगा। उसके परिहार के लिए यह सूत्र आरम्भ किया जाता है—

अहाः, अहः, सुवः—इन (पदों) में स्थित विसर्जनीय; (अनिङ्ग्यान्तः =) सावग्रह पद के अन्तिम वर्ण से अन्य होने पर; 'स्वर' और रेफ-व्यतिरिक्त घोषवत्-वर्ण बाद में हाने पर, रेफ हो जाता है। 'अवग्रह-रहित (अनिङ्ग्य) का अन्त'—यह विग्रह युक्त नहीं है, क्योंकि यह (विग्रह) 'सुवः' शब्द में सम्भव नहीं है।ग

(क) रात्रियाः। अधीति। अहः। अभीति॥ अहः। माꣳसेन॥ प० पा०

८।८ से यहाँ 'अहः' के विसर्जनीय रेफ नहीं होनी चाहिए, जबकि वस्तुतः 'अहः' के विसर्जनीय रेफ हो जाते हैं। इस प्रकार ८।८ में जो लक्षण प्रस्तुत किया गया है, वह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

(ख) षडहा इति षट्—अहाः। भवन्ति॥ ये। देवाः। देवसुव इति देव—सुवः। स्थ॥ प० पा०

८।८ के अनुसार 'अहाः' औअ 'सुवः' के विसर्जनीय को रेफ हो जाना चाहिए, जबकि वस्तुतः इन पदों के विसर्जनीय रेफ नहीं होते हैं। इस प्रकार ८।८ में जो लक्षण प्रस्तुत किया गया है वह अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र (८।३३) में प्रयुक्त अनिङ्ग्यान्तः पद का यह विग्रह किया जा सकता है—अनिङ्ग्यान्तः = अनिङ्ग्यस्य अन्तः = अवग्रहरहित पद का अन्तिम (वर्ण)। भाष्यकार का कथन है कि यह विग्रह युक्त नहीं है। इस व्याख्या के अनुसार अवग्रहरहित 'अहाः', 'अहः' और 'सुवः' के विसर्जनीय रेफ होंगे। उस अवस्था

---

(१) ८।८ (२) १।५।६ (३) ५।७।२० (४) ७।४।६
(५) १।८।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिहृता। "अध्यहरभि"[१]। "अहर्माꣳसेन"[२]। तथा—हास्सुवश्शब्दयोरपि "ह्वारभार्"[३] इत्यादिसूत्रे अनिङ्ग्यान्तयोरेव ग्रहणमिति तत्रोक्तेः—"षडहा भवन्ति"[४] "ये देवा देव-सुवस्थ"[५] इत्यादौ नातिव्याप्तिः। नन्वेवं सति "ह्वारभार्"[३] इत्यादिसूत्रे सुवर्ग्रहण-मनर्थकम्। तदभावेऽपि कार्योपपत्तेः। नैतदस्ति। इह रेफिविसर्जनीयान्तानां "ह्वार-भार्"[३] इत्यादीनां पदानामितिकरणो विधिरिष्टः स तेषां पुरस्ताद्विधातुं न शक्यते। "न रेफपरः"[६] इति प्रतिषेधस्यानन्वयापत्तेः। यद्युच्येत व्याख्यानतस्तदन्वयः प्रतिपत्स्यत इति। एवमपि "ह्वारभार्"[३] इत्यादिविधिषु "रेफमेतेषु"[७] न रेफपरः"[६] इत्यनयोः अनुवृत्तिर्न स्यात्। इतिकरणविधिर्व्यवधानात्। तस्मात्तेषां पदानां रेफविधेः परत एवेतिकरणो

इससे इङ्ग्यान्त से व्यतिरिक्त 'अहः' शब्द के रेफादेश के विधान से अव्याप्ति का परिहार हो गया। (जैसे) "अध्यहरभि"। "अहर्माꣳसेन"। उसी प्रकार 'ह्वाः', सुवः शब्दों का भी "ह्वाः, अभाः···" इत्यादि सूत्र में अनिङ्ग्यान्त का ही ग्रहण (होता) है—इसलिए वहाँ किए गए विधान (उक्ति) की "षडहा भवन्ति", "ये देवा देवसुवस्थ" इत्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। (शंका) ऐसा होने पर "ह्वाः, अभाः···" इत्यादि सूत्र में 'सुवः' का ग्रहण अनर्थक है, क्योंकि उसका अभाव होने पर भी कार्य की उपपत्ति हो जाती है। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। यहाँ रिफित विसर्जनीय में अन्त होने वाले "ह्वाः, अभाः···" इत्यादि पदों के इतिकरण का विधान अभीष्ट है और उसका उनसे पहले विधान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि "रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय रेफ) नहीं (होता है)"—इस प्रतिषेध का अनन्वय हो जायेगा। यदि कहा जाये कि व्याख्यान से वह अन्वय ज्ञात हो जायेगा, इस प्रकार भी "ह्वाः, अभाः" इत्यादि विधियों में "स्वर और घोषवत् व्यञ्जन बाद में होने पर विसर्जनीय रेफ हो जाता है" इन दो (सूत्रों) की अनुवृत्ति

में 'सुवर्भानुः' [सुवः—भानुः(२।१।२)] इस सावग्रह पद में विद्यमान 'सुवः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होगा, जबकि 'सुवः' का विसर्जनीय वास्तव में रेफ हो जाता है। अतः अनिङ्ग्यान्तः = इङ्ग्यान्तव्यतिरिक्तः। इस व्याख्या के अनुसार 'अहाः', 'अहः' और 'सुवः' का वह प्रत्येक विसर्जनीय रेफ हो जायेगा, जो सावग्रह पद का अन्तिम वर्ण (=विसर्जनीय) नहीं है। अब सुवर्भानुः (सुवः—भानुः) के 'सुवः' का विसर्जनीय रेफ हो जायेगा, क्योंकि यह सावग्रह पद का अन्तिम वर्ण नहीं, अपितु सावग्रह पद के प्रथम खण्ड का अन्तिम वर्ण है।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार सभी स्थल सिद्ध हो जाते हैं और प्रस्तुत सूत्र से ८।८ की अतिव्याप्ति और अव्याप्ति का सुधार हो जाता है।

---

(१) १।५।६ (२) ५।७।२० (३) ८।८ (४) ७।४।६
(५) १।८।२० (६) ८।७ (७) ८।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधातव्यः। तत्र यदि ह्वारित्यादिसूत्रे सुवर्ग्रहणं न क्रियते। तदा "अहारहः"[1] इत्यादि-सूत्रमेवास्य सुवश्शब्दस्य रेफादेशविधायकं स्यात्। ततः परं स्वितिकरणे विधीयमाने "न

नहीं होगी क्योंकि इतिकरण की विधि व्यवधान बन जायेगी। इसलिए उन पदों के रेफ करने की विधि के बाद में ही इतिकरण का विधान करना चाहिए[क]। यदि "ह्वाः" इत्यादि सूत्र में 'सुवः' का ग्रहण नहीं किया जाता है, तब "अहाः, अहः" इत्यादि सूत्र ही 'सुवः' शब्द के रेफादेश का विधान करने वाला होगा। उसके बाद

(क) पूर्वपक्षी—८।८ में 'सुवः' का जो ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है। प्रस्तुत सूत्र से ही सावग्रह पद के अन्तिम वर्ण से अन्य 'सुवः' के विसर्जनीय का रेफ हो जायेगा तथा सावग्रह पद के अन्त में विद्यमान 'सुवः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होगा।

सिद्धान्ती—८।८ में 'सुवः' का ग्रहण उद्देश्य-विशेष से किया गया है। वस्तु-स्थिति यह है—८।८ से लेकर ८।११ तक रिफित विसर्जनीय में अन्त होने वाले पदों को उल्लिखित कर दिया गया है। ८।१२ में यह विधान किया गया है कि उल्लिखित रिफित पदों के बाद में पद-पाठ में 'इति' भी जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार ८।१२ का सम्बन्ध रिफित विसर्जनीय में अन्त होने वाले सभी पदों के साथ हो जाता है। यदि 'सुवः' का ८।८ में ग्रहण न करके केवल ८।१३ में ग्रहण किया जाये तो ८।१२ का सम्बन्ध 'सुवः' पद के साथ नहीं होगा।

पूर्वपक्षी—'इति' के विधायक सूत्र ८।१२ को ८।८ के अव्यवहित पूर्व में रखना चाहिए। इससे 'इति' के विधायक सूत्र का सम्बन्ध ८।८-१३-इन सभी सूत्रों में उल्लिखित पदों के साथ हो जायेगा। इससे ८।१३ में उल्लिखित 'सुवः' के साथ भी उक्त सूत्र का सम्बन्ध हो जायेगा।

सिद्धान्ती—ऐसा मानने पर 'इति' विधायक-सूत्र ८।७ (उस अवस्था में) ८।६ और ८।८ के मध्य में व्यवधान उत्पन्न कर देगा। इससे ८।७ (उस अवस्था में ८।६) का अन्वय ८।८ इत्यादि के साथ नहीं होगा, जबकि ८।७ (उस अवस्था में ८।६) का अन्वय ८।८ इत्यादि के साथ अभीष्ट हैं। ८।८-१२ में उल्लिखित किसी भी पद का विसर्जनीय, रेफ बाद में होने पर, रेफ नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—व्याख्यान के द्वारा यह ज्ञात हो जायेगा कि ८।७ (उस अवस्था में ८।६) का सम्बन्ध ८।८-१२ के साथ है।

सिद्धान्ती—वर्तमान अवस्था में 'रेफमेतेषु' (८।६) और 'न रेफपरः' (८।७) की अनुवृत्ति ८।८-१२ में होती है। उपर्युक्त सुझाव के अनुसार ८।१२ को ८।८ के अव्यवहित पूर्व में रख देने ये दोनों अनुवृत्ति ८।८-१२ में नही होगी।

इससे यह ज्ञात होता है कि उल्लिखित सभी पदों के रेफत्व का विधान

---

(१) ८।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिर्भ्यां परः"[1] इत्यत्र पुनरहमर्हणं कर्तव्यमिति तुल्यं शब्दगौरवम्। एवमपि "न भिर्भ्यां परः"[1] इत्यादिना रेफादेशः प्रतिषिध्यते नेतिकरण इत्येतच्च दुर्विज्ञानमिति प्रतिपत्तिगौरवमधिकं स्यात्। यथान्यासे तु "आवृत्परः"[2] इत्यन्ते ग्रन्थे सर्वेषां रेफिणां पदानां गृहीतत्वात्तदनन्तरं युक्तमितिकरणविधानम्। न चोक्तदोषाः प्रादुष्युरिति सर्वमनवद्यम् ॥१३॥

में इतिकरण का विधान किया जाने पर "('अहः' का विसर्जनीय) भिः और भ्याम् बाद में होने पर (रेफ) नहीं (होता है)"—यहाँ (इस सूत्र में) पुनः' अहः' का ग्रहण करना होगा जिससे शब्द-गौरव तुल्य होगा। "(अहः का विसर्जनीय) भिः और भ्याम् बाद में होने पर (रेफ) नहीं (होता है)" इत्यादि के द्वारा रेफादेश का निषेध किया गया है, इतिकरण का नहीं—यह जानना कठिन हो जायेगा जिससे अवबोध-गौरव अधिक होगा। जिस प्रकार वर्तमान में (सूत्रों की स्थिति) है वैसा होने पर तो " 'आवृत्' बाद में होने पर (विसर्जनीय रेफ हो जाता है)" यहाँ तक के ग्रन्थ (सूत्रों) में रिफित-विसर्जनीयान्त सभी पदों का ग्रहण हो जाने से तदनन्तर इतिकरण का विधान युक्त है। इससे उपर्युक्त दोष उत्पन्न नहीं होंगे और सब ठीक रहेगा।[क]

करके ८।१२ में जो 'इति' का विधान किया गया है वह युक्त है और ८।८ में जो 'सुवः' का ग्रहण किया गया है वह सोद्देश्य है।

(क) पूर्वपक्षी—८।८ में 'सुवः' का ग्रहण आवश्यक नहीं है। इति-विधायक सूत्र का अन्य पदों तथा 'सुवः' के साथ सम्बन्ध तब भी स्थापित हो सकता हैं, यदि ८।१२ को ८।१३ के बाद में रख दिया जाये।

सिद्धान्ती—यह युक्त नहीं होगा, क्योंकि (१) वर्तमान अवस्था में ८।१३ से ८।१४ में 'अहः' शब्द की अनुवृत्ति हो रही है। उपर्युक्त सुझाव के अनुसार ८।१३ और ८।१४ के मध्य में ८।१२ आ जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि ८।१३ से ८।१४ में 'अहः' शब्द की अनुवृत्ति नहीं होगी। तब ८।१४ (उस अवस्था में ८।१५) में 'अहः' पद का ग्रहण करना होगा। ८।८ में से 'सुवः' शब्द तो निकल जायेगा। किन्तु ८।१४ (उस अवस्था में ८।१५) में 'अहः' शब्द का ग्रहण करना होगा। शब्दगौरव तुल्य हो जायेगा—

(२) उस अवस्था में यह समझना कठिन हो जायेगा कि ८।१५ में जो निषेध किया जा रहा है उसका सम्बन्ध रेफादेश के साथ है अथवा इतिकरण के साथ। यह प्रतिपत्ति-गौरव (समझने में गौरव) अनिरिक्त होगा। वर्तमान अवस्था में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। ८।८-११ में रिफित-विसर्जनीय में अन्त होने वाले सभी पदों को उल्लिखित कर दिया गया है और ८।१२ में उनके विषय में 'इति' का विधान कर दिया गया है।

---

(१) ८।१४ (२) ८।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नं भिर्भ्याम्परः ॥ १४ ॥

मा०—अहारहस्सुवरित्येतेषु अनिङ्नयान्तेष्वपि विसर्जनीयः भिर्भ्यामित्येवंपरो न खलु रेफमापद्यते। यथा—"उत्तरैरहोभिश्चरन्ति"[१]। "शमहोभ्याम्"[२] इति निनयति। भिर्भ्यां पर इति किम्? "अहर्भाजो वा एता देवाः"[३]। "सुवर्भानुरासुरस्सूर्यम्"[४] ॥ १४ ॥

त्रि०—सान्निध्येन लब्धः पूर्वसूत्रोक्तो विसर्जनीयो भिः भ्याम् इत्येवम्परः न रेफमाप्नोति। अर्थात् अहरित्यत्र विसर्जनीयः परिगृह्यते। इतरत्र स्थितस्य एवम्परत्वाभावात्। यथा—"उत्तरैरहोभिः"[१]। "शमहोभ्याम्"[२] इति ॥ १४ ॥

वै०—अहश्शब्दोऽनुवर्तते। नान्यः। कुतः? सम्भवासम्भवाभ्याम्। अहश्शब्दे विसर्जनीयो रेफं न प्रपद्यते; (भिर्भ्याम्परः =) भिः;भ्याम् इत्यनयोः परतः। "उत्तरैरहोभिः"[१]। "शमहोभ्याम्"[२] ॥१४॥

सू० अ०—(अहः का विसर्जनीय) भिः और भ्याम् बाद में होने पर (रेफ) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—सान्निध्य से प्राप्त पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया विसर्जनीय भिः और और भ्याम्—ये; परः=बाद में होने पर; रेफ नहीं होता है। अर्थात् यहाँ 'अहः' का विसर्जनीय ग्रहण किया जाता है। क्योंकि अन्यत्र स्थित (विसर्जनीय) के बाद में ये नहीं मिलते हैं।[क] जैसे—"उत्तरैरहोभिः"। "शमहोभ्याम्"[ख] ॥१४॥

वै० अ०—अहः शब्द की यहाँ (पूर्ववर्ती सूत्र से) अनुवृत्ति हो रही है। अन्य की नहीं। क्यों? उपलब्धि और अनुपलब्धि के आधार पर।[ग] अहः शब्द में स्थित विसर्जनीय रेफ; न = नहीं; होता है; (भिर्भ्याम्परः =) भिः और भ्याम् बाद में होने पर। "उत्तरैरहोभिः"। "शमहोभ्याम्" ॥ १४ ॥

(क) 'अन्वादेश अन्त्य का होता है (१।५८)'—प्रातिशाख्य के इस सामान्य नियम का उल्लंघन करके प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र (८।१३) में उक्त 'अहः' के विसर्जनीय का ही ग्रहण होता है, क्योंकि 'अहः' के बाद में भिः और भ्याम् उपलब्ध होते हैं। अहाः तथा सुवः के विसर्जनीय का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अहाः तथा सुवः के बाद में भिः तथा भ्याम् उपलब्ध नहीं होते हैं।

(ख) उत्तरै॒रित्युत्-तरै॒ः। अहो॑भिरित्यहः—भिः ॥ शम्। अहोभ्यामित्यहः—भ्याम् ॥ प० पा०

भिः तथा भ्याम् बाद में होने पर 'अहः' का विसर्जनीय रेफ न होकर ओ हो गया है।

(ग) त्रि० में टि० (क) को देखिए।

---

(१) ७।५।१ (२) १।३।९ (३) ७।४।५ (४) २।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अꣳहश्च सर्वेषाम् ॥१५॥

मा०—अंह इत्येतस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयो रेफं नापद्यते। "अहारंहस्सुव"[1] इति प्राप्तिः। अंह इत्येतस्मिन् पदे केचिदनुस्वारं प्रगृण्हन्ति केचिन्नावाक्षिम्। सर्वेषां तेषामेष प्रतिषेधो भवति। "अँह इन्द्रमेवाँहोमुचम्"[2]। "अंहोमुचे विवेष यन्मा"[3]। यत्वमोत्वं चास्य भविष्यति। चशब्दः प्रतिषेधमन्वादिशति। "ह्वारभावा"[4] दीनां च यथायोगमोत्व-यत्वलोपः नवमेऽध्याये वक्ष्यते। तेषामियमपवादरूपेण रेफापत्तिरुक्ता ॥१५॥

त्रि०—चकारो निषेधाकर्षकः। अꣳह इत्यस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयो न रेफमाप्नोति। "अहारहः[1] इति प्राप्तिः। अत्र ग्रहणे केचिदनुस्वारमिच्छन्ति केचिन्नेच्छन्ति। सर्वेषां तेषामेष निषेधो भवति। अनुस्वारमिच्छद्भिरपि प्राप्तिरेवं प्रतिपाद्यते—

विधेर्मध्यस्थनासिक्यो न विरोधो भवेत् स्मृतः।
तस्मात् कुर्वन्ति कार्याणि वर्णानां धर्म एव तु॥

इति। यथा—"अꣳह इन्द्रमेवाꣳहोमुचम्"[2]। "अꣳहोमुचे प्र भरेम"[5] ॥१५॥

वै०—अꣳह इति सानुस्वारे अहꣳशब्दे विसर्जनीयो रेफं न प्रतिपद्यते—सर्वेषामाचार्याणां मतात्। "नैनमꣳहो अश्नोत्यन्तितो न"[6]। ननु—"अहारहस्सुवः"[1] इति निरनुस्वारे विहितस्य रेफादेशस्य सानुस्वारे कुतः प्रसङ्गः? "तत्र पूर्वंपूर्वं प्रथमम्"[7] इति

सू० अ०—सभी (आचार्यों) के अनुसार अꣳहः का (विसर्जनीय रेफ नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार निषेध का आकर्षक है। अꣳहः—इस पद में स्थित विसर्जनीय रेफ को नहीं प्राप्त करता है। "अहाः, अहः"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय को रेफ की) प्राप्ति थी। इस (अꣳहः) पद में कुछ लोग अनुस्वार को इष्ट मानते हैं और कुछ लोग नहीं। (किन्तु) यह निषेध (विसर्जनीय का रेफ न होना) उन सभी के अनुसार होता है। अनुस्वार को इष्ट मानने वालों के अनुसार भी इस प्रकार (निषेध) की प्राप्ति होती है।

"पद के मध्य में विद्यमान नासिक्य विधि का विरोध नहीं करता है—यह माना गया है। इसलिए (यह अनुस्वार) धर्म होने पर भी वर्णों का कार्य करता है"। जैसे—"अꣳह इन्द्रमेवाꣳहोमुचम्"। "अꣳहोमुचे प्र भरेम"[क] ॥ १५ ॥

वै० अ०—सर्वेषाम्=सभी आचार्यों के मत से; 'अꣳहः'—इस अनुस्वार सहित 'अहः' शब्द में स्थित विसर्जनीय रेफ नहीं होता है। "नैनमꣳहो अश्नो-

---

(क) अꣳहः। इन्द्रम्। एव। अꣳहोमुचमित्यꣳहः—मुचम्॥ अꣳहोमुच इत्यꣳहः—मुचे॥ प० पा०

---

(१) ८।१३ (२) २।२।७ (३) २।५।१२ (४) ८।७ (५) १।६।१२ (६) ३।४।११ (७) ५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमेन रेफादेशवेलायामनुस्वारागमाभावात्। अत एव "यवनहस्वरपरेषु"[1] इति लोपविधेः "अꣳहसोऽꣳहतिः"[2] इत्यपवादं वक्ष्यति। तेन "स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्"[3] इत्यस्मिन् विषयेऽपि अनुस्वारात्परस्य संयोगादेर्द्वित्वं सिद्धं भवति। नन्वनुस्वारागमोऽपि "आदिरꣳ

त्यन्तितो न"।[क] (शंका) "अहाः, अहः और सुवः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है) सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर"—इसमें अनुस्वार-रहित पद में विहित रेफादेश का अनुस्वार-सहित (पद) में कैसे प्रसङ्ग उपस्थित होता है? (समाधान) "वहाँ (संहिता निर्माण में) पहले वाले (पद और सूत्र) को पहले अपनाना चाहिए"—इस नियम से रेफादेश के समय अनुस्वार रूप आगम का अभाव होता है। इसलिए "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है), यदि इनके बाद में स्वर हो"—इस लोपविधि के "(धातारातिः इत्यादि अनुवाकों के मध्य में स्थित) अꣳहसः, अꣳहतिः"—इस अपवाद को (सूत्रकार) आगे कहेंगे।[ख] इससे "स्वर पूर्व में होने पर तथा व्यञ्जन बाद में होने पर व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त होता है"। इस स्थल में भी अनुस्वार से परवर्ती

(क) न। एनम्। अꣳहः। अश्नोति। अन्तितः। न॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो जाने के कारण 'अꣳहः' का विसर्जनीय ८।३३ से रेफ नहीं हुआ है।

(ख) पूर्वपक्षी—८।३३ में 'अहः' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान किया गया है, 'अꣳहः' के विसर्जनीय का नहीं। तब अप्राप्त रेफत्व का प्रस्तुत सूत्र में निषेध क्यों किया जा रहा है?

सिद्धान्ती—रेफ का विधान ८।३३ में किया गया है और अनुस्वार का विधान १६।२८ में किया गया है। ५।३ के अनुसार ८।३३ के लागू होने के समय 'अहः' में अनुस्वार नहीं होता है। अतः ८।३३ से रेफत्व प्राप्त है। इस प्रकार प्राप्त रेफत्व का ही निषेध प्रस्तुत सूत्र में किया गया है, अप्राप्त रेफत्व का नहीं।

१२।४ में यह विधान किया गया है कि एकार अथवा ओकार के बाद में स्थित अकार का लोप हो जाता है, यदि उस अकार के बाद में स्वरपर (स्वर है बाद में जिसके ऐसा) यकार, वकार, नकार अथवा हकार हो। १२।४ के अपवाद के रूप में ११।४ में कहा गया है कि 'अꣳहसः', 'अꣳहतिः' इत्यादि पदों के अकार लुप्त नहीं होते हैं। ५।३ की सामर्थ्य से यह ज्ञात होता है कि ११।४ से 'अꣳहसः', 'अꣳहतिः' इत्यादि पदों में 'अनुस्वार' नहीं है। अनुस्वार का आगम तो १६।२८ से होता है। प्रस्तुत सूत्र में ८।३३ से प्राप्त रेफत्व का ही निषेध किया जा रहा है—इस तथ्य की पुष्टि के लिए ही भाष्य में १२।४ और ११।४ को उद्धृत किया गया हैं।

---

(१) १२।४ (२) ११।४ (३) १४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हतिरःहोऽःहोः"[1] इति विशेषेणविधानात् सर्वत्र भवन्त्सर्वत्रैव रेफादेशं निवर्तयेत्। तन्न। अनुस्वारविधेः विषयविशेषे तद्विधायकत्वात्। यथा चैवं तथाऽनुस्वारविधौ दर्शयिष्यामः ॥१५॥

अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते ॥१६॥

मा०—अवर्णादन्यस्वरपूर्वो रेफपरो विसर्जनीयः। स च लोपमापद्यते। अनवर्णपूर्वो रेफपरो लोपविषयः। तस्य पूर्वस्वरो ह्रस्वश्चेत्, स च दीर्घमापद्यते। अनवर्णपूर्वो विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते। यथा—"रेवती रमध्वम्"[2]। "यवागू राजन्यस्य"[3]। अनवर्णपूर्व इति किम्? "यो रुद्रो अग्नौ यः"[4]। रेफपर इति किम्? "रेवतीर्नः सधमादः"[5] तुशब्दारम्भादवर्णपूर्वोऽपि "ह्वारभारा"[6] दीनां लुप्यते दीर्घं च पूर्वं आपद्यते। यथा—"क्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति"[7]। "सुवो रोहाव हि"[8] इत्यत्र कथं लोपदीर्घौ भवतः? द्विरुक्तत्वात्? ह्वारभारादिसूत्रे च अहारहस्सुवरिति च। विसर्जनीयस्तु उत्तरत्रानुवर्तत एव[क] ॥१६॥

त्रि०—(अनवर्णपूर्वः=) अवर्णादन्यस्वरपूर्वः; विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते। यथा—"रेवती रमध्वम्"[2]। एवम्पूर्व इति किम्? "यो रुद्रो अग्नौ"[4]। एवम्पर इति किम्?

संयोग के आदि का द्वित्व सिद्ध होता है।[ख] (शंका) अनुस्वार का आगम भी "अःहतिः, अःहः, अःहो·····इनमें आदि (स्वर को अनुस्वार का आगम होता-है)"—इस विशेष विधान से सर्वत्र होने से सर्वत्र ही रेफादेश की निवृत्ति करेगा। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। अनुस्वार-विधि से भिन्न स्थलों में उस (रेफादेश) का विधान है। जिस प्रकार यहाँ वैसा ही अनुस्वार-विधि में दिखलायेंगे[ग] ॥१६॥

सू० अ०—किन्तु अवर्ण से अन्य स्वर पूर्व में होने पर और रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है।

त्रि० अ०—(अनवर्णपूर्वः=) अवर्ण से अन्य स्वर पूर्व में होने पर; रेफपरः= रेफ बाद में होने पर; विसर्जनीय; लुप्यते=लुप्त हो जाता है। जैसे—"रेवती रमध्वम्"।[घ] ये (अवर्ण से अन्य स्वर) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यो रुद्रो अग्नौ"।[ङ] यह (रेफ) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "रेवतीर्नः

(क) प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में ही ८।१७ का भाष्य भी दिया गया है।

(ख) १४।१ पर वै० को देखिए।

(ग) १६।२९ पर वै० को देखिए।

(घ) रेवतीः। रमध्वम्॥

(ङ) यः। रुद्रः। अग्नौ॥

---

(१) १६।२९ (२) १।३।७ (३) ६।२।५ (४) ५।५।९
(५) १।७।१३ (६) ८।७ (७) ४।१।१० (८) १।७।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रेवतीर्नस्सधमादः"[१] तुशब्दारम्भादवर्णपूर्वोऽपि "ह्वारभाः"[२] आदीनां विसर्गो लुप्यते, पूर्वस्वरश्च दीर्घमापद्यते। यथा—"रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"[३]। तर्हि "सुवो रोहाव"[४] इत्यत्र दीर्घलोपौ किं न स्यातां द्विरुक्तत्वादिति ब्रूमः। तत् कथम्? "ह्वारभाः"[२] आदिसूत्रे "अहारहस्सुवः"[५] इत्यत्र च। ननु "अहोरात्रे"[६] इत्यत्र कथमोत्वम्? अन्यार्थेन

सधमादः"।[क] तु शब्द के ग्रहण से अवर्ण पूर्व में होने पर भी ह्वाः, अभाः आदि का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है, तथा पूर्ववर्ती स्वर 'दीर्घ' हो जाता है। जैसे—"रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"।[ख] तब "सुवो रोहाव" यहाँ पर दीर्घ और लोप क्यों नहीं होता है। दो बार कथन होने से—यह कहते हैं। वह कैसे? "ह्वाः, अभाः....." आदि सूत्र में और "अहाः, अहः और सुवः (का विसर्जनीय रेफ हो जाता है) सावग्रह पद के अन्त में स्थित न होने पर"—यहाँ (इस सूत्र में) भी।[ग] (शंका) "अहोरात्रे"—

(क) रेवतीः। नः। सधमाद इति सध—मादः॥ प० पा०

(ख) प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया हैं कि अ, आ से अतिरिक्त 'स्वर' पूर्व में हो तथा रेफ बाद में हो तो विसर्जनीय का लोप हो जाता है और तब ८।१७ से लुप्त विसर्जनीय से पूर्ववर्ती 'स्वर', 'ह्रस्व' होने पर, दीर्घ हो जाता है। यह नियम सभी प्रकार के विसर्जनीय के विषय में है। भाष्यकार का कहना है कि सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द इस तथ्य का निर्देश करता है—रिफित विसर्जनीय में अन्त होने वाले ह्वाः, अभाः इत्यादि पदों का विसर्जनीय, रेफ बाद में रहते, तब भी लुप्त हो जाता है, जब इसके पूर्व में 'अ' अथवा 'आ' हो। विसर्जनीय के लोप के पश्चात् पूर्ववर्ती 'ह्रस्व' स्वर दीर्घ भी हो जाता है। उदाहरण—"रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"—यह जटा-पाठ है। यहाँ ८।१० में उल्लिखित 'अन्तः' पद के रेफ का लोप हो गया है तथा अन्तिम 'अ' का 'आ' हो गया है।

(ग) पूर्वपक्षी—८।८ में उल्लिखित 'सुवः' पद भी रिफित विसर्जनीय में अन्त होता है। 'सुवो रोहाव' (सुवः। रोहाव)—यहाँ रेफ बाद में होने पर तथा अकार पूर्व में होने पर 'सुवः' के विसर्जनीय का लोप तथा 'अ' का 'आ' क्यों नहीं हुआ है?

सिद्धान्ती—'सुवः'—इस पद का ग्रहण दो सूत्रों (८।८ तथा ८।१३) में किया गया है। दो बार कथन से ही 'सुवः' पद का वैशिष्ट्य ज्ञात होता है। यद्यपि इस पद का अन्त रिफित विसर्जनीय में होता है तथापि अरिफित विसर्जनीय में अन्त होने वाले पदों के समान इसका विसर्जनीय, रेफ बाद में तथा अ,

---

(१) १।७।१३ (२) ८।८ (३) ४।१।१० (४) १।७।९
(५) ८।१३ (६) १।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणसामर्थ्येनेति ब्रूमः। तत्कथम्? "अहोरात्रे धृतव्रते"[1] इति एवंरूपसाम्यात् "अहोरात्राभ्याम्"[2] "अहोरात्रयोः"[3] इत्यादि विज्ञेयम्। एवञ्चेत् "अधिषवणे"[4] इति ग्रहणसामर्थ्येनैव षत्वे सिद्धे "न धिपूर्वे"[5] इति षत्वनिषेधे निषेधो न विधेयः। सत्यम्। सवशब्दस्य "अधिषवणे"[4] इति ग्रहणसामर्थ्येन षत्वं सिध्यतु। स्थानशब्दस्य कथं सिद्धयेत्? ग्रहणादिसामर्थ्याभावात्। तस्मात्तदर्थं वा तत् सूत्रं सार्थकमिति सन्तोष्टव्यम्। तदर्थं वेति गुडजिह्विकान्यायः। तथा हि ग्रहणसामर्थ्यादिति गमनिकामात्रं, कण्ठोक्तिस्तु विशेषः।

यहाँ ओत्व कैसे (हुआ है)? (समाधान) अन्य उद्देश्य से उद्धृत पद के सामर्थ्य से—यह कहते हैं। वह कैसे? "अहोरात्रे धृतव्रते" इस प्रकार के रूप के साम्य से 'अहोरात्राभ्याम्' तथा 'अहोरात्रयोः' को भी जानना चाहिए।[क] यदि ऐसी बात है तो "अधिषवणे" इस उद्धरण के सामर्थ्य से ही षत्व सिद्ध होने पर "धि पूर्व में होने पर (६।१० में उक्त निषेध) नहीं (होता है)"—इससे षत्व का निषेध हो जाने पर (उसके) निषेध का विधान नहीं करना चाहिए। यह सच है। 'सव' शब्द का षत्व "अधिषवणे···"—इस उद्धरण के सामर्थ्य से सिद्ध होवे। स्थान शब्द (के षत्व) की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि (उसके विषय में) उद्धरण इत्यादि सामर्थ्य का अभाव है। इस लिए उस (स्थान शब्द के षत्व) के लिए ही यह सूत्र सार्थक है—इससे संतोष कर लेना चाहिए। उसके लिए ही—यह गुड-जिह्विका-न्याय है। क्योंकि 'उद्धरण के सामर्थ्य से'—यह व्याख्या-मात्र है, कण्ठोक्ति ता अधिक अच्छी है। इसलिए "धि पूर्व में होने पर (६।१० में उक्त निषेध) नहीं (होता है)"—यह सूत्र 'सव' शब्द के

आ पूर्व में होने पर, लुप्त नहीं होता है, तथा इसका 'अ' 'आ' में परिणत नहीं होता है।

(क) पूर्वपक्षी—पृ० ४९१ पर टि० (ख) में निर्दिष्ट मत के अनुसार ८।१३ में उल्लिखित 'अहः' पद के विसर्जनीय का भी, रेफ वाद से होने पर, लोप हो जाना चाहिए और 'अ' का 'आ' होना चाहिए। इससे अहः रात्रे की संहिता 'अहारात्रे' होनी चाहिए। इसके विपरीत यहाँ 'अः' का 'ओ' होकर 'अहोरात्रे' (अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे ॥ प० पा०) यह संहिता क्यों बनी?

सिद्धान्ती—यद्यपि 'अहोरात्रे' की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने किसी सूत्र का निर्माण नहीं किया है, तथापि ग्रग्रह के विधान के प्रसङ्ग में सूत्रकार ने ४।११ में 'अहोरात्रे' का प्रयोग किया है। इससे ही 'अहोरात्रे' की सिद्धि हो जाती है। 'अहोरात्रे' से समानता के कारण 'अहोरात्राभ्याम्' और अहोरात्रयोः' इत्यादि भी सिद्ध हो जाते हैं।

---

(१) ४।११ (२) २।४।१० (३) ५।७।१८
(४) ४।११ (५) ६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततः सवशब्दार्थमपि "न धिपूर्वे"[1] इति सूत्रमिति भावः। अवर्णादन्यः अनवर्णः, असौ पूर्वो यस्मात् सः तथोक्तः। रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥१६॥

वै०—(अनवर्णपूर्वः =) अवर्णादन्यस्वरोऽनवर्णः। तत्पूर्वकः; विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते। "यवयारातौ रक्षोहणः"[2]। "यवागू राजन्यस्य"[3]। "एतद्वै प्रजापते रूपम्"[4]। एतत्पूर्वं इति किम्? "सोमो राजा वरुणः"[5]। रेफपर इति किम्? "प्रजावतीरन-

---

लिए भी है—यह भाव है।[क] अवर्ण से अन्य=अनवर्ण, वह (अवर्ण से अन्य) पूर्व में है जिससे वह वैसा कहा गया (=अनवर्ण) है। रेफ है बाद में जिससे वह=रेफपर ॥१६॥

वै० अ०—(अनवर्णपूर्वः=) अवर्ण से अन्य स्वर=अनवर्ण। वह (अवर्ण से-अन्य स्वर) पूर्व में होने पर; विसर्जनीय; रेफपरः=रेफ बाद में होने पर; लुप्यते= लुप्त हो जाता है। "यवयारातौ रक्षोहणः"। "यवागू राजन्यस्य"। "एतद्वै प्रजापते रूपम्"।[ख] यह (अवर्ण से अन्य स्वर) पूर्व में होने पर-यह क्यों (कहा)? "सोमो

(क) पूर्वपक्षी—यदि प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत होने से कोई रूप सिद्ध हो जाता है तो 'अधिषवणे' का षत्व भी सिद्ध है क्योंकि 'अहोरात्रे' के साथ ही 'अधिषवणे' पद भी ४।११ में उद्धृत है। तब ६।११ में 'अधिषवणे' के षत्व के निषेध का निषेध (अर्थात् षत्व का विधान) क्यों किया गया है। इस प्रकार ६।११ अनर्थक हो जाता है।

सिद्धान्ती—६।११ में यह विधान किया गया है कि 'धि' शब्द पूर्व में होने पर 'सव और स्थानम्' में षत्व का निषेध नहीं होता है। इससे 'अधिषवणे' और 'अधिष्ठान' इत्यादि पदों में षत्व होता है। यदि यह मान भी लिया जाये कि ४।११ में उद्धृत होने से ही 'अधिषवणे' में षत्व सिद्ध हो जाता है, तब भी ६।११ सार्थक है, क्योंकि 'अधिष्ठान' में षत्व की सिद्धि इस सूत्र के अतिरिक्त किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है ६।११ केवल स्थान (अधिष्ठान) में षत्व की सिद्धि के लिए है—यह भी क्षण भर तक टिकने वाला मत है। जिस प्रकार गुड़ खाने के बाद जिह्वा थोड़ी देर के लिए मिठास का अनुभव करती है और तदनन्तर वह मिठास का अनुभव समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार उपर्युक्त मत भी क्षण भर तक रहने वाला है। वास्तव मे उद्धरण मात्र से किसी रूप की सिद्धि होना और पृथक् स्पष्ट विधान के द्वारा सिद्धि होना—ये दोनों समान नहीं हैं। पृथक् स्पष्ट विधान अधिक अच्छा है। इस प्रकार ६।११ में जो विधान किया गया है वह 'सव' ('अधिषवणे') और 'स्थान' (अधिष्ठानम्)—इन दोनों के लिए है।

(ख) यवय। अरातोः। रक्षोहण इति रक्षः—हनः॥ यवागूः। राजन्यस्य॥

---

(१) ६।११ (२) १।३।२ (३) ६।२।५ (४) ५।७।१
(५) १।८।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीवाः"[१]। मूलशास्त्रे त्ववर्णपूर्वस्यापि कस्यचित् "रोरि"[२] इति लोपस्स्मर्यते। स खलु "सुवो रोहाव"[३]। इत्याद्यस्मत्समाम्नायविरुद्धत्वान्निवर्त्यः। स चात्र तुशब्देन निवर्त्यते। तेन "सुवो रोक्ष्यामि"[४]। इत्यादिरूपसिद्धिः। कथं तर्हि? "द्यावा क्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति"[५] इत्यत्र "रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"[६] इति लोपस्सिध्यति? उक्तमेतत्—जटायां छान्दसरूपाणि न भवन्ति इति। ततो व्याकरणविहितमेव सन्धिकार्यं भवति। तस्मादत्र तुशब्दस्य व्यावर्त्यमेव साध्यमिति तुशब्दारम्भादवर्णपूर्वोऽपि "ह्वारभार्"[७] आदीनां विसर्गो लुप्यते इति विपरीतार्थव्याख्यानं गर्हणीयम्॥ १६॥

राजा वरुणः"।[क] रेफ बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "प्रजावतीरनमीवाः"।[ख] व्याकरण (मूल-शास्त्र) में तो अवर्ण (अ, आ) पूर्व में होने पर भी किसी (विसर्जनीय) का "रेफ बाद में होने पर रेफ का लोप हो जाता है"—इस सूत्र से लोप कहा जाता है। "सुवो रोहाव" इत्यादि हमारे वेद के विरुद्ध होने से उसकी यहाँ निवृत्ति करनी चाहिए। और उसकी यहाँ 'तु' शब्द से निवृत्ति होती है। उससे "सुवो रोक्ष्यामि" इत्यादि रूप की सिद्धि होती है।[ग] तब "द्यावा क्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति"—यहाँ पर "रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"—इस लोप की सिद्धि कैसे होती है? यह कहा गया है—जटा (-पाठ) में छान्दस रूप नहीं होते हैं। वहाँ व्याकरण से विहित ही सन्धिकार्य होता है। इससे यहाँ 'तु' शब्द का कार्य व्यावृत्ति करना ही है। 'तु' शब्द के ग्रहण से अवर्ण-पूर्व "ह्वाः, अभाः....." आदि (पदों) का भी विसर्जनीय लुप्त हो जाता है—यह विपरीत अर्थ का व्याख्यान निन्दनीय है।[घ] ॥१६॥

(क) सोमः। राजा॥ वरुणः॥ प०प०

(ख) प्रजावतीरिति प्रजा—वतीः॥ अनमीवाः॥ प० पा०

(ग) पा० ८।३।१४ में विधान किया गया है कि रेफ परे रहते रेफ का लोप होता है। इसका उदाहरण यह है—पुनः + रमते = पुनर् + रमते = पुना रमते। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अ पूर्व में होने पर भी विसर्जनीय का, रेफ परे रहते, लोप हो जाता है। तै० सं० में ऐसा नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—तब 'रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः'—इस जटा-पाठ में 'अन्तः' के विसर्जनीय का लोप कैसे हुआ?

सिद्धान्ती—जटा-पाठ में व्याकरण के नियम लगते हैं, प्रातिशाख्य में विहित नियम नहीं। पा० ८।३।१४ से 'अन्तः' के विसर्जनीय का लोप हुआ है।

(घ) सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द अवर्णपूर्व विसर्जनीय के लोप की व्यावृत्ति करता है। इसका उद्देश्य वह नहीं है जो त्रिभाष्यरत्नकार ने माना है।

---

(१) १।१।१ (२) पा० ८।३।१४ (३) १।७।६
(४) १।७।६ (५) ४।१।१० (६) ४।१।१० (७) ८।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीर्घं च पूर्वः ॥ १७ ॥

त्रि०—तस्माद्रेफपरविसर्जनीयाल्लुप्तात् पूर्वोऽपि यः स्वरो ह्रस्वः स च दीर्घमापद्यते। यथा—"रुरूरौद्रः"[१]। "तित्तिरी रोहित्"[२]। "विष्णू रूपम्"[३]। यदा तस्य विसर्जनीयस्य लोपः तदैव दीर्घत्वं यथा स्यादित्येवमर्थः चशब्दः ॥ १७ ॥

वै०—लोपी यो विसर्जनीय उक्तः तस्मात्पूर्वस्वरो यद्यदीर्घस्तत्रोभयं भवति—विसर्जनीयो लुप्यते तस्मात्पूर्वो ह्रस्वश्च दीर्घं प्रपद्यत इति। "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"[४]। "स शिवतानस्तन्यतू रोचनस्थाः"[५] ॥ १७ ॥

एष्टश्च ॥१८॥

मा०—एष्टरित्येतस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयो रेफपरोऽवर्णपूर्वोऽपि लुप्यते, दीर्घं च पूर्वः ॥ १७ ॥

त्रि०—एष्टरित्यस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयो रेफपरोऽवर्णपूर्वोऽपि लुप्यते, पूर्वस्वरश्च दीर्घः। यथा—"एष्टा रायः"[६]। चशब्दो लोपदीर्घयोराकर्षकः। नन्वेतदनुपपन्नम्।

सू० अ०—और पूर्ववर्ती (स्वर) दीर्घ (हो जाता है)।

त्रि० अ०—उस लुप्त रेफपर (रेफ है बाद में जिसके ऐसे) विसर्जनीय से; पूर्वः=पूर्व वाला; भी जो स्वर ह्रस्व (होता है) वह; च दीर्घम्= भी दीर्घ; हो जाता है जैसे—रुरू रौद्रः"। "तित्तिरी रोहित्"। "विष्णू रूपम्"।[क] जब उस विसर्जनीय का लोप हो (केवल) तभी दीर्घत्व हो। यह सूचित करने के लिए (सूत्र में) च शब्द (प्रयुक्त हुआ है)।

वै० अ०—लुप्त हो जाने वाले जिस-जिस विसर्जनीय का (८।१६ में) कथन किया गया है उससे पूर्व वाला स्वर यदि दीर्घ न हो तो वहाँ दोनों (कार्य) होते हैं—विसर्जनीय का लोप होता है और उससे; पूर्वः=पूर्व वाला ह्रस्व (स्वर) भी; दीर्घम्=दीर्घ; हो जाता है। "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"। "स शिवतानस्तन्यतू रोचनस्थाः" ॥१७॥

सू० अ०—एष्टः में भी (विसर्जनीय का लोप होता है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है)।

त्रि० अ०—एष्टः इस पद में स्थित विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर, अवर्ण पूर्व में होने पर भी, लुप्त हो जाता है तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे—

(क) रुरुः। रौद्रः॥ तित्तिरिः। रोहित्॥ विष्णुः। रूपम्॥ प०पा०

---

(१) ५।५।१६ (२) ५।५।१६ (३) ६।२।४
(४) १।४।८ (५) १।३।१४ (६) १।२।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ह्वारभार्"[1] आद्यन्तः पातित्वादेष्टरित्यस्य "रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः"[2] इतिवत् "अनवर्णपूर्वस्तु"[3] इत्यत्र तुशब्देन लोपदीर्घसिद्धेः। वक्ष्यमाणमतभेदाश्रयत्वज्ञापनाय गृहीत-मेतदुपपन्नतरमिति परिहारः ॥१८॥

वै०—अवर्णपूर्वार्थोऽयमारम्भः। चशब्देनानन्तरोक्तं कार्यद्वयमन्वादिश्यते। एष्टृशब्दे विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते। ततः पूर्वो ह्रस्वो दीर्घं प्रपद्यते। "एष्टा रायः प्रेषे"[4] ॥१८॥

"एष्टा रायः"।[क] (सूत्रोक्त) च शब्द लोप और दीर्घ की अनुवृत्ति करता है। (शंका) यह असङ्गत है। "ह्वाः, अभाः----" इत्यादि के अन्तर्गत होने से 'एष्टः' इस (पद) का लोप और दीर्घ होना "रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः" की तरह "किन्तु अवर्ण से अन्य स्वर पूर्व में होने पर और रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है" में विद्यमान 'तु' शब्द के द्वारा सिद्ध होते हैं। (समाधान) आगे कहे जाने वाले मतभेद के आश्रयत्व को बतलाने के लिए इसका यहाँ ग्रहण किया गया है, अतएव यह नितान्त संगत है—यह परिहार है[ख] ॥१८॥

वै० अ०—अवर्णपूर्व के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है।[ग] च शब्द से अव्यवहित पूर्व में कहे गए दो कार्यों (विसर्जनीय) का लोप तथा पूर्व स्वर का

(क) एष्टः। रायः ॥प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—जिस प्रकार "रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः" में 'अन्तः' पद के विसर्जनीय का लोप और 'अ' का 'आ' होना ८।१६ में प्रयुक्त 'तु' शब्द की सामर्थ्य से सिद्ध होते हैं उसी प्रकार 'एष्टः' पद के विसर्जनीय का लोप और 'अ' का 'आ' भी उसी 'तु' शब्द के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। 'अन्तः' और 'एष्टः'—ये दोनों पद समान हैं, क्योंकि (१) दोनों का अन्त रिफित विसर्जनीय में होता हैं; (२) दोनों में रिफित विसर्जनीय के पूर्व में 'अ' है।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त बात ठीक है। किन्तु परवर्ती चार सूत्रों (८।१९-२२) में 'एष्टः' के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। वे मत सूत्रकार को इष्ट नहीं हैं। उन अनिष्ट मतों को प्रस्तुत करने से पहले अभीष्ट वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना आवश्यक है। अभीष्ट वस्तुस्थिति को उन विभिन्न अनिष्ट मतों के आश्रय के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इष्ट मत के अभाव में अनिष्ट मतों को समझना कठिन हो जायेगा।

(ग) पूर्ववर्ती सूत्रों में अ, आ से अन्य स्वरों के बाद में विद्यमान विसर्जनीय के लोप तथा पूर्ववर्ती 'स्वर' के दीर्घत्व का विधान किया गया है। उन सूत्रों से अ, आ के बाद में विद्यमान विसर्जनीय का लोप तथा 'स्वर' का दीर्घत्व नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'एष्टः' के अकार के बाद में विद्यमान विसर्जनीय के लोप तथा अकार के दीर्घत्व का विधान किया गया है।

---

(१) ८।८ (२) ४।१।१० (३) ८।१६ (४) १।२।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैकेषाम् ॥१९॥

मा०—एकेषामाचार्याणां मते न । यथा—"एष्टो रायः"[1] ॥१९॥

त्रि०—एकेषां मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो न लुप्यते । अत एव पूर्वस्वरदीर्घाभावश्च । किन्तु "घोषवत्परश्च"[2] इत्योत्वम् । यथा—"एष्टो रायः"[1] । वररुचिमतमेतत् । माहिषेयभाषितं त्वेवम्—एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो न रेफमापद्यत इति । सिद्धरूपमुभयोः समानम् ॥ १९ ॥

वै०—एकेषां मते एष्टश्शब्दे यथोक्तौ लोपदीर्घौ न भवतः । तत्र "सुवो रोहाव"[3] इतिवदोत्वं भवति । "एष्टो रायः"[1] ॥१९॥

द्वावुत्तमोत्तरीयस्य रेफम् ॥२०॥

मा०—द्वावुदात्तमोत्तरीयस्य शाखिनः एष्टरित्येतस्मिन् विसर्जनीयो रेफपरो रेफमापद्यते । यथा—"एष्टर् रायः"[1] ॥२०॥

त्रि०—उत्तमोत्तरीयस्य शाखिनो मते एष्टरिति विसर्जनीयः, तत्परो रेफश्च द्वावेतौ रेफमापद्येते । यथा—"एष्ट रायः"[1] । अयमर्थो वाररुचोक्तः माहिषेयोक्तस्तु द्वावुत्तमोत्तरीय

दीर्घत्व) का अन्वादेश होता है । एष्टः शब्द में स्थित विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर, लुप्त हो जाता है । तदनन्तर पूर्ववर्ती ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है । "एष्टा रायः प्रेसे" ॥१८॥

सू०अ०—कतिपय (आचार्यों) के मतानुसार (एष्टः के विसर्जनीय का लोप) नहीं (होता है) ।

त्रि० अ०—एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत में; एष्टः—इसका विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर; न = नहीं; लुप्त होता है । इसलिए पूर्ववर्ती स्वर भी दीर्घ नहीं होता है । किन्तु "घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर भी (अःकार ओकार हो जाता है)" इस (सूत्र) से ओत्व होता है । जैसे—"एष्टो रायः" । यह वररुचि का मत है । किन्तु माहिषेय के द्वारा इस प्रकार कहा गया है—'एष्टः' का विसर्जनीय, रेफ बाद में होने पर, रेफ नहीं होता है । दोनों के अनुसार सिद्ध रूप समान है ॥१९॥

वै० अ०—एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत में; 'एष्टः' शब्द में पूर्वोक्त लोप और दीर्घ नहीं होते हैं । वहाँ "सुवो रोहाव" के समान ओत्व होता है । "एष्टो रायः" ॥१९॥

सू० अ०—उत्तमोत्तरीय के मतानुसार दोनों (एष्टः का विसर्जनीय तथा परवर्ती रेफ) रेफ (हो जाते हैं) ।

त्रि० अ०—उत्तमोत्तरीयस्य = शाखिन् उत्तमोत्तरीय के मत में; एष्टः का

---

(१) १।२।११ (२) ६।८ (३) १।७।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति कस्यचिन्नाम तन्मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो रेफमापद्यते। यथा—"एष्टर् रायः"[१] इति ॥२०॥

वै०—(द्वावुत्तमोत्तरीयस्य =) उत्तमोत्तरीयो नाम कश्चिदृषिः। तस्य मते एष्टरिति विसर्जनीयः ततः परो रेफश्चेति द्वौ वर्णौ; एकं रेफं प्रतिपद्येते। "एष्ट रायः"[१] ॥२०॥

साङ्कृत्यस्यस्योकारम् ॥२१॥

मा०—साङ्कृत्यस्य शाखिनः एष्टरित्येतस्मिन् विसर्जनीयो रेफपर सह पूर्वेण स्वरेण (आकारमापद्यते ? उकारमापद्यते)। यथा—"एष्टो रायः"[१] ॥ २१ ॥

त्रि०—साङ्कृत्यस्य मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपर उकारमापद्यते ततः "उवर्णपर ओकारम्"[२] इत्योत्वम्। यथा—"एष्टो रायः"[१]। अस्य च, "नैकेषाम्"[३] इत्यस्य चादेशभेदाद्भेदः। सिद्धोदाहरणं तु समानम् ॥२१॥

विसर्जनीय और उससे बाद वाला रेफ ये; द्वौ=दोनों; रेफ हो जाते हैं। जैसे—"एष्ट रायः"।[क] यह अर्थ (आचार्य) वररुचि के द्वारा कहा गया है। किन्तु माहिषेय का कथन है कि 'द्वावुत्तमोत्तरीय' यह किसी (आचार्य) का नाम है। उसके मत में 'एष्टः' का विसर्जनीय, रेफ बाद में होने पर, रेफ हो जाता है। जैसे—"एष्टर् रायः"।[ख]

वै० अ०—(द्वावुत्तमोत्तरीयस्य =) उत्तमोत्तरीय नामक कोई ऋषि हैं। उनके मत में 'एष्टः' का विसर्जनीय और उसके बाद में स्थित रेफ—ये दोनों; वर्ण एक रेफ हो जाते हैं। "एष्ट रायः" ॥२०॥

सू० अ०—साङ्कृत्य के मतानुसार (एष्टः का विसर्जनीय) उकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—साङ्कृत्यस्य = साङ्कृत्य (आचार्य) के मत में; 'एष्टः' का विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर उकार हो जाता है। तदनन्तर "(अवर्ण पूर्व में होने पर और) उवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) ओकार (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) से ओत्व (होता है)। जैसे—"एष्टो रायः"। इस सूत्र का और "कतिपय आचार्यों के मतानुसार (एष्टः के विसर्जनीय का लोप) नहीं (होता है)"—इस (सूत्र) का आदेश भेद होने से भेद है। सिद्ध उदाहरण तो दोनों में समान हैं[ग] ॥२१॥

(क) 'एष्टः' का विसर्जनीय और परवर्ती रेफ—ये दोनों मिलकर रेफ हो गए हैं।

(ख) 'एष्टः' का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(ग) ८।१९ के अनुसार 'एष्टः' के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है और वह विसर्जनीय ९।८ से 'ओ' हो जाता है, जिससे 'एष्टो रायः' रूप सिद्ध होता है। ८।२१ के अनुसार 'एष्टः' का विसर्जनीय 'उ' हो जाता है और तब वह उ पूर्ववर्ती अ के

---

(१) १।२।११ (२) १०।५ (३) ८।१९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—द्वावितीह नानुवर्तते। अत एवोत्तरसूत्रे एकवचनान्तं विशेषणं वक्ष्यति। तदयमर्थः—(साङ्कृत्यस्य =) साङ्कृत्यो नाम कश्चिदृषिः। तस्य मते; एष्टरित्यत्र विसर्जनीयः उकारं प्रतिपद्यते रेफे परतः। ततः "आद्गुणः"[1] इति मूलशास्त्रप्रक्रियया "एष्टो रायः"[2] इति रूपं भवति। तथा च प्रक्रियाभेदस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। न तु प्रतिषेधपक्षरूपादन्यस्य रूपस्य ॥२१॥

उख्यस्य सपूर्वः ॥२२॥

भा०—उख्यस्याचार्यस्य एष्टरित्येतस्मिन् विसर्जनीयो रेफपरः सह पूर्वेण वस्वरेण उकारमापद्यते। यथा "एष्टु रायः" (?)[3] ॥२२॥

त्रि०—उख्यस्य मते रेफपर एष्टरिति विसर्जनीयः; (सपूर्वः =) पूर्ववर्णेन सह; उकारमापद्यते, इति माहिषेयोक्तम्। यथा—"एष्टु रायः"[2]। वाररुचोक्तं तु—एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरः पूर्वेण सह रेफमापद्यते इति। यथा—"एष्टर् रायः[2]"। पूर्वेण सह वर्तत इति सपूर्वः। अस्मिन् विकल्पजाले प्रथमं "एष्टश्च"[3] इति सूत्रमेवेष्टम् ॥२२॥

वै० अ०—दोनों की यहाँ अनुवृत्ति नहीं होती है। इसलिए बाद वाले सूत्र में एकवचनान्त विशेषण को कहेंगे। इससे यह अर्थ हुआ—(साङ्कृत्यस्य =) साङ्कृत्य नामक कोई ऋषि हैं। उनके मत में; एष्टः—इसका विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर उकार हो जाता है। तदनन्तर "अवर्ण से बाद में अच् होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान में एक गुण आदेश होता है—" व्याकरण (मूलशास्त्र) की इस प्रक्रिया से "एष्टो रायः"—यह रूप होता है। और उसी प्रकार प्रक्रियाभेद का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र (कहा गया) है। न कि प्रतिषेध पक्ष के रूप में अन्य रूप का (प्रतिपादन करने के लिए) ॥२१॥

सू० अ०—उख्य (आचार्य) के मतानुसार पूर्व (वर्ण) के सहित (एष्टः का विसर्जनीय रेफ बाद में होने पर उकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—उख्यस्य—उख्य (आचार्य) के मत में; रेफ बाद में होने पर 'एष्टः' का विसर्जनीय; (सपूर्वः=) पूर्व वर्ण के सहित; उकार हो जाता है—ऐसा माहिषेय ने कहा है। जैसे—"एष्टु रायः"। वररुचि का कथन तो यह है—'एष्टः' का विसर्जनीय, रेफ बाद में होने पर पूर्ववर्ती (वर्ण) के सहित रेफ हो जाता है। जैसे—"एष्टर् रायः"। पूर्ववर्ती (वर्ण) के साथ वर्तमान = सपूर्व। इस विकल्प-जाल में पहले वाला "एष्टः में भी (विसर्जनीय का लोप होता है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है)"—यह सूत्र ही अभीष्ट है ॥२२॥

साथ मिलकर 'ओ' हो जाता है, जिससे 'एष्टो रायः' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार सिद्ध रूप दोनों अवस्थाओं में समान है।

---

(१) पा० ६।१।८७ (२) १।२।११ (३) ८।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उख्यस्य मते एष्टश्शब्दे विसर्जनीयः; (सपूर्वः=) तस्मात्पूर्वेण वर्णेन सहितः; उकारं प्रतिपद्यते रेफे परतः। "एष्टु रायः"[1]। नैकेषाम्"[2] इत्यादिसूत्रचतुष्टयं नेष्टम् ॥२२॥

कखपकारपरः षमकारपूर्वः समवग्रहः ॥२३॥

मा०—ककारपरः खकारपरः पकारपरश्च अवग्रहान्तवर्ती विसर्जनीयः अकारादन्यस्वरपूर्वः षकारमापद्यते, अकारपूर्वः सकारम्। यथा—"यश्चतुष्कामः"[3]। "हविष्कृतानाम्"[4]। "यथा स्यात् प्रसितं निष्खिदति"[5]। "बर्हिष्पवमानेन पवयित्वा"[6]। "चतुष्पादः पशवः"[7]। अकारपूर्वः—"भूयस्कृदसि वरिवस्कृदसि"[8]। "पथस्पथः परिपतिम्"[9]। "अधस्पदन्तमीङ्कृधि"[10]। अवग्रहपूर्व इति किम्? "अक्ष्योश्चक्षुः कर्णयोः"[11]। "अवत्येव बर्हिः प्रवयित्वा"।[12] "अग्निवरिवः कृणोतु"[13]। कखपकारपर इति किम्? "विश्वतश्चक्षुरुत"[14] कखपकारपरत्वं प्रकृतमित ऊर्ध्वम् ॥२३॥

त्रि०—अत्र परनिमित्तविशेषणादेतत्पर्यन्ता स्वरघोषवत्परानुवृत्तिर्मन्तव्या। अवग्रहवर्तिविसर्जनीयः; (कखपकारपरः=) ककारखकारपकारपरः; (षम्=) षकारम्; आपद्यते, अकारपूर्वश्चेत्; (सम्=) सकारम्। यथा—"अथोहविष्कृतानाम्"[15]। "प्रसितं निष्खि-

---

वै० अ०—उख्यस्य= उख्य (आचार्य) के मत में; 'एष्टः' शब्द में स्थित विसर्जनीय; (सपूर्वः=) उससे पूर्ववर्ती वर्ण के सहित; उकार हो जाता है, रेफ बाद में होने पर। "एष्टु रायः"। "कतिपय (आचार्यों) के मतानुसार (एष्टः के विसर्जनीय का लोप) नहीं (होता है)"—इत्यादि चार सूत्र (८।१९-२२) अभीष्ट नहीं हैं ॥२२॥

सू० अ०—अवग्रह (में वर्तमान विसर्जनीय), क, ख अथवा प बाद में होने षकार (हो जाता है), यदि अकार पूर्व में हो तो सकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—यहाँ परवर्ती निमित्त की विभिन्नता (विशेषण) से इस (सूत्र) पर्यन्त 'स्वर अथवा घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर' की अनुवृत्ति माननी चाहिए। अवग्रहः=पूर्वपद में स्थित विसर्जनीय; (कखपकारपरः=) ककार, खकार और पकार बाद में होने पर; (षम्=) षकार; हो जाता है यदि; अकारपूर्वः= (विसर्जनीय के) पूर्व में अकार हो; तो (विसर्जनीय); (सम्=) सकार; (हो जाता है);[क] जैसे—

(क) यह नियम संहितास्थ उन सभी सावग्रह पदों पर लागू होता है जिनके पूर्व-पदों के अन्त में विसर्जनीय है और उत्तर-पद के प्रारम्भ में ककार, खकार अथवा पकार है। इस नियम के अपवाद प्रस्तुत किए जायेंगे।

---

(१) १।२।११ (२) ८।१९ (३) २।३।१ (४) ६।४।३
(५) ६।१।९ (६) ६।४।९ (७) ५।१।१ (८) ४।४।७
(९) १।१।१४ (१०) १।६।१२ (११) ५।५।९ (१२) ६।१।२
(१३) १।३।४ (१४) ४।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दति"[१]। "वहिष्पवमान उपसद्यः"[२]। "नमस्कारैरेवैनम्"[३], "पथस्पथः परिपतिम्"[४]। अवग्रह इति किम्? "पुष्पावतीः प्रसूवतीः"[५]। "नमः पितृभ्यः"[६]। ककारश्च खकारश्च पकारश्च कखपकाराः, एते परे यस्मादसौ तथोक्तः। अकारः पूर्वो यस्मादसौ अकारपूर्वः ॥२३॥

वै०—इदानीमुपचारो विधीयते—

अवग्रह इति षष्ठ्येकवचनस्य स्यादेशाभावश्छान्दसः। अवग्रहस्य सम्बन्धी विसर्जनीयः; (षम्=) षकारम्; प्रतिपद्यते; (कखपकारपरः=) कखपकारेषु परतः। स एवाकार-पूर्वश्चेत्; (सम्=) सकारम्; प्रतिपद्यते तेष्वेव वर्णेषु परतः। अकारपूर्व इति कार्यभाज एवायं निर्देशः। न तु निमित्तस्योपबन्धस्य वा। "ज्योतिष्कृदसि सूर्यः"[७]। "यथा स्याद्ग्रसितं निष्खिदति"[८]। "चतुष्पादः पशवः"[९]। "ऋद्धिपरिमितं यशस्कामाः"[१०]। "उत

"अथो हविष्कृतानाम्"। "ग्रसितं निष्खिदति"। "वहिष्पवमान उपसद्यः"। "नमस्कारैरेवैनम्"। "पथस्पथः परिपतिम्"। पूर्व-पद यह क्यों (कहा)? "पुष्पावतीः प्रसूवतीः"। "नमः पितृभ्यः"।[क] ककार, खकार तथा पकार=कखपकारः, ये बाद में हैं जिससे वह वैसा कहा गया (=कखपकारपर) है। अकार है पूर्व में जिससे वह=अकारपूर्व ॥२३॥

वै० अ०—अब विसर्जनीय के सकारभाव (उपचार) का विधान किया जाता है—

अवग्रह—यहाँ षष्ठी एक-वचन के 'स्य' आदेश का अभाव छान्दस है। पूर्व-पद (अवग्रह) का विसर्जनीय; (षम्=) षकार; हो जाता है, (कखपकारपरः=) ककार खकार और पकार बाद में होने पर। वह (विसर्जनीय) ही यदि अकारपूर्व (=अकारः है पूर्व में जिसके ऐसा) हो तो (वह विसर्जनीय); (सम्=) सकार; हो जाता है, वे ही वर्ण (ककार, खकार तथा पकार) बाद में होने पर। अकार पूर्व में होने पर—यह कार्य-भाक् का ही निर्देश है न कि निमित्त और उपबन्ध का। "ज्योतिष्कृदसि सूर्यः"; "यथा स्याद्ग्रसितं निष्खिदति"। "चतुष्पादः पशवः"। "ऋद्धिपरिमितं यशस्कामाः" "उत नः परस्पाः"। ये (ककार, खकार तथा पकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सर्पीर्ग्रीवीः"। "रक्षोहणं वाजिनम्"। पूर्व-पद यह क्यों (कहा)? "आयतनवतीः

(क) हविष्कृतानामिति हविः—कृतानाम् ॥ निष्खिदतीति निः—खिदति ॥ बहिष्पवमान इति बहिः—पवमानः ॥ नमस्कारैरिति नमः—कारैः ॥ पथस्पथ इति पथः—पथः ॥ पुष्पावतीरिति पुष्प—वतीः। प्रसूवतीरिति प्र—सूवतीः ॥ नमः। पितृभ्य इति पितृ—भ्यः ॥ प० पा०

---

(१) ६।१।९ (२) ६।४।९ (३) ५।५।७ (४) १।१।१४
(५) ४।२।६ (६) ३।२८ (७) १।४।३१ (८) ६।१।९
(९) ५।१।१ (१०) २।३।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नः परस्पाः"[1]। एतत्पर इति किम्? "सर्पिर्ग्रीवी"[2]। "रक्षोहणं वाजिनम्"[3]। अवग्रह इति किम्? "आयतनवतीः करोति"[4]। "द्रविणावतः कुरुते"[5]। अत्राकारपूर्वस्य सत्वविधानाद-कारेतरस्वरपूर्वविषयं षत्वं वेदितव्यम् ॥२३॥

आविर्निरिडःशश्वतोऽपसोदेवरिषोऽहसोऽतिदिवोविश्वतोऽश्मनस्तमसः ॥२४॥

मा०—आविः, निः, इडः, शश्वतः, अपसः, देवरिषः, अँहसः, अतिदिवः, विश्वतः, अश्मनः, तमसः इत्येतेषु ग्रहणेषु विसर्जनीयः कखपकारपरः अकारादन्यस्वरपूर्वः षकारमापद्यते, अकारपूर्वः सकारम्। यथा—"आविष्कृणुष्व"[6]। "यदामयति निष्कृतः"[7]। "इडस्पदे"[8]। "शश्वतस्कर्हस्ते दधानः"[9]। "इन्द्राविष्णु अपसस्पारे"[10]। "देव रिषस्पाहि सुमित्राः"[11]। देवरिष इतिकिम्? "दिवा स रिषः पातु नक्तम्"[12]। "अँहसस्पातु"[13] "अति दिवस्पाहि समाववृत्रन्"[14]। अतिदिव इति किम्? "सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशम्"[15]। "इन्द्रं वो विश्वतस्परि"[16]। "इन्द्रन्नरो नेमधिता हवन्ते"[16]। "त्वमश्मनस्परि"[17]। "उद्वयं तमसस्परि"[18]। कखपकारपर इति किम्? "संख्यान्मा देवानामपसश्छस्महि"[19]। अनवग्रहार्थं आरम्भः ॥२४॥

त्रि०—आविः, निः, इडः, शश्वतः, अपसः, देवरिषः, अँहसः, अतिदिवः, विश्वतः, अश्मनः, तमसः एषु विसर्जनीयः कखपकारपरो यथाविहितं भजते। यथा—"आविष्कृणुष्व"[6]। "घृतं निष्पिवति"[20]। "इडस्पदे समिध्यसे"[8]। "शश्वतस्कर् हस्ते"[9]।

करोति"। "द्रविणावतः कुरुते"।[क] अकारपूर्व (विसर्जनीय) के सकार-विधान से वहाँ षत्व का स्थल जानना चाहिए जहाँ (विसर्जनीय के) पूर्व में अकार से अन्य स्वर हो ॥ २३ ॥

सू० अ०—आविः, निः, इडः, शश्वतः, अपसः, देवरिषः, अँहसः, अतिदिवः, विश्वतः, अश्मनः तथा तमसः (का विसर्जनीय षकार अथवा सकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—आविः·····तमसः—इनमें स्थित विसर्जनीय; ककार, खकार तथा पकार बाद में होने पर जैसा विधान किया गया है (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व होने पर षकार) वैसा (=षकार और सकार)

(क) ज्योतिष्कृदिति ज्योतिः—कृत् ॥ चतुष्पाद इति चतुः—पादः। यशस्कामा इति यशः—कामाः ॥ परस्पा इति परः—पाः ॥ सर्पिर्ग्रीवीति सर्पिः—ग्रीवी ॥ रक्षोहणमिति रक्षः—हनम् ॥ आयतनवतीरित्यायतन—वतीः ॥ द्रविणावत इति द्रविणा—चतः ॥ प० पा०

---

(१) ४।६।१ (२) ३।२।८ (३) १।२।१४ (४) ३।१।९
(५) ५।३।११ (६) १।२।१४ (७) ४।२।६ (८) २।६।११
(९) २।२।१२ (१०) ३।२।११ (११) १।४।४५ (१२) १।२।१४
(१३) ३।२।४ (१४) १।८।१४ (१५) २।४।८ (१६) १।६।१२
(१७) ४।१।२ (१८) ४।१।७ (१९) १।२।१० (२०) २।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अपसस्पारे अस्य"[११]। "उरोरा नो देव रिषस्पाहि"[२]। देवेति किम्? "स रिषः पातु नक्तम्"[३]। "अꣳहसस्पातु"[४]। "अति दिवस्पाहि"[५]। अतीति किम्? "दिवः पृष्टꣳसुवर्गत्वा"[६]। "विश्वतस्परि हवामहे"[७]। "त्वमश्मनस्परि"[८]। "उद्वयं तमसस्परि"[९]। अनवग्रहार्थोऽयमारम्भः ॥२४॥

वै०—एतदादय उपचारविधयो नावग्रहविषयाः। आविरित्यादिषु विसर्जनीय अकारेतरस्वरपूर्वकः कखपकारेषु परतः षत्वं प्रतिपद्यते। अकारपूर्वस्सकारम्। आविः—"आविष्कृणुष्व"[१०]। निः—"स्थन यदामथति निष्कृत"[११]। इडः—"इडस्पदे"[१२]। शश्वतः—"शश्वतस्कर् हस्ते"[१३]। अपसः—"अपसस्पारे अस्य"[१४]। देवरिषः—"आ नो देव रिषस्पाहि"[१५]। देवेति किम्? "स रिषः पातु"[१६]। अꣳहसः—"दिव्यादꣳहसस्पातु"[१७]। अतिदिवः—"अतिदिवस्पाहि"[१८]। अतीति किम्? "उपश्रितो दिवः पृथिव्योः"[१९]। कथं "दिवस्परि प्रथमम्"[२०] इति। विध्यन्तरान्नविष्यतीति। विश्वतः—"इन्द्रं वो विश्वतस्परि"[२१]। अश्मनः—"त्वमश्मनस्परि"[२२]। तमसः—"उद्वयं तमसस्परि"[२३]।

हो जाता है।.....।[क] अनवग्रह के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है (अर्थात् यह सूत्र उन शब्दों पर लागू होता है जो सावग्रह पदों के पूर्व-पद नहीं है) ॥ २४ ॥

वै० अ०—यहाँ से प्रारम्भ होने वाली उपचार-विधियाँ सावग्रह-पदों के पूर्व-पदों के विषय में नहीं है। 'आविः' इत्यादि में स्थित विसर्जनीय, अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर और ककार, खकार तथा पकार बाद में होने पर; षकार होता है। अकार पूर्व में होने पर सकार होता है।.....। "दिवस्परि प्रथमम्" में (सत्व) कैसे हो गया? दूसरी विधि (=८।२८) से होगा।.....।

(क) आविः। कृणुष्व॥ निरिति। पिबति॥ इडः। पदे॥ शश्वतः। कः॥ उरोः। एति। नः। देव। रिषः। पाहि॥ सः। रिषः। पातु॥

अतीति। दिवः। पाहि॥ दिवः पृष्ठम्। सुवः। गत्वा॥ विश्वतः। परीति। हवामहे॥ अश्मनः। परि॥ तमसः। परीति॥ प० पा०

---

(१) ३।२।११ (२) १।४।४५ (३) १।२।१४
(४) ३।२।४ (५) १।८।१४ (६) ४।६।५
(७) १।६।१२ (८) ४।१।२ (९) ४।१।७
(१०) १।२।२४ (११) ४।२।६ (१२) २।६।११
(१३) २।२।१२ (१४) ३।२।११ (१५) १।४।४२
(१६) १।२।१४ (१७) ३।२।४ (१८) १।८।१४
(१९) २।६।६ (२०) १।३।१४ (२१) १।६।१२
(२२) ४।१।२ (२३) ४।१।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृधिपिन्वपथेपरः ॥२५॥

मा०—कृधि, पिन्व, पथे, एवंपरो विसर्जनीयः अकारादन्यस्वरपूर्वः षकारमापद्यते, अकारपूर्वः सकारम्। यथा—"उरुकृदुरु णस्कृधि"[१]। "अपस्पिन्वौषधीर्जिन्व"[२]। "शम्भ सप्रथा नमस्पथे"[३]। एवंपर इति किम्? "नमः कपर्दिने च"[४] ॥२५॥

त्रि०—कृधि, पिन्व, पथे एवम्परो विसर्जनीयो यथाविहितं भजते। यथा—"उरुण-स्कृधि"[१]। "अपस्पिन्व"[२]। "सप्रथा नमस्पथे"[३] ॥२५॥

वै०— कृधि, पिन्व, पथे इत्येतेषु; (परः=) परतः; विसर्जनीयो यथार्हमुपचारं प्रतिपद्यते। "उत नो मयस्कृधि"[५]। अपस्पिन्व"[२]। "नमस्पथे"[३] ॥२५॥

न सक्रघकारपरे ॥२६॥

मा०—न खलु सकारपरे क्रकारपरे घकारपरे च कृधिपिन्वपथे इत्येवंपरो विसर्जनीयः यथाविहितमापद्यते। यथा—"ताम आ मनसः कृधि स्वाहा"[६]। "मन्यासै शञ्च नः कृधि। क्रत्वे दक्षाय नः"[७]। "क्षयाय नः कृधि। घृतं घृतयोने"[८]। सक्रघकारपर इति किम्? "उत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय"[९] ॥२६॥

त्रि०—(सक्रघकारपरे=) स, क्र, घ एवम्परे सति; कृध्यादौ विसर्जनीयो

सू० अ०—कृधि, पिन्व तथा पथे बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—कृधि, पिन्व तथा पथे ये; परः=बाद में होने पर; विसर्जनीय जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) हो जाता है। जैसे—"उरुणस्कृधि"। "अपस्पिन्व"। "सप्रथा नमस्पथे"[क] ॥२५॥

वै० अ०—कृधि, पिन्व, पथे ये; (परः;=) बाद में होने पर; विसर्जनीय नियम के अनुसार (सकारभाव) को प्राप्त करता हैं। "उत नो मयस्कृधि"। "अपस्पिन्व" "नमस्पथे"[ख] ॥२५॥

सू० अ०—स, क्र अथवा घ बाद में होने पर (कृधि के विषय में उक्त सकार-भाव नहीं होता हैं)।

त्रि० अ०—सक्रघकारपरे=स, क्र, घ—ये बाद में होने पर; कृधि के पूर्व

(क) उरु। नः। कृधि ॥ अपः। पिन्व ॥ सप्रथा इति स–प्रथा॥ नमः। पथे ॥ प० पा०

(ख) उत। नः। मयः। कृधि ॥ प० पा०

(१) २।६।११ (२) ४।३।४ (३) ४।७।१३ (४) ४।५।५
(५) ४।५।१० (६) २।३।६ (७) ३।३।११ (८) १।३।४
(९) ४।५।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथाविहितं नापद्यते। यथा—"आमनसः कृधि स्वाहा"[१]। "शं च नः कृधि। क्रत्वे"[२]। रेफेण किम्? "उत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय"[१]। "उरु क्षयाय नः कृधि। घृतं घृतयोने पिब"[३] ॥२६॥

वै०—अनन्तरसूत्रोक्तस्यायं प्रतिषेधः। तत्रापि कृधिशब्दस्यैतत्सप्तम्यन्तं विशेषणम्। नान्ययोः। कुतः? सम्भवासम्भवाभ्याम्। तदयमर्थः—(सक्रघकारपरे=) सकारक्रशब्द-घकारपदोपबन्धपरे; कृधिशब्दे परतः उपचारो न भवति। "आमनसः कृधि स्वाहा"[१]। "मन्यासै शं च नः कृधि। क्रत्वे दक्षाय"[२]। "उरु क्षयाय नः कृधि। घृतं घृतयोने पिब"[१] ॥२६॥

पत्नीवेपतीपतेपतयेपतिष्पतिम्परः ॥ २७ ॥

मा०—इत्येवंपरो विसर्जनीयः षकारमापद्यते, अकारपूर्वः सकारम्। यथा—"प्रैतु

में स्थित विसर्जनीय जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) नहीं हो जाता है। जैसे—"आमनसः कृधि स्वाहा"। "शं च नः कृधि। क्रत्वे"।क रेफ से क्या (लाभ) है? "उत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय"। "उरु क्षयाय नः कृधि। घृतं घृतयोने पिब"ख ॥ २६ ॥

वै० अ०—अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गए (विधान) का यह निषेध है। वहाँ (पूर्वोक्त सूत्र में कहे गये शब्दों में) भी 'कृधि' शब्द का यह सप्तमी में अन्त होने वाला विशेषण है। अन्य दो का नहीं। उपलब्धि और अनुपलब्धि के आधार पर। इससे यह अर्थ हुआ—(सक्रघकारपरे=) सकार, क्र शब्द और घकार (युक्त) पद रूप उपबन्ध है बाद में जिसके ऐसा कृधि शब्द बोद में होने पर सकारभाव; न= नहीं; होता है। "आमनसः कृधि स्वाहा"क। "मन्यासै शं च नः कृधि। क्रत्वे दक्षाय"। "उरु क्षयाय नः कृधि। घृतं घृतयोने पिब"ख ॥ २६ ॥

सू० अ०—पत्नीवे, पती, पते, पतये, पतिः तथा पतिम् बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त करता है)।

(क) आमनस इत्या—मनसः। कृधि। स्वाहा ॥

क्रमशः सकार, क्र, और घकार बाद में होने के कारण कृधि से पूर्व में स्थित विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है।

(ख) उत। नो। मयस्कृधि ॥ उरु। क्षयाय। नः। कृधि ॥ प० पा०

कृधि से पूर्व में स्थित विसर्जनीय सकार हो गया है, क्योंकि 'कृधि' के बाद में क्रमशः ककार (क्+ष) तथा धृ है, रेफसहित कवार (क्र) तथा घकार नहीं है।

---

(१) २।३।१९ (२) ३।३।११ (३) १।३।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मणस्पत्नी वेदिम्"[१]। पत्नीवे इति किम्? "इन्द्रियावतः पत्नीवन्तं ग्रहं गृह्णामि"[२]। "शुभस्पती इदमहम्"[३]। "वास्तोष्पते प्रति जानीहि"[४]। "प्र च्यवस्व भुवस्पते"[५]। "वाचस्पतये पवस्व वाजिन्"[६]। "वाचस्पतिर्वाचमद्य स्वदाति नः"[७]। "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्"[८]। पत् इत्येतावतैव सिद्धे प्रतिपदपाठः "दिवं गच्छ सुवः पते"[९] इत्येवमादिप्रतिषेधार्थः ॥ २७ ॥

त्रि०—पत्नीवे, पती, पते, पतये, पतिः, पतिम् एवम्परो विसर्जनीयो यथाविहितं भजते। यथा—"प्रैतु ब्रह्मणस्पत्नी वेदिम्"[१]। वे इति किम्? "रेतोधाः पत्नीव इत्याह"[१०]। "शुभस्पती इदमहम्"[३]। "वास्तोष्पते प्रति"[४]। "प्र च्यवस्व भुवस्पते"[५]। "वाचस्पतये पवस्व"[६]। "वाचस्पतिर्वाचमद्य"[७]। "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्"[८]। पत् इत्येतावतैव सिद्धे प्रतिपदपाठेन किम्? "दिवं गच्छ सुवः पत"[९] इत्यादौ मा भूदिति ॥२७॥

वै०—पुनरपि विधय एवारभ्यन्ते—

(पत्नीवेपतीपतेपतयेपतिष्पतिम्परः =) पत्नीवे इत्यादिषु परतः; विसर्जनीयो यथार्हमुपचारं प्रतिपद्यते। पत्नीवे—"ब्रह्मणस्पत्नी वेदिम्"[१]। वे इति किम्? "रेतोधाः पत्नीव इत्याह"[११]। पती—"उत्पिपीते शुभस्पती इदमहम्"[३]। पते—"वास्तोष्पते"[४]। पतये—"नमस्सदसस्पतये"[१२]। पतिः—"वायुर्वै नभसस्पतिः"[१३]। पतिम्—"हविषा ब्रह्मणस्प-

---

त्रि० अ०—पत्नीवे·····पतिम्—ये; परः = बाद में होने पर; विसर्जनीय जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) होता है। जैसे—"प्रैतु ब्रह्मणस्पत्नी वेदीम्"। वे—यह क्यों (कहा)? "रेतोधाः पत्नीव इत्याह"।···क। पत्—इससे ही सिद्ध हो जाने से प्रत्येक पद के पाठ से क्या (लाभ है)? "दिवं गच्छ सुवः पत" में न हो (इस लिए प्रत्येक पद का पाठ किया गया है) ॥२७॥

वै० अ०—पुनः भी (सकारभाव की) विधियाँ ही आरम्भ की जाती हैं—

(पत्नीवे···परः=) पत्नीवे इत्यादि बाद में होने पर; विसर्जनीय नियमानुसार सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है।·····ख॥२७॥

(क) विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है, क्योंकि बाद में 'पत्नीव' है, 'पत्नीवे' नहीं।

(ख) ब्रह्मणः। पत्नी॥ वास्तोः। पते॥ नमः। सदसः। ब्रह्मणः। पतिम्॥ इन्द्रियावत इतीन्द्रिय·वतः। पत्नीवन्तमिति पत्नी—वन्तम्॥ प० पा०

---

(१) ३।५।६ (२) १।४।२७ (३) ३।२।१० (४) ३।४।१०
(५) १।२।६ (६) १।४।२ (७) १।७।७ (८) ४।६।२
(९) ४।१।१० (१०) ६।५।८ (११) ६।५।८ (१२) ३।२.४
(१३) ३।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिम्"[1]। पत् इति सामान्यरूपग्रहणे—"इन्द्रियावतः पत्नीवन्तम्"[2], "रासभः पत्वा"[3] त्यादावतिप्रसङ्गः ॥ २७ ॥

दिवः सहसस्परिपुत्परः ॥ २८ ॥

मा०—दिवः, सहसः इत्येतयोः परिपरः पुत्परश्च विसर्जनीयः सकारमापद्यते। यथा—"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे"[4]। "दिवस्पुत्राय सूर्याय"[5]। "सहसस्पुत्रो अद्भुतः"[6]। परिपुत्पर इति किम्? "दिवः पृथिव्याः"[7]। "परुषः परुषः परि"[8]। सहस इति किम्? "त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति"[9]। यथासंख्यं तद्भवति अनेकलक्षणसिद्धे। पुत् इत्यपदग्रहणं संक्षेपार्थम् ॥ २८ ॥

त्रि०—दिवः, सहसः इत्यनयोर्विसर्जनीयः परि, पुत् इत्येवम्परो यथाविहितं भजते। यथा—"दिवस्परि प्रथमम्"[4]। "दिवस्पुत्राय सूर्याय"[5]। "सहसस्पुत्रो अद्भुतः"[6]। अनयोरिति किम्? "पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्"[7]। "परुषः परुषः परि"[8]। "पुंसः पुत्रान्"[10]। एवम्पर इति किम्? "दिवः पृथिव्याः"[7]। अनेकार्थः पुदिति पदैकदेशः ॥ २८ ॥

वै०—यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते। अपरिभाषितत्वादव्याप्तिप्रसङ्गाच्च। तदयमर्थः—दिवः, सहसः इत्यनयोर्विसर्जनीयः परि, पुत् इत्यनयोः; (परः=) परतः; यथोचितमुपचारं प्रपद्यते। "दिवस्परि"[4]। "दिवस्पुत्राय सूर्याय"[5]। "सहसस्पुत्रो अद्भुतः"[6] एतत्पर इति किम्? "दिवः पृष्टꣳसुवर्गत्वा"[11] ॥२८॥

सू० अ०—परि तथा पुत् बाद में होने पर दिवः और सहसः (का विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—दिवः और सहसः—इनका विसर्जनीय; परि और पुत् ये बाद में होने पर जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर (पकार) हो जाता है।—। (सूत्र में) पुत्-पद के इस एक भाग (का ग्रहण) अनेक (पदों) के (ग्रहण के) लिए है ॥ २८ ॥

वै० अ०—यथाक्रम यहाँ इष्ट नहीं है। अपरिभाषित होने से और अव्याप्ति के प्रसङ्ग से।[क] इससे यह अर्थ हुआ—दिवः; सहसः—इनका विसर्जनीय परि

(क) तात्पर्य यह है कि यहाँ यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि 'दिवः' का विसर्जनीय, 'परि' बाद में होने पर और 'सहसः' का विसर्जनीय 'पुत्' बाद में होने पर, सकार होता है। यथाक्रम को यहाँ नहीं अपनाना चाहिए, क्योंकि (१) तै० प्रा०

---

(१) २।३।१४ (२) १।४।२७ (३) ४।१।४ (४) १।३।१४
(५) १।२।९ (६) ४।१।६ (७) ३।१।१० (८) ४।२।६
(९) ५।४।४ (१०) ४।६।९ (११) ४।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रायस्पोषः ॥२९॥

मा०—राय इत्येतस्मिन् विसर्जनीयः पोषः सकारमापद्यते। "पशवो वै रायस्पोषः"[1]। राय इति किम्? "विभुः पोष उत त्मना"[2]। पोषः इति किम्? "एष्टा रायः प्रेषे"[3] ॥२९॥

त्रि०—राय इत्यत्र विसर्जनीयः पो इत्येवम्परो यथाविहितं भजते। यथा—"पशवो वै रायस्पोषः"[1]। पो इति पदैकदेशो बहूपादानार्थः। "रायस्पोषेण"[4]। "शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय"[5]। "रायस्पोषस्य ददितारः"[6]। राय इति किम्? "विभुः पोष उत त्मना"[2]। पो इत्योकारेण किम्? "रायः प्रेषे भगाय"[3] ॥२९॥

वै०—रायश्शब्दे विसर्जनीयः; (पोषः=) पोशब्दे परतः; उपचारं प्रपद्यते। "रायस्पोषम्"[7]। "रायस्पोषाय त्वा गृह्णामि"[8]। पो इति किम्? "एष्टा रायः प्रेषे"[3] ॥२९॥

तथा पुत्; (परः=) बाद में होने पर; औचित्य के आधार पर सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है।[क] ॥२८॥

सू० अ०—पो बाद में होने पर रायः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—रायः—यहाँ विसर्जनीय; पो—यह; परः=बाद में होने पर; जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) हो जाता है। जैसे—"पशवो वै रायस्पोषः"। (सूत्र में) पो पद के इस एक भाग (का ग्रहण) अनेक (पदों) के (ग्रहण के) लिए है।[क] ॥ २९ ॥

वै० अ०—रायः शब्द में स्थित विसर्जनीय; (पोषः=) 'पो' शब्द बाद में होने पर; सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है। "रायस्पो-

---

में कोई ऐसी परिभाषा नहीं है कि समसम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है। पाणिनीय व्याकरण में तो इस प्रकार परिभाषा की गई है—यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (पा० १।३।१०) (सम सम्बन्धी विधि यथासंख्य होती हैं); (२) यथाक्रम अर्थ करने पर यह विधि उन स्थलों पर लागू नहीं होगी जहाँ 'पुत्' बाद में होने पर 'दिवः' का विसर्जनीय सकार होता है (जैसे दिवस्पुत्राय)। इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जायेगा।

(क) पशवः। वै। रायः। पोषः। रायः। पोषेण॥ रायः। पोषाय॥ रायः। पोषस्य॥ विभुरिति वि—भुः। पोषे। उत। त्मना॥ रायः। प्रेति। इषे। भगाय॥ प० पा०॥

---

(१) ५।४।६ (२) ३।१।११ (३) १।२।११ (४) १।७।६
(५) ३।२।५ (६) ३।२।३ (७) १।६।४ (८) १।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमस्करोपरः ॥३०॥

म०—नम इत्येतस्मिन् करोपरो विसर्जनीयः सकारमापद्यते। "तस्मै ते रुद्र संवत्सरेण नमस्करोमि"[१]। नम इति किम्? "छन्दोभिः करोति वीर्यम्"[२]। करोपर इति किम्? "नमः कपर्दिने च"[३] ॥३०॥

त्रि०—नम इत्यत्र विसर्जनीयः करो इत्येवम्परो यथाविहितं भजते। यथा "संवत्सरेण नमस्करोमि"[१]। "उभयीभ्यो नमस्करोति"[४]। नम इति किम्? "एकहायनादेन करोति"[५]। करो इति किम्? "नमः कपर्दिने च"[३] ॥३०॥

वै०—नम इत्यत्र विसर्जनीयः; (करोपरः=) करोशब्दे परतः; उपचारं प्रपद्यते। "उभयीभ्यो नमस्करोति"[६]। "संवत्सरेण नमस्करोमि"[१]। करोपर इति किम्? "नमः कपर्दिने च"[३] ॥३०॥

वसुष्ककारपरः ॥३१॥

मा०—वसुः इत्येतस्मिन् ककारपरो विसर्जनीयः षकारमापद्यते। यथा—"स इधानो वसुष्कविः"[७]। ककारपर इति किम्? "मयि वसुः परोवसुः"[८]। वसुरिति किम्? "शुचिर्विप्रः शुचिः कविः"[९] ॥३१॥

षम्"। "रायस्पोषाय त्वा गृह्णामि"। पो.—यह क्यों (कहा)? "एष्टा रायः प्रेषे"[क] ॥ २९ ॥

सू० अ०—करः बाद में होने पर नमः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—नमः—यहाँ विसर्जनीय; करः—यह; परः = बाद में होने पर; जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) हो जाता है। ॥३७॥

वै० अ०—नमः—यहाँ विसर्जनीय; (करोपरः=) करः बाद में होने पर सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है। "उभयीभ्यो नमस्करोति"। "संवत्सरेण नमस्करोमि"। करः बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "नमः कपर्दिने च" ॥३०॥

सू० अ०-ककार बाद में होने पर वसुः (का विसर्जनीय षकार हो जाता है)।

(क) रायः। पोषम् ॥ एष्टः। रायः। प्रेति ॥ प० पा० ॥

(ख) नमः। करोमि ॥ नमः। करोति ॥ एनः। करोति। नमः। कपर्दिने ॥ प० पा०

---

(१) ५।५।७ (२) ५।१।६ (३) ४।५।५ (४) २।६।६
(५) ६।६।३ (६) २।६।६ (७) ४।४।४ (८) ३।२।१०
(९) १।३।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—वसुरित्यत्र विसर्जनीयः ककारपरो यथाविहितं भजते। यथा—"स इधानो वसुष्कविः"[१]। वसुरिति किम्? "विप्रश्शुचिः कविः"[२]। एघम्पर इति किम्? "मयि वसुः परोवसुः"[३]। "विश्ववसुः पयस्पुष्णात्"[४] ॥३१॥

वै०—वसुरित्यत्र विसर्जनीयः; (ककारपरः=) ककारे परतः; उपचारं प्रपद्यते। "स इधानो वसुष्कविः"[१]। ककारपर इति किम्? "मयि वसुः पुरोवसुः"[३] ॥३१॥

नाध्वरंविश्वतोऽन्तर्जातोविविशुः परुः पुनः ॥३२॥

मा०—अध्वरं विश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुः परुः, पुनः एषु विसर्जनीयः षकारं सकारं वा नापद्यते। यथा—"अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि"[५]। अध्वरं विश्वत इति किम्? "इन्द्रं वो विश्वतस्परि"[६]। "महादेवमन्तः पार्श्वेन"[७]। "भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"[८]। "आत्मानं या आ विविशुः परुः परुः"[९]। विविशुः परुरिति किम्? "वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त"[१०]। "पुनः पुनर्ह्यस्मान्निर्गृह्णाति"[११] ॥३२॥

त्रि०—अध्वरंविश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुः परुः, पुनः इत्येतेषु विसर्जनीया यथाविहितं नापद्यते। यथा—"अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि"[५]। "आविर्निरिडः"[१२]। इति प्राप्तिः। अध्वरविशेषणान्निवृत्तिः। अध्वरमिति किम्? "इन्द्रं वो विश्व-

---

त्रि० अ०—वसुः—यहाँ विसर्जनीय; ककारपरः=ककार बाद में होने पर; जैसा विधान किया गया है वैसा (अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार) हो जाता है।...क ॥३१॥

वै० अ०—वसुः—यहाँ विसर्जनीय; (ककारपरः=) ककार बाद में होने पर; सकारभाव (उपचार) को प्राप्त करता है।——॥३१॥

सू० अ०—अध्वरं विश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुः, परुः तथा पुनः (का-विसर्जनीय सकारभाव को) नहीं (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—अध्वरंविश्वतः...पुनः—इनमें स्थित विसर्जनीय जैसा विधान किया गया है वैसा (=अकार पूर्व में होने पर सकार और अकार से अन्य स्वर पूर्व में होने पर षकार), न=नहीं; होता है। जैसे—"अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि"। "आविः, निः, इडः..." से सकार-भाव की प्राप्ति थी।

(क) वसुः। कविः॥ शुचिः। कविः॥ वसुः। पुरोवसुरिति पुरः—वसुः॥ विश्वा-वसुरिति विश्व—वसुः। परीति॥ प० पा०॥

---

(१) ४।४।४ (२) १।३।१४ (३) ३।२।१० (४) ६।१।६
(५) ४।१।११ (६) १।६।१२ (७) १।४।३६ (८) ४।२।८
(९) ४।२।६ (१०) ४।६।६ (११) ६।५।१ (१२) ८।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्परि"[1]। "महादेवमन्तः पार्श्वेन"[2]। "कखपकार"[3] इति प्राप्तिः। "भूतस्य जातः पतिः"[4]। "पत्नीवेपति"[5] इति प्राप्तिः। "या आविविशुः परुः परुः"[6]। विविशुरिति किम्? "परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त"[7]। "पुनः पुनर्ह्यस्मात्"[8]। "कखपकारपरः"[9] इत्यनयोः प्राप्तिः ॥ ३२ ॥

वै०—(अध्वरंविश्वतोऽन्तर्जातोविविशुः परुः पुनः=) अध्वरंविश्वत इत्यादिषु; विसर्जनीय उपचारं न प्रपद्यते। अध्वरं विश्वतः—"अध्वरं विश्वतः परिभूरसि"[10]। अध्वरमित्युपबन्धाभावे विधिप्रतिषेधयोर्विषयभेदो नावगम्येत। अन्तः—"महादेवमन्तः पार्श्वेन"[2]। जातः—"भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"[11]। विविशुः परुः—"या आविविशुः परुःपरुः"[12]। विविशुरित्युपबन्धेन किम्? "वयुना कृणोत परुष्परुः"[13]। पुनः—"पुनःपुनर्ह्यस्मात्"[8] ॥ ३२ ॥

अध्वरम्—इस विशेषण से (सकारभाव की) निवृत्ति हो जाती है। अध्वरम् यह क्यों (कहा)? "इन्द्रं वो विश्वतस्परि"। "महादेवमन्तः पार्श्वेन"। "अवग्रह (में वर्तमान विसर्जनीय) क, ख अथवा प बाद में होने पर षकार····"—इस (सूत्र) से (सकारभाव की) प्राप्ति थी। "भूतस्य जातः पतिः"। "पत्नीवे, पती ···" इस (सूत्र) से (सकारभाव की) प्राप्ति थी। "या आविविशुः परुः परुः"। विविशुः—यह क्यों (कहा)? "परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त"। "पुनः—पुनर्ह्यस्मात्"। "अवग्रह (में वर्तमान विसर्जनीय) क, ख, अथवा प बाद में होने पर षकार····"—इस (सूत्र) से इन दोनों में (सकारभाव की) प्राप्ति थी ॥३२॥

वै० अ०—(अध्वरं ···पुनः=) अध्वरं विश्वतः इत्यादि में स्थित विसर्जनीय सकारभाव (उपचार) को; न=नहीं; प्राप्त करता है। अध्वरं विश्वतः—"अध्वरं-विश्वतः परिभूरसि"। अध्वरम् इस उपबन्ध के अभाव में विधि और प्रतिषेध के स्थल का पता नहीं चलेगा।[क] ॥३२॥

(क) ८।२४ में विधान किया गया है कि विश्वतः का विसर्जनीय सकार हो जाता है। यदि प्रस्तुत सूत्र में 'अध्वरम्' के बिना ही विश्वतः का ग्रहण किया जाता तो यह अर्थ हो जाता—विश्वतः का विसर्जनीय सकार नहीं होता है। तब यह जानना कठिन हो जाता कि किस स्थल पर सकारभाव होता और किस स्थल पर सकारभाव नहीं होता है। 'अध्वरम्' का ग्रहण करके आचार्य ने यह निश्चित कर दिया है कि 'अध्वरम्' से रहित 'विश्वतः' का विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त करता है और 'अध्वरम्' से सहित 'विश्वतः' का विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है।

---

(१) १।६।१२ (२) १।४।३६ (३) ८।२३ (४) ४।२।८
(५) ८।२७ (६) ४।२।६ (७) ४।६।६ (८) ६।५।१
(९) ८।२३ (१०) ४।१।११ (११) ४।२।८ (१२) ४।२।६
(१३) ४।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धषवति ॥३३॥

मा०—धकारवति षकारवति च पदे परे विसर्जनीयः षकारं च सकारं च नापद्यते। यथा—"बहिः परिधि स्कन्दात्"[१]। "उभयतः ष्णूर्भवति"[२]। "पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति"[३] ॥ ३३ ॥

त्रि०—सान्निध्यादत्र परत्र च सूत्रे नञर्थो लभ्यते; (धषवति =) धकारश्च षकारश्च धषौ तावस्मिन् स्त इति धषवत्, तस्मिन् पदे परभूते सति पूर्वो विसर्जनीयो यथाविहितं नापद्यते। यथा—"बहिःपरिधि स्कन्दात्"[१]। "पुरुषःपुरुषो निधनम्"[३]। "उभयतः ष्णूर्भवति"[२]। "कखपकार"[४] इति प्राप्तिः। परभूत इति किम्? "अधस्पदं कृणुते"[५]। "शुक्रस्य ज्योतिषस्पते"[६] ॥ ३३ ॥

वै०—(धषवति=) धकारवति षकारवति वा पदे परतः; विसर्जनीय उपचारं न प्रपद्यते। यथा—"बहिः परिधि स्कन्दात्"[१]। "उभयतःष्णूः"[२]। नन्वत्र धषवति पदे विसर्जनीय इति किं न स्यात्? "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः" इति न्यायात्, समाम्नाय-

---

सू० अ०—धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त पद बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—सान्निध्य से यहाँ और परवर्ती सूत्र में नञर्थ (निषेध) की प्राप्ति होती है। (धषवति=) धकार और षकार=धषौ, वे दोनों जिसमें हों वह=धषवत्। वह (=धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त) पद बाद में होने पर; पूर्ववर्ती विसर्जनीय विधान के अनुसार (सकारभाव को) नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"बहिः परिधि स्कन्दात्"। "पुरुषः पुरुषो निधनम्"। "उभयतः ष्णूर्भवति"।[क] अवग्रह (में वर्तमान विसर्जनीय क, ख अथवा प बाद में होने···" इस (सूत्र) से प्राप्ति थी। (धकार अथवा षकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अधस्पदं कृणुते"। "शुक्रस्य ज्योतिषस्पते"[ख] ॥३३॥

वै० अ०—(धषवति=) धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त पद बाद में होने पर; विसर्जनीय सकारभाव (उपचार) को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"बहिः परिधि स्कन्दात्"। "उभयतःष्णूः"। (शंका) यहाँ धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त पद में स्थित विसर्जनीय—यह (अर्थ) क्यों नहीं होता है? "व्याख्यान से विशेष ज्ञान

(क) धकारयुक्त पद (परिधि) और षकारयुक्त पद (पुरुषः, ष्णु) बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय षकार और सकार नहीं हुआ है।

(ख) अधः और ज्योतिषः का विसर्जनीय सकार हो गया है, क्योंकि धकार और षकार परवर्ती पद में न होकर विसर्जनीय वाले पद में ही स्थित हैं।

---

(१) २।६।६ (२) ५।१।१ (३) ६।६।३ (४) ८।२३
(५) ४।७।१३ (६) ४।४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधाच्च। तथात्वे हि—"अधस्पदं तमीं कृधि"[१]। "मधुमतीर्न इषस्कृधि"[२] इत्युपचारो न स्यात्। "बहिःपरिधि"[३] इत्यादौ तु स्यात् ॥ ३३ ॥

परिवाप्रपरः ॥ ३४ ॥

मा०—परिवा, प्र, इत्येवंपरो विसर्जनीयः सकारं नापद्यते। यथा—"इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु"[४]। परिवेति किम्? "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे"[५]। "तस्मादितः प्रदानम्"[६]। "बहिः प्राणो वै मनुष्यः"[७] ॥ ३४ ॥

त्रि०—परिवा, प्र एवम्परो विसर्जनीयो यथाविहितं नापद्यते। "दिवः परि वाजेषु"[४]। वेति किम्? "दिवस्परि प्रथमम्"[५]। "तस्मादितः प्रदानं देवाः"[६]। प्र इति ह्रस्वग्रहणं दीर्घस्याप्युपलक्षणम्। यथा—"उदथापरश्च"[८] इति दीर्घग्रहणं ह्रस्वोपलक्ष-

---

(होता है")—इस न्याय से और वेद से विरोध होने से।[क] वैसा होने पर—"अधस्पदं तमीं कृधि"। "मधुमतीर्न इषस्कृधि"—इत्यादि में सकारभाव (उपचार) नहीं होगा। किन्तु "बहिः परिधि" इत्यादि में हो जायेगा।।३३।।

सू० अ०—परिवा तथा प्र बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—परिवाप्रपरः= परिवा, प्र—ये बाद में होने पर; विसर्जनीय विधान के अनुसार (सकारभाव को) नहीं प्राप्त करता है।[ख] "दिवः परि वाजेषु"। वा-यह क्यों (कहा)? "दिवस्परि प्रथमम्"। "तस्मादितः प्रदानं देवाः"। 'प्र'—यह ह्रस्व का ग्रहण दीर्घ का भी बोधक है। जैसे—"उत् और अथा बाद में होने पर

(क) सूत्र की शब्दावली के अनुसार सूत्र का यह अर्थ हो सकता है—"धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त पद में (स्थित विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है)। किन्तु सूत्र की शब्दावली को देखने से जो अर्थ प्रतीत होता है वह सर्वदा ठीक नहीं होता है। सूत्र का विशेष ज्ञान व्याख्यान से होता है। दूसरी बात यह है कि सूत्र का यह अर्थ किया जाने पर वेद से विरोध हो जाता है। यदि उपर्युक्त अर्थ को माना जाये तो (१) "अधस्पदं तमीं कृधि" तथा "मधुमतीर्न इषस्कृधि" में विसर्जनीय सकार नहीं होगा, जबकि वेद (तै० सं०) में विसर्जनीय का सकार होता है; (२) 'बहिः परिधिः' में विसर्जनीय सकार हो जायेगा, जबकि वेद (तै० सं०) में विसर्जनीय सकार नहीं होता है। इन कारणों से सूत्र का वही अर्थ होगा जो भाष्यकार ने किया है।

(ख) ८।२८ का अपवाद है।

---

(१) १।६।१२ (२) १।४।३ (३) ४।४।४ (४) ४।२।११
(५) १।३।१४ (६) ३।२।६ (७) ६।१।१ (८) ६।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णार्थम्। तर्हि "प्रापूर्वश्च"[१] इति सूत्रं व्यर्थम्। प्रशब्दस्यानुवृत्तस्यैव दीर्घोपलक्षकत्वादिति चेत्, उच्यते। प्रत्यक्षगृहीतस्यैवोपलक्षकत्वं नानुकृष्टस्येति विज्ञेयम्। तथाहि—"वाहन उह्यमानः"[२] इत्यत्र चकारेण प्रशब्दस्तत्रानुकृष्टः। अत्र तु परिवाप्रपर इति प्रत्यक्षगृहीतत्वादुपलक्षकत्वं भवति। तथासतीदमप्युदाहरणम्—"बहिःप्राणो वै मनुष्यः"[३] ॥ २४ ॥

वै०—(परिवाप्रपरः=) परिवा, प्र इत्यनयोः परतः, विसर्जनीय उपचारं न प्रपद्यते। "दिवः परि वाजेषु"[४]। वाशब्दाग्रहणे विधिप्रतिषेधयोर्विषयभेदो न स्यात्। न च "अश्मनस्तमसः"[५] इत्येतौ प्रतिषेधविषयतामर्हतः। तद्ग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। प्र इत्यकारान्तग्रहणम्। "इतः प्रदानँ ह्यमुष्मिन् लोके"[६]। "बहिः प्राणो वै"[१] ॥ २४ ॥

(नकार रेफ अथवा यकार नहीं होता है)"—यहाँ दीर्घ का ग्रहण ह्रस्व के बोध के लिए (भी) है। तब "प्रा पूर्व में होने पर भी (वन् का नकार णकार हो जाता है)" यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि 'प्र' शब्द ही (पूर्ववर्ती सूत्र=७।५ से) अनुवृत्त दीर्घ (प्रा) का बोधक है। यदि यह कहो तो बतलाते हैं। प्रत्यक्ष रूप से गृहीत (पद) का ही बोधकत्व (होता है), अनुवृत्त (पद) का नहीं—यह जानना चाहिए। क्योंकि "(प्र पूर्व में होने पर) वाहनः, उह्यमानः----" इस (सूत्र में प्रयुक्त) चकार से 'प्र' शब्द वहाँ अनुवृत्त है। किन्तु यहाँ "परिवा तथा प्र बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है)" तो प्रत्यक्ष रूप से गृहीत होने से बोधकत्व होता है। वैसा होने पर यह भी उदाहरण है—"बहिः प्राणो वै मनुष्यः"[क] ॥ २४ ॥

वै० अ० - (परिवाप्रपरः=) परिवा और प्र—ये दोनों बाद में होने पर; विसर्जनीय सकारभाव (उपचार) को नहीं प्राप्त करता है। 'दिवः परि वाजेषु"। (सूत्र में) वा शब्द का ग्रहण न होने पर विधि और निषेध के स्थलों में भेद नहीं होगा और 'अश्मनः' और 'तमसः'—ये दोनों प्रतिषेध के स्थल बनने के योग्य नहीं

(क) सिद्धान्ती—यद्यपि सूत्र में 'प्र' शब्द का ग्रहण हुआ है, तथापि इससे 'प्रा' का भी बोध होता है। इससे "बहिः प्राणो वै" प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण है। 'प्रा' बाद में होने पर विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है।

पूर्वपक्षी—यदि ह्रस्व से दीर्घ का बोध हो जाता है तब ७।७ व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि 'प्रा' पूर्व में होने पर वन् का नकार ७।६ से ही णकार हो जायेगा।

सिद्धान्ती—सूत्र में उल्लिखित ह्रस्व ही दीर्घ का बोधक होता है—यह नियम है। ७।६ में 'प्र' उल्लिखित नहीं है। ७।४ से उसकी अनुवृत्ति ७।७ में हो रही है। अनुवृत्ति से प्राप्त होने से 'प्र', 'प्रा' का बोधक नहीं है। अतः ७।७ व्यर्थ नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में 'प्र' उल्लिखित है, अतः 'प्र' 'प्रा' का भी बोधक है।

---

(१) ७।७ (२) ७।६ (३) ६।१।१
(४) ४।२।११ (५) ८।२४ (६) १।७।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न निर्णं निः ॥ ३५ ॥

मा०—निरित्येतस्मिन् प्रपरस्य विसर्जनीयस्य षत्वप्रतिषेधो न भवति। अत्र षत्वमेव भवति। यथा—"प्राञ्चौ निष्क्रामतः"[१]। "निष्प्र शुक्रशोचिषा"[२] ॥ ३५ ॥

त्रि०—निरित्यत्र विसर्जनीयस्य प्रपरत्वेऽपि षत्वनिषेधो न भवति, षत्वमेव भवतीत्यर्थः। "प्राञ्चौ निर्णिष्प्राञ्चौ प्राञ्चौ निः"[१]। "आत्मना परा निष्प्र शुक्रशोचिषा"[२] ॥३५॥

हैं। क्योंकि उनके ग्रहण के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग (उपस्थित) हो जायेगा।[क] 'प्र'—यहाँ अकारान्त (प्र्+अ) का ग्रहण है। "इतःप्रदानꣳ ह्यमुष्मिन् लोके"। 'बहिः प्राणो वै" ॥३४॥

सू० अ०—निः (के विसर्जनीय पर ८।३४ में उक्त निषेध) नहीं (लागू होता है)।

त्रि० अ०—निः के विसर्जनीय के बाद में प्र होने पर भी षत्व का निषेध;

(क) ८।२८ में विधान किया गया है कि 'परि' और 'पुत्' बाद में होने दिवः और सहसः का विसर्जनीय सकार हो जाता है। यदि प्रस्तुत सूत्र में वा के बिना ही परि का ग्रहण किया जाता तो यह अर्थ होता—परि और प्र बाद में होने पर विसर्जनीय सकार नहीं होता है। तब यह जानना कठिन हो जाता कि परि बाद में होने पर विसर्जनीय कब सकार होता है और कब सकार नही होता है। वा का ग्रहण करके आचार्य ने यह निश्चित कर दिया है कि परिवा (वा सहित परि) बाद में होने पर विसर्जनीय सकार नहीं होता है और केवल (वा रहित) परि बाद में होने पर विसर्जनीय सकार होता है।

पूर्वपक्षी—८।२४ मे यह विधान किया गया है कि अश्मनः और तमसः का विसर्जनीय, पकार बाद में होने पर, सकार हो जाता है। जैसे—त्वमस्मनस्परि और उद्वयं तमसस्परि। ऐसा कोई स्थल नहीं है, जहाँ अश्मनः और तमसः के बाद में परिवा हो। इससे प्रस्तुत सूत्र में उक्त निषेध अश्मनः और तमसः पदों के विसर्जनीय पर लागू नहीं होता है। सूत्र में वा का ग्रहण न होता तो इन दोनों पदों पर प्रस्तुत निषेध लागू होता।

सिद्धान्ती—अश्मनः और तमसः प्रस्तुत निषेध के स्थल नहीं हो सकते हैं। यदि सूत्र में वा का ग्रहण न करके अश्मनः और तमसः के उपर्युक्त उदाहरणों में प्रस्तुत निषेध को लागू किया जाता है तो ८।२४ में अश्मनः और तमसः का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ ८।२४ के अनुसार अश्मनः और तमसः का विसर्जनीय सकार हो गया है।

---

(१) ६।४।१० (२) ६।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—निरिति विसर्जनीयस्योपचारप्रतिषेधो न भवति। अत्र शाखान्तरीयो निष्पुरीषादिशब्द उदाहरणम्। तत्र "अवग्रहः"[१] इति प्राप्तिः। "धषवति"[२] इति प्रतिषेधः। ननु "अपिगृह्य प्राञ्चौ निष्क्रामतः"[३] इत्यत्र "प्राञ्चौ निः"[३] इति क्रमस्य जटोदाहरणं किं न स्यात्? जटाया एतच्छास्त्राविषयत्वात्। शाखान्तरं तु "तनुतः"[४] इत्यादिसिद्धयर्थं "विशाखे स्तुतशस्त्रे"[५] इत्यादीनां प्रत्युदाहरणार्थं च विषयतया परिगृहीतम्। तत एव सर्वनिर्वाहात्—नासमाम्नाता जटाऽस्य शास्त्रस्य विषयतया परिकल्प्या। प्रत्युत् अविषयत्वं च जटायाः एकादशाध्याये वक्ष्यत इत्यवोचाम तस्माच्च जटोदाहरणम्। ततश्च "प्राञ्चौ निर्णिः प्राञ्चौ प्राञ्चौ निः"[१] इत्येव जटा वक्तव्या। यदप्युदाहृतं कैश्चित् "आत्मना परा निष्प्र शुक्रशोचिषा"[३] इति तदप्यनुदाहरणम्। पदसङ्ख्याबोधकस्य पञ्चाशत्पदानुक्रमणवाक्यस्य

न=नहीं; होता है, षत्व होता है—यह अर्थ है। "प्राञ्चौ निर्णिष्प्राञ्चौ प्राञ्चौ निः"क। "आत्मना परा निष्प्र शुक्रशोचिषा"॥ ३५॥

वै० अ०—निः के विसर्जनीय के सकारभाव (उपचार) का निषेध; न=नहीं होता है। यहाँ दूसरी शाखा में उपलब्ध 'निष्पुरीष' आदि उदाहरण हैं। वहाँ "अवग्रह (में वर्तमान विसर्जनीय)···"—इस (सूत्र) से (सकारभाव की) प्राप्ति (होती है)। "धकारयुक्त अथवा षकारयुक्त पद बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को नहीं प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) से निषेध हो गया था। (शंका) "अपिगृह्य प्राञ्चौ निष्क्रामतः"—यहाँ पर "प्राञ्चौ निः"—इस क्रम (वर्ग) का जटा-पाठ (प्राञ्चौ निर्णिष्प्राञ्चौ) उदाहरण क्यों नहीं होता है। (यह युक्त नहीं है) क्योंकि जटा-पाठ इस शास्त्र का स्थल (विषय) नहीं है। "तनुतः" इत्यादि की सिद्धि के लिए और "विशाखे स्तुतशस्त्रे····" इत्यादि के प्रत्युदाहरण के लिए दूसरी शाखा को स्थल (विषय) के रूप में स्वीकार किया गया है, उससे ही सभी का निर्वाह हो जाने से असमाम्नात जटा-पाठ को इस शास्त्र का विषय नहीं कल्पित करना चाहिए। प्रत्युत् जटा-पाठ का विषय न होना एकादश अध्याय में कहा जायेगा—यह बतलाते हैं। इसलिए जटा-पाठ उदाहरण नहीं है। और इस कारण "प्राञ्चौ निर्णिः प्राञ्चौ प्राञ्चौ निः"—इस प्रकार ही जटा का उच्चारण करना चाहिए। किन्हीं के द्वारा जो "आत्मना परा निष्प्र शुक्रशोचिषा"—यह उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है वह भी युक्त उदाहरण नहीं है। पदों की संख्या का बोधक पचास पदों का सूचक (पचास-पचास पदों के विभाग की सूची के रूप में अवस्थित) वाक्य लक्षण के रूप में स्थित होने के कारण वेद नहीं है, तीन प्रकार के समाम्नाय के अन्तर्गत नहीं है और इसे गलती से संहिता-पाठ समझ लिया गया

(क) प्राञ्चौ। निरिति।

---

(१) ८।२३ (२) ८।३३ (३) ६।४।१०
(४) ८।८ (५) ४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षणरूपतया वेदत्वाभावात्त्रिविधसमाम्नायानन्तर्भूतत्वाद्विप्रतिपन्नसंहितापाठत्वाच्च । तस्मादुचितोदाहरणापरिज्ञाननिबन्धनोऽयं विषयपरिग्रह इत्यलमनेन ॥ ३५ ॥

है । इसलिए उचित उदाहरण का ज्ञान न होने के कारण इसे विषय मान लिया गया है—अब इससे बस कीजिए[क] ॥३५॥

(क) तै० सं० के एक-एक अनुवाक को ५०—५० पदों वाले विभागों में विभक्त किया गया है और अनुवाक के अन्त में प्रत्येक विभाग के अन्तिम पद को निर्दिष्ट कर दिया गया है । इन अन्तिम पदों से एक वाक्य (पद-समूह) बन जाता है । त्रि०र० में ६।४।१० के अन्त मे विद्यमान इस पद-समूह के एक अंश को प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है—आत्मना परा निष्प्र शुक्र शोचिषा । वैदिकाभरणकार का कहना है कि यह युक्त उदाहरण नहीं है, क्योंकि (१) यह वेद नहीं है । यह वाक्य वेद के एक अंश (एक अनुवाक) के विभाग का सूचक है; (२) प्रातिशाख्य का सम्बन्ध-संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ से है । इस वाक्य का किसी में भी अन्तर्भाव नहीं होता है; (३) पूर्वपक्षी ने भ्रान्ति से इसे सं० पा० समझ लिया है । यह संहिता-पाठ नहीं है । यह संहिता-पाठ के विषय में यह वाक्य अनुवाकस्थ पदों के संख्या-सम्बन्धी तथ्यों को प्रस्तुत करता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ नवमोऽध्यायः

ऊष्मपरोऽघोषपरो लुप्यते काण्डमायनस्य ॥ १ ॥

मा०—ऊष्मपरो विसर्जनीयः अघोषपरो लोपमापद्यते। काण्डमायनस्याचार्यस्य मते। यथा—"वायव स्थोपायवस्थ"[१]। "चतुस्तनां करोति"[२]। अघोषपर इति किम्? "अद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः"[३]। "तिस्रः श्यामा वशाः"[४] ॥ १ ॥

त्रि०—ऊष्मपरो विसर्जनीयः काण्डमायनस्य मते लुप्यते तस्मिन्नूष्मणि; (अघोषपरः=) अघोषपरे सति। यथा—"चतुस्तनां करोति"[२]। "वायवस्थोपायवस्थ"[१]। काण्डमायनग्रहणं विकल्पार्थम्। अन्येषां मते घोषवत्परेऽपि ऊष्मणि विसर्जनीयो लुप्यते। यथा—"अद्भ्यः स्वाहा"[३]। "ये शुक्लास्युस्तम्"[५]। "यो हतमनास्वयंपाप इव स्यात्"[६]। "दानकामा मे प्रजास्युः"[ख]। एवञ्च विकल्पाश्रयणे सति लक्षणान्तरगतं "येषु पदेषु लुप्यते

सू० अ०—अघोष (वर्ण) है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है—काण्डमायन के मत में।

त्रि० अ०—काण्डमायनस्य=काण्डमायन के मत में; ऊष्मपरः=ऊष्म (-वर्ण) है बाद में जिसके ऐसा; विसर्जनीय; लुप्यते=लुप्त हो जाता है; (अघोषपरः=) यदि उस ऊष्म (-वर्ण) के बाद में अघोष (-वर्ण) हो। जैसे—"चतुस्तनां करोति"। "वायवस्थोपायवस्थ"क। काण्डमायन (आचार्य) का ग्रहण विकल्प के लिए है। अन्य (आचार्यों) के मत में घोषवत् (वर्ण) है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर भी विसर्जनीय लुप्त हो जाता है। जैसे—"अद्भ्यः स्वाहा"। "ये शुक्लास्युस्तम्"। 'यो हतमनास्वयंपाप इव स्यात्"। "दानकामा मे प्रजास्युः"ख। और इस प्रकार विकल्प का आश्रय लेने पर दूसरे लक्षण

(क) चतुस्तनामिति चतुः—स्तनाम् ॥प० पा०॥

वायवः। स्थ। उपायव इत्युप—आयवः। स्थ ॥प० पा०॥

विसर्जनीय के बाद में ऊष्म-वर्ण (सकार) तथा ऊष्म-वर्ण (सकार) के बाद में अघोष-वर्ण (क्रमशः तकार और थकार) हैं। अतः काण्डमायन आचार्य के अनुसार विसर्जनीय का लोप हो गया है।

(ख) अद्भ्य इत्यत्—भ्यः। स्वाहा ॥प० पा०

विसर्जनीय के बाद में ऊष्म-वर्ण (सकार) है और ऊष्म-वर्ण सकार के बाद में घोषवत् वर्ण (क्रमशः—वकार, यकार, वकार तथा यकार) हैं, अतः

---

(१) १।२।१ (२) ५।१।६ (३) १।४।१३ (४) ५।६।१२
(५) २।३।१ (६) २।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तानि पदानि वक्ष्यामः" इति वचनं सरलं भवति। ऊष्मा परो यस्मात् स ऊष्मपरः। न घोषवानघोषः असौ परो यस्मात् स तथोक्तः, तस्मिन्नघोषपरे ॥ १ ॥

वै०—विसर्जनीयस्याधिकारोऽनुवर्तते। (ऊष्मपरोऽघोषपरः=) ऊष्मण्यघोषे वा परतः; इत्यर्थो न घटते। ऊष्मग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। हकाराघोषपर इति सिद्धेः, पर-शब्दाभ्यासवैयर्थ्यं च स्यात्। तस्मात्पाठक्रमेण ऊष्मणस्साक्षात्परत्वमघोषस्य तु तदव्यव-धानतश्च परत्वमिहाभिप्रेतं वेदितव्यम्। तदयमर्थः - अघोषपर ऊष्मणि परतो विसर्जनीयो लुप्यते। "अध्वनस्कभ्नीत"[१]। "मा वस्तेन ईशत"[२]। "वायवस्थ"[३]। "निष्टनिहि"[४]। काण्डमायनस्य ग्रहणं पूजार्थम्। न तु विकल्पार्थम्। केचिद्विकल्पार्थमिच्छन्तो घोषवत्प-रेऽपि ऊष्मणि परतो लोपमाहुः। "अत्र वा एतर्हि यज्ञश्रितः"[५]। "स्योनस्योनम्"[६]।

ग्रन्थ में स्थित "जिन पदों में लुप्त होता है उन पदों को कहेंगे"—यह कथन सरल हो जाता है।[क] ऊष्मा बाद में है जिससे वह=ऊष्मपर। जो घोषवान् नहीं है वह=अघोष। वह (अघोष) है बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (=अघोषपर) है वह अघोषपर (अघोष है बाद में जिसके) बाद में होने पर ॥१॥

वै० अ०—विसर्जनीय के अधिकार की (पूर्ववर्ती अध्याय से) अनुवृत्ति हो रही है। ऊष्मन् अथवा अघोष बाद में होने पर यह अर्थ ठीक नहीं बैठता है। 'हकार और अघोष बाद में होने पर' इस (कथन) से कार्य की सिद्धि हो जाने से (सूत्र में) ऊष्मन् के ग्रहण के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। और 'पर' शब्द के दो बार कथन का भी वैयर्थ्य हो जायेगा। इसलिए पाठ-क्रम से ऊष्मन् का साक्षात् परत्व, अघोष का तो उस (ऊष्मन्) के व्यवधान से परत्व—यहाँ अभीष्ट जानना चाहिए।[ख] इससे (सूत्र का) यह अर्थ हुआ—अघोष है बाद में

'विसर्जनीय' का लोप हो गया है। काण्डमायन के मत में तो यहाँ लोप नहीं होता है।

(क) समानसंधि नामक ग्रन्थ का यह प्रथम वाक्य है—

"अथ यजुस्सँहितायामाकारप्लुतपूर्वो घोषवद्व्यञ्जनोत्तरसषकारपरो विसर्जनीयो येषु पदेषु लुप्यते तानि पदानि वक्ष्यामः" यजुर्वेद—संहिता में जिन पदों में आकार अथवा प्लुत पूर्व में होने पर तथा घोषवत् व्यञ्जन बाद में है जिसके ऐसा सकार अथवा षकार बाद में होने पर विसर्जनीय लुप्त होता है—उन पदों को कहेंगे। यह वाक्य तभी बोधगम्य होता है जब प्रस्तुत में विकल्प का आश्रय लिया जाये। ऐसा न करने पर इस वाक्य का प्रस्तुत सूत्र से विरोध हो जायेगा।

(ख) सूत्रस्थ 'ऊष्मपरोऽघोषपरः' का यह अर्थ युक्त नहीं है—ऊष्मन् अथवा अघोष बाद में होने पर। सूत्रकार को यदि यह अर्थ अभीष्ट होता तो (१) वे इस प्रकार

---

(१) १।७।८ (२) १।१।१ (३) ४।६।६
(४) २।६।९ (५) १।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्न। विकल्पार्थत्वे "लोपशाकल्यस्य"[1] इतिवत्पक्षान्तरे लोपाभावो हि स्यात्। न तु विषयान्तरे लोपः। उत्तरसूत्रापवादोऽयम् ॥ १ ॥

अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम् ॥ २ ॥

मा०—अघोषपरो विसर्जनीयः तस्य अघोषस्य सस्थानमूष्माणमापद्यते। यथा—"यः कामयेत"[2]। "अग्निश्च मे"[3]। उलूकः शशस्ते"[4]। "अग्निस्ते तेजः"[5]। "यः पाप्मना गृहीतः स्यात्"[6] ॥ २ ॥

त्रि०—अघोषपरो विसर्जनीयः; तस्य=अघोषस्य; सस्थानमूष्माणं भजते। यथा—

जिसके ऐसा ऊष्मन् बाद में होने पर विसर्जनीय लुप्त हो जाता है। (जैसे) "अध्वनस्कर्म्नीत्"। "मा वस्तेन ईशत"। "वायवस्थ"। "निष्टनिहि"। काण्मायन का ग्रहण पूजा के लिए है। विकल्प के लिए तो नहीं है। कुछ लोग (काण्डमायन-के ग्रहण को) विकल्प के लिए अभीष्ट मानते हुए घोषवत् है बाद में जिसके ऐसा ऊष्मन् बाद में होने पर (विसर्जनीय का) लोप बतलाते हैं। वह ठीक नहीं है। विकल्प के लिए होने पर" अवर्ण पूर्व में होने पर पदान्त यकार तथा वकार का विकल्प से लोप हो जाता है" इस (सूत्र) की तरह दूसरे पक्ष में लोप का अभाव होगा। दूसरे स्थल में लोप तो नहीं (होगा)।[क] यह (सूत्र) परवर्ती सूत्र का अपवाद है।

सू० अ०—अघोष (-वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) उस (अघोष) के समान स्थान वाला ऊष्म (-वर्ण) (हो जाता है)।

त्रि० अ०—अघोषपरः=अघोष (-वर्ण) है बाद में जिसके वह; विसर्जनीय; तस्य=उस=अघोष के; सस्थानमूष्माणम्=समान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण; हो जाता है। जैसे—"य○कामयेत"[ख]।

कहते—हकार और अघोष बाद में होने पर। हकार से अन्य ऊष्मन् तो अघोष ही है; (२) वे 'पर' शब्द का दो बार कथन न करते। अतः प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय तब लुप्त होता है जब विसर्जनीय के अव्यवहित बाद में ऊष्मन् हो और ऊष्मन् के बाद में अघोष हो।

(क) यहाँ त्रिभाष्यरत्नकार की ओर संकेत है।

(ख) यः। कामयेत ॥प० पा० विसर्जनीय के बाद में ककार (अघोष-वर्ण) है। अतः विसर्जनीय ककार के समान उच्चारण--स्थान वाला ऊष्म-वर्ण (=जिह्वामूलीय) हो गया है। ककार और जिह्वामूलीय—ये दोनों-२।३५ से और २।४४ से समान उच्चारण—स्थान वाले हैं।

---

(१) पा० ८।३।१९ (२) २।१।२ (३) ४।७।६ (४) ५।५।१८
(५) १।१।१० (६) २।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"य≍कामयेत"[१]। "अग्निश्च मे"[२]। "उलूकश्शशः"[३]। "अग्निस्ते तेजः"[४]। "य≍पाप्मना गृहीतः"[५] ॥ २ ॥

वै०—(अघोषपरः=) अघोषेषु परतः; विसर्जनीयः; तस्य=अघोषस्य; (सस्थानम्=) समानस्थानम्; ऊष्माणमादेशं याति। "अनपगा≍कुरुते"[६]। "वाजश्च प्रसवश्च"[७]। "शुनं नः फालाः"[८]। "अग्निश्शुचिव्रततमः"[९]। "कृष्णश्श्वा चतुरत्रः"[१०]। "रोचना दिवश्शनथद्वृत्रम्"[११]। "षोडशिनष्षोडशिस्तवम्"[१२]। "यथा नस्सर्वमिज्जगद-

---

"अग्निश्च मे"क। "उलूकश्शशः"ख। "अग्निस्ते तेजः"ग। "य≍पाप्मना गृहीतः"घ ॥ २ ॥

वै० अ०—(अघोषपरः=) अघोष (-वर्ण) बाद में होने पर; विसर्जनीय; तस्य=उस=अघोष के; (सस्थानम्=) समान स्थान वाले; ऊष्माणम्=ऊष्म-वर्ण के आदेश को प्राप्त करता है।"'ङ ॥ २ ॥

(क) अग्निः। च। मे ॥प० पा०॥

विसर्जनीय के बाद में चकार (अघोष-वर्ण) है। अतः विसर्जनीय चकार के समान उच्चारण स्थान वाला ऊष्म-वर्ण (=शकार) हो गया है। चकार और शकार—ये दोनों—२।२६ और २।४४ से समान उच्चारण—स्थान वाले हैं।

(ख) उलूकः। शशः ॥प० पा०॥

विसर्जनीय के बाद में शकार (अघोष ऊष्म-वर्ण) है अतः विसर्जनीय शकार के समान उच्चारण-स्थान वाला ऊष्म-वर्ण(=शकार) हो गया है।

(ग) अग्निः। ते। तेजः ॥प० प०॥

विसर्जनीय के बाद में तकार (अघोष-वर्ण) है। अतः विसर्जनीय तकार के समान उच्चारण-स्थान वाला ऊष्म-वर्ण (=सकार) हो गया है। तकार और सकार—ये दोनों—२।३८ और २।४४ से समान उच्चारण स्थान वाले हैं।

(घ) यः। पाप्मना। गृहीतः ॥प० पा०

विसर्जनीय के बाद में पकार (अघोष वर्ण) है। अतः विसर्जनीय पकार के समान उच्चारण—स्थान वाला ऊष्म-वर्ण (=उपध्मानीय) हो गया है। पकार और उपध्मानीय—ये दोनों २।३४ और २।४४ से समान उच्चारण - स्थान वाले हैं।

(ङ) अनपगा इत्यनप—गाः। कुरुते ॥ वाजः। च। प्रसव इति प्र—सवः। च ॥ शुनम्। नः। फालाः ॥ अग्निः। शुचिव्रततम इति शुचिव्रत—तमः ॥ कृष्णः।

---

(१) २।१।२ (२) ४।७।६ (३) ५।५।१८ (४) १।१।१०
(५) २।१।३ (६) १।५'८ (७) १।७।६ (८) ४।२।५
(९) १।३।१४ (१०) ५।५।१६ (११) ४।३।१३ (१२) ६।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यक्ष्मम्"[1]। 'तेभ्यस्स्वाहा"[2]। "विप्रियास्स्मः"[3]। अघोषपर इति किम् ?" "नमो रथिभ्यः"[4] ॥ २ ॥

न क्षपरः ॥ ३ ॥

मा०—न खलु क्षपरो विसर्जनीयः सस्थानमूष्माणमापद्यते। यथा—"घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्"[5]। "उभयतः ष्णूर्भवतीतश्च"[6] ॥ ३ ॥

त्रि०—क्षपरो विसर्जनीयः पूर्वविधिं न भजते। यथा—"मनः क्षेमे"[7]। "उभयतः ष्णूर्भवति"[8]। "घनाघनः क्षोभणः"[9]। "पूर्वोऽष्टुः क्षीयते"[10]। "द्यौः क्षामा रेरिहत्"[11]। क्षकारस्याघोषत्वात् प्राप्तिः ॥ ३ ॥

वै०—क्षपर इत्यकारान्तग्रहणम्। न तु केवलम्। तथा "शर्परे विसर्जनीयः"[12] इति च मूलशास्त्रे स्मर्यते। तदयमर्थः—क्षपरो विसर्जनीयः परस्य सस्थानसूष्माणं न याति।

सू० अ०—क्ष बाद में होने पर (विसर्जनीय) ऊष्म (-वर्ण) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—क्षपरः=क्ष बाद में होने पर; विसर्जनीय पूर्ववर्ती विधान को; न= नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"मनः क्षेमे"। "उभयतः ष्णूर्भवति"। "घनाघनः क्षोभणः"। "पूर्वोऽष्टुः क्षीयते"। "द्यौः क्षामा रेरिहत्"। क्षकार के अघोष होने से पूर्ववर्ती विधि की प्राप्ति थी।[क] ॥३॥

वै० अ०—क्ष बाद में होने पर—यहाँ अकारान्त (क्ष) का ग्रहण होता है। केवल का नहीं।[ख] "शर् बाद में होने पर विसर्जनीय"—यहाँ व्याकरण में भी वैसा माना गया है।[ग] इससे यह अर्थ हुआ—क्षपरः='क्ष्' है बाद में जिसके वह;

श्वा ॥ दिवः। श्नथत् ॥ षोडशिनः। षोडशित्वमिति षोडशि—त्वम् ॥ नः। सर्वम् ॥ तेभ्यः। स्वाहा ॥ विप्रिया इति वि—प्रियाः। स्मः ॥

(क) विसर्जनीय के बाद में क्ष् (क्+ष्) है। क्ष् अघोष है। अतः ६।२ से विसर्जनीय को समान स्थान वाले 'ऊष्म'-वर्ण (≍क) की प्राप्ति थी। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है।

(ख) अकारान्त 'क्ष' का ग्रहण करने से यह लाभ होता है कि इससे सभी स्वरों में अन्त होने वाले 'क्ष्' का ग्रहण होता है। दे० १।२१ पर त्रि०।

(ग) सूत्र का पूरा अर्थ यह है—शर् (श, ष, स) बाद में है जिसके वह खर् (ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स) बाद में होने पर विसर्जनीय का विसर्जनीय होता है, अन्य वर्ण नहीं। जैसे—"घनाघनः क्षोभणः। कः त्सरुः।"

---

(१) ४।५।१ (२) १।८।७ (३) ६।२।२ (४) १।५।४
(५) ४।६।४ (६) ५।१।१ (७) ५।२।१
(८) ३।१।७ (९) १।३।१४ (१०) पा० ८।३।३५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वर्चः क्षत्रियाय"[१]। "द्यौः क्षामा रेरिहत्"[२]। "घनाघनः क्षोभणः"[३]। "मृत्योः क्षेत्राणि"[४]। "उभयतः ष्णूर्भवति"[५] ॥ ३ ॥

कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः ॥ ४ ॥

मा०—अग्निवेश्यवाल्मीक्योः शाखिनोः आचार्ययोः कवर्गपरश्च पवर्गपरश्च विसर्जनीयः सस्थानमूष्माणं नापद्यते। नेति चकारो ज्ञापयति। यथा—"यः कामयेत"[६]। "अग्निः पशुरासीत्"[७] ॥ ४ ॥

त्रि०—चकारो निषेधाकर्षकः। अग्निवेश्यवाल्मीक्योश्शाखिनोराचार्ययोर्मते; (कपवर्गपरः =) कवर्गपरः पवर्गपरो वा; पूर्वविधिं नापद्यते। "यः कामयेत"[६]। "अग्निः पशुरासीत्"[७]। ककारश्च पकारश्च कपौ तयोर्वर्गौ कपवर्गौ तौ परौ यस्मात् स तथोक्तः। एवम्पर इति किम्? "मधुश्च माधवश्च"[८]। "नमस्तल्प्याय"[९]। "आशुश्शिशानः"[१०]। "यस्सोमं वमिति"[११] ॥ ४ ॥

विसर्जनीय वाद वाले (=अघोष ककार) के समान स्थान वाला 'ऊष्म' वर्ण; न= नहीं; होता है।...॥ ३ ॥

सू० अ०—अग्निवेश्य और वाल्मीकि (आचार्यों) के मत में कवर्ग (क ख ग घ ङ) और पवर्ग (प फ ब भ म) बाद में होने पर (विसर्जनीय ऊष्म-वर्ण नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध की अनुवृत्ति करता है। अग्निवेश्यवाल्मीक्योः=अग्निवेश्य और वाल्मीकि आचार्यों के मत में; (कपवर्गपरः =) कवर्ग है बाद में जिसके अथवा पवर्ग है बाद में जिसके वह (विसर्जनीय); पूर्ववर्ती विधान को नहीं प्राप्त करता है। "यः कामयेत"।[क] "अग्निः पशुरासीत्"।[क] ककार और पकार=कपौ उनके वर्ग=कपवर्गौ, वे दोनों (वर्ग) हैं बाद में जिसके वह वैसा कहा गया (=कपवर्गपरः) है। ये (कवर्ग अथवा पवर्ग) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "मधुश्च माधवश्च"। "नमस्तल्प्याय"। "आशुश्शिशानः"। "यस्सोमं वमिति"।[ख] ॥ ४ ॥

(क) विसर्जनीय के बाद में ककार तथा पकार हैं। अतः विसर्जनीय जिह्वामूलीय और उपध्मानीय नहीं हुआ है।

(ख) मधुः। च। माधवः। च॥ नमः। तल्प्याय॥ आशुः। शिशानः। यः। सोमम्॥

विसर्जनीय के बाद में न तो कवर्ग का कोई वर्ण है और न पवर्ग का। अतः

---

(१) १।८।१२ (२) १।३।१४ (३) ४।६।४ (४) ७।२।७
(५) ५।१।१ (६) २।१।२ (७) ५।७।२६ (८) १।४।१४
(९) ४।५।२ (१०) ४।६।४ (११) २।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—कपयोर्वर्गौ कपवर्गौ। (कपवर्गपरः=) तयोः परतः; विसर्जनीयः तत्स्थानस्थानमूष्माणं न याति आग्निवेश्यवाल्मीक्योर्मते। "यः कामयेत"[1]। "वायुः पूतः"[2]। आग्निवेश्यादिग्रहणं विकल्पार्थम् ॥ ४ ॥

ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम् ॥ ५ ॥

मा०—ऊष्मपर एव विसर्जनीयः सस्थानमूष्माणमापद्यते। यथा—"सिंधोः शिंशुमारः"[3]। "यस्यैवं विदुषः षोडशी"[4] ॥ ५ ॥

त्रि०—एकेषामाचार्याणां मते ऊष्मपर एव विसर्जनीयः पूर्वविधिं न भजते। यथा—"आशुः शिशानः"[5]। एवकारेण किम्? "मनस्तत्वाय"[6]। य≍कामयेत"[7] ॥५॥

वै०—(एकेषामाचार्याणाम्=) केषांचिदाचार्याणां मते; (ऊष्मपर एव=)

वै० अ०—ककार और पकार के वर्ग=कवर्ग और पवर्ग। (कपवर्गपरः=) वे दोनों (कवर्ग और पवर्ग) बाद में होने पर; विसर्जनीय उनके समान स्थान वाला ऊष्म (वर्ण); न=नहीं; होता है। आग्निवेश्यवाल्मीक्योः=अग्निवेश्य और वाल्मीकि (आचार्यों) के मत में। "यः कामयेत"। "वायुः पूतः"। अग्निवेश्य इत्यादि का ग्रहण विकल्प के लिए है ॥ ४ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के अनुसार ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर ही (विसर्जनीय ऊष्म-वण नहीं होता है)।

त्रि० अ०—एकेषामाचार्याणाम्=कतिपय आचार्यों के मत में; ऊष्मपर एव=ऊष्म (-वण) है बाद में जिसके वह विसर्जनीय हो; पूर्ववर्ती विधि को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"आशुः शिशानः"।[क] एवकार से क्या (लाभ है)? "मनस्तत्वाय"। "यः कामयेत"।[ख] ॥ ५ ॥

वै० अ०—(एकेषामाचार्याणाम्=) कतिपय आचार्यों के मत में; (ऊष्मपर एव=) ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर ही; विसर्जनीय वह वह 'ऊष्म'

विसर्जनीय ९।२ से समान स्थान वाला ऊष्म—वर्ण (=शकार तथा सकार) हो गया है।

(क) विसर्जनीय के बाद ऊष्म-वर्ण शकार है। अतः विसर्जनीय ऊष्म-वर्ण (शकार) नहीं हुआ है।

(ख) विसर्जनीय के बाद ऊष्म-वर्ण नहीं, अपितु अघोष-वर्ण (तकार तथा ककार) हैं। अतः विसर्जनीय ऊष्म-वर्ण (सकार और जिह्वामूलीय) हो गया है।

---

(१) २।१।२ (२) १।८।२१ (३) ५।५।११ (४) ६।६।११
(५) ४।६।४ (६) ४।१।१ (७) २।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊष्मण्येव परतः; विसर्जनीयस्तन्तमूष्माणं याति। तेन "एवश्छन्दः"[१], "शुनं नः फालाः"[२], "अनपगा॒कुरुते"[३] इत्यादौ ऊष्मादेशो न भवति ॥ ५ ॥

न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः ॥ ६ ॥

मा०—नेति प्रतिषेधः। प्लाक्षिप्लाक्षायणयोराचार्ययोः कवर्गपरश्च ऊष्मपरो विसर्जनीयः न खलु सस्थानमूष्माणमापद्यते। यथा—"यः कामयेत"[४]। "अग्निः पशुरासीत्"[५]। "आशुः शिशानो वृषभः"[६]। "यः सोमं वमिति"[७]। "कृकलासः शकुनिः पिप्पका"[८] ॥ ६ ॥

त्रि०—कपवर्गपर ऊष्मपरश्च विसर्जनीयः प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः शाखिनोः पक्षे न खलु पूर्वविधिं भजते। यथा—"यः कामयेत"[४]। "यः पाप्मना"[९]। "आशुः शिशानः"[१०]। एवम्पर इति किम्? "मनस्तत्त्वाय"[११]। कपवर्गादिसूत्रत्रयमनिष्टम् ॥ ६ ॥

वै०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोर्मते ऊष्मपरो विसर्जनीय ऊष्माणं न याति। किन्तु प्रथमद्वितीयपर एव। नेदं सूत्रत्रयमिष्टम् ॥ ६ ॥

(-वर्ण) हो जाता है। इससे "एवश्छन्दः", "शुनं नः फालाः", "अनपगा॒कुरुते"-इत्यादि में ऊष्म (वर्ण) का आदेश नहीं होता है।[क]

सू० अ०—प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण (आचार्यों) के अनुसार (विसर्जनीय कवर्ग, पवर्ग तथा ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर, ऊष्म-वर्ण) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः=प्लाक्षि, प्लाक्षायण आचार्यों के मत में; कवर्ग अथवा पवर्ग बाद में होने पर और ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर विसर्जनीय पूर्ववर्ती विधान को; न= नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"यः कामयेत"। "यः पाप्मना"। "आशुः शिशानः"। ये (कवर्ग, पवर्ग तथा उष्म-वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "मनस्तत्त्वाय"। 'कपवर्ग' से लेकर तीन सूत्र अभीष्ट नहीं हैं।

वै० अ०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः= प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण (आचार्यों) के मत में; ऊष्म (-वर्ण) है बाद में जिसके वह विसर्जनीय ऊष्म (-वर्ण), न=नहीं; हो जाता है। किन्तु प्रथम और द्वितीय (स्पर्श) बाद में होने पर ही (ऊष्म वर्ण हो जाता है) ये तीन सूत्र अभीष्ट नहीं हैं ॥ ६ ॥

(क) इस व्याख्या के अनुसार ये उदाहरण इस प्रकार होंगे—एवः छन्दः, अनपगाः कुरुते ॥

---

(१) ४।३।१२ (२) ४।२।५ (३) १।५।८ (४) २।१।२
(५) ५।७।२६ (६) ४।६।४ (७) २।३।२ (८) ५।५।१६
(९) २।१।३ (१०) ४।६।४ (११) ४।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओकारमःसर्वोऽकारपरः ॥ ७ ॥

मा०—अःसर्वो विसर्जनीयः ओकारमापद्यते अकारपरः। यथा—"उप प्रयन्तो अध्वरम्"[१]। "प्र सो अग्ने तवोतिभिः"[२]। "सोऽब्रवीत्"[३]। अस्सर्व इति किम्? "वर्णस्य विकारलोपौ"[४] इति विसर्जनीयस्य विकारोत्पत्तिः स्यात् अकारपूर्वस्य। तस्मादःसर्व इत्यारभ्यते ॥ ७ ॥

त्रि०—अः सर्वो विसर्जनीयः; (ओकारम्=) ओत्वम्; भजते, अकारपरः। अःसर्व इत्यकारेण सहितो विसर्जनीय इत्यर्थः। "प्रेद्धो अग्ने"[५]। "समिद्धो अञ्जन्"[६]। "सोऽब्रवीत्"[७]। अःसर्व इति किम्? अन्यथा "समिद्धो अञ्जन्"[६] इति न सिद्धयेत्। किन्तु "वर्णस्य विकारलोपौ"[४] इति विसर्जनीयमात्रस्य स्यादोत्वम्। ततः "ओकारौकारपरः"[७] इत्यौकारे कृते "औकार आवम्"[८] इत्यावादेशः। तथा सति "समिद्धावञ्जन्"[६] इति स्यात्। किञ्च—"अव स्वरपरो यकारम्"[९] इति यत्वं वा भवति। तस्मिंश्च "लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ

सू० अ०—सम्पूर्ण अः, अकार बाद में होने पर, ओकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—अः सर्वः=अः यह सम्पूर्ण विसर्जनीय; (ओकारम्=) ओकार को; प्राप्त करता है, अकारपरः=अकार बाद में होने पर। अः सर्वः—इससे अकार के सहित विसर्जनीय—यह अर्थ है। "प्रेद्धो अग्ने"। "समिद्धो अञ्जन्"। "सोऽब्रवीत्"।[क] सम्पूर्ण अः—यह क्यों (कहा)? अन्य प्रकार से "समिद्धो अञ्जन्"—यह सिद्ध न होता। किन्तु "विकार और लोप वर्ण के (होते हैं)" इस (सूत्र) से केवल विसर्जनीय (:) का ओकार हो जाता। तदनन्तर "ओकार और औकार बाद में होने पर"—इससे औकार करने पर "(स्वर बाद में होने पर) औकार आव् (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से आव् आदेश (होता है)। वैसा होने पर "समिद्धावञ्जन्"—यह (रूप) हो जाता। इसके अतिरिक्त (इस सूत्र का अभाव होने पर) "अव (अवर्णपूर्व विसर्जनीय), स्वर बाद में होने पर, यकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) से (विसर्जनीय) यकार होता है। और "अवर्ण पूर्व में होने पर तो यकार और वकार लुप्त हो जाते हैं"—इस (सूत्र) से उस (यकार) का लोप होने पर "(यकार और वकार का लोप होने पर) दूसरी (संधि नहीं होती है)"—इस (सूत्र) से अन्य कार्य की प्रसक्ति न होने पर "समिद्ध

(क) प्रेद्ध इति प्र—इद्धः। अग्ने ॥ समिद्ध इति सम्—इद्धः। अञ्जन् ॥ सः। अब्रवीत् ॥ प० पा०

विसर्जनीय के बाद में अकार है अतः विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती अकार के सहित ओकार हो गया है।

---

(१) १।५।५ (२) ३।२।११ (३) २।१।२ (४) १।५६
(५) ४।६।५ (६) ५।२।११ (७) १०।७ (८) ६।१५
(९) ९।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यवकारौ"[1] इति लुप्ते "परश्च परश्च"[2] इति कार्यान्तराप्रसक्तेः "समिद्ध अञ्जन्"[3] इति स्यात्। तन्मा भूदिति अःसर्व इत्युक्तम्॥ ७॥

वै०—(अःसर्वः=) अःकारस्सर्वः; ओकारमादेशं याति; (अकारपरः=) अकारे परतः। सर्वग्रहणादकारविसर्जनीययोरयमेकादेशः। "रेफमेतेषु"[4] इत्यस्यापवादः। "अथ स्वरपरो यकारम्"[5] इत्यस्य च। "योऽस्मान्धूर्वति"[6]। "युष्मानिन्द्रोऽवृणीत"[7]। "कामेन कृतो अभि"[8]। "पाथो अपीहि"[9]। अकारपर इति किम्? "स आऽगच्छत्"[10]। "यः कामयेत"[11]॥ ७॥

घोषवत्परश्च॥ ८॥

मा०—अःसर्वो विसर्जनीयः ओकामापद्यते घोषवत्परः। "देवो वः सवितोत्पुनातु"[12]। "गन्धर्वो विश्वावसुः पथमुष्णात्"[13]॥ ८॥

त्रि०—चकार ओकारम.सर्वं चान्वादिशति। अःसर्वो घोषवत्परश्च विसर्जनीय

अञ्जन्"—यह (रूप) होता। वह न हो इसलिए सम्पूर्ण अः (ओकार हो जाता है)—यह कहा गया है।

वै० अ०—(अकारपरः=) अकार बाद में होने पर; (अःसर्वः=) सम्पूर्ण अःकार; ओकार रूप आदेश को प्राप्त करता है। (सूत्र में) 'सर्व' के ग्रहण से अकार और विसर्जनीय (:)—दोनों का यह (ओकार) एकादेश है। ये (स्वर और घोषवत् वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है) इस (सूत्र) का यह (प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है। "अब (अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र) का भी (यह प्रस्तुत सूत्र अपवाद (है)। "योऽस्मान्धूर्वति"। "युष्मानिन्द्रोऽवृणीत"। "कामेन कृतो अभि"। "पाथो अपीहि"। अकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "स आऽगच्छत्"। "यः कामयेत"।[क] ॥७॥

सू० अ०—घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर भी (अःकार ओकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्व सूत्र से) 'ओकार को' और 'सम्पूर्ण अःकार' का अन्वादेश करता है। सम्पूर्ण अःकार (अः); घोषवत्परश्च=

(क) यः। अस्मान्। धूर्वति॥ युष्मान्। इन्द्रः। अवृणीत॥ पाथः। अपीति। इहि॥ सः। एति। अगच्छत्॥ यः। कामयेत॥ प०पा०

---

(१) १०।१६ (२) १०।२५ (३) ५।१।११ (४) ८।६ (५) ६।१०
(६) १।१।४ (७) १।१।५ (८) १।१।१४ (९) ३।३।६
(१०) ३।१।६ (११) २।१।२ (१२) १।१।५ (१३) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओत्वं भजते यथा—"मा नो मित्रो वरुणः"[१]। ननु विधौ समाने पृथक्करणमनर्थकमिति चेत्, उत्तरसूत्रे तुशब्दव्याख्यानेन स्फुटीकरिष्यत इति परिहारः ॥ ८ ॥

वै०—चशब्देन "ओकारमस्सर्वः"[२] इत्यन्वादिश्यते। अःकारस्सर्व ओकारं याति; (घोषवत्परश्च=) घोषवत्सु परतः। "ग्रामण्यो गृहे"[३]। "अहोरात्रे"[४]। "सुवो रोहाव"[५]। अयं "रेफेमेतेषु"[६] इत्यस्य "अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते"[७] इत्यस्य चापवादः। "अकारघोषवत्परः" इत्येकसूत्रे कर्त्तव्ये पृथक्करणं उत्तरार्थम् ॥ ८ ॥

अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते ॥ ९ ॥

मा०—अवर्णपूर्वो विसर्जनीयः लुप्यते। तुशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते—"ओकारमः सर्वोऽकारपरः" इति प्रत्यक्षोऽयं विधिः। "घोषवत्परश्च" इत्यानुमानिक इति ऊकार एव

घोषवत् (-वर्ण) बाद में होने पर भी; ओकार हो जाता है। जैसे—"मा नो मित्रो वरुणः"।[क] (शंका) विधान समान होने पर पृथक्करण अनर्थक है यदि ऐसा (कहो तो) बाद वाले सूत्र (९।९) में 'तु' शब्द के व्याख्यान के द्वारा स्पष्ट किया जायेगा—यह समाधान है।[ख] ॥ ८ ॥

वै० अ०—च शब्द से "सम्पूर्ण अः ओकार (हो जाता है)" का अन्वादेश किया जाता है। (घोषवत्परश्च=) घोषवत् (वर्ण) बाद में होने पर; सम्पूर्ण अःकार ओकार हो जाता है। "ग्रामण्यो गृहे"। "अहोरात्रे"। "सुवो रोहाव"[ग]। "ये (स्वर और घोषवत् वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)" इस (सूत्र) का तथा "अवर्ण पूर्व में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है"—इस (सूत्र) का यह (प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है। "अकारघोषवत्परः"—इस एक सूत्र का निर्माण करने के स्थान पर पृथक्करण बाद वाले (सूत्र) के लिए है ॥ ८ ॥

सू० अ०—अवर्ण पूर्व में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है।

(क) घोषवत् वर्ण (मकार) बाद में होने के कारण 'नः' का 'अः' ओकार हो गया है।

(ख) पूर्वपक्षी—"ओकारमस्सर्वोऽकारघोषवत्परः"—इस प्रकार एक ही सूत्र में विधान न करके "घोषवत्परश्च"—इस पृथक् सूत्र का निर्माण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—बाद वाले सूत्र (९।९) में प्रयुक्त 'तु' शब्द से इस शंका का समाधान हो जायेगा।

(ग) ग्रामण्य इति ग्राम—न्यः ॥ अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे ॥ सुवः। रोहाव ॥ प०पा०

---

(१) ४।६।८ (२) ९।७ (३) १।८।९ (४) १।३।११
(५) १।७।९ (६) ८।६ (७) ९।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परनिमित्तमनुवर्त्तते। स चानेन तुशब्देन निवर्त्यते। तस्मिन् प्रत्यये निवृत्ते आनुमानिकोऽनुवर्त्तते बाधकाभावात्। अवर्णपूर्वो विसर्जनीयः स्वरपरं निवर्त्तयित्वा घोषवत्परो लोपं विधत्ते। यथा—"देवा गातुविदः"[१]। "विचित्यः सोमा३ न विचित्या३ इति"[२] ॥ ९ ॥

त्रि०— अवर्णपूर्वो घोषवत्परस्तु विसर्जनीयो लुप्यते। ह्रस्वपूर्वस्यौकार एव। दीर्घपूर्वस्य प्लुतपूर्वस्य च लोपः। यथा—"देवा गातुविदः"[१]। "विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति"[२]। "ओकारमः सर्वोऽकारपरः"[३] इति अकारपरत्वं प्रत्यक्षं तुशब्देन निवर्त्य आनुमानिकं घोषवत्परत्वं परिगृह्यते, सान्निध्यात्। अस्यानुवर्त्तनमेवाभीष्टमत्रेति पूर्वसूत्रद्वयस्य पृथक्करणम् ॥ ९ ॥

त्रि० अ०—अवर्णपूर्वः=अवर्ण है पूर्व में जिसके; और घोषवत् (वर्ण) है बाद में जिसके वह विसर्जनीय; तु=तो; लुप्यते=लुप्त हो जाता है। ह्रस्व (अकार) है पूर्व में जिसके उस (विसर्जनीय) का ओकार (९।८ से) होता है। दीर्घ (=आकार) है पूर्व में जिसके और प्लुत (आ३कार) है पूर्व में जिसके उस (विसर्जनीय) का (प्रस्तुत सूत्र से) लोप (होता है)।[क] जैसे—देवा गातुविदः"। विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति"।[ख] "सम्पूर्ण अः, अकार बाद में होने पर, ओकार (हो जाता है)" के प्रत्यक्ष अकारपरत्व की 'तु' शब्द से निवृत्ति करके सान्निध्य से आनुमानिक घोषपरत्व का ग्रहण किया जाता है।[ग] इस (घोषपरत्व) की अनुवृत्ति यहाँ अभीष्ट है—इसलिए पूर्ववर्ती दो सूत्रों को पृथक् किया गया है।[घ] ॥ ९ ॥

(क) अवर्ण=अ, आ, आ३। इस प्रकार सूत्र की शब्दावली से यह अर्थ निकलता है—अ, आ और आ३ के बाद में स्थित विसर्जनीय लुप्त हो जाता है, यदि विसर्जनीय के बाद में घोषवत् वर्ण हो। किन्तु घोषवत्-वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय के ओकार होने का विधान ९।८ में कर दिया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र का यह अर्थ हुआ—आ और आ३ के बाद में स्थित विसर्जनीय लुप्त हो जाता है, यदि घोषवत् (-वर्ण) बाद में हों।

(ख) देवाः। गातुविद इति गातु—विदः॥
विचित्य इति वि—चित्यः। सोमा३ः। न। विचित्या३ इति वि—चित्या३ः। इति ॥ प०पा०

(ग) प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित 'तु' शब्द का प्रयोजन ९।७ में स्पष्ट रूप से उल्लिखित 'अकार बाद में होने पर' की निवृत्ति करना है। ८।९ में अनुल्लिखित, किन्तु ९।८ से अनुवृत्त 'घोषवत् वर्ण बाद में होने पर' की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र (९।९) में सन्निधि (समीपता) के आधार पर हो रही है। अनुवृत्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र में किसी पद का ग्रहण नहीं किया गया है।

(घ) यदि ९।७ और ९।८ को एक ही सूत्र 'ओकारमस्सर्वोऽकारघोषवत्परः' में प्रस्तुत

---

(१) १।१।१३ (२) ६।१।९ (३) ९।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अत्राकारपर इति नानुवर्तते। किन्तु घोषवत्पर इत्येव। तस्य पृथक्करण-सामर्थ्यात्। विसर्जनीयस्त्वधिकृत एव। तदयमर्थः—अवर्णपूर्वो विसर्जनीयो लुप्यते घोषवत्सु परतः। ह्रस्वपूर्वकस्य ओत्वविधानाद्दीर्घप्लुतपूर्वकस्य चैष विधिः। "अग्निं या गर्भम्"[1]। "या रुचः"[2]। "सोमाऽ न विचित्याऽ इति"[3]। मूलशाखे तु "हलि सर्वेषाम्"[4] इति, "भोभगो अघो अपूर्वस्य योऽशि"[5] इति च लोपस्स्मर्यते। स इह तुशब्देन निवर्त्यते न ह्यसाविह विधेयः। अस्मच्छाखादौ तथाविधविषयाभावात्॥ ९॥

वै० अ०—यहाँ (प्रस्तुत सूत्र में) 'अकार बाद में होने पर' की अनुवृत्ति नहीं होती है। किन्तु 'घोषवत् वर्ण बाद में होने पर' की ही (अनुवृत्ति होती है)। उसके पृथक्करण के सामर्थ्य से (यह सूचित होता है)। विसर्जनीय तो अधिकृत है ही। इससे यह अर्थ हुआ—अवर्णपूर्वः=अवर्ण है पूर्व में जिसके वह; विसर्जनीय; लुप्यते=लुप्त हो जाता है, घोषवत् वर्ण बाद में होने पर। ह्रस्व (अकार) है पूर्व में जिसके उस (विसर्जनीय) के ओकार होने का विधान (९।८ में) हो जाने से दीर्घ (आ) और प्लुत (आ३) है पूर्व में जिसके उस (विसर्जनीय) का ही यह विधान है। "अग्निं या गर्भम्"। "या रुचः"। "सोमाऽ न विचित्याऽ इति"। व्याकरण में तो "भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्वक रु के स्थान में यकार आदेश होता है, अश्[क] बाद में होने पर"—इस (सूत्र) से और "भोस, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्वक यकार का लोप होता है, हल् बाद में होने पर—सब के मत ."—इस (सूत्र) से लोप कहा गया है। उसकी यहाँ 'तु' शब्द से निवृत्ति की गई है। वह यहाँ (=प्रातिशाख्य में) विधेय (विधान के योग्य) नहीं है, क्योंकि हमारी (तैत्तिरीय) शाखा इत्यादि में उस प्रकार के स्थलों का अभाव है[ख]॥९॥

किया जाता तो प्रस्तुत सूत्र में 'अकार और घोषवत् वर्ण बाद में होने पर' की अनुवृत्ति होती, जबकि इस सूत्र में 'घोषवत् वर्ण बाद में होने पर'—यह अनुवृत्ति ही अभीष्ट है। यही कारण है कि ९।७ और ९।८—इन दो पृथक् सूत्रों का निर्माण किया गया है।

(क) अश्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।

(ख) अश् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द) बाद में होने पर भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्व रु जो विसर्जनीय के स्थान पर आता है, के स्थान में यकार आदेश होता है तथा पा० ८।३।२२ के अनुसार सब के मत में हल् बाद में होने पर भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्व रु के यकार का लोप हो जाता है। इन सूत्रों के

---

(१) ५।६।१ (२) ४।२।९ (३) ६।१।९
(४) पा० ८।३।२२ (५) पा० ८।३।१७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ स्वरपरो यकारम् ॥ १० ॥

मा०—अस्य च "रेफमेतेषु"[1] इत्यनेन च विशेषणाश्रीयते। विरोधस्यान्त [निवृत्तय] कश्चिद्विशेष आश्रीयते। स च प्रत्यासत्तेरवर्णपूर्व इति तस्मात् त्रयाणामविरोधाभावात् (?)। अथेत्यधिकारः। अवर्णपूर्वः स्वरपरो विसर्जनीयः यकारमापद्यते। यथा—"आप उन्दन्तु जीवसे"[2] ॥ १९ ॥

त्रि०—अथशब्दोऽधिकारार्थः। स्वरः परो यस्मात् सोऽयं स्वरपरः। इत उत्तरं यदुच्यते स्वरपर इत्येवं तत्र निमित्तत्वेनाधिकृतं ज्ञातव्यं सान्निध्यादवर्णपूर्व इति लभ्यते। स्वरपरो विसर्जनीयः अवर्णपूर्वो यकारमापद्यते। यथा—"आप उन्दन्तु"[2]। "ता

सू० अ०—(अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—अथ शब्द अधिकार के लिए है।[क] स्वर है बाद में जिससे वह=स्वरपर। इससे बाद में जो कहा जाता है वहाँ 'स्वर बाद में होने पर' को निमित्त के रूप में अधिकृत जानना चाहिए। सान्निध्य से 'अवर्ण है पूर्व में जिसके' की प्राप्ति (९।९ से) होती है। स्वरपरः=स्वर है बाद में जिसके; तथा अवर्ण है पूर्व में जिसके वह विसर्जनीय यकार हो जाता है। जैसे—"आप उन्दन्तु" "ता अब्रुवन्"। "नान्वारभ्याः इति"।[ख] स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)?

उदाहरण ये हैं—भो देवा (हे देवताओं); भगो नमस्ते (भगवान् आपको नमस्कार), अघो याहि (अरे दुष्ट, चले जाओ), छात्रा हसन्ति इत्यादि।

भोस्, भगोस् और अघोस् क्रमशः भवत्, भगवत् और अघवत् शब्दों के सूचक सम्बोधन पद है। भोस् का प्रयोग साधारण सम्बोधन में, 'भगोस्' का प्रयोग आदरपूर्वक सम्बोधन में तथा 'अघोस् का निरादरपूर्वक सम्बोधन में होता है। तै० सं० में उपर्युक्त (भो देवा, भगो नमस्ते, अघो याहि) प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते हैं। अतः सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग करके आचार्य ने ऐसे स्थलों की निवृत्ति की है।

(क) "स्वर बाद में होने पर"—यह अधिकार इस अध्याय के सभी अवशिष्ट सूत्रों और परवर्ती (=दशम अध्याय) में लागू होता है।

(ख) आपः। उन्दन्तु॥
अन्वारभ्याः इत्यनु—आरभ्याः। इति॥ प० पा०॥

प्रस्तुत सूत्र से 'आपः', 'ताः' तथा 'आरभ्याः' का विसर्जनीय यकार हो जाता है। तदनन्तर १०।१९ से इस यकार का लोप हो जाता है। तब परिनिष्ठित रूपों की प्राप्ति होती है।

---

(१) ८।५ (२) १।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्रुवन्"[१]। "नान्वारभ्याऽ इति"[२]। स्वरपर इति किम्? "आपो वरुणस्य"[३]। अवर्णपूर्व इति किम्? "अग्निरेकाक्षरेण"[४] ॥ १० ॥

वै०—अथ स्वरपर इति स्वरः परनिमित्तत्वेनाधिक्रियते। अवर्णपूर्वस्त्वित्यनुवर्तते। अवर्णपूर्वो विसर्जनीयः; (स्वरपरः=) स्वरे परतः; (यकारम्=) यकारादेशम्; याति। "रेफमेतेषु"[५] इत्यस्यापवादः। "व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा"[६]। "विचित्यस्सोमाऽ न विचित्याऽ इति"[७]। "इन्द्र एवाजायत"[८]। स्वापवादविषये तु न भवति। स्वरपर इति किम्?

"आपो वरुणस्य"।[क] अवर्ण पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अग्निरेकाक्षरेण"[ख] ॥१०॥

वै० अ०—अथ=अब; 'स्वर बाद में होने पर'—यहाँ स्वर का परवर्ती निमित्त के रूप में अधिकार किया जाता है। 'अवर्ण पूर्व में होने पर तो'—इसकी अनुवृत्ति (९।९ से) हो रही है। अवर्ण है पूर्व में जिसके वह विसर्जनीय; (स्वरपरः=) स्वर बाद में होने पर; (यकारम्=) यकार रूप आदेश को; प्राप्त करता है। "ये (स्वर और घोषवत् वर्ण) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)"—इस (सूत्र) का (प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है। "व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा"। "विचित्यस्सोमाऽ न विचित्याऽ इति"। "इन्द्र एवाजायत"।[ग] (यह विधान) अपने अपवाद के स्थलों में तो लागू नहीं होता है।[घ] स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "देवो वस्सविता"।[ङ] "देवा वसव्याः"। अवर्ण पूर्ण में होने पर—

(क) आपः। वरुणस्य ॥ प० पा०

विसर्जनीय के बाद में स्वर नहीं, अपितु 'व्यञ्जन' वकार है। अतः विसर्जनीय यकार न होकर ६।१७ से ओकार हो जाता है।

(ख) अग्निः। एकाक्षरेणेत्येक—अक्षरेण ॥ प० पा०

विसर्जनीय के पूर्व में अकार नहीं, अपितु इकार है। अतः विसर्जनीय यकार न होकर रेफ हो गया है।

(ग) व्रतपा इति व्रत—पाः। असि। देवः। एति ॥ विचित्य इति वि—चित्यः। सोमाऽः। न। विचित्याऽ इति वि—चित्याऽः। इति ॥ इन्द्रः। एव। अजायत ॥ प० पा ॥

(घ) तात्पर्य यह हैं कि प्रस्तुत सूत्र का जो अपवाद ६।१७ में किया गया है वहाँ विसर्जनीय यकार नहीं होता है अपितु अकार-सहित ओकार हो जाता है।

(ङ) देवः। वः। सविता ॥

विसर्जनीय के बाद में स्वर न होकर घोषवत्—वर्ण है। अतः विसर्जनीय यकार न होकर ६।१८ से ओकार हो जाता हैं।

---

(१) २।३।५ (२) ६।३।८ (३) ५।५।४ (४) १।७।११
(५) ८।६ (६) १।१।१४ (७) ६।१।६ (८) ६।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देवो वस्सविता"[१]। "देवा वसव्याः"[२]। अवर्णपूर्व इति किम्? "इह बर्हिरासदे"[३]। तुशब्देन "ओतो गार्ग्यस्य"[४] इति मूलशास्त्रोक्तो विषयो निवर्त्यते। न ह्यत्र यत्वं विधेयम्। अस्मच्छाखादौ तथाविधोदाहरणाभावात् ॥ १० ॥

एकारोऽयम् ॥ ११ ॥

मा०—प्रदान्त एकारः स्वरपरः अयं विकारमापद्यते। यथा—"त एनं भिषज्यन्ति"[५] ॥ ११ ॥

त्रि०—विसर्गो निवृत्तः। इदमिदानीमुच्यते—स्वरपरः पदान्त एकारः; अयमिति विकारमापद्यते। यथा—"इम एवास्मै"[६]। "त एनं भिषज्यन्ति"[५] ॥ ११ ॥

यह क्यों (कहा)? "इह बर्हिरासदे"।[क] 'तु' शब्द से "गार्ग्य के अनुसार अश् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द) बाद में होने पर ओकार से बाद में स्थित पदान्त यकार का लोप हो जाता है"—इस व्याकरण-शास्त्र में कहे गए विषय की निवृत्ति की जाती है। यहाँ यत्व विधेय नहीं है। क्योंकि हमारी (तैत्तिरीय) शाखा इत्यादि में उस प्रकार के उदाहरण का अभाव है[ख] ॥ १० ॥

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर) एकार अय् (हो जाता है)।

त्रि० अ०—विसर्ग (विसर्जनीय) की निवृत्ति हो गई। अब यह कहा जाता है—स्वर बाद में होने पर पदान्त एकारः अयम्—अय्—इस विकार को प्राप्त करता है। जैसे—"इम एवास्मै"। "त एनं भिषज्यन्ति"[ग] ॥ ११ ॥

(क) इह। बर्हिः। आसदे ॥ प० पा०

विसर्जनीय के पूर्व में अवर्ण न होकर इवर्ण है। अतः स्वर (आ) बाद में होने पर भी विसर्जनीय यकार न होकर ६।६ से लुप्त हो जाता है।

(ख) पा० ८।३।१७ के अनुसार अश् बाद में होने पर भो, भगो, अघो, अ तथा आ के रु के स्थान पर य् का आदेश होता है। इस य् के लोप का विधान इस सूत्र से किया गया है। उदाहरण—भो अच्युत। तै० सं० में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते हैं। अतः प्रातिशाख्य में इसका विधान नहीं किया गया है।

(ग) इमे। एव॥ ते। एनम् ॥प० पा०

स्वर (ए) बाद में होने पर 'इमे' तथा 'ते' के एकार 'अय्' हो जाते हैं। तदनन्तर १०।१६ से उस यकार का लोप होकर अभीष्ट रूप की सिद्धि होती है।

---

(१) १।१।१ (२) २।४।८ (३) २।१।२ (४) पा० ८।३।२०
(५) २।३।११ (६) २।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—विसर्जनीयाधिकारो निवृत्तः। अन्यस्य कार्यभाजोऽभिधानात्। एकारः; (अयम्=) अय् इत्येतमादेशम्; याति स्वरे पदादौ परतः। "त आ वहन्ति"[१]। "नियुत्वत आ लभेत"[२]। स्वरपर इति किम्? "इषे त्वोर्जे त्वा"[३] ॥ ११ ॥

ओकारोऽवम् ॥ १२ ॥

मा०—स्वरपर ओकार अवं विकारमापद्यते। यथा—"विष्णवे हीदमाह-रिष्यावः"[४] ॥ १२ ॥

त्रि०—स्वरपरः पदान्त ओकारः, अवं विकारमापद्यते। यथ—"विष्णवे-हीदम्"[४] ॥ १२ ॥

वै०—ओकारः; (अवम्=) अव् इत्येतमादेशं; याति स्वरे पदादौ परतः। "वाय-विष्टये"[५]। "विष्णवुरुक्रम"[६]। स्वरपर इति किम्? "विष्णो हव्यꣳ रक्षस्व"[७] ॥ १२ ॥

वै० अ०—अन्य (=एकार) के कार्यभाक् का कथन होने से विसर्जनीय के अधिकार की निवृत्ति हो गई है। पदादि स्वर बाद में होने पर एकार; अयम्= अय्—इस आदेश को; प्राप्त करता है। "त आ वहन्ति"। "नियुत्वत आ लभेत"।[क] स्वर बाद में होने पर—यह क्यों कहा? "इषे त्वोर्जे त्वा"[ख] ॥ ११ ॥

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर) ओकार अव् (हो जाता है)।

त्रि० अ०—स्वर बाद में होने पर पदान्त ओकार; अवम्= अव् रूप विकार को; प्राप्त करता है। विष्णवेहीदम्"[ग] ॥ १२ ॥

वै० अ०—पदादि स्वर बाद में होने पर ओकार; (अवम्=) अव्—इस आदेश को प्राप्त करता है। "वायविष्टये"। "विष्णवुरुक्रम"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "विष्णो हव्यꣳ रक्षस्व"[घ] ॥ १२ ॥

(क) ते। एति। वहन्ति ॥ नियुत्वत इति नि—युत्वते। एति ॥ प० पा०

स्वर (आ) बाद में होने पर 'ते' तथा 'नियुत्वते' के पदान्त एकार 'अय्' हो जाते हैं। तदनन्तर १०।१६ से उस यकार का लोप होकर अभीष्ट रूप की सिद्धि होती है।

(ख) इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा ॥ प० पा०

'इषे' तथा 'ऊर्जे' का एकार 'अय्' नहीं होता है, क्योंकि एकार के बाद में 'स्वर' नहीं अपितु 'व्यञ्जन' (तकार) है।

(ग) विष्णो। एति। इहि ॥ वायो। इष्टये ॥ विष्णो। उरुक्रमेत्युरु—क्रम ॥ प० पा०

(घ) विष्णो। हव्यम्। रक्षस्व ॥ प० पा०

---

(१) १।१।२ (२) २।१।१ (३) १।१।१ (४) २।४।१२
(५) २।२।१२ (६) ३।२।१० (७) १।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाकारपरौ ॥ १३ ॥

म०—न खलु अकारपरौ एकारोकारौ अयं वा अवं वा विकारमापद्यते। विधौ प्रतिषिद्धे अन्यस्मिंश्चानारभ्यमाणे प्रकृतिर्भवति। यथा—"यत्ते अग्ने तेजस्तेन"[१]। "गो अर्धमेव सोमम्"[२] ॥ १३ ॥

त्रि०—द्विवचनसामर्थ्यात्गृहीतौ सन्निहितावेकारौकारौ अकारपरौ पूर्वविधिं न प्राप्नुतः। यथा—"मा ते अस्याम्"[३]। "समिद्धो अञ्जन्"[४]। "तेऽब्रुवन्"[५]। इत्यादौ "एकारोयं",[६] "लुप्यते त्वकार एकारौकारपूर्वः"[७] इति सूत्रद्वयं प्रसक्तम्। तत्रापि पूर्वत्वात् प्रबलं यत्वविधिं निषेद्धुमयमारम्भः। अकारः परो याभ्यां तावकारपरौ ॥ १३ ॥

वै०—अकारपराविति पदच्छेदः। "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः"[८] इति न्यायात्। तदयमर्थः—द्विवचननिर्दिष्टावासन्नावेकारौकारौ; (अकारपरौ=) अकारे परतः; यथोक्ता-

---

सू० अ०—अकार बाद में होने पर (एकार और ओकार अय् तथा अव्) नहीं (होते हैं)।

त्रि० अ०—द्विवचन के सामर्थ्य से गृहीत समीपवर्ती एकार और ओकार; अकारपरौ= अकार बाद में होने पर; पूर्ववर्ती विधान को; न=नहीं; प्राप्त करते हैं। जैसे—"मा ते अस्याम्"। "समिद्धो अञ्जन्"। "तेऽब्रुवन्" इत्यादि में "(स्वर बाद में होने पर) एकार अय् (हो जाता है)" तथा "एकार और ओकार पूर्व में होने पर अकार लुप्त हो जाता है"—इन दो सूत्रों की प्रसक्ति (प्राप्ति) होती है। उनमें भी पूर्ववर्ती होने के कारण प्रबल यत्व-विधि के निषेध के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है।[क] अकार है बाद में जिनसे वे दो= अकारपरौ ॥ १३ ॥

वै० अ०—'अकारपरौ'—यह पदच्छेद है। "व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है"—इस न्याय से।[ख] इससे यह अर्थ हुआ—द्विवचन से निर्दिष्ट समीपवर्ती एकार

(क) ५।३ में विधान किया गया है कि प्रातिशाख्य की पूर्ववर्ती विधि परवर्ती विधि की अपेक्षा प्रबल होती है। इससे ९।११ और ६।१२—ये विधियाँ ११।१ की अपेक्षा प्रबल हैं। प्रस्तुत सूत्र की सामर्थ्य से अकार बाद में होने पर ९।११ और ६।१२—ये विधियाँ लागू नहीं होती हैं। अब इन स्थलों पर ११।१—यह विधि लागू होगी।

(ख) नाकारपरौ का पदच्छेद दो प्रकार से हो सकता है—न अकारपरौ और न+आकारपरौ। व्याख्यान से ज्ञात होता हैं कि प्रथम पदच्छेद (न+अकारपरौ)

---

(१) ३।५।३ (२) ६।१।१० (३) १।६।१२ (४) ५।१।११
(५) २।५।१ (६) ६।११ (७) ११।१
(८) महाभाष्य (प्रथम आह्निक)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादेशौ न यातः। "अपाग्नेऽग्निम्"[१]। "आरे अस्मे च शृण्वते"[२]। "ध्रुवोऽसि"[३]। "प्रियं पाथो अपीहि"[४]। "अगोअर्घम्"[५]। अकारपराविति किम्? "वषट् ते विष्णवास:"[६]। "अग्र इमम्"[७] ॥ १३ ॥

ऐकार आयम् ॥ १४ ॥

मा०—ऐकारः पदान्तः स्वरपरः आयं विकारमापद्यते। यथा—"आसामहा एवेमौ"[८] ॥ १४ ॥

त्रि०—स्वरपरः पदान्त ऐकारः आयं विकारमापद्यते। यथा—"आसामहा एवेमौ द्वादशौ मासौ"[८] ॥ १४ ॥

वै०—ऐकारः; (आयम्=) आय् इत्यादेशम्; यातिः—स्वरे पदादौ परतः।

और ओकार; (अकारपरौ=) अकार बाद में होने पर; पूर्वोक्त आदेशों (अय् और अव्) को; न=नहीं; प्राप्त करते हैं। "अपाग्नेऽग्निम्"। "आरे अस्मे च शृण्वते"। "ध्रुवोऽसि"। "प्रियं पाथो अपीहि"। "अगोअर्घम्"।[क] अकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "वषट् ते विष्णवास:"। "अग्र इमम्"[ख] ॥ १३ ॥

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर) ऐकार आय् (हो जाता है)।

त्रि० अ०—स्वर बाद में होने पर पदान्त ऐकार; आयम्= आय् रूप विकार को; प्राप्त करता है। जैसे—"आसामहा एवेमौ द्वादशौ मासौ"[ग] ॥ १४ ॥

वै० अ०—पदादि स्वर बाद में होने पर; ऐकार; (आयम्=) आय्—इस

ठीक है। महाभाष्यकार ने कहा है कि व्याख्यान से विशेष बोध होता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता।

(क) अपेति। अग्ने। अग्निम् ॥ आरे। अस्मे इति। च। शृण्वते ॥ ध्रुवः। असि ॥ प्रियम्। पाथः। अपीति। इहि ॥ अगोअर्घमित्यगो—अर्घम् ॥ प० पा० ॥
अकार बाद में होने के कारण एकार और ओकार अय् और अव् नहीं हुए हैं।

(ख) ते। विष्णो। आसः ॥ बाद में अकार न होने के कारण एकार और ओकार अय् और अव् हो गये हैं।

(ग) आसामहै। एव ॥। हन्तवै। उ ॥ तस्यै। एति ॥ प० पा०
प्रस्तुत सूत्र से 'आसामहै' ',हन्तवै' तथा 'तस्यै' के ऐकार 'आय्' हो जाते हैं। तदनन्तर १०।१६ से यकार का लोप होकर परिनिष्ठित रूप की प्राप्ति होती है।

---

(१) १।१।७ (२) १।५।५ (३) १।६।२ (४) ३।३।३
(५) ६।१।१० (६) २।२।१२ (७) १।१।५ (८) ७।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हन्तवा उ"[१]। "अन्तरितस्तस्या आ वृश्चयेते"[२]। स्वरपर इति? "यस्मै कं पुने"[३] ॥ १४ ॥

औकार आवम् ॥ १५ ॥

मा०—औकारः पदान्तः स्वरपरः आवं विकारमापद्यते। यथा—"तावब्रुतां मित्रावरुणौ"[४] ॥ १५ ॥

त्रि०—औकारः पदान्तः स्वरपर आवं विकारमापद्यते। यथा—"अहावनदता हते"[५] ॥ १५ ॥

वै०—औकारः; (आवम्=) आव् इत्यादेशम्; याति—स्वरे पदादौ परतः। उभादातारा विषाऽरयीणाम्"[६]। "तावब्रुताम्"[७]। स्वरपर इति किम्? "तौ देवा अब्रुवन्"[७] ॥ १५ ॥

आदेश को; प्राप्त करता है। "हन्तवा उ"। "अन्तरितस्तस्या आ वृश्चयेते"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यस्मै कं पुने"[क] ॥ १४ ॥

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर) औकार आव् (हो जाता है)।

त्रि० अ०—स्वर बाद में होने पर पदान्त औकार, आवम्=आव् रूप विकार को; प्राप्त करता है। जैसे—"अहावनदता हते"[ख] ॥ १५ ॥

वै० अ०—पदादि स्वर बाद में होने पर औकार; (आवम्=) आव्—इस आदेश को; प्राप्त करता है। "उभादातारा विषाऽरयीणाम्"। "तावब्रुताम्"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तौ देवा अब्रुवन्"[ग] ॥ १५ ॥

(क) यस्मै। कम् ॥ प० पा०
'यस्मै' का ऐकार 'आय्' नहीं होता है क्योंकि बाद में 'स्वर' नहीं है, अपितु 'व्यञ्जन' (ककार) है।

(ख) अहो। अनदत् ॥ तौ। अब्रुताम् ॥ प० पा०
प्रस्तुत सूत्र से 'अहौ', 'उभादातारौ' तथा 'तौ' के औकार आव् हो जाते हैं। तदनन्तर १०।१६ से वकार का लोप होकर परिनिष्ठित रूप की प्राप्ति होती है।

(ग) तौ। देवाः। अब्रुवन् प० पा०
'तौ' का औकार 'आव्' नहीं होता है, क्योंकि बाद में 'स्वर' नहीं है, अपितु 'व्यञ्जन' (दकार) है।

---

(१) १।२।१४ (२) ३।५।९ (३) १।२।१ (४) २।६।७
(५) ५।६।१ (६) १।१।१४ (७) ६।४।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे ॥ १६ ॥

मा०—अपृक्त उकारः स्वरपरः प्रकृत्या भवति। वकारश्च। तयोरुकारस्वरयोरन्तरे वकार आगमो भवति। यथा—"अदन्त्युवेवास्य मनुष्याः"[१]। अपृक्त इति किम्? "स्विष्टिन्नो अभिवसीयो नयन्तु"[२] ॥ १६ ॥

त्रि०—(अपृक्तः=) अपृक्तसंज्ञकः; उकारः स्वरपरः प्रकृत्याऽवतिष्ठते। अविकृतो भवतीत्यर्थः। उकारस्वरयोः; अन्तरे= मध्ये; वकारश्चागमो भवति। यथा—"स उवेकविꣳशवर्तनिः"[३]। "अदन्त्युवेवास्य मनुष्याः"[१]। अपृक्तइति किम्? "स्वपत्याय देव"[४] उकार इति किम्? "भक्षेहि"[५] ॥ १६ ॥

वै०—(अपृक्तः=) अपृक्तसंज्ञः; उकारः स्वरे पदादौ परतः प्रकृत्या भवति। न तु वक्ष्यमाणं विकारं याति। किञ्च-तस्योकारस्य परस्वरस्य च; (अन्तरे=) मध्ये; वकार

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर) अपृक्त (-संज्ञक=व्यञ्जन से न मिला हुआ=स्वतन्त्र पद के रूप में स्थित) उकार प्रकृतिभाव से रहता है तथा (उकार से परवर्ती स्वर के) मध्य में वकार (का आगम होता है)।

त्रि० अ०—स्वर बाद में होने पर; (अपृक्तः=) अपृक्त-संज्ञक उकार; प्रकृत्या = प्रकृतिभाव से; अवस्थित होता है। अविकृत रहता है—यह अर्थ है। उकार और स्वर के; अन्तरे=मध्य में; वकार रूप आगम होता है। जैसे—"स उवेकविꣳशवर्तनिः"। "अदन्त्युवेवास्य मनुष्याः"क। अपृक्त—यह क्यों (कहा)? "स्वपत्याय देव"ख। उकार यह क्यों (कहा)? "भक्षेहि"ग ॥ १६ ॥

वै० अ०—पदादि स्वर बाद में होने पर, (अपृक्तः=) 'अपृक्त' संज्ञक; उकार प्रकृत्या=प्रकृतिभाव से; रहता है। आगे कहे जाने वाले विकार को तो नहीं प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त; उस उकार और बाद वाले स्वर के; (अन्तरे=)

(क) सः। उ। एकविꣳशवर्तनिरित्येकविꣳश—वर्तनिः॥ अदन्ति। उ। एव॥ प० पा०

(ख) स्वपत्यायेति सु—अपत्याय। देव॥ प० पा०
यहाँ उकार 'अपृक्त' नहीं, अपितु सकार से मिला हुआ है। अतः वह अविकृत न रहकर वकार हो गया है। ('अपृक्त' संज्ञा के लिए १।५८ को देखिए)।

(ग) भक्ष। एति (आ+इति)। इहि॥ प० पा०
यहाँ अपृक्त उकार नहीं, अपितु अपृक्त आकार है। अतः अविकृत न रहकर आ, इ से मिलकर, ए हो गया है।

---

(१) २।३।७ (२) ३।१।६ (३) ४।३।३
(४) ५।५।४ (५) ३।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगमो भवति। "अदन्त्युवेवास्य"[१]। "उवित्यु"[१]। उकार इति किम्? "उपभृदेहि"[२]। अपृक्त इति किम्? "यन्मध्वग्नौ जुहोति"[३]। "उकारः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे" इति वक्ष्यामि एवं च शब्दलाघवं भवति। पदग्रहणपरिभाषया अतिप्रसङ्गश्च निवार्यते। किमपृक्तसंज्ञया? अत्रोच्यते। "उकारः प्रकृत्या" इत्युक्तेऽपि "अन्वह मासा अन्विद्वनानि"[४] इत्यादावतिव्याप्तिः "अन्कारादि च"[५] इति वचनात्। तस्मादपृक्तसंज्ञया भाव्यम्। सा तु वर्णस्यैवेति न तत्र "अन्कारादि च"[५] इति परिभाषा प्रवर्तते। नन्वयमागमः "त्रपुमिथुपूर्वः"[६] इत्याद्यागमसमीपे

मध्य में; वकार का आगम होता है। "अदन्त्युवेवास्य"क। "उवित्यु"। उकार यह क्यों कहा? "उपभृदेहि"।ख अपृक्त—यह क्यों (कहा)? "यन्मध्वग्नौ जुहोति"।ग (शंका) "उकारः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे"—यह कहूँगा। और इस प्रकार शब्द-लाघव होता है। पद-ग्रहण परिभाषा से अतिप्रसङ्ग की भी निवृत्ति हो जाती है।घ अपृक्त संज्ञा से क्या (लाभ है)? इस विषय में कहते हैं। "उकारः प्रकृत्या"—यह कहने पर भी "अन्कार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (जानना चाहिए)"—इस विधान से "अन्वह मासा अन्विद्वानानि"—इत्यादि में अतिव्याप्ति होती है। इससे अपृक्त—संज्ञा होनी चाहिए। और वह तो वर्ण की ही (होती है)—इसलिए वहाँ "अन्कार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (जानना चाहिए)"[५]—यह परिभाषा लागू नहीं होती है। (शंका) यह आगम "त्रपु अथवा मिथु पूर्व में हो तथा च बाद में हो तो (मध्य में) शकार (का आगम होता है)"—इत्यादि आगम के समीप

(क) अदन्ति। उ। एव॥ प० पा०

(ख) उपभृदित्युप—भृत्। एति (आ+इति)। इहि॥ प० पा०

(ग) यत्। मधु। अग्नौ। जुहोति॥ प० पा०

(घ) सिद्धान्ती—'अपृक्त' का ग्रहण न करने पर यह सूत्र मधु इत्यादि के उकार पर भी प्रवृत्त हो जायेगा, जबकि वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार यह सूत्र अतिव्याप्ति से युक्त हो जायेगा।

पूर्वपक्षी—१।५० की सामर्थ्य से सूत्रस्थ 'उ' पद से संहितास्थ 'पद' का ही ग्रहण होगा। इससे 'मधु' इत्यादि के 'उ' का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि यहाँ 'उ' ऐसा पद नहीं है। इस प्रकार अतिव्याप्ति नहीं होगी।

सिद्धान्ती—'उ' पद के विषय में विहित नियम १।५३ के सामर्थ्य से अनु (अन्+उ) पर भी लागू होगा। इस प्रकार अतिव्याप्ति होगी ही। अतः प्रस्तुत सूत्र में 'अपृक्त' शब्द का ग्रहण होना ही चाहिए। 'अपृक्त' संज्ञा वर्ण की ही होती है। अतः 'अपृक्त' संज्ञक 'उ' पर १।५३ लागू नहीं होगा। इससे उद्धृत स्थल में सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

---

(१) २।३।७ (२) १।१।१२ (३) २।३।२
(४) १।७।१३ (५) १।५३ (६) ५।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं नोक्तः, "अपृक्तोकारपूर्वो वकारस्स्वरपरः" इति ? तदुच्यते परस्वरनिमित्तकस्यादेशस्यायमपवाद इति आदेशप्रकरण एवोचितो वक्तुमिति ॥ १६ ॥

न तत्तस्मात्साꣳहितः ॥ १७ ॥

मा०—न खलु तत्, तस्मात्, इत्येताभ्यां सांहित अपृक्त उकारः स्वरपरः प्रकृत्या भवति वकारागमश्च । यथा—"ब्रह्मवादिनस्तद्वाहुरुत्सृज्यम्"[१] । "तस्माद्वाश्यं वारुण्यर्चा"[२] । तत्तस्मात् सांहित इति किम् ? "तत् उ आहुः=तदु उवाहुः"[१] । तत्तस्मात्पूर्व इति वाच्ये संहितावचनमन्यव्यवच्छेदार्थम् ॥ १७ ॥

त्रि०—तत्, तस्मात् इत्येताभ्यां सांहित उकारोपृक्तः पूर्वविधिं न प्राप्नोति । प्रकृत्या अवस्थानं, वकारागमश्च न भवतीत्यर्थः । "तद्वाहुरुत्सृज्यम्"[१] । "तस्माद्वाश्यम्"[२] । "इवर्णोकारौ यवकारौ"[३] इति दशमेऽस्य विधिर्वक्ष्यते । तत् तस्मात् साꣳहित इति किम् ? "तत्, उ, आहुः—तदु । उवाहुः"[१] । "तस्मात्, उ, आश्यम्—तस्मादु । उवाश्यम्"[२] ॥ १७ ॥

"अपृक्तोकारपूर्वो वकारस्वरपरः"—इस रूप में क्यों नहीं कहा गया है । इस विषय में कहते हैं—परवर्ती स्वर है निमित्त जिसका ऐसे आदेश का यह अपवाद है—इस लिए आदेश प्रकरण में ही कहना उचित है ॥ १६ ॥

सू० अ०—तत् और तस्मात् से मिला हुआ (अपृक्त उकार) (प्रकृतिभाव और वकारागम को प्राप्त) नहीं (करता है)।

त्रि० अ०—तत् और तस्मात्—इन दोनों से; सांहितः=मिला हुआ; अपृक्त उकार; पूर्ववर्ती विधान को; न=नहीं; प्राप्त करता है । प्रकृतिभाव से अवस्थित और वकार का आगम नहीं होता है—यह अर्थ है । "तद्वाहुरुत्सृज्यम्" । "तस्माद्वाश्यम्" ।[क] "इवर्ण (इ, ई) तथा उकार (क्रमशः) यकार और वकार (हो जाते हैं)" इस (सूत्र) से दशम (अध्याय) में इस उकार के वकार होने का विधान (सूत्रकार के द्वारा) कहा जायेगा । 'तत् और तस्मात् से मिला हुआ'—यह क्यों (कहा) "तत् । उ । आहुः ।" (प० पा०) "तदु । उवाहुः ।" (क्र० पा०) । "तस्मात् । उ । आश्यम् ।" (प० पा०); "तस्मादु । उवाश्यम्"[ख] ॥ क्र० पा० ॥ १७ ॥

(क) तत् । उ । आहुः ॥ तस्मात् । उ । आश्यम् ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र से अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से नहीं रहा और वकार का आगम नहीं हुआ । १०।१५ से उकार वकार में परिणत हो गया और अभीष्ट संहिता-पाठ की सिद्धि हो गई ।

(ख) क्रम-पाठ के दूसरे क्रम-वर्गों में उकार प्रकृतिभाव से है और उकार तथा परवर्ती स्वरों के मध्य में वकार का आगम हो गया है, क्योंकि तत् और तस्मात् से उकार मिला हुआ नहीं है ।

---

(१) ७।५।७ (२) ६।१।११ (३) १०।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—संहितः कृतसन्धानः। स एव सांहितः। तत् तस्मात् इत्येताभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां सांहित उकारोऽपृक्तः स्वरे परतः प्रकृतिभावं वकारागमं च न याति। "तद्वाहुः"[१]। "तस्माद्वाश्यम्"[२]। तत्तस्मादिति किम्? "स उवेकविꣳशवर्तनिः"[३]। सांहित इति किम्? तत्तस्मात्पूर्वं इत्युक्ते तयोरुपबन्धत्वात्पृथग्भावेऽपि निषेधः स्यात्। यथा क्रमाध्याये—"तदु—उवाहुः"[४]। "तस्मादु—उवाश्यम्"[५]। संहितावस्थायामेवेष्यतेऽयं प्रतिषेधः। तदर्थं सांहितवचनम्॥ १७॥

ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विर्वर्णम्॥ १८॥

मा०—ह्रस्वपूर्वो ङकारः स्वरपरः द्विर्वर्णमापद्यते द्वित्वमित्यर्थः। यथा—"न्यङ्ङग्निश्चेतव्या३"[६]। ह्रस्वपूर्व इति किम्? "पराङावर्त्तते"[७]॥ १८॥

त्रि०—स्वरपरो ङकारः पदान्तवर्ती ह्रस्वपूर्वो द्विर्वर्ण द्वित्वं भजते। यथा—"न्यङ्ङग्निः"[८]। "त्वा दध्यङ्ङृषिः"[९]। ह्रस्वपूर्व इति किम्? "पराङावर्त्तते"[७]। स्वरपर इति

वै०अ०—संहितः=संधि किया हुआ। वह ही सांहित है। तत् और तस्मात्—इन दो पदों से; सांहितः=मिला हुआ; अपृक्त उकार, स्वर बाद में होने पर, प्रकृतिभाव और वकारागम को; न=नहीं; प्राप्त करता है। "तद्वाहुः"। "तस्माद्वाश्याम्"। तत् और तस्मात् से क्या (लाभ है)? "स उवेकविꣳशवर्तनिः"।[क] सांहित—यह क्यों (कहा)? तत् और तस्मात् पूर्व में होने पर—यह कहा जाने पर उन दोनों के उपबन्ध होने से पृथक्भाव होने पर भी निषेध हो जायेगा। जैसे—क्रम-पाठ में—तदु-उवाहुः"। "तस्मादु-उवाश्यम्"। संहिता की अवस्था में ही यह प्रतिषेध अभीष्ट होता है। इसलिए सांहित कहा गया है॥ १७॥

सू० अ०—(स्वर बाद में होने पर और) ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर ङकार द्वित्व को (प्राप्त करता है)

त्रि० अ०—स्वर बाद में होने पर और; ह्रस्वपूर्वः=ह्रस्व (-स्वर) पूर्व में होने पर; पद के अन्त में स्थित ङकार; द्विर्वर्णम्=द्वित्व को; प्राप्त करता है। जैसे—"न्यङ्ङग्निः"। "त्वा दध्यङ्ङृषि"।[ख] ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर—यह क्यों

(क) सः। उ। एकविꣳशवर्तनिरित्येकविꣳश—वर्तनिः॥ प० पा०
यहाँ तत् और तस्मात् के साथ उकार की संहिता (मिलन) नहीं हुई है, अपितु सः के साथ उकार की संहिता हुई है। अतः प्रस्तुत सूत्र से यहाँ प्रकृतिभाव और वकार के आगम का निषेध नहीं होता है। यहाँ ६।१।१६ लागू होता है।

(ख) न्यङ्। अग्निः॥ दध्यङ्। ऋषिः॥ प० पा०
ङकार के पूर्व में 'ह्रस्व' स्वर (अकार) है तथा बाद में स्वर वर्ण (क्रमशः अकार तथा ऋकार) हैं। अतः ङकार द्वित्व को प्राप्त हो गया है।

---

(१) ७।५।७ (२) ६।१।११ (३) ४।३।३
(४) ५।५।३ (५) ३।२।६ (६) ४।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "सदृङ्खसमानैः"[१] । "प्रत्यङ्खषडहः"[२] । ह्रस्वः पूर्वो यस्मादसौ ह्रस्वपूर्वः । द्वयोर्वर्णयोः समाहारः, द्विवर्णम् ॥ १८ ॥

वै०—ह्रस्वपूर्व इति कार्यभाज एवायं निर्देशः न निमित्तस्य; परस्वरनिमित्तत्वात् । न चोपबन्धस्य; तस्य पृथग्भावायोगात् । तदयमर्थः—(ह्रस्वपूर्वः =) ह्रस्वात्परो ङकारो द्विवर्णं याति = स्वरूपद्वित्वं याति स्वरे पदादौ परतः । प्रत्यङ्डुपतिष्ठते"[३] । "त्वाद-ष्यङ्ङृषिः"[४] । "युङ्ङसि"[५] । "प्रतिदृङ्डिति प्रति—दृङ्ङ"[६] । ह्रस्वपूर्व इति किम् ? "अवाङ्-पानः"[७] । ङकार इति किम् ? "शुगसि तमभि"[८] । स्वरपर इति किम् ? "प्रत्यङ्ख्सोमो अतिद्रुतः"[९] ॥ १८ ॥

(कहा) ? "पराङावर्तते" ।क स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "सदृङ्-खसमानैः" । "प्रत्यङ्खषडहः" ।ख ह्रस्व है पूर्व में जिससे वह = ह्रस्वपूर्व । दो वर्णों का समाहार (= मेल) = द्विवर्ण ॥ १८ ॥

वै० अ०—'ह्रस्व पूर्व में होने पर'—यह कार्यभाक् (ङकार) का ही निर्देश है । निमित्त का नहीं, क्योंकि (यहाँ) बाद वाला स्वर निमित्त है । उपबन्ध का भी (निर्देश) नहीं, क्योंकि उसके पृथक् होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है । इससे यह अर्थ हुआ—(ह्रस्वपूर्वः =) ह्रस्व (स्वर) से बाद में स्थित; ङकार; द्विवर्णम् = द्विवर्ण को; प्राप्त करता है = (अपने) स्वरूप से द्वित्व को प्राप्त करता है, पदादि स्वर बाद में होने पर । "प्रत्यङ्डुपतिष्ठते" । "त्वा दध्यङ्ङृषिः" । "युङ्-ङसि" ।ग "प्रतिदृङ्डिति प्रति—दृङ्ङः" । ह्रस्व पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "अवाङ्पानः"घ । ङकार—यह क्यों (कहा) ? "शुगसि तमभि" ।ङ स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? "प्रत्यङ्ख्सोमो अतिद्रुतः"च ॥ १८ ॥

(क) पराङ् । एति । वर्तते ॥ प० पा०

ङकार के पूर्व में 'ह्रस्व' स्वर नहीं है, अपितु दीर्घ—स्वर (आ) है । अतः ङकार द्वित्व को प्राप्त नहीं हुआ ।

(ख) सदृङ्डिति स—दृङ् । समानैः ॥ प्रत्यङ् । षडह इति षट्—अहः ॥ प० पा०

ङकार के बाद में स्वर—वर्ण नहीं, अपितु 'व्यञ्जन' वर्ण (क्रमशः सकार और षकार) हैं । अतः ङकार द्वित्व को प्राप्त नहीं हुआ है । ५।३२ से ककार का आगम हुआ जो १४।१२ से खकार हो गया ॥

(ग) प्रत्यङ् । उपतिष्ठत इत्युप—तिष्ठते ॥ युङ् । असि ॥

(घ) अवाङ् । अपान इत्यप—अनः ॥ प० पा०

(ङ) शुक् । असि । तम् । अभीति ॥ प० पा०

(च) प्रत्यङ् । सोमः । अतिद्रुत इत्यति—द्रुतः ॥ प० पा०

---

(१) २।२।८ (२) ७।४।२ (३) १।५।६
(४) ४।१।३ (५) १।८।१५ (६) १।८।१३
(७) ६।३।१ (८) १।३।११ (९) १।८।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारश्च ॥ १९ ॥

मा०—ह्रस्वपूर्वस्वरपरो द्विवर्णमापद्यते। यथा—"निरवपन्निन्द्राय"[१]। ह्रस्वपूर्व इति किम्? "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"[२] ॥ १९ ॥

त्रि०—चकारः पूर्वनिमित्तं द्वित्वं चान्वादिशति। ह्रस्वपूर्वो नकारो द्विवर्णं भजते स्वरपरः। यथा—"निरवपन्निन्द्राय"[१]। "अब्रुवन्नृघ्नवत्"[३]। एवम्पर इति किम्? "निरवपन् यान्येव पुरस्तात्"[४]। "ओमन्वती ते"[५]। एवम्पूर्व इति किम्? "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"[६] "विद्वानेतमग्नि चिनुते"[७] ॥ १९ ण

वै०—चकारः "ह्रस्वपूर्वो द्विवर्णम्"[७] इत्यन्वादिशति। ह्रस्वात्परो नकारः स्वरे पदादौ परतः स्वरूपद्वित्वं याति। "दक्षिणमुशन्नुशन्तम्"[८]। "अस्मिन्नेव लोके"[९]। ह्रस्वपूर्व इति किम्? "तानजुहोत्"[१०]। नकार इति किम्? "उशिगसि"[११]। स्वरे परतः इति किम्? "अस्मिन् योनौ"[१२]। पदादाविति किम्? "प्रजावतीरनमीवाः"[१३]। पृथक्सूत्रकरणमुत्तरार्थम् ॥ १९ ॥

सू० अ०—नकार भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—चकार पूर्ववर्ती निमित्त और द्वित्व का अन्वादेश करता है। ह्रस्व स्वर है पूर्व में जिसके वह नकार (स्वर बाद में होने पर) द्वित्व को प्राप्त करता है। जैसे—"निरवपन्निन्द्राय"। "अब्रुवन्नृघ्नवत्"।[क] यह (स्वर) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त" "विद्वानेतमग्निं चिनुते"।[ख] ॥ १९ ॥

वै० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) "ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर द्वित्व को (प्राप्त करता है)" का अन्वादेश करता है। "दक्षिणमुशन्नुशन्तम्"। "अस्मिन्नेव लोके"।[ग] ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? तानजुहोत्"।[घ] नकार—यह क्यों (कहा)? "उशिगसि"।[ङ] स्वर बाद में होने पर—यह क्यों

(क) निरिति। अवपन्। इन्द्राय॥ अब्रुवन्। ऋघ्नवत्॥ प० पा०

(ख) यान्। अग्नयः। अन्वतप्यन्तेत्यनु—अतप्यन्त॥ प० पा०
विद्वान्। एतम्। अग्निम्। चिनुते॥ प० पा०

(ग) दक्षिणम्। उशन्। उशन्तम्॥ अस्मिन्। एव। लोके॥ प० पा०

(घ) तान्। अजुहोत्॥ प० पा०

(ङ) उशिक्। असि॥ प० पा०

---

(१) २।४।२ (२) ३।२।८ (३) १।५।१ (४) २।४।१
(५) २।६।६ (६) ५।६।५ (७) ६।१८ (८) १।२।७
(९) २।६।२ (१०) ३।४।४ (११) १।३।३
(१२) १।५।६ (१३) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्वीकारोकारपूर्वो रेफमाकार-पूर्वश्च यकारम् ॥ २० ॥

मा० – ग्रहेषु उख्ये याज्यासु पृष्ठ्येषु हिरण्यवर्णीये ईकारपूर्वः ऊकारपूर्वो वा नकारो रेफमापद्यते । आकारपूर्वो यकारं इतिशब्दादन्यस्वरपरः । "आददे श्रावा"[१] इत्येतस्मादनुवाकात् प्रभृति यावत् "सजोषा इन्द्र"[२] इति ग्रहसंज्ञा भवति । अग्निकाण्डस्य प्रथमद्वितीयौ प्रश्नौ उत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां विना उख्यसंज्ञौ भवतः । "उभा वामिन्द्राग्नि"[३] इत्येवमादीनां प्रश्नोत्तमानुवाकादीनां यावत् "अग्निर्वृत्राणि"[४] इति "युञ्चाहि"[५] इत्येतस्य चानुवाकस्य याज्येति संज्ञा भवति । "समिद्दिशाम्",[६] "जीमूतस्य"[७], "यदक्रन्दः"[८], "मा नो मित्रः"[९] "ये वाजिनम्"[१०], "अग्नेर्मन्वे"[११], "समिद्धो अञ्जन्"[१२], "गायत्री"[१३] "कस्त्वा"[१४], इत्येतेषामनुवाकानां पृष्ठ्यसंज्ञा भवति । "हिरण्यवर्णाः"[१५] इति हिरण्यवर्णीयः "हिरण्यवर्णाः शुचयः" इति हिरण्यवर्णीसंज्ञो भवति । यथा ग्रहेषु—"जहि शत्रूँ रप्मृधः"[१६] । ग्रहादिष्वाकारपूर्वस्य यथा तदुदाहरणानि द्रष्टव्यानि । "मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय"[१७] । उख्ये यथा—"मधुमाँ अस्तु सूर्यः"[१८] । याज्यासु यथा—"राजवामवाँ इमेन"[१९] । पृष्ठ्ये यथा—"जघनाँ उप जिघ्नते"[२०] । हिरण्यवर्णीये यथा—"सर्वाग्नी रप्सुषदः"[२१] । अनिति पर इति किम् ? "अभ्यवर्त्तन्त दस्यून्"[२२] । "इडावानितीडावान्"[२३] । ग्रहादिष्विति किम् ? "त्रीनिमाँल्लोकान्"[२४] । "पशूनेवाव रुन्धे"[२५] । "तानिन्द्रऽन्तर्यामेण"[२६] । प्रक्ष + + + कारयोर्विकारयो सम्बद्धस्तुशब्दः प्रकृतिवर्णत्वं विनिवर्त्तयति ॥ २० ॥

(कहा) ? "अस्मिन् योनौ" ।[क] पदादि यह क्यों (कहा) ? "प्रजावतीरनमीवाः" ।[ख] पृथक् रूप से सूत्र का विधान वाद वाले (सूत्र) के लिए है ॥ १९ ॥

सू० अ०—ग्रह, उख्य, याज्या, पृष्ठ्य, हिरण्यवर्णीय (अनुवाकों) में ईकार तथा ऊकार पूर्व में होने पर (नकार) रेफ हो जाता हैं) और आकार पूर्व में होने पर (नकार) यकार (हो जाता है), 'इति' (के इकार) से अन्य (स्वर) बाद में होने पर।

(क) अस्मिन् । योनौ ॥ प० पा०

(ख) प्रजावतीरिति प्रजा—वतीः । अनमीवाः ॥ प० पा०

---

(१) १।४।१ (२) १।४।४२ (३) १।१।१४ (४) ४।३।१३
(५) २।६।११ (६) ४।४।१२ (७) ४।६।६ (८) ४।६।७
(९) ४।६।८ (१०) ४।६।९ (११) ४।७।१५ (१२) ५।१।११
(१३) ५।२।११ (१४) ५।२।१२ (१५) ५।६।१ (१६) १।४।४२
(१७) १।४।१९ (१८) ४।२।९ (१९) १।२।१४ (२०) ४।६।६
(२१) ५।६।१ (२२) १।६।१२ (२३) ३।१।११ (२४) ७।३।२
(२५) ५।१।१ (२६) ६।४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेषु=) ग्रहोख्यादिषु विषयेषु; (ईकारोकारपूर्वः=) ईकारपूर्व ऊकारपूर्वो वा; चकाराकृष्टो नकारः अनितिपरः इतीत्येतस्मादन्यस्वरपरो रेफमापद्यते, आकारपूर्वश्चेद्यकारमापद्यते। ग्रहो नाम चतुरोऽन्त्यानुवाकान् वर्जयित्वा "आददे ग्रावा"[1] इति प्रश्नः। अग्निकाण्डस्याद्यं प्रश्नद्वयं उत्तमानुवाकवजम्, उख्यं इत्याख्यायते। उक्ता याज्याः। "समिदिशाम्"[2], "जीमूतस्य"[3], "यदक्रन्दः"[4], "मा नो मित्रः"[5], "ये वाजिनम्"[6], "अग्नेर्मन्वे"[7], "समिद्धो अञ्जन्"[8], "गायत्री"[9], "कस्त्वा"[10] इत्यनुवाकनवकं पृष्ठ्यमिति पठ्यते। "हिरण्यवर्णाः"[11] इत्यनुवाकः हिरण्यवर्णीयः। ग्रहे यथा—"जहि शत्रूꣳरपमृधः"[12]। "मरुत्वाꣳइन्द्र"[13]। उख्ये यथा—"ये वा वनस्पतीꣳरनु"[14]। "मधुमाꣳअस्तु सूर्यः"[15]। याज्यासु यथा—ऋतूꣳरृतुपते"[16]। "अमवाꣳइभेन"[17]। पृष्ठ्ये यथा—"शत्रूꣳरनपव्ययन्तः"[18]। "जघनाꣳउपजिघ्रते"[19]।

त्रि० अ०—(ग्रहो···येषु=) ग्रह, उख्य इत्यादि अनुवाकों में; (ईकारोकारपूर्वः=) ईकार पूर्व में होने पर अथवा ऊकार पूर्व में होने पर; चकार से आकृष्ट नकार; अनितिपरः= इति—इससे अन्य (=इति के इकार से अन्य) स्वर बाद में होने पर; रेफ हो जाता है; आकारपूर्वश्च=यदि आकार पूर्व में हो तो; यकार हो जाता है। अन्तिम चार अनुवाकों को छोड़कर "आददे ग्रावाऽसि"—यह प्रश्न 'ग्रह' कहलाता है।[क] अग्नि काण्ड के आदि के दो प्रश्न अन्तिम अनुवाकों को छोड़कर 'उख्य' कहे जाते हैं।[ख] याज्या (अनुवाकों को) (३।९ में) कहा जा चुका है।[ग] "समिदिशाम्", "जीमूतस्य", "यदक्रन्दः", "मा नो मित्रः"। "ये वाजिनम्", "अग्नेर्मन्वे", "समिद्धो अञ्जन्", "गायत्री", "कस्त्वा"—ये नौ अनुवाक 'पृष्ठ्य' के नाम से उल्लिखित होते हैं। "हिरण्यवर्णाः"—यह अनुवाक हिरण्यवर्णीय है। ग्रह में जैसे—"जहि शत्रूꣳरपमृधः" "मरुत्वाꣳइन्द्र"। उख्य में जैसे—"ये वा वनस्पतीꣳ रनु"। "मधुमाꣳअस्तु सूर्यः"। याज्याओं में जैसे—"ऋतूꣳरृतुपते"। "अमवाꣳइभेन"। पृष्ठ्य में जैसे—"शत्रूꣳरनपव्ययन्तः"। "जघनाꣳउपजिघ्रते"। हिरण्य-

---

(क) प्रथम काण्ड के चतुर्थ प्रश्न (प्रपाठक) के प्रथम बयालीस अनुवाक ग्रह—संज्ञक हैं (१।४।१-४२)। चतुर्थ प्रश्न "आ ददे ग्रावा" से प्रारम्भ होता है।

(ख) चतुर्थ काण्ड के प्रथम दो प्रश्न, अन्तिम अनुवाकों को छोड़कर (=४।१।१–१०; ४।२।१–१०) उख्य कहलाते हैं।

(ग) चतुर्थ काण्ड के "उभावामिन्द्राग्नी" (२।१।१४) से लेकर "अग्निवृत्राणि" (४।३।१३) पर्यन्त प्रश्नों के उत्तम अनुवाक तथा "युक्ष्वा हि देवहूतमान्" (२।६।११) यह भी अनुवाक 'याज्या' संज्ञक है।

---

(१) १।४।१	(२) ४।४।१२	(३) ४।६।६–९	(४) ४।७।१५
(५) ५।१।११	(६) ५।२।११	(७) ५।२।१२	(८) ५।६।१
(९) १।४।४२	(१०) १।४।१९	(११) ४।२।८	(१२) ४।२।९
(१३) ४।३।१३	(१४) १।२।१४	(१५) ४।६।६	(१६) ४।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिरण्यवर्णीये यथा—"अग्नीꣳरप्सुषदः"[१]। "सर्वाꣳअग्नीन्"[२]। अनितिपर इति किम्? "अभ्यवर्तन्त दस्यून् दस्यूनिति दस्यून्"[३]। "इडावानितीडा—वान्"[४]। ग्रहादिष्विति किम्? "त्रीनिमाꣳल्लोकानिति"[५]। "पशूनेवाव रुन्धे"[६]। "तानिन्द्रोऽन्तर्यामेणान्तरधत्त"[७]। इतिः परो यस्मादसाविति परः, न इतिपरः, अनितिपरः ॥२०॥

वै०—इतिपरादन्योऽनितिपरः। ग्रहा नाम "आददे ग्रावाऽसि"[८] इत्यादयः षट्त्रिंशदनुवाकाः। एषामन्त्यः "सजोषा इन्द्र"[९] इत्यनुवाकः। उख्यं नाम अग्निकाण्डस्यादित

वर्णीय में जैसे—"अग्नीꣳरप्सुषदः"। "सर्वाꣳअग्नीन्"।[क] इति से अन्य (स्वर) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अभ्यवर्तन्त दस्यून्। दस्यूनिति दस्यून्"। "इडावानितीडावान्"[ख]। ग्रह आदि में—यह क्यों (कहा)? "त्रीनिमाꣳल्लोकानिति"। "पशूनेवाव रुन्धे"। "तानिन्द्रोऽन्तर्यामेणान्तरधत्त"।[ग] इति है बाद में जिससे वह=इतिपर, इति बाद में नहीं है जिससे वह=अनितिपर ॥ २० ॥

वै० अ०—इतिपर से अन्य=अनितिपर। 'ग्रह' नामक "आददे ग्रावाऽसि"

(क) जहि। शत्रून्। अपेति। मृधः॥ मरुत्वान्। इन्द्र॥ ये। वा। वनस्पतीन्। अनु॥ मधुमानिति मधु—मान्॥ अस्तु। ऋतून्। ऋतुपत इत्यृतु—पते॥ अमवानित्यमवान्। इभेन॥ शत्रून्। अनपव्ययन्त इत्यनप—व्ययन्तः॥ जघनान्। उपेति॥ अग्नीन्। अप्सुषद इत्यप्सु—सदः॥ सर्वान्। अग्नीन्॥ प० पा०

ये सभी उदाहरण ग्रह, उख्य आदि अनुवाकों के हैं। अतः (१) ईकार और ऊकार के बाद में स्थित नकार रेफ हो गया है। तदनन्तर १५।३ से ईकार और ऊकार तथा रेफ के मध्य में 'अनुस्वार' का आगम हुआ है; (२) आकार के बाद में स्थित नकार यकार हो गया है। तदनन्तर १०।१९ से यकार का लोप हो गया है और १५।३ से आकार और परवर्ती स्वर के मध्य में अनुस्वार का आगम हो गया है।

(ख) अभ्यवर्तन्तेत्यभि—अवर्तन्त। दस्यूनिति दस्यून्॥ प० पा०
इडावानितीडा—वान्॥ प० पा०

'इति' बाद में होने के कारण नकार रेफ अथवा यकार नहीं हुआ है।

(ग) त्रीन्। इमान्। लोकान्। इति॥ पशून्। एव। अवेति। रुन्धे॥ तान्। इन्द्रः। अन्तर्यामेणेत्यन्तः—यामेन। अन्तः। अधत्त॥ प० पा०

ये उदाहरण सूत्र में निर्दिष्ट अनुवाकों के नहीं है। अतः नकार रेफ अथवा यकार नहीं हुआ है।

---

(१) ५।६।१ (२) ५।६।१ (३) १।६।१२
(४) ३।१।११ (५) ७।३।२ (६) ५।१।१
(७) ६।४।६ (८) १।४।१ (९) १।४।४२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नद्वयं याज्यानुवाकव्यतिरिक्तम्—"युञ्जानः प्रथमम्"[१] इत्यादिदशानुवाकाः, "विष्णोः क्रमोऽसि"[२] इत्यादिदश च, एषामन्त्यः "आदित्यं गर्भम्"[३] इत्यनुवाकः। याज्या उक्ताः। पृष्ठ्यं अश्वमेधकाण्डस्य आदितो नवानुवाकाः—"समिद्दिशाम्"[४] इत्येषः "जीमूतस्य"[५] इति चत्वारः, "अग्नेर्मन्वे"[६] "समिद्धो अञ्जन्"[७] इत्येतौ, "गायत्री त्रिष्टुप्"[८] "कस्त्वा छ्यति"[८] इति द्वौ चेति। "हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावकाः"[९] इत्यनुवाको हिरण्यवर्णीयः। "अध्यायानुवाकयोर्लुक्"[१०] इति लुक इहाभावच्छान्दसः। सूक्तं वा त्रयोदशर्चं हिरण्यवर्णी-

---

इत्यादि छत्तीस अनुवाक हैं। इनका अन्तिम "सजोषा इन्द्र"—यह अनुवाक है। अग्नि-काण्ड के आदि में दो प्रश्न 'याज्या' अनुवाक को छोड़कर "युञ्जानः प्रथमम्" इत्यादि दश अनुवाक और "विष्णोः क्रमोऽसि"—इत्यादि दश (अनुवाक) उक्थ्य हैं। "आदित्यं गर्भम्"—इनका अन्तिम अनुवाक है। याज्या (अनुवाकों) को (३।९ में) कह दिया गया है। अश्वमेध-काण्ड के आदि में नौ अनुवाक 'पृष्ठ्य' हैं "समिद्दिशाम्"—यह, "जीमूतस्य"—ये चार, "अग्नेर्मन्वे", "समिद्धो अञ्जन्"—ये दो और "गायत्री त्रिष्टुप्", "कस्त्वा छ्यति"—और ये दो। "हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावकाः"—यह अनुवाक हिरण्यवर्णीय है। "अध्याय और अनुवाक के (अभिव्यक्त करने में) लोप (होता है)"—इससे (प्राप्त) लोप का यहाँ अभाव आर्ष (प्राचीन, अप्रचलित) है। अथवा तेरह ऋचाओं वाला सूक्त हिरण्यवर्णीय है।[क] ईकार और

(क) सिद्धान्ती—'हिरण्यवर्णाः' पद से समन्वित (=हिरण्यवर्णीय) अनुवाक में प्रस्तुत विधान लागू होता है।

पूर्वपक्षी—पा० ५।२।६० से ज्ञात होता है कि जहाँ अध्याय अथवा अनुवाक को अभिव्यक्त करना हो वहाँ छ (ईय) प्रत्यय का लोप हो जाता है। इस प्रकार "गर्दभाण्ड" शब्द से समन्वित अध्याय अथवा अनुवाक के लिए' 'गर्दभाण्डः' शब्द का प्रयोग होता है—"गर्दभाण्डोऽध्यायः; गर्दभाण्डोऽनुवाकः।" यहाँ (प्रस्तुत में) ईय प्रत्यय का लोप नहीं हुआ है।

सिद्धान्ती—(१) यहाँ छ (ईय) का जो लोप नहीं हुआ है वह आर्ष (प्राचीन) प्रयोग है; (२) अथवा हिरण्यवर्णीय का अर्थ है—हिरण्यवर्णीय सूक्त।

ज्ञातव्य है कि तै० सं० के प्रश्नों (प्रपाठकों) का विभाजन अनुवाकों में हुआ है, सूक्तों में नहीं। अतः सूक्त का वाचक द्वितीय समाधान उचित नहीं लगता। पूर्वपक्षी की शंका का वास्तविक समाधान यह है—पा० ५।२।६० के द्वारा जो छ (ईय) का लोप कहा गया है वह वैकल्पिक है। पतञ्जलि और कैय्यट

---

(१) ४।१।१ (२) ४।२।१ (३) ४।२।१० (४) ४।४।१२
(५) ४।६।६ (६) ४।७।१५ (७) ५।१।११ (८) ५।२।११-१२
(९) ५।६।१ (१०) पा० ५।२।६०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यम्। ईकारऊकारपूर्वं इति कार्यभाज एव निर्देशः। आकारपूर्वं इति च। प्रकृतिभावस्तु छान्दसः असन्देहार्थः, चशब्द इह यकारादेशसमुच्चयार्थः। (ग्रहो···वर्णीयेषु=) ग्रहो-ख्यादिषु;, (ईकारऊकारपूर्वः=) ईकारादूकाराच्च परः; नकारोऽनितिपरो रेफमादेशं याति, आकारपूर्वश्च यकारं स्वरे पदादौ परतः। ग्रहेषु यथा—"शन्नूꣳरपमृधः"[१]। "वृष्टिमाꣳइव"[२]। उख्ये यथा—"पुष्टिमाꣳअसि"[३]। "ये वा वनस्पतीꣳरनु"[४]। याज्यासु यथा—"येभिर्देवा ꣳ ऋतुभिः कल्पयाति"[५]। "स त्रीꣳ रेकादशाꣳ इह"[६]। पृष्ठ्येषु यथा—"क्षिणन्ति शत्रूꣳ रनपव्ययन्तः"[७]। "अस्माꣳअदितेरनागाः"[८]। हिरण्यवर्णीयेषु यथा—"सर्वाꣳअग्नीꣳरप्सुषदः"[९]। अनितिपर इति किम्? "वृष्टिमानिति वृष्टि—मान्"[१०]। "सुवाति तान्। तानिति तान्"[११]। "श्रपयानिति"[१२]। ग्रहोख्यादिष्विति किम्? "तद्य-द्यतीनपावपत्"[१३]। "पशूनेवाव रुन्धे"[१४]। "तानजुहोत्"[१५]। एतत्पूर्व इति किम्? "उत्तिष्ठन्नोजसा"[१६] ॥ २० ॥

ऊकार पूर्व में होने पर—इससे कार्यभाक् का ही निर्देश हुआ है। आकार पूर्व में होने पर—इससे भी (कार्यभाक् का ही निर्देश हुआ है)। प्रकृतिभाव तो छान्दस है और असन्देह के लिए है।[क] च शब्द यहाँ (सूत्र में) यकारादेश के समुच्चय के लिए है। (ग्रहो···वर्णीयेषु=) ग्रह, उख्य आदि में; (ईकारऊकारपूर्वः=) ईकार से और ऊकार से परवर्ती; नकार; अनितिपरः= इति (के इकार) से अन्य (स्वर) बाद में होने पर; रेफ रूप आदेश को प्राप्त करता है; आकारपूर्वश्च= और आकार पूर्व में होने पर; यकार (रूप आदेश को प्राप्त करता है); पदादि स्वर बाद में होने पर।··· ॥२०॥

दोनों ने कहा है कि अध्याय और अनुवाक के अभिव्यक्त करने में छ (ईय) का लोप विकल्प से होता है—गर्दभाण्डः और गर्दभाण्डीयः—ये दोनों युक्त हैं। इसी प्रकार हिरण्यवर्णः (अनुवाकः) और हिरण्यवर्णीयः (अनुवाकः) ये दोनों युक्त हैं। (दे० पा० ५।२।६० पर सि० कौ०)

(क) वैदिकाभरणकार के अनुसार सूत्र में 'ईकारोकारपूर्वः' के स्थान पर "ईकारऊकार-पूर्वः" पाठ है। सन्देह के निवारण के लिए 'ईकारऊकारपूर्वः' का ग्रहण किया गया है। 'ईकारोकारपूर्वः' का ग्रहण होने पर संदेह हो सकता था कि ईकारो-कारपूर्वः = ईकार और ऊकार पूर्व में होने पर अथवा ईकार और उकार पूर्व में होने पर।

---

(१) १।४।४२	(२) १।४।२०	(३) ४।२।५	(४) ४।२।८
(५) १।१।१४	(६) ३।२।११	(७) ४।६।६	(८) ४।७।१५
(९) ५।६।१	(१०) १।४।२०	(११) ४।१।१	(१२) ४।१।५
(१३) ३।३।७	(१४) ५।१।१	(१५) ३।४।४	(१६) १।४।३०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्त्यानुदयानमृतान्दुर्यानसोमपूर्वः सोऽस्मानविमान्गोमान्मधुमान्हविष्मान्-हूतमानार्षेचिकित्वानिडावान्कक्षीवान्बाणवान्हिपयस्वान्वशान्विदत्रा-नमित्रानरान्पोषान्महाँश्च ॥ २१ ॥

मा०—इत्येतेषु ग्रहणेषु इतिशब्दादन्यस्वरपरः नकारो यकारमापद्यते। यथा—"अमर्त्यो मर्त्यां आ विवेश"[१]। "सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्"[२]। उदयानिति किम्? "वयोभिरेवा यानवरुन्धे"[३]। "उदस्थाममृताँ अनु"[४]। "भद्रान्दुर्या अभ्येहि"[५]। न सोमपूर्वः। नेति प्रतिषेधः। दुर्यानित्येतस्मिन् सोमपूर्वो न खलु नकारो यकारमापद्यते। यथा—"प्रचरा सोम दुर्यानदित्याः"[६]। "सो अस्माँ अधिपतीन् करोतु"[७]। सो अस्मानिति किम्? "इन्द्रो अस्मानस्मिन्"[८]। "अविमाँ अश्वी"[९]। "गोमाँ अग्ने"[१०]। "मधुमाँ इन्द्रि-यावान्"[११]। अविमान् गोमान् मधुमान् इति किम्? "पशुमानेव भवति"[१२]। "अध्वरो हविष्माँ आ विवासति हविष्माँ अस्तु"[१३]। हूतमानार्षे। हूतमानित्येतस्मिन् ग्रहणे आर्षस्वर-परो नकारो यकारमापद्यते। यथा—"युद्वा हि देवहूतमान्"[१४]। "युद्वा हि देवहूतमाँ इत्थु-खायां जुहोति"[१५]। आर्ष इति किम्? "देवहूतमानिति देव—हूतमान्"[१६]। आर्षग्रहणसा-मर्थ्यात् इतिशब्दपरोऽपि नकारो यकारमापद्यते। आर्षे समपाठ इत्यर्थः। "चिकित्वाँ अनु मन्यताम्"[१७]। "इडावाँ एषः"[१८]। "कक्षीवाँ औशिजः"[१९]। "विशल्यो बाणवाँ उत"[२०]। इडावान् कक्षीवान् बाणवानिति किम्? "ऊर्जस्वान् पयस्वान् इत्याह"[२१]। "करोति रसवानेव भवति[२२]"। "समसृक्ष्महि पयस्वाँ अग्न आगमम्"[२३]। हिपयस्वानिति किम्? "ऊर्ज-स्वान् पयस्वानित्याह"[२४]। ऊर्जः पयस्वानुर्जस्वानित्यत्र यकारोत्पत्तिर्न भवति। कस्मात्? विकृत उत्तरत्र वक्ष्यामः (?)। "स्तुतो यासि वशाँ अनु"[२५]। "अथापितृँ सुविदत्राँ अपि"[२६]। "अराँ इवाग्ने"[२७]। "पोषाँ अपुष्यत्"[२८]। "अग्ने महाँ असि"[२९] ॥ २१ ॥

सू० अ०—मर्त्यान्, उद् अयान्, अमृतान्, दुर्यान् सोमपूर्व में न होने पर, सो अस्मान्, अविमान्, गोमान्, मधुमान्, हविष्मान्, संहितास्थ कोई स्वर बाद में होने पर हूतमान्, चिकित्वान्, इडावान्, कक्षीवान्, बाणवान्, हि पयस्वान्, वशान्, विदत्रान्, अमित्रान्, अरान्, पोषान्, महान् में भी (नकार यकार हो जाता है)।

---

(१) ५।७।९	(२) ४।६।३	(३) ५।२।१०	(४) १।२।८
(५) १।६।३	(६) १।२।१०	(७) १।६।६	(८) ३।१।६
(९) १।६।६	(१०) १।६।६	(११) ३।१।१०	
(१२) ६।२।६	(१३) १।३।१२	(१४) ५।५।३	(१५) ५।५।३
(१६) ५।५।३	(१७) ३।१।४	(१८) १।६।६	(१९) ५।६।५
(२०) ४।५।१	(२१) १।७।३	(२२) २।२।४	(२३) १।४।४५
(२४) १।७।३	(२५) १।८।५	(२६) १।८।५	
(२७) २।५।६	(२८) ७।१।९	(२९) २।५।६	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—मर्त्यान्, उदयान्, अमृतान्, दुर्यान् असोमपूर्वः, सो अस्मान्, अविमान्, गोमान्, मधुमान्, हविष्मान्, हूतमानार्षे, चिकित्वान्, इडावान्, कक्षीवान्, बाणवान्, हि पयस्वान्, वशान्, विदत्रान्, अभित्रान्, अरान्, पोषान्, महान् एतेषु ग्रहणेषु नकारोऽनितिपरो थकारमापद्यते। अनितिपरत्वाकर्षकोऽयं चकारः। विषयाननादृत्य सर्वार्थोऽयमितः परमारम्भः। यथा—"मर्त्याꣳआविवेश"[१]। "उदयाꣳअजस्रम्"[२]। उदिति किम्? "वयोभिरेवायानव रुन्धे"[३]। "उदस्थाममृता ꣳ अनु"[४]। "भद्रान्दुर्याꣳअस्येहि"[५]। न सोमपूर्वः दुर्यान्· इत्यत्र नकारः सोमपूर्वो यत्वं नापद्यते। "प्र चरा सोम दुर्यानदित्याः"[६] "सो अस्माꣳ अधिपतीन्करोतु"[७]। सो इति किम्? "इन्द्रो अस्मानस्मिन्"[८]। "अविमाꣳअश्वी"[७]। "गोमाꣳअग्ने"[७]। "मधुमाꣳइन्द्रियावान्"[९]। अविगोमध्विति किम्? "पशुमानेव भवति"[१७]। "हविष्माꣳआ विवासति"[११]। हूतमानार्षे, हूतमानित्यत्र नकार आर्षे स्वरपरः यत्वं भजते। "देवहूतमाꣳ इत्युखायाम्"[१२]। आर्ष इति किम्? "देवहूतमानिति देव–हूतमान्"[१२]। आर्षग्रहणसामर्थ्यादितिपरत्वेऽपि यत्वं भवति। आर्ष इति काकाक्षिवदुभयत्र सम्बध्यते, ग्रहोख्यादिमहान्पर्यन्तम्। आर्षः स्वयंपाठ इत्यर्थः।

त्रि० अ०—मर्त्यान्····महान्–इन पदों में; नकार यकार हो जाता है 'इति' (के इकार) से व्यतिरिक्त कोई भी स्वर बाद में होने पर। (सूत्र में प्रयुक्त) यह चकार 'इति' बाद में न होने पर, की अनुवृत्ति करता है। (९।२० में उल्लिखित ग्रह, उख्य इत्यादि) स्थलों का अनादर करके इस और परवर्ती (सूत्रों) का आरम्भ सब (स्थलों) के लिए है।····। उत्–यह क्यों (कहा)?"वयोभिरेवायानव रुन्धे"।····। सोम पूर्व में न होने पर दुर्यान्—इससे नकार, सोम पूर्व में होने पर, यत्व को नहीं प्राप्त करता है। "प्र चरा सोम दुर्यानदित्याः"।····। अवि, गो, मधु—यह क्यों (कहा)? "पशुमानेव भवति"।[क] "हविष्माꣳआ विवासति"। हूतमानार्षे—हूतमान्—इसका नकार आर्ष (संहिता-पाठ में विद्यमान) स्वर बाद में होने पर यत्व को प्राप्त करता है। "देवहूतमाꣳइत्युखायाम्"। आर्ष (स्वर) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "देवहूतमानिति देव—हूतमान्"।

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'मान्' का ग्रहण करना ही पर्याप्त होता। इससे ही 'अविमान्' 'गोमान्' और 'मधुमान्' में विहित कार्य (यत्व) की सिद्धि हो जाती। तब तीन सम्पूर्ण पदों का सूत्र में ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—सूत्र में 'मान्' का ही ग्रहण किया जाता तो 'पशुमानेव भवति' में पशुमान् का नकार यकार हो जाता। किन्तु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए सूत्र में 'मान्' का ग्रहण न करके उपर्युक्त तीनों पदों का ग्रहण किया गया है।

---

(१) ५।७।६ (२) ४।६।३ (३) ५।२।१० (४) १।२।८
(५) १।६।३ (६) १।२।१० (७) १।६।६ (८) ३।१।६
(९) ३।१।१० (१०) ६।२।६ (११) १।३।१२ (१२) ५।५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चिकित्वाꣳ अनुमन्यताम्"[१]। "इडावाꣳएषः"[२]। "कक्षीवाꣳऔशिजः"[३]। "विशल्यो बाणवाꣳउत"[४]। इडाकक्षीवाणेति किम्? "करोति रसवानेव भवति"[५]। "आसृक्महि। पयस्वाꣳअग्ने"[६]। हीति किम्? "ऊर्जस्वान्पयस्वानित्याह"[७]। आर्षे इतिपरत्वात् "देवहूतमाꣳइत्युखायां जुहोति"[८] इतिवद्यत्वप्राप्तिर्हिग्रहणेन प्रतिषिद्ध्यते। "स्तुतो यासि वशाꣳ अनु"[९]। "सुविदत्राꣳअपि"[१०]। "अमित्राꣳअपबाधमानः"[११]। "अराꣳइवाग्ने"[१२]। "पोषाꣳअपुष्यत्"[१३]। "अग्ने महाꣳअसि"[१४] ॥ २१ ॥

(सूत्र में) आर्ष (शब्द) के ग्रहण की सामर्थ्य से इति बाद में होने पर भी यत्व होता है। 'आर्ष'—यह कौए की आँख की तरह दोनों ओर सम्बद्ध होता है—ग्रह, उख्य से प्रारम्भ करके महान् पर्यन्त। आर्ष=स्वयम्पाठ=मूल-पाठ=संहिता—पाठ।[क] "चिकित्वाꣳअनुमन्यताम्"। "इडावाꣳएषः"। "कक्षीवाꣳऔशिजः"। "विशल्यो बाणवाꣳउत"। इडा, कक्षी और बाण—यह क्यों (कहा)? "करोति रसवानेव भवति"[ख]। "असृक्महि। पयस्वाꣳअग्ने"।[ग] हि—यह क्यों (कहा)? "ऊर्जस्वान्पयस्वानित्याह"। संहिता-पाठ में 'इति' बाद में होने से "देवहूतमाꣳइत्युखायां

(क) आचार्य ने 'आर्षे' (संहिता-पाठ में विद्यमान स्वर बाद में होने पर) का प्रयोग करके यह बतलाया है कि ६।२०—२१ में उल्लिखित पदों के अनुसार नकार यकार हो जाता है, यदि उसके बाद में संहिता-पाठ में विद्यमान कोई भी स्वर हो। यदि 'इति' पद संहिता-पाठ का अंश है तब इति का इकार बाद में होने पर भी नकार यकार हो जाता है जैसे कि "देवहूतमाꣳइत्युखायाम्" में हुआ है। नकार तभी यकार नहीं होता है जब उसके बाद में प० पा० अथवा क्र० पा० में आने वाला (=अनार्ष) 'इति' हो। यही कारण है कि "देवहूतमानिति देव—हूतमान्" में नकार यकार नहीं हुआ है। यह 'इति' पद संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं होता है। यह प० पा० में उत्पन्न हुआ है। भाष्यकार ने बतलाया है कि जिस प्रकार कौए की एक आँख आवश्यकतानुसार दोनों अक्षि—गोलकों में आती जाती रहती है, उसी प्रकार 'आर्षे' शब्द का सम्बन्ध पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्थलों (=६।२०—२१) में निर्दिष्ट सभी स्थलों के साथ है।

(ख) पृ० ५५० टि० (क) की तरह समझ लेना चाहिए।

(ग) 'हि' पूर्व में होने के कारण पयस्वान् का नकार यकार हो गया है।

---

(१) ३।१।४ (२) १।६।६ (३) ५।६।५ (४) ४।५।१
(५) २।२।४ (६) १।४।४५ (७) १।७।३ (८) ५।५।३
(९) १।८।५ (१०) १।८।५ (११) ४।६।४ (१२) २।५।९
(१३) ७।१।९ (१४) २।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(मर्त्यानुदयानमृतान्दुर्यानसोमपूर्वः सोअस्मानविमान्गोमान्मधुमान्-हविष्मान् हूतमानार्षेचिकित्वानिडावान्कक्षीवान्बाणवान्हिपयस्वान्वशान्विदत्रानमि-त्रानरान्पोषान्महाꣳश्च=) मर्त्यान् इत्यादिषु; आकारात्परो नकारोऽनितिपरः स्वरे पदादौ परतो यकारं याति। ग्रहोख्यादिव्यतिरिक्तदेशार्थमिदं सूत्रं परं च। मर्त्यान्—"मर्त्याꣳ-आविवेश"[१]। उदयान्—"उदयाꣳअजस्रम्"[२]। उदिति किम्? "वयोभिरेवायानव रुन्धे"[३]। अमृतान्—"उदस्थाममृताꣳ अनु"[४]। दुर्यान्नसोमपूर्वः—"सुवाग्देव दुर्याꣳ आ वद"[५]। सोमपूर्वस्तु नायं यकारं याति। "प्र चरा सोम दुर्यानदित्याः"[६]। सो अस्मान्—"वयं मा सो अस्माꣳअवहाय"[७]। सो इति किम्? "प्रदातारस्स्मोऽस्मान-मुत्र"[८]। अविमान्—"अविमाꣳअश्वी"[९]। गोमान्—"गोमाꣳअग्ने"[१०]। मधुमान्—"मधुमाꣳ इन्द्रियावान्"[११]। अविगोमध्वित्युपबन्धैः किम्? "पशुमानेव भवति"[१२]। हविष्मान्—"हविष्माꣳआ विवासति"[१३]। हूतमानार्षे—"देवहूतमाꣳ इत्युखायां जुहोति"[१४]। "युक्त्वा हि देवहूतमाꣳ अश्वाꣳ अग्ने[१५]" इत्यत्र तूख्ययाज्यान्तर्भावात्सिद्धम्। अग्न्युपानुवाक्ये

जुहोति" की तरह यत्व की प्राप्ति (सूत्र में) हि के ग्रहण से प्रतिषिद्ध की जाती है।[क]...॥ २१ ॥

वै० अ०—(मर्त्यान्...महान्=) मर्त्यान् इत्यादि में; आकार से परवर्ती नकार, इति बाद में नहीं है जिसके, पदादि स्वर बाद में होने पर, यकार को प्राप्त करता है। ग्रह, उख्य इत्यादि (स्थलों) से अतिरिक्त स्थलों के लिए यह सूत्र और परवर्ती (सूत्र) है।...। आर्ष (वैदिक) संधि में हूतमान्—"देवहूतमाꣳइत्युखायां जुहोति"। "युक्त्वा हि देवहूतमाꣳअश्वाꣳअग्ने"—यहाँ पर तो उख्य और याज्या के

(क) 'हि' पूर्व में न होने के कारण 'पयस्वान्' का नकार यकार नहीं होता है, अपितु अविकृत रहता है।

पूर्वपक्षी—यह कहना युक्त नहीं है कि 'हि' 'पूर्व' में न होने के कारण 'पयस्वान्' का नकार यकार नहीं हुआ है। 'इति' बाद में होने के कारण 'पयस्वान्' का नकार यकार नहीं हुआ है

सिद्धान्ती—'हूतमान्' के प्रसङ्ग में ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि प० पा० अथवा क्र० पा० का इति बाद में होने पर ही नकार यकार नहीं होता है। संहिता-पाठ में 'इति' बाद में होने पर भी नकार यकार हो जाता है। यहाँ पर भी संहिता-पाठ का इति नकार के बाद में है। अतः नकार के यकार होने की प्राप्ति प्रस्तुत सूत्र से होती है। किन्तु 'हि' पूर्व में न होने के कारण 'पयस्वान्' का नकार यकार नहीं हुआ है।

---

(१) ५।७।९ (२) ४।६।३ (३) ५।२।१० (४) १।२।८
(५) १।२।१३ (६) १।२।१० (७) ५।७।६ (८) ६।६।१
(९) १।६।६ (१०) १।६।६ (११) ३।१।१०
(१२) ६।२।६ (१३) १।३।१२ (१४) ५।५।३ (१५) २।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु न सिद्ध्यतीत्यप्राप्तप्रापणार्थं हूतमान्ग्रहणम्। तत्र यथा त्रैंशिके भवति, एवं पदकाल-प्रक्षिप्तेऽपीतिशब्दे परतः स्यात्, तन्निवारणार्थमिहार्षग्रहणम्। ऋषिर्वेदः। यथा अग्न्युपानुवाक्ये समाम्नायते—"एतꣳह वाव तदृषिरभ्यनूवाचेन्द्रो दधीची अस्थभिरिति"[1] इति। महाभाष्येऽप्युक्तम्। "ऋषिर्वेदः पठति—'शृणोत ग्रावाणः'[2] इति" इति। ऋषौ भवः सन्धिरार्षो वैदिकः अपौरुषेयसन्धिरित्यर्थः। तत्रैवाप्राप्तप्रापणं हूतमान्ग्रहणेन क्रियते, न सर्वत्र ततः "देवहूतमानिति देव—हूतमान्"[3] इति विभज्यानुवादार्थे इतिशब्दे परतः न यकारा-

---

अन्तर्गत होने से सिद्ध है। अग्नि के उपानुवाक्य में तो सिद्धि नहीं होती है—इसलिए अप्राप्त की प्राप्ति के लिए (सूत्र में) हूतमान् का ग्रहण (किया गया है)।[क] उनमें से जिस प्रकार त्रैंशिक में होता है, उसी प्रकार पद-पाठ के समय अन्तर्निविष्ट 'इति' शब्द बाद में होने पर भी हो जायेगा—उसके निवारण के लिए आर्ष (शब्द का सूत्र में) ग्रहण (किया गया है)। ऋषि=वेद। जैसे—अग्नि के उपानुवाक्य में पाठ किया गया है—इस विषय में ऋषि (=वेद) ने कहा है—"इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों से"। महाभाष्य में भी कहा गया है। ऋषि=वेद, पाठ करता है—"हे पाषाणों! सुनो"। ऋषि (=वेद) में होने वाली संधि=आर्ष (संधि)=वैदिक (संधि)= अपौरुषेय संधि—यह अर्थ हैं। वहाँ पर ही 'हूतमान्' के ग्रहण से अप्राप्त की प्राप्ति की गई है, सर्वत्र नहीं। इसलिए "देवहूतमानिति देव—हूतमान्"—यहाँ पर विभक्त करके अनुवाद के लिए प्रयुक्त 'इति' शब्द बाद में होने पर यकार का आदेश नहीं हुआ है।[ख] किन्तु जो लोग मानते हैं कि वेद विभक्त पदात्मक है,

---

(क) तै० सं० में इन तीन स्थलों पर नकार यकार और तदनन्तर लुप्त हुआ है—(१) युक्ष्वा हि देवहूतमाꣳअश्वाꣳअग्ने (२।६।११।१); (२) युक्ष्वा हि देवहूतमाꣳ-अश्वाꣳअग्ने (४।२।९।१७); (३) "देवहूतमाꣳइत्युखायां जुहोति" (५।५।३)। प्रथम दो स्थलों में नकार के यकार होने की सिद्धि ९।२० से हो जाती है, क्योंकि ये क्रमशः उख्य-संज्ञक और याज्या-संज्ञक विषयों के अन्तर्गत हैं। तृतीय स्थल में नकार के यकार होने की सिद्धि के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'हूतमान्' का ग्रहण किया गया है। ज्ञातव्य है कि (१) तृतीय स्थल उपानुवाक्य संज्ञक भाग के अन्तर्गत है, जिसका ऋषि अग्नि है, (२) यह तृतीय स्थल त्रैंशिक भाग के अन्तर्गत भी है। पञ्चम काण्ड के प्रथम तीन प्रश्न (प्रपाठक) त्रैंशिक कहलाते हैं।

(ख) वैदिकाभरणकार ने विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया है कि आर्षे=वैदिक संधि में। सूत्र में "आर्षे" के ग्रहण से निश्चित हो जाता है—"देवहूतमाꣳइत्युखायां जुहोति" में नकार का यकार होना युक्त है, क्योंकि यहाँ नकार और इति के मध्य में वैदिक संधि है। प० पा० के समय जो 'इति' पद आता है, उसके साथ पूर्ववर्ती नकार की जो सन्धि होती है वह वैदिक संधि नहीं होती है। अतः वहाँ नकार यकार नहीं होता है।

---

(१) ५।६।६ (२) १।३।१३ (३) २।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशः। ये तु विभक्तपदात्मको वेद इत्याहुः, तेषां सर्वेऽपि पदसन्धयः पौरुषेयास्स्युः। ततश्चं आर्षं इति निर्विषयं स्यात्। ऋषिभिः कृतस्सन्धिरार्षं इति व्युत्पत्त्याश्रयणे तु विभज्यानुवादार्थेऽपि तथात्वमस्तीति व्यावर्त्याभावादार्षग्रहणमनर्थकं स्यात्, अनिष्टं च न निवर्तेतेत्यास्तामेतत्। चिकित्वान्—"चिकित्वाꣳ अनु मन्यताम्"[१]। इडावान्—"इडावाꣳएषो असुर"[२]। कक्षीवान्—"कक्षीवाꣳ औशिजः"[३]। बाणवान्—"बाणवाꣳउत"[४]। इडाकक्षीबाणेति किम्? "स्ववानेव भवति"[५]। अत्र मान् वान् इत्यनयोः प्रत्युपबन्धपाठः वैचित्र्यात्मको विस्पष्टार्थः। हि पयस्वान्—"असृक्महि। पयस्वाꣳअग्ने"[६]। हीत्युपबन्धस्थ व्यावर्त्यं शाखान्तरे। "उर्जस्वान्पयस्वानित्याह"[७] इति तु न प्रत्युदाहरणम्, इतिपरत्वात्। न च "अनितिपरः"[८] इत्यनेन पौरुषेयस्यैवेतिकरणस्य पर्युदासः, अविशेषनिर्देशात्। "हूतमानार्षे" इत्यार्षग्रहणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। वशान्—"वशाꣳअनु"[९]। विदन्नान्—"सुविदन्नाꣳअपीत"[९]। अमित्रान्—"अमित्राꣳअप्रबाधमानः"[१०]। अरान्—"अराꣳइवाग्ने"[११]। पोषान्—"पोषाꣳ अपुष्यत्"[१२]। महान्—"अग्ने महाꣳअसि"[११]। आकारपूर्व इत्येतदुत्तरार्थमिहानुवर्तते ॥२१॥

उनके मत से सभी पद-संधियाँ पौरुषेय हो जायेगी। तब 'आर्ष' इसे कोई स्थल (उदाहरण) नहीं मिलेगा। ऋषियों के द्वारा की गई संधि आर्ष (संधि)—इस व्युत्पत्ति का आश्रय लेने पर तो विभक्त करके अनुवाद के लिए प्रयुक्त होने वाला भी ('इति' शब्द बाद में होने पर) वैसा हो जायेगा—इससे व्यावर्त्य (प्रत्युदाहरण) का अभाव होने से आर्ष का ग्रहण अनर्थक हो जायेगा और अनिष्ट की निवृत्ति नहीं होगी। बस इसे रहने दीजिए॥···। इडा, कक्षी, बाण—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "स्ववानेव भवति"। यहाँ 'मान्' और 'वान्'—इन दोनों का प्रत्येक उपबन्ध के साथ पृथक्-पृथक् पाठ स्पष्टता के लिए है। हि पयस्वान्—"असृक्महि। पयस्वाꣳ अग्ने"। 'हि'—इस उपबन्ध का व्यावर्त्य (प्रत्युदाहरण) दूसरी शाखा में है। "उर्जस्वान्पयस्वानित्याह"—यह तो प्रत्युदाहरण नहीं, क्योंकि बाद में 'इति' (शब्द) है। "···इति (के इकार से अन्य स्वर बाद में होने पर" इससे पौरुषेय 'इति' शब्द का ही निराकरण (अपवाद) नहीं होता है, सामान्य (अविशेष) रूप से ('इति' शब्द का) निर्देश होने से। और "हूतमानार्षे" में आर्ष के ग्रहण के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से।···क। आकारपूर्व की यहाँ अनुवृत्ति परवर्ती (सूत्र) के लिए की गई है॥ २१॥

(क) ऐसा स्थल दूसरी शाखा में ही मिलेगा, जहाँ 'हि' पूर्व में न होने के कारण 'पयस्वान्' का नकार यकार नहीं होता।

---

(१) ३।१।४	(२) १।६।६	(३) ५।६।५
(४) ४।५।१	(५) ३।१।२	(६) १।४।४५
(७) १।७।३	(८) ६।२०	(९) १।८।५
(१०) ४।६।४	(११) २।५।६	(१२) ७।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रोमेऽकरूढ्वमिहाऽप्येत्वगन्मेडेन्यानायजिष्ठआचर्त्वकुर्वतादुहददितिरग्रेऽधरान्थ्सपत्नानलम्परश्च ॥ २२ ॥

मा०—इन्द्रोमे, अकः, ऊढ्वम्, इहा, अप्येतु, अगन्म, ईडेऽन्यान्, आयजिष्ठ, आच, ऋतु, अकुर्वत, अदुहत, अदितिः, अग्रे, अधरान्थ्सपत्नान्, अलम्, इन्द्रोमे इत्येवमादिपरो नकारः आकारपूर्वो यकारमापद्यते। यथा—"सपत्नाँ इन्द्रो मे"[1]। इन्द्रो मे इति किम्? "युष्मानिन्द्रो वृणीत"[2]। "निम्राभेणाधराँ अकः"[3]। "देवाँ ऊढ्वम्"[4]। "अग्ने देवाँ इहा-

---

सू०अ०—इन्द्रो मे, अकः, ऊढ्वं, इडा, अप्येतु, अगन्म, ईडेन्यान्, आयजिष्ठ, आच, ऋतु, अकुर्वत, अदुहत्, अदितिः, अग्रे, अधरान्, सपत्नान् और अलम्—बाद में होने पर भी (नकार यकार हो जाता है)

पूर्वपक्षी—तै० सं० का यह स्थल प्रत्युदाहरण है—"उर्जस्वान्पयस्वानिह"। 'हि' पूर्व में न होने के कारण यहां नकार यकार नहीं होता है।

सिद्धान्ती—यहां 'इति' बाद में होने के कारण नकार यकार नहीं होता है। 'हि' पूर्व में न होने के कारण नहीं।

पूर्वपक्षी—प० पा० में जायमान 'इति' बाद में होने पर ही नकार यकार नहीं होता है। उपर्युक्त स्थल में विद्यमान 'इति' संहिता पाठ में उपलब्ध होता है। इसकी उत्पत्ति प०पा० में नहीं होती। अतः यह कहना ठीक नहीं कि 'इति' बाद में होने के कारण नकार यकार नहीं होता है। 'हि' पूर्व में न होने के कारण ही नकार यकार नहीं होता है। अतः यही स्थल प्रत्युदाहरण है।

सिद्धान्ती—यह कहना युक्त नहीं कि प०पा० में जायमान 'इति' बाद में होने पर ही नकार यकार नहीं होता है। चाहे 'इति' संहितास्थ हो और चाहे प०पा० में जायमान हो, दोनों ही अवस्थाओं में 'इति' बाद में होने पर नकार यकार नहीं होता है, क्योंकि (१) ९।२० में यह सामान्य (अविशेष) रूप से कहा गया है कि 'इति' के इकार से अन्य स्वर बाद में होने पर नकार यकार होता है; (२) वैसा होने पर 'हूतमान्' के साथ आर्षे पद का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। 'हूतमान्' के ही साथ 'आर्षे' का ग्रहण क्यों किया गया है। यदि संहितास्थ 'इति' बाद में होने पर नकार यकार हो ही जाता है, तब "देवहूतमाꣳइत्युखायां जुहोति" में यत्व की सिद्धि के लिए 'हूतमान्' के साथ आर्षे का ग्रहण क्यों किया गया? 'आर्षे' व्यर्थ न हो जाये इसलिए यह मानना युक्त है कि 'इति' बाद में होने पर नकार यकार नहीं होता है। किन्तु उपर्युक्त स्थल पर 'इति' बाद में होने पर भी नकार का यकार होना अभीष्ट है। उसकी सिद्धि के लिए कहा है कि 'हूतमान्' की जहां इति के साथ वैदिक संधि हो वहां नकार यकार हो जाता है।

---

(१) १।१।१३ (२) १।१।५ (३) १।१।१३ (४) १।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह"[१]। इहा इति किम्? "यज्ञियाविह यान् हवामहे"[२]। "धर्मो देवाँ अप्येतु"[३]। अप्येत्विति किम्? "अथो य एवं विद्वानपि जन्येषु"[४]। "सुवर्देवाँ अगन्म"[५]। "ईडामहै देवाँ ईडेऽन्यान्"[६]। "यष्टा देवाँ आयजिष्ठः"[७]। "देवाँ आ च वक्षयक्षदग्निः"[८]। आयजिष्ठ आचेति किम्? "यानाऽवह उशतो देव"[९]। "देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति"[१०]। "पशून्त्रिवा कामाँ अकुर्वत"[११]। "यज्ञो असुराँ अदुहत्तेऽसुराः[१२]। "विवस्वाँ अदितिर्देवजूतिः"[१३]। "अग्निस्ताँ अग्रे प्रमुमोक्तु"[१४]। "कृण्वानो अन्यान् अधरान्थ् सपत्नान्[१५]। अधरान् सपत्नानिति किम्? "पूर्वजान् भ्रातृव्यानधरान् सादयामि"[१६]। "पुरोडाशाँ अलङ्कुरु इति"[१७]। अत्राह—पदग्रहणे परपदग्रहणेन किं प्रयोजनम्? अत्रोच्यते—अनार्षे संविधानेऽग्रहणस्य च कथं नित्यं यकारोत्पत्तिः स्यात् नैमित्तिकस्य च निमित्तापेक्षेऽपि यथा ग्रहणस्य—"अमर्त्यो मर्त्याँ आ विवेश"[१८]। "उदस्थाममृताँ अनु"[१९]। "गोमाँ अग्नेऽविमाँ अविमाँ अग्ने"[२०]। अपदग्रहणस्य—"अग्निस्ताँ अग्रे"[२१]। एवं नैमित्तिकस्य। एवं नकारस्य यकारोत्पत्तिः सर्वत्र द्रष्टव्या ॥ २२ ॥

त्रि०—इन्द्रो मे, अकः, ऊढ्वं, इहा, अप्येतु, अगन्म, ईडेन्यान्, आयजिष्ठः, आच, ऋतु, अकुर्वत, अदुहत्, अदितिः, अग्रे, अधरान्थ्सपत्नान्, अलम् इत्येवम्परो नकार आकारपूर्वो यकारमापद्यते। चकार आकारपूर्वत्वाकर्षकः। यथा—"सपत्नाँऽइन्द्रो मे"[२२]। मे इति किम्? "युष्मानिन्द्रोऽवृणीत"[२३]। निम्राभेणाधराँऽअकः"[२४]। "यूयं देवाँऽ ऊढ्वम्"[२५]। "अग्ने देवाँऽ इहा वह"[२६]। दीर्घेण किम्? "यज्ञियानिह यान् हवा-

---

त्रि० अ०—इन्द्रो मे···अलम्—ये पद; परः=बाद में हैं जिसके वह; नकार आकार पूर्व में होने पर, यकार हो जाता है। चकार (९।२० से) 'आकार पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति करता है।···। दीर्घ से क्या (लाभ) है? "यज्ञियानिह यान् हवामहे"।क···। 'यजिष्ठ' और 'च' से क्या (लाभ) है? "यानाऽवह

(क) यज्ञियान्। इह। देवान्॥ प० पा०

'यज्ञियान्' का नकार यकार नहीं हुआ, क्योंकि 'यज्ञियान्' के बाद में दीर्घ (आकार) में अन्त होने वाला 'इहा' नहीं अपितु ह्रस्व (अकार) में अन्त होने वाला 'इह' है।

---

(१) १।३।१४	(२) १।५।१०	(३) १।५।१०	(४) ६।१।६
(५) १।७।६	(६) २।५।६	(७) ४।३।१३	(८) ४।६।३
(९) १।४।४४	(१०) ४।७।१२	(११) १।५।६	(१२) १।७।१
(१३) १।५।६	(१४) ३।१।४	(१५) ३.२।८	(१६) ३।५।३
(१७) ६।३।१	(१८) ५।७।६	(१९) १।२।८	(२०) १।६।६
(२१) ३।१।४	(२२) १।१।१३	(२३) १।१।५	(२४) १।२।१३
(२५) १।३।८	(२६) १।३।१४		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महे"[१]। "धर्मो देवाꣳअप्येतु"[२]। एत्विति किम्? "विद्वानपि जन्येषु"[३]। "सुवर्देवाꣳ अगन्म"[४]। "इडामहै देवाꣳ इडेन्यान्"[५]। "देवाꣳ आयजिष्ठस्त्वस्ति"[६]। "देवाꣳ आ च वक्षत्"[७]। यजिष्ठश्चेति किम्? "यानाऽवह उशतः"[८]। "वाजो देवाꣳ ऋतुभिः"[९]। "विश्वा कामाꣳअकुर्वत"[१०]। "यज्ञोऽसुराꣳ अदुहत्"[११]। "विवस्वाꣳ अदितिः"[१२]। "अग्निरताꣳ अग्रे"[१३]। "अन्याꣳ अधरान्थ्सपत्नान्"[१४]। सपत्नानिति किम्? "भातृव्यानधरान्पादयामि"[१५]। "पुरोडाशाꣳ अलङ्कुर्विति"[१६]। अन्वादेशः किमर्थः? "परिधीनकुर्वत"[१७]। तत्तत्पदग्रहणे कर्त्तव्ये परपदग्रहणम्, अनार्षेऽपि संहिताविधावग्रहणस्य च यत्वं स्यात् इति, नैमित्तिकस्य च निमित्तापेक्षत्वात्। ग्रहणस्य यथा—"अमर्त्यो मर्त्याꣳ आ विवेश मर्त्याꣳ अमर्त्यः"[१८]। "उदस्थाममृताꣳ अनु—अमृताꣳ अस्थाम्"[१९]। एवं नैमित्तिकस्य ग्रहणस्य—"अग्नेऽविमाꣳ अश्वी—अविमाꣳ अग्ने"[२०]। "उदयाꣳ अजस्रं—उदयाꣳ अयाꣳ उदुदयान्"[२१]। एवमग्रहणस्य नैमित्तिकस्य—"अग्निस्ताꣳअग्रे—ताꣳ अग्निः"[२२]। "अन्याꣳ

उशतः"।[क]...('आकार पूर्व में होने पर' का) अन्वादेश किस लिए किया गया है? "परिधीनकुर्वत"।[ख] उस—उस (कार्यभाक्) पद का ग्रहण कर्त्तव्य (किया जाने योग्य) होने पर परवर्ती पद का ग्रहण इसलिए किया गया है जिससे अनार्ष संहिता-विधि (=जटा-पाठ) में भी और (सूत्रों में) अनुल्लिखित (पदों) का भी यत्व होवे, क्योंकि नैमित्तक को निमित्त की अपेक्षा होती है (जहाँ पर भी निमित्त होगा नैमित्तिक में कार्य होगा)। (सूत्र में) उल्लिखित पद का—"अमर्त्यो मर्त्याꣳआ विवेश—मर्त्याꣳ अमर्त्यः"। "उदस्थाममृताꣳअनु अमृताꣳअस्थाम्"। इसी प्रकार नैमित्तिक (सूत्र में उल्लिखित पद का)—"अग्नेऽविमाꣳअश्वी—अविमाꣳअग्ने"। "उदयाꣳ अजस्रं—उदयाꣳअयाꣳउदुदयान्"। उसी प्रकार—(सूत्र में अनुल्लिखित) नैमित्तिक पद का —"अग्निस्ताꣳअग्रे—ताꣳअग्निः"। "अन्याꣳअधरान्थ्सपत्नान्—अन्याꣳ

(क) यान्। एति ॥ प० पा०

यान् का नकार यकार नहीं हुआ है, क्योंकि यान् के बाद में यजिष्ठ-रहित तथा च रहित 'आ' है।

(ख) परिधीनिति परि—धीन्। अकुर्वत। प०पा० 'अकुर्वत' बाद में होने पर भी नकार यकार नहीं हुआ है, क्योंकि नकार के पूर्व में ईकार है, आकार नहीं। आकार पूर्व में होने पर ही प्रस्तुत सूत्र से नकार यकार होता है।

---

(१) १।५।१०	(२) १।५।१०	(३) ६।१।६	(४) १।७।६
(५) २।५।६	(६) ४।३।१३	(७) ४।६।३	(८) १।४।४४
(९) ४।७।१२	(१०) १।५।६	(११) १।७।१	(१२) १।५।३
(१३) ३।१।४	(१४) ३।२।८	(१५) ३।५।३	(१६) ६।३।१
(१७) ६।२।१	(१८) ५।७।६	(१९) १।२।८	(२०) १।६।६
(२१) ४।६।३	(२२) ३।१।४		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधरान्थ्सपत्नान्—अन्या ँ अधरानधरानन्या ँ अन्या ँ अधरान्"[1]। एवं सर्वत्र नकारस्य यकारोत्पत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ५२ ।

वै०—इन्द्रो मे इत्यादिषु स्वरेषु पदादिषु परतः आकारपूर्वो नकारो यकारं याति। इन्द्रो मे—"सपत्ना ँ इन्द्रो मे"[2]। म इति किम्? "वृद्धानिन्द्रः"[3]। अकः—"अधरा ँ अक"[4]। ऊढ्वम्—"देवा ँ ऊढ्वम्"[5]। इहा इत्यस्योदाहरणं शाखान्तरे। आ इत्युपबन्धेन किम्? "यज्ञियानिह यान हवामहे"[6]। अप्येतु—"ते न यज्ञो देवा ँ अप्येतु"[7]। एत्विति किम्? "ब्रह्मजानप्रीष्मे"[8]। अगन्म—"सुवर्देवा ँ अगन्म"[9]। ईडेन्यान्—"देवा ँ ईडेन्यान्"[10]। आयजिष्ठः इत्यस्योदाहरणं शाखान्तरे। आ च—"देवा ँ आ च वक्षत्"[11]। यजिष्ठः, च इत्युपबन्धाभ्यां किम्? "यानाऽवह उशतः"[12]। ऋतु—"देवा ँ ऋतुभिः"[13]। अकुर्वत—"कामा ँ अकुर्वत"[14]। अदुहत्—"यज्ञोऽसुरा ँ अदुहत्"[15]। अदितिः—"विवस्वा ँ अदितिः"[16]। अग्रे—"अग्निस्ता ँ अग्रे"[17]। अधरांथ्सपत्नान्—"अन्या ँ अधरांथ्सपत्नान्"[18]। सपत्नानिति किम्? "भ्रातृव्यानधरान्"[19]। अलम्—"पुरोडाशा ँ अलङ्कुर्विति"[20]। आकारपूर्व इत्यनुवृत्त्या किम्? "ते कार्ष्मर्यमयानपरिधीनकुर्वत"[21]। अत्र 'मर्त्यानुदयान्'[21] इत्यादिवत्कार्यभाजां ग्रहणे कर्तव्ये निमित्तानां ग्रहणं ग्रन्थलाघवार्थम्। तथाहि—यत्र निमित्तविशेषग्रहणाभावेऽपि कार्यं सिद्ध्यति तत्र कार्यभाञ्ज्येव पदानि निरुपबन्धानि सोपबन्धानि वा गृह्यन्ते, न तु निमित्तविशेषा, यथा—"मर्त्यानुदयान्"[21] इति। यत्र तु कार्यभाजां अग्रहणेऽपि कार्यं सिद्ध्यति तत्र निमित्तविशेषा एव

अधरानधरानन्या ँ अन्या ँ अधरान्"। इस प्रकार सर्वत्र नकार की यकारोत्पत्ति समझनी चाहिए ॥२२॥

वै० अ०—'इन्द्रो मे' इत्यादि में विद्यमान पदादि स्वर बाद में होने पर आकारपूर्व (आकार है पूर्व में जिसके ऐसा) नकार यकार हो जाता है।...। 'इहा' इसका उदाहरण दूसरी शाखा में (उपलब्ध होगा)।....। यहाँ पर 'मर्त्यान्', 'उदयान्'....' इत्यादि की भाँति कार्य को प्राप्त करने वाले (पदों) का ग्रहण कर्तव्य (करने के योग्य) होने पर निमित्तभूत (पदों) का ग्रहण ग्रन्थ में लाघव के लिए किया गया है। उदाहरणस्वरूप—जहाँ निमित्तविशेष के ग्रहण का अभाव होने पर भी कार्य सिद्ध हो जाता है, वहाँ पर कार्य को प्राप्त करने वाले पदों का ही, उपबन्ध के बिना अथवा उपबन्ध के साथ, ग्रहण किया जाता है, निमित्तविशेषों का ग्रहण नहीं किया जाता है, जैसे "मर्त्यानुदयान्" में। किन्तु जहाँ कार्य को प्राप्त करने वाले (पदों) का ग्रहण न किया जाने पर भी कार्य सिद्ध हो जाता

---

(१) ३।२।८ (२) १।३।१३ (३) २।३।२ (४) १।३।८ (५) १।५।१०
(६) १।६।३ (७) २।२।८ (८) १।७।६. (९) २।५।६
(१०) ४।६।३ (११) १।४।४४ (१२) १।१।१४ (१३) १।५।६
(१४) १।७।१ (१५) १।५।३ (१६) ३।१।४ (१७) ३।२।८
(१८) ३।५।३ (१९) ६।३।१ (२०) ६।२।१ (२१) ६।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरुपबन्धाः सोपबन्धा वा गृह्यन्ते, यथा—"कृधिपिन्वपथेपरः"[१]। "न सक्रघकारपरे"[२] इति। एवं कार्यभाङ्निमित्तयोरन्यतरस्य ग्रहणाद्ग्रन्थलाघवं भवति। तद्यथा—कार्यभाङ्मात्रग्रहणे निमित्ताग्रहणाल्लाघवं स्यात्। निमित्तभेदेऽपि कार्यसिद्धिश्च। यथा—दुर्यानिति—"दुर्याꣳ आवद"[३]। "दुर्याꣳअभ्येहि"।[४] निमित्तमात्रग्रहणेऽपि कार्यभाजोऽनुपादानाल्लाघवं कार्यभाग्भेदेऽपि कार्यसिद्धिश्च। यथा—आवृत्परः इति—"जिन्वरावृध्स्वाहा"[५]। "उग्ररावृध्स्वाहा"[५] यत्र तु कार्यभाङ्मात्रग्रहणे निमित्तभेदो न सम्भवति; निमित्तग्रहणे च कार्यभाग्भेदः, तत्रेतराप्रयोगकृतमेव लाघवं लभ्यते नान्यत्। यथा "देवते मेध्ये तृण्णे तृच्चे"[६] इति। "द्वारौ···चरावः···परः"[७] इति च। ततश्च येषां पदानां त्रिविधेऽपि समाम्नाये निमित्तभेदः कार्यभाग्भेदो वा न सम्भवति, तेष्वपीतराप्रयोगकृतस्य ग्रन्थलाघवस्यास्तित्वध्रौव्यात्, जटायां निमित्तभेदकार्यभाग्भेदयोरपि छान्दसं कार्यं नापादनीयम्। अन्यथोपपन्नत्वात्। ततश्च "मर्त्यान्"[८] इत्यादेः पूर्वपदेन व्युत्क्रमणसन्धौ यकारादेशो न भवति।

है, वहाँ निमित्तविशेषों का ही उपबन्ध के बिना अथवा उपबन्ध के साथ, ग्रहण किया जाता है, जैसे "कृधि, पिन्व और पथे बाद में होने पर (विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त करता है"। "स, क्र और घ बाद में हैं जिसके (ऐसा 'कृधि' बाद में होने पर विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त) नहीं (करता है)" में। इस प्रकार कार्यभाक् (कार्य को प्राप्त करने वाले) और निमित्त इनमें से किसी एक का ग्रहण होने से ग्रन्थ में लाघव होता है। क्योंकि केवल कार्यभाक् का ग्रहण करने पर निमित्त का ग्रहण न होने से लाघव होता है और भिन्न (दूसरा) निमित्त होने पर भी कार्य की सिद्धि हो जाती है। जैसे—(९।२१ में उल्लिखित) 'दुर्यान्' (कार्यभाक्) को लीजिए—"दुर्याꣳआ वद"। "दुर्याꣳअभ्येहि"। केवल निमित्त का ग्रहण करने पर भी कार्यभाक् का ग्रहण न होने से लाघव होता है और भिन्न (दूसरा) कार्यभाक् होने पर भी कार्य की सिद्धि हो जाती है। जैसे—"आवृत् बाद में होने पर (विसर्जनीय रेफ हो जाता है)"—इस सूत्र से "जिन्वरावृध्स्वाहा" और "उग्रावृध्स्वाहा" में (रेफत्व होता है)। किन्तु जहाँ पर केवल कार्यभाक् का ग्रहण करने पर दूसरे निमित्त का होना संभव नहीं है और निमित्त का ग्रहण करने पर दूसरे कार्यभाक् का होना संभव नहीं है, वहाँ अन्य का प्रयोग न होने से ही लाघव प्राप्त होता है, दूसरा नहीं। जैसे—"देवते, मेध्ये, तृण्णे, तृच्चे" (प्रग्रह होते हैं) में और "द्वारौ···चरावः बाद में होने पर (ईकार और एकार प्रग्रह होता है)" में। इस प्रकार जिन पदों के तीनों प्रकार के वेद-पाठ में दूसरे निमित्त और दूसरे कार्यभाक् का होना संभव नहीं है, उनमें भी अन्य के अप्रयोग (प्रयुक्त न होने) के कारण तो ग्रन्थ—लाघव का होना निश्चित ही है, इसलिए जटा-पाठ में दूसरे निमित्त और दूसरे कार्यभाक् के होने पर भी वहाँ

---

(१) ८।२५ (२) ८।२६ (३) १।२।१३ (४) १।६।३
(५) २।४।७ (६) ४।११ (७) ४।३८ (८) ६।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अमर्त्यो मर्त्यान्मर्त्यानमर्त्योऽमर्त्यो मर्त्यान्"[1]। "इन्द्रो मे"[2] इत्यादेश्च परपदेन व्युत्क्रमण-सन्धौ यत्वं न भवति। "अकुर्वत वरुणप्रघासान्वरुणप्रघासानकुर्वताकुर्वत वरुणप्रघासान्"[3]। न ह्यसमाम्नातेषु सन्धिषु युक्तं छान्दसं कार्यं, समाम्नानबलविहितं हि तदित्युक्तमेव। न हि तत् शास्त्रतात्पर्यविदो विषहन्ते। तथा हि—"अशान्तावास्तां ते देवा"[4] इत्यत्र "आस्तां ते त आस्तामास्तां ते"[5] इत्यस्यां जटायां तेशब्दे प्रग्रहसंज्ञाप्रकृतिभावावल्पज्ञोऽपि नानुमन्यते। किमुत शास्त्रतात्पर्यविदास्तिकः? तस्मादेवंजातीयकं बालिशभाषितं छान्दसकार्यं जटायां अभ्युपगच्छन्तो बालवदैष्टिका अल्पज्ञास्तत्त्वविद्भिः सम्यक्प्रतिबोधयितव्या इत्येवमार्थमिहास्माभिः प्रपञ्चितम्॥ २२॥

न रश्मीञ्छ्रपयान्यमान्पतङ्गान्त्समानानर्चान्यजीयान्॥ २३॥

मा०—रश्मीनित्येवमादिषु ग्रहणेषु न खलु नकारः रेफं वा यकारं वा आपद्यते। यथा—"सूर्यस्य पुत्रा च रश्मीननु"[6]। "अदितिः श्रपयानिति"[7]। "सुयामानूतये"[8]। "पृतङ्गानसन्दितो विसृज"[9]। "समानानुशन्नग्न उशतः"[10]। "अर्च्चानिन्द्र ग्रावाणः"[11]। "यजीयानुपस्थे"[12]।

छान्दस (वैदिक) कार्य को लागू नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना भी (कार्य की) उपपत्ति हो जाती है। इसलिए 'मर्त्यान्' इत्यादि की पूर्व-पद के साथ व्युत्क्रमण-संधि में (नकार का) यकार नहीं होता है। "अमर्त्यो मर्त्यान्मर्त्यानमर्त्योऽमर्त्यो मर्त्यान्"। "इन्द्रो मे" इत्यादि की भी परवर्ती पद के साथ व्युत्क्रमण—संधि में (नकार) यकार नहीं होता है। "अकुर्वत वरुणप्रघासान्वरुणप्रघासानकुर्वताकुर्वत वरुणप्रघासान्"। इसलिए (जटा-पाठ आदि की) असमाम्नात संधियों में छान्दस (वैदिक) कार्य को लागू करना युक्त नहीं है, क्योंकि वह (वैदिक कार्य) समाम्नाय (संहिता-पाठ, पद—पाठ और क्रम-पाठ) के आधार पर ही विहित है—यह कहा ही जा चुका है। उसे (छान्दस कार्य को) (जटा-पाठ में) शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाले विद्वान् सहन नहीं करते हैं। उदाहरणस्वरूप—"अशान्तावास्तां ते देवाः"—यहाँ पर "आस्तां ते त आस्तामास्तां ते" इस जटा-पाठ में 'ते' शब्द में प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव को अल्पज्ञ भी नहीं मानता है, शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाले आस्तिक का तो कहना ही क्या? इस प्रकार मूर्खतापूर्ण ढंग से छान्दस—कार्य को जटा-पाठ में लागू करने वाले अल्पज्ञों को तत्त्ववेत्ताओं द्वारा भलीभाँति समझाना चाहिए—इस लिए हमने विस्तार में कहा है।

सू० अ०—रश्मीन्, श्रपयान्, पतङ्गान्, समानान्, अर्चान्, यजीयान् का नकार (रेफ या यकार) नहीं (होता है)।

---

(१) ५।७।६ (२) ६।२२ (३) ३।२।२ (४) २।५।८
(५) ४।१।२ (६) ४।१।५ (७) ४।७।१५ (८) १।२।१४
(९) ४।३।१३ (१०) १।६।१२ (११) १।३।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(रश्मीन्····यजीयान्=) रश्मीन्, श्रपयान्, यमान्, पतङ्गान्, समानान्, अर्चान्, यजीयान् एषु ग्रहणेषु नकारः स्वरपरोऽपि न खलु रेफं यकारं वा भजते। यथा—"पुरुत्रा च रश्मीननु"[१]। "अदितिश्श्रपयानिति"[२] उख्यत्वादनयोः प्राप्तिः। ननु "अदितिश्श्रपयान्"[३] इत्यस्य इतिपरत्वादेव निषेधे सति ग्रहणमनर्थकमिति चेत्। आर्षं इतिपरत्वात् पुनः प्राप्तिः। तन्मा भूदिति ब्रूमः। "सुयमानूतये"[४] पृष्ठ्यत्वात् प्राप्तिः। "पतङ्गानसन्दितः"[५] याज्यात्वात् प्राप्तिः। "समानानुशन्नग्ने"[६]। "अर्चानिन्द्र ग्रावाणः"[७]। "यजीयानुपस्थे मातुः" एषामपि याज्यात्वात् प्राप्तिः ॥ २३ ॥

वै०—(रश्मीन्····यजीयान्=) रश्मीनित्यादिषु नकारो यथाविहितं रेफं यकारं वा न याति स्वरे पदादौ परतः। रश्मीन्—"पुरुत्रा च रश्मीननु"[७]। श्रपयानित्यस्योदाहरणं शाखान्तरीये ग्रहोख्यादौ द्रष्टव्यम्। "अदितिश्श्रपयानिति"[२] इत्यत्र त्वितिपरत्वान्नास्ति प्राप्तिः न च व्युत्क्रमस्य जटायामनितिशब्दपरतयाऽस्ति प्राप्तिः, अनाम्नातसन्धौ छान्दसकार्यो-

---

त्रि० अ०—(रश्मीन्····यजीयान्=) रश्मीन्, श्रपयान्, यमान्, पतङ्गान्, समानान्, अर्चान्, यजीयान् इन वैदिक पदों में विद्यमान नकार, स्वर बाद में होने पर भी, रेफ अथवा यकार को, न=नहीं; प्राप्त होता है।[क] जैसे—"पुरुत्रा च रश्मीननु"। "अदितिश्श्रपयानिति"। 'उख्य' में होने के कारण इनमें प्राप्ति थी। (शङ्का) 'अदितिश्श्रपयान्' में इति बाद में होने के कारण निषेध हो जाने पर इसका ग्रहण अनर्थक है, यदि यह कहते हो तो इसका उत्तर यह है—संहिता-पाठ में इतिपर होने के कारण (९।२१) से पुनः प्राप्ति थी। वह न होवे—इसलिए कहा है। "सुयमानूतये" पृष्ठ्य में होने के कारण प्राप्ति थी। "पतङ्गानसन्दितः" याज्या में होने के कारण प्राप्ति थी। "समानानुशन्नग्ने"। "अर्चानिन्द्र ग्रावाणः"। "यजीयानुपस्थे मातुः" याज्या में होने के कारण इनमें प्राप्ति थी ॥ २३ ॥

वै० अ०—(रश्मीन्····यजीयान्=) रश्मीन इत्यादि में नकार, पदादि स्वर बाद में होने पर, पूर्वोक्त विधान के अनुसार रेफ अथवा यकार नहीं होता है। रश्मीन्—"पुरुत्रा च रश्मीननु"। 'श्रपयान्' का उदाहरण दूसरी शाखा के ग्रह, उख्य आदि में देखना चाहिए। "अदितिश्श्रपयानिति" यहाँ पर तो इति बाद में होने के

(क) प्रस्तुत सूत्र में ६।२० के अपवाद बतलाए गए हैं।

---

(१) ४।१।२ (२) ४।१।५ (३) ४।७।१५ (४) १।२।२४
(५) ४।३।१३ (६) १।६।१२ (७) ४।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावस्योक्तत्वात् । यमान्—"सुयमानृतये"[१] । पतङ्गान्—"पतङ्गानसन्दितः"[२] । समानान्—"समानानुशन्नग्ने"[३] । अर्चान्—"अर्कमर्चानिन्द्र प्रावाणः"[४] । यजीयान्—"यजीयानुपस्थे मातुः"[५] ॥ २३ ॥

उदथापरश्च ॥ २४ ॥

मा०—उत्, अथा इत्येवंपरो नकारः यकारं नापद्यते । यथा—"अमित्रानुन्नयामि"[६] । "विद्वानथा भव"[७] । "अनितिपर"[८] इत्यादिना प्राप्तिः । अथा इति किम् ?"""॥ २४ ॥

त्रि०—(उदथापरश्च=) उत् अथा इत्येवम्परः; नकारो यथाविहितं रेफं यकारं वा नापद्यते । (च=) चकारः, निषेधाकर्षकः । यथा—"अमित्रानुन्नयामि"[६] । उदिति किम् ? "त्रीꣳरुत द्यून्"[९] । "विद्वानथा भव"[७] । दीर्घोऽत्र ह्रस्वोपलक्षणमपि । यथा—"विद्वानथ । अथा भव"[७] । यथासंहितास्थमेव निमितमत्र स्वकार्यं करोति निषेधरूपम् । यथा—"अमित्रानुदुदमित्रानमित्रानुत्"[६] । विधिरप्येवं यथासंहितास्थनिमित्तैव सर्वत्र

के कारण प्राप्ति नहीं है । जटा-पाठ के व्युत्क्रम-पाठ में इति शब्द बाद में होने के कारण प्राप्ति नहीं है । जटा-पाठ के व्युत्क्रम-पाठ में इति शब्द बाद में न होने पर प्राप्ति नहीं है क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अनाम्नात संधि में छान्दस कार्य लागू नहीं होते हैं ।"""॥ २३ ॥

सू० अ०—'उत्' और 'अथा' बाद में होने पर नकार (रेफ या यकार नहीं होता है) ।

त्रि० अ०—(उदथापरश्च=) उत् और अथा बाद में होने पर; नकार पूर्वोक्त नियम के अनुसार रेफ अथवा यकार को प्राप्त नहीं होता है । (च=) चकार; निषेध का आकर्षक है । "अमित्रानुन्नयामि" । 'उत्' यह क्यों कहा ? "त्रीꣳरुत द्यून्" । "विद्वानथा भव" । यहाँ पर दीर्घ ह्रस्व का भी बोधक है । जैसे—"विद्वानथ । अथा भव ।" जैसा संहिता-पाठ में स्थित है वैसा ही निमित्त अपने निषेधरूप कार्य को करता है । जैसे—"अमित्रानुदुदमित्रानुत्" । विधि भी इस प्रकार संहिता-पाठ में स्थित निमित्तों के अनुसार ही होती है—हमारा यह कथन है । जैसे—"सा

---

(१) ४।७।१५ (२) १।२।१४ (३) ४।३।१३
(४) १।६।१२ (५) १।३।१४ (६) ४।१।१०
(७) ३।२।११ (८) ६।२० (९) २।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवतीत्यवोचाम। यथा—"सो अस्माꣳअस्मान्ष्स सो अस्मान्। अस्माꣳ अवहायास्माꣳ अस्माꣳअवहाय"[1]। एवमादि वेदितव्यम् ॥ २४ ॥

वै०—(उदथापरश्च=) उत् अथा इत्यनयोः परतो नकारो यथाविहितमन्तस्थादेशं न याति। "ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि"[2]। "विद्वानथा भव"[3]। "अपि विकृतम्"[4] इति वचनाद्विकृतयोरपि भवत्ययं निषेधः। "अमित्रानुन्नयामि"[5]। "विद्वानथा भव"[6] ॥२४॥

अस्माꣳअस्मान्ष्स सो अस्मान्"। "अस्माꣳअवहायावहायास्माꣳअवहाय"। इस प्रकार समझ लेना चाहिए ॥ २४ ॥

वै० अ०—(उदथापरश्च=) उत् और अथा—ये दोनों बाद में होने पर नकार पूर्वोक्त नियम के अनुसार अन्तस्थादेश (रेफ या यकार) को प्राप्त नहीं करता है। 'ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि"। "विद्वानथा भव"। "विकार को प्राप्त (पद) को भी (समझना चाहिए)" इस कथन से विकृत (उत् और अथा) बाद में होने पर भी यह निषेध होता है। "अमित्रानुन्नयामि"। "विद्वानथा भव" ॥ २४ ॥

---

(१) ५।७।६ (२) ४।१।१०
(३) ३।२।११ (४) १।५१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ दशमोऽध्यायः

अथैकमुभे ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। उभयोरेकत्वमधिकृतं वेदितव्यम् इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। उभे अक्षरे एकं रूपं सजातीयमापद्येते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

वै०—उभेइति सामान्यविवक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। ते तु वर्णात्मके। "वर्णस्य विकारलोपौ"[1] इति परिभाषणात्। अक्षरापेक्षया वा नपुंसकनिर्देशः। पदान्तश्च पदादिश्चेत्युभौ वर्णावेकं विकारं गच्छत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। स्वरपराधिकारश्च वर्तते ॥१॥

दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे ॥ २ ॥

मा०—उभे सवर्णे संहितायां क्रियमाणायां एकं दीर्घमापद्यते, यत्रसवर्णमक्षरं पूर्वं भवति सवर्णं च परम्। यथा—"त्वचं गृह्णीष्वान्तरितं रक्षः"[2]। इवर्णस्य—"अदित्यै रास्नाऽसीन्द्राण्यै"[3]। उवर्णस्य—"सूपस्था देवो वनस्पतिः"[4] ॥ २ ॥

त्रि०—समानाक्षरे आत्मनः सवर्णपरे सति पूर्वापरीभूते एते उभे दीर्घमेकमापद्येते। यथा—"गृह्णीष्वान्तरितम्"[2]। "रास्नाऽसीन्द्राण्यै"[3]। "सूपस्था देवः"[4]। सवर्णः परः यस्मादसौ सवर्णपरः, तस्मिन् ॥ २ ॥

सू० अ०—दो (स्वर) एक (स्वर) (हो जाते हैं) (यह अधिकार चलेगा)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। उभे=दो अक्षर; अपने सदृश; एकम्=एक रूप को प्राप्त करते हैं—इससे आगे जो कहेंगे वहाँ यह अधिकार जानना चाहिए ॥ १ ॥

वै० अ०—उभे में सामान्य की विवक्षा से नपुंसकलिङ्ग का निर्देश है। वे तो वर्णात्मक हैं। "विकार और लोप वर्ण के (होते हैं)" इस परिभाषा से। अथवा अक्षर की अपेक्षा से नपुंसकलिंङ्ग में निर्देश है। पदान्त और पदादि—ये दोनों वर्ण एक विकार को प्राप्त करते हैं यह अधिकार जानना चाहिए 'स्वर बाद में होने पर'—यह अधिकार (पूर्ववर्ती अध्याय से) चल रहा है ॥ १ ॥

सू० अ०—'समानाक्षर' के बाद में उसका सवर्ण (स्वर) हो तो (वे दोनों स्वर) एक दीर्घ (स्वर) (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—समानाक्षरे= 'समानाक्षर' के बाद में; अपना; सवर्णपरे=सवर्ण

---

(१) १।५६ (२) १।१।८ (३) १।१।२ (४) १।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—समानाक्षरे सवर्णपरे सति उभे एकं दीर्घमादेशं गच्छतः। यं प्रति सावर्ण्यमस्ति। "अन्तरिक्षमिवाग्नीद्ध्रम्"[१]।क "यथा वा आयतां प्रतिक्षते"[२]।क "तदेवावरुन्धे"[३]।क "अथ मे पुनर्देहीति"[४]।क "दधतूखे"[५]।क "यदपतूलयाञ्जीत"[६]।क समानाक्षर इति किम्? "एत एतान्ग्रहानपश्यन्"[७]।ख "भूत्या ऐन्ध"[८]।ख सवर्णपर इति किम्? "अपेन्द्र द्विषतो मनः"[९] ॥ २ ॥

अथावर्णपूर्वे ॥ ३ ॥

मा०—अधेत्यधिकारः। अवर्णपूर्वे इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ३ ॥

स्वर होने पर; ये दोनों पूर्ववर्ती तथा परवर्ती (स्वर) एक दीर्घ (स्वर) को प्राप्त करते हैं। जैसे—"गृह्णीष्वान्तरितम्"। "रास्नाऽसीन्द्राण्यै"। "सूपस्था देवः"ग। सवर्ण है बाद में जिससे वह=सवर्णपर, वैसा होने पर ॥ २ ॥

वै० अ०—समानाक्षरे=समानाक्षर के बाद में; सवर्णपरे=सवर्ण स्वर होने पर; वे दोनों एक दीर्घ आदेश को प्राप्त करते हैं। जिस (दीर्घ) के प्रति (इन दोनों का) सावर्ण्य होता है (उसी दीर्घ को ये दोनों प्राप्त करते हैं)।...। समानाक्षर—यह क्यों (कहा)?...। सवर्ण बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अपेन्द्र द्विषतो मनः"घ ॥ २ ॥

सू० अ०—अवर्ण पूर्व में होने पर (यह अधिकार चलेगा)।

(क) इव। आग्नीध्रमित्याग्नि—इध्रम् ॥
एव। अवेति ॥ देहि। इति ॥ दधतु। उखे ॥ अपतूलयेत्यप—तूलया। आञ्जीतेत्या—आञ्जीत ॥ प० पा०

(ख) एते। एतान् ॥ भूत्यै। ऐन्ध ॥ प० पा०
यद्यपि 'एते' के बाद में उसका सवर्ण एकार है, और 'भूत्यै' के ऐकार के बाद उसका सवर्ण ऐकार है, तथापि यहाँ प्रस्तुत नियम लागू नहीं होता है, क्योंकि एकार और ऐकार समानाक्षर नहीं हैं।

(ग) गृह्णीष्व। अन्तरितमित्यन्तः—इतम् ॥ असि। इन्द्राण्यै ॥ सूपस्था इति सु—उपस्थाः ॥ प० प०

(घ) अपेति। इन्द्र ॥ प० पा०
'अप' के अकार के बाद में ईकार है जो अकार का सवर्ण नहीं है। अतः यहाँ प्रस्तुत नियम लागू नहीं होता है।

---

(१) ५।४।६	(२) ३।२।६	(३) ५।७।३
(४) २।१।२	(५) ४।१।६	(६) ६।१।१
(७) ६।६।८	(८) २।२।८	(९) ३।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अथ इत्थयमधिकारः। अवर्णपूर्वे सतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। इदमधिकारान्तरम्, "उपसर्गपूर्व आरम्"[1] इतिपर्यन्तम्। अवर्णश्चासौ पूर्वश्च अवर्णपूर्वः, तस्मिन् ॥ ३ ॥

वै०—(अवर्णपूर्वे=) अवर्णः पूर्वो यस्मिन् सन्धौ तस्मिन्निति; विषयतया सन्धिरधिक्रियते ॥ ३ ॥

इवर्णपर एकारम् ॥ ४ ॥

मा०—अवर्णपूर्वे इवर्णपरे उभावप्येकारमापद्येते। यथा—"नेष्टिर्भवति न यज्ञः"[2] ॥ ४ ॥

त्रि०—अवर्णपूर्वे इवर्णपरे च सति, ते उभे अक्षरे एकारमाप्नुतः। यथा—"नेष्टिर्भवति"[2]। "महेन्द्राय"[1]। इवर्णश्चासौ परश्च इवर्णपरः, तस्मिन् ॥ ४ ॥

वै०—अवर्णपूर्वे इवर्णपरे सन्धौ उभे एकमेकारं गच्छतः। "नेष्टिर्भवति"[2] ॥ ४ ॥

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ; अवर्णपूर्वे=अवर्ण पूर्व में होने पर—यह अधिकार जानना चाहिए। यह दूसरा अधिकार[क] "(अवर्णान्त) उपसर्ग पूर्व में होने पर (पदान्त अ तथा पदादि ऋ=दोनों) आर् (हो जाते हैं)"—इस (सूत्र) पर्यन्त (चालू रहेगा)। जो अवर्ण भी है और पूर्ववर्ती भी है वह=अवर्णपूर्व वैसा होने पर ॥ ३ ॥

वै० अ०—(अवर्णपूर्वे=) अवर्ण है पूर्व में जिस संधि में उसमें;—यहाँ विषय के रूप में संधि का अधिकार किया जाता है ॥ ३ ॥

सू० अ०—(अवर्ण पूर्व में होने पर और) इवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) एकार (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—अवर्ण पूर्व में और; इवर्णपरे=इवर्ण बाद में होने पर; वे दोनों अक्षर एकार को प्राप्त करते हैं। जैसे—"नेष्टिर्भवति"। "महेन्द्राय"[ख]। जो इवर्ण भी है और परवर्ती भी है वह=इवर्णपर, वैसा होने पर ॥ ४ ॥

वै० अ०—(जिस) संधि में अवर्ण पूर्व में और; इवर्णपरे=इवर्ण बाद में हो उसमें; दोनों एक एकार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

(क) १०।१ में पहला अधिकार किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में यह दूसरा अधिकार किया गया है।

(ख) न। इष्टिः ॥ महेन्द्रायेति महा—इन्द्राय ॥ प० पा०

---

(१) १०।६ (२) २।५।५ (३) ५।५।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उवर्णपर ओकारम् ॥ ५ ॥

मा०—अवर्णपूर्वं उवर्णपरे उभावप्योकारमापद्येते। यथा—"इषे त्वोर्जे त्वा"[१] ॥५॥

त्रि०—अवर्णपूर्वे उवर्णपरे च सति, ते उभे अक्षरे ओकारमाप्नुतः। यथा—"इषे त्वोर्जे त्वा"[१] ॥ ५ ॥

वै०—अवर्णपूर्वे उवर्णपरे सन्धावुभे एकमोकारं गच्छतः। "इध्माबर्हिः प्रोक्षति"[२] "इषे त्वोर्जे त्वा"[१]। "इषे त्वोपवीः[३]। "इन्द्रस्योरुमा विश"[४]। उवर्णपर इति किम्? "अभिददिं कृत्वाऽवेक्षेत"[५]। ये त्वस्मिन्नध्यायेऽक्षरसंहितैव विधीयत इत्याहुः, तेषां "प्रउगचितं चिन्वीत"[६] इत्यादावपि ओकार एकादेशस्स्यात्। नन्वेवं सति "प्रोगचितं चिन्वीत"[६] इति रूपापत्तेः अवर्णोवर्णप्रकृतित्वं न संविज्ञायेत। सत्यम्। अयं हि सर्वासामक्षरवर्णसंहितानां स्वभावः यद्विधित एव प्रकृतिरवगम्यते प्रायशो न त्वध्ययनात्। न हि "पितृणाꣳ सदनमसि"[७] इत्यादिषु णकारस्य नकारः प्रकृतिरित्यध्ययनादवगम्यते। अपि तर्हि विधित एव ॥ ५ ॥

सू० अ०—(अवर्ण पूर्व में होने पर और) उवर्ण बाद में होने पर (वे दोनों) ओकार (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—अवर्ण पूर्व में और; उवर्णपरे=उवर्ण बाद में होने पर; वे दोनों अक्षर; ओकार को प्राप्त करते हैं। जैसे—"इषे त्वोर्जेत्वा" ॥ ५ ॥

वै० अ०—जिस (संधि) में अवर्ण पूर्व में और; उवर्णपरे=उवर्ण बाद में हो उसमें; दोनों एक ओकार हो जाते हैं।....[क] उवर्ण बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अभिददिं कृत्वाऽवेक्षेत"[ख]। जो लोग कहते हैं कि इस अध्याय में अक्षर-संहिता का ही विधान किया गया है, उनके अनुसार "प्रउगचितं चिन्वीत" इत्यादि में भी ओकार एकादेश हो जायेगा। (शंका) ऐसा होने पर "प्रोगचितं चिन्वीत"—इत्यादि रूप की प्राप्ति होने पर अवर्ण और उवर्ण का प्रकृति के रूप में ज्ञान नहीं होगा। (समाधान) सच कहते हो। यह तो अक्षर—वर्णों की सभी संहिताओं का स्वभाव है कि प्रायशः विधि से ही प्रकृति का ज्ञान होता है, अध्ययन से नहीं।

(क) त्वा। ऊर्जे॥ प्रेति। उक्षति॥ त्वा। उपवीरित्युप—वीः॥ इन्द्रस्य। ऊरुम्॥ प० पा०

(ख) कृत्वा। अवेति। ईक्षेत॥ प० पा०

कृत्वा के आकार के बाद उवर्ण नहीं अपितु अवर्ण है। अतः यहाँ प्रस्तुत नियम लागू नहीं होता है।

---

(१) १।१।१ (२) २।६।५ (३) १।३।७ (४) १।२।७
(५) ६।६।७ (६) ५।४।११ (७) १।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकारैकारपर ऐकारम् ॥ ६ ॥

मा०—अवर्णपूर्वे एकारपरे ऐकारपरे उभावप्यैकारमापद्येते। यथा—"सं ब्रह्मणा पृच्यस्वैकताय स्वाहा"[1]। "सोमैन्द्रा बभ्रुललामाः"[2] ॥ ६ ॥

त्रि०—अवर्णपूर्वे एकारैकारपरे च सति ते उभे पूर्वापरीभूते ऐकारमाप्नुतः। यथा—"सं ब्रह्मणा पृच्यस्वैकताय"[1]। "सोमैन्द्रा बभ्रुललामास्तूपराः[2]। एकारश्च ऐकारश्च एकारै-

---

(जैसे) "पितृणाꣳसदनमसि" इत्यादि में विद्यमान णकार की नकार प्रकृति है—यह अध्ययन से ज्ञात नहीं होता है, अपितु विधि से ही (ज्ञात होता है)[क] ॥ ५ ॥

सू० अ०—(अवर्ण पूर्व में होने पर और) एकार तथा ऐकार बाद में होने पर (वे दोनों) ऐकार (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—अवर्ण पूर्व में और; एकारैकारपरे=एकार और ऐकार बाद में होने पर; वे दोनों पूर्ववर्ती और परवर्ती (स्वर) ऐकार को प्राप्त करते हैं।...। एकार और ऐकार=एकारैकारौ, उन दोनों का समाहार (समूह)=एकारैकारम्। समाहार

(क) सिद्धान्ती—इस अध्याय में पदों की संहिता का विधान हो रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि इस अध्याय में अक्षरों की संहिता का विधान हो रहा है। उनके अनुसार "प्रउगचितं चिन्वीत" के स्थान पर "प्रोगचितं चिन्वीत" यह संहिता रूप बन जायेगा, जो अनिष्ट है। इस प्रकार अक्षरों की संहिता का विधान मानने पर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

पूर्वपक्षी—"प्रउगचितम्" का "प्रोगचितम्" हो जाने पर यह जानना कठिन हो जायेगा कि प्रस्तुत ओकार अकार और उकार के मिलने से बना है। इस अस्पष्टता से बचने के लिए यह अनिष्ट रूप नहीं किया जायेगा। ऐसे अनिष्ट रूपों से बचने के लिए यह मानना युक्त नहीं है कि यहाँ अक्षरों की संहिता का विधान न करके पदों की संहिता का विधान किया जा रहा है।

सिद्धान्ती—अक्षरों की सभी संहिताओं का यह स्वभाव है कि उनकी प्रकृति का ज्ञान अध्ययन से न होकर नियमों (विधियों) के आधार पर होता है। "प्रोगचितम्" में ओकार की प्रकृति का ज्ञान भी प्रस्तुत नियम से हो जायेगा। इसलिए यह कहना युक्त नहीं है कि अस्पष्टता से बचने के लिए "प्रोगचितम्" इस अनिष्ट रूप को नहीं किया जायेगा। यदि यह माना जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में अक्षरों की संहिता का विधान किया गया है तो "प्रोगचितम्" इत्यादि अनेक अनिष्ट रूपों की प्राप्ति होगी। यह वस्तुस्थिति होने पर यह मानना ही युक्त है कि पूर्ववर्ती अध्यायों की भाँति इस अध्याय में भी पदों की संहिता का विधान किया गया है।

---

(१) १।१।८ (२) ५।६।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारौ, तयोः समाहारः, एकारैकारम्। समाहारे द्वन्द्वः। तच्च तत् परं च एकारैकारपरं, कर्मधारयः। तस्मिन्, एकारैकारपरे। एवमुपरितनेऽपि सूत्रे समासः ॥ ६ ॥

वै०—अवर्णपूर्वे; (एकारैकारपरे=) एकारपरे ऐकारपरे च; सन्धावुभे ऐकारमेकादेशं गच्छतः। "अथैता आहुतीः"[1]। "सैतं मन्त्रमपश्यत्"[2]। "वाचमे—वैन्द्रीमात्मन्"[3]। "स्वाहैन्द्रः प्राणः"[4]। एतत्पर इति किम्? "अवारुन्धौषधिः"[5] ॥ ६॥

ओकारौकारपर औकारम् ॥ ७ ॥

मा०—अवर्णपूर्वे ओकारपरे औकारपरे वा उभावप्यौकारमापद्येते। यथा—"ब्रह्मौदनं पचेत्"[6]। औकारपरे—"दाम्नाऽपौभन् स वा एषः"[7] ॥ ७ ॥

त्रि०—अवर्णपूर्वे ओकारौकारपरे च सति, ते उभे औकारमाप्नुतः। यथा—"ब्रह्मौदनं पचेत्"[6]। "दाम्नाऽपौम्भन्"[7] ॥ ७ ॥

वै०—अवर्णपूर्वे; (ओकारौकारपरे=) ओकारपरे औकारपरे च; सन्धौ उभे

में द्वन्द्व (समास) है। वह भी है और बाद में भी है=एकारैकारपरम्—कर्मधारय समास है। वह बाद में होने पर=एकारैकारपरे। इसी प्रकार बाद वाले भी सूत्र में समास है ॥ ६ ॥

वै० अ०—(जिस) संधि में अवर्ण पूर्व में और; (एकारैकारपरे=) एकार बाद में हो और ऐकार बाद में हो; उसमें दोनों एक ऐकार आदेश को प्राप्त करते हैं।...क। ये (एकार और ऐकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अवारुन्धौषधीःख" ॥ ६ ॥

सू० अ०—(अवर्ण पूर्व में होने पर और) ओकार तथा औकार बाद में होने पर (वे दोनों) औकार (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—अवर्ण पूर्व में और; (ओकारौकारपरे=) ओकार ओर औकार बाद में होने पर, वे दोनों औकार को प्राप्त करते हैं। जैसे—"ब्रह्मौदनं पचेत्"। "दाम्नाऽपौम्भन्"ग ॥ ७ ॥

वै० अ०—(जिस) संधि में अवर्ण पूर्व में और (ओकारौकारपरे=)

(क) अथ। एताः ॥ सा। एतम् ॥ एव। ऐन्द्रीम् ॥ स्वाहा। ऐन्द्रः ॥ प० पा०

(ख) अवेति। अरुन्ध। ओषधीः ॥ प० पा०

(ग) ब्रह्मौदनमिति ब्रह्म—ओदनम् ॥ दाम्ना। अपेति। औम्भन् ॥ प० पा०

---

(१) २।४।६ (२) १।५।४ (३) १।६।१० (४) १।३।१०
(५) ७।४।३ (६) ५।७।३ (७) २।४।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औकारमेकादेशं गच्छतः। "अधौषधोरन्तगता दहति"१।क "पिता जनितौषधीनाम्"२।क "अवारुन्धौषधीः"३।क "अरुणो ह स्माहौपवेशिः"४।क "यजमानेन सम्मितौदुम्बरी"५।क एतत्पर इति किम्? "तेनैव प्रजास्सृजते"६ ॥ ७ ॥

अरमृकारपरे ॥८॥

मा०—अवर्णपूर्वे ऋकारपरे उभावप्यरं विकारमापद्यते। यथा—"आग्नेऽय्यर्चाऽग्नीध्रम्"७। "याज्याया अर्धर्च एकां तथैनान्"८ ॥ ८ ॥

त्रि०—अवर्णपूर्वे ऋकारपरे च सति ते उभे अक्षरे अरमिति विकारमाप्नुतः। यथा—"अर्द्धर्च एकाम्"८। "आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रम्"७ ॥ ८ ॥

वै०—अवर्णपूर्वे ऋकारपरे सन्धौ उभे; (अरम्=) अर् इत्यादेशम्; गच्छतः। "एवर्णयात्"९। "शवसर्तप्रजात"१०। ऋकारपर इति किम्? "यत्रैव यज्ञ—मदशन्"११ ॥ ८ ॥

ओकार बाद में हो और औकार बाद में हो उसमें दोनों एक औकार आदेश को प्राप्त करते हैं।...। ये (ओकार और औकार) बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "तेनैव प्रजास्सृजते"ख ॥ ७ ॥

सू० अ०—(अवर्ण पूर्व में होने पर और) ऋकार बाद में होने पर (वे दोनों) अर् (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—अवर्ण पूर्व में और; ऋकारपरे=ऋकार बाद में होने पर; वे दोनों अक्षर अर्—इस विकार को प्राप्त करते हैं।...ग॥ ८ ॥

वै० अ०—(जिस) संधि में अवर्ण पूर्व में और; ऋकारपरे=ऋकार बाद में हो; उसमें दोनों (अरम्=) अर्—इस आदेश को; प्राप्त करते हैं।...॥ ८ ॥

(क) अथ। ओषधीः॥ जनिता। ओषधीनाम् ॥ आह। औपवेशिरित्यौप—वेशिः ॥ संमितेति सं—मिता। औदुम्बरी ॥ प० पा०

(ख) तेन। एव ॥ प० पा०

'तेन' के अवर्ण के बाद ओकार अथवा औकार नहीं, अपितु एकार है, अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र लागू न होकर १०।६ लागू होता है।

(ग) अर्धर्च इत्यर्ध—ऋचे ॥ आग्नेय्या। ऋचा ॥ शवसा। ऋतप्रजातेत्यृत—प्रजात ॥ यत्र। एव ॥ प० पा०

---

(१) १।५।६ (२) ४।६।२ (३) ७।४।३
(४) ६।१।६ (५) ६।२।१० (६) १।७।४
(७) ३।१।६ (८) १।६।१० (९) १।५।२
(१०) १।८।२२ (११) ७।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसर्गपूर्व आरम् ॥ ९ ॥

मा०—"अवर्णपूर्वे"[१] इति वर्त्तते। तस्मादुपसर्गपूर्व इत्यविशेषोक्तेऽपि यः अवर्णान्ते उपसर्गः तस्येह ग्रहणम्। उपसर्गपूर्वे ऋकारपरे उभावप्यारं विकारमापद्येते। यथा—"स इन्वै तमुपार्च्छति"[२]। "अनुपाक्तोऽवार्च्छत्येवम्"[३]। "ऋतव्या उपोपार्त्तव्याः"[४] ॥ ९ ॥

त्रि०—"अवर्णपूर्वे"[१] इत्यनुवर्त्तते। तस्मादुपसर्गपूर्व इत्यविशेषोक्तावप्यवर्णान्तो य उपसर्गस्तस्यैव ग्रहणम्। ऋकारः सान्निध्याल्लभ्यते। उपसर्गपूर्वे ऋकारपरे च सति उभे अक्षरे आरमिति विकारमाप्नुतः। यथा—"उपार्च्छति"[२]। "अवार्च्छति"[३]। "ऋतव्या उपोपार्त्तव्या ऋतव्या उप"[४]। अवर्णान्तोपसर्ग विशेषणेन किम्? "व्यृद्धं वा एतत्"[५]। उपसर्गश्चासौ पूर्वश्च तस्मिन्, उपसर्गपूर्वे ॥ ९ ॥

वै०—अवर्णपूर्वाधिकारात् (उपसर्गपूर्वे=) उपसर्गावर्णपूर्वे; ऋकारपरे सन्धौ उभे; (आरम्=) आर् इत्यादेशाम्; गच्छतः। "नार्तिमार्च्छति"[६]। "स इन्वै तमुपार्च्छति"[२]। पूर्वसूत्रस्यायमपवादः। जटायां व्युत्क्रमणसन्धौ नायं विधिः, अनाम्नातसन्धेरेतच्छास्त्राविषयत्वात्। "ऋतव्या उपोपर्तव्या ऋतव्या उप"[४]। मूलशस्त्रे हि "उपसर्गाद्-

---

सू० अ०—(अवर्णान्त) उपसर्ग पूर्व में होने पर (पदान्त अ तथा पदादि ऋ=दोनों) आर् (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—"अवर्ण पूर्व में होने पर"—इसकी (१०।३ से) अनुवृत्ति हो रही है। इसलिए 'उपसर्ग पूर्व में होने पर'—यह सामान्य (अविशेष) रूप से कहा जाने पर अवर्ण में समाप्त होने वाला जो उपसर्ग है उसका ही ग्रहण होता है। ऋकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) सान्निध्य से प्राप्त है। उपसर्गपूर्वे=उपसर्ग पूर्व में होने पर; और ऋकार बाद में होने पर वे दोनों अक्षर आर्—इस विकार को; प्राप्त करते हैं। जैसे—"उपार्च्छति"। "अवार्च्छति"। "ऋतव्या उपोपार्त्तव्या ऋतव्या उप"[क]। अवर्ण में समाप्त होने वाले उपसर्ग—इस विशेषण से क्या (लाभ है)? "व्यृद्धं वा एतत्"।[ख] जो उपसर्ग भी है और पूर्ववर्ती भी है, उस उपसर्ग के पूर्व में होने पर ॥ ९ ॥

वै० अ०—'अवर्ण पूर्वे' के अधिकार से (सूत्र का अर्थ यह है)—(उपसर्गपूर्वे=) उपसर्ग का अवर्ण है पूर्व में; और ऋकार है बाद में जिस संधि में वहाँ दोनों; (आरम्=) आर्—इस आदेश को; प्राप्त करते हैं। "नार्तिमार्च्छति"

(क) उपेति। ऋच्छति ॥ अवार्च्छतीत्यत्र—ऋच्छति ॥ ऋतव्या। उप ॥ प० पा०

(ख) व्यृद्धमिति वि—ऋद्धम् ॥ प० पा०
'वि' अवर्णान्त उपसर्ग नहीं है। अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र लागू नहीं होता है।

---

(१) १०।३ (२) १।५।६ (३) २।६।३
(४) ५।३।१ (५) ५।१।२ (६) १।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ति धातौ"[१]। इति धात्वृकार एव परतः वृद्धिर्विधीयते। यत्र तु व्युत्क्रमणवशादुपसर्गस्य धात्वृकारपरत्वं "नेन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यतेऽप वा एतस्मात्"[२] इति तत्रापि नायं विधिः, "उपसर्गाः क्रियायोगे"[३] इति स्मरणात्। क्रामतिक्रियायोगिनः "अप"[४] इत्यस्य ऋद्धिक्रियां प्रत्युपसर्गत्वाभावात्। तस्मात् "ऋध्यतेऽपार्ध्यत ऋध्यतेऽप"[५] इत्येवमेव भवितव्यम्। अवर्णपूर्व इति किम्? "यज्ञस्य वै समृद्धेन"[६]। उपसर्गपूर्व इति किम्? "उभाभ्यां नर्ध्येत"[६]। ऋकारपर इति किम्? "नमो भरन्त एमसि"[७] ॥ ९ ॥

"स इन्वै तमुपार्छति"। पूर्ववर्ती सूत्र (१०।८) का यह अपवाद है। जटा-पाठ में व्युत्क्रमण संधि में यह विधि नहीं (लागू होती है), क्योंकि अनाम्नात संधि इस शास्त्र का विषय नहीं है। "ऋतव्या उपोपर्तव्या ऋतव्या उप"। क्योंकि व्याकरण (मूल-शास्त्र) में "अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु पर हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो"—इससे धातु का ऋकार ही बाद में होने पर वृद्धि का विधान किया जाता है। किन्तु जहाँ पर "नेन्द्रियेण वीयण व्यृध्यतेऽप वा एतस्मात्" इत्यादि में व्युत्क्रमण के कारण उपसर्ग के बाद में धातु का ऋकार होवे, वहाँ पर भी यह विधि नहीं (लागू होती है), क्योंकि यह कहा गया है—'प्र आदियों की क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा हो"। 'क्रामति'क्रिया से सम्बद्ध 'अप' इस (उपसर्ग) का 'ऋद्धि' क्रिया के प्रति उपसर्गत्व का अभाव है। इसलिए "ऋध्यते-ऽपार्ध्यत ऋध्यतेऽप"—यही होना चाहिए।[क] 'उपसर्ग पूर्व में होने पर'—यह क्यों (कहा)? "उभाभ्यां नर्ध्येत"। ऋकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "नमो भरन्त एमसि" ॥ ९ ॥

(क) उपर्तव्या (उप+ऋतव्या) यहाँ पर 'उप' का अ और 'ऋतव्या' का ऋ मिलकर अर् होते हैं, आर् नहीं। जटा-पाठ में व्याकरण के नियम लागू होते हैं, प्रातिशाख्य के नहीं। व्याकरण के अनुसार उपसर्ग के अ के बाद में धातु का ऋ होने पर ही अ+ऋ= आर् होते हैं।

पूर्वपक्षी—यदि ऐसी बात हैं तो जटा-पाठ में 'अपर्ध्यते' रूप कैसे बना? अप के बाद में धातु का ऋ है। अतः जटा-पाठ में अपार्ध्यते रूप बनना चाहिए।

सिद्धान्ती—सम्बद्ध संहिता-पाठ इस प्रकार है—"नेन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यतेऽप वा एतस्मादिन्द्रियं वीर्यं क्रामति"। पा० १।४।७९ के अनुसार 'अप' उपसर्ग का सम्बन्ध 'क्रामति' क्रिया के साथ है, 'ऋध्यते' क्रिया के साथ नहीं। परस्पर सम्बद्ध उपसर्ग और क्रिया की संधि में ही पा० ६।१।७१ लागू होता है। अतः अप और ऋध्यते की संधि 'अपर्ध्यते' होती है, 'अपार्ध्यते' नहीं।

(१) पा० ६।१।७१ (२) २।२।१ (३) पा० १।४।७९ (४) २।२।१
(५) १।६।१० (६) ६।६।१० (७) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तमुदात्तवति ॥ १० ॥

मा०—पूर्वेण वा परेण वा उदात्तवता पदेन एकादेशे क्रियमाणे उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा पूर्वे उदात्ते परे अनुदात्ते—"देवो वः सविता प्रार्पयतु"[१]। पूर्वे अनुदात्ते परे उदात्ते—"धृष्टिरसि ब्रह्म यच्छापाग्ने"[२]। पूर्वे स्वरिते परे उदात्ते—"सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व"[३]। एवमवर्णस्य पूर्वे उदात्ते परे अनुदात्ते—"दिवीव चक्षुराततम्"[४]। पूर्वे अनुदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"पाहीत्याह"[५]। "तनूपा ह्येषः"[५]। पूर्वे स्वरिते परे उदात्ते—"वसतीतीन्द्रो हि देवानाम्"[६]। एवमिवर्णस्य उवर्णस्य पूर्वे अनुदात्ते स्वरिते वा परे उदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"रेतो दधातूथ्सक्थ्योः"[७]। "वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति तान्"[८]। पूर्वे उदात्ते परे अनुदात्ते उदाहरणं न भवतीति न प्रदर्शितम्। कस्मात्? "सून्नीयमिव यो वै स्वार्थे ताम्"[९], "सुहोता सूद्गाता स्वध्वर्युः"[१०] इत्येवमादौ "अभावे च"[११] इति स्वरितविधानात्। एवं समानाक्षरसंहितायां एकीभावो द्रष्टव्यः। अथावर्णपूर्वे, पूर्वे उदात्ते परे अनुदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"सेमान्नो हव्यदातिं जुषाणः"[१२]। पूर्वे अनुदात्ते परे उदात्ते—"तं घेदग्निर्वृधावति"[१३]। पूर्वे स्वरिते परे उदात्ते—"सवनमुखे सवनमुखे कार्येति"[१४]। एवमवर्णेवर्णयोरेकारोत्पत्तिः। अथोकारोत्पत्तौ दर्शयिष्यामः—पूर्वे अवर्णे उदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। परे उदात्ते—"ऊर्जस्स्थोर्जं वो भक्षीय"[१५]। पूर्वे स्वरिते परे उदात्ते—"उदायुषा स्वायुषो दोषधीनाम्"[१६]। एवमवर्णोवर्णयोरोकारोत्पत्तिः अथैकारोत्पत्तौ दर्शयिष्यामः—पूर्वे अवर्णे उदात्ते परे एकारे अनुदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"नैनं प्रत्योषति"[१७]। सैतम्मन्त्रमपश्यत्ततो वै"[१८]। पूर्वे अनुदात्ते परे एकारे अनुदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। "एक एव यजेतैको हि प्रजापतिः"[१९]। एवमवर्णस्य एकारस्य ऐकारोत्पत्तिः। अथैकारोत्पत्तावेव दर्शयिष्यामः—अवर्ण उदात्ते परे ऐकारे अनुदात्ते उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"इन्द्रियमेवैन्द्रेणाव रुन्धे"[२०]। पूर्वे अनुदात्ते परे उदात्ते—"वि हि तदवैर्यतेति[२१]"। एवमवर्णस्येकारस्य ऐकारोत्पत्तिः। अथावर्णस्य च उत्पत्तौ अन्यतरे उदात्ते अन्यतरे अनुदात्ते स्वरितपरे उभावप्युदात्तमापद्येते। यथा—"अद्भिर्हवींषि प्रौक्षीः"[२२]। "दाम्नाऽपौंभन् स वा एषः"[२३]। अरुणो ह स्माहौपवेशिः"[२४]।

सू० अ०—उदात्त वाला (वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर हो तो वे दोनों) उदात्त (हो जाते हैं) अथवा उदात्त वाली (संधि) में (परिणाम) उदात्त (होता है)।

---

(१) १।१।१ (२) १।१।७ (३) १।८।६ (४) १।३।६
(५) १।५ ७ (६) १।५।३ (७) ७।४।१९ (८) ७।४।८
(९) ६।२।४ (१०) ७।१।८ (११) १०।१७ (१२) ४।६।६
(१३) २।६।११ (१४) ७।५।५ (१५) १।५।६
(१६) १।२।८ (१७) १।५।९ (१८) १।५।४
(१९) ७।२।१० (२०) ६।६।५ (२१) ७।१।५
(२२) २।६।५ (२३) २।४ १३ (२४) ६।१।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमवर्णस्यौकारस्य औकारोत्पत्तिः। पूर्वे अवर्णे उदात्ते वा अनुदात्ते वा स्वरिते वा परे ऋकारे उदात्ते अनुदात्ते वा अरमिति विकारमुदात्तं भवति। यथा—"आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रमभि मृशेत्"[१]। "सैवास्यर्धिः"[२]। "ऐन्ध ऋषिष्टुत इत्याहर्षयः"[३]। पूर्वे उपसर्गान्ते अवर्णे उदात्ते अनुदात्ते स्वरिते वा परे ऋकारे उदात्ते अनुदात्ते वा आरमिति विकारमुदात्तं भवति। "आर्तिमार्च्छति"[४]। "अनुपाक्तोऽवार्च्छत्येवम्"[५]। "स इन्वै तमुपार्च्छत्यथ"[६]। एकादेशे सर्वत्र स्वरिते परे उदाहरणं न भवतीति न प्रदर्शितम्। एवमेकादेशे स्वरविधिः सर्वत्र द्रष्टव्या॥ १०॥

त्रि०—(उदात्तवति=) उदात्तधर्मविशिष्टे वर्णे पूर्वतः; परत उभयतो वा स्थिते सति ते उभे अप्येकादेशमापन्ने; (उदात्तम्=) उदात्तधर्ममेकम्; आप्नुतः। उदात्तोऽस्या-स्तीत्युदात्तवान्, तस्मिन् उदात्तवति। समानाक्षरमारभ्य सर्वस्मिन्नेकीभावे यथाक्रममुदात्ता-नुदात्तस्वरितपूर्वे उभयोदात्ते चोदाहरणानि दर्शयिष्यामः। यथा—"सविता प्रार्पयतु"[७]। "ब्रह्म यच्छापाग्नेऽग्निम्"[८]। "याज्यैवैनम्"[९]। "पूषाऽऽधत्त"[१०]। "दिवीव चक्षुः"[११]। "अद्य वसु वसतीतीन्द्रो हि देवानाम्"[१२]। "मैत्रावरुणीत्याह"[१३]। ननु "सून्नीयम्"[१४] इत्यत्रोदात्तेनैकादेशे सति किं न स्यात् अयं विधिः? उदात्तपूर्वाधिकारे सति "ऊभावे च"[१५] इति सूत्रेण स्वरितस्य विशेषविधानादिति ब्रूमः। "रेतो दधातूथ्सक्थ्योः"[१६]। "वनस्पतयोऽ-

---

त्रि० अ०—(उदात्तवति=) उदात्त धर्म से युक्त; वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर स्थित होवे तो दोनों (पूर्ववर्ती और परवर्ती) एकादेश को; प्राप्त होने पर एक; (उदात्तम्=) उदात्त धर्म को; प्राप्त करते हैं। उदात्त है (धर्म) जिस (वर्ण) का वह=उदात्तवान्, उसमें=उदात्तवति। समानाक्षर से प्रारम्भ करके सभी संधियों (एकीभाव) में क्रम से 'उदात्त', 'अनुदात्त' और स्वरित पूर्व में होने पर तथा दोनों (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर) उदात्त होने पर उदाहरणों को दिख-लायेंगे। जैसे—"सविता प्रार्पयतु"।...।क (शंका) "सून्नीयम्"—यहाँ उदात्त के साथ एकादेश होने पर क्या यह विधि नहीं लागू होती है? (समाधान) उदात्त-पूर्व का अधिकार होने पर "(पदान्त उदात्त उकार के साथ पदादि अनुदात्त उकार की संधि से) ऊ होने पर भी (वे दोनों 'स्वरित' एदादेश को प्राप्त करते हैं)"—

(क) सविता। प्रेति। अर्पयतु॥ ब्रह्म। यच्छ। अपेति। अग्ने। अग्निम्॥ याज्या। एति। एव। एनम्॥ पूषा। एति। अधत्त॥ दिवि। इव। चक्षुः॥ वसति। इति। इन्द्रः॥ मैत्रावरुणीति मैत्रा—वरुणी। इति॥ प० पा०

---

(१) ३।१।६ (२) ६।६।१० (३) २।५।६ (४) १।५।२
(५) २।६।३ (६) १।५।६ (७) १।१।१ (८) १।१।७
(९) २।३।५ (१०) १।५।१ (११) १।३।६ (१२) २।५।३
(१३) २।६।७ (१४) ७।२।४ (१५) १०।१७ (१६) ७।४।१९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नूत्तिष्ठन्ति"[१]। "ता दिक्षूपादधत"[२]। एवं समाक्षरसंहितायामेकीभावोऽन्यत्रापि द्रष्टव्यः। एवमवर्णपूर्वत्वेऽपि वक्ष्यते—"सेमां नो हव्यदातिम्"[३]। "तं घेदग्निः"[४]। "कार्येति सवनमुखाथ्सवनमुखात्"[५]। "सेदु होता"[६]। "प्रेक्षितं गोपायत"[७]। "ऊर्ज्जस्थोर्जं वो भक्षीयेति"[८]। "स्वायुषोदोषधीनाम्"[९]। "इमे एवोप धत्ते"[१०]। "नैनं प्रत्योषति"[११]। "एक एव यजेतैकः"[१२]। "अथैकमुत्थानम्"[१३]। "यन्नैकाꣳरशनाम्"[१४]। "इन्द्रियमेवैन्द्रेण"[१५] "वि हि तदवैर्यतेति"[१६]। "देवेभ्य ऐन्धैन्ध देवेभ्यो देवेभ्यो ऐन्ध"[१७]। "क्षत्रस्य चौजसे"[१८]। "स्वाहौषधीभ्यः"[१९]। "सौषधीरनु रुध्यसे"[२०]। "प्रौक्षीः केनाप इति"[२१]। "अरुणो ह स्माहौपवेशिः"[२२]। "आग्नेय्यर्च्चाऽऽग्नीध्रम्"[२३]। "सैवास्यर्द्धिः"[२४]। "ऐन्ध। ऋषिष्टुतः"[२५]। "एव ऋषिरस्वदयत्"[२६]। "नार्तिमार्च्छति"[२७]। "अवार्च्छत्येवम्"[२८]। एवमादि ॥ १० ॥

इस सूत्र से स्वरित का विशेष विधान होने से—यह कहते हैं।[क] "रेतो दधात्यूष्सक्थयोः"। "वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति"।[ख] "ता दिक्षूपादधत"। समानाक्षरों की संहिता में एकीभाव को अन्यत्र भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। अवर्ण पूर्व में होने पर भी इसी प्रकार कहेंगे। "सेमां नो हव्यदातिम्"। "तं घेदग्निः"। "कार्येति सवनमुखाथ्सवनमुखात्"। "सेदु होता"।[ग]

(क) पूर्वपक्षी—"सून्नीयम्" = सूऽन्नीयमिति सु—उ॒न्नीय॒म् (प०पा०)—यहाँ उदात्त उकार और अनुदात्त उकार—ये दोनों मिलकर १०।२ से दीर्घ ऊकार होते हैं। वहाँ उदात्त और अनुदात्त मिलकर उदात्त क्यों नहीं हुए हैं।

सिद्धान्ती—१०।१७ में विशेष रूप से यह विधान किया गया है कि उदात्त उकार और अनुदात्त उकार जब एक ऊकार हो जाते हैं, तब यह ऊकार स्वरित हो जाता है। अतः यहाँ एकादेश (ऊकार) १०।१७ से स्वरित हो जाता है।

(ख) रेतः। द॒धा॒तु॒। उदितिं॑॥ अनु॑। उदितिं॑। प० पा०

(ग) दि॒क्षु। उपेतिं॑। अ॒द॒ध॒त॒॥ सः। इ॒माम्॥ तम्। घ॒। इत्। अ॒ग्निः॥ का॒र्या॑। इतिं॑॥ सः। इत। उ॒। होता॑॥ प० पा०

---

(१) ७।४।८	(२) ५।५।५	(३) ४।६।६	(४) २।६।११
(५) ७।५।५	(६) १।१।१४	(७) ७।१।१२	(८) १।५।६
(९) १।२।८	(१०) ५।२।७	(११) १।५।९	(१२) ७।२।१०
(१३) ७।२।१	(१४) ६।४।४	(१५) ६।६।५	(१६) ७।१।५
(१७) २।५।९	(१८) ३।३।१	(१९) १।८।१३	(२०) ४।२।३
(२१) १।२।७	(२२) ६।१।९	(२३) ३।१।६	(२३) ६।६।१०
(२५) २।५।९	(२६) ५।१।१०	(२७) १।५।२	(२८) २।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उक्ता एकादेशाः। तेषामिदानीं स्वरादिगुणविधिरारभ्यते—उदात्तवति सन्धौ विकारभाजोरुभयोरन्यतरस्य वोदात्तत्वे सति उभे उदात्तमेकादेशं गच्छतः। "यज्ञमेवाव-रुन्धे"[1] इत्युभयोरुदात्तयोरुदात्तता। "प्रेयमगात्"[2]। "सैतं मन्त्रम्"[3]। "वसन्तमेवर्तू-नाम्"[4] इति पूर्वस्य। "पूतीगन्धस्यापहत्यै"[5]। "उज्जितिमनूज्जेषम्"[6]। "सम्मितौदुम्बरी भवति"[7]। "अवार्छति"[8]। "यथाऽक्षोऽनुपाक्तः"[9] इति परस्य। उदात्तवतीति किम्? "अथाब्रवीत्"[9]। "अथ क्वास्य"[10] ॥ १० ॥

अनुनासिके अनुनासिकम् ॥ ११ ॥

मा०—"अग्रग्रहाः समाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्"[11] इति येषां अग्रग्रहाः समा-नाक्षराण्यनुनासिकानि भवन्ति तेषामेकादेशविकारे उभावप्यनुनासिकं विकारमापद्येते।

"प्रोक्षितं·····अर्वाच्छ्तित्येवम्"क। इत्यादि ॥ १० ॥

वै० अ०—एकादेश कहे जा चुके हैं। अब उनके स्वर आदि गुणों का विधान आरम्भ किया जाता है— उदात्तवति = उदात्त वाली; संधि में = विकार को प्राप्त करने वाले दोनों (वर्णों) अथवा किसी एक के उदात्त होने पर दोनों उदात्त रूप एकादेश को प्राप्त करते हैं।····।क

सू० अ०—(दो स्वरों की) जिस (संधि) में एक (पूर्ववर्ती या परवर्ती भी

(क) प्रोक्षितमिति प्र—उक्षितम् ॥ स्थ। ऊर्जम् ॥ स्वायुषेति सु—आयुषा। उदिति ॥ इमे। इति। एव। उपेति ॥ न। एनम् ॥ एकः। एव। यजेत। एकः ॥ अर्थ। एकम् ॥ न। एनाम् ॥ एव। ऐन्द्रेण ॥ अवैर्यतेत्यव—ऐर्यत ॥ देवेभ्यः। ऐन्धः ॥ क्षत्रस्य। च। ओजसे ॥ स्वाहा। ओषधीभ्य इत्योषधि—भ्यः ॥ सः। ओषधीः। अन्विति ॥ प्रेति। औक्षीः ॥ स्म। आह। औपवेशिरित्यौप—वेशिः ॥ आग्नेय्या। ऋचा। आग्नीध्रमित्याग्नि—इध्रम् ॥ स। एव। अस्य ॥ ऐन्धं। ऋषिष्टुत इत्यृषि—स्तुतः ॥ एव। ऋषिः। अस्वदयत् ॥ न। आर्त्तिम्। एति। ऋच्छति ॥ अवार्छतीत्यव—ऋच्छति। एवम् ॥ प० पा०

(ख) यज्ञम्। एव। अवेति ॥ प्रेति। इयम्। अगात् ॥ सा। एतम् ॥ एव। ऋतू-नाम् ॥ पूतीगन्धस्येति पूति—गन्धस्य। अपहत्या इत्यप—हत्यै ॥ अनु। उदिति ॥ अवार्छतीत्यव—ऋच्छति ॥ यथा। अक्षः ॥ अथ। अब्रवीत् ॥ प०पा०

---

(१) २।६।१ (२) १।१।२ (३) १।५।४ (४) २।६।१
(५) २।२।२ (६) १।६।४ (७) पा० ६।२।१०
(८) २।६।३ (९) ३।२।११ (१०) ५।७।४ (११) १५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"धन्वनाऽजिञ्जयेम"[१]। "सविता प्रार्पयतु"[२]। "जीमूतस्येव भवति"[३]। एवं सर्वत्र ॥ ११ ॥

त्रि०—"अप्रग्रहास्समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्"[४] इति येषां मतं तानुद्दिश्यायं विधिः। तस्मिन् उदात्तवत्यनुनासिके पूर्वतः परत उभयतो वा स्थिते सति ते उभे अप्यक्षरे; (अनुनासिकम्=) अनुनासिकधर्ममेकमाप्नुतः। उक्तान्येवोदाहरणानि। एतदनिष्टम् ॥ ११ ॥

वै०—"अप्रग्रहास्समानाक्षराणि"[५] इति परमतं वक्ष्यति। तद्विषयोऽयं विधिः। तत्र पदान्तस्यैव अनुनासिक विधानादनुनासिके पूर्वे सतीति योज्यम्। तथा सति अनुनासिकमेकमादेशमुभे गच्छतः। पूर्वसूत्रोक्तान्यत्राप्युदाहरणानि ॥ ११ ॥

स्वरितानुदात्तसन्निपाते स्वरितम् ॥ १२ ॥

मा०—स्वरितस्य चानुदात्तस्य च सन्निपाते एकादेशे उभावपि स्वरितमापद्येते। यथा—"क्रोशातिगर्दा कन्येव तुन्ना"[६]। "छर्वी छव्योपाकृताय स्वाहा"[७]। "याऽयैषा वै सप्तपदा शक्वरी"[८]। "अथ क्वास्याहवनीय इति"[९]। इह स्वरितस्याविशेषेण। अन्येषां तु अक्षरोत्पत्तिकालादूर्ध्वमक्षराणां वा पदानां वा संहितायां उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित इति विधानार्थः ॥ १२ ॥

अक्षर) अनुनासिक (उदात्त) हो, वहाँ (संधि के परिणामस्वरूप निष्पन्न अक्षर) अनुनासिक (उदात्त) होता है।

त्रि० अ०—"जो 'समानाक्षर', प्रग्रह—संज्ञक नहीं (होते हैं) वे कतिपय आचार्यों के मत में अनुनासिक होते हैं—यह जिन लोगों का मत है उनको उद्दिष्ट करके यह विधि है। उदात्त (धर्म) वाला वह; अनुनासिके अनुनासिक (वर्ण) पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर स्थित होवे; वे दोनों ही अक्षर; (अनुनासिकम्=) एक अनुनासिक धर्म को; प्राप्त करते हैं। उदाहरण (१०।१० में) कह ही दिए गए हैं। यह (सूत्र) अभीष्ट नहीं है।

वै० अ०—"जो समानाक्षर प्रग्रह (—संज्ञक) नहीं होते है वे "प्रग्रह से अन्य समानाक्षार अनुनासिक होते हैं" दूसरों के इस मत को (सूत्रकार) आगे कहेंगे। यह विधि उसके विषय में है। वहाँ पदान्त के ही अनुनासिक होने का बिधान होने से; अनुनासिके= अनुनासिक पूर्व में होने पर—यह कहना चाहिए। वैसा होने पर वे दोनों; अनुनासिकम्=एक अनुनासिक आदेश को; प्राप्त करते हैं। पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गए उदाहरण यहाँ भी (उदाहरण) हैं।

सू० अ०—स्वरित और अनुदात्त का एकादेश होने पर (वे दोनों) स्वरित (हो जाते हैं)।

---

(१) ४।६।६ (२) १।१।१ (३) ४।६।६ (४) १५।६
(५) ३।१।११ (६) ५।७।२० (७) २।६।२ (८) ५।७।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(स्वरितानुदात्तसन्निपाते=) स्वरितानुदात्तयोस्सन्निपाते=एकादेशे सति उभावपि तौ स्वरितमापद्येते। यथा—"कन्येव तुन्ना"[१]। "छवीं छव्योपाकृताय"[२]। "याज्यैषा वै सप्तपदा"[३]। "अथ क्वास्य"[४]। इह स्वरितस्याविशेषेण ग्रहणे नित्यस्वरित एव गृह्यते। तस्य स्वरितस्य व्यञ्जनानामक्षराणाञ्च पदावयवानामुत्पत्तिकाल एव सम्भवात्। अन्येषां तु पदोत्पत्तिकालादूर्ध्वमक्षराणां पदानां वा संहितायां "उदात्तात् परोऽनुदात्तः"[५] इति विधानात्। "तस्मिन्ननुदात्ते पूर्व उदात्तः"[६] इत्यादि च। तस्मान्नित्यस्यैव मुख्यत्वम्। 'सामान्योक्तौ च सत्यां मुख्ये सम्प्रत्ययः' इति तस्यैव स्वीकारो युक्तः। "अथाब्रवीत्"[७] इत्यादावेकादेशस्योदात्तानन्तरभावित्वात् "उदात्तात्परोऽनुदात्तस्स्वरितम्"[८] इत्यनेनैव स्वरितत्वं विज्ञेयम् ॥ १२ ॥

त्रि० अ०—(स्वरितानुदात्तसन्निपाते=) स्वरित और अनुदात्त का एकादेश होने पर; वे दोनों ही; स्वरित हो जाते हैं। जैसे—"कन्येव तुन्ना"। "छवीं छव्योपाकृताय"। "याज्यैषा वै सप्तपदा"। "अथ क्वास्य"।[क] यहाँ स्वरित का बिना किसी विशेष के ग्रहण होने से नित्य स्वरित का ही ग्रहण होता है।[ख] क्योंकि पद के अवयवभूत व्यञ्जनों तथा अक्षरों के उत्पत्ति-काल में वह ही स्वरित विद्यमान होता है। अन्य (स्वरितों) की तो (उत्पत्ति) पद की उत्पत्ति से बाद में अक्षरों तथा पदों की संहिता होने पर (होती है) क्योंकि "उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)" से (उनका) विधान किया गया है। तथा "उस (लुप्त होने वाले अकार) के अनुदात्त होने पर पूर्ववर्ती उदात्त (एकार अथवा ओकार) स्वरित (हो जाता है)" इत्यादि से भी उनका विधान किया गया है। इसलिए नित्य (स्वरित) की ही मुख्यता है। और 'सामान्य कथन में मुख्य का बोध होता है' इससे उसका ही स्वीकार करना युक्त है। "अथाब्रवीत्" इत्यादि में एकादेश उदात्त से बाद में होता है, इसलिए "उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)" से स्वरितत्व जानना चाहिए[ग] ॥ १२ ॥

(क) छव्यै। उपाकृतायेत्युप—आकृताय ॥ याज्यै। एषा ॥ अथ। क्व। अस्य ॥ प० पा०

(ख) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'स्वरित' से केवल 'नित्य स्वरित' को समझना चाहिए। नित्य स्वरित और अनुदात्त का मेल होने पर इन दोनों के स्थान पर स्वरित की निष्पत्ति होती है।

(ग) 'अथाब्रवीत्' (अथ। अब्रवीत् ॥ प० पा०) में 'अथ' के अकार और 'अब्रवीत्' के अकार के मिलने से जो आकार बनता है, वह अथ के उदात्त अकार के बाद में विद्यमान होने से १४।२६ से 'स्वरित' हो जाता है। अतः यह प्रस्तुत सूत्र का स्थल नहीं है।

---

(१) ३।१।११ (२) ५।७।२० (३) २।६।२ (४) ५।७।४
(५) १४।२६ (६) १२।६ (७) ३।२।११ (८) १४।२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(स्वरितानुदात्तसन्निपाते=) स्वरितानुदात्तयोः सन्निपातो यस्मिन् सन्धौ स तथोक्तः। तस्मिन्; उभे स्वरितमेकादेशं गच्छतः। "भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्"[१]। "ऋतस्य पथ्याऽसि"[२]। "अथैता आहुतीर्जुहोति"[३]। इत्यादौ न स्वरितानुदात्तसन्निपातोऽस्ति तत्र हि पूर्वसूत्रविहितत्वादेकादेशः प्रथमं भवति। ततस्स्वरितादेश इति। अन्ये तु नित्यस्वरितस्य मुख्यत्वात्तत्रैवायं विधिर्भवतीत्याहुः। तथात्वे अन्यान्यपि स्वरितकार्याणि तत्रैव स्युर्नान्यत्र ॥ १२ ॥

न धामापासिपरो बुध्नियाज्यापूषाभिनन्तार्षे ॥ १३ ॥

मा०—न धा, मा, पा, एतेष्वसिपरः, बुध्निया, ज्या, आपूषा, अभिनन्त इत्येवमादिषु ग्रहणेषु आर्षे एकादेशे विकारो न भवति। एकादेशविकारे प्रतिषिद्धे नान्यस्मिंश्चारभ्यमाणे प्रकृतिवद् भवति। यथा—"स्वधा अस्युर्वीचासि"[४]। "सहस्रस्य प्रमा असि"[५]। "धन्वन्निव प्रपा असि"[६]। असिपर इति किम्? "अथ मेतरेभ्य ऋषिभ्यः"[७]।

वै० अ०—(स्वरितानुदात्तसन्निपाते=) 'स्वरित' और अनुदात्त का मेल होता है जिस सन्धि में वह वैसा कहा गया (=स्वरितानुदात्तसन्निपातः) है, उस (संधि) में; दोनों (स्वरित और अनुदात्त) स्वरित रूप एकादेश को प्राप्त होते हैं "भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्"। "ऋतस्य पथ्याऽसि"। "अथैता आहुतीर्जुहोति"[क] इत्यादि में 'स्वरित' और अनुदात्त का एकादेश नहीं है, क्योंकि वहाँ पूर्ववर्ती सूत्र से विहित होने से पहले एकादेश होता है। इसके पश्चात् स्वरित का आदेश होता है। अन्य लोग तो कहते हैं कि नित्य स्वरित के मुख्य होने से वहीं पर यह विधि होती है। वैसा होने पर स्वरित के अन्य भी कार्य वहीं पर (=नित्य स्वरित में) होंगे, अन्यत्र नहीं[ख] ॥ १२ ॥

सू० अ०—असि बाद में होने पर धा, मा, पा (का अन्तिम स्वर) तथा संहितापाठस्थ स्वर बाद में होने पर बुध्निया, ज्या, आपूषा और अभिनन्त (का अन्तिम स्वर) (एकादेश को) नहीं (प्राप्त करता है)।

(क) भ्रातृव्यदेवत्येति भ्रातृव्य—देवत्या। उपभृदित्युप—भृत्॥
अथ। एताः। आहुतीरित्या—हुतीः॥ प० पा०

(ख) अन्य लोगों ने जो यह माना है कि प्रस्तुत सूत्र में स्वरित शब्द से नित्य स्वरित को समझना चाहिए—यह युक्त नहीं है। इससे तो जहाँ-जहाँ सामान्यतः स्वरित शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ-वहाँ उससे नित्य स्वरित को समझना होगा। स्वरित के विषय में जिन कार्यों का विधान किया गया है वे सब केवल नित्य स्वरित से सम्बद्ध हो जायेंगे और यह अभीष्ट नहीं है। अत एव प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त स्वरित से सामान्यतः स्वरित का बोध होता है, केवल नित्य स्वरित का नहीं।

---

(१) २।५।१६ (२) ५।१।१६ (३) २।४।६ (४) १।१।१६
(५) ४।४।११ (६) २।५।१२ (७) ३।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"स्वधेति स्व—धा"[१]। "प्रपेति प्र—पा"[२]। "प्र बुध्निया ईरते"[३]। "ज्या इयँ समने"[४]। "आ पूषा एत्वा वसु"[५]। आपूषा इति किम्? "तं पूषाऽधत्त"[६]। "आ ते सुपर्णा अमिनन्त एवैः"[७]। आर्षे इति किम्? "आ पूषा पूषा एतु एतु पूषा"[८] ॥ १३ ॥

त्रि०—धा मा पा एतेष्वन्त्यस्वर आर्षपाठे असिपरः, बुध्निया, ज्या, आपूषा, अमिनन्त एतेष्वन्त्यस्वर आर्षे पाठे स्वरपरः पूर्वविधिं न प्राप्नोति। यथा—"स्वधा अस्युर्वी"[९]। "सहस्रस्य प्रमा असि"[१०]। "धन्वन्निव प्रपा असि"[११]। असिपर इति किम्? "स्वधेति स्व—धा"[९]। "प्रमेति प्र—मा"[१०]। प्रपेति प्र—पा"[११]। आर्षे इति किम्? "स्वधा अस्यसि स्वधा स्वधाऽसि"[९]। "प्रमा अस्यसि प्रमा प्रमाऽसि"[१०]। "प्रपा अस्यसि प्रपा प्रपाऽसि"[११]। "प्र बुध्निया ईरते"[१२]। "ज्या इयम्"[१३]। "आ पूषा एत्वा

त्रि० अ०—धा, मा, पा—इनमें स्थित अन्तिम स्वर; संहिता-पाठ में विद्यमान; असिपरः=असि बाद में होने पर; तथा बुध्निया, ज्या, आपूषा, अमिनन्त—इनमें स्थित अन्तिम स्वर; आर्षे=संहिता-पाठ में; स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती विधि को; न=नहीं; प्राप्त करता है।[क] "स्वधा अस्युर्वी"। "सहस्रस्य प्रमा असि"। "धन्वन्निव प्रपा असि"। असि बाद में पर—यह क्यों कहा? "स्वधेति स्व—धा"। "प्रमेति प्र—मा"। "प्रपेति प्र—पा"।[ख] संहिता-पाठ (आर्ष) में—यह क्यों कहा? "स्वधा अस्यसि स्वधा स्वधाऽसि"। "प्रमा अस्यसि प्रमा प्रमाऽसि"। "प्रपा अस्यसि प्रपा प्रपाऽसि"।[ग] 'प्र बुध्निया ईरते"। "ज्या इयम्"। "आ पूषा एत्वावसु"। आकार किसलिए कहा? "तं पूषाऽऽधत्त"[घ]। "आ ते सुपर्णा

(क) प्रस्तुत सूत्र में उद्धृत पद अव्यवहित पूर्ववर्ती स्वर-विषयक सूत्रों के अपवाद न होकर १०।२ इत्यादि उन सूत्रों के अपवाद हैं जो पदान्त अ, आ का परवर्ती पदादि स्वर के साथ एकादेश का विधान करते हैं।

(ख) 'धा', 'मा' और 'पा' का आ परवर्ती स्वर के साथ १०।४ से एकादेश को प्राप्त हो गया है, क्योंकि 'धा', 'मा' और 'पा' के बाद में असि न होकर अन्य स्वर (इ) है। प्रस्तुत उदाहरण पद-पाठ से दिये गये हैं।

(ग) यहाँ 'स्वधा असि', 'प्रमा असि' और 'प्रपा असि' के जटा पाठ प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। तृतीय पर्याय में स्वधा, प्रमा और प्रपा के आ का असि के अ के साथ १०।२ से एकादेश हो गया है क्योंकि यह असि संहिता-पाठ का नहीं है।

(घ) पूषा के आ का परवर्ती स्वर के साथ एकादेश १०।२ से हो गया है क्योंकि पूषा के पूर्व में आ नहीं है।

---

(१) १।१।६ (२) २।५।१२ (३) ४।३।१३ (४) ४।६।६
(५) २।४।५ (६) १।५।१ (७) ३।१।११ (८) २।४।५
(९) १।१।६ (१०) ४।४।११ (११) २।५।१२ (१२) ४।३।१३ (१३) ४।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसु"[१]। आकारः किमर्थः ? "तं पूषाऽऽधत्त"[२]। "आ ते सुपर्णा अमिनन्त एवैः"[३]। अर्षस्वरपर इति किम् ? "बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्नियेरते"[४]। "ज्या इयमियं ज्या ज्येयम्"[५]। "पूषा ऐत्वेतु पूषा पूषैतु"[६]। "अमिनन्त एवैरेवैरमिनन्तामिनन्तैवैः"[१]। आर्षेय-स्वपर इति किम् ? "असि स्वधा स्वधाऽस्यसि स्वधया"[७]। "असि मा माऽस्यसि मा"[८]। "आ पूषा पूषाऽऽपूषा"[९]। "सुपर्णा अमिनन्तामिनन्त सुपर्णास्सुपर्णा अमिनन्त"[१०]। इदमेव प्रत्युदाहरणम्। न तु "स्वधाऽसि"[७] "प्रमाऽसि"[८] "पप्रपाऽसि"[११] "ज्येयम्"[१२] "अमिनन्तैवैः"[१३] इत्यादि जटायामपि तृतीयपर्यायस्य प्रकृतित्वात्॥ १३॥

वै०—धा, मा, पा इत्यवर्णोसिपरो यथोक्तमेकादेशं न गच्छति। तथा; (बुध्नियाज्याऽऽपूषाऽमिनन्त =) बुध्निया इत्यादिषु; अवर्णः आर्षे = वैदिके सन्धौ; यथोक्तमेकादेशं न गच्छति। धा—"स्वधा असि"[७]। मा—"प्रमा असि"[८]।

अमिनन्त एवैः"।[क] संहिता-पाठ में स्वर बाद में होने पर—यह क्यों कहा ? "बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्नियेरते"। "ज्या इयमियं ज्या ज्येयम्"। "पूषा एत्वेतु पूषा पूषैतु"। "अमिनन्त एवैरेवैरमिनन्तामिनन्तैवैः"।[ख] यह भाष्य अतिरिक्त प्रतीत होता है। ह्विटनी के संस्करण में यह उपलब्ध नहीं है॥१३॥

वै० अ०—धा, मा, पा—इनका अवर्ण (=आकार); असिपरः= असि बाद में होने पर; पूर्वोक्त एकादेश को; न = नहीं; प्राप्त करता है। उसी प्रकार; (बुध्निया-ज्याऽऽपूषाऽमिनन्त=) बुध्निया इत्यादि में; स्थित अवर्ण (=आकार); आर्षे= वैदिक संधि में पूर्वोक्त एकादेश को नहीं प्राप्त करता है। धा—"स्वधा असि"। मा-"प्रमा असि"। पा—"प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे"। असि बाद में होने पर—यह

(क) स्वधेति स्व—धा। असि॥ प्रमेति प्र—मा। असि॥ प्रपेति प्र—पा। असि॥ प्रेति। बुध्निया। ईरते॥ ज्या। इयम्॥ एति। पूषा। एतु। एति। वसु॥ तम्। पूषा। एति। अधत्त॥ एति। ते। सुपर्णा इति सु—पर्णाः। अमिनन्त। एवैः॥ प्रेति। बुध्निया। ईरते॥ ज्या। इयम्॥ पूषा। एतु॥ प० पा०

(ख) यहाँ जटा-पाठ प्रस्तुत किए गए हैं। तृतीय पर्याय में 'बुध्निया', 'ज्या', 'पूषा' और 'अमिनन्त' के अन्तिम स्वर अपने परवर्ती स्वर के साथ एकादेश को प्राप्त करते हैं, क्योंकि ये परवर्ती स्वर संहिता-पाठ के नहीं हैं।

---

(१) २।४।५ (२) १।५।१ (३) ३।१।११ (४) ४।३।१३
(५) ४।६।६ (६) २।४।५ (७) १।१।६
(८) ४।४।११ (९) २।४।५ (१०) ३।१।११
(११) २।५।१२ (१२) ४।६।६ (१३) ३।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पा—"प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे"[१]। असिपर इति किम्? "दशधेन्द्रियम्"[२]। "माऽघशꣳसः"[३]। बुध्निया—"प्रबुध्निया ईरते"[४]। ज्या—"ज्या इयꣳसमने"[५]। आपूषा—"आ पूषा एत्वा वसु"[६]। आङुपबन्धेन किम्? "तं पूषाऽऽधत्त"[७]। अमिनन्त—"अमि नन्त एवैः"[८]। आर्षे सन्धावित्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। तत्र हि परमज्यापदस्य विभज्यानुवादार्थे पदकाले प्रक्षिप्ते इतिशब्दे परतः प्रकृतिवद्भावस्स्यात्। "परमज्येति परम—ज्या" इति चेष्यते। अन्ये तु जटायां पुनरनुक्रमणे यस्समाम्नातसन्धिः, तस्यैवानार्षत्वं

क्यों (कहा)? "दशधेन्द्रियम्"। "माऽघशꣳसः"।[क] बुध्निया—"प्र बुध्निया ईरते"। ज्या—"ज्या इयꣳसमने"। अपूषा—"आ पूषा एत्वा वसु"। आ उपबन्ध से क्या (लाभ है)? "तं पूषाऽऽधत्तु"।[ख] अमिनन्त—"अमिनन्त एवैः"। वैदिक (आर्ष) संधि में—इसका प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में (मिलेगा)। क्योंकि वहाँ परमज्या पद का विभाग करके पुनः कथन के लिए पद-पाठ में अन्तर्निविष्ट इति शब्द बाद में होने पर प्रकृतिभाव नहीं होगा। और परमज्येति परम—ज्या—यह अभीष्ट भी है।[ग] अन्य लोग तो जटा पाठ में पुनरुक्तं (=द्वितीय) अनुक्रमण में जो समाम्नात संधि होती है उसी को अनार्ष मानकर प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं—"बुध्निया ईरत ईरते

(क) दशधेति दश—धा। इन्द्रियम्॥ मा। अघशꣳस इत्यघ—शꣳसः॥ प० पा०

'धा' और 'मा' के आ का परवर्ती स्वर के साथ १०।४ से एकादेश हो गया है, क्योंकि धा और मा के बाद में असि से अन्य स्वर है।

(ख) एति। पूषा। एतु। प० पा०

पूषा के आ का परवर्ती स्वर के साथ १०।२ से एकादेश हो गया है, क्योंकि 'पूषा' के पूर्व में 'आ' नहीं है।

(ग) भाष्यकार के अनुसार आर्षे (संहिता-पाठ) का सम्बन्ध बुध्निया, ज्या, आपूषा और अमिनन्त के साथ है। आर्षे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कोई प्रत्युदाहरण होना चाहिए जहाँ उल्लिखित पदों का अन्तिम स्वर, संहिता-पाठ से अन्यत्र (=पद-पाठ में) परवर्ती स्वर के साथ एकादेश को प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐसा प्रत्युदाहरण तै० सं० के पद-पाठ में नहीं मिलता। अतः भाष्यकार कह रहे हैं कि प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में मिलेगा और वह प्रत्युदाहरण इस प्रकार का होगा—परमज्येति परम—ज्या। 'परमज्या'—यह सावग्रह पद है। अतः पद-पाठ में इस पद का उच्चारण करके तदनन्तर इसका विभाग के साथ उच्चारण करना चाहिए। इसके लिए दोनों उच्चारणों के मध्य में 'इति' को रखा जाता है। यहाँ परमज्या और इति के मध्य में जो संधि होती है वह वैदिक (आर्ष) नहीं है। अतः ज्या के आ का परवर्ती इ के साथ एकादेश हो गया है।

---

(१) २।५।१२ (२) ५।६।३ (३) १।१।१ (४) ४।३।१३
(५) ४।६।६ (६) २।४।५ (७) १।५।१ (८) ३।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिकल्प्य प्रत्युदाहरन्ति—"बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्नियेरते"[1] इति। तदतितुच्छम् न हि वैदिकस्य सन्धेः पुनः प्रयोगमात्राद्वैदिकत्वमपैति। तथा सति संहिताम्नायस्य क्रमाम्नायस्य च ग्रहणधारणार्थेषु उपाम्नानेष्वपि वाक्येषु प्रकृतिवद्भावो न स्यात्। तस्मात् "बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्निया ईरते"[1] इत्येवमेव जटा वक्तव्या। यदप्युच्यते 'असिपरः' इत्यत्रापि आर्षग्रहणं सम्बध्यते तेन "धा असि स्वधा असि"[2] इत्यत्र "असि स्वधा"[2] इति क्रमस्य जटायां धाशब्दस्य व्युत्क्रमणसिद्धमसिपरत्वमाश्रित्य प्राप्नुवन् प्रकृतिभावो व्यावर्त्यते, तत्तदृचाम्नातसन्धेरपि एतच्छास्त्रविषयत्वं लभ्यत इति। तदप्यसारम्। आर्षग्रहणस्य परवाक्यान्वितस्य पूर्ववाक्यान्वये प्रबलकारणाभावात्। न च विधिद्वयस्यैकसूत्रोपदेशः एकोपाधिं विना अनुपपद्यमानः सूत्रस्यान्वयं कल्पयितुमर्हति स-

---

बुध्निया बुध्नियेरते"। वह (मत) अति तुच्छ है। क्योंकि केवल पुनः प्रयोग से वैदिक संधि का वैदिकत्व समाप्त नहीं हो जाता है। वैसा होने पर ग्रहण और धारण के लिए संहिता-पाठ और क्रम-पाठ के बार-बार उच्चारित किए गए वाक्यों में भी प्रकृतिभाव नहीं होगा। इसलिए "बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्निया ईरते" इस प्रकार ही जटा का उच्चारण करना चाहिए।[क] जो यह भी कहा जाता है कि 'असि बाद में होने पर'—यहाँ पर भी आर्ष शब्द का सम्बन्ध है। उस (आर्ष शब्द) से 'धा असि स्वधा असि'—यहाँ पर 'असि स्वधा'—इस क्रम-वर्ग के जटा-पाठ में व्युत्क्रमण में सिद्ध असिपरत्व (असि बाद में होने) को आश्रित करके प्राप्त होता हुआ प्रकृतिभाव व्यावृत हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप अनाम्नात संधि भी इस शास्त्र का विषय बन जाती है। वह (मत) भी असार है। दूसरे वाक्य के

(क) पूर्वपक्षी—यह कहना युक्त नहीं है कि प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में मिलेगा। इस जटा-पाठ को देखिए—"बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्नियेरते"। यहाँ द्वितीय अनुक्रमण में 'बुध्निया' के आ का परवर्ती स्वर के साथ एकादेश हो जाता है, क्योंकि द्वितीय अनुक्रमण में जो संधि है वह अवैदिक है।

सिद्धान्ती—प्रथम अनुक्रमण में जिस प्रकार संधि वैदिक (संहिता-पाठ के अनुरूप) है, उसी प्रकार द्वितीय अनुक्रमण में भी है। केवल पुनरुक्त होने के कारण वैदिक संधि अवैदिक नहीं हो जाती है। जब संहिता-पाठ और क्रम-पाठ के ग्रहण (ग्रहणाध्ययन) के समय और धारण (धारणाध्ययन = स्मृति में रखने के लिए) के समय एक-एक वाक्य का बहुत बार उच्चारण किया जाता है तब पुनरुक्त होने पर क्या वाक्य भिन्न हो जायेगा, क्या प्रातिशाख्य में विहित संधियाँ और प्रकृति-भाव वहाँ लागू नहीं होंगे? पुनरुक्त होने पर भी वैदिक संधियाँ अवैदिक नहीं हो जाती—अतः सम्बद्ध जटा-पाठ यह होगा—बुध्निया ईरत ईरते बुध्निया बुध्निया ईरते"। अतः दूसरी शाखा में ही प्रत्युदाहरण मिलेगा।

---

(१) ४।३।१३ (२) १।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यन्यथैवोपपद्यते। अवर्णपूर्वस्यैकादेशस्य प्रतिषेध्यतया विषयैक्यात्मकस्य मुख्योपाधेर्विद्यमानत्वात्। अपि च पूर्ववाक्यस्थस्य क्वचिदाकांक्षायोग्यतावशादुत्तरवाक्येऽन्वय उपपद्यते अनुवृत्तिसम्भवात्। न तु विपर्ययः। अनुवृत्त्यसम्भवात्। न चैवंविधाभिः कुसृष्टिभिर्जटाया एतच्छास्त्रविषयत्वं शक्यकल्पनम्। "रायेस इन्द्रः पूर्वश्च"[1] इत्यस्मिन् सूत्रे अविषयत्वस्य स्पष्टमुपदेक्ष्यमाणत्वात् ॥ १३ ॥

साथ अन्वित आर्षं शब्द का पूर्ववर्ती वाक्य के साथ अन्वय करने में प्रबल कारण का अभाव है। एक सूत्र में दो विधानों का कथन समान विशेषता (वैशिष्ट्य) के बिना अनुपपन्न होता हुआ सूत्र के अन्वय की निष्पत्ति कर सकता है—(यह कहना युक्त नहीं है) क्योंकि वह दूसरे प्रकार से ही उपपन्न हो जाता है। क्योंकि अवर्ण पूर्व में होने पर एकादेश का प्रतिषेध्य होना—यह विषयैक्य रूप मुख्य विशेषता (वैशिष्ट्य) विद्यमान है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती वाक्य में स्थित (शब्द) का कहीं पर आकांक्षा और योग्यता के आधार पर परवर्ती वाक्य में अन्वय उपपन्न होता है, क्योंकि (इस अवस्था में) अनुवृत्ति सम्भव है। अनुवृत्ति सम्भव न होने से इसका विपरीत (विपर्यय) नहीं होता है। और इस प्रकार की कुत्सित कल्पनाओं से जटा-पाठ को इस शास्त्र का विषय नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि "राये, सः और इन्द्रः पूर्व में होने पर तथा अकार बाद में होने पर (अस्मान् का आकार लुप्त नहीं होता है)"—इस सूत्र में यह स्पष्ट रूप से बतलाया जायेगा कि यह (जटा-पाठ) (प्रातिशाख्य का) विषय नहीं है [क]॥ १३ ॥

(क) सिद्धान्ती—सूत्र का अर्थ यह है—(१) असि बाद में होने पर धा, मा और पा का आ एकादेश को प्राप्त नहीं करता है और (२) संहिता-पाठस्थ स्वर बाद में होने पर बुध्निया, ज्या, आपूषा और अमिनन्त का अन्तिम स्वर एकादेश को प्राप्त नहीं करता।

पूर्वपक्षी—सूत्र के द्वितीय अंश में स्थित 'आर्षे' का सम्बन्ध पूर्ववर्ती अंश से भी है। पूर्ववर्ती अंश का अर्थ यह है— संहितापाठस्थ असि बाद में होने पर 'धा' मा और पा का आ एकादेश को प्राप्त नहीं करता है। 'असि स्वधा स्वधाऽस्यसि स्वधा"—इस जटा-पाठ के व्युत्क्रमण (विपरीत पाठ) में स्वधा का आ एकादेश को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि स्वधा के बाद में संहितापाठ-स्थ असि न होकर जटा-पाठस्थ असि है। इस प्रकार जटा-पाठ भी प्रातिशाख्य का विषय बन जाता है।

सिद्धान्ती—आर्षे का सम्बन्ध 'असि बाद में होने पर' के साथ नहीं हो सकता है। क्योंकि परवर्ती वाक्य से सम्बद्ध 'आर्षे' का सम्बन्ध पूर्ववर्ती वाक्य के साथ क्यों माना जाये ? ऐसा मानने में कोई प्रबल कारण नहीं है।

पूर्वपक्षी—प्रबल कारण विद्यमान है। एक सूत्र में दो विधानों को जो

---

(१) ११।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एष्टरेतनेमन्नोद्मन्नोष्ठेवः परो लुप्यते ॥ १४ ॥

भा०—अवर्णपूर्वं इति वर्त्तते। एष्टः, एतन, एमन्, ओद्मन्, ओष्ठ, एवः, इत्येवंपर अवर्णो लुप्यते। यथा—"अशीयेष्टा रायः"[1]। "शमितार उपेत न"[2]। "अपान्त्वेमन्थ्सादयामि, अपान्त्वोद्मन्"[3]। "स्वाहोष्ठाभ्यां स्वाहा"[4]। "ग्रहणस्य च"[5] इति वचनात् ओष्ठशब्दस्य सर्वविभक्त्यन्तस्य ग्रहणं भवति। यथा—"उपयाममधरेणोष्ठेन"[6]। "निरमिमतेवश्छन्दो वरिवः"[7] ॥ १४ ॥

त्रि०—एष्टः, एतन्, एमन्, ओद्मन्, ओष्ठ, एवः इत्येवम्पर अवर्णो लुप्यते। "अथावर्णपूर्वे"[8] इत्यनुवर्तनादवर्ण इति लभ्यते। "अशीयेष्टा रायः"[1]। "शमितार उपेतन"[2]। "अपां त्वेमन्थ्सादयाम्यपां त्वोद्मन्थ्सादयामि"[3]। "स्वाहोष्ठाभ्याम्"[4]।

सू० अ०—एष्टः, एतन्, एमन्, ओद्मन्, ओष्ठ और एवः—बाद में होने पर (अवर्ण) लुप्त हो जाता है।

त्रि० अ०—एष्टः, एतन्; एमन्, ओद्मन्, ओष्ठ, एवः—ये हैं; परः—बाद में जिसके वह; अवर्ण; लुप्यते=लुप्त हो जाता है। "अवर्ण पूर्व में होने पर (यह अधिकार चलेगा)"—इस (सूत्र) से अनुवृत्ति होने से अवर्ण की प्राप्ति होती है।[क]....

प्रस्तुत किया गया है उसका यही कारण है कि दोनों विधानों में समान विशेषता है और वह विशेषता यही हो सकती है कि दोनों विधानों में निर्दिष्ट पदों के अन्तिम स्वरों का परवर्ती संहितास्थ स्वर के साथ एकादेश नहीं होता है। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि 'आर्षे' का सम्बन्ध दोनों वाक्यों के साथ है।

सिद्धान्ती—दोनों विधानों में समान वैशिष्ट्य यह है—दोनों का विषय एक ही है। यदि पूछो कि वह विषय क्या है तो सुनो—दोनों में अवर्ण पूर्व में होने पर एकादेश का प्रतिषेध किया गया है। इसी समान वैशिष्ट्य के कारण दोनों विधानों को एक सूत्र में प्रस्तुत किया गया है। दूसरी बात यह है कि परिस्थिति वशात् पूर्ववर्ती वाक्य से किसी पद की अनुवृत्ति परवर्ती वाक्य में तो हो सकती है, किन्तु परवर्ती वाक्य से किसी पद की अनुवृत्ति पूर्ववर्ती वाक्य में नहीं हो सकती है। अतः परवर्ती वाक्य में स्थित आर्षे पद का सम्बन्ध पूर्ववर्ती वाक्य से हो नहीं सकता। तीसरी बात यह है कि जटा-पाठ प्रातिशाख्य का विषय हो नहीं सकता—इसका प्रतिपादन ११।९ में किया जायेगा।

(क) यद्यपि १०।३ के भाष्य में कहा गया था कि 'अवर्ण पूर्वे' की अनुवृत्ति १०।९ पर्यन्त होगी और १०।१०–१२ के द्वारा 'अवर्णपूर्वे' की अनुवृत्ति का भङ्ग कर दिया गया था। तथापि प्रस्तुत सूत्र में भी 'अवर्णपूर्वे' की अनुवृत्ति १०।३ से हो रही है।

---

(१) १।२।११ (२) ३।१।४ (३) ४।३।१ (४) ७।३।१६
(५) १।२२ (६) ५।७।१२ (७) ५।३।५ (८) १०।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओष्ठशब्दस्य सर्वावस्थस्य ग्रहणं भवति, "ग्रहणस्य च"[१] इति वचनात्। "उपयाममधरेणोष्ठेन"[२]। "निरमिमतेवश्छन्दः"[३]। अवर्णो लुप्यत इति किम्? "शित्योष्ठश्शितिभ्रुः"[४] "शित्योष्ठाय स्वाहा"[५] ॥ १४ ॥

वै०—(एष्टरेतनेमन्नोद्मन्नोष्ठेवः परः =) एष्टरित्यादिषु परेषु; अवर्णः पदान्तो लुप्यते। एष्टः—"सुत्यामशीयेष्टा रायः"[६]। एतन—"शमितार उतेतन"[७]। एमन्—"अपां त्वेमंथ्सादयामि"[८]। ओद्मन्—"अपां त्वोद्मंथ्सादयामि"[८]। ओष्टेति पदैकदेशग्रहणम्। "अधरेणोष्ठेन"[९]। "स्वाहोष्ठाभ्याम्"[१०]। एवः—"निरमिमतेवश्छन्दः"[११]। अवर्ण इति किम्? शित्योष्ठः"[१२]। एतत्पर इति किम्? "इषे त्वोर्जे त्वा"[१३] ॥ १४ ॥

इवर्णोकारौ यवकारौ ॥ १५ ॥

मा०—इवर्णश्च उकारश्च स्वरपरौ यकारं च वकारं चापद्येते यथासंख्येन। यथा—"प्रत्युष्टँ रक्षः"[१४]। "अग्नेर्यान्यसि देवानाम्"[१५]। "तस्पूतुद्रवभवत्"[१६] ॥ १५ ॥

सभी अवस्थाओं (रूपों) में स्थित ओष्ठ शब्द का ग्रहण होता है "(-अकार) सभी अवस्थाओं में स्थित प्रातिपदिक का भी (निर्देशक होता है)"—इस विधान से। "उपयाम-मधरेणोष्ठेन"। "निरमिमतेवश्छन्दः"। अवर्ण लुप्त हो जाता है—इससे क्या (लाभ) है? "शित्योष्ठश्शितिभ्रुः"। "शित्योष्ठाय स्वाहा"[क] ॥ १४ ॥

वै० अ०—(एष्टरेतनेमन्नोद्मन्नोष्ठेवः परः=) एष्टः इत्यादि बाद में होने पर-पदान्त अवर्ण लुप्त हो जाता है। एष्टः—"सुत्यामशीयेष्टा रायः"। एतन—"शमितार उपेतन"। एमन्—"अपां त्वेमंथ्सादयामि"। ओद्मन्—"अपां त्वोद्मंथ्सादयामि"। ओष्ठ—यहाँ पद के एक भाग का ग्रहण (हुआ) है। "अधरेणोष्ठेन"। "स्वाहोष्ठाभ्याम्"। एवः—"निरमिमतेवश्छन्दः"। अवर्ण—यह क्यों (कहा)? "शित्योष्ठः"। ये (एष्टः इत्यादि) बाद में हो—यह क्यों (कहा)? "इषे त्वोर्जे त्वा" ॥ १४ ॥

सू० अ०—इवर्ण (इ, ई) तथा उकार (क्रमशः) यकार और वकार (हो जाते हैं)

(क) अशीय। एष्टः ॥ उपेतनेत्युप—एतन् ॥ त्वा। एमन ॥ स्वाहा। ओष्ठाभ्याम् ॥ अधरेण। ओष्ठेन ॥ अमिमत। एवः ॥ शित्योष्ठ इति शिति—ओष्ठः ॥ शित्योष्ठायेति शिति—ओष्ठाय ॥ प० पा०

(ख) इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा ॥ प० पा०

---

(१) १।२२	(२) ५।७।१२	(३) ५।३।५	(४) ५।६।१४
(५) ७।३।१७	(६) १।२।११	(७) ३।१।४	(८) ४।३।१
(९) ५।७।१२	(१०) ७।३।१६	(११) ५।३।५	(१२) ५।६।१४
(१३) १।१।१	(१४) १।२।१०	(१५) ४।४।६	(१६) ६।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अवर्णपूर्वाधिकारो निवृत्तः। स्वरपराधिकारस्तु वर्तते। "अथ स्वरपरो यकारम्"[१] इति पूर्वाध्याये प्रक्रान्तः। इवर्णोकारौ पदान्तौ स्वरपरौ यथासंख्येन यवकारावापद्येते। "अभ्यस्थात्"[२]। "तवोत्यश्याम"[३]। "आ पूषा एत्वा वसु"[४]। दीर्घस्य प्रग्रहत्वविधानात् प्लुतस्य सन्धिनिषेधात् उकारस्य कारोत्तरत्वं कृतं—"इवर्णोकारौ यवकारौ" इति ॥ १५ ॥

वै०—अवर्णपूर्वाधिकारो निवृत्तः। (इवर्णोकारौ=) इवर्णश्च उकारश्च; यथाक्रमं; (यवकारौ=) यकारं वकारं च; आदेशं गच्छतः, स्वरे पदादौ परतः। "अन्यान्यानगाम्"[५]। "सरस्वत्याज्यभागा"[६]। "जुह्वास्यः"[७]। "अन्वह मासाः"[८]। स्वरपर इति किम्? "दधि मधु घृतमापः"[९] ॥ १५ ॥

त्रि० अ०—'अवर्ण पूर्व में होने पर'—यह अधिकार निवृत्त हो गया। 'स्वर बाद में होने पर' का अधिकार चल रहा है।[क] ('स्वरपर' का अधिकार) "अब (अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)"—यहाँ पूर्ववर्ती अध्याय में प्रारम्भ हुआ था। पदान्त; इवर्णोकारौ=इवर्ण तथा उकार; स्वर बाद में होने पर क्रमशः; यवकारौ=यकार और वकार; हो जाते हैं। "अभ्यस्थात्"। "तवोत्यश्याम"। "आ पूषा एत्वा वसु"।[ख] (४।५ से) दीर्घ (=ऊकार) प्रग्रहत्व के विधान से तथा (१०।२४ से) प्लुत के संधि का निषेध होने से—(केवल) उकार का कारोत्तरत्व किया गया है। "इवर्ण (इ, ई) तथा उकार (क्रमशः) यकार और वकार (हो जाते हैं)" ॥ १५ ॥

वै० अ०—'अवर्ण पूर्व में होने पर' का अधिकार निवृत्त हो गया। (इवर्णोकारौ=) इवर्ण (इ, ई, ई३) और उकार; पदादि स्वर बाद में होने पर; क्रमशः; (यवकारौ=) यकार और वकार; रूप आदेश को प्राप्त करते हैं।—[ग] ॥१५॥

(क) इवर्ण (=इ, ई, ई३) के समान प्रस्तुत सूत्र में उवर्ण (=उ, ऊ, ऊ३) का ग्रहण न करके उकार (=उ) का ग्रहण किया गया है, क्योंकि ऊ के प्रग्रह होने का ४।५ में विधान किया गया है और 'प्रग्रह' होने के कारण वह प्रस्तुत सूत्र से यकार नहीं होता है। ऊ ३ की १०।२४ से संधि नहीं होती है। अतः यह भी प्रस्तुत सूत्र से यकार नहीं हो सकता है।

(ख) अभीति। अस्थात् ॥ तव। ऊती। अश्याम ॥ एति। पूषा। एतु। एति ॥ प०पा०

(ग) अतीति। अन्यान्। अगाम् ॥ सरस्वती। आज्यभागेत्याज्य—भागा ॥ जुह्वास्य इति जुह्व—आस्यः ॥
दधि। मधु। घृतम्। आपः ॥ प० पा०

---

(१) ६।१० (२) ४।२।८ (३) १।३।१४
(४) २।४।५ (५) १।३।५ (६) २।२।६
(७) १।४।४६ (८) १।७।१३ (९) २।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तः स्वरितम् ॥ १६ ॥

मा०—उदात्तयोस्तयोरिवर्णोकारयोः परोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते। यथा—"विष्णु-रुय्यक्षरेण त्रीन्"[१]। "ऊश्यश्यामरीयँ रयिवः"[२]। "स्विष्टिन्नो अभिवसीयो नयन्तु"[३]। उदात्तयोरिति किम्? "नीचा तं धक्ष्यत सं न शुष्कम्"[४]। परोऽनुदात्त इति किम्? "यद्दृच्यध्यक्षयाणि यज्जगत्या"[५] ॥ १६ ॥

त्रि०—चकारः पूर्वसूत्रोक्तनिमित्तिनाविवर्णोकारावन्वादिशति। उदात्तयोरिवर्णो-कारयोः परोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते। "थे वैने न"[६]। "अपस्वग्ने"[७]। उदात्तयोरिति किम्? "नीचा तं धक्ष्यतसम्"[४]। "मध्वग्नौ जुहोति"[८]। परोनुदात्त इति किम्? "तद्दृच्यध्यक्षराणि"[५]। "स त्वै यजेत"[९]। "इन्नवा उपस्तीर्णम्"[१०] ॥ १६ ॥

वै०—चशब्द इवर्णोकारौ कार्यभाजावन्वादिशति। तयोरुदात्तयोर्यकारवकारादेशे ततः परोऽनुदात्तः स्वरितं गच्छति। "न्यु शीर्षाणि मृड्ढ्वम्"[११]। "इन्द्रिया-ण्येव भवति"[१२]। "स त्वेवेष्टापूर्ती"[१३]। उदात्तयोरिति किम्? "अध्यवोचदधि-वक्ता"[१४]। "अधिपन्यसि"[१५]। "ते अवन्त्वस्मान्"[१६]। परोऽनुदात्त इति किम्? "दुर्या अभ्येहि"[१७]। "स त्वै यजेत"[१८] ॥ १६ ॥

सू० अ०—यदि (इवर्ण तथा उकार) उदात्त हों तो बाद वाला अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)।

त्रि० अ०—चकार पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गए निमित्तिनों (=कार्य को प्राप्त करने वाले वर्णों=) इवर्ण तथा उकार का अन्वादेश करता है। उदात्तयोः=उदात्त इवर्ण और उकार; परोऽनुदातः=बाद में स्थित अनुदात्त; स्वरित हो जाता है।...क ॥ १६ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) कार्य को प्राप्त करने वाले इवर्ण तथा उकार का अन्वादेश करता है। उदात्तयोः= उदात्त के रूप में

(क) वीति। एव। एने न ॥ अप्स्वित्यप्—सु। अग्ने ॥ तम्। धक्षि। अतसम् ॥ मधु। अग्नौ ॥ ऋचि। अधीति। अक्षराणि ॥ तु। वै। यजेत ॥ नु। वै। उपस्तीर्णमित्युप—स्तीर्णम् ॥ प० पा०

---

(१) १।७।१	(२) १।३।१४	(३) ३।१।६	(४) १।२।१४
(५) २।४।११	(६) ५।३।११	(७) ४।२।११	(८) २।३।२
(९) २।६।६	(१०) १।६।७	(११) १।६।३	(१२) २।१।६
(१३) १।७।३	(१४) ४।५।१	(१५) ४।४।२	(१६) २।६।१२
(१७) १।६।३	(१८) २।६।६		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊभावे च ॥ १७ ॥

मा०—पूर्वेणोदात्तेन परेणानुदात्तेन उभावेकीकृते स ऊकारः स्वरितो भवति। "सून्नीयमिव"[१]। "सूद्गाता स्वध्वर्युः"[२]। "मासूत्तिष्ठन् नृम्नोति"[३]। पूर्वेणोदात्तेनेति किम्? "सूपस्था देवो वनस्पतिः"[४]। परेणानुदात्तेनेति किम्? "ता दिचूपादधत"[५]। तेन चशब्दः पूर्वस्य चोदात्तत्वं परस्य चानुदात्तत्वमन्वादिशति ॥ १७ ॥

त्रि०—चकारः उदात्तपूर्वत्वानुदात्तपरत्वाकर्षकः। पूर्वेणोदात्तेन परस्यानुदात्तस्य ऊभावे क्रियमाणे स्वरितं जानीयात्। यथा—"सून्नीयमिव"[१]। "सूद्गाता"[२]। "मासूत्तिष्ठन्"[३]। "दिक्षूपं दधाति"[५]। पूर्वेणोदात्तेनेतिकिम्? "सूपस्था देवः"[४]। परस्यानुदात्तस्येति किम्? "ता दिक्षूपादधत"[५] ॥ १७ ॥

वै०—चशब्देन पूर्वसूत्रपदानि चशब्दव्यतिरिक्तान्यन्वादिश्यन्ते। तेषां यथोचितं विपरिणामः। उदात्तस्योकारस्य परेणानुदात्तेनोकारेण सह ऊभावे सति तावुभौ स्वरितमादेशं गच्छतः। गुणप्रधानोऽयं विधिः। गुणिस्वरस्य "दीर्घंसमानाक्षरे"[६] इति

विद्यमान; उन (=इवर्ण और उवर्ण) का यकार और वकार आदेश होने पर उनके; परोऽनुदात्तः= बाद में स्थित अनुदात्त; स्वरित हो जाता है।...क ॥ १६ ॥

सू० अ०—(पदान्त उदात्त उकार के साथ पदादि अनुदात्त उकार की संधि से) ऊ होने पर भी (वे दोनों स्वरित हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) उदात्तपूर्वत्व और अनुदात्तपरत्व की अनुवृत्ति करता है। पूर्ववर्ती उदात्त के साथ परवर्ती अनुदात्त का; ऊभावे= ऊभाव किया जाने पर; स्वरित जानना चाहिए।...ख ॥ १७ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द से पूर्ववर्ती सूत्र में स्थित 'च' शब्द से अतिरिक्त पदों का अन्वादेश होता है। उनका यथोचित विपरिणाम (कर लेना चाहिए)। उदात्त उकार का बाद वाले अनुदात्त उकार के साथ; ऊभावे=ऊभाव होने पर; वे दोनों स्वरित रूप आदेश को प्राप्त करते हैं। यह विधि गुण (accent) प्रधान है, क्योंकि गुणी स्वरों (vawel)का "समानाक्षर के बाद में उसका सवर्ण

(क) नीति। उ। शीर्षाणि। मृड्ढ्वम् ॥ सः। तु। ए व। इष्टापूर्तीतीष्ट—पूर्ती ॥ इन्द्रियावी। एव। भवति ॥ अधीति। अवोचत्। अधिवक्तेत्यधि—उक्ता ॥ अधिपत्नीत्यधि—पत्नी। असि ॥ ते। अवन्तु। अस्मान्। अभि। एति। इहि ॥ प० पा०

(ख) सून्नीयमिति सु—उन्नीयम् ॥ सूद्गातेति सु—उद्गात। मासु। उत्तिष्ठन्नित्युत्—तिष्ठन् ॥ दिक्षु। उपदधातीत्युप—दधाति ॥ प० पा०

---

(१) ६।२।४ (२) ७।१।८ (३) ७।५।२
(४) १।२।२ (५) ५।५।५ (६) १०।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहितत्वात्। "सूनीयमिव"[1]। "सूद्गाता"[2]। "मासूत्तिष्ठन्"[3]। उदात्तस्येति किम्? "दधत्खे"[4]। परेणानुदात्तेन किम्? "ता दिक्षूपादधत"[5]। "उदात्तमुदात्तवति"[6] इत्यस्यायमपवादः॥ १७॥

न स्येती मिथुनी॥ १८॥

मा०—श्येती, मिथुनी, इत्येतयोर्ग्रहणयोरिवर्णः यकारं नापद्यते। यथा—"श्यैतेन इयेती अकुरुत"[7]। "न मिथुनी अभवन् तासु"[8]॥ १८॥

त्रि०—श्येती, मिथुनी इत्येतयोरन्त्यस्वरो यश्चाविहितं यत्वं नापद्यते। यथा—"श्यै॒तेन॑ इये॒ती अकुरुत"[7]। "न मिथुनी अभवन्"[8]॥ १८॥

वै०—श्येती, मिथुनी इत्येतयोः यश्चोक्तं सन्धिकार्यं न भवति स्वरे परतः। "श्यैतेन इयेती अकुरुत"[7]। "न मिथुनी अभवन्"[8]॥ १८॥

(स्वर) हो तो (वे दोनों स्वर) एक दीर्घ (स्वर) (हो जाते हैं)"—से विधान किया जा चुका है।(क)....। बाद वाले अनुदात्त से क्या (लाभ) है? "ता दिक्षूपादधत"। "उदात्त वाला (वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर हो तो वे दोनों) उदात्त (हो जाते हैं) अथवा उदात्त वाली (संधि) में (परिणाम) उदात्त (होता है)"—इस (सूत्र) का यह (सूत्र) अपवाद है॥ १७॥

सू० अ०—श्येती और मिथुनी (का ईकार यकार) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—श्येती और मिथुनी का अन्तिम स्वर विधान (१०।१५) के अनुसार यत्व को; न=नहीं; प्राप्त करता है।—ख॥ १८॥

वै० अ०—श्येती और मिथुनी—इनमें जैसा (१०।१५ में) कहा गया है वैसा संधि—कार्य; न=नहीं; होता है, स्वर बाद में होने पर।...॥ १८॥

(क) तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत सूत्र में गुण (धर्म) के रूप में विद्यमान स्वरों (accents) की संधि का विधान किया गया है। गुणी (धर्मी) के रूप में विद्यमान स्वरों (vawels) की सम्बद्ध संधि का विधान तो पहले ही १०।२ में किया जा चुका है।

(ख) श्यै॒तेन॑। इये॒ती। अकुरुत॥ न। मिथुनी। अभवन्॥ प० पा०

---

(१) ६।२।४ (२) ७।१।८ (३) ७।५।२
(४) ४।१।६ (५) ५।५।५ (६) १०।१०
(७) ५।५।८ (८) ५।३।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ ॥ १९ ॥

मा०—अवर्णपूर्वौ स्वरपरौ यवकारौ लुप्येते। यथा—"आप उन्दन्तु जीवसे"[१]। "ध्रुवा अस्मिन् गौपतौ स्यात"[२]। "न विचित्या३ इति"[३]। एवं नकारलोपः सर्वत्र द्रष्टव्यः। वकारस्य—"वाय इष्टये दुरोणे"[४]। "तावेवास्मिन् चक्षुर्धत्तः"[५] अवर्णपूर्वस्वादिति किम्? "अभ्यस्थात्"[६]। "अग्नेर्यान्यसि"[७]। "ह्रस्वसः"[८]। "अमर्त्यो मर्त्यान्"[९] ॥ १९ ॥

त्रि०—अवर्णपूर्वौ स्वरपरौ; (यवकारौ=) यकारवकारौ; लुप्येते। यथा—"आप उन्दन्तु"[१]। "ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात"[२]। "न विचित्या३ इति"[३]। "इम एवास्मै"[१०]। "आसामहा एवेमौ"[११]। "वायविष्टये दुरोणे"[४]। "अहावनदत"[१२]। "मर्त्याँ आविवेश"[९]। एवम्पूर्वाविति किम्? "अभ्यस्थात्"[६]। "ह्रस्वसः"[८]।

सू० अ०—अवर्ण पूर्व में होने पर तो यकार और वकार लुप्त हो जाते हैं।

त्रि० अ०—अवर्णपूर्वौ = अवर्ण पूर्व में होने पर; तथा स्वर बाद में होने पर; (यवकारौ=) यकार और वकार; लुप्येते = लुप्त हो जाते हैं। जैसे—"आप उन्दन्तु"।[क] "ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात्"।[क] "न विचित्या३ इति"।[क] "इम एवास्मै"।[ख] "आसामहा एवेमौ"।[ख] "वायविष्टये दुरोणे"।[ग] "अहावनदत"।[ग] "मर्त्याँ आविवेश"।[घ] ये (अवर्ण) पूर्व में हो—यह क्यों (कहा)? "अभ्यस्थात्"।

(क) आपः। उन्दन्तु ॥ ध्रुवाः। अस्मिन्। गोपतावितिगो—पतौ। स्यात ॥ न। विचित्या३ इति वि—चित्या३ः। इति ॥ प० पा०

आपः, ध्रुवाः और विचित्याः३ का विसर्जनीय ६।१० से यकार होता है और वह यकार प्रस्तुत सूत्र से लुप्त हो जाता है।

(ख) इमे। एव। अस्मै ॥ आसामहै। एव। इमौ ॥ प० पा०

'इमे' और 'आसामहै'। के एकार और ऐकार क्रमशः ९।११ और ६।१४ से अय् और आय् होते हैं। प्रस्तुत सूत्र से अय् और आय् के यकार का लोप हो जाता है।

(ग) वायो। इष्टये ॥ अहौ। अनदत ॥ प० पा०

'वायो' और 'अहौ' के ओकार और औकार क्रमशः ६।१२ और ६।१५ से अव् और आव् होते हैं। प्रस्तुत सूत्र से वकार का लोप होना चाहिए, किन्तु १०।२१ में वकार के लुप्त होने का निषेध कर दिया गया है।

(घ) मर्त्यान्। आविवेशेत्या—विवेश ॥ प० पा०

---

(१) १।२।१ (२) १।१।१ (३) ६।१।९ (४) २।२।१२
(५) २।२।६ (६) ४।२।८ (७) ४।४।६ (८) ४।२।११
(९) ५।७।६ (१०) २।४।१० (११) ७।५।२ (१२) ५।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुशब्द इतरौ यवकारौ निवर्तयन्नादेशप्राप्तयोरेवानयोर्लोपविषयत्वं द्योतयति। अवर्णः पूर्वौ याभ्यां तावर्णपूर्वौ ॥ १९ ॥

वै०—अवर्णपूर्वौ इति कार्यभाज एवायं निर्देशः। (अवर्णपूर्वः=) अवर्णात्परौ; यवकारौ लुप्येते स्वरे पदादौ परतः। तुशब्देनात्र लोपानन्तरप्रसक्ति यत्स्वरसन्धिकार्यं "दीर्घं समानाक्षरे"[१] इत्यादि तद्विनिवर्त्यते। "तस्या इन्द्र एवाजायत"[२]। "त आ वहन्ति"[३]। "अक्षिर्या उन्नये"[४]। "महाꣳइन्द्रः"[५]। "कुवित्सुनो गा इष्टये"[६]। "तावब्रुताम्"[७]। "अथ स्वरपरो यकारम्"[८] इत्यादिविधिभिरेषां यवादेशः! अवर्ण-पूर्वाविति किम्? "अत्यन्थानगाम्"[९]। "अन्वह मासाः"[१०]। स्वरे परत इति किम्? "एतदुदयनं य एवं वेद"[११]। पदादाविति किम्! "वायवस्थ"[१२] ॥ १९ ॥

ह्रस्वसः"। तु शब्द अन्य यकार तथा वकार (के लोप की) निवृत्ति करता हुआ, केवल आदेश से प्राप्त ही इन (यकार तथा वकार) के लोप के विषयत्व को द्योतित करता है।[क] अवर्ण है पूर्व में जिनसे वे=अवर्णपूर्वौ ॥ १९ ॥

वै० अ०—'अवर्ण पूर्व में है जिनके'—कार्यभाक् का ही यह निर्देश है। (अवर्णपूर्वः=) अवर्ण से बाद में स्थित; यवकारौ=यकार और वकार; लुप्येते=लुप्त हो जाते हैं; पदादि स्वर बाद में होने पर। तु शब्द से यहाँ लोप के अनन्तर प्रसक्त होने वाला स्वर—सन्धि का जो कार्य "समानाक्षर के बाद में उसका सवर्ण (स्वर) हो तो (वे दोनों स्वर) एक दीर्घ (स्वर) (हो जाते हैं)" इत्यादि है उसकी निवृत्ति होती है।...। "तावब्रुताम्"[ख]। "अब (अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)" इत्यादि विधियों से इनमें यकार तथा वकार आदेश होता है। अवर्ण पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अत्यन्यान-

---

मत्यान् का नकार ६।२० से यकार होता है। प्रस्तुत सूत्र से यकार का लोप हो जाता है और १५।३ से 'अनुस्वार' का आगम होकर परिनिष्ठित रूप प्राप्त होता है।

(क) तात्पर्य यह है कि ६।१० इत्यादि सूत्रों से जो यकार और वकार अन्य वर्णों के स्थान पर आदेश के रूप में आते हैं, उन्हीं के लोप का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। अन्य यकार और वकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से नहीं होता है।

(ख) तस्याः। इन्द्रः। एव। अजायत॥ ते। एति। वहन्ति॥ अक्षित्यै। उदिति। नये। महान्। इन्द्रः॥ कुवित्। स्विति। नः। गविष्टय इति गो—इष्टये॥ तौ। अब्रुताम्॥

---

(१) १०।२ (२) ६।१।३ (३) १।१।२ (४) १।३।१३
(५) १।३।२० (६) २।६।११ (७) २।६।७ (८) ६।१०
(९) १।३।५ (१०) १।७।१३ (११) १।६।११ (१२) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोख्यस्य ॥ २० ॥

मा०—उख्यो नामाचार्यः। तस्य न खलु अवर्णपूर्वौ यकारवकारौ लुप्येते। "आप उन्दन्तु"[१]। "वायविष्टये दुरोणे"[२]। "तावेवास्मिन् चक्षुर्धत्तः"[३]। एवं सर्वत्र ॥ २० ॥

त्रि०—उख्यस्य शाखिनः पक्षे अवर्णपूर्वौ यवकारौ न लुप्येते। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ २० ॥

वै०—उख्यस्य शाखिनः पक्षे अवर्णपूर्वौ यवकारौ न लुप्येते। उक्तान्येवोदाहरणानि। "तस्या यिन्द्र येवाजायत"[४]। "अथ स्वरपरो यकारम्"[५]। इत्यादिविधिभिरेषां यवकारादेशः। अवर्णपूर्वाविति किम्? "अत्यन्यानगाम्"[६]। "अन्वह मासाः"[७]। स्वरपर इति किम्? "उदयनं य एवं वेद"[८] ॥ नेदं सूत्रद्वयमुक्तमिष्टम् ॥ २० ॥

गाम्"। "अन्वह मासाः"।[क] स्वर बाद में होनें पर—यह क्यों (कहा)? "एतदुदयनं य एवं वेद"। पदादि—यह क्यों (कहा)? "वायवस्थ"[ख] ॥ १९ ॥

सू० अ०—उख्य (आचार्य) के अनुसार (यकार और वकार का लोप) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—उख्यस्य=उख्य आचार्य के मत में; अवर्ण है पूर्व में जिसके ऐसे यकार और वकार का लोप; न=नहीं; होता है। उदाहरण कह ही दिए गए हैं ॥ २० ॥

वै० अ०—उख्यस्य=उख्य आचार्य के मत में; अवर्ण है पूर्व में जिनके ऐसे यकार और वकार का लोप; न=नहीं; होता है। उदाहरण कह ही दिए गए हैं। "तस्या यिन्द्र येवाजायत"। "अब (अवर्णपूर्व विसर्जनीय) स्वर बाद में होने पर यकार (हो जाता है)" इत्यादि विधियों से इनमें यकार और वकार का आदेश नहीं हुआ है। अवर्ण पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अत्यन्यानगाम्"। "अन्वह मासाः"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "उदयनं य एवं वेद"[ग]। पहले कहे गए ये दो सूत्र (१०।१९, २०) अभीष्ट नहीं है ॥ २० ॥

(क) अतीति। अन्यान्। अगाम्॥ अन्विति। अहः। मासाः॥ प० पा०

(ख) वायवः। स्य॥ प० पा०

(ग) तस्याः। इन्द्रः। एव। अजायत॥ उदयनमित्युत्—अयनम्। यः। एवम्॥ प० पा०

---

(१) १।२।१ (२) २।२।१२ (३) २।२।६ (४) ६।१।३
(५) ६।१० (६) १।३।५ (७) १।७।१३ (८) १।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वकारस्तु साङ्कृत्यस्य ॥ २१ ॥

मा०—साङ्कृत्यस्याचार्यस्य अवर्णपूर्वो वकारो न लुप्यते। "वायविष्टये दुरोणे"[१]। "तावेवास्मिन् चक्षुर्धत्तः"[२]। एवं सर्वत्र। तुशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते—विधौ प्राप्ते प्रतिषेध एव भवति, न विधिरिति विधिनिवर्तयित्वा प्रतिषेधं करोति। तुशब्दस्य विनिवर्तकत्वात् ॥ २१ ॥

त्रि०—सान्निध्यान्निषेधो लभ्यते। साङ्कृत्यस्य मते अवर्णपूर्वो वकारो न लुप्यते, यकारस्तु लुप्यत एवेत्यर्थः। "वायविष्टये"[१]। "अहावनदत[३]"। पूर्वाचार्यमतनिवर्तकः तुशब्दः। सूत्रमिदमेवेष्टम्। न तु पूर्वद्वयं परद्वयं च ॥ २१ ॥

वै०—तुशब्दो यकारं विनिवर्तयति। ततो यलोपविषये पूर्ववत्सन्धिकार्यनिवृत्तिः। साङ्कृत्यस्य मते यथोक्तो वकारो न लुप्यते—ओकारे औकारे च विषये। न त्वेवं यकारः। लुप्यत एवेति यावत्। "त्वमग्ने व्रतपा असि"[४] "त आ वहन्ति"[५]। "गविष्टयेऽग्ने"[६]। तावब्रूताम्"[७] ॥ २१ ॥

सू० अ०—साङ्कृत्य (आचार्य) के अनुसार (अवर्णपूर्व) वकार (लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—सान्निध्य से (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध की प्राप्ति होती है। साङ्कृत्यस्य = साङ्कृत्य (आचार्य) के मत में; अवर्ण है पूर्व में जिसके वह वकार लुप्त नहीं होता है। यकार तो लुप्त होता है—यह अर्थ है। "वायविष्टये"। "अहावनदत"[क]। तु शब्द पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की निवृत्ति करता है। यह सूत्र ही इष्ट है। न कि पूर्ववर्ती दो (१०।१९,२०) और परवर्ती (१०।२२,२३) दो (सूत्र) (इष्ट) नहीं हैं ॥ २१ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द यकार की निवृत्ति करता है। इसलिए यकार के लोप के स्थल में पूर्व के समान सन्धिकार्य की निवृत्ति होती है। साङ्कृत्यस्य = साङ्कृत्य के मत में; पूर्वोक्त वकार का लोप नहीं होता है, जो (वकार) ओकार और औकार के स्थान पर आता है। यकार के विषय में यह बात नहीं है। वह तो लुप्त हो ही जाता है। "त्वमग्ने व्रतपा असि"। "त आ वहन्ति"। "गविष्टयेऽग्ने"। तावब्रूताम्"[ख]।

(क) वायो। इष्टये ॥ अहो। अनदत ॥ प० प०

(ख) त्वम्। अग्ने। व्रतपा इति व्रत–पाः। असि ॥ ते। एति। वहन्ति ॥ गविष्टय इति गो–इष्टये। अग्ने ॥ तौ। अब्रूताम् ॥ प० पा०

---

(१) २।२।१२ (२) २।२।६ (३) ५।६।१ (४) १।२।३
(५) १।१।२ (६) २।६।११ (७) २।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उकारौकारपरौ लुप्येते माचाकीयस्य ॥ २२ ॥

मा०—उकारपरौ औकारपरौ च अवर्णपूर्वौ यकारवकारौ लुप्येते। यथा—"मित्रावरुणावन्ता उत धर्मवन्ता मरुत्वता अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुः" (?) उकारपरौ—"आप उन्दन्तु"[१]। "शतक्रत उद्वँशमिव"[२]। ओकारपरौ—"या जाता ओषधयः"[३]। उकारौकारपराविति किम्? "त एनं भिषज्यन्ति"[४]। "विष्णवे हीदमाहरिष्यावः"[५]। इति माचाकीयस्याचार्यस्य मतम् ॥ २२ ॥

त्रि०—यकारवकारावर्णपूर्वौ उकारौकारपरौ लुप्येते, यथासङ्ख्यं माचाकीयस्याचार्यस्य मते। "आपु उन्दन्तु"[१क]। "शतक्रत उद्व॰शम्"[२क]। "या जाता ओषधयः"[३क]। एवम्पराविति किम्? "त एनं भिषज्यन्ति"[४ख]। "वायविष्टये"[६ख] लुप्येते इति इह पुनरारम्भः पूर्वसूत्रद्वयस्थितनञ्सम्बन्धशङ्कानिराकरणार्थः ॥ २२ ॥

वै०—माचाकीयस्य मते अवर्णपूर्वौ वकारौ लुप्यते; (उकारौकारपरौ=) उकारे ओकारे च पदादौ परतः। बह्वृचानामयं पक्षः। लुप्यत इति पुनर्वचनं प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम्। अत्र "वाय उक्थेभिर्जरन्तः" इत्यादि दशतय्यामुदाहरणं द्रष्टव्यम्। एवंपर इति किम्?

सू० अ०—माचाकीय (आचार्य) के अनुसार उकार तथा ओकार बाद में होने पर (यकार और वकार) लुप्त हो जाते हैं।

त्रि० अ०—अवर्णपूर्व यकार तथा वकार क्रमशः[ग]; उकारौकारपरौ=उकार और ओकार बाद में होने पर; लुप्येते=लुप्त हो जाते हैं; माचाकीयस्य=माचाकीय आचार्य के मत में।...। 'लुप्त हो जाते हैं'—इसका यहाँ पुनः ग्रहण पूर्ववर्ती दो सूत्रों में स्थित 'नञ्' (निषेध) के सम्बन्ध की शंका के निराकरण के लिए है ॥ २२ ॥

वै० अ०—माचाकीयस्य=माचाकीय के मत में; अवर्ण है पूर्व में जिसके वह वकार लुप्त हो जाता है; (उकारौकारपरौ=) पदादि उकार और ओकार बाद में होने पर। ऋग्वेदियों का यह मत है। 'लुप्त हो जाता है'—यह दोबारा कथन प्रतिषेध की निवृत्ति के लिए है। यहाँ "वाय उक्थेभिर्जरन्तः" इत्यादि दशतयी (ऋग्वेद) का उदाहरण देखना चाहिए। ये (उकार और ओकार) बाद में हों—यह क्यों

(क) आपः। उन्दन्तु ॥ शतक्रतविति शत—क्रतो। उदिति। व॰शम् ॥ याः। जाताः। ओषधयः ॥ प० पा०

(ख) ते। एनम्। भिषज्यन्ति ॥ वायो। इष्टये ॥ प० पा०

(ग) उदाहरणों को देखने से यह पता लगता है कि भाष्य में 'यथासंख्यम्' पद अनर्थक है।

---

(१) १।२।१ (२) १।६।१२ (३) ४।२।६ (४) २।३।११
(५) २।४।१२ (६) २।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वायवायाहि दर्शता"। अन्ये तु 'लुप्येते' इति द्विवचनान्तं पठन्तो यवकारयोर्यथाक्रमं निमित्तद्वयसम्बन्धमाहुः ॥ २२ ॥

लेशो वात्सप्रस्यैतयोः ॥ २३ ॥

मा०—वात्सप्रो नामाचार्यः। तस्यावर्णपूर्वयोः यकारवकारयोः लेशः स्यात्। एतयोरित्युकारौकारौ निर्दिशति। लेशो नाम नाश इत्यर्थः। लुप्तवदुच्चार्यते। एतान्येवोदाहरणानि ॥ २३ ॥

त्रि०—वात्सप्रस्य मते; (एतयोः=) यकारवकारयोः अवर्णपूर्वयोः; लेशः स्यात्। लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणम्। एतयोरित्युकारौकारपरौ निर्दिशति। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ २३ ॥

वै०—लुप्यंत इत्यन्वयः। वात्सप्रस्य मते एतयोर्यवकारयोः लेशः एकदेशः यत्रोक्तविषये लुप्यते। एकदेशस्तु श्रूयते। तान्येवोदाहरणानि। न चेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ २३ ॥

न प्लुतप्रग्रहौ ॥ २४ ॥

मा०—(?) "——(विचार्य) माणानां प्लुत" इति प्लुतो भवति। न खलु प्लुतं च प्रग्रहं च अयं वा अवं वा एकादेशं वा विकारं वा आपद्यते। यथा विधौ प्रतिषिद्धे

(कहा)? "वायवायाहि दर्शता"। दूसरे लोग तो 'लुप्त हो जाते हैं'—इस द्विवचन का पाठ करते हुए क्रम से यकार और वकार—इन दो का यथाक्रम दो निमित्तों (उकार और ओकार) से सम्बन्ध बतलाते हैं ॥ २२ ॥

सू० अ०—वात्सप्र (आचार्य) के अनुसार इन (यकार और वकार) का लेश (लुप्तवत् उच्चारण) (होता है)।

त्रि० अ०—वात्सप्रस्य=वात्सप्र (आचार्य) के मत में; एतयोः=इन=अवर्ण है पूर्व में जिनके ऐसे यकार और वकार का; लेश होता है। लेश का अर्थ है लुप्त के समान उच्चारण। इनका—यह उकारपर (उकार है बाद में जिसके) तथा ओकारपर (ओकार है बाद में जिसके) का निर्देश करता है। उदाहरण कह ही दिए गए हैं ॥ २३ ॥

वै० अ०—'लुप्त होता है'—यह अन्वय है। वात्सप्रस्य= वात्सप्र के मत में; एतयोः= इन यकार और वकार का; लेश=यथोक्त स्थल में एकदेश लुप्त हो जाता है, एकदेश तो सुनाई पड़ता है। उदाहरण वे ही हैं। ये दो सूत्र (१०।२२,२३) अभीष्ट नहीं हैं ॥

सू० अ०—प्लुत तथा प्रग्रह (स्वर) (सन्धिकार्य को) नहीं (प्राप्त करते हैं)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यस्मिंश्चानारभ्यमाणे प्रकृतिवद्भवति । यथा प्लुतः—"अस्तुहीऽ३ इत्यब्रूताम्"[१] । "चेतन्याऽ३ उत्ताना"[२] इति प्रग्रहः । "ते एनमभि समनह्येताम्"[३] । इन्दो इन्द्रियावतः"[४] । "मानवी ऋचौ धाय्ये"[५] ॥ २४ ॥

त्रि०—न खलु प्लुतप्रग्रहौ सन्धिविधिं भजेते । यथा—"अस्तु हीऽ३ इत्यब्रूताम्"[६] । "ते एनमभि"[७] । इत्यादिविधौ निषिद्धे अन्यस्मिंश्चानारभ्यमाणे प्रकृतिवद्भवति ॥ २४ ॥

वे०—(प्लुतप्रग्रहौ =) प्लुतश्च प्रग्रहश्च; यत्रोक्तं सन्धिकार्यं न गच्छतः स्वरे पदादौ परतः । प्लुतः—"छिनत्तीऽ३ इति"[८] । "सुश्लोकांऽ३ इति सु—श्लोकांऽ३"[९] । प्रग्रहः—"इन्द्रवायू इमे सुताः"[१०] । "सो एवैषैतस्य"[११] । "अच्छिद्रे इति"[१२] । "बहुले इति"[१२] । "उभे इति"[१२] ॥ २४ ॥

परश्च परश्च ॥ २५ ॥

मा०—लुप्तयोश्च यकारवकारयोः परस्य स्वरस्य पुनः सिद्धिर्न भवति । यथा—"आप उन्दन्तु"[१३] । "अग्र इमं यज्ञम्"[१४] । लुप्तयोर्यकारवकारयोरिति किम् ? "सौषधीरनु रुध्यसे"[१५] । "सैनाऽनीकेन"[१४] इति ॥ २५ ॥

त्रि० अ०—प्लुतप्रग्रहौ = प्लुत और प्रग्रह; सन्धि के विधानों (नियमों) को; न = नहीं; प्राप्त करते हैं । जैसे—'अस्तु हीऽ३ इत्यब्रूताम्" । "ते एनमभि"क इत्यादि में संधि—विधि (संधि के नियमों) का निषेध होने पर और किसी अन्य विधि (नियम) का कथन न होने से प्रकृतिवत् होता हैं ।

वे० अ०—(प्लुतप्रग्रहौ =) प्लुत और प्रग्रह; पदादि स्वर बाद में होने पर पूर्वोक्त सन्धियों के कार्य को; न = नहीं; प्राप्त करते हैं । प्लुत—"छिनत्तीऽ३ इति" । "सुश्लोकांऽ३ इति सु-श्लोकांऽ३" । प्रग्रह—"इन्द्रवायू इमे सुताः" । "सो एवैषैतस्य' ख । "अच्छिद्रे इति" । "बहुले इति" । "उभे इति" ॥ २४ ॥

सू० अ०—(यकार और वकार का लोप होने पर) दूसरी (संधि नहीं होती है) ।

(क) अस्तु । हीऽ३ । इति । अब्रूताम् ॥ ते इति । एनम् ॥ प० पा०

(ख) छिनत्तीऽ३ । इति ॥ सुश्लोकांऽ३ इति सु—श्लोकांऽ३ ॥ इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू । इमे । सुताः ॥ सो इति । एव । एषा ॥ प० पा०

---

(१) ७।१।६ (२) ५।५।३ (३) २।५।६ (४) १।४।२७
(५) २।२।१० (६) १।७।२ (७) १।८।१६ (८) १।४।४
(९) २।५।५ (१०) ४।१।३ (११) १।२।१ (१२) १ १।५
(१३) ४।२।३ (१४) ४।३।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकाराकृष्टयोर्यकारवकारयोर्लोपे सति परः सन्धिर्न भवति। यथा—"आप उन्दन्तु"[१]। "अग्र इमम्"[२]। सान्निध्यान्निषेधो लभ्यते। ननु लोपे सतीत्येतावतैवालं, यकारवकारयोरिति किम्? "सेदु होता"[३]। "सैनाऽनीकेन"[४]। "सौषधीरनु"[५] इत्यादि ॥ २५ ॥

वै०—चशब्देन प्रतिषेधः अन्वादिश्यते। अनन्तरोक्तात्प्लुतात्परस्स्वरो यथोक्तं सन्धिकार्यं न गच्छति स्वरे पदादौ परतः। "अग्ना३इ इत्याह"[६]। यज्ञपता३ उ इति"[७]। प्लुतादिति किम्? "नार्तिमार्च्छति"[८]। नेदं सूत्रमिष्टम्। अन्ये तु यत्रलोपात्परस्य

त्रि० अ०—चकार से आकृष्ट यकार और वकार का लोप होने पर; परः= दूसरी; संधि नहीं होती है। जैसे—"आप उन्दन्तु"। "अग्र इमम्"। सान्निध्य से निषेध की प्राप्ति होती है। (शंका) 'लोप होने पर'—यह कहना ही पर्याप्त है, यकार और वकार का लोप होने पर—यह क्यों (कहा)? "सेदु होता"। "सैनाऽनीकेन" "सौषधीरनु" इत्यादि[क] ॥ २५ ॥

वै० अ०—च शब्द से (पूर्ववर्ती सूत्र से) प्रतिषेध का अन्वादेश होता है। अव्यवहित (पूर्व) में उच्चारित प्लुत से; परः=बाद में स्थित; स्वर पूर्वोक्त सन्धि के कार्य को नहीं प्राप्त करता है, पदादि स्वर बाद में होने पर। "अग्ना३ इ इत्याह"।[ख] "यज्ञपता३ उ इति"।[ग] प्लुत से बाद में स्थित—यह क्यों (कहा)? नार्ति—

(क) आपः। उन्दन्तु ॥ सः। इत्। उ। होता ॥ सः। एना। अनीकेन ॥ सः। ओषधीः। अन्विति ॥ प० पा०

(ख) अग्ना३ इत्याह ॥ (सं० पा०), अग्ना३इ। इति। आह ॥ (प० पा०)

'प्लुत' स्वर के बाद में स्थित इकार की परवर्ती इकार के साथ १०।२४ से संधि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में यह कह दिया गया है कि पदादि स्वर बाद में होने पर प्लुत स्वर के बाद में स्थित स्वर संधिकार्य को प्राप्त नहीं करता है। वास्तव में प्रस्तुत सूत्र का निषेध अभीष्ट नहीं है। प्लुत से परवर्ती स्वर की संधि होती है। पूर्ण विवरण के लिए १।४ को देखिए।

(ग) यज्ञपता३ विति ॥ (सं० पा०), यज्ञपता३ वीति यज्ञपता३उ। इति ॥ (प०पा०)

'प्लुत' स्वर के बाद में स्थित इकार की परवर्ती इकार के साथ १०।२४ से संधि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में यह कह दिया गया है कि पदादि स्वर बाद में होने पर 'प्लुत' स्वर के बाद में स्थित स्वर संधि-कार्य को प्राप्त नहीं करता है। वास्तव में प्रस्तुत सूत्र का निषेध अभीष्ट नहीं है। प्लुत से परवर्ती स्वर की संधि होती है। पूर्ण विवरण के लिए १०।१६ को देखिए।

---

(१) १।२।१ (२) १।१।५ (३) १।१।१४
(४) ४।३।१३ (५) ४।२।३ (६) ६।५।८
(७) ६।६।२ (८) १।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरस्य सन्धिकार्यमनेन सूत्रेण निषिध्यत इति इष्टार्थविषयं व्याचक्षते। तदविचारितरमणीयम्। तथाहि—यवलोपस्थानविषयस्य स्वरसन्धेस्तद्विधावेव तुशब्देन निवर्तितत्वात् न तदर्थमिदं सूत्रमारम्भणीयम्। न चानेन तत्रत्यस्वरसन्धिः शक्यो निवारयितुम्। न्यायविरुद्धं हि व्यवहितस्य यवलोपस्यावधित्वाश्रयणम्। ग्रन्थच्छायाविरुद्धं च। यदीह यवलोपस्यावधित्वमैषिष्यदाचार्यस्तदा तद्विध्यनन्तरमेव 'नपरः' इति ब्रूयात्। दोषवच्च तस्यावधित्वाश्रयणम्। "एतत्ते अग्ने राध ऐति"[1]। "इड एह्यदित एहि"[2] इत्यादावाङः

मार्ष्टि"।[क] यह सूत्र इष्ट नहीं है। किन्तु दूसरे लोग तो यकार और वकार का लोप होने पर बाद वाले स्वर के सन्धि-कार्य का इस सूत्र से निषेध किया गया है—इस प्रकार अभीष्ट अर्थ के विषय में इस (सूत्र) को बतलाते हैं।[ख] यह (अर्थ तभी तक) सुन्दर लगता है जब तक विचार नहीं किया जाता है। क्योंकि यकार और वकार के लोप के स्थल से सम्बद्ध स्वर-संधि की निवृत्ति तो उस विधि में ही 'तु' शब्द के द्वारा की गई है। उस (=स्वर-संधि की निवृत्ति) के लिए इस सूत्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए।[ग] और इस (सूत्र) के द्वारा वहाँ की स्वर—संधि का निवारण किया नहीं जा सकता है। क्योंकि दिखलाई न पड़ने वाले यकार और वकार के लोप का अवधि (सीमा) के रूप में आश्रय लेना नियम के विरुद्ध है। और यह ग्रन्थ की विचारधारा (भावना) के विरुद्ध भी है। यदि यहाँ यकार और वकार का अवधि के रूप में ग्रहण अभीष्ट होता तब आचार्य उसकी विधि (१०।१९) के अनन्तर ही "परवर्ती (स्वर) का (सन्धिकार्य) नहीं (होता है)" इस प्रकार कहते। उस (यकार और वकार के लोप) का अवधि के रूप में ग्रहण दोषयुक्त भी है। क्योंकि

(क) न। अर्तिम्। एति। ऋच्छति॥ स० पा०

यहाँ 'न' के अकार की परवर्ती आकार के साथ १०।२ से तथा द्वितीय 'आ' की परवर्ती ऋकार के साथ १०।६ से संधि हो गई है, क्योंकि इनमें से कोई भी 'प्लुत' स्वर के बाद में विद्यमान नहीं है।

(ख) सूत्रकार का कहना है कि यह सूत्र अभीष्ट नहीं है। इसके विपरीत दूसरे लोगों का कहना है कि यह अभीष्ट विषय का ही कथन करता है। इस सूत्र से यकार और वकार के लोप से परवर्ती स्वर के संधि-कार्य का निषेध किया गया है।

(ग) "लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ" (१०।१६) के भाष्य मे वैदिकाभरणकार ने 'तु' शब्द की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है कि 'तु' शब्द के द्वारा लोप के अनन्तर प्रसक्त स्वर-संधि के कार्य की निवृत्ति की जाती है। इस प्रकार जब १०।१६ में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा ही स्वर-संधि की निवृत्ति हो जाती है तब उसके लिए पृथक् सूत्र के निर्माण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसलिए दूसरे लोगों ने प्रस्तुत सूत्र (१०।२५) की जो व्याख्या की है वह युक्त नहीं है।

---

(१) १।४।४३ (२) १।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिभावप्रसङ्गात्। इष्टार्थविषयं हीदं सूत्रं परैरिष्यते। न हि दोषवन्तं विधिं सूत्रकारा वदन्ति। ततो यवलोपमवधिमिच्छन् सूत्रकारः "पूर्वश्च" इत्येव ब्रूयात्। एवं हि स्वरपराधिकारान्नातिप्रसङ्गः। तस्मान्नायमर्थोऽभिमतः सूत्रकारस्य इत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥ २५ ॥

इससे "एतत्ते अग्ने राध ऐति", "इड एह्यदित एहि" इत्यादि में आङ् (आ) के प्रकृतिभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। दूसरे लोगों के द्वारा इस सूत्र को अभीष्ट अर्थ से सम्बद्ध माना जाता है। किन्तु सूत्रकार दोषयुक्त विधि का कथन नहीं करते हैं। इसलिए यदि सूत्रकार यकार और वकार के लोप को अवधि के रूप में चाहते तो वे "पूर्ववर्ती (स्वर) (का संधि-कार्य नहीं होता है)—यही कहते, क्योंकि इस प्रकार स्वरपर का अधिकार होने से अतिप्रसङ्ग न होता। इसलिए सूत्रकार का यह अर्थ अभिमत नहीं है—[क] बस और अधिक विस्तार नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

(क) भाष्यकार का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र से यकार और वकार के लोप से परवर्ती संधि का निषेध किया गया है—यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि (१) यकार और वकार के लोप को अवधि (सीमा) नहीं माना जा सकता। जो लोप दृष्टिगोचर नहीं होता है उसे अवधि कैसे माना जा सकता है। दिखलाई पड़ने वाले पदार्थ को ही अवधि माना जाता है। अतः यह कहना युक्त नहीं है कि यकार और वकार के लोप से परवर्ती। ऐसा प्रस्तुत ग्रन्थ में कहीं नहीं कहा गया है; (२) यकार और वकार के लोप को यदि किसी प्रकार आचार्य अवधि मानते तो (१०।१९ में) यकार और वकार के लोप का विधान करने के तुरन्त बाद यह कहते कि लोप से परवर्ती स्वर की संधि नहीं होती है; (३) एतत्ते अग्ने राध ऐति (एतत्। ते। अग्ने। राधः। एति (आ+इति) एति ॥ प० पा०); इड एह्यदित एहि (इडे। एति। (आ+इति)। इहि। अदिते। एति (आ+इति)। इहि ॥ प० पा०)—राधः का विसर्जनीय ९।१० से यकार होता है और यकार का लोप १०।१९ से होता है। इडे और अदिते का एकार ९।११ से अय् होता है और अय् के यकार का लोप १०।१९ से होता है।

यदि यह कहा जाता है कि प्रस्तुत सूत्र से यकार और वकार के लोप से परवर्ती संधि का निषेध किया गया है तो 'राधः' से परवर्ती 'आ' की 'एति' के साथ संधि नहीं होगी, क्योंकि 'आ' के पूर्व में यकार का लोप हुआ है। उसी प्रकार इडे और अदिते से परवर्ती 'आ' की 'इहि' के साथ संधि नहीं होगी, क्योंकि 'आ' के पूर्व में यकार का लोप हुआ है। इस प्रकार आ प्रकृतिभाव से रहेगा। किन्तु इन सभी स्थलों पर संधि अभीष्ट है और प्रकृतिभाव अनिष्ट है। इस अनिष्ट के परिहार के लिए भी पूर्वपक्षी की व्याख्या त्याज्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ एकादशोऽध्यायः

लुप्यते त्वकार एकारओकारपूर्वः ॥ १ ॥

मा०—एकारपूर्वं ओकारपूर्वश्च अकारो लुप्यते। यथा—"तेऽवर्धन्त स्वतवसः"[१]। "सोऽब्रवीत्"[२] ॥ १ ॥

त्रि०—(एकारओकारपूर्वः =) एकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा; अकार लुप्यते। यथा—'तेऽब्रुवन्"[३]। "सोऽब्रवीत्"[३]। तुशब्दो "न प्लुतप्रग्रहौ"[४] इति निषेधसम्बन्धं निर्वर्त्तयतीति केचित्। स्वरपराधिकारं निवारयतीत्यपरे सङ्गिरन्ते। एकारओकारौ पूर्वौ यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ १ ॥

वै०—एकारओकारेति प्रकृतिभावश्छान्दसोऽसन्देहार्थः। (एकारओकारपूर्वः =) एकारे ओकारे च पूर्वे सति; अकारः पदादिर्लुप्यते। "प्रयुजेऽग्नये"[५]। "धर्मोऽसि"[६]। एतत्पूर्व इति किम्? "तमस्था अजाऽभ्यरुन्ध"[७]। तुशब्देन मूलशास्त्रोक्त एकादेशपक्षो

सू० अ०—एकार या ओकार पूर्व में होने पर अकार लुप्त हो जाता है।

त्रि० अ०—(एकारओकारपूर्वः=) एकार पूर्व में है जिसके अथवा ओकार पूर्व में है जिसके वह; अकार; लुप्यते=लुप्त हो जाता है। जैसे—"तेऽब्रुवन्"। "सोऽब्रवीत्"। 'तु' शब्द 'प्लुत तथा प्रग्रह (स्वर) (संधिकार्य को) नहीं (प्राप्त करते हैं)'—इस निषेध के सम्बन्ध की निवृत्ति करता है—ऐसा कतिपय आचार्य मानते हैं। (९।१० से चल रहे) 'स्वर बाद में होने पर' के अधिकार की निवृत्ति करता है—ऐसा दूसरे (आचार्य) मानते हैं। एकार तथा ओकार है पूर्व में जिससे वह वैसा कहा गया (=एकारओकारपूर्वः) है॥ १ ॥

वै० अ०—एकारओकार—यह छान्दस प्रकृतिभाव असन्देह के लिए है। (एकारओकारपूर्वः =) एकार और ओकार पूर्व में होने पर; पदादि अकार; लुप्यते=लुप्त हो जाता है। "प्रयुजेऽग्नये"। "धर्मोऽसि"। ये (एकार और ओकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तमस्था अजाऽभ्यरुन्ध"।[क] तु शब्द के द्वारा व्याकरण-शास्त्र में कहे गए एकादेश—पक्ष की निवृत्ति की गई है।[ख]

(क) 'अजा' का अकार लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि पूर्व में एकार अथवा ओकार न होकर आकार है।

(ख) प्रतिशाख्य के अनुसार ए और ओ के बाद में स्थित अ का लोप हो जाता है।

---

(१) ४।१।११ (२) २।१।२ (३) २।५।१ (४) १०।२४
(५) १।२।२ (६) १।१।८ (७) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिवर्त्यते। तत्र हि लघुतरमस्थायि लोपमनाश्रित्य "अमिपूर्वं"[१] "एङि पररूपम्"[२] इत्यादिना प्रतिपत्तिगौरवयुक्तमपि स्थायिरूपस्यैकादेशत्वमाश्रीयते। तन्निबन्धनमन्तादिवद्भावादि यथा स्यादिति। इह तु तद्भावाल्लघुतरमाश्रित्य इतरः पक्षो निवर्त्यते ॥ १ ॥

वहाँ (=व्याकरण में) सरलतर (सरलता से समझ में आने वाले) और अस्थिर (जिसमें वर्ण स्थिर न होकर लुप्त हो जाता है) लोप का आश्रय न लेकर "अम् बाद में होने पर पूर्वरूप (एकादेश होता है)"क, " एङ् (से प्रारम्भ होने वाला धातु) बाद में होने पर पररूप (एकादेश होता है)"ख इत्यादि (सूत्रों) के द्वारा स्थिर रहने वाले (वर्ण) के एकादेशत्व का आश्रय लिया जाता है, यद्यपि इसमें समझने में कठिनता होती है। जिससे उस (एकादेश) पर आधृत अन्तवद्भाव और आदिवद्भाव आदि हो जावे। यहाँ पर तो उसका अभाव होने से सरलतर (लोप-पक्ष) का आश्रय लेकर अन्य पक्ष (एकादेश-पक्ष) की निवृत्ति की जाती है[ग] ॥ १ ॥

व्याकरण के अनुसार अ का लोप नहीं होता, अपितु पूर्व-रूप एकादेश होता है। इस विषय में व्याकरण का सूत्र यह है—एङः पदान्तादति (पा० ६।१।१०९) पदान्त एङ् (ए, ओ) से बाद में अकार (अत्) होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्व-रूप एकादेश होता है। इस प्रकार ए + अ = ए और ओ + अ = ओ हो जाता है।

(क) इस सूत्र के अनुसार अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) से बाद में अम् (द्वितीया विभक्ति का एक वचन) होने पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। पूर्वरूप का अर्थ है पूर्व (पहले वाले) वर्ण का जैसा रूप है वैसा हो जाना अर्थात् दोनों के स्थान में पूर्व वाला हो जाना। जैसे—राम + अम् = रामम्; अग्नि + अम् = अग्निम्। यहाँ अ + अ = अ; इ + अ = इ।

(ख) इस सूत्र के अनुसार अवर्णान्त उपसर्ग से बाद में एङ् (ए, ओ) से आरम्भ होने वाला धातु हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो। पररूप का अर्थ है पर (= बाद वाले) वर्ण का जैसा रूप है वैसा हो जाना अर्थात् दोनों के स्थान में बाद वाला हो जाना। जैसे—प्र + एजते = प्रेजते (अ + ए = ए); उप + ओषति = उपोषति (अ + ओ = ओ)।

(ग) वैदिकाभरणकार ने एकादेश के प्रयोजन के रूप में अन्तादिवद्भाव का जो उल्लेख किया है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है—"धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यद् बहिरङ्गम्" अर्थात् धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है और अन्य कार्य बहिरङ्ग—इस परिभाषा के सामर्थ्य से शिव + आ + इहि = शिव + एहि रूप बना। यहाँ आ 'आङ्' उपसर्ग का है। 'इत्' संज्ञक होने से 'ङ्' का लोप हो जाता है। शिव + एहि—इस स्थिति में 'अवर्ण से बाद में ओम्

---

(१) पा० ६।१।१०७ (२) पा० ६।१।९४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथालोपः ॥ २ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। अलोप इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ २ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। अलोप उच्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। न लोपः, अलोप, लोपाभाव इत्यर्थः ॥ २ ॥

वै०—अलोप इति लोपाभाव उच्यते। स इहानन्तरोक्तस्याकारस्य अधिक्रियते। अत्र चतस्रः कक्ष्या भवन्ति। पूर्वसूत्रं प्रथमकक्ष्या। तदपवादभूतं "धातारातिरुप"[1] इत्यादिकमलोपविधानं द्वितीया। तदपवादभूतमनन्तराध्यायस्थं लोपविधानं तृतीया। तदपवादभूतमस्मिन्नध्याये अलोपविधानं चतुर्थीति ॥ २ ॥

सू० अ०—अब अलोप (प्रारम्भ होता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इसके आगे जो कहेंगे वहाँ अलोप कहा जाता है—यह अधिकार जानना चाहिए। लोप न होना= अलोप=लोप का अभाव—यह अर्थ है ॥ २ ॥

वै० अ०—अलोप से लोप का अभाव कहा जाता है। अव्यवहित पूर्व में कहे गए अकार का वह (=अलोप) यहाँ अधिकृत किया जाता है। यहाँ (=इस विषय में) चार कक्ष्या हैं। पूर्ववर्ती सूत्र (११।१) प्रथम कक्ष्या है। उसके अपवाद के रूप में विद्यमान "धातारातिरुप तथा उप"—इत्यादि अलोप का विधान द्वितीय (कक्ष्या) है। उसके अपवाद के रूप में विद्यमान अव्यवहित परवर्ती अध्याय का लोप-विधान तृतीय (कक्ष्या) है। उसके अपवाद के रूप में विद्यमान इस अध्याय में किया गया अलोप का विधान चतुर्थ (कक्ष्या) है ॥ २ ॥

और आङ् होने पर पररूप एकादेश होता है'। 'ओमाङोश्च' (पा० ६।१।९५) की प्राप्ति तो है, किन्तु एकादेश होने से एहि में आङ्त्व नहीं रहा। 'ए' में आङ्त्व पा० के इस सूत्र से होता है—"जो यह एकादेश होता है वह पूर्व के अन्तवत् और पर के आदिवत् होता है (अन्तादिवच्च। ६।१।८५)। तात्पर्य यह है कि एकादेश होने से पहले पूर्वसमुदाय या परसमुदाय में जो धातुत्व, प्रातिपदिकत्व, सुबन्तत्व, निपातत्व आदि व्यवहार होते हैं वे एकादेशयुक्त में भी होते हैं। जैसे, आ + इहि—यहाँ गुण एकादेश करने से पहले पूर्व समुदाय 'आ' में आङ्त्व का व्यवहार होता है। वह आङ् व्यवहार एकादेश विशिष्ट 'ए' में भी होगा। इस प्रकार 'ए' के आङ् होने से शिव + एहि—यहाँ पर 'ओमाङोश्च' से पररूप होकर 'शिवेहि' रूप सिद्ध हुआ।

वैदिकाभरणकार का कहना है कि प्रातिशाख्य में अन्तादिवद्भाव इत्यादि

---

(१) ११।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातारातिरुपवाजपेयजुष्टस्येनायोख्यध्रुवक्षितिरियमेवसायाऽग्निर्मूर्द्धारुद्र-प्रथमोपोत्तमविकर्षविहव्यहिरण्यवर्णीययाज्यामहापृष्ठ्ये ॥ ३ ॥

मा०—इत्येतेष्वनुवाकेषु एकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा अकारो न लोपमापद्यते। यथा धातारातिः—"प्रजापतिर्निधिपतिः नो अग्निः"[१] ? धातारातिरिति किम् ? "धाता देवेभ्यः" इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "उप प्रयन्तो अध्वरम्"[२]। "आरे अस्मे च शृण्वते"[३]। वाजपेय इति "देव सवितः प्रसुव"[४] इत्येतत्प्रभृति यावत् "उपयाम गृहीतः"[५] इति वाजपेयसंज्ञा भवति। "ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतः"[६]। "प्रसवः सुषुवे अग्रे"[७]। "जुष्टो वाचो भूयासम्"[८]। "यो द्रप्सो अँशुः पतितः"[९]। "श्येनाय पत्वने"[१०]। "नमः पितृभ्यो अभि ये नो अख्यन्"[११]। उख्ये—"नमो अस्तु सर्पेभ्यः"[१२]। "शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य"[१३]। "ध्रुवक्षितिः"[१४]। "ऊर्मिर्द्रप्सो अपाममसि"[१५]। ध्रुवक्षितिरिति किम् ? ध्रुवेत्यकारान्तस्य यदि ग्रहणं स्यात् "ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहम्" इत्यस्यापि ग्रहणं भवति। "इयमेव सा या"[१६]। इयमेव सेति किम् ? "इयं ते शुक्रः तनूः"[१७]। "सर्गेभ्योऽनु सत्रा"[१८] इत्येतेन पदेन ग्रहणं भवति। मन्दधियामनुग्रहाय "ईयुष्टे"[१९] इत्यनुवाकश्च। "ओ ते यन्ति अपरीषु पश्यान्"[२०]। "अग्निर्मूर्द्धा दिवः"[२१]। "एना वो अग्निनमसा"[२२]। अग्निर्मूर्द्धेति किम् ? "अग्निर्मा दुरिष्टात्"[२३]। "यो मेऽन्ति दूरेऽरातीयति"[२४]। रुद्राणामनुवाकानां प्रथमश्चोपोत्तमश्च रुद्रप्रथमोपोत्तमौ। उपोत्तममित्युप समीपवर्त्ति। रुद्रप्रथमे—"नमो अस्तु नीलग्रीवाय"[२५]। उपोत्तमे—"द्रापे अन्धसस्पते"[२६]। "उत मा नो अर्भकं मा न"[२७]। "अश्मन्नूर्जम्"[२८] इत्यतः प्रभृति पञ्चानामनुवाकानां विकर्षसंज्ञा भवति।

सू० अ०—धातारात‌ि तथा उप (अनुवाकों में), वाजपेय (संज्ञक अनुवाकों में), जुष्ट तथा श्येनाय (से प्रारम्भ होने वाले अनुवाकों में), उख्य (संज्ञक अनुवाकों में), ध्रुवक्षितिः, इयमेव सा या तथा अग्निर्मूर्द्धा (से प्रारम्भ होने वाले अनुवाकों में), रुद्र (अध्याय) के प्रथम तथा अन्तिम से पूर्ववर्ती (अनुवाकों में), विकर्ष, विहव्य, हिरण्यवर्णीय, याज्या तथा महापृष्ठ्य (अनुवाकों में) (एकार तथा ओकार पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है)।

प्रक्रिया को नहीं अपनाया गया है। इसलिए एकादेश का आश्रय भी नहीं लिया गया है। प्रातिशाख्य में सरलतर लोप-पक्ष का आश्रय लिया गया है।

---

(१) १।४।४४	(२) १।५।५	(३) १।५।५	(४) १।७।७
(५) १।७।१२	(६) १।७।८	(७) १।७।१०	(८) ३।१।१०
(९) ३।१।१०	(१०) ३।२।८	(११) ३।२।८	(१२) ४।२।८
(१३) ४।२।१	(१४) ४।३।४	(१५) ४।३।४	(१६) ४।३।११
(१७) १।२।४	(१८) १।२।४	(१९) १।४।३३	(२०) १।४।३३
(२१) ४।४।४	(२२) ४।४।४	(२३) १।६।३	(२४) १।६।३
(२५) ४।५।१	(२६) ४।५।१०	(२७) ४।५।१०	(२८) ४।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकर्षे—"पावको अस्मभ्यं शिवः"[१]। "अग्निर्भवे हविहव्य" इति त्रयाणामनुवाकानां विहव्यसंज्ञा भवति। "द्रविणं वाजो अस्मे"[२]। "सत्या मनसो मे अस्तु"[३]। हिरण्यवर्णीये—"एको देवो अप्यतिष्ठत्"[४]। याज्यायाम्—"कामेन कृतो अभि"[५]। महापृष्ठ्य इति "समिद्भिशाम्"[६], "जीमूतस्य"[७], "यदक्रन्दः"[८], "मा नो मित्रः"[९], "ये वाजिनम्"[१०], "अग्नेर्मन्वे"[११] इत्येतेषां षण्णामनुवाकानां महापृष्ठ्यसंज्ञा भवति। महापृष्ठ्ये—"विष्ठया स्तोमो अन्हाम्"[१२]। "त्विरस्वद्वाते अभि नो गृणाहि"[१३]। महापृष्ठ्य इति किम्? "पृथिवी तेऽन्तरिक्षेण वायुः"[१४] ॥ ३ ॥

त्रि०—(धातारातिरुपवाजपेयजुष्टश्येनायोख्यध्रुवक्षितिरियमेवसायाऽग्निर्मूर्द्धा-रुद्रप्रथमोपोत्तमविकर्षविहव्यहिरण्यवर्णीययाज्यामहापृष्ठ्ये=) धातारातिरित्यादिष्वनुवाकेषु एकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा अकारो न लुप्यते। "धातारातिः"[१५] इत्यत्र यथा—"निधिपतिर्नो अग्नि"[१५]। रातिरिति किम्? "धाता देवेभ्योऽसुरान्" इति शाखान्तरे। "उपप्रयन्तो अध्वरम्"[१६] इत्यत्र यथा—"आरे अस्मे च"[१६]। "देव सवितः प्रसुव"[१७]

त्रि० अ०—(धाता ··· पृष्ठ्ये =) धातारातिः इत्यादि अनुवाकों में एकार है पूर्व में जिसके या ओकार है पूर्व में जिसके वह अकार लुप्त नहीं होता है।[क] "धातारातिः" (१।४।४४) यहाँ पर जैसे—"निधिपतिर्नो अग्नि"। राति—यह क्यों (कहा)? "धाता देवेभ्योऽसुरान्"—यह अन्य शाखा में मिलता है।[ख] "उपप्रयन्तो अध्वरम्" (१।५।५)—यहाँ पर जैसे—"आरे अस्मे च"। "देव सवितः प्रसुव" इत्यादि छः अनुवाकों (१।७।७–१२) की वाजपेय संज्ञा है। यहाँ पर जैसे—

(क) इस सूत्र में तिहत्तर अनुवाकों को निर्दिष्ट किया गया है। यह सूत्र ११।१ का अपवाद है। निर्दिष्ट अनुवाकों में अकार का लोप न होना सामान्य नियम है और अकार अपवादस्वरूप कहीं-कहीं पर लुप्त हो जाता है। अपवाद के रूप में जहाँ अकार लुप्त होता है उन स्थलों को परवर्ती (= द्वादश) अध्याय में बतलाया गया है।

(ख) पूर्वपक्षी—तैत्तिरीय संहिता में १।४।४४ ही एक ऐसा अनुवाक है जो 'धाता' पद से प्रारम्भ होता है। तब सूत्र में 'राति' पद क्यों कहा? धाता पद ही पर्याप्त था।

सिद्धान्ती—दूसरी शाखा में 'धाता' से प्रारम्भ होने वाला अनुवाक उपलब्ध होता है। वहाँ प्रस्तुत नियम लागू न हो जाये, इसलिए 'धाता' के साथ-साथ 'रातिः' पद का भी सूत्र में ग्रहण किया गया है।

---

(१) ४।६।१ (२) ४।७।१२ (३) ४।७।१४ (४) ५।६।१
(५) १।१।१४ (६) ४।४।१२ (७) ४।४।६ (८) ४।६।७
(९) ४।६।८ (१०) ४।६।६ (११) ४।७।१५ (१२) ४।४।१२
(१३) ४।४।१२ (१४) ५।२।१२ (१५) १।४।४४ (१६) १।५।५ (१७) १।७।७,८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि षडनुवाकानां वाजपेयसंज्ञा। अत्र यथा—"ते नो अर्वन्तः"[१]। "ते अग्ने अश्वम्"[१]। "जुष्टो वाचः"[२] इत्यत्र यथा—"यस्ते अꣳशुः"[३]। "यो द्रप्सो अꣳशु"[३]। "श्येनाय पत्वने"[४] इत्यत्र यथा—"नमः पितृभ्यो अभि"[४]। "विश्वे अरपा एधते"[४]। उख्ये यथा—"शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य"[५]। "नमो अस्तु सर्पेभ्यः"[६]। "ध्रुवक्षितिः"[७] इत्यत्र यथा—"विश्वे अभि गृणन्तु"[७]। ऊर्मिर्द्रप्सो अपाम्"[७]। क्षितिरिति किम्? ध्रुवेस्यकारान्तस्य यदि ग्रहणं स्यात्। "ध्रुवोसि ध्रुवोऽहम्"[८] इत्यत्रापि भवेदिति। "इयमेव सा या"[९] इत्यत्र यथा—"केतुं कृण्वाने अजरे"[९]। "त्रयो धर्मासो अनु"[९]। इयमित्येतावतैवालं किमन्यैः? "इयं ते शुक्र तनूः"[१०] इत्यत्र "सगर्भ्योऽनु सखा"[११] इति मा भूदिति। सा

"ते नो अर्वन्तः"। "ते अग्ने अश्वम्"। "जुष्टो वाचः" (३।१।१०) यहाँ पर जैसे—"यस्ते अꣳशुः"। "यो द्रप्सो अꣳशुः"। "श्येनाय पत्वने"—(३।२।८) यहाँ पर जैसे—"नमः पितृभ्यो अभि"। "विश्वे अरपा एधते"। उख्य (—संज्ञक बीस अनुवाकों में=४।१।१–१०, ४।२।१–१०) जैसे—"शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य"। "नमो अस्तु सर्पेभ्यः"। "ध्रुवक्षितिः" (४।३।४) यहाँ पर जैसे—"विश्वे अभि गृणन्तु"। "ऊर्मिर्द्रप्सो अपाम्"। क्षिति' यह क्यों (कहा)? 'ध्रुव'—इस अकारान्त का यदि ग्रहण होता तो "ध्रुवोसि ध्रुवोऽहम्" (१।६।२;१।६।१०) यहाँ पर भी (अलोप) होता।[क] "इयमेव सा या" (४।३।११) यहाँ पर जैसे—"केतुं कृण्वाने अजरे"। "त्रयो धर्मासो अनु"। इयम्—यह कहना ही पर्याप्त था, अन्य (एव सा या) से क्या (लाभ) है? "इयं ते शुक्र तनूः" यहाँ पर "सगर्भ्यो अनु सखा"—यहाँ पर (अलोप) न हो इसलिए (अन्य पदों का ग्रहण हुआ है)। (एव) सा या—ये दो पद मन्दबुद्धि वालों के समझने के लिए हैं—यह कुछ लोग कहते हैं। दूसरे लोग तो अन्य प्रकार से कहते हैं—इस अनुवाक (४।३।११) की शेषभूत जो ऋचा अन्यत्र

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'ध्रुवक्षितिः' इस सावग्रह पद के पूर्व-पद (=ध्रुव) (जो १।४८ से स्वतन्त्र पृथक् पद के समान है) का ग्रहण ही पर्याप्त था। तै० सं० में अन्य कोई अनुवाक 'ध्रुव' से प्रारम्भ नहीं होता है।

सिद्धान्ती—१।२२ की सामर्थ्य से अकारान्त ध्रुव से सभी विभक्तियों में समाप्त होने वाले 'ध्रुव' का ग्रहण होता है। यदि सूत्र में केवल 'ध्रुव' का ग्रहण होता तो प्रस्तुत सूत्र तै० सं० के अन्य दो अनुवाकों "ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहम्" (१।६।२ और १।६।१०) में भी लागू होता। किन्तु उन अनुवाकों में प्रस्तुत सूत्र का लागू होना अभीष्ट नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र में 'ध्रुवक्षिति' इस सम्पूर्ण सावग्रह पद का ग्रहण किया गया है।

---

(१) १।७।७,८ (२) ३।१।१० (३) ३।१।१० (४) ३।२।८
(५) ४।१।१ (६) ४।२।८ (७) ४।३।४ (८) १।६।२
(९) ४।३।११ (१०) १।२।४ (११) १।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

येति पदद्वयं मन्दधियां प्रतिपत्त्यर्थमिति केचित्। अन्ये त्वन्यथाऽपि कथयन्ति। अस्यानुवाकस्य शेषभूता या ऋगन्यत्र स्थिता साऽपि स्वीकर्तव्येति। यथा—"ये अपरीषु पश्यान्"[१]। "अग्निर्मूर्द्धा दिवः"[२] इत्यत्र यथा—"स योजते अरुषः"[३]। "एना वो अग्निम्"[४]। मूर्द्धेति किम्? "अग्निर्मा दुरिष्टात्"[५] इत्यत्र "यो मेऽन्ति दूरे रातीयति"[५] इति माभूदिति। रुद्र-

---

स्थित है उसे भी स्वीकार करना चाहिए। जैसे—"ये अपरीषु पश्यान्"।क "अग्निर्मूर्द्धा दिवः"—यहाँ पर जैसे "स योजते अरुषः"। "एना वो अग्निम्"। मूर्द्धा—यह क्यों (कहा)? "अग्निर्मा दुरिष्टात्"—यहाँ पर "यो मेऽन्ति दूरे रातीयति"—यहाँ (अलोप) न हो जाये।ख रुद्र प्रश्न के प्रथम और उपोत्तम (४।५।१ और ४।५।१०)

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'इयम्' इस एक पद का ग्रहण पर्याप्त था। अन्य पदों का ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—तै० सं० का एक अन्य अनुवाक (=१।२।४) भी 'इयम्' से प्रारम्भ होता है। केवल 'इयम्' का ग्रहण करने पर उस अनुवाक पर भी प्रस्तुत सूत्र लागू हो जाता और तत्रस्थ "सगर्भ्योऽनु सखा" में भी अलोप होता, जब कि वहाँ (अकार का) लोप अभीष्ट है। अतः सूत्र में 'इयम्' के साथ अन्य पदों का भी ग्रहण किया गया है।

पूर्वपक्षी—यदि 'इयम् एव'—इन दो पदों का ही सूत्र में ग्रहण किया जाता तब भी प्रस्तुत सूत्र १।२।४ पर लागू न होता। 'सा या' इन दो पदों का सूत्र में ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—इसका समाधान दो प्रकार से किया गया है—(१) मन्द बुद्धि वाले लोगों को सरलता से समझ में आ जाये अतः अनुवाक के चार शब्दों को सूत्र में उल्लिखित किया गया है; (२) दो अधिक पदों का ग्रहण यह सूचित करने के लिए किया गया है कि प्रस्तुत सूत्र १।४।३३ पर भी लागू होता है। १।४।३३—यह अनुवाक ४।३।११ का शेष है। १।४।३३—इस अनुवाक में केवल एक ऋचा है। ४।३।११ और १।४।३३ का विषय समान है और यही कारण है कि ऋग्वेद में १।४।३३ की ऋचा ४।३।११ वाले अंश के साथ एक ही सूक्त (१।११३) में उक्त है। १।४।३३ में "ये अपरीषु पश्यान्" में जो अकार का लोप नहीं हुआ है वह प्रस्तुत सूत्र के लागू होने से ही। प्रातिशाख्य के किसी अन्य सूत्र में इसकी सिद्धि वा विधान नहीं किया गया है। इस स्थल में अलोप की सिद्धि के लिए यह कहा जा रहा है कि दो अधिक पदों (सा या) के ग्रहण से इस स्थल पर भी प्रस्तुत सूत्र लागू होता है।

(ख) 'मूर्द्धा' का सूत्र में ग्रहण न किया जाता तो प्रस्तुत सूत्र १।६।३ पर भी लागू हो जाता और तत्रस्थ "यो मेऽन्ति" में भी अलोप होता, जबकि वहाँ (अकार का) लोप अभीष्ट है। अतः सूत्र में 'अग्निः' के साथ 'मूर्द्धा' का ग्रहण किया गया है।

---

(१) १।४।३३ (२) ४।४।४ (३) ४।४।४ (४) १।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नस्य प्रथमोपोत्तमानुवाकयोर्यथा—नमो अस्तु नीलग्रीवाय"[१]। "उत मा नो अर्भकम्"[२]। उत्तमस्य पूर्वतः सन्निकृष्टः उपोत्तमः। "अश्मन्नूर्जम्"[३] इत्याद्यनुवाकपञ्चकस्य विकर्षसंज्ञा। तत्र यथा—"अन्यं ते अस्मत्"[४]। "पावको अस्मभ्यम्"[५]। "यो नस्सतो अभि"[६]। "रायस्पोषे अधियज्ञो अस्थात्"[७]। "वाजो नस्सप्त"[८] इत्याद्यनुवाकत्रयस्य विहव्यसंज्ञा—तत्र यथा—"विश्वे अद्य मरुतः"[९]। "देवासो अधि वोचत"[१०]। हिरण्यवर्णीये यथा—"एको देवो अप्यतिष्ठत्"[११]। याज्यासु यथा—"सुपथा राये अस्मान्"[१२]। "कामेन कृतो अभि"[१३]। "समिद्दिशाम्"[१४], "जीमूतस्य"[१५], "यदक्रन्दः"[१६], "मा नो मित्रः"[१७], "ये वाजिनम्"[१८], "अग्नेर्मन्वे"[१९] षण्णामेषामनुवाकानां महापृष्ठ्यसंज्ञा। तत्र यथा—"विवस्वद्भ्राते अभि नः"[२०]। "सोमो अधि ब्रवीतु"[२१]। महेति किम्? "पृथिवी तेऽन्तरिक्षेण"[२२] ॥ ३ ॥

वै०— (धातारातिरुपवाजपेयजुष्टश्येनायोख्यध्रुवक्षितिरियमेवसायाऽग्निर्मूर्द्धा-रुद्रप्रथमोपोत्तमविकर्षविहव्यहिरण्यवर्णीययाज्यामहापृष्ठ्ये =) धातारातिरित्यादिषु; पञ्चसप्तत्यनुवाकेषु एकारपूर्वं ओकारपूर्वश्च पदादिरकारो न लुप्यते। धातारातिः—"निधि-

---

अनुवाकों में जैसे—"नमो अस्तु नीलग्रीवाय", "उत मा नो अर्भकम्"। अन्तिम से पूर्व में समीप वाला = उपोत्तम। "अश्मन्नूर्जम्" इत्यादि पाँच अनुवाकों (४।६।१–५) की विकर्षसंज्ञा है। वहाँ पर जैसे—"अन्यं ते अस्मत्"। "पावको अस्मभ्यम्" "यो नस्सतो अभि"। "रायस्पोषे अधियज्ञो अस्थात्"। "वाजो नस्सप्त" इत्यादि तीन अनुवाकों (४।७।१२–१४) की विहव्य संज्ञा है। वहाँ जैसे—"विश्वे अद्य मरुतः। "देवासो अधि वोचत"। हिरण्यवर्णीय (अनुवाक) में जैसे—"एको देवो अप्यतिष्ठत"। याज्या (अनुवाकों) में जैसे—"सुपथा राये अस्मान्"। "कामेन कृतो अभि"। समिद्दिशाम्" "जीमूतस्य", "यदक्रन्दः", "मा नो मित्रः", "ये वाजिनम्" 'अग्नेर्मन्वे"—इन छः अनुवाकों की महापृष्ठ्य—संज्ञा है। वहाँ जैसे—"विवस्वद्भ्राते अभि नः"। "सोमो अधि ब्रवीतु"। महा—यह क्यों (कहा)? "पृथिवी तेऽन्तरिक्षेण" क॥ ३ ॥

वै० अ०—(धातारातिमहापृष्ठ्ये) धातारातिः इत्यादि अनुवाकों में; एकार पूर्व में होने पर और ओकार पूर्व में होने पर पदादि अकार लुप्त नहीं होता है।

(क) 'पृथिवी तेऽन्तरिक्षेण'—यह स्थल पृष्ठ्य—संज्ञक अनुवाक का है, महापृष्ठ्य—संज्ञक अनुवाक का नहीं। अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र लागू नहीं होता और ११।१ से अकार का लोप हो गया है।

---

(१) ४।५।१ (२) ४।५।१० (३) ४।६।१ (४) ४।६।२
(५) ४।६।३ (६) ४।७।१२ (७) ४।७।१४ (८) ५।६।१
(९) १।१।१४ (१०) ४।४।१२ (११) ४।६।६–९ (१२) ४।७।१५
(१३) ४।६।७ (१४) ५।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतिर्नो अग्निः"[१] । उपप्रयन्तः—"आरे अस्मे च"[२] । "देव सवितः प्र सुव यज्ञम्"[३] इत्यादयः षडनुवाका वाजपेयसंज्ञा—"ते अग्ने अश्वमायुञ्जन्ते अस्मिन्"[४] । "ते नो अर्वन्तः"[५] । "सुषुवे अग्रे"[६] । "मध्वो अग्रम्"[७] । जुष्टो वायो भूयासम्—"यस्ते अꣳशुः"[८] । "यो द्रप्सो अꣳशुः"[९] । श्येनाय पत्वने—"पितृभ्यो अभि ये नः"[१०] । उखये—"विश्वे अमृतस्य"[११] । "यो अग्निरग्नेः"[१२] । ध्रुवक्षितिः—"तं त्वा विश्वे अभि गृणन्तु"[१३] । इयमेव सा या—"चतुष्टोमो अभवत्"[१४] । ईयुष्टे ये—"ये अपरीषु"[१५] । अन्ये त्वियमेव सा येति पठन्तः तत्सहचारित्वादुत्तरानुवाकेऽपि कार्यं भवतीत्याहुः । तत्र स्फुटोऽति प्रसङ्गः । न च सहोपयोगलक्षणं सहचारित्वनियामकम् । तत्रापि "सम्पश्यामि"[१६] । इति पञ्चमन्त्रानुवाकेष्वतिप्रसङ्गात् । अग्निर्मूर्द्धा—"त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा"[१७] । "नमस्ते रुद्र मन्यवे"[१८] इत्याद्येकादशानुवाकाः रुद्रसंज्ञाः । तेषु प्रथमोपोत्तमयोरनुवाकयोः "नमस्ते रुद्र मन्यवे"[१९] इत्यनुवाकः प्रथमः । उपोत्तम उपान्त्यो "द्रापे अन्धसस्पते"[२०] । "अशमन्नूर्जम्"[२१] इत्यादयः पञ्चानुवाकाः विकर्षसंज्ञाः—"न तदृषाणो अजरः"[२२] । "पुरो अग्निर्भवेह"[२३] । "वाजो नस्सप्त"[२४] । इत्यादयः त्रयोऽनुवाकाः विहव्यसंज्ञाः—"विश्वे अद्य मरुतः"[२५] । "वाजो अस्मे"[२६] । "देवासो अधिवोचता मे"[२७] । "हिरण्यवर्णाः"[२८] इत्यनुवाको हिरण्यवर्णीयः—"सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्"[२९] । "उभा वामिन्द्राग्नी"[३०] प्रभृति "अग्निर्वृत्राणि"[३१] पर्यन्तं प्रश्नोत्तमानुवाका याज्यासंज्ञास्स्युः, "युक्ष्वा हि"[३२] इत्यनुवाकश्च । तेषु यथा—"पयो अस्मासु धुक्ष्व"[३३] । "सुपथा राये अस्मान्"[३४] । "विशो अस्या अदब्धः"[३५] । "यो नो दूरे अघशꣳसः"[३६] । "रुद्रो असुरः"[३७] । "यशो अस्मासु धेहि"[३८] । "पृष्टो अग्निः"[३९] । "इन्द्रस्य धर्मो अतिथिः"[४०] । "वावशाने अन्वापो

।.....। ध्रुवक्षितिः—"तं त्वा विश्वे अभि गृणन्तु" । इयमेव सा या—"चतुष्टोमो अभवत्" । ईयुष्टे ये—"ये अपरीषु" ।[क] अन्य लोग तो 'इयमेव सा या'—यह

(क) वैदिकाभरणकार के अनुसार "इयमेव सा याऽग्नि....." के स्थान पर "इयमेवेयुरग्नि....." यह सूत्र—पाठ है । सूत्र में 'ईयुः' के ग्रहण से १।४।३३ में अलोप की सिद्धि हो जाती है ।

---

(१) १।४।४४	(२) १।५।५	(३) १।७।७,८	(४) १।७।१०
(५) १।७।१२	(६) ३।१।१०	(७) ३।२।८	(८) ४।१।१
(९) ४।२।१०	(१०) ४।३।४		
(११) ४।३।११	(१२) १।४।३३	(१३) १।५।६	(१४) ४।४।४
(१५) ४।५।१	(१६) ४।५।१०	(१७) ४।६।१	(१८) ४।६।१
(१९) ४।६।५	(२०) ४।७।१२	(२१) ४।७।१२	(२२) ४।७।१२
(२३) ४।७।१४	(२४) ५।६।१	(२५) ६।५।१	(२६) १।०।१४
(२७) ४।३।१३	(२८) २।६।११	(२९) १।१।१४	(३०) १।२।१४
(३१) १।३।१४	(३२) १।४।४६	(३३) १।५।११	(३४) १।६।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजिहत"[1]। "बृहस्पते अति यदर्यो अर्हात्"[2]। "वसुभिर्नो अव्यात्"[3]। "नमस्ते अग्न ओजये"[4]। "दृश आरूपे अन्नम्"[5]। "सुविदत्रो अस्मे"[6]। "समिद्दिशाम्"[7] "जीमूतस्य"[8] "यदक्रन्दः"[9] "मा नो मित्रः"[10] "ये वाजिनम्"[11] "अग्नेर्मन्वे"[12] इति षण्णामनुवाकानां महापृष्ठ्यसंज्ञा—"विवस्वद्भाते अभि नः"[13]। "धर्मे अस्थिरन्"[14] ॥ ३ ॥

अꣳहसोऽꣳहतिरनिष्टतोऽवन्त्वस्मानवद्यादहनि च ॥४॥

मा०—अहनि, धातारातिरादिष्वेवान्वादिश्यते। अंहस इत्येवमादिषु ग्रहणेषु न खलु एकःर ओकारपूर्वो वा अकारो लोपमापद्यते। यथा—"प्रमुञ्चन्तो नो अँहसः"[15]। "परिद्वेषसो अँहतिः"[16]। "उपसत्ता वर्धतां ये अनिष्टृताः"[17]। "अधि ब्रुवन्तु ते अवन्त्वस्मान्"[18]। अवन्त्वस्मानिति किम्? "ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु"[19]। "मित्रमहो अवद्यात्"[20]। "शुचिः शुक्रे अहन्योजसीना"[21]। "यवनहपरः स्वरपरेषु"[22] इति लोपे प्राप्ते अयमारभ्यते। अन्वादेशः किमर्थः? "स एवैनं पाप्मनोऽहँसो मुञ्चति"[23] ॥ ४ ॥

त्रि०—चकारो "धातारातिः"[24] इत्यादिविषयान्वादेशकः अꣳहसः, अꣳहतिः,

---

(सूत्र-) पाठ करते हुए उस (इयमेव सा या अनुवाक=४।३।११) के सदृश होने से शेषभूत (उत्तर) अनुवाक (१।४।३३) में भी कार्य होता है—यह कहते हैं। वहाँ पर अतिव्याप्ति स्पष्ट है साथ में उपयुक्त होना सहचारित्व (सदृश होने) का नियामक नहीं है। इससे तो "सम्पश्यामि" इत्यादि पाँच-पाँच मन्त्रों के अनुवाकों में अतिव्याप्ति होगी।....॥ ३ ॥

सू० अ०—('धातारातिः' इत्यादि अनुवाकों के मध्य में स्थित) अꣳहसः, अꣳहतिः, अनिष्टतः, अवन्त्वस्मान्, अवद्यात्, अहनि (—इन पदों में स्थित पूर्ववर्ती अकार, एकार या ओकार पूर्व में होने पर लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार "धातारातिः" इत्यादि अनुवाकों (विषयों) का अन्वादेशक है। अꣳहसः, अꣳहतिः, अनिष्टतः अवन्त्वस्मान्, अवद्यात्, अहनि—"धातारातिः" इत्यादि स्थलों के मध्य मे वर्तमान इन पदों में एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर, अकार लुप्त नहीं होता है।[क] जैसे—"प्रमुञ्चन्तो

(क) पूर्वपक्षी—उक्त स्थलों में तो ११।३ से ही अकार का लोप नहीं होता है। अकार के अलोप का यह पुनर्विधान क्यों किया गया है।

---

(१) १।७।१३ (२) १।८।२२ (३) २।१।११ (४) २।६।११
(५) ४।३।१३ (६) ४।४।१२ (७) ४।६।६-६ (८) ४।७।१५
(९) ४।३।१३ (१०) २।६।११ (११) ४।१।७ (१२) २।६।१२
(१३) २।६।१२ (१४) १।२।१४ (१५) ४।४।१२ (१६) १२।४
(१७) २।२।७ (१८) ११।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिष्टतः, अवन्त्वस्मान्, अवद्यात्, अहनि इत्येतेषु ग्रहणेषु "धातारातिः"[१] इत्यादिस्थलान्तर्वर्तिष्वेकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा अकारो न लुप्यते। यथा—"प्रमुञ्चन्तो नो अꣳहसः"[२]। "परिद्वेषसो अꣳहतिः"[३]। "वर्द्धतां ते अनिष्टतः"[४]। "ते अवन्त्वस्मान्"[५]। अस्मानिति किम्? "ते नोऽवन्तु पितरः"[५]। "मित्रमहो अवद्यात्"[६]। "शुचिश्शुक्रे अहनि"[७]। "यवनह"[८] प्रत्ययादेषु प्राप्यमाणलोपेषु अलोपोऽयं विहितः। अन्वादेशः किमर्थः? "स एवैनं पाप्मनोऽꣳहसो मुञ्चति"[९] ॥ ४ ॥

वै०—चशब्दो "धातारातिः"[१] इत्यादीननुवाकानन्वादिशति। तत्र "यवनहस्वरपरेषु"[१०] इत्यस्यापवादबाधनार्थं एष पुनर्विधिश्चतुर्थकक्ष्या। अनुस्वारस्य तु विधास्यमानत्वेन अव्यवधायकत्वं पुरस्ताद्दर्शितम्। तस्मादꣳहसोऽꣳहतिरित्यनयोर्ग्रहणम्। अꣳहसः—

न अꣳहसः"। "परिद्वेषसो अꣳहतिः"। "वर्द्धतां ते अनिष्टतः"। "ते अवन्त्वस्मान्"। अस्मान्—यह क्यों (कहा)? "ते नोऽवन्तु पितर"।क यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर इन (पदों) में (१२।४ से) (अकार का) लोप प्राप्त होने पर (प्रस्तुत सूत्र में) अलोप (लोप न होने) का विधान किया गया है।ख अन्वादेश किसलिए किया गया है? "स एवैनं पाप्मनोऽꣳहसो मुञ्चति"॥ ४॥

वै० अ०—च शब्द "धातारातिः" इत्यादि अनुवाकों का अन्वादेश करता है। वहाँ पर "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है), यदि उनके बाद में स्वर हो"—इस अपवाद का बाध करने के लिए यह पुनर्विधान चतुर्थ कक्ष्या है। बाद में विहित होने से अनुस्वार का अव्यवधायकत्व पहले बतला दिया गया है। इसलिए अꣳहसः, अꣳहतिः—इन (पदों) का ग्रहण किया गया है। अꣳहसः—"प्रमुञ्चतो नो अꣳहसः"। अꣳहतिः—"परिद्वेषसो अꣳहतिः"ग।

सिद्धान्ती—११।३ के अपवाद रूप में उक्त स्थलों में परिस्थितिविशेष में अकार के लोप का विधान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र १२।४ का अपवाद है। निर्दिष्ट पदों का अकार १२।४ से लुप्त नहीं होता है।

(क) १२।४ से 'अवन्तु' का अकार लुप्त हो गया है, क्योंकि 'अवन्तु' के बाद में 'अस्मान्' नहीं है।

(ख) सूत्र में निर्दिष्ट भी 'अꣳहसः' का अकार लुप्त हो गया है, क्योंकि यह स्थल २।२।७ से लिया गया है, ११।३ में उक्त किसी भी स्थल के अन्तर्गत २।२।७ नहीं है।

(ग) पूर्वपक्षी—'अꣳहसः' और 'अꣳहति' में लोप के निषेध करने की अवश्यकता नहीं, क्योंकि १२।४ से इन पदों में लोप की प्राप्ति नहीं होती है। १२।४ वहीं

---

(१) ११।३ (२) ४।३।१३ (३) २।६।११ (४) ४।१।७
(५) २।६।१२ (६) १।२।१४ (७) ४।४।१२ (८) १२।४
(९) २।२।७ (१०) १२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रमुञ्चन्तो नो अꣳहसः"[१]। अꣳहतिः—"परिद्वेषसो अꣳहतिः"[२]। "अनिष्टतः"[३]। अवन्त्वस्मान्—"अधिब्रुवन्तु ते अवन्त्वस्मान्"[४]। अस्मानित्युपबन्धेन किम्? "ते नोऽवन्तु पितरः"[५]। अवद्यात्—"मित्रमहो अवद्यात्"[६]। अहनि—"शुचिश्शुक्रे अहन्योजसीना"[७]। अन्वादेशाभावे द्वितीयकक्ष्या विज्ञायेत। तथाच—"स एवैनं पाप्मनोऽꣳहसो मुञ्चति"[७] इत्यत्र अलोपस्स्यात् ॥ ४ ॥

अनुघर्मासआपोमर्तोरथस्त्वोदत्तेवातः पूर्वः ॥ ५ ॥

मा०—घर्मासः, आपः, मर्त्तः, रथः, त्वः, दत्ते, वातः, इत्येवंपूर्वः अनु इत्येतस्मिन् ग्रहणे अकारो न खलु लोपमापद्यते। यथा—"त्रयो घर्मासो अनु ज्योतिषागुः"[८]। तस्मादापी अनु स्थ न"[९]। "यदा ते मर्त्तो अनु भोगम्"[१०]। "अनु त्वा रथो अनु"[११]।

अनिष्टतः—"वर्धतां ते अनिष्टृतः"। अवन्तस्मान्—"अधिब्रुवन्तु ते अवन्त्वस्मान्" अस्मान्—इस उपबन्ध से क्या (लाभ) है? "ते नोऽवन्तु पितरः"। अवद्यात्—मित्रमहो अवद्यात्"। अहनि—"शुचिश्शुक्रे अहन्योजसीना"। अन्वादेश का अभाव होने पर (अलोप की) द्वितीय कक्ष्या की प्रतीति होगी। और इस प्रकार "स एवैनं पाप्मनोऽꣳहसो मुञ्चति"—यहाँ पर अलोप हो जाता क॥ ४ ॥

सू० अ०—घर्मासः, आपः, मर्त्तः, रथः, त्वः, दत्ते, वातः—पूर्व में होने पर अनु (का अकार लोप को प्राप्त नहीं करता है)।

लागू होता है जहाँ अकार के बाद में हकार इत्यादि हो। इन पदों में अकार के बाद में अनुस्वार है, हकार नहीं।

सिद्धान्ती—परवर्ती अध्याय में विहित होने के कारण अनुस्वार को यहाँ अविद्यमान मानना चाहिए। अतः इन पदों में अकार के बाद में हकार है, अनुस्वार नहीं। इस प्रकार इन पदों में १२।४ से लोप की प्राप्ति होती है, जिसका निषेध प्रस्तुत सूत्र से किया गया है।

(क) यदि यह माना जाये कि सूत्रोक्त चकार से ११।३ में उक्त अनुवाकों का अन्वादेश नहीं हो रहा है तब यह मानना होगा कि ११।३ के समान यहाँ भी द्वितीय कक्ष्या वाले अलोप का विधान है। अतः तै० सं० के सभी स्थलों पर यह सूत्र लागू होने लगेगा। इससे "स एवैनं पाप्मनोऽꣳहसो मुञ्चति"—इत्यादि स्थलों में भी लोप नहीं होगा। किन्तु स्थलों में लोप अभीष्ट है। ऐसे अनिष्ट रूपों से बचने लिए यहाँ ११।३ में उक्त अनुवाकों का अन्वादेश मानना ही चाहिए।

---

(१) ४।३।१२ (२) २।६।११ (३) ४।१।७ (४) २।६।१२
(५) १।२।१४ (६) ४।४।१२ (७) २।२।७ (८) ४।३।११
(९) ५।६।१ (१०) ४।६।७ (११) ४।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति"[१]। "शुक्रमादत्ते अनुहाय"[२]। "तुद्वातो अनु वातु ते"[३]। एवंपूर्व इति किम्? "अनु गावोऽनु भगः कनीनाम्"[४]। "लुप्यते त्वकार एकार ओकारपूर्वः"[५], "यवनहपरः स्वरपरेषु"[६] इत्येतयोरपवादोऽयम् ॥ ५ ॥

त्रि०—अत्र विसर्गान्तानामोत्वमापन्नानां पूर्वनिमित्तत्वमिति विज्ञेयम्। घर्मासः, आपः, मर्त्तः, रथः, त्वः, दत्ते, वातः इत्येवम्पूर्वः अन्वित्यत्र अकारो न लुप्यते। यथा—"त्रयो घर्मासो अनु"[७]। "तस्मादापो अनु"[८]। "यदा ते मर्त्तो अनु"[९]। "अनु त्वा रथो अनु"[९]। "पीयति त्वो अनु"[१०]। "शुक्रमादत्ते अनुहाय"[११]। "धनुस्तद्वातो अनु"[१२]। अन्विति किम्? "वातोऽभिपवते"[१३]। एवम्पूर्व इति किम्? "अनु गावोऽनु भगः"[९] "यवनह"[१४] स्वरपरत्वनिषेधार्थोऽयमारम्भः ॥ ५ ॥

वै०—(घर्मासआपोमर्तोरथस्त्वोदत्तेवातःपूर्वः =) घर्मास इत्यादिषु पदेषु पूर्वेषु; अनुशब्दस्याकारो न लुप्यते अत्रान्वादेशकाभावेऽपि सामर्थ्यादादितः पञ्चानां चतुर्थकत्वात्वं वेदितव्यम्। घर्मासः—"घर्मासो अनुज्योतिषागुः"[७]। आपः—"तस्मादापो अनुस्थन"[८]।

त्रि० अ०—यहाँ विसर्ग में समाप्त होने वाले तथा ओत्व प्राप्त कर लेने वाले (घर्मासःइत्यादि पदों) को पूर्व-निमित्त के रूप में जानना चाहिए[क]। घर्मासः····वातः ये; पूर्वः=पूर्व में होने पर; अनु—इसका अकार लुप्त नहीं होता है। जैसे—"त्रयो घर्मासो अनु"। "तस्मादापो अनु"। "यदा ते मर्तो अनु"। "अनु त्वा रथो अनु"। "पीयति त्वो अनु"। "शुक्रमादत्ते अनुहाय"। "धनुस्तद्वातो अनु"। अनु—यह क्यों (कहा)? "वातोऽभिपवते"। ये (घर्मासः इत्यादि) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अनु गावोऽनु भगः"। य, व, न, ह तथा स्वर वाद में होने पर—(इस) के निषेध के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है[क] ॥ ५ ॥

वै० अ०—(घर्मासआपोमर्तोरथस्त्वोदत्तेवातःपूर्वः =) घर्मास इत्यादि पद पूर्व में होने पर; अनु शब्द का अकार लुप्त नहीं होता है। यहाँ अन्वादेशक का अभाव होने पर भी सामर्थ्य से आदि में स्थित पाँच (घर्मासः, आपः, मर्त्तः, रथः,

---

(क) तत्पर्य यह है कि निर्दिष्ट पद, जो अनु बाद में होने के कारण (दत्ते से अतिरिक्त) ओकारान्त हो जाते हैं, निमित्त है और 'अनु' कर्यभाक् है। वैसे प्रस्तुत सूत्र में कार्य (लोप) का निषेध किया है।

(क) वास्तव में अन्तिम दो स्थल १२।४ के अपवाद न होकर ११।१ के अपवाद हैं।

---

(१) ४।२।३ (२) ३।२।२ (३) ५।५।७
(४) ४।६।७ (५) ११।१ (६) १२।४
(७) ४।३।११ (८) ५।६।१ (९) ४।६।७
(१०) ४।२।३ (११) ३।२।२ (१२) ५।५।७
(१३) ५।४।९ (१४) १२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्तः—"यदा ते मर्तो अनु"[१]। रथः—"अनु त्वा रथो अनु"[१]। त्वः—"पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति"[२]। दत्ते वात इत्येते तु द्वितीयकक्ष्याविषये। दत्ते—"शुक्रमादत्ते अनुहाय"[३]। वातः—"वातो अनु वातु ते"[४]। एतत्पूर्वं इति किम्? "अनु गावोऽनु भगः"[१]। "सोऽनुध्यायति"[५] ॥ ५ ॥

अभिवात्वपश्च ॥ ६ ॥

मा०—"अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[६] इति वचनात् वातः पूर्वं इति चशब्दो ज्ञापयति। अभिवातु, अपः इत्येतयोर्वातःपूर्वं अकारो न खलु लोपमापद्यते। यथा—"मयोभूर्वातो अभि वातु"[७]। अभिवात्विति किम्? "वातोऽभि पवते वातनामानि"[८]। "यद्वातो अपो अगमत्"[९]। वातः पूर्वं इति किम्? "अवरुन्धेऽपोऽग्रेऽभि व्याहरति"[१०] ॥ ६ ॥

त्रि०—चकारो वात इत्यन्वादिशति। अभिवातु, अपः इत्येतयोरकारो वातः पूर्वो

त्वः,) का चतुर्थ कक्ष्या का (अलोप) जानना चाहिए।[क]। घर्मासः—"घर्मासो अनुज्योतिषागुः"। आपः—"तस्मादापो अनु स्थन"। मर्त—"यदा ते मर्तो अनु"। रथः—"अनु त्वा रथो अनु"। त्वः—"पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति"। दत्ते, वातः—ये तो द्वितीय कक्ष्या के (अलोप के) स्थल हैं। दत्ते-"शुक्रमादत्ते अनुहाय"। वातः—"वातो अनु वात ते"। ये पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "अनु गावोऽनु भगः"। "सोऽनु ध्यायति" ॥ ५ ॥

सू० अ०—अभिवातु और अपः (का अकार) भी (लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'वातः' का अन्वादेश करता है। वातः पूर्व में होने पर; अभिवातु और अपः—इनका अकार लुप्त नहीं

(क) यद्यपि सूत्र में ११।३ में उल्लिखित अनुवाकों के अन्वादेश के लिए कोई शब्द उक्त नहीं है, तथापि यह ज्ञातव्य है कि प्रथम चार पदों का सम्बन्ध ११।३ में उल्लिखित अनुवाकों से ही है। इन पदों का अलोप ११।३ से सिद्ध होता है। किन्तु १२।४ में इनके लोप का विधान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र से पुनः इनके अलोप का विधान किया गया है। अन्तिम दो पदों (दत्ते और वातः) का सम्बन्ध ११।३ में उल्लिखित स्थलों के साथ नहीं है। इनके बाद में स्थित अकार के लोप होने की प्राप्ति ११।१ से होती है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा उस लोप का निषेध किया गया है।

---

(१) ४।६।७ (२) ४।२।३ (३) ३।२।२
(४) ५।५।७ (५) ३।१।३ (६) १।५६
(७) ७।४।१७ (८) ५।४।६ (९) ७।४।२०
(१०) ६।४।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न लुप्यते। यथा—"मयोभूर्वातो अभिवातु"[1]। वात्विति किम्? "वातोऽभिपवते"[2]। "यद्वातो आपो अगमत्"[3]। अन्वादेशेन किम्? "अव रुन्धेऽपोग्रेऽभि व्याहरति"[4] ॥६॥

वै०—चशब्देन वातःपूर्व इत्यन्वादिश्यते। वात इत्यस्मिन् पूर्वे अभिवातु, अप इत्येतयोरकारो न लुप्यते द्वितीयकक्ष्येयम्। अभिवातु—"मयोभूर्वातो अभिवातु"[1]। वात्विति किम्? "वातोऽभि पवते"[2]। अपः—"यद्वातो अपो अगमत्"[3]। अन्वादेशेन किम्? "सोऽपः प्रविशत्"[5] ॥ ६ ॥

अन्वगमच्च ॥ ७ ॥

मा०—अनु, अगमत्, इत्येतयोः अपपूर्वोऽकारो न खलु लोपमापद्यते। यथा—"अपो अन्वचारिषम्"[6]। "यद्वातो अपो अगमदिन्द्रस्य"[7]। अपः पूर्व इति किम्? "पशवोऽनूदायन् स उन्नतः"[8] ॥ ७ ॥

त्रि०—अप इति चकारोऽन्वादिशति। अनु, अगमत् इत्येतयोरकारो न खल्वपः पूर्वो लुप्यते। यथा—"अपो अन्वचारिषम्"[6]। "अपो अगमदिन्द्रस्य"[7]। एवम्पूर्व इति किम्? "पशवोऽनूदायन्"[8] ॥ ७ ॥

होता है। जैसे—"मयोभूर्वातो अभिवातु"। वातः—यह क्यों (कहा)? "वातोऽभि पवते"। "यद्वातो अपो अगमत्"। (वातः के) अन्वादेश से क्या (लाभ) है? "अव रुन्धेऽपोऽग्रेऽभि व्याहरति"[क] ॥ ६ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द से (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'वातः पूर्व में होने पर' का अन्वादेश होता है वातः—यह पूर्व में होने पर अभिवातु और अपः—इनका अकार लुप्त नहीं होता है। यह द्वितीय कक्ष्या है।[ख] अभिवातु—"मयोभूर्वातो अभिवातु"। वातः—यह क्यों (कहा))? "वातोऽभि पवते"। अपः—"यद्वातो अपो अगमत्"। (वातः के) अन्वादेश क्या (लाभ) है? "सोऽपः प्राविशत्" ॥ ६ ॥

सू० अ०—अनु और अगमत् (का अकार) भी (लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'अपः' का अन्वादेश करता है। अनु और अगमत्—इनका अकार लुप्त नहीं होता है। जैसे—"अपो अन्वचारिषम्"। "अपो अगमदिन्द्रस्य"। यह (अपः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पशवोऽनूदायन्" ॥ ७ ॥

(क) आपो के अकार का लोप हो गया, क्योंकि पूर्व में 'वातः' (वातो) नहीं है।

(ख) यह सूत्र ११।१ का अपवाद है।

---

(१) ७।४।१७ (२) ५।४।२ (३) ७।४।२० (४) ६।४।३
(५) २।६।६ (६) १।४।४६ (७) ७।४।२० (८) २।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देनाप इत्यन्वादिश्यते। पूर्वं इति च। अप इत्यस्मिन् पूर्वे अनु, अगमत् इत्येतयोरकारो न लुप्यते। अत्रानुग्रहणं द्वितीयचतुर्थकक्ष्ययोः भवति। "अपो अन्वचारिषम्"[1] इत्यवभृथानुवाके याज्याकाण्डे च ग्रहणात्। अगमदिति तु द्वितीयस्यामेव। "यद्वातो अपो अगमत्"[2]। अन्वादेशव्यावर्त्यमनुशब्द एव। तत्पूर्वतरसूत्रे दर्शितम् ॥७॥

आपः पूर्वोऽद्भिरपांनपादस्मान् ॥ ८ ॥

मा०—अद्भिः, अपान्नपात्, अस्मानित्येतेषु ग्रहणेषु आपः पूर्वं अकारो न खलु लोपमापद्यते। यथा—"समापो अद्भिरग्मत"[3]। "देवीरापो अपान्नपात्"[4]। अपान्नपादिति किम्? "वारुणीरापोऽपां च खलु"[5]। "आपो अस्मान्मातरः शुन्धन्तु"[6]। आपः पूर्वं इति किम्? "सोऽस्मान् पातु तस्मै नमः"[7] ॥ ८ ॥

त्रि०—अद्भिः, अपांनपात्, अस्मान् एतेषु अकार आपः पूर्वो न लुप्यते। यथा—"समापो अद्भिरग्मत"[3]। "देवीरापो अपां नपात्"[4]। नपादिति किम्? "वारुणीरापोपां च"[5]। "आपो अस्मान्मातरः"[6]। एवम्पूर्वं इति किम्? "सोऽस्मान्पातु"[7] ॥८॥

वै० अ०—च शब्द से अपः का अन्वादेश होता है। और पूर्व का भी। अपः—यह पूर्व में होने पर अनु और अगमत्—इनका अकार लुप्त नहीं है। यहाँ 'अनु' पद द्वितीय तथा चतुर्थ कक्ष्या में है। क्योंकि "अपो अन्वचारिषम्"—यह याज्या-काण्ड में तथा अवभृथ अनुवाक में भी ग्रहण किया गया है। अगमत् तो द्वितीय ही कक्ष्या में है।[क] अन्वादेश का व्यावर्त्य 'अनु' शब्द में ही (संभव है)। वह पूर्वतर सूत्र (११।५) में दिखलाया जा चुका है॥ ७॥

सू० अ०—आपः पूर्व में होने पर अद्भिः, अपान्नपात् तथा अस्मान् (का अकार लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—आपःपूर्वः = आपः पूर्व में होने पर; अद्भिः, अपांनपात् तथा अस्मान्—इनमे स्थित अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ ८॥

(क) 'अगमत्' शब्द के अलोप का सम्बन्ध ११।३ में उल्लिखित किसी भी स्थल के साथ नहीं है। यह ११।१ का अपवाद है। 'अनु' का जो अकार लुप्त नहीं होता है वह ११।१ का अपवाद भी है और १२।४ का अपवाद भी। "अपो अन्वचारिषम्" यह १।४।४५ और १।४।४६ में आया है। १।४।४५ में जो अलोप है वह ११।१ का अपवाद है। १।४।४६ याज्या—संज्ञक अनुवाक है। ११।३ से अलोप विहित है। किन्तु १२।४ में अलोप का निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अलोप का पुनर्विधान है। अतः यह १२।४ का पुनर्विधान है। अतः यह १२।४ का अपवाद है।

---

(१) १।४।४६ (२) ७।४।२० (३) १।१।८ (४) १।२।३
(५) २।१।६ (६) १।२।१ (७) ५।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(आपःपूर्वः=) आप इत्यस्मिन् पूर्वे; (अद्भिरपांनपादस्मान्=) अद्भिरित्यादिषु; अकारो न लुप्यते। द्वितीयकक्ष्येयम्। अद्भिः—"समापो अद्भिरग्मत"[१]। अपांनपात्—"देवीरापो अपां नपात्"[२]। नपादिति किम्? "वारुणीरापोऽपाम्"[३]। अस्मान्—"आपो अस्मान्मातरः"[४]। आपः पूर्व इति किम्? "यथा वरुणोऽग्निः"[५]। "वयमिह प्रदातारस्सोऽस्मानमुत्र"[६] ॥ ८ ॥

रायेसइन्द्रः पूर्वश्चाकारपरे ॥ ९ ॥

मा०—राये, सः, इन्द्रः इत्येवंपूर्वः अस्मानित्येतस्मिन् ग्रहणे अकारपरो अकारो न लोपमापद्यते। अस्मानिति चशब्दोऽन्वादिशति। अकारपर इति सः इन्द्र इत्येतयोरेव विशेषणम्, राये इत्येतस्यासम्भवात्। "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"[७]। "सो अस्माँ अधिपतीन् करोतु"[८]। "इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने"[९]। रायेसः इन्द्रः पूर्व इति किम्? "योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयम्"[१०]। अकारपर इति किम्? "सोऽस्मान्"[११] ॥९॥

त्रि०—चकाराकृष्टे अस्मान्ग्रहणे अकारपरे वर्तमानोऽकारो रायेसः, इन्द्रः एवम्पूर्वो न लुप्यते। रायेपूर्वस्योदाहरणं शाखान्तरे। अथवा जटायां भवति, यथा—"राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्"[७]। संहितायां तु नोदाहरणम्, अकारपरत्वाभावात्, तर्हि

वै० अ०—(आपःपूर्वः=) आपः—यह पूर्व में होने पर; (अद्भिरपांनपादस्मान्=) अद्भिः इत्यादि में; स्थित अकार लुप्त नहीं होता है। यह द्वितीय कक्ष्या है (अर्थात् यह ११।१ का अपवाद है)।—॥ ८ ॥

सू० अ०—राये, सः और इन्द्रः पूर्व में होने पर तथा अकार बाद में होने पर (अस्मान् का अकार लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार से आकृष्ट 'अस्मान्' पद में वर्तमान अकार; अकारपरे= अकार बाद में होने पर; तथा राये; सः और इन्द्रः—ये पूर्व में होने पर, लुप्त नहीं होता है। 'राये' पूर्व का उदाहरण दूसरी शाखा में (उपलब्ध होता है)। अथवा जटा (–पाठ) में उपलब्ध होता है। जैसे–"राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्"। संहिता—पाठ में तो उदाहरण नहीं मिलता है, अकारपरत्व का अभाव होने से।[क]

(क) संहिता—पाठ में ऐसा कोई स्थल नहीं मिलता हैं जहाँ 'अस्मान्' के पूर्व में 'राये' और बाद में अकार हो। अतः भाष्यकार ने कहा है—(१) ऐसा स्थल दूसरी शाखा में मिलता है; (२) अथवा 'राये अस्मान्' (१।४।४३) का यह जटा-पाठ उदाहरण हो सकता है—राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्।

---

(१) १।१।८ (२) १।२।३ (३) २।१।६ (४) १।२।१
(५) ७।५।२३ (६) ६।६।१ (७) १।१।१४; १।४।४३
(८) १।६।६ (९) ३।१।६ (१०) १।१।६ (११) ५।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र कथमलोप इति चेत्। 'त्रिपदप्रभृति'[1] पुनरुक्तत्वादिति ब्रूमः। "मा सो अस्माꣳ अवहाय"[2]। "इन्द्रो अस्मानस्मिन्"[3]। अकारपर इति किम्? "सोऽस्मान्पातु"[4]। एवम्पूर्व इति किम्? "स्मोऽस्मानमुत्र"[5]। अकारः परो यस्मात् असौ अकारपरः तस्मिन् ॥ ९ ॥

वै०—चशब्दोऽस्मान्शब्दमन्वादिशति। अकारपर इत्युपबन्धनिर्देशः। (रायेसइन्द्रः पूर्वः=) रायेे, सः, इन्द्रः इत्येतेषु पूर्वेषु; अकारपरे अस्मान्शब्दे अकारो न लुप्यते। उपबन्धः सः पूर्वमात्रार्थः। तत्र हि सम्भवव्यभिचाराभ्यामेषाऽर्थवान् भवति। रायेपूर्वे तु

तब वहाँ आलोप कैसे होता है? यदि यह कहते हो (तो सुनो)—पुनरुक्त होने से "तीन पदों का समुदाय है प्रारम्भ में जिसके ऐसा तीन से अधिक पदों का समुदाय पुनरुक्त होने पर पूर्व में कहे हुए (पाठ के समान होता है)"—इस (सूत्र) से—यह कहते हैं। "मा सो अस्माꣳअवहाय"। "इन्द्रो अस्मानस्मिन्"। अकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सोऽस्मान्पातु"। ये (राये, सः और इन्द्रः) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "स्मोऽस्मानमुत्र"। अकार है बाद में जिससे वह अकारपर ॥ ९ ॥

वै०अ०—च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) अस्मान् शब्द का अन्वादेश करता है। अकार बाद में होने पर—यह उपबन्ध का निर्देश है। (रायेसइन्द्रःपूर्वः=) रायेे, सः, इन्द्रः—ये पूर्व में होने पर तथा; अकारपरे=अकार बाद में होने पर; अस्मान् शब्द में स्थित अकार लुप्त नहीं होता है। उपबन्ध केवल 'सः' पूर्व के लिए है। क्योंकि वहाँ उपलब्धि तथा व्यभिचार से यह (=उपबन्ध) सार्थक (अर्थवान्) होता है। 'रायेे' पूर्व में तो (अकारपर) सम्भव नहीं है, 'इन्द्रः' पूर्व में व्यभिचार नहीं है।[क] 'रायेे'

पूर्वपक्षी—"सुपथा रायेे अस्मान् विश्वानि"—इस संहिता-पाठ में अस्मान् के अकार का अलोप किस सूत्र से होता है?

सिद्धान्ती - यह उद्धरण दो स्थलों पर उपलब्ध होता है—(१) १।१।१४ तथा (२) १।४।४३। प्रथम १।१।१४ याज्या—अनुवाक है। अतः ११।३ से अलोप विहित है। १।६१ की सामर्थ्य से १।४।४३ में भी अलोप सिद्ध हो जाता जाता है। १।६१ में यह विधान किया गया है कि तीन अथवा तीन से अधिक पदों का पुनरुक्त उद्धरण पहले स्थल में सिद्ध रूप को ही प्राप्त करता है।

(क) 'अकार बाद में होने पर'—इस उपबन्ध का सम्बन्ध केवल उसी 'अस्मान्' पद के साथ है जिसके पूर्व में 'सः' हो; सूत्र में उल्लिखित 'रायेे' और इन्द्रः' के साथ इस उपबन्ध का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि (१) ऐसा स्थल उपलब्ध होता है, जहाँ पूर्व में 'सः' तथा बाद में अकार होने पर 'अस्मान्' के नकार का लोप नहीं होता है (सम्भव); (२) ऐसा स्थल भी उपलब्ध होता है, जहाँ पूर्व में 'सः' होने पर

---

(१) १।६१ (२) ५।७।६ (३) ३।१।६ (४) ५।५।५ (५) ६।६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सम्भवः इन्द्रःपूर्वे तु न व्यभिचारः। रायेपूर्वस्योदाहरणं शाखान्तरे "धातारातिः"[१] इत्यादिव्यतिरिक्तदेशे द्रष्टव्यम्, यत्रान्यतः प्राप्तिर्न विद्यते। सःपूर्वः—"सो अस्माꣳअधिपतीन् करोतु"[२]। अकारपर इति किम्? "सोऽस्मान्पातु"[३]। इन्द्रःपूर्वः—"मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्"[४]। ननु रायेपूर्वस्स्वशाखायामस्ति—"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"[५] इति सत्यम्। अन्यतसिद्धत्वान्नास्योदाहरणं भवितुमर्हति। याज्याकाण्डस्थस्य "धातारातिः"[१]

पूर्व का उदाहरण दूसरी शाखा में "धातारातिः" इत्यादि से व्यतिरिक्त देश में देखना चाहिए, जहाँ अन्य से प्राप्ति नहीं होती है।[क] सःपूर्वः—"सो अस्माꣳअधिपतीन् करोतु"।[ख] अकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सोऽस्मान्पातु"।[ग] इन्द्रःपूर्वः—"मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्"।[घ] (शंका) 'राये' पूर्व अपनी (तैत्तिरीय) शाखा में है—"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" इत्यादि। ठीक है। अन्य से सिद्ध होने से यह (सूत्र) का उदाहरण होने में समर्थ नहीं है। याज्या-काण्ड में स्थित का "धातारातिः"—सूत्र से अलोप सिद्ध है। और दाक्षिण—काण्ड में स्थित का "तीन पदों का समुदाय है प्रारम्भ में जिसके ऐसा तीन से अधिक पदों का

भी, अकार बाद में न होने के कारण 'अस्मान्' के अकार का लोप हो जाता है (व्यभिचार=व्यतिक्रम); (३) ऐसा स्थल उपलब्ध नहीं होता है जहाँ 'राये' पूर्व में तथा अकार बाद में होने पर 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं होता है; (४) ऐसा स्थल तो उपबन्ध होता है, जहाँ 'इन्द्रः' पूर्व में और अकार बाद में होने पर 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं होता है; किन्तु ऐसा स्थल उपबन्ध नहीं होता है जहाँ पूर्व में 'इन्द्रः' होने पर भी, अकार बाद में न होने के कारण 'अस्मान्' के अकार का लोप हो जाता है (व्यभिचार=व्यतिक्रम का अभाव)।

(क) इस प्रकार तै० सं० में ऐसा कोई स्थल उपलब्ध नहीं होता है (१) जहाँ 'राये' पूर्व में और अकार बाद में होने पर 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं होता और (२) जो ११।३ से सिद्ध न होता हो।

(ख) सः। अस्मान्। अधिपतीनित्यधि—पतीन्। करोतु॥ प० पा०
'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि 'अस्मान्' के पूर्व में 'सः' है और बाद में अकार है।

(ग) सः। अस्मान्। पातु॥ प० पा०
'सः' पूर्व में होने पर भी 'अस्मान्' के अकार का लोप हो गया है, क्योंकि अस्मान् के बाद में अकार नहीं है।

(घ) मरुतः। इन्द्रः। अस्मान्। अस्मिन्॥ प० पा०
'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि 'अस्मान्' के पूर्व में 'इन्द्रः' है और बाद में अकार है।

---

(१) ११।३ (२) १।६।६ (३) ५।५।५ (४) ३।१।९
(५) १।१।१४;१।४।४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिसूत्रेण अलोपसिद्धः। दाक्षिणकाण्डस्थस्य च "यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति"[1] इति तस्मात् सुष्ठूक्तम् 'शाखान्तरेऽस्योदाहरणम्' इति। ननु च अकारपरत्वमस्य न सम्भवतीत्-युक्तं नोपपद्यते, जटायां तत्सम्भवात्, 'राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्'[2] इति तस्मात्सः पूर्ववद्रायेपूर्वेऽपि सम्भवव्यभिचाराभ्यां अकारपर इत्युपबन्धोऽर्थवानेव भवति। ततश्च राये-ग्रहणं स्वशाखायामेव 'अग्ने नय सुपथा'[2] इत्यस्मिन् पादे "धातारातिः"[3] इत्यादिसूत्रप्राप्तस्य

समुदाय पुनरुक्त होने पर पूर्व में कहे गए (पाठ के समान होता है)" इत्यादि से। इसलिए ठीक कहा गया है—"दूसरी शाखा में इसका उदाहरण मिलता है'।क (शंका) इस (राये) का आकारपरत्व सम्भव नहीं है—यह कथन उपपन्न नहीं है, क्योंकि जटा—पाठ में यह सम्भव है, (जैसे) 'राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्' इत्यादि। इससे 'सःपूर्व' के समान 'राये' पूर्व में भी सम्भव (उपलब्धि) और व्यभिचार—इन दोनों के कारण 'अकारपर' यह उपबन्ध अर्थवान् ही होता है।ख और इस कारण (सूत्र में) 'राये' का ग्रहण अपनी शाखा में ही 'अग्ने नय सुपथा'

(क) पूर्वपक्षी—ऊपर जो कहा गया है कि रायेपूर्व का उदाहरण अपनी (तैत्तिरीय) शाखा में नहीं मिलता है, वह युक्त नहीं है। तै० सं० में स्थित इस स्थल को देखा जाये—

अग्ने। नय। सुपथेति सु—पथा। राये। अस्मान्॥ १।१।१४ तथा १।४।४३

यह स्थल प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण हो सकता है, क्योंकि 'राये' पूर्व में होने के कारण 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं हुआ है। 'अकारपरे' का सम्बन्ध तो 'सः' के साथ ही है—यह पहले सिद्धान्ती के द्वारा ही कहा जा चुका है।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त स्थल प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण नहीं हो सकता है, क्योंकि यह स्थल अन्य सूत्रों से सिद्ध है। 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्'—यह स्थल तै० सं० में दो बार आया है—(१) याज्याकाण्ड में (१।१।१४) तथा (२) दाक्षिणकाण्ड (१।४।४३) में। याज्याकाण्ड में स्थित 'अस्मान्' के अकार का लोप ११।३ से नहीं होता है। दाक्षिणकाण्ड में स्थित 'अस्मान्' के अकार का लोप १।६१ की सामर्थ्य से नहीं होता है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि 'राये' पूर्व में है जिसके ऐसे 'अस्मान्' का उदाहरण अन्य शाखा में उपलब्ध होता है।

(ख) पूर्वपक्षी—ऊपर यह कहा गया है कि तै० सं० में ऐसा स्थल उपलब्ध नहीं होता है, जहाँ 'राये' पूर्व में और अकार बाद में होने पर 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं होता है और इसलिए 'अकार बाद में होने पर' का सम्बन्ध 'राये' के साथ नहीं है—यह कथन युक्त नहीं है। इस जटा—पाठ को देखा जाये—'राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्'। यहाँ 'अस्मान्' के पूर्व में 'राये' है और बाद

---

(१) १।६१ (२) १।१।१४ (३) ११।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलोपस्य विषयनियमार्थतयालब्धावकाशमेव भवति। अतः नास्य शाखान्तरविषयत्वं कल्पयितव्यम्। स्वशाखायामलब्धावकाशो हि विधिः शाखान्तरविषयत्वकल्पनयोपपादयितव्यः। यथा—"अहारहस्सुवरनिङ्घातः"[1] इत्यत्र अहास्सुवर्ग्रहणं "ह्वारभार"[2] इत्यादिसूत्रप्राप्तस्य विषयनियमार्थम्, अहर्ग्रहणं त्वप्राप्तप्रापणार्थम्, एवम् अत्रापि रायेग्रहणं प्राप्तनियमार्थम्, सइन्द्रोग्रहणं तु अप्राप्तप्रापणार्थमित्यापद्यते। तथा च सति संहितान्नाये कथमलोपः प्राप्नोति "राये अस्मान् विश्वानि देव"[3] इत्यकारपरत्वाभावात्। अत्रोच्यते—जटायाश्शाखविषयत्वाभ्युपगमादेवायं दुष्परिहारोऽनर्थ आपद्यते। न तु तत्सूत्रकारस्याभिमतम्। यद्यसौ तदैषियत् "रायेसइन्द्रः पूर्वश्चाकारपरे" इति न ब्रूयात्, किन्तु "राये पूर्वश्च" "सइन्द्रःपूर्वश्चाकारपरे"

इस पाद में "घातारातिः" इत्यादि सूत्र से प्राप्त अलोप के विषय (क्षेत्र) को नियमित (सीमित) करने के लिए होने से लब्धावकाश (स्थल को प्राप्त करने वाला, उपयुक्त) है। इसलिये दूसरी शाखा में इस ('राये') के विषय (क्षेत्र) की कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि अपनी शाखा में अवकाश (उपयोग का स्थल) को प्राप्त न करने वाली विधि (विधान, नियम) को (ही) यह कल्पना करके उपपन्न करना चाहिए कि इसका (इसके उपयोग का) विषय (क्षेत्र, स्थल) दूसरी शाखा में है। जिस प्रकार "अवग्रह-रहित पद में वर्तमान अहाः अहः और सुवः यहाँ पर 'अहाः' और 'सुवः' का ग्रहण "ह्वाः", 'अभाः' इत्यादि सूत्र से प्राप्त विषय (क्षेत्र) के नियमन के लिए है किन्तु 'अहः' का ग्रहण अप्राप्त की प्राप्ति के लिए है, उसी प्रकार यहाँ पर भी 'राये' का ग्रहण प्राप्त के नियमन के लिए है किन्तु 'सः' और 'इन्द्रः' का ग्रहण अप्राप्त की प्राप्ति लिए है। सिद्धान्ती—वैसा होने पर संहिता—पाठ में अलोप कैसे प्राप्त होता है क्योंकि "राये अस्मान् विश्वानि देव" में ('अस्मान्' के) बाद में अकार नहीं है।[क] इस विषय में हमारा यह कथन है—

में अकार है, अतः 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं हुआ है। 'अकार बाद में होने पर' यह उपलब्ध जिस प्रकार 'सः' के विषय में सार्थक है, उसी प्रकार 'राये' के विषय में सार्थक है। क्योंकि ऐसा स्थल भी उपलब्ध हो गया है, जहाँ 'राये' पूर्व में और अकार बाद में होने पर 'अस्मान्' के अकार का अलोप प्रस्तुत सूत्र से हुआ है और ऐसा स्थल भी है जहाँ पूर्व में 'राये' तो है परन्तु बाद में अकार नहीं है और 'अस्मान्' के अकार का प्रस्तुत सूत्र से अलोप नहीं होता है (अलोप अन्य सूत्र से होता है)।

(क) पूर्वपक्षी—[illegible] में यह सिद्धान्त किया गया है कि एकार और ओकार के बाद में आने वाला पदादि अकार लुप्त नहीं होता है। अतः उदाहरण वि० और वै० दोनों में यह भी दिया गया है—"सुम्ना एने अस्मान्"। अस्तु इस को 'राये' का ग्रहण करके यह सिद्धान्त किया गया है कि 'राये' के बाद में [illegible]

(१) ४।१।१ (२) ४।४८ (३) [illegible]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति सूत्रद्वयमेव कुर्यात्। अपि च शास्त्रान्ते "पदक्रमविशेषज्ञः"[1] इति संहितापदक्रमरूपस्य त्रिविधस्यैवसमाम्नायस्य विषयतां वक्ष्यति। तस्माज्जटा नास्य शास्त्रस्य विषय इति सिद्धम्। तथा सत्यकारपर इत्येतद्रायेपूर्वस्य न सम्भवतीति। रायेग्रहणं न प्राप्तस्य नियमार्थं भवति अपितर्ह्यप्राप्तप्रापणार्थमेव। एवं सति स्वशाखायां अवकाशाभावादस्य शाखान्तरविषयत्वं कल्प्यते। अतो न कश्चिद्दोषः। ननु यदि जटा प्रातिशाख्यस्याविषयः तदा "प्रातिशाख्यादि शास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः। बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति" इति शिक्षाविरोधस्यात्। नैतदस्ति। न ह्यत्र प्रातिशाख्यमात्रेण जटा निर्वहतीत्युच्यते। अपि तु तेन तदादि-

---

जटा—पाठ को इस (प्रतिशाख्य) शास्त्र का विषय मानने से ही इस अनर्थ की प्राप्ति हुई है जिसका परिहार (समाधान) करना सम्भव नहीं है। और वह सूत्रकार को अभीष्ट नहीं है। यदि उन्हें (=सूत्रकार को) अभीष्ट होता तो वे यह न कहते—"राये, सः और इन्द्रः पूर्व में होने पर और अकार बाद में होने पर" किन्तु इन दो सूत्रों का निर्माण करते "राये पूर्व में होने पर" और "सः और इन्द्र पूर्व में होने पर और अकार बाद में होने पर"। इसके अतिरिक्त शास्त्र (तैत्तिरीयप्रातिशाख्य) के अन्त में "पद—पाठ और क्रम पाठ के विशेष को जानने वाला" इस (सूत्र) में संहिता—पाठ, पद—पाठ और क्रम—पाठ रूप त्रिविध समाम्नाय को ही वे (प्रातिशाख्य शास्त्र का) विषय कहेंगे। इसलिए जटा—पाठ इस (प्रतिशाख्य-शास्त्र) का विषय नहीं है—यह सिद्ध हो गया। वैसा होने पर 'अकार बाद में होने पर' यह 'राये' है पूर्व में जिसके ऐसे (अस्मान्) के विषय में सम्भव नहीं है। (सूत्र में) 'राये' का ग्रहण प्राप्त के नियमन के लिए नहीं है अपितु अप्राप्त की प्राप्ति के लिए ही है। यह वस्तुस्थिति होने पर अपनी शाखा में अवकाश (विषय, क्षेत्र) उपलब्ध न होने से यह कल्पना की गई है कि दूसरी शाखा में ऐसा विषय (स्थल) उपलब्ध होगा। इसलिए कोई दोष नहीं है। (पूर्वपक्षी) यदि जटा—पाठ प्रतिशाख्य का विषय नहीं है तब "प्रतिशाख्य आदि शास्त्रों को जानने वाला, सभी शिक्षा ग्रन्थों में विशारद जो व्यक्ति बुद्धि और शक्ति से समन्वित होता है वह जटा—पाठ का उच्चारण करने में समर्थ होता है" इस

'अस्मान्' के अकार का तभी लोप नहीं होता है जब 'अस्मान्' के बाद में अकार हो। इस प्रकार यह नियम—विधि है—यह अलोप के क्षेत्र को सीमित करता है। इसी प्रकार ८।१३ में 'अहाः' और 'सुवः' का ग्रहण किया गया है (दे० ८।१२ पर वै० और टिप्पणियाँ)।

सिद्धान्ती—"राये अस्मान् विश्वानि देव" में 'अस्मान्' के अकार का लोप नहीं हुआ। यह अलोप (अकार के लोप का अभाव) आपके अनुसार नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ 'अस्मान्' के बाद में अकार नहीं है। अलोप कैसे हुआ—इसका समाधान आप कर ही नहीं सकते।

---

(१) २४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रैः शिक्षादिभिश्चेति। तस्माच्छिक्षाव्याकरणान्यपि जटायामुपयुज्यन्त एव। तत्र समाम्नातांशेषु प्रातिशाख्यमुपयुज्यन्त एव। असमाम्नातांशेषु तु शिक्षाव्याकरणानीति विवेकः। तथा हि शाखाविशेषवर्तिकार्यविशेषप्रधानं हि प्रातिशाख्यम्। कार्यविशेषाश्च ते समाम्नानैकमूलाः शिक्षाव्याकरणानि तु सर्ववेदलोकसाधारणत्वाद्वैशेषिकस्य प्रातिशाख्यस्य विषयं परिहृत्य प्रवर्तन्त इति। ननु यदि प्रातिशाख्यमपि जटायामुपयुज्यते कथं तर्हि प्रातिशाख्यस्याविषयो जटेत्युच्यते? श्रूयताम्— क्रमो हि जटायाः प्रकृतिः "संहिता प्रकृतिः प्रोक्ता पदस्यैतत्क्रमस्य तु। जटायाः प्रकृतिस्त्वेष एवं नित्यं निबोधत" इति शिक्षावचनात्। क्रमस्तु तत्तज्जटाया आद्यन्तयोर्वर्तते। तत्र जटायाश्शाखाविषयत्वेऽपि तत्प्रकृतिभूतस्य क्रमस्य शास्त्रविषयत्वात् जटायामपि क्रमांशे प्रातिशाख्यमुपयुज्यत इत्यविरोधः। ननु—यद्यनाम्नातसन्धौ प्रातिशाख्यं न प्रवर्तते, तदा जटायां कम्पस्वरो न स्यात्। न ह्यासौ व्याकरणे स्मर्यते। सत्यम्। शिक्षायां तु स्मर्यत एव। साऽपि जटायामुपयुज्यत एवेति तद्विहितः कम्पस्वरो भवत्येव। तस्माज्जटायामनाम्नातांशे शिक्षाव्याकरणोक्तमेव कार्यं भवतीति सिद्धम्। यानि

शिक्षा का विरोध होता है। (सिद्धान्ती) यह बात नहीं है क्योंकि यहाँ पर यह नहीं कहा गया है कि केवल (प्रातिशाख्य) से, जटा-पाठ निष्पन्न होता है। अपितु उस (प्रातिशाख्य) से प्रातिशाख्य आदि शास्त्रों से और शिक्षा-ग्रन्थ आदि से (जटा—पाठ निष्पन्न होता है)। इसलिए शिक्षा और व्याकरण भी जटा—पाठ में उपयुक्त होते ही है। वहाँ (जटा—पाठ में) समाम्नात अंशों में प्रातिशाख्य उपयुक्त होता है। असमाम्नात संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ में अनुपलब्ध अंशों में तो शिक्षा और व्याकरण (उपयुक्त होते हैं)—यह विवेक है। इसप्रकार प्रातिशाख्य शाखाविशेष के कार्य—विशेषों का ही विधान करता है। और उन कार्य-विशेषों का आधार केवल समाम्नान (संहिता—पाठ, पद-पाठ और क्रम—पाठ) है। शिक्षा और व्याकरण तो सभी वेदों और लोक से सामान्य रूप से सम्बन्धित होने के कारण विशेष कार्यों से सम्बन्धित प्रातिशाख्य के विषय को छोड़कर प्रवृत्त होते हैं। (पूर्वपक्षी) यदि प्रातिशाख्य भी जटा-पाठ में उपयुक्त होता है तब जटा-पाठ प्रातिशाख्य का विषय कैसे नहीं है? (सिद्धान्ती) सुनिये "संहिता-पाठ को पद—पाठ की प्रकृति कहा गया है और यह (पद—पाठ) क्रम-पाठ की (प्रकृति है)। यह (क्रम—पाठ) जटा—पाठ की प्रकृति है—ऐसा समझ लीजिए"—इस शिक्षा-वचन से (ज्ञात होता है कि) क्रम—पाठ जटा—पाठ की प्रकृति है। क्रम-पाठ उस-उस जटा—पाठ के आदि और (अन्त में) विद्यमान होता है। इसलिए जटा—पाठ के शास्त्र (प्रातिशाख्य) का विषय न होने पर भी उस (जटा—पाठ) के प्रकृतिभूत क्रम-पाठ के शास्त्र (प्रातिशाख्य) का विषय होने से जटा—पाठ के भी क्रम—भाग में प्रातिशाख्य उपयुक्त होता है—इस प्रकार विरोध नहीं है। (पूर्वपक्षी) यदि अनाम्नात (संहिता—पाठ, पद—पाठ और क्रम—पाठ में अनुपलब्ध) संधि में प्रातिशाख्य प्रवृत्त नहीं होता है, तब जटा—पाठ में कम्प स्वर नहीं होगा। क्योंकि यह (कम्प

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु वैकल्पिकानि सन्धिकार्याणि यथा "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा"[१] "वापदान्तस्य"[२] इत्यादिनि तत्र यतरदस्मच्छाखायां दृष्टं ततरदेव जटायामुपादीयते। छान्दसकार्याणि तु सर्वाणि नोपादेयानीत्येवं सर्वत्रानुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

तेपूर्वोऽद्यान्धोऽशुँरग्ने ॥ १० ॥

मा०—अद्य, अन्धः, अंशु अग्ने इत्येतेषु ग्रहणेषु अकारस्तेपूर्वः न खलु लोपमापद्यते। यथा—"इमं पशुं पशुपते ते अद्य"[३]। "उपो ते अन्धो मद्यमयामि"[४]। "अंशुना ते अँशुः"[५]। "यत्ते अग्ने तेजस्तेन"[६]। अद्यान्धोशुँएन इति किम्? "तेऽग्नये प्रवते पुरोडाशम्"[७]। तेपूर्वं इति किम्? "अभिभूयमाणस्य प्रथमोऽँशुः स्कन्दति"[८] ॥ १० ॥

त्रि०—अद्य, अन्धः, अꣳशुः, अग्ने एतेष्वकारः, ते इत्येवम्पूर्वो न लुप्यते। यथा—"पशुपते ते अद्य"[१]। "उपो ते अन्धः"[४]। "अꣳशुना ते अꣳशुः"[५]। "यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहम्"[६]। एतेष्विति किम्? "तेऽग्नये प्रवते"[७]। तेपूर्वं इति किम्? "प्रथमोऽꣳशु स्कन्दति"[८]। "तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः"[९] ॥ १० ॥

वै०—(तेपूर्वः=) तेशब्दे पूर्वे; अद्य, अन्धः, अꣳशुः, अग्ने इत्येतेषामादिरकारो न लुप्यते। यथा—"पशुपते ते अद्य बध्नामि"[१]। "उपो ते अन्धः"[४]। "अꣳशुना ते

स्वर) व्याकरण में विहित नहीं है। (सिद्धान्ती) सच (कहते हो)। किन्तु शिक्षा में तो इस (कम्प स्वर का) विधान किया ही गया है। वह (शिक्षा) भी जटा—पाठ में उपयुक्त होती ही है और उसके द्वारा विहित कम्प स्वर (जटा—पाठ में) होता ही है। इसलिए जटा—पाठ के अनाम्नात (संहिता—पाठ, पद—पाठ और क्रम—पाठ में अनुपलब्ध) अंश में शिक्षा और व्याकरण में उक्त ही कार्य होता है—यह सिद्ध होता है। जो वैकल्पिक संधि—कार्य हैं जैसे—"अनुनासिक बाद में होने पर यर् विकल्प से अनुनासिक हो जाता है" "पदान्त यर् का विकल्प से लोप हो जाता है" इत्यादि उनमें से जो (कार्य) हमारी शाखा में दिखलाई पड़ता है (उपलब्ध होता है) वही जटा—पाठ में स्वीकृत किया जाता है। सभी वैदिक कार्य तो नहीं स्वीकृत किये जाते हैं—यह सर्वत्र समझना चाहिए॥ ९ ॥

सू० अ०—'ते' पूर्व में होने पर अद्य, अन्धः, अꣳशुः और अग्ने (का अकार लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—ते यह; पूर्वः=पूर्व में होने पर; अद्य, अन्धः, अꣳशुः तथा अग्ने इनमें स्थित अकार; लुप्त नहीं होता है।...॥ १० ॥

वै० अ०—(तेपूर्वः=) ते पूर्व में होने पर; अद्य, अन्धः, अꣳशुः तथा अग्ने इनका आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है।....। ते पूर्व में होने पर—यह क्यों

---

(१) पा० ८।४।४५ (२) पा० ८।४।५९ (३) ३।१।४
(४) १।४।४ (५) १।२।६ (६) ३।५।३
(७) २।४।१ (८) ३।१।८ (९) १।२।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अꣳशुः"[१]। "यत्ते अग्ने तेजः"[२]। तेपूर्व इति किम्? "अभा वै नोऽद्य"[३] द्वितीय-कल्पेयम् ॥ १० ॥

मेपूर्वश्च ॥ ११ ॥

मा०—अग्ने इत्येतस्मिन् ग्रहणे मेपूर्वश्चाकारो न लोपमापद्यते। यथा—"यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य"[४]। मेपूर्व इति किम्? "तेन त्वादधेऽग्ने अङ्गिरः"[५]। अन्वादेशः किमर्थः? "प्राणश्च मेऽपानश्च मे"[६] ॥ ११ ॥

त्रि०—चकाराकृष्टे अग्न इत्यस्मिन्ग्रहणे अकारो मे इत्येवम्पूर्वो न लुप्यते। यथा-"यन्मे अग्ने अस्य"[४]। "इमा मे अग्न इष्टकाः"[७]। मेपूर्व इति किम्? "तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः"[५]। अन्वादेशेन किम्? "प्राणश्च मेऽपानश्च मे"[६]। "तदशकं तन्मेऽराधि"[८] ॥ ११ ॥

वै०—चशब्देनाग्नेशब्दोऽन्वादिश्यते। (मेपूर्वः=) मेशब्दे पूर्वे; अग्नेशब्दस्या-दिरकारो न लुप्यते। "यन्मे अग्ने अस्य"[४]। मेपूर्व इति किम्? "तेन त्वा दधेऽग्ने

(कहा)? "अभा वै नोऽद्य"। यह द्वितीय कल्पना है (अर्थात् यह ११।१ का अपवाद है) ॥ १० ॥

सू० अ०—(अग्ने का अकार) 'मे' पूर्व में होने पर (लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार से आकृष्ट 'अग्ने'—इस पद में अकार, मे—यह; पूर्वः= पूर्व में होने पर; लुप्त नहीं होता है।...॥ ११ ॥

वै० अ०—च शब्द से 'अग्ने' शब्द अन्वादिष्ट होता है। (मेपूर्वः=) 'मे' पूर्व में होने पर; 'अग्ने' शब्द का आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है। "यन्मे अग्ने अस्य"।[क] 'मे' पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः"।[ख] अन्वादेश से क्या (लाभ) है? "तदशकं तन्मेऽराधि"[ग]। यह भी

(क) यत्। मे। अग्ने ॥ प० पा०
'अग्ने' के अकार का लोप नहीं हुआ है, क्योंकि 'अग्ने' के पूर्व में 'मे' है।

(ख) दधे। अग्ने ॥ प० पा०
'अग्ने' के अकार का लोप हो गया है, क्योंकि 'अग्ने' के पूर्व में 'मे' नहीं है।

(ग) मे। अराधि ॥ प० पा०
'मे' के बाद में भी विद्यमान 'अराधि' के अकार का लोप हो गया है,

---

(१) १।२।६ (२) ३।५।३ (३) २।५।३
(४) १।६।२ (५) १।२।१२ (६) ४।७।१
(७) ४।४।११ (८) १।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अङ्गिरः"[1]। अन्वादेशेन किम्? "तदशकं तन्मेऽराधि"[2]। द्वितीयकक्ष्येयमपि। तस्मात् "जकारग्नपर उदात्तः"[3] इत्यनेनास्य न विरोधः। तस्य "धातारातिः"[4] इत्यादि-सूत्रविषयत्वात्। ततश्च "अग्ने अङ्गिरः"[5] इत्यग्नेशब्दः प्रत्युदाहरणं भवत्येव ॥ ११ ॥

अस्याश्विनाऽपरा च ॥ १२ ॥

मा०—अस्य, अश्विना, अपरा इत्येतेषु ग्रहणेषु च मेपूर्वं अकारो लोपी न भवति। यथा—"देवा हविषो मे अस्य"[6]। "पुनर्मे अश्विना युवम्"[7]। "यद्वा मे अपरागतम्"[8]। अन्वादेशः किमर्थः? "कोऽस्येश्वरः"[9] ॥ १२ ॥

त्रि०—मेपूर्वं इति चकारोऽन्वादिशति। अस्य, अश्विना, अपरा एतेष्वकारो

द्वितीय कक्ष्या है। इसलिए "जकार और ग्न बाद में होने पर उदात्त (अकार लुप्त हो जाता है)"—इस (सूत्र) से इसका विरोध नहीं होता है। उसका "धातारातिः" इत्यादि सूत्र का विषय होने से।[क] इसलिए 'अग्ने अङ्गिरः'—यहाँ 'अग्ने' शब्द प्रत्युदाहरण होता ही है[ख] ॥ ११ ॥

सू० अ०—अस्य, अश्विना और अपरा (का अकार) भी (लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) "मे' पूर्व में होने पर का अन्वादेश

क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र से 'अग्ने' का अन्वादेश हुआ है। प्रस्तुत सूत्र से 'अग्ने' के अकार का ही लोप नहीं होता है।

(क) प्रस्तुत सूत्र में 'अग्ने' के अकार के अलोप का विधान किया गया है। इसके विपरीत १२।५ से 'अग्ने' के अकार का लोप हो जाता है यह स्थिति होने पर भी दोनों में विरोध नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जो अलोप का विधान है वह द्वितीय कक्ष्या का है अर्थात् उसका सम्बन्ध किसी अनुवाक—विशेष के साथ नहीं है। १२।५ में जो लोप का विधान है वह तृतीय कक्ष्या का है अर्थात् उसका सम्बन्ध ११।३ में उल्लिखित अनुवाकों के साथ है।

(ख) यह स्थल (तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः—१।२।१२) ११।३ में उल्लिखित अनुवाकों में स्थित नहीं है। अतः यहाँ १२।५ से 'अग्ने' का अकार लुप्त नहीं होता है। यहाँ अकार ११।१ से लुप्त होता है। और प्रस्तुत सूत्र ११।१ का अपवाद है। अतः यह स्थल प्रस्तुत सूत्र का प्रत्युदाहरण है।

---

(१) १।२।१२ (२) १।६।६ (३) १२।५
(४) ११।३ (५) १।२।१२ (६) १।५।१०
(७) ३।२।५ (८) ६।६।७ (९) २।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेपूर्वो न लुप्यते। "वियन्तु देवा हविषो मे अस्य"[१]। "पुनर्मे अश्विना युवम्"[२]। "यद्वा मे अपरागतम्"[३] ॥ १२ ॥

वै०—चशब्देन मेपूर्व इत्यन्वादिश्यते। मेशब्देपूर्वे (अस्याश्विनाऽपरा=) अस्येत्यादीनाम्; आदिरकारो न लुप्यते। अस्य—"हविषो मे अस्य"[१]। अश्विना—"पुनर्मे अश्विना युवम्"[२]। अपरा—"यद्वामे अपरागतम्"[३]। अन्वादेशेन किम्? "कोऽस्येश्वरः"[४] ॥ १२ ॥

नःपूर्वोऽसदग्निरघान्तमोऽभ्यस्मिन्नद्यपथि ॥ १३ ॥

मा०—असत्, अग्निः, अघ, अन्तमः, अभि, अस्मिन्, अद्यपथि, एतेषु ग्रहणेषु नःपूर्वोऽकारो न लोपमापद्यते। यथा—"सुपारा नो असद्वशे"[५]। "अयन्नो अग्निर्वरिवः कृणोतु"[६]। "रक्षा माकिर्नो अघशँस ईशत"[७]। "अग्ने त्वन्नो अन्तमः"[८]। "स्विष्टिन्नो अभि वसीयो नयन्तु"[९]। "शिक्षा नो अस्मिन् पुरुहूत"[१०]। "तेभिर्नो अद्य पथिभिः"[११]। अद्यपथीति किम्? "नोऽद्य वसु वसतीतीन्द्रः"[१२]। नः पूर्वं इति किम्? "सोऽग्निर्जातः प्रजाः शुचार्पयत्"[१३]। एतेष्विति किम्? "ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु"[१४] ॥ १३ ॥

त्रि०— असत्, अग्नि, अघ, अन्तमः, अभि, अस्मिन्, अद्यपथि एतेष्वकारो नः इत्येवम्पूर्वो न लुप्यते। यथा—"सुपारा नो असद्वशे"[५]। 'अयं नो अग्निर्वरिवः"[६]। "रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत"[७]। "अग्ने त्वं नो अन्तमः"[८]। "स्विष्टिं नो अभि"[९]। "शिक्षा नो अस्मिन्"[१०]। "तेभिर्नो अद्य पथिभिः"[११]। पथीति किम्? "नोऽद्य वसु वसतीति"[१२]। नः पूर्वं इति किम्? "तस्मादधाद्गर्दभोऽसत्तरः"[१३]। "सोऽग्निर्जातः"[१४]।

करता है। 'मे' पूर्व में होने पर अस्य, अश्विना, अपरा—इनमें वर्तमान अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ १२॥

वै० अ०—च शब्द के द्वारा (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'मे पूर्व में होने पर' का अन्वादेश किया जाता है। 'मे' शब्द पूर्व में होने पर; (अस्याश्विनाऽपरा=) अस्य इत्यादि का; आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ १२)

सू० अ०—नः पूर्व में होने पर असत्, अग्निः, अघ, अन्तमः, अभि, अस्मिन्, अद्यपथि (का अकार लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—नः पूर्वः=नः पूर्व में होने पर; असत्, अग्नि, अघ, अन्तमः अभि, अस्मिन्, अद्यपथि—इनमें स्थित अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ १३॥

---

(१) १।५।१०	(२) ३।२।५	(३) ६।६।७	(४) २।६।७
(५) १।२।३	(६) १।३।४	(७) १।४।२४	(८) १।५।६
(९) ३।१।९	(१०) ७।५।७	(११) ७।५।२४	(१२) २।५।३
(१३) ५।१।४	(१४) १।२।३	(१५) ५।१।२	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उत्तरतोऽघायुरभि दासति"[1]। "तेऽस्मिन्नैच्छन्त"[2]। एतेष्विति किम्? "ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु"[3] ॥ १३ ॥

वै०—(नःपूर्वः =) नः शब्दे पूर्वे; (असदग्निरघान्तमोऽभ्यस्मिन्नद्यपथि =) असत् इत्यादीनाम्; आदिरकारो न लुप्यते। असत्—"सुपारा नो असद्वशे"[4]। अग्निः—"अयं नो अग्निर्वरिवः"[5] इत्यध्वरकाण्डे। अघ—"रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत"[6] इति ग्रहकाण्डे। अन्तमः—"अग्ने त्वं नो अन्तमः"[7]। अभि—"स्विष्टि नो अभि"[8]। अस्मिन्—"शिक्षा नो अस्मिन्"[9]। अद्यपथि—"तेभिर्नो अद्य पथिभिः"[10]। पथीति किम्? "अमा वै नोऽद्य"[11]। नःपूर्व इति किम्? "ओषधयोऽसत्पुरुषः"[12] ॥ १३ ॥

नमःपूर्वोऽग्रेऽश्वेभ्योऽग्रियाय ॥ १४ ॥

मा०—अग्रे, अश्वेभ्यः, अग्रियाय, एतेषु ग्रहणेषु नमःपूर्वो अकारो लोपं नापद्यते। यथा—"नमो अग्रे वधाय च"[13]। "नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च"[14]। "नमो अग्रियाय च प्रथमाय च"[15]। नमःपूर्व इति किम्? "अपोऽग्रेऽभि व्याहरति"[16]। एतेष्विति किम्? "नमोऽग्नयेऽप्रतिविद्धाय"[17] ॥ १४ ॥

त्रि०—अग्रे, अश्वेभ्यः, अग्रियाय एतेष्वकारो नमःपूर्वो न लुप्यते। "नमो अग्रे वधाय च"[18]। "नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यः"[19]। "नमो अग्रियाय च"[20]। नमःपूर्व इति किम्? "आपोऽग्रेऽभि व्याहरति"[21]। एतेष्विति किम्? "नमोऽग्नये प्रतिविद्धाय"[22] ॥ १४ ॥

वै० अ०—(नः पूर्वः) नः शब्द पूर्व में होने पर; (असदग्निरघान्तमोऽभ्यस्मिन्नद्यपथि=) असत् इत्यादि का; आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है। असत्—"सुपारा नो असद्वशे"। अग्निः—"अयं नो अग्निर्वरिवः"—यह अध्वरकाण्ड में (उदाहरण है)। अघ—"रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत"—यह ग्रह-काण्ड में (उदाहरण है)।...॥ १३ ॥

सू० अ०—नमः पूर्व में होने पर अग्रे, अश्वेभ्यः, अग्रियाय (का अकार लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—नमःपूर्वः= नमः पूर्व में होने पर; अग्रे, अश्वेभ्यः, अग्रियाय इनमें स्थित अकार लुप्त नहीं होता है।....॥ १४ ॥

---

(१) ५।७।३ (२) ७।२।१०
(३) १।२।३ (४) १।३।४ (५) १।४।२४
(६) १।५।६ (७) ३।१।६ (८) ७।५।७
(९) ७।५।२४ (१०) २।५।३ (११) २।१।५
(१२) ४।५।८ (१३) ४।५।३ (१४) ४।५।५
(१५) ६।४।३ (१६) १।५।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(नमःपूर्वः=) नमश्शब्देपूर्वे; (अग्रेऽश्वेभ्योऽग्रियाय=) अग्र इत्यादिनाम्; आदिरकारो न लुप्यते। अग्रे—"नमो अग्रे वधाय च"[१]। अश्वेभ्यः—"नमो अश्वेभ्यः"[२]। अग्रियाय—"नमो अग्रियाय च"[३]। नमःपूर्व इति किम्? "अग्रे गुनोऽग्र इथम्"[४] ॥ १४ ॥

आविन्नः सोमः पूर्वो ग्निपरः ॥ १५॥

मा०—अकारो न खलु लुप्यते। यथा—"आविन्नो अग्निर्गृहपतिः"[५]। "उपास्तावः कलशः सोमो अग्निः"[६]। एवंपूर्व इति किम्? "योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि"[७]। अग्निपर इति किम्? "आविन्नोऽथमसावामुष्यायणः"[८] ॥ १५ ॥

त्रि०—आविन्नः, सोमः, एवम्पूर्वोऽकारो ग्निपरो न लुप्यते। ग्नीतिपदैकदेशः शाखान्तरे बहूपादानार्थः। "आविन्नो अग्निर्गृहपतिः"[५]। "सोमो अग्निरूप देवाः"[६]। एवम्पूर्व इति किम्? "सोऽग्निर्जातः"[९]। एवम्पर इति किम्? "आविन्नोऽथमसौ"[८] ॥ १५ ॥

वै०—(आविन्नस्सोमःपूर्वः—) आविन्नस्सोम इत्यनयोः पूर्वयोः; (ग्निपरः=) ग्निशब्दपरः; अकारो न लुप्यते। "आविन्नो अग्निः"[५]। "सोमो अग्निः"[६]। एतत्पूर्व इति किम्? "संवथ्सरोऽग्निश्चित्यः"[१०]। ग्निपर इति किम्? "आविन्नोऽथमसौ"[८] ॥१५॥

वै० अ०—(नमःपूर्वः=) नमः पूर्व में होने पर; (अग्रेऽश्वेभ्योऽग्रियाय=) अग्रे इत्यादि का; आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ १४ ॥

सू० अ०—आविन्नः और सोमः पूर्व में होने पर तथा ग्नि बाद में होने पर (अकार का लोप नहीं होता है)।

त्रि० अ०—आविन्नः, सोमः— ये; पूर्वः= पूर्व में होने पर; तथा; ग्निपरः= ग्नि बाद में होने पर; अकार लुप्त नहीं होता है। 'ग्नि'—यह पद का एकदेश दूसरी शाखा में बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है।[क]...॥ १५ ॥

वै० अ०—(आविन्नस्सोमःपूर्वः=) आविन्नः, सोमः—ये पूर्व में होने पर; (ग्निपरः=) ग्नि बाद में होने; अकार लुप्त नहीं होता है।...॥ १५ ॥

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण के रूप में जो स्थल तै० सं० मे मिलते हैं वहाँ केवल अग्निः (प्रथमा एकवचन) उपलब्ध होता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर यह कहना चाहिए था—ग्निः बाद में होने पर।

सिद्धान्ती—'ग्नि' पद के इस एक अवयव का ग्रहण दूसरी शाखा में उपलब्ध स्थलों के लिए है।

---

(१) ४।५।८ (२) ४।५।३ (३) ४।५।५ (४) १।१।५
(५) १।८।१२ (६) ३।२।४ (७) ५।७।६
(८) १।८।१२ (९) ५।१।४ (१०) ५।६।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरासोऽदब्धासएकादशासऋषीणांपुत्रश्शार्यातेऽषाढः पितारः पृथिवीयज्ञ-
आसतेयेगृह्णाम्यग्रेवाꣳएषजज्ञेसꣳस्फानोयुवयोर्यः पृष्ठेपतिर्वोगोशुष्मः पुवः
समिद्धऋषभः पाथोवचोवर्षिष्ठेजुषाणोयोरुद्रोवृष्णः पूर्वः ॥ १६ ॥

मा०—धीरासः, अदब्धासः, एकादशासः, ऋषीणां पुत्रः, शार्याते, अषाढः, पितारः, पृथिवीयज्ञे, आसतेये, गृह्णाम्यग्रे, वाँ एषः, जज्ञे, संस्फानः, युवयोर्यः, पृष्ठे, पतिर्वः, गो, शुष्मः, पुवः, समिद्धः ऋषभः, पाथः, वचः, वर्षिष्ठे, जुषाणः, योरुद्रः, वृष्णः, धीरासः इत्येवमादिपूर्वः अकारः न खलु लोपमापद्यते। यथा—"तान्धीरासो अनुदृश्य यजन्ते"[१]। "अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्"[२]। "एकादशासो अप्सुषदः"[३]। "ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः"[४]। ऋषीणां पुत्र इति किम्? "यस्य पुत्रोऽजातः स्यात्"[५]। "यथा शार्याते अपिबः सुतस्य"[६]। "अषाढो अग्निः"[७]। "त्वत्पितारो अग्ने देवाः"[८]। "पृथिवी यज्ञे अस्मिन्"[९]। पृथिवी यज्ञ इति किम्? "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः"[१०]। "यज्ञहनः पृथिव्याम्"[११]। "अध्यासते ये अन्तरिक्षे"[१२]। आसते ये इति किम्? "नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे"[१३]। "मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम्"[१४]। गृह्णाम्यग्र इति किम्? "अष्टौ कृत्वोऽग्रेऽभिषुणोति"[१५]। "इडावाँ एषोऽसुरः"[१६]। वाꣳ एष इति किम्? "शुक्र एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः"[१७]। "सꣳस्फानो अभि रक्षतु"[१८]। सꣳस्फान इति किम्? "मयस्फानो अग्निघु" इत्यन्यस्यां शाखायाम्। "युवयोर्यो अस्ति"[१९]। युवयोर्य इति किम्? "योऽप्सु भस्म प्रवेशयति"[२०]। "नाकस्य पृष्ठे अधिरोचने दिवः"[२१]। "यज्ञपतिर्वा अत्र तँ स्म"[२२]। पतिर्वं इति किम्? "न वोऽभागानि हव्यम्"[२३]। "गो अर्धमेव सोमं करोति"[२४]। "अगो अर्धं सोमङ्कुर्यात्"[२५]। अस्यापि गो इत्यनेन ग्रहणं भवति। कस्मात्? "अप्यकारादि"[२६] वचनात्। "उच्छुष्मो अग्ने यजमानाय"[२७]। "आपो देवीरग्रे पुवो अग्रे गुवः"[२८]। "समिद्धो अञ्जन् कृदरम्"[२९]।

सू० अ०—धीरासः, अदब्धासः, एकादशासः, ऋषीणां पुत्रः, शार्याते, अषाढः, पितारः, पृथिवी यज्ञे, आसते ये, गृह्णाम्यग्रे, वाꣳएषः, जज्ञे, सꣳस्फानः, युवयोर्यः, पृष्ठे, पतिर्वः, गो, शुष्मः, पुवः समिद्धः, ऋषभः, पाथः, वचः, वर्षिष्ठे, जुषाणः, यो रुद्रः, वृष्णः—ये पूर्व में होने पर (अकार का लोप नहीं होता है)।

(१) १।१।६	(२) १।१।१०	(३) १।४।११	(४) १।३।७
(५) १।५।८	(६) १।४।१८	(७) १।५।१०	(८) १।५।१०
(९) १।६।५	(१०) ७।१।१	(११) ३।५।४	(१२) ३।५।४
(१३) ४।५।११	(१४) ५।७।६	(१५) ६।४।५	(१६) १।६।६
(१७) ७।२।७	(१८) ३।३।८		
(१९) ३।५।४	(२०) ५।२।२	(२१) ३।५।५	(२२) ५।७।७
(२३) ५।१।१	(२४) ६।१।१०	(२५) ६।१।१०	(२६) १।५२
(२७) १।६।२	(२८) १।१।५	(२९) ५।१।११	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अस्तम्नाद्यामृषभौ अन्तरिक्षम्"[१]। "प्रियं पाथो अपोह्यस्मात्"[२]। "उग्रं वचो अपावधीम्"[३]। "वर्षिष्ठे अधि नाके"[४]। "जुषाणो अप्तु राज्यस्य"[५]। "यो रुद्रो अग्नौ"[६]। यो रुद्र इति किम्? "यदुप तृन्द्याद्दुदोऽस्य"[७]। "वृष्णो अश्वस्य सन्दानम्"[८] ॥ १६ ॥

त्रि०—धीरासः, अदब्धासः, एकादशासः, ऋषीणां पुत्रः, शार्याते, अषाढः, पितारः, पृथिवीयज्ञे, आसतेये, गृह्णाम्यग्रे, वाꣳएषः, जज्ञे, सꣳस्फानः, युवयोर्यः, पृष्ठे, पतिर्वे., गो, शुष्मः, पुवः, समिद्धः, ऋषभः, पाथः, वचः, वर्षिष्ठे, जुषाणः, योरुद्रः, वृष्णः एवम्पूर्वो न खल्वकारो लुप्यते। यथा—"धीरासो अनुदृश्य यजन्ते"[९]। "अदब्धासो अदाभ्यम्"[१०]। "एकादशासो अप्सुषदः"[११]। "ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः"[१२]। ऋषीणामिति किम्? "यस्य पुत्रोऽजातः"[१३]। "यथा शार्याते अपित्वः"[१४]। "अषाढो अग्निः"[१५]। "त्वत्पितारो अग्ने देवाः"[१५]। "पृथिवी यज्ञे अस्मिन्"[१६]। पृथिवीति किम्? "ते माऽस्मिन् यज्ञे"[१७]। इत्यत्र जटायां—"अस्मिन् यज्ञे यज्ञेऽस्मिन्नस्मिन् यज्ञे"[१७]। "अध्यासते ये अन्तरिक्षे"[१७]। आसत इति किम्? "पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे"[१८]। "मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम्"[१९]। गृह्णामीति किम्? "अष्टौकृत्वोऽग्रेऽभिघुणोति"[२०]। "इडावाꣳएषो असुर"[२१]। वानिति किम्? "शुक्र एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः"[२२]। "प्रथमं जज्ञे अग्निः"[२३]। "सꣳस्फानो अभि रक्षतु"[२४]। समिति किम्? "मयस्फानोऽग्निषु" इति शाखान्तरे। "युवयोर्यो अस्ति"[२५]। युवयोरिति किम्? "योऽप्सु भस्म"[२६]। "नाकस्य पृष्ठे अधि"[२७]। "यज्ञपतिर्वो अत्र"[२८]। पतिरिति किम्? "न वोऽभागानि हव्यम्"[२९]। "गोअर्धमेव सोमं करोति"[३०]। "अव्यकारादि"[३१] इति वचनात् "अगो अर्धम्"[३२] इति चोदाहरणम्। "उच्छुष्मो अग्ने यजमानाय"[३३]। "अग्ने पुवो अग्ने गुवः"[३४]। "समिद्धो अञ्जन्"[३५]। "द्यामृषभो अन्तरिक्षम्"[३६]। "प्रियं पाथो अपीहि"[३७]। "उग्रं वचो अपावधीम्"[३८]। "वर्षिष्ठे अधि नाके"[३९]। "जुषाणो अप्तुराज्यस्य

त्रि० अ०—धीरासः····वृष्णः—ये; पूर्वः= पूर्व में होने पर अकार लुप्त नहीं होता है।····॥ १६ ॥

---

(१) १।२।८ (२) ३।३।३ (३) १।२।११ (४) १।१।८
(५) १।३।४ (६) ५।५।६ (७) ६।३।६ (८) २।४।७
(९) १।१।६ (१०) १।१।१० (११) १।४।११
(१२) १।३।७ (१३) १।५।८ (१४) ३।२।५ (१५) १।५।१०
(१६) १।६।५ (१७) ३।५।४ (१८) ४।५।११ (१९) ५।७।६
(२०) ६।४।५ (२१) १।६।६ (२२) ७।२।२ (२३) २।२।४
(२४) ३।३।८ (२५) ३।५।४ (२६) ५।२।२ (२७) ३।५।५
(२८) ५।७।७ (२९) ५।१।१ (३०) ६।१।१० (३१) १।५२
(३२) ६।१।१० (३३) १।६।२ (३४) १।१।५ (३५) ५।१।११
(३६) १।२।८ (३७) ३।३।३ (३८) १।२।११ (३९) १।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेतु"[१]। "यो रुद्रो अग्नौ यः"[२]। य इति किम्? "यदुपतृन्द्याद्रुदोऽस्य"[३]। "वृष्णो अश्वस्य सन्दानम्"[४] ॥ १६ ॥

वै०—(धीरासो···पूर्वः =) धीरास इत्यादिषु पूर्वेषु; पदादिरकारो न लुप्यते। धीरासः—"तां धीरासो अनुदृश्य यजन्ते"[५]। अदब्धासः—"अदब्धासो अदाभ्यम्"[६]। एकादशासः—"एकादशासो अप्सुषदः"[७]। ऋषीणां पुत्रः—"ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः"[८]। ऋषीणामिति किम्? "यस्य पुत्रोऽजातस्स्यात्"[९]। शार्याते—"यथा शार्याते अपिबस्सुतस्य"[१०]। अषाढः—"अषाढो अग्निः"[११]। पितारः—"त्वत्पितारो अग्ने"[१२]। पृथिवी यज्ञे—"उरुधारा पृथिवी यज्ञे अस्मिन्"[१३]। पृथिवीत्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। जटायां तु अलोपप्राप्त्यभावान्न तत्र प्रत्युदाहरणं युक्तम्। आसते ये—"अध्यासते ये अन्तरिक्षे"[१४]। आसत इति किम्? "ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे"[१५]। गृह्णाम्यग्ने—"मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निम्"[१६]। गृह्णामीति किम्? "अपोऽग्रेऽभि व्याहरति"[१७]। वाꣳएषः—"इडावाꣳएषो असुर प्रजावान्"[१८] इति याजमाने। वानिति किम्? "प्लवो वा एषोऽग्नेः"[१९]। जज्ञे—"इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः"[२०]। सꣳस्फानः "सꣳस्फानो अभि रक्षतु"[२१]। समित्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। युवयोर्यः—"युवयोर्यो अस्ति"[२२]। युवयोरिति किम्? "योऽग्निꣳहोतारमवृथाः"[२३]। पृष्ठे—"नाकस्य पृष्ठे अधिरोचने"[२४]। पतिर्वः—"यज्ञपतिर्वो अन्न"[२५]। पतिरिति किम्? "आपोऽर्वाची सुमतिः"[२६]। गो—"पशवो गो अश्वानेव"[२७]। "अप्यकारादि"[२८] इति वचनात्। "अगो अर्धम्"[२९] इत्यपि भवति। शुष्मः—"उच्छुष्मो अग्ने"[३०]। पुवः—"अग्ने पुवो अग्ने गुवः"[३१]। समिद्धः—"समिद्धो अग्ने मे दीदिहि"[३२]। ऋषभः—"द्यामृषभो अन्तरिक्षम्"[३३]। पाथः—"प्रियं पाथो अपीहि"[३४]। वचः—उग्रं वचो अपावधीम्"[३५]। द्वितीयकक्ष्येयमिति कृत्वा—"मो वचोदधान"[३६] इत्यनेन न विरोधः। तस्य "धातारातिः"[३७] इत्यादिसूत्रविषयत्वात्। वर्षिष्ठे—"वर्षिष्ठे अधि नाके"[३८]। जुषाणः—"जुषाणो अप्तुराज्यस्य

वै० अ०—(धीरासो··· पूर्वः =) धीरासः इत्यादि पूर्व में होने पर; पदादिभूत अकार लुप्त नहीं होता है।···॥ १६)

---

(१) १।३।४	(२) ५।५।६	(३) ६।३।६	(४) २।४।७
(५) १।१।६	(६) १।१।१०	(७) १।४।११	(८) १।३।७
(९) १।५।८	(१०) १।४।१८	(११) १।५।१०	(१२) १।५।१०
(१३) १।६।५०	(१४) ३।५।४	(१५) ४।५।११	(१६) ५।७।९
(१७) ६।४।३	(१८) १।६।६	(१९) ५।३।१०	(२०) २।२।४
(२१) ३।३।८	(२२) ३।५।४	(२३) २।५।९	(२४) ३।५।५
(२५) ५।७।७	(२६) १।४।२२	(२७) ५।२।६	(२८) १।५२
(२९) ६।१।१०	(३०) १।६।२	(३१) १।१।५	(३२) १।६।६
(३३) १।२।८	(३४) ३।३।३	(३५) १।२।११	(३६) १२।६
(३७) ११।३	(३८) १।१।८		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेतु"[1]। यो रुद्रः—"यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु"[2]। य इति किम्? "ताꣳरुद्रोऽवासृजत्"[3]। वृष्णः—"वृष्णो अꣳशुभ्याम्"[4] ॥ १६ ॥

अरतिमस्ययज्ञस्यातिद्रुतोऽतियन्त्यनृणोऽविष्यन्ननमीवोऽन्नेष्वर्चिरजितानज्यानिमह्रियाअम्बाल्यर्वन्तमस्त्वकृणोदङ्गिरोऽफ्सुयोअस्कभायदच्युतोऽश्वसनिरस्थभिरशिश्रेदङ्गेऽध्निय ॥ १७ ॥

मा०—अरतिम्, अस्य यज्ञस्य, अतिद्रुतः, अतियन्ति, अनृणः, अविष्यन्, अनमीवः, अन्नेषु, अर्चिः, अजीतान्, अज्यानिम्, अह्रियाः, अम्बालि, अर्वन्तम्, अस्तु, अकृणोत्, अङ्गिरः, अफ्सुयः, अस्कभायत्, अच्युतः, अश्वसनिः, अस्थभिः, अशिश्रेत्, अङ्गे, अध्निय इत्येतेषु ग्रहणेषु अकार एकारपूर्व ओकारपूर्वो वा न खलु लोपमापद्यते। यथा—मूर्द्धानं दिवो अरतिम्"[5]। "यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य"[6]। अस्य यज्ञस्येति किम्? "कोऽस्येश्वरो यज्ञे"[7]। "प्रत्यङ्ङ्सोमो अतिद्रुतः"[8]। "पश्यन्तो अतियन्ति"[9]। अतिद्रुतोऽतियन्तीति किम्? "नैनं सोमोऽति पवते"[10]। "एतत्तदग्ने अनृणो भवामि"[11]। "न यवसे अविष्यन्"[12]। "स्वा वेशो अनमीवो भवानः"[13]। "ये अन्नेषु विविध्यन्ति"[14]। "जातवेदो यो अर्चिः"[15]। "शरदो अजीतानिन्द्रः"[16]। "तेषां यो अज्यानिमजोतिम्"[17]। "तिरो अह्रिया मा सुहुता"[18]। "अम्बे अम्बाल्यम्बिके"[19]। "यो अर्वन्तं जिघाँसति"[20]। "अस्त्वथेमवस्य"[21]। "अग्ने अङ्गिरः"[22]। "इत इन्द्रो अकृणोद्वीर्याणि"[23]। "यो अप्सु य ओषधीषु"[24]। अप्सुय इति किम्? "योऽप्सु भस्म प्रवेशयति"[25]। "यो अस्कभायदुत्तरम्"[26]। "मदाय रसो अच्युतः"[27]। "यो भक्षो अश्वसनिः"[28]। अश्वसनिरिति किम्? "सोऽश्वस्यावान्तरशफोऽभवत्"[29]। "ग्रहणस्य च" इति वचनात् अत्रापि प्राप्नोति "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः"[30]। अस्थभिरिति किम्? "शमस्थभ्यो मज्जभ्यः मज्जभ्योऽ-

---

सू० अ०—अरतिम्, अस्ययज्ञस्य, अतिद्रुतः, अतियन्ति, अनृणः, अविष्यन्, अनमीवः, अन्नेषु, अर्चिः, अजीतान्, अज्यानिम्, अह्रियाः, अम्बालि, अर्वन्तम्, अस्तु, अकृणोत्, अङ्गिरः, अफ्सुयः, अस्कभायत्, अच्युतः, अश्वसनिः, अस्थभिः,

---

(१) १।३।४ (२) ५।५।६ (३) ६।२।३ (४) १।४।२
(५) १।४।१३ (६) १।६।२ (७) २।६।७ (८) १।८।२१
(९) ३।२।२ (१०) ६।५।११ (११) ३।३।८
(१२) ४।४।३ (१३) ३।४।१० (१४) ४।५।११ (१५) ५।७।८
(१६) ५।७।२ (१७) ५।७।२ (१८) ७।३।१३ (१९) ७।४।१९
(२०) ७।४।१५ (२१) १।२।३ (२२) १।२।१२ (२३) १।१।१२
(२४) ५।५।६ (२५) ५।२।२ (२६) १।२।१३ (२७) १।२।६
(२८) ३।२।५ (२९) ५।२।६ (३०) ५।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थभ्यः"[१]। "स्वान्तनुवं वरुणो अशिश्रेत्"[२]। "प्राणो अङ्गे अङ्गे नि देष्यत्"[३]। "एतानि ते अघ्निये नामानि"[४]। घ्नीत्यपदग्रहणमनेकपदार्थग्रहणार्थम्। "यदापो अघ्निया वरुणेति"[५]। "पयो अघ्नियासु"[६] इति ॥ १७ ॥

त्रि०—अरतिम्, अस्य यज्ञस्य, अतिद्रुतः, अतियन्ति, अनृणः, अविष्यन्, अनमीवः, अन्नेषु, अर्चिषः, अजीतान्, अज्यानिम्, अह्नियाः, अम्बालि, अर्वन्तं, अस्तु, अकृणोत्, अङ्गिरः, अप्सुयः, अस्कभायत्, अच्युतः, अश्वसनिः, अस्थभिः, अशिश्रेत्, अङ्गे, अघ्निय एतेष्वकारो न खल्वेकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा लुप्यते। यथा—"मूर्द्धानं दिवो अरतिम्"[७]। "यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य"[८]। यज्ञस्येति किम्? "एतेऽस्यामुष्मिन्"[९]। "प्रत्यङ्खसोमो अतिद्रुतः"[१०]। "पश्यन्तो अतियन्ति"[११]। द्रुतोयन्तीत्याभ्यां किम्? "नैनꣳसोमोऽति पवते"[१२]। "तदग्ने अनृणो भवामि"[१३]। "न यवसे अविष्यन्"[१४]। "स्वावेशो अनमीवः"[१५]। "ये अन्नेषु विविध्यन्ति"[१६]। "जातवेदो यो अर्च्चिः"[१७]। शरदो अजीतान्"[१८]। "तेषां यो अज्यानिम्"[१९]। "तिरो अह्निया मा सुहुताः"[२०]। "अम्बे अम्बालि"[२१]। "यो अर्वन्तं जिघाꣳसति"[२२]। "बहिस्ते अस्तु बालिति"[२३]। "इत इन्द्रो अकृणोत्"[२४]। "अग्ने अङ्गिरो योऽस्याम्"[२५]। "यो अप्सु य ओषधीषु"[२६]। य इति किम्? अश्वोऽप्सुजो वेतसः"[२७]। "यो अस्कभायदुत्तरम्"[२८]। "मदाय रसो अच्युतः"[२९]। "यो भक्षो अश्वसनिः"[३०]। सनिरिति किम्? "अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यः"[३१]। "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः"[३२]। भिरिति किम्? "शमस्थभ्यो मज्जभ्यः"[३३]। इत्यत्र जटायाम्—"अस्थभ्यो मज्जभ्यो मज्जभ्योऽस्थभ्योऽस्थभ्यो मज्जभ्यः"[३४]। "वरुणो अशिश्रेत्"[३५]। "अङ्गे अङ्गे निदेष्यत्"[३६]। अघ्नियेत्यकारगृहीतः पदैकदेशो बहूपादानार्थः। "एतानि ते अघ्निये नामानि"[३७]। "यदापो अघ्निया वरुणेति"[३८]। "पयो अघ्नियासु ह्रत्सु"[३९] ॥ १७ ॥

अशिश्रेत्, अङ्गे, अघ्निय (का अकार एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर लुप्त नहीं होता है)।

त्रि० अ०—अरतिम्···अघ्निय का अकार एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर लुप्त नहीं होता है।—॥ १७ ॥

---

(१) ५।२।१२	(२) १।८।१०	(३) १।३।१०	(४) ७।१।६
(५) १।३।११	(६) १।२।८	(७) १।४।१३	(८) १।६।२
(९) ६।१।१०	(१०) १।८।२१	(११) ३।२।२	(१२) ६।५।११
(१३) ३।३।८	(१४) ४।४।३	(१५) ३।४।१०	(१६) ४।५।११
(१७) ५।७।८	(१८) ५।७।२	(१९) ५।७।२	(२०) ७।३।१३
(२१) ७।४।१९	(२२) ७।४।१५	(२३) ३।३।१०	(२४) १।२।१२
(२५) १।२।१२	(२६) ५।५।९	(२७) ५।३।१२	
(२८) १।२।१३	(२९) १।२।६	(३०) ३।२।५	(३१) ४।५।३
(३२) ५।६।६	(३३) ५।२।१२	(३४) १।८।१०	(३५) १।३।१०
(३६) ७।१।६	(३७) १।३।११	(३८) १।२।८	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(अरतिम्……ऽघ्निय =) अरतिमित्यादीनाम्; आदिरकार एकारौकारयोः पूर्वयोर्न लुप्यते। यथा—अरतिम्—"मूर्धानं दिवो अरतिम्"[१]। अस्य यज्ञस्य—"यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य"[२]। यज्ञस्येति किम्? "सुवर्ग्योऽस्य भवति"[३]। अतिद्रुतः—"प्रत्यङ्ङ्सोमो अतिद्रुतः"[४]। अतियन्ति—"तयोः पश्यन्तो अतियन्त्यन्त्यम्"[५]। द्रुतो यन्तीति किम्? "परो मूजवतोऽतीहि"[६]। अनृणः—"तदग्ने अनृणो भवामि"[७]। अविष्यन्—"नयवसे अविष्यन्"[८]। अनमीवः—"स्वावेशो अनमीवो भवा नः"[९]। अन्नेषु—"ये अन्नेषु वि विध्यन्ति"[१०]। अर्चिः—"जातवेदो यो अर्चिः"[११]। अजीतान्—"शरदो अजीतानिन्द्रः"[१२]। अज्यानिम्—"यो अज्यानिमजीतिमावहात्"[१३]। अह्निया—"तिरो अह्निया मा सुहुताः"[१४]। अम्बालि—"अम्बे अम्बालि"[१५]। अर्वन्तम्—"यो अर्वन्तम्"[१६]। अस्तु—"सुमतिष्टे अस्तु"[१७]। अकृणोत्—"इत इन्द्रो अकृणोत्"[१८]। अङ्गिरः—"अग्ने अङ्गिरः"[१९] इत्यध्वरकाण्डे। अप्सुयः—"यो अप्सु य ओषधीषु"[२०]। य इति किम्? "योऽप्सु भस्म प्रवेशयति"[२१]। अस्कभायत्—"यो अस्कभायदुत्तरम्"[२२] अच्युतः—"मदाय रसो अच्युतः"[२३]। अश्वसनिः—"यो भक्षो अश्वसनिः"[२४]। सनिरिति किम्? "योऽश्वमेधेन"[२५]। अस्थभिः—"इन्द्रो दधीचो अस्थभिरिति"[२६]। भिरित्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे। अशिश्रेत्—"तनुवं वरुणो अशिश्रेत्"[२७]। अङ्गे—"प्राणो अङ्गे-अङ्गे"[२८]। अघ्नियेति पदैकदेशोऽनेकग्रहणार्थः। "यदापो अघ्निया वरुणेति"[२९]। "एतानि ते अघ्निये"[३०]। "पयो अघ्नियासु हृथ्सु"[३१] ॥ १७ ॥

अध्वर स्वरपरे ॥ १८ ॥

मा०—अध्वर इत्येतस्मिन् ग्रहणे स्वरपर एकारपूर्व ओकारपूर्वो वा अकारो न लोपी

वै० अ०—अरतिम्…अघ्निय इत्यादि का अकार एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर लुप्त नहीं होता है।…॥ १७ ॥

सू० अ०—स्वर है बाद में (अथवा अन्त में) जिसके ऐसे अध्वर (का अकार लुप्त नहीं होता है)।

---

(१) १।४।१३	(२) १।६।२	(३) ५।५।३	(४) १।८।२१
(५) ३।२।२	(६) १।८।६	(७) ३।३।८	(८) ४।४।३
(९) ३।४।१०	(१०) ४।५।११	(११) ५।७।८	(१२) ५।७।२
(१३) ५।७।२	(१४) ७।३।१३	(१५) ७।४।१९	(१६) ७।४।१५
(१७) १।४।४५	(१८) १।१।१२	(१९) १।२।१२	(२०) ५।५।९
(२१) ५।२।२	(२२) १।२।१३	(२३) १।२।६	(२४) ३।२।५
(२५) ५।३।१२	(२६) ५।६।६	(२७) १।८।१२	(२८) १।३।१०
(२९) १।३।११	(३०) ७।१।६	(३१) १।२।८	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति। यथा—"सत्यधर्माणो अध्वरे"[१]। "हविष्मान् देवो अध्वरः"[२]। "उप प्रयन्तो अध्वरमित्याह"[३]। अत्र "यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति"[४] इति वचनं न भवति; अस्यासङ्ख्यानविषयत्वात्, "नानापदवदिङ्ग्यमसङ्ख्याने"[५] इति सङ्ख्याने प्रतिषेधाच्च। स्वरपर इति किम्? "शुग्वा अग्निः सोऽध्वर्युम्"[६]। "अन्धोऽध्वर्युः स्यात्"[७] ॥ १८ ॥

त्रि०—अध्वर इत्यस्मिन् ग्रहणे स्वरपरे वर्तमानोऽकारो न खल्वेकारौकारपूर्वो वा लुप्यते। यथा—"सत्यधर्माणो अध्वरे"[१]। "हविष्मान्देवो अध्वरः"[२]। "उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह"[३]। अत्र "त्रिपदप्रभृति"[४] न्यायो न प्रसरति तल्लक्षणासम्भवात्। स्वरपर इति किम्? "शुग्वा अग्निस्सोऽध्वर्युम्"[६] ॥ १८ ॥

वै०—अकारान्ततया निर्दिष्टे अध्वर इत्यस्मिन् ग्रहणे स्वरपरे आदिभूतोऽकार एकारौकारपूर्वो न लुप्यते। "सत्यधर्माणो अध्वरे"[१]। "हविष्मान्देवो अध्वरः"[२]। "उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह"[३] इत्यत्र "त्रिपदप्रभृति"[४] न्यायो न प्रसरति तल्लक्षणासम्भवात्।

त्रि० अ०—एकार अथवा ओकार है पूर्व में जिसके ऐसे अध्वर—इस पद में वर्तमान अकार; स्वरपरे=स्वर बाद में होने पर; लुप्त नहीं होता है।[क] जैसे—"सत्यधर्माणो अध्वरे"। "हविष्मान्देवो अध्वरः"। "उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह" यहाँ "तीन पदों का समुदाय है प्रारम्भ में जिसके ऐसा तीन से अधिक पदों का समुदाय पुनरुक्त होने पर पूर्व में कहे गए (पाठ के समान होता है)"—यह न्याय लागू नहीं होता है, क्योंकि वह नियम यहाँ सम्भव नहीं है।[ख] स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "शुग्वा अग्निस्सोऽध्वर्युम्" ॥ १८)

वै० अ०—अकारान्त के रूप में निर्दिष्ट अध्वर इस पद के बाद में; स्वरपरे= स्वर होने पर (अध्वर का) आदिभूत अकार लुप्त नहीं होता है।....॥ १८ ॥

(क) तात्पर्य यह है कि यह सूत्र तभी लागू होता है जब 'अध्वर' के रेफ के बाद में कोई स्वर विद्यमान हो।

(ख) "उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह"—यह स्थल दो अनुवाकों—१।५।५ और १।५।७ में उपलब्ध होता है। १।५।५ में अलोप की सिद्धि ११।३ से होती है और १।५।७ में अलोप की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र से होती है।

पूर्वपक्षी—यह कहना ठीक नहीं है कि १।५।७ में अलोप की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र से होती है। १।६१ की सामर्थ्य से इस स्थल पर अलोप की सिद्धि हो जाती है।

सिद्धान्ती—१।६१ में उक्त नियम इस स्थल पर लागू नहीं होता है, क्योंकि यहाँ केवल दो पदों की पुनरुक्ति हुई है, जबकि १।६१ कम से कम तीन पदों की पुनरुक्ति होने पर लागू होता है। अतः १।५।७ में अलोप की सिद्धि प्रस्तुत सूत्र से ही हो जाती है।

---

(१) १।२।१ (२) १।३।१२ (३) १।५।७ (४) १।६१
(५) १।४८ (६) ५।६।२ (७) ५।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरपर इति किम्? "शुग्वा अग्निस्मोऽध्वर्युं यजमानम्"[१]। "अन्धोऽध्वर्युस्स्यात्"[२] ॥ १८ ॥

स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषामर्धसदृशमेकेषाम् ॥ १९ ॥

मा०—स खल्वकारोऽलुप्तः पूर्वस्य एकारस्य वा ओकारस्य वापि अर्धकालसदृशं भवति एकेषामाचार्याणाम्। यथा—"मा ते अस्यां सहसावान्"[३]। "समिद्धो अञ्जन्"[४]। "क्रूरः"[५] इति ॥ १९ ॥

त्रि०—योऽयमकारोऽलुप्तः स पूर्वस्य एकारस्य ओकारस्य वा; (अर्धसदृशम्=) अर्धमात्रसदृशम्; कालं भजते इत्येकेषामृषीणां मतम्। अध्यर्धमात्रः स्यादित्यर्थः। उक्तान्येवोदाहरणानि विशेषादर्शनात्। अर्धेन सदृशः अर्धसदृशः, तं अर्धसदृशम् ॥ १९ ॥

व०—योऽयमकार एकारौकारपूर्वो न लुप्यते, स खलु स्वस्मात्पूर्वस्य वर्णस्य; (अर्धसदृशम्=) अर्धेन सदृशम्; रूपमुपागच्छति इत्येकेषामाचार्याणां मतम्। यथा—"ते ए अग्ने अश्वमायुञ्जन्"[६] इत्येकारस्यार्धेन "यो रुद्रो ओ अग्नौ यो अप्सु"[७] इत्योकारस्य। सोऽयं छन्दोगावान्तरचरणानां सात्यमुग्रिराणायनीयानां पक्षः। अस्मच्छाखादौ तु न विद्यते। अतएवानयोर्वर्णयोः वर्णसमाम्नाये न पाठः ॥ १९ ॥

सू० अ०—कुछ आचार्यों के मत में वह (अलुप्त अकार) पूर्ववर्ती (एकार और ओकार) के आधे के सदृश होता है।

त्रि० अ०—जो अकार लुप्त नहीं होता है; सः=वह (अकार); पूर्वस्य=पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार की; (अर्धसदृशम्=) आधी मात्रा के समान; काल का होता है, एकेषाम्=कुछ आचार्यों का; यह मत है। डेढ़ मात्रा का होता है—यह अर्थ है। पूर्वोक्त उदाहरण ही यहाँ भी है, अन्य उदाहरणों से कोई विशेष बात ज्ञात नहीं होगी। आधे के समान=अर्धसदृश। उस आधे के समान (काल) को ॥ १९ ॥

वै० अ०—जो यह अकार, एकार और ओकार पूर्व में होने पर, लुप्त नहीं होता है वह अपने; पूर्वस्य=पूर्ववर्ती वर्ण के; (अर्धसदृशम्=) आधे के सदृश; रूप को प्राप्त करता है; एकेषाम्=कतिपय आचार्यों का यह मत है। जैसे—"ते ए अग्ने अश्मायुञ्जन्"—यह एकार के आधे के सदृश है। "यो रुद्रो ओ अग्नौ यो अप्सु" यहाँ ओकार के (आधे के सदृश है)। यह सामवेद की अवान्तर शाखाओं सात्यमुग्रि के और राणायनीय के अनुयायियों का पक्ष है। हमारी शाखा आदि में तो यह नहीं होता है। यही कारण है कि इन दो वर्णों (अर्ध एकार; और अर्ध ओकार) का पाठ वर्ण—समाम्नाय में नहीं किया गया है।

---

(१) ५।६।२ (२) ५।१।३ (३) १।६।१२ (४) ५।१।११
(५) ६।१।७ (६) १।७।७ (७) ५।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ लोपः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। लोप इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। अकारस्य लोप उच्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः "धातारातिः"[1] इत्यादिविषयोऽयमध्यायारम्भः ॥ १ ॥

वै०—अनेन "धातारातिः"[1] इत्यादिसूत्रस्यापवादभूतोऽकारलोपविधिरारभ्यते ॥ १ ॥

असि ॥ २ ॥

मा०—असि इत्येतस्मिन्नेकारपूर्वं ओकारपूर्वं अकारो लोपी भवति। यथा—"सुपर्णोऽसि गरुत्मान्"[2]। "प्रथोऽसि पृथिव्यसि"[3]। "धातारातिः"[4] इत्येवमादीनां लोपे प्राप्ते यलोपो विधीयते ॥ २ ॥

त्रि०—असि इत्यस्मिन् अकारो लुप्यते, एकारौकारपूर्वः। यथा—"सुपर्णोऽसि गरुत्मान्"[2]। "प्रथोऽसि पृथिव्यसि"[3] ॥ २ ॥

सू० अ०—अब लोप (प्रारम्भ होता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार अर्थ में प्रयुक्त है। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ अकार का लोप कहा जाता है—यह अधिकृत जानना चाहिए। "धातारातिः" इत्यादि स्थलों के लिए इस अध्याय का आरम्भ किया गया है ॥ १ ॥

वै० अ०—इस (सूत्र) से "धातारातिः" इत्यादि सूत्र के अपवादभूत अकार के लोप की विधि आरम्भ की जाती है[क] ॥ १ ॥

सू० अ०—असि (का अकार लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर असि—इसमें स्थित अकार लुप्त हो जाता है। जैसे—"सुपर्णोऽसि गरुत्मान्"। "प्रथोऽसि पृथिव्यसि" ॥ १ ॥

(क) ११।३ में यह विधान किया गया है कि "धातारातिः" इत्यादि अनुवाकों में एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है। प्रस्तुत अध्याय में ११।३ में निर्दिष्ट स्थलों में अकार के लोप होने का विधान किया गया है।

---

(१) ११।३ (२) ४।१।१० (३) ४।२।६ (४) ११।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—असीतिपदे अकारो "धातारातिः"[१] इत्यादिष्वनुवाकेषु एकारौकारपूर्वो लुप्यते। "आयुर्दा अग्नेऽस्यायुः"[२]। "उपयामगृहीतोऽसि नृषदम्"[३]। "दिशोऽसि ध्रुवोऽसि"[४]। "समुद्रोऽसि नभस्वान्"[५] ॥ २ ॥

न गर्भः सन्नद्धोयमोभद्रः पूर्वः ॥ ३ ॥

मा०—गर्भः, सन्नद्धः, यमः, भद्रः, इत्येवंपूर्वः असीत्येतस्मिन् अकारो न लुप्यते। यथा—"गर्भो अस्योषधानाम्"[६]। "सन्नद्धो असि वीडयस्व"[७]। "असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्"[८]। "त्वं भद्रो असि क्रतुः"[९] ॥ ३ ॥

त्रि०—गर्भः, सन्नद्धः, यमः भद्रः एवम्पूर्वः सान्निध्याल्लब्धे असीत्यस्मिन् अकारो न लुप्यते। "गर्भो अस्योषधीनाम्"[६]। "सन्नद्धो असि वीडयस्व"[७]। समिति किम्? "उपनद्धोऽसुरः"[१०] इति केचिदुदाहरन्ति, तच्चिन्त्यम्? "धातारातिः"[११] इत्याद्यन्तःपातित्वाभावात्, असिशब्दादर्शनाच्च। मुख्यं तु शाखान्तरे विज्ञेयं प्रत्युदाहरणम्। "असि यमो अस्यादित्यः"[८]। "त्वं भद्रो असि क्रतुः"[९] ॥ ३ ॥

वै० अ०—"धातारातिः" इत्यादि अनुवाकों में विद्यमान असि—इस पद में स्थित अकार, एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर, लुप्त हो जाता है।[क]... ॥ २ ॥

सू० अ०—गर्भः, सन्नद्धः, यमः तथा भद्रः पूर्व में होने पर (असि का अकार) नहीं (लुप्त होता है)।

त्रि० अ०—गर्भः, सन्नद्धः, यमः, भद्रः ये; पूर्वः = पूर्व में होने पर; सान्निध्य से प्राप्त असि—इस (पद) में स्थित अकार लुप्त; न = नहीं; होता है। "गर्भो अस्योषधीनाम्"। "सन्नद्धो असि वीडयस्व"। सम्—यह क्यों (कहा)? "उपनद्धोऽसुरः"—कुछ आचार्य इसे उद्धृत करते हैं। (किन्तु) "धातारातिः" इत्यादि के अन्तर्गत स्थित न होने से और 'असि' शब्द के दिखलाई न पड़ने से वह चिन्त्य (संदेहास्पद) है।[ख] मुख्य (उचित) प्रत्युदाहरण को तो दूसरी शाखा में जानना चाहिए। "असि यमो अस्यादित्यः"। "त्वं भद्रो असि क्रतुः" ॥ ३ ॥

(क) ११।३ के अनुसार 'धातारातिः' अनुवाकों में एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर अकार लुप्त नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र से 'धातारातिः' अनुवाकों में भी 'असि' का अकार लुप्त हो जाता है।

(ख) 'सम्' के प्रयोजन को बतलाने के लिए कतिपय आचार्यों ने "उपनद्धोऽसुरः" यह प्रत्युदाहरण प्रस्तुत किया है। भाष्यकार के अनुसार यह प्रत्युदाहरण युक्त नहीं

---

(१) ११।३ (२) १।५।५ (३) १।७।१२ (४) ४।१।५
(५) ४।७।१२ (६) ४।२।३ (७) ४।६।६ (८) ४।६।७
(९) ४।३।१३ (१०) ४।४।६ (११) ११।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—किमविशेषेण ? नेत्युच्यते—

तेष्वनुवाकेषु; (गर्भस्सन्नद्धोयमोभद्रः पूर्वः=) गर्भ इत्यादिषु पूर्वेषु; असीत्यकारो न लुप्यते। गर्भः—"स जातो गर्भो असि"[१]। सन्नद्धः—"गोभिस्सन्नद्धो असि"[२]। समित्युपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। यमः—"असि यमो असि"[३]। भद्रः—"त्वं भद्रो असि"[४] ॥ ३ ॥

यवनहपरः स्वरपरेषु ॥ ४ ॥

मा०—यकार-वकार-नकार-हकारपरेषु स्वरपरेषु अकारो लोपमापद्यते। यथा—"हिरण्यश्मश्रुरयो अस्य"[५]। "वनस्पतेऽवसृजा रराणः"[६]। "सविता वरेण्योऽनुप्रयाणम्"[७] "जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षाँसि"[८]। "स्वरपरेष्विति किम् ? "शुक्रं ते अन्यत्"[९] ॥ ४ ॥

त्रि०—(यवनहपरः=) यकारवकारनकारहकारपरः; अकारो लुप्यते, तेषु यकारादिषु स्वरपरेषु सत्सु। यथा—"हिरण्यश्मश्रुरयो अस्य पादाः"[५]। "वनस्पतेऽवसृजा रराणः"[६]। "वरेण्योऽनुप्रयाणम्"[७]। "जम्भयन्तोऽहिम्"[८]। स्वरपरेष्विति किम् ? "शुक्रं ते अन्यत्"[९]। "अग्रे अह्नाꣳहितः"[१०] ॥ ४ ॥

वै० अ०—क्या बिना किसी विशेष के (असि का अकार लुप्त हो जाता है)?। नहीं, कहते हैं—

उन (धातारातिः इत्यादि) अनुवाकों में; (गर्भस्सन्नद्धोयमोभद्रः पूर्वः=) गर्भः इत्यादि पूर्व में होने पर; असि का अकार लुप्त; न=नहीं; होता है।...सम् यह उपबन्ध दूसरी शाखा में व्यावृत्त है।...॥३॥

सू० अ०—यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है), यदि उनके बाद में स्वर हो।

त्रि० अ०—(यवनहपरः=) यकार, वकार, नकार और हकार हैं बाद में जिसके वह; अकार लुप्त हो जाता है, उन यकारादि के बाद में; (स्वरपरेषु=स्वर होने पर।...। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "शुक्रं ते अन्यत्"। "अग्रे अह्नाꣳहितः"[क] ॥ ४ ॥

है, क्योंकि 'धातारातिः' इत्यादि अनुवाकों में यह स्थल नहीं है। यहाँ इन अनुवाकों में ही लोप का विधान किया जा रहा है।

(क) मकार और हकार बाद में होने पर भी अकार लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि नकार और हकार के बाद में स्वर नहीं है।

---

(१) ४।१।४ (२) ४।६।६ (३) ४।६।७ (४) ४।३।१३
(५) ४।६।७ (६) ४।१।८ (७) ४।१।१० (८) १।७।८
(९) ४।१।११ (१०) ४।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—कार्यभाज एवायं निर्देशः। (यवनहपरः स्वरपरेषु=) य, व, न, ह इत्येतेभ्यो व्यञ्जनेभ्यः स्वरपरेभ्यः; पूर्वोऽकारः एकारौकारपूर्वस्तेष्वनुवाकेषु लुप्यते। य—"हिरण्यश्रङ्गोऽयो अस्य"[1]। व—"वाजेवाजेऽवत"[2]। न—"इन्द्रꣳसखायोऽनु"[3]। ह—"हवामहेऽꣳहोमुचम्"[4]। "जम्भयन्तोऽहिं वृकम्"[5]। "रजसो विसारेऽहिः"[6]। यवनहेति किम्? "यतो जातो अरोचथाः"[7]। स्वरपरेष्विति किम्? "वसुभिर्नो अव्यात्"[8]। "ये अन्तरिक्षे"[9]। "दुदुह्रे अहयः"[10] ॥ ४ ॥

जकारग्नपर उदात्तः ॥ ५ ॥

मा०—जकारपरः ग्नपरश्चोदात्तः अकारः लोपमापद्यते। यथा—"अभि वाममोजोऽजायथाः"[11]। "शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने बृहत्"[12]। उदात्त इति किम्? "प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः"[13]। "पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः"[14]। ॥ ५ ॥

त्रि०—(जकारग्नपरः=) जकारपरो ग्नपरश्च; अकार उदात्तो लुप्यते। यथा—"ओजोऽजायथाः"[11]। "शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने"[12]। उदात्त इति किम्? "न ततृषाणो अजरः"[15]। "निधिपतिर्नो अग्निः"[13] ॥ ५ ॥

वै०—अयमपि कार्यभाक्प्रधानो निर्देशः। ग्न इत्यकारान्तग्रहणम्। (जकारग्नपरः=) जकारात् गकारनकारसंयोगाच्च पूर्वः; अकार उदात्त एकारौकारपूर्वः तेष्वनुवाकेषु लुप्यते। "पुरो नोऽजस्रया"[16]। "शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने"[12]। एतत्पर इति किम्? "आरे अस्मे च"[17]। उदात्त इति किम्? "धामा ह यत्ते अजरः"[18]। "त्वꣳ ह्यग्ने अग्निना"[19] ॥ ५ ॥

वै० अ०—कार्यभाक् का ही यह निर्देश है। (यवनहपरः स्वरपरेषु=) स्वर है बाद में जिनके ऐसे यकार, वकार, नकार और हकार—इन व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती; अकार, एकार और ओकार पूर्व में होने पर, लुप्त हो जाता है।...॥ ४ ॥

सू० अ०—जकार और ग्न बाद में होने पर उदात्त (अकार लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—(जकारग्नपरः=) जकार बाद में होने पर और 'ग्न' बाद में होने पर; उदात्त अकार लुप्त हो जाता है।...॥ ५ ॥

वै० अ०—यह भी कार्यभाक् का निर्देश है। ग्न—यह अकारान्त का ग्रहण (किया गया) है। (जकारग्नपरः=) जकार से और गकार तथा नकार के

---

(१) ४।६।७ (२) ४।७।१२ (३) ४।६।४ (४) १।६।१२
(५) ३।१।११ (६) ४।२।४ (७) २।१।११ (८) ४।२।८
(९) १।५।५ (१०) १।६।१२ (११) १।३।१४ (१२) १।४।४४
(१३) १।५।११ (१४) ४।६।१ (१५) ४।६।५ (१६) १।५।५
(१७) ३।१।११ (१८) १।४।४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोवचोदधानस्थेपूर्वश्च ॥ ६ ॥

मा०—अनुदात्तार्थोऽयमारम्भः । ग्नपर इति चशब्दो ज्ञापयति । मः, वचः, दधानः, स्थे, इत्येवंपूर्वः ग्नपरः अकारो लोपमापद्यते । यथा—"अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यम्"[१] । मो इत्यपदग्रहणं संक्षेपार्थम् । "पूष्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्"[२] । "दधानोऽग्निर्होता"[३] । "पृथिव्यास्सधस्थेऽग्निं पुरीष्यम्"[४] । अन्वादेशः किमर्थः ? "सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्"[४] ॥ ६ ॥

त्रि०—ग्नपर इति चकारो ज्ञापयति । मः, वचः, दधानः, स्थे इत्येवम्पूर्वो ग्नपरोऽकारो लुप्यते । यथा—"अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्"[१] । म इत्यत्र पदैकदेशग्रहणं संक्षेपार्थम् । "अङ्गिरस्वद्भरिष्यामोऽग्निम्"[१] । "वचोऽग्नये भरता बृहत्"[२] । "दधानोऽग्निर् होता"[३] । "सधस्थेऽग्निं पुरीष्यम्"[४] । अन्वादेशः किमर्थः ? "सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्"[४] । ग्नपरस्यानुदात्तार्थोऽयमारम्भः ॥ ५ ॥

वै०—चशब्देन ग्नपर इत्यन्वादिश्यते । अनुदात्तार्थोऽयमारम्भः । (मोवचोदधानस्थेपूर्वः=) मः, वचः, दधानः, स्थे इत्येतेषु पूर्वेषु; ग्नपरः अकारः तेष्वनुवाकेषु लुप्यते ।

संयोग (ग्न) से पूर्ववर्ती; उदात्त अकार, एकार और ओकार पूर्व में होने पर, लुप्त हो जाता है—उन अनुवाकों में ।…॥ ५ ॥

सू० अ०—मः, वचः, दधानः तथा स्थे पूर्व में होने पर भी (अकार लुप्त हो जाता है) ।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'ग्न बाद में होने पर' को बतलाता है । मः, वचः, दधानः, स्थे—ये; पूर्वः=पूर्व में होने पर; तथा ग्न बाद में होने पर; अकार लुप्त हो जाता है । जैसे—"अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्" । मः—पद के इस एकदेश का ग्रहण संक्षेप के लिए है ।…। अन्वादेश किसलिए किया गया है ? "सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्" ।[क] 'ग्न' पर (अकार) के अनुदात्त के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया है ।[ख] ॥ ६ ॥

वै० अ०—च शब्द से (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'ग्न बाद में होने पर' का अन्वादेश किया जाता है । अनुदात्त (अकार) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया

(क) 'स्थे' पूर्व में होने पर भी अकार लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि अकार के बाद में 'ग्न' नहीं है ।

(ख) 'ग्न' बाद में होने पर उदात्त अकार पूर्ववर्ती सूत्र से लुप्त हो जाता है । 'ग्न बाद में होने पर' अनुदात्त अकार इस सूत्र से लुप्त हो जाता है ।

---

(१) ४।१।२ (२) ३।२।११ (३) ४।१।३
(४) ४।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्"[१]। "पूर्व्य वचोऽग्नये"[२]। "दमे दमे सप्तरत्ना दधानो अग्निम्"[३]। "पृथिव्यास्सदस्थेऽग्निम्"[४]। अन्वादेशेन किम्? "नमो अस्तु सर्पेभ्यः"[५]। "अग्निं खनिष्यन्त उपस्थे अस्याः"[६] ॥६॥

अभ्यावर्त्तिन्नपूपमपिदधाम्यद्यान्वदितिश्शर्माग्नेर्जिह्वामग्नयःपप्रयोऽस्माकमस्मेधत्ताश्माश्वाश्रुतिरश्यामामाऽर्यमन्नस्मत्पाशानस्मिन्यज्ञेऽस्ताऽव्यथमानाऽभिद्रोहमधाय्यदोऽथोदुग्धाअरिष्टाअरथाअर्चन्त्यन्तरस्यामत्रस्थानाङ्गिरस्वदकरम् ॥ ७ ॥

मा०—अभ्यावर्त्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यानु, अदितिश्शर्म, अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयः पप्रयः, अस्माकम्, अस्मेधत्त, अश्मा, अश्वाश्रुतिः, अश्याम, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन्यज्ञे, अस्ता, अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि, अदः, अथो, अदुग्धाः, अरिष्टाः, अरथाः, अर्चन्ति, अन्तरस्याम्, अत्रस्थ, अङ्गिरस्वत्, अकरम्, एतेषु ग्रहणेषु एकारपूर्वो ओकारपूर्वो वा अकारो लोपमापद्यते। यथा—"अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि नः"[७]। अभ्यावर्त्तिन्निति किम्? "कामेन कृतो अभ्यानट्"[८]। "भद्रशोचेऽपूपं देव"[९]। "अग्नेऽपिदधामि"[१०]। अपिदधामीति किम्? "ग्रीवाथां बद्धो अपि कक्षे"[११]। "अनु नोऽद्यानुमतिः"[१२]। अद्यान्विति किम्? "प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट"[१३]। "सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म्म यच्छतु"[१४]। अदितिः शर्मेति किम्? "यथा नो अदितिः करत्"[१५]। "अध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वाम्"[१६]। अग्नेर्जिह्वामिति किम्? "व्रता ददन्ते अग्नेः"[१७]। "ते नोऽग्नयः पप्रयः पारयन्तु"[१८]। अग्नयः पप्रयः इति किम्? "पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः"[१९]। "नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु"[२०]। "विश्वेऽस्ये धत्त वसवः"[२१]। अस्मे धत्तेति किम्? "द्रविणं वाजो अस्मे"[२२]। "परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नः"[२३]। अश्वाश्रुतिः अश्वा इति

गया है। (मोवचोदधानस्स्थेपूर्वः=) मः, वचः, दधानः, स्थे—ये पूर्व में होने पर; तथा ग्न बाद में होने पर अकार उन (धातारातिः) अनुवाकों में लुप्त हो जाता है।..."॥ ६ ॥

सू०अ०—अभ्यावर्त्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यानु, अदितिश्शर्म, अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयः पप्रयः, अस्माकम्, अस्मेधत्त, अश्मा, अश्वाश्रुतिः, अश्याम, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन्यज्ञे, अस्ता, अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि,

---

(१) ४।१।२	(२) ३।२।११	(३) ४।१।३	(४) ४।१।३
(५) ४।२।८	(६) ४।१।२	(७) ४।२।१	
(८) १।१।१४	(९) ४।२।२	(१०) ४।१।१०	(११) २।७।८
(१२) ३।३।११	(१३) २।२।१२	(१४) ४।६।६	(१५) ३।४।११
(१६) ४।१।८	(१७) ४।१।८	(१८) १।७।७	(१९) ४।२।४
(२०) ४।६।६	(२१) १।४।४४	(२२) ४।७।१२	(२३) ४।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र यत्र श्रुतिरस्ति तत्र तत्राकारलोपः। "वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः"[१]। श्रुतिरिति किम्? "प्रचेतसोऽश्वान् समत्सु"[२]। "भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै"[३]। अश्वा इति दोर्घोच्चारणम्। "क्षत्रन्नो अश्वो वनताँ हविष्मान्"[४]। "वाजमभि वा जयन्तोऽश्याम"[५]। "पुनस्तेऽमैषां चित्तम्"[६]। "ये तेऽर्यमन् बहवो देवयानाः"[७]। "तेऽस्मत्पाशान् प्रमुञ्चतु"[८]। अस्मत्पाशानिति किम्? "अन्यं ते अस्मत्तपन्तु"[९]। "पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिषि"[१०]। अस्मिन् यज्ञ इति किम्? "अस्मिन् जवमादधुः"[११]। "द्रूणानोऽस्ताऽसि"[१२]। "मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीम्"[१३]। "जनेऽभि द्रोहं मनुष्याः"[१४]। अभिद्रोहमिति किम्? "बृहस्पते अभि शस्तेरमुञ्चः"[१५]। "सुमन्मेऽधायि मन्म देवानाम्"[१६]। "येऽदो रोचने दिवः"[१७]। "मह्यमग्नेऽथो सीद"[१८]। "अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाः"[१९]। "वि निषन्त पूर्वेऽरिष्टाः स्याम"[२०]। "अनश्वासो ये पवयोऽस्थाः"[२१]। "गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कम्"[२२]। "अभि शूशुचोऽन्तरस्याम्"[२३]। अन्तरस्यामिति किम्? "क्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति"[२४]। "येऽत्र स्थ पुराणाः ये च नूतनाः"[२५]। अत्रस्थेति किम्? "त्वष्टा नो अत्र वरिवः कृणोतु"[२६]। सं मया रायस्पोषोऽन्नाय त्वा"[२७]। पृथिव्यास्सधस्थेऽङ्गिरस्वत्"[२८]। "सत्वा नोऽहं तेभ्योऽकरं नमः"[२९] ॥ ७ ॥

त्रि०—अभ्यावर्त्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यानु, अदितिश्शर्म, अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयः पप्रयः, अस्माकम्, अस्मेधत्त, अश्मा, अश्वाश्रुतिः, अश्याम, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन्यज्ञे, अस्ता, अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि, अदः, अथो, अदुग्धाः, अरिष्टाः, अरथाः, अर्च्चन्ति, अन्तरस्याम्, अत्रस्थ, अन्नाय, अङ्गिरस्वत्, अकरम् एतेष्वकारो

अदः, अथो, अदुग्धाः, अरिष्टाः, अरथाः, अर्च्चन्ति, अन्तरस्याम्, अत्रस्थ, अन्नाय, अङ्गिरस्वत् तथा अकरम् (का अकार लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—(अभ्यावर्त्तिन्—अकरम्=) अभ्यावर्त्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यानु, अदितिश्शर्म, अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयः पप्रयः, अस्माकम्, अस्मे धत्त, अश्मा, अश्वाश्रुतिः, अश्याम्, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन् यज्ञे, अस्ता,

---

(१) ४।६।६ (२) ४।६।६ (३) ४।१।१०
(४) ४।६।९ (५) १।३।१४ (६) ४।७।१४
(७) २।३।१४ (८) ४।३।१३ (९) ४।६।१ (१०) २।६।१२
(११) १।७।७ (१२) १।२।१४ (१३) ४।२।९ (१४) ३।४।११
(१५) ४।१।७ (१६) ४।६।८ (१७) ४।२।८ (१८) ४।१।९
(१९) २।४।१४ (२०) ४।७।१४ (२१) १।६।१२ (२२) १।६।१२
(२३) ४।१।९ (२४) ४।१।१० (२५) ४।२।४ (२६) १।४।४४
(२७) १।७।९ (२८) ४।१।६ (२९) ४।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुप्यते, एकारौकारपूर्वः। यथा—"अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्"[१]। आवर्त्तिन्निति किम्? "कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्"[२]। "भद्रशोचेऽपूपं देव"[३]। "अग्नेऽपिदधाम्यास्ये"[४]। दधामीति किम्? "बद्धो अपि कक्ष आसनि"[५]। "अनु नोऽद्यानुमतिः"[६]। अन्विति किम्? "प्रतत्ते अद्य शिपिविष्टनाम"[७]। "अधि ब्रवीतु नोऽदितिश्शर्म यच्छतु"[८]। शर्मेति किम्? "यथा नो अदितिः करत्"[९]। "अध्वरं नोऽग्नेजिह्वामभि गृणीतम्"[१०]। जिह्वामिति किम्? "व्रता ददन्ते अग्नेः"[११]। "ते नोऽभयः पप्रयः"[१२]। पप्रय इति किम्? "पुरीष्यासो अग्नयः"[१३]। "नरोऽस्माकमिन्द्र"[१४]। "विश्वेऽस्मे धत्त"[१५]। धत्तेति किम्? "द्रविणं वाजो अस्मे वाजस्य प्रसवम्"[१६]। "परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु"[१७]। अश्वाश्रुतिः अश्वा इत्यस्य यत्र यत्र श्रुतिः, तत्र तत्र लोपः। "वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः"[१८]। श्रुतिरिति किम्? "प्रचेतसोऽधान्"[१९]। "भरन्तोऽश्वायेव"[२०]। दीर्घग्रहणेन किम्? "चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति"[२१]। "क्षत्रं नो अश्वो वनताम्"[२२]। "वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नम्"[२३]। "पुनस्तेऽमैषाम्"[२४]। "ये तेऽर्यमन्"[२५]। "तेऽस्मत्पाशान्"[२६]। पाशानिति किम्? अन्यं ते अस्मत्"[२७]। "यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे"[२८]। यज्ञ इति किम्? "ते अस्मिन्जवमादधुः"[२९]। "प्रसितिं द्रूणानोऽस्ताऽसि"[३०]। "मा सुपर्णोऽव्यथमाना"[३१]। "जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि"[३२]। द्रोहमिति किम्? "बृहस्पते अभिशस्तेः"[३३]। सुमन्मेऽधायि मन्म"[३४]। "येऽदो रोचने दिवः"[३५]। "मह्यमग्नेऽधो सीद"[३६]। "शूर नोनुमोऽदुग्धाः"[३७]। "पूर्वेऽरिष्टास्स्याम"[३८]। "प्रवयोऽरथाः"[३९]। "गायत्रिणोऽर्च्चन्ति"[४०]। "अभि शूशुचोऽन्तरस्याम"[४१]। अस्थामिति किम्? "रुक्मो अन्तर्विभाति"[४२]। "येऽत्रस्थ पुराणाः"[४३]। स्थेति किम्? "त्वष्टा नो अत्र वरिवः"[४४]। "रायस्पोषोऽन्नाय त्वा"[४५]। "पृथिव्यास्सधस्थेऽङ्गिरस्वत्"[४६]। "अहं तेभ्योऽकरं नमः"[४७] ॥ ७ ॥

अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि, अदः, अथो, अदुग्धा, अरिष्टा, अरथा, अर्च्चन्ति, अन्तरस्याम, अत्रस्थ, अन्नाय, अङ्गिरस्वत् तथा अकरम् का अकार लुप्त हो जाता है, एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर ॥ ७ ॥

---

(१) ४।२।१	(२) १।१।१४	(३) ४।२।२	(४) ४।१।१०
(५) १।७।८	(६) ३।३।११	(७) २।२।१२	(८) ४।६।६
(९) ३।४।११	(१०) ४।१।८	(११) ४।१।८	(१२) १।७।७
(१३) ४।२।४	(१४) ४।६।६	(१५) १।४।४४	(१६) ४।७ १२
(१७) ४।६।६	(१८) ४।६।६	(१९) ४।६।६	(२०) ४।१।१०
(२१) ४।६।८	(२२) ४।६।९	(२३) १।३।१४	(२४) ४।७।१४
(२५) २।३।१४	(२६) ४।३।१३	(२७) ४।६।१	(२८) २।६।१२
(२९) १।७।७	(३०) १।२।१४	(३१) ४।२।९	(३२) ३।४।११
(३३) ४।१।७	(३४) ४।६।८	(३५) ४।२।८	(३६) ४।१।९
(३७) २।४।१४	(३८) ४।७।१४	(३९) १।६।१२	(४०) १।६।१२
(४१) ४।१।९	(४२) ४।१।१०	(४३) ४।२।४	(४४) १।४।४४
(४५) १।७।९	(४६) ४।१।६	(४७) ४।५।१	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(अभ्यावर्त्तिन्···अकरम् =) अभ्यावर्तिन्नित्यादीनामादिरकारः एकारौकारपूर्वः तेष्वनुवाकेषु लुप्यते । अभ्यावर्त्तिन्—"अग्नेऽभ्यावर्तिन्"[१] । आवर्तिन्निति किम् ? "अभि वीरो अभि सत्वा"[२] । अपूपम्—"भद्र शोचेऽपूपम्"[३] । अपिदधामि—"अग्नेऽपि दधामि"[४] । दधामीति किम् ? "ग्रीवायां बद्धो अपि कक्षे"[५] । अद्यानु—"अनु नोऽद्यानुमतिः"[६] । अन्विति किम् ? "यस्ते अद्य कृणवत्"[७] । अदितिश्शर्म—"अधि ब्रवीतु नोऽदितिश्शर्म यच्छतु"[८] । शर्मेति किम् ? "यथा नो अदितिः करत्"[९] । अग्नेर्जिह्वाम्—"ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वाम्"[१०] । "जिह्वामिति किम् ? "व्रता ददन्ते अग्नेः"[११] । अग्नयः पप्रयः—"ते नोऽग्नयः पप्रयः पारयन्तु"[१२] । पप्रय इति किम् ? "पुरीष्यासो अग्नयः"[१३] । अस्माकम्—"अयुध्योऽस्माकꣳसेनाः"[१४] । अस्मेधत्त—"विश्वेऽस्मे धत्त"[१५] । धत्तेति किम् ? "आरे अस्मे च शृण्वते"[१६] । अश्मा—"ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा"[१७] । अश्वाश्रुतिरिति श्रुतिग्रहणादपदात्मिकाऽपि गृह्यते—"वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः"[१८] । "प्रचेतसोऽश्वान्"[१९] । दीर्घेण किम् ? "ते अग्ने अश्वमायुञ्जन्"[२०] । अश्याम—"वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नम्"[२१] । अमा—"निगुतः पुनस्तेऽमैषाम्"[२२] । अर्यमन्—"ये तेऽर्यमन्"[२३] । अस्मत्पाशान्—"तेऽस्मत्पाशान्प्रमुञ्चन्त्वꣳहसः"[२४] । पाशानिति किम् ? "तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्"[२५] । अस्मिन् यज्ञे—"यः पिता ते अस्मिन् यज्ञे"[२६] । यज्ञ इति किम् ? "नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन्त उक्थे"[२७] । अव्यथमाना—"मा सुपर्णोऽव्यथमाना"[२८] । अभिद्रोहम्—"जनेऽभिद्रोहम्"[२९] । उपब्रन्धव्यावर्त्यमुक्तम् । द्रोहमिति किम् ? "बृहस्पते अभिशस्तेः"[३०] । अधायि—"सुमन्मेऽधायि"[३१] । अदः—"येऽदो रोचने दिवः"[३२] । अथो—"मह्यमग्नेऽथो सीद"[३३] । अदुग्धः—"शूर नोनुमोऽदुग्धाः"[३४] । अरिष्टाः—"पूर्वेऽरिष्टास्स्याम"[३५] । अरथाः—"ये पवयोऽरथाः"[३६] । अर्चन्ति—"गायत्रिणोऽर्चन्ति"[३७] । अन्तरस्याम्—"शृणुचोऽन्तरस्याम्"[३८] । अस्यामिति किम् ? "विदथे अन्तरेषाम्"[३९] । अन्तस्थ—

वै० अ०—(अभ्यावर्त्तिन्···अकरम्=) अभ्यावर्त्तिन् इत्यादि का आदि अकार एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर उन अनुवाकों में लुप्त हो जाता है ।···॥ ७ ॥

---

(१) ४।२।१	(२) ४।६।४	(३) ४।२।२	(४) ४।१।१०
(५) १।७।८	(६) ३।३।११	(७) ४।२।२	(८) ४।६।६
(९) ३।४।११	(१०) ४।१।८	(११) ४।१।८	(१२) १।७।७
(१३) ४।२।४	(१४) ४।६।४	(१५) १।४।४४	(१६) १।५।५
(१७) ४।६।६	(१८) ४।६।६	(१९) १।७।७	(२०) १।३।१४
(२१) ४।७।१४	(२२) २।३।१४	(२३) ४।६।१३	(२४) १।८।२२
(२५) २।६।१२	(२६) १।७।१३	(२७) १।२।१४	(२८) ४।२।९
(२९) ३।४।११	(३०) ४।१।७	(३१) ४।६।८	(३२) ४।२।८
(३३) ४।१।९	(३४) २।४।१४	(३५) ४।७।१४	(३६) १।६।१२
(३७) १।६।१२	(३८) ४।१।९	(३९) २।१।११	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"येऽत्र स्थ पुराणः"[१]। स्थेति किम्? "त्वं नो अत्र सुवतात्"[२]। अत्राय—"राधस्पोषोऽत्राय त्वा"[३]। अङ्गिरस्वत्—"सधस्थेऽङ्गिरस्वत्"[४]। अकरम्—"अहं तेभ्योऽकरं नमः"[५] ॥ ७ ॥

गाहमानोजायमानोहेतयोमन्यमानोवनस्पतिभ्यः पतेस्निधस्तपसस्स्वधावो-भामितोऽग्नयआयोऽध्वर्योक्रतोपूर्वः ॥ ८ ॥

मा०—गाहमानः, जायमानः, हेतयः, मन्यमानः, वनस्पतिभ्यः, पते, स्निधः, तपसः, स्वधावः, भामितः, अग्नयः, आयो, अध्वर्यो, क्रतो। गाहमान इत्येवमादिपूर्वोऽकारः सँहितायामेकप्राणभावे लोपमापद्यते। यथा—"सहसा गाहमानोऽदायः"[६]। "जायमानोऽहां केतुः"[७]। "यास्ते सहस्रँ हेतयोऽन्यम्"[८]। "कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यम्"[९]। "वनस्पतिभ्योऽधि संभृताम्"[१०]। वनस्पतिभ्य इति किम्? "नमः पितृभ्यो अभि"[११]। "अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि"[१२]। "अति स्निधोऽत्यचित्तिम्"[१३]। "अग्निरग्नेस्तपसोऽधि जातः"[१४]। "देव स्वधावोऽमृतस्य"[१५]। स्वधाव इति किम्? "अन्या वो अन्याभवतु"[१६]। "मन्युमिन्द्र भामितोऽमित्रस्य"[१७]। "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त धिष्णियाः"[१८]। उकारस्य वकारविक्रियायां व्यञ्जनपरो नकारो भवति। तदस्य लोपः प्राप्नोति। स प्रतिषिध्यते। "अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो"[१९]। "अध्वर्योऽरेपाः३"[२०]। "शतक्रतोऽनु ते दायि"[२१]। अदब्धायो अध्वर्यो क्रतो इति त्रिष्वेतेषु ग्रहणेषु लोपविधानादतोऽन्येषु ग्रहणेषु अलोपं प्रापयति। शतक्रतोऽनु ते दायीति च "यवनहा"[२२] दिनैव लोपे सिद्धे अस्य ग्रहणं अन्यत्रालोपं प्रापयति ॥ ८ ॥

त्रि०—गाहमानः, जायमानः, हेतयः, मन्यमानः, वनस्पतिभ्यः, पते, स्निधः, तपसः, स्वधावः, भामितः, अग्नयः, आयो, अध्वर्यो, क्रतो इत्येवम्पूर्वोऽकारो लुप्यते।

सू० अ०—गाहमानः, जायमानः, हेतयः, मन्यमानः, वनस्पतिभ्यः, पते स्निधः, तपसः, स्वधावः, भामितः, अग्नयः, आयो, अध्वर्यो, क्रतो—ये पूर्व में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—गाहमानः·····क्रतो—ये; पूर्वः = पूर्व में हैं जिसके वह; अकार लुप्त हो जाता है।·····। "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"।[क] उकार का वकार में परिवर्तन

(क) अग्नयः (=अग्नयो) से बाद में स्थित अकार प्रस्तुत सूत्र से लुप्त हो जाता है।

---

(१) ४।२।४	(२) ४।१।११	(३) १।७।९	(४) ४।१।६
(५) ४।५।१	(६) ४।६।४	(७) २।४।१४	(८) ४।५।१०
(९) १।४ ४६	(१०) ४।६।१	(११) ३।२।८	(१२) ४।२।३
(१३) ४।१।७	(१४) ४।२।१०	(१५) ३।१।११	(१६) ४।२।६
(१७) १।६।१२	(१८) ३।२।८	(१९) ११।१३	(२०) ६।४।३
(२१) २।५।१२	(२२) १२।४		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"गाहमानोऽदायः"[१]। "जायमानोऽह्नां केतुः"[२]। हेतयोऽन्यमस्मत्"[३]। मन्यमानोऽमर्त्यम्"[४]। "वनस्पतिभ्योधिसम्भृताम्"[५]। वनस्पतीति किम्? "नमः पितृभ्यो अभि"[६]। "अन्नपतेऽन्नस्य"[७]। "नि हो अति स्निधोऽत्यचित्तिम्"[८]। "तपसोऽधि जातः"[९]। "देव स्वधावोऽमृतस्य धाम"[१०]। स्वधेति किम्? "अन्या वो अन्याभवतु"[११]। "भामितोऽमित्रस्य"[१२]। "यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"[१३]। उकारस्य वकारविक्रियायां व्यञ्जनपरो नकार इति "यवनह"[१४] निषेधाभावादलोपे प्राप्ते तदपवादोऽयम्। "अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो"[१५]। "अध्वर्योऽवेरपाः३"[१६]। "शतक्रतोऽनु ते दायि"[१७]। अत्र "यवनह"[१८] इत्यादिनैव लोपे सिद्धे पुनरस्य ग्रहणं नियमार्थम्। आयोऽध्वर्योक्रतो इत्येतत्पदत्रयपूर्वाकारस्यैव लोपः। न त्वितरत्र प्रग्रहपूर्वस्येति। यथा—"इमे अश्विना संवथ्सरः"[१९] ॥ ८ ॥

होने पर नकार के बाद में व्यञ्जन है, अतएव "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है), यदि उनके बाद में स्वर हो"—इससे (अलोप के) निषेध का अभाव होने से, अलोप प्राप्त होने पर उसका यह अपवाद है।[क] "अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो"। "अध्वर्योऽवेरपाः३"। "शतक्रतोऽनु ते दायि"। यहाँ "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर···" इत्यादि (सूत्र) से ही लोप सिद्ध होने पर पुनः इसका ग्रहण नियम के लिए (किया गया है)। आयोऽध्वर्योक्रतो—ये तीन पद पूर्व में होने पर ही अकार का लोप होता है। (ऐसा अकार) अन्यत्र तो प्रग्रहपूर्व (प्रग्रह है पूर्व में जिसके) का नहीं (होता है)[ख]।

(क) पूर्वपक्षी—अग्नयः से बाद में स्थित अकार तो १२।४ से लुप्त हो जाता है। तब यहाँ पुनरुक्ति क्यों की गई?

सिद्धान्ती—अग्नयः से बाद में स्थित अकार १२।४ से तभी लुप्त होता यदि 'अग्नयः' से बाद में स्थित नकार के बाद में स्वर होता। यहाँ नकार के बाद स्वर नहीं, अपितु व्यञ्जन (उकार के स्थान पर आया हुआ वकार) है। अतः २२।४ से लोप न होने से यहाँ लोप का विधान किया गया है।

(ख) प्रग्रह स्वर के बाद में विद्यमान अकार का लोप नहीं होता है। 'आयो', 'अध्वर्यो' और 'शतक्रतो' ये तीन पद ही ऐसे हैं जिनके प्रग्रह स्वर 'ओ' के बाद में विद्यमान अकार का लोप होता है। यही कारण है कि ११।१ से लोप सिद्ध होने पर भी इन तीन पदों का प्रस्तुत सूत्र में पुनः ग्रहण किया गया है।

---

(१) ४।६।४ (२) २।४।१४ (३) ४।५।१० (४) १।४.४६
(५) ४।६।१ (६) ३।२।८ (७) ४।२।३ (८) ४।१।७
(९) ४।२।१० (१०) ३।१।११ (११) ४।२।६ (१२) १।६।१२
(१३) ३।२।८ (१४) १२।४ (१५) १।१।१३ (१६) ६।४।३
(१७) २।५।१२ (१८) १२।४ (१९) ५।६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(गाहमानो···क्रतोपूर्वः =) गाहमान इत्यादिषु पूर्वेषु; अकारः पदादिस्तेष्वनुवाकेषु लुप्यते। गाहमानः—"सहसा गाहमानोऽदाय."[१]। जायमानः—"जायमानोऽह्नाम्"[२]। हेतयः—"यास्ते सहस्रꣳहेतयोऽन्यम्"[३]। मन्यमानः—"मन्यमानोऽमर्त्यम्"[४]। वनस्पतिभ्यः—"वनस्पतिभ्योऽधिसम्भृताम्"[५]। वनस्पतीति किम्? "प्रमातृभ्यो अधिकनिक्रदत्"[६]। पते—"अन्नपतेऽन्नस्य"[७]। स्निधः—"निहो अतिस्निधोऽति"[८]। तपसः—"तपसोऽधिजातः"[९]। स्वधावः—"देव स्वधावोऽमृतस्य"[१०]। स्वधेति किम्? "शतं वो अम्ब धामानि"[११]। भामितः—"इन्द्रभामितोऽमित्रस्य"[१२]। अग्नयः—"यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"[१३]। अन्वित्यवग्रहस्य उत्तरखण्डसन्धानात्परमेव पूर्वपदसन्धानं भवति। तत्र तु स्वरपरत्वाभावात् "यवनह"[१४] इति लोपविधिर्न प्रवर्तते इति अत्र लोपो विधीयते। एतदन्तो "धातारातिः"[१५] इत्यादिसूत्रस्यापवादः। आयो—"अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो"[१६]। अध्वर्यो—"अध्वर्योऽवेरपाꣳ इत्याह"[१७]। क्रतो—"शतक्रतोऽनु ते दायि"[१८]। ननु आयोऽध्वर्यो इत्येताभ्यां परस्य "लुप्यते त्वकारः"[१९] इत्यनेन लोपसिद्धः। क्रतोपूर्वस्यापि

जैसे—"इमे अश्विना संवथ्सरः"[क] ॥ ८ ॥

वै० अ०—(गाहमानो···क्रतोपूर्वः =) गाहमान इत्यादि पूर्व में होने पर; पदादि अकार उन (=११।३ में निर्दिष्ट) अनुवाकों में लुप्त हो जाता है।·····। अग्नयः—"यानग्नयोऽन्वतप्यन्त"। यहाँ पर 'अनु' इस पूर्वपद (अवग्रह) की बाद वाले खण्ड के साथ सन्धि होने के बाद ही पूर्ववर्ती पद (अग्नयः) के साथ सन्धि होती है। और वैसा होने पर यहाँ स्वरपरत्व का अभाव होने से 'यकार, वकार नकार और हकार बाद में होने पर···" यह लोप-विधि लागू नहीं होती है—इसलिए यहाँ (प्रस्तुत सूत्र में) लोप का विधान किया है। यहाँ तक "धातारातिः" इत्यादि सूत्र का अपवाद (कहा गया है)। आयो—"अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो"। अध्वर्यो—"अध्वर्योऽवेरपाꣳइत्याह"। क्रतो—"शतक्रतोऽनु ते दायि"। (शंका)—आयो और अध्वर्यो—इनसे बाद वाले (अकार) का "यकार, वकार, नकार और हकार बाद के होने पर (अकार का लोप हो जाता है यदि इन यकार आदि के बाद में स्वर हो)"—इस (सूत्र) से लोप सिद्ध है। क्रतोपूर्व (क्रतो है पूर्व में जिससे उस) (अकार) का भी "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है)"—इस पुनर्विधान से (लोप) सिद्ध ही

(क) 'इमे' का ए प्रग्रह है। अतः इसके बाद में विद्यमान अ का लोप नहीं हुआ है।

---

(१) ४।६।४	(२) २।४।१४	(३) ४।५।१०	(४) १।४।४६
(५) ४।६।१	(६) ४।१।४	(७) ४।२।३	(८) ४।१।७
(९) ४ २।१०	(१०) ३।१।११	(११) ४।२।६	(१२) १।६।१२
(१३) ३ २।८	(१४) १२।४	(१५) ११।३	
(१६) १।१।१३	(१७) ६।४।३	(१८) २।५।१२	(१९) ११।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यवनहस्वरपरेषु"[1] इति पुनर्विधानात्सिद्धः एव। न चात्र "न प्लुतप्रग्रहौ"[2] इति निषेधः प्रवर्तते। निषेध्यस्य सन्धिकार्यस्याभावात्। न ह्यस्मिन् शास्त्रे एकादेशो विधीयते। न चान्यो विकारः। अत्रोच्यते—सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय भवति। इह प्रग्रहसंज्ञेभ्यः ओकारेभ्यः परे ये पदादयः अकारास्तेष्वायोऽध्वर्योक्तोपूर्व एव लुप्यते। नान्य इति नियम्यते। ततश्च "ते अब्रूतां द्यावापृथिवी"[3]। "उरो अन्तरिक्ष"[4] इत्यादिषु अकारलोपो न भवति। अत्र च लोपविधौ प्रायः पदादेरकारस्य लोपो विधीयते तेन पदादिरिति लोपे विहिते शेषोऽलोपविधिरल्पेनैव ग्रन्थेन निवर्तयितुमर्हति। तथापि गुरुतरोऽयं ग्रन्थः प्रणीतः सूत्रकृता, पादविभागविज्ञानस्य छन्दश्शास्त्रत्वावगतिसाध्यतया अस्य शास्त्रस्य तत्सापेक्षत्वापत्तेः अतिगौरवप्रसङ्गाच्च "ये अप्रथेतामभितेभिः"[5] इत्यादीनामृचां विभागस्तु सुगम एव। अवसानस्थौ द्वौ द्वौ पादसमुदायौ एकैकर्गिति स्थूललक्षणेनापि वेद्यत्वात्॥ ८॥

तस्मिन्ननुदात्ते पूर्व उदात्तः स्वरितम्॥ ९॥

भा०—तस्मिन्नकारे अनुदात्ते लुप्ते पूर्वं एकार ओकारो वा उदात्तः स्वरितमापद्यते। यथा—"तेऽब्रुवन्"[6]। "सोब्रऽवीत्"[7]॥ ९॥

है। और यहाँ "यकार, वकार, नकार तथा हकार बाद में होने पर (अकार लुप्त हो जाता है), यदि उनके बाद में स्वर हो"—यह निषेध लागू नहीं होता है। क्योंकि निषेध्य (लोप) सन्धिकार्य नहीं है। इस शास्त्र में एकादेश का विधान नहीं किया गया है और न अन्य विकार। इस विषय में कहते हैं—सिद्ध होने पर आरम्भ नियम के लिए होता है। यहाँ 'प्रग्रह' संज्ञक ओकारों से बाद में जो पदादि अकार हैं उनमें से वह (अकार) ही लुप्त होता है जिसके पूर्व में आयो, अध्वर्यो अथवा क्तो हो, अन्य (अकार) नहीं (लुप्त होता है)—यह नियम किया जाता है। इससे "ते अब्रूतां द्यावापृथिवी", "उरो अन्तरिक्ष" इत्यादि में अकार का लोप नहीं होता है। और यहाँ लोप-विधि में प्रायः पाद के आदि में स्थित अकार के लोप का विधान किया जाता है। इसलिए "पाद के आदि (अकार) का (लोप होता है)"—इस प्रकार (अकार के) लोप का विधान हो जाने पर अवशिष्ट अलोप-विधि अल्प ही ग्रन्थ के द्वारा समाप्त की जा सकती है। तथापि सूत्रकार ने इस गुरुतर ग्रन्थ का प्रणयन किया है, क्योंकि पाद-विज्ञान के विशेष-ज्ञान के छन्दःशास्त्र के तत्त्व ज्ञान द्वारा साध्य होने से यह (प्रातिशाख्य-शास्त्र) उसका अपेक्षा करने वाला हो जायेगा और अति गौरव का प्रसङ्ग हो जायेगा। (जहाँ तक ४।२० इत्यादि में ऋचाओं के उद्धरण का प्रश्न है) "ये अप्रथेतामभितेभिः" इत्यादि ऋचाओं का (अन्य ऋचाओं से) विभाग तो सुगम ही है। अवसान से समन्वित दो-दो पादों के दो समुदाय एक-एक ऋचा हैं—इस स्थूल लक्षण के द्वारा भी (ऋचाओं का विभाग) ज्ञात हो जाता है॥ ८॥

---

(१) १२.४ (२) १०।२४ (३) २।५।१ (४) १।३।८
(५) ४।७।१५ (६) २।५।१ (७) २।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—यमधिकृत्यायं प्रबन्ध उक्तः, तस्मिन् अकारेऽनुदात्ते लुप्ते सति पूर्व एकार ओकारो वा उदात्तः स्वरितमापद्यते। यथा—"तेऽब्रुवन्"[१]। "सोऽब्रवीत्"[२] ॥ ९ ॥

वै०—तस्मिन् पदादावकारेऽनुदात्ते लुप्ते सति ततः पूर्व एकार ओकारो वा प्रकृत्या उदात्तस्स्वरितमुपगच्छति। "गोष्ठेऽस्मिन् क्षयेऽस्मिन्"[३]। "सोऽभवत्सोऽबिभेत्"[४]। यत्र तु पूर्वोऽनुदात्तस्स्वरितो वा तत्र न लोपलक्षणस्वरभेदः। यथा—"अदब्धायोऽशीततनो"[५]। "ता वैदेह्योऽभवन्"[६]। "दिशां वीर्येऽग्निं चिनुते"[७] ॥ ९ ॥

उदात्ते चानुदात्त उदात्तम् ॥ १० ॥

मा०—तस्मिन्नेवाकारे उदात्ते लुप्ते पूर्वस्वरोऽनुदात्त एकार ओकारो वा उदात्तमापद्यते। यथा—"स नः पावक दीदिवोऽग्ने"[८]। "अव रुन्धतेऽसत्रं वा एतत्"[९] ॥ १० ॥

त्रि०—तस्मिन् एवाकारे उदात्ते लुप्ते पूर्व एकार ओकारो वा अनुदात्त उदात्तमापद्यते। यथा—"अवरुन्धतेऽसत्रं वै"[९]। "अन्नपतेऽन्नस्य नः"[१०] ॥ १० ॥

सू० अ०—उस (लुप्त होने वाले अकार) के अनुदात्त होने पर पूर्ववर्ती उदात्त (एकार अथवा ओकार) स्वरित (हो जाता है)।

त्रि० अ०—जिस (अकार) को अधिकृत करके यह प्रबन्ध (ग्रन्थांश) कहा गया है; तस्मिन् = उस अकार के; अनुदात्ते = अनुदात्त होने पर; और लुप्त होने पर; पूर्वः = पूर्ववर्ती; एकार अथवा ओकार; उदात्तः = उदात्त होने पर, स्वरित हो जाता है। जैसे—"तेऽब्रुवन्"। "सोऽब्रवीत्" ॥ ९ ॥

वै० अ०—तस्मिन् = उस पदादि अनुदात्त अकार के; अनुदात्ते = अनुदात्त होने पर; तथा लुप्त होने पर; पूर्वः = पूर्ववर्ती; एकार अथवा ओकार मूलतः उदात्त होने पर स्वरित हो जाता है। "गोष्ठेऽस्मिन् क्षयेऽस्मिन्"। "सोऽभवत्सोऽबिभेत्"। किन्तु जहाँ पूर्ववर्ती (एकार अथवा ओकार) अनुदात्त अथवा स्वरित (होता है) वहाँ लोप से सम्बन्ध स्वर-भेद नहीं होगा। जैसे—"अदब्धायोऽशीततनो"। "ता वैदेह्योऽभवन्"। "दिशां वीर्येऽग्निं चिनुते" ॥ ९ ॥

सू० अ०—(उस लुप्त होने वाले अकार के) उदात्त होने पर अनुदात्त (एकार अथवा ओकार) उदात्त (हो जाता है)।

त्रि० अ०—उसी अकार के; उदात्ते = उदात्त होने पर; और लुप्त होने पर पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार; अनुदात्ते = अनुदात्त होने पर; उदात्त हो जाता है। जैसे—"अवरुन्धतेऽसत्रं वै"। "अन्नपतेऽन्नस्य नः" ॥ १० ॥

---

(१) २।८।१ (२) २।१।२ (३) १।५।६ (४) २।२।८
(५) १।१।१३ (६) २।१।४ (७) ५।२।५
(८) १।३।१४ (९) ७।३।८ (१०) ४।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्दः तस्मिन् पूर्वं इत्युभयमन्वादिशति। उदात्ते अकारे पदादौ लुप्ते पूर्वं एकार ओकारो वा प्रकृत्याऽनुदात्त उदात्तमुपगच्छति। "इन्द्रियाणि शतक्रतोऽनु ते दायि"[१]। "तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः"[२]। यत्र तु पूर्वश्चोदात्तस्तत्र न विकारः। तेऽदित्याꣳसमध्रियन्त"[३]। "सोऽसुराननु यज्ञोऽपाक्रामत्"[४] ॥ १० ॥

स्वरितश्च सर्वत्र स्वरितश्च सर्वत्र ॥ ११ ॥

मा०—उदात्त इति चशब्दोऽन्वादिशति। तस्मिन्नेवाकारे उदात्ते लुप्ते पूर्वस्वरः स्वरितश्च एकार ओकारो वा उदात्तमापद्यते सर्वत्र। यथा—"भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय"[५]। "ओजोऽजायथा वृषभः"[६]। सर्वत्रेति वचनात् नित्यस्वरितेऽपि तथैव विधानं स्यात्। यथा—"अथोक्थ्योऽथातिरात्रः"[७] ॥ ११ ॥

त्रि०—उदात्त इति चशब्दो ज्ञापयति। तस्मिन्नकारे उदात्ते लुप्ते सर्वत्र एकार ओकारो वा स्वरित उदात्तमापद्यते। यथा—"भेषजं गवेऽश्वाय"[५]। "ओजोऽजायथाः"[६]। सर्वत्रेति वचनान्नित्यस्वरितेष्वपि तथैव तद्विधानं स्यात्। "उक्थ्योऽथातिरात्रः"[७] ॥ ११ ॥

वै० अ०—च शब्द 'तस्मिन्' तथा 'पूर्वः'—इन दोनों का (पूर्ववर्ती सूत्र से) अन्वादेश करता है। उदात्ते = पदादि उदात्त अकार के; लुप्त होने पर पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार, मूलतः; अनुदात्ते = अनुदात्त होने पर; उदात्त हो जाता है। "इन्द्रियाणि शतक्रतोऽनु ते दायि"। "तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः"। किन्तु जहाँ पूर्ववर्ती (एकार अथवा ओकार) भी उदात्त (होता है) वहाँ विकार नहीं होता है। "तेऽदित्याꣳसमध्रियन्त"। "सोऽसुराननु यज्ञोऽपाक्रामत्" ॥ १० ॥

सू० अ०—(लोप को प्राप्त करने वाला अकार उदात्त हो तथा पूर्ववर्ती एकार या ओकार) स्वरित हो तो सर्वत्र (उदात्त हो जाता है)।

त्रि० अ०—चकार '(अकार के) उदात्त होने पर' का बोध कराता है। उस अकार के उदात्त होने पर और लुप्त होने पर, (पूर्ववर्ती) एकार अथवा ओकार, स्वरित होने पर, सर्वत्र उदात्त हो जाता है। जैसे—"भेषजं गवेऽश्वाय"। "ओजोऽजायथाः"क। सर्वत्र—इस कथन से नित्य-स्वरितों में भी उसी प्रकार यह विधान लागू होता है। जैसे—"उक्थ्योऽथातिरात्रः"ख ॥ ११ ॥

(क) भेषजम्। गवे। अश्वाय ॥ ओजः। अजायथाः ॥ प० पा०

(ख) (अथ)। उक्थ्यः। अथ। अतिरात्र इत्यति—रात्रः।

---

(१) २।५।१२ (२) १।२।१२ (३) ६।१।५ (४) ३।३।७
(५) १।८।६ (६) १।६।१२ (७) ७।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देन तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तमित्यन्वादिश्यते। तस्मिन् पदादावकारे उदात्ते लुप्ते सति ततः पूर्वस्स्वरित उदात्तमुपगच्छति। "अथोक्थ्योऽथातिरात्रः"[1]। सर्वत्रेत्युच्यते—न केवलमकारलोपविषये स्वरित उदात्तमुपगच्छति। अपि तु सवर्णदीर्घादिविषयेऽपि यत्रयत्रैतस्य स्वरितस्यैकादेशो विधीयते। "पितृदेवत्याऽतिखाता"[2]। "न चेतव्येति रुद्रः"[3]। ननु तत्तद्विधिवशादेव तत्र तत्र स्वरितस्योदात्तत्वसिद्धेः किमर्थोऽयं सर्वत्रेति यत्नाः? तदुच्यते—करिष्यति ह्याचार्यः—"सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात्"[4] इति। नित्यस्वरितस्य तु विकारो नोपपद्यते न हि विनाशी नित्यत्वव्यपदेशमर्हति। तस्मात्—"उदात्तमुदात्तवति"[5] इत्येतन्नित्यस्वरित-

---

वै० अ०—च शब्द से 'उस (लुप्त होने वाले अकार के) उदात्त होने पर पूर्ववर्ती उदात्त (हो जाता है)' का अन्वादेश किया जाता है। उस पदादि उदात्त अकार के लुप्त होने पर उससे पूर्ववर्ती (एकार अथवा ओकार) स्वरित होने पर उदात्त हो जाता है। "अथोक्थ्योऽथातिरात्रः"। (सूत्र में) सर्वत्र (यह बतलाने के लिए) कहा गया है कि न केवल अकार के लोप के स्थल में स्वरित उदात्त हो जाता है, अपितु सवर्णदीर्घादि स्थल में भी जहाँ-जहाँ इस स्वरित का (उदात्त के साथ) एकादेश विहित किया जाता है (वहाँ-वहाँ वह उदात्त हो जाता है)। जैसे—"पितृदेवत्याऽतिखाता"। "न चेतव्येति रुद्रः"। (शंका) उस-उस विधि के अनुसार ही वहाँ-वहाँ स्वरित का उदात्तत्व सिद्ध होने पर यह सर्वत्र (के कथन) का यत्न किसलिए (किया गया है)[क]? इसे बतलाते हैं—"अनुदात्त पूर्व में होने पर अथवा कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर स्थित पद में यकार सहित अथवा वकार सहित अक्षर जहाँ स्वरित हो जाता है" उस स्वरित को नित्य जानना चाहिए यह विधान सूत्रकार आगे करेंगे। नित्य-स्वरित का तो विकार संगत नहीं बैठता है। क्योंकि विनाश को प्राप्त होने वाला (स्वरित) नित्य नाम को धारण नहीं कर सकता है। इसलिए "उदात्त वाला (वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर हो तो वे दोनों) उदात्त (हो जाते हैं) अथवा उदात्त वाली (संधि) में (परिणाम) उदात्त (होता है)"—इसको 'नित्य स्वरित' से व्यतिरिक्त स्थल वाला समझना चाहिए। यहाँ पर तो नित्य स्वरित से व्यतिरिक्त ही उदाहरण का

(क) तात्पर्य यह है कि १०।१० इत्यादि से ही ज्ञात हो जाता है कि स्वरित और उदात्त के मिलने से 'उदात्त' की निष्पत्ति हो जाती है। उन-उन विधियों से सिद्ध कार्य की सिद्धि के लिए 'सर्वत्र' शब्द का प्रयोग प्रस्तुत सूत्र में क्यों किया गया है?

---

(१) ७।२।५ (२) २।६।४ (३) ५।४।१०
(४) २०।२ (५) १०।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यतिरिक्तविषयं मन्तव्यम्। इह तु नित्यस्वरितव्यतिरिक्तमेवोदाहरणं अन्वेष्टव्यम्। "अग्नयेऽन्नपते"[१]। "ओजोऽजायथाः"[२]। "अध्वर्योऽवेरपाऽ इत्याह"[३] इति। एतच्छङ्कापनोदनार्थं सर्वत्रेत्युच्यते। तत्रायमाशयः—"नित्य इत्येव जानीयात्"[४] इत्यनेन विधिसाध्यत्वमेवास्य निवर्त्यते, स्वतस्सिद्धत्वात् न तु विनाशित्वमपि। तस्मान्नित्यस्वरितस्यापि "उदात्तमुदात्तवति"[५] इत्यादिविकारो भवत्येव। न चास्मिन् सूत्रे नित्यस्वरितव्यतिरिक्तो विषयस्सम्भवति तथाहि—

पदान्तयोरेकारौकारयोर्नित्यस्वरितो भवति वा? आहोस्वित् "उदात्तात्परोऽनुदात्तस्स्वरितम्"[६] इत्येतद्विधिसिद्धो वा? तत्र द्वितीयस्त्विह न सम्भवति परसूत्रविहितत्वात् "तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्"[७] इति हि परिभाषितम्। तस्मादेतत्सूत्रप्रवृत्तिविषये नित्य एव स्वरितस्सम्भवति। विधिबलात्तस्यैव विकारोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं च नित्यस्यापि विधिना नित्यत्व भङ्गाद्विधिसाध्यत्वराहित्यमेव नित्यत्वमिति विषयान्तरेऽपि विहितो विकारो भवत्येव।

ढूढ़ना चाहिए। "अग्नयेऽन्नपते"। "ओजोऽजायथाः"। "अध्वर्योऽवेरपाऽ इत्याह"। इस शंका का निवारण करने के लिए (सूत्र में) 'सर्वत्र' (शब्द) का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार यह आशय हुआ—"अनुदात्त-पूर्व अथवा अपूर्व (जिसके पूर्व में कुछ न हो) पद में स्थित यकार अथवा वकार युक्त अक्षर (स्वर) जहाँ स्वरित होता है (उसे) नित्य (स्वरित) जानना चाहिए"—इस (सूत्र) से इस (नित्य-स्वरित) के स्वतः सिद्ध होने से विधिसाध्यत्व (विधि से साधित होने के तथ्य) का ही निवारण किया जाता है, इसके विनाशित्व का (निवारण) तो नहीं किया गया है। इसलिए नित्य स्वरित का भी "उदात्त वाला (वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर हो तो वे दोनों) उदात्त (हो जाते हैं) अथवा उदात्त वाली (संधि) में (परिणाम) उदात्त (होता है)"—इत्यादि विकार होता ही है। और इस सूत्र में नित्य-स्वरित से व्यतिरिक्त स्थल सम्भव नहीं है। क्योंकि—

पदान्त एकार और ओकार का या तो नित्य-स्वरित होता है? या "उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)"—इस विधि से सिद्ध (स्वरित)? उनमें से द्वितीय तो यहाँ सम्भव नहीं है—परवर्ती सूत्र (१४।२९) से विहित होने से। क्योंकि परिभाषा यह की गई है—"वहाँ (संहिता निर्माण में) पहले वाले (पद और सूत्र को) पहले जानना चाहिए" (प्रस्तुत सूत्र लागू होने के समय पदान्त स्वरित न होकर अनुदात्त होता है) इसलिए इस सूत्र की प्रवृत्ति के विषय में नित्य ही स्वरित सम्भव होता है। (प्रस्तुत) विधि के बल से उसी (नित्य स्वरित) के

---

(१) २।२४ (२) १।६।१२ (३) ६।४।३ (४) २०।२
(५) १०।१० (६) १४।२९ (७) ५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा चास्मिन् सूत्रे अविनाशित्वस्य भङ्गादेवान्यत्रापि तद्भज्यत इति प्रकटनार्थं सर्वत्रेति यत्नोऽस्मिन्नेव सूत्रे क्रियते यथाचैतत्सूत्रप्रवृत्तिवेलायाम्—"उदात्तात्परोनुदात्तस्स्वरितम्"[1] इत्येष स्वरितो न भवति, एवं "स्वरितात्सञ्हितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः"[2] इति प्रचयोऽपि न भवति। ततश्च लुप्तादकाराद्उदात्तात्पूर्वस्य प्रचयस्यासम्भवादुदात्तस्य च विकाराभावाद-नुदात्तस्वरितावेवात्रोपादायोदात्तत्वं विहितमित्यनुसन्धेयम् ॥ ११ ॥

विकार को समझना चाहिए। इस प्रकार विधि के द्वारा नित्य (स्वरित) के भी नित्यत्व का भङ्ग हो जाने से ज्ञात होता है कि यहाँ विधि से साधित न होना ही नित्यत्व है—इसलिए अन्य स्थलों में भी विहित विकार (नित्य स्वरित में) होता ही है। और इस प्रकार इस सूत्र में अविनाशित्व का भङ्ग हो जाने से ही अन्यत्र भी उस (अविनाशित्व) का भङ्ग होता है—यह प्रकट करने के लिए 'सर्वत्र' यह यत्न इसी सूत्र में किया गया है। और जिस प्रकार इस (=प्रस्तुत) सूत्र की प्रवृत्ति के समय में "उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)"—यह स्वरित नहीं होता है, उसी प्रकार "संहिता में स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों की प्रचय (संज्ञा होती है और वे प्रचय-स्वर) उदात्त के समान सुने जाते हैं"—यह प्रचय भी नहीं होता है। इस प्रकार लुप्त 'उदात्त' अकार के पूर्ववर्ती 'प्रचय' के असम्भव होने से और 'उदात्त' के विकार का अभाव होने से 'उदात्त' और स्वरित का ही उपादान करके उनके उदात्तत्व का (१२।१०-११ में) विधान किया गया है—यह समझना चाहिए॥ ११ ॥

---

(१) १४।२६ (२) २१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ मकारलोपः ॥ १ ॥

मा०—अधेत्यधिकारः। मकारलोप इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। (मकारलोपः =) मकारस्य लोपः; उच्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। मकारस्य लोपः, मकारलोपः ॥ १ ॥

वै०—अथेत्ययमधिकारः। अनेन; (मकारलोपः =) पदान्तस्य मकारस्य लोपः; अधिक्रियते ॥ १ ॥

रेफोष्मपरः ॥ २ ॥

मा०—रेफपरः ऊष्मपरश्च मकारो लोपमापद्यते। यथा—"प्रत्युष्टँ रक्षः"[१]। "सँशितं मे ब्रह्म"[२]। "तँ षडहान्यबिभरुः"[३]। "सँसभिद्युवसे"[४]। "त्वँ ह यद्यविष्ठ्य सहसः"[५]। रेफोष्मपर इति किम्? "इदं वासास्ये हविः"[६] ॥ २ ॥

सू० अ०—अब मकार का लोप (कहा जाता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है) इससे आगे जो कहेंगे वहाँ; (मकालोपः =) मकार का लोप; कहा जाता है—यह अधिकार जानना चाहिए।[क] मकार का लोप = मकारलोपः ॥ १ ॥

वै० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इस; (मकारलोपः =) (सूत्र) से; पदान्त मकार के लोप का; अधिकार किया जाता है ॥ १ ॥

सू० अ०—रेफ और ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर (मकार लुप्त हो जाता है)।

(क) यह अधिकार १३।४ तक चलेगा। ५।२७—३१ में स्पर्श और रेफव्यतिरिक्त अन्तःस्था के पूर्व में स्थित मकार के विकार के विषय में विधान किया गया है इस प्रकार १३।१—४ में विहित विषय ५।२७—३१ में विहित विषय का पूरक है।

---

(१) १।१।२ (२) ४।१।१० (३) ५।५।२ (४) २।६।११
(५) २।६।११ (६) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(रेफोष्मपरः =) रेफपरश्चोष्मपरश्च; पदान्तो मकारो लुप्यते। यथा—"प्रत्युष्टꣳरक्षः"[१क]। "सꣳशितं मे ब्रह्म"[२क]। "तꣳषडहानि"[३क]। "सꣳसमियुवसे"[४क]। "त्वꣳह यद्यविष्ठ्य"[५क]। एवम्पर इति किम्? "इदं वामास्ये"[६ख]। पदान्त इति किम्? "तस्मात्ताम्रा आपः"[७ग]। रेफश्च ऊष्म च रेफोष्माणौ, तौ परौ यस्मात् सः तथोक्तः ॥ २ ॥

वै०—(रेफोष्मपरः =) रेफे ऊष्मसु च पदादिषु परतः; मकारो लुप्यते। यथा—"प्रत्युष्टꣳरक्षः"[१क]। "सकꣳसꣳशाय"[८घ]। "त एतꣳषोडशिनमपश्यन्"[९ग]। "अग्निꣳ-होतारम्"[१०घ]। एतेष्विति किम्? "यं कामं कामयते"[११ङ]। पदादिष्विति किम्? यद्धूम्रो भवति"[१२च] ॥ २ ॥

यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम् ॥ ३ ॥

भा०—यकारपरः वकारपरश्च मकारो लोपमापद्यते एकेषामाचार्याणां मतेन। यथा—"एतं युवानं परि वः"[१३]। "संवत्सरीणा मरुतः स्वर्काः"[१४]। यवकारपर इति किम्? "यं कामं कामयते"[१५] ॥ ३ ॥

त्रि० अ०—(रेफोष्मपरः =) रेफ है बाद में जिसके और ऊष्मन् है बाद में जिसके वह: पदान्त मकार लुप्त हो जाता है।...॥ २ ॥

वै० अ०—(रेफोष्मपरः =) पदादि रेफ और ऊष्म (—वर्ण) बाद में होने पर; मकार लुप्त हो जाता है।...॥ २ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मतानुसार यकार अथवा वकार बाद में होने पर भी (मकार लुप्त हो जाता है)।

(क) प्रत्युष्टमिति प्रति—उष्टम्। रक्षः ॥
तम्। षट्। अहानि ॥ सꣳसमिति सं—सम्। इत् ॥ त्वम्। ह ॥ प० पा०

(ख) इदम्। वाम्। आस्ये ॥ प० पा०

(ग) तस्मात्। ताम्राः। आपः ॥ प० पा०

(घ) सृक्म्। सꣳशायेति सं—शाय ॥ ते। एतम्। षोडशिनम्। अपश्यन् ॥ अग्निम्। होतारम् ॥ प० पा०

(ङ) यम्। कामम्। कामयते ॥ प० पा०

(च) यत्। धूम्रः। भवति ॥ प० पा०

---

(१) १।१।२ (२) ४।१।१० (३) ५।५।२ (४) २।६।११
(५) २।६।११ (६) ३।३।११ (७) ६।४।२ (८) १।६।१२
(९) ६।६।११ (१०) १।५।१० (११) ७।१।१ (१२) २।१।१०
(१३) ३।३।९ (१४) ४।३।१३ (१५) ७।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(यवकारपरः=) यकारपरो वकारपरो वा; मकारो लुप्यते, इत्येकेषां (आचार्याणाम्) मतम्। य एवास्य पञ्चमाध्याये सवर्णापत्तिं प्रतिषेधन्ति तेषामेवैष लोप-विधिः इति तानन्वादिशति चकारः सिंहावलोकनन्यायेन। यथा—"त्वꣳयज्ञेष्वीड्यः"[१]। "तꣳवा एवꣳयजमानः"[२]। एवम्पर इति किम्? "यः कामं कामयते"[३]। यकारश्च वकारश्च यवकारौ। तौ परौ यस्मात् सः, तथोक्तः। नैतत् सूत्रमिष्टम् ॥ ३ ॥

वै०—(यवकारपरः =) पदाद्योर्यकारवकारयोश्च परतः; मकारो लुप्यत इत्येकेषा-माचार्याणां मतम्। येषां मते मकारस्य यवपरस्य परसवर्णादेशो निषिद्धः पञ्चमाध्याये। "अग्ने यं यज्ञम्"[४]। "संवत्सरमुख्यम्"[५]। नैतत् सूत्रमिष्टम् ॥ ३ ॥

त्रि० अ०—(यवकारपरः=) यकार है बाद में जिसके अथवा वकार है बाद में जिसके वह; मकार लुप्त हो जाता है—यह; एकेषाम् (आचार्याणाम्=) कति-पय (आचार्यों) का; मत है। जो (आचार्य) इस (ग्रन्थ) के पञ्चम अध्याय (=५।३०) में (मकार के) सवर्ण (अनुनासिक) होने का प्रतिषेध करते हैं उनके अनुसार ही यह लोप-विधि है—इस प्रकार (सूत्रोक्त) चकार सिंहावलोकन न्याय से उन (आचार्यों) का अन्वादेश करता है।[क]·····[ख] ॥ ३ ॥

वै० अ०—(यवकारपरः=) पदादि यकार और वकार बाद में होने पर; मकार लुप्त हो जाता है—यह; एकेषामाचार्याणाम्=(उन) कतिपय आचार्यों का; मत है—पञ्चम अध्याय में जिन (आचार्यों) के मत में मकार का, यकार अथवा वकार बाद में होने पर, परवर्ती के सवर्ण का आदेश निषिद्ध किया गया है (उन आचार्यों का ही यह मत है)।—[ग]। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है ॥ ३ ॥

(क) ५।३० में यह विधान किया गया है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार यकार अथवा वकार बाद में होने पर मकार सवर्ण अनुनासिक नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट चकार सिंहावलोकन न्याय से इन आचार्यों का ही अन्वादेश करता है। जिस प्रकार सिंह पीछे बहुत दूर तक देख सकता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त चकार बहुत दूर (५।३०) से इन आचार्यों का अन्वादेश करता है। ५।३० में जिन आचार्यों के मत का विधान किया गया है उन आचार्यों के अनुसार ही यकार अथवा वकार बाद में होने पर मकार लुप्त हो जाता है।

(ख) त्वम्। यज्ञेषु ॥ तम्। वै। एतम्। यजमानः ॥ यम्। कामम्। काम-यते ॥ प० पा०

(ग) संवत्सरमिति सं–वत्सरम्। उख्यम् ॥ प० पा०

---

(१) १।१।१४ (२) ५।६।६ (३) ७।१।१
(४) ४।१।११ (५) ५।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सँसामिति रापरः ॥ ४ ॥

भा०—न खलु सम्, साम् इत्येतयोः रापरो मकारो लोपमापद्यते। यथा—"सम्राडसि कृशानुः"[१]। "अग्नँ साम्राज्यानामधिपतिम्"[२]। संसामिति किम्? "शँ राजन्नोषधीभ्यः"[३]। रापर इति किम्? "सँ रराणो यजमानाय"[४] ॥ ४ ॥

त्रि०—(रापरः=) रा इत्येवंपरः; सम्, साम् इत्येतयोर्ग्रहणयोर्मकारः न लुप्यते। यथा—"प्र सम्राजम्"[५·क]। "साम्राज्याय सुक्रतुः"[६·क]। सँसामिति किम्? 'शँराजन्नोषधीभ्यः"[३·ख]। रापर इति किम्? "सँरराणः"[४·ग]। "पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः"[७] इति वक्ष्यमाणं द्वित्वनिषेधं इतिशब्दो निवारयति। तस्मादत्र द्वित्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

वै०—सं, साम् इत्यनयोर्मकारः; (रापरः=) राशब्दे परतः; न लुप्यते। यथा—"सम्राडसि"[८]। 'साम्राज्याय सुक्रतुः"[९]। सँसामिति किम्? "इन्द्रँराजानम्"[१०]।

सू० अ०—रा बाद में होने पर सम् तथा साम् (का मकार) (लुप्त) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—(रापरः=) रा—यह बाद में होने पर; सम्, साम्—इन पदों का मकार लुप्त, न=नहीं; होता है।...। "व्यञ्जन बाद में होने पर प्राकृत पदान्त (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)" इस आगे कहे जाने वाले द्वित्व के निषेध का (सूत्र में प्रयुक्त) 'इति' शब्द प्रतिषेध करता है[घ]। इससे यहाँ द्वित्व की सिद्धि होती है ॥४॥

वै० अ०—सम्, साम्—इनका मकार; (रापरः=) रा बाद में होने पर; लुप्त; न=नहीं; होता है।...। व्याकरण-शास्त्र में तो "क्विप्" प्रत्ययान्त 'राज्' धातु

(क) प्रेति। सम्राजमिति सम्–राजम् ॥ साम्राज्यायेति साम्–राज्याय ॥ प० पा०

(ख) शम्। राजन्। ओषधीभ्य इत्योषधि–न्यः ॥ प० पा०

(ग) सँरराण इति सं–रराण ॥ प० पा०

(घ) १४।२८ में यह विधान किया गया है कि स्पर्श व्यतिरिक्त 'व्यञ्जन' बाद में होने पर पदान्त स्पर्श प्रकृतिभाव से रहता है। सूत्र में प्रयुक्त इति शब्द से १४।२८ में विहित द्वित्व के निषेध का प्रतिषेध हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र से सम् का मकार, रेफ बाद में होने पर, लुप्त नहीं होता है तथा १४।१ से यहाँ द्वित्व होता है। इस प्रकार परिनिष्ठित रूप ये होंगे—'प्र सम्म्राजम्' और 'साम्म्राज्याय सुक्रतुः'। यही कारण है कि भाष्य के कतिपय हस्त-लेखों में उदाहरणों को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है।

---

(१) १।३।३ (२) ३।४।५ (३) ३।२।३ (४) १।४।४४
(५) १।६।१२ (६) १।८।१६ (७) १४।२८
(८) १।३।३ (९) १।८।१६ (१०) २।३।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रापर इति किम् ? "सꣳशितं मे"[1] । दीर्घेण किम् ? "देवा हस्तान्थ्सꣳरभ्यैच्छन्"[2] । मूलशास्त्रे तु "मोराजिसमः क्वौ"[3] इति स्मर्यते । तस्यैवायं विधान्तरेण निर्देशः । तस्मात् "तोते रायस्सं देवि"[4] इत्यत्र जटायामयं प्रतिषेधो न भवति क्विबन्तत्वाभावात् । इतिकरणोऽर्थान्तरप्रतीतिनिवारणार्थः । तदभावे त्रयाणां निमित्तत्वं विज्ञायेत । "सꣳसां नरापरः" इत्युक्तेऽपि संसांनरा इति निमित्तानि परमतविषयाणि स्युः निषेधश्च न स्यात् । सर्वत्र च कार्यभाजः पूर्वमेव नञ् निर्दिश्यते । अतो विपर्ययश्च न युक्तः । एवं च कार्यभाङ्निमित्तविवेकार्थमितिकरणो मध्ये प्रयुज्यते ॥ ४ ॥

बाद में होने पर 'सम्' के मकार के स्थान में मकार ही आदेश हो (अर्थात् 'अनुस्वार' न हो)"—यह कहा जाता है । उसका ही यह दूसरे प्रकार से निर्देश है । इससे "तोते रायस्सं देवि"—यहाँ जटा-पाठ में यह प्रतिषेध लागू नहीं होता है, क्योंकि 'क्विप्' में अन्त होने वाले (राज् धातु का) अभाव है ।क (सूत्र में प्रयुक्त) इति शब्द अर्थान्तर की प्रतीति के निवारण के लिए है । उसका अभाव होने पर तीनों (सम्, साम् तथा रा) का निमित्तत्व हो जायेगा ।ख "सꣳसां नरापरः"—यह कहे जाने पर भी 'संसांनरा'—ये निमित्त दूसरे मत के विषय में हो जायेंगे और निषेध भी नहीं होगा । और सर्वत्र कार्यभाक् के पहले ही नञ् का निर्देश किया जाता है । इसलिए (सूत्रस्थ पदों का) स्थान-परिवर्तन युक्त नहीं है । और इस प्रकार कार्यभाक् तथा निमित्त के अन्तर के लिए इति शब्द मध्य में प्रयुक्त किया गया है ॥ ४ ॥

(क) रायस्सं सं राय रायस्सम्—जटा-पाठ ॥

यहाँ 'सम्' के बाद में 'रायः' है, जो 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'राज्' धातु नहीं है । अतः 'सम्' का मकार न रहकर 'अनुस्वार' हो गया है—व्याकरण के 'मोऽनुस्वारः' (पा० ८।३।२३) सूत्र के अनुसार । जटा-पाठ का विपरीत पाठ व्याकरण के नियमों के अनुसार संधि को प्राप्त करता है । यदि प्रातिशाख्य के अनुसार जटा-पाठ का विपरीत-पाठ होता तो यहाँ 'सम्रायः' यह विपरीत-पाठ होता । किन्तु यह अभीष्ट नहीं है । व्याकरण के अनुसार 'सं रायः' यह विपरीत पाठ युक्त है ।

(ख) यदि सूत्र में 'इति' शब्द का प्रयोग न किया जाता तो सूत्र का यह रूप होता—न सꣳसाꣳरापरः । इसका यह अर्थ कर लिया जाता—सम्, साम् और रा बाद में होने पर (मकार का लोप) नहीं (होता है) । ऐसी स्थिति होने पर 'सम्' 'साम्' और 'रा' बाद में होने पर (मकार का लोप) नहीं (होता है) । ऐसी स्थिति होने पर 'सम्', 'साम्' और 'रा' ये तीनों (अलोप के) निमित्त हो जाते । वस्तुस्थिति यह है कि सम् और साम् कार्यभाक् हैं और केवल रा

---

(१) ४।१।१० (२) ६।२।४ (३) पा० ८।३।२५ (४) १।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ वर्णानाम् ॥ ५ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। वर्णानां संहित्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ ५ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। वर्णानां संहिता वक्ष्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। अथवा अथशब्दः पदसंहितानिषेधकः ॥ ५ ॥

वै०—(अथ =) इदानीम्; वर्णानां संहिता विषयत्वेन अधिक्रियते। सा द्विविधा-वर्णसामान्यसंहिता, वर्णविशेषसंहिता चेति। द्वितीयाऽपि द्विविधा—अक्षरसंहिता, अङ्गसंहिता चेति। एवं त्रिविधा वर्णसंहिता इह वर्तिष्यते। तेन यत्रापि नानापदीयनिमित्तः कार्यविधिः "नावग्रहपूर्वः"[1] इति तत्रापि वर्णयोर्वर्णगणयोर्वा संहिता, न पूर्वोत्तरयोः पदयोः। तत्र नानापदीयस्य शब्दरूपस्य निमित्तत्वमेव भवति, न तु संहिताप्रकृतित्वमपि। अत एव

सू० अ०—अब वर्णों की (संहिता कही जाती है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। वर्णानाम् = वर्णों की; संहिता कही जायेगी—इसे अधिकृत जानना चाहिए। अथवा 'अथ' शब्द पद—संहिता का निषेध करता है ॥ ५ ॥

वै० अ०—(अथ =) अब; वर्णानाम् = वर्णों की; संहिता विषय के रूप में अधिकृत की जाती है। वह दो प्रकार की होती है—वर्णसामान्य की संहिता और वर्णविशेष की संहिता। दूसरी (= वर्ण-विशेष की संहिता) भी दो प्रकार की होती है—अक्षर-संहिता और अंग-संहिता। इस प्रकार तीनों प्रकार की वर्ण-संहिता यहाँ प्रतिपादित की जायेगी। इससे जहाँ पर भिन्न पद में स्थित निमित्त वाली भी कार्य-विधि है (जैसे) "पूर्व-पद पूर्व में होने पर (मा शब्द अनुस्वार के आगम को) नहीं (प्राप्त करता है)"—वहाँ पर भी वर्णों की अथवा वर्ण के गणों की संहिता (होती है), पूर्ववर्ती और परवर्ती पदों की (संहिता) नहीं (होती है)। वहाँ पर भिन्न पद में स्थित शब्दरूप केवल निमित्त होता है, संहिता की प्रकृति नहीं। इसलिए 'स्त्र' (१६।२) इत्यादि में भिन्न पद में स्थित (शब्दरूप) का जो निमित्त होना कहा गया है वह उपपन्न होता है। और यहाँ पर वर्ण-संहिता का अधिकार होने

निमित्त है। पूर्वोक्त अनिष्ट अर्थ से बचने के लिए सूत्र में कार्यभाक् (सम् और साम्) तथा निमित्त (रा) के मध्य मे 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त अनिष्ट अर्थ से बचने के लिए सूत्र में 'इति' शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है। अनिष्ट अर्थ से तब भी बचा सकता है, यदि सूत्र में 'न' पद को कार्यभाक् (सम् और साम्) तथा निमित्त (रा) के मध्य में रख दिया जाता। तब सूत्र का यह रूप होता "सꣳहां न रापरः"।

---

(१) १६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रादिषु नानापदीयस्यापि निमित्तत्वमुक्तमुपपद्यते। अपि चात्र वर्णसंहिताधिकारादतः पूर्वं पदसंहितेति सिद्धम्। तत्र वर्णाश्रयं यत्कार्यं विधीयते तदपि तत्संयुक्तपदस्य निमित्तभूत-पदसन्धाने भवतीति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

ऋकारर्कारररषपूर्वो नकारो णकारꣳ समानपदे ॥ ६ ॥

मा०—ऋकार-ॠकाररेफ षकारपूर्वः नकारो णकारमापद्यते समानपदे। यथा—"त्रिभिर् ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण"[१]। "त्वँ होतॄणामस्या यजिष्ठः"[२]। "एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्ल कृष्णाजिनस्य"[३]। "कृष्णोऽस्याखरेष्ठः"[४]। समानपद इति किम्? "तेभिर्नो अद्य पथिभिः"[५] ॥ ६ ॥

त्रि०—समानपदे = एकपदे; (ऋकारर्कारररषपूर्वः =) ऋकारऋकाररेफषकारपूर्वः; नकारो णकारमाप्नोति। यथा—"त्रिभिर् ऋणवा जायते"[१]। "त्वꣳ होतॄणाम्"[२]। "एष वा ऋचो वर्णः"[३]। "कृष्णोऽसि"[४]। एवम्पूर्व इति किम्? "देवानां वा अन्तम्"[५]। समानपद इति किम्? "एभिर्नो अर्कैः"[६]। समानं च तत् पदं च, समानपदं, तस्मिन् ॥ ६ ॥

से इससे पूर्व पद-संहिता (का विधान किया गया है)—यह सिद्ध होता है। वहाँ पर वर्ण पर आश्रित जिस कार्य का विधान किया गया है वह (कार्य भी) तभी होता है जब उस (वर्ण) से संयुक्त पद की निमित्तभूत पद के साथ संधि हो—यह जानना चाहिए।

सू० अ०—एक पद में ऋकार, ॠकार, रेफ और षकार पूर्व में होने पर नकार णकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—समानपदे=समान पद में=एक पद में; (ऋकारर्कारररषपूर्वः=) ऋकार, ॠकार, रेफ और षकार है पूर्व में जिसके वह; नकार णकार को प्राप्त करता है।[क]... ये (ऋकार, ॠकार रेफ और षकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "देवानां वा अन्तम्"।[ख] एक पद में—यह क्यों (कहा)? "एभिर्नो अर्कैः"।[ग] समान भी है और वह पद भी है=समानपदम्, उसमें ॥ ६ ॥

(क) पूर्ववर्ती अध्याय (७।१–१२, १५, १६) में भी नकार के णकार होने का विधान किया गया है। किन्तु वहाँ पद-पाठ से संहिता-पाठ करते समय पदान्त में स्थित नकार पदादि से संधि होने पर णकार हो जाता है। प्रस्तुत अध्याय में एक ही पद में स्थित नकार के णकार होने का विधान किया गया है।

(ख) 'अन्तम्' के नकार के पूर्व में ऋकार, ॠकार, रेफ और षकार नहीं है। अतः अन्तम् का नकार णकार नहीं हुआ है।

(ग) रेफ और नकार एक पद में नहीं है। अतः नकार णकार नहीं हुआ है।

---

(१) ६।३।१० (२) ४।३।१३ (३) ६।१।३ (४) १।१।११
(५) ७।५।८ (६) ४।४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—समानपदे = एकस्मिन्नेव पदे; (ऋकारर्कारर्षपूर्वः =) ऋकारादिवर्णेषु पूर्वेषु; नकारः; (णकारम् =) णत्वम्; आप्नोति। यथा—ऋ—"स्वधाकारो हि पितृणाम्"[१]। ऋ—"स्वꣳहोतृणामस्याग्निष्टः"[२]। र—"आङ्गिरस्यूर्णम्रदाः"[३]। ष—"पूष्णो रꣳह्यै"[४]। "विष्णो हव्यम्"[५]। अत्र विध्यनुसारेण नकारः प्रकृतिरित्यवगम्यते। एतत्पूर्व इति किम्? "अद्भिरया देवभागम्"[६]। समानपद इति किम्? "सवितृनेत्राः"[७]। "बृहस्पतिर्नो हविषा"[८] ॥ ६ ॥

व्यवेतोऽपि ॥ ७ ॥

मा०—ऋकार ऋकार-रेफ-षकारपूर्वः अन्यव्यवेतोऽपि नकारो णकारमापद्यते। यथा—"स आत्मन्ना रमणं नाविन्दत्"[९]। समानपद इत्येव। "बृहस्पतिरनया त्वा"[१०] ॥ ७ ॥

त्रि०—अपिशब्दः ऋकाराद्याकर्षकः। उक्तनिमित्तपूर्वो नकारः, अन्येन; (व्यवेतोऽपि =) व्यवहितोऽपि; णत्वमाप्नोति। यथा—"अपरशुवृक्णं दहति"[११]। "आ रमणं कुरुते"[९]। "अधिषवणे"[१२]। "कृषमाणः प्रतिष्ठाकामः"[१३] ॥ ७ ॥

वै० अ०—समानपदे=समान पद में=एक ही पद में; (ऋकारर्कारर्षपूर्वः=) ऋकार आदि वर्ण पूर्व में होने पर; नकार णकार को प्राप्त करता है।···। यहाँ विधि के अनुसार नकार प्रकृति (मूल-रूप) है—यह ज्ञात होता है।[क] ···॥ ६ ॥

सू० अ०—(अन्य वर्ण से) व्यवहित भी (नकार णकार हो जाता है)।

त्रि० अ०—(सूत्रोक्त) 'अपि' शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) ऋकार आदि की अनुवृत्ति करता है। (पूर्ववर्ती सूत्र में) कहे गए निमित्त (ऋ, ॠ, रेफ या षकार) हैं पूर्व में जिसके वह नकार अन्य (वर्ण) से; (व्यवेतोऽपि=) व्यवहित होने पर भी; णत्व को प्राप्त करता है।···[ख]॥ ७ ॥

(क) यद्यपि पद-पाठ (पितृणाम्। होतृणाम्। उर्णम्रदा इत्यूर्ण-म्रदाः। पूष्णः। विष्णो इति ॥) में भी णकार ही दिखलाई पड़ता है, तथापि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार मूल-रूप (प्रकृति) तो नकार ही है। एक ही पद में ऋकार, ॠकार, रेफ अथवा षकार पूर्व में होने पर नकार (प्रकृति) णकार (विकृति, विकार) को प्राप्त करता है।

(ख) अपरशुवृक्णमित्यपरशु—वृक्णम् ॥ आरमणमित्या—रमणम् ॥ प० पा०

---

(१) ६।३।२ (२) ४।३।१३ (३) १।२।२ (४) १।३।१०
(५) १।१।३ (६) १।१।१ (७) १।८।७ (८) १।२।२
(९) ६।५।११ (१०) २।४।४ (११) ५।१।१० (१२) ४।७।८
(१३) ३।४।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—समानपदे ऋकारादिषु पूर्वेषु वर्णान्तरव्यवेतोऽपि नकारो णत्वमाप्नोति। यथा—ऋ—"वृणात्परा भविष्यन्तः"[१]। र—सोमान्ँस्वरणम्"[२]। ष—"इयक्षमाणा भृगुभिः"[३] ॥ ७ ॥

हिरण्मयम् ॥ ८ ॥

मा०—हिरण्मयादिग्रहणेषु पूर्वः प्रकृत्यैव णकारो वेदितव्यः। यथा—"हिरण्मयं दाम दक्षिणा"[४]। "स्पर्शपर"[५] प्रतिषिध्यत इति प्रापणार्थम् ॥ ८ ॥

त्रि०—हिरण्मयम् इत्यस्मिन् ग्रहणे नकारो णत्वमाप्नोति। यथा—"हिरण्मयं दाम दक्षिणा"[४]। "स्पर्शपरः"[५] इति वक्ष्यमाणप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवार्थमिदं सूत्रम् ॥ ८ ॥

वै०—अत्र "प्राकृताः"[६] इति वक्ष्यमाणमेतदादिसूत्रविषयम्। तदयमर्थः—हिरण्मयमित्यत्र नकारो णत्वमाप्नोति। स च णकारः प्राकृतः। "हिरण्मयं-पुरुषम्"[७] ॥ ८ ॥

वै० अ०—एक पद में ऋकार आदि पूर्व में होने पर अन्य वर्ण से; व्यवेतोऽपि= व्यवहित भी; नकार णत्व को प्राप्त करता है।...क॥ ७॥

सू० अ०—हिरण्मयम् (में नकार णकार हो गया है)।

त्रि० अ०—हिरण्मयम्—इस पद में नकार णकार को प्राप्त करता है। जैसे—"हिरण्मयम् दाम दक्षिणा"। "...स्पर्श है बाद में जिससे वह (नकार)" इस आगे कहे गए प्रतिषेध के लिए यह सूत्र है[ख] ॥ ८॥

वै० अ०—इस (१३।८) से प्रारम्भ होने वाले सूत्रों का विषय "ऋण्, षण्, ष्ण, म्ण्, राव्ण्, (का णकार) भी प्राकृत है"—इस सूत्र में कहा जायेगा। इससे यह अर्थ हुआ—हिरण्मयम्—यहाँ नकार णत्व को प्राप्त करता है। और वह णकार प्राकृत है (दे० १३।१४ पर वै० आ०)। "हिरण्मयं पूरुषम्" ॥ ८ ॥

(क) वृणात् ॥ सोमानम्। स्वरणम् ॥ इयक्षमाणाः ॥ प० पा०

(ख) १३।१५ में यह विधान किया गया है कि स्पर्श बाद में होने पर नकार णकार नहीं होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र १३।१५ में विहित अपवाद का अपवाद करता है। अर्थात् 'हिरण्मयम्' इस स्थल में मकार स्पर्श बाद में होने पर भी नकार णकार हो जाता है।

---

(१) २।५।१ (२) १।५।६ (३) ४।६।५ (४) २।४।१३
(५) १३।१५ (६) १३।१४ (७) ५।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणि-गण-पुण्य-कण्व-काण-गाण-बाण-वेणु-गुण-मणि-प्रवादेषु पूर्वः ॥ ९ ॥

मा०—"हिरण्यपाणिमूतये"[१]। "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे"[२]। "पुण्यो भवति वसन्तम्"[३]। "कण्वा अभि प्र गायत"[४]। "तस्यै काणो या दतः"[५]। "गाणपत्यान्मयोभूरेहि"[६]। "विशल्यो बाणवाँ उत"[७]। "वेणुना वि मिमीते"[८]। "यथा गुणे गुणमन्वस्यति"[९]। "माणिना रूपाणीन्द्रेण"[१०]। प्रवादेष्विति किम्? "वैष्णवी भवति वीर्यस्यावरुध्यै"[११]। हिरण्मयपाण्यादिशब्दानां प्रकर्षेण वादः प्रवादश्च प्रकर्षः। यथायुक्तलिङ्गविभक्तिभेदसमासतद्धितानि अभिव्यञ्जयति। पूर्व इति किम्? "गणेन गणमनुद्रुत्य जुहोति"[१२] ॥ ९ ॥

त्रि०—(पाणि-गण-पुण्य-कण्व-काण-गाण-बाण-वेणु-गुण-मणि =) पाणीत्यादिशब्दानाम्; प्रवादेषु पूर्वः प्रथमो णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः। प्रकर्षेण वादः प्रवादः लिङ्गविभक्तिभेदसमासतद्धितादिभिर्निर्देश इत्यर्थः। यथा—"सुपाणिस्त्वंगुरिः"[१३]। "वृषपाणयोऽश्वाः"[१४]। "हिरण्यपाणिमूतये"[१]। "गणानां त्वा गणपतिम्"[२]। "गणा मे मा वितृषन्"[१५]। "गणेन गणम्"[१६]। "दूरे अमित्रश्च गणः"[१७]। "पुण्यो भवति वसन्तमृतूनाम्"[३]। "सा मा सर्वान् पुण्यान्"[१८]। "कण्वा अभि प्रगायत"[१९]। "तस्यै काणो या"[२०]। "गाणपत्यान्मयोभूरेहि"[२१]। "विशल्यो बाणवाँउत"[२२]। "वेणुर्वैणवी

सू० अ०—पाणि, गण, पुण्य, कण्व, काण, गाण, बाण, वेणु, गुण, मणि के सभी रूपों में प्रथम (णकार प्राकृत है)।

त्रि० अ०—(पाणि····मणि =) पाणि इत्यादि शब्दों के; प्रवादेषु = सभी रूपों में; पूर्वः = प्रथम; णकार को प्रकृति रूप में (= प्राकृत) ही जानना चाहिए। प्रकर्ष रूप से कहा गया वाद = प्रवाद। लिङ्ग, विभक्ति भेद, समास तथा तद्धित इत्यादि से निर्देश - यह अर्थ है।····क। (शंका) 'गण' शब्द का रूप होने पर 'गाण'

(क) सुपाणिरिति सु–पाणिः ॥ वृषपाणय इति वृष–पाणयः ॥ हिरण्यपाणिमिति हिरण्य–पाणिम् ॥ गणानाम्। त्वा। गणपतिमिति गण–पतिम् ॥ गणाः। मे ॥ गणेन। गणम् ॥ च। गणः ॥ पुण्यः। भवति ॥ काणः। गणपत्यादिति गाणपत्यात् ॥ बाणवानिति बाण-वान् ॥ वेणुः। वैणवी ॥ वेणुना ॥ वेणोः ॥ गुणे। गुणम् ॥ मणिना। रूपाणि ॥ प० पा०

---

(१) १।४।२५ (२) २।३।१४ (३) १।६।११ (४) ४।३।१३
(५) २।५।१ (६) ४।१।२ (७) ४।५।१ (८) ५।२।५
(९) ७।२।४ (१०) ७।३।१४ (११) ५।१।१ (१२) ५।४।७
(१३) ३।१।११ (१४) ४।६।६ (१५) ३।१।८ (१६) ५।४।७
(१७) ४।६।५ (१८) ७।१।७ (१९) ४।३।१३ (२०) २.५।१
(२१) ४।१।२ (२२) ४।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति"[१]। "वेणुना वि मिमीते"[२]। "यद्वेणोस्सुषिरम्"[३]। "यथा गुणे गुणम्"[४]। "मणिना रूपाणि"[५]। ननु गणशब्दप्रवादत्वाद्गाणग्रहणमयुक्तम्। नैवम्। गणप्रवादत्वे सति तद्भवेत् किन्तु गणपतिशब्दप्रवादोऽयम्। पूर्व इति किम्? "गणानां त्वा"[६]। "वेणुना वि मिमीते"[७]। "मणिना रूपाणि"[८]। इत्यादिषूत्तरस्य णत्वं मा भूदिति ॥ ९ ॥

वै०—एतदादिषु चतुर्षु सूत्रेष्वनियतः प्रतिसम्बन्धी निमित्ताभावात्। (पाणि-गण-पुण्य-कण्व-काण-गाण-बाण-वेणु-गुण-मणि=) पाण्यादिशब्दानाम्; प्रवादेषु; (पूर्वः=) प्रथमः; नकारो णत्वमाप्नोति। स च प्राकृतः। लिङ्गसङ्ख्यातद्धितकृतरूपभेदाः प्रवादाः। यथा—पाणि—"सुपाणिस्स्वङ्गुरिः"[७]। "हिरण्यपाणिम्"[८]। "वृषपाणयः"[९]। गण—"दूरे अमित्रश्च गणः"।[१०] "गणेन गणम्"[११]। "गणा मे मा"[१२]। "गणानां त्वा गणपतिम्"[१३]। पुण्य—"स पुण्यो भवति"[१४]। "पुण्यान्लोकान्"[१५]। कण्व—"यामस्य कण्वः"[१६]। "कण्वा अभि प्र गायत"[१७]। काण—"तस्यै काणः"[१८]। "अका-

---

(शब्द) का ग्रहण अयुक्त है। ऐसी बात नहीं है। 'गण' शब्द का रूप होने पर वह (युक्त) होता। किन्तु (गाणपत्यान्) 'गणपति' शब्द का रूप है।[क] प्रथम (णकार)—यह क्यों (कहा)? "गणानां त्वा"। "वेणुना वि मिमीते"। "मणिना रूपाणि"। इत्यादि में बाद वाले नकार का णत्व न हो जाये (इसलिए पूर्व का ग्रहण किया गया है) ॥ ९ ॥

वै० अ०—इस (प्रस्तुत सूत्र) से प्रारम्भ होने वाले चार सूत्रों में निमित्त का अभाव होने से सम्बद्ध (वर्ण) का होना निश्चित नहीं है। (पाणि····मणि=) पाणि इत्यादि शब्दों के; प्रवादेषु = सभी रूपों में; (पूर्वः=) प्रथमः नकार णत्व को प्राप्त करता है। और वह प्राकृत (णकार) है। लिङ्ग, संख्या और तद्धित से किए गए विभिन्न रूप प्रवाद हैं। जैसे—पाणि—"सुपाणिस्स्वङ्गुरिः"। "हिरण्य-

---

(क) पूर्वपक्षी—'गण' शब्द के ग्रहण से गाण का भी ग्रहण हो जाता, क्योंकि 'गाण' 'गण' का ही रूप है। तब सूत्र में 'गाण' का ग्रहण क्यों किया गया है।
सिद्धान्ती—यद्यपि 'गण' शब्द के ग्रहण से 'गाण' का भी ग्रहण हो जाता है, किन्तु "गाणपत्यान्मयोभूरेहि" में जो 'गाणपत्यान्' है वह 'गणपति' शब्द का रूप है। 'गाण' का पृथक् उल्लेख 'गाणपत्यान्' में णत्व की सिद्धि के लिए किया गया है।

---

(१) ५।१।१ (२) ५।२।५ (३) ५।१।१ (४) ७।२।४
(५) ७।३।१४ (६) २।३।१४ (७) ३।१।११ (८) १।४।२५
(९) ४।६।६ (१०) ४।६।५ (११) ५।४।७ (१२) ३।१।८
(१३) २।३।१४ (१४) १।६।११ (१५) ७।१।७ (१६) ४।६।५
(१७) ४।३।१३ (१८) २।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णया"[१]। गाण-"गाणपत्यान्मयोभूरेहि"[२]। नन्वयं गणप्रवादत्वात्पृथग्ग्रहणं नार्हति। नैतदस्ति। न ह्ययं गणशब्दस्तद्धितान्तः किन्तु गणपतिशब्दस्य तद्धितान्तस्यैकदेशः। तस्माद्युक्तं पृथग्ग्रहणम्। बाणः-"यत्र बाणाः"[३]। "विशल्यो बाणवाꣳ उत"[४]। वेणु-"वेणुर्वैणवी भवति"[५]। "वेणुना विमिमीते"[६]। गुण-"यथा गुणे गुणमन्वस्यति"[७]। "सैतद्द्विगुणमपश्यत्"[८]। "मणिना रूपाणि"[९]। प्रवादेष्विति किम्? "चमसो देवपानः"[१०]। "तनूपानीः पर्यूहते"[११]। "पुनरूर्जा"[१२]। "कन्येष तुन्ना"[१३]। "यदग्ने यानि कानि"[१४]। "अयं वेनश्चोदयत्"[१५]। "मन्यासै शं च नः कृधि"[१६] ॥ ९ ॥

पणिपणिंवीयमाणऊण्योः ॥ १० ॥

मा०—इत्येतेषु ग्रहणेषु प्रकृत्यैव णकारो वेदितव्यः। यथा—"अग्ने देव पणिभिर्वीयमाणः"[१७]। 'पणिं गोषु स्तरामहे"[१८]। "देव पणिभिर्वीयमाणः"[१९]। "सवितारमूण्योः कविक्रतुम्"[२०] ॥ १० ॥

त्रि०—पणि, पणिं, वीयमाणः, ऊण्योः एषु ग्रहणेषु णकारः प्रकृत्यैव विज्ञेयः। अप्रवादार्थोऽयमारम्भः। "अग्ने देव पणिभिः"[१७]। "पणिं गोषु स्तरामहे"[१८]। "वीयमाणः। तं त एतम्"[१७]। "ऊण्योः कविक्रतुम्"[२०] ॥ १० ॥

पाणिम्"। "वृषपाणयः"।...क। (शंका) यह (गाण) गण शब्द का रूप होने से पृथक् रूप से उल्लेख के योग्य नहीं है,। (समाधान) ऐसी बात नहीं है, यह (गाण) गण शब्द का तद्धितान्त नहीं है, किन्तु तद्धितान्त गणपति शब्द का एकदेश है। इसलिए पृथक् उल्लेख ठीक ही है।...॥ ९॥

सू० अ०—पणि, पणिम्, वीयमाण तथा ऊण्योः (में णकार प्राकृत है)।

त्रि० अ०—पणि, पणिम्, वीयमाणः, ऊण्योः—इन पदों में णकार को

(क) पुण्यान्। लोकान्॥ कण्वः॥ कण्वाः॥ काणः॥ अकाणया॥ गाणपत्यादिति गाण-पत्यात्॥ बाणाः॥ बाणवानिति बाण-वान्॥ वेणुः। वैणवी॥ वेणुना॥ गुणे। गुणम्॥ द्विगुणमिति द्वि-गुणम्॥ मणिना। रूपाणि॥ देवपान इति देवपानः॥ तनुपानीरिति तनू-पानीः॥ पुनः॥ कन्या॥ तुन्ना॥ यानि। कानि॥ वेनः॥ नः॥ प० पा०

---

(१) ६।१।६	(२) ४।१।२	(३) ४।६।४
(४) ४।५।१	(५) ५।१।१	(६) ५।२।५
(७) ७।२।४	(८) ५।२.५	(९) ७।३।१४
(१०) २।५।६	(११) ५।७।३	(१२) १।५।३
(१३) ३।१।११	(१४) ४।१।१०	(१५) १।४।८
(१६) ३।३।११	(१७) १।१।१३	(१८) २।६।११
(१९) १।१।१३	(२०) १।२।६	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(पणिपर्णिवीयमाणऊण्योः =) पणीत्यादिषु; नकारो णत्वमाप्नोति। स च प्राकृतः। यथा—पणि—"अग्ने देव पणिभिः"[१]। पणिम्—"पणिं गोषु"[२]। उभयग्रहणं "यद्ध स्या ते पनीयसी"[३] इत्यादौ णत्वनिवृत्त्यर्थम्। वीयमाणः—"पणिभिर्वीयमाणः"[४]। ऊण्योः—"ऊण्योः कविक्रतुम्"[५] ॥ १० ॥

टवर्गपरः ॥ ११ ॥

मा०—टवर्गपरो णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः। यथा—"नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च"[६]। "काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती"[७] ॥ ११ ॥

त्रि०—टवर्गपरो णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः। "शितिकण्ठाय च"[६]। "कण्डूयेत पामनं भावुकाः"[८]। टवर्गः परो यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ ११ ॥

प्रकृति रूप में (=प्राकृत) ही जानना चाहिए। अप्रवाद के लिए यह (सूत्र) आरम्भ (किया गया है)[क] ॥ १० ॥

वै० अ०—(पाणिपर्णिवीयमाणऊण्योः=) पणि इत्यादि में; नकार णकार को प्राप्त करता है। और वह (णकार) प्राकृत है। जैसे—पणि—"अग्ने देव पणिभिः"। पणिम्—"पणिं गोषु"। दोनों (पणि और पणिम्) का ग्रहण "यद्धस्या ते पनीयसी" इत्यादि में णत्व की निवृत्ति के लिए है।[ख]—॥ १० ॥

सू० अ०—टवर्ग बाद होने पर (णकार प्राकृत होता है)।

त्रि० अ०—टवर्गपरः= टवर्ग बाद में होने पर; णकार को प्रकृति रूप में (=प्राकृत) ही जानना चाहिए।—॥ ११ ॥

(क) पूर्ववर्ती सूत्र (१३।६) में 'पाणि' इत्यादि के सभी रूपों का ग्रहण होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र में 'पणि इत्यादि पदों' का ही ग्रहण होता है, 'पर्ण' इत्यादि के सभी रूपों का नहीं।

पणिभिरिति पणि-भिः ॥ पणिम् ॥ वीयमाणः ॥ ऊण्योः ॥ प० पा०

(ख) यदि सूत्र में केवल 'पणि' का ग्रहण किया जाता और उससे 'पणि' और 'पणिम्' दोनों का बोध होता तो यह सिद्ध हो जाता कि सूत्रोक्त पणि से पणि के सभी रूपों का ग्रहण होता है। इससे 'पनीयसी' इत्यादि में भी णत्व की प्राप्ति होती है। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। अतः सूत्र में पणि और पणिम्-इन दोनों का ग्रहण किया गया है।

---

(१) १।१।१३ (२) २।६।११ (३) ४।४।४
(४) १।१।१३ (५) १।२।६ (६) ४।५।५
(७) ४।२।९ (८) ६।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(टवर्गपरः =) टवर्गे परतः; नकारो णत्वमाप्नोति स च प्राकृतः। "शुण्ठो दक्षिणा"[१]। "पिण्डात् प्र यच्छति"[२]। एतत्पर इति किम्? "अन्या वो अन्यामवतु"[३] ॥ ११ ॥

चङ्कुणफणत्स्थूणौहिणुयाद्धिणोतिकौणेयोऽणिष्ठाउल्बणमुगणाश्रुतिश्चुपुणीका-वाणिजायाणवश्चाट्णारस्स्थाणुंतूणवेवीणायामश्लोणयापणेतवाणीः कल्याणी-कुणपंबाणश्शतशोणाश्रुतिर्धाणिकामेणी ॥ १२ ॥

मा०—चङ्कुण, फणत्, स्थूणौ, हिणुणात्, हिणोति, कौणेयः, अणिष्ठाः, उल्बणम्, उगणाश्रुतिः, चुपुणीका, वाणिजाय, अणवश्च, आट्णारः, स्थाणुम्, तूणवे, वीणायाम्, अश्लोणया, पणेत, वाणीः, कल्याणी, कुणपम्, वाणश्शत, शोणाश्रुतिः, महानामिका मेणी, इत्येतेषु ग्रहणेषु प्रकृत्यैव णकारो वेदितव्यः। यथा—"अवभृथ नि चङ्कुण निचेरुरसि"[४]। "पथामङ्कॉस्यन्वापनीफणत्"[५]। "अयस्स्थूणावुदितौ सूर्यस्य"[६]। "तां आतृव्याय प्र हिणुयात्"[७]। "निर्ऋतिमेवास्मै प्र हिणोति"[८]। "रजनो वै कौणेयः"[९]। "येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे"[१०]। "यज्ञं उल्बणं क्रियते", "अनुल्बणं वयत"[११]। अत्रापि णकारः प्रकृत्यैव। कस्मात्? "अभ्यकारादि"[१२] वचनात्। "आव्याधिनीरुगणा उत"[१३]। श्रुतिग्रहणं ऋषदाधिगमार्थम्। "नम उगणाभ्यस्तृँहतीभ्यः"[१४]। "चुपुणीका नामासि"[१५]। "वाणिजायकक्षाणाम्"[१६]। "प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे"[१७]। अणवश्च मेति किम्? "अनवस्ते रथम्"[१८]। "एतं वै पर आट्णारः"[१९]। "यः स्थाणुँ हन्ति"[२०]। "या तूणवे"[२१]। "या

वै० अ०—(टवर्गपरः =) टवर्ग बाद में होने पर; नकार णत्व को प्राप्त करता है। और वह (णकार) प्राकृत है।...[क]॥ ११ ॥

सू० अ०—चङ्कुण, फणत्, स्थूणौ, हिणुयात्, हिणोति, कौणेयः, अणिष्ठाः, उल्बणं, उगणाश्रुतिः, चुपुणीका, वाणिजाय, अणवश्च, आट्णारः, स्थाणुं, तूणवे, वीणायां, अश्लोणया, पणेत, वाणीः, कल्याणी, कुणपं, बाणश्शत, शोणाश्रुतिः, धाणिका, मेणी (इनका णकार प्राकृत होता है)।

(क) शिति०ण्ठायेति शिति—कण्ठाय ॥ कण्डूयेत। शुण्ठः। दक्षिणा ॥ पिण्डान् ॥ अन्या। वः। अन्याम् ॥ प० पा०

---

(१) १।८।१७ (२) २।३।८ (३) ४।२।६
(४) १।४।४५ (५) १।७।८ (६) १।८।१२ (७) २।२।६
(८) २।२।६ (९) २।३।८ (१०) २।५।५ (११) ३।४।३
(१२) १।५२ (१३) ४।१।१० (१४) ४।५।४ (१५) ४।४।५
(१६) ४।५।२ (१७) ४।७।४ (१८) १।६।१२ (१९) ५।६।५
(२०) ७।३।१ (२१) ६।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीणायाम्"[1]। "अकाणयाऽश्लोणया"[2]। "पणेतागो अर्घम्"[3]। "इन्द्रं वाणी-रनूषत"[4]। "कल्याणी रूपसमृद्धा"[5]। "पुरुषकुणपमश्वकुणपम्"[6]। "वाणश्शतन्तन्तु-र्भवति"[7]। वाणश्शततन्तुरिति किम्? "ऋतावानश्चयमानाः"[8]। "शोणा धृष्णू नृवाहसा"[9]। श्रुतिरित्यपदधिगमार्थम्। "शोणाय स्वाहा"[10]। महानामिका इति अर्थ-ग्रहणमिति तद्वाचिनां धाणिकादीनां ग्रहणम्। "निजल्गुलोति धाणिका"[11]। "वनस्पती-नामेणी"[12]। मेणीति किम्? "उभयत एनी स्यात्"[13] ॥ १२ ॥

त्रि०—चङ्कुण, फणत्, स्थूणौ, हिणुयात्, हिणोति, कौणेयः, अणिष्ठाः, उल्व-णम्, उगणाश्रुतिः, चुपुणीका, वाणिजाय, अणवश्च, आट्णारः, स्थाणुम्, तूणवे, वीणा-याम्, अश्लोणया, पणत, वाणीः, कल्याणी, कुणपम्, बाणश्शत, शोणाश्रुतिः, धाणिका, मेणी एषु ग्रहणेषु णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः। यथा—"अवभृथ नि चङ्कुण[14]। "अन्वापनी-फणत्"[15]। "अयस्स्थूणावुदितौ"[16]। "भ्रातृव्याय प्र हिणुयात्"[17]। "एवास्मै प्रहिणोति"[18]। "रजनो वै कौणेयः"[19]। "येऽणिष्ठास्तात्"[20]। "यज्ञउल्वणं क्रियते"[21]। यत्रयत्र श्रुतिः उगणाग्रहणस्य तत्रतत्र णत्वं करणीयम्। यथा—"आव्याधिनीरुगणा उत"[22]। "उगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यः"[23]। "चुपुणीका नामासि"[24]। "वाणिजाय कक्षाणां पतये"[25]। "प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे"[26]। चेति किम्? "अनवस्ते रथम्"[27]। "एतं वै पर आट्णारः"[28]। "यस्स्थाणुꣳहन्ति"[29]। "या तूणवे"[30]। "या वीणायाम्"[31]।

त्रि० अ०—चङ्कुण····मेणी—इन पदों में णकार को प्रकृति रूप में (=प्राकृत) ही जानना चाहिए।[क]····॥१२॥

(क) निचङ्कुणेति नि—चङ्कुण ॥ आपनीफणदित्या—पनीफणत् ॥ अयस्स्थूणाविति-यः—स्थूणौ ॥ हिणुयात्। हिणोति ॥ कौणेयः ॥ अणिष्ठाः ॥ उल्बणम् ॥ उगणाः ॥ उगणाभ्यः ॥ वाणिजाय ॥ कक्षाणाम् ॥ अणवः ॥ अनवः। ते ॥ आट्णारः ॥ स्थाणुम् ॥ तूणवे ॥ वीणायाम् ॥ अश्लोणया ॥ पणेत ॥ वाणीः ॥ कल्याणी ॥ पुरुषकुणपमिति पुरुष—कुणपम् ॥ अश्वकुणपमित्यश्व—कुणपम् ॥ ऋतावान इत्यृत—वानः ॥ शोणा। धृष्णू इति ॥ शोणाय ॥ धाणिका ॥ एणी ॥ उभयतएनीत्युभयतः—एनी ॥ प० पा०

---

(१) ६।१।४ (२) ६।१।६ (३) ६।१।१० (४) १।६।१२
(५) ७।१।६ (६) ७।२।१० (७) ७।५।६ (८) २।१।११
(९) ७।४।२० (१०) ७।३।१८ (११) ७।४।१६ (१२) ५।५।१५
(१३) ७।१।६ (१४) १।४,४५ (१५) १।७।८ (१६) १।८।१२
(१७) २।२।६ (१८) २।२।६ (१९) २।३।८ (२०) २।५।५
(२१) ३।४।३ (२२) ४।१।१० (२३) ४।५।४ (२४) ४।४।५
(२५) ४।५।२ (२६) ४।७।४ (२७) १।६।१२ (२८) ५।६।५
(२९) ७।३।१ (३०) ६।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अश्लोणयाऽसप्तशफया"[1]। "पणेतागोअर्घम्"[2]। "इन्द्रं वाणीरनूषत"[3]। "कल्याणी रूपसमृद्धा"[4]। "पुरुषकुणपमश्वकुणपम्"[5]। "बाणश्शततन्तुर्भवति"[6]। शतेति किम्? "ऋतावानश्चयमानाः"[7]। "शोणा धृष्ण्"[8]। श्रुतिरिति किम्? "शोणाय स्वाहा"[9]। "निजल्गुलीति धाणिका"[10]। "वनस्पतीनामेणी"[11]। मकारेण किम्? "उभयतएनी स्यात्"[12] ॥ १२ ॥

वै०—(चक्रुण····मेणी =) चक्रुणेत्यादिषु; नकारो णत्वमाप्नोति। स च प्राकृतः। चक्रुण—"अवभृत नि चक्रुण"[13]। फणत्—"अन्वापनीफणत्"[14]। स्थूणौ—"अयस्स्थूणावुदितौ"[15]। हिणुयात्—"आतृव्याय प्र हिणुयात्"[16]। हिणोति—"एवास्मै प्र हिणोति"[17]। कौणेयः—"रजनो वै कौणेयः"[18]। अणिष्ठाः—"येऽणिष्ठास्तान्"[19]। उल्बणम्—"यदेव यज्ञ उल्बणं क्रियते"[20]। "अनुल्बणं वयत"[21]। उगणाश्रुतिरिति श्रुतिग्रहणादपदात्मकमपि गृह्यते। "उगणा उत"[22]। "नम उगणाभ्यः"[23]। चुपुणीका—"चुपुणीका नामासि"[24]। वाणिजाय—"मन्त्रिणे वाणिजाय"[25]। अणवश्च—"प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे"[26]। चेरयुपन्नन्धेन किम्? "अनवस्ते रथम्"[27]। आट्णारः—"एतं वै पर आट्णारः"[28]। स्थाणुम्—"यस्स्थाणुꣳहन्ति"[29]। तूणवे—"या तूणवे"[30]। वीणायाम्—"या वीणायाम्"[31]। अश्लोणया—"अकाणयाऽश्लोणया"[32]। पणेत—"क्रीणानीति पणेत"[33]। वाणीः—"इन्द्रं वाणीरनूषत"[34]। कल्याणी—"कल्याणी रूपसमृद्धा"[35]। "कल्याणी कीर्तिः"[36]। कुणपम्—"एष ह वै कुणपमत्ति"[37]। बाणश्शत—"बाणश्शततन्तुर्भवति"[38]। शतेति किम्? "ऋतावानश्चयमानाः"[39]। शोणाश्रुतिरिति श्रुतिग्रहणादपदात्मकेऽपि भवति। "शोणा धृष्ण् नृवाहसा"[40]। "शोणाय स्वाहा"[41]। धाणिका—"निजल्गुलीति धाणिका"[42]। मेणीः—"वनस्पतीनामेणी"[43]। मकारोपन्नन्धेन किम्? "उभयतऐनी स्यात्"[44] ॥ १२ ॥

वै० अ०—(चक्रुण····मेणी =) चक्रुण इत्यादि में; नकार णत्व को प्राप्त करता है।···॥१२॥

---

(१) ६।१।६	(२) ६।१।१०	(३) १।६।१२	(४) ७।१।६
(५) ७।२।१०	(६) ७।५।६	(७) २।१।११	(८) ७।४।२०
(९) ७।३।१८	(१०) ७।४।१६	(११) ५।५।१५	(१२) ७।१।६
(१३) १।४।४५	(१४) १।७।८	(१५) १।८।१२	(१६) २।२।६
(१७) २।२।६	(१८) २।३।८	(१९) २।५।५	(२०) ३।४।३
(२१) ३।४।३	(२२) ४।१।१०	(२३) ४।५।४	(२४) ४।४।५
(२५) ४।५।२	(२६) ४।७।४	(२७) १।६।१२	(२८) ५।६।५
(२९) ७।३।१	(३०) ६।१।४	(३१) ६।१।४	(३२) ६।१।६
(३३) ६।१।१०	(३४) १।६।१२	(३५) ७।१।६	(३६) ७।१।६
(३७) ७।२।१०	(३८) ७।५।६	(३९) २।१।११	(४०) ७।४।२०
(४१) ७।३।१८	(४२) ७।४।१६	(४३) ५।५।१५	(४४) ७।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवग्रहो वृषण्छीर्षण्ब्रह्मण्क्षत्रचर्मणचर्षण् ॥१३॥

मा०—वृषण् आदिष्वग्रहेषु प्रकृत्यैव णकारो वेदितव्यः। यथा—"वृषण्वतीः प्रतिपदं कुर्यात्"[१]। "शीर्षण्वान् मेध्यो भवति"[२]। "ब्रह्मण्वन्तो देवा आसन्"[३]। "अक्षण्वते स्वाहा"[४]। "चर्मण्वते स्वाहा"[५]। अवग्रह इति किम्? "तस्मात् सप्तशीर्षन्"[६]। "ब्रह्मन् विशं वि नाशयेयम्"[७]। "अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत"[८]। "पशूनां चर्मन् मिमीते"[९]। ननु वृषण् इत्येवमादीनां "ऋकारकाररषपूर्वः"[१०] इत्यादिनैव सिद्धम्। किमर्थं पुनरारम्भः? नैवम्, तस्य प्रतिषिद्धत्वात् "अन्त"[११] इत्यनेन पुनर्ग्रहणार्थमिदं वचनम् ॥ १३ ॥

त्रि०—वृषण्, शीर्षण्, ब्रह्मण्, अक्षण्, चर्मण्, चर्षण्, एतेषु ग्रहणेष्ववग्रहस्थो णकारः प्रकृत्यैव विज्ञेयः। "वातो अपां वृषण्वान्[१२]। "शीर्षण्वान्मेध्यो भवति"[२]। "ब्रह्मण्वन्तो देवाः"[३]। "अक्षण्वते स्वाहा"[४]। "चर्मण्वते स्वाहा"[५]। चर्षण्ग्रहणस्य शाखान्तरे विज्ञेयमुदाहरणम्। "मित्रस्य चर्षणीधृतः"[१३] इति केचिदुदाहरन्ति। तन्न साधु। "अन्तोऽलोपात्"[११] इति वक्ष्यमाणप्रतिषेध प्रतिप्रसवार्थमुक्तत्वादेषां ग्रहणानां चर्षणीधृत

सू० अ०—वृषण्, शीर्षण्, ब्रह्मण्, अक्षण्, चर्मण्, चर्षण् (इन पदों में) अवग्रह में स्थित (णकार प्राकृत होता है)।

त्रि० अ०—वृषण्···चर्षण्—इन पदों में पूर्वपद में स्थित णकार को प्रकृति रूप में (=प्राकृत) ही जानना चाहिए।····। चर्षण् पद का उदाहरण दूसरी शाखा में जानना चाहिए। "मित्रस्य चर्षणीधृतः"—कतिपय (आचार्य) यह उदाहरण देते हैं। वह ठीक नहीं है। "अकार के लोप से बाद वाला (नकार)···"—इस आगे कहे गए प्रतिषेध के निषेध के लिए इन पदों का कथन होने से 'चर्षणीधृतः'—यहाँ णकार के पदान्तत्व का अभाव है।[क] अथवा "एक पद में ऋकार, ऋकार, रेफ

(क) कुछ आचार्य 'चर्षण्' के लिए 'मित्रस्य चर्षणीधृतः' यह उदाहरण देते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। १३।१५ में १३।६ का निषेध किया गया है। १३।६ के अनुसार पदान्त नकार णकार नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र १३।६ का अपवाद है। इसमें इन पदों को उल्लिखित किया गया है जिनमें पदान्त नकार णकार हो गया है। 'चर्षण्' का भी ऐसा ही उदाहरण देना चाहिए। 'चर्षणीधृतः' में णकार पदान्त नहीं है। अतः यह प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण नहीं हो सकता है।

---

(१) ७।५।५ (२) ७।५।२५ (३) ६।४।१० (४) ७।५।१२
(५) ७।५।१२ (६) ५।१।७ (७) २।३।३ (८) १।८।५
(९) ६।१।६ (१०) १३।६ (११) १३।१५ (१२) २।१।११
(१३) ३।४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यत्र णकारस्य पदान्तत्वाभावात् अथ "ऋकारर्कारररष"[1] आदिप्राप्तेरत्र णकारो वैकृत इति शङ्कानिराकरणार्थमेतानि ग्रहणानीत्यन्ये मन्यन्ते। तथा सति "मित्रस्यचर्षणीधृतः"[2] इत्युदाहरणं रमणीयम्। अवग्रह इति किम्? "वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ"[3]। "तस्मात् सप्तशीर्षन्"[4]। "ब्रह्मन्विशं वि"[5]। "अक्षन्नमीमदन्त"[6]। "पशूनां चर्मन्"[7]। अवग्रहस्थोऽवग्रह इति लक्ष्यते ॥ १३ ॥

वै०—(वृषण्छीर्षण्ब्रह्मण्णक्षण्चर्मण्चर्षण्=) वृषण्णित्यादिः; योऽवग्रहस्तत्र नकारो णत्वमाप्नोति। स च प्राकृतः। वृषण्—"वृषण्वतीमन्वाह"[8]। शीर्षण्—"शीर्षण्वान्मेध्यः"[9]। ब्रह्मण्—"ब्रह्मण्वत्योप दधाति"[10]। अक्षण्—"अक्षण्वते"[11]। चर्मण्—"चर्मण्वते स्वाहा"[12]। चर्षणित्यवग्रहश्शाखान्तरे। अवग्रह इति किम्? "इध्मवसे वृषन्"[13]। "सप्त शीर्षन् प्राणाः"[14]। "ब्रह्मन्नेव विशम्"[15]। "अक्षन्नमीमदन्त"[16]। "पशूनां चर्मन्मिमीते"[17] ॥ १३ ॥

ऋणषण्णष्णम्णराव्णण चेति प्राकृताः ॥ १४ ॥

मा०—ऋण्, षण्, ष्ण, म्ण, राव्ण्ण इत्येतेषु ग्रहणेषु प्रकृत्यैव णकारो वेदितव्यः।

और षकार पूर्व में होने पर नकार णकार (हो जाता है)" इत्यादि से प्राप्त होने पर यहाँ णकार वैकृत है—इस शंका के निराकरण के लिए इन पदों को (उद्धृत किया गया है)—ऐसा अन्य (आचार्य) मानते हैं। वैसा होने पर "मित्रस्य चर्षणीधृतः" यह उदाहरण सुन्दर (अभिमत) है।[क] अवग्रह—यह क्यों (कहा)? "वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ"।...। अवग्रह में स्थित=अवग्रहः—यह लक्ष्यार्थ है ॥ १३ ॥

वै० अ०—(वृषण्...चर्षण्=) वृषण् इत्यादि; जो; अवग्रहः=समास के पूर्वपद; हैं, वहाँ नकार णत्व को प्राप्त करता है। और वह (णकार) प्राकृत है।...॥ १३ ॥

सू० अ०—ऋण्, षण्, ष्ण्, म्ण्, राव्ण्ण (का णकार) भी प्राकृत है।

(क) 'वृषण्' इत्यादि पदों का णकार प्राकृत है। यदि 'वृषण्' इत्यादि पदों के नकार का णकार होना १३।६ से माना जाये तो इन पदों में स्थित णकार भी वैकृत हो जायेगा। यही कारण है कि वृषण् इत्यादि पदो का पृथक् विधान किया गया है—यह अन्य आचार्यों का मत है। यदि इस मत को माना जाये तो 'चर्षणीधृतः' यह उदाहरण उचित होगा।

---

(१) १३।६ (२) ३।४।११ (३) ४।४।४ (४) ५।१।७
(५) २।३।३ (६) १।८।५ (७) ६।१।६ (८) २।५।८
(९) ७।५।२५ (१०) ५।७।८ (११) ७.५।१२ (१२) ७।५।१२
(१३) ४।४।४ (१४) ५।१।७ (१५) २।३।३ (१६) १।८।५
(१७) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"असन्तृण्णे हि हनू"[१]। "मृधा वा एषोऽभिषण्णः"[२]। उत्तरस्य णत्वे प्राप्ते पूर्वस्य च "स्पर्शपर"[३] इति प्रतिषेधे प्राप्ते एतयोरिह ग्रहणम्। "पूष्णो रँह्या अपाम्"[४]। "अर्यम्णे चरुं निर्वपेत्"[५]। "अलोपात्"[६]। इति प्रतिषेधे प्राप्ते एतेषामिह ग्रहणम्। "दधिक्राव्णो अकारिषम्"[७]। "प्रावृण्णो वायव्यानि"[८] ऋण्णषण्णष्णम्ण चेति किम्? "अधिषवणमसि"[९]। हिरण्मयपाणीत्येवमादिषु ग्रहणेषु "ऋण्णषण्णष्णम्ण च" इति ये व्याख्याताः। ते णकारा वेदितव्याः प्राकृताः। न विकारेणाकारा प्राकृताः॥ १४॥

त्रि०—ऋण्, षण्, ष्ण्, म्ण्, राव्ण्, अत्र एते पदैकदेशा बहूपादानार्थमुक्ताः। ऋण्णादिष्वेषु च णकाराः प्राकृता एवेति विज्ञेयाः। "स्वयमातृण्णामुप"[१०]। "असंतृण्णे हि हनू"[११]। "स्वयमातृण्णा ज्योतिः"[१२]। "अभिषण्णो यस्मात्"[१३]। "निषण्णाय स्वाहा"[१४]। "दश मासा निषण्णा आसन्"[१५]। "पूष्णो रँह्या अपाम्"[१६]। "पूष्णा सयुजा"[१७]। "पूष्णे प्रपथ्याय"[१८]। "अर्यम्णे चरुम्"[१९]। "दधिक्राव्णः"[२०]। "आप्रावृण्णः"[२१]। प्राकृतशब्दोऽयं पाण्यादिष्वेव चर्षण् पर्यन्तेषु मुख्यः। चतसृषु सँहितासु णत्वसद्भावात्। ऋण्णेत्यादिषु तु न मुख्यः। किन्तु प्राप्त्यभावेऽपि णत्वप्रापणार्थः। तथाहि—ऋण्णादौ पूर्वणकारस्य स्पर्शपरत्वान्निषेधः, उत्तरस्य टवर्गीयव्यवहितत्वात् ष्णम्णग्रहणयोस्तु "अलोपात्"[२२] इति निषेधः। ग्रहणसामर्थ्यादेव णत्वं सिध्यतीति चेत्, एवं स्वभावत्वमेव ग्रणहस्यापि मूलमिति परिहारः। किञ्च—अन्वाचये वर्तमानश्चकारोऽप्येतेषु णत्वमुख्यमिति द्योतयति। मुख्यं चेच्चतसृषु संहितासु विद्येत, न चात्र विद्यते। तथाहि—"अभिषण्ण

त्रि० अ०—यहाँ ऋण्, ···राव्ण्,—ये पद के एकदेश बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए कहे गए हैं। इन ऋण् आदि में; च=भी; णकार; प्राकृताः=प्राकृत ही हैं—यह जानना चाहिए।···। यह 'प्राकृत' शब्द पाणि (१३।९) इत्यादि से लेकर 'चर्षण्' पर्यन्त (१३।१३) में ही मुख्य है, क्योंकि चारों संहिताओं (देखिए २४।३) में णत्व का सद्भाव है। ऋण्ण इत्यादि में तो (प्राकृत शब्द) मुख्य नहीं है। किन्तु प्राप्ति (नियम) का अभाव होने पर भी णत्व की प्राप्ति के लिए (इन्हें प्राकृत कहा गया है)। जैसे—ऋण्ण् इत्यादि में पूर्ववर्ती णकार का स्पर्श बाद में होने से निषेध हो जाता है और बाद वाले (णकार) का टवर्गीय वर्ण से व्यवहित होने से (निषेध होता है)। ष्ण् तथा म्ण् पदों का तो "अकार के लोप से···"—इस (सूत्र) से

---

(१) ६।२।११ (२) २।४।२ (३) १३।१५ (४) १।३।१०
(५) २।३।४ (६) १३।१५ (७) १।५।११ (८) ६।३।२
(९) १।१।५ (१०) ५।२।८ (११) ६।१।११ (१२) ५।७।६
(१३) २।४।२ (१४) ७।१।१९ (१५) ७।५।१ (१६) १।३।१०
(१७) ४।१।२ (१८) ७।३।१५ (१९) २।३।४
(२०) १।५।११ (२१) ६।३।२ (२२) १३।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यभि—सन्नः"[1]। "निषण्णायेति नि—सन्नाय"[2] इत्यत्र पदसंहितायाम्। पूषन्नर्यमन्निति "पूष्णो रꣳह्यै"[3] "अर्यम्णे चरुम्"[4] इत्यादिसिद्धरूपत्वादत्र वर्णसंहितायामेतत्साहचर्यादेकसूत्रस्थयोरपि ऋण्णषण्णयोर्वर्णसंहितायां णत्वभावो मन्तव्यः। प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण अप्रसिद्धपदार्थसमर्थनं सर्वशास्त्रविदः सर्वे खलु स्वीकुर्वते। तस्मादस्मदुक्त एष युक्तः प्राकृतशब्दार्थः ॥ १४ ॥

निषेध हो जाता है। ग्रहण के सामर्थ्य से ही णत्व सिद्ध हो जाता है—यदि यह कहते हो तो (सुनो)—इस स्वभाव का (=प्राकृत) होना ही ग्रहण का भी मूल है—यह समाधान है। इसके अतिरिक्त अन्वाचय में वर्तमान चकार भी—इनमें णत्व अमुख्य है—यह द्योतित करता है। यदि मुख्य होता तो चारों संहिताओं में विद्यमान होता, और यहाँ विद्यमान नहीं है। जैसे—"अभिषण्ण इत्यभि—सन्नः", "निषण्णायेति नि—सन्नाय"—यहाँ पद—पाठ में। पूषन् और अर्यमन्—इन नकारान्त शब्दों के "पूष्णो रꣳह्यै", "अर्यम्णे चरुम्" इत्यादि सिद्ध रूपों के यहाँ वर्ण—संहिता में (उपलब्ध होने से) इनके साहचर्य से एक (=उसी=१३।१४) सूत्र में स्थित ऋण्, और षण् का वर्ण—संहिता में णत्व होना मानना चाहिए। प्रसिद्ध (असंदिग्ध, निर्णीत) पद के साथ प्रयुक्त होने से अप्रसिद्ध (संदिग्ध, अनिर्णीत) पदार्थ का समर्थन (निर्णय, निश्चय) (होता है)—ऐसा सभी सर्वशास्त्रवेत्ता स्वीकार करते हैं। इसलिए हमारे द्वारा कहा गया ही प्राकृत शब्द का अर्थ युक्त है।[क]॥ १४ ॥

(क) १३।६ से लेकर १३।१४ तक उल्लिखित जो पाणि, गण ... राव्ण् (पचास पद) हैं उनमें सभी प्रकार के णकार प्राकृत हैं। किन्तु इन सभी ५दों के णकार समान रूप से प्राकृत नहीं हैं। पाणि से लेकर चर्षण् तक के पैंतालीस पदों में प्राकृत शब्द का प्रयोग मुख्य है, जबकि अवशिष्ट पाँच पदों (ऋण्, षण्, ष्ण्, म्ण् तथा राव्ण्) में प्राकृत शब्द का प्रयोग अमुख्य है। अर्थात् पाणि इत्यादि पैंतालीस पदों के णकार मुख्य रूप से प्राकृत हैं। ऐसा मानने का यह कारण है कि 'पाणि', 'गण' इत्यादि पैंतालीस पदों के णकार पद संहिता, अक्षर-संहिता, वर्णसंहिता और अङ्कसंहिता—इन चारों में दिखलाई पड़ते हैं। इसके विपरीत 'ऋण्' इत्यादि पाँच पदों के णकार उपर्युक्त चारों संहिताओं में दिखलाई नहीं पड़ते हैं। जैसे—इन पदसंहिताओं को देखा जाये—"अभिषण्ण इत्यभि—सन्नः" और "निषण्णायेति नि—सन्नाय। इन पदसंहिताओं के द्वितीय स्थलों में 'षण्ण' 'सन्न' हो गये हैं। यह स्पष्ट ही है कि 'पूषन्' और 'अर्यमन्' शब्द ही "पूष्णो रꣳह्यै" और "अर्यम्णे चरुम्" में 'पूष्णो' और 'अर्यम्णे' हो गए हैं। इस प्रकार 'ष्ण्' (पूष्णो) और म्ण् (अर्यम्णे') के मूलभूत शब्दों (पूषन् और अर्यमन्) में णकार न होकर नकार उपलब्ध होता है। 'ऋण्'

---

(१) २।४।२ (२) ७।१।१६ (३) १।३।१० (४) २।३।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(ऋण्णषण्णष्णम्णराव्ण्ण =) ऋण्णादिषु; नकारो णकारमाप्नोति, इत्येते हिरण्मयादिराव्ण्णान्तो णकाराः प्राकृता वेदितव्याः। ऋण्ण—"स्वयमातृण्णामुप दधाति"[1]। "असंतृण्णे हि"[2]। षण्ण—"एषोऽभिषण्णः"[3]। "निषण्णाय स्वाहा"[4]।

वै०—(ऋण्णषण्णष्णम्णराव्ण्ण=) ऋण्ण् इत्यादि में; नकार णत्व को

शब्द का कोई ऐसा रूप तो उपलब्ध नहीं होता है, जहाँ णकार न होकर नकार हो किन्तु प्रस्तुत सूत्र (१३।१४) में 'ष्ण्' और 'म्ण्' शब्दों के साथ 'ऋण्ण्' शब्द का जो उल्लेख हुआ है उससे ऐसा मान लेना चाहिए कि 'ऋण्ण्' इस सिद्ध—रूप का भी ऐसा रूप होगा जिसमें णकार के स्थान पर नकार हो। प्रसिद्ध पद के साथ उल्लिखित होने से अप्रसिद्ध पद के रूप का समर्थन हो जाता है—यह सभी शास्त्रवेत्ताओं का मत है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऋण्ण्' इत्यादि पाँच पदों के णकार गौण रूप से प्राकृत हैं। (प्रश्न) तब इनके लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ? (उत्तर) इन पाँच पदों (ऋण्ण्, षण्ण्, ष्ण्, म्ण् और राव्ण्ण्) में नियमतः णत्व की प्राप्ति नहीं होती है। अप्राप्त णत्व की प्राप्ति के लिए ही कहा गया है कि इन पदों के णकार भी प्राकृत हैं। जैसे—'ऋण्ण्' और 'षण्ण्' तथा 'राव्ण्ण्' में १४।६ के अनुसार णत्व नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन स्थलों में प्रथम णकारों के बाद में 'स्पर्श' (णकार) हैं। द्वितीय णकारों और ऋकार तथा षकार के मध्य में णकार विद्यमान हैं। अतः इन शब्दों के द्वितीय नकारों का निषेध १४।१५ से हो जाता है। 'ष्ण' और 'म्ण' शब्दों में (पूषन् और अर्यमन् के) अकार का लोप हुआ है। अतः १४।१५ से 'ष्ण' और 'म्ण' में भी णत्व का निषेध हो जाता है। इस प्रकार पाँचों पदों में णत्व का निषेध हो गया है। किन्तु पाँचों पदों में णत्व अभीष्ट है। इस अभीष्ट की सिद्धि प्राकृत शब्द के प्रयोग से होती है।

पूर्वपक्षी—इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए 'प्राकृत' शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है। १३।१४ में इन पदों का जो ग्रहण किया गया है उससे ही इन पदों में णत्व की सिद्धि हो जाती है।

सिद्धान्ती—प्राकृत होने के कारण ही १३।१४ में इन पदों का ग्रहण किया गया है। सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द भी इसी तथ्य को बतलाता है कि इन पाँच पदों में णत्व अमुख्य है। 'च' यहाँ अन्वाचय में प्रयुक्त है। अन्वाचय का अर्थ है मुख्य के साथ गौण को सम्बद्ध करना। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त चकार मुख्य णत्व वाले पदों (पाणि····चर्षण्) के साथ गौण णत्व वाले पदों (ऋण्ण्····राव्ण्ण्) को सम्बद्ध करता है।

---

(१) ५।२।८ (२) ६।२।११ (३) २।४।२ (४) ७।१।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्ण—"वृष्णो अꣳशुभ्याम्"[१]। "पौष्णं चरुम्"[२]। म्ण—"अर्यम्णे चरुं निः"[३]। "इन्द्राय सुत्राम्णे"[४]। राव्ण्ण—"दधिक्राव्ण्ण"[५]। "आम्राव्ण्णः"[६]॥

नन्वत्र "नकारो णकारम्"[७] इत्यधिकृत्य विकारत्वेन विहिता हिरण्मयादिशब्देषु णकाराः प्राकृता इति विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते। न चानिमित्तत्वात्प्राकृतत्वं युक्तं वक्तुम्। "हिरण्मयम्"[८] "हीयमाणः"[९], "हिणुयात्",[१०] "वृषण्"[११] इत्यादिषु निमित्तपूर्वकत्व-दर्शनात्। न च पाण्यादिशब्देषु तदभावाद्युक्तम्। तत्रापि तथाविधान् शब्दान् पृथगनुक्रम्य अन्ते अनिमित्तत्वमेव वक्तव्यम्, न तु प्राकृतत्वम्। किञ्च—अनिमित्तस्य विधेयत्वे सर्वं विधेयं स्यात्॥

प्राप्त करता है। 'हिरण्मयम्' से प्रारम्भ करके राव्ण्ण् पर्यन्त इन णकारों को प्राकृत जानना चाहिए।...।

(शंका) "....नकार णकार (हो जाता है)"—यह अधिकार करके विकार के रूप में विहित 'हिरण्मय' आदि शब्दों में णकार प्राकृत है—यह प्रतिषिद्ध अर्थ का अभिधान है। निमित्त न होने से इनको प्राकृत कहना युक्त नहीं है। क्योंकि "हिरण्मयम्", "हीयमाणः", "हिणुयात्", "वृषण्" इत्यादि में पूर्व निमित्त दिखलाई पड़ता है। और पाणि इत्यादि शब्दों में उस (निमित्त) का अभाव होने से (प्राकृत) कहना युक्त नहीं है। वहाँ पर भी उस प्रकार के शब्दों का पृथक् रूप से कथन करके अन्त में अनिमित्तत्व ही कहना चाहिए, न कि प्राकृतत्व।[क] इसके अतिरिक्त अनिमित्त का विधान होने से सबका विधान करना पड़ेगा।

(क) पूर्वपक्षी—१३।६ से नकार के णकार होने का विधान चल रहा है। इससे उल्लिखित पदों के णकार नकार के विकार हैं। नकार के स्थान पर आने वाले णकारों को प्राकृत कहना एक विरुद्ध कथन है। जो विकार है वह प्राकृत कैसे?
सिद्धान्ती—उल्लिखित पदों के णकारों के निमित्त विद्यमान नहीं है। निमित्त न होने के कारण ही इन पदों के णकारों को प्राकृत कहा गया है।
पूर्वपक्षी—यह कहना युक्त नहीं है कि निमित्त न होने के कारण उल्लिखित पदों के णकार प्राकृत हैं, क्योंकि (१) इन स्थलों को देखिए—(अ) हिरण्मयम् (१३।८)—यहाँ णकार का निमित्त रेफ विद्यमान है; (ब) पणिभिर्वीयमाणः (१३।१०)—यहाँ णकार का निमित्त रेफ विद्यमान है; (स) प्रहिणुयात् (१३।१२)—यहाँ णकार का निमित्त 'प्र' का रेफ विद्यमान है; (द) वृषण्ण् (१३।१४)—यहाँ णकार का निमित्त षकार विद्यमान है—इससे ज्ञात होता है कि उल्लिखित पदों में से अनेक के निमित्त विद्यमान हैं; (२) यह ठीक है

---

(१) १।४।२ (२) १।८।२ (३) २।३।४ (४) १।८।६
(५) १।५।११ (६) ६।३।२ (७) १३।६ (८) २।४।१३
(९) १।१।१३ (१०) २।२।६ (११) २।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्रोच्यते—विकारत्वेन विहितानां णकाराणां यद्यपि मुख्यं प्राकृतत्वं न सम्भवति, तथाऽपि निमित्ताभावभावित्वलक्षणं गौणं प्राकृतत्वमिहाश्रित्य प्राकृता इत्युच्यन्ते। न च हिरण्मयादिषु असिद्धो निमित्ताभावः, हिरण्मयशब्दे तावत् "स्पर्शपरः"[1] इति प्रतिषेधेन विधौ बाधिते विधिनिबन्धनं निमित्तत्वमपि बाध्यते। "वीयमाणः"[2] "ऊण्योः"[3] "हिणुयात्"[4] "हिणोति"[4] इत्यादिषु तु पूर्वपदपृथग्भावेऽपि णत्वमिष्यते। "वृषण्"[5] इत्यादिषु "अन्तः"[1] इति प्रतिषेधान्निमित्तत्वबाधः पूर्ववत्। ऋण्णषण्णयोः "स्पर्शपर"[1] त्व "तवर्ग"[1] व्यवायलक्षणात्प्रतिषेधात्। ष्णम्णयोः "अलोप"[1] लक्षणात्। राव्ण्ण् इत्यत्र तूभयतः। तस्मान्निमित्ताभावभावित्वलक्षणं गौणं प्राकृतत्वं सर्वत्रास्त्येव। यदपरमुक्तं अनिमित्तस्यापि विधेयत्वे सर्वं विधेयं स्यादिति। तन्न। यथा हि—अनिमित्ता अपि प्रग्रहा

इस विषय में कहते हैं—विकार के रूप में विहित णकारों का यद्यपि मुख्य प्राकृतत्व सम्भव नहीं है, तथापि निमित्त के अभाव से निष्पन्नात्मक गौण प्राकृतत्व का यहाँ आश्रय लेकर इन्हें प्राकृत कहा गया है।[क] 'हिरण्मय' आदि (शब्दों) में निमित्त का अभाव सिद्ध नहीं है—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि 'हिरण्मय' शब्द में "....स्पर्श है बाद में जिससे वह (नकार)....." इस प्रतिषेध से विधि का बाध हो जाने से विधि से सम्बद्ध निमित्तत्व का भी बाध हो जाता है। "वीयमाणः", "ऊण्योः", "हिणुयात्" और "हिणोति" इत्यादि में तो पूर्व-पद को पृथक् होने पर भी णत्व अभीष्ट है। 'वृषण्' इत्यादि में "पदान्त नकार..."—इस प्रतिषेध से निमित्तत्व का बाध पूर्ववत् हो जाता है। ऋण् और षण्—इनमें "स्पर्श हैं बाद में जिससे वह (नकार)...." और "तवर्ग से व्यवहित होने पर..." व्यवाय—स्वरूप प्रतिषेध से (निमित्तत्व का बाध होता है)। ष्ण और म्ण में "अकार के लोप से बाद वाला" इस लक्षण से (णत्व का निषेध होता है)। 'राव्ण्ण'—यहाँ पर तो दोनों से

कि अधिकांश उल्लिखित पदों के निमित्त विद्यमान नहीं हैं। तथापि उनके णकार के लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है। सूत्रकार को चाहिए था कि जिन पदों के निमित्त विद्यमान नहीं हैं उन सबका पृथक् रूप से उल्लेख करके उनके बाद में कह देते कि इन पदों के णकार निर्निमित्त हैं।

(क) सिद्धान्ती—यह सच है कि उल्लिखित पदों के णकार का विकार के रूप में विधान किया गया है, अत एव इन पदों के णकार मुख्य रूप से प्राकृत नहीं हैं। यतः इन् पदों के णकार के निमित्त विद्यमान नहीं हैं, अतः इन पदों के णकारों को गौण रूप से प्राकृत कहा गया है।

---

(१) १३।१५ (२) १।१।१३ (३) १।२।६ (४) २।२।६
(५) २।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधीयन्ते, प्रयोजनसद्भावात्, एवं पाणिगणादिष्वसन्देहार्थं णत्वविधानमुपपद्यते। हिरण्मयादिषु त्वर्थात्प्रतिप्रसवात्मको विधिस्सम्पद्यते। ननु पाण्यादिषु शब्देषु कुतस्सन्देहः? तदुच्यते—अन्यत्र सर्वत्र णकारस्य निमित्तपूर्वकत्वदर्शनात्पाण्यादिशब्देषु निमित्ताभावाण्णत्वाभावशङ्कया भवेत्सन्देहः तदपनोदनार्थं तेष्वपि णत्वं विधीयते ॥ १४ ॥

न सुषुम्नोऽग्निर्युष्मानीतोऽन्तोऽलोपात्स्पर्शपरो व्यवायेषु शसचटतवर्गीयेषु ॥ १५ ॥

मा०—सुषुम्नः, अग्नि, युष्मानीतः, एतेषु ग्रहणेषु नकारो णकारं नापद्यते। यथा—"सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः"[१]। "इन्द्राग्निभ्यां त्वा"[२]। "युष्मानीतो अभयं ज्योति-

---

(निषेध हो जाता है)। इसलिए निमित्ताभावस्वरूप गौण प्राकृतत्व सर्वत्र है ही। यह जो दूसरी बात कही है कि अनिमित्त के भी विधेय होने पर सब विधेय हो जायेगा। ऐसी बात नहीं है। जैसे—अनिमित्त भी ग्रहों का विधान किया जाता है, प्रयोजन के होने से। उसी प्रकार 'पाणि', 'गण' आदि में असन्देह के लिए णत्व का विधान किया जाता है। "हिरण्मय" आदि में तो प्रतिप्रसवात्मक विधि सम्पन्न होती है। (शंका-) पाणि इत्यादि शब्दों में सन्देह क्यों? इसे बतलाते हैं-अन्यत्र सर्वत्र णकार निमित्त के बाद में दिखलाई पड़ता है, किन्तु 'पाणि' इत्यादि शब्दों में निमित्त का अभाव है, अतः णत्व के अभाव की शङ्का से सन्देह हो जायेगा, उसके अपनोदन के लिए उनमें भी णत्व का विधान किया जाता है[क] ॥१४॥

सू० अ०—सुषुम्नः, अग्निः, युष्मानीतः (का नकार), पदान्त (नकार), अकार के लोप से बाद वाला (नकार), स्पर्श है बाद में जिससे वह (नकार)

(क) इन सभी पदों के णकारों के निमित्तों का अभाव है। यह इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है—(१) 'हिरण्मय' शब्द में णत्व का निषेध १३।११ से होता है। कार्य (णत्व) का निषेध होने पर कारण (निमित्त) का भी निषेध (अभाव) हो जाता है। वृषण्, ऋण्, षण्, ण्, रण्, राद्ण्ण इत्यादि में भी 'हिरण्मय' शब्द की भाँति णत्व का निषेध हो जाने पर निमित्त का अभाव हो जाता है। (२) पणिभिर्वीयमाणः (पणिभिः। वीयमाणः ॥ प० पा०); सवितारमूण्योः (सवितारम्। ऊण्योः ॥ प० पा०); प्रहिणोति (प्र। हिणोति ॥ प० पा०) इन स्थलों के विषय में यह कहना युक्त नहीं है कि अत्रस्थ णकारों के निमित्त पूर्ववर्ती रेफ हैं। ये पूर्ववर्ती रेफ पूर्ववर्ती पदों में विद्यमान हैं। अत्रस्थ णकार तब भी णकार रहते हैं जब पूर्ववर्ती पद प० पा० में पृथक् हो जाते हैं अतः इन पदों के णकार निर्निमित्तक हैं।

---

(१) ३।४.७ (२) ४।४।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रश्याम्"[1]। अन्तः पदान्तो नकारो णकारं नापद्यते। यथा—"प्रमृणिहि शत्रुम्"[2]। "अलोपात् अलोपोऽनः"[3]। इत्याकारलोप उच्यते। अकारलोपात्परो नकारो णकारं नापद्यते। यथा—"वृत्रघ्न इन्द्राय त्वा"[4]। स्पर्शपरश्च नकारो णकारं नापद्यते। यथा—"संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः"[5]। "वृषन्तख्यो वार्षिक्राः"[6]। "नखनिर्भिन्नम्"[7]। व्यवायिषु शसचटतवर्गीयेषु शकारसकारचवर्गटवर्गतवर्गीयेषु व्यवायिषु व्यवायभूतेषु नकारो णकारं नापद्यते। यथा—"पुरोडाशेन वै देवाः"[8]। "अग्ने रसेन तेजसा"[9]। "रोचन्ते रोचना दिवि"[10]। "वत्सासो नः प्रक्रीडिनः पयोधा"[11]। "अग्निना देवेन पृतना जयेम"[12] ॥ १५ ॥

त्रि०—सुषुम्नः, अग्नि, युष्मानीतः एतेषु नकारो णत्वं नापद्यते। यथा—"सुषुम्नस्सूर्यरश्मिः"[13]। "इन्द्राग्निभ्यां त्वा"[14]। "युष्मानीतो अभयम्"[1]। अन्तः=पदान्तः; नकारो णत्वं नापद्यते। "पितॄन् हविषे तत्तवे"[15]। "प्र मृणिहि शत्रून्"[16]। अलोपादकारलोपात्परोऽपि नकारो णत्वं नापद्यते। यथा—"वृत्रघ्न इन्द्राय त्वा"[17]। "वृत्रघ्नस्स्तोमाः",[18]। नन्वत्र निमित्तनिमित्तिनोर्भिन्नपदस्थत्वाद्विषमो दृष्टान्तः। सत्यम्। सिंहावलोकनन्यायेन प्रथमे प्रश्ने सप्तमाध्यायशेषोदाहरणरूपेण घटते। तत्र च समानपदत्वनियमो नास्ति। घ्न इत्यस्य हन्शब्दविकृतत्वात् "रषः पूर्वो हवनी"[19] इति प्राप्तिः। स्पर्शपरश्च नकारो णत्वं नाप्नोति। "संक्रन्दनोऽनिमिषः"[20]। "अवरुन्धे तार्प्यम्"[21]। "नखनिर्भिन्नम्"[22]। स्पर्शोऽ-

---

तथा श, स, चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग से व्यवहित होने पर (नकार णत्व को) नहीं (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—सुषुम्नः, अग्निः, युष्मानीतः—इनमें नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"सुषुम्नस्सूर्यरश्मिः"। "इन्द्राग्निभ्यां त्वा"। "युष्मानीतो अभयम्"। अन्तः=पदान्त; नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है। "पितॄन् हविषे अत्तवे"। "प्रमृणीहि शत्रून्"। अलोपात्=अकार के लोप से; बाद वाला भी नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"वृत्रघ्न इन्द्राय त्वा"। "वृत्रघ्नस्स्तोमाः। (शंका) यहाँ निमित्त तथा निमित्तिन् के भिन्न पद में स्थित होने से उदाहरण असंगत है। (समाधान) ठीक है। सिंहावलोकन न्याय से प्रथम प्रश्न में सातवें अध्याय के अतिरिक्त उदाहरण के रूप में ठीक बैठता है। वहाँ एक पद में स्थित होने का नियम नहीं है। 'हन्' शब्द का विकृत रूप होने से 'घ्न' को "र अथवा षः पूर्व में होने पर हवनी, अह्हे तथा हन् (का नकार णकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से

---

(१) २।१।११	(१) १।२।१४	(३) पा० सू० ६।४।१३४	
(४) १।४।१	(५) ४।६।४	(६) ५।६।२३	(७) १।८।६
(८) ५।५।१	(९) १।४।४६	(१०) ७।४।२०	(११) ४।३।१३
(१२) ३।५।३	(१३) ३।४।७	(१४) ४।४।५	(१५) २।६।१२
(१६) १।२।१४	(१७) १।४।१	(१८) ४।७।१५	(१९) ७।११
(२०) ४।६।४	(२१) २।४।११	(२२) १।८।६	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्राप्रसिद्धलक्षणविषयो विवक्ष्यते। अन्यथा "पूर्णा पश्चात्"[१] इत्यादौ णत्वं न स्यात्। "रेफात् परं च"[२] इति हि प्रसिद्धलक्षणं, तन्मूलं च पूर्णस्यत्र द्वित्वम्। प्रसिद्धपदेन किम्? "नखनिर्भिन्नम्"[३] इत्यादावपि कथञ्चिल्लक्षणमूलत्वं संभवति। किं तल्लक्षणमिति चेत्? "द्वितीयचतुर्थयोः"[४] इत्यत्र सूत्रे "व्यञ्जनोत्तरयोः"[५] इति वाचो युक्त्यन्तरमिति ब्रूमः। तस्य लक्षणं तत्रैव स्फुटीकरिष्यते महता प्रबन्धेन। स्पर्शः परो यस्मादसौ, स्पर्शपरः। शसचटतवर्गीयेषु; व्यवायेषु=व्यवधायिकेषु सत्सु; नकारो णत्वं नापद्यते। यथा—"रशनामा दत्ते"[६]। "अग्ने रसेन"[६]। "रोचन्ते रोचना दिवि"[७]। "सोमꣳराजानम्"[८]। "प्रक्रीडिनः पयोधाः"[९]। "पृतना जयेम"[१०]। "जनप्रथनाय"[११]। "ऋकारर्कार"[१२]। आदिप्राप्तेः प्रतिषेधोऽयं विहितः॥ १५॥

(णकार की) प्राप्ति होती है (यह सूत्र उसका अपवाद करता है)।[क] स्पर्शपरः= 'स्पर्श' (वर्ण) है बाद में जिसके वह; भी नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे—"संक्रन्दनोऽनिमिषः"। "अवरुन्धे तार्प्यम्"। "नखनिर्भिन्नम्"। यहाँ पर 'स्पर्श' से (उसी 'स्पर्श' की) विवक्षा है जो किसी स्पष्ट लक्षण (=प्रातिशाख्य के सूत्र) का विषय नहीं है। अन्यथा "पूर्णा पश्चात्' इत्यादि में णत्व नहीं होगा। "रेफ से परवर्ती (वर्ण) द्वित्व को प्राप्त करता है" यह स्पष्ट (प्रसिद्ध) लक्षण (सूत्र) है। इसी के कारण 'पूर्णा' में (णकार) का द्वित्व हुआ है।[ख] प्रसिद्ध पद क्यों कहा? (उत्तर) "नखनिर्भिन्नम्" इत्यादि में भी किसी न किसी प्रकार लक्षण का मूल होना संभव हो जाता है। यदि यह पूछते हो कि वह लक्षण (सूत्र) कौन सा है तो सुनिये "द्वितीय और चतुर्थ के पूर्व में" इस सूत्र में "व्यञ्जन उत्तर में होने पर" यह पर्याय शब्द का प्रयोग (ही लक्षण है) यह बतलाते हैं। लक्षण को वहीं पर बहुत विस्तार के साथ स्पष्ट किया जायेगा।[ग]

(क) पूर्वपक्षी—'वृत्रघ्न' प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि निमित्त (रेफ) और कार्यभाक् (नकार) एक पद में विद्यमान नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में एक पद में णत्व का विधान किया गया है।
सिद्धान्ती—यह ठीक है। यह प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण न होकर सप्तम अध्याय का उदाहरण है। ७।१।१ से प्राप्त णत्व का इस सूत्र से निषेध किया गया है।

(ख) तात्पर्य यह है कि नकार तभी णकार नहीं होता है जब उसके बाद में ऐसा स्पर्श हो जो किसी स्पष्ट सूत्र का विषय नहीं है। 'पूर्णा' पद १४।४ से 'पूर्ण्णा' हो जाता है। यहाँ णकार (स्पर्श) बाद में रहने पर भी इसके पहले णकार है, नकार नहीं।

(ग) १४।५ पर त्रि० को देखिए।

---

(१) ३।५।१ (२) १४।४ (३) १।८।६ (४) १४।५
(५) ६।३।६ (६) १।४।४६ (७) ७।४।२० (८) १।७।१०
(९) ४।३।१३ (१०) ३।५।३ (११) ३।२।८ (१२) १३।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—सुषुम्नः, अग्नि, युष्मानीतः इत्येतेषु नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णकारं नाश्नुते। सुषुम्नः—"सुषुम्नस्सूर्यरश्मि"[१]। अग्नि—"इन्द्राग्निभ्याम्"[२]। युष्मानीतः—"युष्मानीतो अभयम्"[३]। अन्त इति पदान्तो नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नोति—"गृहान्मे तर्पयत"[४]। "अपानेन पितॄन्"[५]। "ते देवा अब्रुवन्"[६]। "व्यानेन मनुष्यान्"[७]। अलोपादिति—अन्नन्तस्य प्रतिपादिकस्य भसंज्ञाविषये "अल्लोपोऽनः"[८] इति मूलशास्त्रविहितादकारलोपात्परो नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नोति। अत्र "प्रतिदीव्नः प्रतिदीव्ना" इति शाखान्तरीयमुदाहरणम्। "वृत्रघ्ने"[९]। "वार्त्रघ्नः"[१०] इत्यादि तु नोदाहरणम्, समानपदनिमित्ताभावेन प्राप्त्यभावात्। नापि नानापदीयनिमित्तकं णत्वविधानमस्यास्तीत्युपपादितम्। तत्सद्भावकल्पनायामपि सप्तम एवाध्याये तत्प्रतिषेध्यम्। न च तथोक्तं सूत्रकृता। तस्मान्नायमर्थोऽभिमतस्तस्य॥ स्पर्शपर—स्पर्शात्पूर्वो नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नोति। "ग्रीवा अपि कृन्तामि"[११]। "ग्रन्थिं ग्रथ्नातु"[१२]। "अभीष्टकां तृन्दन्ति"[१३]। "तदेवाव रुन्धे"[१४]। "नखनिर्भिन्नम्"[१५]। तथा; (व्यवायेषु

वै० अ०—सुषुम्नः, अग्निः, युष्मानीतः—इनमें नकार (उसी) पद में स्थित निमित्त से; णकार नहीं होता है। सुषुम्नः—"सुषुम्नस्सूर्यरश्मिः"। अग्नि—"इन्द्राग्निभ्याम्"। युष्मानीतः—"युष्मानीतो अभयम्"। अन्तः=पदान्त नकार; समान पद में स्थित निमित्त से णत्व को प्राप्त नहीं करता है—"गृहान्मे तर्पयत"। "अपानेन पितॄन्"। "ते देवा अब्रुवन्"। "व्यानेन मनुष्यान्"। अलोपात्—'अन्' में अन्त होने वाले प्रातिपदिक के 'भ' संज्ञा के स्थल में "अंग का अवयव और सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्यय पर हों जिससे, ऐसा जो अन्, उसके अकार का लोप हो"—इस व्याकरण-शास्त्र में विहित अकार-लोप से परवर्ती नकार, समान-पद में स्थित निमित्त से णत्व को प्राप्त नहीं करता है। यहाँ पर "प्रतिदीव्नः प्रतिदीव्ना" यह दूसरी शाखा का उदाहरण है। "वृत्रघ्ने" और "वार्त्रघ्नः"—इत्यादि तो उदाहरण नहीं है, क्योंकि समान पद में निमित्त का अभाव होने से (णत्व की) प्राप्ति नहीं होती है। दूसरे पद में स्थित निमित्त (रेफ) से भी इस (वृत्रघ्ने और वार्त्रघ्नः) के णत्व का विधान नहीं हुआ है—इसका उपपादन (सप्तम अध्याय के अन्तिम सूत्र के भाष्य में) किया जा चुका है। उस (विधान) के सद्भाव की कल्पना की जाने पर भी सप्तम अध्याय में ही उसका प्रतिषेध करना चाहिए था।

---

(१) ३।४।७ (२) ४।४।५ (३) २।१।११ (४) ३।१।८
(५) १।७।२ (६) २।६।६ (७) १।७।२ (८) पा० ६।४।१३४
(९) १।४।१ (१०) १।८।१५ (११) १।२।५ (१२) १।१।२
(१३) ५।६।४ (१४) २।३।७ (१५) १।८।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंसचटतवर्गीयेषु=) शकारसकाराभ्यां चवर्गादिभिश्च त्रिभिर्वर्गैः व्यवाये नकारः; समानपद-स्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नोति। श—"रशनामा दत्ते"[१]। स—"रसेन तेजसा"[२]। चवर्गः—"इन्द्राग्नी रोचना दिवः"[३]। "सोमꣳराजानम्"[४]। टवर्गः—"इष्टेन पक्वम्"[५]। "अधिष्ठानमारम्भणम्"[६]। तवर्गः—"जयत्येव तां पृतनाम्"[७]। "अविता रथानाम्"[८]। "नखनिर्भिन्नम्"[९] ॥ १५ ॥

पृक्तस्वरात्परो ळो डं पौष्करसादेः पौष्करसादेः ॥ १६ ॥

मा०—पृक्तस्वरात् ऋकारादित्यर्थः। पृक्तस्वरात्परो लकारो डकारमापद्यते पौष्करसादेर्मतेन। "मृडा जरित्रे रुद्रस्तवानः"[१०]। पृक्तस्वरादिति किम्? "इलान्दं भवति प्रजाभ्यः"[११] ॥ १६ ॥

त्रि०—पृक्तस्वरात्=ऋकारात्; परः (ळः=) लकारः; दुस्पृष्टसंज्ञः; (डम्=) डकारम्; आपद्यते, पौष्करसादेर्मते। यथा—"मृडातिदृशे"[१२]। पृक्तस्वरादिति किम्?

(किन्तु) सूत्रकार के द्वारा वैसा नहीं कहा गया है। इसलिए उन्हें (सूत्रकार को) यह अर्थ अभिमत नहीं है। स्पर्शपरः=स्पर्श से पूर्ववर्ती; नकार, समान पद में स्थित निमित्त से णत्व को प्राप्त नहीं करता है। "ग्रीवा अपि कृन्तामि"। "ग्रन्थिं ग्रथ्नातु"। "अभीष्टकां तृन्दन्ति"। "तदेवाव रुन्धे"। "नखनिर्भिन्नम्"। उसी प्रकार; (व्यवायेषु शसचटतवर्गीयेषु=) शकार, सकार तथा चवर्ग आदि तीन वर्गों से व्यवधान होने पर; नकार, समान पद में स्थित निमित्त से णत्व को प्राप्त नहीं करता है। श—"रशनामा दत्ते"। स—"रसेन तेजसा"। चवर्ग="इन्द्राग्नी रोचना दिवः"। "सोमꣳराजानम्"। टवर्गः—"इष्टेन पक्वम्"। "अधिष्ठान-मारम्भणम्"। तवर्गः—"जयत्येव तां पृतनाम्"। "अविता रथानाम्"। "नख-निर्भिन्नम्" ॥ १५ ॥

सू० अ०—पौष्करसादि के मत से पृक्त स्वर से बाद वाला ळकार डकार (हो जाता है)।

त्रि० अ०—पृक्तस्वरात्=मिश्रित स्वर से=ऋकार से; परः=परवर्ती; (ळः=) ळकार; जो दुःस्पृष्ट—संज्ञक है, वह; (डम्=) डकार; हो जाता है,

---

(१) ६।३।६ (२) १।४।४६ (३) ४।२।११ (४) १।७।१०
(५) ७.३।११ (६) ४।६।२ (७) ३।४।४
(८) ४।६।४ (९) १।८।९ (१०) ४।५।१०
(११) ७।५।९ (१२) १।१।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नळं प्लवम्"[1] इति शाखान्तरे। पौष्करसादिग्रहणं पूजार्थं न तु विकल्पार्थम्। मूर्धस्थानतया दुस्पृष्टडळकारयोः सादृश्यमस्तीति व्याकरणानुसारी सूत्रपाठोऽयम्। कथमनुसारित्व मिति चेत्? तथाहि—"स्थानेऽन्तरतमः"[2]। स्थाने प्राप्यमाणानां वर्णानामन्तरतमस्सदृशतम आदेशो भवतीति॥ १६॥

वै०—पृक्तस्वरो नाम ऋकारः लृकारश्च, रेफलकारसंपृक्तत्वात्। तस्मात्परो ळकारः डकारमाप्नोति पौष्करसादेर्मतात्। "मृडातीदृशे"[3]। "तया नो रुद्र मृडय"[4]। पौष्करसादिग्रहणं पूजार्थम्॥ १६॥

पौष्करसादेः=पौष्करसादि के मत में। जैसे—"मृडातीदृशे"। पृक्त स्वर से—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "नळं प्लवम्"—यह दूसरी शाखा में है। पौष्करसादि का ग्रहण पूजा के लिए है, विकल्प के लिए नहीं। मूर्धन् स्थान वाले होने से दुःस्पृष्ट डकार और ळकार का सादृश्य है—इसलिए व्याकरण के अनुसार यह सूत्र—पाठ है। यदि कोई कहे कि व्याकरण के अनुसार कैसे? (उत्तर) "एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति उपस्थित होने पर उनमें जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश है, वह आदेश होता है" इससे। स्थान में प्राप्यमाण वर्णों का अन्तरतम=सदृशतम आदेश होता है॥१६॥

वै० अ०—ऋकार और लृकार पृक्त स्वर हैं, (क्रमशः) रेफ और लकार का मिश्रण होने से। उस (ऋकार और लृकार) से परवर्ती ळकार डकार हो जाता है। पौष्करसादि (आचार्य) के मत से।...। (सूत्र में) पौष्करसादि का ग्रहण सम्मान के लिए किया गया है॥ १६॥

---

(१) आ० ६।७ (२) पा० १।१।५० (३) १।१।१४ (४) ४।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम् ॥ १ ॥

मा०—स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णमापद्यते व्यञ्जनपरम्। यथा—"उरुप्रथस्व"[१]। स्वरपूर्वमिति किम्? "यत् प्राच उत्सृजेत्"[२]। "प्रथमे मासि"[३]। व्यञ्जनमिति किम्? "प्रउगमुक्थम्"[४]। व्यञ्जनपरमिति किम्? "उरुकृदुरुणस्कृधि"[५] ॥ १ ॥

त्रि०—स्वरपूर्वं व्यञ्जनं व्यञ्जनपरं द्विवर्णमापद्यते। यथा—"उरुप्रथस्व"[१]। एवम्पूर्वं इति किम्? "तत् प्रवाह ते"[६]। व्यञ्जनपरं इति किम्? "उरुकृदुरुणस्कृधि"[५]। व्यञ्जनमिति किम्? "प्रउगमुक्थम्"[४]। स्वरः पूर्वो यस्मात् तत् स्वरपूर्वम्। व्यञ्जनमस्मात् परं इति व्यञ्जनपरम्। द्वयोर्वर्णयोः समाहारो द्विवर्णम् ॥ १ ॥

सू० अ०—स्वर पूर्व में और व्यञ्जन बाद में होने पर व्यञ्जन द्वित्व को (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्=स्वर पूर्व में है जिसके ऐसा व्यञ्जन; व्यञ्जनपरः=व्यञ्जन बाद में होने पर; द्विवर्णम्=द्वित्व को; प्राप्त करता है। जैसे—"उरुप्रथस्व"क। यह (स्वर) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तत् प्रवाते"ख। व्यञ्जन बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "उरुकृदुरुणस्कृधि"ग। व्यञ्जन—यह क्यों (कहा)? "प्रउगमुक्थम्"घ। स्वर पूर्व में है

(क) उरु। प्रथस्व ॥ प० पा०
प्रस्तुत सूत्र से पकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि इसके पहले स्वर और बाद में व्यञ्जन है।

(ख) तत्। प्रवात इति प्र–वाते ॥ प० पा०
व्यञ्जन बाद में होने पर भी पकार का द्वित्व नहीं हुआ है, क्योंकि इसके पहले स्वर न होकर व्यञ्जन है।

(ग) उरुकृदित्युरु–कृत्। उरु। नः। कृधि ॥ प० पा०
स्वर पूर्व में होने पर भी रेफ, ककार इत्यादि का द्वित्व नहीं हुआ है, क्योंकि इनके बाद में व्यञ्जन नहीं है।

(घ) प्रउगम्। उक्थम् ॥ प० पा०
स्वर पूर्व में और व्यञ्जन बाद में होने पर भी उकार का द्वित्व नहीं हुआ है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में व्यञ्जन के द्वित्व का ही विधान किया गया है।

---

(१) १।१।८ (२) ५।२।५ (३) ७।५।३ (४) ४।४।२
(५) २।६।११ (६) ६।४।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(स्वरपूर्वम् =) स्वरे पूर्वे; (व्यञ्जनपरम् =) व्यञ्जने च परे; तन्मध्यवर्ति व्यञ्जनं; द्विवर्णम् = रूपद्वयम्; अश्नुते। "अक्तꣳरिहाणाः"[१]। "आज्जघमसि"[२]। "एकव्रता देवाः"[३]। "ता वैदेह्योऽभवन्"[४]। तथा अनुस्वारस्य तु परसूत्रविधेयत्वेन अव्यवधायकत्वमुक्तमष्टमाध्याये। तेनानुस्वारात्परस्य संयोगादेरनेन विधिना द्वित्वं भवति। "इन्द्रꣳस्वराजानम्"[५]। "संवत्सरीणाꣳस्वस्तिम्"[६]। अनुस्वारस्य तु परसूत्रविधेयस्यापि संयोगपरत्वे द्वित्वमिष्यते—

अनुस्वारो द्विरुच्येत संयोगे परतस्थिते। इति शिक्षावचनात्। एकव्यञ्जनपरस्य तु न भवति। "माऽघशꣳसः"[७]। "प्रत्युष्टꣳरक्षः"[८] ॥ १ ॥

जिससे वह = स्वरपूर्वम्। व्यञ्जन है बाद में जिससे वह = व्यञ्जनपरम्। दो वर्णों का समाहार = द्विवर्णम् ॥ १ ॥

वै० अ०—(स्वरपूर्वम् =) स्वर पूर्व में होने पर; (व्यञ्जनपरम् =) व्यञ्जन बाद में होने पर; उनके मध्य में स्थित व्यञ्जनः द्विवर्णम् = दो रूपों = द्वित्व को प्राप्त करता है। "अक्तꣳरिहाणाः"। "आज्जघमसि"। "एकव्रता देवाः"। "ता वैदेह्योऽभवन्"। उसी प्रकार अनुस्वार का तो बाद वाले सूत्र में विधान होने से अष्टम अध्याय (८।१५) में अव्यवधायकत्व (व्यवधान न करने वाला) कहा गया है। इससे 'अनुस्वार' से बाद वाले संयोगादि (संयोग के प्रथम व्यञ्जन) का इस विधि से द्वित्व होता है।[क] "इन्द्रꣳ स्वराजानम्"। "संवत्सरीणाꣳ स्वस्तिम्"। "संयोग बाद में होने पर 'अनुस्वार' का द्विरुच्चारण होना चाहिए"—इस शिक्षा के वचन से बाद वाले सूत्र में विहित होने वाले 'अनुस्वार' का तो संयोग पर (संयोग है बाद में जिसके ऐसा) होने पर द्वित्व अभीष्ट होता है। एक 'व्यञ्जन' बाद में होने पर तो नहीं होता है। "माऽघशꣳसः"। "प्रत्युष्टꣳरक्षः"[ख] ॥ १ ॥

(क) ८।१५ के भाष्य में बतला दिया गया है कि परवर्ती सूत्र (१६।२८) में विहित होने के कारण पूर्ववर्ती सूत्रों की दृष्टि में 'अनुस्वार' विद्यमान नहीं होता (दे० पृ० ४८६ पर टि० ख)। द्वित्व की अवस्था में भी 'अनुस्वार' का अभाव होता है। अतः वह १४।१ से प्राप्त द्वित्व का बाधक नहीं हो सकता है। यथा—"इन्द्रꣳस्वराजानम्", "संवत्सरीणाꣳस्वस्तिम्" में सकार के अव्यवहित पूर्व में स्वर (क्रमशः अकार और अकार) है और अव्यवहित बाद में व्यञ्जन (वकार) है। अतः दोनों स्थलों में सकार का द्वित्व होता है।

(ख) इससे ज्ञात होता है कि (१) संयोग बाद में होने पर अनुस्वार का द्वित्व

---

(१) १।१।१३ (२) १।६।१ (३) ६।२।५ (४) २।१।४
(५) २।३।६ (६) ३।१।६ (७) १।१।१ (८) १।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लवकारपूर्वस्स्पर्शश्च पौष्करसादेः ॥ २ ॥

मा०—पौष्करसादेः शास्त्रिनः लकारपूर्वश्च वकारपूर्वश्च स्पर्शो द्वित्वमापद्यते। यथा—"अनुल्बणं वयत जोगुवामपः"[१]। "दधिक्राव्णो अकारिषम्"[२]। स्पर्श इति किम्? "या कल्याणी रूपसमृद्धा"[३]। "होतव्यं दीक्षितस्य"[४] ॥ २ ॥

त्रि०—पौष्करसादेः मते; (लवकारपूर्वः=) लकारपूर्वो वकारपूर्वो वा; स्पर्शः द्विवर्णमापद्यते। यथा—"कल्पाञ्जुहोति"[५]। "विभूदाव्ह्ने"[६]। स्वरपूर्वत्वं द्वित्वं चान्वादिशति चकारः। स्पर्श इति किम्? "कल्याणी रूपसमृद्धा"[७]। "वायव्यम्"[८]। एवम्पूर्व इति किम्? "कूश्माञ्छकभिः"[९]। "तस्मादेतद् गोसनि"[१०]। लकारश्च वकारश्च लवकारौ, तौ पूर्वौ यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ २ ॥

सू० अ०—पौष्करसादि (आचार्य) के मतानुसार लकार तथा वकार पूर्व में होने पर स्पर्श (वर्ण) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—पौष्करसादेः=पौष्करसादि के मत में; (लवकारपूर्वः=) लकार अथवा वकार है पूर्व में जिसके वह; स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है।[क] जैसे—"कल्पाञ्जुहोति"। "विभूदाव्ह्ने"। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) स्वरपूर्वत्व और द्वित्व का अन्वादेश करता है। स्पर्श यह क्यों (कहा)? "कल्याणी रूपसमृद्धा", "वायव्यम्"।[ख] ये (लकार और वकार) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "कूश्माञ्छकभिः"। "तस्मादे तद्गोसनि"[ग]। लकार और वकार=लवकारौ, वे दोनों पूर्व में हैं, जिससे वह वैसा कहा गया (=लवकार पूर्वः=) है ॥ २ ॥

हो जाता है; (२) एक व्यञ्जन बाद में होने पर अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है।

(क) तात्पर्य यह है कि स्पर्श-वर्ण का द्वित्व हो जाता है, यदि स्पर्श-वर्ण के पूर्व में लकार अथवा वकार हो और उस लकार अथवा वकार के पूर्व में स्वर हो।

(ख) कल्पान्। जुहोति ॥ विभूदाव्न इति विभू—दाव्ने ॥ प० पा०
कल्याणी ॥ वायव्यम् ॥ प० पा०
लकार और वकार पूर्व में होने पर भी यकार का द्वित्व नहीं हुआ है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में स्पर्श के द्वित्व का ही विधान किया गया है।

(ग) कूश्मान् ॥
मकार का द्वित्व नहीं हुआ, क्योंकि पूर्व में लकार अथवा वकार न होकर क्रमशः शकार और सकार हैं।

---

(१) ३।४।२ (२) १।५।११ (३) ७।१।६ (४) ६।१।४
(५) ५।४।८ (६) ३।५।८ (७) ७।१।६ (८) १।८।७
(९) ५।७।२३ (१०) ६।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्दस्समुच्चये। (लवकारपूर्वः=) लवकाराभ्यां परः; स्पर्शो द्वित्वमश्नुते। चशब्दाल्लवकारौ च। "यद्धिरण्यशल्कैः"[१]। "तद्गुल्गुलु"[२]। "अनुलब्वणं वयत"[३]। "यद्वल्मीकः"[४]। "दधिक्राव्णः"[५]। "रायस्पोषदाव्ने"[६]। लवकारपूर्व इति किम्? श्रूयताम्—स्वरपूर्वग्रहणमुत्तरार्थमिहानुवर्तते। तत्र यथान्यासे स्वरपूर्वाभ्यां लवाभ्यां परस्स्पर्श इति योजना। लवकारपूर्वग्रहणाभावे तु स्वरपूर्वः स्पर्श इति स्यात्। तत्तु पौष्करसादेरपि नेष्टम्। तन्माभूदिति तदुच्यते। स्पर्श इति किम्? "विशल्लयो बाणवान्"[७]। "यव्वयायै गव्वयायै"[८]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ २ ॥

वै० अ०—च शब्द समुच्चय अर्थ में (प्रयुक्त है)। (लवकारपूर्वः=) लकार तथा वकार से बाद में स्थित; स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है। च शब्द से (सूचित होता है कि) लकार और वकार (भी द्वित्व को प्राप्त करते हैं)।[क] "यद्धिरण्यशल्कैः"। "तद्गुल्गुलु"। "अनुल्ब्वणं वयत"। "यद्वल्म्मीकः"। "दधिक्राव्णः"। "रायस्पोषदाव्ने"।[ख] लकार तथा वकार पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? सुनो, 'स्वर' पूर्व का ग्रहण परवर्ती (सूत्रों) के लिए यहाँ अनुवृत्त हो रहा है।[ग] इसलिए (सूत्रों के) पाठ के अनुसार यह योजना होगी—स्वर-पूर्व लकार और वकार के बाद में स्थित स्पर्श (द्वित्व को प्राप्त होता है)। 'लवकारपूर्व' का ग्रहण न किया जाने पर तो स्वर-पूर्व स्पर्श (द्वित्व को प्राप्त करता है)—यह हो जायेगा। किन्तु यह तो पौष्करसादि के मत में भी इष्ट नहीं है। वह न हो जाये—इसलिए यह (लवकार-पूर्व) कहा गया है।[घ] स्पर्श—यह क्यों (कहा)? "विशल्लयो बाणवान्"। "यव्वयायै गव्वयायै"। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है ॥ २ ॥

(क) प्रस्तुत सूत्र से लकार अथवा वकार के बाद में विद्यमान 'स्पर्श' का द्वित्व होता है और पूर्ववर्ती सूत्र से 'स्वर' के बाद में स्थित लकार अथवा वकार का द्वित्व होता है।

(ख) हिरण्यशल्कैरिति हिरण्य–शल्कैः ॥ तत्। गुल्गुलु ॥ अनुल्वणम् ॥ वल्मीकः ॥ दधिक्राव्ण इति दधि–क्राव्णः ॥ रायस्पोषदाव्न इति रायस्पोष–दाव्ने ॥ प०पा०

(ग) तै० सं० में जब लकार अथवा वकार के बाद में 'स्पर्श' आया है तब लकार अथवा वकार के पूर्व में स्वर भी आया है। ऐसा कोई भी स्थल नहीं है जहाँ लकार अथवा वकार के बाद में 'स्पर्श' हो परन्तु पूर्व में 'स्वर' न हो। यह वस्तुस्थिति होने पर—प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र से 'स्वर पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति आवश्यक नहीं है। 'स्वर पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति इस सूत्र में उत्तरवर्ती सूत्रों के लिए की गई हैं।

(घ) स्वर पूर्व में होने पर तो १४।१ से प्रत्येक व्यञ्जन का द्वित्व होता है। अतः यह

---

(१) ५।४।२ (२) ६।२।८ (३) ३।४।२ (४) ५।१।२
(५) १।५।११ (६) १।२।१० (७) ४।५।१ (८) ७।४।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम् ॥ ३ ॥

मा०—एकेषामाचार्याणां लवकारपूर्वः स्पर्श एव द्विवर्णमापद्यते। यथा—"अल्पो ह्येष जातो महान्"[१]। "विभूदाज्ञे ज्योतिष्मते"[२] ॥ ३ ॥

त्रि०—एकेषाम् आचार्याणां मते लवकारपूर्वः स्पर्श एव द्विवर्णत्वमाप्नोति। अनेनावधारणेन सूत्रान्तरारम्भणेन च पौष्करसादिमते लवकारयोश्च द्वित्वमस्तीति गम्यते। इदमेव सूत्रमिष्टं न तु पूर्वसूत्रम्। पूर्वोक्तान्येवोदाहरणानि ॥ ३ ॥

वै०—एकेषामाचार्याणां मते लवकारभ्यां परस्स्पर्श एव द्वित्वमश्नुते न तु तौ लकारवकारावपि। तान्येवोदाहरणानि ॥ ३ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के अनुसार (लकार या वकार पूर्व में होने पर) स्पर्श ही (द्वित्व को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—एकेषाम्=कतिपय; आचार्याणाम्=आचार्यों के मत में लकार अथवा वकार पूर्व में होने पर 'स्पर्श'; एव=ही; द्वित्व को प्राप्त करता है। (स्पर्श ही) इस निश्चय (अवधारण) से और अन्य सूत्र के आरम्भ करने से पौष्करसादि के मत में लकार और वकार का भी द्वित्व होता है—यह ज्ञात होता है[क]। यह सूत्र ही इष्ट है पूर्ववर्ती सूत्र नहीं। उदाहरण पूर्वोक्त ही हैं ॥ ३ ॥

वै० अ०—एकेषामाचार्याणाम्=कतिपय आचार्यों के मत में लकार और वकार से बाद में स्थित स्पर्श; एव=ही; द्वित्व को प्राप्त करता है न कि वे लकार और वकार भी। उदाहण वे ही हैं ॥ ३ ॥

कहना अयुक्त होगा कि स्वर पूर्व में होने पर स्पर्श का द्वित्व होता है। लकार और वकार से परवर्ती स्पर्श के द्वित्व का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

विशल्योः इति वि—शल्यः ॥

(क) यदि पूर्ववर्ती सूत्र (१४।२) का यह अर्थ किया जाये कि पौष्करसादि के मत से लकार अथवा वकार के बाद में स्थित 'स्पर्श' का ही द्वित्व होता है तब पौष्करसादि और प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट आचार्यों के मत में कोई अन्तर नहीं। तब पृथक् सूत्र के निर्माण की क्या आवश्यकता ? पूर्ववर्ती सूत्र का यह अर्थ है—पौष्करसादि के मत से लकार अथवा वकार के बाद में स्थित 'स्पर्श' का ही द्वित्व होता हैं और लकार अथवा वकार का भी द्वित्व होता है। ऐसा करने से पृथक् सूत्र का निर्माण भी संगत हो जाता है और 'एव' के द्वारा प्रस्तुत सूत्र में जो अवधारण (निश्चय) "स्पर्श का ही"—यह भी सार्थक हो जाता है। इस प्रकार पौष्करसादि का मत है कि लकार अथवा वकार का भी द्वित्व होता है और परवर्ती स्पर्श का भी द्वित्व होता है, जबकि इन आचार्यों के अनुसार परवर्ती स्पर्श का ही द्वित्व होता है, लकार अथवा वकार का नहीं।

---

(१) ५।१।३ (२) ३।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेफात्परं च ॥ ४ ॥

मा०—रेफात्परं व्यञ्जनं च द्विवर्णमापद्यते। यथा—"अक्कर्पर्णेन जुहोति"[१]। "सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीन्"[२] ॥ ४ ॥

त्रि०—रेफात्परं व्यञ्जनं द्विवर्णमापद्यते। यथा—"अर्च्चन्त्यर्क्कमर्किणः"[३]। "अक्कर्येण वै"[४]। "ऊर्ग्वा उदुम्बरः"[५]। स्वरपूर्वत्वद्विर्त्वयोः आकर्षकः चकारः। ननु व्यञ्जनपरत्वाकर्षकः किं न स्यात्? नेति ब्रूमः नियमाभावात्। तथाहि—"अथ न"[६] इत्युत्तरत्राधिकारे निषेधः "अवसाने"[७], "ऊष्मा स्वरपरः"[८] इति। एतन्निषेधद्वयेन रेफात्परस्य व्यञ्जनस्य व्यञ्जनपरत्वे स्वरपरत्वे तदभावे च द्वित्वमस्तीति निश्चीयते। कथम्? अप्रसक्तप्रतिषेधानुपपत्तेः। स्वरपूर्वत्वान्वादेशेन किम्? "त्र्यम्बकम्"[९] इत्यादौ मा

सू० अ०—रेफ से बाद में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—रेफात्परम्=रेफ से बाद में स्थित; व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है। जैसे—"अर्च्चन्त्यर्क्कमर्किणः"। "अक्कर्येण वै"। "ऊर्ग्वा उदुम्बरः"[क]। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार स्वरपूर्वत्व और द्वित्व की अनुवृत्ति करता है। (शंका) व्यञ्जनपरत्व का आकर्षक क्यों नहीं होता है? (समाधान) नहीं होता है—यह बतलाते हैं, क्योंकि ऐसे प्रतिबन्ध का अभाव है। जैसे—"अब (द्वित्व का) निषेध (बतलाते हैं)"—इस परवर्ती अधिकार में यह निषेध किया गया है—"(पद के) अवसान में···", "स्वर (वर्ण) बाद में होने पर ऊष्म (—वर्ण) (द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है)"। इन दो निषेधों से यह निश्चय होता है कि रेफ से परवर्ती 'व्यञ्जन' का द्वित्व होता है चाहे उसके बाद में 'व्यञ्जन' हो चाहे उसके बाद में स्वर और चाहे बाद में कोई भी वर्ण न हो। कैसे? क्योंकि अप्रसक्त का प्रतिषेध अनुपपन्न है[ख]। स्वरपूर्व के अन्वादेश से क्या

(क) अर्चन्ति। अर्कम्। अर्किणः॥ अर्क्येण। वै॥ ऊर्क्। वै। उदुम्बरः॥ प० पा०

(ख) **पूर्वपक्षी**—जिस प्रकार १४।१ से प्रकृत सूत्र में 'स्वर पूर्व में होने पर' और 'द्वित्व' की अनुवृत्ति हो रही है उसी प्रकार 'व्यञ्जन' बाद में होने पर की भी अनुवृत्ति होवे। इससे यह अर्थ होगा—"स्वर के बाद में स्थित रेफ से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता हैं, यदि उस व्यञ्जन के बाद में व्यञ्जन हो।

सिद्धान्ती—ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि 'व्यञ्जन' बाद में होने पर ही रेफ से परवर्ती 'व्यञ्जन' का द्वित्व होता है। रेफ से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता है, चाहे उसके बाद में व्यञ्जन हो, चाहे स्वर हो और चाहे कोई भी वर्ण न हो

---

(१) ५।४।३ (२) ४।१।२ (३) १।६।१२
(४) ७।५।६ (५) ५।१।१० (६) १४।१४
(७) १४।१५ (८) १४।१६ (९) १।८।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूदिति। किञ्च—"अचो रहाभ्यां द्वे"[1] इति पाणिनीयसूत्रेणापि स्वरपूर्वत्वे सत्येव द्वित्वं विधीयते। तस्यायमर्थः—अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे भवत इति। तत्रापि स्वरपूर्वत्वं दृश्यते। केचिदेवमूचुः—स्वरपूर्वादिशब्दवद्रेफपूर्वमिति वाच्ये रेफात्परमिति वाचोयुक्त्यन्तरमर्थान्तरं समर्थयति। "अहर्देवानाम्"[2] इत्यादौ वैकृतरेफादुत्त-

---

(लाभ) है? "त्र्यम्बकम्" इत्यादि में द्वित्व न हो जाये[क]। इसके अतिरिक्त "अच् (स्वर) से बाद वाला जो रेफ और हकार है उनसे बाद वाला जो यर् (य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) उसको द्वित्व होता है विकल्प से"—इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा भी स्वर पूर्व में होने पर ही द्वित्व का विधान किया जाता है। उसका यह अर्थ है—"अच् (स्वर) से पर जो रेफ और हकार उनसे पर जो यर्, उसको द्वित्व होता है विकल्प से"। वहाँ पर भी स्वरपूर्वत्व दिखलाई पड़ता है। कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं—'स्वरपूर्व' आदि शब्द की तरह 'रेफपूर्व' कहने के स्थान पर 'रेफात्परम्' यह जो विभिन्न शब्दावली (phraseology) का प्रयोग किया गया है वह विभिन्न अर्थ का समर्थन करता है। (और वह विभिन्न अर्थ इस प्रकार है) "अहर्देवानाम्" इत्यादि में वैकृत रेफ से परवर्ती (वर्ण) का

इस तथ्य की प्राप्ति इस प्रकार होती है—(१) १४।१५ में यह कहा गया है कि रेफ के बाद में स्थित व्यञ्जन पद के अवसान में वर्तमान होने पर, द्वित्व को प्राप्त नहीं होता। जैसे ऊर्क्। (२) १४।१६ में यह कहा गया है कि रेफ के बाद में स्थित ऊष्म—वर्ण, स्वर बाद में होने पर, द्वित्व को प्राप्त नहीं होता। जैसे—दर्शपूर्णमासौ। ऊर्क् में ककार के द्वित्व का निषेध किया गया है और "दर्शपूर्णमासौ" में शकार के द्वित्व का निषेध किया गया है। यह तो सर्वविदित है कि प्राप्त (प्रसक्त) का ही निषेध किया जाता है। प्रस्तुत सूत्र (१४।४) के अतिरिक्त कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिसमें रेफ के बाद में स्थित व्यञ्जन के द्वित्व का विधान किया गया है। अतः यह मानना होगा कि प्रस्तुत सूत्र से ही ऊर्क् के ककार तथा 'दर्शपूर्णमासौ' के शकार को द्वित्व की प्राप्ति होती है, जिसका निषेध १४।१५ और १४।१६ में किया गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार रेफ से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता हैं, चाहे उसके बाद में 'व्यञ्जन' हो, चाहे स्वर हो, और चाहे कोई भी वर्ण न हो।

(क) 'त्र्यम्बकम्'—यदि प्रस्तुत सूत्र में 'स्वर पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति न होती तो यहाँ रेफ से परवर्ती यकार का द्वित्व हो जाता। किन्तु यकार का द्वित्व अभीष्ट नहीं है। ऐसे अनिष्ट द्वित्व के निवारण के लिए ही इस सूत्र में 'स्वर पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति अपनाई गई है।

---

(१) पा० ८।४।४६ (२) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस्य न स्यात् द्वित्वमिति। तदेतदध्ययनविरुद्धपद्धतिमध्यास्ते। वयं तु वदामो वाचोयुक्त्यन्तरप्रयोजनम्—रेफपूर्वमित्युक्ते विरुद्धविग्रहेण सूत्रं सन्दिग्धं स्यात्, रेफात् पूर्वं रेफपूर्वमिति भवति एष विग्रह इति। चेत्, अध्यायादिसूत्रेणैतत् गतम्। ततः पौनरुक्त्यमस्य सूत्रस्यापद्येत। ननु पौनरुक्त्यभयादेव विरुद्धविग्रहं निवारयामः। नेयं सरला वृत्तिः। "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इति न्यायात्। अत्र विरुद्धशङ्कालेशोऽपि नावकाशं लभतामिति वाचोयुक्त्यन्तरेण सूत्रमाचार्यः प्रोवाच ॥ ४ ॥

द्वित्व नहीं होता है। किन्तु यह तो अध्ययन (अपनी शाखा के पाठ) के विरुद्ध मार्ग का आश्रय लेता है। विभिन्न शब्दावली के प्रयोग का हम तो यह प्रयोजन बतलाते हैं—'रेफपूर्वम्'—यह कहने पर विरुद्ध विग्रह के द्वारा सूत्र संदिग्ध हो जायेगा, क्योंकि 'रेफपूर्वम्'-का यह भी विग्रह होता है—रेफ से पूर्ववर्ती। (पू०) यदि ऐसा (विग्रह किया जाये) तब तो यह (इसके द्वारा प्रतिपादित स्थल) अध्याय के प्रथम सूत्र से ही ज्ञात हो चुका है। तब यह सूत्र पुनरुक्ति—मात्र हो जायेगा इसलिए पुनरुक्ति के भय से ही विरुद्ध विग्रह का निवारण करते हैं। (सि०) यह सरल (सीधा) तरीका नहीं है। 'कीचड़ के धोने की अपेक्षा उसका दूर से स्पर्श न करना अधिक अच्छा है'—इस न्याय से। यहाँ पर विरुद्ध शंका लेश भी अवकाश प्राप्त न करे—इसलिए आचार्य ने विभिन्न शब्दावली से सूत्र का प्रणयन किया है[क] ॥ ४ ॥

(क) पूर्वपक्षी—१४।१ के समान 'रेफपूर्वम्' न कहकर जो 'रेफात्परम्'—इस विभिन्न शब्दावली का प्रयोग किया गया है वह यह बतलाता है कि प्राकृत रेफ से परवर्ती 'व्यञ्जन' का ही द्वित्व होता है, वैकृत रेफ से परवर्ती 'व्यञ्जन' का नहीं।

सिद्धान्ती—यह हमारी शाखा के पाठ के विरुद्ध है। सूत्रकार ने विभिन्न शब्दावली का जो प्रयोग किया है उसका प्रयोजन यह है—'रेफपूर्वम्' का अर्थ कोई यह कर सकता था—रेफ से पूर्ववर्ती। इससे सूत्र का अर्थ यह हो जाता—स्वर से परवर्ती और रेफ से पूर्ववर्ती 'व्यञ्जन' का द्वित्व होता है।

पूर्वपक्षी—ऐसा अर्थ करने पर तो प्रकृत सूत्र १४।१ की पुनरुक्ति हो जाती। स्वर से परवर्ती और रेफ से पूर्ववर्ती व्यञ्जन का द्वित्व तो १४।१ से ही सिद्ध है। इस पुनरुक्ति के भय से ही 'रेफ से पूर्ववर्ती' इस अर्थ का बाध हो जाता है।

सिद्धान्ती—यह सीधा तरीका नहीं है। विरुद्ध अर्थ की शंका तो हो ही जाती है। गम्भीरता से विचार करने पर पुनरुक्ति का प्रश्न हमारे सम्मुख आता है और तब पुनरुक्ति के भय से विरुद्ध ग्रहण का निवारण होता है। यह लम्बा मार्ग है। यह तो ऐसा ही है जैसे कीचड़ से युक्त होकर फिर उसको धोना। अच्छा तो यह ही है कि कीचड़ से दूर ही रहा जाये। किसी प्रकार की शंका ही न हो इसलिए सूत्रकार ने 'रेफपूर्वम्' का प्रयोग न करके 'रेफात्परम्' का प्रयोग किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देन स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विर्वर्णमित्येतानि पदान्यन्वादिश्यन्ते न स्पर्शः। कुतः? परमिति नपुंसकनिर्देशात्। अत्र रेफपूर्वं चेति बहुव्रीहिनिर्देशे कर्तव्ये रेफात्परमिति व्यस्तनिर्देशः क्रियते; अन्वादेशलभ्यस्वरपूर्वशब्दो रेफविशेषणं यथा स्यादिति। तदयमर्थः—स्वरपूर्वाद्रेफात्परं व्यञ्जनं द्वित्वमश्नुते। तथोक्तं मूलशास्त्रे—"अचो रहाभ्यां द्वे"[1] इति। तद्यथा—"मर्क्काय त्वा"[2]। "एषर्ग्गनुष्टुक्"[3]। "ऊर्म्मिणीर्म्मधुमत्तमाः"[4]। "अध्वर्य्युर्वा ऋत्विजाम्"[5]। "दार्शर्य्यम्"[6]। "नमो वर्ष्म्याय च"[7]। स्वरपूर्वादिति किम्? "त्र्यम्बकं यजामहे"[8]। व्यञ्जनपरमिति तु नान्वादिश्यते; अवसाने द्वित्वप्रतिषेधसामर्थ्यात्। तत्र ह्यनेनैव सूत्रेण प्राप्तिः॥ ४॥

द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वः॥ ५॥

मा०—द्वितीयचतुर्थयोः स्पर्शयोः व्यञ्जनोत्तरयोः प्रथमतृतीयावागमौ भवतः; प्रथमो द्वितीयस्य तृतीयश्चतुर्थस्य। यथा—"विकल्याय चक्षुषा त्वमसि तिष्ठ"[9]। "मेदृभ्या विद्युतो वाचः"[10]। तुशब्दः सरूपस्यैव द्वित्वं यत् प्रकृतं तन्निवर्त्तयति। अन्ये मन्यन्ते—

वै० अ०—च शब्द से 'स्वरपूर्व' 'व्यञ्जन' तथा 'द्विर्वर्ण' इन पदों का अन्वादेश होता है, स्पर्श का नहीं। क्यों? 'परम्' में नपुंसक का निर्देश है[क]। यहाँ पर 'रेफपूर्वम्' इस बहुव्रीहि के निर्देश के स्थान पर 'रेफात्परम्'—यह व्यस्त-निर्देश किया गया है, जिससे अन्वादेश से लभ्य 'स्वरपूर्व' शब्द रेफ का विशेषण हो जाये। इससे यह अर्थ हुआ—स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे; रेफात्परम्=रेफ से बाद में स्थित; व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है। मूल—शास्त्र में भी वैसा कहा गया है—"अच् (स्वर) से बाद वाला जो रेफ और हकार है उनसे बाद वाला जो यर् (य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) उसको द्वित्व होता है विकल्प से"। जैसे—"मर्क्काय त्वा"। "एषर्ग्गनुष्टुक्"। "ऊर्म्मिणीर्म्मधुमत्तमाः"। "अध्वर्य्युर्वा ऋत्विजाम्"। "दार्शर्य्यम्"। "नमो वर्ष्म्याय च"। स्वरपूर्व से—यह क्यों (कहा)? "त्र्यम्बकं यजामहे"। व्यञ्जनपर का तो अन्वादेश नहीं होता है, "अवसान में वर्तमान (वर्ण)"—इस द्वित्व के प्रतिषेध की सामर्थ्य से। क्योंकि वहाँ इस ही सूत्र से प्राप्ति है॥ ४॥

सू० अ०—व्यञ्जन बाद में होने पर (प्रत्येक वर्ग के) द्वितीय और चतुर्थ (वर्णों) को पूर्व (का आगम होता है)।

(क) 'स्पर्श' शब्द पुल्लिङ्ग है। अतः उसका अन्वय 'परम्' के साथ नहीं हो सकता है।

---

(१) पा० ८।४।४६ (२) १।४।६ (३) ६।१।२ (४) १।१।३
(५) ३।१।१० (६) ३।२।२ (७) ४।५।७ (८) १।८।६
(९) ४।१।२ (१०) ५।२।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वस्यागमस्य द्वित्वं विनिवर्त्तयतीति । पूर्वं इत्येकवचनात् प्रथमतृतीयौ प्रत्येकमपि संबध्येते ॥ ५ ॥

त्रि०—स्वरपूर्वयोर्व्यञ्जनोत्तरयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तु पूर्वं आगमो भवति। यथा क्रमेण द्वितीयस्य प्रथमः, चतुर्थस्य तृतीयः। यथा—"विक्ख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ"[१]। "मेग्ध्या विद्युतो वाचः"[२]। द्वितीयचतुर्थयोरिति किम् ? "आद्यमस्यान्नम्"[३]। एवम्पूर्वयोरिति किम् ? "वट्थ् स्वयमभिगूर्त्ताय तमः"[४]। "पद्भ्यां द्वे सवने"[५]। एवम्परयोरिति किम् ? "उखायै सदने"[६]। "मेधायते स्वाहा"[७]। प्रथमसूत्रेण प्रसक्तं द्वित्वं निवर्तयति तुशब्दः।

त्रि० अ०—स्वर—पूर्व में होने पर और; व्यञ्जनोत्तरयोः=व्यञ्जन बाद में होने पर; द्वितीयचतुर्थयोस्तु=द्वितीय और चतुर्थ (-वर्णों) को; पूर्वः=पूर्ववर्ती वर्ण का आगम होता है। क्रमानुसार द्वितीय को प्रथम तथा चतुर्थ को तृतीय (का आगम होता है)। जैसे—"विक्ख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ"क। 'मेग्ध्या विद्युतो वाचः"ख। द्वितीय और चतुर्थ को—यह क्यों (कहा)? "आद्यमस्यान्नम्"ग। यह (स्वर) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "वट्थ् स्वयमभिगूर्त्ताय नमः"। "पद्भ्यां द्वे सवने"घ यह (व्यञ्जन) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)?

(क) 'विख्याय'—यहाँ खकार (द्वितीय वर्ण) के पूर्व में स्वर (इकार) और बाद में 'व्यञ्जन' यकार है, अतः प्रस्तुत सूत्र से खकार के पूर्व में उसके पूर्ववर्ती वर्ण (ककार) का आगम हुआ है। इससे 'विक्ख्याय' रूप बना। मुद्रित तै० सं० में 'विख्याय' रूप ही उपलब्ध होता है।

(ख) 'मेघ्या'—यहाँ घकार (चतुर्थ वर्ण) के पूर्व में स्वर (एकार) और बाद में व्यञ्जन (यकार) है, अतः प्रस्तुत सूत्र से घकार के पूर्व में उसके पूर्ववर्ती वर्ण (गकार) का आगम हो गया है। इससे "मेग्ध्या" रूप बना। मुद्रित तै० सं० में 'मेघ्या' रूप ही उपलब्ध होता है।

(ग) यद्यपि दकार के पूर्व में 'स्वर' और बाद व्यञ्जन है, तथापि दकार के पूर्व में इसके पूर्ववर्ती वर्ण (थकार) का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि प्रकृत सूत्र में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के विषय में ही पूर्ववर्ती वर्णों के आगम का विधान किया गया है।

(घ) बाद में व्यञ्जन होने पर भी थकार और भकार के पूर्व में प्रकृत सूत्र से पूर्ववर्ती वर्णों (तकार और वकार) का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि थकार और भकार के पूर्व में 'स्वर' नहीं है।

---

(१) ४।१।२ (२) ५।२।११ (३) २।२।५ (४) ३।२।८
(५) ६।१।६ (६) ४।१।६ (७) ७।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्ये त्वन्यथा मन्यन्ते पूर्वागमस्य द्वित्वं निवारयतीति। नैतत्सारम् "सवर्णसवर्गीयपरः"[1] इत्युत्तरत्र निषेधादेव तस्य निवृत्तेः।

अत्र केचिदाहुः—व्यञ्जनपरयोः इति वाच्ये वाचोयुक्तयन्तरमर्थान्तरं सूचयति। सांहितासांहितसाधारणं परनिमित्तमुक्तं, तत इहान्यतरस्यागमनिमित्तत्वे प्राप्तेऽसांहितपदानां नित्यत्वात्तद्ग्रहणमेव न्याय्यमिति कृत्वा वैकृतव्यञ्जनपरत्वे सति नैतद्विधानं भवति। यथा—

"उखायै सदने"। 'मेधायते स्वाहा"क। (सूत्र में प्रयुक्त) 'तु' शब्द प्रथम सूत्र से प्राप्त द्वित्व का निषेध करता है[ख]। अन्य (आचार्य) अन्य प्रकार से मानते हैं—('तु' शब्द प्रस्तुत सूत्र से प्राप्त) पूर्ववर्ती आगम के द्वित्व का निवारण करता है[ग]। यह (मत) सारयुक्त नहीं है। "सवर्ण तथा सवर्गीय (वर्ण) बाद में होने पर (कोई द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है)"—इस आगे कहे गए निषेध से ही उसकी निवृत्ति हो जाती है।घ

यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है—"व्यञ्जनपरयोः"—यह कहने के स्थान पर दूसरी शब्दावली का प्रयोग (१४।१ से) दूसरे अर्थ को सूचित करता है। जो परवर्ती निमित्त (व्यञ्जन) कहा गया है वह सांहित और असांहित के लिए साधारण है। अतएव यहाँ पर उनमें से कोई एक आगम का निमित्त है—यह प्राप्त होने पर असांहित पदों के नित्य होने से उसका ग्रहण ही संगत है—इस बात को दृष्टि

(क) उखायै, मेधायते—पूर्व में स्वर होने पर भी खकार और धकार के पूर्व में पूर्ववर्ती वर्णों (ककार और गकार) का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि खकार और धकार के बाद में व्यञ्जन नहीं है।

(ख) सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द से यह सूचित होता है कि 'स्वर' पूर्व मे और व्यञ्जन बाद में होने पर भी वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का द्वित्व नहीं होता है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र (१४।५) १४।१ का अपवाद है।

(ग) अर्थात् जब वर्ग के द्वितीय अथवा चतुर्थ वर्ण के पूर्व में स्वर तथा बाद में व्यञ्जन होता है तब १४।१ के अनुसार उस द्वितीय अथवा चतुर्थ वर्ण के पूर्व में उसके पूर्ववर्ती—प्रथम अथवा तृतीय वर्ण का आगम हो जाता है

(घ) कतिपयय आचार्यों का कहना है कि प्रकृत सूत्र से वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के पूर्व में आये हुए प्रथम और तृतीय वर्णों का १४।१ से द्वितीय नहीं होता है, यद्यपि इन प्रथम और तृतीय वर्णों के पूर्व में 'स्वर' और बाद में व्यञ्जन होता है। सूत्रकार का कहना हैं कि यह मत ठीक नहीं है। प्रकृत सूत्र से आगम के रूप में आए हुए प्रथम और तृतीय वर्णों के द्वित्व का निषेध तो १४।२३ से हो जाता है। अतः उसके निषेध की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

---

(१) १४।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अभ्यस्थात्[1]" इत्यादि। नायं पक्षः। अध्ययनविरोधात् मूलसूत्रविरोधाच्च। तथाहि—मूलसूत्रे स्वरपूर्वत्वे व्यञ्जनमात्रपरत्वे च सति विहितं द्वित्वमत्र निषिध्यते। न तु तत्र व्यञ्जनं विशेषितम् तदपवादकत्वादत्रापि तद्विशेषो वक्तुमयुक्तः। शिक्षादिपरीक्षणादध्ययनानुरोधाच्च। वाचोयुक्त्यन्तराभिप्रायोऽस्माभिरभिधीयते अपवाद्यापवादकयोरनयोर्नियमो नास्ति, किमिति—स्वरपूर्वत्वे सति व्यञ्जनपरमेव व्यञ्जनं द्वित्वं भजते, द्वितीयचतुर्थौ तु व्यञ्जनपरावेव पूर्वागमं भजत इति। किन्तु प्राचुर्याभिप्रायेणेदं सूत्रद्वयं प्रवृत्तम्। कथं नियमाभावः? अन्यथाऽपि

में रखकर—वैकृत 'व्यञ्जन' बाद में होने पर यह विधान नहीं होता है। जैसे—"अभ्यस्थात्" इत्यादि में। यह पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि इसका अध्ययन से विरोध है और मूल-सूत्र से विरोध है। क्योंकि मूल-सूत्र से 'स्वर' पूर्व में और 'व्यञ्जन' मात्र बाद में होने पर विहित द्वित्व का यहाँ निषेध किया गया है। वहाँ पर व्यञ्जन का विशेष (वैशिष्ट्य) नहीं बतलाया गया है। उस (१४।१) का अपवादक होने से यहाँ (१४।५) पर भी उसके विशेष को कहना अयुक्त है।[क] शिक्षा आदि के परीक्षण से और अध्ययन के अनुरोध से अन्य शब्दावली के प्रयोग का अभिप्राय हम बतलाते हैं—इन अपवाद्य और अपवादक का नियम नहीं है। क्यों? (उत्तर) 'स्वर' पूर्व में होने पर व्यञ्जन पर (व्यञ्जन है बाद में जिसके वह) व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है, और द्वितीय तथा चतुर्थ (वर्ण), व्यञ्जन बाद में होने पर ही, पूर्ववर्ती वर्ण के आगम को प्राप्त करते हैं। किन्तु प्राचुर्य के

(क) पूर्वपक्षी—१४।१ में प्रयुक्त 'व्यञ्जनपर' के स्थान पर प्रकृत सूत्र (१४।५) में 'व्यञ्जनोत्तर' शब्द का प्रयोग किया गया है। भिन्न शब्द का यह प्रयोग सार्थक है। भिन्न शब्द का प्रयोग यह बतलाने के लिए हुआ है—स्वरपूर्व में होने पर भी द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के पूर्व में उनके पूर्ववर्ती वर्णों का आगम तभी होता है जब बाद में प्राकृत (असांहित) 'व्यञ्जन' होता है, वैकृत (सांहित=संधि के परिणाम—स्वरूप आने वाला) व्यञ्जन बाद में होने पर पूर्ववर्ती वर्णों का आगम नहीं होता है। 'अभ्यस्थात्' में भकार के पूर्व में बकार का आगम नहीं होता है क्योंकि भकार के बाद में वैकृत (संधि होने पर इकार के स्थान पर आया हुआ) यकार विद्यमान है।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त मत ठीक नहीं है क्योंकि (१) यह मत वैदिक पाठ के विरुद्ध है। वैदिक पाठ में समान रूप से सांहित और असांहित व्यञ्जन बाद में होने पर द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के पूर्व में पूर्ववर्ती वर्णों का आगम हुआ है; (२) यह मत मूल—सूत्र के विरुद्ध है। मूल—सूत्र (१४।१) में 'व्यञ्जन' बाद में होने पर द्वित्व का विधान किया गया है। अतः इस अपवाद सूत्र में भी व्यञ्जन बाद में होने पर ही द्वित्व का निषेध किया गया है।

---

(१) ४।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुत्रचित् कार्यद्वयदर्शनात्। "अत्ता हवीꣳषि"[१]। "अन्नपते"[२] इत्यादौ द्वित्वम्। "प्रच्छच्छन्दः"[३]। "अद्धि त्वं देव प्रयता"[४] इत्यादौ पूर्वागमः। "ताꣳहस्ते"[५] इत्यत्र तु प्राप्तौ सत्यामपि नेदं कार्यं दृश्यत इति च नियमाभावः। शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

स्वरात् पूर्वस्य वर्णस्य क्वचिद्द्वित्वं च कथ्यते।
न च वर्गद्वितीयस्य न चतुर्थे कथञ्चन॥

व्याख्यातं च वचनमेतद्विद्वद्भिः—

कुत्रचित् स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं लक्ष्यानुसारतः।
पूर्वागमस्तथा तत्र ज्ञेयो वर्णविचक्षणैः॥

एवंरूपमनियमं सूचयितुं व्यञ्जनोत्तरयोरिति युक्तयन्तरस्वीकारः। व्यञ्जनमुत्तरं याभ्यां तौ व्यञ्जनोत्तरौ, तयोः॥ ५॥

अभिप्राय से ये दो सूत्र प्रवृत्त हुए हैं। नियम का अभाव कैसे है? (उत्तर) क्योंकि कहीं-कहीं पर अन्यथा भी ये दो कार्य दिखलाई पड़ते हैं। (जैसे) "अत्ता हवीꣳषि"। "अन्नपत्ते" इत्यादि में द्वित्व (हुआ है)। "प्रच्छच्छन्दः"। "अद्धि त्वं देव प्रयता" इत्यादि में पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम हुआ है। "ताꣳहस्ते"—यहाँ पर तो प्राप्ति होने पर भी यह कार्य (द्वित्व) दिखलाई नहीं पड़ता है—इस प्रकार नियम का अभाव है। शिक्षा भी इस प्रकार कहती है—

कहीं पर स्वर से पूर्ववर्ती वर्ण का द्वित्व कहा जाता है। वर्गों के द्वितीय (वर्ण) और चतुर्थ (वर्ण) का कहीं भी (द्वित्व) नहीं होता है।

इस वचन की व्याख्या विद्वानों के द्वारा (इस प्रकार) की गई है—कहीं-कहीं पर लक्ष्य के अनुसार दो स्वरों के मध्य में द्वित्व होता है। उसी प्रकार वर्ण-वेत्ताओं को वहाँ पर (दो स्वरों के मध्य में) पूर्ववर्ती वर्ण के आगम को जानना चाहिए। इस प्रकार के अनियम को सूचित करने के लिए "व्यञ्जनोत्तरयोः" इस दूसरी शब्दावली को अपनाया गया है।[क] 'व्यञ्जन' है बाद में जिनके वे 'व्यञ्जनोत्तरौ' हैं, उनके (पूर्व में पूर्ववर्ती वर्ण का आगम होता है)।

(क) सिद्धान्ती—भिन्न शब्द के प्रयोग का अभिप्राय यह है—१४।१ और १४।५ में उल्लिखित विधान और निषेध पूर्णतया निश्चित नहीं है। अर्थात् यह पक्की बात नहीं हैं कि १४।१ और १४।५ में निर्दिष्ट परिस्थितियों में ही कार्य होता है (अन्य परिस्थितियों में भी हो सकता हैं) और यह भी पक्की बात नहीं है कि निर्दिष्ट परिस्थितियों में कार्य अवश्य ही होता है (कहीं—कहीं कार्य नहीं भी होता है)। हाँ, १४।१ और १४।५ में उल्लिखित विधान और निषेध अधिकतर (बहुत) स्थलों में लागू होते हैं। विधान और निषेध बिल्कुल निश्चित नहीं है—यह तथ्य

---

(१) २।६।१२ (२) ४।२।३ (३) ४।३।१२ (४) ६।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तुशब्दो द्वित्वं निवर्तयति। द्वितीयचतुर्थयोस्तु; (व्यञ्जनोत्तरयोः=) व्यञ्जनोत्तरश्रवणनिमित्तम्; द्वित्वं न भवति। किन्तु तस्मिन् विषये तस्मात् तस्मात्पूर्वो वर्ण आगमो भवति। यथा—"व्यख्यन्महिषः"[१]। "यदापो अद्भिनयाः"[२]। "पार्श्वत आच्छ्यति"[३]। "शिशवो न शुभ्राः"[४]। नन्वयं द्वितीयचतुर्थयोः पूर्ववर्ण आगमः किं पुरस्ताद्भवति? उतोपरिष्टात्? तदुच्यते—पूर्व इति तन्त्रेण शब्दद्वयमिहोपात्तम्। तेन पूर्ववर्णागमः तस्मात्तस्मात्पूर्वो भवतीति च सिद्ध्यति। द्वितीयचतुर्थयोरिति किम्? "योनिश्शिक्यम्"[५]। "याच्चैवास्यैषा"[६]। व्यञ्जनोत्तरयोरिति द्वित्वविषयनिर्देशेन किम्? "उद्गात्रा सङ्ख्यापयति"[७]। अत्र केचिद्व्याचक्षते—व्यञ्जनपरमिति प्रथमसूत्रनिर्दिष्टं निमित्तमत्र व्यञ्जनो-

---

वै० अ०—'तु' शब्द द्वित्व का निवारण करता है। (व्यञ्जनोत्तरयोः=) परवर्ती व्यञ्जन के कारण; द्वितीयचतुर्थयोः=द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का; द्वित्व नहीं होता है। किन्तु उस स्थल में उस-उस (द्वितीय और चतुर्थ) से पूर्ववर्ती वर्ण (=प्रथम और तृतीय) का आगम होता है। जैसे—"व्यख्यन्महिषः"। "यदापो अद्भिनयाः"। "पार्श्वत आच्छ्यति"। "शिशवो न शुभ्राः"। (शंका) द्वितीय और चतुर्थ के पूर्व वर्ण का यह आगम पहले होता है या बाद में? इसे बतलाते हैं—'पूर्व'—यहाँ पर तन्त्र से दो शब्दों को उपात्त किया गया है। इससे पूर्ववर्ती वर्ण का आगम उस उस (स्पर्श=द्वितीय और चतुर्थ) से पूर्व में होता है—यह सिद्ध होता है। द्वितीय और चतुर्थ का—यह क्यों (कहा)? "योनिश्शिक्यम्"। "याच्चैवास्यैषा"। 'व्यञ्जन बाद में होने पर'—इस द्वित्व-विषयक

इस प्रकार समझा जा सकता है—(१) अत्ता (अता) और अन्नपत्ते (अन्नपते) में 'स्वर' बाद में होने पर भी तकार का द्वित्व हो गया है, जब कि १४।१ में व्यञ्जन बाद में होने पर ही द्वित्व का विधान किया गया है। इस प्रकार १४।१ में निर्दिष्ट परिस्थितियों से अन्य प्रकार के स्थलों में भी द्वित्व रूप कार्य हो जाता है। 'प्रच्छच्छन्दः' और 'अद्धि' में भी 'स्वर' बाद में होने पर ही छकार और धकार के पूर्व में पूर्ववर्ती वर्णों (चकार और दकार) का आगम हो गया है। इस प्रकार १४।५ में निर्दिष्ट परिस्थितियों से अन्य प्रकार के स्थलों में भी द्वित्व रूप कार्य हो जाता है; (२) 'ताꣳहस्ते' यहाँ पर यद्यपि अनुस्वार (अनुस्वार व्यञ्जन है) के पहले 'स्वर' और बाद में व्यञ्जन है, तथापि अनुस्वार (व्यञ्जन) का द्वित्व नहीं है। १४।१ में उल्लिखित परिस्थितियों के विद्यमान होने पर भी कार्य (द्वित्व) नहीं हुआ है।

उपर्युक्त से सिद्ध होता है कि १४।१ और १४।५ में उल्लिखित विधान और निषेध पूर्णतया निश्चित (पक्के) नहीं हैं। इसी तथ्य को बतलाने के लिए 'व्यञ्जनपरयोः' के स्थान पर 'व्यञ्जनोत्तरयोः' का प्रयोग किया गया है।

---

(१) १।५।३ (२) १।३।११ (३) ६।३।९ (४) ४।३।१३
(५) ५।६।९ (६) १।५।७ (७) ६।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्तरयोरिति शब्दान्तरेणानुवदम् सूत्रकारः अनयोरुभयोस्सूत्रयोः अव्याप्त्यादिदोषग्रस्ततां दर्शयति। तेन "अत्वक्काय"[१], "नीचादुच्चा"[२], "अत्ता हवीꣳषि"[३] इत्यादौ व्यञ्जन-परत्वाभावेऽपि ककारादीनां द्वित्वं सिद्धं भवति; अव्याप्तत्वात्प्रथमसूत्रस्य। तथा—"सृक्ꣳ सꣳशाय"[४] इत्यादौ अनुस्वारस्य द्वित्वाभावश्च सिद्धो भवति, अतिव्याप्तत्वात्। एवम्—"अक्खिद्रा अजायन्त"[५]। "समिद्धो अञ्जन्"[६] इत्यादौ पूर्वागमश्च सिद्धो भवति; अव्याप्तत्वादस्य सूत्रस्य। सोऽयं शास्त्रतात्पर्यानवगतिमूलस्य परिहाराप्रतिभानस्य प्रभावः यत्समानार्थस्य शब्दान्तरस्य प्रयोगं व्याजीकृत्य सूत्रद्वयं दूष्यते। तथाहि—न हि समानार्थ-शब्दान्तरयोगोऽर्थान्तराय कल्पते। तथात्वे पर्यायशब्दोत्सादप्रसङ्गात्। तथा—"वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या"[७], "ह्रस्वो वर्णोत्तरस्त्रयाणाम्"[८] इत्यादिषु न कश्चिद्विशेषो विद्यते। एवं मूलशास्त्रे 'वा', 'उभयथा', 'अन्यतरस्याम्' इति 'गुरुतरगुरुतमशब्दप्रयोगोऽपि। एकव्यञ्जन-परेऽनुस्वारे अतिप्रसङ्गस्तु नास्त्येव, तस्य परसूत्रविधेयत्वात्। संयोगपरे तु द्वित्वं

निर्देश से क्या (लाभ है)? "उद्गात्रा सङ्ख्यापयति"क। यहाँ कुछ लोग कहते हैं—"व्यञ्जनपरम्'—प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट इस निमित्त को यहाँ "व्यञ्जनो-त्तरयोः'—इस शब्दान्तर के द्वारा कहकर सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि ये दो सूत्र अव्याप्ति आदि दोष से ग्रस्त हैं। इससे "अत्वक्काय", "नीचादुच्चा", "अत्ता हवीꣳषि" इत्यादि में व्यञ्जनपरत्व का अभाव होने पर भी ककारादि का द्वित्व सिद्ध होता है, क्योंकि प्रथम सूत्र (१४।१) अव्याप्ति से युक्त है। उसी प्रकार "सृकꣳसꣳशाय" इत्यादि में अनुस्वार के द्वित्व का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि (१४।१) अतिव्याप्ति से युक्त है। उसी प्रकार "अक्खिद्रा अजायन्त", "समिद्धो अञ्जन" इत्यादि में पूर्वागम सिद्ध होता है, क्योंकि यह सूत्र (१४।५) अव्याप्ति से युक्त है। शास्त्र के तात्पर्य को न समझने के कारण समाधान सृष्ट न होने का यह प्रभाव है कि समानार्थ भिन्न शब्द के प्रयोग को बहाना (मिथ्या तर्क) बनाकर इन दो सूत्रों को दोषपूर्ण बतलाया गया है। क्योंकि समानार्थक भिन्न शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ को नहीं बतलाता है। वैसा होने पर पर्यायवाची शब्द के उत्साद होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। जैसे—"कार है बाद में जिससे ऐसा वर्ण उस वर्ण का नाम (संज्ञा) होता है", "वर्ण है बाद में जिससे वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों का बोधक होता है" इत्यादि में कोई अन्तर नहीं है। उसी प्रकार व्याकरण-शास्त्र में 'वा', 'उभयथा', 'अन्यतरस्याम्' बड़े से बड़े शब्दों के प्रयोग में भी (अर्थ का कोई अन्तर नहीं है)। एक व्यञ्जन है बाद में जिसके ऐसे अनुस्वार

(क) खकार के पूर्व में ककार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि खकार के बाद में व्यञ्जन नहीं है।

---

(१) ७।५।१२ (२) २।३।१४ (३) २।६।१२ (४) १।६।१२
(५) ३।५।८ (६) ५।१।११ (७) १।१६ (८) १।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षावचनेन साधितम्। शिक्षोक्तविशेषस्य च ग्राह्यत्वं द्वितीयाध्याये "उरः कण्ठशिरो मुखम्"[१] इत्युरोग्रहणसामर्थ्यात्सिद्धम्। यदपरमुक्तम्—"अत्वक्काय"[२]। "अक्खिद्राः"[३] इत्यादावव्याप्तिरिति, तत्र वदामः इह खल्वप्राप्तप्रापणार्थमसन्देहार्थं च द्वित्वादिकार्यं विधीयते। यथा—"इषेत्वा"[४]। "पशून्पाहि"[५]। "ऋतमस्यृतसदनमसि"[६]। "अन्वह मासाः"[७] इत्येवमादिषु द्वित्वमप्राप्तप्रापणार्थं पदावस्थायामभावात्। "ऊर्जस्वती"[८]। "रयिमस्मै"[९]। "अश्मा भवतु"[१०]। "अन्या वो अन्यामवतु"[११] इत्यादावसन्देहार्थम्। एवं पूर्वागमश्च "अनुख्यातारम्"[१२]। "आछ्यति"[१३]। "अध्यवोचत्"[१४] इत्यादावप्राप्तप्रापणार्थः। "व्यख्यन्महिषस्सुवः"[१५]। "अद्भिनयाः"[१६] इत्यादावसन्देहार्थः। तस्मात् यत्र पदावस्थायामसन्दिग्धं द्वित्वं पूर्वागमश्च दृश्यते—"अत्वक्काय"[१७]। "नीचादुच्चा"[१८] इत्यादौ "अक्खिद्राः"[१९]। "समिद्धः"[२०] इत्यादौ च न तद्विषयं शास्त्रप्रणयनयत्नं परमर्षयः कुर्वन्ति। व्यक्तोक्तं चैतत् पूर्वशास्त्रतात्पर्यविद्भिः—

के विषय में अतिप्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि उस (=अनुस्वार) का परवर्ती सूत्रों में विधान हुआ है। संयोग बाद में होने पर तो द्वित्व शिक्षा-वचन से सिद्ध किया गया है। शिक्षा में कही गई विशेष बात का ग्राह्यत्व द्वितीय अध्याय में "...उरस्, कण्ठ, शिर, मुख और नासिका"—यहाँ पर उरोग्रहण के सामर्थ्य से सिद्ध होता है। जो यह दूसरी बात कही गई है—"अत्वक्काय", "अक्खिद्राः" इत्यादि में अव्याप्ति है—इस विषय में बतलाते हैं, यहाँ (=प्रातिशाख्य में) अप्राप्त की प्राप्ति के लिए और असन्देह के लिए द्वित्व आदि कार्य का विधान किया जाता है। जैसे—"इषे त्वा"। "पशून्पाहि"। "ऋतमस्यृतसदनमसि", "अन्वह मासाः" इत्यादि में अप्राप्त में प्राप्ति के लिए द्वित्व है, क्योंकि वह पद-पाठ में विद्यमान नहीं है। "ऊर्जस्वती", "रयिमस्मै", "अश्मा भवतु"; "अन्या वो अन्यामवतु" इत्यादि में असन्देह के लिए है। इसी प्रकार "अनुख्यातारम्", "आछ्यति", "अध्यवोचत्" इत्यादि में पूर्ववर्ती वर्ण का आगम अप्राप्त की प्राप्ति के लिए है। "व्यख्यन्महिषस्सुवः", "अद्भिनयाः" इत्यादि में असन्देह के लिए है। इसलिए जहाँ पद-पाठ में असन्दिग्ध द्वित्व और पूर्ववर्ती वर्ण का आगम दिखलाई पड़ता है—"अत्वक्काय", 'नीचादुच्चा" इत्यादि में और "अक्खिद्राः", "समिद्धः" इत्यादि में—उसके विषय में परम ऋषि लोग शास्त्र के प्रणयन का यत्न नहीं करते हैं। प्राचीन शास्त्र-तात्पर्य-वेत्ताओं ने स्पष्टतः यह कहा है—

---

(१) २।३	(२) ७।५।१२	(३) ३।५।८	(४) १।१।१
(५) १।१।६	(६) १।७।१३	(७) १।१।१	(८) १।१।७
(९) ४।६।६	(१०) ४ २।६	(११) ३।३।८	(१२) ६।३।६
(१३) ४।५।१	(१४) १।५।३	(१५) १।१।१	(१६) ७।५।१२
(१७) २।३।१४	(१८) ३।५।८	(१९) ५।१।११	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुत्रचिच्च्स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं लक्ष्यानुसारतः।
पूर्वागमस्तथा तत्र ज्ञेयो वर्णविचक्षणैः ॥ इति ॥

ये तु इदमेव वचनमनयोस्सूत्रयोरव्याप्तिबोधकं मन्यन्ते, नमस्तेभ्यः। तदाहुर्नीतिविदः—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ इति ॥

क्वचित्तावत्पदसंहितावशादेव द्वित्वमवगम्यते। यथा—"रुक्कामः"[१]। "त्रिष्टुग्भैष्मी"[२]। "तच्चाददुः"[३]। "तज्जयानाम्"[४]। "एतत्ते"[५]। "अस्तभ्नाद्यम्"[६]। "उद्दिवꣳ-स्तभान"[७]। "यान्न निवपति"[८]। "देवासुरास्संयत्ताः"[९] इत्यादौ। अतो न तत्राप्यव्याप्तिरिति सर्वमनवद्यम् ॥ ५ ॥

रेफपूर्वयोश्च नित्यम् ॥ ६ ॥

मा०—द्विवचनोक्त्या द्वितीयचतुर्थौ परिगृह्येते। द्वितीयचतुर्थयो रेफपूर्वयोश्च नित्येन पूर्वागमौ भवतः। "अर्थेतस्थापां पतिरसि"[१०]। 'ऊदूर्ध्वो भव प्रतिविध्याध्यस्मत्"[११]। नित्यमिति वचनात् स्वरपरेऽपि स्यादेतद्विधानम्। "मूर्ष्खा तज्जघन्या"[१२]। "गो अर्घमेव सोमं करोति"[१३] ॥ ६ ॥

कहीं कहीं पर लक्ष्य के अनुसार दो स्वरों के मध्य में द्वित्व होता है। उसी प्रकार वर्ण-वेत्ताओं को वहीं पर पूर्ववर्ती वर्ण के आगम को जानना चाहिए।

जो लोग इसी वचन को इन दो सूत्रों की अव्याप्ति का बोधक मानते हैं उन (मूर्खों, अज्ञानियों) को नमस्कार। नीति वेत्ताओं ने यह कहा है—

जिसके पास स्वयं प्रज्ञा नहीं है शास्त्र उसका क्या कर सकता है। जिस व्यक्ति के आँखें नहीं हैं उसका दर्पण क्या करेगा ?

कहीं कहीं पर पदों की संहिता के कारण ही द्वित्व ज्ञात होता है। जैसे—"रुक्कामः", "त्रिष्टुग्भैष्मो", "तच्चाददुः", "तज्जयानाम्", "एतत्ते", "अस्तभ्नाद्यम्", "उद्दिवꣳस्तभान", "यान्न निवपति", "देवासुरास्संयत्ताः" इत्यादि में। इसलिए वहाँ पर भी अव्याप्ति नहीं है—अतः सब निर्दोष है।

सू० अ०—रेफ पूर्व में होने पर भी (द्वितीय और चतुर्थ को) नित्य (क्रम से प्रथम और तृतीय का आगम होता है)।

---

(१) २।२।३ (२) ४।३।२ (३) ७।१।५ (४) ३।४।४
(५) १।४।४३ (६) १।२।८ (७) १।३।१ (८) ६।३।१
(९) १।५।१ (१०) १।८।११ (११) १।२।१४ (१२) ७।१।६
(१३) ६।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—"रेफात्परं च"[१] इत्यस्यापवादकमेतत्। द्विवचनेन द्वितीयचतुर्थौ गृह्येते सविशेषणौ। रेफपूर्वयोरनयोर्नित्यं पूर्वागमो भवति। आगमान्वादेशकः चकारः। यथा—"ऊर्ध्वो भव"[२]। "अर्ध्यवाङ्"[३]। नित्यमिति किम्? स्वरपरत्वेऽपि भवत्वेतदिति। यथा—"अर्थेतस्स्थापाम्"[४]। "मूर्ख्यां तज्जघन्याम्"[५]। "गोअर्घमेव"[६] ॥ ६ ॥

वै०—चशब्देन पूर्वं इत्यन्वं दिश्यते। समुच्चयार्थो वा। रेफपूर्वयोश्च द्वितीय-चतुर्थयोर्द्वित्वं न भवति। किन्तु नित्यं पूर्वागमो भवति। यथा—मूर्ख्यां तज्जघन्याम्"[७]। "अथ स धनार्घो भवति"[८]। "उत्तरार्धं वर्षिष्ठम्"[९]। "अर्थेतस्स्थ"[१०]। केचिदस्मिन्विषये

त्रि० अ०—यह (सूत्र) "रेफ से बाद में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)" का अपवाद है।[क] ('पूर्वयोः'—इस) द्विवचन के द्वारा विशेषण सहित द्वितीय और चतुर्थ (स्पर्श वर्णों) का ग्रहण होता है। रेफपूर्वयोः= रेफ पूर्व में होने पर; इन दोनों (द्वितीय और चतुर्थ) को; नित्य; पूर्व (=प्रथम और तृतीय) का आगम होता है। चकार आगम का अन्वादेशक है। जैसे= "ऊर्ध्वो भव"। "अर्ध्यवाङ्"। नित्य—यह क्यों (कहा)? (नित्य का ग्रहण किया गया है जिससे) स्वर बाद में होने पर भी यह (पूर्ववर्ती वर्ण का आगम) हो (केवल व्यञ्जन बाद में होने पर ही न हो)। "अर्थेतस्स्थापाम्"। "मूर्ख्यां तज्जघन्याम्"। "गो अर्घमेव"[ख] ॥ ६ ॥

वै० अ०—च शब्द से पूर्ववर्ती (वर्ण तथा पूर्व में) का अन्वादेश किया जाता है। अथवा (च शब्द) समुच्चय के लिए (प्रयुक्त) है। रेफपूर्वयोश्च= रेफ पूर्व में होने पर भी; द्वितीय और चतुर्थ का द्वित्व नहीं होता है, किन्तु नित्य पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम होता है। जैसे—"मूर्ख्यां तज्जघन्याम्"। "अथ स

(क) १४.४ में यह विधान किया गया है कि रेफ से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता है। प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि रेफ से परवर्ती द्वितीय और चतुर्थ स्पर्श—वर्णों का द्वित्व न होकर इनके पूर्व में क्रमशः प्रथम और तृतीय स्पर्श—वर्णों का आगम हो जाता है, इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र १४.४ का अपवाद है।

(ख) ऊर्ध्वः। भव ॥ अर्धी। अवाङ् ॥ अर्थेत इत्यर्थ—इतः। स्थ। अपाम् ॥ मूर्ख्याम्। तज्जघन्यामिति तत्—जघन्याम् ॥ प्रगल्भ इति प्र—गल्भः ॥ अपगल्भ इत्यप—गल्भः ॥ नमः। मध्यमाय। च। अपगल्भायेत्यप—गल्भाय ॥ प० पा०

---

(१) १४।४ (२) १।२।२४ (३) ६।५।२ (४) १।८।११
(५) ७।१।६ (६) ६।१।१० (७) ७।१।६ (८) २।२।६
(९) ६।६।४ (१०) १।८।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयचतुर्थयोर्द्वित्वं मन्यन्ते। तन्मतनिराकरणार्थं नित्यग्रहणम्। अत एव पृथक्सूत्रारम्भश्च वेदितव्यः ॥ ६ ॥

लकारपूर्वे च ॥ ७ ॥

मा०—चतुर्थ इति चशब्दो ज्ञापयति। लकारपूर्वे चतुर्थे नित्येन पूर्वं आगमो भवति। यथा—"प्रगल्ब्भोऽस्य जायतेऽनाद्यस्य" ॥ ७ ॥

त्रि०—चतुर्थागमयोराकर्षकः चकारः। चतुर्थे स्पर्शे लकारपूर्वे सति पूर्वागमो भवति। यथा—"प्रगल्ब्भोऽस्य"[१]। "अपगल्ब्भो जायते"[२]। "नमो मध्यमाय चापगल्ब्भाय च"[३]। लकारः पूर्वः यस्मात् स लकारपूर्वं ॥ ७ ॥

वै०—चशब्दः पूर्ववत्। एकवचनं तु द्वितीयस्यासम्भवात्। पृथक्सूत्रकरणं च तदसम्भवख्यापनार्थम्। तदयमर्थः— (लकारपूर्वे=) लकारात्परे; चतुर्थे च द्वित्वं न

धनार्घो भवति"। "उत्तरार्ध्यं वर्षिष्ठम्"। अर्थेतस्थ"।[क] कतिपय (आचार्य) इस स्थल में द्वितीय और चतुर्थ का द्वित्व मानते हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिए नित्य शब्द का ग्रहण किया गया है। इसलिए पृथक् सूत्र का आरम्भ (किया गया है)—यह जानना चाहिए ॥ ६ ॥

सू० अ०—लकार पूर्व में होने पर भी (चतुर्थ स्पर्श को तृतीय का आगम होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार चतुर्थ और आगम की अनुवृत्ति करता है। चतुर्थ स्पर्श के; लकारपूर्वः=पूर्व में लकार होने पर; पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम होता है। जैसे—"प्रगल्ब्भोऽस्य"। "अपगल्ब्भो जायते"। "नमो मध्यमाय चापगल्ब्भाय च"[ख]। लकार है पूर्व में जिससे वह=लकारपूर्वः ॥७॥

वै० अ०—च शब्द पूर्ववर्ती (सूत्र) के समान (पूर्व का अन्वादेशक है अथवा समुच्चय अर्थ में है)। ('लकारपूर्वे में') एकवचन तो (लकार के बाद में) द्वितीय (स्पर्श) के उपलब्ध न होने से (प्रयुक्त है)। और उस (द्वितीय स्पर्श की) अनुपलब्धि को बतलाने के लिए (१४।६ से) पृथक् सूत्र का निर्माण किया गया है। इससे यह अर्थ हुआ—(लकारपूर्वे=) लकार से परवर्ती; चतुर्थ (स्पर्श) में द्वित्व नहीं होता है, किन्तु नित्य पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम होता है। जैसे—

(क) अथ। सः। धनार्घ इति धन—अर्घः ॥ उत्तरार्ध्यमित्युत्तर—अर्ध्यम् ॥ अर्थेत इत्यर्थ—इतः ॥ प० पा०

(ख) प्रगल्भ इति प्र—गल्भः ॥ अपगल्भ इत्यप—गल्भः ॥ नमः। मध्यमाय। च। अपगल्भायेत्यप—गल्भाय ॥ प० पा०

---

(१) २।५।५ (२) २।५।५ (३) ४।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति, किन्तु नित्यं पूर्वागमो भवति। यथा—"प्रगल्भोऽस्य जायते"[१]। "नमो मध्यमाय चापगल्भाय च"[२]। अत्रापि परमतनिरासार्था नित्यग्रहणानुवृत्तिः ॥ ७ ॥

उपसर्गपाथएषोऽत्यातिधामपरमभूतेपूर्वेषु छखिभुजेषु च ॥ ८ ॥

मा०—उपसर्गः, पाथएषः, अति, आति, धाम, परम, भूते इत्येतेषु पूर्वेषु छ, ख, भुज, इत्येतेषु परेषु पूर्व आगमो भवति। यथा—"वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा"[३]। "या च विच्छन्दाः सूचीभिः"[४]। "आच्छेत्ता ते मा रिषम्"[५]। "अप्प्येति पाथः एष उच्छागः"[६]। पाथ एष इति किम्? "ऋतुभिर्वा एष छन्दोभिः स्तोमैः"[७]। "यदतिच्छन्दा यदतिच्छन्दसमुप दधाति"[८]। "सवित्र आतिच्छन्दसाय"[९]। "धामच्छदे पुरोडाशम्"[१०]। "परमच्छदो वर आ विवेश"[११]। "यद् भूतेच्छदां सामानि"[१२]। खिपरः—"आक्खिदते च प्रक्खिदते च"[१३]। खीति किम्? "निखातं मनुष्याणामूर्ध्वं निखातात्"[१४]। "अयक्षमया परिब्भुज"[१५]। भुजेति किम्? "परिभूरग्निम्"[१६] ॥ ८ ॥

त्रि०—उपसर्गपूर्वेषु, पाथएषः, अति, आति, धाम, परम, भूते, एवम्पूर्वेषु च सःसु, (छखिभुजेषु=) छ, ख, भुज इत्येतेषु; पूर्वागमो भवति। चकार आगमान्वादेशकः। यथा—"आच्छृणत्ति"[१७]। "नम आक्खिदते च प्रक्खिदते च"[१८]। "अयक्षमया परिब्भुज"[१९]।

"प्रगल्भोऽस्य जायते"। "नमो मध्यमाय चापगल्भाय च"। यहाँ भी दूसरों के मत के निराकरण के लिए 'नित्य' के ग्रहण की अनुवृत्ति (हो रही है)॥ ७॥

सू० अ०—उपसर्ग, पाथ एषः, अति, आति, धाम, परम, और भूते पूर्व में होने पर, छ, ख और भुज में भी (पूर्ववर्ती स्पर्श का आगम होता है)।

त्रि० अ०—उपसर्गपूर्व में होने पर और पाथएषः, अति आति, धाम, परम, भूते—ये; पूर्वेषु=पूर्व में होने पर; (छखिभुजेषु=) छ, ख और भुज—इन (शब्दों) में पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम होता है।[क] चकार आगम का अन्वादेशक है। जैसे—"आच्छृणत्ति"। "नम आक्खिदते च प्रक्खिदते च"। "अयक्ष्मा मे प्रभु च मे"। "या च विच्छन्दाः"। ख—यह क्यों (कहा)? "निखातं

(क) ज्ञातव्य है कि छ, ख और भुज के पूर्व में पूर्ववर्ती वर्ण का आगम तभी हुआ है जब इनके पूर्व में उपसर्ग हो। अन्य निर्दिष्ट शब्द पूर्व में होने पर 'ख' और 'भुज्' के पूर्व में पूर्ववर्ती वर्ण का आगम नहीं हुआ है।

---

(१) २।५।५	(२) ४।५।६	(३) ४।१।६	(४) ५।२।११
(५) १।१।२	(६) ४।६।८	(७) ७।५।१५	(८) ५।३।८
(९) ७।५।१४	(१०) २।४।१०	(११) ४।६।२	(१२) ७।५।९
(१३) ४।५।६	(१४) ६।३।४	(१५) ४।५।१	(१६) ३।२।३
(१७) ५।१।७	(१८) ४।५।६	(१९) ४।६।१	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेति किम्? "विभु च मे प्रभु च मे"[१]। "या च विच्छन्दाः"[२]। खीति किम्? "निखातं मनुष्याणाम्"[३]। "अधि खादति"[४]। उपसर्गपूर्व इति किम्? "सच्छन्दाः"[५]। एतान्युपसर्गपूर्वाणि। अन्यान्यप्युच्यन्ते—"अप्ण्येति पाथः"। "एषच्छागः"[६]। पाथ इति किम्? "ऋतुभिर्वा एष छन्दोभिः"[७]। "अतिच्छन्दसमुप"[८]। "सवित्र आतिच्छन्दसाय"[९]। "धामच्छदिव"[१०]। "परमच्छदो वरे"[११]। "यदभूतेच्छदाꣳसामानि"[१२] ॥ ८ ॥

वै०—(उपसर्गपाथएषोऽत्यातिधामपरमभूतेपूर्वेषु =) उपसर्गेषु पाथएष इत्यादिषु च पूर्वेषु; (छखिभुजेषु =) छकारे खिशब्दे भुजशब्दे; च पूर्वागमो भवति। खिभुजयोरपि सामर्थ्यादादिवर्णस्य पूर्वागम इति सिद्धं भवति। उपसर्गः—"आच्छेत्ताः"[१३]। "विच्छिन्नं यज्ञम्"[१४]। पाथ एषः—"प्रियमप्येति पाथः। एषच्छागः"[१५]। पाथ इति किम्? "ऋतुभिर्वा एष छन्दोभिः"[१६]। अति—"अतिच्छन्दसोत्तमया"[१७]। आति—"सवित्र आतिच्छन्दसाय"[१८]। धाम—"अग्नये धामच्छदे"[१९]। परम—"परमच्छदो वरे"[२०]। भूते—"यद्भूतेच्छदाꣳसामानि"[२१]। एतेषु छकारस्य। खिभुजयोरुपसर्गपूर्वयोरेव। खि—"नम आक्खिदते च प्रक्खिदते च"[२२]। भुज—"अयक्ष्मया परिभुज"[२३]।

मनुष्याणाम्"। "अधि खादति"। उपसर्ग पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सच्छन्दाः"। ये उपसर्गपूर्व के (उदाहरण) हैं। अन्य (पाथएषः इत्यादि) को भी कहते हैं—"अप्ण्येति पाथः"।—"एषच्छागः"। पाथ—यह क्यों (कहा)? "ऋतुभिर्वा एष छन्दोभिः"। "अतिच्छन्दसमुप"। "सवित्र आतिच्छन्दसाय"। "धामच्छदिव"। "परमच्छदो वरे"। "यदभूतेच्छदाꣳसामानि" ॥ ८ ॥

वै० अ०—(उपसर्गपाथएषोऽत्यातिधामपरमभूतेपूर्वेषु =) उपसर्ग, पाथएषः इत्यादि पूर्व में होने पर; (छखिभुजेषुः =) छकार 'खि' शब्द और 'भुज' शब्द में; पूर्ववर्ती (वर्ण) का आगम होता है। खि और भुज में भी सामर्थ्य से आदि वर्ण का पूर्वागम सिद्ध होता है।.....।क (शंका)—इस सूत्र को पद—संहिता के अधिकार में कहना ठीक है। क्यों? क्योंकि पद—संहिता इस (सूत्र) का

(क) विच्छिन्नमिति वि—छिन्नम् ॥ भूतेच्छदामिति भूते—छदाम् ॥ अयक्ष्मया। परीति। भुज ॥ विश्वजनस्येति विश्व—जनस्य ॥ छिनत्तीइ इति ॥ समुद्रम्। छन्दः ॥ सखिभ्य इति सखि—भ्यः ॥ ऋजुम्। एति। धारयति ॥ मा

---

(१) ४।७।४	(२) ५।२।११	(३) ६।३।४	
(४) ६।२।११	(५) ५।२।११	(६) ४।६।८	(७) ७।५।१५
(८) ५।३।८	(९) ७।५।१४	(१०) २।४।१०	(११) ४।६।२
(१२) ७।५।९	(१३) १।१।२	(१४) १।५।१०	(१५) ४।६।८
(१६) ७।५।१५	(१७) ५।२।२	(१८) ७।५।१४	(१९) २।४।१०
(२०) ४।६।२	(२१) ७।५।९	(२२) ४।५।९	(२३) ४।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेति किम्? त्रिभु च मे"[1]। एतत्पूर्वेष्विति किम्? "विश्वजनस्य छाया"[2]। "छन्दो भिरिति छन्दः—भिः"[3]। "छन्दस्वतो इति छन्दस्वतां"[4]। "छिनत्ती३ इति छिनत्ति"[5]। "समुद्रं छन्दः"[6]। "सखा सखिभ्यो वरिवः"[7]। छखिभुजेष्विति किम्? "ऋजुमाधारयति"[8]। "माऽति धक्"[9]। "पितृणां निखातम्"[10]। "त्रिभु च मे प्रभु च मे"[11]। नन्विदं सूत्रं पदसंहिताधिकारे वक्तुं युक्तम्। कुतः? पदसंहिता-विषयत्वात्। सत्यम्। लाघवार्थं त्विहोच्यते। तत्र चेत्क्वचिच्चकारः क्वचित्ककारः क्वचिद्वकारः इत्यागमत्रयं विधेयमिति शब्दगौरवं भवति। इह पूर्वागमाधिकारात्लाघवं सिद्ध्यति॥ ८॥

अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानः स्पर्शपरात्तस्य सस्थानः॥ ९॥

मा०—अघोषादूष्मणः स्पर्शपरात्तस्य स्पर्शस्य सस्थानः प्रथमोऽभिनिधानो भवति। यथा—"अशघ्मन्नूर्जं पर्वते"[11]। "ग्रीष्पमे मध्यन्दिने"[12]। "अयसप्मयं त्रिचृता बन्ध-मेतम्"[13]। अघोषादिति किम्? "शरद्यपराह्णे यावन्ति"[14]। "अह्ने शुक्लं पिङ्गलम्"[15]। ऊष्मण इति किम्? "रुक्मसुप दधाति"[16]॥ ९॥

त्रि०—स्पर्शपरादघोषादूष्मणः परः प्रथम आगमस्तस्य स्पर्शस्य; सस्थानः= समानस्थानः; अभिनिधानो भवति। अभिनिधीयत इति अभिनिधानः, आरोपणीय इत्यर्थः।

विषय है। ठीक है लाघव के लिए यहाँ कहते हैं। यदि वहाँ पर कहा जाये तो कहीं पर चकार, कहीं पर ककार और कहीं पर वकार—इन तीन आगमों का विधान करना पड़ता है, जिससे शब्द-गौरव होता है। यहाँ पर पूर्वागम का अधिकार होने से लाघव की सिद्धि होती है।

सू० अ०—स्पर्श है बाद में जिसके ऐसे अघोष ऊष्म (—वर्ण) से बाद में उस (परवर्ती स्पर्श) के समान स्थान वाले प्रथम (स्पर्श) का अभिनिधान (—संज्ञक आगम होता है)।

त्रि० अ०—स्पर्शपरादघोषादूष्मणः परः='स्पर्श' है बाद में जिसके ऐसे

अतीति। धाक्॥ उरु। क्षयाय। नः। कृधि॥ एवः। छन्दः। वरिवः। मारुतम्। पृश्निम्। एति। लभेत॥ एषा। प्रतिष्ठेति प्रति—स्था॥ कृष्णः। असि॥ ग्रीष्मः। हेमन्तः॥ दिवः। पाहि॥ अप्स्वित्यप्—सु। स्नाति॥ शुनम्। नः। फालाः॥ यत्। गृह्णाति॥ प० पा०

---

(१) ४।७।४ (२) १।३।१ (३) ७।५।१५ (४) ४।३।११
(५) १।७।२ (६) ४।३।१२ (७) ३।३।११
(८) २।५।११ (९) १।१।८ (१०) ६।३।४
(११) ४।६।१ (१२) २।१।२ (१३) ४।२।५
(१४) २।१।२ (१५) ३।४।१७ (१६) ५।२।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्तरे तस्याभावादत्रारोप्णीयत्वम्। यथा—"यः क्कामयेत"[१]। "अश्प्मन्नूर्जम्"[२]। "ग्रीष्म्मे मध्यन्दिने"[३]। "अयस्प्मयं विचृत"[४]। "यः प्प्माना"[५]। अघोषादिति किम्? "शरद्यपराह्णे"[६]। ऊष्मण इति किम्? "रुक्ममुप दधाति"[७]। स्पर्शपरादिति किम्? "इष्वा चैव तद्वज्रेण च"[८]। सूत्रमिदमेवेष्टम्। न तु परद्वयम्॥ ९॥

वै०—स्पर्शपरादघोषादूष्मणः परः तस्य स्पर्शस्य; (सस्थानः=) समानस्थानः; प्रथमः आगमो भवति। स खल्वभिनिधान इत्युच्यते। अभिनिधीयते प्रक्षिप्यत इत्यभिनिधानः। प्रक्षिप्यमाणतुल्यः कार्यान्तरविधावविद्यमानवद्भवतीति यावत्। यथा—"उरुक्षयाय नः कृधि"[७]। "एवश्छन्दो वरिवः"[८]। "मारुतं पृश्निमालभेत"[९]। "एषा प्रतिष्ठा"[१०]।

'अघोष' ऊष्म (-वर्ण) से बाद में; तस्य=उस; स्पर्श के; सस्थानः=समान स्थान वाले; प्रथमः (स्पर्श) का अभिनिधान होता है। रखा जाता है, अतः (यह वर्ण) अभिनिधान (कहलाता है), बीच में इसको रखना होता है—यह अर्थ है। दूसरे वेद में इसका अभाव होने से (इसको) यहाँ आरोपित किया गया है (=दो वर्णों के बीच में रखा गया है)। जैसे—"यक्कामयेत"। "अश्प्मन्नूर्ज्जेम्"। "ग्रीष्प्मे मध्यन्दिने"। "अयस्प्मयं विचृत"। "यः प्प्माना"। अघोष से बाद में—यह क्यों (कहा)? "शरद्यपराह्णे[क]"। ऊष्मन् से—यह क्यों (कहा)? "रुक्ममुप दधाति"। स्पर्शपर से—यह क्यों (कहा)? "इष्वा चैव तद्वज्रेण च"। [ख] यह सूत्र ही इष्ट है। बाद वाले दो (सूत्र) तो नहीं॥ ९॥

वं० अ०—स्पर्शपरादघोषादूष्मणः परः= स्पश हैं बाद में; जिसके ऐसे अघोष ऊष्म वण से बाद में; तस्य=उस; स्पर्श के; (सस्थानः=) समान स्थान वाला; प्रथम (स्पश) रूप आगम होता है। वह अभिनिधान कहलाता है। रखा जाता है=प्राक्षप्त किया जाता है (फेंका जाता है=बीच में जोड़ा जाता है)। अतः अभिनधान कहलाता है। प्रक्षिप्त किए जाने वाले के तुल्य होने से दूसरे कार्यों का विधि में अविद्यमान के समान होते हैं—यह तात्पर्य है। जैसे—"उरुक्षयाय नः कृधि"। "एवश्छन्दा वरिवः"। "मारुत पृश्निमा-

---

(क) जिह्वामूलीय, श्, ष्, स् और उपध्मानीय—ये अघोष ऊष्मन् हैं। सभी उदाहरणों में अघोष ऊष्मन् और परवर्ती स्पर्श के मध्य में परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला प्रथम स्पर्श का आगम हुआ है।

(ख) यः। कामयेत॥ अश्मन्। ऊर्जम्॥ ग्रीष्मे। मध्यन्दिने॥ अयस्मयम्। वीति॥ यः। पाप्मना॥ शरदि। अपराह्णे इत्यपर—अह्णे॥ इष्वा। च। एव। तत्। वज्रेण॥ प० पा०

---

(१) २।१।२ (२) ४।६।१ (३) ४।२।५ (४) २।३।१३
(५) ५।२।७ (६) ५।७।३ (७) १।३।४
(८) ४।३।१२ (९) २।१।६ (१०) १।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कृष्णोऽसि"[१]। "ग्रीष्मो हेमन्तः"[२]। "अति दिवस्पाहि"[३]। "अप्सु स्नाति"[४]। "शुनं नः फालाः"[५]? अघोषादिति किम्? "यद्गृह्णाति"[६]। ऊष्मण इति किम्? "मित्रः क्षीरश्रीः"[७]। अभिनिधानत्वाश्रयणात् "प्रथमपरश्च प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः"[८]। इत्यत्राभिनिधानस्या विद्यमानवद्भावात् द्वितीयोत्तमपरस्य ऊष्मणो द्वित्वं न प्रतिषिध्यते—"एवश्छन्दः"[९]। "पृश्निम्"[१०]। "एषा प्रतिष्ठा"[११]। "कृष्णोऽसि"[१२]। "गयस्फानः"[१३]। "न ह स्म"[१४]। स्पर्शपरादिति किम्? "श्यामाको भवति"[१५]। "ऐन्द्रस्सोमः"[१६] ॥ ९ ॥

अघोषे प्लाक्षेः ॥ १० ॥

मा०—प्लाक्षेः शाखिनः अघोषादूष्मणः अघोष एव स्पर्शपरे प्रथमोऽभिनिधानो भवति।

लभेत"। "एषा प्रतिष्ठा"। "कृष्णोऽसि"। "ग्रीष्मो हेमन्तः"। "अति दिवस्पाहि"। "अप्सु स्नाति"। "शुनं नः फालाः"। अघोष से बाद में—यह क्यों (कहा)? "यद्गृह्णाति"। ऊष्म—वर्ण से—यह क्यों (कहा)? "मित्रः क्षीरश्रीः"। अभिनिधान का आश्रय लेने से "प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण के मत में प्रथम (-स्पर्श) बाद में होने पर भी (ऊष्म—वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)" यहाँ अभिनिधान के अविद्यमान होने से द्वितीय और उत्तम 'स्पर्श' है बाद में जिससे ऐसे 'ऊष्म' (-वर्ण) को द्वित्व का प्रतिषेध नहीं होता है (अर्थात् द्वित्व होता है)—"एवश्छन्दः"। "पृश्निम्"। "एषा प्रतिष्ठा"। "कृष्णोऽसि"। "गयस्फानः"। "न ह स्म"[क]। स्पर्श है बाद में जिसके—यह क्यों (कहा)? "श्यामाको भवति"। "ऐन्द्रस्सोमः" ॥ ९ ॥

सू० अ०—प्लाक्षि (आचार्य) के अनुसार अघोष (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श का आगम होता है)।

(क) १४।१७ मे यह विधान किया गया है कि प्लाक्षि और प्लाक्षायण के मत से प्रथम स्पर्श बाद में होने पर ऊष्म—वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार उपर्युक्त उदाहरणों में छकार इत्यादि के पूर्व में चकार इत्यादि का आगम होता है—"एवश्छन्दः"। अतः प्रथम (चकार इत्यादि) बाद में होने के कारण 'ऊष्म'—वर्ण (शकार) इत्यादि के द्वित्व का निषेध हो जाता है। किन्तु यहाँ बतला दिया गया है कि अन्य कार्यों के प्रसंग में अभिनिधान (आगम-रूप प्रथम स्पर्श) अविद्यमानवत् होता है। अतः शकार इत्यादि के बाद में छकार इत्यादि है, चकार इत्यादि नहीं। अतः द्वित्व का निषेध नहीं होता—शकार इत्यादि का द्वित्व हो जाता है।

---

(१) १।१।११	(२) ५।७।२	(३) १।८।१४	(४) ६।१।१
(५) ४।२।५	(६) ३।३।६	(७) ४।४।६	(८) १४।१७
(९) ४।३।१२	(१०) २।१।६	(११) १।६।११	(१२) १।१।११
(१३) १।२।१०	(१४) ५।१।१०	(१५) २।३।२	(१६) ३।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"निष्क्केवल्यमुक्थम्"[१]। "यश्च्छन्दसामृषभो विश्वरूपः"[२]। "सुश्चन्द्रदस्म विश्पूपते"[३]। अघोषपर इति किम्? "कूष्माञ्छकमिः"[४] ॥ १० ॥

त्रि०—अघोष एव स्पर्शे परे सति अघोषादूष्मणः परः प्रथमागमो भवतीति प्लाक्षेः पक्षः। यथा—"निष्क्केवल्यम्"[१]। "यः क्कामयेत"[५]। "पश्च्चात् प्राचीम्"[६]। "मिष्ठ्ठपामि"[७]। 'दोषावस्त्तः"[८]। "यः प्पाप्मना"[९]। "आस्प्पात्रम्"[१०]। अघोषेति किम्? "कूश्मान्"[४] ॥ १० ॥

वै०—प्लाक्षेर्मते अघोषे स्पर्शे परतः अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानो भवति। न तु घोषवति स्पर्शे परतः। तस्मिन् पक्षे प्रथमद्वितीययोः परतः प्रथमागमो नोत्तमे ॥ १० ॥

उत्तमपरात्तु प्लाक्षायणस्य ॥ ११ ॥

मा०—प्लाक्षायणस्य शाखिनः अघोषादूष्मणः उत्तमपरात् प्रथमोऽभिनिधानो भवति।

त्रि० अ०—अघोषे = अघोष ही स्पर्श बाद में होने पर; अघोष ऊष्म (-वर्ण) से बाद में प्रथम (स्पर्श) का आगम होता है—यह; प्लाक्षेः = प्लाक्षि का मत है। जैसे—"निष्क्केवल्यम्"। "यः क्कामयेत"। "पश्चात्प्राचीम्"। "निष्ठ्ठपामि"। "दोषावस्त्तः"। "यः प्पाप्मना"। "आस्प्पात्रम्"। अघोष (-स्पर्श)—यह क्यों (कहा)? "कूश्मान्"[क] ॥ १० ॥

वै० अ०—प्लाक्षेः = प्लाक्षि के; मत में; अघोषे = अघोष स्पर्श बाद में होने पर; अघोष ऊष्म (-वर्ण) से बाद में प्रथम (-स्पर्श) का अभिनिधान होता है। घोषवत् स्पर्श बाद में होने पर तो (अभिनिधान) नहीं (होता है)। उस पक्ष में प्रथम और द्वितीय बाद में होने पर प्रथम (-स्पर्श) का आगम होता है, उत्तम (= अन्तिम स्पर्श) बाद में होने पर नहीं ॥ १० ॥

सू० अ०—प्लाक्षायण के अनुसार तो अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर (प्रथम स्पर्श का आगम होता है)।

(क) निष्क्केवल्यम् ॥ यः। कामयेत ॥ पश्चात्। प्राचीम् ॥ निरिति। तपामि ॥ दोषावस्तरिति दोषा—वस्तः ॥ यः। पाप्मना ॥ आस्पात्रम् ॥ कूश्मान् ॥ प० पा०

अघोष ऊष्म—वर्ण शकार के बाद प्रथम स्पर्श पकार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि बाद अघोष स्पर्श न होकर सघोष स्पर्श मकार है।

---

(१) ४।४।२ (२) तै० उ० प्र० १, अनु० ४ (३) ४।४।४
(४) ५।७।२३ (५) २।१।२ (६) ५।३।७ (७) १।१।१०
(८) १।२।१४ (९) २।३।१३ (१०) २।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—"अक्ट्णया व्याघारयति"[१]। "अघोषे प्लाक्षेः"[२] इत्यत्र अघोषमिति प्राकृतं तुशब्दो विनिवर्त्तयति ॥ ११ ॥

त्रि०—प्लाक्षायणस्य तु पक्षे उत्तमपराद्घोषादूष्मणः परः प्रथमागमो भवति। यथा—"अक्ट्णया व्याघारयति"[१]। "अश्नाति"[३]। "तीर्थे स्नाति"[४]। उत्तमपरादिति किम्? "निष्केवल्यम्"[५]। "यः कामयेत"[६]। "पश्चात्"[७]। तुशब्दः प्लाक्षेः पक्षमपक्षिपति। केचिदेवमूचुः—अघोषत्वमूष्मणः तुशब्दो निवर्तयतीति। तत्रायं सूत्रार्थः—उत्तमपरात् घोषवतः ऊष्मणः परः प्रथमागमो भवति। यथा—"अत्ह्रां केतुः"[८]। "शरद्यपराह्णे"[९]। "ब्रप्ह्मवादिनः"[१०]। घोषवत इति किम्? "ग्रीष्मो हेमन्तः"[११]। "अश्मा च मे"[१२]। "अयस्मयं वि"[१३] ॥ ११ ॥

वै०—प्लाक्षायणस्य मते अनन्तरोक्तं न भवतीति तुशब्दार्थः। किं तर्हि,

---

त्रि० अ०—प्लाक्षायणस्य तु=प्लाक्षायण के मत में तो; उत्तमपरात्=उत्तम स्पर्श है बाद में जिसके उस अघोष ऊष्म—वर्ण से बाद में प्रथम (स्पर्श) का आगम होता है। जैसे—"अक्ट्णया व्याघारयति"। "अश्नाति"। "तीर्थे स्नाति"। अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "निष्केवल्यम्" "यः कामयेत"। "पश्चात्"[क]। (सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द प्लाक्षि आचार्य के मत का निराकरण करता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं—तु शब्द ऊष्म—वर्ण के अघोषत्व का निवारण करता है। उस (मत) में सूत्र का अर्थ यह हुआ—अन्तिम स्पर्श है बाद में जिसके ऐसे घोषवत् ऊष्म (-वर्ण) से बाद में प्रथम (स्पर्श) का आगम होता है। जैसे—"अत्ह्रा केतुः"। "शरद्यपराह्णे"। "ब्रप्ह्मवादिनः"। घोषवत् (ऊष्म-वर्ण) से—यह क्यों (कहा)? "ग्रीष्मो हेमन्तः"। 'अश्मा च मे"। "अयस्मयं वि" ॥ ११ ॥

वै० अ०—प्लाक्षायणस्य=प्लाक्षायण आचार्य के मत में; अव्यवहित पूर्व

(क) अक्ष्णया ॥ अश्नाति ॥ स्नाति ॥ निष्केवल्यम् ॥ यः। कामयेत ॥ पश्चात् ॥ अह्ह्राम्। केतुः ॥ अपराह्ण इत्यपर—ह्ण ॥ ब्रह्मवादिन इति ब्रह्म—वादिनः ॥ ग्रीष्मः। हेमन्तः ॥ अश्मा। च। मे ॥ अयस्मयम्। वीति ॥

अघोष ऊष्म—वर्ण षकार, विसर्जनीय तथा शकार के बाद में अन्तिम स्पर्श (ङकार और ञकार) नहीं, अपितु प्रथम स्पर्श (ककार और चकार) हैं, अतः प्रथम स्पर्श का आगम नहीं हुआ है।

---

(१) ५।२।७ (२) १४।१० (३) १।६।७ (४) ६।१।२
(५) ४।४।२ (६) २।१।२ (७) ५।३।७
(८) २।४।१४ (९) २।१।२ (१०) १।७।१
(११) ५।७।२ (१२) ४।७।५ (१३) ४।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तमपरादघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानः भवतीति तद्विपर्ययो भवति। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ११ ॥

प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम् ॥ १२ ॥

मा०—प्रथमः स्पर्श ऊष्मपरः सवर्गीयं द्वितीयम् आपद्यते। यथा—"प्रत्यङ्ख्सोमो अति द्रुतः"[१]। "वट्त् स्वयमभिगूर्त्ताय नमः"[२]। "अप्फ्सु वै वरुणः"[३]। "तथ सवितु."[४]। अथ ऊष्मपर इति किम्? "वाक्त आप्यायताम्"[५]। "अर्वाच्येनं परैः"[६] अत्र "प्रथमपूर्वो हकारः चतुर्थं तस्य सस्थानम्"[७] इति हकारस्य चतुर्थापत्तिः, विशेष-विहितत्वात्। तत. प्रथमस्य "तृतीयँ स्वरघोषवत्परः"[८] इति तृतीयत्वम् ॥ १२ ॥

त्रि०—ऊष्मपरः प्रथमः स्पर्शः स्ववर्गीयं द्वितीयमापद्यते। "विरप्फ्शिन्नुदादाय"[९] "तथ्षोडशी"[१०]। "प्रत्यङ्ख्सोमः"[११]। "तथ्सवितुः"[१२]। प्रथम इति किम्? "तास्सꣳरोहः"[१३]। ऊष्मपर इति किम्? "वाक्ते"[५]। ऊष्मा परो यस्मादसौ ऊष्मपरः ॥ १२ ॥

में कहा गया (प्लाक्षि—मत) नहीं होता है—यह तु शब्द का अर्थ है। तब क्या? उत्तमपरात्=अन्तिम स्पर्श है बाद में जिसके ऐसे अघोष ऊष्म वर्ण से बाद में प्रथम (-स्पर्श) का आगम होता है—इससे उस (प्लाक्षि के मत का) विपर्यय होता है।[क] ये दोनों सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥ ११ ॥

सू० अ०—ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर प्रथम (स्पर्श) (अपने वर्ग का) द्वितीय (स्पर्श) (हो जाता है)।

त्रि० अ०—ऊष्मपरः=ऊष्म (वर्ण) है बाद में जिसके वह; प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय (स्पर्श) हो जाता है। "विरप्फ्शिन्नुदादाय"। "तथ्षोडशी" "प्रत्यङ्ख्सोमः"। "तथ्सवितुः"। प्रथम (स्पर्श)—यह क्यों (कहा)? "तास्सꣳरोहः"[ख]। 'ऊष्म'—(-वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "वाक्ते"। 'ऊष्म'—वर्ण है बाद में जिससे=ऊष्मपरः ॥ १२ ॥

(क) तात्पर्य यह है कि प्लाक्षि के मत में अघोष स्पर्श बाद में होने पर अघोष ऊष्म—वर्ण के बाद में प्रथम स्पर्श का आगम होता है, जबकि प्लाक्षायण के मत में अन्तिम (=अनुनासिक) स्पर्श बाद में होने पर अघोष स्पर्श से बाद में प्रथम स्पर्श का आगम होता है।

(ख) विरप्शिन्निति वि—रप्शिन् ॥ तत् ॥। षोडशिनः ॥ प्रत्यङ्। सोमः ॥ तत्। सवितुः ॥ ताः। सꣳरोह इति सं—रोहः। वाक्। ते ॥ प० पा०

---

(१) १।८।२१ (२) ३।२।८ (३) २।३।१२ (४) १।५।६
(५) १।३।९ (६) ६।३।३ (७) ५।३८ (८) ८।३
(९) १।१।९ (१०) ६।६।११ (११) ५।३।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(ऊष्मपरः =) ऊष्मणि परतः; प्रथमो द्वितीयमश्नुते, पदान्तश्चापदान्तश्च। अतएवायं विकारः "अथ प्रथमः"[१] इत्यत्र नोक्तः। यथा—"ऋक्खसामयोश्शिल्पे"[२]। "तःष्षोडशी"[३]। "विसृपो विरप्प्शिन्"[४]। "अप्सो नाम"[५]। अत्र प्रथमानां पूर्वसूत्रविहिते द्वित्वे जाते द्वितीयरूपस्य द्वितीयादेशः। "सद्दङ्क्षसमानैः"[६]। "षट्ष्सम्पद्यन्ते"[७]। "पितरं च प्रयन्थ्सुवः"[८]। "क्ष्त्रस्योल्बमसि"[९] इत्यादौ तु द्वित्वाभावात् द्वितीय एव श्रूयते। ऊष्मपर इति किम्? "वाक्त आ प्यायताम्"[१०]। "तमृगुदयच्छत्"[११]। प्रथम इति किम्? "तास्सꣳरोहोऽसि"[१२] ॥ १२ ॥

वाडभीकारस्यासस्थानपरः ॥ १३ ॥

मा०—वाडभीकारस्य शाखिनः असस्थानोष्मपर एव प्रथमो द्वितीयं सवर्गीयमापद्यते। यथा—"ऋक्सामे वै देवेभ्यः"[१३]। "तथ्षोडश्यभवत्"[१४]। "अफ्सु व वरुणः"[१५]। असस्थानपर इति किम्? "तत्सवितुः"[१६] ॥ १३ ॥

वै० अ०—(ऊष्मपरः =) ऊष्म (– वर्ण) बाद में होने पर; प्रथम (स्पर्श) द्वितीय (स्पर्श) को प्राप्त करता है, पद के अन्त में होने पर और पद के अन्त में न होने पर भी। इसलिए यह विकार "अब प्रथम (स्पर्श के विकार को कहते हैं)"—यहाँ पर नहीं कहा गया है।[क] जैसे—"ऋक्खसामयोश्शिल्पे"। "तत्ष्षोडशी"। "विसृपो विरप्प्शिन्"। "अप्सो नाम"। यहाँ पर प्रथम (– स्पर्शों) का पूर्ववर्ती सूत्र से विहित द्वित्व हो जाने पर द्वितीय रूप (प्रथम स्पर्श) का द्वितीय आदेश होता है। "सद्दङ्क्षसमानैः"। "षट्ष्सम्पद्यन्ते"। "पितरं च प्रयन्थ्सुवः"। "क्ष्त्रस्योल्बमसि" इत्यादि में तो द्वित्व का अभाव होने से द्वितीय ही सुना जाता है। ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "वाक्त आ प्यायताम्"। "तमृगुदयच्छत्"। प्रथम (स्पर्श) यह क्यों (कहा)? "तास्सꣳरोहोऽसि" ॥ १२ ॥

सू० अ०—वाडभीकार के मतानुसार असमान स्थान वाला (ऊष्म-वर्ण) बाद में होने पर (प्रथम-स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श हो जाता हैं)।

(क) यदि केवल पद के अन्त में स्थित प्रथम स्पर्श-वर्ण द्वितीय स्पर्श-वर्ण होता तो पद-संहिता के अधिकार (८।१) में ही इस विकार को कहा जाता। पद के अन्त में न स्थित भी प्रथम स्पर्श द्वितीय स्पर्श होता है, अतः इस विकार को वहाँ न कहकर यहाँ वर्ण-संहिता के अधिकार में कहा गया है।

---

(१) ८।१ (२) १।२।२ (३) ६।६।११ (४) १।१।६
(५) ४।३।१२ (६) २।२।८ (७) ६।६।३ (८) ४।२।५
(९) १।७।६ (१०) १।३।६ (११) ६।१।२ (१२) ५।३।६
(१३) ६।१।३ (१४) ६।६।११ (१५) २।३।१२ (१६) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—वाडभीकारस्य मते आत्मनोऽसस्थानोष्मपरः प्रथमः सवर्गीयं द्वितीयमापद्यते। समानं स्थानं यस्यासौ सस्थानः, न सस्थानः असस्थानः। सः परो यस्मात्सः, तथोक्तः। यथा—"विसृपो विरप्फ्शिन्"[१]। "तथ्षोडशी"[२]। असस्थान इति किम्? "तत्सवितुः"[३]। नेदं सूत्रमिष्टम्॥ १३॥

वै०—वाडबीकारस्य मते; (असस्थानपरः=) असमानस्थाने ऊष्मणि परतः प्रथमो द्वितीयमश्नुते। न तु सस्थाने परतः। तथाच—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"[४] इत्यादौ द्वितीयादेशो न भवति। नैतदिष्टम्। स्वमतेऽपि "तच्छंयोः"[५]। "अनुष्टुप्छारदी"[६] इत्यादौ पदान्तस्य द्वितीयादेशो न भवति, पूर्वसूत्रविहितस्य छत्वस्य पूर्वभावितया पदादेः शकारस्यासम्भवात्॥ १३॥

तदेवमत्र द्वित्वस्यापवादतया पूर्वागमः, तत्सदृशःप्रथमागमः तत्प्रतियोगिपरवर्णादेशश्चोक्तः। इदानीं प्राथमकल्पिकस्य द्वित्वस्य प्रतिषेध आरभ्यते—

त्रि० अ०—वाडभीकारस्य=वाडभीकार के मत में; अपने; असस्थानः=असमान स्थान वाला; ऊष्म वर्ण; परः=बाद में होने पर; प्रथम (स्पर्श) समान वर्ग वाला द्वितीय (स्पर्श) होता है। समान स्थान है जिसका वह=सस्थानः, समान स्थान नहीं है जिसका वह=असस्थानः। वह है बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (=असस्थानपरः) है। जैसे—"विसृपो विरप्फ्शिन्"। "तथ्षोडशी"। असमान स्थान वाला—यह क्यों (कहा)? "तत्सवितुः"[क]। यह सूत्र इष्ट नहीं है॥ १३॥

वै० अ०—वाडवीकारस्य=वाडबीकार के मत में; (असस्थानपरः=) असमान स्थान वाला ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर; प्रथम (स्पर्श) द्वितीय (स्पर्श) को प्राप्त करता है। समान स्थान वाला ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर तो नहीं। और इस प्रकार "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि में (प्रथम का) द्वितीयादेश नहीं होता है। यह (सूत्र) इष्ट नहीं है। अपने मत में भी "तच्छंयोः", "अनुष्टुप्छारदी" इत्यादि में पदान्त (स्पर्श) का द्वितीयादेश नहीं होता है, क्योंकि पूर्व सूत्र से विहित छत्व के पहले से विद्यमान होने से पदादि शकार विद्यमान नहीं होता है॥ १३॥

इस प्रकार यहाँ द्वित्व के अपवाद के रूप में पूर्वागम (का विधान किया गया है), उसके सदृश प्रथमागम का तथा उस (प्रथम) पर आश्रित परवर्ती (द्वितीय) वर्ण का आदेश कहा गया है। अब प्रथमोक्त द्वित्व का प्रतिषेध आरम्भ किया जाता है—

(क) तत्। सवितुः॥ प० पा०

---

(१) १।१।६ (२) ६।६।११ (३) १।५।६
(४) १।५।६ (५) २।६।१० (६) ४।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ न ॥ १४ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। द्विवर्णप्रतिषेध इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १४ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। उक्तस्य द्वित्वविधेर्यथासम्भवम्; (न=) निषेधोऽधिक्रियते, इति वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १४ ॥

वै०—द्वित्वं न भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १४ ॥

अवसाने रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः ॥ १५ ॥

मा०—अवसाने वर्त्तमानो वर्णः, रेफः, विसर्जनीयः, जिह्वामूलीयः, उपध्मानीयः, इत्येते वर्णाः द्वित्वं नापद्यन्ते। यथा—"उर्क् च मे"[1]। "उर्जस्वतीः"[2]। "घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्"[3]। "यः कामयेत"[4]। "वनस्पतयः फलम्"[5] ॥ १५ ॥

त्रि०—पदावसाने वर्तमानो वर्णः; (रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः=) रेफो विसर्जनीयो जिह्वामूलीय उपध्मानीयश्च इत्येते; वर्णा द्वित्वं नापद्यन्ते। यथा-"उर्क्"[1] "रेफात्परं च"[6] इति प्राप्तिः। अवसानवचनं विरामाभिप्रायम्। तस्माच्च सन्धाने निषेधः। यथा-"उर्क्क् च मे सूनृता"[1]। "नार्तिमार्च्छति"[7]। "मनः क्ष्मे"[8]। "यः क्कामयेत"[9]।

सू० अ०—अब (द्वित्व का) निषेध (बतलाते हैं)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इसके आगे जो कहेंगे वहाँ (पूर्ववर्ती सूत्रों में) कही गई द्वित्व—विधि का क्रमशः (न=) निषेध अधिकृत किया जाता है ॥ १४ ॥

वै० अ०—द्वित्व; न=नहीं; होता है—यह अधिकार जानना चाहिए ॥ १४ ॥

सू० अ०—(पद के) अवसान में वर्तमान (वर्ण), रेफ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं)।

त्रि० अ०—पद के; अवसाने=अवसान में वर्तमान; वर्ण; (रविसर्जनीय-जिह्वामूलीयोपध्मानीयाः=) रेफ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—ये; वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं। जैसे—"ऊर्क्"। "रेफ से बाद में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) से (द्वित्व की) प्राप्ति (होती है)। अवसान शब्द का विराम से अभिप्राय है। इससे संधि में

---

(१) ४।७।४ (२) १।१।१ (३) ४।६।४ (४) २।१।२
(५) २।५।६ (६) १४।४ (७) २।२।४ (८) ५।२।१
(९) २।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यः प्याय्मना"[1]। "स्वरपूर्वस्"[2] इत्यनेनैषां प्राप्तिः। अवसान इति चतुर्वर्णं पृथगेव सूत्रं केचिदूचुः। एकीकरणे दोषदर्शनात्। कोऽसौ दोषः? अवसाने वर्तमाना रविसर्जनीयादय इत्यन्वयसम्पादनं "अवग्रह आशीर्धूस्सुवः"[3] इतिवदिति चेत्। नैष दोषः। रविसर्जनीयादीनां पदावसाने द्वित्वप्राप्तिर्दूरोत्सारिता, इति नेयमत्र शङ्का। किञ्च—पृथक्करणे सति अवसाने किं वा भवतीति साकाङ्क्षतया वचनमनर्थकं स्यात्। एकीकरणे तु रविसर्जनीय इति वर्णसाहचर्यादवसाने वर्तमानो वर्ण इति च लभ्यते। तस्मादेकीकरणमेव रमणीयम् ॥ १५ ॥

निषेध नहीं होता है। जैसे—"ऊर्क्कू च मे सूनृता"[क]। "नार्तिमार्च्छति"। "मनः कृत्तेमे"। "यः ककामयेत"। "यः प्याय्मना"। "स्वर पूर्व में···"—इस (सूत्र) से इनको (द्वित्व की) प्राप्ति (होती है)। "अवसान में"—इसे चार वर्णों (रेफ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) से पृथक् सूत्र कतिपय आचार्य कहते हैं। क्योंकि एक (सूत्र) करने में दोष दिखलाई पड़ता है। वह दोष कौन सा है? अवसान में वर्तमान रेफ, विसर्जनीय इत्यादि (द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं)—अन्वय किया जा सकता है। "आशीः, धूः तथा सुवः—ये पूर्वपद (हों तो इनका विसर्जनीय) रेफ···"—इत्यादि के समान यदि यह कहते हो तो सुनो—यह दोष नहीं है। र, विसर्जनीय इत्यादि की पदावसान में द्वित्व की प्राप्ति दूर कर दी गई है, अतः यहाँ यह शंका नहीं होती है। इसके अतिरिक्त पृथक् करने पर अवसान में क्या होता है—यह आकांक्षा बनी रहने पर यह वचन अनर्थक हो जायेगा। एक करने पर तो र, विसर्जनीयं इत्यादि वर्णों के साहचर्य से अवसान में वर्तमान वर्ण—यह प्राप्त होता है। इसलिए एक (सूत्र) करना ही रमणीय है[ख] ॥ १५ ॥

(क) 'उर्क्' के ककार का १४।४ से द्वित्व हो गया है, क्योंकि ककार के बाद में अवसान नहीं है। 'उर्क्' की 'च' के साथ संधि हुई है।

(ख) पूर्वपक्षी—"अवग्रह आशीर्धूस्सुवरिति रेफं परस्सकारप्पकारम्"—(आशीः, धूः, सुवः—इन अवग्रहों (सावग्रह पदों के पूर्व—पदों) में विसर्जनीय रेफ हो जाता है और "अवसाने रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः"—इन दोनों की शब्दावली एक दूसरे के समान है। जिस प्रकार 'अवग्रहे' का सम्बन्ध 'आशीः', 'धूः' और 'सुवः'—इन सभी पदों के साथ है, उसी प्रकार 'अवसाने' का भी सम्बन्ध 'र', 'विसर्जनीय', 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय'—इन सभी के साथ है, यह प्रतीत होता है। इस अवस्था में सूत्र का अर्थ यह होगा—अवसान में विद्यमान रेफ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का द्वित्व नहीं होता है। किन्तु यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। अतः अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रकृत सूत्र के दो सूत्र बना लेने चाहिए—"अवसाने" और "रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः"।

सिद्धान्ती—(१) पद के अवसान में रेफ, विसर्जनीय इत्यादि के द्वित्व की प्राप्ति

---

(१) २।३।१३ (२) १४।१ (३) ५।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—अवसाने वर्तमानाः; (रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः=) रेफादयः; इत्यन्वयो नोपपद्यते, विसर्जनीयव्यतिरिक्तानां तत्रासम्भवात्, विसर्जनीयस्य च तत्र द्वित्वप्राप्त्यभावात्। तस्मादवसाने विद्यमानस्य व्यञ्जनस्य द्वित्वं न भवति, रेफादीनां चतुर्णां सर्वत्र द्वित्वं न भवतीति योजना। अवसाने—"उर्क् च मे"[1]। "सा वा एषर्क्"[2]। "भूत्वा व्यमार्ट्"[3]। "रेफात्परं च"[4] इति प्राप्तिः। र—"आर्तिमार्छति"[5]। "अर्चन्त्यर्कमर्किणः"[6]। विसर्जनीय;—"उभयतः ष्णूर्भवति"[7]। "तास्सृष्टाः क्षुधम्"[8]। जिह्वामूलीयः—"बाहुमात्राः खायन्ते"[9]। "यः कामयेत"[10]। उपध्मानीयः—"यः पाप्मना"[11]। "शुनं नः फालाः"[12]। अत्र "स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्"[13] इति प्राप्तिः। शिक्षाव्याकरणयोस्तु

वै० अ०—अवसाने = अवसान में वर्तमान (रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः =) रेफ इत्यादि—यह अन्वय उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि विसर्जनीय को छोड़कर अन्य (वर्ण) वहाँ (अवसान में) उपलब्ध नहीं होते हैं और विसर्जनीय को वहाँ द्वित्व की प्राप्ति नहीं होती है।[क] इसलिए अवसान में विद्यमान व्यञ्जन का द्वित्व नहीं होता है तथा रेफ इत्यादि चारों (रेफ, विसर्जनीय; जिह्वामूलीय और उपध्यमानीय) का कहीं भी द्वित्व नहीं होता है—यह योजना है। अवसान में (वर्तमान वर्ण)—"ऊर्क् च मे"। "सा वा एषर्क्"। "भूत्वा व्यमार्ट्"। "रेफ से बाद में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्ति (होती है)। र—"आर्तिमार्छति"। "अर्चन्त्यर्कमर्किणः"। विसर्जनीय—"उभयतः ष्णूर्भवति"। "तास्सृष्टाः क्षुधम्"। जिह्वामूलीयः—"बाहुमात्राः खायन्ते"। "यः कामयेत"। उपध्मानीय—"यः पाप्मना"। "शुनं नः फालाः"। यहाँ "स्वर पूर्व में—"—इस (सूत्र) से (द्वित्व की) प्राप्ति (होती है)। शिक्षा और व्याकरण में तो हकार का भी कहीं भी द्वित्व इष्ट

होती ही नहीं है। अतः सूत्र के अर्थ के विषय में उपर्युक्त शङ्का हो ही नहीं सकती (२) 'अवसान में'—इस सूत्र में यह आकांक्षा होगी कि अवसान में क्या है ? अतः सूत्र अनर्थक हो जायेगा। एक सूत्र की अवस्था में तो रेफ, विसर्जनीय इत्यादि वर्णों के साथ प्रयुक्त होने से यह अनुमान लगा लिया जाता है कि अवसान में स्थित वर्ण। अतः एक ही सूत्र युक्त है।

(क) अवसान में वर्तमान रेफ इत्यादि का द्वित्व नहीं होता है—यह अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि (१) रेफ, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय पद के अवसान में नहीं आ सकते हैं और; (२) विसर्जनीय के द्वित्व की अवसान में प्राप्ति ही नहीं है, तब निषेध कैसा ?

---

(१) ४।७ ४ (२) ६।१।२ (३) ७।१।५
(४) १४।४ (५) २।२।४ (६) १।६।१२
(७) ५।१।१ (८) ७।२।४ (९) ६।२।११
(१०) २।१।२ (११) २।१।३ (१२) ४।२।५ (१३) १४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकारस्यापि सर्वत्र द्वित्वं नेष्टम्। शिक्षायां तावत्—'न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्' इति। व्याकरणे च—"अचो रहाभ्यां द्वे"[1]। "अनचि च"[1] इति। नैतदिष्टं सूत्रकृतः, "स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्"[2] इत्यविशेषेण विधानात्। रविसर्जनीयादिभिस्सह हकारस्यापाठाच्च। तथा "रेफपरश्च हकारः"[1] इति परमते विशेषेण निषेधोऽप्यन्यत्र द्वित्वं प्राप्तमेव दर्शयति। अतोऽस्मच्छाखायां हकारस्य प्राप्तौ सत्यामप्रतिषिद्धं द्वित्वमिष्यते। शिक्षाव्याकरणे तु शाखान्तरेषु सावकाशे इत्यविरोधः। ननु अत्र जिह्वा-

---

नहीं है। शिक्षा में-रेफ अथवा हकार में कहीं भी द्वित्व नहीं होता है। और व्याकरण में—"अच् से पर जो रेफ और हकार उनसे पर जो यर् उसको द्वित्व होता है विकल्प से"; "अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है, परन्तु यर् के आगे अच् हो तो नहीं होता"। यह सूत्रकार को इष्ट नहीं है, क्योंकि उन्होंने "स्वर पूर्व और व्यञ्जन बाद में होने पर व्यञ्जन—" में अविशेष (सामान्य) रूप से (व्यञ्जन के द्वित्व) का विधान किया है। और रेफ, विसर्जनीय आदि के साथ हकार का पाठ नहीं किया गया है। उसी प्रकार "(हारीत के मतानुसार) रेफ बाद में होने पर भी (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)" दूसरों के मत में विशेष—रूप से जो निषेध किया गया है वह भी अन्यत्र द्वित्व की प्राप्ति को दिखलाता है। इसलिए हमारी शाखा में हकार (के द्वित्व की) प्राप्ति होने पर उसका प्रतिषेध नहीं किया गया है, अतः द्वित्व अभीष्ट है। शिक्षा और व्याकरण में (जो हकार के द्वित्व का निषेध किया गया है) वह दूसरी शाखा में सावकाश है—अतः कोई विरोध नहीं है[क]। (शंका) यहाँ (इस सूत्र में) 'जिह्वामूलीय' आदि का ग्रहण

(क) शिक्षा और व्याकरण में रेफ और हकार के द्वित्व का निषेध किया गया है। तै० प्रा० (१४।१५) में भी रेफ के द्वित्व का निषेध किया गया हैं। किन्तु सूत्रकार को हकार के द्वित्व का निषेध अभीष्ट नहीं है। उनके मत से हकार का द्वित्व होता है। यह बात इन तथ्यों से प्रमाणित होती हैं—(१) १४।१ में सभी व्यञ्जनों के द्वित्व का विधान किया गया है; (२) रेफ विसर्जनीय इत्यादि के साथ भी हकार का पाठ नहीं किया गया है। इससे हकार के द्वित्व का निषेध नहीं हुआ; (३) १४।१६ में यह कहा गया है कि दूसरों के मत में रेफ परे रहते हकार का द्वित्व नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि दूसरों के मत में भी अन्यत्र तो हकार का द्वित्व होता है; (४) हमारी शाखा में तो हकार का द्वित्व अभीष्ट है, क्योंकि हकार के द्वित्व की जो प्राप्ति १४।१ से होती है, उसका कहीं भी निषेध नहीं किया गया है।

पूर्वपक्षी—शिक्षा और व्याकरण में हकार के द्वित्व का निषेध किया गया है, किन्तु तै० प्रा० में हकार का द्वित्व होता है—यह विरोध हो गया है।

सिद्धान्ती—शिक्षा और व्याकरण का सम्बन्ध वेदों की सभी शाखाओं के साथ है,

---

(१) पा० ८।४।४६, ४७ (२) १४।१ (३) १४।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलीयादिग्रहणमनर्थकम्। कुतः? "प्रथमपरश्च प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः"[1] इत्यनेन सर्वत्र प्रतिषेधसिद्धेः। सर्वत्र जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरभिनिधानपरत्वात्। अथ प्लाक्षायणमते अघोषस्पर्शपरस्याभिनिधानपरत्वाभावात् अर्थवत्ता। तन्न। प्रतिषेधसूत्रे प्लाक्षिप्लाक्षायणग्रहणस्य पूजार्थतया तस्य स्वमतविषयत्वात्। अत्रोच्यते—उक्तोऽस्माभिरविद्यमानवद्भावोऽभिनिधानस्य। तेन द्वितीयपरत्वे तयोः प्रतिषेधो न स्यात्—अतस्तत्रापि तयोर्द्वित्वाभावार्थमिह ग्रहणम्॥ १५॥

अनर्थक है। क्यों? (उत्तर) "प्लाक्षि और प्लाक्षायण के मत में प्रथम (स्पर्श) बाद में होने पर (ऊष्म-वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"—इससे सर्वत्र प्रतिषेध की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि सर्वत्र जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के बाद में अभिनिधान होता है। (सि०) किन्तु प्लाक्षायण के मत में 'अघोष' स्पर्श बाद में होने पर बाद में अभिनिधान का अभाव होने से (जिह्वामूलीय इत्यादि के ग्रहण की सार्थकता (होती है)। यह ठीक नहीं है। प्रतिषेध सूत्र में प्लाक्षि और प्लाक्षायण का ग्रहण पूजा के लिए किया गया है, क्योंकि वह (सूत्र) अपने मत के विषय में है। (सि०) इस विषय में बतलाते हैं—अभिनिधान का अविद्यमान के समान होना हमारे द्वारा कहा जा चुका है। इसलिए द्वितीय (स्पर्श) बाद में होने पर उनके द्वित्व का प्रतिषेध नहीं होगा। इसलिए वहाँ भी उनके द्वित्व के निषेध के लिए यहाँ ग्रहण किया गया है[क]॥ १५॥

जब कि तै०प्रा० का सम्बन्ध केवल तै०सं० के साथ है। तै० सं० में हकार का द्वित्व होने पर भी शिक्षा और व्याकरण का द्वित्व-निषेध वेदों की अन्य शाखाओं पर लागू होता है—उसको अन्य शाखाओं में अवकाश मिल जाता है। अतः कोई विरोध नहीं है।

(क) पूर्वपक्षी—प्रकृत सूत्र में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध करना अनर्थक है। प्रकृत सूत्र के बिना भी इन वर्णों के द्वित्व का निषेध हो जाता है। १४।९ में कहा गया है कि स्पर्श परे रहते अघोष ऊष्मन् के बाद में प्रथम स्पर्श—अभिनिधान—का आगम होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय भी 'अघोष' स्पर्श हैं और इनके बाद में सदा ही स्पर्श (क, ख और प, फ) होता है। अतः सर्वत्र जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के बाद में प्रथम 'स्पर्श' होता है। १४।१७ में यह कहा गया है कि प्रथम 'स्पर्श' बाद में होने पर 'ऊष्मन्' द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। इससे जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (ऊष्मन्) का सर्वत्र निषेध हो जाता है, क्योंकि प्रथम 'स्पर्श' सर्वत्र बाद में होता है।

सिद्धान्ती—१४।११ से ज्ञात होता है कि प्लाक्षायण के मत में अघोष स्पर्श (क, ख, प, फ इत्यादि) परे रहते, अघोष ऊष्मन् से बाद में प्रथम स्पर्श का आगम

---

(१) १४।१७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊष्मा स्वरपरः ॥ १६ ॥

मा०—स्वरपर ऊष्मा न खलु द्वित्वमापद्यते। यथा—"दर्शपूर्णमासौ"[१]। "मूर्धानं दधिषे सुवर्षाम्"[२]। "वसं नह्यस्यप्रस्रंसाय"[३]। "अद्भिर्हवींषि प्रोक्षीः"[४] ॥ १६ ॥

त्रि०—स्वरपर ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते। स्वरः परो यस्मादसौ स्वरपरः। यथा—"दर्शपूर्णमासौ"[१]। "वर्षाभ्यः"[५]। "वसं नह्यति"[६]। "बर्हिषा"[६]। "रेफात् परं

सू० अ०—स्वर (वर्ण) बाद में होने पर ऊष्म (वर्ण) द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—स्वरपरः = स्वर—वर्ण है बाद में जिसके वह; ऊष्मा = ऊष्म—वर्ण; द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। स्वर है बाद में जिससे वह = स्वरपरः। जैसे—

नहीं होता है। अतः १४।१७ से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध नहीं होता है। अतः प्लाक्षायण की दृष्टि से भी प्रकृत सूत्र में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का ग्रहण सार्थक है। हमारी दृष्टि में स्पर्श परे रहते ऊष्मन् के बाद में सर्वत्र प्रथम स्पर्श का आगम होता है, किन्तु १४।१७ का निषेध हमारा नहीं, प्लाक्षायण का है। अतः हमारी दृष्टि में जिह्वमूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध १४।१७ से नहीं होता है। यही कारण है कि प्रकृत सूत्र में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध किया गया है।

पूर्वपक्षी—१४।१७ में प्लाक्षि और प्लाक्षायण का ग्रहण किया गया है, वह उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए किया गया है। वह अपना मत है। अतएव हमारे मत में प्रथम स्पर्श बाद में होने पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध हो जाता है। अतएव प्रकृत सूत्र के द्वारा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध करना अनर्थक है।

सिद्धान्ती—यह जो कहा गया है कि अभिनिधान—संज्ञक प्रथम—स्पर्श बाद में होने के कारण जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध १४।१७ से हो जाता है, वह युक्त नहीं है। (पहले ही १४।६ के भाष्य में) यह कहा जा चुका है कि अभिनिधान—संज्ञक प्रथम स्पर्श दूसरे कार्यों के विधान में अविद्यमानवत् होता है। अतः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व के प्रसङ्ग में अभिनिधान संज्ञक प्रथम स्पर्श अविद्यमानवत् होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के बाद में चार स्पर्श आते हैं—क, ख और प, फ। क, प परे होने पर तो जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध १४।१७ से हो जाता है। ख और फ परे होने पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध १४।१७ से

---

(१) २।२।५ (२) ४।४।४ (३) २।५।७
(४) २।६।५ (५) ७।२।१० (६) १।७।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च"[1] इति प्राप्तिः। ऊष्मेति किम्? "एभिर्नो अर्कैः"[2]। स्वरपर इति किम्? "पार्श्वे"[3]। "वर्ष्म्याभ्यः"[4]। "मृदं बर्स्वेभिः"[5]। "अग्निर्ह्यस्य"[6] ॥ १६ ॥

वै०—ऊष्माः (स्वरपरः=) स्वरे परतः; द्वित्वं नाश्नुते। शषसहविषया एते निषेधाः। श—"दर्शपूर्णमासौ"[7]। ष—"वर्षवृद्धम्"[8]। स—"बर्सं नह्यति"[9]। ह—"बर्हिरासदे"[10]। "वायुर्हिङ्कर्ता"[11]। स्वरपर इति किम्? "दार्श्यं यज्ञम्"[12]। "अग्निर्ह्यस्य"[13]। "वर्ष्याय च"[14]। "मृदं बर्स्वेभिः"[15] ॥ १६ ॥

प्रथमपरश्च प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः ॥ १७ ॥

मा०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोराचार्ययोः प्रथमपर ऊष्मा च स्वरपरश्च न खलु द्वित्वमापद्यते। यथा—"आग्नेयमष्टाकपालम्"[16]। "सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट्"[17]। प्रथमपरइचेति किम्? "तान्देवा इष्ट्वा च वज्रेण च"[18] ॥ १७ ॥

"दर्शपूर्णमासौ"। "वर्षाभ्यः"। "बर्सं नह्यति"। "बर्हिषा"। "रेफ से बाद में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्ति (होती है)। ऊष्म—वर्ण—यह क्यों (कहा)? "एभिर्नो अर्कैः"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पार्श्वे"। "वर्ष्याभ्यः"। "मृदं बर्स्वेभिः" "अग्निर्ह्यस्य"क ॥ १६ ॥

वै० अ०—(स्वरपरः=) स्वर (-वर्ण) बाद में होने पर; ऊष्मा=ऊष्म—वर्ण; द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है। श, ष, स और ह के विषय में ये निषेध हैं।...ख ॥ १६ ॥

सू० अ०—प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण के मत में प्रथम (स्पर्श) बाद में होने पर भी (ऊष्म—वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

नहीं होता है। अतः उस निषेध के लिए प्रकृत सूत्र में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्व का निषेध किया गया गया है।

(क) दर्शपूर्णमासाविति दर्श—पूर्णमासौ ॥ वर्षाभ्यः ॥ बर्सम्। नह्यति ॥ बर्हिषा ॥ एभिः। नः। अर्कैः ॥ पार्श्वे इति ॥ वर्ष्याभ्यः ॥ वर्त्स्वेभिः। अग्निः। हि। अस्य ॥ प० पा०

(ख) वर्षवृद्धमिति वर्ष—वृद्धम् ॥ बर्सम्। नह्यति ॥ बर्हिः। आसद इत्या—सदे ॥ प० पा०

---

(१) १४।४- (२) ४।४।४ (३) ७।३।१० (४) ७।४।१३
(५) ५।७।११ (६) ५।१।५ (७) २।२।५ (८) १।१।५
(९) २।५।७ (१०) १।१।२ (११) ३।३।२ (१२) ३।२।२
(१३) ५।१।५ (१४) ४।५।७ (१५) ५।७।११
(१६) १।८।२ (१७) ४।४।४ (१८) ५।७।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः पक्षे प्रथमपर ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते। चकार ऊष्माणमन्वादिशति। यथा—"सुश्चन्द्र दस्म"[१]। "अष्टौ कृत्वः"[२]। प्रथमपर इति किम्? "तस्मादेवं विदुषा"[३]। प्रथमः परो यस्मादसौ प्रथमपरः। चकारोऽत्र यद्यप्यूष्ममात्राकर्षकः, तथाऽपि शषसहेष्वेव सम्प्रत्ययः। अन्यथा "अवसाने रविसर्जनीय"[४] इति सूत्रे जिह्वामूलीयोपध्मानीययोः ग्रहणं व्यर्थम्। अनेनैव निषेधसिद्धेः॥ १७॥

वै०—चशब्द ऊष्माणमन्वादिशति। स खलु; (प्रथमपरः=) प्रथमे परतः; द्वित्वं नाश्नुते, प्लाक्षिप्लाक्षायणयोर्मतात्। यथा—"एना विश्पतिना"[५]। "भुवो नृँश्च्यौत्नः"[६]। "इष्टा देवताः"[७]। "आयुष्पा अग्ने"[८]। "दिवस्कम्भनिः"[९]। "मा वस्स्तेनः"[१०]। "बृहस्पतिसुतस्य"[११]। प्रथमपर इति किम्? "एवश्छन्दः"[१२]। "कृष्णोऽसि"[१३]। "वायवस्स्थ"[१४]। "ब्रह्म देवाः"[१५]। अत्राभिनिधानस्याविद्यमानवद्भावात् "एवश्छन्दः"[१२]

त्रि० अ०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः=प्लाक्षि और प्लाक्षायण के; मत में; प्रथमपरः=प्रथम (स्पर्श) है बाद में जिसके वह; ऊष्म (-वर्ण) द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। चकार ऊष्म (-वर्ण) का अन्वादेश करता है। जैसे—"सुश्चन्द्र दस्म"। "अष्टौ कृत्वः"। प्रथम (स्पर्श) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तस्मादेवं विदुषा"। प्रथम (स्पर्श) है बाद में जिससे वह प्रथमपरः। चकार यहाँ पर यद्यपि सभी ऊष्म (-वर्णों) की अनुवृत्ति करता है, तथापि श, ष, स और ह में ही (निषेध को लागू) समझना चाहिए। अन्यथा "(पद के) अवसान में वर्तमान (वर्ण), रेफ, विसर्जनीय···"—इस सूत्र में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि इस (सूत्र) से ही निषेध सिद्ध हो जायेगा॥ १७॥

वै० अ०—च शब्द ऊष्म (-वर्ण) का अन्वादेश करता है। (प्रथमपरः=) प्रथम (—स्पर्श) बाद में होने पर वह (ऊष्म—वर्ण); द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है; प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः=प्लाक्षि और प्लाक्षायण के; मत से। जैसे—"एना विश्पतिना"। "भुवो नृँश्च्यौत्नः"। "इष्टा देवताः"। "अयुष्पा अग्ने"। "दिवस्कम्भनिः"। "मा वस्स्तेनः"। "बृहस्पतिसुतस्य"। प्रथम (स्पर्श) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "एवश्छन्दः", "कृष्णोऽसि", "वायवस्स्थ"। "ब्रह्म देवाः"। यहाँ अभिनिधान के अविद्यमान के समान होने से "एवश्छन्दः'

---

(१) ४।४।४ (२) ६।४।५ (३) ६।४।६
(४) १४।१५ (५) २।३।१ (६) ३।४।११
(७) २।६।६ (८) १।१।१३ (९) १।१।६
(१०) १।१।१ (११) १।४।२७ (१२) ४।३।१२
(१३) १।१।११ (१४) १।१।१ (१५) १।६।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादीनि प्रत्युदाहरणानि। एवमभिनिधानव्यवहितपरनिमित्तत्वात् पृथक्सूत्रकरणम्। प्लाक्षिप्लाक्षायणग्रहणं पूजार्थम् ॥ १७ ॥

ऊष्माऽघोषो हारीतस्य ॥ १८ ॥

मा०—ऊष्माग्रहणं पूर्वसूत्रानं (वे ? पे) क्षणार्थम्। अत्र यद्यूष्मा इति न क्रियते तत्पूर्वसूत्रे ऊष्मा इत्येतत् स्वरपरत्वेन प्रथमपरत्वेन च सम्बद्धम्। तस्मादिहापि तत्सम्बन्धायैवाघोषग्रहणं विशेषणं स्यात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमिह ऊष्मा इति सिद्धमुक्तम्। हारीतस्य वाचार्यस्य शाखिनः अघोष ऊष्मा सर्वावस्थासु न खलु द्वित्वमापद्यते। यथा—"वैश्यो मनुष्याणाम्"[1]। "अष्टाकपालम्"[2]। "वसं नह्यत्यप्रक्षंसाय"[3]। अघोष इति किम्? "मह ह्यत्रैवैष वायवे च सह"[4] ॥ १८ ॥

इत्यादि प्रत्युदाहरण हैं[क]। इस प्रकार 'अभिनिहित' से व्यवहित परवर्ती निमित्त होने से पृथक् सूत्र का निर्माण किया गया है। प्लाक्ष और प्लाक्षायण का ग्रहण पूजा के लिए किया गया है[ख] ॥ १७ ॥

सू० अ०—हारीत के मतानुसार अघोष ऊष्म (-वर्ण) (द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है)।

(क) 'एवश्छन्दः' में शकार के द्वित्व का निषेध नहीं होता है (शकार का द्वित्व हो जाता है) क्योंकि शकार के बाद में प्रथम स्पर्श न होकर द्वितीय स्पर्श है। 'एवश्छन्दः' में १४।६ के अनुसार शकार के बाद में अभिनिधान—संज्ञक चकार का आगम होकर यह रूप बनता है—'एवश्छन्दः'। यदि इस आगम रूप चकार को विद्यमानवत् माना जाये तो यह स्थल प्रकृत सूत्र का उदाहरण बन जायेगा और शकार का द्वित्व नहीं होगा। किन्तु १४।६ के भाष्य में कहा जा चुका है कि अभिनिधान—संज्ञक (प्रथम-स्पर्श का) आगम अन्य कार्यों के प्रसङ्ग में अविद्यमानवत् माना जाता है। अविद्यमानवत् मानने पर 'एवश्छन्दः' प्रत्युदाहरण बन जायेगा, जहाँ प्रथम स्पर्श बाद में न होने के कारण शकार का द्वित्व हो गया है।

(ख) पूर्वपक्षी—प्रकृत-विधि के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण क्यों किया गया है? १४।१६ में ही यह विधान कर देना चाहिए था कि स्वर और प्रथम स्पर्श बाद में होने पर 'ऊष्मन्' का द्वित्व नहीं होता है।

सिद्धान्ती—पृथक् सूत्र के निर्माण का कारण यह है कि दोनों सूत्रों के निमित्त के विषय में भेद है। १४।१६ का निमित्त (स्वर) ऊष्मन् के अव्यवहित बाद में होता है, जबकि १४।१७ का निमित्त (प्रथम स्पर्श) ऊष्मन् के अव्यवहित बाद में नहीं होता है। ऊष्मन् और निमित्त (प्रथम स्पर्श) के मध्य में अभिनिधान-संज्ञक प्रथम—स्पर्श होता है।

---

(१) ७।१।१ (२) १।८।२ (३) २।५।७ (४) ६।४।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—हारीतस्य मते अघोष ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते। "वैश्यो मनुष्याणाम्"[१]। "पुष्यति प्रजया पशुभिः"[२]। "नास्यापरूपम्"[३]। अघोष इति किम्? "महह्यमिमान्"[४]। ऊष्मग्रहणं पूर्वसूत्रानपेक्षार्थम्। अत्र यद्यूष्मग्रहणं न क्रियेत, ऊष्मेत्येतत् स्वरपरत्वेन प्रथमपरत्वेन च सम्बद्धम्। तस्मादिहापि तत्सम्बन्धस्यैवाघोषत्वविशेषणं स्यात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमूष्मेति ग्रहणं कृतम्। अतः सर्वावस्थ ऊष्माऽत्र निषेधभाक्॥ १८॥

त्रि० अ०—हारीतस्य=हारीत के; मत में अघोष; ऊष्मा=ऊष्म (-वर्ण); द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। "वश्यो मनुष्याणाम्"। "पुष्यति प्रजया पशुभिः"। "नास्यापरूपम्"। अघोष—यह क्यों (कहा)? "महह्यमिमान्"। ऊष्म (-वर्ण) का ग्रहण पूर्ववर्ती (दो) सूत्रों की अपेक्षा के अभाव के लिए है (अर्थात् यह बतलाने के लिए है कि प्रकृत सूत्र का पूर्ववर्ती दो सूत्रों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है)। यदि यहाँ ऊष्मन् का ग्रहण न किया जाता तो 'स्वरपर' (स्वर है बाद में जिसके) और प्रथमपर (प्रथम-स्पर्श है बाद में जिसके) से सम्बद्ध (ऊष्मन् की अनुवृत्ति होती है)। इसलिए यहाँ पर भी उन (स्वरपरत्व और प्रथमपरत्व) से सम्बद्ध ही (ऊष्मन्) का अघोषत्व भी विशेषण हो जाता है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए 'ऊष्मन्' का ग्रहण किया गया है। अतः सब अवस्थाओं वाला ऊष्मन् यहाँ निषेध को प्राप्त करता है[क]॥ १८॥

(क) पूर्वपक्षी—पूर्ववर्ती दो सूत्रों में विद्यमान तथा अनुवृत्त 'ऊष्मन्' शब्द की अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में भी हो सकती है। तब प्रकृत सूत्र में 'ऊष्मन्' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—प्रकृत सूत्र का पूर्ववर्ती सूत्रों से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद हो—इसलिए प्रकृत सूत्र में 'ऊष्मन्' शब्द का ग्रहण किया गया है। यदि पूर्ववर्ती सूत्रों से 'ऊष्मन्' शब्द की अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में होती और 'अघोष' शब्द का ग्रहण किया जाता तो पूर्ववर्ती दो सूत्रों में 'ऊष्मन्' के ये दो विशेषण हैं—स्वरपर और प्रथमपर। इन दो विशेषणों के साथ ही ऊष्मन् शब्द की यहाँ अनुवृत्ति होती और प्रकृत सूत्र के द्वारा ऊष्मन् के साथ 'अघोष'—इस एक अन्य विशेषण को सम्बद्ध कर दिया जाता। उस अवस्था में प्रकृत सूत्र का यह अर्थ होता—अघोष ऊष्मन् द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है, यदि उसके बाद में 'स्वर' या प्रथम-स्पर्श हो। किन्तु यह अर्थ सूत्रकार को इष्ट नहीं है। सूत्रकार को यह अर्थ इष्ट है—अघोष ऊष्मन् द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र में ऊष्मन् शब्द का प्रयोग करके प्रकृत सूत्र को पूर्ववर्ती दो सूत्रों से असम्बद्ध कर दिया है।

---

(१) ७।१।१ (२) २।१।६ (३) ३।५।७ (४) ३।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—हारीतस्य मते अघोष ऊष्मा सर्वत्र द्वित्वं नाश्नुते। "एवश्छन्दः"[१]। "एते वै देवाश्वाः"[२]। "हविष्मतिरिमाः"[३]। "स्योनस्स्योनम्"[४]। अघोष इति किम्? "सं नह्ये सुकृताय कम्"[५] ॥ १८ ॥

रेफपरश्च हकारः ॥ १९ ॥

मा०—चशब्दो हारीतमतस्यान्वादेशकः। रेफपरो हकारो हारीतस्य न खलु द्वित्वमापद्यते। यथा—"शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः"[६]। रेफपर इति किम्? "जुह्ह्वे-ह्यग्निस्त्वा"[७] ॥ १९ ॥

त्रि०—पूर्वमूष्माऽघोष इत्युक्ते घोषोष्मणो नित्यं द्वित्वं प्राप्ते विशिनष्टीदानीं रेफपरो हकारश्चकाराकृष्टहारीतमते द्वित्वं नापद्यते। यथा—"दुदुह्रे अह्रयः"[६]। रेफपर इति किम्? "जुह्ह्वेह्यग्निः"[७]। हकार इति किम्? "शुक्रं ते अन्यत्"[८]। रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ १९ ॥

वै०—चशब्देन हारीतस्येत्यन्वादिश्यते। तस्य मते रेफपरो हकारो द्वित्वं नाश्नुते। "अह्रुतमसि हविर्धानम्"[९]। रेफपर इति किम्? "जुह्वेह्यग्निस्त्वा"[१०] ॥ १९ ॥

वै० अ०—हारीतस्य=हारीत के; मत में अघोष; ऊष्मा=ऊष्म (-वर्ण); कहीं भी द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।...क॥ १८ ॥

सू० अ०—(हारीत के मतानुसार) रेफ बाद में होने पर हकार भी (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—पूर्ववर्ती (सूत्र) में 'अघोष' ऊष्म (-वर्ण) कहा जाने पर, घोषवत् ऊष्म (-वर्ण) को नित्य द्वित्व की प्राप्ति होने पर अब विशिष्टता बतलाते हैं—चकार के द्वारा अनुवृत्त हारीत के मत में; रेफपरः=रेफ बाद में होने पर हकार द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"दुदुह्रे अह्रयः"। रेफ बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "जुह्ह्वेह्यग्निः"। हकार—यह क्यों (कहा)? "शुक्रं ते अन्यत्"ख। रेफ है बाद में जिससे वह=रेफपरः ॥ १९ ॥

वै० अ०—च शब्द से 'हारीत के (मत में)'—इसका अन्वादेश होता है। उनके मत में; रेफपरः=रेफ बाद में होने पर; हकार द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।

(क) देवाश्वा इति देव—अश्वाः ॥ हविष्मतीः ॥ स्योनः। स्योनम् ॥ समिति। नह्ये। सुकृतायेति सु—कृताय ॥ प० पा०

(ख) दुदुह्रे। अह्रयः ॥ जुहु। एति ॥ शुक्रम्। ते। अन्यत् ॥ प० पा०

---

(१) ४।३।१२ (२) १।७।४ (३) १।३।१२ (४) १।२।७
(५) १।१।१० (६) १।५।५ (७) १।१।१२ (८) ४।१।११
(९) १।१।४ (१०) १।१।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टवर्गश्च तवर्गपरः ॥ २० ॥

मा०—अत्रापि हारीतस्यैवान्वादेशः। टवर्गस्तवर्गपरो न द्विवर्णमापद्यते। यथा—"वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि"[१]। "विड् द्रविणम्"[२]। तवर्गपर इति किम्? "विड्ड्वै मरुतः"[३] ॥ २० ॥

त्रि०—चकारो हारीतमतान्वादेशकः। टवर्गस्तवर्गपरो न द्वित्वमापद्यते। यथा—"वषट्ते विष्णो"[१] "विड् द्रविणम्"[२]। तवर्गः परो यस्मादसौ तवर्गपरः। टवर्ग इति किम्? "वाक्ते"[४]। "तत्ते"[४]। एवं पर इति किम्? "षट्कपालम्"[५]। "विड्ड्वै मरुतः"[३] ॥ २० ॥

वै०—चशब्दः पूर्ववत्। टवर्गः; (तवर्गपरः=) तवर्गे परतः; द्वित्वं नाश्नुते हारीतस्य मतात्। "वषट्ते विष्णो"[१]। "षट्थ्सम्पद्यन्ते"[६]। "विड्द्रविणम्"[२]। तवर्गपर इति किम्? "तुर्यवाट्च मे"[७]। "स्थिरो भव वीड्वङ्गः"[८] ॥ २० ॥

"अह्नतमसि हविर्धानम्"क। रेफ बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "जुह्वेयग्निस्त्वा" ॥ १९ ॥

सू० अ०—(हारीत के मत में) तवर्ग बाद में होने पर टवर्ग भी (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—चकार हारीत के मत की अनुवृत्ति करता है। तवर्गपरः=तवर्ग है बाद में जिसके वह; टवर्ग द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"वषट्ते विष्णो"। "विड् द्रविणम्"। तवर्ग है बाद में जिससे वह=तवर्गपर। टवर्ग यह क्यों (कहा)? "वाक्ते"। "तत्ते"। ये (तवर्ग) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "षट्-कपालम्"। "विड्ड्वै मरुतः"॥ २० ॥

वै० अ०—च शब्द पूर्ववर्ती (सूत्र) के समान (हारीत के मत की अनुवृत्ति करता है)। हारीत के मत से; (तवर्गपरः=) तवर्ग बाद में होने पर; टवर्ग द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।...ख ॥ २० ॥

(क) अह्नतम्। असि ॥ प० पा०

(ख) वषट्। ते। विष्णो ॥ विट्। द्रविणम् ॥ वाक्। ते ॥ तत्। ते ॥ षट्कपाल-मिति षट्—कपालम् ॥ विट्। वै। मरुतः ॥ षट्। समिति। पद्यन्ते ॥ वीड्वङ्ग इति वीड्—अङ्गः ॥ प० पा०

---

(१) २।२।१२ (२) १।८।१३ (३) ६।६।५
(४) १।३।६ (५) १।८।५ (६) ६।२।३
(७) ४।७।१० (८) ४।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लतवर्गौ यवकारपरौ ॥ २१ ॥

मा०—न द्विर्वर्णमापद्येते। यथा लकारः—"कल्याणी"[१]। "ततो विल्व उदतिष्ठत्"[२]। तवर्गः—"क्रोशातिगर्दा कन्येव तुन्ना"[३]। "इषे त्वोर्जे त्वा"[४] ॥ २१ ॥

त्रि०—हारीतः सान्निध्याल्लभ्यते। तन्मते लतवर्गौ न खलु यवकारपरौ द्वित्वमाप्नुतः। यथा—लकारः—"कल्याणी"[१]। "बैल्बो यूपः"[२]। तवर्गोऽपि—"कन्येव तुन्ना"[३]। "इषे त्वा"[४]। यवकारौ परौ याभ्यां तौ तथोक्तौ ॥ २१ ॥

वै०—लतवर्गौ=यथाक्रमम्; (यवकारपरौ=) यवकारयोः परतः; द्वित्वं नाश्नुवाते हारीतस्य मते। ल—"सिनीवाल्यै चरुम्"[५]। तवर्गः—"इषे त्वा"[६]। "स्वाद्वीं त्वा"[७]। "मध्वा यज्ञम्"[८]। "अन्वह मासाः"[९]। यवकारपर इति किम्? "खल्वाश्च मे"[१०]। "अत्यन्यानगाम्"[११] ॥ २१ ॥

सू० अ०—(हारीत के मत में) यकार तथा वकार बाद में होने पर लकार तथा तवर्ग (द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं)।

त्रि० अ०—सान्निध्य से हारीत (के मत) की प्राप्ति होती है। उनके मत में; लतवर्गौ=लकार और तवर्ग; यवकारपरौ=यकार और वकार बाद में होने पर; द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं। जैसे लकार (का उदाहरण)—"कल्याणी"। "बैल्वो यूपः"। तवर्ग (का) भी (उदाहरण)—"कन्येव तुन्ना"। "इषे त्वा"।[क] यकार और वकार बाद में हैं जिनसे वे उस प्रकार कहे गए (=यवकारपरौ) हैं ॥ २१ ॥

वै० अ०—हारीत के मत में; लतवर्गौ=लकार तथा तवर्ग; क्रमशः; (यवकारपरौ=) यकार तथा वकार बाद में होने पर; द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं। ल—"सिनीवाल्यै चरुम्"। तवर्ग—"इषे त्वा"। "स्वाद्वीं त्वा"। "मध्वा यज्ञम्"। "अन्वह मासाः"। यकार और वकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "खल्वाश्च मे"। "अत्यन्यानगाम्"[ख] ॥ २१ ॥

(क) कल्याणी ॥ बैल्वः। कन्या। इव। तुन्ना ॥ इषे। त्वा ॥ प० पा०

(ख) सिनीवाल्यै। चरुम् ॥ स्वाद्वीम्। त्वा ॥ मध्वा। यज्ञम् ॥ अन्विति। अहः। मासाः ॥ खल्वाः। च। मे ॥ अतीति। अन्यान्। अगाम् ॥ प० पा०

लकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि लकार के बाद में वकार है, यकार नहीं। तवार और नकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि बाद में यकार है, वकार नहीं। वैदिकाभरणकार के अनुसार यकार बाद में होने पर लकार का द्वित्व नहीं होता और वकार बाद में होने पर तवर्ग का द्वित्व नहीं होता है।

---

(१) ७।१।६ (२) २।१।८ (३) ३।१।११ (४) १।१।१
(५) १।८।८ (६) १।१।१ (७) १।८।२१ (८) ४।१।८
(९) १।७।१३ (१०) ४।७।४ (११) १।३।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परश्च ॥ २२ ॥

मा०—एवं द्वित्वे कृते पुनः पुनः नापद्यत इत्येवमर्थं स्यात् ॥ २२ ॥

त्रि०—चकारो हारीतानुवर्तकः। परः इत्येकवचनेन वकारो गृह्यते। पूर्वसूत्रस्थनिमित्तयोः यः परः, सोऽपि न द्वित्वमापद्यते, हारीतमते। यथा—"विभूदाव्ह्ने"[१]। "ग्रावव्ण्णः"[२]। वकार इति किम्? "कल्ल्पाव्ज्जुहोति"[३]। "स्पर्श एवैकेषाम्"[४] इत्यत्रावधारणनिराकरणार्थमारम्भः। अथवा द्वित्वे कृते परो द्वितीयपर्यायो द्वित्वविधिर्नास्ति। अनवस्थाप्रसङ्गात्। ननु "सवर्णसवर्गीयपरः"[५] इति परसूत्रेणापि पुनर्द्वित्वनिषेधः। पौनरुक्त्यमावहति। मतभेदान्नैष दोष इति ब्रूमः। हारीतमतमेतत्। "ऊष्माऽघोषो हारीतस्य"[६] इत्यादिसूत्रपञ्चकमनिष्टम् ॥ २२ ॥

सू० अ०—(हारीत के मत में) परवर्ती (निमित्त वकार) भी (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—चकार हारीत (के मत) की अनुवृत्ति करता है। परः—इस एकवचन से वकार का ग्रहण होता है पूर्ववर्ती सूत्र में स्थित निमित्तों में जो बाद वाला (निमित्त=वकार) है वह भी द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है—हारीत के मत में। जैसे—"विभूदाव्ह्ने"। "ग्रावव्ण्णः"।[क] वकार—यह क्यों (कहा)? "कल्ल्पाव्ज्जुहोति"। "कतिपय आचार्यों के अनुसार (लकार या वकार पूर्व में होने पर) स्पर्श ही (द्वित्व को प्राप्त करता है)"—इस अवधारणा के निराकरण के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है।[ख] अथवा 'परः' द्वितीय का पर्यायवाची है। (अर्थात् परः=द्वितीय)। (इससे यह अर्थ होगा)—(एक बार) द्वित्व कर लेने पर (द्वितीय) द्वित्व-विधि नहीं होती है (द्वित्व होने के बाद दोबारा द्वित्व नहीं होता है)। क्योंकि इससे अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। (शङ्का) "सवर्ण तथा सवर्गीय (वर्ण) बाद में होने पर (कोई द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"—इस परवर्ती सूत्र के द्वारा भी पुनः द्वित्व का निषेध किया गया है। इससे पुनरुक्ति हो गई। मतभेद होने से यह दोष नहीं है—यह कहते हैं। हारीत का यह मत है।[ग] "हारीत के मतानुसार अघोष ऊष्म (-वर्ण) (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"—इत्यादि पाँच सूत्र इष्ट नहीं है ॥ २२ ॥

(क) विभूदाव्न इति विभू—दाव्ने ॥ ग्राव्णः ॥ प० पा०

(ख) १४।३ में यह कहा गया है कि कतिपय आचार्यों के मत में लकार और वकार के बाद में स्थित 'स्पर्श' का ही द्वित्व होता है, लकार और वकार का नहीं। हारीत के अनुसार लकार का भी द्वित्व होता है, वकार का द्वित्व नहीं होता है।

(ग) पूर्वपक्षी—प्रकृत सूत्र में यह कहा गया है कि द्वित्व होने के बाद दोबारा द्वित्व

---

(१) ३।५।८ (२) ६।३।२ (३) ५।४।८ (४) १४।३
(५) १४।२३ (६) १४।१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—चशब्देन वकारोऽन्वादिश्यते। तस्मात्परो वर्णो द्वित्वं नाश्नुते हारीतस्य मते। "ओषिष्ठदाव्न्ने"[१]। "ऊष्माऽघोषः"[२]। इत्यादिसूत्रपञ्चकमनिष्टम् ॥ २२ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

सवर्णसवर्गीयपरः ॥ २३ ॥

मा०—स्वरूपपरः सवर्गीयपरश्च वर्णो न द्वित्वमापद्यते। यथा—"अत्वक्काष स्वाहा"[१]। "अन्नपतेऽन्नस्य"[२]। "शकुनिः पिप्पका ते शख्यायै"[३]। "यल्लोहितम्"[४] "अङ्कौ न्यङ्कावभितः"[५]। "काण्डे काण्डे वै क्रियमाणे"[६]। "अयं वान्मित्रावरुणा सुतः"[७]। "तद्देवा वामभृतावृञ्जत"[८]। सवर्णसवर्गीयपर इति किम्? "आप्यायध्वमघ्निया देवभागमूर्जस्वतीः"[९]। "प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे"[१०]। "त्रीन् वरान् ददद्यात्त्रयो वै"[११] ॥ २२ ॥

त्रि०—(सवर्णसवर्गीयपरः =) सवर्णपरः सवर्गीयपरश्च; द्वित्वं नापद्यते।

वै० अ०—च शब्द से वकार का अन्वादेश किया जाता है। उससे (=वकार से); परः =बाद वाला; वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है, हारीत के मत में। "ओषिष्ठदाव्न्ने"क। "(हारीत के मतानुसार) अघोष ऊष्म (-वर्ण) (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)" इत्यादि पाँच (१४।१८–२२) सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥ २२ ॥

अब (सूत्रकार) अपने मत को कहते हैं—

सू० अ०—सवर्ण और सवर्गीय (वर्ण) बाद में होने पर (कोई द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—(सवर्णसवर्गीयपरः =) सवर्ण है बाद में जिसके वह और सवर्गीय (वर्ण) है बाद में जिसके वह (वर्ण); द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। सवर्णत्व से यहाँ सारूप्य कहा गया है, केवल उच्चारण-स्थान और करण (उच्चारणा-

---

नहीं होता है। दोबारा द्वित्व का निषेध १४।२३ से भी हो जाता है। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष हो गया।

सिद्धान्ती—प्रकृत सूत्र में हारीत के मत से दोबारा द्वित्व का निषेध किया गया है, जबकि परवर्ती सूत्र में सामान्यतः द्वितीय द्वित्व का निषेध किया गया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

(क) ओषिष्ठदाव्न इत्योषिष्ठ—दाव्ने ॥ प० पा०

---

(१) १।६।१२ (२) १४।१८ (३) ७।५।१२ (४) ४।२।३
(५) ५।५।१६ (६) २।१।७ (७) १।७।७
(८) ६।१।७ (९) १।४।५ (१०) ५।५।४
(११) १।१।१ (१२) १।१।१ (१३) ५।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवर्णत्वं नाम सारूप्यमुच्यते, न तुल्यस्थानकरणतामात्रम्। सवर्गीयः समानवर्गसम्बन्धी। यथा—"अत्वक्काय"[१]। "अत्ता हवीꣳषि"[२]। "पिप्पका ते"[३]। "संयत्ताः"[४]। "यल्लोहितम्"[५]। "त्वं वातैः"[६]। सवर्णपराण्येवमादीनि। सवर्गीयपराण्यपि वदामः—"अङ्कौ न्यङ्क"[७]। "प्राञ्चमुप"[८]। "काण्डात्काण्डात्"[९]। "तं ते दुश्चक्षाः"[१०]। "अम्भस्स्थ"[११]।

अनुनासिकपूर्वस्तु ककारो मध्य आगमः।
गकरश्च तकारे च धकारे च यथाक्रमम्॥

इति वचनादिदमप्युदाहरणं—"पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः"[१२]। "तान्ब्रूयाद्युङ्ग्ध्व-

---

वयव) की समानता को (सवर्णत्व) नहीं (कहा गया है)।[क] सवर्गीय=समान वर्ग से सम्बन्धी। जैसे—"अत्वक्काय" "अत्ता हवीꣳषि"। "पिप्पका ते"। "संयत्ताः"। "यल्लोहितम्"। "त्वँ वातैः"—इत्यादि सवर्ण-पर के (उदाहरण हैं)। (अब) सवर्गीयपर के (उदाहरण) कहते हैं—"अङ्कौ न्यङ्को"। "प्राञ्चमुप"। "काण्डात्काण्डात्"। "तं ते दुश्चक्षाः"। "अम्भस्स्थ"॥

अनुनासिक (वर्ण) पूर्व में हो और तकार तथा धकार बाद में हो तो क्रम से मध्य में ककार तथा गकार का आगम होता है।

इस वचन से यह भी उदाहरण है—"पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः"। "तान् ब्रूयाद्युङ्ग्ध्वमिति"[ख]। ये (सवर्ण और सवर्गीय वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों

(क) 'सवर्ण' संज्ञा का परिभाषिक अर्थ यह है—जिन दो वर्णों के उच्चारण—स्थान और उच्चारणावयव एक (=समान) होते हैं वे 'सवर्ण' कहलाते हैं। किन्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सवर्ण' शब्द का यह अर्थ नहीं है। सवर्ण का यहाँ अर्थ है समान रूप वाला अर्थात् वही वर्ण। इस प्रकार ककार का सवर्ण है ककार खकार का सवर्ण है खकार इत्यादि। यदि प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'सवर्ण' शब्द के परिभाषिक अर्थ को यहाँ ग्रहण किया जाये तो समान उच्चारण—स्थान और समान उच्चारणावयव वाले स्पर्श परे रहते पूर्ववर्ती ऊष्म—वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करेंगे। किन्तु यह बात सूत्रकार को इष्ट नहीं है। यहाँ सवर्ण के पारिभाषिक अर्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(ख) ककार (सवर्गीय वर्ण) बाद में होने के कारण ङकार का प्रस्तुत सूत्र से द्वित्व नहीं हुआ है।

---

(१) ७।५।११ (२) २।६।१२ (३) ५।५।१९ (४) १।५।१
(५) २।१।७ (६) १।३।१४ (७) १।७।७ (८) ५।२।७
(९) ४।२।९ (१०) ३।२।१२ (११) १।५।६ (१२) १।५।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति"[१]। "एवम्पर इति किम्? "वाङ्म आसन्"[२]। "षण्मासः"[३]। "विदधानि मन्महे"[४]। "दाम्नाऽपौम्भन्"[५] ॥ २३ ॥

वे०—सवर्णश्च सवर्गीयश्च सवर्णसवर्गीयौ। तौ परौ यस्मात्स तथोक्तः। समानजातीयं वर्णव्यक्त्यन्तरं सवर्णम्। यथा—ककारस्य ककारः, सकारस्य सकार इति। समाने वर्गे भवः सवर्गीयः। (सवर्णसवर्गीयपरः=) सवर्णे सवर्गीये च परतः; वर्णो द्वित्वं नाश्नुते। सवर्णः—"रुक्कामः"[६]। "अनामयच्च मे"[७]। "तत्ते रुक्मः"[८]। "अनुष्टुप्प्राणानाम्"[९]। "मय्येव सत्ता"[१०]। "इमम्मे वरुण"[११]। "देवासुरास्संयत्ता"[१२]। सवर्गीयः—"प्रच्छन्दः"[१३]। "कण्डूयेत"[१४]। "आण्डमजायत"[१५]। "यङ्कामयेत"[१६] "शञ्चमे"[१७]। "तन्ते दुश्चक्षाः"[१८]। "मन्थी मन्थिशोचिषा"[१९]। "अम्बे अम्बालि"[२०]। "युञ्जानेषु"[२१]। "परिवृङ्धि हरसा"[२२]। अत्रासन्देहार्थं शिक्षावचनम्। यथा—

अनुनासिकपूर्वस्तु ककारो मध्य आगमः।
गकारश्च तकारे च धकारे च यथाक्रमम्॥ इति॥

अत्र मध्ये पदमध्ये इत्यर्थः ॥ २३ ॥

(कहा) "वाङ्म आसन्"। "षण्मासः"। "विदधानि मन्महे" "दाम्नाऽपौम्भन्"[क] ॥ २३ ॥

वे० अ०—सवर्ण और सवर्गीय=सवर्णसवर्गीयौ। वे दोनों बाद में हैं जिससे वह वैसा कहा गया (=सवर्णसवर्गीयपर) है। समान जाति वाला दूसरा वर्ण=सवर्ण। जैसे—ककार का ककार, सकार का सकार। समान वर्ग में होने वाला=सवर्गीय। (सवर्णसवर्गीयपरः=) सवर्ण और सवर्गीय बाद में होने पर वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।....। यहाँ असन्देह के लिऐ शिक्षावचन है।

अनुनासिक पूर्व में होने पर और तकार तथा धकार बाद में होने पर मध्य में क्रमशः ककार और गकार का आगम होता है। यहाँ 'मध्य में'=पद के मध्य में—यह अर्थ हैं॥ २३ ॥

(क) सवर्ण और सवर्गीय वर्ण बाद में न होने के कारण ङकार, णकार, नकार और मकार का १४।१ से द्वित्व हो गया है।

---

(१) ३।४।८ (२) ५।५।१६ (३) ६।५।३ (४) ४।७।१५
(५) २।४।१३ (६) २।२।३ (७) ४।७।३
(८) २।२।१२ (९) ५।३।८ (१०) २।५।२
(११) २।१।११ (१२) १।५।१ (१३) ४।३।१२
(१४) ६।१।३ (१५) ६।५।६ (१६) १।७।१
(१७) ४।७।३ (१८) ३।२।१० (१९) ६।४।१०
(२०) ७।४।१६ (२१) १।६।८ (२२) ४।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानुत्तम उत्तमपरः ॥ २४ ॥

मा०—अनुत्तम उत्तमपरो न खलु न द्वित्वमापद्यते। यथा—"आत्मानमेव दीक्षया"[१]। "विद्मा ते अग्ने त्रेधा"[२]। अनुत्तम इति किम्? "तं मा देवा अवन्तु"[३] ॥ २४ ॥

त्रि०—नकारोऽयं प्रतिप्रसवार्थः। उत्तमपरोऽनुत्तमो द्वित्वं नापद्यत इति न। यथा—"याच्ञ्या"[४]। "यज्ञेयज्ञे नः"[५]। "आट्ट्णारः"[६]। "सप्रतूत्नवत्"[७]। "पाप्मानम्"[८]। अनुत्तम इति किम्? "तस्मा देवाः"[९]। उत्तमः परो यस्मादसावुत्तमपरः। "सवर्णसवर्गीयपरः"[१] इति प्राप्तावयमारम्भः ॥ २४ ॥

वै०—अनन्तरोक्तस्य प्रतिषेधस्यायं प्रतिषेधः। (अनुत्तमः=) उत्तमव्यतिरिक्तः वर्णः; (उत्तमपरः=) उत्तमे परतः; द्वित्वप्रतिषेधं नाश्नुते; किन्तु द्वित्वमेवाश्नुते। "याञ्चैवास्य"[१०]। "इन्द्राय राज्ञे"[११]। "प्रत्नꣳसधस्थम्"[१२]। "ग्रन्थि ग्रथ्नातु"[१३]।

सू० अ०—उत्तम (स्पर्श) बाद में होने पर अनुत्तम (स्पर्श) (द्वित्व के निषेध को) नहीं (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—नकार यहाँ अपवाद (निषेध) के अपवाद (निषेध) के लिए (प्रयुक्त हुआ है)। उत्तमपरः=अन्तिम (स्पर्श) है बाद में जिसके वह; अनुत्तम (-स्पर्श) द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है—यह बात; न=नहीं है। जैसे—"याच्ञ्या"। "यज्ञे नः"। "आट्ट्णारः"। "सप्रतूत्नवत्"। "पाप्मानम्"[क]। अनुत्तम (-स्पर्श) यह क्यों (कहा)? "तस्मा देवाः"। अन्तिम (स्पर्श) है बाद में जिससे वह=उत्तमपर। "सवर्ण और सवर्गीय (वर्ण)। बाद में होने पर (कोई द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)"—इस (सूत्र) से (निषेध की) प्राप्ति होने पर यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है ॥ २४ ॥

वै० अ०—अव्यवहित पूर्व में कहे गये प्रतिषेध का यह प्रतिषेध है। (अनुत्तमः=) अन्तिम से अन्य (वर्ण); (उत्तमपरः=) अन्तिम (स्पर्श) बाद में होने पर; द्वित्व के प्रतिषेध को प्राप्त नहीं करता है किन्तु द्वित्व को प्राप्त करता है।...[ख] ॥ २४ ॥

(क) याच्ञ्या ॥ यज्ञेयज्ञ इति यज्ञे—यज्ञे। नः ॥ आट्ट्णारः ॥ सः। प्रत्नवदिति प्रत्न—वत् ॥ पाप्मानम् ॥ तम्। मा। देवाः। प० पा०

(ख) इन्द्राय। राज्ञे ॥ प्रत्नम्। सधस्थमिति सध—स्थम् ॥ ग्रन्थिम्। ग्रथ्नातु ॥ उद्नः। दत्त ॥ दध्ना। एति। तनक्ति ॥ एतम्। वै। परः। आट्णारः ॥ यः। पाप्मना ॥ प० पा०

---

(१) ६।२।२ (२) ४।२।२ (३) ३।३।२ (४) १।५।७ (५) ३।१।११
(६) ५।६।५ (७) २।२।१२ (८) १।४।४१ (९) १४।२३
(१०) १।५।७ (११) ५।५।११ (१२) ४।१।४ (१३) १।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उद्नो दत्त"[१]। "दध्नाऽऽतनक्ति"[२]। "एतं वै पर आट्णारः"[३]। "यः पाप्मना"[४] ॥ २४ ॥

अथैकेषामाचार्याणाम् ॥ २५ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। एकेषामाचार्याणामित्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ २५ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। एकेषाम् (आचार्याणाम्) मतमधिक्रियत इत्येतद्वेदितव्यं इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ २५ ॥

वै०—प्रकृते द्वित्वप्रतिषेधे एकेषाम् (आचार्याणाम्) मतम् अधिक्रियते। तत्रापिष्टांशसद्भावात् ॥ २५ ॥

लकारो हशवकारपरो ॥ २६ ॥

मा०—लकारः हकारपरः शकारपरः वकारपरः वा द्वित्वं नापद्यते, एकेषामाचार्याणां मतेन। यथा—"तस्मा एता मल्हा आलभेत"[५]। "शतवल्शं विरोह"[६]। "सहस्रवल्शाः"[७] "ततो विल्व उदतिष्ठत"[८]। हशवकारपर इति किम्? "कल्ल्माषी भवति"[९]। "कल्याणी रूपसमृद्धा"[१०] ॥ २६ ॥

त्रि०—एकेषां मते हशवकारपरो लकारो द्वित्वं नापद्यते। "मल्हा आलभन्त"[५]। "शतवल्शं विरोह"[६]। "ततो विल्वः"[८]। एवम्पर इति किम्? "कल्ल्माषी"[९]।

सू० अ०—अब कतिपय आचार्यों के (मत को कहा जाता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त) है। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ; एकेषाम् (अचार्याणाम्=) कतिपय (आचार्यों) के; मत का अधिकार किया जाता है—यह जानना चाहिए ॥ २५ ॥

वै० अ०—प्रकृत द्वित्व के प्रतिषेध के विषय में; एकेषाम् (आचार्याणाम्=) कतिपय (आचार्यों) के; मत का अधिकार किया जाता है। क्योंकि वहाँ भी इष्ट अंश विद्यमान है ॥ २५ ॥

सू० अ०—हकार, शकार और वकार बाद में होने पर लकार (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मत में; हशवकारपरः=हकार, शकार और वकार है बाद में जिसके वह; लकार द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। "मल्हा

---

(१) २।४।८ (२) २।५।३ (३) ५।६।५ (४) २।१।३
(५) २।१।२ (६) १।१।२ (७) १।१।२ (८) २।१।८
(९) ५।१।१ (१०) ७।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कल्ल्याणी"[१]। हकारश्च शकारश्च वकारश्च हशवकाराः ते परे यस्मात् सः, तथोक्तः। अत्र हशपरे कार्यमिष्टं, न तु वकारपरे। नापि परसूत्रमिष्टम् ॥ १६ ॥

वै०—(हशवकारपरः =) हकारे षकारे वकारे च परतः; लकारो द्वित्वं नाश्नुते। ह—"आदित्यां मल्हाम्"[२]। श—"शतवल्शं विरोह"[३]। एतेन शिक्षोक्तं लकारार्ध-रूपत्वं निरस्तं वेदितव्यम्। व—"बैल्वो यूपो भवति"[४]। स्वरितपरे तु वकारे परतो द्वित्वमिष्यते—

लकारस्य वकारेण संयोगे स्वरितो यदि।
तदा संयुक्त एव स्यात् असंयुक्तस्ततोऽन्यथा ॥

इति शिक्षावचनात्। एतत्पर इति किम्? "विशल्यो बाणवाꣳउत"[५] ॥ १६ ॥

स्पर्शः स्पर्शपरः ॥ १७ ॥

मा०—स्पर्शः स्पर्शपरो द्वित्वं नापद्यते। यथा—"संवत्सरो वा अब्दो मासा अर्धवाः"[६] ॥ १७ ॥

त्रि०—एकेषां मते स्पर्शपरः स्पर्शो न द्वित्वमापद्यते। यथा—"वाग्देवी"[७]।

आलभन्त"। "शतवल्शं विरोह"। "ततो बिल्वः"। ये (हकार, शकार और वकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "कल्ल्माषी"। "कल्ल्याणी"। हकार, शकार और वकार = हशवकाराः; वे हैं बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (= हशवकारपरः) है। यहाँ पर हकार, शकार बाद में होने पर कार्य इष्ट है वकार बाद में होने पर नहीं। परवर्ती सूत्र भी इष्ट नहीं है ॥ १६ ॥

वै० अ०—(हशवकारपरः =) हकार, शकार और वकार बाद में होने पर; लकारद्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। ह—"आदित्यानां मल्हम्"। श—"शत-वल्शं विरोह"। इससे शिक्षा में कहे गये लकार के अर्धरूप को निरस्त जानना चाहिए। व—"बैल्वो यूपो भवति"। स्वरितपर वकार बाद में होने पर तो द्वित्व अभीष्ट है। "लकार का वकार के साथ संयोग होने पर यदि स्वरित हो तो वहाँ संयुक्त ही होता है, उससे अन्यत्र असंयुक्त होता है"—इस शिक्षा--वचन से। ये बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "विशल्यो बाणवाꣳउत"।

सू० अ०—स्पर्श बाद में होने पर स्पर्श (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मत में; स्पर्शपरः = स्पर्श है बाद में जिसके वह; स्पर्श द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"वाग्देवी"। "अपा-

---

(१) ७।१।६ (२) २।१।२ (३) १।१।२ (४) २।१।८
(५) ४।५।१ (६) ५।६।४ (७) १।७।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अपामोज्मानम्"[१]। "आट्णारः"[२]। "सप्रत्नवत्"[३]। "यमप्नवानः"[४]। स्पर्शः परो यस्मादसौ स्पर्शपरः ॥ २७ ॥

वै०—(स्पर्शपरः =) स्पर्श परतः; स्पर्शो द्वित्वं नाश्नुते। "तस्यै स्वक्वर्म"[५]। "न विश्वङ्प्रजया"[६]। "तत्त्यानां जयत्वम्"[७]। "यज्ञिया यज्ञियानाम्"[८]। "पिण्डान्न्र-यच्छति"[९]।

परस्परेण संयोगस्स्पर्शानां तु भवेद्यदि।
तत्पूर्वस्य श्रुतिर्नास्ति प्राहुस्तेषामिदं मतम् ॥

आचार्यस्तु सवर्णसवर्गीयपरस्यैव द्वित्वाभावमिच्छति, तेन तस्यैव श्रुत्यभावोऽपि परिगृह्यते नान्यस्य ॥ २७ ॥

पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः ॥ २८ ॥

मा०—एकेषामाचार्याणां पदान्तश्च व्यञ्जनपरः अविकारि द्वित्वं नापद्यते। व्यञ्जन पर इति किम्? "ऊर्णम्रमूर्जैवास्मै"[१०]। प्राकृत इति किम्? "वाग्वै देवेभ्यः"[११]। "यद्वै होताध्वर्युः"[१२] ॥ २८ ॥

त्रि०—व्यञ्जनपर इति स्पर्शव्यतिरिक्तव्यञ्जनपर इत्यर्थः। अन्यथा स्पर्शानामपि ग्रहणे पूर्वसूत्रेऽपि स्पर्शपर इत्युक्तत्वात् पौनरुक्त्यं स्यात्। ननु निमित्तिविशेषान्नि-मित्तविशेषोऽप्यस्ति। पदान्तत्वं प्राकृतत्वं च निमित्तिनो विशेषः। निमित्तस्य

भोज्मानम्"। "आट्णारः"। "सप्रत्नवत्"। "यमप्नवानः"। स्पर्श है बाद में जिससे वह = स्पर्शपरः ॥ २७ ॥

वै० अ०—(स्पर्शपरः =) स्पर्श बाद में होने पर; स्पर्श द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।...।

यदि स्पर्श (-वर्ण) का परस्पर संयोग होता है तो उनमें से पूर्ववर्ती (स्पर्श) का श्रवण नहीं होता है—जो यह कहते हैं—यह उनका मत है। आचार्य तो सवर्ण और सवर्गीय (वर्ण) बाद में होने पर ही द्वित्व के अभाव को इष्ट मानते हैं, इसलिए उस (प्रथम स्पर्श) की श्रुति का अभाव स्वीकार किया जाता है, अन्य का नहीं ॥ २७ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन बाद में होने पर प्राकृत पदान्त (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

त्रि० अ०—व्यञ्जनपरः = व्यञ्जन बाद में होने पर = स्पर्श से व्यतिरिक्त

---

(१) ४।६।६	(२) ५।६।५	(३) २।२।१२
(४) १।५।५	(५) ६।२।११	(६) १।५।६
(७) ३।४।४	(८) ४।६।१	(९) २।३।८
(१०) ५।४।६	(११) ६।१।४	(१२) ३।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु सर्वव्यञ्जनात्मकत्वमिति चेत्। तथाऽपि स्पर्शभागे निमित्तविशेषस्य वैयर्थ्यम् स्पर्शपर इत्यत्र सामान्येन निमित्तविशेषस्यापि गतत्वात्। तस्मादन्तस्थादय एवात्र व्यञ्जन-

---

व्यञ्जन बाद में होने पर—यह अर्थ है[क]। अन्यथा स्पर्शों का भी ग्रहण करने से पूर्ववर्ती सूत्र में भी 'स्पर्श बाद में होने पर' यह कहे जाने से पुनरुक्ति हो जायेगी। (शंका) निमित्तिन् के विशेष (भेद, अन्तर) से निमित्त का भी विशेष (भेद, अन्तर) होता है। पदान्तत्व और प्राकृतत्व—ये निमित्तिन् के विशेष हैं। निमित्त का तो सर्वव्यञ्जनात्मकत्व (विशेष) है। यदि (ऐसा कहा जाता है (तब हमारा यह कहना है) तब भी स्पर्शभाग निमित्तविशेष का वैयर्थ्य (होता है)। क्योंकि 'स्पर्श बाद में होने पर'—इस सामान्य (निमित्त) से निमित्त विशेष भी गतार्थ हो जाता है। इसलिए 'व्यञ्जन' शब्द से यहाँ अन्तःस्था आदि का ही कथन किया गया है[ख]। यद्यपि चकार स्पर्शमात्र

(क) प्रकृत सूत्र का यह अर्थ प्रतीत होता है—संधि के परिणामस्वरूप निष्पन्न न होने वाला स्पर्श पद के अन्त में वर्तमान होने पर, द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है, जब उसके बाद में कोई व्यञ्जन हो। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है—संधि के परिणामस्वरूप निष्पन्न न होने वाला नकार, पद के अन्त में वर्तमान होने पर द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है, जब उसके बाद में अन्तःस्था अथवा ऊष्मन् (हकार) हो। अब भाष्य में यह देखना है कि सूत्रकार ने स्पर्श से नकार का और व्यञ्जन से अन्तःस्था और ऊष्मन् (हकार) का ग्रहण कैसे किया है।

(ख) सिद्धान्ती—प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त व्यञ्जन से स्पर्श से व्यतिरिक्त व्यञ्जन (=अन्तःस्था और ऊष्मन्) का ग्रहण करना चाहिए। यदि यहाँ 'व्यञ्जन' से स्पर्श का भी ग्रहण किया जायेगा तो पुनरुक्ति दोष हो जायेगा, क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र में भी स्पर्श विद्यमान है। स्पर्श बाद में होने पर स्पर्श के द्वित्व का निषेध अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र में कर दिया गया है।

पूर्वपक्षी—अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र और प्रकृत सूत्र के निमित्तिन् में भेद है। पूर्ववर्ती सूत्र का निमित्तिन् किसी भी परिस्थिति में विद्यमान कोई भी स्पर्श हो सकता है जबकि प्रकृत सूत्र का निमित्तिन् वह ही स्पर्श होगा जो (१) संधि के परिणाम स्वरूप निष्पन्न न हुआ हो और जो (२) पद के अन्त विद्यमान हो उसी प्रकार पूर्ववर्ती सूत्र और प्रकृत सूत्र के निमित्त में भी भेद हो सकता है। पूर्ववर्ती सूत्र का निमित्त कोई स्पर्श ही होगा, जबकि प्रकृत सूत्र का निमित्त कोई भी व्यञ्जन (स्पर्श या अन्तःस्था या ऊष्मन्) हो सकता हैं। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा मानने पर प्रकृत सूत्र में गृहीत निमित्त विशेष (सभी व्यञ्जन) का स्पर्श भाग होना व्यर्थ ही है। निमित्त—विशेष का जो स्पर्श भाग है वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्देनोच्यन्ते। चकार यद्यपि स्पर्शमात्राकर्षकः तथाऽपि पारिशेष्यान्नकारस्यानुकर्षणम्। तथाहि—अन्तस्थादिव्यञ्जनपरत्वे सत्यन्यस्पर्शानामविकृतानां पदान्ते स्थितिर्नास्ति। "सम्राट्"[1] इत्यत्रास्तीति चेत्, मैवम्। "न सꣳसामिति रापरः"[2] इत्यत्र वैयर्थ्यात्, इतिशब्दो मकारस्य द्वित्वसद्भावं बोधयतीत्यध्ययनानुरोधादुपपादितम्! तस्मान्नैष निषेध विषयः। नापि "ब्रह्मण्वन्तः"[3]। "न्यङ् रश्मिभिः"[4] इत्यादिविषयः। कुतः? इह प्राकृत इति विशेषणं विकृतसद्भावं कल्पयति। अन्यथा स्वस्य वैयर्थ्यात्। तच्च विकृतत्वं णकारस्य ङकारस्य अन्तस्थादिपरत्वे सति क्वचिदपि पदान्ते न दृश्यते। तस्मात् प्राकृत इति प्रयोगसाफल्याय नकारस्यैवानुकर्षणं युक्तमिति पारिशेष्यम्। किञ्च—माहिषेयेऽपि नकार-

---

का आकर्षक है तथापि पारिशेष्य से (यहाँ) नकार हुआ है। क्योंकि अन्तःस्था आदि व्यञ्जन बाद में होने पर (नकार से) अन्य अविकृत स्पर्शों की पदान्त में स्थिति नहीं है। यदि कहो कि 'सम्राट्' में (अविकृत मकार पदान्त में) है (तो हमारा कहना है कि) ऐसी बात नहीं है। "रा बाद में होने पर सम् तथा साम् (का मकार) (लुप्त) नहीं (होता है)"—यहाँ पर वैयर्थ्य के कारण इति शब्द मकार के द्वित्व के सद्भाव का बोध कराता है—इसकी उपपत्ति अध्ययन के आधार पर हमने की हैं। इसलिए यह निषेध का स्थल नहीं है। "ब्रह्मण्वन्तः" और "न्यङ् रश्मिभिः" भी (निषेध का) विषय नहीं है। क्यों? (उत्तर) यहाँ पर 'प्राकृत' यह विशेषण विकृत के सद्भाव का समर्थन करता हैं। अन्यथा अपने वैयर्थ्य (को निर्दिष्ट करता है)। और अन्तःस्था आदि बाद में होने पर णकार और ङकार का पदान्त में विकृतत्व कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता है। इसलिए प्रकृत के प्रयोग के साफल्य के लिए नकार का ही अनुकर्षण युक्त है—यह पारिशेष्य है[क]। इसके अतिरिक्त माहिषेय के

तो पूर्ववर्ती सूत्र के सामान्य निमित्त (स्पर्श) से ही गतार्थ हो जाता है। अतएव पुनरुक्ति दोष के निवारण के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्रकृत सूत्र के व्यञ्जन शब्द से अन्तःस्था और ऊष्मन् का ही ग्रहण करना चाहिए, स्पर्श का नहीं। स्पर्श परे होने पर प्राकृत पदान्त स्पर्श (नकार) के द्वित्व का निषेध प्रकृत सूत्र से नहीं किया गया है।

(क) सिद्धान्ती—यद्यपि प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त चकार के द्वारा पूर्ववर्ती सूत्र से स्पर्शमात्र (सभी 'स्पर्श' वर्णों) की अनुवृत्ति होतीं है, जिससे सूत्र का यह अर्थ होगा—अन्तःस्था आदि व्यञ्जन बाद में होने पर किसी भी स्पर्श का द्वित्व नहीं होता है तथापि यहाँ यह समझना चाहिए कि चकार से केवल नकार—इस स्पर्श की अनुवृत्ति होती है, अन्य स्पर्श वर्णों की नहीं। क्योंकि अन्तःस्था आदि बाद में होने पर नकार के अतिरिक्त कोई भी अन्य स्पर्श अविकृत रूप में पद के अन्त में नहीं आता है।

---

(१) ४।४।१२ (२) १३।४ (३) ६।४।१० (४) २।४।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यैवानुकर्षणं सिद्धवत्कृत्योक्तम् तत्रेयं सूत्रयोजना—एकेषां मते पदान्तः प्राकृतो नकारोऽन्तस्थादिव्यञ्जनपरो द्वित्वं नापद्यते। यथा—"जनान् यातयति"[1]। "ओमन्वती ते"[2]। "एतान् होमान्"[3]। पदान्त इति किम्? "अन्या यन्ति"[4]। अन्तस्थादिव्यञ्जनपर

भाष्य में भी नकार का ही सिद्ध तथ्य के समान मानकर किया गया है। इसलिए सूत्र की यह योजना है—'अन्तःस्था' आदि व्यञ्जन बाद में होने पर प्राकृत नकार, पद के अन्त में विद्यमान होने पर द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।

अकेला नकार ही ऐसा स्पर्श है जो अन्तःस्था आदि बाद में होने पर, पद के अन्त में अविकृत रूप में स्थित होता है। अतः परिशेष के नियम से अर्थात् अवशिष्ट रहने से स्पर्श से यहाँ नकार का ही ग्रहण करना चाहिए।

पूर्वपक्षी—यह कहना ठीक नहीं है कि केवल नकार ही ऐसा 'स्पर्श है जो अन्तःस्था आदि बाद में होने पर अविकृत रूप से पद के अन्त में विद्यमान होता है। सम्राट (समृ+राट्) में—अन्तःस्था (रेफ बाद में होने पर मकार के द्वित्व का निषेध किया जाना चाहिए।

सिद्धन्ती—१३।४ के भाष्य में यह सिद्ध किया गया है कि सूत्र में प्रयुक्त 'इति' शब्द यह बतलाता है 'सम्राट्' इत्यादि स्थलों में मकार द्वित्व होता हैं। १३।४ में इति शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने यह बतला दिया है कि १४।२८ का निषेध 'सम्राट्' इत्यादि पदों के मकार पर लागू नहीं होता है। अतएव यहाँ नकार की ही अनुवृत्ति होती है, मकार की नहीं।

पूर्वपक्षी—"ब्रह्मण्वन्तः" और 'न्यङ् रश्मिभिः" इत्यादि स्थलों में णकार और ङकार अन्तःस्था बाद में होने पर, पद के अन्त में प्राकृत रूप से रहते हैं। मकार की भाँति णकार और ङकार के द्वित्व के निषेध का निषेध भी सूत्रकार ने नहीं किया है। अतएव सूत्र का यह अर्थ होगा—अन्तःस्था आदि बाद में होने पर; पद के अन्त विद्यमान णकार, ङकार, मकार और नकार द्वित्व को प्राप्त नहीं करते हैं।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। सूत्रस्थ 'प्राकृत' शब्द विकृत के सत्ता की ओर संकेत करता है अर्थात् प्राकृत शब्द की सामर्थ्य से यह सूत्र उसी वर्ण पर लागू होगा जो, अन्तःस्था आदि बाद में होने पर, प्राकृत रूप और वैकृत रूप—इन दोनों में—पद के अन्त में विद्यमान होता हो। जहाँ तक नकार का सम्बन्ध है वह तो, अन्तःस्था आदि बाद में होने पर प्राकृत और वैकृत—इन दोनों रूपों में पद के अन्त में उपलब्ध होता है। किन्तु ऐसा स्थल उपलब्ध नहीं होता है जहाँ अन्तःस्था आदि बाद में होने पर, वैकृत णकार अथवा ङकार पद के अन्त में उपलब्ध होता हो। अत एव यह सूत्र णकार और ङकार पर लागू नहीं होता है। यह केवल नकार के द्वित्व का ही निषेध करता है।

---

(१) ३।४।११ (२) २।६।९ (३) १।५।४ (४) २।५।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति किम् ? "तान् कल्पयति"[१] । "इमान् भद्रान्"[२] । प्राकृत इति किम् ? "तान् रक्षध्वम्"[३] । "वैष्णवान् रक्षोहणः"[४] । ननु कथमत्र विकृतत्वम् ?

रेफाट्टवर्णात् पूर्वश्च तवर्गाच्च परश्च नः ।
तवर्गस्थान इत्याहुरतःस्थानोऽन्य उच्यते ॥

इति वचनादस्ति स्थानभेदकृतं विकृतत्वमिति ब्रूमः । शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

रेफपूर्वो नकारो यः पदान्तो यत्र दृश्यते ।
विशेषं तत्र जानीयात् द्वित्वमित्यभिधीयते ॥ इति ॥

जैसे—"जनान् यातयति" । "ओमन्वती ते" । "एतान् होमान्"क । पदान्त में—यह क्यों (कहा) ? "अन्या यन्ति"ख । अन्तःस्था आदि व्यञ्जन बाद में होने पर—यह क्यों (कहा) ? (उत्तर) "तान् कल्पयति", "इमान् भद्रान्"ग । प्रकृत—यह क्यों (कहा) ? "तान् रक्षध्वम्" "वैष्णवान् रक्षोहणः"घ । (शंका) यहाँ पर विकृतत्व कैसे ?

(आचार्य) रेफ और ऋ—वर्ण से पूर्ववर्ती और टवर्ग से परवर्ती नकार टवर्ग के स्थान में उच्चारित होता है । अन्य (नकार) उससे दूसरे स्थान में उच्चारित होता है ।

इस वचन से स्थान के भेद से किया गया विकृतत्व है—यह बतलाते हैं । शिक्षा भी इस प्रकार कहती है—

रेफपूर्व (रेफ है पूर्व में जिसके ऐसा) जो नकार जहाँ पद के अन्त में दिखलाई पड़ता है, वहाँ विशेष को जानना चाहिए (और वह विशेष यह है कि वहाँ) द्वित्व कहा जाता हैङ ।

(क) अन्तःस्था (यकार और वकार) तथा ऊष्मन् (हकार) बाद में होने के कारण प्राकृत नकार का द्वित्व नहीं हुआ है ।

(ख) अन्तःस्था बाद में होने पर भी प्राकृत नकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि नकार पद के अन्त में विद्यमान नहीं है ।

(ग) पद के अन्त में विद्यमान होने पर भी प्राकृत नकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि बाद में अन्तःस्था अथवा ऊष्मन् न होकर स्पर्श (ककार तथा भकार) है ।

(घ) अन्तःस्था (रेफ और वकार) बाद में होने पर भी पदान्त नकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि इन स्थलों पर नकार प्राकृत नहीं, वैकृत है ।

(ङ) पूर्वपक्षी—"तान् रक्षध्वम्" और "वैष्णवान् रक्षोहणः"—इन दोनों स्थलों पर नकार प्राकृत है । प्रातिशाख्य के किसी भी सूत्र में इन स्थलों पर नकार के विकार का विधान नहीं किया गया है ।

---

(१) ५।३।१ (२) १।६।३ (३) १।२।७ (४) १।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यञ्जनमस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः। प्रकृतिरिति, स्वभावः तत्सम्बन्धी प्राकृतः ॥ २८ ॥

वै०—चशब्देन स्पर्शोऽन्वादिश्यते। अस्पर्शपरार्थोऽयमारम्भः, स्पर्शपरस्य पूर्वेण प्रतिषेधसिद्धेः। तदयमर्थः—पदान्तो यस्स्पर्शः; (व्यञ्जनपरः =) अस्पर्शे व्यञ्जने परतः प्राकृतो वर्तते, पदावस्थासिद्धाद्रूपान्न प्रच्यवते, स द्वित्वं नाश्नुते। "अर्वाङ्यज्ञः"[१]। "प्रत्यङ्होतारम्"[२]। "वृषण्वतीमन्वाह"[३]। "आदित्यान् याचिषामहे"[४]। "विश्यस्मिन्राष्ट्रे"[५]। "यस्मिन्वायुः"[६]। "उपास्मिन्छ्वो यक्ष्यमाणे"[७]। "आशून् हुवे"[८]। अत्र नकारे यवहपरे प्रतिषेध इष्टः, अन्यत्र नेष्टः। तथा च शिक्षा—

व्यञ्जन है जिससे बाद में जिससे वह व्यञ्जन पर। प्रकृति = स्वभाव। उससे सम्बन्ध रखने वाला = प्राकृत ॥ २८ ॥

वै० अ०—च शब्द से स्पर्श का अन्वादेश किया जाता है। स्पर्शव्यतिरिक्त परवर्ती (व्यञ्जन) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ (किया गया है), क्योंकि स्पर्श-पर (स्पर्श है बाद में जिसके उस व्यञ्जन) के निषेध की सिद्धि पूर्ववर्ती (सूत्र) से हो जाती है। इससे यह अर्थ हुआ—(व्यञ्जनपरः =) स्पर्श से अन्य व्यञ्जन बाद में होने पर; जो पदान्त स्पर्श प्राकृत रहता है, जो पद—पाठ में सिद्ध रूप से नहीं आता है, वह द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है। (उदाहरण) "अर्वाङ्यज्ञः"। "प्रत्यङ् होतारम्"। "वृषण्वतीमन्वाह"। "आदित्यान् याचिषामहे"। "विश्यस्मिन्राष्ट्रे"। "यस्मिन्वायुः"। "उपास्मिञ्छ्वो यक्ष्यमाणे"। "आशून् हुवे"क। यहाँ (इनमें से) यकार, वकार और हकार बाद में होने पर नकार में प्रतिषेध अभीष्ट है, अन्यत्र अभीष्ट नहीं है। शिक्षा भी वैसा ही (कहती है)—नकार में

सिद्धान्ती—यह तो सच है कि प्रातिशाख्य के किसी भी सूत्र में इन स्थलों में नकार के विकार का विधान नहीं किया गया है। किन्तु उद्धृत वचन के अनुसार इन स्थलों पर विद्यमान नकार टवर्ग के उच्चारण स्थान अर्थात् मूर्धा से उच्चारित होता है जबकि नकार का अपना स्वाभाविक उच्चारण—स्थान दन्तमूल है। उच्चारण—स्थान के भेद की दृष्टि से इन स्थलों में विद्यमान नकार वैकृत है। शिक्षा के उद्धरण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है शिक्षा में तो रेफ से पूर्ववर्ती नकार का स्पष्ट शब्दों में द्वित्व विहित है।

(क) अर्वाङ्। यज्ञः॥ प्रत्यङ्। होतारम्॥ वृषण्वतीमिति वृषण्—वतीम्। अन्विति। आह॥ आदित्यान्। याचिषामहे॥ विशि। अस्मिन्। राष्ट्रे॥ यस्मिन्। वायुः॥ अस्मिन्। श्वः। यक्ष्यमाणे॥ आशून्। हुवे॥ प० पा०

---

(१) ७।३।११ (२) ६।३।१ (३) २।५।८ (४) २।१।११
(५) १।८।१२ (६) ५।७।२६ (७) १।६।७ (८) ४।७।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारान्तं पदं पूर्वमन्तस्थासु परासु च ।
नकारान्तस्थयोर्मध्ये तत्र वर्णमसंयुतम् ॥ १ ॥
रेफपूर्वो नकारो यः पदान्तो यत्र दृश्यते ।
विशेषं तत्र जानीयात् द्वित्वमित्यभिधीयते ॥ २ ॥
नकारान्तं पदं पूर्वं वकाराद्परे यदि ।
विशेषं तत्र जानीयाद्द्वित्वमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥ इति

वकारे ऋकारपरतः प्रतिषेधो नेष्यते । "अस्मान् वृणक्तु विश्वतः"[१] । "वाजिन्वृषा"[२] । तदप्युच्यते शिक्षायाम्—

संयुक्तौ नत्रकारौ चेद्दकारः परतो यदि ।
संयुतं तत्र जानीयान्नोभयोर्व्यक्तिरिष्यते ॥ इति ॥

अत्र असंयुतत्वोक्त्या द्वित्वाभाव एव प्राप्यते। द्वित्वाभावे ह्यसंयुतता भवति। अतएव 'रेफपूर्वः' इत्यसंयुत्यपवादतया द्वित्वविधानमुपपद्यते । पदान्त इति किम् ? "अर्क्येण वै"[४] । व्यञ्जनपर इति किम् ? "युङ्क्ष्व"[५] । "धन्वन्निव प्रपा असि"[५] । प्राकृत इति किम् ? "त्रिष्टुग्याज्या"[६] । नन्वत्र ङकारणकारयोरुदाहरणमयुक्तम् तयोरस्पर्शव्यञ्जनपरत्वे विकारा-

---

अन्त होने वाला पद पूर्व में और अन्तःस्था वर्ण बाद में हो तो नकार और अन्तःस्था के मध्य में वहाँ वर्ण असंयुक्त होता है रेफपूर्व (रेफ है पूर्व में जिसके वह) जो नकार पद के अन्त में दिखलाई पड़ता है, वहाँ यह विशेष बात जाननी चाहिए कि वहाँ द्वित्व का कथन होता है। वकार से पूर्व में नकारान्त पद हो और बाद में ऋकार हो तो वहाँ यह विशेष जानना चाहिए कि द्वित्व का कथन होता है।

वकार के बाद में ऋकार हो तो प्रतिषेध अभीष्ट नहीं है। (उदाहरण) "अस्मान् वृणक्तु विश्वतः"। "वाजिन्वृषा"। शिक्षा में इसे भी कहा गया है—

यदि ऋकार बाद में हो तो नकार और वकार संयुक्त होते हैं। संयुक्त होना वहाँ जानना चाहिए जहाँ दोनों की पृथक्ता (विभेद, भिन्नता, पृथक्भाव) अभीष्ट नहीं होता है ॥

यहाँ असंयुक्तत्व के कथन से द्वित्व का अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि द्वित्व का अभाव होने पर असंयुक्तत्व होता है। अतएव 'रेफपूर्व'—यहाँ पर असंयुक्तत्व के अपवाद के रूप में द्वित्व का विधान उपपन्न होता हैं। पद के अन्त में—यह क्यों (कहा)? "अर्क्येण वै"। व्यञ्जन बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "युङ्क्ष्व"। "धन्वन्निव प्रपा असि"। प्राकृत यह क्यों (कहा) ? "त्रिष्टुग्याज्या"।

(क) अर्क्येण । वै ॥ युङ्क्ष्व । असि ॥

---

(१) ४।५।१ (२) १।४।२ (३) ७।५।६
(४) १।८।१५ (५) २।५।१२ (६) २।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावादिति केचित्। तत्र हि विरुद्धो हेतुः। यदप्युच्यते यः केषुचिदस्पर्शव्यञ्जनेषु परतः विक्रियते स एवात्र ग्राह्यः इति तत्रेदमुच्यते। विकारिणोऽपि ग्रहणे प्राकृतत्वविरोधः। अथ अविकार्यैव गृह्यते; किमन्यत्र विकारेण ? तस्मान्नकारमात्रे प्रतिषेधव्यवस्थापनं प्रति सम्यगुपायानवगमादेष क्लेश आश्रीयते इत्यास्तामेतत् ॥ २८ ॥

तदेवमत्र द्वित्वादिकार्याणि द्वित्वप्रतिषेधाश्च विहिताः।

अथाध्यायस्य शेषेण वर्णविशेषभूतानां अक्षराणां संहिता विधीयते—

उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम् ॥ २९ ॥

मा०—उदात्तात्परो योऽनुदात्तः स स्वरितमापद्यते। यथा—"अग्ना अस्ि स्वम्"[1] ॥ २९ ॥

त्रि०—प्रातिहतपादवृत्ततैरोव्यञ्जनविषयमेतत्। उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते। यथा—"स इ॑धानः"[2]। "अथाब्रवीत्"[3]। "प्रउ॑गमुक्थम्"[4]। वर्णविभागावस्थायामनुदात्तत्वे सत्येव पुनस्तत्संहितायामेतल्लक्षणात् स्वरितत्वं "प्रउगम्" इत्यादौ विज्ञेयम् ॥ २९ ॥

(शंका) कुछ लोग कहते हैं कि ङकार और णकार का उदाहरण युक्त नहीं है, क्योंकि स्पर्श से अन्य 'व्यञ्जन' बाद में होने पर उन (=ङकार और णकार) के विकार का अभाव है। इस विषय में यह हेतु विरुद्ध है। और जो यह कहा गया है कि जो (वर्ण) कतिपय स्पर्श से अन्य 'व्यञ्जन' बाद में होने पर विकृत होता है वही यहाँ पर ग्राह्य है—उस विषय में यह कहते हैं। विकारिन् के भी ग्रहण करने पर प्राकृतत्व का विरोध होता है। अन्यत्र विकार से क्या (प्रयोजन सिद्ध होता है)? इसलिए नकार मात्र में प्रतिषेध के सम्यक् उपाय का ज्ञान न होने से—इस कष्ट का आश्रय लिया गया है—अब बस कीजिए ॥ २८ ॥

इस प्रकार यहाँ द्वित्व आदि कार्यों और द्वित्व के प्रतिषेधों का विधान किया गया है। अब अध्याय के शेष अंश के द्वारा वर्ण—विशेषभूत अक्षरों की संहिता का विधान किया जाता है—

सू० अ०—उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)।

त्रि० अ०—यह (नियम) प्रातिहत, पादवृत्त तथा तैरोव्यञ्जन से सम्बद्ध है। उदात्तात्परोऽनुदात्तः=उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त; स्वरित हो जाता है। जैसे—"स इ॑धानः"। "अथाब्रवीत्"। "प्रउ॑गमुक्थम्"। वर्ण-विभाग की अवस्था में अनुदात्त होने पर ही पुनः उन (वर्णों) की संहिता होने पर इस लक्षण से "प्रउगम्' इत्यादि में (स्वरितत्व) जानना चाहिए[क] ॥ २९ ॥

(क) 'प्रउगम्' इत्यादि स्थलों में विद्यमान स्वरित सं० पा० और प० पा०—इन दोनों

---

(१) २।५।१२ (२) ४।४।४ (३) ३।२।११ (४) ४।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै० – उदात्तत्वादयस्स्वराणां गुणाः। कुतः ? "उच्चैरुदात्तः"[1] इत्यादिषु पुल्लिङ्ग-निर्देशसामर्थ्यतया स्वरशब्दानुवर्तनात्। मूलशास्त्रे च "अचश्च"[2] इत्यधिकृत्य "उच्चैरुदात्तः"[2] इत्यादि तल्लक्षणं स्मर्यते। "स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्"[3]। इति च। व्यञ्जनेषु चोदात्तत्वाद्युपलम्भस्तु स्वरसन्निधानोपाधिकृतः, यथा भूतलादिषु घटोपलम्भः प्रदीपादिसन्नि-धानकृतः। अङ्गसंहिता तु तत्तत्स्वरगुणव्याप्तसीमाविभागार्थतया अन्यथोपपद्यमानानां व्यञ्जनानामुदात्तादिगुणयोगं स्वाभाविकं कल्पयितुमक्षमा। तस्मादयं स्वरविधिरक्षरासाधा-रणधर्मसम्बन्धित्वात्तद्विशिष्टाक्षरनिमित्तविषयत्वाच्च अक्षरसंहताविधिरिति मन्यामहे। "उदात्तमुदात्तवति"[4] इत्यादिस्तु स्वरविधिः पदसंहितोपजीवित्वात्पदसंहिता नाक्षरसंहिता भवितुमर्हति। अत एव तत ऊर्ध्वम् "अथ वर्णानाम्"[5] इत्यधिकारः कृत इति वेदितव्यम्।

वै० अ०—उदात्तत्व इत्यादि स्वर-वर्णों के गुण है ? कैसे ? "उच्च ध्वनि से (उच्चारित) उदात्त (कहलाता है)" इत्यादि में पुल्लिङ्ग निर्देश के सामर्थ्य से स्वर शब्द की अनुवृत्ति होने से। व्याकरण में भी "पूर्वोक्त अच् के स्थान में ही ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त होता है" यह अधिकार करके "उच्च ध्वनि से (उच्चारित स्वर) उदात्त (कहलाता है)" इत्यादि उस (स्वर) का लक्षण कहा गया है)। 'स्वर-विधान में व्यञ्जन अविद्यमान की भाँति होता है" (इससे भी सिद्ध होता है कि उदात्त आदि स्वर स्वर-वर्ण के गुण होते हैं, व्यञ्जन-वर्ण के नहीं)। व्यञ्जन-वर्णों में उदात्तत्व इत्यादि की उपलब्धि ही स्वर-सान्निध्य रूप विशेष गुण के कारण होती है, जैसे भूतल आदि पर घट की उपलब्धि प्रदीप आदि के सान्निध्य के कारण होती है। अङ्ग–संहिता तो उन-उन स्वर-गुणों से व्याप्त सीमा के विभाग के लिए होने से दूसरी प्रकार से (अर्थात् उदात्तत्व आदि गुणों के बिना ही) उपपन्न हो जाने वाले व्यञ्जनों के उदात्त आदि गुणों के योग को स्वाभाविक सिद्ध करने में असमर्थ है। इसलिए यह स्वर—विधि अक्षरों का असाधारण धर्म होने के कारण और तद्विशिष्ट (स्वर-विशिष्ट) अक्षरों पर आधृत होने के कारण अक्षर-संहिता-विधि है ऐसा हम मानते हैं। "उदात्त वाला (वर्ण पूर्व में अथवा बाद में अथवा दोनों ओर हो तो

में स्वरित है। अत एव यह समझना कठिन है कि अनुदात्त यहाँ कैसे स्वरित हो गया है। भाष्यकार के अनुसार इसे इस प्रकार समझा जा सकता है— यद्यपि पद-विभाग (पद-पाठ) में स्थित अनुदात्त यहाँ 'स्वरित' नहीं हुआ है, तथापि वर्ण-विभाग में स्थित 'अनुदात्त' यहाँ 'स्वरित' हुआ है। अर्थात् 'प्र' से विभक्त होने पर 'उ' अनुदात्त होगा जो वर्णों (प्र और उ) की संहिता होने पर 'स्वरित' हो गया है। तात्पर्य यह है कि 'प्रउगम्' का 'उ' स्वभाव से अनुदात्त है, चाहे वह पद-पाठ में अनुदात्त न हो।

---

(१) १।३८ (२) पा० १।२।२८,२९ (३) परिभाशेन्दुशेखर ७९
(४) १०।१० (५) १३।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तगुणात्स्वरात्परोऽनुदात्तगुणः स्वरितगुणमादेशमश्नुते। यथा—"अनमीवा अयक्ष्माः"[१] "प्रउगमुक्थम्"[२]। ननु "प्रउगमुक्थम्"[२] इत्यादौ स्वाभाविकस्वरितः। नैतदेवम्। नित्य एव स्वाभाविकस्वरितः अन्ये स्वरिता नैमित्तिकाः। यथा—"अनमीवा अयक्ष्माः"[१] इत्यत्र पूर्व उदात्तो निमित्तं स्वरितस्य। एवं "प्रउगमुक्थम्"[२] इत्यत्रापि। अनुदात्तस्तु प्रकृत्या यथा—"पितृणाꣳसदनमसि"[३] इत्यादिषु नकारः प्रकृतिः तस्य ऋकारादिनिमित्तकं णत्वमिति विधित एवावगम्यते, एवमिहापि वर्णसंहिताऽधिकारे विधानात् समानपदस्थादपि उदात्तात्परस्स्वरितः प्रकृत्याऽनुदात्तः, तस्य पूर्वोदात्तनिमित्तकं स्वरितत्वमिति वेदितव्यम्। तदुक्तं मूलशास्त्रे "अनुदात्तं पदमेकवर्जनम्"[४] इति। अस्यार्थोऽस्माभिस्स्वरसम्पदि विवृतः।

नीचं प्रकृत्या सकलमुदात्तादन्यदक्षरम्।
सोदात्ते निरुदात्ते तु पदे तत्स्वरितात्तथा ॥ इति ॥

उदात्तादिति किम्? "तदतिग्राह्या अभवन्"[५] ॥ २९ ॥

वे दोनों) उदात्त हो जाते हैं" इत्यादि स्वर-विधान तो पद-संहिता पर आश्रित है, अतः पद-संहिता है, अक्षर-संहिता नहीं। इसलिए उसके बाद "अव वर्णों का यह अधिकार किया गया है—यह जानना चाहिए। उदात्त गुण वाले स्वर से परवर्ती अनुदात्त गुण स्वरित गुण रूप आदेश को प्राप्त करता है। जैसे—"अनमीवा अयक्ष्माः", 'प्रउगमुक्थम्"। (पूर्वपक्षी) "प्रउगमुक्थम्" इत्यादि में स्वरित स्वाभाविक हैं। (सिद्धान्ती) ऐसी बात नहीं है। नित्य (स्वरित) ही स्वाभाविक स्वरित (होता) है, अन्य स्वरित नैमित्तिक (होते हैं)। जैसे—"अनमीवा अयक्ष्माः" यहाँ पर पूर्ववर्ती उदात्त स्वरित का निमित्त है। इसी प्रकार "प्रउगमुक्थम्" में भी (यह स्वरित) प्रकृति से तो अनुदात्त हैं। जिस प्रकार "पितृणाꣳसदनमसि" इत्यादि में नकार प्रकृति है, ऋकार आदि निमित्त से उसका णत्व हो जाता है—यह विधि से ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी वर्ण संहिता के अधिकार में विधान होने से एक पद में स्थित भी उदात्त से परवर्ती स्वरित प्रकृति से अनुदात्त है—पूर्ववर्ती उदात्त के कारण वह स्वरित होता है। व्याकरण में कहा गया है "एक पद में एक (उदात्त अथवा स्वरित को छोड़कर शेष सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं"। इसका अर्थ हमने 'स्वरसम्पत्' नामक ग्रन्थ में कहा है—

उदात्त वाले पद में उदात्त से अन्य और उदात्त से रहित पद में स्वरित से अन्य सब अक्षर प्रकृति से अनुदात्त होते हैं।

'उदात्त से'—यह क्यों कहा? (उत्तर) "तदतिग्राह्या अभवन्" ॥ २९ ॥

---

(१) १।१।१ (२) ४।४।२ (३) १।३।१
(४) पा० ६।१।१५७ (५) ६।६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि ॥ ३० ॥

मा०—उदात्तात्परोऽनुदात्तो व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि स्वरितमापद्यते। यथा—"स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ"[१]। "प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय"[२] ॥ ३० ॥

त्रि०—व्यञ्जनान्तर्हितोऽप्युदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते। यथा—"तदग्ने अनृणः"[३]। "यस्त्वा हृदा"[४] इत्यादि। अन्तर्हितो व्यवहित इत्यर्थः ॥ ३० ॥

वे०—अपिशब्देन पूर्वसूत्रपदान्यन्वादिश्यते। एकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा; (व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि=) व्यञ्जनैर्व्यवहितोऽप्युदात्तात्परोऽनुदात्तस्स्वरितमश्नुते। "अवधूतꣳ-रक्षः"[५]। "रुक्कामः"[६]। "इषे त्वा"[७]। "कृष्णोऽसि"[८]। "विष्णवनुस्थितः"[९]। "नास्माद्राष्ट्रंभ्रꣳशते"[१०]। "नास्येन्द्रियं वीर्यं वृङ्क्ते"[११]। "अथाब्रवीत्"[११]। इत्यादावेकादेशः प्रथमं भवतीत्युक्तम् ॥ ३० ॥

नोदात्तस्वरितपरः ॥ ३१ ॥

मा०—उदात्तपरो वा स्वरितपरो वा उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितं नापद्यते। यथा—"कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्"[१]। "तस्य क्व सुवर्गो लोक इति"[२] ॥ ३१ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन से व्यवहित भी (उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त; स्वरित हो जाता है)।

त्रि० अ०—उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त; व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि= व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी; स्वरित को प्राप्त करता है। जैसे—'तदग्ने अनृणः'। "यस्त्वा हृदा"[क] इत्यादि। अन्तर्हित=व्यवहित—यह अर्थ है ॥ ३०॥

वै० अ०—'अपि' शब्द से पूर्व सूत्र में स्थित पदों का अन्वादेश किया जाता है। एक, दो अथवा बहुत; (व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि=) व्यञ्जनों से व्यवहित भी उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित को प्राप्त करता है।...।[ख] 'अथाब्रवीत्' इत्यादि में एकादेश पहले होता है—यह कहा जा चुका है।

सू० अ०—उदात्त या स्वरित बाद में होने पर (उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित) नहीं (होता है)।

(क) तत्। अग्ने। अनृणः॥ यः। त्वा। हृदा॥ प० पा०

(ख) अवधूतमित्यव—धूतम्॥ रुक्काम इति रुक्—कामः॥ इषे। त्वा॥ कृष्णः। असि॥ विष्णवनुस्थित इति विष्णु—अनु स्थितः॥ ४

न। अस्य। इन्द्रियं। वीर्यम्। वृङ्क्ते॥ अथ। अब्रवीत्॥ प० पा०

---

(१) १।२।१४ (२) १।१।१ (३) ३।३।८ (४) १।४।४६
(५) १।१।६ (६) २।२।३ (७) १।१।११ (८) २।४।१२
(९) ५।७।४ (१०) २।२।६ (११) ३।२।११ (१) १।२।१४ (२) २।६।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(उदात्तस्वरितपरः=) उदात्तपरः स्वरितपरो वा; उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितं नापद्यते। यथा—"स इमं लोकम्"[१]। "तस्मात्त आद्याः"[२]। "कीरिणा मन्यमानाः"[३]। "तस्यै व्यृद्धम्"[४]। उदात्तश्च स्वरितश्चोदात्तस्वरितौ, तौ परौ यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ ३१ ॥

वै०—उदात्तश्च स्वरितश्चेति द्वन्द्वः। (उदात्तस्वरितपरः=) तयोः परतः; उदात्तात्परोऽनुदात्तः अनन्तर्हितो व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि स्वरितं नाश्नुते। "ध्रुवा अस्मिन्"[५]। "स उक्थ्येन रुद्रान्"[६]। "यच्छुद्रे यदर्ये"[७]। "तास्सृष्टाः क्षुधं न्यायन् स एतं नवरात्रमपश्यत् तमाहरत्तेनायजत"[८]। उदात्तस्वरितपर इति किम्? "सूनीयमिव"[९]। "अथैता आहुतीः"[१०]। "पौर्णमासीं चोक्थ्यं च"[११]। "अनन्तरस्य भवति विधिर्वा प्रतिषेधो वा"[१२] इति न्यायात्। क्षैप्रनित्यप्रश्लिष्टाभिनिहितानामयं प्रतिषेधो न भवति। "अघ्न्याया मे वाश्व्यपावर्तते"[१३]। "तस्य नाश्नं कामम्"[१४]। "मासूत्तिष्ठन्"[१५]। "लोके ऽस्मिन् गोष्ठे ऽस्मिन्"[१६] ॥ ३१ ॥

त्रि० अ०—(उदात्तस्वरितपरः=) उदात्त बाद में होने पर या स्वरित बाद में होने पर; उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित नहीं होता है। जैसे—"स इमं लोकम्"। "तस्मात्त आद्याः"। "कीरिणा मन्यमानाः"। "तस्यै व्यृद्धम्"[क]। उदात्त और स्वरित=उदात्तस्वरितौ, वे दोनों हैं बाद में जिससे वह वैसा कहा गया (=उदात्तस्वरितपरः) है ॥ ३१ ॥

वै० अ०—उदात्त और स्वरित—यह द्वन्द्व समास है। (उदात्तस्वरितपरः=) वे दोनों (उदात्त और स्वरित) बाद में होने पर; उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त, (व्यञ्जन से) व्यवहित न होने पर और व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी स्वरित को नहीं प्राप्त करता है। "ध्रुवा अस्मिन्"। "स उक्थ्येन रुद्रान्"। "यच्छुद्रे यदर्ये"। "तास्सृष्टाः क्षुधं न्यायन् स एतं नवरात्रमपश्यत् तमाहरत्तेनायजत"। उदात्त और स्वरित बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सूनीयमिव"। "अथैता आहुतीः"। "पौर्णमासीं चोक्थ्यं च"। "अव्यवहित पूर्व का विधान अथवा निषेध होता है"—इस न्याय से क्षैप्र, नित्य, प्रश्लिष्ट, अभिनिहित

(क) सः। इमम्। लोकम् ॥ तस्मात्। ते। आद्याः ॥ कीरिणा। मन्यमानाः ॥ तस्यै। व्यृद्धमिति वि—ऋद्धम् ॥ प० पा०

---

(१) १।५।९ (२) ७।१।१ (३) १।४।४६ (४) ६।५।६
(५) १।१।१ (६) ७।१।५ (७) १।८।३ (८) ७।२।४
(९) ६।२।४ (१०) २।४।६ (११) १।६।९ (१२) परि ६१
(१३) ५।४।९ (१४) २।५।१ (१५) ७।५।२ (१६) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाग्निवेश्यायनस्य ॥ ३२ ॥

मा०—न अग्निवेश्यायनस्य शाखिनो मतेन उदात्तपरो वा स्वरितपरो वा उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितं नापद्यते। "प्रति धातवे"[१]। "वोढवे जातवेदः"[२]। "तस्य क्व"[३] ॥३२॥

त्रि०—पूर्वसूत्रस्य प्रतिप्रसवार्थोऽयं नकारः। उदात्तात्परोऽनुदात्तः अग्निवेश्यायनस्य मते उदात्तपरः स्वरितपरो वा स्वरितं नापद्यत इति न। पूर्वोक्तान्येवोदाहरणानि ॥३२॥

वै०—अग्निवेश्यायनस्य मते अनन्तराद्विहितप्रातिहतपादवृत्ततैरोव्यञ्जनात्मकोऽपि स्वरितो न प्रतिषिध्यते। यथा—"नास्मैं भ्रातृव्यं जनयति"[४]। "द्रापे अन्धसस्पते"[५]। पादवृत्तस्य नास्त्युदाहरणम् ॥ ३२ ॥

(स्वरितों) का यह प्रतिषेध नहीं होता है। "अन्नाद्यमेवाभ्युपावर्तते" "तस्य नाश्यं कामम्"। "मासूत्तिष्ठन्"। "लोकेऽस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन्"क ॥ ३१ ॥

सू० अ०—अग्निवेश्यायन (आचार्य) के अनुसार (उदात्त से परवर्ती) अनुदात्त, उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर स्वरितत्व के प्रतिषेध को नहीं (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) यह नकार पूर्ववर्ती सूत्र (१४।३१) के निषेध के निषेध के लिए है। अग्निवेश्यायनस्य—अग्निवेश्यायन के; मत में—उदात्त बाद में होने पर या स्वरित बाद में होने पर (अनुदात्त) स्वरित नहीं होता है—यह बात नहीं है (अर्थात् स्वरित हो जाता है)। उदाहरण वे ही हैं जो पहले कहे जा चुके हैं ॥ ३२ ॥

वै० अ०—अग्निवेश्यायनस्य= अग्निवेश्यायन के; मत में पूर्ववर्ती (सूत्र) में विहित प्रातिहत, पादवृत, तैरोव्यञ्जन स्वरूप स्वरित का भी प्रतिषेध नहीं होता

(क) ध्रुवाः। अस्मिन्॥ सः। उक्थ्येन। रुद्रान्॥ यत्। शूद्रे। यत्। अर्ये॥ ताः। सृष्टाः। क्षुधम्। नीतिं। आयन्। सः। एतम्। नवरात्रमिति नव—रात्रम्। अपश्यत्। तम्। एति। अहरत्। तेन। ऋयजत॥ सून्नीयमिति सु—उन्नीयम्। इव॥ अथ। एताः। आहुतीरित्या—हुतिः॥ पौर्णमासीमिति पौर्ण—मासीम्। च। उक्थ्यम्। च॥ अन्नाद्यमित्यन्न—अद्यम्। एव। अभीति। उपावर्तत इत्युप—आवर्तते॥ तस्य। न। आश्यम्। कामम्॥ मासु। उत्तिष्ठन्नित्युत्—तिष्ठन्॥ लोके। अस्मिन्। गोष्ठ इति गो—स्थे। अस्मिन्॥ प० पा०

---

(१) १।४।४५ (२) १।६।२ (३) २।६।५ (४) ५।७।५
(५) ४।५।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वो नेत्येके सर्वो नेत्येके ॥ ३३ ॥

मा०—एके आचार्याः सर्वत एव स्वरितं न भवतीति मन्यन्ते। उदात्त उदात्तमेव अनुदात्त अनुदात्तमेव। द्वै स्वसूर्यमेव ते उदात्ते नानुदात्तेन (?) ॥ ३३ ॥

त्रि०—न केवलमुदात्तस्वरितपरः, किन्तु सर्व एव सप्तविधस्वरितो नास्तीत्येके शाखिनो मन्यन्ते। तथाहि वाजसनेयिब्राह्मणे द्वावेव स्वरावुदात्तश्चानुदात्तश्च। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३३ ॥

वै०—न केवलमनन्तराद्विहितस्यैव स्वरितस्य प्रतिषेधः "नोदात्तस्वरितपरः"[1] इति, किन्तु सर्व एव स्वरितः क्षैप्रादिरपि एवं सति न भवतीति; (एके=) एकेषां मतम्। तथा वाजसनेयिनस्समाम्नन्ति—"बाहुशध्यूर्ध्वधन्वा"[2]। "सꣳशितं वीर्यं बलम्"[3] इत्यादि। तत्रैवोदाहरणं द्रष्टव्यम्। न तु वाजसनेयके सर्वस्वरिताभावोऽस्मिन्सूत्रे कथ्यत इति युक्तं वक्तुम्। तत्रोदात्तसमशेषस्य स्वरितस्य प्रसिद्धत्वात्। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥३३॥

है। जैसे—"नास्मै भ्रातृव्यं जनयति"। "द्रापे अन्धसस्पते"क। पादवृत्त (स्वरित) का उदाहरण नहीं है ॥ ३२ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मत में सभी प्रकार का (स्वरित) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—न केवल उदात्त या स्वरित से बाद में स्थित (स्वरित), किन्तु; सर्वः=सभी; सात प्रकार (२०।१—८) के स्वरित; न=नहीं; होते हैं—यह; एके=कुछ शाखा वाले; मानते हैं। जैसे—वाजसनेयि ब्राह्मण में दो ही स्वर हैं—उदात्त और अनुदात्त। ये दो सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥ ३३ ॥

वै० अ०—"उदात्त या स्वरित बाद में होने पर (उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित) नहीं (होता है)" के द्वारा न केवल अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र में विहित ही 'स्वरित' का प्रतिषेध किया गया है, किन्तु क्षैप्र आदि भी; सर्वः=सब; ही प्रकार का स्वरित इस परिस्थिति में (=उदात्त या स्वरित बाद में होने पर); नः=नहीं; होता है—यह; (एके=) कतिपय (आचार्यों); का मत है। जैसे वाजसनेयि—संहिता वाले पाठ करते हैं—"बाहुशध्यूर्ध्वधन्वा"। "सꣳशितं वीर्यं बलम्"ख इत्यादि। यह कहना युक्त नहीं है कि इस सूत्र में वाजसनेयि (ब्राह्मण) में सब प्रकार के स्वरित का अभाव कहा गया है। क्योंकि वहाँ पर उदात्तसमशेष स्वरित प्रसिद्ध है। ये दो सूत्र अभीष्ट नहीं हैं ॥ ३३ ॥

(क) न। अस्मै। भ्रातृव्यम्। जनयति ॥ द्रापे। अन्धसः। पते ॥ प० पा०

(ख) बाहुशर्धीति बाहु--शर्धी। ऊर्ध्वधन्वेत्यूर्ध्व—धन्वा। सꣳशितमिति सम्—शितम्। वीर्यम्। बलम् ॥ प० पा०

---

(१) १४।३१ (२) ४।६।४ (३) ४।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः ॥१॥

मा०—नकारस्य रेफभावादूष्मभावाद्वा यकारभावाद्वा तस्मिन् यकारे लुप्ते च मकार-लोपाच्च पूर्वस्वरः अनुनासिकगुणो भवति। यथा रेफभावात्—"सर्वा अग्नीꣳरप्सुषदः"[१]। "शत्रुँ रनपव्यन्तः"[२]। ऊष्मभावात—"अहीँश्च सर्वाँ जम्भयन्"[३]। "शततर्हाꣳस्तृँहन्ति"[४] यकारभावात्—"महाँ य इन्द्रो न ओजसा"[५]। लुप्ते च—"महाँ इन्द्रः"[६]। "लुप्येते स्वर्णपूर्वौ यवकारौ"[७] "नोखयस्य च"[८] इति। मकारलोपात्—"प्रत्युष्टँ रक्षः"[९]। "सँशितं मे ब्रह्म"[१०]। "त्वं यज्ञेष्वीड्यः"[११]। "तँ वा एतँ यजमान एव चिन्वीत"[१२] ॥ १ ॥

त्रि०—नकारस्य; (रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च=) रेफभावादूष्मभावाद्यकार-भावाच्चकाराकृष्टयकारे लुप्ते सति; मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति, सानुनासिको भवतीत्यर्थः। यथा रेफभावात्—"अग्नीꣳरप्सुषदः"[१]। यथा ऊष्मभावात्—"कर्णाꣳ-

---

सू० अ०—नकार का रेफ, ऊष्मन् अथवा यकार होने पर (तथा उस यकार के) लुप्त होने पर, अथवा मकार का लोप होने पर (उस नकार या मकार से) पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण अनुनासिक (हो जाता है)।

त्रि० अ०—नकारस्य=नकार का; (रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च=) रेफ होने पर, ऊष्म होने पर, यकार होने पर; चकार से आकृष्ट यकार का लोप होने पर; मलोपाच्च=मकार का लोप होने पर; पूर्वस्वरोऽनुनासिकः=पूर्ववर्ती स्वर अनु-नासिक होता है=सानुनासिक होता है—यह अर्थ है। जैसे—रेफ होने से-अग्निꣳ-रप्सुषदः"क। जैसे—ऊष्मन् होने से—"कर्णाꣳश्राकर्णाꣳश्च"ख। "त्रीꣳस्तृचान्"ख।

(क) अग्नीन्। अप्सुषद इत्यप्सु—सदः ॥ प० पा०
८।३० से 'अग्नीन्' का नकार रेफ हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र से पूर्ववर्ती स्वर (ईकार) सानुनासिक हो जाता है।

(ख) कर्णान्। च ॥ त्रीन्। तृचान् ॥ प० पा०
५।३० से कर्णान् का नकार शकार, और ६।१५ से त्रीन् का नकार सकार, हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र से पूर्ववर्ती स्वर—आकार और ईकार— सानुनासिक हो जाते है।

---

(१) ५।६।१	(२) ४।६।६	(३) ४।५।१	(४) ५।४।७
(५) १।४।२०	(६) १।५।२०	(७) १०।१६	(८) १०।२०
(९) १।१।२	(१०) ४।१।१०	(११) १।१।१४	(१२) ५।६।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इचाकर्णाꣳश्च"[1]। "त्रीꣳस्तृचान्"[2]। यकारभावाद्यकारे लुप्ते यथा—महाꣳइन्द्रः"[3]। मकारलोपाद्यथा—"प्रत्युष्टꣳरक्षः"[4]। "सꣳशितं मे ब्रह्म"[5] इत्यादि। मकारस्य लोपो मलोपः, तस्मात् ॥ १ ॥

वै०—अथ पञ्चदशाध्यायेऽनुनासिकास्स्वरा विधीयन्ते—प्रसङ्गादनुस्वारादि ॥

रेफोष्मयकारभावादिति भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। नकारस्य रेफभावादूष्मभावाद्यकारभावाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति। लुप्ते चेति चशब्देन यकारभावोऽन्वादिश्यते। यकारभावे नकारस्य लुप्ते पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति। मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति। "अनितिपरो ग्रहोख्य"[6] इत्यादिना नकारस्य रेफयकारभावावुक्तौ। "नकारश्शकारं च परः"[7] "तर्हाꣳस्तस्मिन्"[8] इत्यूष्मभावः। "लुप्येते स्वर्णपूर्वौ यवकारौ"[9] इति यलोपः। "अथ मकारलोपः"[10] इति मलोपः। रेफभावात्—"ये

यकार होने से, (उस) यकार के लुप्त होने से जैसे—"महाꣳइन्द्रः"क। मकार का लोप होने से जैसे—"प्रत्युष्टꣳरक्षः"। "सꣳशितं मे ब्रह्म"ख इत्यादि। मकार का लोप=मलोप, उससे ॥ १ ॥

व० अ०—अब पन्द्रहवें अध्याय में अनुनासिक स्वरों का विधान किया जाता है—प्रसङ्ग से अनुस्वार आदि। रेफोष्मयकारभावात्—यहाँ 'भाव' शब्द प्रत्येक से सम्बन्धित होता है। नकारस्य=नकार के; रेफभाव, ऊष्म-भाव तथा यकार-भाव से; पूर्वस्वरोऽनुनासिकः = पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक; हो जाता है। 'लुप्ते च'—इस चकार से यकार-भाव का अन्वादेश किया जाता है। यकार-भाव के बाद नकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक होता है। मलोपाच्च = मकार के लोप से; पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक होता है। "ग्रह, उख्य ···(अनुवाकों में) ईकार तथा ऊकार पूर्व में होने पर (नकार) रेफ (हो जाता है) और आकार पूर्व में होने पर (नकार) यकार (हो जाता है) इति (के इकार) से अन्य स्वर बाद में होने पर"—से नकार का रेफ होना तथा यकार होना कहा गया है। "च बाद में होने पर नकार शकार (हो जाता है)", "तर्हान्, तस्मिन्···"—इससे

(क) महान्। इन्द्रः ॥ प० पा०
८।२० से नकार का यकार हो जाता है तथा १०।१६ से उस यकार का लोप हो जाता हैं। प्रस्तुत सूत्र से पूर्ववर्ती स्वर सानुनासिक हो जाता है।

(ख) प्रत्युष्टमिति प्रति-उष्टम् ॥ सꣳशितं इति सं—शितम् ॥ प० पा०
१३।२ से पदान्त मकार लुप्त हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र से पूर्ववर्ती स्वर (अकार) सानुनासिक हो जाता है।

---

(१) १।८।१६ (२) २।५।१० (३) १।४।२० (४) १।१।२
(५) ४।१।१० (६) ८।२० (७) ५।२०
(८) ६।१४ (९) १०।१६ (१०) १३।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा वनस्पतीꣳरनु"[1]। ऊष्मभावात्—"शुक्लाꣳश्च कृष्णाꣳश्च"[2]। "शततर्हाꣳस्तॄꣳहन्ति"[3]। यकारभावात्—"न्यमित्राꣳओषतात्तिग्महेते"[4]। नकारस्थानीये यकारे लुप्ते-"न्यमित्राꣳओषतात्"[5]। मलोपात्—"प्रत्युष्टꣳरक्षः"[6]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १ ॥

नैकेषाम् ॥ २ ॥

मा०—एकेषां शाखिनां न पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति। तान्येवानुनासिकान्युदाहरणानि ॥ २ ॥

त्रि०—एकेषां मते पूर्वसूत्रोक्तेषु नानुनासिक्यं भवति। उक्तान्येवोदाहरणानि। इदमेवेष्टं न तु पूर्वम् ॥ २ ॥

वै०—एकेषां मते यथोक्तेषु पूर्वस्वरेष्वानुनासिक्यगुणो न भवति ॥ २ ॥

ततस्त्वनुस्वारः ॥ ३ ॥

मा०—तस्मादनुनासिकात् स्वरात्परः अनुस्वारागमो भवति। यथा—"ये वा वनस्पतीँ रनु"[7]। "अस्मिꣳश्चांमुष्मिँꣳश्च"[8]। "महा इन्द्रो य ओजसा"[9]। "ताँ रुद्रोऽवासृजत् स तिग्मः"[9]। तुशब्दः तत इति सर्वनाम्ना परामृष्टस्य स्वरस्यानुनासिकगुणं विनिवर्त्तयति। तस्मादनुनासिकप्रतिषेधपक्षेऽपि अनुस्वारागमः स्यात् ॥ ३ ॥

(नकार का) ऊष्म (-वर्ण) होना कहा गया है। "अवर्ण पूर्व में होने पर तो यकार और वकार लुप्त हो जाते हैं" इससे यकार का लोप (कहा गया है)। "अब मकार का लोप (कहा जाता है)" इससे मकार का लोप (कहा गया है)। रेफ होने से—"…"क। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है ॥ १ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मत में (आनुनासिक्य) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—एकेषाम्=कतिपय (आचार्यों) के; मत में पूर्ववर्ती सूत्रों में कहे गए (स्वरों) में आनुनासिक्य; न=नहीं, होता है। उदाहरण कह ही दिए गए हैं। यह (सूत्र) ही अभीष्ट है, पूर्ववर्ती (सूत्र) तो नहीं ॥ २ ॥

वै० अ०—एकेषाम्=कतिपय (आचार्यों) के; मत में पूर्वोक्त पूर्ववर्ती स्वरों में आनुनासिक्य-गुण; न=नहीं; होता है ॥ २ ॥

सू० अ०—उस (स्वर) से बाद में अनुस्वार (का आगम होता है)।

(क) वनस्पतीन्। अनु ॥ शुक्लान्। च। कृष्णान्। च ॥ शततर्हानिति शत—तर्हान्। तॄꣳहन्ति ॥ नीति। अमित्रान्। ओषतात् ॥ वनस्पतीन्। अनु ॥ शुक्लान्। च। कृष्णान्। च ॥ शततर्हानिति शत—तर्हान्। तॄꣳहन्ति ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।८ (२) २।३।१ (३) १।५।७
(४) १।२।१४ (५) १।१।२ (६) ४।२।८
(७) ७।३।४ (८) १।४।२० (९) ६।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—तत इति सर्वनाम्ना परामृष्टात् पूर्वस्वरात् परः; (अनुस्वारः=) अनुस्वारागमः, भवति। यथा—"स त्रीꣳरेकादशाꣳइह"[१]। परामृष्टस्वरस्यानुनासिक्यं गुणं तुशब्दो निवर्तयति। तस्मादनुनासिकप्रतिषेधपक्ष एवायमनुस्वारागमः स्यात्॥ ३॥

वै०—किन्तु—ततः=तस्मात्स्वरात्परम्; अनुवारस्वागमो भवति। "येवा वनस्पतीꣳरनु"[२]। "शुक्लाꣳइच कृष्णाꣳइच"[३]। "शततर्हाꣳस्तॄꣳहन्ति"[४]। "न्यमित्राꣳ ओषतात्"[५]। "प्रयुष्टꣳरक्षः"[६]। स्वमतस्थायमुपन्यासः। तत्रैकेषामित्युक्तिरविरुद्धा; अनुनासिकवादिभ्योऽन्यत्वात् स्वेषाम्। स्वमतेऽपि यकारश्रवणस्यानिष्टत्वात्तल्लोपपक्ष एवोदाहृत इत्यनुसन्धेयम्॥ ३॥

स्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः॥ ४॥

मा०—स्रादिषु च एकपदेषु ऊष्मपरे सति अनुस्वारागमो भवति। यथा—"शोँसामोद इव"[७]। एकपद इति किम्? "तं मा सँसृज वर्च्चसा"[८]। ऊष्मपर इति किम्? "याश्च माया मायिनां विश्वमिन्व"[९]॥ ४॥

त्रि० अ०—ततः—इस सर्वनाम से निर्दिष्ट पूर्ववर्ती स्वर से बाद में; (अनुस्वारः=) अनुस्वार का आगम; होता है। जैसे—"स त्रीꣳरेकादशाꣳइह"। तु शब्द निर्दिष्ट स्वर के आनुनासिक्य—गुण का निवारण करता है। इसलिए अनुनासिक के प्रतिषेध-पक्ष में ही यह अनुस्वार का आगम होगा[क]॥ ३॥

वै० अ०—ततः=उस स्वर से बाद में अनुस्वार का आगम होता है। "ये वा वनस्पतीꣳरनु"। "शुक्लाꣳश्च कृष्णाꣳश्च"। "शततर्हाꣳस्तॄꣳहन्ति"। "न्यमित्राꣳओषतात्"। "प्रत्युष्टꣳरक्षः"। यह अपने मत का कथन (प्रस्तुतीकरण) है। यहाँ 'एकेषाम्'=कतिपय आचार्यों के मत में—यह कथन अविरुद्ध है, क्योंकि अनुनासिक का विधान करने वाले (आचार्यों) से अपना अन्यत्व है। अपने मत में भी यकार का श्रवण अभीष्ट न होने के कारण उसके लोप के पक्ष का उदाहरण दिया गया है—यह समझना चाहिए॥ ३॥

सू० अ०—एक पद में स्र इत्यादि में भी ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर (अनुस्वार का आगम होता है)।

(क) तात्पर्य यह है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है और कतिपय आचार्यों के अनुसार पूर्ववर्ती स्वर से बाद में अनुस्वार का आगम होता है।

---

(१) ३।२।११	(२) ४।२।८	(३) २।३।१
(४) १।५।७	(५) १।२।१४	(६) १।१।२
(५) ३।२।६	(८) १।४।४५	(९) ३।१।११*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—आगमान्वादेशकः चकारः। स्रादिष्वेकपदे अखण्डपदे ऊष्मपरोऽनुस्वारागमो भवति। यथा—"शोꣳसामोद इव"[१]। स्रादिष्विति किम्? "तासां त्रीणि च"[२]। एकपद इति किम्! "तं मा सꣳसृज"[३]। अखण्डविशेषणेन किम्? "त्रिषाहस्रो वै"[४]। ऊष्मपर इति किम्? "माया मायिनाम्"[५] ॥ ४ ॥

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (अनुस्वार के) आगम का अन्वादेश करता है। स्रादिषु = स्र इत्यादि (पदों) में एकपदे=एक पद में, अखण्ड पद में; ऊष्मपरः=ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर; अनुस्वार का आगम होता है[क]। जैसे—"शोꣳसामोद इव"[ख]। स्रा इत्यादि में—यह क्यों (कहा)? "तासां त्रीणि च"[ख]। एक पद में—यह क्यों (कहा)? "तं मा सꣳसृज"[ग]। अखण्ड विशेषण से क्या (लाभ है)? "त्रिषाहस्रो वै"[घ]। ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने

(क) तै० प्रा० के सोलहवें अध्याय में स्र से प्रारम्भ करके उन सभी पदों को उल्लिखित किया गया है जिनमें तै० सं० में अनुस्वार उपलब्ध होता है। इन स्थलों से अतिरिक्त केवल उन्हीं स्थलों पर अनुस्वार उपलब्ध होता है, जहाँ वह २५।१—३ से प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र (१५।४) सोलहवें अध्याय के विस्तृत वर्णन के प्रति एक प्रकार की प्रस्तावना है और सोलहवें अध्याय के विधान में कतिपय सामान्य प्रतिबन्धों (सीमा—निर्धारण) का विधान करता है।

(क) शोꣳसा। मोदः। इव ॥ प० पा०
१६।२ से यहाँ अनुस्वार का आगम होता है।

(ख) सोलहवें अध्याय में उल्लिखित स्र इत्यादि में 'ता' का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः एक ही पद में 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर भी अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है।

(ग) यद्यपि १६।८ में उल्लिखित मा पद के बाद में ऊष्म-वर्ण है, तथापि अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि 'मा' और ऊष्मन् एक पद में स्थित न होकर भिन्न-भिन्न पदों में स्थित है।

(घ) सूत्र में स्थित 'एकपदे' = एक पद में—इस विशिष्ट निर्देश की व्याख्या में भाष्यकार ने 'अखण्डपदे' = खण्ड-रहित (अविभक्त) पद में' का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि सोलहवें अध्याय में उल्लिखित पद तथा परवर्ती ऊष्मन् को ऐसे एक पद में स्थित होना चाहिए जो एक होने के साथ-साथ खण्ड-रहित (अवग्रह-रहित) भी हो। इस तथ्य की पुष्टि के लिए भाष्यकार ने यह उदाहरण दिया है—"त्रिषाहस्रो वै" (त्रिषाहस्र इति त्रि—साहस्रः। वै ॥ प० पा०)।

---

(१) ३।२।६ (२) २।५।८ (३) १।४।४५
(४) ५।६।८ (५) ३।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(स्नादिषु =) "स्नशोहपाश"[१] इत्यादिषु; उत्तराध्यायभाविषु ग्रहणेषु यः शब्दः; स खलु; (एकपदे =) समानपदस्थे; (ऊष्मपरः =) ऊष्मणि परतः; परमनुस्वारमुपगच्छति। अनेनोत्तराध्यायवर्तिनां विधीनां नियमः क्रियते—ऊष्मपर एव शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति, समानपदस्थ एव ऊष्मणि परे इति। तेन "दꣳसनाभ्यो दꣳसोभिः"[२] इत्यादावानूष्मपरस्यानुस्वारागमो न भवति। तथा—"पाहि सोमम्"[३]। "दिवि हि सूर्यम्"[४] इति नानापदस्थेऽप्यूष्मणि परतः न भवति ॥ ४ ॥

नान्तविकारात् पूर्वः ॥ ५ ॥

मा०—न खलु पदान्तविकारात् पूर्वस्मिन् अनुस्वार आगमो भवति। यथा—"बर्हिस्ते अस्तु"[५]। "हि पुजिगा"[६] इति प्राप्तिः। अन्तविकारादिति किम्? "मा हिंसीद्विपादं पशूनाम्"[७] ॥ ५ ॥

पर—यह क्यों (कहा)? "माया मायिनाम्"[क] ॥ ४ ॥

वै० अ०—(स्नादिषु =) परवर्ती अध्याय में उल्लिखित "स्न, शो, ह, पा, श" इत्यादि पदों में; जो शब्द है वह; (एकपदे =) समान पद में स्थित; (ऊष्मपरः =) ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर; परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। इस (सूत्र) से बाद वाले अध्याय (१६।२–२५) में वर्तमान विधियों का नियम किया जाता है—(१) ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर ही शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है और (२) समान पद में स्थित ही ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर। इससे 'दꣳसनाभ्यो दꣳसोभिः" इत्यादि में अनूष्म (-वर्ण) बाद में होने पर अनुस्वार का आगम नहीं होता है[ख]। उसी प्रकार "पाहि सोमम्", "दिवि हि सूर्यम्"—इत्यादि में भिन्न पद में, ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर भी, (अनुस्वार का आगम) नहीं होता है ॥ ४ ॥

सू० अ०—(पद के) अन्त के विकारभूत (ऊष्मन्) से पूर्व में (अनुस्वार का आगम) नहीं (होता है)।

यहाँ १६।२४ में उल्लिखित 'त्रि' पद के बाद में ऊष्मन् (सकार = षकार) है। 'त्रि' और ऊष्मन् ये दोनों एक पद में विद्यमान है। तथापि यहाँ ऊष्मन् का आगम नहीं हुआ है क्योंकि 'त्रिषाहस्रः" एक अखण्ड पद नहीं, अपितु सखण्ड (सायग्रह) पद है।

(क) १६।८ में उल्लिखित 'मा' पद के बाद में ऊष्मन् नहीं है। अतः यहाँ अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है।

(ख) पाहि। सोमम् ॥ दिवि। हि। सूर्यम् ॥ प० पा०

---

(१) १६।२ (२) १६।१६ (३) १।४।३ (४) ६।१।११
(५) ३।३।१० (६) १६।१३ (७) ४।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—न खलु; (अन्तविकारात् =) पदान्तविकारात्; (पूर्वः =) पूर्वस्मिन्; अनुस्वारागमो भवति। यथा—"वहिस्ते अस्तु"[१]। "हिपुजिग"[२] इति प्राप्तिः। अन्त विकारादिति किम्? "मा हिꣳसीर्द्विपादम्"[३]। अन्तस्य विकारः अन्तविकारः तस्मा-दन्तविकारात्॥ ५॥

वै०—अन्तविकारादित्यूष्मविशेषणम्। पदान्तवर्णस्य विकारभूतादूष्मणः; (पूर्वः =) पूर्वशब्दः; परमनुस्वारं नोपगच्छति। यथा—"वहिस्ते अस्तु बालिति"[१]। "हिपुजिग"[२] इति प्राप्तिः॥ ५॥

अग्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्॥ ६॥

मा०—एकेषामाचार्याणां यानि समानाक्षराणि अग्रग्रहसंज्ञानि तान्यनुनासिकानि

त्रि० अ०—(अन्तविकारात् =) पदान्त के विकार से; (पूर्वः =) पूर्व में; अनुस्वार का आगम; न = नहीं; होता है। जैसे—"वहिस्ते अस्तु"[क]। "हि, पु जि, गा···" से (अनुस्वारागम की) प्राप्ति थी[ख]। अन्त के विकार से क्या (लाभ है)? "मा हिꣳसीर्द्विपादम्"[ग]। अन्त का विकार = अन्तविकारः, उससे = अन्तविकारात्॥ ५॥

वै० अ०—अन्तविकारात् = (पद के) अन्त के विकार से यह ऊष्म (-वर्ण) का विशेषण है। पदान्त वर्ण के विकारभूत ऊष्म (-वर्ण) से; (पूर्वः =) पूर्ववर्ती शब्दः अनुस्वार के आगम को; न = नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"वहिस्ते अस्तु बालिति"। "हि, पु, जि, गा ···"—इस (सूत्र) से प्राप्ति थी॥ ५॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मतानुसार अग्रग्रह (अर्थात् प्रग्रहों को छोड़ कर) समानाक्षर अनुनासिक (युक्त हो जाते हैं)।

(क) बहिः। ते। अस्तु॥ प० पा०

(ख) यहाँ एक अखण्ड पद में 'हि' के बाद में ऊष्मन् (सकार) है। अतः १६।१३ से सकार के पूर्व में अनुस्वार का आगम होना चाहिए। किन्तु ६।२ से यह सकार पद के अन्त में विद्यमान विसर्जनीय का विकार है और प्रकृत सूत्र में यह कह दिया गया है कि पद के अन्तर्भूत वर्ण के विकारस्वरूप 'ऊष्मन्' के पूर्व में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। अतः यहाँ अनुस्वार का आगम नहीं होता है।

(ग) हिꣳसीः। द्विपादमिति द्वि—पादम्॥ प० पा०
यहाँ ऊष्मन् किसी वर्ण का विकार नहीं है। अतः यहाँ १६।१३ से 'अनुस्वार' का आगम हो गया है।

---

(१) ३।३।१० (२) १६।१३ (३) ४।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन्ति। यथा—"दधि मधु"[१]। अप्रग्रहा इति किम्? "वैष्णवी इति"[२]। "हनू इति"[३] ॥ ६ ॥

त्रि०—यानि समानाक्षराणि; (अप्रग्रहाः=) अप्रग्रहसंज्ञानि; तानि एकेषां मते भवन्त्यनुनासिकानि। यथा—"कुलायिनी वसुमति"[४]। अप्रग्रहा इति किम्? "अमी इति"[५]। "तनू इति"[६]। समानाक्षराणीति किम्? "सो एवैषैतस्य"[७]। प्रग्रहाक्षरशब्दयोर्नियतलिङ्गतया परस्परान्वयो घटते। न प्रग्रहाः अप्रग्रहाः ॥ ६ ॥

वै०—अप्रग्रहा इति प्रग्रहव्यतिरिक्तानां तत्सदृशानामेव ग्रहणम्; यथा—अब्राह्मण इति क्षत्रियादेः। तदयमर्थः—प्रग्रहव्यतिरिक्तानि पदान्तभूतानि समानाक्षराण्यनुनासिकानि भवन्ति इत्येकेषां मतम्। यथा—"तस्य त्राता भवसि"[८]। "यशो मयि दधती

त्रि० अ०—जो; समानाक्षराणि=समानाक्षर; (अप्रग्रहाः=) प्रग्रहसंज्ञक नहीं; (होते हैं) वे; एकेषाम्=कतिपय (आचार्यों) के मत में; अनुनासिकानि=अनुनासिक; होते हैं[क]। जैसे—"कुलायिनी वसुमती"। अप्रग्रह—यह क्यों (कहा)? "अमी इति"[ख]। तनू इति"[ख]। समानाक्षर—यह क्यों (कहा)? "सो एवैषैतस्य"[ग]। प्रग्रह और (समान) अक्षर का नियत लिङ्ग होने से परस्पर अन्वय घटित होता है"[घ] जो प्रग्रह नहीं है=अप्रग्रह ॥ ६ ॥

वै० अ०—अप्रग्रहाः—इससे प्रग्रह से भिन्न उसके समान ही (स्वरों) का ग्रहण होता है; जैसे—'अब्राह्मण यह (कहने पर) क्षत्रिय आदि का (ग्रहण होता है)। इससे यह अर्थ हुआ—प्रग्रह से व्यतिरिक्त पदान्तवर्ती; समानाक्षराणि=समानाक्षर; अनुनासिकानि=अनुनासिक; होते हैं—यह; एकेषाम्=कतिपय

(क) कतिपय आचार्यों के अनुसार समानाक्षर-संज्ञक स्वर—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ तथा ऊ३—अनुनासिक उच्चारित होते हैं, यदि वे प्रग्रह न हों। यद्यपि तै० प्रा० (१५।६) के अनुसार अप्लुत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, इत्यादि को भी अवसान में अनुनासिक हो जाना चाहिए, किन्तु लिखित संहिता में केवल प्लुत आ३, ई३, ऊ३ का अवसान में अनुनासिक रूप दिखलाया जाता है।

(ख) प्रग्रह होने के कारण ईकार तथा ऊकार अनुनासिक नहीं हुए हैं।

(ग) यद्यपि 'सो' प्रग्रह नहीं है, तथापि यह समानाक्षर-संज्ञक नहीं है, अतः यह अनुनासिक नही होता है।

(घ) 'प्रग्रह' शब्द सर्वदा पुल्लिङ्ग तथा सभी लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इसका लिङ्ग निश्चित है। यही कारण है कि 'अप्रग्रह' पुल्लिङ्ग होने पर भी नपुंसकलिङ्गवाची 'समानाक्षर' का विशेषण है।

---

(१) २।३।२ (२) १।३।२ (३) ६।२।११ (४) ४।३।४
(५) ३।३।७ (६) २।२।७ (७) २।२।६ (८) १।२।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणान्"[१]। "मधु मधुनाऽभि योधि"[२]। अग्रग्रहा इति किम्? "द्वेधेनू भौमी"[३]। समानाक्षराणीति किम्? नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे"[४] ॥ ६ ॥

पदं च प्लुतꣳशाङ्खायनकाण्डमायनयोः ॥ ७॥

मा०—शांखायनकाण्डमायनयोराचार्ययोः पदं च प्लुतं अनुनासिकं भवति। यथा—"त्वी३इत्यब्रवीत्"[५]। पदमिति किम्? संहितायां मा भूत्। चकारः पूर्वसूत्रोक्तविधिं समुच्चिनोति। अपर आहुः—प्लुतैकवर्णं पदमिति अन्यदनुनासिकं भवति। मा भूत्। यथा—"छिनत्ती३ इति"[६] ॥ ७ ॥

त्रि०—यत्; (प्लुतम्=) प्लुतवत्; पदम् तच्च पदकाले शाङ्खायनकाण्डमायनयोर्मते अनुनासिकं भवति। यथा—"त्वी३ इत्यब्रवीत्"[५]। "अस्तु ही३ इत्यब्रूताम्"[७]। पदमिति किम्? संहितायां मा भूत्। चशब्दः पूर्वसूत्रोक्तविधेयसमुच्चयं

(आचार्यों) का; मत है। जैसे—"तस्य त्राता भवसि"। "यशो मयि दधति प्राणान्"। "मधु मधुनाऽभि योधि"। अग्रग्रह यह क्यों (कहा)? "द्वेधेनू भौमी"। समानाक्षर—यह क्यों (कहा)? "नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे"[क] ॥ ३ ॥

सू० अ०—शाङ्खायन और काण्डमायन (आचार्यों) के मत में प्लुत पद भी (अनुनासिक होता है)।

त्रि० अ०—जो; (प्लुतम्=) प्लुतयुक्त; पद है वह; च = भी; पद-पाठ में; शाङ्खायनकाण्डमायनयोः=शाङ्खायन और काण्डमायन (आचार्यों) के मत में; अनुनासिक होता है। जैसे—"त्वी३ इत्यब्रवीत्"। "अस्तु ही३ इत्यब्रूताम्"। पद—यह क्यों (कहा)? संहिता (-पाठ) में न हो जाये[ख]। च शब्द पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त विधेय (अनुनासिकत्व) का समुच्चय करता है। दूसरे (आचार्य)

(क) तस्य। त्राता। असि॥ यशः। मयि। दधती। प्राणानिति प्र—अनान्॥ मधु। मधुना। अभीति। योधि॥ द्वे इति। धेनू इति। भौमी इति॥ नियुद्भिरिति नियुत्—भिः। वायो। इष्टये। दुरोणे॥ प० पा०

(ख) सूत्र में प्रयुक्त 'पदम्' शब्द का अर्थ है पद-पाठ में विद्यमान पद। संहिता-पाठ में प्लुत-पद अनुनासिक गुण से युक्त न हो जाये इसलिए सूत्र में 'पदम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। शाङ्खायन और काण्डमायन आचार्यों के अनुसार पद-पाठ में विद्यमान प्लुत-पद अनुनासिक गुण से युक्त होता है। दोनों उदाहरण संहिता-पाठ से दिये गये हैं। सूत्र के अनुसार विहित रूप ये होंगे—त्वीँ३, हीँ३।

---

(१) ३।१।१० (२) ३।५।१० (३) ५।६।२१ (४) २।२।१२
(५) २।४।१२ (६) १।७।२ (७) ७।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करोति। अपरे त्वाहुः—प्लुतैकस्वरं पदमिति अन्यत्मा भूत्। "न छिनत्तीऽ इति"[1]। "न विचित्याऽ इति"[2] नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ७ ॥

वै०—चशब्देन समानाक्षराण्यनुनासिकानीत्यन्वादिश्यन्ते। इह तु पदमित्येकवचन-श्रवणादेकवचनान्ततया विपरिणामः। तदयमर्थः—प्लुतं समानाक्षरं पदान्तभूतं पदं पदा-वस्थायां अनुनासिकं भवति; (शाङ्खायनकाण्डमायनयोः =) शांखायनस्य काण्डमायनस्य च; मतात्। पदमिति संहिताधिकारस्यापवादः। यथा—"छिनत्ति। सा। न। छिनत्तीऽ इति"[1]। "सहस्राऽम्"[3]। "जुहवानीऽ"[3]। "अन्विति। एतीऽ"[1]। पदमिति किम्? संहितायां मा भूत्। "सा न छिनत्तीऽ इति"[1]। "जुहवानीऽ मा"[3]। "अन्वे-तीऽ सहस्रतमीꣳसहस्राऽम्"[1] इति। प्लुतमिति किम्? "तस्य त्राता भवसि तस्य सखा"[5] नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ७ ॥

अकारस्तु सꣳहितायामपि ॥ ८ ॥

मा०—अकारः प्लुतः संहितायामपि पदकालेऽपि अनुनासिको भवति। यथा—"सु-श्लोकाऽम् सुमङ्गलाऽम्"[6] "यद्प्राऽम्"[7]। इत्यन्यस्यां शाखायाम्। संहितायामपीति किम्?

कहते हैं कि यह सूत्र उसी पद पर लागू होता है जिसमें एक (अकेला) प्लुत स्वर हो (अर्थात् एक स्वर वाले प्लुत पद पर ही यह सूत्र लागू होता है—अन्यत्र (लागू) नहीं होता है। जैसे "न छिनत्तीऽ इति" और "न विचित्याऽ इति" (इत्यादि बहुत स्वरों वाले पदों पर यह सूत्र लागू नहीं होता है)। ये दो सूत्र (१५।६-७) अभीष्ट नहीं हैं।

वै० अ०—च शब्द से 'समानाक्षर' 'अनुनासिक' (होते हैं) का अन्वादेश किया जाता है। यहाँ पर तो पदम्—इस एकवचन के श्रवण से एकवचन के के अनुसार विपरिणाम होता है। इससे यह अर्थ है—पदान्तरूप प्लुत समानाक्षर पद; (शाङ्खायनकाण्डमायनयोः =) शाङ्खायन और काण्डमायन (आचार्य) के; मत से पद-पाठ की अवस्था में; अनुनासिक होता है। पद—इससे संहिता के अधिकार का निषेध होता है। जैसे—"छिनत्ति। सा। न। छिनत्तीऽ। इति"। "सहस्राऽम्"। "जुहवानीऽ"। "अन्विति। एतीऽ"। पद-पाठ यह क्यों (कहा)? संहिता में न हो जाये। "सा न छिनत्तीऽ इति"। "जुहवानीऽ मा"। "अन्वेतीऽ सहस्रतमीꣳसहस्राऽम्"। प्लुत—यह क्यों (कहा)? "तस्य त्राता भवसि तस्य सखा"। ये दो सूत्र (१५।६,७) अभीष्ट नहीं हैं ॥ ७ ॥

सू० अ०—अकार तो संहिता पाठ में भी (अनुनासिक होता है)।

---

(१) १।७।२ (२) ६।१।६ (३) ७।१।७
(४) ६।५।६ (५) १।२।१४ (६) १।५८
(७) १।८।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुश्लोका३म् इति सु-श्लोकाम्"[१]। आचार्यपक्षविनिवर्त्तकस्तुशब्दः। अतः शांखायन-काण्डमायनयोरप्ययं विधिः॥ ८॥

त्रि०—सान्निध्यादनुनासिकप्लुतौ गृह्येते। तुशब्दः प्राकृताचार्यमतनिवर्तकः। अत एव; (संहितायामपि=) संहितायामसंहितायां च; अकारः पदान्तः प्लुतोऽनुनासिको भवति। यद्यप्यकार इति सामान्येनोक्तः, तथाऽपि "अन्वादेशोऽन्त्यस्य"[२] इतिवचनादपि-शब्दोऽनुनासिकधर्मतया निमित्तिनं पदान्तमेवाकारमन्वादिशति। यथा—"सुश्लोकाँ३ सुमंगला३म्"[३]। "उपहूता३म्"[४]। "यशो ममाँ३म्"[५]। "यद्ग्राँ३म्"[६] इत्यन्यस्यां शाखायाम्। अपिशब्दः किमर्थः "सत्यराजा३न्"[७]। "अग्ना३ इत्याह"[८]। "विचित्यस्सोमा३न विचित्या३ इति"[९]। शाङ्खायनकाण्डमायनयोरप्ययं विधिरकारप्लुते सम्मतः॥ ८॥

त्रि० अ०—सान्निध्य के सामर्थ्य से (पूर्ववर्ती सूत्र से) अनुनासिक और प्लुत का ग्रहण होता है। तु शब्द प्राकृत आचार्यों के मत का निवर्त्तक है[क]। इसलिए; (संहितायामपि=) संहिता में तथा असंहिता (=पद-पाठ) में; पदान्त प्लुत अकार अनुनासिक होता है। यद्यपि अकार समान्य रूप से कहा गया है तब भी "अन्वादेश अन्त्य का (होता है)" इस वचन से अपि शब्द अनुनासिक धर्म प्राप्त करने वाले निमित्तिन् (कार्यभाक्) के रूप में पदान्त ही अकार का अन्वादेश करता है। जैसे—"सुश्लोकाँ३ सुमंगला३म्"। "उपहूता३म्"। "यशो ममाँ३म्"। "यद्ग्राँ३म्"—यह अन्य शाखा में है। 'अपि' शब्द किसलिए (प्रयुक्त हुआ है)? "सत्यराजा३न्"। "अग्ना३ इत्याह"। "विचित्यस्सोमा३न विचित्या३ इति"[ख]। शांखायन और काण्डमायन के मत में भी यह विधि प्लुत अकार में सम्मत है अर्थात् शाङ्खायन और काण्डमायन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं)॥ ८॥

(क) प्रकृत सूत्र (१४।८) में केवल शाङ्खायन और काण्डमायन का मत प्रस्तुत किया गया है—इस बात का निषेध 'तु' शब्द के द्वारा ज्ञात होता है।

(ख) सुश्लोकाँ३ इति सु—श्लोकाँ३। सुमङ्गलाँ३ इति सु—मङ्गलाँ३॥ उपहूता३म् इत्युप—हूता३म्॥ यशः। ममा३म्॥ सत्यराजा३नितिं सत्य—राजा३न्॥ अग्ना३ इ। इति। आह॥
विचित्य इति वि—चित्यः। सोमा३ः। न॥ प० पा०

---

(१) आ० ५।१ (२) १।५८ (३) १।८।१६
(४) २।६।७ (५) ७।४।२० (६) आ० ५।१
(७) १।८।१६ (८) ६।५।८ (९) ६।१।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तुशब्दः परमतं व्यावर्तयति। अपिशब्दस्समुच्चये। तेनेदं स्वमतमिति सिद्धम्। अकारः पदान्तः प्लुतः संहितायामनुनासिको भवति। अपिशब्दात्पद-विभागेऽपि। "सुश्लोकाँ३ सुमंगलाऽ३म्"[१]। "उपहूताऽ३म्"[२]। "यशो ममाऽ३म्"[३]। सुश्लोक सुमङ्गल उपहूतेत्यामन्त्रितैकवचनान्तानां अकारान्तप्रतिपदिकानां प्लुतान्तानामेतानि रूपाणि। "शाचीऽ३न् यशोमम"[४]। इत्यस्मच्छब्दषष्ठ्येकवचनान्तस्यामन्त्रितात्परस्य पूर्वाङ्गत्वस्मरणात् "आमन्त्रितस्य च"[५] इति पदद्वयस्यैकवद्भूतस्याद्युदात्तस्य सत आमन्त्रित-लक्षण एव प्लुतादेशः। तस्मादेषां प्लुतानामकारः प्रकृतिः॥ "सुश्लोकाँ३ इति सु—श्लोकाऽ३म्"[६]। "सुमङ्गलाँ३ इति सु—मङ्गलाऽ३म्"[६]। "उपहूताँ३ इत्युप—हूताऽ३म्"[७] "यशः। ममाऽ३म्"[८]। अकार इति किम्? "छिनत्तीऽ३। इति"[९]। "अग्नाऽ३ इति"[१०]। पदान्त इति किम्? "ब्रह्माऽ३न्"[६]। प्लुत इति किम्! "न ह स्म वै पुराऽग्निः"[११]॥ ८॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) तु शब्द 'परमतम्' (दूसरे का मत है इसकी) की व्यावृत्ति करता है। अपि शब्द समुच्चय (अर्थ) में (प्रयुक्त है)। इससे यह अपना मत है—यह सिद्ध होता है। पदान्त प्लुत अकार; संहितायाम्= संहिता-पाठ में; अनुनासिक होता है। अपि शब्द से सूचित होता है कि पद-पाठ में भी (पदान्त प्लुत अकार अनुनासिक होता है)।—। "सुश्लोकाँ३ सुमङ्गलाऽ३म्" "उपहूताऽ३म्"। "उपहूताऽ३म्"। "यशोममाऽ३म्"। सुश्लोक, सुमङ्गल, उपहूत—इन सम्बोधन एकवचनान्त अकारान्त प्रातिपदिकों के ये प्लुत में अन्त होने वाले रूप हैं। "शाचीऽ३न् यशो मम"[क] यहाँ अस्मत् शब्द का षष्ठी विभक्ति एकवचनान्त (मम पद) सम्बोधन से बाद में स्थित होने के कारण पूर्ववर्ती (यशः पद) का अङ्ग है, अतः "सम्बोधन पद का प्रथम अक्षर उदात्त होता है" इस सूत्र के अनुसार दो पद मिलकर एक आद्युदात्त सम्बोधन पद बन जाते हैं और सम्बोधन होने के कारण ही (यशो मम) में प्लुत का आदेश हुआ है। इसलिए इन प्लुतों की प्रकृति अकार है (जो प्लुत और अनुनासिक हो गया है)। "सुश्लोकाँ३ इति सु—श्लोकाऽ३म्"। सुमङ्गलाँ३ इति सु—मङ्गलाऽ३म्"। "उपहूताँ३ इत्युप—हूताऽ३म्"। "यशः। ममाऽ३म्"। अकार-यह क्यों (कहा)? "छिनत्तीऽ३ इति" "अग्नाऽ३ इति"। पदान्त—यह क्यों (कहा)? "ब्रह्माऽ३न्"। प्लुत—यह क्यों (कहा)? "न ह स्म वै पुराऽग्निः"।

(क) शाचीऽ३ न्। यशः। ममाऽ३म्॥

---

(१) १।८।१६ (२) २।६।७ (३) ७।४।२० (४) ७।४।२०
(५) पा० ६।१।१९८ (६) १।८।१६ (७) २।६।७ (८) ७।४।२०
(९) १।७।२ (१०) ६।५।८ (११) ५।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वमेकयमं पूर्वेषामसर्वमेकयमं पूर्वेषाम् ॥ ९ ॥

मा०—तानः, यज्ञकर्म्मणि ब्रह्मेशानप्रभृतीनां सर्वमेकयमं भवति। तस्मादेकश्रुत्यैव यज्ञकर्म्मसु मन्त्रा अभिधीयन्ते ॥ ९ ॥

त्रि०—सर्वं वर्णजातमेकयमं एकश्रुतीति पूर्वेषां मतम्। यमो नाम स्वरः, उदात्त इत्यर्थः। पूर्वे नाम याज्ञिकाः, तेषां यज्ञकर्मणि सर्वमेकश्रुति भवति। अन्ये मन्यन्ते, पूर्वे नाम केचिच्छाखिनः, तेषां सर्वमेकश्रुतीति। अथापरे कथयन्ति—सर्वमेकस्वरमनुनासिकं भवतीति, समानाक्षरमात्रापेक्षामधिक्षेप्तुम्। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ ९ ॥

वै०—यमशब्दोऽक्षरगुणभूत उदात्तादिस्वरे वर्तते। सर्वमक्षरजातम् (एकयमम् =) एकस्वरम् = एकश्रुतिस्वरेण; प्रयोक्तव्यमिति पूर्वेषां मतम्। पूर्वे वैयाकरणाः। एतच्छास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं कृतवन्तो हि ते। अथ पूर्वे विद्वांस इति विद्वदपेक्षं प्राथम्यं

सू० अ०—पूर्ववर्ती (आचार्यों) के अनुसार सबका समान रूप से श्रवण होता है।

त्रि० अ०—सर्वम् = सम्पूर्ण; वर्ण—समूह; एकयमम् = एकश्रुति (समान रूप से सुनाई पड़ने वाला) (होता है)—यह; पूर्वेषाम् = पूर्ववर्ती (लोगों) का; मत है। यम का अर्थ है—स्वर = उदात्त यह अर्थ है। याज्ञिकों को पूर्ववर्ती आचार्य कहा गया है। उनके मत से यज्ञ-कर्म में सब (अक्षरों का श्रवण समान रूप से होता है। दूसरे लोग मानते हैं, कुछ शाखिन् (आचार्यों) को पूर्ववर्ती (आचार्य) कहा गया है, उनके मत से सब (अक्षरों) का समान रूप से श्रवण होता है। इनसे भी दूसरे कहते हैं—सर्वम् = सभी; (एकयमम् =) एक 'स्वर' (एकाक्षर स्वर) अनुनासिक होते हैं, समानाक्षर की अपेक्षा की निवृत्ति करने के लिए[क]। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है ॥ ९ ॥

वै० अ०—'यम' शब्द अक्षर के गुणभूत उदात्त आदि 'स्वर' अर्थ में विद्यमान है। सर्वम् = सम्पूर्ण; अक्षर-समूह; (एकयमम् =) एक स्वर = एकश्रुति स्वर से; प्रयुक्त होना चाहिए—यह; पूर्वेषाम् = पूर्ववर्ती (आचार्यों) का मत है। वैयाकरण पूर्ववर्ती आचार्य हैं। क्योंकि उन्होंने इस शास्त्र के मूल-भूत व्याकरण का

(क) इस सूत्र के तीन व्याख्यान प्रस्तुत किए गए हैं—(१) याज्ञिकों का मत है कि सभी वर्णों का समान-रूपेण 'उदात्त' 'स्वर' से उच्चारण होता है; (२) कुछ शाखिन् का मत है कि सब वर्णों का उच्चारण समानरूपेण 'उदात्त' 'स्वर' से होता है। यह प्रथम मत से इतना ही भिन्न है कि इसके अनुसार यह मत याज्ञिकों का नहीं अपितु कतिपय अन्य शाखिन् का हैं; (३) इसे लोग कहते हैं कि १५।६ में जो यह कहा गया है कि 'अग्रग्रह' 'समानाक्षर' 'अनुनासिक' होते हैं—वह ठीक नहीं है। तभी स्वर अनुनासिक होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेषाम्। प्रथमे हि वैयाकरण इति प्रसिद्धेः। ते हि वेदाध्ययने ऐकश्रुत्यं विकल्पयन्ति "विभाषा छन्दसि"[1] इति। न तु पूर्वशब्देन याज्ञिका उच्यन्ते, तद्व्यपदेशाप्रसिद्धेः। न च ते सर्वं वेदमेकश्रुत्या प्रयुञ्जते। अपि तु उपांशुप्रयोगन्यूङ्खसामव्यतिरिक्तमेव। न च तत्रत्यमैकश्रुत्यं याज्ञिकानामेवाभिमतम्। किन्तु सर्वेषामाचार्याणाम्। अतएव व्याकरणे स्मर्यते—"यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु"[2] इति। तस्माद्यथोक्त एव युक्तस्सूत्रार्थः। नेदं सूत्रमिष्टम्॥ ९॥

प्रणयन किया है। पूर्ववर्ती विद्वान् होने के कारण (अन्य) विद्वानों की अपेक्षा उनका प्राथम्य है। वैयाकरण प्रथम आचार्य हैं—यह प्रसिद्ध है। वे ही "वेद में विकल्प है" इस (सूत्र) के द्वारा वेदाध्ययन में एकश्रुति को विकल्प से मानते हैं। पूर्व शब्द से यज्ञिकों को नहीं कहा जाता है, क्योंकि उन (याज्ञिकों) के लिए यह नाम प्रसिद्ध नहीं है। और वे सम्पूर्ण वेद का उच्चारण एकश्रुति से नहीं करते हैं। अपितु उपांशुप्रयोग, न्यूङ्ख और साम से व्यतिरिक्त ही (वेद का प्रयोग एकश्रुति से करते हैं)। और तत्रत्य ऐकश्रुत्य याज्ञिकों को ही अभिमत नहीं है, किन्तु सभी आचार्यों को (अभिमत है)। इसलिए व्याकरण में कहा गया है—"जप, न्यूङ्ख और साम (मन्त्रों) को छोड़कर यज्ञकर्म में एकश्रुति होती है"। इसलिए सूत्र का पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है॥ ९॥

---

(१) पा० १।२।३६ (२) पा० १।२।३४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ षोडशोऽध्यायः

अथ सकारपराः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। सकारपर इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। इत उत्तरे ग्रहणविशेषाः सकारपरा इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। सकारः परो येभ्यस्ते सकारपराः ॥ १ ॥

वै०—अस्मिन्नध्याये पदमध्यवर्तिभ्य ऊष्मभ्यः पूर्वे अनुस्वारा विधीयन्ते। ङकारानुनासिकादिसन्देहनिवृत्त्यर्थम् अनुस्वारत्वे निश्चिते ङकारः पूर्वस्वरानुनासिक्यं च न भवतीति गम्यते। तत्रैवमुक्तं पूर्वाध्याये "स्नादिषु चैकपद ऊष्मपरः"[१] इति। तत्रादितः केषांचित्; (सकारपराः=) सकार एव परतः; अनुस्वारागम इति नियमार्थोऽयमधिकारः ॥ १ ॥

सू० अ०—अब सकारपर (सकार है बाद में जिनसे उन पदों का अधिकार जानना चाहिए)।

त्रि० अ०—अथ यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे परवर्ती पदविशेष; सकारपराः=सकार है बाद में जिनसे ऐसे; हैं—यह जानना चाहिए। सकार है बाद में जिनसे वे = सकारपराः ॥ १ ॥

वै० अ०—इस अध्याय में पद के मध्य में वर्तमान ऊष्म-वर्णों से पूर्व में अनुस्वारों का विधान किया जाता है। ङकार अनुनासिक इत्यादि के सन्देह की निवृत्ति के लिए अनुस्वारत्व के निश्चित हो जाने पर ङकार और पूर्ववर्ती स्वर का आनुनासिक्य नहीं होता है—यह ज्ञात हो जाता है। इसलिए पूर्ववर्ती अध्याय में इस प्रकार कहा गया है—"एक पद में स्न इत्यादि में भी ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर (अनुस्वार का आगम होता है)"। उन (पदों) में से कतिपय (पदों) में; (सकारपराः=) सकार ही बाद में होने पर; अनुस्वार का आगम होता है—इस नियम के लिए यह अधिकार (किया गया है)[क] ॥ १ ॥

(क) १५।१४ में यह विधान किया गया है कि एक पद में ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर 'स्न' इत्यादि पदों में अनुस्वार का आगम हो जाता है। अब १६।१ से १६।१४ तक उन स्थलों का विधान किया जायेगा जहाँ सकार बाद में होने पर अनुस्वार का आगम होता है।

---

(१) १५।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नशोहपाशपदादयः स्वरपरे ॥ २ ॥

मा०—स्न, शो, ह, पा, श, पदादयः स्वरपरे। इत्येतेषु च पदादिषु सकारे स्वरपरे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"यतस्र वि स्रँसयेत्"[१]। "शोँसा मोद इव"[२] इति। "हँसः शुचिषत्"[३]। "पाँसून्"[४]। "प्रान्यः शँसति यः"[५]। पदादय इति किम्? "अग्निरुक्थेन वाहसा"[६]। स्वरपर इति किम्? "सजनीयँ शस्यं विहव्यँ शस्यम्"[७] ॥२॥

त्रि०—स्न, शो, ह, पा, श इत्येते ग्रहणविशेषाः पदादयः सकारपराः, तस्मिन् सकारे स्वरपरे सत्यनुस्वारागमं भजन्ते। यथा—"विस्रꣳसयेदमेहेनाध्वर्युः"[१]। शोꣳसामोद इव"[२]। ओकारेण किम्? "आशासाना"[८]। "हꣳसश्शुचिषत्"[३]। ह्रस्वेन किम्? "प्रजा मा मा हासीत्"[९]। "पाꣳसुर इरावती"[१०]। दीर्घेण किम्? "आहतं गभे पसः"[११]। "यदासीनश्शꣳसति"[१२]। पदादय इति किम्? "अग्निरुक्थेन वाहसा"[६]। "सोमं पिपासेत्"[१३]। "दहाशसः"[१४]। स्वरपरे इति किम्? "तस्मात्स विस्रस्यः"[१५]। "हस्तयोः"[१६]। "कविशस्ताः"[१७]। केचिदत्र सूत्रे हिम्रहणमङ्गीकुर्वते। तदनुपपन्नं, पदादय इति नियमात्। "अहिꣳसार्यै[१८] इत्यत्रानुस्वाराभावप्रसङ्गात्। ननु

सू० अ०—पद के आदि में वर्तमान स्न, शो, ह, पा, श (सकार बाद में होने पर अनुस्वारागम को प्राप्त करते हैं) (यदि परवर्ती सकार के) बाद में स्वर हो।

त्रि०अ०—पदादयः = पद के आदि में वर्तमान; स्न, शो, ह, पा, श—ये पद-विशेष, सकार बाद में होने पर और सकार के बाद में; स्वरपरे = स्वर होने पर; अनुस्वार के आगम को प्राप्त करते हैं। जैसे—"विस्रꣳसयेदमेहेनाध्वर्युः"। "शोꣳसामोद इव"। ओकार से क्या (लाभ है)? "आशासाना"। "हꣳसश्शुचिषत्"। ह्रस्व से क्या (लाभ है)? "प्रजा मा मा हासीत्"। "पाꣳसुर इरावती"। दीर्घ से क्या (लाभ है)? "आहतं गभे पसः"। "यदासीनश्शꣳसति"। पद के आदि में वर्तमान—यह क्यों (कहा)? "अग्निरुक्थेन वाहसा" "सोमं पिपासेत्"। "दहाशसः"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तस्मात्स विस्रस्यः"। "हस्तयोः"। "कविशस्ताः"[क]। कतिपय (आचार्य)

(क) विस्रꣳसयेदिति वि-स्रꣳसयेत् ॥ शोꣳसा। मोदः ॥ आशासानेत्या-शासाना ॥ हꣳसः। शुचिषदिति शुचि-सत् ॥ प्रजेति प्र-जा। मा। मा। हासीत् ॥ पाꣳसुरे। इरावती इतीरा-वती ॥ आहतमित्या-हतम्। गभे। पसः ॥ यत्।

---

(१) ६।२।६	(२) ३।२।६	(३) १।८।१५	(४) २।६।१०
(५) ७।५।६	(६) १।५।११	(७) ७।५।५	(८) १।१।१०
(९) ५।६।८	(१०) १।२।१३	(११) ७।४।१६	(१२) ३।२।६
(१३) २।१।१०	(१४) १।२।१४	(१५) ६।२।६	(१६) ४।१।५
(१७) २।६।१२	(१८) ५।२।८		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हिꣳसीः परमे"[1] इत्येतदत्रोदाहरणमिति चेत् मैवम्। "हिपुजिगा"[2] इत्यत्र नियमाभावात् पदादावपदादौ च हिग्रहणस्य कार्यसिद्धेः पुनरत्र ग्रहणं व्यर्थम्। स्वरः परो यस्मादसौ स्वरपरः तस्मिन् ॥ २ ॥

वै०—स्न, शो, ह, पा, श इत्येते शब्दाः; (पदादयः =) पदादिभूताः; परमनुस्वारमुपगच्छन्ति; (स्वरपरेः =) स्वरे पदादौ परतः। स्न—"विस्नꣳसयेत्"[3]। शो—

इस सूत्र में 'हि' पद को स्वीकार करते हैं। वह असङ्गत है, क्योंकि 'पद के आदि में होने पर'—यह नियम होने से, "अहिꣳसायै"—यहाँ अनुस्वार के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा[क]। (शंका) "हिꣳसीः परमे"—यह उदाहरण यहाँ (सिद्ध) हो जाता है। (समाधान) ऐसी बात नहीं है। "हि, पु, जि, गा ··"—यहाँ नियम का अभाव होने से पदादि और अपदादि 'हि' पद के कार्य की सिद्धि हो जाने से पुनः यहाँ (उसका) ग्रहण व्यर्थ है[ख]। स्वर है बाद में जिससे वह= स्वरपर; उसमें ॥ २ ॥

वै० अ०—(स्वरपरे=) वह (सकार) है आदि में जिसके ऐसा 'स्वर'

आसीनः। शꣳसति ॥ अग्निः। उक्थेन ॥ दह। अशसः ॥ तस्मात्। सः। विस्नस्य इति वि-स्नस्यः ॥ हस्तयोः ॥ कविशस्ता इति कवि-शस्ताः ॥ प० पा०

(क) कुछ आचार्य इस सूत्र में 'हि' को भी स्वीकार करते हैं अर्थात् अन्य शब्दों के साथ साथ वे इस सूत्र में 'हि' इस शब्द का भी ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में यह मानना होगा कि 'हि' के बाद में 'अनुस्वार' का आगम सिद्ध होता है। उस अवस्था में "अहिꣳसायै" में अनुस्वार का आगम नहीं होगा क्योंकि 'हि' पद के आदि में नहीं है और प्रकृत सूत्र के अनुसार पद के आदि में विद्यमान ही स्न इत्यादि शब्दों के बाद में अनुस्वार का आगम होता है।

(ख) पूर्वपक्षी—"अहिꣳसायै" में अनुस्वार का आगम १६।१३ से सिद्ध हो जायेगा और "हिꣳसीः परमे" प्रकृत सूत्र में गृहीत हि का उदाहरण बन जायेगा।
सिद्धान्ती—१६।१३ में ऐसा नियम नहीं है कि पद के आदि में अविद्यमान 'हि' के बाद अनुस्वार का आगम होता है पद के आदि में विद्यमान नहीं। १६ १३ के अनुसार स्वर है बाद में जिसके ऐसा सकार बाद में होने पर 'हि' के बाद में अनुस्वार का आगम होता है, चाहे वह 'हि' पद के आदि से विद्यमान हो अथवा अन्यत्र। इस प्रकार "अहिꣳसायै" और "हिꣳसीः परमे"—इन दोनों स्थलों पर अनुस्वार की सिद्धि १६।१३ से ही हो जाती है। अतः प्रकृत सूत्र में 'हि' का ग्रहण व्यर्थ होगा।

---

(१) ४।२।१० (२) १६।१३ (३) ६।२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शोꣳसामोदः"[१]। ह—"हꣳसश्शुचिषत्"[२]। "हꣳसैरिव"[३]। पा—"पाꣳसुरे"[४]। "प्रस्कण्व पाꣳसून्"[५]। श—"अभिशꣳसेयुरपूता"[६]। "उपाꣳशु शꣳसति"[७]। पदादय इति किम्? "स्वस्तिगामनेहसम्"[८]। "पेशो मर्या अपेशसे"[९]। स्वरपर इति किम्? "तस्माथ्स विस्रस्यः"[१०]। "पूष्णो हस्ताभ्याम्"[११]। "सजनीयꣳशस्यम्"[१२] ॥ २ ॥

विकृतेऽपि ॥ ३ ॥

मा०—विकारमापन्नेऽपि स्वरे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"रक्षाँस्यपहँ-ऽस्यग्ने"[१३] ॥ ३ ॥

त्रि०—अपिशब्दः स्वरान्वादेशकः। सकारात् परे तस्मिन् स्वरे; (विकृतेऽपि=) विकृतिमापन्नेऽपि=व्यञ्जनतामुपगतेऽपि; स्यादनुस्वारविधिः। यथा—"अपहꣳस्यग्ने"[१३] ॥३॥

बाद में होने पर; (पदादयः=) पदादिभूत; स्न, शो, ह, पा, श—ये शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं।—क ॥ २ ॥

सू० अ०—विकृत भी (स्वर) बाद में होने पर (स्न, शो इत्यादि अनुस्वार को प्राप्त करते हैं)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) अपि शब्द स्वर का अन्वादेश करता है। सकार से बाद में स्थित उस 'स्वर' के; (विकृतेऽपि=) विकार को प्राप्त कर लेने पर भी=व्यञ्जन हो जाने पर भी; अनुस्वार-विधि होती है। जैसे—"अपहꣳस्यग्ने"ख ॥ ३ ॥

(क) हꣳसैः। इव ॥ प्रस्कण्वेति प्र-स्कण्व। पाꣳसून् ॥ अभिशꣳसेयुरित्यभि-शꣳसेयुः। अपूता ॥ उपाꣳशित्युप-ऽꣳशु। शꣳसति ॥ स्वस्तिगामिति स्वस्ति-गाम्। अनेहसम् ॥ पेशः। मर्याः। अपेशसे ॥ तस्मात्। सः। विस्रस्यः इति विस्र-यः ॥ पूष्णः। हस्ताभ्याम्। सजनीयमिति स-जनीयम्। शस्यम् ॥ प० पा०

(ख) यदि सकार के बाद में स्थित स्वर—सन्धि के परिणामस्वरूप विकार को प्राप्त करके व्यञ्जन भी हो जाता है तब भी स्न, शो इत्यादि पदों को अनुस्वार का आगम होता है। 'अपहꣳस्यग्ने' इस स्थल पर 'ह' को अनुस्वार का आगम हो गया है यद्यपि उसके बाद में स्थित सकार के बाद वाला स्वर संहिता-पाठ में व्यञ्जन में परिवर्तित हो गया है।

अपहꣳसीत्यप हꣳसि। अग्ने ॥ प० पा०

---

(१) ३।२।६ (२) १।८।१५ (३) ३।४।११ (४) १।२।१३
(५) २।६।१० (६) २।१।१० (७) ६।५।११
(८) १।२।६ (९) ७।४।२० (१०) ६।२।६
(११) १।१।४ (१२) ७।५।५ (१३) ४।७।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—निमित्तभूतात्सकारात्परे स्वरे संहितावशाद्विकृतेऽपि स्रादीनां भवत्ययमनुस्वारागमः। "अपहꣳस्यग्ने"[1]॥ ३ ॥

रापूर्वश्च ॥ ४ ॥

मा०—श इति चशब्दो ज्ञापयति। श इत्येतस्मिन् ग्रहणे रापूर्वे सकारपरे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"नाराशꣳसीभ्यः"[2] ॥ ४ ॥

त्रि०—चशब्दः स्रादिषु शकारमन्वादिशति। एतदर्थमेव स्वरव्यत्ययेऽपि शकारग्रहणं तत्रान्ते कृतम्। (रापूर्वः=) रा इत्येवं पूर्वः; शकारः सकारपरोऽनुस्वारागमं भजते। यथा—"नाराशꣳसीभ्यः"[1]। अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः ॥ ४ ॥

वै०—चशब्दः श इत्यन्वादिशति। अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः। (रापूर्वः=)

वै० अ०—निमित्त-भूत वकार के बाद में स्थित स्वर के संहिता के फलस्वरूप; विकृतेऽपि= विकृत होने पर भी; 'स्र' इत्यादि (पदों) में अनुस्वार का आगम होता है। "अपहꣳस्यग्ने" ॥ ३ ॥

सू० अ०—रा पूर्व में होने पर भी (शकार अनुस्वार को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार 'स्र' इत्यादि (पदों) में से शकार का अन्वादेश करता है। यही कारण है कि स्वर के क्रम का भङ्ग होने पर भी शकार का ग्रहण वहाँ पर अन्त में किया गया है(क)। (रापूर्वः=) रा—यह पूर्व में है जिसके वह; शकार, सकार बाद में होने पर, अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है। जैसे—"नाराशꣳसीभ्यः"। अपदादि (शकार) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है(ख) ॥ ४ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (१६।२ से) श का अन्वादेश करता

(क) अ, आ इत्यादि—यह स्वरों का क्रम है। १६।२ में अकारान्त पदों का पहले ग्रहण करना उचित था। अतः शो के पहले श का ग्रहण होना चाहिए था। किन्तु स्वरों के क्रम का भङ्ग करके सूत्रकार ने जो श को अन्त में रखा है उसका यही उद्देश्य था कि १६।४ में श का अन्वादेश होगा।

(ख) स्वर पर सकार बाद में होने पर शकार के बाद में अनुस्वार का आगम १६।२ से हो जाता है। किन्तु वहाँ पद के आदि में विद्यमान शकार के बाद में ही अनुस्वार का आगम होता है। 'नाराशꣳसीभ्यः' में शकार पद के आदि में नहीं है। अतः पद के आदि में अविद्यमान शकार के बाद में अनुस्वार के आगम की सिद्धि के लिए प्रकृत सूत्र का निर्माण किया गया है।

---

(१) ४।७।१३ (२) ७।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राशब्दे पूर्वं; श इत्ययं शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः। "नराशꣳसस्याहम्"[१]। "पितृणां नाराशꣳसः"[२]। रापूर्व इति किम्? "पितो आ विशस्य शं तोकाय"[३] ॥ ४ ॥

शꣳस्ताऽनन्तोदात्ते ॥ ५ ॥

मा०—शꣳस्ता इत्येतस्मिन् नान्तोदात्ते पदे सकारपरे अनुस्वारागमो भवति। अन्तोदात्तप्रतिषेधादाद्युदात्तस्य विधिर्भवति। यथा—"शꣳस्ता सु विप्रः"[४]। नान्तोदात्त इति किम्? "अश्वस्या विशस्ता"[५] ॥ ५ ॥

त्रि०—शꣳस्ता इत्येतस्मिन् ग्रहणे अनन्तोदात्ते सकारपरे भवत्यनुस्वारागमः। "उत शꣳस्ता सुविप्रः"[४]। अनन्तोदात्ते इति किम्? "अश्वस्याः विशस्ता"[५]। "स्नशोह"[६] इति प्राप्तौ सत्यां सकारस्य स्वरपरत्वाभावेऽपि नायं विधिर्निषिध्यतामिति ग्रहणम्। अन्ते उदात्तो यस्य तत् अन्तोदात्तं, न अन्तोदात्तं अनन्तोदात्तं, तस्मिन् ॥ ५ ॥

वै०—शꣳस्ता इत्यस्मिन्ननन्तोदात्ते पदे वर्तमानश्शशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति

है। अपदादि (शकार) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ (किया गया है)। (रापूर्वः=) रा शब्द पूर्व में होने पर; श यह शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, यदि सकार बाद में हो। "नराशꣳसस्याहम्"[क]। "पितृणां नाराशꣳसः"[ख]। रा पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पितो आ विशस्य शं तोकाय" ॥ ४ ॥

सू० अ०—अन्तोदात्त न होने पर 'शꣳस्ता' में (अनुस्वार) का आगम होता है)।

त्रि० अ०—अनन्तोदात्ते = अन्तोदात्त न होने पर; शꣳस्ता—इस पद में; सकार बाद में होने पर अनुस्वार का आगम होता है। "उत शꣳस्ता सुविप्रः"। अन्तोदात्त न होने पर—यह क्यों (कहा)? "अश्वस्याविशस्ता"।[ग] "स्न, शो, ह···"—इस (सूत्र) से प्राप्ति होने पर, सकार के बाद में स्वर का अभाव होने पर भी यह विधि निषिद्ध न हो—इसलिए (शꣳस्ता का) ग्रहण किया गया है। अन्त में उदात्त है जिसके वह = अन्तोदात्त, अन्तोदात्त नहीं है जो वह = अनन्तोदात्त; उसमें ॥ ५ ॥

वै० अ०—शꣳस्ता—इस; अनन्तोदत्ते = अनन्तोदात्त पद में; वर्तमान श

(क) नराशꣳसस्य। अहम् ॥ प० पा०

(ख) पितृणाम्। नाराशꣳसः ॥ प० पा०

(ग) उत। शꣳस्ता। सुविप्रः इति सु-विप्रः ॥ प० पा०
अश्वस्य। विशस्तेति वि-शस्ता ॥ प० पा०

---

(१) १।६।४ (२) ४।४।६ (३) ५।७।२
(४) ४।६।८ (५) ४।६।९ (६) १६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकारे परतः। "उत शꣳस्ता सुविप्रः"[१]। अनन्तोदात्त इति किम्? "अश्वस्था-विशस्ता"[२]। सकारस्य स्वरपरत्वाभावात् "स्नशोह"[३] इत्यस्य अप्राप्तेरेवमारभ्यते ॥ ५ ॥

अशꣳसन् ॥ ६ ॥

मा०—अशँसन् इत्येतस्मिन् ग्रहणे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"ज्यायच्छन्दोऽभिव्यशँसन्"[४]। किमर्थमिदम्? "स्नशोहपाशपदादयः स्वरपरे" इति सिद्धम्। "अप्यकारादि"[५] वचनात्। नैष दोषः। अप्यकारादिवचनं पदस्य न पदावयवस्य ॥ ६ ॥

त्रि०—अशꣳसन् इत्यस्मिन् ग्रहणे स्यादनुस्वारागमः। यथा—"अभि व्यशꣳसन्"[४]। अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः ॥ ६ ॥

वै०—अशꣳसन्नित्यस्मिन् शब्दे वर्तमानः शशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः। अयमप्यपदाद्यर्थं आरम्भः। "छन्दोऽभि व्यशꣳसन्न"[४]। "अप्यकारादि"[५]। इति परिभाषेह न प्रवर्तते, पदादित्यविधानात्। सन्पर इति किम्? "अवक्राम न्नशस्तीः"[६] ॥ ६ ॥

शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, यदि सकार बाद में हो। "उत शꣳस्ता सुविप्रः"। अन्तोदात्त न होने पर—यह क्यों (कहा)? "अश्वस्याविशस्ता"। सकार के बाद में स्वर न होने से "स्न, शो, ह ..." इसकी अप्राप्ति हो जाने से ही यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है ॥ ५ ॥

सू० अ०—अशꣳसन् (में अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—अशꣳसन्—इस पद में अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"अभि व्यशꣳसन्"। अपदादि (शकार) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ (किया गया है)[क] ॥ ६ ॥

वै० अ०—अशꣳसन्—इस शब्द में वर्तमान 'श' शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, यदि सकार बाद में हो। यह (सूत्र) भी अपदादि (शकार) के लिए प्रारम्भ किया गया है। "छन्दोऽभि व्यशꣳसन्न"।[ख] "अकार से प्रारम्भ होने वाले (पद) को भी (समझना चाहिए)" यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होती

(क) शभि। वीति। अशꣳसन् ॥ प० पा०

यहाँ श पद के आदि में नहीं है। अतः १६।२ से शकार के बाद में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। यही कारण है कि इस विशेष विधान की आवश्यकता पड़ी।

(ख) छन्दः। अभि। वीति। अशꣳसन् ॥ प० पा०

---

(१) ४।६।८ (२) ४।६।९ (३) १६।२
(४) ६।६।११ (५) १।५२ (६) ४।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न शसनं विशसनेन ॥ ७ ॥

मा०—न खलु शसनम्, विशसनेन इत्येतयोरनुस्वारागमो भवति। यथा—"शसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा"[1]। "शुनो विशसनेन सर्पान्"[2] इति। प्रतिषेधसामर्थ्यात् शंसन् इत्येतस्य च "स्रघोहपाशपदादयः स्वरपरे" इत्येतस्य चायं प्रतिषेधः क्रियते। अन्यथा ह्यनर्थकमेव स्यात् ॥ ७ ॥

त्रि०—शसनं, विशसनेन इत्येतयोर्ग्रहणयोरनुस्वारागमो न भवति। "शसनं वाज्यर्वा"[1]। "शुनो विशसनेन"[2]। "स्रशोह"[3] इति प्राप्तिः ॥ ७ ॥

वै०—शसनं विशसनेन इत्यनयोः शशब्दौ परमनुस्वारं नोपगच्छतः। "प्रागाच्छसनम्"[1]। "शुनो विशसनेन"[2]। विशब्दव्यावर्त्यं शाखान्तरे ॥ ७ ॥

मापदादिरनुदात्तः ॥ ८ ॥

मा०—मा इत्येतस्मिन् ग्रहणे पदादौ वर्त्तमाने अनुदात्ते सकारपरे अनुस्वारागमो

है क्योंकि पद से (बाद में अनुस्वार के आगम का) विधान नहीं किया गया है।[क] 'सन्' बाद में होने पर—यह क्यों कहा? "अवक्रामन्नशस्तीः"।

सू० अ०—शसनम् और विशसनेन (इन पदों में अनुस्वार का आगम) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—शसनम् और विशसनेन—इन पदों में; अनुस्वार का आगम; न=नहीं; होता है। "शसनं वाज्यर्वा"। "शुनो विशसनेन"। "स्र, शो, ह"—इस (सूत्र) से (अनुस्वार के आगम की) प्राप्ति थी ॥ ७ ॥

वै० अ०—शसनं, विशसनेन—इन (पदों) में (स्थित) श शब्द परवर्ती अनुस्वार को; न=नहीं; प्राप्त करते हैं। "प्रागाच्छसनम्"। "शुनो विशसनेन"। 'वि' शब्द का प्रत्युदाहरण दूसरी शाखा में है ॥ ७ ॥

सू० अ०—पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त मा (अनुस्वार को प्राप्त करता है।

(क) पूर्वपक्षी—'श' शब्द के बाद में अनुस्वार का आगम १६।२ से होता है। १।५२ की सहायता से 'अश' शब्द के बाद में भी अनुस्वार का आगम १६।२ से हो जायेगा। अतः १६।६ के द्वारा यह विधान आवश्यक नहीं है।

सिद्धान्ती—१।५२ पद पर ही लागू होता है। पद के अवयव पर नहीं। १६।२ में 'श' पद नहीं, पद का अवयव है। अतः १६।२ से 'अश' शब्द के बाद में अनुस्वार का आगम सिद्ध नहीं होता। अतः १६।६ के द्वारा प्रस्तुत विधान आवश्यक है।

---

(१) ४।६।७ (२) ५।७।२३ (३) १६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति। यथा—"द्वाभ्यां माँसं द्वाभ्याम्"[१]। पदादिरिति किम्? "चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्"[२]। अनुदात्त इति किम्? "मासं दीक्षितः स्याद्यो मासः"[३] ॥ ८ ॥

त्रि०—मा इत्ययं वर्णः पदादिरनुदात्तः सकारपरोऽनुस्वारागमं भजते। अत्र नियमाभावात् सकारस्य स्वरपरत्वाभावेऽपि निमित्तत्वं भवत्येव। तथा—"अहर्मा꣡ꣳसेन"[४]। "मा꣡ꣳस्पचन्याः"[५]। पदादिरिति किम्? "सिलिकमध्यमासः"[६]। अनुदात्त इति किम्? "मासं दीक्षितः"[७] ॥ ८ ॥

वै०—माशब्दः पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः। "चर्मे꣡व मा꣡ꣳसमि꣡व"[८]। "अहर्मा꣡ꣳसेन"[९]। "मा꣡ꣳस्पचन्याः"[१०]। पदादिरिति किम्? "सिलिक-मध्यमास इति सिलिक-मध्यमासः"[११]। अनुदात्त इति किम्? "मासं दाक्षितस्स्यात्"[१२]। सकारपर इति किम्? "शरदे माषतिलौ"[१३]। "यन्माहेन्द्रो गृह्यते"[१४] ॥ ७ ॥

त्रि० अ०—पदादिः=पद के आदि में विद्यमान; अनुदात्त मा—यह वर्ण, सकार बाद में होने पर अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है। यहाँ पर नियम का अभाव होने से, बाद में स्वर न होने पर भी सकार निमित्त होता ही है।[क] जैसे—"अहर्मा꣡ꣳसेन"। "मा꣡ꣳस्पचन्याः"[ख]। पद के आदि में विद्यमान—यह क्यों (कहा)? "सिलिकमध्यमासः"। अनुदात्त यह क्यों (कहा) "मासं दीक्षितः" ॥ ८ ॥

वै० अ०—पदादिः=पद के आदि में विद्यमान; अनुदात्त मा शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, यदि सकार बाद में हो। "चर्मेव मा꣡ꣳसमिव"। "अहर्मा꣡ꣳसेन"। "मा꣡ꣳस्पचन्याः"। पद के आदि में विद्यमान—यह क्यों (कहा)? "सिलिकमध्यमास इति सिलिक-मध्यमासः"। अनुदात्त यह क्यों (कहा)? "मासं दीक्षितस्स्यात्"। सकार बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "शरदे माषतिलौ"। "यन्माहेन्द्रो गृह्यते"[ग] ॥ ८ ॥

(क) यहाँ यह नियम नहीं है कि स्वरपर सकार बाद में होने पर ही अनुस्वार का आगम होता है। अत एव सकार के बाद में स्वर हो अथवा स्वर न हो—दोनों ही अवस्थाओं में अनुदात्त तथा पदादि मा के बाद में अनुस्वार का आगम होता है।

(ख) अहः। मा꣡ꣳसेन ॥ मा꣡ꣳस्पचन्याः ॥ प० पा०

(ग) चर्म। इव। मा꣡ꣳसम्। इव ॥ अहः। मा꣡ꣳसेन ॥ मा꣡ꣳस्पचन्याः ॥ सिलिक-मध्यमास इति सिलिक—मध्यमासः ॥ मासम्। दीक्षितः। स्यात् ॥ शरदे। माषतिलाविति माष—तिलौ ॥ यत्। माहेन्द्र इति माहा—इन्द्रः। गृह्यते ॥ प०पा०

---

(१) ७।४।६ (२) ७।४।८ (३) ५।६।७ (४) ५।७।२०
(५) ४।६।६ (६) ४।६।७ (७) ३।४।१
(८) ५।७।२० (९) ४।६।६ (१०) ४।६।७
(११) ५।६।७ (१२) ७।२।१० (१३) ६।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुमीपूर्वश्च नित्यम् ॥ ९ ॥

मा०—मा इति चशब्दो ज्ञापयति । पुपूर्वे मीपूर्वे च मा इत्येतस्मिन् ग्रहणे सकारपरे नित्यमनुस्वारागमो भवति । यथा—"परास्यन्त्युत्पुमाँसं हरन्ति"[१] । "मीमाँसन्ते ब्रह्मवादिनः तद्वाहुः"[२] । नित्यमिति किम् ? उदात्ते वा स्वरिते वा मा इत्येतस्मिन् यथा स्यादिति ॥ ९ ॥

त्रि०—चशब्दो मा इति ज्ञापयति । पु, मी इत्येवं पूर्वो मा इत्यं वर्णः सकारपरो नित्यमनुस्वारागमं भजते । "उत्पुमाꣳसꣳहरन्ति"[१] । "मीमाꣳसन्ते कार्ये"[१] । अनुदात्तत्वनियमनिवर्तको नित्यशब्दः ॥ ९ ॥

वै०—अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः । (पुमीपूर्वश्च=) पु, मी इत्यनयोः पूर्वयोः; माशब्दोऽनुदात्तः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः । नित्यग्रहणात् स्वरान्तरयुक्तस्यापि पुमीपूर्वस्य माशब्दस्य सिद्ध्यति । पु—"उत्पुमाꣳसम्"[१] । मी—"न तल्पे मीमाꣳसन्ते"[१] । "मीमाꣳसेरन्"[१] । पुमीपूर्व इति किम् ? "ओमासश्चर्षणीधृतः"[४] ॥ ९ ॥

सू० अ०—पु तथा मी पूर्व में होने पर भी (मा) नित्य (अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) मा-इस (वर्ण) का बोध कराता है। पु और मी ये; पूर्वः=पूर्व में होने पर; मा—यह वर्ण, सकार बाद में होने पर, नित्य अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है। "उत्पुमाꣳसꣳहरन्ति"। "मीमाꣳसन्ते कार्ये"। नित्य शब्द अनुदात्तत्व के नियम का निवर्तक है[क] ॥ ९॥

वै० अ०—अपदादि (मा) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है। (पुमीपूर्वश्च=) पु, मी—ये पूर्व में होने पर; अनुदात्त मा शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, यदि सकार बाद में हो। (सूत्र में) नित्य के ग्रहण से पु, और मी पूर्व में रहते (अनुदात्त से) अन्य स्वर से युक्त मा शब्द का (अनुस्वारागम) सिद्ध होता है।[ख] ॥ ९ ॥

(क) पूर्ववर्ती सूत्रस्थ पदादि का नियमन प्रकृत सूत्रस्थ पु तथा मी से निवृत्त हो जाता है और अनुदात्त का नियमन 'नित्यम्' से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार पु तथा मी पूर्व में होने पर तथा सकार बाद में होने पर मा सर्वदा अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है चाहे वह अनुदात्त हो या न हो।

उदिति । पुमाꣳसम् । हरन्ति ॥ मीमाꣳसन्ते । कार्ये ॥ प० पा०

(ख) उदिति । पुमाꣳसम् ॥ न । तल्पे । मीमाꣳसन्ते ॥ मीमाꣳसेरन् ॥ ओमासः । चर्षणीधृत इति चर्षणि–धृतः ॥ प० पा०

---

(१) ६।५।१० (२) ७।५।७ (३) ६।२।६ (४) १।४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकायपरश्च ॥ १० ॥

मा०—चशब्दो मा इत्यन्वादिशति। मा इत्येतस्मिन् सकायपरे नित्यमनुस्वारागमो भवति। यथा—"अमाँसकाय स्वाहा"[१]। नित्यमिति किम्? अपदादावपि मा इत्येतस्मिन् यथा स्यादिति ॥ १० ॥

त्रि०—चशब्दो मा इति ज्ञापयति। मा इत्ययं वर्णः सकायपरः अनुस्वारागमं भजते। यथा—"अमाꣳसकाय स्वाहा"[१] इति ॥ १० ॥

वै०—चशब्दो माशब्दमन्वादिशति। अथमप्यपदाद्यर्थं आरम्भः। (सकायपरः=) सकायशब्दे परतः; माशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति। "अमाꣳसकाय स्वाहा"[१]। "अप्यकारादि"[२] इति तु न प्रवर्तत इत्युक्तम् ॥ १० ॥

नावग्रहपूर्वः ॥ ११ ॥

मा०—न खल्ववग्रहपूर्वे मा इत्येतस्मिन् सकारपरेऽप्यनुस्वारागमो भवति। यथा—"अर्द्धमासे देवा इज्यन्ते"[३] ॥ ११ ॥

त्रि०—"मापदादिरनुदात्तः"[४] इत्यस्यायमपवादः। अवग्रहपूर्वो मा इत्ययं वर्णो नानुस्वारागमं भजते। यथा—"पूर्णमासे वै"[५]। "अर्धमासे देवाः"[३]। अवग्रहः पूर्वो यस्मादसौ अवग्रहपूर्वः ॥ ११ ॥

सू० अ०—सकाय बाद में होने पर भी (मा अनुस्वार को प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द मा का बोध कराता है। मा—यह वर्ण; सकायपरः=सकाय बाद में होने पर; अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है। जैसे—"अमाꣳसकाय स्वाहा"[क] ॥ १० ॥

वै० अ०—च शब्द मा शब्द का अन्वादेश करता है। यह (सूत्र) भी अपदादि (मा) के लिए प्रारम्भ किया गया है। (सकायपरः=) सकाय शब्द बाद में होने पर; मा शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। "अमाꣳसकाय स्वाहा"। "अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी पद समझना चाहिए"—यह (सूत्र) तो लागू नहीं होता है—यह (१६।६ के भाष्य में) कहा जा चुका है ॥१०॥

सू० अ०—पूर्व-पद पूर्व में होने पर (मा शब्द अनुस्वार के आगम को) नहीं (प्राप्त करता है)।

त्रि० अ०—"पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त मा (अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) का यह अपवाद है। अवग्रहपूर्वः=पूर्व-पद है

(क) अमाꣳसकाय। स्वाहा ॥ प० पा०

---

(१) ७।५।१२ (२) १।५२ (३) २।५।६
(४) १६।८ (५) २।५।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व०—अवग्रहपूर्वो मा शब्दः पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारं नोपगच्छति। "चातुर्मास्यान्यालभमानः"[१]। "चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः"[२] ॥ ११ ॥

मासिमासुमासोमासामिति च ॥ १२ ॥

मा०—मासि, मासु, मासः, मासाम् इत्येतेषु ग्रहणेषु न खल्वनुस्वारागमो भवति। चशब्दो "मापदादिरनुदात्तः"[३] इति योऽनुस्वारः प्राप्तः तस्य प्रतिषेधमन्वादिशति। यथा—"प्रथमे मासि पृष्ठानि"[४] इति केचिदुदाहरन्ति। "न पदे द्विस्वरे नित्यम्"[५] इति तस्य प्रतिषेधः सिद्धः। "दशसु मासूत्तिष्ठन्नृच्छति"[६]। "षण्मासो दक्षिणेनैति"[७]। "मासां प्रतिष्ठित्या उपरिष्टात्"[८] ॥ १२ ॥

त्रि०—चकारो निषेधाकर्षकः। मासि, मासु, मासः, मासाम् इत्येतेषु ग्रहणेषु न स्यादनुस्वारागमः। एषामपि "मापदादिः"[३] इति प्राप्तिः। केचिदत्र "प्रथमे मासि पृष्ठानि"[४] इत्युदाहरन्ति। तदसाधु। "न पदे द्विस्वरे नित्यम्"[५] इत्यनेनैव निषेधसिद्धेः।

पूर्व में जिसके वह; मा—यह वर्ण अनुस्वार के आगम को; न=नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"पूर्णमासे वै"। "अर्धमासे देवाः"[क]। पूर्व-पद (अवग्रह) है पूर्व में जिससे वह=अवग्रहपूर्वः। ११॥

वं० अ०—अवग्रहपूर्वः=पूर्व पद है पूर्व में जिसके वह; पदादि (पद के आदि में विद्यमान) अनुदात्त मा शब्द परवर्ती अनुस्वार को; न=नहीं; प्राप्त करता है। जैसे—"चातुर्मास्यान्यालभमानः"। "चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः"[ख]।

सू० अ०—मासि, मासु, मासः, मासाम् (में अनुस्वार का आगम नहीं होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध की अनुवृत्ति करता है। मासि, मासु, मासः, मासां—इति=इन; पदों में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। इनमें भी "पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त मा (अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) से (अनुस्वार की) प्राप्ति थी। कतिपय (आचार्य) यहाँ "प्रथमे मासि पृष्ठानि"—यह उदाहरण देते हैं। वह ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ "दो स्वरों वाले पद में (वर्तमान आकार, ईकार तथा ऊकार) नित्य (किसी भी परिस्थिति में) (अनुस्वार के

(क) पूर्णमास इति पूर्ण-मासे। वै॥ अर्धमास इत्यर्ध-मासे। देवाः॥ प० पा०

(ख) चातुर्मास्यानीति चातुः—मास्यानि॥ आलभमान इत्या—लभमानः॥ चतुर्विꣳशतिरिति चतुः—विꣳशतिः। अर्धमासा इत्यर्ध—मासाः॥ प० पा०

---

(१) १।६।१० (२) ६।२।३ (३) १६।८ (४) ७।५।३
(५) १६।१७ (६) ७।५।२ (७) ६।५।३ (८) ७।५।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादन्यशाखायां बहुस्वरमुदाहरणमवधारणीयम्। "दशसु मासूत्तिष्ठन्"[1]। "षण्मासो दक्षिणेनैति"[2]। "मासां प्रतिष्ठित्यै"[3] ॥ १२ ॥

वै०—चशब्दः प्रतिषेधमन्वादिशति। (मासिमासुमासोमासामिति=) सि, सु, सः, साम् इत्येतेषु परतः माशब्दः; पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारं नोपगच्छति। मासि—"मासि पितृभ्यः क्रियते"[4]। "न पदे द्विस्वरे नित्यम्"[5] इति नित्यग्रहणादिह न सिद्ध्यति, "उभे निपासि जन्मनि"[6] इत्यादिविषयसद्भावात्। "मापदादिरनुदात्तः"[7] इति तु वैशेषिको विधिः न हि समान्यविषयेण तेन बाध्यत इति वैशेषिकप्रतिषेधार्थं मासिग्रहणम्। मासु—

आगम को नहीं प्राप्त करते हैं)"—इस (सूत्र) से ही निषेध की सिद्धि हो जाती है। इसलिए दूसरी शाखा में बहुत स्वरों वाले उदाहरण को जानना चाहिए। "दशसु मासूत्तिष्ठन्"। "षण्मासो दक्षिणेनैति"। "मासां प्रतिष्ठित्यै"[क] ॥ १२ ॥

वै० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) प्रतिषेध का अन्वादेश करता है। (मासिमासुमासोमासमिति=) सि, सु, सः, साम्—ये बाद में होने पर पदादि और अनुदात्त मा शब्द; परवर्ती अनुस्वार को नहीं प्राप्त करता है। मासि—"मासि पितृभ्यः क्रियते"। "दो स्वरों वाले पद में (वर्तमान आकार ईकार तथा ऊकार) नित्य (किसी भी परिस्थिति में) (अनुस्वार के आगम को नहीं प्राप्त करते हैं)"—यहाँ पर नित्य के ग्रहण से (अनुस्वार का निषेध) सिद्ध नहीं होता है। "उभे निपासि जन्मनी" इत्यादि स्थलों का सद्भाव होने से, "पद के आदि में विद्यमान अनुदात्त मा (अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है)" यह वैशेषिक विधि है। सामान्य विषय वाले इस विधान (१६।१७) से उसका प्रतिषेध नहीं होता है। अतएव वैशेषिक (विधि) के प्रतिषेध के लिए मासि का (प्रकृत सूत्र में) ग्रहण किया गया है[ख]। मासु—"मासूत्तिष्ठन्नृछनोति"। मासः—

(क) दशस्विति दश—सु। मासु। उत्तिष्ठन्नित्युत्—तिष्ठन् ॥ षट्। मासः। दक्षिणेन। एति ॥ मासाम्। प्रतिष्ठित्या इति प्रति—स्थित्यै ॥ प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—१६।१४ में विहित अनुस्वार का निषेध १६।१७ में किया गया है। १६।१७ में प्रयुक्त नित्य शब्द के सामर्थ्य से १६।८ से विहित 'मासि' में भी अनुस्वार का निषेध हो जाता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में मासि का ग्रहण व्यर्थ है।

सिद्धान्ती—१६।१७ में प्रयुक्त 'नित्य' शब्द से प्रस्तुत उदाहरण में अनुस्वार के के आगम का निषेध नहीं होता है क्योंकि 'निपासि' इत्यादि बहुत स्वरों वाले पदों में भी 'अनुस्वार' का आगम नहीं हुआ है। १६।८ विशेष विधि है जबकि १६।१७ सामान्य विधि है। सामान्य विधि विशेष विधि का बाधक

---

(१) ७।५।२ (२) ६।५।३ (३) ७।५।१ (४) २।५।५
(५) १६।१७ (६) १।४।२२ (७) १६।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मासूत्तिष्ठन्नृध्नोति"[1]। मासः—"चतुरो मासः"[2]। मासां—"मासां प्रतिष्ठित्यै"[3]। इतिशब्दः पदरूपप्रत्ययार्थः। तेन "इमो तमाꣳसि गूहताम्"[4] इत्यत्र प्रतिषेधो न भवति। पदग्रहणपरिभाषा त्विहानेतुं न शक्यते। न ह्येतानि पदग्रहणानि पदैकदेशयोः कार्यभाङ्-निमित्तयोः ग्रहणात्। अतएव "हिपुजिगा"[5] इति सूत्रे अतꣳसयत्प्रभृतीनां समभिव्याहार उपपद्यते। तस्मात्पदप्रत्ययार्थमितिकरणः क्रियते॥ १२॥

हि पु जिगा जिघा छꣳसिनेऽतꣳसयदाताꣳसीत्कनीया ज्याया द्राघीया रघीया श्रेया ह्सीया वसीया भूयाꣳसो जक्षिवा जघ्निवा जिगिवा जीगिवा तस्थिवा दाश्वा दीदिवा पपिवा पीपिवा विद्वा विविशिवा शुश्रुवा ससृवा॥ १३॥

मा०—हि, पु, जिगा, जिघा, छꣳसिने, अतꣳसयत्, आताꣳसीत्, कनीयान्, ज्यायान्,

---

"चतुरो मासः"। मासां—"मासां प्रतिष्ठित्यै"। 'इति' शब्द (मासि इत्यादि के) पद-रूप के ज्ञान के लिए है। इससे "इमौ तमाꣳसि गूहताम्"—यहाँ प्रतिषेध नहीं होता है[क]। पदग्रहण की परिभाषा तो यहाँ नहीं लायी जा सकती। ये उद्धरण पद नहीं हैं, क्योंकि पद के एक देशों का कार्यभाक् तथा निमित्त के रूप में ग्रहण किया गया है। इसलिए "हि, पु, जि, गा..."—इस सूत्र में "अतꣳसयत्" इत्यादि का साथ-साथ उल्लेख उपपन्न होता है। इसलिए पद के ज्ञान के लिए 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[ख]

सू० अ०—हि, पु, जिगा, जिघा, छꣳसिने, अतꣳसयत्, आताꣳसीत्,

नहीं होता। अतः १६।८ से प्राप्त 'मासि' के अनुस्वार के निषेध के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'मासि' का ग्रहण किया गया है।

(क) सूत्र में 'इति' शब्द का प्रयोग मासि, मासु इत्यादि के पदत्व को बतलाने के लिए किया गया है। यही कारण है कि 'तमाꣳसि' में स्थित 'मासि' में अनुस्वार के आगम का प्रतिषेध नहीं होता है, क्योंकि यहाँ 'मासि' पद नहीं, पद का एकदेश है।

(ख) पूर्वपक्षी—'मासि', 'मासु', 'मासः', 'मासाम्'—ये पद हैं। १।५० में यह विधान किया गया है कि जिन सूत्रों में पद को उद्धृत किया जाता है उनमें पद को ही जानना चाहिए, पद के एक भाग को नहीं। प्रस्तुत पदों से पदों का ही ज्ञान होता है, पदों के अवयवों का नहीं। अतएव पदों के ज्ञान के लिए 'इति' का ग्रहण व्यर्थ है।

---

(१) ७।५।२ (२) ५।६।७ (३) ७।५।१ (४) १८।२२
(५) १६।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्राघीयान्, रघीयान्, श्रेयान्, ह्रसीयान्, वसीयान्, भूयाँसः, जक्षिवा, जघ्निवा, जिगिवा, जीगिवा, तस्थिवा, दाश्वा, दीदिवा पपिवा, पीपिवा, विद्वा, विविशिवा, शुश्रुवा, ससृवा। हि पु इत्येवमादिषु ग्रहणेषु अनुस्वारागमो भवति। यथा—"मा हिँसीस्तनुवा प्रजाः"[१]। "पुँसः पुत्रान्"[२]। "सुवर्गं लोकमजिगाँसन्"[३]। 'देवा वै त्वष्टारमजिघाँसन्"[४]। "ऋषभं ब्राह्मणाछँसिने"[५]। छँसिन इति किम्? "कदाचन प्रयुच्छस्युभे"[६]। "गभे मुष्टिमतँसयत्"[७]। अतँसयदिति किम्? "अतसं न शुष्कम्"[८]। "अन्वातँसीरवथि तन्तुमेतम्"[९]। आतँसीदिति किम्? "अनुव्रातासस्तव सख्यम्"[१०]। "कनीयाँसो देवा आसन्"[११]। "अग्नेस्त्रयो ज्यायाँसः"[१२]। "पञ्चौ द्राघीयाँसौ भवतः"[१३]। "अश्वो रघीयाँसः सुवर्गम्"[१४]। "प्र श्रेयाँसं भ्रातृव्यम्"[१५]। "अथ ह्रसीयाँसमेषा वै"[१६]। "यथा वसीयाँसं प्रत्यर्पयेत्"[१७]। "भूयासोऽसुरास्ते देवाः"[१८]। भूयाँस इति किम्? "अन्नादो भूयासम्"[१९]। 'जक्षिवाँसः पपिवाँसश्च"[२०]। "इन्द्रं वृत्रं जघ्निवाँसम्"[२१]। "जक्षिवाँसः पपिवाँसश्च"[२२]। "इन्द्रं वृत्रं जघ्निवाँसम्"[२३]। "जिगिवाँसो बृहस्पतेः"[२४]। "भागं जीगिवाँसः स्याम"[२५]। "तस्थिवाँसो जनानाम्"[२६]। "दाश्वासो दाशुषः"[२७]। "दीदिवाँसमपां नपातम्"[२८]। "पपिवाँसश्च"[२९]। "पीपिवाँसँ सरस्वतः"[३०]। "विद्वाँसो वै पुरा"[३१]। "प्र वि विशिवाँ समीमहे"[३२]। "यच्छुश्रुवाँसः कविशस्त इति"[३३]। "वाजँ ससृवाँसः"[३४]। दाश्वा विविशिवा शुश्रुवा एतेषु शकारपरेषु "स्नादिषु चैकपद ऊष्मपरः"[३५] इति अनुस्वारागमः कस्मान्न भवति? अथ "सकारपरः" इति सकारपरत्वस्यानुवृत्तेः। ह्रसीया वसीया तस्थिवा ससृवा इत्येतेषु पूर्वस्मिन्ननुस्वारस्थाने सकारपरे वकारपरेऽप्यनुस्वारागमो भवति। तेषामनुस्वार-

---

कनीया, ज्याया, द्राघीया, रघीया, श्रेया, ह्रसीया, वसीया, भूयाꣳसः, जक्षिवा, जघ्निवा, जिगिवा, जीगिवा, तस्थिवा, दाश्वा, दीदिवा, पपिवा, पीपिवा, विद्वा, विविशिवा, शुश्रुवा, ससृवा (में अनुस्वार का आगम होता है)।

सिद्धान्ती—इन सूत्रों में पदों का ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु पदों के अवयवभूत कार्यभाक् और निमित्त का ग्रहण किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में पदत्व के ज्ञान के लिए 'इति' का ग्रहण करना पड़ा।

---

(१) ११।८	(२) ७।५।३	(३) ११।१७	(४) ६।५।८
(५) १।८।१८	(६) १।४।२२	(७) ७.४।१६	(८) १।२।१४
(९) ४।७।१३	(१०) ४।६।७	(११) ५।३।११	(१२) २।६।६
(१३) ५।२।५	(१४) ७।४।६	(१५) २।४।१	(१६) ६।६।४
(१७) ६।१।३	(१८) ५।३।११	(१९) १।६।२	(२०) १।४।४४
(२१) २.५।३	(२२) १।४।४४	(२३) २.५।३	(२४) १.७।८
(२५) ब्रा० २।८।६	(२६) १।२।१४	(२७) १।४।१६	(२८) २।५।१२
(२९) १।४।४४	(३०) ३।१।११	(३१) २।५।११	(३२) ४।७।१५
(३३) २।५।९	(३४) १।७।८	(३५) १५।४	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहितानामेवास्मिन् सूत्रे निर्देशात्। अथवा आतांसीत् कनीयान् ज्यायान् इत्येवमादिभिराकारैरनुस्वारस्थानै साहचर्यात् पूर्वस्मिन् ह्रस्वे अकारे अनुस्वारागमो न भवति ॥ १३ ॥

त्रि०—हि, पु, जिगा, चिघा, छ ँसिने, अत ँसयत्, आता ँसीत्, कनीया, ज्याया, द्राधीया, रघीया, श्रेया, ह्वसीया, वसीया, भूया ँसः, जक्षिवा, जघ्निवा, जिगिवा, जीगिवा, तस्थि, दाश्वा, दीदिवा, पपिवा, पीपिवा, विद्वा, पिविशिवा, शुश्रुवा, ससृवा इत्येवम्पूर्वः सकारपरोऽनुस्वारागमो भवति। यथा—"हि ँसीः परमे"[१]। "चिनुते हि ँसायै"[२]। "तेन पु ँस्वतीः"[३]। "पु ँसः पुत्रान्"[४]। "लोकमाजिगा ँसन्"[५]। "त्वष्टारमजिघा ँसन्"[६]। "ब्राह्मणाच्छ ँसिने"[७]। ने इति किम्? "प्रयच्छस्युभे"[८]। "गभे मुष्टिमत ँसयत्"[९]। यदिति किम्? "अतसं न शुष्कम्"[१०]। "अन्वाता ँसीत्त्वयि"[११]। ईदिति किम्? "अनु व्रातासस्तव"[१२]। "कनीया ँसो देवाः"[१३]। "ज्याया ँसो भ्रातरः"[१४]। "द्राघीया ँसौ भवतः"[१५]। अथो रघीया ँसः"[१६]। "प्रश्रेया ँसम्"[१७]। "अथ ह्वसीया ँसमाक्रमणम्"[१८]। "वसीया ँसं भागधेयेन"[१९]। "भूया ँसोऽन्येभ्यः"[२०]। विसर्गेण किम्? "अन्नादो भूयासम्"[२१]। "जक्षिवा ँसः"[२२]। "जघ्निवा ँसं मृधः"[२३]।

त्रि० अ०—हि ससृवा—ये पूर्व में होने पर और सकार बाद में होने पर; अनुस्वार का आगम होता है ँ क। दाश्वा, विविशिवा, शुश्रुवा—यहाँ "एक पद में स्र इत्यादि में भी ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर (अनुस्वार का आगम होता है)"—इस (सूत्र) से प्राप्त होने से शकार परे रहते अनुस्वार का आगम क्यों नहीं होता है? "अब सकारपर (सकार है बाद में जिनसे

(क) हि ँसः॥ अहि ँसायै॥ पु ँस्वतीः॥ पु ँसः॥ अजिगा ँसन्॥ अजिघा ँसन्। ब्राह्मणाच्छ ँसिने॥ प्रेति। युच्छसि। उभे इति॥ अत ँसयत्॥ अतसम्। न॥ अन्वाता ँसीदित्यनु—आता ँसीत्॥ अन्विति। व्रातासः तव॥ कनीया ँसः॥ ज्याया ँसः॥ द्राघीया ँसौ॥ रघीया ँसः॥ श्रेया ँसम्॥ ह्वसीया ँसम्॥ वसीया ँसम्॥ भूया ँसः॥ अन्नाद इत्यन्न—अदः। भूयासम्॥ जक्षिवा ँसः॥ जघ्निवा ँसम्॥ जिगिवा ँसः॥

तस्थिवा ँसः॥ दाश्वा ँसः॥ दीदिवा ँसम्॥ पपिवा ँसः॥ पीपिवा ँसम्॥ विद्वा ँसः॥ अविद्वा ँसः॥ प्रविविशिवा ँसमिति प्र—विविशिवा ँसम्॥ शुश्रुवा ँसः॥ ससृवा ँसः॥ प० पा०

---

(१) ४।२।१०	(२) ५।२।८	(३) २।५।८	(४) ४।६।९
(५) ५।५।५	(६) ६।५।८	(७) १।८।१८	(८) १।४।२२
(९) ७।४।९	(१०) १।२।१४	(११) ४।७।१३	(१२) ४।६।७
(१३) ५।३।११	(१४) २।६।६	(१५) ५।२।५	(१६) ७।४।९
(१७) २।४।१	(१८) ६।६।४	(१९) ५।४।१०	(२०) ७।१।१
(२१) १।६।२	(२२) १।४।४४	(२३) २।५।३	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बाजं जिगिवाꣳसः"[१]। "जीनिवाꣳसस्स्याम"[२]। "द्युम्ना तस्थिवाꣳसः"[३]। "दाश्वाꣳसो दाशुषः"[४]। "शुचयो दोदिवाꣳसम्"[५]। "पपिवाꣳसश्च"[६]। "पीपिवाꣳसꣳसरस्वतः"[७]। "विद्वाꣳसो वै"[८]। "अविद्वाꣳसश्चक्रुम"[९]। "अथकारादि"[१०] इतिवचनात्। "प्रविविशिवाꣳसमीमहे"[११]। "शुश्रुवाꣳसः"[१२]। "वाजꣳससृवाꣳसः"[१३] दाश्वाविविशिवाशुश्रुवेत्यत्र "स्रादिषु चैकपदे"[१४] इति प्राप्त्या शकारपरोऽनुस्वारागमः किं न स्यात्? "अथ सकारपराः"[१५] इत्यूष्मविशेषस्य सकारस्यानुवृत्तेरिति वदामः। तर्हि हृसीया वसीया तस्थिवा ससृवा इत्यत्र सकारपर एवागमः किं न स्यात्? उच्चारणसामर्थ्यादेवेति प्रथमः परिहारः। अथवा आताꣳसीत् कनीयाꣳसमित्यादिषु सर्वत्र दीर्घानन्तरमेवानुस्वारस्थानमिति तत्साहचर्यादत्रापि न स्यादनुस्वारस्य ह्रस्वानन्तरं स्थानमित्यपरः परिहारः॥ १३॥

उन पदों का अधिकार जानना चाहिए)" इस (सूत्र) से सकार इस ऊष्म-विशेष की अनुवृत्ति हो रही है—यह कहते हैं। तब हृसीया, वसीया, तस्थिवा, ससृवा यहाँ सकार परे रहते ही आगम क्यों नहीं होता है? उच्चारण-सामर्थ्य से ही यह प्रथम समाधान है। अथवा आताꣳसीत्, कनीयाꣳसम्—इत्यादि में सर्वत्र दीर्घ (स्वर) के बाद अनुस्वार का स्थान है—उनके साहचर्य से यहाँ भी ह्रस्व (स्वर) के बाद अनुस्वार का स्थान नहीं होता—यह दूसरा समाधान है[क]॥ १३॥

(क) पूर्वपक्षी—१५।४ में यह विधान किया गया है कि स्र इत्यादि शब्दों से अनुस्वार का आगम हो जाता है यदि उसी अखण्ड-पद में ऊष्म-वर्ण बाद में हो। प्रकृत सूत्र में उद्धृत दाश्वा, विविशिवा और शुश्रुवा के उदाहरण भी स्र इत्यादि के अन्तर्गत हैं। इन पदों में शकार (ऊष्म-वर्ण) के पूर्व में १५।४ से अनुस्वार का आगम क्यों नहीं होता है?

सिद्धान्ती—प्रकृतरूप में 'सकारपर' की अनुवृत्ति १६।१ से हो रही है। सकार बाद में होने पर इन शब्दों में अनुस्वार का आगम होता है।

पूर्वपक्षी—तब प्रकृत सूत्र में उल्लिखित हृसीया, वसीया, तस्थिवा और ससृवा में सकार के पूर्व में अनुस्वार का आगम क्यों नहीं होता है?

सिद्धान्ती—प्रथम समाधान—इन शब्दों के उच्चारण-सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि इनमें सकार के पूर्व में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। तात्पर्य यह है—इस सूत्र में इन शब्दों का पाठ बिना अनुस्वार के किया गया है। यही अनुस्वार-रहित पाठ इन शब्दों का प्रामाणिक रूप है; द्वितीय समाधान—प्रकृत सूत्र में उल्लिखित 'आताꣳसीत्', 'कनीयाꣳसम्' इत्यादि सभी शब्दों में आकार के बाद में ही

---

(१) १।७।८ (२) ब्रा० २।८।६ (३) १।२।१४ (४) १।४।१६
(५) २।५।१२ (६) १।४।४४ (७) ३।१।११ (८) २।५।११
(९) ४।७।१५ (१०) १।५२ (११) ४।७।१५ (१२) २।५।८
(१३) १।७।८ (१४) १५।४ (१५) १६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(हि पु जिगा जिघा छ॰सिनेऽत॰सयदा॰सीत्कनीया ज्याया द्राघीया रघीया श्रेया ह्वसीया वसीया भूया॰सो जक्षिवा जघ्निवा जिगिवा जीगिवा तस्थिवा दाश्वा दीदिवा पपिवा पीपिवा विद्वा विविशिवा शुश्रुवा ससृवा=) हि पु इत्यादयश्शब्दाः; परमनुस्वारमुपगच्छन्ति सकारे ऽपरतः। तत्र तु छ। अत। आता। भूया। इत्येतदनन्तरपठितेषु सिने, सयत्, सीत्, सः एतेषु विशिष्टसकाररेषु परतः। हि—"मा त्वा हि॰सिषम्"[1]। "पितरं याजिहि॰सिम्"[2]। "अहि॰सायै"[3]। पु—"तेन पु॰स्वतीः"[4]। "पु॰सः पुत्रान्"[5]। जिगा—"अन्ववाजिगा॰सन्"[6]। जिघा—"रक्षा॰स्यजिघा॰सन्"[7]। छ॰सिने—"ब्राह्मणाच्छ॰सिने वाससी"[8]। नेपर इति किम्? "कदा—चन प्रयुच्छसि"[9]। अत॰सयत्—"गभे मुष्टिमत॰सयत्"[10]। सयत्पर इति किम्? "सोमा विश्वान्यतसा वनानि"[11]। आता॰सीत्—"अन्वाता॰सीत्त्वयि"[12]। सीत्पर इति किम्? "अनु व्रातासस्तव सख्यम्"[13]। कनीया—"पशवः कनीया॰सः;"[14]। "कनीया॰स यज्ञक्रतुम्"[15]। द्राघीया—"अरत्निना पक्षौ द्राघीया॰सौ भवतः"[16]। रघीया—"अथो रघीया॰सः"[17]। श्रेया—"श्रेया॰सं पापीयान्पश्चात्"[18]। "प्र श्रेया॰सं भ्रातृव्यम्"[19]। ह्वसीया—"ह्वसीया॰समेषा वै"[20]। वसीया—"वसीया॰सो जनिष्यन्त"[21]। भूया॰स—"भूया॰सोऽसुरः"[22]। सः पर इति किम्? "चक्षुष्प्रान्भूयासम्"[23]। जक्षिवा—

वै० अ०—हि पु सृसवा=)—हि, पु इत्यादि शब्द; परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं, सकार बाद में होने पर। उसमें से छ, अत, आता, भूया—इनके बाद में पठित सिने, सयत्-सीत् और सः—ये विशिष्ट सकार बाद में होने पर (अनुस्वार का आगम होता है)...।[क] कतिपय (आचार्य) तो ह्वसीया, वसीया—

'अनुस्वार' का आगम हुआ है। इससे यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही है कि ह्वसोया, वसीया, तस्थिवा और ससृवा में भी आकार के बाद में ही 'अनुस्वार' का आगम होगा, अकार के बाद में नहीं।

(क) हि॰सिषम्॥ जिहि॰सम्॥ सोमः। विश्वानि। अतसा। वनानि॥ कनीया॰सम्॥ चक्षुष्मान्। भूयासम्॥ महिषी। इव। त्वत्। रयिः॥ वपुषे। चिकित्सत॥ प० पा०

---

(१) १।१।८ (२) १।८।५ (३) ५।२।८ (४) २।५।८
(५) ४।६।९ (६) ३।२।२ (७) ५।१।१० (८) १।८।१८
(९) १।४।२२ (१०) ७।४।१९ (११) २।२।१२ (१२) ४।७।१३
(१३) ४।६।७ (१४) ५।१।४ (१५) ५।६।८
(१६) ५।३।५ (१७) ७।४।९ (१८) ५।१।२
(१९) २।४।१ (२०) ६।६।४ (२१) ६।५।६
(२२) ५।३।११ (२३) १।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जक्षियाꣳसः पपिवाꣳसश्च"[१]। जघ्निया—"इन्द्रं वृत्रं जघ्निवाꣳसम्"[२]। जिगिवा—"वाजं जिगिवाꣳसः"। जीगिवाशब्दोदाहरणं शाखान्तरे। तस्थिवा—"अग्ने द्युम्ना तस्थिवाꣳसः"[४]। दाश्वा—दाश्वाꣳसो दाशुषः"[५]। "यासि दाश्वाꣳसम्"[६]। दीदिवा "शुचयो दीदिवाꣳसम्"[७]। पपिवा—"पपिवाꣳसश्च विश्वे"।[८] पीपिवा—"पीपिवाꣳसꣳसरस्वतः"[९]। विद्वा—"विद्वाꣳसौ वै पुरा"[१०]। विविशिवा—"प्रविविशिवाꣳसमीमहे"[११]। शुश्रुवा—"यच्छुश्रुवाꣳसः"। ससृवा—"वाजꣳससृवाꣳसः"[१२]। सकारपर इति किम्? "महिषीव त्वद्रयिꣳ"[१४]। "वपुषे चिकित्सत्"[१५]॥

केचित्तु 'हसीया वसीया' इत्यादिषूष्मवत्सु ग्रहणेषु अन्तर्वर्तिन ऊष्मणः प्रागनुस्वारागमः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्यामुद्भाव्य परिहरन्ति उच्चारणसामर्थ्याद्दीर्घपूर्वकसाहचर्याद्वा अनुस्वारो न भवतीति। सा खलु उचितयोजना न भवति। निर्मूलैवाशङ्का, अस्मदुक्तयोजनायां तदनुत्थानात्। तवोच्चारणसामर्थ्यादिति परिहारोऽप्ययुक्तः। न ह्यस्मिन् शास्त्रे निपातनात्कार्यं साध्यते, अपितु विधिनैव। अतएव "दꣳष्ट्राभ्यां परः"[१६] "आदिरꣳहतिः"[१७] इति विशेषणमर्थवद्भवति। न च दीर्घसाहचर्यादिति युक्तः परिहारः, ह्रस्वानामप्यस्मिन् सूत्रे कार्यविधानात्। तस्मादसच्चोद्यं परिहारश्च॥ १३॥

इत्यादि ऊष्म (-वर्ण) युक्त पदों में, मध्य में वर्तमान ऊष्म (-वर्ण) के पहले अनुस्वार का आगम क्यों नहीं होता है—इस शंका को उठाकर (इस प्रकार) परिहार करते हैं—उच्चारण-सामर्थ्य से या दीर्घपूर्वक (पदों) के साहचर्य से अनुस्वार का आगम नहीं होता है। वह योजना उचित नहीं है। शंका निर्मूल ही है, क्योंकि हम लोगों के द्वारा उक्त योजना में उस (शंका) का उत्थान ही नहीं होता है। उसी प्रकार उच्चारण—सामर्थ्य से—यह परिहार भी युक्त नहीं है। क्योंकि इस शास्त्र में शब्द के उल्लेख (निपातन) से कार्य की सिद्धि नहीं होती है, अपितु विधि से (कार्य की सिद्धि होती है)। इसलिए "दꣳष्ट्राभ्यां परः" और "आदिरꣳहतिः" में ('पर' और 'आदि' विशेषण सार्थक होता है। कार्य के विधान से पहले (पद) कार्य-रहित होता है—यह मानना चाहिए। इस प्रकार (कार्य से) पहले के रूप का पाठ कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता है। दीर्घपूर्वक (पदों) के साहचर्य से अनुस्वार का आगम नहीं होता है—यह समाधान भी युक्त नहीं है क्योंकि इस सूत्र में ह्रस्वों के कार्य का भी विधान हुआ है इसलिए शङ्का और समाधान दोनों ही निर्मूल हैं॥ १३॥

---

(१) १।४।४४ (२) २।३।५ (३) १।७।८
(४) १।२।१४ (५) १।४।१६ (६) २।२।१२
(७) २।५।१२ (८) १।४।४४ (९) ३।१.११
(१०) २।५।११ (११) ४।७।१५ (१२) २।५।९
(१३) १।७।८ (१४) १।१।१४ (१५) ३।२।८
(१६) १६।१९ (१७) १६।२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकारेकारोकारास्सिपिपराः पदान्तयोः ॥ १४ ॥

मा०—सि, षि, इति परनिमित्तयोः निर्देशात् सकारपराविति निवृत्तम् । अकारः, इकारः, उकारः, इत्येतेषु सिपरेषु वा षिपरेषु वा अनुस्वारागमो भवति, सिष्योः पदान्तयोः यथा—"वयाँसि पक्वगन्धेन"[१] । "ज्योतीँषि कुरुते"[२] । "अग्न आयूँषि पवसे"[३] । पदान्तयोरिति किम् ? "तस्माद्वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः"[४] ॥ १४ ॥

त्रि०—सिषिपरा आकारेकारोकाराः तयो सिष्योः पदान्तयोः सतोरनुस्वारागमं भजन्ते । यथा—"वयाँसि पक्वगन्धेन"[१] । "तमाँसि गूहताम्"[५] । "दश हवीँषि" । "ज्योतीँसि कुरुते"[२] । "अग्न आयूँषि"[३] । "अवभृथयजूँ षि" ।[७] । पदान्तयोरिति किम् ? "तस्माद्वासिष्ठः"[४] । "मनीषिणो मनसा"[८] । आकारेकारोकारा इति दीर्घेण किम् ? "यथाऽनसि युक्त आधीयते"[६] । "ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि"[१०] । "आयुषि दुरोणे"[११] । सिषीत्यत्र इकारेण किम् ? "प्रजास्वेव प्रजातासु"[१२] । "ओषधीषु"[१३] । "तनूषु बद्धम्"[१४] ॥ १४ ॥

वै०—सकारपराधिकारो निवृत्तः, सिषिपराश्चयुपगमात् । (आकारेकारोकारः =) आकार ईकार ऊकारश्च; परमनुस्वरामुपगच्छति; सिषिपराः पदान्तयोः = सि, षि इत्येतयोः पदान्तयो परतः सि—"रक्षाँसि पिशाचाः"[१५] । "चत्वारि छन्दाँसि"[१६] । षि—"दिवो

सू० अ०—पदान्त सि, षि बाद में होने पर आकार, ईकार और ऊकार (अनुस्वार को प्राप्त करते हैं)।

त्रि० अ०—सिषिपराः = सि, षि है बाद में जिनके ऐसे; आकारेकारोकाराः = आकार, ईकार और ऊकारः उन सि, षि के; पदान्तयोः = पदान्त होने पर; अनुस्वार के आगम को प्राप्त करते हैं । —क ॥ १४ ॥

वै० अ०—सकारपर के अधिकार की निवृत्ति हो गई, क्योंकि सि, षि पर की प्राप्ति हो गई है । (आकारेकारोकाराः =) आकार, ईकार और ऊकार; परवर्ती

(क) वयाँसि ॥ तमाँसि ॥ हवीँषि ॥ आयूँषि ॥ अवभृथयजूँषीत्यवभृथ—यजूँषि ॥ तस्मात् । वासिष्ठः ॥ मनीषिणः । मनसा ॥ यथा । अनसि । युक्ते । आधीयत इत्या—धीयते ॥ ज्योतिः । त्वा । ज्योतिषि ॥ आयुषि । दुरोण इति दुः—ओने । प्रजास्विति प्र—जासु । एव । प्रजातास्विति प्र—जातासु ॥ ओषधीषु ॥ तनूषु । बद्धम् ॥ प० पा०

---

(१) ५।७।२३ (२) ५।४।१ (३) १।३।१४ (४) ३।५।२
(५) १।८।२२ (६) ७।५।१४ (७) ६।३।३ (८) ४।६।२
(९) ५।४।१० (१०) १।१।१० (११) १।२।१४
(१२) ६।४।१ (१३) ३।५।५ (१४) १।८।२३
(१५) २।४।१ (१६) ५।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योतीꣳषि"[1]। "अग्न आयूꣳषि"[2]। सिषिपराः इति किम्? "ककुहासु शक्वरीषु"[3]। पदान्तयोरिति किम्? "अवयासिसीष्ठाः"[4]। "नम उष्णीषिणे"[5] ॥ १४ ॥

विकृतेपि ॥ १५ ॥

मा०—सिषीत्यपिशब्दो ज्ञापयति। सिषिपरयोर्विकृतेऽपि स्वरे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"तव ज्योतीꣳष्यच्चतः[6] ॥ १६ ॥

त्रि०—अपिशब्दान्वादिष्टे सिष्योरिकारे; विकृतेऽपि = यकारमापन्नेऽपि; भवत्यनुस्वारागमः। यथा—"छन्दाꣳस्युप दधाति"[7]। "हवीꣳष्या सादयेत्"[8]। "तपूꣳष्यग्ने जिह्वा"[9] ॥ १५ ॥

वै०—विकृतेऽपि सिषिरूपे निमित्ते परतः आकारेकारोकाराः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति। "स वयाꣳस्यसृजत"[10]। "हवीꣳष्या सादयेत्"[11]। "तपूꣳष्यग्ने"[12] ॥१५॥

अनुस्वार को प्राप्त करते हैं; (सिषिपराः पदान्तयोः =) यदि सि, षि—ये पदान्त बाद में हों।... क ॥ १४)

सू० अ०—(सि, षि का इकार) विकृत होने पर भी (अनुस्वार को प्राप्त करता है।)

त्रि० अ०—अपि शब्द से अन्वादिष्ट सि, षि के इकार में; विकृतेऽपि = विकृत होने पर भी = यकार हो जाने पर भी; अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"छन्दाꣳस्युप दधाति"। "हवीꣳष्या सादयेत्"। "तपूꣳष्यग्ने जिह्वा"ख ॥

वै० अ०—विकृतेऽपि = विकार को प्राप्त होने पर भी; सि, षि रूप निमित्त बाद में होने पर आकार, और ऊकार परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं—"स वयाꣳस्यसृजतग। 'हवीꣳष्या सादयेत्"। "तपूꣳष्यग्ने ॥ १५ ।)

(क) चत्वारि छन्दाꣳसि ॥ ककुहासु । शक्वरीषु ॥ नमः । उष्णीषिणे ॥ प० पा०

(ख) छन्दाꣳसि ॥ हवीꣳषि । तपूꣳषि ॥ प० पा०

(ग) वयाꣳसि ॥ प० पा०

---

(१) ५।४।१	(२) १।३।१४	(३) ३।३।३
(४) २।५।११	(५) १।३।१४	(६) १।३।१४
(७) ५।३।८	(८) १।६।१०	(९) १।२।१४
(१०) ३।१।१	(११) १।६।१०	(१२) १।२।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनाकारो ह्रस्वꣳसाङ्कृत्यस्य ॥ १६ ॥

मा०—अनाकार इति ईकार ऊकार इत्यर्थः। अकारेकारोकारोकाराणामेव प्रकृतत्वात्। आकारस्य च प्रतिषेधः। साङ्कृत्यस्य शाखिनो मतेन तस्मिन् विषये ईकारश्च ऊकारश्च ह्रस्वमापद्यते नाकारः। "हवींषि"[१]। "अग्न आयूंषि"[२]। अनाकार इति किम् ? "वयाँसि पक्वगन्धेन"[३] ॥ १६ ॥

त्रि०—आकारादन्यः = अनाकारः = ईकार ऊकारश्चेत्यर्थः। तयोरेव प्रकृतत्वात्। सांकृत्यस्य मते ईकार ऊकारश्च ह्रस्वगापद्यते। "हवीꣳषि भवन्ति"[१]। "समिष्ट यजूꣳषि जुहोति"। अनाकार इति किम् ? "वयाꣳसि"[३]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १६ ॥

वै०—(अनाकारः =) सिषिपरत्वेनानुस्वारभाजो ये वर्णा उक्ताः, तेष्वाकारादन्यः; साङ्कृत्यस्य मते ह्रस्वं गच्छति। "ज्योतीꣳषि"[५]। "आयूꣳषि"[६]। अनाकार इति किम् ? "छन्दाꣳस्युप दधाति"[७]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १६ ॥

न पदे द्विष्वरे नित्यम् ॥ १७ ॥

मा०—न खलु द्व्यक्षरे पदे सिषिपरे नित्यमनुस्वारागमो भवति। "स्तुतो यासि

सू० अ०—साङ्कृत्य (आचार्य) के अनुसार आकार से अन्य (=ईकार और ऊकार) ह्रस्व (हो जाते हैं)।

त्रि० अ०—आकार से अन्य = अनाकार=ईकार और ऊकार यह अर्थ है। क्योंकि वे प्रकृत हैं[क]। साङ्कृत्यस्य = साङ्कृत्य के; मत में ईकार और ऊकार, ह्रस्व हो जाते हैं। "हवीꣳसि भवन्ति"। "समिष्ट यजूꣳषि जुहोति"[ख]। आकार से अन्य यह क्यों (कहा) ? "वयाꣳसि"। यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ १६ ॥

वै० अ०—(अनाकारः =) सि, षि बाद में होने पर अनुस्वार को प्राप्त करने वाले जो (आ, ई, ऊ) वर्ण कहे गए हैं, उनमें आकार से अन्य (= ई, ऊ,); साङ्कृत्यस्य = साङ्कृत्य के; मत में ह्रस्व को प्राप्त करते हैं। "ज्योतीꣳषि"। "आयूꣳषि"। आकार से अन्य—यह क्यों (कहा) ? "छन्दाꣳस्युप दधाति"। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है ॥१६॥

सू० अ०—दो स्वरों वाले पद में (वर्तमान आकार, ईकार और ऊकार) नित्य (किसी भी परिस्थिति में) अनुस्वार के आगम को नहीं प्राप्त करते हैं)।

(क) ईकार और ऊकार प्रकृत है, क्योंकि पूर्ववर्ती सूत्र में ईकार और ऊकार का ही ग्रहण किया गया है।

(ख) साङ्कृत्य के अनुसार ये रूप बनेंगे—हविꣳषि और यजुꣳषि।

---

(१) ५।५।१ (२) १।३।१४ (३) ५।७।२३ (४) ६।६।२
(५) ५।४।१ (६) १।३।१४ (७) ५।३।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वशां अनु"[१]। नित्यमिति किम्? "विधतः पासि नु त्मना"[२]। "स्रशोहपाश"[३] इत्यादिना प्राप्तिः। "प्रथमे मासि पृष्ठानि"[४]। "मापदादिरनुदात्तः"[५] इति प्राप्तिः॥ १७॥

त्रि०—द्विस्वरे पदे वर्तमानाः आकारेकारोकाराः पदान्तसिषिपरा[क] नानुस्वारागमं नित्यं भजन्ते। यथा—"स्तुतो यासि"[१]। "यासि दूतः"[६]। नित्यशब्दः प्राप्त्यन्तर-प्रतिषेधार्थः। "विधतः पासि नु त्मना"[२]। "स्रशोह"[३] इति प्राप्तिः। "प्रथमे मासि पृच्छानि"[४]। "मा पदादिः" इति प्राप्तिः। द्वौ स्वरौ यस्मिन् विद्येते तत् द्विस्वरं तस्मिन्॥ १७॥

वै०—द्विस्वरे पदे वर्तमान आकारः परमनुस्वारं नोपगच्छति। नित्यग्रहणाद्विधमन्तर-विषयेऽपि प्रतिषेधो भवति। "यासि दाश्वासम्"[७]। "आ या द्यां भासि"[८] "विधतः पासि नु त्मना"[९] इत्यत्र "स्रशोहपाश"[१०] इति प्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते॥ १७॥

त्रि० अ०—द्विस्वरे पदे = दो स्वरों वाले पद में वर्तमान आकार, ईकार और ऊकार पदान्त सि, षि बाद में होने पर नित्य (किसी भी परिस्थिति में) अनुस्वार के आगम को; न = नहीं; प्राप्त करते हैं। जैसे—"स्तुतो यासि"। "यासि दूतः"। नित्य शब्द दूसरे (सूत्र) से प्राप्ति के निषेध के लिए है[क]। "वधतः पासि नु त्मना"। "पद के आदि में विद्यमान स्र, शो, ह, पा, श ..."—इस (सूत्र) स (अनुस्वार की) प्राप्ति थी। "प्रथमे मासि पृष्ठानि"। पद के आदि में वर्तमान अनुदात्त मा (अनुस्वार को प्राप्त करता है,"—इस (सूत्र) से (अनुस्वार की) प्राप्ति थी। दो स्वर हैं विद्यमान जिसमें वह द्विस्वर, उसमें॥ १७॥

वै० अ०—द्विस्वरे पदे = दो स्वरों वाले पद में; वर्तमान आकार परवर्ती अनुस्वार को; न = नहीं; प्राप्त करता है। नित्य के ग्रहण से दूसरी विधि के स्थल में भी (अनुस्वार के आगम का) निषेध होता है। "यासि दाश्वासम्"। "आ या द्यां भासि"। "विधतः पासि नु त्मना"—यहाँ पर "पद के आदि में विद्यमान स्र, शो, ह, पा, श ..."—इस (सूत्र) से (अनुस्वार के आगम की) प्राप्ति का भी प्रतिषेध हो जाता है॥ १७॥

(क) प्रस्तुत सूत्र १६।१४ का अपवाद हैं। जैसे 'यासि' में १६।१४ से अनुस्वार का आगम प्राप्त होता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उसका निषेध हो जाता हैं। सूत्र में प्रयुक्त नित्य शब्द उन सभी स्थलों में अनुस्वार का निषेध कर देता है, जिनमें आकार, ईकार और ऊकार के बाद में सि अथवा षि हो इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र अन्य सूत्रों से प्राप्त अनुस्वार का भी निषेध कर देता है। जैसे पासि और मासि में क्रमशः १६।२ और १६।८ से अनुस्वार की प्राप्ति होती है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उसका निषेध हो जाता हैं।

---

(१) १।८।५ (२) १।३।१४ (३) १६।२ (४) ७।५।३
(५) १६।८ (६) ३।५।५ (७) २।२।१२
(८) ४।३।६ (९) १।३।१४ (१०) १६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋजीषि जिगासि जिघास्यजासि यजासि ददासि दधासि वर्तयासि च ॥१८॥

मा०—ऋजीषि, जिगासि, जिघासि, अजासि, यजासि, ददासि, दधासि, वर्तयासि। नेति चशब्दोऽन्वादिशति। ऋजीषीत्येवमादिषु न खलु अनुस्वारागमो भवति। यथा—"तेनर्जीषि सर्वाण्येव तत्"[1]। "अच्छा जिगास्यच्छा देवान्"[2]। जिघासीत्यन्यस्यां शाखायाम्। "आ त्वमजासि"[3]। "हविषा यजास्यग्ने बृहत्"[4]। "याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि"[5]। "वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे"[6]। "पुनरश्वमा वर्त्तयासि नः"[7] ॥१८॥

त्रि०—चकारो निषेधाकर्षकः। ऋजीषि, जिगासि, जिघासि, अजासि, यजासि, ददासि, दधासि, वर्तयासि एषु ग्रहणेषु नानुस्वारागमः स्यात्। "आकारेकारोकाराः"[8] इति प्राप्तिः बहुस्वरत्वादेषु पूर्वसूत्रनिषेधो न सिध्यतीत्ययमारम्भः। यथा—"तेनर्जीषि सर्वाणि"[1]। "अच्छा जिगासि"[2]। "प्रथमे जिघासि" इति शाखान्तरे। "आ त्वमजासि गर्भधम्"[3]। "हविषा यजास्यग्ने बृहत्"[4]। "याभिर्ददासि दाशुषे"[5]। "दधासि दाशुषे कवे"[6]। "अश्वमा वर्तयासि नः"[7] ॥१८॥

वै०—(ऋजीषि जिगासि जिघास्यजासि यजासि ददासि दधासि वर्तयासि =) ऋजीषीत्यादिषु; च आकारादयस्सिषिपराः परमनुस्वारं नोपगच्छन्ति बहुस्वरा-

---

सू० अ०—ऋजीषि, जिगासि, जिघासि, अजासि, यजासि, ददासि, दधासि और वर्तयासि में भी (अनुस्वार का आगम नहीं होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) निषेध की अनुवृत्ति करता है। ऋजीषि···वर्तयासि—इन पदों में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। "पदान्त सि, षि बाद में होने पर आकार, ईकार और ऊकार (अनुस्वार को प्राप्त करते हैं)"—इस (सूत्र) से (अनुस्वार के आगम की) प्राप्ति होती है। बहुत स्वरों वाले होने के कारण इन (पदों) में पूर्ववर्ती सूत्र का निषेध सिद्ध नहीं होता है—इसलिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है। जैसे—"तेनर्जीषि सर्वाणि"। "अच्छा जिगासि"। "प्रथमे जिघासि"—यह दूसरी शाखा में (उदाहरण) है। "आ त्वमजासि गर्भधम्"। "हविषा यजास्यग्ने बृहत्"। "याभिर्ददासि दाशुषे"। "दधासि दाशुषे कवे"। "अश्वमा वर्तयासि" ॥१८॥

वै० अ०—(ऋजीषि···वर्तयासि) = ऋजीषि इत्यादि में; आकार इत्यादि

---

(१) ३।२।२ (२) ४।२।४ (३) ७।४।१९ (४) ३।५।११
(५) ३।३।११ (६) ४।२।७ (७) ७।४।२० (८) १६।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोऽयमारम्भः। ऋजीषि—"तेनर्जीषि"[1]। जिगासि—"अर्णमच्छा जिगासि"[2]। जिघासीति शाखान्तरे। अजासि—"आ त्वमजासि"[3]। यजासि—"देवान् हविषा यजासि"[4]। ददासि—"याभिर्ददासि दाशुषे"[5]। दधासि—"दधासि दाशुषे कवे"[6]। वर्तयासि—"अघ्न्या वर्तयासि नः"[7] ॥ १८ ॥

दꣳसनाभ्यो दꣳसोभिर्दꣳसं वृषदꣳशो दꣳशुका दꣳष्ट्राभ्यां परः ॥१९॥

मा०—दꣳसनाभ्यः, दꣳसोभिः, दꣳसम्, वृषदꣳशः, दꣳशुका, दꣳष्ट्राभ्याम्। दꣳसनाभ्यः इत्येवमादिषु ग्रहणेषु परस्मिन्ननुस्वारस्थाने अनुस्वारागमो भवति। यथा—"वैश्वानरस्य दꣳसनाभ्यः"[8]। "सजोषावश्विना दꣳसोभिः"[9]। "इडामग्ने पुरु दꣳसं सनिं गोः"[10]। "वृषदꣳशस्ते"[11]। "पशून्दꣳशुका स्युः"[12]। "दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून्"[13]। पर इति किम्? वृषदꣳश इत्यत्र षकारपरे पूर्वस्मिन्ननुस्वारस्थाने न भवति ॥१९॥

त्रि०—दꣳसनाभ्यः, दꣳसोभिः, दꣳसं, वृषदꣳशः, दꣳशुका, दꣳष्ट्राभ्यां एषु ग्रहणेषु परः एवानुस्वारागमो भवति। यथा—"वैश्वानरस्य दꣳसनाभ्यः"[8]। "सजोषावश्विना दꣳसोभिः"[9]। भिरिति किम्? "ऊती रिशादसः"[14]। "पुरुदꣳससꣳसनिम्"[10]। "वृषदꣳशस्ते"[11]। "पशून्दꣳशुकाः"[12]। "दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून्"[13]। "दꣳसेत्येतावतैवालम्, किमखिलपदपाठेन? "कुर्वतो मे मोप दसत्"[15] इत्यादौ मा भूदिति। पर इति किम्?

सि और षि बाद में होने पर परवर्ती अनुस्वार को नहीं प्राप्त करते हैं, बहुत स्वरों (से युक्त पदों) के लिए यह (सूत्र) (आरम्भ किया गया है)।...॥१८॥

सू० अ०—दꣳसनाभ्यः, दꣳसोभिः, दꣳसं, वृषदꣳशः, दꣳशुकाः, दꣳष्ट्राभ्यां (—इन पदों) में परवर्ती (ऊष्म-वर्ण के पहले अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—दꣳसनाभ्यः ... दꣳष्ट्राभ्यां—इन पदों में; परः=परवर्ती (ऊष्मवर्ण के पहले) ही अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"वैश्वानराय दꣳसनाभ्यः"। "सजोषावश्विना दꣳसोभिः"। भिः—यह क्यों (कहा)? "ऊती रिशादसः"। "पुरुदꣳससꣳसनिम्"। "वृषदꣳशस्ते"। "पशून्दꣳशुकाः"। "दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून्"। दꣳस—यह कहना ही पर्याप्त था, सभी पदों के पाठ से क्या (लाभ) है? "कुर्वतो मे मोप दसत्" इत्यादि में (अनुस्वार का आगम)

---

(१) ३।२।२ (२) ४।२।४ (३) ७।४।१६ (४) ३।५।११
(५) ३।३।११ (६) ४।२।७ (७) ७।४।२० (८) १।५।११
(९) ५।६।४ (१०) ४।२।४ (११) ५।५।१२ (१२) ५।२।६
(१३) ४।१।१० (१४) ४।३।१३ (१५) १।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वृषदꣳशः"[१] इत्यत्र स्थानद्वयेऽपि "स्रादिषु चैकपदे"[२] इति प्राप्तौ सत्यां पूर्वत्र मा भूदिति। ननु ग्रहणसामर्थ्यादेवानुस्वारागमः पूर्वत्र न भवति। यथा—"ह्रसीयावसीया"[३] इत्यादौ ग्रहणसामर्थ्यादुपपादितम्। नैष दोषः। "स्रादिषु चैकपदे"[२] इत्यत्र ऊष्मसामान्यमुक्तम्। "अथ सकारपराः"[४] इत्यत्र तु तद्विशेष उक्तः। सामान्यविशेषयोर्विषेशो बलीयानिति

न हो जाये (इसलिए सभी पदों का ग्रहण किया गया है)क। पर यह क्यों (कहा)? "वृषदꣳशः"—यहाँ दोनों ही स्थानों में "एक पद में विद्यमान स्रा आदि में भी" इस (सूत्र) से प्राप्ति होने पर पूर्व वाले स्थल में (अनुस्वार का आगम) न हो जाये।ख (पू०) ग्रहण के सामर्थ्य से ही पूर्व वाले स्थल में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। जैसे—"··· ह्रसीया, वसीया ··" इत्यादि में ग्रहण के सामर्थ्य से (अनुस्वार के अभाव की) उपपत्ति की गई है। (सि०) यह दोष नहीं है। "एक पद में विद्यमान स्रा आदि में भी" यहाँ ऊष्म सामान्य को कहा गया है। "अब सकार पर (सकार है बाद में जिनसे उन पदों का अधिकार जानना चाहिए)"—इस (सूत्र) में उस (ऊष्म-वर्ण) का विशेष कहा गया है। सामान्य

(क) पूर्वपक्षी—दꣳसनाभ्यः, दꣳसोभिः और दꣳसम्—इन सभी में 'दꣳस' अंश विद्यमान है। अत एव सूत्र में इन तीन पदों का ग्रहण करने के स्थान पर 'दꣳस' कहना ही पर्याप्त था। इससे भी इन तीन पदों में अनुस्वार की सिद्धि हो जाती।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त तीन पदों के स्थान पर यदि दꣳस का ही ग्रहण किया जाता है तो "कुर्वतो मे मोप दसत्"—यहाँ पर सकार के पूर्व में अनुस्वार का आगम हो जाता है। जबकि यहाँ अनुस्वार का आगम अभीष्ट नहीं है। इस स्थान पर अनुस्वार न हो इसीलिए दꣳस का ग्रहण न करके उपर्युक्त तीन पदों का ग्रहण किया गया है।

दꣳसनाभ्यः। दꣳसोभिरिति दꣳसः—भिः॥ ऊती। रिशादश इति रिश—अदसः॥ पुरुदꣳसमिति पुरु—दꣳसम्॥ वृषदꣳशः॥ दꣳशुकाः॥ दꣳष्ट्राभ्याम्॥ कुर्वतः। मे। मा। उपेति। दसत्॥ वृषदꣳशः॥ प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह क्यों बतलाया गया है कि दूसरे स्थान पर अनुस्वार का आगम होता है।

सिद्धान्ती—'वृषदꣳशः' शब्द में १५।४ से दो स्थानों—षकार के पूर्व में और सकार के पूर्व में—अनुस्वार के आगम की प्राप्ति होती है। किन्तु अनुस्वार का आगम एक ही (=द्वितीय) स्थान पर अभीष्ट है। प्रथम स्थान में 'अनुस्वार' का आगम न हो इसलिए सूत्र में 'पर' का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया गया है।

---

(१) ५।५।१२ (२) १५।४ (३) १६।१३ (४) १६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायः। तथा सति बलवद्बाधनमेव भूषणं न तु दुर्बलबाधनमिति तत्रैव ग्रहणसामर्थ्यं समर्थनीयं न त्वत्र दुर्बलस्थाने। तथा हि लोके अधिकः पुरुषो विरोधिनमधिकमेव बाधते भूषणत्वात् न तु कदाचिदल्पमिति परशब्दप्रयोग उपपद्यते ॥१९॥

वै०—पर इत्यूष्मविशेषणम्। तच्च वृषदꣳशशब्दे अर्थवद्भवति, नान्यत्र। तदयमर्थः—वृषदꣳशशब्दादन्यत्र 'दꣳसनाभ्यः' 'दꣳसोभिः' 'दꣳसम्' 'दꣳशः' 'दꣳशुका दꣳष्ट्राभ्याम्' इत्येतेषूष्मसु परतः दशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति। वृषदꣳश इत्यत्र तु पर

तथा विशेष में विशेष बलवान् होता है—यह न्याय है। वैसा होने पर बलवान् का बाध करना ही शोभा की बात है न कि दुर्बल का बाध करना। वहाँ पर ही ग्रहण-सामर्थ्य का समर्थन करना चाहिए, किन्तु यहाँ दुर्बल-स्थान में नहीं। जैसे लोक में विशिष्ट (बलवान्) पुरुष विशिष्ट (बलवान्) ही विरोधी (पुरुष) का बाध करता है, क्योंकि यही शोभा की बात है, कभी भी कृश व्यक्ति का नहीं—अतएव 'पर' शब्द का प्रयोग उपपन्न होता है[क] ॥१९॥

वै० अ०—पर—यह ऊष्म (वर्ण) का विशेषण है। और वह (पर) 'वृषदꣳश' शब्द में सार्थक होता है, अन्य (शब्दों) में नहीं। इससे यह अर्थ हुआ—'वृषदꣳश' शब्द से अन्य दꣳसनाभ्यः, दꣳसोभिः, दꣳसम्, दꣳशः, दꣳशुका, दꣳष्ट्राभ्याम्—इन (पदों) में ऊष्म (—वर्ण) बाद में होने पर द

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह बतलाना आवश्यक नहीं है कि 'वृषदꣳशः' में दूसरे स्थान पर हो 'अनुस्वार' का आगम होता है, प्रथम स्थान पर नहीं। प्रकृत सूत्र में 'वृषदꣳशः' का जो ग्रहण किया गया है उसमें प्रथम स्थान में 'अनुस्वार' का आगम नहीं हुआ है। 'वृषदꣳसः' का ग्रहण ही इस शब्द के पाठ को निश्चित करने में पर्याप्त है। १६।१३ के भाष्य में इसी सिद्धान्त के आधार पर यह निश्चित किया गया था कि ह्रसीया, वसीया, तस्थिवा और ससृवा में सकार के पूर्व में अनुस्वार का आगम नहीं होता है।

सिद्धान्ती—प्रकृत सूत्र (१६।१९) से सम्बद्ध १५।४ में निमित्त के रूप में ऊष्म-सामान्य का कथन हुआ है। १६।१३ से सम्बद्ध १६।१ में निमित्त के रूप में ऊष्म-विशेष (=सकार) का कथन हुआ है। सामान्य और विशेष में विशेष अधिक बलवान् होता है—यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार १६।१ बलवान् है और १५।४ दुर्बल है। १६।१३ में उद्धृत ह्रसीया, वसीया इत्यादि के प्रसङ्ग में ग्रहण के सामर्थ्य से १६।१ का जो बाध किया गया है वह उचित है, क्योंकि बलवान् का बाध करना एक शोभा की बात है। प्रकृत सूत्र में उद्धृत 'वृषदꣳशः' के प्रसङ्ग में ग्रहण के सामर्थ्य से १५।४ का बाध करना उचित नहीं है, क्योंकि दुर्बल का बाध करना शोभा की बात नहीं है। अतः प्रथम स्थान (वृषदꣳशः के षकार के पूर्व) में अनुस्वार के बाध के लिये प्रस्तुत सूत्र में 'पर' शब्द का प्रयोग किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊष्मा निमित्तं न पूर्वः। ततः वृषद$^{र्}$शशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति श इत्यस्मिन् परतः। उदाहरणानि—"वैश्वानरस्य द$^{र्}$सनाभ्यः"[१]। "सजोषावभ्विना द$^{र्}$सोभिः"[२]। भिरिति किम्? "युष्माकोती रिशादसः"[३]। "पुरुद$^{र्}$स$^{र्}$सनिम्"[४]। द$^{र्}$स इति सामान्यरूपग्रहणे "कुर्वतो मे मोप दसत्"[५] इत्यादावपि स्यात्। "हलीक्ष्णो वृषद$^{र्}$शस्ते"[६]। "पशून् द$^{र्}$शुकास्युः"[७]। "स्तेगान्द$^{र्}$ष्ट्राभ्याम्"[८]। पर इति वचनात् वृषद$^{र्}$श इत्यत्र षकारात्प्राग-नुस्वारो न भवति ॥१९॥

म$^{ँर्}$स्ये म$^{र्}$सतै य$^{र्}$सद्य$^{र्}$सन्व$^{र्}$सते व$^{र्}$सगः ॥२०॥

मा०—मँस्ये, मँसतै, यँसत्, यँसन्, वँसते, वँसगः, इत्येतेषु ग्रहणेषु ऊष्मपरेषु अनु-स्वारागमो भवति। यथा—"पशून्नाभि मँस्ये"[९] इति। "अनु नौ शूरमँसतै भद्राः"[१०]। "अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यँसद्विश्वम्"[११]। "अस्मभ्यमिषवः शर्म यँसन्"[१२]। "अग्निर्नो वँसते रयिम्"[१३]। "तिग्मभृङ्गो न वँसगः"[१४] ॥२०॥

त्रि०—म$^{ँर्}$स्ये, म$^{र्}$सतै, य$^{र्}$सत्, य$^{र्}$सन्, व$^{र्}$सते, व$^{र्}$सगः एषु ग्रहणेषु स्यादनुस्वारागमः। यथा—"पशून्नाभि म$^{ँर्}$स्ये"[९]। "शूर म$^{र्}$सतै भद्रा इन्द्रस्य"[१०]। "शोचिषा य$^{र्}$सद्विश्वं न्यत्रिणम्"[११]। "इषवश्शर्म य$^{र्}$सन्"[१२]। "अग्निर्नो व$^{र्}$सते

शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। 'वृषद$^{र्}$श'—यहाँ पर तो बाद वाला ऊष्म (—वर्ण) निमित्त है, पूर्ववर्ती (ऊष्म-वर्ण) नहीं। इसलिए वृषद$^{र्}$श शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है श यह (शब्द) बाद में होने पर। .....। द$^{र्}$स—इस सामान्य रूप का ग्रहण करने पर "कुर्वतो मे मोप दसत्" इत्यादि में भी (अनुस्वार) हो जायेगा। "हलीक्ष्णो वृषद$^{र्}$शस्ते"। "पशून् द$^{र्}$शुकास्युः"। "स्तेगानन्द$^{र्}$ष्ट्राभ्याम्। पर—इस कथन से 'वृषद$^{र्}$श'—यहाँ पर षकार से पहले अनुस्वार का आगम नहीं होता ॥१९॥

सू० अ०—म$^{ँर्}$स्ये, म$^{र्}$सतै, य$^{र्}$सत्, य$^{र्}$सन्, व$^{र्}$सते, व$^{र्}$सगः (में अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—म$^{ँर्}$स्यै, म$^{र्}$सतै, य$^{र्}$सत्, य$^{र्}$सन्, व$^{र्}$सते, व$^{र्}$सगः—इन पदों में अनुस्वार का आगम होता है।....।[क] म$^{र्}$स्, य$^{र्}$स्, व$^{र्}$स्—यह

(क) म$^{र्}$स्ये ॥ म$^{र्}$सतै ॥ य$^{र्}$सत् ॥ य$^{र्}$सन् ॥ व$^{र्}$सते ॥ व$^{र्}$सगः ॥ उत्तमस्येत्युत्—तमस्य। अवेति। द्यति ॥ यस्य। भूया$^{र्}$सः ॥ अद्य। वसु। वसति ॥ प० पा०

---

(१) १।५।११ (२) ५।६।४ (३) ४।३।१३ (४) ४।२।४
(५) १।६।३ (६) ५।५।१२ (७) ५।२।६ (८) ४।१।१०
(९) ३।१।६ (१०) ७।४।१५ (११) ४।६।१ (१२) ४।६।६
(१३) ४।६।१ (१४) २।६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रयिम्"[१]। "तिग्मशृङ्गो न वꣳसगः"[२]। मꣳस्, यꣳस्, वꣳस् इत्येतावतैवाल, किमखिलपदपाठेन ? "उत्तमस्याव द्यति"[३], "यस्य भूयाꣳसः"[४], "अद्य वसु वसति"[५] इत्यादौ मा भूदिति ॥२०॥

वै०—(मꣳस्ये मꣳसतै=) मशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति स्ये सतै इत्यनयोः परतः। (यꣳसद्यꣳसन्=) यशब्दः सत्, सन् इत्यनयोः परतः। (वꣳसते वꣳसगः=) वशब्दः सते, सगः इत्यनयोः परतः। "पशून्नाभि मꣳस्य इति"[६]। "अनु नौ शूर मꣳसतै भद्राः"[७]। "यꣳसद्विश्वं न्यत्रिणम्"[८]। "इषवश्शर्म यꣳसन्"[९]। "अग्निर्नो वꣳसते रयिम्"[१०]। "तिग्मशृङ्गो न वꣳसगः"[११]। सकारमात्रस्य निमित्तत्वे "सोमस्य त्विषि"[१२] इत्यत्र अतिप्रसङ्गः स्यात् ॥२०॥

कहना ही पर्याप्त था, सभी (मꣳस्यै इत्यादि) पदों के पाठ से क्या (लाभ है)? "उत्तमस्याव द्यति", "यस्य भूयाꣳसः" "अद्य वसु वसति" इत्यादि में न हो जायेक ॥२०॥

वै० अ०—(मꣳस्ये मꣳसतै=) स्ये, सतै बाद में होने पर, म शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। (यꣳसद्यꣳसन्=) सत् और सन्—ये बाद में होने पर, य शब्द (परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है)। (वꣳसते वꣳसगः=) सते और सग बाद में होने पर व शब्द (परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है)। ...। सकारमात्र का निमित्तत्व होने पर "सोमस्य त्विषि"—यहाँ अतिप्रसङ्ग हो जायेगाख ॥२०॥

(क) यदि सूत्र में सभी पदों का ग्रहण न किया जाता तो इन स्थलों में भी क्रमशः म, य और व के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता, जो अभीष्ट नहीं है।

(ख) प्रकृत सूत्र में कहा गया है कि 'स्ये' और 'सतै' बाद में होने पर म के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता है। यदि इस सूत्र में यह कहते कि सकार बाद में होने पर म के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता है तो 'सोमस्य' में भी 'म' के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। अतः सकार न कहकर 'स्ये' और 'सतै' कहा गया है।

---

(१) ४।६।१ (२) २।६।११ (३) ६।३।१० (४) ३।१।७
(५) २।५।३ (६) ३।१।६ (७) ७।४।१५ (८) ४।६।१
(९) ४।६।६ (१०) ४।६।१ (११) २।६।१ (१२) १।८।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्न वꣳशम् ॥२१॥

मा०—उत्, न इत्येवंविशिष्टे वंश इत्येतस्मिन्ननुस्वारागमो भवति। यथा—"उद्वꣳशमिव येमिरे"[१]। "प्राचीनवꣳशं करोति"[२]। उन्नेति किमर्थम्? "ब्रह्मवर्चस्येव भवति वशं वा एष चरति"[३] ॥२१॥

त्रि०—उत् न इत्येवम्पूर्वे वꣳशम् इत्यस्मिन्ग्रहणे स्यादनुस्वारागमः। "उद्वꣳशमिव येमिरे"[१]। "प्राचीनवꣳशं करोति"[२]। एवम्पूर्व इति किम्? "भवति वशं वा एष चरति"[३] ॥२१॥

वै०—उत् न इत्येताभ्यामुपबन्धाभ्यां परः (वꣳशम्=) वशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति शमित्यस्मिन् परतः। यथा—"उद्वꣳशमिव"[१]। 'प्राचीनवꣳशम्'[२]। उन्नेति किम्? "उक्षवशमा लभेत"[३]। शमिति किम्? उन्न व इत्येतावत्युक्ते "यन्न वषट् कुर्यात्"[४] इत्यत्रापि स्यात्। अतः श इति वक्तव्यमिति। मकाराधिक्यं विस्पष्टार्थम् ॥२१॥

अक्रꣳस्तोत्क्रꣳस्यते ꣳरस्यते भ्रꣳशते रꣳह्यै च ॥२२॥

मा०—अक्रꣳस्त, क्रꣳस्यते, रꣳस्यते, भ्रꣳशते, इत्येतेषूष्मपर अनुस्वारागमो भवति। यथा—"द्यां वाज्याऽक्रꣳस्त सूर्यम्"[५]। "उत्क्रꣳस्यते स्वाहा"[६]। "नास्माद्राष्ट्रं भ्रꣳशते"[७] ॥ २२ ॥

सू० अ०—उत् और न (पूर्व में होने पर) वꣳशम् (में अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—उत्, न—ये हैं पूर्व में जिसके उस वꣳशम् पद में 'अनुस्वार' का आगम होता है।...क ॥२१॥

वै० अ०—उत्, न—इन उपबन्धों से बाद में स्थित; (वꣳशम्) व शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है, शम्—यह (शब्द) बाद में होने पर।...। शम्—यह क्यों (कहा)? उत् और न पूर्व व—इतने का कथन करने पर 'यन्न वषट् कुर्यात्'—यहाँ भी (अनुस्वार का आगम) हो जाता। अतः श—यह कहना आवश्यक है। मकार का आधिक्य स्पष्टता के लिए है ॥२१॥

सू० अ०—अक्रꣳस्त, उत्क्रꣳस्यते, रꣳस्यते, भ्रꣳशते, रꣳह्यै में भी (अनुस्वार का आगम होता है)।

(क) वꣳशम् ॥ प्राचीनवꣳशमिति प्राचीन—वꣳशम् ॥ वशम्। वै ॥ प० पा०

---

(१) १।६।१२ (२) ६।१।१ (३) २।१।७ (४) ५।१।५
(५) ७।५।१६ (६) ७।१।१६ (७) ५।७।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अक्रꣳस्त, उत्क्रꣳस्यते, रꣳस्यते, भ्रꣳशते रꣳह्यै एषु ग्रहणेषु स्यादनुस्वारागमः। यथा—"द्यां वाज्याऽक्रꣳस्त"[१]। "उत्क्रꣳस्यते स्वाहा"[२]। "उपरꣳस्यते स्वाहा"[३]। "नास्माद्राष्ट्रं भ्रꣳशते"[४]। "पूष्णो रꣳह्यै"[५]। चकारस्य व्यतिहारेणान्वयादुत्तरसूत्रे प्रयोजनमुच्यते ॥२२॥

वै०—(अक्रꣳस्तोत्क्रꣳस्यते रꣳस्यते भ्रꣳशते रꣳह्यै च=) अक्र, उत्क्र, र, भ्र, र इत्येते शब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति। स्त, स्यते, स्यते, शते, ह्यै इत्येतेषु परतः। यथा—"वाज्याऽक्रꣳस्त"[१]। "उत्क्रꣳस्यते स्वाहा"[२]। उदिति उपबन्धव्यावर्त्यं शाखान्तरे। "उपरꣳस्यते स्वाहा"[३]। "न यज्ञाद्भ्रꣳशते"[४]। "रꣳह्या अपामोषधीनाम्"[५]। अक्रꣳस्तादीनां ग्रहणं "शुक्रस्य ज्योतिषस्पते"[६]। "पुरा क्रूरस्य"[७]। "न वै तस्य त ईशते"[८]। "आदित्यै मह्यै स्वाहा"[९]। इत्यादौ मा भूदित्येतदर्थम् ॥२२॥

त्रि० अ०—अक्रꣳस्त, उत्क्रꣳस्यते, रꣳस्यते, भ्रꣳशते, रꣳह्यै—इन पदों में अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"द्यां वाज्याऽक्रꣳस्त"। "उत्क्रꣳस्यते स्वाहा"। "उपरꣳस्यते स्वाहा"। "नास्माद्राष्ट्रं भ्रꣳशते"। "पूष्णो रꣳह्यै"क। परस्पर अन्वय होने से चकार का बाद वाले सूत्र में प्रयोजन कहा जाता है ॥२२॥

वै० अ०—(अक्र··· च=) स्त, स्यते, स्यते, शते और ह्यै बाद में होने पर अक्र, उत्क्र, र, भ्र और र—ये शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं। जैसे—"वाज्याऽक्रꣳस्त"। "उत्क्रꣳस्यते स्वाहा"। उत्—यह उपबन्ध दूसरी शाखा में। "उपरꣳस्यते स्वाहा"। "न यज्ञाद्भ्रꣳशते"। "रꣳह्या अपामोषधीनाम्"। अक्रꣳस्त इत्यादि (शब्दों) का ग्रहण "शुक्रस्य ज्योतिषस्पते", "पुरा क्रूरस्य", "न वै तस्य त ईशते", "आदित्यै मह्यै स्वाहा"ख इत्यादि में न हो जाये इसलिए किया गया है ॥२२॥

(क) वाजी। एति। अक्रꣳस्त॥ उत्क्रꣳस्यत इत्युत्--क्रꣳस्यते॥ उपरꣳस्यत इत्युपरꣳस्यते॥ भ्रꣳशते॥ रꣳह्यै॥ प० पा०

(क) शुक्रस्य। ज्योतिषः। पते॥ पुरा। क्रूरस्य॥ न। वै। तस्य। ते। ईशते॥ अदित्यै। मह्यै। स्वाहा॥ प० पा०

---

(१) ७।५।१६ (२) ७।१।१६ (३) ५।७।४ (४) १।३।१० (५) १।६।११ (६) १।३।१० (७) ४।६।४ (८) १।१।६ (९) ३।१।९ (१०) ७।३।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐकार उख्यस्य नितान्तः ॥२३॥

मा०—रँह्या इत्येतस्मिन् ग्रहणे अनुस्वारागमो भवति, ऐकारस्य च नितान्तो भवति, उख्यस्य शाखिनो मतेन। नितान्तः तीव्रप्रयत्न इत्यर्थः। यथा—"पूष्णो रँह्या अपामोषधीनाम्"[1] ॥ २३ ॥

त्रि०—रँह्यं इत्यस्मिन् ग्रहणे पूर्वसूत्रस्थचकारसमर्पितः ऐकारः, नितान्तः भवति उख्यस्य मते। नितान्तः तीव्रतरप्रयत्न इत्यर्थः। नैतन्मतमिष्टम् ॥ २३ ॥

वै०—अनन्तरोक्ते रँह्यौ शब्दे ऐकार उख्यस्य मतेऽतिप्रयत्नो भवति। नैतदिष्टम् ॥ २३ ॥

विरित्रिसङ्ख्यासु ॥ २४ ॥

मा०—वि, रि, त्रि, इत्येतेषु अनुस्वारागमो भवति, संख्या चेदभिधेया स्यात्, असुन्शब्दं वर्जयित्वा। सु इति सप्तमीविभक्तिरुक्ता भवति। यथा—"प्रथमा अःकारेण। तेन सु इत्येतस्यापि पर्युदासः स्यात्। यथा—"विंशत्यै स्वाहा"[2]। "चत्वारिंशते स्वाहा"[2]। "त्रिंशते स्वाहा"[2]। संख्येति किम्? "प्र वि विशिवांसमीमहे"[3]। असु(न्) इति किम्? "त्रिष्वा रोचने दिवः"[4] ॥ २४ ॥

त्रि०—वि, रि, त्रि इत्येवम्पूर्व ऊष्मपरोऽनुस्वारागमः स्यात्, एभिर्यदि सङ्ख्या उच्यते; असु=सुशब्दं वर्जयित्वा। सु इति सप्तमी विभक्तिरुक्ता। यथा—अःकार प्रथमावि-

---

सू० अ०—उख्य के अनुसार (रँह्यौ का) ऐकार नितान्त (तीव्रतर प्रयत्न वाला) (होता है)।

त्रि० अ०—रँह्यौ—इस पद में, पूर्ववर्ती सूत्र में स्थित चकार से प्रदत्त ऐकार; उख्यस्य=उख्य के; मत में नितान्त होता है। नितान्त=तीव्रतर प्रयत्न वाला—यह अर्थ है। यह मत इष्ट नहीं है ॥ २३ ॥

वै० अ०—अव्यवहित पूर्व में कहे गये रँह्यौ शब्द में ऐकार; उख्यस्य=उख्य के; मत में अतिप्रयत्न वाला होता है। यह (मत) इष्ट नहीं है ॥ २३ ॥

सू० अ०—संख्या का कथन करने वाले वि, रि, त्रि (के बाद में अनुस्वार का आगम होता है ऊष्म वर्ण बाद में होने पर), 'सु' शब्द को छोड़ कर।

त्रि० अ०—वि, रि, त्रि—ये (पद) पूर्व में होने पर और ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर, अनुस्वार का आगम होता है, इनसे यदि संख्या कही जाती है, असु=सु शब्द को छोड़कर। सु-इसके द्वारा सप्तमी विभक्ति कही गई है। जैसे—

---

(१) १।३।१० (२) ७।२।१७ (३) ४।७।१५ (४) ४।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त्युपलक्षणम्। "विꣳशत्यै स्वाहा"[१]। "यद्विꣳशतिर्द्वे"[२]। "चत्वारिꣳशते स्वाहा"[१]। "त्रिꣳशते स्वाहा[१]" "त्रिꣳशत्रयश्च"[३]। त्रिग्रहणं विस्पष्टार्थम्। यतो विरि सङ्ख्यास्वित्येतावतैवालम्। यथा—"वा घाषपूर्व"[४] इत्यत्र वकारो विस्पष्टार्थः। सङ्ख्येति किम्? "विशे जनाय"[५]। "स रिषः पातु',[६]। "त्रिष्टुभैवास्मै"[७]। अस्विति किम्? "त्रिष्वा रोचने दिवः"[८] ॥२४॥

अःकार प्रथमा विभक्ति का बोधक है।....क। 'त्रि' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है। क्योंकि संख्या का कथन करने वाले वि, रि, (के बाद अनुस्वार का आगम होता है', सु को छोड़ कर—इतना कहना ही पर्याप्त था।ख जैसे—"वा, घा और ष पूर्व में होने पर तकार टकार हो जाता है "यहाँ स्पष्टता के लिए वकार (का ग्रहण किया गया है)।ग संख्या—यह क्यों (कहा)? "विशे जनाय", "स रिषः पातु', "त्रिष्टुभैवास्मै"घ। असु=यह क्यों (कहा)? "त्रिष्वा रोचने दिवः"ङ ॥ २४ ॥

(क) विꣳशत्यै ॥ विꣳशतिः ॥ चत्वारिꣳशते ॥ त्रिꣳशते ॥ त्रिꣳशत् ॥ प० पा०

(ख) प्रकृत सूत्र में 'त्रि' का ग्रहण आवश्यक नहीं है, क्योंकि जहाँ त्रि होगा वहाँ 'रि' अवश्य ही होगा। अतः 'रि' कहने से ही 'त्रि' का भी ग्रहण हो जाता है। 'त्रि' वाले स्थल भी 'रि' के ग्रहण से ही सिद्ध हो जाते हैं। यह वस्तुस्थिति होने पर भी सूत्र में 'त्रि' का ग्रहण स्पष्टता के लिए किया गया है।

(ग) ७।१३ में भी वा का प्रयोग आवश्यक नहीं था, क्योंकि घा के बाद में स्थित तकार टकार हो जाता है। 'वाघा' से भी घा का ही ग्रहण होता है। किन्तु यहाँ भी 'वा' का प्रयोग स्पष्टता के लिये किया गया है। 'वा' पूर्व में होने पर ही घा के बाद वाला तकार टकार हो जाता है।

(घ) विशे। जनाय ॥ सः। रिषः। पातु ॥ त्रिष्टुभा। एव। अस्मै ॥ प० पा०
वि, रि, त्रि के बाद में क्रमशः शे, षः और ष् ऊष्म वर्ण हैं, तथापि इनके बाद में अनुस्वार का आगम नहीं होता है, क्योंकि इनसे संख्या का बोध नहीं होता है।

(ङ) त्रिषु। एति। लोचने। दिवः ॥ प० पा०
ऊष्म वर्ण बाद में होने पर भी त्रि के बाद में अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि यह पद सप्तमी विभक्ति में है।

---

(१) ७।२।१७ (२) ५।३।३ (३) १।४।११
(४) ७।१३ (५) २।५।१२ (६) १।२।१४
(७) २।५।१० (८) ४।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—सङ्ख्यावाचिषु प्रातिपदिकेषु अवयवत्वेन वर्तमानाः वि, रि, त्रि इत्येते शब्दाः, परमनुस्वारमुपगच्छन्ति ऊष्मणि परतः। यथा, वि—"एकविꣳशतिमनुब्रूयात्"[१]। "वर्चो द्वाविꣳशः"[२]। रि—"चत्वारिꣳशच्च मे"[३]। "चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा"[४]। त्रि—"त्रिꣳशत्त्रयश्च"[५]। "द्वात्रिꣳशतमनु ब्रूयात्"[६]। सङ्ख्यासु इति किम्? "आ मोर्जा विशा"[७]। "वरुणाय रिशादसे"[८]। "न रिष्येत्त्वावतस्सखा"[९]। नन्वत्र त्रिग्रहणमनर्थकम्। कुतः? रिग्रहणेनैव सिद्धत्वात्, अत्र त्रिशब्दावयवो रिशब्दोऽप्यस्त्येवेति। अत्रोच्यते—सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय। तकारपूर्वे तु रिशब्दे सति तत्सहितस्य यत्रावयवित्वं तत्रैव कार्यं भवति, नान्यत्रेति नियम्यते। तेन "त्रिष्वा रोचने दिवः"[१०]। "त्रिष्टुग्ग्रैष्मी"[११] इत्यादिष्वनुस्वारागमो न भवति। अवयवी ह्यत्र त्रिशब्दः सङ्ख्यावाची, न तु तदवयव इति। अन्ये तु विरित्रि, सङ्ख्या, असु इति पदविभागमाश्रित्य सप्तमीबहुवचनस्य पर्युदासं व्याचक्षते।

वै० अ०—संख्या-वाचक प्रातिपदिकों में अवयव के रूप में वर्तमान वि, रि, त्रि—ये शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं, ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर। '।'[क] (शंका) यहाँ 'त्रि' का ग्रहण अनर्थक है। क्यों? 'रि' ग्रहण से ही सिद्ध हो जाने से, यहाँ त्रि शब्द का अवयव रि शब्द भी है ही। इस विषय में कहते हैं—सिद्ध होने पर नियम के लिए आरम्भ (किया जाता है)। 'रि' शब्द के पूर्व में तकार होने पर जहाँ तत्सहित का अवयवित्व होता है वहाँ ही कार्य होता है अन्यत्र नहीं—यह नियम (किया जाता है)। इससे "त्रिष्वा रोचने दिवः", "त्रिष्टुग्ग्रैष्मी" इत्यादि में अनुस्वार का आगम नहीं होता है, क्योंकि यह संख्यावाचक त्रि शब्द अवयवी है न कि उसका अवयव[ख]। दूसरे आचार्य तो विरित्रि, संख्या, असु—इस पद-विभाग का आश्रय लेकर सप्तमी के बहुवचन के अपवाद (निषेध) को बतलाते हैं।

(क) एकविꣳशतिमित्येक—विꣳशतिम्॥ द्वाविꣳशः॥ चत्वारिꣳशत्॥ चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरेति चतुश्चत्वारिꣳशत्—अक्षरा॥ एति। मा। ऊर्जा। विश। एति॥ वरुणाय। रिशादस इति रिश—अदसे॥ न। रिष्येत्। त्वावत इति त्व—वतः। सखा॥ त्रिषु। एति रोचने। दिवः॥ त्रिष्टुक्। ग्रैष्मी॥ प० पा०

(ख) पूर्वपक्षी—सूत्र में रि शब्द के कथन से त्रि का भी ग्रहण हो जाता है, इसलिये 'त्रि' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है।

सिद्धान्ती—यद्यपि रि से ही त्रि का ग्रहण हो जाता है तथापि त्रि का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है—जहाँ त्रि पद किसी अन्य संख्या-वाचक पद का अवयव होता है वहाँ पर ही अनुस्वार का आगम होता है। जहाँ 'त्रि' स्वयं अवयवी होता है, वहाँ पर अनुस्वार का आगम नहीं होता है।

---

(१) २।५।१० (२) ४।३।८ (३) ४।७।११ (४) २।५।१०
(५) १।४।११ (६) २।५।१० (७) १।५।६ (८) ५।६।२०
(९) २।३।१४ (१०) ४।२।४ (११) ४।३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेषां विरित्रिशब्दाः सङ्ख्यावाचिन इति सामानाधिकरण्यमभ्युपगन्तव्यम्। तत्तु विरिशब्दयोर्बाधितम्। न हि प्रातिपदिकैकदेशोऽर्थवान्, येन सङ्ख्यावाची स्यात्। षुशब्दपर्युदासे चिकीर्षिते अषु इति षकारमेव ब्रूयात्। त्रिषु प्रवादेऽतिप्रसङ्गस्य नास्ति परिहारः। तथा त्रिग्रहणानर्थक्यं चेति हेयमेतत् ॥ २४ ॥

शिꣳशुमारꣳशिꣳषत्सꣳश्वा सꣳस्रासꣳस्कृत्य सꣳसृष्ट सꣳस्कृतꣳ सꣳशितस्सꣳशिता किꣳशिल किꣳशिल ॥२५॥

मा०—शिꣳशुमारः, शिꣳषत्, सꣳश्वा, सꣳस्रा, सꣳस्कृत्य, सꣳस्कृतम्, किꣳशिल, इत्येतेषूष्मपरेषु अनुस्वारागमो भवति। यथा—"सिन्धोः शिꣳशुमारः"[1]। "किन्तत उच्छिꣳषतीति"[2]। "उभयतः सꣳश्वायि कुर्यात्"[3]। "सꣳस्रावभागास्स्थ"[4]। "शरीरमेव सꣳस्कृत्य"[5]। "तन्नस्सꣳस्कृतम्"[6]। "किꣳशिल वन्य या"[7]। "किꣳशिलश्चतुर्थः"[7]। "किꣳशिलाय च क्षणाय च"[8]। किंशिलेत्येतावत्येवोक्ते "अग्ने दुध्रगह्यकिꣳशिलवन्य"[7] इत्यत्र पदस्यैव ग्रहणं स्यान्न पदैकदेशस्य। "किꣳशिलाय" इत्येवमादौ कस्मात्? "पदग्रहणेषु पदं गम्येत"[9] इति वचनात्। द्वितीयकिꣳशिलग्रहणे सति "ग्रहणस्य च"[10] इति ग्रहणात् किंशिलायेत्येवमादेरपि सिध्यत्येव ॥२५॥

त्रि०—शिꣳशुमारः, शिꣳषत्, सꣳश्वा, सꣳस्रा, सꣳसृष्ट, सꣳस्कृत्य, सꣳस्कृतं, सꣳशितः, सꣳशिता, किꣳशिल, किꣳशिला एषु ग्रहणेषु स्यादनुस्वारागमः। यथा—

उनके मत में वि, रि, त्रि संख्या के वाचक हैं—इस सामानाधिकरण्य को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु वि और रि शब्दों में उसका बाध हो जाता है। क्योंकि प्रातिपदिक का एकदेश सार्थक नहीं होता है, जिससे वह संख्यावाची हो जाये। षु शब्द का पर्युदास अभीष्ट होने पर 'अषु' यहाँ पर षकार का ही कथन करना चाहिए। त्रिषु पद में अतिप्रसङ्ग से बचा नहीं जा सकता है। उसी प्रकार 'त्रि' का ग्रहण अनर्थक है—अतः यह (मत) हेय है ॥ २४ ॥

सू० अ०—शिꣳशुमारः, शिꣳषत्, सꣳश्वा, सꣳस्रा, सꣳस्कृत्य, सꣳसृष्ट, सꣳस्कृतं, सꣳशितः, सꣳशिता, किꣳशिल, किꣳशिला (में अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—शिꣳशुमार···किꣳशिला—इन पदों में अनुस्वार का आगम

---

(१) ५।५।११ (२) ५।५।५ (३) २।६।८ (४) १।१।१३
(५) ५।६।६ (६) १।४।४३ (७) ५।५।६ (८) ४।५।६
(९) १।५० (१०) १।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सिन्धोश्शँशुमारः"[१]। "किं तत उच्छँषतीति"[२]। "उभयतस्सँश्वायि कुर्यात्"[३]। "सँस्नावभागास्स्थ"[४]। "सँसृष्टजित्"[५]। "शरीरमेव सँस्कृत्य"[६]। "तन्नस्सँस्कृतम्"[७]। "ब्रह्मसँशितो ह्येषः"[८]। "शरव्ये ब्रह्मसँशिता"[९]। किँशिल वन्य या ते"[१०]। परकिँशिलग्रहणं पदैकदेशतया बहूपादानार्थम्। "किँशिलश्चतुर्थः"[१०]। "नमः किँशिलाय च"[११]। ननु सँसृष्टेत्यत्र षकारपरोऽनुस्वारागमः किं न स्यात्? मैवम्। अत्र सूत्रे सर्वत्र पदादिवर्णानन्तरमेवानुस्वारदर्शनात्, तत्साहचर्यादत्रापि तथैव विज्ञेयं, न वैपरीत्ये कारणमस्ति ॥२५॥

वै०—शिशब्दः शुमारः षत् इत्यनयोः परतोऽनुस्वारमुपगच्छति। यथा—सिन्धोश्शँशुमारः"[१२]। "किं तत उच्छँषतीति"[१३]। एवंपर इति किम्? "शिशुं जातम्"[१४]। "तामाशिषमाशासे"[१५]। सशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति। श्वा इत्यादिषु परतः। श्वा—"उभयतस्सँश्वायि कुर्यात्"[१६]। स्ना—"सँस्नावभागास्स्थ"[१७]। स्कृत्य—"शरीरमेव

होता है।....।[क] दूसरा किँशिल शब्द पद का एकदेश होने से बहुत (पदों) के ग्रहण के लिए है। "किँशिलश्चतुर्थः"। "नमः किँशिलाय च"।[ख] (पू०) सँसृष्ट—यहाँ षकार बाद में होने पर (अर्थात् षकार के पूर्व में) अनुस्वार का आगम क्यों नहीं होता है? (सि०) ऐसा नहीं है। इस सूत्र में सभी स्थलों पर पदादि वर्ण (प्रथम स्वर) के बाद ही अनुस्वार (का आगम) दिखलाई पड़ने से उसके साहचर्य से यहाँ भी उसी प्रकार जानना चाहिए। विपरीत बात मानने में कोई कारण नहीं है ॥२५॥

वै० अ०—शुमारः और षत्—ये दोनों बाद में होने पर शि शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। जैसे—"सिन्धोश्शँशुमारः"। किं तत उच्छँषतीति"। ये (शुमार और षत्) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "शिशुं जातम्"। "तामाशिषमाशासे"। श्वा (स्ना, स्कृत्य, सृष्ट, स्कृतं, शितः शिता=) इत्यादि; बाद

(क) शिँशुमारः॥ शिँषति॥ सँश्वायीत्युभयतः—सँश्वायि॥ सँस्नावभागा इति सँस्नाव—भागाः॥ सँसृष्टजिदिति सँसृष्ट—जित्॥ सँस्कृत्य॥ सँस्कृतम्॥ ब्रह्मसँशित इति ब्रह्म—सँशितः॥ ब्रह्मसँशितेति ब्रह्म—सँशिता॥ किँशिल॥ प० पा०

(ख) किँशिलः। चतुर्थः॥ नमः। किँशिलाय। च॥प० पा०

---

(१) ५।५।११ (२) ५।५।५ (३) २।६।८ (४) १।१।१३
(५) ४।६।४ (६) ५।६।६ (७) १।४।४३ (८) २।५।६
(९) ४।६।४ (१०) ५।५।९ (११) ४।५।६
(१२) ५।५।११ (१३) ५।५।५ (१४) ३।५।११ (१५) १।५।६
(१६) २।६।८ (१७) १।१।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सꣳस्कृत्य"[१]। सृष्ट—"सꣳसृष्टजित्सोमपाः"[२]। स्कृतं—"तन्नस्सꣳस्कृतम्"[३]। शितः—"ब्रह्मसꣳशितः"[४]। शिता—"ब्रह्मसꣳशिता"[५]। एवं पर इति किम्? "सस्यं पच्यते"[६]। "स सवान्त्सन् स्तूयसे"[७]। "सहस्त्थ सहो वः"[८]। किशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति शिलशब्दे परतः। "किꣳशिलभ्रतुर्थः"[९]। "किꣳशिलाय च क्षणाय च"[१०]। लपर व्यावर्त्यं शाखान्तरे। अन्ये तु अत्र द्वौ किꣳशिलशब्दौ पठन्तो व्याचक्षते—एकं पदग्रहणं अन्यत्पदैकदेशग्रहणम्। तद्ग्रहणसामर्थ्यादिह पदैकदेशेऽपि कार्यं भवतीति। तन्मन्दम्। एकेनैवाकारान्तेन पदैकदेशग्रहणेन सर्वत्र कार्यसिद्धेः। न ह्याकारान्तनिर्देशेषु पदग्रहणपरिभाषा प्रवर्तते, अपदग्रहणत्वात्। तदभ्युपगमे तु "चीयत्प्रपरः"[११] "शकारश्चपरः"[१२] "शकारं चपरः"[१३] इत्यादि निर्देशास्तत्रतत्र कर्तव्यास्युः। तस्मात्परिभाषा न भवति यन्निबन्धनोऽयं प्रलापः। तस्मान्निरर्थकोऽत्र द्वितीयः पाठः ॥२५॥

में होने पर स शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। श्वा—"उभयतस्सꣳश्वायि कुर्यात्"। स्ना—"सꣳस्नावभागास्स्थ"। स्कृत्य—शरीरमेव सꣳस्कृत्य"। सृष्ट—"सꣳसृष्टजित्सोमपाः"। स्कृतं—"तन्नस्सꣳस्कृतम्"। शितः—"ब्रह्म सꣳशितः"। शिता—"ब्रह्म सꣳशिता"। ये (श्वा इत्यादि) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सस्यं पच्यते"। "स सवान्त्सन् स्तूयसे"। "सहस्त्थ सहो वः"। शिल शब्द बाद में होने पर कि शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है। "किꣳशिलश्चतुर्थः"। "किꣳशिलाय च क्षणाय च"। दूसरी शाखा में लपर का प्रत्युदाहरण उपलब्ध होता है। दूसरे लोग तो यहाँ दो किꣳशिल शब्दों का पाठ करते हैं—एक (किꣳशिल) पद का ग्रहण है तथा दूसरा पद के एकदेश का ग्रहण है। उसके ग्रहण के सामर्थ्य से यहाँ पद के एकदेश में भी कार्य (सिद्ध) होता है। वह (दो पदों का ग्रहण और तदनुसार व्याख्या) मूर्खतापूर्ण है। एक ही अकारान्त पद के एक देश के ग्रहण से सर्वत्र कार्य की सिद्धि हो जाती है। अकारान्त निर्देशों में पदग्रहण—परिभाषा (पद के उद्धरणों में उस पद को ही जानना चाहिए १.५०) प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि (अकारान्त उद्धरण से) पद का (भी) ग्रहण किया गया है। उसको स्वीकार करने पर तो "यत् अथवा प्र बाद में होने पर ची प्रग्रह होता है" "च बाद में हो तो शकार का आगम होता है, "च बाद में होने पर नकार शकार हो जाता है" इत्यादि निर्देश वहाँ-वहाँ (उन-उन स्थलों में) करने पड़ते। इसलिए पदग्रहणपरिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, जिस आधार पर यह बकवास की गई है। इसलिए यहाँ पर द्वितीय पाठ निरर्थक है ॥२५॥

---

(१) ५।६।६ (२) ४।६।४ (३) १।४।४३
(४) २।५।६ (५) ४।६।४ (६) ५।१।७
(७) ४।२।४ (८) १।५।६ (९) ५।५।६
(१०) ४।५।६ (११) ४।३३ (१२) ५।४
(१३) ५।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितृदहकारपरः ॥२६॥

मा०—सितृदहकारपरेष्वनुस्वारागमो भवति। यथा—"सँहो नकुलो व्याघ्रः"[१]। "वितृँहाणास्तिष्ठन्त्येतामेव"[२]। प्राणन्दँहापानं दँह"[३]। हकारपर इति किम्? "भृङ्गाणि सिषासन्तीस्तासाम्"[४] ॥२६॥

त्रि०—सि तृ दृ इत्येवम्पूर्वो हकारपरः स्यादनुस्वारागमः। यथा—"सिँहो वयः"[५]। "शततर्हाँस्तृँहन्ति"[६]। "दृँहस्व मा ह्वाः"[७]। एवम्पूर्व इति किम्? "सपत्नसाही स्वाहा"[८]। "अनतिदाहायोवाच"[९]। ऋकारेणैवालं, किं तकारदकाराभ्याम्। "गृहाणामसमत्यँ"[१०]। एवम्पर इति किम्? "सिषासन्तीः"[४]। "तृष्वीमनु"[११]। "नक्तं दृशे दीप्यते"[१२]। हकारः परो यस्मादसौ हकारपरः ॥२६॥

वै०—सि, तृ, दृ इत्येते शब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति; (हकारपरः=) हकारे परतः। सि—"सिँहीरसि"[८]। "सिँहो नकुलः"[१]। तृ—"वितृँहाणास्तिष्ठन्ति"[२]। "शततर्हाँस्तृँहन्ति"[६]। दृ—"दृँहस्व मा ह्वाः"[७]। "पृथिवीं दृँह"[१३]। हकारपर इति किम्? "भृङ्गाणि सिषासन्तीः"[४]। "तेऽमुष्मिन् लोके व्यतृष्यन्"[१४]। "दृशे विश्वाय सूर्यम्"[१५] ॥२६॥

सू० अ०—हकार बाद में होने पर सि, तृ, दृ (के बाद में अनुस्वार का आगम होता है।

त्रि० अ०—सि, तृ, दृ—ये पूर्व में होने पर; और हकारपरः=हकार बाद में होने पर; अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"सिँहो वयः"। "शततर्हाँस्तृँहन्ति"। "दृँहस्व मा ह्वाः"। ये (सि, तृ, दृ) पूर्व में होने पर—यह क्यों (कहा)? "सपत्नसाही स्वाहा"। "अनतिदाहायोवाच"। ऋकार कहना ही पर्याप्त था तकार तथा दकार से क्या (लाभ है)? "गृहाणामसमत्यँ"क। यह (हकार) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? सिषासन्तीः" "तृष्वीमनु" "नक्तं दृशे दीप्यते"। हकार है बाद में जिससे वह=हकारपर ॥२६॥

वै० अ०—(हकारपरः=) हकार बाद में होने पर; सि, तृ, दृ—ये शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करते हैं।" ख॥२६॥

(क) यदि ऋकार का ही ग्रहण किया जाता तो 'गृहाणाम्' में ऋ के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। अनिष्ट रूप के निवारण के के लिए तकार और दकार का ग्रहण किया गया है।

सिँहः ॥ शततर्हानिति शत–तर्हान् ॥ दृँहस्व ॥ सपत्नसाहीति सपत्न–साही ॥ अनतिदाहायेत्यनति—दाहाय। गृहाणाम् ॥ सिषासन्तीः ॥ तृष्वीम् ॥ प० पा०

(ख) सिँहीः ॥ अतृष्यन् ॥ दृशे ॥ प० पा०

---

(१) ५।५।२१ (२) २।२।११ (३) १।१।७ (४) ७।५।२
(५) ४।३।५ (६) १।५।७ (७) १।१।३ (८) १।२।१२
(९) ५।२।१० (१०) ३।३।८ (११) १।२।१४ (१२) १।६।४
(१३) १।१।३ (१४) १।५।४ (१५) १।४।४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मꣳहिष्ठस्य च ॥२७॥

मा०—च शब्दो हकारपरस्थानमन्वादिशति। मँहिष्ठस्येत्येतस्मिन् ग्रहणे हकारपरोऽनुस्वारागमो भवति। यथा—"मँहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधा वः"[१]। हकारपर इति किम्? षकारसकारपरावपि स्तः, तन्मा भूदिति ॥२७॥

त्रि०—मꣳहिष्ठस्य इत्यस्मिन् ग्रहणे चकाराकृष्टहकारपरोऽनुस्वारागमो भवति। यथा—"मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य"[१]। चकारः किमर्थः? अत्रैव ग्रहणे षसकारपरो मा भूदिति ॥२७॥

वै०—मशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति हिष्ठस्येत्यस्मिन् हकारे परतः। "मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य"[१]। एवंपर इति किम्? "महिषीरसि"[२] ॥२७॥

आदिरꣳहतिरꣳहोऽꣳहोरꣳ होमुगत्यꣳहा अꣳहसोऽꣳहसाऽꣳशमꣳशुभिरꣳ शभु वाऽꣳश्वꣳशू अꣳशवोऽꣳशुरꣳशुमꣳशून्ꣳशुनाऽꣳशोरꣳशायो-पाꣳश्वꣳशावग्रहे ॥२८॥

मा०—अँहतिः, अँहः, अँहोः, अँहोमुक्, अँहसः, अँहसा, अँशम्, अँशभुवा, अँशुः अँशू, अँशवः, अँशुम्, अँशून्, अँशुना, अँशोः, अँशाय, उपाँशु, अँशौ, अँशु। अंहतिरित्येवमादिषु आदिरनुस्वारागमो भवति। यथा—"परिद्वेषसो अँहतिः"[३]। "पाप्मा वा अँह इन्द्रम्"[४]। "अँहोश्चिद्या वरिवो वित्तरासत्"[५]। "द्यावापृथिवीभ्यामँहोमुग्भ्यां द्विक-

---

सू० अ०—मꣳहिष्ठस्य में भी (अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—मꣳहिष्ठस्य—इस पद में चकार से आकृष्ट हकार बाद में होने पर अनुस्वार का आगम होता है। जैसे—"मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य"[क]। चकार (का प्रयोग) किसलिए (किया गया है)? षकार और सकार के पूर्व में (अनुस्वार का आगम) न हो जाये—इसलिए (चकार के द्वारा हकार की अनुवृत्ति की गई है) ॥२७॥

वै० अ०—म शब्द परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है हिष्ठस्य का हकार बाद में होने पर। "मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य"। यह (हिष्ठस्य) बाद में होनें पर—यह क्यों (कहा)? "महीषीरसि"[ख] ॥२७॥

सू० अ०—अꣳहतिः, अꣳहः, अꣳहोः, अꣳहोमुक्, अत्यꣳहाः, अꣳहसः,

(क) मꣳहिष्ठस्य ॥ प० पा०

(ख) महिषीः। असि ॥ प० पा०

---

(१) ४।२।३ (२) १।२।१२

(३) २।६।११ (४) २।२।७ (५) १।४।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालः"[१]। "प्र मुञ्चन्तो नो अँहसः"[२]। "अँहसा वा एष गृहीतः"[३]। "तस्यामँशमाहरन्त तामप्सु प्रावेशयन्"[४]। राजानमँशभुवा छन्ति"[५]। "अँशुः पृच्यताम्"[६]। "वृष्णो ह्येतावँशू"[७]। "प्राणा वा अँशवः पशवः"[८]। "यदध्वर्युरँशुं गृह्णन्नार्द्धुयेत्"[९]। "अँशूनप गृह्णाति"[१०]। "अँशुना ते अँशुः पृच्यताम्"[११]। "यो वा अँशोरायतनं वेद"[१२]। "अँशाय स्वाहा"[१३]। "उपाँशु सवनो यदुपाँशु सवनमभि"[१४]। "उपाँशो समस्थापयन्"[१५]। अँशु इति स्वरूपपदग्रहणं च गृह्यते। यथा—"तानुपाँशु गृह्णीयात्"[१६]। "तेनाँशुमत्"[१७]। "अँशुरयां गभस्तिपूतः"[१८]। "षड्भिरँशुभिः पवयति"[१९]। "अप्यकारादि"[२०] वचनात् "अनँशु कुर्वन्तः"[२१] ॥२८॥

त्रि०—अ॒ँहतिः, अ॒ँहः, अ॒ँहोः, अ॒ँहोमुक्, अत्य॒ँहाः, अ॒ँहसः, अ॒ँहसा, अ॒ँशं, अ॒ँशुभिः, अ॒ँशभुवा, अ॒ँशु, अ॒ँशू, अ॒ँशवः, अ॒ँशुः, अ॒ँशुं, अ॒ँशून्, अ॒ँशुना, अ॒ँशोः, अ॒ँशाय, उपा॒ँशु, अ॒ँशौ एतेष्वादिरनुस्वारागमो भवति। यथा—"परिद्वेषसो अ॒ँहतिः"[२२]। "अ॒ँहोमुचं वृषभम्"[२३]। सूत्रे संहितायामोत्वस्याम्नानात् "अहर्देवानाम्"[२४] इत्यादौ न स्यादयं विधिः। किन्तु यस्मिन् विसर्जनीयो रेफं नापद्यते, तस्यैवोपादानम्। "अ॒ँहोश्चिद्या"[२५]। "अंहोमुक्त्याम्"[२६]। नन्वयं चैक [चक्र] बन्धः, रेफमप्राप्तस्यायं

अ॒ँहसा, अ॒ँशं, अ॒ँशुभिः, अ॒ँशभुवा, अ॒ँशु, अ॒ँशू, अ॒ँशवः, अ॒ँशुः, अ॒ँशुं, अ॒ँशून्, अ॒ँशुना, अ॒ँशोः, अ॒ँशाय, उपा॒ँशु, अ॒ँशौ इनमें आदि (स्वर को अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—अ॒ँहति····अ॒ँशौ—इनमें आदि (स्वर) अनुस्वार के आगम को प्राप्त करता है। जैसे—"परिद्वेषसो अ॒ँहतिः"। "अ॒ँहोमुचं वृषभम्"। यतः सूत्र में संहिता में निष्पन्न ओत्व का पाठ किया गया है अतः "अहर्देवानाम्" इत्यादि में यह विधि नहीं होती है। किन्तु जिसमें विसर्जनीय रेफ नहीं होता है, उसका ही ग्रहण होता है।[क] "अ॒ँहोश्चिद्या"। (पूर्वपक्षी) किन्तु (सूत्र में अ॒ँहोर् रूप होने के

(क) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'अहः' में अनुस्वार के आगम का विधान किया गया है, अतः 'अहर्देवानाम्' इत्यादि में भी 'अहः' में अनुस्वार का आगम होकर "अ॒ँहर्देवानाम्" रूप निष्पन्न होना चाहिए।

सिद्धान्ती—यह सच है कि सूत्र में 'अहः' में अनुस्वार के आगम का विधान किया गया है, किन्तु सूत्र में संहिता-पाठ का यह रूप उद्धृत किया गया है—अ॒ँहो।

---

(१) ७।५।२२ (२) ४।३।१३ (३) २।४।२ (४) ७।१।६
(५) ६।४।८ (६) १।२।६ (७) ६।४।५ (८) ६।४।४
(९) ६।६।१० (१०) ६।४।४ (११) १।२।६ (१२) ६।६।१०
(१३) १।८।१३ (१४) ६।४।४ (१५) ६।४।६ (१६) ३।१।९
(१७) ३।२।२ (१८) १।४।२ (१९) ६।४.५ (२०) १।५२
(२१) ३।२।२ (२२) २।६।११ (२३) १।६।१२ (२४) १।५।६
(२५) १।४।२२ (२६) ७।५।२२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधिः, विहितानुस्वारस्यैव रेफनिषेधतेति। नैष दोषः। सिद्धस्यैवानुस्वारस्य बोधनं न तु विधिरिति। "ऋतपाश्चात्यꣳहाः"[१]। अतीति किम्? "षडहा भवन्ति"[क]। "ते नो मुञ्चतमꣳहसः"[२]। "अꣳहसा वा एष गृहीतः"[३]। अꣳहेत्येतावता सिद्धेः कुतः सकलपदपाठः? "स रसमह वसन्ताय"[४] इत्यादिनिषेधार्थः। "परिपश्यामोऽꣳशम्"[५]। "षड्भिरꣳशुभिः पवयति"[६]। "त्वयाऽꣳशुवा सोमम्"[७]। भुवेति किम्? अꣳशेत्येतावता ग्रहणे तथाविधपदसद्भावात् "अꣳशम्"[ख] इत्यत्र न स्यात्। "तेनाꣳशुमत्"[ग]।

कारण) यह एक सीमा जाननी चाहिए कि रेफ को अप्राप्त (अꣳहोः) का यह विधान है, विहित अनुस्वार में ही रेफ का निषेध होता है। (सिद्धान्ती) यह दोष नहीं है। सिद्ध अनुस्वार का यहाँ बोधन कराया गया है, विधान नहीं। "ऋतपाश्चात्यꣳहाः"। अति—यह क्यों (कहा)? "षडहा भवन्ति"।[क] "ते नो मुञ्चतमꣳहसः"। "अꣳहसा वा एष गृहीतः"। अꣳह—(पद के एकदेश के)—इस कथन से ही सिद्ध हो जाने से सभी पदों का पाठ क्यों (किया गया है)? (उत्तर) "स रसमह वसन्ताय"—यहाँ (अनुस्वार के आगम) के प्रतिषेध के लिए।[ख] "परिपश्यामोऽꣳशम्", "षड्भिरꣳशुभिः पवयति", "त्वयाऽꣳशुवा सोमम्"। भुवा—यह क्यों (कहा)? अꣳश इतने अंश का ग्रहण करने पर वैसे पद (अꣳश) के सद्भाव से अꣳशम्—यहाँ (अनुस्वार का आगम) नहीं होगा।[ग]

अतएव 'अहः' में वहीं अनुस्वार का आगम होगा जहाँ संहिता-पाठ में अहः का अहो होगा। अनुस्वार का आगम वहाँ नहीं होगा जहाँ संहिता-पाठ में 'अहः' का अहर् रूप होगा।

(क) षडहा इति षट्—अहाः॥ अहाः में अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है, क्योंकि इसके पूर्व में 'अति' नहीं 'षड्' है।

(ख) पूर्वपक्षी—अꣳहतिः से लेकर अꣳहसा तक के सभी पदों के एकदेश के रूप में अꣳह विद्यमान है। अꣳह—इस एकदेश का सूत्र में ग्रहण किया जाने पर सभी पदों में अनुस्वार का आगम सिद्ध हो जायेगा। यह वस्तुस्थिति होने पर सूत्र में सभी पदों का ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—यदि सूत्र में अꣳह का ही ग्रहण किया जाता तो 'रसमह' में भी अनुस्वार का आगम हो जाता और यह पाठ सिद्ध होता—'रसमꣳह'। किन्तु यह पाठ अभीष्ट नहीं है। इस स्थल में अनुस्वार का आगम न हो इसलिए सूत्र में केवल 'अꣳह' का ग्रहण न करके सभी पदों का ग्रहण किया गया है।

(ग) पूर्वपक्षी—सूत्र में 'भुवा' का ग्रहण क्यों किया गया है? केवल अꣳश (पद के एकदेश) का ग्रहण करना चाहिए। इससे सूत्र में उद्धृत अꣳशम् में भी अनुस्वार

---

(१) १।८।१३ (२) ७।५।१ (३) ४।७।१५
(४) २।४।२ (५) ७।२।१० (६) ७।१।६
(७) ६।४।५ (८) ६।४।८ (९) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अन्कारादि"[१] इति वचनात् "अनꣳशु कुर्वन्तः"[२] इत्यप्युदाहरणम्। "वृष्णो ह्येतावꣳशू"[३]। "प्राणा वा अꣳशवः"[४]। "अꣳशुरꣳशुस्ते"[५]। "यमादित्या अꣳशुम्"[६]। "अꣳशूनपगृह्णाति"[७]। "अꣳशुना ते अꣳशुः"[८]।" यो वा अꣳशोरायतनम्"[९]। "अꣳशाय स्वाहा भगाय"[१०]। "उपाꣳशुसवनो यदुपाꣳशुसवनम्"[११]। "तमुपाꣳशौ समस्थापयन्"[१२] अꣳश्वित्येतावति गृहीते इतरेषामपरिग्रहः स्यात्, तथाविधपदसद्भावात्। अथोभयं गृह्यते पदमेकदेशश्च किꣳशिलवत्। तथा सति पदैकदेशेषु 'पशुं पशुपते ते अद्य"[१३] इत्यादिषु

"तेनाꣳशुमत्"[क]। "अन्कार से प्रारम्भ होने वाले पद को भी समझना चाहिए"—इस विधान से "अनꣳशु कुर्वन्तः"—यह भी उदाहरण है। "वृष्णो ह्येतावꣳशू"। "प्राणा वा अꣳशवः"। "अꣳशुरꣳशुस्ते"। "यमादित्या अꣳशुम्"। "अꣳशूनपगृह्णाति"। "अꣳशुना ते अꣳशुः"। "यो वा अꣳशोरायतनम्"। "अꣳशाय स्वाहा भगाय"। "उपाꣳशुसवनो यदुपाꣳशुसवनम्"। "तमुपाꣳशौ समस्थापयन्"। अꣳशु—इतने (अंश) का ग्रहण करने पर दूसरे (पदों) का परिग्रह नहीं होता है, उस प्रकार के पदों का सद्भाव होने से। यदि किꣳशिल के समान दोनों पद और एकदेश—का ग्रहण होता है तो वैसा होने पर "पशुं पशुपते ते अद्य"[ख] इत्यादि

के आगम की सिद्धि हो जाती। इस प्रकार अꣳश के ग्रहण से अꣳशम् और अꣳश भुवा इन दोनों में अनुस्वार के आगम की सिद्धि हो जाती।

सिद्धान्ती -अꣳशभुवा (अꣳश—भुवा) में अꣳश एक पद है (सावग्रह पद का प्रत्येक खण्ड एक पद के समान होता है)। सूत्र में अꣳश का ग्रहण होने पर इससे अꣳश पद का ही बोध होता, क्योंकि १।५० में यह विधान किया गया है कि सूत्र में पद का ग्रहण हो तो उससे पद को ही जानना चाहिए। इस प्रकार अꣳश के ग्रहण से अꣳशभुवा (अꣳश—भुवा) में तो अनुस्वार के आगम की सिद्धि हो जाती। किन्तु अꣳशम् में अनुस्वार के आगम की सिद्धि न होती।

(क) अꣳहसः॥ अꣳहसा॥ सः। रसम्। अह। वसन्ताय॥ अꣳशम्॥ अꣳशुभिरित्यꣳशु—भिः॥ अꣳशभुवेत्यꣳश—भुवा॥ अꣳशम्॥ अꣳशुमत्॥

(ख) अꣳशू इति॥ अꣳशवः॥ अꣳशुरꣳशुरित्यꣳशुः—अꣳशुः॥ अꣳशुम्॥ अꣳशुना। ते। अꣳशुः॥ अꣳशोः॥ अꣳशाय॥

उपाꣳशावित्युप—अꣳशौ॥ पशुपत इति पशु—पते॥ अꣳहसः। प०पा०

---

(१) १।५३ (२) ३।२।२ (३) ६।४।५ (४) ६।३।४
(५) १।२।११ (६) २।३।५ (७) २।३।५ (८) १।२।६
(९) ६।६।१० (१०) १।८।१३ (११) २।३।५ (१२) ६।४।६
(१३) ३।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्नुयात् अनुस्वारागमः। तच्चानिष्टम्। आदिरिति किम्? सर्वेषु स्थानेषु मा भूदिति। यथा—"अꣳहसः"[1] इत्यादि ॥२८॥

वै०—पदग्रहणान्येतानि। कुतः? अꣳशवित्ति गृहीत्वा 'अꣳशुः' 'अꣳशुम्' 'अꣳशुना' इति पृथग्ग्रहणात्॥ (अꣳहति अꣳशौ=) अꣳहतिः इत्यादिषु पदेषु आदिवर्ण ऊष्मपरः अनुस्वारमुपगच्छति। अवग्रहे उपांशुपदे ऊष्मपरो वर्णोऽनुस्वारमुपगच्छति। अꣳहतिः—"परिद्वेषसो अꣳहतिः"[2]। अꣳहः—"नैनमꣳहो अश्नोति"[3]। अꣳहोः—

पद के एक देशों में भी अनुस्वार का आगम प्राप्त होता है और वह अनिष्ट है।[क] आदि—यह क्यों (कहा)? अꣳहसः इत्यादि सब स्थानों में न हो जाये ॥२८॥

वै० अ०—ये पदग्रहण (उद्धृत वैदिक पद) हैं। क्यों? क्योंकि अꣳशु—इसका ग्रहण करके अꣳशुः, अꣳशुम्, अꣳशुना—इनका पृथक् ग्रहण किया गया है। (अꣳहति अꣳशौ=) अꣳहति इत्यादि पदों में; प्रथम वर्ण, ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर, अनुस्वार को प्राप्त करता है। अवग्रहे=पूर्व-पद के रूप में

(क) पूर्वपक्षी—अꣳशुभिः, अꣳशुः, अꣳशुम् और अꣳशुना—इन सभी पदों के एक देश के रूप में अꣳशु विद्यमान है। अꣳशु—इस एक देश का सूत्र में ग्रहण किया जाने पर सभी पदों में अनुस्वार का आगम सिद्ध हो जायेगा। यह वस्तुस्थिति होने पर सूत्र में इन पदों का ग्रहण क्यों किया गया है?

सिद्धान्ती—अꣳशुभिः (अꣳशुऽभिः) में अꣳशु एक पद है। सूत्र में अꣳशु का ग्रहण होने पर 'अꣳशु' पद का ही ग्रहण होगा, पद के एक देश का नहीं, क्योंकि १।५० में यह विधान किया गया है कि सूत्र में पद का ग्रहण हो तो उससे पद को ही जानना चाहिए। इस प्रकार अꣳशु के ग्रहण से अꣳशुभिः में तो अनुस्वार का आगम सिद्ध हो जायेगा किन्तु अन्य स्थलों पर अनुस्वार की सिद्धि नहीं होगी।

पूर्वपक्षी—जिस प्रकार १६।२६ में दो किꣳशिल शब्दों का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार यहाँ दो अꣳशु शब्दों का ग्रहण करना चाहिए। प्रथम अꣳशु शब्द (पद) से अꣳशु पद में अनुस्वार की सिद्धि होगी और द्वितीय अꣳशु शब्द (पद के एकदेश) से अन्य पदों में अनुस्वार की सिद्धि होगी।

सिद्धान्ती—पद के एक देश अꣳशु से "पशुं पशुपते ते अद्य" में भी अनुस्वार के आगम की प्राप्ति होकर यह पाठ सिद्ध हो जायेगा—"पꣳशुं पꣳशुपते"। किन्तु यह पाठ अभीष्ट नहीं है। अतः उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। सूत्र में 'अꣳशु' का ग्रहण न करके जो 'अꣳशुभिः', 'अꣳशुः', 'अꣳशुम्' और 'अꣳशुना' का ग्रहण किया गया है, वह ठीक है।

---

(१) १।६।१२ (२) २।६।११ (३) ३।४।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरा"[१]। अꣳहोमुक्—"अꣳहोमुग्भ्यां द्विकपालः"[२]। अत्यꣳहाः—"ऋतपाश्चात्यꣳहा"[३]। अतीति किम् ? "त्रयहा भवन्ति"[४]। अꣳहसः—"अꣳहसो यत्र पीपरत्"[५]। अꣳहसा—अꣳहसा वा एष गृहीतः"[६]। अꣳशम्—"अꣳशमाहरामहा इति"[७]। अꣳशुभिः—"षड्भिरꣳशुभिः"[८]। अꣳशभुवा—"त्वयाऽꣳशभुवा"[९]। भुवेति किम् ? "अवक्रामन्नशस्तीः"[१०]। अंशेत्यकारान्तपदग्रहणमशक्यं विज्ञातुमिति अतिव्याप्तिपरिहाराय भुवेत्युपबन्धः। अꣳशु—"उपाꣳशु यजति"[११]। पदग्रहणात् "अन्कारादि च"[१२] "अनꣳशुकुर्वन्तः"[१३]। अꣳशू—"ह्वेतावꣳशू यौ सोमस्य"[१४]। अꣳशवः—"प्राणा वा अꣳशवः"[१५]। अꣳशुः—"अꣳशुरꣳशुस्ते"[१५]। अꣳशुं—"यमादित्या अꣳशुम्"[१६]। अंशून्—"अꣳशूनपगृह्णाति"[१७]। अꣳशुना—"अꣳशुना ते अꣳशुः"[१८]। अꣳशोः—"उपाꣳशोर्यवेण"[१९]। अꣳशाय—"अꣳशाय स्वाहा"[२०]। उपाꣳशु—"उपाꣳशुयाजमन्तरा यजत्यजामित्वाय"[२१]। अꣳशौ—"ते देवा उपाꣳशौ"[२२]। अꣳश् इति सामान्यग्रहणे "अश्याम"[२३]। "अश्नुते"[२४]। "अशीमहि"[२५]। "अशिथिलम्"[२६] इत्यादावपि स्यात्। उपाग्रहणे "अशमन्त"[२७] इत्यत्रापि स्यात्। आदिरिति किम् ? अꣳहसोऽꣳहसा इत्यत्र द्वितीयस्य स्वरस्य मा भूत्।

विद्यमान उपांशु पद में ऊष्मपर (ऊष्म-वर्ण है बाद में जिसके वह) वर्ण अनुस्वार को प्राप्त करता है।...। अꣳशु—'उपाꣳशु यजति'। पद-ग्रहण से "अन्कार है पूर्व में जिसके उसको भी समझना चाहिए"—इस (सूत्र) से 'अनꣳशुकुर्वन्तः' (उदाहरण है)।.....।क अꣳश्—इस सामान्य (पद के एक देश) का ग्रहण करने पर अश्याम, अश्नुते, अशीमहि, अशिथिलम् इत्यादि में भी (अनुस्वार का आगम) हो जायेगा। 'उप' का ग्रहण न करने पर 'अशमन्त' में भी (अनुस्वार का आगम) हो जायेगा)। 'आदि' यह क्यों (कहा) ? 'अꣳहसः' और 'अꣳहसा' में द्वितीय स्वर के बाद में (अनुस्वार का आगम) न हो जाये।

(क) अꣳहतिः ॥ अꣳहः ॥ अꣳहोमुग्भ्यामित्यꣳहोमुक्—ग्भ्याम् ॥ अत्यꣳहा इत्यति—अꣳहाः ॥ अवक्रामन्नित्यव—क्रामन् ॥ अनꣳशु ॥ अꣳशू इति ॥ अꣳशवः ॥ अꣳशुरꣳशुरित्यꣳशुः—अꣳशुः ॥ अꣳशून् ॥ उपाꣳशुयाजमित्युपाꣳशु—याजम् ॥ अश्याम ॥ अश्नुते ॥ अशीमहि ॥ अशिथिलं भावायेत्यशिथिलं—भावाय ॥ अशमन्त ॥ अहः । देवानाम् ॥ अहोरात्रे इत्यहः—रात्रे ॥ त्र्यह इति त्रि—अहः ॥ अहोभिरित्यहः—भिः ॥ अꣳहः ॥ अꣳहोमुच इत्यꣳहः—मुचे ॥ अꣳहः ॥ अꣳहस्पत्याय इति अꣳहः—पत्याय ॥ उपाꣳशित्युप—अꣳशु ॥ अꣳशुमदित्यꣳशु—मत् ॥ उपाꣳशुपात्र इत्युपाꣳशु—पात्रे ॥ प० पा०

(१) १।४।२२ (२) ७।५।२२ (३) १।८।१३ (४) ७।४।१
(५) १।६।१२ (६) २।४।२ (७) ७.१।६ (८) ६।४।५
(९) ६।४।८ (१०) ४।१।२ (११) १।५।२ (१२) १।५३
(१३) ३।२।२ (१४) ६।४।४ (१५) १।२।११ (१६) २।३।५
(१७) ६।४।४ (१८) १।२।६ (१९) २।३।१० (२०) १।८।१३
(२१) २।६।६ (२२) ६।४।६ (२३) १।३।१४ (२४) ६।४।१
(२५) ५।७।२ (२६) ७।१।५ (२७) ४।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु अत्र अꣳहꣳ इति अविशेषोक्तेः सर्वेष्वहश्शब्देषु अनुस्वारः स्यात्—"अहर्देवानामासीत्"[१]। "अहोरात्रे गच्छ"[२]। "त्र्यहो भवति"[३]। "अहोभिश्चरन्ति"[४]। अपि चैवं सति "अꣳहश्च सर्वेषाम्"[५] इति निषेधात् क्वचिदपि असौ रेफो न स्यात्। तथा च—"न भिर्भ्यां परः"[६] इत्येतदप्यनर्थकं स्यात्। अत्र वदामः—अहश्शब्दस्तावदष्टमेऽध्याये त्रिविधोऽवगम्यते—

(पू०) यहाँ (इस सूत्र में) अविशेष (सामान्य) रूप से अꣳहꣳ—इसका कथन किया जाने पर सभी 'अꣳहः' शब्दों में अनुस्वार हो जायेगा—"अहर्देवानामासीत्"। "अहोरात्रे गच्छ"। "त्र्यहो भवति"। "अहोभिश्चरन्ति"। और ऐसा होने पर "सभी आचार्यों के अनुसार अꣳहः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है"—इस निषेध से कहीं भी रेफ नहीं होगा। और वैसा होने पर "अहः का विसर्जनीय भिः और भ्याम् बाद में होने पर रेफ नहीं होता है"—यह भी अनर्थक हो जायेगा। इस विषय में कहते हैं—अष्टम अध्याय से ज्ञात होता है कि 'अहः' शब्द तीन प्रकार का होता है—कहीं रेफी, कहीं अनुस्वारी और कहीं अनुभय। उनमें से रेफपर, इङ्क्य (पद) के अन्त में विद्यमान और जिसके बाद में भिः और भ्याम् हो वह अनुभय है[क]—यह तथ्य रेफ के आदेश के निषेध से[ख] और

(क) पूर्वपक्षी—प्रस्तुत सूत्र में सामान्य रूप से 'अहः' (अꣳहः) का कथन किया गया है जो उचित नहीं है। क्योंकि इस कथन के अनुसार (१) 'अहर्देवानाम्', 'अहोरात्रे' इत्यादि सभी स्थलों में अनुस्वार का आगम होगा जो अभीष्ट नहीं है; (२) ८।१५ के सामर्थ्य से कहीं भी 'अहः' (अꣳहः) का विसर्जनीय रेफ में परिवर्तित नहीं होगा। यह भी युक्त नहीं; (३) ८।४ अनर्थक हो जायेगा क्योंकि जब 'अहः' के विसर्जनीय को रेफ की प्राप्ति ही नहीं, तब निषेध करना अनावश्यक होगा।

सिद्धान्ती—अष्टम अध्याय से ज्ञात होता है कि 'अहः' शब्द तीन प्रकार का होता है (१) रेफी—जहाँ 'अहः' का विसर्जनीय रेफ में परिवर्तित हो जाता है जैसे 'अहर्देवानाम्'; (२) अनुस्वारी—जहाँ 'अहः' के 'अ' के बाद में अनुस्वार का आगम हो जाता है जैसे 'नैनमꣳहः' (३) अनुभय—जहाँ 'अहः' का विसर्जनीय न तो रेफ में परिवर्तित होने वाला होता है और न जिसमें अनुस्वार का आगम होता है जैसे अहोरात्रे, अहोभिः, षडहः।

(ख) अष्टम अध्याय के जिन सूत्रों के आधार पर 'अहः' के अनुभयात्मक रूप का निर्णय किया गया है वे ये हैं—(१) ८।७—इसके अनुसार रेफ बाद में होने पर 'अहः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है जैसे—अहोरात्रे। (२) ८।१३—इस सूत्र से

---

(१) २।५।६ (२) १।३।११ (३) ७।३।५ (४) ७।५।१
(५) ८।१५ (६) ८।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वचिद्रेफी क्वचिदनुस्वारी क्वचिदनुभयात्मक इति। तत्र रेफपर इङ्क्चान्तो भिर्न्यापरश्चानुभयात्मक इति गम्यते, रेफादेशनिषेधात्तत्सामर्थ्याच्च। यदि रेफपरादिषु अनुस्वारस्स्यात्तदा तत्रापि "अँहश्च सर्वेषाम्"[1] इत्यनेनैव रेफनिषेधसिद्धेः पृथग्निषेधा निरर्थकास्स्युः। अतो रेफपरादिष्वनुस्वारोऽपि नास्तीति सिद्धम्। तेभ्योऽन्येष्वहश्शब्देषु यद्यपि रेफानुस्वारविवेको नावकल्पते, तथाऽपि "अँहश्च सर्वेषाम्"[1] इति निषेधात् अनुस्वारिणो रेफित्वं नास्तीति तावदवगम्यते। तेनेदमवसीयते—

ओत्वयत्वोपचाराणां यस्मिन् रेफविरोधिनाम्।
संहितायां समाम्नानं तदनुस्वार्यहः पदम्॥

उसके सामर्थ्य से ज्ञात होता है। यदि रेफपर आदि में अनुस्वार हो जाये तब वहाँ पर भी "सभी आचार्यों के अनुसार 'अँहः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है" से ही रेफ का निषेध सिद्ध होने से पृथक् निषेध निरर्थक हो जायेंगे। अतः रेफपर आदि में अनुस्वार भी नहीं होता है—यह सिद्ध हो गया।[क] उन (रेफपर आदि) से अन्य 'अहः' शब्दों में यद्यपि रेफ और अनुस्वार का अन्तर स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता है, तथापि "सभी आचार्यों के अनुसार अँहः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है" इस निषेध से अनुस्वारी (अहः) का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है—यह ज्ञात होता है। इससे यह निश्चय किया जाता है—"सम्पूर्ण अः, अकार बाद में होने पर, ओकार हो जाता है" "घोषवत् वर्ण बाद में होने पर भी अःकार ओकार हो जाता है"—इनसे (अहः का विसर्जनीय) ओ हो जाता है,

---

ज्ञात होता है कि सावग्रह पद के अन्त में स्थित 'अहः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है, जैसे--षडहो भवति (षट्-अहः प० पा०)। (३) ८।१४—इसके अनुसार भिः और भ्याम् बाद में होने पर 'अहः' का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है, जैसे—अहोभिः, अहोभ्याम्।

(क) पूर्वपक्षी—८।७, ८।१३ और ८।१४ के आधार पर जिन स्थलों में 'अहः' के विसर्जनीय के रेफ होने का निषेध किया गया वहाँ सर्वत्र 'अहः' के बाद में प्रस्तुत सूत्र से अनुस्वार का आगम हो सकता है। तब इन स्थलों पर 'अहः' को अनुभय कहना युक्त नहीं। इस प्रकार 'अहः' शब्द दो ही प्रकार का होगा—रेफी और अनुस्वारी।

सिद्धान्ती—यदि उपर्युक्त स्थलों में अहः अनुस्वारी (अँहः) है तब ८।१५ से ही इन स्थलों में विसर्जनीय के रेफ होने का निषेध हो जाता है। तब ८।७, ८।१३ और ८।१४ से विसर्जनीय के रेफ होने का निषेध करना अनर्थक हो जायेगा। इसलिए उपर्युक्त रेफपर आदि स्थलों में 'अहः' पद अनुस्वारी नहीं है, अपितु अनुभय (न रेफी, न अनुस्वारी) है।

---

(१) ८।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ओकारमस्सर्वोऽकारपरः"[१] "घोषवत्परश्च"[२] इत्योत्वम्, "अथ स्वरपरो यकारम्"[३] इति यत्वं चेत्युभे रेफविरुद्धे, तदपवादत्वेन "ह्वारभार"[४] इत्यादिना रेफविधानात्। तथा "कख-पकारपरष्षम्"[५] इत्यादिना विहित उपचारो रेफविरुद्धः, "नाध्वरं विश्वत"[६] इत्यन्तं परुः पुनश्शब्दयोः रेफिणोस्तन्निषेधात्। तस्माद्यस्मिन्नहःपदे रेफविरुद्धमोकारादिसिद्धकार्यं समाम्नायते, तदनुस्वारि। ततोऽन्यत्तु रेफीति विवेकस्सुकर इति भावो भगवतस्सूत्रकारस्य। ततश्च "नैनमꣳहो अश्नोत्यन्तितो न"[७]। "इन्द्रायाꣳहोमुचे"[८]। "अꣳह इन्द्रमेव"[८]। "अꣳहस्पत्याय त्वा"[९] इत्याद्यहःपदमनुस्वारीति सिद्धम् ततो नातिप्रसङ्गः। अवग्रह इत्य-स्यानुक्तौ पूर्वस्याꣳशुपदस्य पठिष्यमाणस्य अꣳशौपदस्य च उपशब्द उपबन्धस्सिद्धो भवतीति विज्ञायते। तथा च-"उपाꣳशु यजति"[१०] इत्यादावेवानुस्वारस्स्यात्। "तेनाꣳशुमत्"[११]। "उपाꣳशुपात्रे"[११] इत्यादौ न स्यात्। अवग्रहग्रहणे तु सति नेदीयसोऽꣳशौपदस्य तथात्वा-सम्भवात्ततः पूर्वस्योपाꣳशुग्रहणस्य विशेषणं तद्भवतीति इष्टसिद्धिः॥२८॥

"स्वर बाद में होने पर विसर्जनीय यकार हो जाता है" इससे (अहः का विसर्जनीय) य होता है—ये दोनों रेफ के विरुद्ध हैं, इनके अपवाद के रूप में "ह्वाः, अभाः··· अहरहः···का विसर्जनीय रेफ हो जाता है" इत्यादि के द्वारा रेफ का विधान किया गया है। उसी प्रकार "क, ख अथवा प बाद में होने पर विसर्जनीय षकार हो जाता है" इत्यादि से विहित उपचार (सकारभाव) रेफ के विरुद्ध है, जिसका निषेध "अध्वरं विश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुः, परुः तथा पुनः का विसर्जनीय सकारभाव को प्राप्त नहीं करता है" के द्वारा परुः, पुनः आदि शब्दों में किया गया है। इसलिए जिस 'अहः' पद में रेफ के विरुद्ध ओकार आदि सिद्ध-कार्य (संहिता में) उपलब्ध होता है, वह अनुस्वारी (अहः पद है)। उससे दूसरा रेफी (अहः पद है)—यह अन्तर स्पष्ट है—यह भगवान् सूत्रकार का भाव है। इससे "नैन-मꣳहो अश्नोत्यन्तितो न", "इन्द्रायाꣳहोमुचे", "अꣳह इन्द्रमेव", "अꣳहस्पत्याय त्वा" इत्यादि में 'अहः' पद अनुस्वारी है—यह सिद्ध हो गया। अतः (सूत्र में 'अहः' शब्द का सामान्य रूप से ग्रहण होने पर भी) अतिप्रसङ्ग (अति-व्याप्ति) नहीं है। (सूत्र में) अवग्रह का कथन न होने से उप शब्द पूर्ववर्ती अꣳशु पद का और बाद में पठित अꣳशौ पद—इन दोनों का उपबन्ध सिद्ध होता है। वैसा होने पर—"उपाꣳशु यजति" इत्यादि में ही अनुस्वार होगा। "तेनाꣳ-शुमत्", "उपाꣳशुपात्रे" इत्यादि में तो नहीं होगा। अवग्रह का ग्रहण करने पर तो समीपवर्ती अꣳशौ पद में वैसा सम्भव न होने पर वह उससे पूर्ववर्ती उपाꣳशु पद का विशेषण होता है जिससे अभीष्ट की सिद्धि होती है॥ २८॥

---

(१) ९।७ (२) ९।८ (३) ९।१० (४) ८।८
(५) ८।२३ (६) ८।३२ (७) ३।४।११ (८) २।२।७
(९) १।४।१४ (१०) १।५।२ (११) ३।२।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अवग्रहः) उदात्तोऽँसेऽँसायाँसाभ्यामँसाविति ॥२९॥

मा०—अँसे, अँसाय, अँसाभ्याम्, अँसौ, इत्येतेषु ग्रहणेषु उदात्तेषु अनुस्वारागमो भवति। यथा—"दक्षिणेऽँस उप दधाति"[१]। "शित्यँसाय स्वाहा"[२]। "अँसाभ्यां स्वाहा"[३]। "अँसावेव प्रति दधाति"[४]। उदात्त इति किम्? "असावब्रवीत् चित्रविहिताहम्"[५] ॥ २९ ॥

त्रि०—अवग्रहः आदिरित्यर्थः। यदि पदादिरुदात्तः स्यात् तर्हि अँसे, अँसाय, अँसाभ्यां, अँसौ इत्येतेषु स्यादनुस्वारागमः। इतिशब्दः स्वरूपवाची। यथा—"दक्षिणेऽँस उप दधाति"[१]। "शित्यँसाय स्वाहा"[२]। "अँसाभ्याँस्वाहा"[३]। "उत्तरेऽँसावेव प्रति दधाति"[४]। आदिरुदात्त इति किम्? "असावब्रवीच्चित्रविहिता"[५] ॥ २९ ॥

वै०—इतिशब्दः पदग्रहणाभिव्यक्त्यर्थः। इतरथा कार्यभाङ्निमित्तरूपयोः पदैकदेशयोर्ग्रहणानीति विज्ञायेरन्। तदयमर्थः—अँसे इत्यादिषु पदेषु ऊष्मपरो वर्ण उदात्तः परमनुस्वारमुपगच्छति। अँसे—"दक्षिणेऽँसे"[१]। अँसाय—"शित्यँसाय स्वाहा"[२]। अँसाभ्याम्—"अश्विनावँसाभ्याम्"[६]। अँसौ—"अँसावेव प्रति दधाति"[४]। उदात्त इति किम्? "असावादित्यः"[७]। पदग्रहणात् "जीवसे"[८]। "अपेशसे"[९] इत्यादौ न भवति ॥ २९ ॥

सू० अ०—अवग्रह (=आदि) उदात्त होने पर अँसे, अँसाय' अँसाभ्याम्, अँसौ में (अनुस्वार का आगम होता है)।

त्रि० अ०—अवग्रह=आदि—यह अर्थ है। यदि पदादि उदात्त हो तो अँसे, अँसाय, अँसाभ्यां, अँसौ—इन (पदों) में अनुस्वार का आगम होता है। इति शब्द स्वरूप का वाची है। जैसे—"दक्षिणेऽँस उप दधाति"। "शित्यँसाय स्वाहा"। "अँसाभ्याँस्वाहा"। "उत्तरेऽँसावेव प्रति दधाति"। आदि उदात्त होने पर—यह क्यों (कहा)? "असावब्रवीच्चित्रविहिता" ॥ २९ ॥

वै० अ०—इति शब्द पद के ग्रहण की अभिव्यक्ति के लिए है। अन्यथा पद के एकदेश के रूप में विद्यमान कार्यभाक् और निमित्त का ग्रहण किया गया है—यह समझ लिया जायेगा। इससे यह अर्थ हुआ—(अँसेऽँसायाँसाभ्यामँसौ =) अँसे इत्यादि पदों में; ऊष्मपर (ऊष्म है बाद में जिसके वह) उदात्त वर्ण परवर्ती अनुस्वार को प्राप्त करता है।.....। पद-ग्रहण से 'जीवसे', 'अपेशसे' इत्यादि (पदों) में (अनुस्वार का आगम) नहीं होता है ॥ २९ ॥

---

(१) ५।३।१ (२) ७।३।१७ (३) ७।३।१६
(४) ५।३।१ (५) २।५।२ (६) ५।७।१३
(७) २।१।४ (८) १।२।१ (९) ७।४।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासावा नासावा ॥ ३० ॥

मा०—न खलु असावा इत्येतस्मिन् ग्रहणे अनुस्वारागमो भवति। यथा—"अथो यथा ब्रूयादसावेहीति"[1] ॥ ३० ॥

त्रि०—आद्युदात्ते सत्यस्मिन् ग्रहणे न खलु स्यादनुस्वारागम इति। "ब्रूयादसावेहीत्ये वम्"[1] ॥ ३० ॥

वै०—आङ्परे असौपदे ऊष्मपरो वर्ण उदात्तः परमनुस्वारं नोपगच्छति। यथा—"ब्रूयादसावेहीति"[1] ॥ ३० ॥

सू० अ०—असावा (असौ आ) में (अनुस्वार का आगम) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—आद्युदात्त इस (असौ) पद में अनुस्वार का आगम नहीं होता है। जैसे—"ब्रूयादसावेहीत्ये वम्"।

वै० अ०—आङ् है बाद में जिसके ऐसे असौ पद में ऊष्मन् है बाद में जिसके ऐसा उदात्त (अ) वर्ण परवर्ती अनुस्वार (आगम) को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"ब्रूयादसावेहीति"।

---

(१) २।४।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तदशोऽध्यायः

तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेष्विति शैत्यायनः ॥१॥

मा०—शैत्यायनस्याचार्यस्य मतेन अनुस्वार उत्तमे च तीव्रतरमानुनासिक्यं भवति। यथा—"एन्द्र सानसि रयिम्"[१]। "यं कामं कामयते"[२]। "वञ्चते स्वाहा"[३]। "राष्ट्रं वै वैश्वानरो विण्मरुतः"[४]। "बृहस्पतिर्नः"[५]। "सोऽस्मात्सृष्टः प्राङ् प्राद्रवत्"[६]। अनुस्वारोत्तमेष्विति किम्? "रुक्ममुप दधाति"[७]। "तिग्ममायुधम्"[८] ॥१॥

त्रि०—(अनुस्वारोत्तमेषु=) अनुस्वारश्च उत्तमाश्च अनुस्वारोत्तमाः तेषु; तीव्रतरं भवति आनुनासिक्यम् इति शैत्यायनः नाम मुनिर्मन्यते। तीव्रादधिकं तीव्रतरम्। अनुनासिकानां भावः आनुनासिक्यम्। "नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्"[९] इत्यस्य विधेः प्रयत्नदार्ढ्यमुपदिश्यते। यथा—"अग्निꣳरप्सुषदः"[१०]। "यं कामं कामयते"[११]। "वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनाम्"[१२]। "मणिना रूपाणीन्द्रेण"[१३]। एतेष्विति किम्? "रुक्ममुप दधाति"[१४]। "तिग्ममायुधम्"[१५]। "सुश्लोकां४सुमङ्गलां४म्"[१६] ॥१॥

वै०—तदेवं पदवर्णानां प्रायशो निर्णयः कृतः।
तदुच्चारणकल्पोऽत ऊर्ध्वं प्रायेण वर्ण्यते ॥

सू० अ०—शैत्यायन (आचार्य मानते हैं कि) अनुस्वार और उत्तम (=स्पर्श-वर्णों) में अनुनासिक गुण तीव्रतर (होता है)।

त्रि० अ०—(अनुस्वारोत्तमेषु=) अनुस्वार और उत्तम (पञ्चमस्पर्श-वर्ण)=अनुस्वारोत्तमाः, उनमें; आनुनासिक्य (अनुनासिक गुण) तीव्रतर होता है—ऐसा शैत्यायन नामक मुनि मानते हैं। तीव्र से अधिक=तीव्रतर। अनुनासिक (वर्णों) का भाव=आनुनासिक्य। "नासिका-विवर से आनुनासिक्य का (उच्चारण होता है)।"—इस विधि का दृढ़प्रयत्न उपदिष्ट किया गया है। जैसे—"अग्नीꣳरप्सुषदः"। "यं कामं कामयते"। "वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनाम्"। "मणिना रूपाणीन्द्रेण"। इन (अनुस्वार और उत्तमस्पर्श-वर्णों) में—यह क्यों (कहा)? "रुक्ममुप दधाति"। "तिग्ममायुधम्"। "सुश्लोकां४सुमङ्गलां४म्" ॥१॥

वै० अ०—इस प्रकार पदों और वर्णों का प्रायः निर्णय कर दिया गया है। इससे आगे प्रायः उनके उच्चारण के नियम का वर्णन किया जाता है—

---

(१) ३।४।११ (२) ७।१।१ (३) ७।४।२२ (४) ५।४।७
(५) ३।३।११ (६) ५।७।१० (७) ५।२।७ (८) ४।७।१५
(९) २।५२ (१०) ५।६।१ (११) ७।१।१ (१२) ४।५।३
(१३) ७।३।६ (१४) ५।२।७ (१५) ४।७।१५ (१६) १।८।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्मिन्नध्याये प्रयत्नो निरूप्यते। (अनुस्वारोत्तमेषु=) अनुस्वारे ङञणनमेषु च; यदानुनासिक्यमस्ति, तत्तीव्रतरं प्रयोक्तव्यमिति शैत्यायनो मुनिर्मन्यते। अतोऽन्यत्र यदानुनासिक्यं तत्तु समं प्रयोक्तव्यम्, विशेषानुपदेशात्। अनुस्वारे यथा—"स त्रीꣳरेकादशान्"[१]। "यत्तन्न विस्नꣳसयेत्"[२]। उत्तमेषु खल्वपि—"पराङावर्तते"[३]। "नमो राज्ञे नमो वरुणाय"[४]। अनुस्वारोत्तमेष्विति किम्? "सुश्लोकाꣳम्"[५]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥१॥

समꣳसर्वत्रेति कौहलीपुत्रः ॥२॥

भा०—सर्वत्र सममेवानुनासिक्यं भवतीति कौहलीपुत्रस्य शखिनो मतेन। यथा—"सपत्न साहं सम्मार्ज्मि"[६] ॥२॥

त्रि०—सर्वत्र आनुनासिक्यवर्णेषु तीव्रतरत्वं सममिति कौहलीपुत्रो मन्यते यथा—"सꣳरराणः"[७]। "संयत्ताः"[८]। "न्यङ्ङग्निः"[९]। "उपहूतांꣳ हो इत्याह"[१०] इत्यादि ॥२॥

वै०—(सर्वत्र=) सर्वेष्वनुनासिकेषु वर्णेषु; आनुनासिक्यम्; समम्=मध्यमप्रयत्नेन; प्रयोक्तव्यमिति कौहलीपुत्रो मन्यते। यथा—"सुश्लोकाꣳम्"[११]। "रुक्ममुप

इस अध्याय में प्रयत्न का निरूपण किया जाता है। (अनुस्वारोत्तमेषु=) अनुस्वार में तथा ङ, ञ, ण, न, म में; जो आनुनासिक्य होता है उसे तीव्रतर प्रयत्न से उच्चारित करना चाहिए—ऐसा शैत्यायन मुनि मानते हैं। इससे अन्यत्र जो आनुनासिक्य होता है वह तो समरूप में (मध्यम प्रयत्न से) उच्चारित करना चाहिए, विशेष-रूप से उपदेश न होने से। अनुस्वार में जैसे—"स त्रीꣳरेकादशान्"। । यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ १ ॥

सू० अ०—कौहलीपुत्र (का मत यह है कि) (अनुनासिक गुण) सर्वत्र समान (होता है)।

त्रि० अ०—अनुनासिक-वर्णों में तीव्रतरत्व सर्वत्र; समम्=समान; होता है—ऐसा कौहलीपुत्र मानते हैं। जैसे—"सꣳरराणः"। "संयत्ताः"। "न्यङ्ङग्निः"। उपहूतांꣳ हो इत्याह" इत्यादि ॥ २ ॥

वै० अ०—(सर्वत्र=) सभी आनुनासिक-वर्णों में; आनुनासिक्य; समम्=

---

(१) ३।२।११ (२) ६।२।१० (३) ३।२।६
(४) ७।४।१६ (५) १।८।१६
(६) १।१।१० (७) ४।६।१ (८) १।५।१
(९) ५।५।३ (१०) २।६।७ (११) १।८।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दधाति"[१]। "तिग्ममायुधम्"[२]। "स त्रीꣳरेकादशाꣳइह"[३]। "अꣳशुरꣳशुस्ते"[४]। "यः पराङ् विष्वङ्"[५]। "नमो राज्ञे नमः"[६]। "तं य एवं विद्वान् यजते"[७]। "स एवास्मा इमान्लोकान्"[८]। "तल्लोकंपृणयोपैत्"[९]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥२॥

अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः ॥३॥

मा०—भारद्वाजाचार्यस्य मतेन अनुस्वारे आनुनासिक्यं अणु भवति। यथा—"तनु वा जय त्वँ स त्वा वर्मणः"[१०]। अनुस्वार इति किम्? "ब्रह्मण्वन्तो देवा आसन्"[११]। "रुक्ममुप दधाति"[१२]। "तत्संयतां संयत्त्वम्"[१३]। "इषे त्वोर्जे त्वा"[१४] ॥३॥

त्रि०—अणु सूक्ष्मतमम्; आनुनासिक्यं अनुस्वारे स्यादिति भारद्वाजः मन्यते। यथा—"तनुवा जयत्वꣳ स त्वा"[१०]। अनुस्वारादन्यत्र शैत्यायनविधिः उत्तमेषु तीव्रतरत्वं यमादिषु तीव्रमात्रमिति ॥३॥

वै०—अनुस्वारे यदानुनासिक्यं तदणुप्रयत्नेन प्रयोक्तव्यमिति भारद्वाजो मन्यते। अन्येषु वर्णेषु मध्यमप्रयत्नेन। उक्तान्युदाहरणानि ॥३॥

समान=मध्यम प्रयत्न से; उच्चारित करना चाहिए—ऐसा कौहलीपुत्र मानते हैं। जैसे "सुश्लोकाꣳम्"। यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ २ ॥

सू० अ०—अनुस्वार में (आनुनासिक-गुण) अणु (होता है)—ऐसा भारद्वाज (ऋषि मानते हैं)।

त्रि० अ०—अनुस्वारे=अनुस्वार में; अणु=सूक्ष्मतम; आनुनासिक्य होता है—ऐसा भारद्वाज (ऋषि) मानते हैं। जैसे—"तनुवा जयत्वꣳ स त्वा"। अनुस्वार से अन्यत्र शैत्यायन-विधि (होती है)। उत्तम (=अन्तिमस्पर्श-वर्णों) में तीव्रतर प्रयत्न होता है और यम आदि में केवल तीव्र प्रयत्न होता है ॥ ३ ॥

वै० अ०—अनुस्वारे=अनुस्वार में; जो आनुनासिक्य है उसे अणु प्रयत्न से उच्चारित करना चाहिए—ऐसा भारद्वाज (ऋषि) मानते हैं। अनुस्वार से अन्य वर्णों में मध्यम प्रयत्न से। उदाहरण कह ही दिये गये हैं।

---

(१) ५।२।७ (२) ४।७।१५ (३) ३।२।११
(४) १।२।११ (५) १।५।९ (६) ७।४।१६
(७) ३।२।७ (८) २।१।४ (९) ५।७।५
(१०) ४।६।६ (११) ६।४।१० (१२) ५।२।७
(१३) ५।२।१० (१४) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्चोत्तरमुत्तरं तीव्रतरमिति स्थविरः कौण्डिन्यः ॥४॥

मा०—कौण्डिन्यस्य मतेन नकारस्य रेफभावादूष्मभावाद्यकारभावाल्लुप्ते च तस्मिन् यकारे मलोपाच्च इत्येतेषूत्तरमुत्तरं तीव्रतरमापद्यते। आनुनासिक्यं भवति। यथा—"स त्री॑ रेकादशान्"[१]। इह तस्मात् (?) "सर्वाँश्चतुरः पदः प्रति दधत्"[२]। "ताँस्ते दधामि जन्मयोः"[३]। "महाँ इन्द्रो यः"[४]। "शतं सेना अजयत्"[५]। नकारस्य रेफोष्मयकार-भावाल्लुप्ते च मलोपाच्चेति किम्? "यत्तन्न विस्रँसयेत्"[६]। "शोँसा मोद इव"[७] ॥४॥

त्रि०—नकारस्य रेफोष्मयकारभावात् चकाराकृष्टयकारे लुप्ते सति मलोपाच्च उत्तरमुत्तरम् आनुनासिक्यं आनुपूर्व्येण तीव्रतरं स्यादिति स्थविरः कौण्डिन्यः मन्यते। यथा—"स त्री॑रेकादशान्"[८] इत्यत्र आनुनासिक्यं संयोगमात्रवत्। "शुक्ला॑श्च कृष्णा॑श्च"[९] इत्यत्र तु संश्लिष्टम्। "महा॑इन्द्रः"[१०] इत्यत्र तीव्रतरम्। "स॑शितम्"[११] इत्यत्र तीव्रतममित्यानुपूर्व्येण विज्ञेयम्। अन्यत्र शौत्यायनविधिः ॥४॥

वै०—नकारस्य; (रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च=) रेफभावादूष्मभावाद्यकारभा-वाद्यलोपे; (मलोपाच्च=) मलोपे चेति पञ्चविषयेषु पूर्वस्वरस्य यदानुनासिक्यं परमतत्वेनोक्तं,

---

सू० अ०—वृद्ध कौण्डिन्य (आचार्य मानते हैं कि) नकार का रेफ, ऊष्मन् और यकार होने पर और (यकार का) लोप होने पर, मकार का लोप होने पर आनुनासिक्य क्रम से तीव्रतर (होता है)।

त्रि० अ०—नकारस्य = नकार का; रेफोष्मयकारभावात् = रेफ, ऊष्म और यकार होने पर; चकार से आकृष्ट यकार का; लुप्ते = लोप होने पर; मलोपाच्च = मकार का लोप होने पर; उत्तरमुत्तरम् = उत्तरोत्तर (क्रम से) आनुनासिक्य; तीव्रतर होता है—ऐसा; स्थविरः कौण्डिन्य = वृद्ध कौण्डिन्य; मानते हैं। जैसे—"स त्री॑रे-कादशान्"—यहाँ आनुनासिक्य संयोग-मात्र के समान है। "शुक्ला॑श्च कृष्णा॑श्च" यहाँ तो संश्लिष्ट है। "महा॑इन्द्रः"—यहाँ तीव्रतर है। "स॑शितम्"—यहाँ तीव्र-तम—इस प्रकार क्रम से जानना चाहिए। अन्य स्थलों पर शौत्यायनविधि है ॥४॥

वै० अ०—नकारस्य = नकार का; (रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च=) नकार का रेफभाव, ऊष्मभाव, यकारभाव तथा उस यकार का लोप होने पर; (मलो-पाच्च=) और मकार का लोप होने पर—इन पाँच स्थलों में पूर्व-स्वर का जो आनु-

---

(१) ३।२।११ (२) ५।४।१२ (३) ४।१।१० (४) १।४।१०
(५) ४।६।४ (६) ६।२।६ (७) ३।२।९
(८) ३।२।११ (९) २।३।१ (१०) १।४।१० (११) ४।१।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र; (उत्तरमुत्तरम्=) पूर्वात्पूर्वादुत्तरोत्तरं; तीव्रतरम्=शीघ्रतरमिति; स्थविरः कौण्डिन्यः मन्यते। अतोऽन्यत्र समम्। "ये वा वनस्पतीꣳरनु"[1] इति रेफभावात्पूर्वस्य तीव्रप्रयत्नः। "विश्वाꣳअ देवान्"[2]। "ऋतूꣳस्तन्वते"[3] इत्यूष्मभावात्पूर्वस्य तीव्रतरः। "अग्ने महाꣳ-क्षसीत्याह"[4] इति यकारभावात्पूर्वस्य मध्यमः। "अग्ने महाꣳअसि" इत्यादौ यलोपात्पूर्वस्य तीव्रः। "प्रत्युष्टꣳरक्ष"[5] इत्यत्र मलोपात्पूर्वस्य तीव्रतर इति। नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥४॥

व्यञ्जनकालश्च स्वरस्यात्राधिकः ॥५॥

मा०—व्यञ्जनकालः ह्रस्वार्धकालमात्रः अत्रानुस्वारविधौ स्वरस्याधिको भवति। यथा—'युञ्जाथाꣳ रासमं युवम्"[6]। एवं सर्वत्र। चशब्दः स्थविरकौण्डिन्यमतमन्वादिशति ॥५॥

त्रि०—चकारः स्थविरकौण्डिन्यमन्वादिशति। अत्र=अनुस्वारविधाने; सानुनासिकस्वरस्य; व्यञ्जनकालः=ह्रस्वार्द्धकालः; अधिकः स्यादिति स्थविरः कौण्डिन्यो मन्यते। यथा—"युञ्जाथाꣳरासभं युवम्"[1] इत्यादि। अत्रेति स्वरस्येति किम्? स्रादिषूत्तमेषु उत्तमलभावे चैतदधिककालविधानं मा भूदिति ॥५॥

नासिक्य दूसरे मत से कहा गया है वहाँ, (उत्तरमुत्तरम्=) पूर्व-पूर्व से बाद-बाद वाला; तीव्रतरम्=शीघ्रतर; (होता है)-ऐसा; स्थविरः कौण्डिन्यः=वृद्ध कौण्डिन्य मानते हैं। इससे अन्य स्थलों पर सम (मध्यम) होता है। "ये वा वनस्पतीꣳ-रनु"—यहाँ रेफ-भाव के पूर्व (अनुस्वार) का तीव्र प्रयत्न होता है। "विश्वाꣳअ देवान्"। "ऋतूꣳस्तन्वते"—इत्यादि ऊष्मभाव से पूर्व का तीव्रतर (प्रयत्न होता है)। "अग्ने महाꣳअसीत्याह"—यहाँ यकार-भाव से पूर्व का मध्यम (प्रयत्न होता है)। "अग्ने महाꣳअसि"—इत्यादि में यलोप से पूर्व का तीव्र (प्रयत्न होता है)। "प्रत्युष्टꣳरक्षः" यहाँ मलोप से पूर्व का तीव्रतर (प्रयत्न होता है)। ये दो सूत्र (१७।३-४) इष्ट नहीं हैं ॥४॥

सू० अ०—यहाँ (=अनुस्वार-विधि में) स्वर का व्यञ्जन-काल अधिक (होता है)।

त्रि० अ०—चकार (पूर्ववर्ती सूत्र से) स्थविर कौण्डिन्य का अन्वादेश करता है। अत्र=यहाँ=अनुस्वार के विधान में; सानुनासिक स्वर का; व्यञ्जनकाल=ह्रस्व (स्वर) का आधा काल (=१।२ मात्रा-काल); अधिक होता है—ऐसा वृद्ध कौण्डिन्य (आचार्य) मानते हैं। जैसे—"युञ्जाथाꣳरासभं युवम्" इत्यादि। यहाँ स्वर का—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) 'स्रादि' में (वर्गों के) अन्तिम वर्णों में और अन्तिम (न् और म्) के लकार होने में यह अधिक काल का विधान न होवे ॥५॥

---

(१) ४।२।८ (२) २।२।११ (३) ४।३।१।१
(४) २।५।६ (५) १।१।४ (६) ४।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै० - अत्र = आनुनासिक्यविषये; तद्वत्स्वरस्य; (व्यञ्जनकालश्च अधिकः) व्यञ्जनकालाधिक्यं च; भवति, अर्धमात्राधिक्यमिति यावत्। यथा—"पुनः कृण्वꣳस्त्वा पितरम्"[१] इति ह्रस्वोऽध्यर्धमात्रः। "महाꣳइन्द्रो यः"[२] इति दीर्घः अर्धतृतीयमात्रः। "सुश्लोकाम्४"[३] इति प्लुतोऽर्धचतुर्थमात्रः। यत्र स्वरस्यानुनासिक्यमिष्टं तत्रेदमिष्टम्। अन्यत्र नेष्टम् ॥ ५ ॥

स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः ॥६॥

मा०—स्वारविक्रमयोः पौष्करसादेर्मतेन अन्येभ्यो दृढ़प्रयत्नतरो भवति। यथा—"योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि"[४]। स्वारविक्रमयोरिति किम् ? "गां वाव तौ तत्"[५] ॥६॥

त्रि०—(स्वारविक्रमयोः =) स्वारे विक्रमे च; प्रयोगः पौष्करसादेः मते दृढ़-प्रयत्नतर भवति। स्वारः स्वरित इत्यर्थः। विक्रमो नाम अनुदात्तविशेषः। यथा—"योऽस्य स्वोऽग्निः"[१]। "आस्ये हविः प्रियम्"[६]। स्वारविक्रमयोरिति किम् ? "गां वाव तौ तत्"[५]। दृढः प्रयत्नो यस्यासौ दृढप्रयत्नः। अतिशयेन दृढप्रयत्नः दृढप्रयत्न-तरः ॥ ६ ॥

वै० अ०—अत्र = यहाँ = आनुनासिक्य के स्थल में; उस (आनुनासिक्य) से समन्वित (= सानुनासिक) स्वर का; (व्यञ्जनकालश्च अधिकः =) व्यञ्जन-काल अधिक; होता है = अर्धमात्रा का आधिक्य—यह अर्थ है। जैसे - "पुनः कृण्वꣳ-स्त्वा पितरम्"—यहाँ ह्रस्व (-स्वर सानुनासिक होने के कारण) डेढ़ मात्रा काल (वाला है)। "महाꣳइन्द्रो यः"—यहाँ दीर्घ (-स्वर सानुनासिक होने के कारण) ढाई मात्रा काल वाला है। "सुश्लोकाम्४"—यहाँ प्लुत (-स्वर सानुनासिक होने के कारण) साढ़े तीन मात्रा काल वाला है। जहाँ स्वर का आनुनासिक्य इष्ट है, वहाँ यह इष्ट है। अन्यत्र इष्ट नहीं है ॥५॥

सू० अ०—पौष्करसादि (आचार्य) के मतानुसार स्वार (=स्वरित) और विक्रम (=अनुदात्त—विशेष) का प्रयत्न दृढतर (होता है)।

त्रि० अ०—(स्वारविक्रमयोः =) स्वार में और विक्रम में; उच्चारण; पौष्करसादेः = पौष्करसादि के मत में; दृढप्रयत्नतरः = दृढतर प्रयत्न; होता है। स्वार = स्वरित—यह अर्थ है। विक्रम = अनुदात्त-विशेष। जैसे—"योऽस्य स्वोऽ-ग्निः"। "आस्ये हविः प्रियम्"। स्वार और विक्रम में—यह क्यों (कहा) ? गां वाव तौ तत्"। दृढ है प्रयत्न जिसका वह = दृढप्रयत्न। अधिक दृढप्रयत्न = दृढप्रयत्नतर ॥६॥

---

(१) ४।७।१३ (२) १।४।२० (३) १।८।१६
(४) ५।७।९ (५) १।७।२ (६) ३।३।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—स्वारः=स्वरितः, विक्रमो नाम अनुदात्तविशेषः एकोनविंशाध्याये वक्ष्यते। (स्वारविक्रमयोः=) तयोः; दृढ़प्रयत्नतरः प्रयोग इति पौष्करसादेः मतम्। स्वारः—"न दिव्यग्निश्चेतव्य इति"[1]। "तेऽब्रुवन्"[2]। "सूद्गाता"[3]। "प्रउगम्"[4]। विक्रमः—"किं तत उच्छिष्यतीति"[5] "योनिश्शिक्यं यच्छिक्यात्"[6]। स्वरिते नैतदिष्टम्। किन्तु स्वाराध्याये वक्ष्यमाण एव विक्रमे त्वेतदिष्टमेव, कार्यार्थत्वाद्विक्रमसंज्ञायाः ॥६॥

प्रयत्नविशेषात्सर्ववर्णानामिति शैत्यायनः ॥७॥

मा०—शैत्यायन आचार्यो मन्यते प्रयत्नविशेषात् सर्ववर्णानां वैशेष्यं भवति। तस्मात् दृढप्रयत्नतर एव सर्ववर्णेषु भवति। न स्वारविक्रमयोरेवेति। यथा—"इषे त्वोर्जे त्वा"[7] ॥७॥

त्रि०—सर्ववर्णानां प्रयोगस्स्वोचितप्रयत्नविशेषात् दृढप्रयत्नतरो भवतीति शैत्यायनः मन्यते। यथा—"इषे त्वा"[7] इत्यादि। नैतानि सप्त सूत्राणीष्टानि ॥७॥

वै०—विशेषोऽतिशयः। ल्यब्लोपे पञ्चमी। (प्रयत्नविशेषात्=) प्रयत्नाति-

---

वै० अ०—स्वार=स्वरित; विक्रम=अनुदात्त-विशेष उन्नीसवें अध्याय में कहा जायेगा। (स्वारविक्रमयोः=) उन (स्वरित और विक्रम) में; दृढप्रयत्नतरः= अधिक दृढ प्रयत्न वाला; उच्चारण होता है—यह; पौष्करसादेः= पौष्करसादि का; मत है। स्वार—"न दिव्यग्निश्चेतव्य इति"। "तेऽब्रुवन्"। "सूद्गाता"। "प्रउगम्"। विक्रम—"किं तत उच्छिष्यतीति"। "योनिश्शिक्यं यच्छिक्यात्"। स्वरित में यह इष्ट नहीं है। किन्तु स्वर के अध्याय में कहे जाने वाले विक्रम में ही इष्ट है, क्योंकि विक्रम संज्ञा कार्य-विशेष के लिए है।

सू० अ०—सभी वर्णों का प्रयत्न-विशेष से (उच्चारण होता है)—ऐसा शैत्यायन (आचार्य कहते हैं)।

त्रि० अ०—सर्ववर्णानाम्=सभी वर्णों का; उच्चारण स्वोचित; प्रयत्न-विशेषात्=प्रयत्न-विशेष से; अधिक दृढ प्रयत्न वाला होता है—ऐसा शैत्यायन (आचार्य) मानते हैं। जैसे—"इषे त्वा" इत्यादि। ये सात सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥ ७ ॥

वै० अ०—विशेष=अतिशय। ल्यप् के लोप से पञ्चमी (विभक्ति) है। (प्रयत्नविशेषात्=) अतिशय प्रयत्न का आश्रय लेकर; सर्ववर्णानाम्=सभी वर्णों

---

(१) ५।२।७ (२) २।५।१ (३) ७।१।८
(४) ४।४।२ (५) २।६।८ (६) ५।६।६ (७) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शयमाश्रित्य; सर्ववर्णानां प्रयोगः कार्य इति शौत्यायनो मुनिर्मन्यते। आनुनासिक्ये तु पूर्वोक्तैव कल्पितः। "इषे त्वोर्जे त्वा"[1]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥७॥

नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेवं वर्णानुदीरयेत्।
पयःपूर्णमिवामत्रꣳहरन्धीरो यथामति॥
इत्यात्रेय आत्रेयः ॥८॥

मा०—नातिव्यक्तं अतिव्यक्तं न वक्तव्या वर्णाः, न चाव्यक्तं अव्यक्तं न वक्तव्यः; एवं वर्णानुदिङ्गयेत्, अनेन विधानेन वर्णा उच्चरितव्या भवन्ति; पयःपूर्णमिवामत्रं दुग्धपूर्णमिव भाजनम्; हरन्धीरो यथामतिरिति हरन् बुद्धिमान् यथामतिर्भवति तद्वदेकाग्रमनाः, वक्तव्याः; इत्येवमात्रेयो नामाचार्यो मन्यते ॥८॥

त्रि०—अतिव्यक्तम्=अतिस्पष्टम्; अव्यक्तम्=अस्पष्टम्; च यथा न भवति एवं वर्णान्; उदीरयेत्=उच्चारयेत्; इत्यर्थः। पयःपूर्णमिवामत्रं क्षीरपरिपूरितं भाजनं हरन्निव; यथामति=मतिमनतिक्रम्य; वर्तमानः धीरः=अध्येता; भवेत् इत्यात्रेयः मन्यते ॥८॥

वै०—(पयःपूर्णमिवामत्रꣳहरन्=) शिक्षोक्तं स्वमतमाह—यथा क्षीरस्य पूर्ण-

---

का; उच्चारण करना चाहिए—ऐसा शौत्यायन मुनि मानते हैं। आनुनासिक्य में तो पूर्व में कही गई विधि (लागू होती है)। "इषे त्वोर्जे त्वा"। यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ ७ ॥

सू० अ०—वर्णों को न तो अधिक स्पष्ट और न अस्पष्ट उच्चारण करना चाहिए। दूध से भरे हुए बर्तन ले जाते हुए के समान अध्येता अपनी बुद्धि के अनुसार होना चाहिए—ऐसा आत्रेय (मानते हैं)।

त्रि० अ०—वर्णान्=वर्णों को; एवम्=इस प्रकार; उदीरयेत्=उच्चारित करना चाहिए; जिससे (वर्ण); अतिव्यक्तम्=अत्यधिक स्पष्ट और; अव्यक्तम्=अस्पष्ट; न होवे। पयःपूर्णमिवामत्रम्=दूध से भरे हुए पात्र; हरन्निव=ले जाते हुए के समान; धीरः=अध्येता; यथामति=अपनी बुद्धि का अतिक्रमण न करके (अर्थात् अपनी बुद्धि के अनुसार) सावधान रहे; इत्यात्रेयः=यह आत्रेय; मानते हैं ॥ ८ ॥

वै० अ०—शिक्षा में कहे गए अपने मत को (सूत्रकार) कहते हैं –

---

(१) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाजनं वहन् पुरुषो धीरः = समाहितमनाः सन् नातिशीघ्रं गच्छति न चातिमन्दम्, एवं वेदस्य प्रयोक्ता पुरुषः प्रयत्नातिशयेन वर्णान्नातिव्यक्तमुच्चारयेत्, न च प्रयत्नापचयेनाव्यक्तम्, किन्तु मध्यमेन प्रयत्नेन प्रयुञ्जीत। एवमव्यक्तत्वतिव्यक्ती न भवतः ननु। कस्यचित् तीव्रः प्रयत्नः अन्यस्य मध्यमो भवति, कस्यचिन्मन्दः प्रयत्नः अन्यस्य मध्यम इत्येवमापेक्षिकत्वात्कथं साम्प्रतिकावधारणमिति ? अत्रेदमुच्यते—यथामतीति, यथा प्रयोक्तुर्मतिर्भवति अयमेव पक्षः साम्प्रतिकः प्रयत्न इति तथा स प्रयोक्ता स्वशक्त्यनुरूपं प्रयुञ्जीत। न तु परशक्त्यपेक्षया साम्प्रतिकावधारणं सम्भवतीति। आत्रेयग्रहणं पूजार्थम् ॥८॥

(पयः पूर्णमिवामत्रं हरन् =) जिस प्रकार दूध के भरे हुए पात्र को ले जाता हुआ पुरुष, धीरः = एकाग्र मन वाला होकर न अधिक शीघ्रता से चलता है और न अधिक धीरे-धीरे, उसी प्रकार वेद के उच्चारण-कर्त्ता पुरुष को अत्यधिक प्रयत्न से वर्णों को न तो; अतिव्यक्तम्=अत्यधिक स्पष्ट; उच्चारित करना चाहिए और न प्रयत्न की न्यूनता से; अव्यक्तम् = अस्पष्ट, (उच्चारित करना चाहिए), किन्तु मध्यम प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार (उच्चारणकर्त्ता को) न अव्यक्ती होना चाहिए और न अतिव्यक्ती। (शङ्का) किसी व्यक्ति का तीव्र प्रयत्न दूसरे व्यक्ति के मध्यम प्रयत्न के समान होता है, किसी का मन्द प्रयत्न दूसरे के मध्यम प्रयत्न के समान होता है—इस प्रकार (प्रयत्न के) आपेक्षिक होने के कारण ठीक उच्चारण का निर्णय कैसे होगा ? इस विषय में (सूत्रकार) कहते हैं—यथामति - जैसी उच्चारण करने वाले की मति हो— यह पक्ष ही ठीक उच्चारण है - अतः उच्चारण-कर्त्ता को अपने शक्ति के अनुरूप उच्चारण करना चाहिए। दूसरे की शक्ति की अपेक्षा से ठीक उच्चारण का निर्णय करना सम्भव नहीं। आत्रेय का (सूत्र में) ग्रहण सम्मान के लिए है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टादशोऽध्यायः

ओकारं तु प्रणव एकेऽर्धतृतीयमात्रं ब्रुवते ॥ १ ॥

मा०—ओमित्येष शब्दः प्रणवः; तस्मिन् प्रणवे अर्द्धतृतीयकालमात्रमोकारं ब्रुवते; अर्द्धं तृतीयं यस्य सोऽयमर्द्धतृतीयः; तावन्मात्रमेके आचार्या ब्रुवते। यथा—"ओम्" ॥१॥

त्रि०—प्रणवे ओकारम् अर्धतृतीयमात्रम् एके ब्रुवते एके आचार्याः अर्धतृतीयमात्रमाहुः इत्यर्थः। अर्धं तृतीयं ययोस्ते अर्धतृतीये अर्धतृतीये मात्रे यस्यासौ अर्धतृतीयमात्रः। यथा—"समुद्रो बन्धुः ओम्"[1]। "येभ्यश्चैनत्प्राहुः ओम्"[2]। "ओं इषे त्वा"[3]। "ओं ब्रह्म सन्धत्तम्"[4]। कालनिर्णयेऽप्येवं वर्णितम्—

स्वाध्यायारम्भशेषस्य प्रणवस्य स्वरस्य च।
अध्यायस्यानुवाकस्यान्ते स्यादर्द्धतृतीयता॥

तुशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते—

सन्ध्यक्षराणां वेदं च प्रणवं चान्तरा तथा।

सू० अ०—प्रणव में स्थित ओकार को कतिपय (आचार्य) ढाई मात्रा काल वाला कहते हैं।

त्रि० अ०—प्रणवे = प्रणव में स्थित ओकार को, एके = कतिपय आचार्य; अर्धतृतीयमात्रम् = अर्धतृतीय मात्रा काल वाला; ब्रुवते = कहते हैं-ढाई मात्रा काल वाला कहते हैं—यह अर्थ है। तीसरी मात्रा का आधा (भाग) है जिनमें वे दो अर्धतृतीय मात्राएँ हैं, अर्ध तृतीय मात्राएँ हैं जिसकी वह = अर्धतृतीयमात्रा। जैसे—"समुद्रो बन्धुः ओम्"। "येभ्यश्चैनत्प्राहुः ओम्"। "ओं इषे त्वा"। "ओं ब्रह्म सन्धत्तम्"। काल-निर्णय (शिक्षा) में भी इस प्रकार कहा गया है—

वेदाध्ययन के आरम्भ के अङ्गभूत ओंकार के स्वर (ओ) की तथा अध्याय के अनुवाक के अन्त में अर्धतृतीय मात्रिकता (ढाई मात्रा काल) होती है।

(सूत्रस्थ) तु शब्द का प्रयोजन कहते हैं—

सन्ध्यक्षरों का (काल) वेद एवं प्रणव को छोड़कर (दीर्घ है)—यह काल-निर्णय (शिक्षा) में (कहा गया) है, 'सन्ध्यक्षरों में ह्रस्व नहीं होते हैं'—ऐसा पाणिनीय (शिक्षा) में भी समस्त ओकार का दीर्घकाल निरूपित है। यहाँ (सूत्र

---

(१) ७।५।२५ (२) ब्रा० ३।१२।९ (३) १।१।१ (४) ब्रा० १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति कालनिर्णये, 'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति' इति पाणिनीयेऽपि, ओकारमात्रस्य दीर्घकालो निरूपितः। इह तु प्रणवस्थत्वविशेषणादसौ कालो निषिद्ध्यते।

वेदस्य प्रणवे तु स्यात् समकालद्विमात्रता।
इति प्रणवविशेषे कालविशेषः प्रत्येतव्यः॥ १॥

वै० इदानीमध्ययनारम्भार्थस्य ओंकारस्य प्रयोगो वक्ष्यते—

प्रणूयते प्रस्तूयते प्रारभ्यतेऽनेन वेद इति प्रणवः ओंकारः। (प्रणवे=) तस्मिन् यः ओकारः तम्; एके आचार्या अर्धतृतीयमात्रम्; (ब्रुवते=) भणन्ति। अर्धं तृतीयं यासां मात्राणां ता अर्धतृतीयाः। तावत्यो मात्राः यस्य स तथोक्तः। तदेतच्छिक्षाकारोक्तं परमतत्वेनोपन्यस्तम्। कुतः? ब्रुवत इत्यात्मनेपदनिर्देशात्। कर्त्रभिप्राये हि क्रियाफले आत्मनेपदादेशस्मर्यते। अतो न तत्परेषामुपकरोति। स्वमते तु त्रिमात्रः। तदुक्तं मूलशास्त्रे—"ओमभ्यादाने"[1]। अचः प्लुत उदात्त इति। तुशब्दो यथाप्राप्तं कृत्स्नस्योकारस्य त्रिमात्रत्वं

में), तो "प्रणव में स्थित" इस विशेषण से इस दीर्घ काल का निषेध किया जा रहा है।

"वेद के प्रणव में तो दो मात्रा की समकालता होती है" इस कालविशेष को प्रणव-विशेष में जानना चाहिए।

वै० अ०—अब अध्ययन के आरम्भ के लिए प्रयुक्त ओंकार का उच्चारण कहा जायेगा—

ध्वनित होता है, प्रस्तुत किया जाता है, प्रारम्भ किया जाता है वेद इससे, अतः ओंकार प्रणव है। (प्रणवे=) उस (ओंकार) में; जो ओकार है उसको एके=कतिपय आचार्य; अर्धतृतीयमात्रम्=ढाई मात्रा वाला; (ब्रुवते=) कहते हैं। तीसरा (भाग) है आधा जिन (तीन) मात्राओं का वे=अर्धतृतीयाः; उतनी मात्रायें हैं जिसकी वह वैसा कहा गया (अर्धतृतीयमात्रम्) है। शिक्षाकार के द्वारा बतलाया गया (यहाँ) यह तथ्य दूसरों के मत के रूप में (यहाँ) प्रस्तुत किया गया है। क्यों? (उत्तर) क्योंकि 'ब्रुवते' में आत्मनेपद का निर्देश किया गया है। क्रिया का फल कर्त्ता को मिले तो आत्मनेपद का आदेश किया जाता है। अतः वह (क्रिया-फल) दूसरों का उपकारक (साधक) नहीं होता है। अपने मत में तो (प्रणव) तीन मात्राओं वाला (होता है)। व्याकरण-शास्त्र में यह कहा गया है—"आरम्भ (अभ्यादान) में ओं शब्द प्लुत होता है"। (इससे) (ओंकार का) स्वर (अच्) (=ओकार) प्लुत (तीन मात्राओं वाला) और उदात्त होता है। (मकार की आधी मात्रा होती है। अतः ओं शब्द साढ़े तीन मात्रा का हुआ)। तु शब्द सभी ओकारों के त्रिमात्रत्व का निवारण करता है।

---

(१) पा० ८।२।८७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवर्तयति। तथा चार्धतृतीयमात्रस्वरत्वं विकथा निमित्तस्य समाप्तिनिमित्तस्य चाभिमतमिति ध्वन्यते ॥ १ ॥

उदात्तानुदात्तस्वरितानां कस्मिँश्चिदिति शैत्यायनः ॥२॥

मा०—प्रणव उदात्तेन वा अनुदात्तेन वा स्वरितेन वा एतेषामन्यतमेन स्वरेण वक्तव्य इति व्याख्या कर्त्तव्येति शैत्यायनो मन्यते। यथा—"ओम् ओम् ओम्" ॥२॥

त्रि०—उदात्तानुदात्तस्वरितानां मध्ये कस्मिँश्चित् स्वरे प्रणवः प्रयोक्तव्य इति शैत्यायनः मन्यते। यथा—"ओम्" ॥२॥

वै०—वेदारम्भार्थ ओङ्कारे य ओकारः स खलु उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् (कस्मिँश्चित्=) अन्यतमे स्वरे प्रयोक्तव्य इति स्वरविकल्पं शैत्यायनो मन्यते ॥२॥

धृतप्रचयः कौण्डिन्यस्य ॥३॥

मा०—कौण्डिन्यस्य धृतप्रचयः प्रणवस्वरो भवति। यथा—"ओम्" ॥३॥

त्रि०—कौण्डिन्यस्य मते प्रणवो धृतप्रचयः भवति। चतुर्थः स्वरो धृतप्रचयः इति कथ्यते। ननु—"प्रचयपूर्वश्च कौण्डिन्यस्य"[1] इतिवत् प्रचय इत्येतावतैवालम्। किं धृत-

---

और इस प्रकार ढाई मात्रा का स्वरत्व प्रारम्भ-निमित्तक तथा समाप्ति-निमित्तक (ओकार) का माना गया है—यह ध्वनित होता है ॥ १ ॥

सू० अ०—शैत्यायन (आचार्य कहते हैं कि) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में से किसी भी (स्वर) में (प्रणव का उच्चारण करना चाहिए)।

त्रि० अ०—उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्=उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों के मध्य में; कस्मिँश्चित्=किसी भी स्वर में, प्रणव का उच्चारण करना चाहिए—ऐसा शैत्यायन (आचार्य) मानते हैं। जैसे—"ओम्" ॥ २ ॥

वै० अ०—वेद के आरम्भ के लिए प्रयुक्त ओंकार में जो ओकार है वह; उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्=उदात्त, अनुदात्त या स्वरित में से; (कस्मिँश्चित्=) किसी भी; एक स्वर में उच्चारित करना चाहिए—इस स्वर-विकल्प को शैत्यायन (आचार्य) मानते हैं ॥ २ ॥

सू० अ०—कौण्डिन्य (आचार्य) के अनुसार (ओंकार) धृतप्रचय होता है।

त्रि० अ०—कौण्डिन्यस्य=कौण्डिन्य के मत में प्रणव धृतप्रचय होता है। चतुर्थ स्वर धृतप्रचय कहा जाता है[क]। शंका—"कौण्डिन्य के (मतानुसार) प्रचय

(क) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन स्वर हैं—इन तीनों के अतिरिक्त चौथा स्वर प्रचय या धृतप्रचय है—ऐसा भाष्यकार का कहना है।

(१) १९।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्देन ? मैवम्। पदद्वयेनाप्यनेन नामधेयमेवाभिधीयते। तथा हि—अर्थभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदोऽस्तीति प्रयोगचातुर्यमाचार्यः प्रकटयति। यथा—"भीमसेनो भीमः, सत्यभामा सत्या, पिधानमपिधानं, दीपः प्रदीपः" इत्यादि ॥३॥

वै०—कौण्डिन्यस्य मते ओकारस्य; (धृतप्रचयः =) धृतापरपर्यायः प्रचयोनाम स्वरः; भवति। प्रचयलक्षणं वदति—"उदात्तश्रुतिः"[1] इति। तस्योदात्तवच्छ्रूयमाणस्य सूक्ष्मः कश्चिद्विशेषो धृतसंज्ञाभिधानमुखेन प्रदर्श्यते। क्रुष्टादीनां सप्तानां स्वराणां मध्ये तृतीयाख्यो यो मध्यमस्स्वरस्तस्य धृत इत्यन्वर्थसंज्ञा। क्रुष्टप्रथमद्वितीया उत्क्षेपिणः। चतुर्थमन्द्रातिस्वार्या अपक्षेपिणः। तृतीयस्तु उभयरहितो मध्ये लीयमानत्वाद्धृतसंज्ञः। उदात्तस्तु किञ्चिदुत्क्षिप्यत इति धृतोदात्तयोरीषद्विशेषः। अत एव "उदात्तश्रुतिः"[1] इति उदात्तस्येव श्रुतिः प्रचयस्येति इवार्थं उपपद्यते। वक्ष्यति च—"मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वार-

---

पूर्व में होने पर भी (विक्रम होता है)"—के स्थान पर प्रचय इतना कहना ही पर्याप्त था, धृत शब्द से क्या (लाभ है)? ऐसी बात नहीं है। इस पदद्वय (धृत और प्रचय) से नामधेय (प्रचय) का ही कथन हुआ है। जैसे—अर्थ-भेद का अभाव होने पर भी प्रयोग भेद होता है—इस प्रकार प्रयोग के चातुर्य को आचार्य प्रकट करते हैं। जैसे—"भीमसेन और भीम। सत्यभामा और सत्या। पिधान और अपिधान। दीप और प्रदीप" इत्यादि ॥ ३ ॥

वै० अ० - कौण्डिन्यस्य = कौण्डिन्य (आचार्य) के मत में; ओकार का; (धृतप्रचयः =) धृत है दूसरा पर्याय जिसका ऐसा प्रचय नामक स्वर; होता है। प्रचय का लक्षण (आचार्य यहाँ) कहते हैं—"संहिता (पाठ) में स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों की प्रचय (संज्ञा होती है तथा वे) उदात्त के समान सुने जाते हैं।" उस उदात्त के समान सुनाई पड़ने वाले (प्रचय) का कोई सूक्ष्म अन्तर धृत-संज्ञा के कथन के द्वारा दिखलाया जाता है। क्रुष्टादि इत्यादि सात स्वरों के मध्य में तृतीय नामक जो मध्यम स्वर है उसकी धृत—यह अन्वर्थ संज्ञा है। क्रुष्ट, प्रथम और द्वितीय उत्क्षेपिन् हैं। चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य अपक्षेपिन् हैं। दोनों (उत्क्षेपण और अपक्षेपण) से रहित तृतीय (स्वर) मध्य में स्थित होने से धृत-संज्ञक है। उदात्त तो कुछ ऊपर फेंक दिया जाता है—इस प्रकार धृत और उदात्त में थोड़ा सा अन्तर है। इसलिए "संहिता (पाठ) में स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों

---

(१) २१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तैत्तिरीयकाः"[१] इति। उदात्त इति चान्वर्थसंज्ञा उत्क्षेपणनिमित्तवतः। तस्मादेतावानुदात्त-प्रचययोर्भेद इति प्रकटनार्थं धृतं इति विशेषणम्। प्रणवे तु कौण्डिन्यशैत्यायनयोर्मते अनिष्टे ॥३॥

मध्यमेन स वाक्प्रयोगः ॥४॥

मा०—स च प्रणवः मध्यमेन वाचः स्थानेन प्रयोक्तव्यो भवति। यथा—"ओम्" ॥४॥

त्रि०—प्रयुज्यत इति प्रयोगः। मध्यमेन उच्चनीचसमाहारविलक्षणेन प्रयत्नेन प्रणवः प्रयोक्तव्यः। यत्र क्वचन वाचस्स्थाने प्रयोगः भवति। सः इति कौण्डिन्याभिमतः पूर्वोक्तो गृह्यते। वाचि प्रयोगो वाक्प्रयोगः ॥४॥

वै०—वाचः प्रयोगो वाक्प्रयोगः। स खलु प्रणवात्मको वाक्प्रयोगो मध्यमेन स्वरेण कर्त्तव्यो न क्रुष्टेन नापि मन्द्रादिभिः ॥४॥

की प्रचय (संज्ञा होती है तथा वे) उदात्त के समान माने जाते हैं"=उदात्त के समान प्रचय का श्रवण होता है—यहाँ इव (समान) का अर्थ उपपन्न होता है। (सूत्रकार भी) कहेंगे—"मन्द्र से आरम्भ करके द्वितीय पर्यन्त चार (स्वर) तैत्तिरीयकों के होते हैं।" उदात्त यह भी संज्ञा अन्वर्थ है क्योंकि इसका निमित्त उत्क्षेपण है। इसलिए उदात्त और प्रचय का इतना भेद है—यह प्रकट करने के लिए 'धृत' विशेषण का प्रयोग हुआ है। प्रणव के विषय में कौण्डिन्य और शैत्यायन के मत इष्ट नहीं है ॥ ३ ॥

सू० अ०—(प्रणवात्मक) वाणी का उच्चारण मध्यम प्रयत्न से (करना चाहिये)।

त्रि० अ०—जो प्रयुक्त किया जाता है वह=प्रयोग। मध्यमेन=उच्च (उदात्त) और नीच (अनुदात्त) के मिश्रणरूप विलक्षण प्रयत्न से; प्रणव (का उच्चारण) करना चाहिए। वाणी के जिस किसी भी स्थान (pitch portion) में प्रयोग होता है। (सूत्र में प्रयुक्त) 'सः' के द्वारा कौण्डिन्य के अभिमत पूर्वोक्त उच्चारण का ग्रहण होता है। वाक्प्रयोगः=वाणी में प्रयोग ॥ ४ ॥

वै० अ०—वाणी का प्रयोग=वाक्प्रयोग। वह प्रणवात्मक वाणी का प्रयोग मध्यम स्वर से करना चाहिए, न क्रुष्ट से और न मन्द्र इत्यादि से ॥ ४ ॥

---

(१) २३।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरितः प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः ॥५॥

मा०—प्लाक्षि-प्लाक्षायणयोराचार्ययोः मतेन प्रणवः स्वरितस्वरो भवति। यथा—"ओम्" ॥५॥

त्रि०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः पक्षे प्रणवः स्वरितः भवति। नैतत्सूत्रचतुष्टयमिष्टम् ॥५॥

वै०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोर्मते प्रणवः स्वरितः प्रयोक्तव्यः। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥५॥

उदात्तो वाल्मीकेः ॥६॥

मा०—वाल्मीकेः शाखिनो मतेन प्रणव उदात्तस्वरो भवति। यथा—"ओम्" ॥६॥

त्रि०—वाल्मीकेः मते प्रणवः उदात्तः भवति ॥६॥

वै०—वाल्मीकेर्मते प्रणव उदात्तः प्रयोक्तव्य इति ॥६॥

यथाप्रयोगं वा सर्वेषां यथाप्रयोगं वा सर्वेषाम् ॥७॥

मा०—सर्वेषामाचार्याणां मतेन प्रणव उदात्तस्वरो भवति। यथाप्रयोगमुदात्त इत्यर्थः। यथा—"ओम्" इति ॥७॥

त्रि०—यथाप्रयोगशब्देन उदात्तोऽभिधीयत इति माहिषेयपक्षः। प्रणवं यथाप्रयोगम्

सू० अ०—प्लाक्षि और प्लाक्षायण (आचार्यों) के मतानुसार (प्रणव) स्वरित (स्वर में उच्चारित होता है)।

त्रि० अ०—प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः = प्लाक्षि और प्लाक्षायण (आचार्यों) के मत में; प्रणव स्वरित होता है। ये चार सूत्र इष्ट नहीं हैं ॥ ५ ॥

वै० अ०—प्लाक्षिप्लाक्षयणयोः = प्लाक्षि और प्लाक्षायण के मत में; प्रणव का स्वरित (स्वर में) उच्चारण करना चाहिए। यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ ५ ॥

सू० अ०—वाल्मीकि (आचार्य) के मतानुसार (प्रणव) उदात्त (स्वर में उच्चारित होता है)।

त्रि० अ०—वाल्मीकेः = वाल्मीकि के मत में; प्रणव उदात्त होता है ॥ ६ ॥

वै० अ०—वाल्मीकेः = वाल्मीकि के मत में; प्रणव का उदात्त उच्चारण करना चाहिए ॥ ६ ॥

सू० अ०—अथवा सभी (आचार्यों) के मतानुसार प्रयोग के अनुसार (प्रणव का उच्चारण करना चाहिए)।

त्रि० अ०—'यथाप्रयोग' शब्द से उदात्त का अभिधान किया जाता है—यह माहिषेय (आचार्य) का मत है। वा = अथवा; प्रणव (का उच्चारण); यथा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा कुर्यादिति सर्वेषां ऋषीणां मतम्। वररुचिपक्षस्तु वक्ष्यते—अध्येष्यमाणं यथाप्रयोगं यथाविधस्वरं तथाविधेन वा स्वरेण प्रणवः प्रयोक्तव्य इति सर्वेषाम् मतमिति। यथा—"इषे त्वा"[1] इत्यनेनाध्येष्यमाणानुदात्तेन प्रणवोऽप्यनुदात्तः। "आप उन्दन्तु"[2] इत्युदात्तेनोदात्तः "व्यृद्धम्"[3] इति स्वरितेन स्वरितः। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥७॥

वै०—तत्तच्छाखाध्यायिनः पूर्वे शिष्टतमाः येनयेन स्वरेण आरम्भार्थमोङ्कारं प्रयुञ्जते, तेनतेनैवाध्यापितव्यवस्थया प्रयोक्तव्य इति सर्वेषामाचार्याणां मतम् ॥७॥

प्रयोगम्=प्रयोग के अनुसार; करना चाहिए—यह सर्वेषाम्=सभी (आचार्यों) का मत है। वररुचि के पक्ष को कहेंगे—आगे उच्चारित किया जाने वाला (अक्षर); यथाप्रयोगम्=जैसे स्वर से समन्वित हो वैसे स्वर से प्रणव का उच्चारण करना चाहिए विकल्प से—यह सब लोगों का मत है। जैसे—"इषे त्वा"—आगे उच्चारित किए जाने वाले अनुदात्त के कारण प्रणव भी अनुदात्त है। "आप उन्दन्तु"—(आगे उच्चारित किये जाने वाले) उदात्त (आ) के कारण (प्रणव भी) उदात्त (उच्चारित होता है)। "व्यृद्धम्" (आगे उच्चारित किए जाने वाले) स्वरित के कारण (प्रणव भी) स्वरित (उच्चारित होता है)। यह सूत्र इष्ट नहीं है॥ ७॥

वै० अ०—उन-उन शाखाओं के अध्ययन करने वाले प्राचीन शिष्टतम व्यक्ति जिस-जिस स्वर से, आरम्भ के लिए प्रयुक्त; ओंकार का उच्चारण करते हैं, उसी-उसी अध्यापित व्यवस्था से (प्रणव का) उच्चारण करना चाहिए—यह सब आचार्यों का मत है॥ ७॥

---

(१) १।१।१ (२) १।२।१ (३) ५।१।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकोनविंशोऽध्यायः

स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचँ स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः ॥१॥

मा०—स्वरितयोर्मध्ये उदात्तयोर्वा मध्ये स्वरितोदात्तयोर्वा उदात्तस्वरितयोर्वा मध्ये यत्र नीचं स्यात् स विक्रमः, स विक्रम इति वेदितव्यः। स्वरितयोर्मध्ये यथा—"योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि"[१]। उदात्तयोर्यथा—"वोढवे"[२]। स्वरितोदात्तयोर्यथा—"धन्वना गा धन्वना"[३]। उदात्तस्वरितयोर्यथा—"तस्य क्व सुवर्गो लोकः"[४]। अन्यतर उदात्तः अन्यतरः स्वरितो वा स द्विविधः विक्रमोऽविक्रमः। विक्रमसंज्ञायाः प्रयोजनमवदाम "स्वार-विक्रमयोः"[५] इति ॥१॥

त्रि०—यत्र स्थले स्वरितयोर्मध्ये उदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वा इति स्वरितोदात्तयो-र्वेत्यर्थः, उदात्तस्वरितयोः वा मध्ये नीचं यदक्षरं स विक्रमसंज्ञः भवति। स्वरितयोर्मध्ये यथा—"योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि"[१]। उदात्तयोर्यथा—"वोढवे"[२]। स्वरितोदात्तयोर्यथा—"धन्वना गाः"[३]। उदात्तस्वरितयोर्यथा—"तस्य क्व सुवर्गो लोकः"[४]। विक्रमसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः"[५] इति ॥१॥

सू० अ०—जहाँ दो स्वरितों या दो उदात्तों अथवा उन दोनों में से एक ओर उदात्त या स्वरित होने पर दोनों के मध्य में स्थित अनुदात्त है वह विक्रम (-संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—यत्र=जिस स्थल में; स्वरितयोर्मध्ये=दो स्वरितों के मध्य में; उदात्तयोर्वा=दो उदात्तों के मध्य में; अन्यतरतो वा=स्वरित और उदात्त के मध्य में-यह अर्थ है, उदात्तस्वरितयोः=उदात्त और स्वरित के मध्य में; जो; नीचम्=अनुदात्त; अक्षर है; स विक्रमसंज्ञः=वह विक्रम-संज्ञक; होता है। दो स्वरितों के मध्य में जैसे—"योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि"। दो उदात्तों के मध्य में जैसे—"वोढवे"। स्वरित और उदात्त के (मध्य में) जैसे "धन्वना गाः"। उदात्त और स्वरित के (मध्य में) जैसे—"तस्य क्व सुवर्गो लोकः"। विक्रम-संज्ञा का प्रयोजन—"स्वर और विक्रम का दृढतर प्रयत्न (होता है)" ॥ १ ॥

---

(१) ५।७।९ (२) १।६।२ (३) ४।६।६
(४) २।६।५ (५) १७।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै—इदानीं विक्रमाख्योऽनुदात्तविशेषो लक्ष्यते—यत्र; (स्वरितयोर्मध्ये=) स्वरितयोरक्षरयोर्मध्ये; नीचम्=अनुदात्तमक्षरम्; स्यात् उदात्तयोः मध्ये वा नीचं स्यात्; अन्यतरतः= एकतरस्मिन् वा समीपे; उदात्तस्वरितयोः सतोर्मध्ये नीचं स्यात्स नीचस्वरो विक्रमसंज्ञो भवति। स्वरितयोः—"तावानुक्थ्यः"[1]। उदात्तयोः—"इषे त्वोर्जे त्वा"[2]। अन्यतरतो वेत्यत्र द्विधाऽन्वयः स्वरितपूर्वकतया उदात्तपूर्वकतया वा इति। "नास्येन्द्रियं वीर्यं वृङ्क्ते"[3]। एवमिति किम्? "वरिमा च मे प्रथिमा च मे"[4]। संज्ञायाः प्रयोजनम्—"स्वारविक्रमयोः दृढप्रयत्नतरः"[5] इत्युक्तम् ॥५॥

प्रचयपूर्वश्च कौण्डिन्यस्य ॥ २ ॥

मा०—प्रचयपूर्वश्च उदात्तपरो वा स्वरितपरो वा मध्ये निहतः, स च विक्रम इति वेदितव्यः कौण्डिन्यस्याचार्यस्य मतेन। यथा उदात्तपरः—"इमं मे वरुण श्रुधी हवम्"[6]। स्वरितपरः—"उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या जनिष्यमाणान्"[7]। विक्रम इति चशब्दो ज्ञापयति ॥२॥

त्रि०—चशब्दो विक्रम इति ज्ञापयति। कौण्डिन्यस्य मते उदात्तपरः स्वरितपरो

वै० अ०—अब विक्रम नामक अनुदात्त-विशेष का लक्षण प्रस्तुत किया जाता है—यत्र=जहाँ; (स्वरितयोर्मध्ये=) दो स्वरित अक्षरों के मध्य में; नीचम्=अनुदात्त अक्षर; स्यात्=होता है; उदात्तयोः=दो उदात्तों के; मध्य में जो अनुदात्त होता है; अन्यतरतः वा=किसी भी एक के समीप होने पर; उदात्तस्वरितयोः=उदात्त और स्वरित के मध्य में अनुदात्त (अक्षर) होता है; स विक्रमः=वह विक्रम-संज्ञक; होता है। दो स्वरितों के मध्य में—"तावानुक्थ्यः"। दो उदात्तों के मध्य में—"इषे त्वोर्जे त्वा"। अन्यतरतो वा=यहाँ दो प्रकार से अन्वय होता है=स्वरित पूर्व में होने पर, उदात्त पूर्व में होने पर (और उदात्त बाद में होने पर, स्वरित बाद में होने पर)—"नास्येन्द्रियं वीर्यं वृङ्क्ते"। इस प्रकार यह क्यों (कहा)? "वरिमा च मे प्रथिमा च मे"। (विक्रम) संज्ञा का प्रयोजन—"स्वार (स्वरित) और विक्रम (अनुदात्त—विशेष) का प्रयत्न दृढ़तर होता है"—यह कहा गया है ॥ १ ॥

सू० अ०—कौण्डिन्य के मतानुसार प्रचय पूर्व में होने पर भी (विक्रम) होता है)।

त्रि० अ०—(सूत्र में प्रयुक्त) च शब्द विक्रम (संज्ञा) को बतलाता है। कौण्डिन्यस्य=कौण्डिन्य (आचार्य) के मत में; उदात्त बाद में होने पर अथवा

---

(१) १।६।९ (२) १।१।१ (३) २।२।९ (४) ४।७।२
(५) १७।६ (६) २।१।११ (७) २।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा प्रचयपूर्वश्च विक्रमो विज्ञेयः। उदात्तपरो यथा—"पर्यवदतां या"[१]। स्वरितपरो यथा—"उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या"[२]। प्रचयः पूर्वो यस्मादसौ प्रचयपूर्वः ॥२॥

वै०—पूर्वोक्तविधया उदात्तस्वरितपरः; (प्रचयपूर्वश्च =) प्रचयपूर्वकः; योऽनुदात्तः स च विक्रम इति कौण्डिन्यस्य मतम्। "अवधूत॑रक्षः"[३]। "खनितुं पुरीष्यम्"[४]। एवमिति किम्? "उपयामगृहीतोऽसि"[५]। नेदं सूत्रमिष्टम् ॥२॥

द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः ॥३॥

मा०—द्वियमे एकस्मिन् द्वियमपरे च अणुमात्रा भवन्ति। द्वयोः स्वारयोः सन्निपाते पूर्वस्मिन्नणुमात्रा भवति। त्रिषु सन्निपातेषु पूर्वावणुमात्रिकौ भवतः, उत्तमः प्रकृत्या भवति। यथा द्वयोः—"तेऽन्योन्यमुपाधावन्"[६]। त्रिषु—"सोऽपोऽभ्यन्त्रियत"[७]। ता अणुमात्रा इति एके आचार्या मन्यन्ते। अन्ये तु स्वमात्रार्धकाले वा स्वमात्रातृतीयकाले वा स्वमात्राचतुर्थकाले वा निहतो भवतीति। यथा—"तेऽन्योन्यम्"[८]। "सोऽपोऽभ्यन्त्रियत"[९]। यमः स्वारः। द्वौ यमौ यत्रानन्तर्येण वर्त्तेते स द्वियमः, एके द्वियमपरे एक इति काकाक्षिवदुभयत्र सञ्चरति, तद् द्रष्टव्यम् ॥३॥

त्रि०—यमशब्दः स्वरितपर्यायः। द्वौ यमौ यत्र देशे नैरन्तर्येण वर्तेते स द्वियमः तस्मिन्, द्वियमः परो यस्मादसौ द्वियमपरः तस्मिंश्च त्रियमे सति याः स्वरितप्रकृतयः

स्वरित बाद में होने पर; प्रचयपूर्वश्च = और प्रचय पूर्व में होने पर; (अनुदात्त को) विक्रम (-संज्ञक) जानना चाहिए। उदात्त बाद में होने पर जैसे—"पर्यवदतां या"। स्वरित बाद में होने पर जैसे—"उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या"। प्रचय (स्वर) पूर्व में है जिससे वह = प्रचयपूर्व ॥ २ ॥

वै० अ०—पूर्वोक्त विधि से उदात्त और स्वरित बाद में होने पर; प्रचयपूर्वश्च = तथा प्रचय पूर्व में होने पर; वह जो अनुदात्त होता है वह विक्रम (संज्ञक) होता है—यह; कौण्डिन्यस्य = कौण्डिन्य (आचार्य) का; मत है। "अवधूत॑रक्षः"। "खनितुं पुरीष्यम्"। इस प्रकार—यह क्यों (कहा)? "उपयामगृहीतोऽसि"। यह सूत्र इष्ट नहीं है ॥ २ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के मत में स्वरित स्वर बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) स्वरित स्वर में अणुमात्रा (अनुदात्त होती है)।

त्रि० अ०—यम शब्द स्वरित का पर्यायवाची है। जिस स्थल में दो स्वरित बिना किसी व्यवधान के वर्तमान होते हैं वह = द्वियम उसमें; दो स्वरित (द्वियम) है बाद में जिससे वह = द्वियमपर, उसके होने पर त्रियम में जो स्वरित-तत्त्व होते

---

(१) १।७।२ (२) २।६।२ (३) १।१।६
(४) ४।१।२ (५) १।७।१२ (६) ६।१।५
(७) ६।१।१ (८) ६।१।५ (९) ६।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताः सर्वा अन्ततः अणुमात्राः अभिनिहिता भवन्तीति एके मन्यन्ते। द्वियमे यथा—"ते१ऽन्योन्यम्"[1]। द्वियमपरे यथा—"सो१ऽपोऽभ्यम्रियत"[2]। अन्तत इति कथं प्रतीयते "पदान्ते च तथा कम्पा अन्ततो निहताणुकाः" इति वचनादिति ब्रूमः। निहतं तु "स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्"[3] इत्येतत्सान्निध्यात् लभ्यते। शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥

शेषस्योदात्तता वा स्यात् स्वारता वा व्यवस्यया इति। व्यवस्थाशब्देनानेन द्विविधः कम्प उक्तः। संहितायां स्वरितकम्पः इतरवेदभागे उदात्तकम्प इति। ये कम्पाः प्रसिद्धाः तेष्वेतल्लक्षणं न तु कम्पविधायकम्। अन्यथा "योऽपां पुष्पम्"[4] इत्यादौ कम्पः प्रसज्येत। नेवं सूत्रमिष्टम् ॥३॥

वै०—यमशब्दस्स्वरवाची। द्वौ यमौ समाहृतौ यस्मिन्स खलु स्वरितस्वरो द्वियम उच्यते। तस्मिन्; (द्वियमे=) स्वरितपरे; एके आचार्याः शिक्षाकाराः नीचमिच्छन्ति। तत्किं कृत्स्नस्य पूर्वस्वरितस्य नीचत्वमिष्यते? नेत्युच्यते। ता अणुमात्राः ताश्च नीचप्रकृतयोऽणुपरिमाणा भवन्ति। अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽंशः।

हैं; ताः=वे; सब अन्त की ओर; अणुमात्राः=चौथाई मात्रा; में अनुदात्त उच्चारित होते हैं—ऐसा; एके=कतिपय आचार्य; मानते हैं। द्वियम में—"तेऽ१न्योन्यम्"। द्वियमपर में जैसे—"सोऽ१पोऽभ्यम्रियत"। अन्त से लेकर-यह कैसे जाना जाता है? "उसी प्रकार पद के अन्त में कम्प होते हैं चौथाई मात्रा अनुदात्त होने पर"—इस वचन से—यह कहते हैं। निहत तो "दो स्वरितों के मध्य में स्थित अनुदात्त...."—इससे सान्निध्य के कारण प्राप्त होता है। शिक्षा भी इस प्रकार कहती है—

उदात्त (उच्च) या स्वरित बाद में हो तो नित्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट—ये (स्वरित) स्वर कम्प को प्राप्त करते हैं अर्थात् ये कम्प के साथ उच्चारित होते हैं।

शेष उदात्त होगा अथवा स्वरित होगा—यह व्यवस्था है। इस व्यवस्था शब्द के द्वारा कम्प को दो प्रकार का कहा गया है। संहिता में स्वरित-कम्प, अन्य वेद-भाग में उदात्त-कम्प। जो कम्प प्रसिद्ध हैं उनमें यह लक्षण है, (यह लक्षण) कम्प का विधान करने वाला तो नहीं है। अन्यथा "योऽपां पुष्पम्" इत्यादि में कम्प की प्रसक्ति हो जायेगी। यह सूत्र अभीष्ट नहीं है।

वै० अ०—यम शब्द स्वर का वाचक है। दो यम (स्वर) हैं समाहृत जिसमें वह स्वरित स्वर द्वियम कहा जाता है। उस (स्वरित) के स्वरितपर (स्वरित है बाद में जिसके ऐसा) होने पर कतिपय आचार्य तथा शिक्षाकार अनुदात्त अभीष्ट मानते हैं। तब क्या पूर्ववर्ती सम्पूर्ण स्वरित स्वर का अनुदात्तत्व अभीष्ट है? नहीं,

---

(१) ६।१।५ (२) ६।१।१ (३) १९।१ (४) तै० आ० १।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ह्रस्वस्वरूपं विज्ञेयं चतुर्भिरणुभिस्तथा" इति शिक्षाकारवचनात्। तथा च स्वरितात्पूर्वस्य स्वरितस्यान्ते पादमात्रं नीचं भवतीति सिद्धम्।

अस्मिन् विषये ह्रस्वस्वरितोऽपि द्विमात्रो भवति, अदीर्घं दीर्घवत्कुर्यात् द्विस्वरं यदि दृश्यते, इति शिक्षावचनात्, स खल्वनुदात्तांशः कम्प इत्युच्यते। तस्य यद्यप्यणुमात्रत्वमिहोच्यते, तथाऽप्युच्चारणदौर्घट्यात् ततः पूर्वांशस्य कालः कम्पग्रासादधिककाल उच्चार्यते। तदुक्तं शिक्षायाम्—

स्वाराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्कालास्स्वभावतः।
वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तरि॥ इति।

तद्यथा—"पि॒तृ॒दे॒व॒त्या॑१॒ँ ह्ये॑तत्"[1]। "दे॒वा वा इ॑न्द्रि॒यं वीर्यं॑१॒ व्यभजन्त"[2]। "ते॑१॒ऽन्यो॑न्यमुपा॑धावन्न्"[3]। "ब॒हु॒दे॒व॒त्यो॑१॒ ह्ये॑षः"[4]। "उदात्तात्परोऽनुदात्तः"[5] इत्यस्य तु स्वरितस्य स्वरितपरत्वं न भवति, "नोदात्तस्वरितपरः"[6] इति निषेधात्। अत एवोक्तं शिक्षायाम्—

बतलाते हैं। ता अणुमात्राः = वे अनुदात्त तत्त्व अणु परिमाण वाले होते हैं। ह्रस्व (स्वर) के काल का चतुर्थ अंश अणु कहलाता है।

"ह्रस्व (स्वर) का स्वरूप चार अणु मात्राओं (= मात्रा काल) से (बना हुआ) जानना चाहिए"— इत्यादि शिक्षाकार के वचन से। इस प्रकार स्वरित के पूर्व में विद्यमान स्वरित के अन्त में चौथाई मात्रा अनुदात्त होती है – यह सिद्ध हो गया है।

इस स्थल में ह्रस्व स्वरित भी दो मात्राओं का हो जाता है। यदि द्विस्वर दिखलाई पड़े तो अदीर्घ को भी दीर्घ के समान (उच्चारित) करना चाहिए— इस शिक्षा के वचन से। वह अनुदात्त अंश कम्प कहलाता है। उसका (काल) यद्यपि यहाँ चौथाई मात्रा कहा गया है तथापि उच्चारण के दौर्घट्य से उसके पूर्ववर्ती अंश का काल कम्प से ग्रसित होने के कारण अधिक काल में उच्चारित होता है। उसे शिक्षा में कहा गया है—स्वरित (स्वर), कम्प और रङ्ग—इनका जो स्वभाव से काल होता है उससे ये उच्चारण करते समय बढ़ जाते हैं, चाहे वक्ता इन्हें शीघ्र प्रयत्न से भी उच्चारित करे। जैसे—"पितृदेवत्या१ँ ह्येतत्"। 'देवा वा इन्द्रियं वीर्यां१व्यभजन्त"। "ते१ऽन्योन्यमुपाधावन्न्" "बहुदेवत्यो१ह्येषः"। "उदात्त से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है" यह स्वरित तो स्वरितपर नहीं माना जाता है क्योंकि इसका निषेध इससे हो जाता है "उदात्त और स्वरित बाद में होने पर (स्वरित) नहीं होता"। इसलिए शिक्षा में कहा गया है—उदात्त

---

(१) ६।२।१० (२) ६।६।८ (३) ६।१।५
(४) २।१।६ (५) १४।२९ (६) १४।३१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥
शेषस्योदात्तता वा स्यात् स्वारता वा व्यवस्थया ॥ इति ॥३॥

तस्यामेव प्रकृतौ ॥४॥

मा०—तस्यामेवाणुमात्रायां पातो भवति। यथा विक्रमः प्रकृतौ त एवोदाहरणे भवतः। "तेऽन्योन्यमुपाधावन्"[१]। "सोऽपोऽभ्यश्रियत"[२] ॥४॥

त्रि०—द्वियमस्थले पूर्वस्यामेव तस्यां स्वरितप्रकृतावणुमात्रेऽपि निहतत्वं भवति। द्वियमपरे तु स्थले पूर्वयोरेव प्रकृत्योरणुमात्रया निहतत्वं भवति। न तु ताः सर्वा अणुकार्यभाज इत्येवकारो बोधयति। एवमेव कौहलीय आह, द्वयोः पूर्वोऽणुमात्रिकस्त्रिषु पूर्वावणुमात्रिकावुत्तरः प्रकृत्येति ॥४॥

वै०—नन्वत्रोदात्तपरस्यापि स्वरितस्य कम्पस्स्मर्यते। ततः "अस्मिन्लोकेऽस्मिन्गोष्ठेऽस्मिन्[३]" इत्यादावपि कम्पस्स्यात्। तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वस्यांशस्य कुत्रोदात्तता कुत्र वा स्वरिततेति न ज्ञायत इत्यत्राह—

(उच्च) या स्वरित बाद में हो तो नित्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट—ये (स्वरित) स्वर कम्प को प्राप्त करते हैं अर्थात् ये कम्प के साथ उच्चारित होते हैं। शेष उदात्त होगा या स्वरित होगा—यह व्यवस्था है।

सू० अ०—उस (स्वरित) प्रकृति में ही (अनुदात्तत्व होता है)।

त्रि० अ०—दो स्वरितों के स्थल में पूर्ववर्ती उस (एक) स्वरित-प्रकृति में ही चौथाई मात्रा तक अनुदात्तत्व होता है। दो स्वरित बाद वाले (अर्थात् तीन स्वरितों के) स्थल में तो पूर्ववर्ती दो स्वरित-प्रकृतियों में चौथाई मात्रा तक अनुदात्तत्व होता है। वे सब (स्वरित-प्रकृतियाँ तो) चौथाई मात्रा तक (अनुदात्तत्व) को प्राप्त नहीं करती हैं—यह (सूत्रस्थ) 'एव' शब्द बोधित करता है। कौहलीय ने भी यही कहा है—दो (स्वरितों) में पहले वाला एक (स्वरित) चौथाई मात्रा तक (अनुदात्त उच्चारित होता है); तीन स्वरितों में पहले वाले दो (स्वरित) चौथाई मात्रा तक (अनुदात्त उच्चारित होते हैं), परवर्ती प्रकृतिरूप में रहता है।

वै० अ०—उदात्त बाद में होने पर भी यहाँ स्वरित का कम्पयुक्त होना बतलाया गया है। इससे 'अस्मिन्लोकेऽस्मिन्गोष्ठेऽस्मिन्' इत्यादि में भी कम्प होगा। उस प्रकार के कम्प वाले अंश से पूर्ववर्ती अंश कहाँ उदात्त होगा और कहाँ स्वरित होगा—यह ज्ञात नहीं होता है। इसलिए कहा है—

(१) ६।१।५ (२) ६।१।१ (३) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्मत्संहितायां तस्यामेव स्वरितात्मिकायामेव प्रकृतौ कम्पो भवति। तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वांशस्तु तस्यामेव स्वरितप्रकृतौ अवतिष्ठते। यत्तूदात्तपरस्य स्वरितस्य कम्पत्वं कम्पात्पूर्वांशस्योदात्तत्वं च शिक्षायां स्मर्यते तत् कूष्माण्डादिविषयं शाखान्तरविषयं च वेदितव्यम्। यथा—"तेऽस्मद्यक्ष्ममनागसः"[१]। "अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः"[२] इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम्। कम्पस्यापि विक्रमसंज्ञेष्यते, अस्मिन्नध्याये तदुपदेशात् ॥४॥

न पूर्वशास्त्रे न पूर्वशास्त्रे ॥५॥

मा०—पूर्वविशिष्टं शास्त्रं पूर्वशास्त्रम्। न खलु पूर्वशास्त्रे तस्यामणुमात्रायां पातो भवति। विक्रमः प्रकृतौ पूर्वशास्त्रे चोक्तम् ॥५॥

त्रि०—पूर्वशास्त्रं नाम विक्रमविधिः, तस्मिन्नेतदणुकार्यं न भवति। एवं वा सूत्रार्थः, पूर्वशास्त्रे अध्यायप्रथमसूत्रे या विक्रमसंज्ञा उक्ता, सा कम्पविधावत्र न भवति। विक्रमस्य दृढप्रयत्नत्वात्, कम्पस्य तदभावात् ॥५॥

वै०—नन्वस्मिन् स्वशाखोचितकार्यविधावनुपन्यस्तपूर्वपरमते एकेग्रहणं न युक्तमित्यत आह—

हमारी संहिता में उस स्वरितात्मक प्रकृति में ही कम्प होता है। उसप्रकार के कम्प वाले अंश से पूर्ववर्ती अंश तो उसी स्वरित-प्रकृति में रहता है। उदात्तपर (उदात्त है बाद में जिसके ऐसे) स्वरित का कम्पत्व और कम्प से पूर्ववर्ती अंश का उदात्तत्व जिसे शिक्षा में कहा गया है उसका स्थल कूष्माण्ड आदि है और दूसरी शाखायें हैं। जैसे—"तेऽस्मद्यक्ष्ममनागसः"। "अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इत्यादि को वहीं देखना चाहिए। कम्प की भी विक्रमसंज्ञा अभीष्ट है, क्योंकि इस अध्याय में उसका उपदेश हुआ है।

सू० अ०—पूर्वशास्त्र में (यह कार्य) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—पूर्वशास्त्र का अर्थ है विक्रमविधि। उसमें यह अणुकार्य (चौथाई मात्रा तक अनुदात्त उच्चारण) नहीं होता है। अथवा सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—पूर्वशास्त्रे=अध्याय के प्रथम सूत्र में; जो विक्रमसंज्ञा कही गई है वह यहाँ कम्पविधि में नहीं होती है। क्योंकि विक्रम दृढ़ प्रयत्न वाला होता है, जबकि कम्प में उसका अभाव होता है।

वै० अ०—अपनी शाखा में होने वाले कार्य में पूर्वमत और परमत

---

(१) आ० २।४ (२) आ० ५।१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्य शास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते। तस्मिन् कम्पो न विधीयते साक्षाच्छिक्षायां तु विधीयते। व्याकरणप्रधानं ह्येतच्छास्त्रम्। तस्माद्वैयाकरणेभ्योऽन्ये शिक्षाकारा इहैक इति व्यपदिश्यन्ते। तथा चास्मिन् शास्त्रे विधीयमानानां कार्याणां विषयेषु व्याकरणोक्तकार्याणां संगृहीतत्वान्न तत्र व्याकरणोक्तो विशेषः परिग्राह्यः। शीक्षार्थस्य तु सर्वस्यात्रापरिगृहीतत्वादिहानुक्तमविरुद्धं कार्यं ततः परिग्रहीतव्यमिति सिद्धम् ॥५॥

का उल्लेख न होने से 'एके' का ग्रहण युक्त नहीं है—ऐसी (शंका होने पर) कहते हैं—

इस शास्त्र का मूलभूत जो व्याकरण है उसे पूर्वशास्त्र कहा जाता है। उसमें कम्प का विधान नहीं है, शिक्षा में तो साक्षात् विधान है। यह (प्रातिशाख्य) शास्त्र व्याकरण-प्रधान है। इसलिए वैयाकरणों से अन्य शिक्षाकार 'एके' शब्द से निर्दिष्ट किए गए हैं। इसलिए इस शास्त्र में विहित किए जाने वाले कार्यों के विषयों में व्याकरण में कहे गए कार्यों का संग्रह होने से यहाँ व्याकरण में कहा गया विशेष ग्रहण नहीं करना चाहिए। शिक्षा के सम्पूर्ण विषय का तो यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए यहाँ न कहा गया किन्तु अविरुद्ध कार्य वहाँ से ग्रहण कर लेना चाहिए—यह सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विंशोऽध्यायः

इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः ॥१॥

मा०—इवर्णस्योकारस्य च उदात्तयोर्यथोपदेशं यवकारभावे यः स्वारो विहितः स क्षैप्र इति वेदितव्यः। यथा—"अग्न्यस्थात्"[१]। "ऊत्यश्यामरयिम्"[२]। "स्वस्मा अदिते"[३]। "दिक्वृन्नुवन्ति"[४]। उदात्तयोरिति किम्? "इत्याह देवान्"[५]। "वस्व्यसि"[६]। "अन्वेनम्"[७] ॥१॥

त्रि०—उदात्तयोः इवर्णोकारयोः यथोपदेशं यवकारभावे सति स्वरितो यो विहितः स क्षैप्रः इति संज्ञायते। यथा—"व्येवैनेन"[८]। "कृधी स्वास्मान्"[९]। उदात्तयोरिति किम्? "वस्व्यसि"[६]। "अन्वेनं विप्राः"[७] ॥१॥

वै०—इदानीं स्वरितभेदानां प्रयत्नभेदविवक्षया तल्लक्षणान्युच्यन्ते—

इवर्णोकारयोरुदात्तयोः यवकारभावे यस्स्वरितो विहितः "उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तस्स्वरितम्"[१], इति स खलु (क्षैप्रः=) क्षैप्रसंज्ञो भवति। यथा—"विश्वस्मि-

---

सू० अ०—उदात्त इवर्ण (इ, ई) और उकार (उ) के (क्रमशः) यकार (य्) और वकार (व्) होने पर क्षैप्र (स्वरित) निष्पन्न होता है।

त्रि० अ०—उदात्तयोः इवर्णोकारयोः=उदात्त इवर्ण (इ, ई) और उकार के; नियम के अनुसार; यवकारभावे=यकार (य्) और वकार (व्) होने पर[क]; जो स्वरित विहित है उसकी क्षैप्रः=क्षैप्र-संज्ञा है[ख]। जैसे—"व्येवैनेन"। "कृधी-स्वास्मान्"। उदात्त—यह क्यों (कहा)? "वस्व्यसि"। "अन्वेनं विप्राः"।

वै० अ०—अब स्वरित-भेदों के प्रयत्न-भेद बतलाने की इच्छा से उनके लक्षण कहे जाते हैं—

इवर्णोकारयोरुदात्तयोः=उदात्त इवर्ण और उकार के; यवकारभावे=यकार

(क) १०।१५ में विधान किया गया है कि इवर्ण और उकार किस परिस्थिति में य्, व् होते हैं। ४।५ से ऊ सदा प्रग्रह होता है। अतः वह इस सूत्र का विषय नहीं है।

(ख) १०।१६ में यह विधान किया गया है कि क्षैप्रस्वरित की निष्पत्ति किस परिस्थिति में होती है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा केवल क्षैप्र संज्ञा का विधान किया गया है।

---

(१) ४।२।८ (२) १।३।१४ (३) ४।७।१५ (४) ३।५।१० (५) २।५।९
(६) १।३।५ (७) ४।६।८ (८) ५।३।११ (९) १०।१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्त्रा॒ष्ट्रे"[१]। "य॒न्त्र्य॑सि॒ यमि॑त्री"[२]। "स्व॑ध्वर्यु॒स्सुस॑भेयः"[३]। "दि॒क्ष्वृ॑घ्नुवन्ति"[४]। इवर्णोकारयोरिति किम्? "ते॑ऽब्रुवन्"[५]। "सो॑ऽब्रवीत्"[६]। उदात्तयोरिति किम्? "तान्य॑ब्रुवन्"[७]। "अन्वह॒ मासाः"[८] ॥१॥

सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात् ॥ २ ॥

मा०—सयकारं वा सवकारं वा अक्षरं स्थिते पदे यत्र स्वर्यते अनुदात्तपूर्वे वाऽपूर्वे वा स नित्यस्वार इति ज्ञापयितव्यः। "इन्द्रियं वीर्यम्"[९]। "पुरीष्यासः"[१०]। "वाज्यैषा वै सप्तपदा"[११]। "ततो बिल्व उदतिष्ठत्"[१२]। "तस्य क्व सुवर्गो लोकः"[१३]। "न्यङ्ङग्निः"[१४], "न्यञ्चम्"[१४]। स्थिते पद इति किम्? "ऊत्यश्याम रयिम्"[१५]। "स्वस्मान्"[१६]। अनुदात्तपूर्वेऽपूर्व इति किम्? "अमर्त्यो मर्त्यां आ विवेश"[१७]। "वस्व्यसि"[१८] ॥ २ ॥

त्रि०—सयकारं वा सवकारं वा अक्षरं स्वर इत्यर्थः। स्थिते पदे पदकाल इत्यर्थः। यत्र स्थले स्वर्यते अनुदात्तपूर्वे अपूर्वे वा पूर्वाभावे वा सति सः नित्य एव इति सर्वत्र जानीयात्। सर्वत्रेति संहितापदजटास्वित्यर्थः। यथा—"वाय॒व्य॑म्"[१९]। "क॒न्ये॑व तु॒न्ना"[२०]।

और वकार होने पर जो स्वरित "उदात्तों (इ, उ) के बाद वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है" इस (सूत्र से) विहित है वह; (क्षैप्रः=) क्षैप्र-संज्ञक; होता है।...।

सू० अ०—किन्तु जहाँ यकारयुक्त तथा वकारयुक्त अक्षर स्थित (पृथग् अवस्थित) पद में, अनुदात्त पूर्व में होने पर अथवा कुछ भी पूर्व में न होने पर, स्वरित हो जाता है, उसे नित्य स्वरित जानना चाहिए।

त्रि० अ०—(सयकारवकारं=) यकारयुक्त अथवा वकारयुक्त; अक्षर=स्वर-यह अर्थ है। स्थिते पदे=स्थित (पृथग् अवस्थित) पद में=पद-पाठ के काल में—यह अर्थ है। जिस स्थल में; स्वर्यते=स्वरित हो जाता हैं, अनुदात्तपूर्वे अपूर्वे वा=अनुदात्त पूर्व में होने पर अथवा कुछ भी पूर्व में न होने पर; नित्य एव इति=नित्य ही, सर्वत्र; जानीयात्=जानना चाहिए। सर्वत्र कहने का अर्थ है संहिता-पाठ में, पदपाठ में और जटापाठ में।

(सूत्रोक्त) तु शब्द नित्य आदि में "उदात्त या स्वरित वाद में होने पर उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित नहीं होता है" इस निषेध का निवारण करता है। (शङ्का) नित्य (स्वरित) इस निषेध का विषय कैसे हो सकता है, क्योंकि उसमें उदात्त से परवर्ती अनुदात्त का लक्षण संभव नहीं है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं, वर्णों के विभाग के समय में उदात्त पूर्व में होता है, क्योंकि

---

(१) १।८।१२ (२) ४।३।७ (३) ७।१।८ (४) ३।५।१० (५) २।५।१
(६) २।१।२ (७) २।४।१ (८) १।७।१३ (९) २।७।३ (१०) ४।२।४
(११) २।६।२ (१२) २।१।८ (१३) २।६।५ (१४) ५।५।३ (१५) १।३।१४
(१६) ४।७।१५ (१७) ५।७।९ (१८) १।२।५ (१९) १।८।७ (२०) ३।१।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ततो ब्रित्व:"[१]। "न्यङ्चं चिनुयात्"[२]। "क्व जगती च"[३]। क्वास्यास्य क्वा क्वासेति जटायाम्। तु शब्दो नित्यादावुच्चोदयविषये "नोदात्तस्वरितपर"[४] इति निषेधं निवारयति। ननु नित्य: कथमेतन्निषेधविषय:। "उदात्तात्परोनुदात्त:"[५] इति लक्षणासम्भवात्। अत्रोच्यते, वर्णविभागवेलायामुदात्तपूर्वत्वमस्ति, "समाहार: स्वरित:"[६] इत्युच्चपूर्वत्वात् स्वरितस्येति निषेधविषयत्वम्। अनुदात्तश्चासौ पूर्वश्च अनुदात्तपूर्व:, तस्मिन्। पूर्वाभाव:, अपूर्व:, तस्मिन्। शून्ये सपूर्वत्वात्; पूर्वत्वविशेषद्वयस्य अन्यथा वैयर्थ्यात्। तस्मात्तत्र नित्यत्वस्वरितत्वमेव न संज्ञान्तरमिति विज्ञेयम् ॥ २ ॥

वै०—स्थिते पृथगवस्थिते यत्र पदे अनुदात्तपूर्वे अनुदात्तानि स्वरितात्पूर्वाक्षराणि यस्य तस्मिन् अपूर्वे वा अविद्यमानं स्वरितात्पूर्वमक्षरं यस्य तस्मिन् वा यवकारपूर्वमक्षरं स्वरितं दृश्यते, तत्रस्थ: स्वरित: नित्य इत्येव जानीयात्। यथासंख्यं तु नेष्यते। अनुदात्तपूर्वे यथा—"उक्थ्य:"[७]। "मनुष्य:"[८]। "उपाध्याय्यपूर्वयम्"[९]। "कृत्वे"[१०]। "ब्रस्वोभि:"[११]। अपूर्वे यथा—"न्यङ् रश्मिभि:"[१२]। "क्वन्नो दास्यथ"[१३]। "न्यञ्चम्"[१४]। "व्युसकेशाय"[१५]। "क्व तर्हि"[१६]। "यत् क्व ल:"[१७]। सयकारवकारमिति नित्यस्वरूपप्रकटनार्थं विशेषणम्। तु शब्दोऽस्य वर्णान्तरपूर्वकत्वसम्भावनां निवर्तयति। अक्षरमिति

'स्वरित (उदात्त और अनुदात्त) का मिश्रण होता है' इस नियम से स्वरित का पूर्ववर्ती अंश उदात्त होने से (नित्य स्वरित भी) निषेध का विषय हैं। जो अनुदात्त भी है और पूर्ववर्ती भी है वह हुआ अनुदात्तपूर्व, उस (स्थिति में)। पूर्व का अभाव हुआ अपूर्व, वह (स्थिति) होने पर। शून्य भी सपूर्व है, अन्यथा पूर्व में विशेषद्वय का कहना व्यर्थ होगा। नित्यत्व स्वरित का ही वैशिष्ट्य है, (स्वरित से) भिन्न यह दूसरी संज्ञा नहीं है।

वै० अ०—स्थिते=जहाँ पृथगवस्थित पद में; अनुदात्तपूर्वे=स्वरित से पूर्व में अनुदात्त हैं जिसमें; अथवा; अपूर्वे=स्वरित से पूर्व में कोई भी अक्षर विद्यमान नहीं है जिसमें; (सयकारवकारं अक्षरं स्वर्यते=) यकार अथवा वकार है पूर्व में जिसके ऐसा स्वरित अक्षर दिखलाई पड़ता है, वहाँ का स्वरित नित्य होता है—यह जानना चाहिए। यहाँ यथासंख्य अभीष्ट नहीं है (अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि अनुदात्तपूर्व का सम्बन्ध यकार के साथ हो और अपूर्व का सम्बन्ध वकार के साथ हो)। ····। 'यकारयुक्त अथवा वकारयुक्त' यह नित्य के स्वरूप को प्रगट करने के लिए विशेषण हैं। (सूत्रोक्त) तु शब्द (यकार तथा वकार से) अन्य वर्ण के पूर्व में होने की सम्भावना का निराकरण करता है। अक्षर—यह पूर्वोक्त विशेषण (=सयकारवकारं) का विशेष्य है। स्थित पद में—यह क्यों कहा? "सवोऽग्नि:"

---

(१) २।१।८ (२) ५।५।३ (३) ७।१।४ (४) १४।३१ (५) १४।२९
(६) १।४० (७) १।६।९ (८) ६।३।२ (९) २।२।११
(१०) १।८।८ (११) ५।७।११ (१२) २।४।१० (१३) ब्रा० ३।२।९
(१४) ५।५।३ (१५) ४।५।५ (१६) ६।६।७ (१७) २।५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वोक्तविशेषणस्य विशेष्यनिर्देशः। स्थिते पद इति किम् ? "सवो'ऽग्निः"[१] इत्यादौ नित्यता मा भूत्। अनुदात्तपूर्वोऽपूर्वो वेति किम् ? "पय'स्वती"[२]। "चक्रीव'ती"[३]। इत्यत्र मा भूत्। नित्य इति निर्निमित्तत्वनिबन्धना संज्ञा। तदत्र स्थिते पदे अनुदात्तपूर्वोऽपूर्वो वा इति ग्रन्थेन प्रकटितम्। तथाहि न तावदयं स्वरितो नानापदीयनिमित्तकः स्थिते पदे दर्शनात्। नापि समानपदस्थनिमित्तकः पूर्वोदात्ताभावात्। पूर्वोदात्तो हि समानपदे स्वरितस्य निमित्तम्। न तु निर्विकारत्वनिबन्धनेयं संज्ञा, "स्वरितञ्च सर्वत्र"[४] इति विकाराभ्युपगमात्। एवकारः "न्य'ङ्"[५]। "व्यु'सकेशाय"[६]। "न्य'ञ्चम्"[७]। "कुह्व'ै"[८]। इत्यादौ क्षैप्रतामवधारयति। तत्र हि मूलशास्त्रोक्तावयवविभागात् क्षैप्रता सम्भाव्यते। अस्मच्छास्त्रे तु पदकालपरिकल्पितविभागसिद्धानामेव पदानां सन्धौ यवकारभावः क्षैप्रलक्षणमिष्यते। तस्मात् "न्य'ङ्"[५]। "न्य'ञ्चम्"[७] इत्यादि स्वरिता अपि नित्या एव ॥ २ ॥

इत्यादि में नित्य (स्वरित) न हो जाये। अनुदात्त पूर्व में होने पर अथवा कुछ भी पूर्व में न होने पर–यह क्यों (कहा) ? "पयस्वती"। "चक्रीवती"—यहाँ (नित्यस्वरित) न हो जाये। नित्य यह संज्ञा किसी निमित्त के कारण नहीं की गई है। वह (निमित्त तो) 'स्थित पद में' और 'अनुदात्त पूर्व में होने पर अथवा कुछ भी पूर्व में न होने पर' इस ग्रन्थांश के द्वारा ही बतला दिया गया है (अर्थात् नित्य शब्द यह बतलाने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है कि यह नित्य स्वरित संहिता-पाठ, पद-पाठ और जटापाठ में होता है जैसा कि त्रिभाष्यरत्नकार ने माना है।) इस नित्य स्वरित का निमित्त भिन्न-पद में स्थित नहीं होता है क्योंकि सूत्र में कह दिया गया है कि पृथग् अवस्थित पद में (नित्य स्वरित) होता है। इस नित्य स्वरित का निमित्त उस एक पद में भी स्थित नहीं होता है क्योंकि पूर्व में उदात्त होता ही नहीं। पूर्ववर्ती उदात्त ही एक पद में स्वरित का निमित्त होता है। यह संज्ञा यह बतलाने के लिए भी नहीं है कि (नित्य स्वरित) किसी विकार को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि (लोप को प्राप्त करने वाला अकार उदात्त हो तथा पूर्ववर्ती एकार या ओकार) स्वरित हो तो सर्वत्र (उदात्त हो जाता है) इससे (नित्य स्वरित भी) विकार को प्राप्त करता है। (सूत्रोक्त) एव शब्द "न्यङ्"। "व्युप्तकेशाय"। "न्यञ्चम्"। "कुह्वै" इत्यादि में क्षैप्रता को सीमा में बाँधती है (रोकती है) क्योंकि वहाँ पर व्याकरण (मूलशास्त्र) में उक्त अवयवों का विभाग होने से क्षैप्रता सम्भावित है। हमारे (प्रातिशाख्य) शास्त्र में तो पद-पाठ में स्वीकृत विभाग से सिद्ध ही पदों की सन्धि होने पर जो यकार और वकार होता है वह ही क्षैप्र का लक्षण अभीष्ट है। इसलिए "न्यङ्"। "न्यञ्चम्"। इत्यादि स्वरित भी नित्य ही हैं (क्षैप्र नहीं)।

---

(१) ५।६।३ (२) १।१।१ (३) ७।२।१
(४) १२।११ (५) २।४।१० (६) ४।५।५
(७) ५।५।३ (८) १।८।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्सांहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः ॥ ३ ॥

मा०—अपि चेन्नानापदस्थे उदात्ते अथ चेत्सांहिते स्वर्यते स खलु प्रातिहतो नाम स्वरो वेदितव्यः । यथा—"याज्यैवैनमेतया"[१] । "सवनमुखे सवनमुखे कार्येति"[२] । "अथोक्थ्योऽथातिरात्रः"[३] ॥ ३ ॥

त्रि०—अपि शब्दः पूर्वत्वमात्राकर्षकः । अथशब्दो नित्यसंज्ञाव्यवच्छेदकः, नानापदस्थोदात्तपूर्वत्वाधिकारको वा । नानापदस्थम्, अक्षरमुदात्तपूर्वं चेत् परतो नीचं सांहितेन विधिना स्वर्यते चेत् स प्रातिहतः वेदितव्यः । यथा—"मा ते अस्याम्"[४] । "इषे त्वा"[८] । "तन्ते दुश्रक्षाः"[५] । सांहितेनेति किम् ? "यन्यंचम्"[६] । नानापदस्थमिति किम् ? "तया देवतया"[७] ।

वै०—उदात्तान्नानापदस्थोऽपि स्वरस्संहिताभावेन विधानात्स्वर्यते यस्स्वरितः स प्रातिहतसंज्ञो भवति । "मा वस्तेन ईशत"[८] । "नास्मद्रिष्टम्"[९] । "नक्तं नाध्यासते"[१०] । "नास्येन्द्रियं वीर्यम्"[११] । नानापदेति किम् ? "श्रेष्ठतमाय कर्मणे"[१२] । स्थमिति किम् ? "इषूँ ह्यसाम्"[१३] । सांहितेनेति किम् ? "यत्कवलैः"[१४] । "तया वै सोऽग्नेः"[१५] ॥३॥

सू० अ०—यदि उदात्त भिन्न पद में स्थित हो तथा संहिता के नियम से स्वरित स्वर निष्पन्न हो तो वह प्रातिहत (स्वरित कहलाता है) ।

त्रि०—(सूत्रोक्त) अपि शब्द (पूर्ववर्ती सूत्र से) पूर्वत्व का ही ग्रहण करता है । (सूत्रोक्त) अथ शब्द नित्य संज्ञा को हटाता है, अथवा भिन्न पद में स्थित उदात्त के पूर्व में होने का अधिकार करता है । नानापदस्थम् = भिन्न पद में स्थित अक्षर; के पूर्व में यदि उदात्त हो और परवर्ती अनुदात्त; सांहितेन = संहिता के नियम से; स्वर्यते चेत् = यदि स्वरित होता है । सः प्रातिहतः = उसे प्रातिहत (स्वरित) जानना चाहिए । जैसे—"इषे त्वा"क । "तन्ते दुश्रक्षाः" ।..... ॥३॥

वै० अ०—उदात्त से भिन्न पद में स्थित होने पर भी स्वरों की संहिता के नियम से जो; स्वर्यते = स्वरित होता है; वह (स्वरित) प्रातिहत संज्ञक होता है ।...।

(क) यहाँ 'इषे' और 'त्वा' दो पद हैं । "इषे' अन्तोदात्त है तथा 'त्वा' पद सर्वानुदात्त है । संहिता के नियम से 'त्वा' पद का अनुदात्त स्वरित हो गया है । यह प्रातिहत स्वरित है ।

---

(१) २।३।५	(२) ७।५।५	(३) ७।१।५	(४) १।६।१२
(५) ३।१।१०	(६) ५।५।३	(७) ४।२।६	(८) १।१।१
(९) ५।७।४	(१०) ५।६।४	(११) २।२।९	(१२) १।१।१
(१३) ७।५।६	(१४) १।५।३	(१५) ५।१।१	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादकारलोपेऽभिनिहतः ॥ ४ ॥

मा०—तस्मादुदात्तादकारलोपेऽनुदात्ते यत्र स्वर्यते स खलु अभिनिहतो नाम स्वरो वेदितव्यः। यथा—"तेऽब्रुवन्"[१]। "सोऽब्रवीत्"[२] ॥ ४ ॥

त्रि०—तस्मात्=नानापदस्थोदात्तात्; (अकारलोपे=) परभूतानुदात्ताकारस्य लोपे सति; यः स्वरितः सः अभिनिहतः वेदितव्यः। यथा—"सोऽब्रवीत्"[२]। "तेऽब्रुवन्"[१]। तस्मादिति किम्? "भ्राजोऽसि देवानाम्"[३] ॥ ४ ॥

वै०—तस्मान्नानापदस्थोदात्तात्परस्य; (अकारलोपे=) अकारस्य लोपे; निमित्ते यस्स्वरितो विहितः "तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तस्स्वरितम्"[४] इति स खल्वभिनिहतसंज्ञो भवति। "तया वै सोऽग्नेः"[५]। "तेऽब्रुवन्"[६]। "योऽस्य स्वोऽग्निः"[७]। तस्मादिति किम्? "ते नोऽवन्तु"[८]। अकारलोप इति किम्? "ते नः पान्तु"[८]। "सून्नीयमिव"[९] ॥४॥

ऊभावे प्रश्लिष्टः ॥ ५ ॥

मा०—उकारयोरुदात्तानुदात्तयोरूभावे यत्र स्वर्यते स प्रश्लिष्टो नाम स्वरो वेदितव्यः। यथा—"मासूत्तिष्ठन्"[१०]। "सून्नीयमिव"[११]। "सूद्गाता"[१२] ॥ ५ ॥

सू० अ०—उस (भिन्न पद में स्थित उदात्त) से (बाद में स्थित अनुदात्त) अकार का लोप होने पर (निष्पन्न स्वरित) अभिनिहत (संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—तस्मात्=उससे=भिन्न पद में स्थित उदात्त से; (अकारलोपे=) बाद में स्थित अनुदात्त अकार का लोप होने पर; जो स्वरित है उसे अभिनिहत जानना चाहिए। जैसे—"सोऽब्रवीत्"। "तेऽब्रुवन्"। उस (उदात्त) से बाद में—यह क्यों (कहा)? "भ्राजोऽसि देवानाम्" ॥ ४ ॥

वै० अ०—तस्मात्=उससे=भिन्न पद में स्थित उदात्त से; बाद में स्थित (अनुदात्त); (अकारलोपे=) अकार का लोप होने पर; जो स्वरित "उस (लोप को प्राप्त अकार) के अनुदात्त होने पर, पूर्ववर्ती उदात्त (एकार अथवा ओकार) स्वरित को (प्राप्त करता है)।"—इस (सूत्र) से विहित है वह अभिनिहत संज्ञक होता है। "तया वै सोऽग्नेः"। "तेऽब्रुवन्"। "योऽस्य स्वोऽग्निः"। उस (उदात्त) से—यह क्यों (कहा)? "ते नोऽवन्तु"। अकार का लोप होने पर यह क्यों (कहा)? "ते नः पान्तु"। "सून्नीयमिव" ॥ ४ ॥

सू० अ०—(उदात्त उ तथा अनुदात्त उ की सन्धि के परिणामस्वरूप) ऊ होने पर (जो स्वरित निष्पन्न होता है वह) प्रश्लिष्ट (संज्ञक होता है)।

---

(१) २।५।१ (२) २।१।२ (३) २।४।३ (४) १२।६
(५) ५।२।१ (६) २।५।१ (७) ५।७।९ (८) १।२।३
(९) ६।२।४ (१०) ७।५।२ (११) ६।२।४ (१२) ७।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—ऊभावे यत्र स्वर्यते सः प्रश्लिष्टः वेदितव्यः। "सू॑न्नीयमिव"[१]। "सू॑द्गाता"[२]। "मासू॑त्तिष्ठन्"[३]। "दिक्षू॑प दधाति"[४] ॥ ५ ॥

वै०—तस्मान्नानापदस्थोदात्तादूभावे यः स्वरितो विहितः "ऊभावे च"[५] इति, स प्रश्लिष्टसंज्ञो भवति। "सू॑न्नीयमिव"[१]। "मासू॑त्तिष्ठन्"[३]। तस्मादिति किम्? "प्र॒जा॒प॒त्या सू॑पहव्यः"[६]। ऊभाव इति किम्? "तन्न॑स्स॒ꣳस्कृ॒तम्"[७]। "ते॑ऽब्रुवन्"[८] ॥ ५ ॥

पदविवृत्त्यां पादवृत्तः ॥ ६ ॥

मा०—पदविवृत्यां यत्र स्वर्यते स पादवृत्त इति ज्ञेयः। यथा—"ता अस्मात् सृष्टाः"[९]। पदग्रहणं किम्? "प्रउगमुक्थमव्यथयत्"[१०] ॥ ६ ॥

त्रि०—(पदविवृत्त्याम्=) पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिः तस्याम्; यः स्वर्यते सः पादवृत्तः वेदितव्यः। यथा—"ता अ॑स्मात्"[९]। "स इ॑धानः"[११]। "य उ॑पसदः"[१२]। विवृत्तिः व्यक्तिरित्यर्थः। पदयोरिति किम्? "प्रउगमक्थम्"[११] ॥ ६ ॥

त्रि० अ०—ऊभावे=ऊ होने पर; जो स्वरित होता है उसे प्रश्लिष्ट (संज्ञक) जानना चाहिए। "सून्नीयमिव"। "सूद्गाता"। "मासूत्तिष्ठन्"। "दिक्षूपदधाति" ॥ ५ ॥

वै० अ०—उससे=भिन्न पद में स्थित उदात्त (उकार) से (बाद में अनुदात्त उकार की सन्धि होने पर); ऊभावे=ऊ होने पर; जो स्वरित स्वर "ऊभाव (पदान्त उदात्त उकार के साथ पदादि अनुदात्त उकार की सन्धि) होने पर भी (वे दोनों स्वरित हो जाते हैं)।"—इस (सूत्र) से विहित होता है, वह प्रश्लिष्ट-संज्ञक होता है। "सून्नीयमिव"। "मासूत्तिष्ठन्"। उस (उदात्त उकार) से—यह क्यों (कहा)? "प्राजापत्या सूपहव्यः"। ऊभाव होने पर—यह क्यों (कहा)? "तन्नस्सꣳस्कृतम्"। "तेऽब्रुवन्" ॥ ५ ॥

सू० अ०—पदों के मध्य में विवृत्ति होने पर (जो स्वरित-स्वर निष्पन्न होता है वह) पादवृत्त (संज्ञक स्वरित कहलाता है)।

त्रि० अ०—(पदविवृत्त्याम्=) दो पदों की विवृत्ति=पदविवृत्ति; वह होने पर; जो स्वरित स्वर होता है वह पादवृत्त (संज्ञक) जानना चाहिए। जैसे—"ता अस्मात्"। "स इधानः"। "य उपसदः"। विवृत्ति=व्यक्ति।[क] दो पदों की—यह क्यों (कहा)? "प्रउगमुक्थम्" ॥ ६ ॥

(क) विवृत्ति के स्थल पर सन्धि न होने के कारण दो पदों की पृथक् अभिव्यक्ति होती है।

---

(१) ६।२।४ (२) ७।१।८ (३) ७।५।२ (४) ५।५।५ (५) १०।१७
(६) ७।२।५ (७) १।४।४३ (८) २।५।१ (९) २।१।२
(१०) ४।४।२ (११) ४।४।४ (१२) ६।४।२ (१३) ४।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—पदे विवृत्तिः पदविवृत्तिः। स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः। (पदविवृत्त्याम्=) पदमध्यवर्तिन्याः विवृत्तेरुपरि यस्स्वरितः; स खलु पादवृत्तसंज्ञो भवति। "प्रउगमुक्थम्"[1]। पदेति किम्? "य ईजानः"[2] ॥

नन्वयमपि पादवृत्त एव, पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिरिति व्युत्पत्तेः। नैतदस्ति, पदयोर्विवृत्तौ स्वरितस्य प्रातिहतलक्षणग्रस्तत्वात् न चायं तस्यापवाद इति युक्तम्, इहासङ्कीर्णलक्षणप्रणयनात्। विधेर्ह्यपवादः न लक्षणस्य। न हि लक्षणमतिव्याप्तं कुर्वन्त्याचार्याः। अथापि कथंचित्प्रातिहतस्यावान्तरभेदत्वं पादवृत्तस्य कल्प्यते। तत्र अबाधेनोपपत्तौ बाधस्यान्याय्यत्वात्, तदनन्तरानुपदेशाच्च ॥६॥

उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः ॥७॥

मा०—उदात्तपूर्वो यत्र स्वर्यते स खलु तैरोव्यञ्जनो नाम स्वारो वेदितव्यः। यथा—"युञ्जन्त्यस्य काम्या"[3]। "इन्द्रोऽमन्यताऽनया"[4]। "प्रउगमुक्थमव्ययत्"[5] ॥७॥

त्रि०—उदात्तपूर्वाधिकारे सति पुनरत्र तत्कथनादेकपदस्थोदात्तविशेषोऽवगम्यते।

वै० अ०—पद में विवृत्ति=पदविवृत्ति। स्वरों की सन्धि का अभाव=विवृत्ति। (पदविवृत्त्याम्=) पद के मध्य में स्थित विवृत्ति के बाद में; जो स्वरित होता है वह पादवृत्त संज्ञक होता है। "प्रउगमुक्थम्"। पद के मध्य में—यह क्यों (कहा)? "य ईजानः" ॥

शंका—यह (य ईजानः) भी पादवृत्त ही है, क्योंकि दो पदों की विवृत्ति—यह पदविवृत्ति की व्युत्पत्ति है। ऐसी बात नहीं है, दो पदों की विवृत्ति में जो स्वरित निष्पन्न होता है वह प्रातिहत के लक्षण में समाविष्ट हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं है कि यह (पादवृत्त) उस (प्रातिहत) का अपवाद है, क्योंकि यहाँ असंकीर्ण लक्षण का प्रणयन किया गया है। विधि का ही अपवाद होता है, लक्षण का नहीं। आचार्य लोग लक्षण को अतिव्याप्त नहीं करते हैं, तथापि किसी प्रकार प्रातिहत (स्वरित) के अवान्तर-भेद के रूप में पादवृत्त की कल्पना करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि (१) बिना बाधा के उपपत्ति हो जाने पर सबाधा का मानना न्याय नहीं है और (२) उस (प्रातिहत) के अनन्तर उपदेश भी नहीं किया गया है (जिससे यह पादवृत्त उस प्रातिहत का अपवाद हो) ॥ ६ ॥

सू० अ०—उदात्तपूर्व (स्वरित) तैरोव्यञ्जन (संज्ञक होता है)।

त्रि० अ०—उदात्तपूर्व का अधिकार होने पर पुनः यहाँ उस (उदात्तपूर्व) के कथन से एक पद में स्थित उदात्तविशेष का ज्ञान होता है। इससे एक पद

---

(१) ४।४।२ (२) ३।४।६ (३) ७।४।२०
(४) ७।१।५ (५) ४।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः। यथा–"युञ्जन्त्यस्य"[१]। "वस्व्यसि"[२]। "स इन्द्रोऽमन्यत"[३]। "तदश्वोऽभवत्"[४]। "प्रउगम्"[५]। "तं त्वष्टाऽऽधत्त"[६] ॥७॥

वै०—तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा। पदशब्दोत्रानुवर्तते। पदे समानपदे; (उदात्तपूर्वः=) उदात्तपूर्वकः; व्यञ्जनव्यवहितो यस्स्वरितः; स तैरोव्यञ्जनसंज्ञो भवति। यथा–"इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः"[७]। पद इति किम्? "तन्नस्सरँस्कृतम्"[८]। उदात्तपूर्व इति किम्? "उक्थ्यं कुर्वीत"[९]। व्यञ्जनव्यवहित इति किम्? "प्रउगम्"[१०] ॥७॥

इति स्वारनामधेयानि ॥८॥

मा०—इत्येतानि स्वारनामधेयानि व्याख्यातव्यानि भवन्ति क्षैप्र-नित्य-प्रातिहताभिनिहत-प्रश्लिष्ट-पादवृत्त-तैरोव्यञ्जनानि। यथा—"ऊत्यश्याम"[११]। "दिक्ष्वृच्नुवन्ति"[१२]। "न्यञ्चम्"[१३]। "त्वष्टाधत्त"[१४]। "तेन सुहोता सूदगाता"[१५]। "त एनं भिषज्यन्ति"[१६]। "स इन्द्रोऽमन्यत"[१७] ॥८॥

त्रि०—इति एतानि सप्त; (स्वारनामधेयानि=) स्वरितनामधेयानि; व्याख्यातानि। यथा—"अभ्यस्थात्"[१८]। "अध्वर्यो वेः"[१९] इति क्षैप्रः। "वायव्यम्"[२०]।

में स्थित; उदात्तपूर्वः=उदात्त है पूर्व में जिसके उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन जानना चाहिए। जैसे—"युञ्जन्त्यस्य"। "वस्व्यसि"। "स इन्द्रोऽमन्यत"। "तदश्वोऽभवत्"। "प्रउगम्"। "तं त्वष्टाऽऽधत्त" ॥ ७ ॥

वै० अ०—तैरोव्यञ्जन—यह अर्थानुसारिणी संज्ञा है। पद शब्द की यहाँ अनुवृत्ति हो रही है। पद में=समान पद में; (उदात्तपूर्वः=) उदात्त है पूर्व में जिसके वह; और जो व्यञ्जन से व्यवहित स्वरित है वह तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है। जैसे "इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः"। पद में—यह क्यों (कहा)? "उक्थ्यं कुर्वीत"। व्यञ्जन से व्यवहित—यह क्यों (कहा)? "प्रउगम्" ॥ ७ ॥

सू० अ०—ये स्वरित के नाम हैं।

त्रि० अ०—इति=ये; सात; (स्वारनामधेयानि=) स्वरित के नाम; कहे गये हैं। जैसे—"अभ्यस्थात्"। "अध्वर्यो वेः"—यह क्षैप्र (-संज्ञक) है।

---

(१) ७।४।२० (२) १।२।५ (३) ७।१।५ (४) ५।३।१२
(५) ४।४।२ (६) १।५।१ (७) १।१।१३ (८) १।४।४३
(९) ३।१।७ (१०) ४।४।२ (११) १।३।१४
(१२) ३।५।१० (१३) ५।५।३ (१४) १।५।१
(१५) ७।१।८ (१६) २।३।११ (१७) ७।१।५
(१८) ४।२।८ (१९) ६।४।३ (२०) १।८।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"क्वास्य"[1] इति नित्यः। "स ते लोकः"[2] "यत्त्वा क्रुद्धः"[3] इति प्रातिहतः। "सोऽब्रवीत्"[4] इत्यभिनिहतः। "सूदगाता"[5] इति प्रश्लिष्टः। "त एनम्"[6] इति पादवृत्तः। "मम नाम"[7] इति तैरोव्यञ्जनः ॥८॥

वै०—ननु स्वरितानां नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वावेव भेदौ। अथावान्तरभेदकल्पनया भेदबहुत्वम्? तदा सप्तभ्यो भूयांसोऽपि भेदास्स्युरित्यत आह—

(इति=) एतावन्ति; (स्वारनामधेयानि=) स्वरितानां नामधेयानि; पूर्वशास्त्रप्रसिद्धानि। अतः तदनुसारेण सप्तानां भेदानां लक्षणानि। पूर्वशास्त्रेषु तु तथोपदेशस्य कारणं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥८॥

क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः ॥९॥

मा०—कालो भवति। यथा—"अश्यस्थात्"[8]। "तिष्यो नक्षत्रम्"[9] ॥९॥

त्रि०—(क्षैप्रनित्ययोः=) क्षैप्रे नित्ये च; प्रयत्नो दृढतरः कार्यः ॥९॥

वै—(क्षैप्रनित्ययोः=) क्षैप्रे नित्ये च स्वरिते; दृढ़तरप्रयत्नः कार्यः। "व्यूढं वा एतत्"[10]। "उक्थ्यं कुर्वीत"[11] ॥९॥

"वायव्यम्" "क्वास्य"—यह नित्य (संज्ञक) है। "स ते लोकः" "यत्त्वा क्रुद्धः"—यह प्रातिहत (संज्ञक) है। "सोऽब्रवीत्"—यह अभिनिहत (संज्ञक) है। "सूदगाता"—यह प्रश्लिष्ट (संज्ञक) है। "त एनम्"—यह पादवृत्त (संज्ञक) है। "मम नाम"—यह तैरोव्यञ्जन (संज्ञक) है ॥ ८ ॥

वै० अ०—शंका—स्वरित के नित्य और नैमित्तिक—ये दो ही भेद हैं। तदनन्तर यदि अवान्तर भेदों की कल्पना से बहुत भेद हो जायें? (उत्तर) तब सात से अधिक भेद हो जायेंगे, इसलिए कहते हैं—

(इति=) इतने; (स्वारनामधेयानि=) स्वरितों के नाम; पूर्ववर्ती शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इसलिए उसके अनुसार सात भेदों के लक्षण बनाये गये हैं। पूर्ववर्ती शास्त्रों में तो उस प्रकार के उपदेश का कारण वहीं देखना चाहिए ॥ ८ ॥

सू० अ०—क्षैप्र और नित्य (स्वरित) में दृढ़तर (प्रयत्न होता है)।

त्रि० अ०—(क्षैप्रनित्ययोः=) क्षैप्र तथा नित्य (स्वरित) में प्रयत्न को दृढ़तर करना चाहिए ॥ ९ ॥

वै० अ०—(क्षैप्रनित्ययोः=) क्षैप्र और नित्य स्वरित में, दृढ़तर प्रयत्न करना चाहिए। "व्यूढं वा एतत्"। "उक्थ्यं कुर्वीत" ॥ ९ ॥

---

(१) ५।७।४ (२) ५।७।२६ (३) १।५।४ (४) २।१।२
(५) ७।१।८ (६) २।३।११ (७) १।५।१० (८) ४।२।८
(९) ४।४।१० (१०) ५।१।२ (११) ३।१।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनिहते च ॥१०॥

मा०—अभिनिहते स्वारे च दृढ़प्रयत्नतरः कार्यो भवति। यथा—"सोऽर्कोऽभवत्"[1]। दृढतर इति चशब्दोऽन्वादिशति ॥११॥

त्रि०—अन्वाचये वर्तमानः चकारो दृढमात्रं बोधयति। अभिनिहते प्रयत्नो दृढः स्यात्। न तु दृढतर इति पृथक्सूत्रारम्भात् प्रतीयते ॥११॥

वै०—चशब्दो दृढतर इत्यन्वादिशति। पृथक्सूत्रकरणं अनित्यत्वज्ञापनार्थम्। यथा व्याकरणे—"चुटू"[2] इति। तेनानुदात्तपूर्वक एवाभिनिहते दृढतरः प्रयत्नः कार्यः। उदात्तपूर्वेऽपूर्वे च दृढ एव। "आदित्योऽस्मिन्"[3] इति दृढतरः। "तेन वै ते प्रति"[4]। "योऽग्निर्होतारम्"[5]। "तया वै सोऽग्नेः"[6]। "तेऽब्रुवन्"[7]। इति दृढः ॥१०॥

प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः ॥११॥

मा०—प्रयत्नो वेदितव्यः क्षंप्रात्। यथा—"सूक्ष्मीयमिव"[8]। "भेषजं गवेऽश्वाय"[9] ॥११॥

त्रि०—(प्रश्लिष्टप्रातिहतयोः=) प्रश्लिष्टे प्रातिहते च; प्रयत्नो मृदुत्तरः कार्यः ॥११॥

सू० अ०—अभिनिहत (स्वरित) में भी (दृढ़तर प्रयत्न करना चाहिए)।

त्रि० अ०—अन्वाचय में वर्तमान चकार दृढ़मात्र का बोध कराता है। अभिनिहते = अभिनिहत (स्वरित) में; प्रयत्न दृढ़ होता है। दृढ़तर तो नहीं होता है यह पृथक् सूत्र के ग्रहण से ज्ञात होता है ॥ १० ॥

वै० अ०—च शब्द दृढ़तर का अन्वादेश करता है। पृथक्सूत्र का निर्माण अनित्यत्व को बतलाने के लिए है। जैसे व्याकरण में—"प्रत्यय के आदि चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक होते हैं।" इससे अनुदात्त है पूर्व में जिसके उस; अभिनिहते=अभिनिहत (स्वरित) में; ही दृढ़तर प्रयत्न करना चाहिए। उदात्त है पूर्व में जिसके और जिसके पूर्व में कोई (स्वर) नहीं है उस (अभिनिहत) में दृढ़ ही (प्रयत्न होता है)। "आदित्योऽस्मिन्" इसमें दृढ़तर (प्रयत्न किया जाता है)। "तेन वै ते प्रति"। "योऽग्निर्होतारम्"। "तया वै सोऽग्नेः"। "तेऽब्रुवन्" में दृढ (प्रयत्न किया जाता है) ॥१०॥

सू० अ०—प्रश्लिष्ट और प्रातिहत (स्वरित) में मृदुतर (प्रयत्न) होता है।

त्रि० अ०—(प्रश्लिष्टप्रातिहतयोः=) प्रश्लिष्ट और प्रातिहत (स्वरित) में; मृदुतर प्रयत्न करना चाहिए ॥११॥

---

(१) ५।४।३	(२) पा० १।३।७	(३) २।५।८
(४) ५।४।६	(५) २।५।६	(६) ५।२।१
(७) २।५।१	(८) ६।२।४	(९) १।८।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(प्रश्लिष्टप्रातिहतयोः =) प्रश्लिष्टे प्रातिहते च; मृदुतरः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। दृढप्रतियोगी मृदुः दृढः कठिनः। तद्विपरीतो मृदुः। सोऽतिशयितो मृदुतरः ॥११॥

तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरोऽल्पतरः ॥१२॥

मा०—तैरोव्यञ्जनः, पादवृत्तः, इत्येतयोः स्वारयोः क्षैप्रादल्पतरः प्रयत्नो भवति। यथा—"उप दधाति"[1]। "स इधानः"[2] ॥१२॥

त्रि०—(तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः =) तैरोव्यञ्जने पादवृत्ते च; प्रयत्नः अल्पतरः स्यात्। यद्यप्यल्पतरमृदुतरदृढभावास्तत्रोक्ताः तथाऽपि 'द्वीपवद्वेणुपत्रवत्' इति शिक्षाऽनुरोधात् कोमलशिरस्कत्वं सर्वत्र विज्ञेयम् ॥१२॥

वै०—(तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः =) तैरोव्यञ्जने पादवृत्ते च; अल्पतरः प्रयत्नः करणीयः। अल्पो बहुलप्रतियोगी। बहुलो दीर्घकालिकः। अल्पोऽल्पकालिकः ॥१२॥

वै० अ०—(प्रश्लिष्टप्रातिहतयोः =) प्रश्लिष्ट और प्रातिहत (स्वरित) में; मृदुतर प्रयत्न करना चाहिए। दृढ़ का प्रतियोगी मृदु है। दृढ़ = कठिन। उसका विपरीत मृदु है। वह (मृदु) अधिक होने पर मृदुतर है ॥११॥

सू० अ०—तैरोव्यञ्जन और पादवृत्त में अल्पतर (प्रयत्न करना चाहिए)।

त्रि० अ०—(तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः =) तैरोव्यञ्जन और पादवृत्त में; अल्पतर प्रयत्न होता है। यद्यपि अल्पतर मृदुतर और दृढ़-भाव वहाँ (स्वरित में) कहे गए हैं, तथापि 'द्वीपवद्वेणुपत्रवत्'—इस शिक्षावचन के अनुसार कोमलत्व सर्वत्र बना रहना चाहिए।

वै० अ०—(तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः =) तैरोव्यञ्जन और पादवृत्त में; अल्पतर प्रयत्न करना चाहिए। अल्प बहुल (अधिक) का प्रतियोगी है। बहुल = अधिक काल वाला होता है। अल्प = अल्प काल वाला होता है ॥१२॥

---

(१) ५।२।१० (२) ४।४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकविंशोऽध्यायः

व्यञ्जनँस्वराङ्गम् ॥१॥

मा०—स्वराङ्गं व्यञ्जनमिति वेदितव्यम्। न खलु स्वरोऽङ्गं व्यञ्जने भवति। तस्मात् स्वरप्रधानकारणमात्रमेव व्यञ्जनम्। यत् पुनः पूर्वोक्तव्यञ्जनमर्द्धकालमात्रम्, स्वरश्च ह्रस्वकालमात्रः इति, एतयोः संयोगे अध्यर्धमात्रं स्यात्, तत्प्रतिषेधार्थं स्वराङ्गमित्युच्यते। यथा अप्सु पयसि आनीते पयसः श्वेतो वर्णं उपलक्ष्यते नोदकस्य, तद्वत्। स्वरव्यञ्जनयोः संयोगे व्यञ्जनस्य नोपलब्धिर्भवति अङ्गभूतत्वात् ॥१॥

त्रि०—स्वरस्य अङ्गं स्वराङ्गं व्यञ्जनं स्वराङ्गं भवति। "श्वासो नादोऽङ्गमेव च"[1] इति विज्ञेयत्वेन विधानादयमारम्भः। ननु कूपो यूप इत्यादौ व्यञ्जनमेवार्थविशेषबोधकमिति स्वरो व्यञ्जनाङ्गं किं न स्यात्? उच्यते—व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षं स्वरस्तु निरपेक्षः। सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः। विशिष्टं प्रत्यङ्गत्वमविशिष्टस्यैव। किञ्च स्वरवैशिष्ट्यबोधकमन्यदपि विद्यते—

सू० अ०—व्यञ्जन स्वर का अङ्ग (होता है)।

त्रि० अ०—स्वर का अङ्ग=स्वराङ्गम्। व्यञ्जन (वर्ण); स्वराङ्गम्=स्वर (वर्ण) का अङ्ग; होता है। "नाद और अङ्ग इन सबको वेद पढ़ने वाले को जानना चाहिए।" इनका विज्ञेय के रूप में विधान होने से यह आरम्भ किया गया है। (शंका-) यूप तथा कूप इत्यादि में व्यञ्जन ही अर्थ-विशेष का बोधक होता है, इससे स्वर ही व्यञ्जन का अङ्ग क्यों नहीं होता है? (उत्तर) बतलाते हैं व्यञ्जन (-वर्ण) अकेला स्थित नहीं हो सकता है, वह सापेक्ष होता है, स्वर तो निरपेक्ष (होता है)। सापेक्ष और निरपेक्ष में निरपेक्ष को ही बुद्धिमान् लोग विशिष्ट बतलाते हैं। अविशिष्ट का ही विशिष्ट के प्रति अङ्गत्व होता है।[क] इसके अतिरिक्त स्वर-वैशिष्ट्य का बोधक अन्य भी विद्यमान है—

(क) पूर्वपक्षी—यूप और कूप इत्यादि पदों में स्वरों की समानता है। व्यञ्जन-वैभिन्य के कारण ही उनमें अर्थ-वैभिन्य हो गया है। इससे व्यञ्जन की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इससे स्वर को ही व्यञ्जन का अङ्ग मानना चाहिए। सिद्धान्ती—व्यञ्जन-वर्ण अकेले उच्चारित नहीं हो सकता है। अपनी सत्ता के लिए उसे स्वर पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके विपरीत स्वर अकेले उच्चारित हो सकता है। इस प्रकार स्वर निरपेक्ष तथा व्यञ्जन सापेक्ष है। निरपेक्ष और सापेक्ष में निरपेक्ष ही श्रेष्ठ होता है।

---

(१)_२४।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः॥

किञ्च शिक्षा व्याख्याने—

यस्स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जमुच्यते॥

स्वरास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः। इत्यादि॥

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वराश्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥ इति॥

स्वराणामेवोदात्तादयो धर्माः व्यञ्जनानां तु तदङ्गतया। व्यञ्जनमर्धमात्रम्। स्वरश्च मात्राकालः। तयोः सन्धिरर्धमात्रः। इत्येवं दीर्घकालः प्रसक्तः। तत्प्रतिषेधार्थं "व्यञ्जनं स्वराङ्गम्" इत्युक्तम्। स्वरसंसृष्टस्य व्यञ्जनस्य स्वरकाल एव कालो द्रुतवृत्तौ न तु स्वरस्यैव-सर्वत्रेत्यर्थः। द्रुतवृत्ताविति किम्? "ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्"[1] इति व्यर्थं स्यादिति ब्रूमः।

जिस प्रकार शक्तिशाली राजा दुर्बल (राजा) के राष्ट्र को हर लेता है (=जीत लेता है) उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यञ्जन को हर लेता है।

शिक्षा के व्याख्यान में भी (कहा गया है)—जो स्वयं (बिना किसी की सहायता के) प्रकाशित होता है (उच्चारित होता है) उसे पतञ्जलि ने स्वर कहा हैं। बाद में (अथवा ऊपर) स्थित उस (स्वर) के द्वारा प्रकट (उच्चारित) होने वाला व्यञ्जन कहा जाता है।

स्वरों को ब्राह्मण (सर्वश्रेष्ठ) जानना चाहिए इत्यादि।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन स्वर तथा (उच्चारण-) काल की दृष्टि से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होना—ये स्वरों के ही धर्म हैं।

उदात्तादि धर्म स्वरों के ही होते हैं, व्यञ्जनों के तो ये धर्म उन (=स्वरों) के अङ्ग होने के कारण होते हैं। व्यञ्जन आधी मात्रा काल वाला (होता है)। और स्वर मात्रा काल वाला (होता है)। उनकी संधि डेढ़ मात्रा की होती है। इस प्रकार दीर्घ-काल की प्रसक्ति होती है। उसके प्रतिषेध के लिए "व्यञ्जन् स्वर का अङ्ग (होता है)"—यह कहा गया है। स्वर से मिले हुए व्यञ्जन का काल सर्वत्र स्वर के काल वाला ही होता है, द्रुतवृत्ति में केवल स्वर का ही काल नहीं होता है।[क] द्रुतवृत्ति में यह क्यों (कहा)? "व्यञ्जन ह्रस्व (स्वर) के आधे

(क) सभी स्थलों पर जहाँ व्यञ्जन स्वर से मिला हुआ होता है वहाँ स्वर और व्यञ्जन दोनों का काल स्वर का काल होता है। द्रुतवृत्ति में अर्थात् जहाँ उच्चारण अत्यन्त तीव्र गति से होता है वहाँ भी स्वर और व्यञ्जन दोनों के काल को स्वर के काल वाला समझना चाहिए। वहाँ व्यञ्जन का उच्चारण गौण होने से केवल स्वर का ही काल नहीं समझना चाहिए।

---

(१) १।३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा क्षीरोदकसम्पर्के क्षीरस्यैवोपलब्धिर्नोदकस्य तथा स्वरव्यञ्जनसम्पर्के स्वरस्यैवोपलब्धेर्वैशिष्ट्यम् ॥१॥

वै०—इदानीमङ्गसंहितादिकार्यं विधीयते। वेदस्योच्चारवेलायां स्वरधर्मा उदात्तादिगुणास्तत्समीपस्थेषु व्यञ्जनेष्वपि निविशन्ते प्रदीपप्रभेव घटादिषु। तत्र स्वरद्वयमध्यवर्तिषु व्यञ्जनेषु किं पूर्वस्य गुणो भवति ? आहोस्विदुत्तरस्य ? इत्येवं संशयस्यादिति तन्निर्णयार्थमियङ्गसंहिता आरभ्यते—

अनेन व्यञ्जनस्य स्वातन्त्र्याभावस्तावदुच्यते। तस्मिन् सिद्धे ह्यङ्गिविशेषनिरूपणमवकल्पते। उदात्तादिस्वरचिन्तायां व्यञ्जनं स्वराङ्गमेव। न तु व्यञ्जनस्य स्वभावतः उदात्तादिगुणास्सन्ति। न ह्येकैकस्मिन् व्यञ्जने पृथगुच्यमाने उदात्तादिगुणभेदास्स्फुरन्ति। अत एव मूलशास्त्रे "अचश्च"[1] इत्यधिकृत्य उदात्तादिगुणास्तत्तत्कालाश्च विहिताः। तथा "स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्"[2] इति च स्मर्यते। तथा 'न्यङ्' इत्यादिषु "उदात्तस्वरि-

---

काल वाला होता है" यह व्यर्थ हो जायेगा—इसलिए कहा है। जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिलने से दुग्ध की ही प्राप्ति होती है, जल की नहीं, उसी प्रकार स्वर और व्यञ्जन का सम्पर्क होने पर स्वर की ही उपलब्धि होती है—यह भी (स्वर का) वैशिष्ट्य है ॥१॥

वै० अ०—अब अङ्गसंहिता इत्यादि कार्य का विधान किया जाता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश घट इत्यादि में भी (सन्निविष्ट हो जाता है) उसी प्रकार वेद का उच्चारण करते समय स्वर-वर्णों के धर्म—उदात्तादि गुण—उनके समीपवर्ती व्यञ्जनों में भी सन्निविष्ट हो जाते हैं। वहाँ दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यञ्जनों में क्या पूर्व (स्वर) का गुण होता है ? अथवा उत्तर (स्वर) का ? इस प्रकार का संशय होता है—उसके निर्णय के लिए यह अङ्ग-संहिता आरम्भ की जाती है—

इस (सूत्र) से व्यञ्जन के स्वातन्त्र्य का अभाव बतलाया जाता है। क्योंकि उसके सिद्ध होने पर अङ्गि (स्वर) विशेष का निरूपण किया जाता है। उदात्तादि स्वरों के विचार में व्यञ्जन ही; स्वराङ्गम्=स्वर का अङ्ग; होता है। व्यञ्जन के तो स्वभावतः उदात्तादि गुण नहीं होते हैं। क्योंकि एक-एक व्यञ्जन का पृथक् उच्चारण करने पर उदात्तादि गुणों के भेद प्रकट नहीं होते। इसलिए व्याकरण-शास्त्र में "स्वर को भी"—इस (सूत्र) से (स्वर का) अधिकार करके उदात्तादि गुणों और उनके कालों का विधान किया गया है। उसी प्रकार "स्वर-विधि (उदात्तादि स्वरों के विधान) में व्यञ्जन को अविद्यमानवत् (समझना चाहिए)"—यह भी कहा जाता है। उसी प्रकार 'न्यङ्' इत्यादि में "उदात्त और स्वरित का यण् होने पर अनुदात्त स्वरित हो जाता है"—

---

(१) पा० १।२।२८ (२) परिभाषेन्दुशेखरे ७९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तयोर्यणस्स्वरितोऽनुदात्तस्य"[1] इति यणः परे अचि विहितस्वरितगुणो ङकारे दृश्यते। एतच्च ङकारस्य तदङ्गतामन्तरेण नोपपद्यते। तस्माद्व्यञ्जनं सर्वं तत्समीपस्थस्वराङ्गतयैवोदात्तादिगुणान् लभते, न स्वत इति सिद्धम्॥१॥

तत्परस्वरम् ॥२॥

मा०—तद्वत् खलु व्यञ्जनपरस्वरो वेदितव्यः। यथा—'क' इत्युच्यते ककारपूर्वः अकारपरः। एवं सर्वत्रेति ॥२॥

त्रि०—स्वरप्रधानतया केवलमवस्थातुमसहमानं व्यञ्जनं कदा पूर्वस्याङ्गं कदा परस्याङ्गमिति सन्देहे व्यवस्थापयति तत् अङ्गभूतं व्यञ्जनं परस्वरं भजते। यथा—"इमानेव लोकानुपधाय"[2]। परश्चासौ स्वरश्च परस्वरः तं परस्वरम् ॥२॥

वै०—अनेन पूर्वोत्तरयोस्स्वरयोर्गुणभेदे उत्सर्गरूपा; (परस्वरम्=) विनिगमना उच्यते। तद्व्यञ्जनं परस्थस्वरस्य गुणभूतमुदात्तादिस्वरम्; भजत इति सामान्यम्। "अपाम सोमम्"[3]। "अपेत वीत"[4]। "इमौ लोकौ भवतः"[5] ॥२॥

इससे यण् से परवर्ती स्वर में विहित स्वरित गुण ङकार में दिखलाई पड़ता है और यह तब तक उपपन्न नहीं होता है जब तक ङकार उस (परवर्ती स्वर) का अङ्ग न बने। इससे सभी व्यञ्जन अपने समीपवर्ती स्वरों का अङ्ग बन कर ही उदात्त आदि गुणों को प्राप्त करते हैं, स्वयं (उदात्तादि स्वरों को) नहीं (प्राप्त करते हैं)—यह सिद्ध है ॥१॥

सू० अ०—वह (व्यञ्जन्) परवर्ती स्वर (का अङ्ग होता है)।

त्रि० अ०—स्वर के प्रधान होने से अकेले स्थित रहने में असमर्थ व्यञ्जन (-वर्ण) कब पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग और कब परवर्ती (स्वर) का अङ्ग (होता है)—यह सन्देह होने पर (सूत्रकार) व्यवस्था करते हैं—तत्=वह; अङ्गभूत व्यञ्जन; परस्वरम्=बाद वाले स्वर का; अङ्ग होता है। जैसे—"इमानेव लोकानुपधाय"। बाद में है जो स्वर वह=परस्वर; उसको=परस्वरम् ॥२॥

वै० अ०—इससे पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती स्वरों के गुणों का भेद होने पर यह उत्सर्गरूप निर्णय कहा जाता है। तत्=वह; व्यञ्जन; (परस्वरम्=) बाद में स्थित स्वर के गुण—रूप उदात्तादि स्वर को; प्राप्त कर लेता है—यह सामान्य (नियम) है। (उदाहरण—) "अपाम सोमम्"। "अपेत वीत"। "इमौ लोकौ भवतः" ॥२॥

---

(१) पा० ८।२।४ (२) ५।५।५ (३) ३।२।५
(४) ४।२।४ (५) २।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसितं पूर्वस्य ॥३॥

मा०—यदन्त्यं व्यञ्जनं पदावसानवर्तीत्यर्थः, तत् पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवति। अत्रोच्यते—द्वयोः स्वरयोरन्तराले बहूनि व्यञ्जनानि स्युः तेषां पूर्वोत्तरविभागः क्रियते। यदन्त्यं पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवति। यथा—"वषट् ते विष्णवासः"[१] ॥३॥

त्रि०—अवसितं पदान्तवर्तिव्यञ्जनं पूर्वस्य स्वरस्य अङ्गं स्यात्। यथा—"ऊर्क्"[२]। "वषट्"[१]। "हविः"[३] ॥३॥

वै०—अवसीयतेऽत्रेत्यवसितं विरामावधिभूतं व्यञ्जनम्। तत्तुः (पूर्वस्य=) पूर्वस्वरम्; भजते। "उप चिन्वन्ति वेधसः"[४]। "इन्द्रवायू वि मुञ्चताम्"[५]। "पाहि मां यज्ञनियम्"[६]। "उत वा घा स्यालात्"[७]। "ऊर्क्"[८]। ननु यद्यपि "तत्परस्वरम्"[९] इति सामान्यविधिः कृतः, तथाऽप्यवसितस्य पराभावादन्याङ्गत्वश्रौव्याच्च पूर्वाङ्गत्वमर्थसिद्धं न विधेयम्। सत्यम्। अस्यैव न्यायस्य प्रदर्शनार्थमिदं सूत्रं प्रणीतवानाचार्यः तेन "स्तोमैर्विधेमाग्नये"[१], "श्नथद्वृत्रमुत"[१०] इत्यादिषु "संयोगादि"[११] "परेण चासाँहितम्"[१२]

सू० अ०—अवसान (पद के अन्त) में स्थित (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर) का (अङ्ग होता है)।

त्रि० अ०—अवसितम्=पद के अन्त में वर्तमान; व्यञ्जनः पूर्वस्य=पूर्ववर्ती स्वर का; अङ्ग होता है। जैसे—"ऊर्क्"। "वषट्"। "हविः" ॥ ३ ॥

वै० अ०—जहाँ अवसान किया जाता है (रुका जाता है) वह=अवसित=विराम रूपी सीमा पर विद्यमान व्यञ्जन। वह (अवसान में स्थित व्यञ्जन) तोः (पूर्वस्य=) पूर्ववर्ती स्वर को प्राप्त करता है। "उपचिन्वन्ति वेधसः"। "इन्द्रवायू विमुञ्चताम्"। "पाहि मां यज्ञनियम्"। "उत वा घा स्यालात्" "ऊर्क्"। शंका—यद्यपि "वह (व्यञ्जन) परवर्ती स्वर (का अङ्ग होता है)"—यह सामान्य विधान किया गया है तथापि अवसान में स्थित (व्यञ्जन) के बाद में (स्वर का) अभाव होने से तथा अन्य (स्वर) का अङ्ग होना निश्चित होने से पूर्वाङ्गत्व का अर्थात् तात्पर्य से सिद्ध का विधान नहीं करना चाहिए। (स०) ठीक है। इस ही न्याय को दिखलाने के लिए आचार्य ने इस सूत्र का निर्माण किया है। इससे "स्तोमैर्विधेमाग्नये", "श्नथद्वृत्रमुत" इत्यादि में "संयोग का आदि (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होता है", "परवर्ती (स्वर) से न मिला हुआ (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है)"—इत्यादि (सूत्र) से

---

(१) २।२।१२ (२) १।२।२ (३) १।२।४ (४) १।१।७
(५) १।१।११ (६) १।१।१४ (७) १।२।२ (८) २।१।२
(९) १।३।१४ (१०) ४।२।११ (११) २।१।४ (१२) २।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिना पूर्वाङ्गत्वविधिसद्भावेऽपि पूर्वाभावे पराङ्गत्वं सिद्धं भवति ॥३॥

संयोगादि ॥४॥

मा०—संयोगः द्वयोर्वा बहूनां वा व्यञ्जनानां भवति। तत्रान्त्यं व्यञ्जनं पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवति। यथा—"तस्माद्विधृता अध्वानोऽभूवन्"[1], "सूर्यो देवः"[2] इत्येवमादौ न सिध्यति, "नान्तस्थापर"[3] इति प्रतिषेधात्। अस्मिंस्तु सप्रतिषेधविषयेऽपि सिध्यत्येव। अन्यथा ह्यनर्थकमेव स्यात् ॥४॥

त्रि०—द्वयोर्बहूनां वा व्यञ्जनानां संयोगो भवति यदि तस्य; (संयोगादि=) संयोगस्य आदि; व्यञ्जनं पूर्वस्याङ्गं भवति। यथा—"यज्ञान्व्यादिशत्"[4]। "अपस्वन्तः"[5]। परसूत्रे चकारः पूर्वस्वराङ्गबोधक इत्यत्रापि तल्लभ्यते ॥४॥

वै०—संयोगो व्यञ्जनसङ्घातः। तदुक्तं मूलशास्त्रे—"हलोऽनन्तरास्संयोगः"[6] इति। तस्य; (संयोगादि=) आदिभूतम्; व्यञ्जनं पूर्वस्य स्वरं भजते। "इषे त्वा"[7]।

पूर्वाङ्गत्व विधि का सद्भाव होने पर भी पूर्ववर्ती (स्वर) का अभाव होने पर परवर्ती (स्वर) का अङ्गत्व सिद्ध होता है[क] ॥ ३ ॥

सू० अ०—संयोग का आदि (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर का अङ्ग होता है)।

त्रि० अ०—यदि दो (व्यञ्जनों) अथवा बहुत (व्यञ्जनों) का संयोग (मेल) होता है तो उस (संयोगादि=) संयोग का प्रथम 'व्यञ्जन'; पूर्ववर्ती (स्वर) का अंग होता है। जैसे—"यज्ञान्व्यादिशत्"। "अपस्वन्तः"। परवर्ती सूत्र में (प्रयुक्त) चकार पूर्ववर्ती स्वर के अंग का बोधक है—वह यहाँ भी प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

वै० अ०—संयोग=व्यञ्जनों का मेल। व्याकरणशास्त्र में भी यह कहा गया है—अचों के व्यवधान से रहित हलों की संयोग संज्ञा हो। उसका; (संयोगादि=)

(क) पूर्वपक्षी—२१।२ में यह विधान किया गया है कि व्यञ्जन परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है। अवसान में स्थित व्यञ्जन के बाद में स्वर नहीं होता है। अतः परवर्ती स्वर के अङ्ग होने का प्रसङ्ग ही समाप्त हो जाता है और यह आवश्यक है कि व्यञ्जन किसी न किसी स्वर का अङ्ग अवश्य बने। अतः निश्चय ही वह पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग बन जायेगा। इसके विधान करने की आवश्यकता ही नहीं है।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त बात ठीक है। जब अन्य उपाय न हो तो ऐसा होता ही है—यह बतलाना ही प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है।

---

(१) २।५।११ (२) ३।३।१० (३) २१।७ (४) ६।६।११
(५) १।४।४५ (६) पा० १।१।७ (७) १।१।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उच्छुष्मो अग्ने"[1]। "अव देवं त्र्यम्बकम्"[2]। उत्तरसूत्रेण सिद्धे पृथग्विधानं तत्प्रतिषेधबाधनार्थम्। तेन "अग्निस्ते वाजिन युङ्ङ्"[3], "यस्मिन्वायुः"[4], "आशून् हुवे सुयमानूतये"[5] इत्यादौ "नान्तस्थापरमसवर्णम्"[6] "स्पर्शश्चोष्मपरः"[7] इति प्रतिषेधस्संयोगादेर्न भवति। ।४॥

परेण चासꣳहितम् ॥५॥

मा०—संयोग एव बहून्यपि व्यञ्जनानि पूर्वस्य स्वरस्यांगानि भवन्ति, यत्परेण संयुक्तं तद्वर्जयित्वा। यथा—"बृहस्पतिरकामयत"[8]। "ब्रह्मवर्चसो गृह्यन्ते" (?) यथा—"सारियति"[9] ॥५॥

त्रि०—परेण स्वरेण; असꣳहितम्=असंयुक्तम्; च व्यञ्जनं पूर्वस्वराङ्गं भवति। यथा—"तथ्सवितुः"[10]। ननु तर्हि पूर्वसूत्रमनर्थकम्। संयोगादिभूतस्यापि व्यंजनस्यानेनैव पूर्वस्वराङ्गत्वसिद्धेः। मैवं मंस्थाः। "मर्यश्रीः"[11] "अर्वाऽसि[12]" इत्यत्र यवकारयोः "रेफात् परं च"[13] इति द्वित्वे कृते प्रथमयवकारयोः "परेण चासꣳहितम्" इत्यनेन पूर्वस्व-

---

आदिभूत; व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर को प्राप्त करता है। "इषे त्वा"। "उच्छुष्मो अग्ने"। "अव देवं त्र्यम्बकम्"। परवर्ती सूत्र से सिद्ध होने पर पृथक् रूप से विधान उसके प्रतिषेध के बाध के लिए किया गया है। इससे "अग्निस्ते वाजिन युङ्ङ्", "यस्मिन्वायुः", "आशून हुवे सुयमानूतये" इत्यादि में "अन्तःस्था (-वर्ण) है बाद में जिसके वह असवर्ण (व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अंग) नहीं (होता है)" "और ऊष्म (वर्ण) है बाद में जिससे वह स्पर्श भी (पूर्ववर्ती स्वर का अंग नहीं होता) यदि वह ऊष्म (-वर्ण) परवर्ती (-स्वर) का (अंग) हो" इत्यादि में प्रतिषेध संयोग के आदि में नहीं होता है॥ ४॥

सू० अ०—परवर्ती (स्वर) से न मिला हुआ (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है)।

त्रि० अ०—परेण=परवर्ती (स्वर) के साथ; असꣳहितम्=न मिला हुआ=असंयुक्त; व्यञ्जन; च=भी; पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है। जैसे—"तथ्सवितुः"। (शंका) तब तो पूर्ववर्ती सूत्र व्यर्थ है। क्योंकि संयोग के आदिभूत व्यञ्जन का भी पूर्ववर्ती स्वर का अंग होना इस ही सूत्र से सिद्ध हो जाता है, ऐसा मत मानो। "मर्यश्रीः", "अर्वाऽसि"—यहाँ पर यकार और वकार को

---

(१) १।६।२ (२) १।८।६ (३) ७।५।१९ (४) ५।७।२६
(५) ४।७।१५ (६) २१।७ (७) २१।६
(८) ७।२।३ (९) ६।४।११ (१०) १।५।६
(११) ४।१।२ (१२) १।७।८ (१३) १४।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राङ्त्वं प्राप्तम्। रेफस्य तु "नान्तस्थापरमसवर्णम्"[1] इत्यनेन परस्वराङ्गत्वं प्राप्तम्। तच्चाशक्यं तथोच्चारणासम्भवात्। अन्यतरबाधे कर्त्तव्ये सति किं वा बाध्यमितिसन्देहः। तत्र नियामकत्वेन "संयोगादि"[2] सूत्रमुपतिष्ठते ॥५॥

वै०—स꣣हितमेव सा꣣हितम्। ततोऽन्यदसा꣣हितम्। यस्य व्यञ्जनस्य परस्वरस्य च मध्ये व्यंजनान्तरमस्ति तच्च पूर्वस्य स्वरं भजते। "श्रेष्ठतमाय कर्मणे"[3]। "अनमीवा अयक्ष्माः"[4]। "ऋक्च मे साम च मे"[5]। "पाङ्क्ताः पशवः"[6]। अत्र परेणेति वचनसामर्थ्यात्परशब्दस्य परविशेषणत्वं लक्ष्यते। न हि परेण व्यंजनेन असंहितम् व्यंजनमस्ति, असंयुतस्यापि संहितत्वात्। अवसितस्य तु सिद्धमेव पूर्वाङ्गत्वमिति ॥५॥

अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च ॥६॥

मा०—पूर्वस्यैव स्वरस्याङ्गं भवति अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च। यथा—"शोंसामोद इवेति"[7]। "गोमां अग्ने"[8]। "गार्हपत्यमा दधाति"[9]। "सप्तर्षीन् पर एकमाहुः"[10] ॥६॥

"परवर्ती (स्वर) से न मिला हुआ (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है)"—इस सूत्र से पूर्ववर्ती स्वर का अंग होना प्राप्त है। रेफ का तो "अन्तस्था (-वर्ण) बाद में है जिसके वह असवर्ण (व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अंग) नहीं (होता है)"—इस (सूत्र) से परवर्ती स्वर का अंग होना प्राप्त है, और वह असम्भव है, क्योंकि उस प्रकार का उच्चारण सम्भव नहीं है। दोनों में से एक का बाध करना आवश्यक होने पर किसका बाध किया जाये—यह सन्देह होता है। वहाँ निर्णायक के रूप में "संयोग का आदि (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है"—यह सूत्र उपस्थित होता है ॥ ५ ॥

वै० अ०—संहित (मिला हुआ) ही=सांहितम्। उससे (मिले हुए=सांहित से) अन्य=असा꣣हित। जिस व्यञ्जन के और परवर्ती स्वर के मध्य में दूसरा व्यञ्जन विद्यमान है वह भी पूर्ववर्ती (स्वर-वर्ण) के स्वर (धर्म) को प्राप्त करता है। "श्रेष्ठतमाय कर्मणे"। "अनमीवा अयक्ष्माः"। "ऋक्च मे साम च मे"। "पाङ्क्ताः पशवः"। यहाँ परेण (परवर्ती से) इस वचन के सामर्थ्य से पर शब्द स्वर के विशेषण के रूप में उपलब्ध होता है। क्योंकि परेण=परवर्ती; व्यञ्जन से; असंहितम्=न मिला हुआ; व्यञ्जन नहीं रह सकता है। असंयुक्त (व्यञ्जन) भी मिला हुआ होता है। अवसान में स्थित (व्यञ्जन) का तो पूर्ववर्ती (स्वर) का अंग होना सिद्ध ही है ॥ ५ ॥

सू० अ०—अनुस्वार और स्वरभक्ति (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होते हैं)।

---

(१) २१।७ (२) २१।४ (३) १।१।१
(४) ४।७।६ (५) १।५।२ (६) ३।२।९
(७) १।६।६ (८) १।५।४ (९) ४।६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—चकारः समुच्चयकथनद्वारा पूर्वस्वराङ्गत्वाकर्षकः। अनुस्वारः पूर्वस्वरं भजते। यथा—"अꣳशुना ते"[1]। स्वरभक्तिश्च पूर्वस्वरं भजते। यथा—"गार्हपत्यः"[2]। विधौ समाने सूत्रस्यास्य पृथक्करणं क्वचित् स्वरभक्तेः पराङ्गत्वमापादयितुम्। तथाहि—

स्वराद्ध्रस्वात् परां भक्तिं प्रचयत्वं नयेद्बुधः।
ऋतस्य धूर्षदं चेति स्वतन्त्रा भक्तिरुच्यते ॥६॥

वै०—अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च पूर्वस्य स्वरं भजते। "अग्ने महाꣳअसीत्याह"[3]। "सर्वाꣳअग्नीन्"[4]। "अविमाꣳअश्वी"[5]। स्वरभक्तिस्तु वक्ष्यते—"रेफोष्मसंयोगे रेफ-स्वरभक्तिः"[6] इति। अस्य तु "संयोगादि"[7] इति सूत्रेण सिद्धे पूर्वाङ्त्वे व्यंजनत्वसमर्थनार्थं, स्वरसाधर्म्यस्य विधास्यमानत्वात्स्वरप्रधानतैव स्यादिति तन्निवारणार्थं पृथग्विधानम्। न

त्रि० अ०—चकार समुच्चय के कथन के द्वारा पूर्वस्वराङ्गत्व का आकर्षक है। अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है। जैसे—"अꣳशुना ते"। स्वर-भक्तिश्च=स्वरभक्ति भी; पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होती है। जैसे—"गार्हपत्यः"। विधान समान होने पर इस सूत्र का पृथक्करण कहीं पर स्वरभक्ति के परवर्ती (स्वर) के अङ्त्व को प्राप्त कराने के लिए है। जैसे—

"विद्वान् ह्रस्व स्वर की परवर्ती (स्वर-) भक्ति का प्रचयत्व करे। ऋतस्य धूर्षदम् (स्थल) में स्वरभक्ति स्वतन्त्र कही जाती है" ॥६॥

वै० अ०—अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च=अनुस्वार और स्वरभक्ति; पूर्ववर्ती (स्वर-वर्ण) के स्वर को प्राप्त करते हैं। "अग्ने महाꣳअसीत्याह"। "सर्वाꣳ-अग्नीन्"। "अविमाꣳअश्वी"।

स्वरभक्ति तो आगे कही जायेगी "रेफ और ऊष्म-वर्ण का संयोग होने पर रेफ-स्वरभक्ति होती है"। "संयोग का आदि व्यञ्जन (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है)" इस सूत्र से इस (स्वरभक्ति) का पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग सिद्ध होने पर (रेफ के) व्यञ्जनत्व के समर्थन के लिए, (रेफ के) स्वर के समान धर्म वाला होने का विधान आगे (२१।१५) में किया जायेगा जिससे उसकी स्वरप्रधानता हो जायेगी उस (स्वरप्रधानता के) निवारण के लिए पृथक् रूप से विधान किया गया है[क]। यह कहना ठीक नहीं है कि स्वरभक्ति स्वर का अवयव होती है,

---

(क) स्वरभक्ति के विषय में वैदिकाभरणकार का मत नितान्त भिन्न प्रकार का है। दे० २१।१५ पर वैदिकाभरण।

---

(१) १।२।६ (२) १।६।७ (३) २।५।९ (४) ५।६।१
(५) १।६।६ (६) २१।१५ (७) २१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु स्वरभक्तेः स्वरावयवात्मकत्वादप्राप्तं पूर्वाङ्गत्वमिह विधीयते। शिक्षाकारस्य हि तन्मतम् न तु सूत्रकारस्य।

रलयोरूष्मणि परे शिक्षाकारो हि मन्यते।
ऋलृस्वरार्धे आदेशौ वदन् भक्तिं स्वरस्य ताम् ॥१॥

शिक्षाकारो हि—

"ऋलृस्वरौ यत्र पूर्वावूष्मसंज्ञे परे स्थिते।
पूर्वस्वरस्य रेफः स्यात्स्वरभक्तिः प्रकीर्तिता ॥२॥

तत्स्वरूपं तु स्त्रीलिङ्गसंयुक्तं वदन् ऋकारार्धं लृकारार्धं च रेफलकारयोरूष्मपरयोरादेशौ मन्यते। नत्वेतदिष्टं सूत्रकारस्य। "रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः"[1] इति गुणो हि विधास्यते, न वर्णान्तरादेशः। गुणविधौ हि "पूर्वस्वरोऽनुनासिकः"[2] इत्यादिवदुभयत्र प्रथमानिर्देश उपपद्यते। न तु वर्णान्तरादेशविधौ, "अं विकारस्य"[3] इति तत्र द्वितीयानियमात्। गुणविधौ तु सर्वत्र गुणिस्वरूपस्याबाधात् रेफलकारयोरपि व्यंजनत्वाव्याघातः। तस्मात्स्वरभक्तेः स्वप्राधान्यनिरासार्थमेव पृथग्वचनमिति सिद्धम् ॥६॥

अतः उसके अप्राप्त पूर्वाङ्ग होने का यहाँ विधान किया जाता है। शिक्षाकार का वह मत है, सूत्रकार का नहीं।

"र और ल के बाद में ऊष्म-वर्ण होने पर शिक्षाकार ऋकार स्वर का अर्ध भाग और लृकारस्वर का अर्ध भाग रूप में स्वरभक्ति को आदेश मानता है और इसे स्वर का भाग कहता है।"

शिक्षाकार कहते हैं—

"ऋ और लृ स्वर जहाँ पूर्व में (उच्चारित) होते हैं और ऊष्म-संज्ञक वर्ण बाद में होता है वहाँ पूर्ववर्ती का रेफ अंश स्वरभक्ति कहा गया है।" उसके स्वरूप को स्त्रीलिङ्ग से संयुक्त मानते हुए ऊष्म वर्ण बाद में है जिनके ऐसे रेफ और लकार के आदेश मानता है जो ऋकारार्ध रूप और लृकारार्ध रूप होते हैं किन्तु यह सूत्रकार को अभीष्ट नहीं है। "रेफ और ऊष्म वर्ण का संयोग होने पर रेफस्वरभक्ति होती है" इस (सूत्र) से गुण का विधान किया जायेगा, वर्णान्तर (किसी दूसरे वर्ण का) नहीं। क्योंकि गुणविधि में ही "पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है" की तरह दोनों (विकारी और विकार) का प्रथमा में निर्देश उपपन्न होता है। दूसरे वर्ण के आदेश की विधि में तो (दोनों का प्रथमा में निर्देश उपपन्न) नहीं होता। वहाँ "अम् (द्वितीया विभक्ति) विकार का निर्देशक है" इस (सूत्र) से द्वितीया का नियम है। गुणविधि में तो सर्वत्र गुणी का स्वरूप अबाधित होता है इसलिए रेफ और लकार के व्यञ्जन होने की भी हानि हो जायेगी। इसलिए स्वरभक्ति की स्वरप्रधानता के निराकरण के लिए ही पृथक् कथन किया गया है ॥६॥

---

(१) २।१।५ (२) १५।१। (३) १।२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नान्तस्थापरमसवर्णम् ॥७॥

मा०—अन्तस्थापरमसवर्णमसरूपं पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं न भवति। पूर्वस्याङ्गप्रतिषेधात् परस्यैव तदङ्गमिति वेदितव्यम्। यथा—"इषे त्वोर्जे त्वा"[१]। "देवा वै देवयजनमध्यवसाय"[२]। असवर्णमिति किम्? "अग्निः सर्वा देवताः"[३] ॥७॥

त्रि०—नकारः पूर्वस्वराङ्गत्वव्यावर्तकः। अन्तस्थापरं व्यंजनं तस्या अन्तस्थायाः; असवर्णम्=विलक्षणम् पूर्वस्वराङ्गं न भवति, अर्थात् परस्वराङ्गं हृत् इति वेदितव्यम्। स्वतः स्थातुमशक्यत्वात्। यथा—"अध्यवसाय दिशः"[४]। "मधुमिश्रेण"[५]। "अश्लोणया"[६]। "इषे त्वा"[७]। अन्तस्था परा यस्मात् तत् "अन्तस्थापरम्"। असवर्णमिति किम्? "परिचाय्यं चिन्वीत"[८] ॥७॥

वै०—अन्तस्थापरं तस्या अन्तस्थाया असवर्णं व्यञ्जनं न पूर्वस्य स्वरं भजते। "इषे त्वा"[९]। "कृष्यै त्वा"[९]। "धात्रे पुरोडाशम्"[९]। "सुश्लोका४म्"[१०]। पूर्वाङ्गत्वे निषिद्धे उत्सर्गसिद्धं पराङ्गत्वमवतिष्ठते। अन्तस्थापरमिति किम्? "ऋक्च मे"[११]। असवर्णमिति किम्? "सूनर्यसि"[१२]। "उर्वश्यसि"[१३]। "अथर्वणः"[१४] ॥७॥

सू० अ०—अन्तःस्था (-वर्ण) बाद में है जिसके वह असवर्ण (व्यञ्जन पूर्ण-स्वर का अङ्ग) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—नकार पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होने की निवृत्ति करता है। अन्तस्थापरम्=अन्तस्था वर्ण है बाद में जिसके वह; व्यञ्जन उस अन्तःस्था से असवर्ण=विलक्षण होने पर; पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग नहीं होता है; अर्थात् वह परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है—ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि वह (स्वर के बिना) स्थित रहने में असमर्थ होता है। जैसे—"अध्यवसाय दिशः"। "मधुमिश्रेण"। "अश्लोणया"। "इषे त्वा"। अन्तःस्था है बाद में जिससे वह=अन्तःस्थापरम् असवर्ण—यह क्यों (कहा)? "परिचाय्यं चिन्वीत" ॥७॥

वै० अ०—अन्तस्थापरम्=अन्तःस्था (-वर्ण) बाद में होने पर; उस अन्तःस्था से; असवर्णम्=भिन्न; व्यञ्जन पूर्ववर्ती (स्वरवर्ण) के स्वर को; न=नहीं; प्राप्त करता है। "इषे त्वा"। "कृष्यै त्वा"। "धात्रे पुरोडाशम्"। "सुश्लोका४म्"। पूर्वाङ्गत्व का निषेध होने पर उत्सर्ग (सामान्य नियम=२१।२) से सिद्ध पराङ्गत्व उपस्थित हो जाता है। अन्तःस्था बाद में हो—यह क्यों (कहा)? "ऋक्च मे"। असवर्ण—यह क्यों (कहा)? "सूनर्यसि"। "उर्वश्यसि"। "अथर्वणः" ॥७॥

---

(१) १।१।१ (२) ६।१।५ (३) २।२।६ (४) ५।२।८
(५) ६।१।६ (६) ४।३।७ (७) ५।४।११ (८) ४।३।७
(९) १।८।८ (१०) १।८।१६ (११) ४।७।६ (१२) १।६।३
(१३) १।३।७ (१४) ३।५।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिक्या ॥८॥

मा०—नासिक्या न खलु पूर्वस्य स्वरस्याङ्गानि भवन्ति। यथा—"रुक्ममुप दधाति"[१]। "क्षत्रेण राज्ञे समनमत्"[२] ॥८॥

त्रि०—नासिक्याः=यमाः; परस्वरं भजन्ते। यथा—"रुक्ममुप दधाति"[१]। "राज्ञे सूकरः"[३] ॥८॥

वै०—नासिक्या वर्णाः आगमत्वेन विधास्यन्ते ते पूर्वस्य स्वरं न भजन्ते। यथा—"अग्नियाः"[४]। "राज्ञा"[५]। "पर आट्णारः"[६]। "अस्य प्रत्नाम्"[७]। "सर्वं पाप्मानं तरति"[८]। "इर्यः परिज्मा"[९]। "रुक्मम्"[१३]। "रुग्णवत्यर्चा"[१०]। "ऊर्मिः ककुद्मान्"[११] ॥८॥

स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत् परस्य ॥९॥

मा०—स्पर्श ऊष्मपरः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं न भवति, ऊष्मा यदि चेत् स्पर्शपरः। यथा—"यत्सौर्यो भवति" (?)। ऊष्मपर इति किम् ? "वषट् ते विष्णवासः"[१२]। ऊष्मा चेत्परस्येति किम् ? "अपहन्त्यक्ष्णया व्याधारयति"[१३] ॥९॥

त्रि०—पूर्वः चकारो "नासिक्याः"[१४] इत्यनेन समुच्चयवाचकः। उत्तरस्तु परस्व-

---

सू० अ०—नासिक्य (पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग नहीं होते हैं)।

त्रि० अ०—नासिक्यः=यम (संज्ञक वर्ण) परवर्ती स्वर का अङ्ग होते हैं। जैसे—"रुक्ममुप दधाति"। "राज्ञे सूकरः" ॥८॥

वै० अ०—नासिक्य वर्णों का आगम के रूप में विधान किया जायेगा। वे (नासिक्य-वर्ण) पूर्ववर्ती (स्वर-वर्ण) के स्वर को नहीं प्राप्त करते हैं। जैसे—"अग्नियाः"। "राज्ञा"। "पर आट्णारः"। "अस्य प्रत्नाम्"। "सर्वं पाप्मानं तरति"। "इर्यः परिज्मा"। "रुक्मम्"। "रुग्णवत्यर्चा"। "ऊर्मिः ककुद्मान्" ॥८॥

सू० अ०—और ऊष्म (-वर्ण) है बाद में जिससे वह स्पर्श भी (पूर्ववर्ती स्वर का अंग नहीं होता) यदि वह ऊष्म (-वर्ण) परवर्ती (स्वर) का (अंग हो)।

त्रि० अ०—पूर्ववर्ती चकार "नासिक्य (पूर्ववर्ती स्वर के अंग नहीं होते है)"-इस (सूत्र) से समुच्चय का वाचक है। बाद वाला (चकार) तो परवर्ती स्वर

---

(१) ५।२।७ (२) ७।५।२३ (३) ५।५।११ (४) १।१।१
(५) २।६।२ (६) ५।६।५ (७) १।५।५ (८) ५।३।१२
(९) ७।१।२० (१०) ६।४।११ (११) १।७।७ (१२) २।२।१२
(१३) ५।२।७ (१४) २।१।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राङ्गत्वाकर्षकः। ऊष्मपरस्स्पर्शश्च परस्वराङ्गं भवति असौ ऊष्मा परश्चेत्; (परस्य=) परस्वराङ्गं चेदित्यर्थः। "षट्थ् सं पद्यन्ते"।[1] "वषट्थ् स्वाहा"[2]। ऊष्मा परश्चेदिति किम्? "अक्ष्णया व्याघारयति"[3]। ऊष्मा परो यस्मात् असौ ऊष्मपरः ॥९॥

वै०—(स्पर्शश्चोष्मपरः=) ऊष्मपरः स्पर्शश्च; पूर्वस्य स्वरं न भजते, स चेत् परस्याङ्गं भवति। "वृक्षाणां भूया२सः"।[4] "तथ्सवितुः"[5]। "राजंथ्सोम"[6]। स्पर्श इति किम्? "पार्श्वे परस्सामानः"[7]। ऊष्मपर इति किम्? "ऋक्च मे"[8]। ऊष्मा चेत्परस्येति किम्? "जगत्स्थाः"[9]। "यत्स्थावराणाम्"[10] ॥९॥ ∞

स्वरितात्स२हितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुति ॥१०

मा०—स्वरितात्परेषामनुदात्तानां अनुदात्तयोर्वा अनुदात्तस्य वा संहितायां प्रचयो भवति। यथा—"पाक्या चिद्वसवो धीर्या चित्"[11]। प्रचय उदात्तश्रुतिरित्युच्यते ॥१०॥

त्रि०—स्वरितात् परेषां अनुदात्तानां अनुदात्तयोरनुदात्तस्य वा संहितायां प्रचय नाम धर्मो भवति। यथा—"अग्ने दुध्र गह्य किं२शिल वन्य या ते"[12]। अनुदात्तानामिति

के अंगत्व का आकर्षक है। ऊष्मपरस्स्पर्शश्च = ऊष्म-वर्ण है बाद में जिसके वह स्पर्श भी; परवर्ती स्वर का अंग होता है; चेत् = यदि; वह; ऊष्मा = 'ऊष्म' (-वर्ण); परस्य = परवर्ती स्वर का; अंग हो—यह अर्थ है। "षट्थ् संपद्यन्ते"। "वषट्थ् स्वाहा"। ऊष्म (-वर्ण) यदि परवर्ती (स्वर) का अंग हो—यह क्यों (कहा)? "अक्ष्णया व्याघारयति"। ऊष्मा है बाद में जिससे वह = ऊष्मपरः ॥९॥

वै० अ०—(स्पर्शश्चोष्मपरः=) ऊष्म (-वर्ण) बाद में है जिससे वह स्पर्श पूर्ववर्ती (स्वर-वर्ण) का स्वर प्राप्त नहीं करता है, चेत् = यदि; वह (ऊष्म-वर्ण); परस्य = परवर्ती (स्वर) का; अंग होता है, "वृक्षाणां भूया२सः"। "तथ्सवितुः"। "राजंथ्सोमः"। स्पर्श—यह क्यों (कहा)? "पार्श्वे परस्सामानः"। ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "ऋक्च मे"। ऊष्म (-वर्ण) यदि परवर्ती (स्वर) का (अंग हो)—यह क्यों (कहा)? "जगत्स्थाः"। "यत्स्थावराणाम्" ॥९॥

सू० अ०—संहिता में स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों की प्रचय (संज्ञा होती है और वे प्रचय-स्वर) उदात्त के समान सुने जाते हैं।

त्रि० अ०—स्वरितात् = स्वरित से; परवर्ती; अनुदात्तानाम्=बहुत अनुदात्तों का; दो अनुदात्तों का या एक अनुदात्त का; संहितायाम्=संहिता में; प्रचय नामक धर्म होता है। जैसे—"अग्ने दुध्र गह्य किं२शिल वन्य या ते"। अनुदात्तों का—

---

(१) ५।४।३ (२) ७।३।१२ (३) ५।२।७ (४) २।५।१
(५) १।५।६ (६) २।३।१४ (७) ७।३।१० (८) ४।७।६
(९) २।१।११ (१०) ६।४।२ (११) २।१।११ (१२) ५।५।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? "तेऽग्नये प्रवते" [1]। संहितायामिति किम् ? "अग्ने। दुध्र। गह्य। किꣳशिल। वन्य। या। ते" [2]। उदात्तस्य श्रुतिरिव श्रुतिर्यस्य असौ, उदात्तश्रुतिः इति प्रचयस्वरूपनिरूपणम्। अतो न पुनरुक्तिशङ्का ॥१०॥

वै०—षोडशाध्यायान्ते संहिताधिकारो निवृत्त इति संहितायामित्युच्यते। यद्येवं "व्यञ्जनꣳस्वराङ्गम्" [3] इत्यादेः कथमङ्गसंहिताविषयत्वम् ? श्रूयताम्—तत्र संहिताधिकाराभावेऽप्यर्थात्संहिताविषयत्वं भवत्येव, "व्यञ्जनꣳस्वरांगम्" [1] इति व्यञ्जनस्य स्वरसन्निधावेवोदात्तादिगुणयोगो न स्वत इति वचनात्। अनुदात्त इह व्यञ्जनान्तर्हितोपि कार्यं भजते बहुवचननिर्देशसामर्थ्यात्। स च संहितायामेकस्स्वरितात्परोऽनुदात्तो व्यञ्जनान्तर्हितः सम्भवति, न द्वौ बह्वो वा तदयमर्थः-संहितायां स्वरितात्परेषां एकद्विबहूनाम् अनुदात्तानां व्यञ्जनान्तर्हितानामनन्तर्हितानां च प्रचयस्वरात्मको गुणो भवतीति। किरूपोऽसौ गुणः यं प्रचये पश्यसि ? स उदात्तश्रुतिरिति ब्रूमः उदात्तवच्छ्रुतिर्यस्य स तथोक्तः। उत्क्षेपणरहित उदात्तगुण एव प्रचय इति यावत्। तद्यथा—"वायवस्थ" [4]। "हव्यꣳरक्षस्व" [5]। "त ऊषा

यह क्यों (कहा)? "तेऽग्नये प्रवते"। संहिता में—यह क्यों (कहा)? "अग्ने दुध्र। गह्य। किꣳशिल। वन्य। या। ते"। उदात्त के समान श्रुति है जिसकी वह=उदात्तश्रुतिः; इससे प्रचय के स्वरूप का निरूपण (किया गया है) इसलिए पुनरुक्ति की शङ्का नहीं (करनी चाहिए) ॥१०॥

वै० अ०—सोलहवें अध्याय के अन्त में संहिता के अधिकार की निवृत्ति हो गई थी इसलिए (सूत्र में) संहितायाम्=संहिता में; यह कहा जाता है। यदि ऐसी बात है तो "व्यञ्जन स्वर का अंग (होता है)" इत्यादि अंग-संहिता से किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं। सुनो—वहाँ संहिता के अधिकार का अभाव होने पर भी (ये सूत्र) (तात्पर्य से) संहिता से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि "व्यञ्जन स्वर का अंग (होता है,"—इस विधान से व्यञ्जन स्वर की सन्निधि से ही उदात्त आदि गुणों को प्राप्त करता है, स्वभावतः नहीं। बहुवचन के निर्देश के सामर्थ्य से अनुदात्त यहाँ व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी कार्य को प्राप्त करता है। संहिता में स्वरित से बाद में व्यञ्जन से अव्यवहित एक अनुदात्त सम्भव है, दो अथवा बहुत (अनुदात्त) (संभव) नहीं हैं। इससे यह अर्थ हुआ—संहितायाम्=संहिता में; स्वरितात्=स्वरित से; बाद में व्यञ्जन से अव्यवहित अथवा व्यञ्जन से अव्यवहित एक, दो अथवा बहुत; अनुदात्तानाम्=अनुदात्तों का; प्रचय स्वरात्मक गुण होता है। वह गुण, जिसे प्रचय में देखते हैं, उसका क्या स्वरूप है ? वह उदात्तश्रुति है—यह कहते हैं; उदात्त के समान श्रवण है—जिसका वह वैसा कहा गया (=उदात्तश्रुति) है। उत्क्षेपण से रहित उदात्तगुण ही प्रचय है। जैसे—"वायवस्थ"। "हव्यꣳ-

---

(१) २।४।१ (२) ५।५।६ (३) २।१।१
(४) १।१।१ (५) १।१।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभवन्"[१]। "धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः"[२]। स्वरितादिति किम्? "उत्सन्नयज्ञो वै"[३]। अनुदात्तानामिति किम्? "यद्युक्थ्यस्स्यात्"[४]। "महान् ह्येष यदग्निः"[५] ॥१०॥

नोदात्तस्वरितपरः ॥११॥

मा०—उदात्तपरस्य वा स्वरितस्य वा अनुदात्तस्य वा अनुदात्तस्य प्रचयो न भवति। यथा—"इमं मे वरुण श्रुधी हवम्"[६]। "पाक्या चिद्वसवो धीर्या चित्"[७] ॥११॥

त्रि०—(उदात्तस्वरितपरः =) उदात्तपरः स्वरितपरो वा, अनुदात्तः प्रचयो न भवति। यथा—"तया देवतया"[८] "तदाहुः क्व जगती"[९]। उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ, तौ परौ यस्मात् सः तथोक्तः ॥११॥

वै०—(उदात्तस्वरितपरः =) स्वरितात्परेष्वनुदात्तेषु यस्मात्पर उदात्तस्स्वरितो वा भवति अनन्तरादेकव्यवेतादनेकव्यवेताद्वा, स प्रचयगुणभाङ् न भवति। "प्रत्युष्टꣳरक्षः"[१०]। "अनिशितमोजः"[११]। "तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायी जयति"[१२]। "तावानुक्थ्यः"[१३]। "शतदायमुक्थ्यम्"[१४]। "शिवो भव वरूथ्यः"[१५]। तदेतत्सूत्रद्वयमक्षरसंहितेत्युक्तम्। नन्वेतदपि

रक्षस्व"। "त ऊषा अभवन्"। "धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः"। स्वरित से यह क्यों (कहा)? "उत्सन्नयज्ञो वै"। अनुदात्तों का-यह क्यों (कहा)? "यद्युक्थ्यस्स्यात्"। "महान् ह्येष यदग्निः" ॥१०॥

सू० अ०—उदात्त या स्वरित बाद में होने पर (अनुदात्त, प्रचय) नहीं (होता है)।

त्रि० अ०—(उदात्तस्वरितपरः =) उदात्त है बाद में जिसके, स्वरित है बाद में जिसके वह अनुदात्त प्रचय; न = नहीं; होता है। जैसे—"तया देवतया"। "तदाहुः क्व जगती"। उदात्त और स्वरित = उदात्तस्वरितौ, ये बाद में हैं जिससे वह वैसा कहा गया (= उदात्तस्वरितपरः) है ॥११॥

वै० अ०—(उदात्तस्वरितपरः =) स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों में जिस (स्वरित) से बाद में उदात्त अथवा स्वरित होता है अव्यवहित पूर्ववर्ती से, एक (व्यञ्जन) से व्यवहित से अथवा एकाधिक (व्यञ्जनों) से व्यवहित से बाद में, वह (अनुदात्त) प्रचय के गुण को प्राप्त नहीं करता है। "प्रत्युष्टꣳरक्षः"। "अनिशितमोजः"। "तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायी जयति"। "तावानुक्थ्यः"। "शतदायमुक्थ्यम्"। "शिवो भव वरूथ्यः"। ये दो सूत्र (२१।१०-११) अक्षर-संहिता के

---

(१) ५।२।३	(२) ४।७।१२	(३) ५।३।१
(४) ३।१।७	(५) २।५।६	(६) २।१।११
(७) २।१।११	(८) ४।२।९	(९) ७।१।४
(१०) १।१।४	(११) ४।७।१५	(१२) ५।३।५
(१३) १।६।६	(१४) ३।३।११	(१५) १।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्दशाध्यायान्ते वक्तव्यं सत्किमिहोत्कर्ष्यते ? तद्ब्रूमः—यदीदं सूत्रद्वयं तत्रोच्येत "ये चार्वतो मा꣣सभिक्षामुपासते"[१] "अलोहिताय स्वाहा मा꣣सन्वते स्वाहा"[२] इत्यत्रानुस्वारागमो न स्यात्, माशब्दस्यानुदात्तत्वाभावात्। तथा च "प्रचयपूर्वञ्च कौण्डिन्यस्य"[३] इति विक्रमसंज्ञाविधौ प्रचयपूर्वसद्भावात् स्वमतत्वशङ्का स्यात्। इह तूच्यमाने तस्मिन् यथोक्तविषयेऽप्यनुस्वारागमसिद्धयति, तदा प्रचयत्वाभावात् प्रचयपूर्वस्यानुदात्तस्यासम्भवात्। सूत्रकारस्य मते तस्य विक्रमसंज्ञा नास्तीति च स्पष्टमवगम्यते ॥११॥

स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः ॥१२॥

मा०—अनुत्तमात् स्पर्शात् उत्तमपरादानुपूर्व्येण नासिक्यानामागमो भवति। द्वितीयस्पर्शाद् द्वितीयनासिक्याः, तृतीयस्पर्शात्तृतीयनासिक्याः, चतुर्थस्पर्शाच्चतुर्थाः। यथा—"स प्रत्नवत्"[४]। "ग्रन्थि ग्रथ्नीयत्"[५]। "विद्मा ते अग्ने"[६]। "यद्दध्ना मधुमिश्रेण"[७]। स्पर्शादिति किम् ? "इमं मे वरुण"[८]। "कल्माषी भवति"[९]। अनुत्तमादिति किम् ? "यत्ते अग्ने तेजस्तेन"[१०] ॥१२॥

त्रि०—उत्तमपरात् अनुत्तमात् स्पर्शात् परतः, आनुपूर्व्यात्=यथाक्रमम्; नासि-

---

कहे गए हैं। शंका—इनको भी चतुर्दश अध्याय के अन्त में कहना चाहिए था, इनको यहाँ खींचकर क्यों लाया गया है ? इसको बतलाते हैं—यदि इन दो सूत्रों को वहाँ कहा जाता तो "ये चार्वतो मा꣣सभिक्षामुपासते" "अलोहिताय स्वाहा मा꣣सन्वते स्वाहा"—यहाँ पर अनुस्वार का आगम न होता, क्योंकि 'मा' शब्द अनुदात्त न होता (२१।१० से प्रचय होता जबकि १६।१० के अनुसार अनुदात्त होने पर ही मा के बाद में अनुस्वार का आगम होता है)। उसी प्रकार "कौण्डिन्य के मतानुसार प्रचय पूर्व में होने पर भी (विक्रम होता है)" इस विक्रम संज्ञा के विधान में प्रचयपूर्व होने से यह शंका हो जाती कि यह अपना मत है। यहाँ (प्रचय का) कथन होने से उस पूर्वोक्त स्थल (मा꣣सभिक्षामुपासते इत्यादि में) अनुस्वार का आगम सिद्ध होता है, उस (विक्रमसंज्ञा के विधान के समय) प्रचय संज्ञा का विधान न होने से प्रचयपूर्व अनुदात्त का होना भी संभव नहीं था। सूत्रकार के मत में उस (प्रचयपूर्व अनुदात्त) की विक्रम संज्ञा नहीं होती यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

सू० अ०—उत्तम (=वर्गों का अन्तिम वर्ण) बाद में होने पर अनुत्तम स्पर्श से बाद में क्रम से नासिक्यों का आगम होता है।

त्रि० अ०—उत्तमपरात्=उत्तम (=वर्गों का पञ्चम वर्ण) है बाद में जिसके उस; अनुत्तमात् स्पर्शात्=अनुत्तम (अननुनासिक) स्पर्श से बाद में; आनुपूर्व्यात्=

---

(१) ४।६।६ (२) ७।५।१२ (३) १६।२ (४) २।२।१२
(५) ६।२।६ (६) ४।२।२ (७) ५।२।८
(८) २।१।११ (९) ५।१।१ (१०) ३।५।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्याः आगमा भवन्ति। प्रथमस्पर्शात् प्रथमनासिक्यः, द्वितीयात् द्वितीयः। एवमन्यत्रापि। यथा—"तं प्रत्नथा"[१]। "विमथ्नानाः"[२]। "विद्मा ते अग्ने"[३]। "दारूणि दध्मसि"[४] इत्यादि। स्पर्शादिति किम्? "कल्माषी भवति"[५]। अनुत्तमादिति किम्? "सुम्नाय सुम्निनी"[६]। उत्तमपरादिति किम्? "सब्दस्सगरस्सुमेकः"[७] ॥१२॥

वै०—(उत्तमपरात् अनुत्तमात् स्पर्शात्=) उत्तमव्यतिरिक्तेभ्यः प्रथमादिभ्यः स्पर्शेभ्यः उत्तमपरेभ्यः परतः; आनुपूर्व्यात् प्रथमादयो नासिक्या आगमा भवन्ति। यथा—"भवं यक्ना"[८] "सोमेन त्वाऽऽतनाच्मि"[९] इति प्रथमः। "ग्रन्थि ग्रथ्नातु"[१०] "विमथ्नानाः"[११] इति द्वितीयः। "अग्ने महान्"[१२] "इर्यः परिज्मा"[१३] इति तृतीयः। "इध्मो वेदिः"[१४] "दक्षनोत्येव भ्रातृव्यम्"[१५] इति चतुर्थः। स्पर्शादिति किम्? "कर्मणे वाम्"[१६]। अनुत्तमादिति किम्? "मा मेऽवाङ्नाभिमति"[१७]। उत्तमपरादिति किम्? "वाक्त आप्यायताम्"[१८]। अत्राभिनिधानादुत्तमपरात्परतो नासिक्यागमो न भवति। तस्य कार्यान्तरविधौ अविद्यमानवद्भावात् "प्रजापतिं प्रश्नमैताम्"[१९]। "अश्मन्नूर्जम्"।[२०] "विष्णोहव्यम्"[२१]। "उच्छुष्मा ओषधीनाम्"[२२]। "इन्द्रः ग्रस्नौतु"[२३]। "स्मो वयम्"[२४] ॥१२॥

तान्यमानेके ॥१३॥

मा०—एके आचार्यास्तान्नासिक्यान् यमानिति ब्रुवते। तान्येवोदाहरणानि ॥१३॥

क्रम के अनुसार; नासिक्याः=नासिक्य वर्ण; आगम होते हैं। प्रथम स्पर्श से बाद में प्रथम नासिक्य, द्वितीय से बाद में द्वितीय। इसी प्रकार अन्यत्र भी। जैसे—"तं प्रत्नथा"। "विमथ्नानाः"। "विद्मा ते अग्ने"। "दारूणि दध्मसि" इत्यादि स्पर्श से बाद में—यह क्यों (कहा)? "कल्माषी भवति.,। अनुत्तम (स्पर्श) से बाद में—यह क्यों (कहा)? "सब्दस्सगरस्सुमेकः" ॥१२॥

वै० अ०—(उत्तमपरात् अनुत्तमात् स्पर्शात्=) उत्तम (=वर्गों का पञ्चम वर्ण) है बाद में जिनके उन उत्तम (-स्पर्शों) से अन्य प्रथम आदि स्पर्शों के बाद में; अनुपूर्व्यात्=क्रम से; प्रथम आदि; नासिक्याः=नासिक्यों का; आगम होता है। ...। यहाँ उत्तमपर (वर्गों का अन्तिम वर्ण है बाद में जिसके उस) अभिनिधान से बाद में नासिक्य का आगम नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरी कार्य-विधि में अविद्यमान् के समान होता है।...॥१२॥

सू० अ०—उन (नासिक्यों) को कतिपय (आचार्य) यम (कहते हैं)।

---

(१) १।४।६	(२) ३।५।४	(३) ४।२।२	(४) ४।२।१०
(५) ५।१।१	(६) १।१।१३	(७) ४।४।७	(८) १।४।३६
(९) १।१।३	(१०) १।१।२	(११) ३।५।४	(१२) २।५।९
(१३) ७।१।२०	(१४) १।५।१०	(१५) ६।६।९	(१६) १।१।४
(१७) ३।२।५	(१८) १।३।६	(१९) २।५।११	(२०) ४।६।१
(२१) १।१।३	(२२) ४।२।६	(२३) ३।५।५	(२४) २।५।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—तान् नासिक्यान् एके शाखिनः यमान् ब्रुवते। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥१३॥

वै०—तान् स्पर्शेभ्यः परान् नासिक्यान् एके आचार्याः शिक्षाकाराः; (यमान्=) यमसंज्ञान्; प्राहुः। एतेषां नासिक्यानां शिक्षोक्तं संज्ञान्तरमिह किमर्थमुच्यते ? तदुक्तस्य क्वचित्तदभावस्य परिग्रहार्थम् ॥

तत्र शिक्षा—

वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते अत्यन्तं सूक्ष्ममुच्यते ॥
ऊष्मप्रकृतिकात्स्पर्शात्पञ्चमः परतो यदि।
तत्र नैव यमापत्तिरिष्यते नात्र संशयः ॥ इति ॥

अत्र वर्गान्तं शषसैस्सार्धम् इति अभिनिधानप्रयुक्तनासिक्यागमो निवर्त्यते। तत्पुरस्तादुदाहृतम्। "वर्गान्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्" इत्यनेन अन्तस्थापराद्युत्तमात्प्राङ्नासिक्यागमो निवर्त्यते। असिक्नियस्योषधे"[1]। "राज्ञयसि"[2]। "अधिपत्न्यसि"[3]। "अश्वं पोषयित्वा स नः"[4]। ऊष्मप्रकृतिकस्स्पर्शः स्पर्शपूर्वस्य शकारस्य आदेशभूतः छकारः—"यच्छमश्नुणः"[5]। "आदित्याञ्छ्मश्रुभिः"[6] ॥१३॥

त्रि० अ०—तान्=उन नासिक्यों को; एके=कतिपय शाखा वाले; यमान्=यम; कहते हैं। उदाहरण कह ही दिए गए है ॥१३॥

वै० अ०—तान्=उन; स्पर्शों से बाद वाले नासिक्यों को; एके=कतिपय शिक्षाकार आचार्य; (यमान्=) यम-संज्ञक; कहते हैं। इन नासिक्यों की शिक्षा में कही गई दूसरी संज्ञा (यम) यहाँ किसलिए कही जाती है ? इस विषय में शिक्षा-श, ष, स के साथ संयुक्त और अन्तस्था के साथ संयुक्त वर्गान्त (वर्गों के अन्तिम वर्ण) को देखकर यम निवृत्त हो जाते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म उच्चारण होता है। ऊष्म-वर्ण है प्रकृति जिसकी ऐसे स्पर्श से बाद में यदि पञ्चम वर्ण हो तो वहाँ यम की प्राप्ति अभीष्ट नहीं है—इस विषय में कोई संशय नहीं है।

यहाँ पर "श, ष और स के साथ संयुक्त वर्गान्त" के द्वारा अभिनिधानरूप (स्पर्श के बाद में) नासिक्य के आगम की निवृत्ति की जाती है। उसे पहले (२१ १२ के भाष्य में) उदाहृत किया जा चुका है। "अन्तःस्था के साथ संयुक्त वर्गान्त" इसके द्वारा अन्तःस्थापर (अन्तःस्था वर्ण है बाद में जिसके उस) उत्तम (वर्ग के पञ्चम वर्ण) के पहले नासिक्य के आगम की निवृत्ति की जाती है। "असिक्नियस्योषधे"। "राज्ञयसि"। "अधिपत्न्यसि"। "अश्वं पोषयित्वा स नः"। ऊष्म-वर्ण है प्रकृति (मूल) जिसकी वह स्पर्श=स्पर्श है पूर्व में जिसके वह शकार के स्थान पर आने वाले छकार—"यच्छमश्नुणः"। "आदित्याञ्छ्मश्रुभिः" ॥१३॥

---

(१) ब्रा० २।४।४ (२) ४।३।६ (३) ४।३।६ (४) १।१।१४
(५) २।१।१ (६) ५।७।१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकारान्नणमपरान्नासिक्यम् ॥१४॥

मा०—हकारान्नकार-णकार-मकार-परान्नासिक्यमभिधानमिच्छन्त्येके आचार्याः। यथा नः—"अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रे"[१]। यथा णः—"शरद्यपराह्णे"[२]। यथा मः—"ब्रह्म जज्ञानमिति"[३] ॥१४॥

त्रि०—हकारात् इति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी। (नणमपरात्=) तस्मात् नणमपरम्; हकारमारुह्य नासिक्यं भवति। सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः। "अह्नां केतुः"[१]। "अपराह्णे"[२]। "ब्रह्मवादिनः"[४] ॥१४॥

वै०—एक इत्यन्वयः। हकारात्खलु; (नणमपरात्=) नकारणकारमकार-परात्; परतः (नासिक्यम्=) नासिक्यागमम् एके आचार्या उपदिशन्ति। यमसंज्ञावादिभ्योऽन्ये वयमेवेति भावः। शिक्षाकारास्त्वेतं नासिक्यं नेच्छन्ति इत्यनेन ध्वन्यते। नकारे परतो यथा—"अपह्नुत एवास्मै"[५]। "मह्ना जिनोषि"[६]। णकारे यथा—"प्रति गृह्णातु"[७]। "अपराह्णे"[८]। मकारे यथा—"ब्रह्मवादिनः"[९]। "जिह्मं तस्य"[१०]। नणमपरादिति किम्? "मह्यं नमन्ताम्"[११]। नन्वयमागमविधिर्नोपपद्यते, प्रथमानिर्देशाभावात्। नैतदस्ति। अस्ति

सू० अ०—हकार से बाद में नासिक्य (का आगम होता) है यदि बाद में न, ण और म हो।

त्रि० अ०—हकारात्—यहाँ कर्म में ल्यप् का लोप होने पर पञ्चमी (विभक्ति) है। इसलिए (यह अर्थ हुआ)—(नणमपरात्=) न, ण, म है बाद में जिसके; उस हकार पर नासिक्य आरूढ़ हो जाता है। हकार आनुनासिक्य (गुण) से युक्त हो जाता है—यह अर्थ है। "अह्नां केतुः"। "अपराह्णे"। "ब्रह्मवादिनः" ॥ १४ ॥

वै० अ०—एके—यह अन्वय करना चाहिए। (नणमपरात्) हकारात्= नकार, णकार और मकार है बाद में जिससे उस हकार से बाद में कतिपय आचार्य; (नासिक्यम्=) नासिक्य के आगम का; उपदेश करते हैं। यम-संज्ञा मानने वालों से अन्य हम लोग ही—यह अर्थ है। शिक्षाकार तो इस नासिक्य को इष्ट नहीं मानते हैं—यह इससे ध्वनित होता है। नकार बाद में होने पर जैसे—"अपह्नुत एवास्मै"। "मह्ना जिनोषि"। णकार बाद में होने पर जैसे—"प्रति गृह्णातु"। "अपराह्णे"। मकार बाद में होने पर जैसे—"ब्रह्मवादिनः"। "जिह्मं तस्य"। नकार, णकार और मकार बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "मह्यं नमन्ताम्"। शंका—यह आगम का विधान उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि

---

(१) २।४।१४ (२) २।१।२ (३) ५।२।७ (४) १।७।१
(५) १।५।४ (६) २।२।१२ (७) १।१।५ (८) २।१।२
(९) १।७।१ (१०) २।५।११ (११) ४।७।१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यत्र प्रथमानिर्देशः—"आनुपूर्व्यान्नासिक्याः"[1] इति तेनास्मिन् प्रकरणे आगमविधानमुपपद्यते हकारादिति पञ्चमीनिर्देशश्चागमविधावेवोपपद्यते। यथा—"अघोषादूष्मणः परः"[2] "स्पर्शादनुत्तमात्"[3] इति। अस्मिंस्तु सूत्रे द्वितीयानिर्देशः एकेशब्दान्वयार्थः। नन्वयं शब्दान्तरादेशः किं न स्यात्? विकारिणोऽनुपदेशात्। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। असति तस्मिन् कस्यादेशस्स्यात्? गुणविधिस्तु नैव घटते। गुणविकारिणो गुणशब्दस्य च प्रथमानिर्देशे हि स भवति। यथा—"पूर्वस्वरोऽनुनासिकः"[4] "समानाक्षराण्यनुनासिकानि"[5] इति। प्रकरणविरुद्धश्च अत्र गुणविधिरागमाधिकारात्। न च "स्वरितात्संहितायाम्"[6] इतिवत् गुणमात्रपर्यवसायिना शब्देन गुणविधिरिहाश्रयितव्यः, नासिक्यशब्दस्य गुणपर्यवसायित्वायोगात्। नासिकायां भवो वर्णो नासिक्यः। भावप्रत्ययान्तत्वे तु न रूपसिद्धिः। "योपधाद्गुरूपोत्तमात्"[7] इति वुञ्विधानात्। प्रज्ञादित्वकल्पनायामपि नात्र गुणविधिर्घटते।

प्रथमा (विभक्ति) का निर्देश नहीं हुआ है। ऐसी बात नहीं है। क्योंकि यहाँ पर प्रथमा (विभक्ति) का निर्देश है—"...कम से नासिक्यों का आगम होता है"—इस (सूत्र) में। इसलिए इस प्रकरण में आगम का विधान उपपन्न होता है। 'हकार से'—यह पञ्चमी का निर्देश आगम-विधि में ही उपपन्न होता है। जैसे—"स्पर्श है बाद में जिसके ऐसे अघोष-वर्ण से बाद में उस स्पर्श के समान स्थान वाले प्रथम स्पर्श का अभिनिधान संज्ञक आगम होता है", "अनुत्तम स्पर्श से बाद में"—में। इस सूत्र में द्वितीया का निर्देश तो 'एके' शब्द के अन्वय के लिए है। (शंका) यह दूसरे शब्द (वर्ण) का आदेश क्यों नहीं है? (समाधान) क्योंकि (सूत्र में) विकारिन् का उल्लेख नहीं हुआ है। विकारिन् (कार्य को प्राप्त करने वाले=कार्यभाक्) होने पर कार्य (आदेश) होता है। उस (विकारिन्=कार्यभाक्) के न होने पर आदेश किसका होगा? गुण का विधान तो ठीक नहीं बैठता है। क्योंकि गुण के विकारिन् (कार्यभाक्) और गुण शब्द का प्रथमा (विभक्ति) में निर्देश होने पर वह (गुण का विधान) होता है। जैसे—"...पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण अनुनासिक हो जाता है।" "...समानाक्षर अनुनासिक हो जाते हैं"। और यहाँ गुण का विधान प्रकरण के विरुद्ध होगा, क्योंकि आगम का अधिकार चल रहा है। और न "संहिता में स्वरित से (परवर्ती अनुदात्तों का प्रचय हो जाता है)" की भाँति (नासिक्य) शब्द का केवल गुण में पर्यवसान करके यहाँ गुणविधि माननी चाहिए क्योंकि नासिक्य शब्द का पर्यवसान गुण में नहीं हो सकता। नासिका में (उच्चारित) होने वाला वर्ण=नासिक्य। भावप्रत्ययान्त मानने पर तो रूप की सिद्धि नहीं होगी। "योपधाद्गुरूपोत्तमात्" इस सूत्र से वुक् का विधान किया गया है। प्रज्ञा आदि की भाँति कल्पना करने पर भी यहाँ

---

(१) २१।१२ (२) १४।९ (३) २१।१२ (४) १५।१
(५) १५।६ (६) २१।१० (७) पा० ५।१।१३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणविकारिणष्षष्ठीनिर्देशाभावात्। तस्मादिह सूत्रशक्त्या वर्णान्तरागमविधिनिश्चयाच्छिक्षायामनुक्तोऽपि पञ्चमो नासिक्योऽस्माकमवश्याभ्युपगन्तव्यः। हकारस्य मकारान्तस्थापरस्योच्चारणे विशेषः शिक्षायां स्मर्यते—

न वायुं हमसंयोगे नासिकाभ्यां समुत्सृजेत्।
न वदेदुरसाऽत्यन्तं तथा यरलवेषु च ॥ इति ॥ ॥१४॥

रेफोष्मसंयोगे रेफस्स्वरभक्तिः ॥१५॥

मा०—रेफस्य ऊष्मणश्च संयोगे रेफः स्वररूपं भक्तिं भजते। योऽस्य समानकरणः स्वरः तद्भक्तिर्भवितुमर्हति। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन सधर्मा। भक्तिरवयव एकादेश इत्यनर्थान्तरम्। एतदुक्तं भवति—ऋकारावयवो भवतीति यावत्। ऋकारस्य तु आदितः स्वरपरः पादमात्रः अन्ते वा मध्यमे रेफोऽर्धमात्रः। एवं प्रकारस्य ऋकारस्य उत्तरार्धो भवतीत्यर्थः। रेफस्याणुमात्रत्वादर्धमात्र एव भवति। ऋकारे त्रयः अर्द्धमात्रास्वरभक्तयः सन्ति, आदौ मध्ये अन्ते च। रेफविधाने प्रयोजनं न + + + स न भवति। आदौ स्वरभक्तिः सोऽपि न भवति रेफस्यास्य अन्तस्वरूप + + त्। अन्ते यः स्वरभक्तिः स आदिस्वरूपः। आदिस्वरूपस्य चान्तस्वरूपस्य च सम्भवे आदिस्वरूप एव युक्तम्। यथा—"दर्शपूर्णमासौ यजेत"[1]। "मण्डूकेन वि कर्षति"[2]। बर्सन्नह्यत्यप्रस्रंसाय"[3]। इह कस्मान्न भवति। "यो वै श्रद्धाम्"[4]। "तेऽस्मात् स विस्रस्यः"[5] इति। "रेफोष्मसंयोगः" इति रेफस्य पूर्वनिहतो विवक्षितः ॥१५॥

त्रि०—(रेफोष्मसंयोगे =) रेफस्योष्मणश्च संयोगे सति; तत्रोष्मसंयुक्तो रेफस्स्वर-

---

गुण-विधि ठीक नहीं बैठती है क्योंकि गुण को प्राप्त करने वाले विकारी का षष्ठी में निर्देश नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ सूत्र की शक्ति से दूसरे वर्ण के आगम के विधान का निश्चय हो जाने से शिक्षा में न कहा गया भी पञ्चम नासिक्य हमारे द्वारा अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। मकार और अन्तःस्था है बाद में जिसके उस हकार का वैशिष्ट्य शिक्षा में कहा गया है—

हकार और मकार का संयोग होने पर वायु को पूरी तरह से नासिकाओं से नहीं छोड़ना चाहिए। उसी प्रकार (हकार का) य, र, ल, व के साथ संयोग होने पर (हकार) को पूरी तरह हृदय (छाती) से नहीं उच्चारित करना चाहिए।

सू० अ०—रेफ और ऊष्म (-वर्ण) का संयोग होने पर रेफ स्वरभक्ति (होती है)।

त्रि० अ०—(रेफोष्मसंयोगे =) रेफ और ऊष्म (-वर्ण) का संयोग होने

---

(१) २।५।४ (२) ५।४।४ (३) २।५।७ (४) १।६।८ (५) २।६।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तिः इति जानीयात्। स्वरभक्तिरिति कीदृशी ? स्वरस्य भक्तिः, स्वरभक्तिः। भक्तिः भागः अवयवः एकदेश इति यावत्। योऽस्य रेफस्य समानकरणः स्वरः तद्भक्तिः स्यात्। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन श्रुत्या च समानधर्मः। एतदुक्तं भवति—ऋकारस्यावयवो भवतीत्यर्थः [भवतीति] सूत्रेणानेन स्वरभक्तिरेवं विहिता। स्वरभक्तिस्वरूपं तु विस्पष्टं व्याचष्टे वररुचिः—"ऋकारादिरणुमात्रा, रेफोऽर्धमात्रा मध्ये, शेषा स्वरभक्तिरणुमात्रा" इति। अस्यायमर्थः—

इन्द्रियाविषयो योऽसावणुरित्युच्यते बुधैः।
चतुर्भिरणुभिर्मात्रापरिमाणमिति स्मृतम्॥

मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रः स्वरभागः, मध्ये रेफः अर्धमात्रः, अन्तेऽप्यणुमात्रः स्वरभागः। एतत् ऋकारस्वरूपम्। अत्र ऋकारमध्यवर्तिनि रेफेऽर्धमात्रे विभज्यमाने सति तौ भागौ पूर्वोत्तराणुसहितौ प्रत्येकं स्वरभक्तिनामधेयं भजेते। सा च स्वरभक्तिरर्धमात्रा। कुत्र का स्वरभक्तिरित्याशङ्क्य च शिक्षाकारैरुक्तम्—

पर; वहाँ ऊष्म (-वर्ण) के साथ संयुक्त रेफस्वरभक्ति जाननी चाहिए। स्वरभक्ति किस प्रकार की होती है ? स्वर की भक्ति = स्वरभक्ति। भक्ति = भाग = अवयव = एकदेश। जो इस रेफ के समान उच्चारणावयव वाला स्वर है उसकी भक्ति होती है और ऋकार इस (= रेफ) के समान धर्म वाला (स्वर) है, क्योंकि (रेफ के समान) इस (ऋकार) का उच्चारणावयव जिह्वा का अग्र भाग है और यह (ऋकार) र के समान सुनाई पड़ता है। कथन का तात्पर्य यह है—ऋकार का अवयव होता है—यह अर्थ है। इस सूत्र से स्वरभक्ति का इस प्रकार विधान किया गया है। स्वरभक्ति के स्वरूप को तो वररुचि ने स्पष्ट रूप से कहा है—ऋकार की आदि अणु मात्रा, मध्य में अर्द्ध मात्रा रेफ और शेष स्वरभक्ति अणु-मात्रा। इसका यह अर्थ है—

विद्वानों के द्वारा जो यह अणु कहा जाता है वह इन्द्रिय का विषय नहीं होता है। चार अणुओं से एक मात्रा का परिमाण होता है—यह कहा गया है।

एक मात्रा वाले ऋकार की चौथाई मात्रा स्वर-भाग होता है, मध्य में आधी मात्रा रेफ होता है, अन्त में भी चौथाई मात्रा स्वर-भाग होता है। यह ऋकार का स्वरूप है। इनमें से ऋकार के मध्यवर्ती आधी मात्रा वाले रेफ के विभक्त होने पर वे दोनों भाग पूर्ववर्ती और परवर्ती चौथाई (स्वर-भाग) के सहित पृथक्-पृथक् स्वरभक्ति नाम को प्राप्त करते हैं। और वह स्वरभक्ति आधी मात्रा वाली होती है। कहाँ पर कौन सी स्वरभक्ति (होती है)—यह शङ्का करके शिक्षाकारों के द्वारा कहा गया है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शषसेषु स्वरोदयां हकारे व्यञ्जनोदयाम्।
शषसेषु तु विवृतां हकारे संवृतां विदुः ॥इति॥

"यो वै श्रद्धाम्"[१] इत्यादौ सूत्रोक्तक्रमाभावात् न स्वरभक्तिः। स्वरभक्त्यन्तरमपि शिक्षायामुक्तम्—

करेणुः कर्विणी चैव हरिणी हारितेति च।
हंसपदेति विज्ञेया पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥

कीदृश्य एता इति चेत्—

करेणू रहयोर्योगे कर्विणी लहकारयोः।
हरिणी रशसानां च हारिता लशकारयोः॥
या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः।
एवं पञ्चविधां भक्तिमुच्चरेत्स्वर्गकामुकः॥

यथा करेणुः—"बर्हिः"[२]। कर्विणी—"मल्हाः"[३]। हरिणी—"दर्शपूर्णमासौ"[४]। हारिता—"सहस्रवल्शाः"[५]। हंसपदा—"वर्षाभ्यः"[६] इत्यादि ॥१५॥

श, ष और स बाद में होने पर स्वरोदया (स्वर तत्त्व है बाद वाले अंश में जिसके ऐसी) (स्वरभक्ति होती है); हकार बाद में होने पर व्यञ्जनोदया (व्यञ्जन तत्त्व हैं बाद वाले अंश में जिसके ऐसी) (स्वरभक्ति होती है)। श, ष और स बाद में होने पर तो विवृत्त और हकार बाद में होने पर संवृत (स्वरभक्ति) जानते हैं।

"यो वै श्रद्धाम्" इत्यादि में सूत्रोक्त क्रम का अभाव होने से स्वरभक्ति नहीं (होती है)। दूसरी स्वरभक्तियाँ भी शिक्षा में कही गई हैं—

करेणु, कर्विणी, हरिणी, हारिता और हंसपदा—इन पाँच स्वरभक्तियों को जानना चाहिए।

ये (स्वरभक्तियाँ) कैसी (होती हैं) यदि यह कहते हो तो सुनो—

र और ह के संयोग में करेणु; ल और हकार के (संयोग में) कर्विणी; र और श, ष के (संयोग में) हरिणी तथा ल और शकार के (संयोग में) हारिता (होती है)। जो हंसपदा नामक (स्वरभक्ति होती है) वह तो रेफ और षकार के (संयोग में होती है)। स्वर्ग चाहने वाले व्यक्ति को इस प्रकार (विहित) पाँच प्रकार की स्वरभक्ति का उच्चारण करना चाहिए। जैसे करेणु—"बर्हिः"। कर्विणी—"मल्हाः"। हरिणी—"दर्शपूर्णमासौ"। हारिता—"सहस्रवल्शाः"। हंसपदा—"वर्षाभ्यः" इत्यादि ॥ १५ ॥

---

(१) १।६।८ (२) १।१।२ (३) २।१।२ (४) २।२।५
(५) ६।३।३ (६) ७।२।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—गुणविधिरयं, "पूर्वस्वरोऽनुनासिकः"[1] इत्यादिवत्प्रथमानिर्देशात्। न तु वर्णान्तरविधिः, द्वितीयानिर्देशाभावात्। रेफस्योष्मणश्च निर्देशक्रमेण संयोगे सति रेफः स्वरभक्तिर्भवति। भज्यत इति भक्तिः, धर्मः। स्वरस्येव भक्तिर्यस्य स तथोक्तः। स्वरधर्मो भवतीति यावत्। केनास्य स्वरेण साधर्म्यं विधीयते? योऽस्य सदृशतरः ऋकारः। किमस्य तत्साधर्म्यम्? मात्रिकत्वं प्रधानता च, "वैश्वव्यचसं वर्षाणि"[2]। "बर्सं नह्यति"[3]। "गार्हपत्यमुप तिष्ठते"[4]। "पर्शुर्वेदिः"[5]। असंश्लिष्टोऽत्र रेफ ऊष्मणेति ह्रस्वकालादल्पतरेण कालेन न शक्यते प्रयोक्तुम्। न च व्यञ्जनयोर्मध्ये विरामोऽस्ति। अतोऽत्र रेफस्य मात्रिकत्वमवश्यास्युपगन्तव्यम्। स्वप्रधानता तु क्वचिदेवेष्यते, पूर्वाङ्गत्वविधानसामर्थ्यात्। न च स्वरसाधर्म्यविधिर्मात्रिकत्वमात्रेण कृतार्थो भवति। तथात्वे हि मात्रिकत्वमेव साक्षाद्विधेयमिति स्वरसाधर्म्यमविधेयं स्यात्। तस्मात्स्वरभक्ते रेफस्य क्वचित्पूर्वाङ्गत्वं क्वचित्स्वप्रधानतेति द्वयं व्यवस्थितमाश्रीयते। तद्विवेकस्तु शिक्षोक्तः परिगृह्यते। तद्यथा—

वै० अ—"·· पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है" इत्यादि के समान प्रथमा के निर्देश से यह गुणविधि है। द्वितीया के निर्देश के अभाव से यह वर्णान्तर का विधान नहीं है। रेफ और ऊष्म (-वर्ण) का निर्देश के क्रम से संयोग होने पर रेफ स्वरभक्ति होती है। प्राप्त किया जाता है (धारण किया जाता है)—इस (व्युत्पत्ति) से भक्ति=धर्म। स्वर के समान भक्ति (=धर्म) है जिसका वह उस प्रकार कहा गया (स्वरभक्ति) है। स्वर के धर्म वाला हो जाता है—यह तात्पर्य है। किस स्वर के साथ इस (रेफ) के साधर्म्य का विधान किया जा रहा है? जो (स्वर) इस (रेफ) के बहुत सदृश है=ऋकार। इस (रेफ) का वह साधर्म्य क्या है? एक मात्रा वाला होना और अपनी प्रधानता "वैश्वव्यचसं वर्षाणि"। "बर्सं नह्यति"। "गार्हपत्यमुपतिष्ठते"। "पर्शुर्वेदिः"। ऊष्म (-वर्ण) के साथ पूर्णरूपेण न सम्बद्ध रेफ यहाँ ह्रस्व (स्वर) के काल से अल्पतर काल में उच्चारित नहीं हो सकता है। और दो व्यञ्जनों के मध्य में विराम नहीं है। इसलिए यहाँ रेफ को एक मात्रा वाला अवश्य मानना चाहिए। पूर्ववर्ती (स्वर) के अङ्ग होने के विधान के सामर्थ्य से स्वकीय प्रधानता तो कहीं पर ही अभीष्ट होती है। और स्वर के साधर्म्य का विधान केवल मात्रा काल वाला होने से कृतार्थ नहीं होता है। क्योंकि वैसी स्थिति होने पर मात्रा काल वाला होने का साक्षात् विधान करना चाहिए था, स्वर के साधर्म्य का विधान नहीं करना चाहिए था। इसलिए स्वर धर्म वाले रेफ का कहीं पर पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होना और कहीं पर स्वकीय प्रधानता—इन दोनों का व्यवस्थित रूप में आश्रय लिया जाता है। उनका अन्तर तो शिक्षा में कहा गया यहाँ स्वीकार किया जाता है। जैसे—

---

(१) १५।१ (२) ४।३।२ (३) २।५।७
(४) १।५।८ (५) ३।२।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वारात्परा स्वरभक्तिः स्वप्रधाना प्रकीर्तिता।
ऋतस्य धूर्षदं चेति स्वतन्त्रा भक्तिरिष्यते॥

अत्र पूर्वार्धेन पूर्वस्वरितनिमित्तं स्वरभक्तेः स्वातन्त्र्यमुच्यते। "यद्दर्शपूर्णमासौ"[१]। "दशर्षभामा लभेत"[२]। "धीतिभिर् हितः"[३]। "यद्वार्हस्पत्यश्चरुः"[४]। यत्र तु स्वरितः प्रतिषिध्यते "नोदात्तस्वरितपरः"[५] इति तत्र निमित्ताभावान्नैमित्तिकं स्वातन्त्र्यं न भवति। "अन्नमिव खलु वै वर्षम्"[६]। "यदुखा शीर्षन्नेव"[७]। "बर्सं नह्यति"[८]। "ऋषिर् होता"[९]। "स शीर्षेति स—शीर्षा"[१०]। "ऋतस्य धूर्षदम्"[११] इत्यत्र त्वनिमित्तं स्वातन्त्र्यमुच्यते। क्वचित्स्वरितपूर्वकत्वेऽपि स्वातन्त्र्याभावः शिक्षायां स्मर्यते—

स्वाराद्दीर्घात्पदान्तस्थात्स्वरभक्तिस्तु या भवेत्।
साऽपि पूर्वस्वराङ्गं स्याद्दोषावस्तोर्हविष्मती॥इति॥

एतेन लकारस्याप्यूष्मपरस्यैवं स्वरभक्तित्वं प्रदर्शितं वेदितव्यम् अध्ययनानुरोधात्, "हारिता

स्वरित से बाद में स्थित स्वरभक्ति को स्वप्रधान कहा गया है। "ऋतस्य धूर्षदम्" में भी स्वतन्त्र स्वरभक्ति अभीष्ट है।

यहाँ पूर्वार्ध के द्वारा पूर्ववर्ती स्वरित के निमित्त स्वरभक्ति के स्वातन्त्र्य को कहा जाता है। (जैसे) "यद्दर्शपूर्णमासौ"। "दशर्षभामा लभेत"। "धीतिभिर् हितः"। "यद्वार्हस्पत्यश्चरुः"। किन्तु जहाँ पर "उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर (उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित) नहीं (होता है)"—के द्वारा स्वरित का निषेध किया जाता है वहाँ निमित्त का अभाव होने से नैमित्तिक स्वातन्त्र्य नहीं होता है। "अन्नमिव खलु वै वर्षम्"। "यदुखाशीर्षन्नेव"। "बर्सं नह्यति"। "ऋषिर् होता"। "स शीर्षेति स—शीर्षा"। "ऋतस्य धूर्षदम्"—यहाँ पर तो निमित्त के अभाव में (भी) स्वातन्त्र्य को कहा जाता है। कहीं पर स्वरित पूर्व में होने पर भी स्वातन्त्र्य का अभाव शिक्षा में कहा जाता है—

दीर्घ और पदान्त में स्थित स्वरित से बाद में जो स्वरभक्ति होती है वह भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होती है, जैसे "दोषावस्तोर्हविष्मती" में।

इससे ऊष्म (-वर्ण) बाद में होने पर लकार का भी स्वरभक्ति होना प्रदर्शित है—यह जानना चाहिए—अध्ययन के अनुरोध से और हारिता ल और

---

(१) १।६।७ (२) २।१।४ (३) ४।२।७ (४) ५।६।५
(५) १४।३१ (६) ५।४।९ (७) ५।१।७ (८) २।५।७
(९) ४।६।२ (१०) ५।५।४ (११) ब्रा० १।२।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लशकारयोः" "कर्विणी लह्कारयोः" इति शिक्षावचनाच्च। "शतवल्शं वि रोह"[1] इति स्वप्रधानः। "सहस्रवल्शा वि वयꣳरुहेम"[1], "आदित्यां मल्हाम्"[2] इति पूर्वाङ्गता। मात्रिकत्वं तु समानम्। ये तु रेफलकारयोरत्र ऋकारार्धं ऌकारार्धं चादेशमिच्छन्ति, तेषां विवृत्तिविरामस्स्यात्। न च तत्तुल्यतागुणो विधीयत इति युक्तम्, तद्वाचकशब्दाभावात् मात्राहान्योच्चारणेऽनुपपत्तिप्रसङ्गाच्च ॥ १५ ॥

न क्रमे प्रथमपरे प्रथमपरे ॥ १६ ॥

मा०—न खलु रेफ ऊष्मपरः क्रमे प्रथमपरे चोष्मणि स्वरभक्तिर्भवति। यथा क्रमे—"वर्षाभ्यः स्वाहा"[3]। प्रथमपरे—"वर्ष्टा पर्जन्यः"[4]। क्रम इति किम्? स्वरोऽनुस्वारो विहितो द्विरुच्येत। संयोगादिर्यः स विक्रमः ॥ १६ ॥

त्रि०—क्रमशब्दो द्वित्वपर्यायः। कथमेतत्? "प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः"[5] इत्यत्र द्वित्वस्यैव क्रमशब्देनाभिधानात्। अत्रापि स एवार्थ इति निश्चिनुमः। ऊष्मणः क्रमे सति तस्मिन्नूष्मणि प्रथमपरे वा सति न स्वरभक्तिर्भवति। क्रमे यथा—"दार्श्यम्"[6]। "वर्ष्याभ्यः"[7] "बर्स्वेभिः"[8] "एतर्ह्यारूढः"[9]। प्रथमपरे यथा—"अदर्श्रम ज्योतिः"[10]।

शकार के (संयोग में), कर्विणी ल और हकार के (संयोग में)—इस शिक्षा के वचन से भी (यह सिद्ध होता है)। "शतवल्शं वि रोह" में स्वकीय प्रधान (स्वरभक्ति है)। "सहस्रवल्शा वि वयꣳरुहेम", "आदित्यानां मल्हाम्"—यहाँ (स्वरभक्ति) पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग है। मात्रा-काल वाला होना—यह तो (सब में) समान है। किन्तु जो लोग रेफ और लकार के स्थान में यहाँ आधे ऋकार और आधे ऌकार का आदेश अभीष्ट मानते हैं, उनके मत में विवृत्ति-विराम हो जायेगा ॥ १५ ॥

सू० अ०—(परवर्ती ऊष्म-वर्ण का) द्वित्व होने पर और (ऊष्म-वर्ण के) बाद में प्रथम (स्पर्श) होने पर (स्वरभक्ति) नहीं (होती है)।

त्रि० अ०—क्रम शब्द द्वित्व का पर्यायवाची है। यह कैसे? क्योंकि 'प्रकृति, विक्रम और क्रम (इन सबको वेद पढ़ने वाले को जानना चाहिए)"—यहाँ क्रम शब्द से द्वित्व का ही अभिधान हुआ है। यहाँ भी वह ही अर्थ है—यह निश्चित करते हैं। ऊष्म (-वर्ण) का द्वित्व (क्रम) होने पर और उस ऊष्म (-वर्ण) के बाद में प्रथम स्पर्श होने पर स्वरभक्ति नहीं होती है। द्वित्व होने पर जैसे—"दार्श्यम्"। "वर्ष्याभ्यः", "बर्स्वेभिः", "एतर्ह्यारूढः"। प्रथम

---

(१) १।१।२ (२) १।८।१६ (३) ७।४।१३ (४) ७।५।२०
(५) २४।५ (६) ३।२।२ (७) ७।४।१३ (८) ५।७।११
(९) ५।१।५ (१०) ३।२।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कार्ष्णी उपानहौ"[१]। "वर्ष्टा पर्जन्यः"[२]। प्रथमः परो यस्मादसौ प्रथमपरः ॥ १६ ॥

वै०—क्रमो नाम द्वित्वम्। परस्योष्मणः; (क्रमे=) द्वित्वे; प्रथमपरे च तस्मिन् सति ततः पूर्वो रेफस्स्वरधर्मो न भवति। "अदर्श्म ज्योतिः"[३]। "दार्श्यं यज्ञम्"[४]। "वर्ष्याभ्यस्स्वाहा"[५]। "वर्ष्म स्थलम्"[६]। "मृदं बर्स्वेभिः"[७]। "यर्ह्यनदाहुतिः"[८]। इति क्रमः। "अनु मार्ष्टु"[९]। "वर्ष्टा पर्जन्यः"[१०] इति प्रथमपरत्वम् ॥ १६ ॥

(स्पर्श) बाद में होने पर जैसे—"अदर्श्म ज्योतिः"। "कार्ष्णी उपानहौ"। "वर्ष्टा पर्जन्यः"। प्रथम (स्पर्श) है बाद में जिससे वह=प्रथमपरः ॥ १६ ॥

वै० अ०—क्रम का अर्थ है द्वित्व। परवर्ती ऊष्म (-वर्ण। का; (क्रमे=) द्वित्व होने पर; और; प्रथमपरे=उसके बाद में प्रथम स्पर्श होने पर; उससे पूर्ववर्ती रेफ स्वर-धर्म वाला नहीं होता है। "अदर्श्म ज्योतिः"। "दार्श्यं यज्ञम्"। "वर्ष्याभ्यस्स्वाहा"। "वर्ष्म स्थलम्"। "मृदं बर्स्वेभिः"। "यर्ह्यनदाहुतिः"—यह द्वित्व है। "अनु मार्ष्टु"। "वर्ष्टा पर्जन्यः"—यह प्रथमपरत्व (का उदाहरण है) ॥ १६ ॥

---

(१) ५।४।४ (२) ७।५।२० (३) ३।२।५ (४) ३।२।२
(५) ७।४।१३ (६) ३।४।८ (७) ५।७।११
(८) ५।१।३ (९) १।४।४४ (१०) ७।५।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

शब्दः प्रकृतिः सर्ववर्णानाम् ॥१॥

मा०—प्रकृतिस्तस्य चोत्पत्तिरित्यर्थः। सा व्याख्याता पुरस्तात् "वायुशरीरसमीरणात्"[1] इति ॥१॥

त्रि०—सर्ववर्णानाम् शब्दः ध्वनिः प्रकृतिः मूलकारणं भवति। वर्णशब्देन स्वरव्यञ्जनात्मको राशिरुच्यते। सर्वे च ते वर्णाश्च सर्ववर्णाः तेषां सर्ववर्णानाम् ॥१॥

वै०—इदानीं प्रकृत्यादिनिरूपणमुखेन वर्णात्मिकाया वेदवाचः प्रयोगो लक्ष्यते—

अनेन वर्णात्मकानां शब्दानामुपादानकारणमुच्यते। अनादिनिधनो विभुः एकश्शब्दो; ब्रह्मव्यपदेशभाक् (सर्ववर्णानाम्=) सर्वेषां वर्णानाम्; प्रकृतिरुपादानकारणं भवति, स्तिमितवायुरिव तालवृन्तपवनानाम्। तेन "वायुशरीरसमीरणा"[1] दीनि पूर्वोक्तानि सर्वाणि कारणानि निमित्तान्येव भवन्ति ॥१॥

तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम् ॥२॥

मा०—तस्य शब्दस्य प्रातिश्रुत्कविशेषात् रूपान्यत्वाद्वर्णान्यत्वं भवति। एवं प्रकृतस्य शब्दस्य रूपान्यत्वविशेषान्नानात्वं वर्णानां भवति। यथा—अ इ उ इति ॥२॥

सू० अ०—ध्वनि (शब्द) सभी वर्णों का मूल-कारण (प्रकृति) (होता है)।

त्रि० अ०—सर्ववर्णानाम्=सभी वर्णों का; शब्दः=ध्वनि; प्रकृतिः=मूल-कारण; होता है। वर्ण शब्द से स्वरव्यञ्जनात्मक राशि का कथन होता है। वे (स्वर और व्यञ्जन) सभी वर्ण=सर्ववर्ण; उनका=सर्ववर्णानाम् ॥१॥

वै० अ०—अब प्रकृति इत्यादि के निरूपण के द्वारा वर्णात्मक वेद-ध्वनि के प्रयोग का लक्षण किया जाता है—

इसके द्वारा वर्णात्मक शब्दों के उपादानकारण (मूल-कारण) को कहा जाता है। आदि और अन्त से रहित, सर्वव्यापक, अद्वितीय और ब्रह्म नाम को धारण करने वाला शब्द; (सर्ववर्णानाम्=) सभी वर्णों की; प्रकृति=उपादान कारण (मूलकारण) होता है, जैसे निश्चल (शान्त) वायु पंखों इत्यादि की वायु का (मूल-कारण होता है)। इससे "शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने से"—इत्यादि पहले कहे गए सभी कारण निमित्त ही होते हैं ॥१॥

सू० अ०—उस (शब्द) का (अनुप्रदान आदि मूलकारणों से) रूप-भेद होने पर वर्ण-भेद (हो जाता है)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—प्रातिश्रुत्कस्थानभेदात् तस्य शब्दस्य प्रकृतिभूतस्य, रूपान्यत्वे सति वर्णान्यित्वं स्यात्। यथा—अ इ उ इत्यादि ॥२॥

वै०—तस्य शब्दस्य अनुप्रदानादिभिः कारणैः; (रूपान्यत्वे =) रूपभेदे जन्यमाने; (वर्णान्यत्वम् =) वर्णभेदः; सम्पद्यते। तस्माच्छब्दं प्रयुञ्जानः तत्सामान्यविशेषकारणैः पूर्वोक्तैः प्रयुञ्जीत ॥२॥

तत्र शब्दद्रव्याण्युदाहरिष्यामः ॥३॥

मा०—तेषां वर्णानां संघातप्रयोगे शास्त्रमित्युच्यते। तस्य शब्द इति पर्यायनाम। तस्मिन् शास्त्रे यानि द्रव्याणि भवन्ति, तान्युदाहरिष्यामः। यद्यत्कर्म येन येन क्रियते तत्तस्य द्रव्यमित्युच्यते। यथा—घटस्य मृदिति। एवं शास्त्रस्य वर्णाः। तानि शास्त्रद्रव्याणि वक्ष्यामः ॥३॥

त्रि०—तेषां वर्णानां सर्वत्र संघातप्रयोगे सति शास्त्रमित्युच्यते। तस्य शब्द इति पर्यायनाम। तत्र = तस्मिंच्छास्त्रे यानि द्रव्याणि भवन्ति, तान्युदाहरिष्यामः। यत् कर्म येन क्रियते, तत्तस्य द्रव्यं साधनमिति यावत्। यथा—घटस्य मृदिति एवं शास्त्रस्य वर्णाः। यानि द्रव्याणि संव्यवहारार्थानि कर्त्तव्यानि तानि व्याख्यास्यामः। शब्दस्य द्रव्याणि, शब्द-द्रव्याणि तानि ॥३॥

त्रि० अ०—ध्वनि प्रदान करने वाले स्थानों के भेद से; तस्य = उस प्रकृति-भूत शब्द के; रूपान्यत्वे = रूप का अन्यत्व होने पर; वर्णान्यत्वम् = वर्ण का अन्यत्व; होता है। जैसे—अ इ उ इत्यादि ॥२॥

वै० अ०—अनुप्रदान आदि कारणों से; तस्य = उस शब्द के; (रूपान्यत्वे =) रूप में भेद होने पर; (वर्णान्यत्वम् =) वर्ण का भेद; सम्पन्न होता है। इसलिए शब्द का प्रयोग (उच्चारण) करने वाले व्यक्ति को उस पूर्वोक्त (शब्द) के सामान्य और विशेष कारणों की सहायता से उच्चारण करना चाहिए।

सू० अ०—यहाँ शब्द (शास्त्र) के द्रव्य (साधनों) के उदाहरण बतलायेंगे।

त्रि० अ०—उन वर्णों का सर्वत्र सामूहिक रूप से प्रयोग होने पर शास्त्र कहा जाता है। उसका शब्द—यह पर्यायवाची है। तत्र = वहाँ = उस शास्त्र में; जो; द्रव्याणि = द्रव्य (साधन) होते हैं, उनको; उदाहरिष्यामः = उदाहृत करेंगे। जो कर्म जिससे किया जाता है, वह उसका द्रव्य = साधन है। जैसे घट का मिट्टी (द्रव्य है) उसी प्रकार शास्त्र का (द्रव्य) वर्ण हैं। जो द्रव्य व्यवहार के लिए किये जाते हैं उनकी व्याख्या करेंगे। शब्द के द्रव्य = शब्दद्रव्याणि, उनको ॥३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तत्र = वर्णविषये; संशये सति लक्षणतो निर्णयः कार्यः। लक्षण च विदितार्थमेव सत्तन्निर्णयाय प्रभवतीति तद्व्याख्यानरूपा परिभाषा प्रस्तूयते—

तत्र वर्णविषये सन्देहनिवर्तकलक्षणोपकारकाणि; (शब्दद्रव्याणि =) शब्दरूपाणि; साधनानि; (उदाहरिष्यामः =) वर्णयिष्याम इति प्रतिज्ञा ॥३॥

वर्णकारौ निर्देशकौ ॥४॥

मा०—वर्णशब्दश्च कारशब्दश्च निर्देशवाचकौ स्याताम्। यत्र यत्र वर्णशब्दः श्रूयते तत्र निर्देशोऽयमिति वेदितव्यः। यथा—"अवर्णव्यञ्जनशकुनि"[1] इति। "अथ षकारं सकार-विसर्जनीयौ"[2] इति ॥४॥

त्रि०—(वर्णकारौ =) वर्णशब्दः कारशब्दश्च; निर्देशकौ = वाचकौ स्याताम्। यथा—"अवर्णव्यञ्जनशकुनि"[1] इति। "अथ षकारं सकारविसर्जनीयौ"[2] इति। वर्णश्च कारश्च वर्णकारौ ॥४॥

वै०—तं प्रतिज्ञातं वर्णयति—

(वर्णकारौ =) वर्णशब्दः कारशब्दश्च; वर्णानां स्वरूपनिर्देशकौ भवतः। वर्णशब्दो यथा—"अवर्ण"[3], "इवर्ण"[4] इति। कारशब्दः—"अकारः"[5] "आकारः"[6] "ककारः"[6]

वै० अ०—वहाँ = वर्ण के विषय में; संशय होने पर लक्षण से निर्णय करना चाहिए। लक्षण ज्ञात अर्थ वाला होने से ही उस (वर्ण-विषयक संदेह) के निर्णय के लिए समर्थ होता है—इसलिए उस (= लक्षण) की व्याख्यान के रूप में परिभाषा प्रस्तुत की जाती है—

तत्र = वहाँ = वर्ण—विषय में; संदेह की निवृत्ति करने वाले और लक्षण के उपकारक; (शब्दद्रव्याणि =) शब्द-रूप साधनों का; (उदाहरिष्यामः =) वर्णन करेंगे—यह प्रतिज्ञा है ॥३॥

सू० अ०—वर्ण और कार (वर्णों के स्वरूप के) निर्देशक हैं।

त्रि० अ०—(वर्णकारौ =) 'वर्ण' शब्द और 'कार' शब्द; निर्देशकौ = निर्देशक = वाचक; होते हैं। जैसे—"अवर्ण, व्यञ्जन, शकुनि (पूर्व में होने पर सकार षकार नहीं होता है", "सकार और विसर्जनीय षकार हो जाते हैं"। वर्ण और कार = वर्णकारौ ॥४॥

वै० अ०—उस प्रतिज्ञात (शब्द-रूप) का वर्णन करते हैं—

(वर्णकारौ =) वर्ण शब्द और कार शब्द, वर्णों के स्वरूप के निर्देशक होते हैं। वर्ण शब्द जैसे—"अवर्ण", "इवर्ण"। कार शब्द—"अकार", "आकार"

---

(१) ६।७ (२) ६।१ (३) २।१२; ६।७; ७।५; ८।१६; ९।९; १०।३, १९ (४) २।२२; १०।४, १५; ११।१ (५) १।१७, २१, ३२, ५२; २।२१, २६; ४।६; ८।२३; ९।७, १३; ११।१, ६; १५।८; २०।४ (६) ५।३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'खकारः' इति। एतच्च रेफादीनां प्रदर्शनम्। "रेफे जिह्वाग्रमध्येन"[१] "चपरः"[२] "शकार-श्छकारम्"[३] "कवर्गः"[४] "चवर्गः"[५] इति ॥४॥

चापीत्यन्वादेशकौ ॥५॥

मा०—चशब्दश्च अपिशब्दश्चान्वादेशकौ भवतः। यत्र यत्र चशब्दो वा अपिशब्दो वा श्रूयते तत्र तत्रान्वादेशोऽयमिति वेदितव्यः। यथा—"स म ह द थ पित्पूर्वश्च"[६]। "इति—परोऽपि"[७] इति ॥५॥

त्रि०—च अपि इत्येतौ अन्वादेशकौ स्याताम्। पूर्वापेक्षया अन्वादेश इत्युच्यते। यथा—"असदामासिञ्चश्च"[८] "इतिपरोपि"[७] ॥५॥

वै०—च अपि इत्येतौ शब्दौ पूर्वप्रयुक्तस्य शब्दस्य; (अन्वादेशकौ=) अनुकर्षणौ; भवतः। यथा—"द्यावापृथिवी"[९] "पूर्वश्च"[१०] "एकव्यवेतोऽपि"[११] इति। क्वचिद्विशेषण-निर्देशोऽपि विशेष्यमाकर्षति "आसन्नश्च सन्देहे"[१२] इति। यथा—"जपरो जकारम्"[१३]। इत्यादि ॥ ५ ॥

"ककार" "खकार"। और ये रेफ इत्यादि के उदाहरण हैं—"रेफ (के उच्चारण में) जिह्वा के अग्र भाग के मध्य से" "च बाद में होने पर" "शकार छकार (हो जाता है" "कवर्ग" और "चवर्ग" इत्यादि ॥४॥

सू० अ०—च और अपि अन्वादेशक हैं।

त्रि० अ०—च और अपि-ये दोनों; अन्वादेशकौ=अन्वादेशक; होते हैं। पूर्व (उक्त) की अपेक्षा (आवश्यकता, उल्लेख) अन्वादेश कहा जाता है। जैसे-"असदाम और असिञ्चन (का सकार) भी (षकार हो जाता है")—"इति बाद में होने पर भी"-प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त अपि शब्द सिंहावलोकन न्याय से ३।१ से 'विभागे' का अन्वादेश करता है) ॥५॥

वै० अ०—च और अपि—ये दोनों शब्द पूर्व में प्रयुक्त शब्द की; (अन्वादेशकौ=) अनुवृत्ति करने वाले होते हैं। जैसे—"द्यावापृथिवी…" "(द्यावापृथिवी से) पूर्व वाला भी (पदान्त ईकार अथवा एकार ग्रग्रह होता है)" "एक (पद) से व्यवहित होने पर भी (द्वे से परवर्ती पदान्त ईकार अथवा एकार ग्रग्रह होता है" इत्यादि। कहीं विशेषण का निर्देश भी विशेष्य की अनुवृत्ति करता है "सन्देह होने पर निकटवर्ती (पद अथवा वर्ण) को (ग्रहण करना चाहिए)" इस (सूत्र) से। जैसे—"जकार बाद में होने पर (तकार) जकार को (प्राप्त करता है)" इत्यादि ॥५॥

---

(१) २।४१ (२) ५।४, २० (३) ५।३४ (४) २।३५
(५) २।३६ (६) ४।७ (७) ४।४ (८) ६।३ (९) ४।१२
(१०) ४।१३, १६; ५।३७ (११) ४।५१ (१२) १।२५ (१३) ५।२३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः ॥६॥

मा०—तुशब्दः, अथशब्दः, एवशब्दः इत्येते आनुपूर्व्येण विनिवर्त्तके अधिकारे अवधारणे च भवन्ति। यत्र यत्र तुशब्दः श्रूयते तत्र तत्र विनिवर्त्तनमिति वेदितव्यम्; यत्र यत्र अथशब्दः श्रूयते तत्र तत्राधिकार इति; यत्र यत्र एवशब्दः श्रूयते तत्र तत्रावधारणमिति। यथा—"एफस्तु रस्य"[1], "अथ संहितायामेकप्राणभावे"[2], "ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्"[3] ॥६॥

त्रि०—तु अथ एव इत्येते शब्दा यथाक्रमेण विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः भवन्ति। यत्र तुशब्दः श्रूयते, तत्र निवृत्तिः। यत्र अथशब्दः, तत्राधिकारः। यत्र एवशब्दः तत्रावधारणमिति वेदितव्यम्। यथा—"एफस्तु रस्य"[1] "अथ संहितायामेकप्राणभावे"[2] "स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम्"[3]। विशेषेण निवर्तयतीति, विनिवर्तकः अधिकरोतीति अधिकारकः। अवधारयतीति अवधारकः ॥६॥

सू० अ०—तु, अथ और एव—ये (क्रमशः) निवृत्ति करने वाले, अधिकार करने वाले और सीमित करने वाले हैं।

त्रि० अ०—तु, अथ और एव—इति=ये; शब्द क्रम से; विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः=विनिवर्त्तक (=निषेध करने वाले), अधिकारक (अधिकार करने वाले और अवधारक (=सीमित करने वाले) होते हैं। जहाँ तु शब्द का श्रवण होता है वहाँ निवृत्ति (निषेध) होती है, जहाँ अथ शब्द (का श्रवण होता है) वहाँ अधिकार (किया जाता है)। जहाँ एव शब्द (का श्रवण होता है) वहाँ अवधारण (सीमित होना) जानना चाहिए। जैसे—"एफ (शब्द) तो र् का वाचक है।"[क] "अब (आगे आने वाले नियम) एक श्वास में उच्चारित होने वाली संहिता (संहिता-पाठ) में (लागू होते हैं)।"[ख] "कतिपय आचार्यों के मत में केवल स्पर्श ही (लकार अथवा वकार पूर्व में होने पर द्वित्व को प्राप्त करता है)"।[ग] विशेष रूप से निवृत्ति करता है इसलिए 'तु' विनिवर्त्तक है, अधिकार करता है इसलिए (अथ) अधिकारक है, निश्चय करता है इसलिए (एव) अवधारक है॥ ६॥

(क) १।१६ में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्रों में विहित कार और वर्ण शब्द की निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि र के बाद कार अथवा वर्ण नहीं अपितु एफ होता है।

(ख) ५।१ में प्रयुक्त अथ शब्द अधिकार का सूचक है। ५।१ में संहिता का अधिकार प्रारम्भ होता है।

(ग) एव सीमित करने का सूचक है। जैसे १४।३ में प्रयुक्त एव इस बात की सीमा बाँध देता है कि लकार या वकार पूर्व में होने पर स्पर्श ही द्वित्व को प्राप्त करता है।

---

(१) १।१६ (२) ५।१ (३) ६।५ (४) १४।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—तु, अथ, एव इत्येते शब्दाः यथाक्रमम्; (विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः=) विनिवर्तकादयः; भवन्ति। तुशब्द उक्तार्थसम्बन्धि यत्किमप्यर्थान्तरं विनिवर्तयति। अथशब्दः निर्दिष्टमधिकरोति। एवशब्दः निर्दिष्टप्रतियोगिनमर्थमवधारयति। तु—"एफस्तु रस्य"[१]। अथ—"अथ वर्णसमाम्नायः"[२]। एव—"ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्"[३] ॥६॥

वेति वैभाषिकः ॥७॥

मा०—वाशब्दो विभाषायां भवति। यत्र यत्र वाशब्दः श्रूयते तत्र तत्र विभाषायामिति वेदितव्यः। यथा—"मुखनासिक्या वा"[४] ॥७॥

त्रि०—वा इत्येषशब्दो वैभाषिको वैकल्पिको भवति। यथा—"मुखनासिक्या वा"[४] ॥७॥

वै०—वाशब्दः; (वैभाषिकः=) विभाषाप्रयोजनः; विकल्पार्थं इति यावत्। यथा—"ग्रहणं वा"[५] ॥७॥

वै० अ०—तु, अथ और एव—ये शब्द क्रम से; (विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः =) विनिवर्तक इत्यादि; होते हैं। तु शब्द उक्त पदार्थ से सम्बन्धित किसी सदृश पदार्थ की निवृत्ति करता है। अथ शब्द (आगे) निर्दिष्ट (विषयवस्तु) का अधिकार करता है। एव शब्द निर्दिष्ट पदार्थ से सम्बद्ध पदार्थ को हटा देता है। तु—"एफ (शब्द) तो र् का वाचक है।" अथ—"अब वर्णमाला (वर्ण-समाम्नाय) को बतलाते हैं"। एव—"कतिपय आचार्यों के मतानुसार ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर ही (विसर्जनीय समान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण नहीं होता है)" ॥ ६ ॥

सू० अ०—वा—यह विकल्प का निर्देश करता है।

त्रि० अ०—वा—यह शब्द; वैभाषिकः = वैकल्पिक; होता है। जैसे—"अथवा (नासिक्य वर्ण) मुख और नासिका से (उच्चारित होते हैं)"[क] ॥७॥

वै० अ०—वा शब्द; (वैभाषिकः=) का प्रयोजन विभाषा है—विकल्प के लिए होता है—यह तात्पर्य है। जैसे—"अथवा (उन आगमादि का) ग्रहण (किया जाता है)" ॥ ७ ॥

(क) २।४६ के अनुसार नासिक्य (वर्ण) नासिका स्थान वाल होते हैं, किन्तु २।५० में प्रयुक्त वा से नासिक्य वर्ण विकल्प से मुख और नासिका से भी उच्चारित होते हैं।

---

(१) १।१९ (२) १।१ (३) ६।५ (४) २।५० (५) १।२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेति प्रतिषेधकः ॥८॥

मा०—नशब्दः प्रतिषेधको भवति। यत्र यत्र नशब्दः श्रूयते तत्र तत्र प्रतिषेधकोऽयमिति वेदितव्यः। यथा—"नानुत्तम उत्तमपरः"[1] इति ॥८॥

त्रि०—न इति शब्दः प्रतिषेधकः भवति। यथा—"न सुषुम्नोऽग्निः"[2] इति ॥८॥

वै०—न इतिशब्दः; (प्रतिषेधकः=) प्रसक्तमर्थं प्रतिषेधति। यथा—"नावग्रहः"[3] ॥८॥

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य ॥९॥

मा०—आयामः प्रसारित्वं दारुण्यं दृढत्वं तस्माच्छरीरस्य आयामः कार्यः अङ्गानां दृढत्वम्। खमिति कण्ठः, स चोक्तः पुरस्तादिति। तस्य च कार्श्यम्। एवंयुक्तस्य उच्चशब्दो भवति। तेनैवोदात्तः क्रियते। स चोक्तः पुरस्तादिति ॥९॥

त्रि०—"उच्चैरुदात्तः"[4] इत्युक्तं, तदर्थमिदमारभ्यते, लोकवद्यादृच्छिकोच्चारणप्रतिषेधार्थम्। आयामः गात्राणां दैर्घ्यम्। दारुण्यं स्वरस्य कठिनता। अणुता खस्य गलविवरस्य संवृतता। एतानि साधनानि शब्दस्य उच्चैः कराणि शब्दमुच्चैः उदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। उच्चशब्दमुच्चारयता एतत् कर्तव्यमिति विधिः। उच्चैः कुर्वन्तीति उच्चैः कराणि ॥९॥

सू० अ०—न—यह प्रतिषेध करने वाला है।

त्रि० अ०—न—इति=यह; शब्द; प्रतिषेधकः=निषेध करने वाला; होता है। जैसे—सुषुम्नः, अग्निः (का नकार णकार) नहीं (होता है)" ॥ ८ ॥

वै० अ०—न—इति=यह; शब्द; (प्रतिषेधकः=) प्राप्त (प्रसक्त) अर्थ का प्रतिषेध करता है। जैसे—"अवग्रह (समास का पूर्व-पद प्रग्रह संज्ञक) नहीं होता है" ॥ ८ ॥

सू० अ०—गात्रों की दीर्घता, ध्वनि की कठिनता और कण्ठ-विवर की संवृतता—ये शब्द को ऊँचा करने वाले हैं।

त्रि० अ०—"उच्च ध्वनि से (उच्चारित होने वाला वर्ण) उदात्त (कहलाता है)"—यह कह दिया गया है। उसके लिए यह सूत्र आरम्भ किया जाता है (और) लोक के समान मन चाहे उच्चारण के प्रतिषेध के लिए। आयामः=गात्रों की दीर्घता; दारुण्यम्=स्वर की कठिनता। अणुता खस्य=कण्ठविवर की संवृतता। ये साधन; शब्दस्य उच्चैः-कराणि=शब्द को ऊँचा करने वाले हैं=शब्द को ऊँचा=उदात्त करते हैं—यह अर्थ है। उच्च (उदात्त) शब्द का उच्चारण करते हुए व्यक्ति को यह करना चाहिए—यह विधान है। उच्च (उदात्त) करते हैं=उच्चैः करणानि ॥ ९ ॥

---

(१) १४।२४ (२) १३।१५ (३) ४।२ (४) १।३८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—उत्तरे अध्याये उदात्तादिस्वरस्वरूपनिरूपणार्थं सामवेदप्रसिद्धान् क्रुष्टप्रथमादीन् सप्त स्वरान् वक्ष्यति। तेषां मध्ये मध्यमस्योत्पत्तिस्तावत् "घृतः प्रचयः"[1] इत्युक्ता। इहान्येषां षण्णामुत्पत्तिरुच्यते। तत्रादौ पूर्वेषां त्रयाणां अनेन सूत्रेणोच्यते—आयामो गात्राणामाकर्षणम् दारुण्यं परुषता ध्वनेः। अणुता संवृतता कण्ठाकाशस्य। एतानि करणानि शब्दमुच्चैः कुर्वन्ति उत्क्षेपणं कुर्वन्ति। तत्रैषामुत्क्षेपो द्वितीयाख्यस्वरः। उत्क्षेपतरः प्रथमाख्यः। उत्क्षेपतमः क्रुष्टाख्यः। एवमेते मूर्धप्रदेशे जायन्ते इत्युच्चैश्शब्दवाच्या भवन्ति। अत एवोक्तम्—"उच्चैरुदात्तः"[2] इति ॥९॥

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि ॥१०॥

मा०—अन्ववसर्गः संहारः मार्दवं प्रस्रंसनं उरुता तस्मात् शरीरस्य संहारः कार्यः। अङ्गानां प्रस्रंसनं कण्ठस्य स्थूलता एवंयुक्तस्य नीचशब्द उत्पद्यते। तेनैवानुदात्तः क्रियते। स चाप्युक्तः पुरस्तादिति ॥१०॥

त्रि०—"नीचैरनुदात्तः"[3] इत्युक्तम्। अन्ववसर्गः गात्राणां विस्तृतता। मार्दवं स्वरस्य स्निग्धता। खस्य उरुता कण्ठस्य स्थूलता, इत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैःकराणि,

---

वै० अ०—परवर्ती अध्याय में उदात्तादि स्वरों के स्वरूप के निरूपण के लिए सामवेद में प्रसिद्ध क्रुष्ट, प्रथम आदि सात स्वरों को कहेंगे। उनके मध्य में मध्यम (स्वर) की उत्पत्ति "कौण्डिन्य (आचार्य) के अनुसार (प्रणव=ओंकार) घृत प्रचय होता है"—इस (सूत्र) से कही गई है। यहाँ अन्य छः (स्वरों) की उत्पत्ति कही जाती है—उनमें से आदि में प्रथम तीन (क्रुष्ट, प्रथम और द्वितीय) की (उत्पत्ति) इस सूत्र से कही जाती है—आयाम=गात्रों का खींचना। दारुण्यम्=ध्वनि की कठोरता। अणुता खस्य=कण्ठ-विवर की संवृतता। ये साधन (करण) शब्द को ऊँचा करते हैं=ऊँचा उठा हुआ बनाते हैं। उनमें से थोड़ा ऊपर उठा हुआ (स्वर) द्वितीय नामक स्वर है। उससे अधिक ऊँचा उठा हुआ प्रथम नामक (स्वर) है। बहुत अधिक ऊँचा उठा हुआ क्रुष्ट नामक (स्वर) है। इस प्रकार ये उच्च-प्रदेश में उत्पन्न होते हैं=उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाले होते हैं। इसलिए कहा गया है "उच्च ध्वनि से (उच्चारित होने वाला वर्ण) उदात्त कहलाता है" ॥ ९ ॥

सू० अ०—(गात्रों का) ढीलापन (अन्ववसर्ग), (स्वर की) मृदुता (मार्दव), कण्ठ-विवर का विकास—ये शब्द को नीचा करते हैं।

त्रि० अ०—"निम्न (नीची) ध्वनि से (उच्चारित होने वाला स्वर) अनुदात्त (कहलाता) है"—यह कहा गया है। अन्ववसर्गः=गात्रों की विस्तृता। मार्दवं=स्वर की स्निग्धता। खस्य उरुता=कण्ठ-विवर की स्थूलता—इति=ये; साधन शब्द को; नीचैःकराणि=नीचा करने वाले हैं=शब्द को नीचा=अनुदात्त

---

(१) १८।३ (२) १।३८ (३) १।३९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। नीचशब्दमुच्चारयता एतत् कर्तव्यमिति विधिः। नीचैः कुर्वन्तीति 'नीचैः कराणि' ॥१०॥

वै०—अथ धृतात्परेषां त्रयाणां स्वराणामुत्पत्तिमाह—अन्ववसर्गो गात्राणां स्रंसनम् मार्दवं ध्वनेः, उरुता = विस्तीर्णता; (खस्य=) कण्ठविवरस्य; इति एतानि करणानि शब्दम्; (नीचैःकराणि=) नीचैः कुर्वन्ति = अवक्षिप्तं कुर्वन्ति। अत्रेषदवक्षिप्तश्चतुर्थाख्यस्स्वरः। अवक्षिप्ततरो मन्द्राख्यः। अवक्षिप्ततमोऽतिस्वार्यसंज्ञः। एवमेते हृदयप्रदेशे जायन्त इति नीचैश्शब्दवाच्या भवन्ति। अत एवोक्तं "नीचैरनुदात्तः"[1] इति ॥१०॥

मन्द्रमध्यमतारणि स्थानानि भवन्ति ॥११॥

मा०—मन्द्रमिति प्रथमम्, मध्यममिति द्वितीयम्, तारमिति तृतीयम्। तेषां स्थानानामुत्तरत्र प्रयोजनं वक्ष्यामः ॥११॥

त्रि०—(मन्द्रमध्यमतारणि=) मन्द्रं, मध्यमं, तारं चेत्येतानि; स्थानानि भवन्ति। मन्द्रं, इति प्रथमम्। मध्यमं इति द्वितीयम्। तारमिति तृतीयम्। एषां स्थानानां प्रयोजनमुत्तरत्र वक्ष्यते ॥११॥

करते हैं—यह अर्थ है। नीच (अनुदात्त) शब्द का उच्चारण करते हुए व्यक्ति को यह करना चाहिए—यह विधान है। (शब्द को) नीचा=अनुदात्त करते हैं=नीचैःकराणि ॥ १० ॥

वै० अ०—अब धृत से बाद वाले तीन स्वरों की उत्पत्ति को कहते हैं—

अन्ववसर्गः = गात्रों का ढीलापन (स्रंसन), मार्दवम्=ध्वनि की स्निग्धता, उरुता खस्य—कण्ठ-विवर की विस्तृतता—इति=ये; साधन (करण) शब्द को; (नीचैःकराणि=) नीचे फेंका हुआ करते हैं। इनमें से थोड़ा नीचे फेंका हुआ (निम्न ध्वनि से उच्चारित) (स्वर) चतुर्थ नामक स्वर है। उससे अधिक नीचे फेंका हुआ (निम्नतर ध्वनि से उच्चारित स्वर) मन्द्र नामक स्वर है। सबसे अधिक नीचे फेंका हुआ (निम्नतम ध्वनि से उच्चारित स्वर) अतिस्वार्य-संज्ञक है। इस प्रकार ये हृदय-प्रदेश में उत्पन्न होते हैं=नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले होते हैं। इसलिए कहा गया है "निम्न (नीची) ध्वनि से (उच्चारित होने वाला स्वर) अनुदात्त (कहलाता) है ॥ १० ॥

सू० अ०—मन्द्र, मध्यम और तार—ये (वाणी) के स्थान होते हैं।

त्रि० अ०—(मन्द्रमध्यमतारणि)=मन्द्र, मध्यम और तार;—ये वाणी के; स्थानानि=स्थान; भवन्ति=होते हैं। मन्द्र—यह प्रथम (स्थान) है। मध्यम—यह द्वितीय (स्थान) है। तार—यह तृतीय (स्थान) है। इन स्थानों का प्रयोजन आगे कहा जायेगा ॥ ११ ॥

---

(१) १।३९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—(मन्द्रमध्यमताराणि =) मन्द्रमध्यमताराख्यानि; त्रीणि वाचस्स्थानानि धृतादीनां स्वराणां स्थानानि भवन्ति। एतेषु प्रयुज्यमानः शब्दः परवेद्य इत्युच्चैः प्रयोग इति व्यपदिश्यते ॥११॥

तत्रैकविꣳशतिर्यमाः ॥१२॥

मा०—तेषु त्रिषु स्थानेषु एकविंशतिर्यमा भवन्ति। तेषां यमानामुत्तरत्र विभागं वक्ष्यामः इति ॥१२॥

त्रि०—एतानि स्थानानि केषामित्यपेक्षायामाह—(तत्र =) तेषु त्रिषु स्थानेषु; एकविंशतिः यमाः स्वरा भवन्ति। तेषां यमानामुत्तरत्र प्रयोजनं वक्ष्यते ॥१२॥

वै०—(तत्र =) तेषु मन्द्रादिषु वाचस्स्थानेषु; एकविꣳशतिः (यमाः =) स्वरभेदाः; भवन्ति। त एते उत्तराध्याये विवरिष्यन्ते। यद्येवं किमर्थमिहेदं सूत्रद्वयं क्रियते ? उच्यते—"आयामो दारुण्यम्"[1] इत्यादिलक्षणोपयोगार्थं ब्रह्मयज्ञार्थं च। ब्रह्मयज्ञस्य वाचकप्रयोगविषये उच्चैस्त्वमेवेष्यते। न तूपांशुत्वादिरन्तःकरणः। अह्नो मध्यमे भागे तारस्थानेन ब्रह्मयज्ञः प्रयुज्यते। प्रथमोत्तमयोस्तु भागयोर्मध्यं विनाऽऽसन्नयोरर्धयोर्मध्यमस्थानेन तद्विप्रकृष्टयोरर्धयोर्मन्द्रस्थानेनेति विवेकोऽनुसन्धेयः ॥१२॥

वै० अ०—(मन्द्रमध्यमताराणि =) मन्द्र, मध्यम और तार संज्ञक; तीन वाणी के; स्थानानि = स्थान; धृत आदि स्वरों के स्थान होते हैं। इन (स्थानों) में उच्चारित किया जाता हुआ शब्द दूसरों के द्वारा जाना (सुना) जाता है, इसलिए उच्च-उच्चारण कहलाता है ॥ ११ ॥

सू० अ०—उन (वाणी के स्थानों) में इक्कीस स्वर (यम) होते हैं।

त्रि० अ०—ये (पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त) स्थान किनके हैं ?—यह अपेक्षा होने पर कहते हैं—

(तत्र =) उन (वाणी के) तीन स्थानों में; एकविꣳशतिः यमाः = इक्कीस यम = स्वर; होते हैं। उन यमों (स्वरों) का प्रयोजन आगे कहा जायेगा ॥ १२ ॥

वै० अ०—(तत्र =) उन मन्द्र आदि वाणी के स्थानों में; एकविꣳशतिः = इक्कीस; (यमाः =) स्वरों के भेद; होते हैं। इनका विवरण परवर्ती अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा। यदि ऐसी बात है—तो इन दो सूत्रों का निर्माण यहाँ किसलिए किया जाता है ? (उत्तर) कहते हैं—"गात्रों की दीर्घता, ध्वनि की कठिनता"—इत्यादि लक्षणों के उपयोग के लिए और ब्रह्म-यज्ञ के लिए (इन दो सूत्रों का यहाँ निर्माण किया गया है)।

---

(१) २२।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण ॥१३॥

मा०—ऋचि पदे विवृत्यां समानपदविवृत्यामिति एतेषु विरामः तस्य विरामस्य कालपरिमाणो वेदितव्यः। ऋक्षु त्रिमात्राकालो विरामः, पदेषु द्विमात्राकालः, विवृत्तिष्वेकमात्राकालः, समानपदविवृत्तिष्वर्धमात्राकालः। ऋचि—"उपचिन्वन्ति वेधसः"[१]। "उभा वाजस्य सातये हुवे वाम्"[२]। "देवाः", "वै", "यत्"। यज्ञे विवृत्याम्—"ता अस्मात्सृष्टाः"[३]। समानपदविवृत्याम्—"प्रउगमुक्थमव्यथयत्"[४]। "इन्द्राग्नी इतीन्द्र अग्नी"[५] ॥ १३ ॥

त्रि०—(ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामः =) ऋग्विरामादयः; (त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्रः =) त्रिमात्रादिकालाः; (आनुपूर्व्येण =) यथाक्रमम्; भवन्ति। यथा—"उभावाजस्य सातये हुवे वाम्"[६] इत्यृग्विरामः। "इषे त्वा ऊर्जे त्वा"[७] इति पदविरामः। "स इधानः"[८], "त एनम्"[९], "ता अस्मात्"[१०] इति विवृत्तिविरामः। "प्रउगम्"[११] इति समानपदविवृत्तिविरामः। ऋचि विरामो ऋग्विरामः। पदस्य विरामः पदविरामः। पदद्वयविवृत्तौ विरामः विवृत्तिविरामः। शिक्षायामस्य विशेष उक्तः—

सू० अ०—ऋग्विराम, पदविराम, विवृत्तिविराम और एकपदविवृत्तिविराम—ये क्रमशः त्रिमात्रिक, द्विमात्रिक, एकमात्रिक और अर्धमात्रिक होते हैं।

त्रि० अ०—(ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामः =) ऋग्विराम इत्यादि; (आनुपूर्व्येण =) क्रम से; (त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्रः =) त्रिमात्रा इत्यादि काल वाले होते हैं। जैसे—"उभावाजस्य सातये हुवे वाम्"—यह ऋचा में विराम है। "इषे त्वा ऊर्जे त्वा"—यह पद का विराम है। "स इधानः", "त एवम्", "ता अस्मात्"—इत्यादि विवृत्ति में विराम है। "प्रउगम्"—यह एक पद में स्थित विवृत्ति में विराम है। ऋचा में विराम = ऋग्विराम। पद का विराम = पदविराम। दो पदों में स्थित विवृत्ति में विराम = विवृत्तिविराम। शिक्षा में इसका विशेष कहा गया है—

---

(१) १।१।७ (२) १।१।१४ (३) २।१।२
(४) ४।४।२ (५) ४।२।११ (६) १।१।१४
(७) १।१।१ (८) ४।४।४ (९) २।३।११
(१०) २।४।४ (११) ४।४।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वादिर्वत्सानुसृतिरन्ते वत्सानुसारिणी ।
पाकवत्युभयह्रस्वा दीर्घोभया पिपीलिका ॥
मात्रिका वत्सानुसृतिस्तथा वत्सानुसारिणी ।
पादोना स्यात् पाकवती पादमात्रा पिपीलिका ॥ इति ।

समानं च तत् पदं च समानपदं एकपदमित्यर्थः । समानपदे विवृत्तिः, समानपदविवृत्तिः, तस्यां विरामः, समानपदविवृत्तिविरामः । तिस्रो मात्रा यस्यासौ त्रिमात्रः । द्वे मात्रे यस्यासौ द्विमात्रः । एका मात्रा यस्यासौ एकमात्रः । अर्धं मात्रा यस्यासौ अर्धमात्रा ॥ १३ ॥

वै०—अथ प्रयोगान्तर्वर्तिनां विरामाणां कालेयत्तामाह—

ऋचो विराम. ऋग्विरामः । स द्विविधः—ऋचोऽन्ते मध्ये चेति, उभयत्रापि ऋगवयवसमाप्तेर्विद्यमानत्वात् । यथा—"सं नह्ये सुकृतायकम्"[1] इत्यृगन्ते । "उपचिन्वन्ति वेधसः"[2] इत्यर्धर्चान्ते । ये त्वतोऽन्ये अनुवाकमध्यवर्तिनो विरामास्तेषां अध्यर्धमात्राः कालशिक्षायां स्मर्यते—

ह्रस्व (स्वर) आदि में हो (और दीर्घ स्वर अन्त में हो) तो वत्सानुसृति तथा (ह्रस्व-स्वर) अन्त में हो (और दीर्घ स्वर आदि में हो) तो वत्सानुसारिणी, दोनों ओर ह्रस्व-स्वर हो तो पाकवती और दोनों ओर दीर्घ स्वर हो तो पिपीलिका (नामक पद-विवृत्ति होती है)।

वत्सानुसृति एकमात्रा काल वाली और उसी प्रकार वत्सानुसारिणी भी (एक मात्रा काल वाली होती है)। पाकवती तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) मात्रा काल वाली तथा पिपीलिका चौथाई ($\frac{1}{4}$) मात्रा काल वाली होती है।

समान है जो पद = समानपद = एकपद—यह अर्थ है। एक पद में स्थित विवृत्ति = समानपद विवृत्ति उसमें स्थित विराम = समानपदविवृत्तिविराम। तीन मात्रा है जिसकी वह = त्रिमात्रिक। दो मात्राएँ हैं जिसकी वह = द्विमात्रः। एक मात्रा है जिसकी वह = एकमात्रः। आधी मात्रा है जिसकी वह = अर्धमात्रः ॥१३॥

वै० अ०-- अब उच्चारण के मध्य में वर्तमान विरामों के काल के परिमाण को कहते हैं—

ऋचा का विराम = ऋग्विराम। वह दो प्रकार का होता है—ऋचा के अन्त में और (ऋचा के) मध्य में, क्योंकि दोनों ही स्थलों पर ऋचा के अवयव की समाप्ति होती है। जैसे—"सं नह्ये सुकृतायकम्"—यह ऋचा के अन्त में (विराम है)। 'उपचिन्वन्ति वेधसः' यह अर्धर्च के अन्त में (विराम है)। किन्तु जो इनसे अन्य अनुवाक के मध्य में वर्तमान विराम है उनका डेढ़ (१$\frac{1}{2}$) मात्रा काल शिक्षा में कहा गया है—

---

(१) १।१।१० (२) १।१।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदाध्ययनस्थानेषु पदाध्ययनवर्जिताः ।
तेषां विरामाष्षट्पादान् भजन्ते नात्र संशयः ॥ इति ॥

अस्यार्थः—संहिताग्रन्थानुवाकेषु पदविभागसिद्धेतरावसानस्थाः संहिताम्नायसिद्धावसानस्थाः ये शब्दा यजुरन्तप्रतीकान्तब्राह्मणमध्यविरामस्थास्तेषां विरामाः षड्भिर्मात्रापादैस्संमिता भवन्तीति। यजुरन्ते—"अक्तꣳरिहाणा वियन्तु वयः"[1]। प्रतीकान्ते—"अग्निर्मूर्धा भुवः"[2]। ब्राह्मणमध्ये—"यो यजते तस्य"[3]। पदाध्याये त्वनृगन्तप्रग्रहात्परं इतिकरणयोगादगन्तस्यापि द्विमात्रत्वमेवेष्यते—"दधावहै। पुनः। ते इति"[4]। "वर्धयमानः। अस्मे इति"[5]। क्रमाध्याये तु प्रग्रहात्परस्यैवर्ग्विरामस्य त्रिमात्रत्वमिष्यते। यथा—"वेधस इति वेधसः। पूष्णस्तानि"[6]। "तनूमिति तनूम्। अग्नेरनुव्रता"[7]।

विभक्तानां पदानां मध्ये विरामः पदविरामः स द्विमात्रः। यथा—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा"[8]। "द्वे इति। धेनू इति। भौमी इति"[9]। क्रमाध्यायेऽप्येष विधिः भवत्येव,

---

(संहिता में) पदाध्ययन के प्रसङ्ग में (सिद्धावसान) पदों के पाठ से भिन्न (जो शब्द हैं) उनके विराम (मात्रा के) छः पादों (डेढ़मात्रा) को धारण करते हैं—इसमें सन्देह नहीं है।

इसका अर्थ है—संहिताग्रन्थ के अनुवाकों में पदविभाजन से सिद्ध (अवसानों से) भिन्न अवसानों में स्थित संहितापाठ में सिद्ध अवसानों में स्थित जो शब्द (अर्थात्) यजुषों के अन्त, (मन्त्र के) प्रतीकों के अन्त तथा ब्राह्मण वाक्यों के मध्य में, विराम में स्थित हैं; उनके विराम ६ मात्रा पादों (डेढ़ मात्रा) के बराबर होते हैं। (उदाहरण) यजुष् के अन्त में—'उक्तं रिहाणा वियन्तु वयः'। (मन्त्र) प्रतीक के अन्त में—'अग्निर्मूर्धा—भुवः।' ब्राह्मण वाक्यों के मध्य में—'यो यजते तस्य।' पदपाठ में तो ऋचा के अन्त में न रहने वाले प्रग्रह (पदों) के बाद इतिकरण लगाने के कारण ऋचा के अन्त (के विराम) का भी दो मात्राओं वाला (होना) वाञ्छित है। (जैसे) 'दधावहै'। पुनः। ते इति॥ 'वर्धयमानः अस्मे इति।' क्रमपाठ में तो प्रग्रह (पद) के परवर्ती ऋचा के (मध्यस्थित) विराम की तीन मात्राएँ वाञ्छित है। जैसे—'वेधस इति वेधसः। पूष्णस्तानि॥ तनूमिति तनूम्। अग्ने रनुव्रता।'

विभाजित पदों के मध्य में (होने वाला) विराम पदविराम है, वह दो मात्राओं का होता है। जैसे—इषे त्वा ऊर्जे त्वा॥ द्वे इति। धेनू इति। भौमी इति॥ क्रम पाठ में भी यह नियम होता ही है, (क्योंकि) आवृत्ति किये जाने वाले

---

(१) १।१।१३ (२) ४।१।११ (३) ३।५।४
(४) १।५।१० (५) १।७।१० (६) १।१।७
(७) १।१।१० (८) १।१।१ (९) ५।६।२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवर्त्यमानस्य पदस्य रूपयोः सन्धानाभावात् अनार्षत्वाविशेषाद्वा "इषे त्वा। त्वोर्जे। ऊर्जे त्वा"[१]। अवग्रहान्तविरामस्य तु शिक्षायां विशेषस्मर्यते—

'अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्स्मृतः' इति यथा—"उपायव इत्युप-आयवः"[२]। विवृत्तिविराम एकमात्रः। एतत्तु नानापदविवृत्तिविषयं, समानपदविवृत्तिविरामे विशेषविधानात्। "कर्मण आ प्यायध्वम्"[३]। "अनमीवा अयक्ष्माः"[४]। "इन्द्राग्नी आहुवध्यै"[५]। "इन्द्रवायू इमे सुताः"[६]। "छिनत्ती ३ इति"[७]। "त्वी ३ इत्यब्रवीत्"[८]। "प्रत्युष्टा इति प्रति—उष्टाः"[९]। "सहस्रवल्शा इति सहस्र-वल्शाः"[१०]। "अच्छिद्रे इति। बहुले इति। उभे इति"[११]। "पुरएता ते अस्तु"[१२]। यत्तु दीर्घद्वयमध्यविवृत्तेः पिपीलिकाख्यापूर्वकं पादमात्रत्वं स्मर्यते—"दीर्घमध्या पिपीलिका" "पादमात्रा पिपीलिका" इति, तत्प्रग्रहसन्धिव्यतिरिक्तविषयम्। तथा शिक्षायाम्—

न प्लुते प्रग्रहे चापि सन्धिकार्यं प्रयुज्यते।
मात्रा ह्येका हि तत्काला मात्राधिक्यं तथा परे॥

इति वचनात्। प्लुतान्तविरामस्य तु पदसन्धावेव मात्रिकत्वमिष्यते, न तु पदमध्ये। कुतः ?

पद के दो रूपों (के बीच) में सन्धि न होने के कारण अथवा अनार्ष (पदपाठ) से भिन्न न होने के कारण। (जैसे)—'इषे त्वा। त्वोऽर्जे। ऊर्जे त्वा॥' अवग्रह के अन्त के विराम का तो विशेष (विधान) शिक्षा में कहा गया है—(कि) 'अवग्रहों के अन्त में एक मात्रा का विराम होता है। जैसे—'उपायव इत्युप—आयवः।'

विवृत्ति का विराम एक मात्रा का (होता) है। यह (विधान) तो भिन्न पदों (के मध्य) की विवृत्ति के विषय (में) है, एक पद की विवृत्ति के विराम में (दूसरा) विशेष विधान होने के कारण। (जैसे)—कर्मण आ प्यायध्वम्॥ अनमीवा अयक्ष्माः॥ इन्द्राग्नी आहुवध्यै॥ इन्द्रवायू इमे सुताः॥ छिनत्ती ३ इति॥ त्वी ३ इत्यब्रवीत्। प्रत्युष्टा इति प्रति-उष्टाः॥ सहस्रवल्शा इति सहस्रवल्शाः॥ अच्छिद्रे इति। बहुले इति। उभे इति॥ पुरएता ते अस्तु॥

जो कि दीर्घ दो (स्वरों) के बीच की विवृत्ति को पिपीलिका कहते हुए चौथाई मात्रा (काल) वाली कहा गया है (जैसे) दीर्घ (स्वरों) के मध्य वाली पिपीलिका होती है (तथा) चौथाई मात्रा (काल) की पिपीलिका होती है, इत्यादि, वह प्रग्रह सन्धि से अतिरिक्त (स्थलों) के विषय में है। जैसे शिक्षा में—

"प्लुत और प्रग्रह में भी सन्धि कार्य नहीं होता है, उसका काल एक मात्रा का होता है। कुछ अधिक मात्राकाल का कहते हैं"—इस वचन से (विधान किया गया) है। प्लुतान्त विराम का तो पदों की सन्धि में ही एकमात्रा काल

---

(१) १।१।१	(२) १।१।१	(३) १।१।१४
(४) १।४।४	(५) १।७।२	(६) २।४।१२
(७) १।१।२	(८) ४।१।३	(९) १।२।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रग्रहसमभिव्याहारात्, पदमध्ये सन्धिकार्यप्रसक्त्यभावाच्च। यत्तु ह्रस्वद्वयमध्यमाया विवृत्तेः पाकवतीसंज्ञापूर्वकं पादोनमात्रत्वं स्मर्यते, तदपि नानापदविषयम्। वत्सानुसारिण्यादिसाहचर्यात्। न हि ताः पदमध्ये सम्भवन्ति। अनुस्वारवत्यास्तु नानापदविवृत्तेः तत्रत्यानुस्वारस्य च स्वस्वकाले तच्चतुर्थांशोऽधिक इष्यते—

व्यक्तिमध्यस्थनासिक्ये स्वकालात् पाद इष्यते।
तत्काला हि तदा व्यक्तिः प्राप्यते नात्र संशयः॥

इति शिक्षावचनात्।

पदस्य मध्ये विवृत्तिः समानपदविवृत्तिः। तद्विरामोऽर्धमात्रः। "अग्ना३इ पत्नीवा"[1]। "प्रउगम्"[2]। "दीक्षितस्य गृहा३इ"[3]। अनुवाकादीनां समाप्तिषु विरामकालश्शिक्षायां स्मर्यते—

काण्डप्रश्नानुवाकानां समाप्तौ काल इष्यते।
दशाष्टपञ्चमात्रं तु तन्त्राणां च त्र्यहं भवेत्॥ इति॥

वाञ्छित है, पद के मध्य में नहीं। क्यों? (कि श्लोक में) प्रग्रह के साथ कहे जाने के कारण तथा (एक) पद के बीच में सन्धिकार्य का प्रसङ्ग न होने के कारण।

जो कि ह्रस्व दो (स्वरों) के मध्य की विवृत्ति की पाकवती संज्ञा करते हुए पौन मात्रा (काल) कही गई है, वह भी भिन्न पदों के विषय में है; वत्सानुसारिणी आदि (विवृत्तियों) के साथ (कहे जाने) के कारण। वे (वत्सानुसारिणी आदि एक) पद के मध्य में नहीं सम्भव है।

अनुस्वार से युक्त भिन्न पदों (के मध्य) की विवृत्ति और उस (पद) में स्थित अनुस्वार का अपने-अपने (उच्चारण काल) में उसका चतुर्थांश अधिक माना गया है।

'विवृत्ति के मध्य में स्थित नासिक्य (अनुस्वार) में अपने (उच्चारण) काल से (अधिक) चौथाई अंश होता है (और) उसी (चौथाई अंश अधिक) काल की विवृत्ति भी प्राप्त होती है, इसमें सन्देह नहीं है।'—इस शिक्षा वचन के अनुसार।

(एक) पद के मध्य में (होने वाली) विवृत्ति समान पदविवृत्ति है। उसका विराम आधी मात्रा का होता है। (जैसे अग्ना ३ इ पत्नीवाः। प्र उगम्। दीक्षितस्य गृहा ३ इ॥

अनुवाक आदि की समाप्ति में विरामकाल शिक्षा में कहा गया है—

काण्ड, प्रश्न (तथा) अनुवाकों की समाप्ति में (क्रमशः) दस, आठ (तथा) पाँच मात्रा का (विराम) काल वाञ्छित है। (इन सभी का) सम्मिलित (संहिता की समाप्ति पर) तीन दिन का (विराम) काल होता है।

---

(१) १।४।२७ (२) ४।४।२ (३) ६।१।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाम्नानविषये तु चरमवचनान्तोऽयं कालो द्रष्टव्यः। तत्र केचित्पदवाक्यानुवाकादिसङ्ख्याबोधकशब्दपाठात् परमेवैते विरामकाला इत्याहुः। तदयुक्तम् तथाविधानां शब्दानां पौरुषेयलक्षणरूपतया वेदबाह्यत्वात्, वेदभागसमाप्तिनिमित्तत्वाच्च विरामाणाम् ॥ १३ ॥

यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं
संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम्।
एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्
शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि ॥१४॥

मा०—यद्व्यञ्जनान्तं यदक्षरं व्यञ्जनान्तं भवति, यदु चापि दीर्घम् अक्षरम्, संयोगपूर्वं च तथानुनासिकं यच्चानुस्वारसंयुक्तमक्षरम्, एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्। एतानि सर्वाण्युक्तानि अक्षराणि गुरूणीति वेदितव्यानि। यथा व्यञ्जनान्तं दीर्घं संयोगपूर्वं च अनुनासिकसंयुक्तं च। यथा व्यञ्जनान्तम्—"मातेव पुत्रम्"[१]। दीर्घम्—"ते तेऽधिपतयः"[२]। संयोगपूर्वम्—"अश्मा च मे"[३]। "नक्षत्रविहिताहम्"[४]। अनुनासिकसंयुक्तम्—"संशितं क्षत्रम्"[५]। "सँश्रवाः"[६]। शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि अत एभ्यो गुरुभ्यः शेषाण्यक्षराणि लघूनीति वेदितव्यानि ॥ १४ ॥

त्रि०—व्यञ्जनान्तं यत् अक्षरम्। व्यञ्जनमन्ते यस्य तत् व्यञ्जनान्तम्। यदु चापि दीर्घं अक्षरम्। संयोगपूर्वं च यदक्षरं, संयोगात् पूर्वं संयोगपूर्वम्। तथा अनु-

---

संहिता (की समाप्ति) के विषय में अन्तिम वचन (पाद) में कहा गया यह काल समझना चाहिए।

वहाँ कुछ (विद्वान्) पद, वाक्य, अनुवाक आदि के संख्याबोधक शब्दों के पाठ के बाद ही ये विरामकाल होते हैं—यह कहते हैं। यह अनुचित है। उस प्रकार के (संख्याबोधक) शब्दों का पौरुषेयत्व रूप होने से वेदबाह्यत्व होने के कारण तथा विरामों (के काल) का (अपौरुषेय) वेदभाग की समाप्ति का ही अङ्गभूत होने के कारण ॥ १३ ॥

सू० अ०—जो व्यञ्जन में अन्त होने वाला है, जो दीर्घ है, संयोगपूर्व है और सानुनासिक है—इन सबको गुरु जानना चाहिए। इनसे अन्य शेष (अक्षरों) को लघु (जानना चाहिए)।

त्रि० अ०—व्यञ्जनान्तम् यत्=जो व्यञ्जन में अन्त होने वाले अक्षर हैं। व्यञ्जन है अन्त में जिसके वह=व्यञ्जनान्त, यदु चापि दीर्घम्=और जो दीर्घ अक्षर हैं, संयोगपूर्वं च=जो संयोगपूर्व अक्षर हैं। संयोग से पूर्व वाला=संयोग-

---

(१) ४।२।३ (२) ४।४।११ (३) ४।७।५
(४) २।५।२ (५) ४।१।१० (६) १।७।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिकं सानुनासिकं यदक्षरं उक्तानि एतानि सर्वाणि अक्षराणि गुरूणि; विद्यात्= जानीयात्। यथा, व्यञ्जनान्तम्—"मातेव पुत्रम्"[1]। यथा, दीर्घम्—"ते तेऽधिपतयः"[2]। यथा, संयोगपूर्वम्—"अश्मा च मे"[3]। यथा, अनुनासिकम्—"विꣳशत्यै स्वाहा"[4]। शेषाण्यतोऽन्यानि अत एभ्यो गुरुभ्यः शेषाण्यन्यानि अक्षराणि, ततः=अनन्तरम्; लघूनि विजानीयात्। शेषाणि कानीत्याशङ्क्योत्तरश्लोकेन विवृणोति ॥ १४ ॥

वै०—अथ ऋग्विरामपदविरामयोः क्वचित्कालाधिक्यार्थं गुरुलघुविज्ञानं शिक्षोक्तमुच्यते—

व्यञ्जनं अन्तं विरामावधिभूतं यस्य तत्तथोक्तम्। उ अनर्थकः पादपूरणो वा। च, अपि इत्येतौ निपातौ। संयोगात्पूर्वमिति तत्पुरुषः। तथाऽनुनासिकं अनुस्वारात्पूर्वमित्यर्थः। यद्व्यञ्जनान्तं यच्च दीर्घमिति वचनव्यक्त्या व्यञ्जनान्तमित्यादीनां दीर्घेतराक्षरविशेषणत्वमवगम्यते। तच्च ह्रस्वं विज्ञेयम्, शेषविषये उत्तरसूत्रे ह्रस्वग्रहणात्। तदयमर्थः—(यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम्=) यत् ह्रस्वमक्षरं विरामव्यञ्जनात्संयोगादनुस्वाराच्च पूर्वं यच्च दीर्घं, एतानि सर्वाणि

पूर्व। तथा अनुनासिकम्=और जो अनुनासिक=सानुनासिक; अक्षर हैं—एतानि सर्वाणि अक्षराणि गुरूणि=इन कहे गए सभी अक्षरों को गुरु; विद्यात्= जानना चाहिए। जैसे व्यञ्जन में अन्त होने वाला—"मातेव पुत्रम्"। जैसे दीर्घ—"ते तेऽधिपतयः"। जैसे संयोगपूर्व—"अश्मा च मे"। जैसे अनुनासिक—"विꣳशत्यै स्वाहा"। शेषाण्यतोऽन्यानि=इन गुरू अक्षरों से शेष अन्य अक्षरों को; ततः=इनके बाद; लघूनि=लघु; जानना चाहिए। शेष कौन हैं—यह शंका बाद वाले सूत्र से स्पष्ट हो जाती है ॥१४॥

वै० अ०—अब ऋग्विराम तथा पदविरामों को कहीं पर काल के आधिक्य के लिए शिक्षा में कहे गए गुरु-लघु-विज्ञान को कहा जाता है—

व्यञ्जन है अन्त में=विराम रूप सीमा पर वर्तमान जिस (अक्षर) का—वह वैसा कहा गया (=व्यञ्जनान्तम्) है। उ अनर्थक है अथवा (सूत्र में) पाद की पूर्ति के लिए है। 'च' और 'अपि' ये दोनों निपात हैं। संयोग से पूर्ववर्ती—यहाँ तत्पुरुष समास है। तथा अनुनासिक=अनुस्वार से पूर्ववर्ती—यह अर्थ है। जो व्यञ्जनान्त है और जो दीर्घ है—यहाँ कथन-विशेष से ज्ञात होता है कि व्यञ्जनान्त इत्यादि दीर्घ से अन्य अक्षर के विशेषण हैं। और उसे ह्रस्व जानना चाहिए, क्योंकि अगले सूत्र में शेष के प्रसङ्ग में ह्रस्व का ग्रहण किया गया है। इससे यह अर्थ हुआ—(यद् व्यञ्जनान्तं यदु चापि संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम्=) जो ह्रस्व अक्षर विराम-भूत व्यञ्जन से, संयोग से और अनुस्वार से पूर्व में होता है और जो दीर्घ होता है—एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्=

---

(१) ४।२।३ (२) ४।४।११ (३) ४।७।५ (४) ७।२।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरूणि विद्यात्। व्यञ्जनान्तं यथा—"उप चिन्वन्ति वेधसः"[१]। "सं नह्ये सुकृताय-कम्"[२]। "दीर्घं यथा—"सा वा एषा"[३]। "द्वे धेनू भौमी"[४]। "सेन्द्रावेवैनौ"[५]। संयोगपूर्वं यथा—"तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्वम्"[६]। अनुनासिकं यथा—"सृकꣳसꣳशाय"[७]। "पुरुदꣳसꣳसनिम्"[८]। यद्यप्यस्मत्संहितायामनुस्वारात्पूर्वस्य ह्रस्वस्य संयोगपूर्वत्वं नियतम्, तथाऽपि शिक्षायां सर्ववेदशाखाविषयत्वादनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वेति शौनकादिमते स्वरत्वे संयोगानन्तर्भावात्पृथग्वचनम्। यस्मादेतान्यक्षराणि गुरुसंज्ञानि, ततस्तस्मादतोऽन्यानि एतेभ्योऽन्यानि अक्षराणि शेषाणि लघूनि विद्यात्। अत्र शेषाणीति अतोऽन्यानीति वा अन्यतरेण सिद्धे उभयाभिधानं परमतनिराकरणार्थम्। तत्र पादान्तवर्तिनः शेषस्य लघोः वर्णस्य वैकल्पिकं गुरुत्वमाहुः पिङ्गलाचार्यादयः, तदनेन निवार्यते। तेन "सुपत्नीरुप सेदिम"[९]। "समात्मा तनुवा मम"[१०] इत्यादौ पादाक्षरं लघ्वेव भवतीति तद्विरामेषु गुरुत्वनिबन्धनं मात्राधिक्यं न भवति ॥ १४ ॥

इन सबको गुरु जानना चाहिए। व्यञ्जन में अन्त होने वाला जैसे—"उप चिन्वन्ति वेधसः"। "सं नह्ये सुकृताय कम्"। दीर्घ जैसे—"सा वा एषा"। "द्वे धेनू भौमी"। "सेन्द्रावेवैनौ"। संयोग से पूर्व वाला जैसे—"तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्वम्"। अनुनासिक जैसे—"सृकꣳसꣳशाय"। पुरुदꣳसꣳसनिम्"। यद्यपि हमारी संहिता में अनुस्वार से पूर्ववर्ती ह्रस्व (स्वर) का संयोग से पूर्व होना निश्चित है तथापि शिक्षा में सभी वेदों की शाखाओं का विषय होने से अनुस्वार व्यञ्जन भी होता है और स्वर भी—शौनक इत्यादि के मत में स्वर होने पर संयोग में अन्तर्भाव न होने से पृथक् कथन किया गया है। यतः ये अक्षर गुरु-संज्ञक हैं; ततः=इसलिए; अतोऽन्यानि=इन अक्षरों से अन्य जो; शेषाणि='शेष' अक्षर हैं, उन्हें लघूनि=लघु; जानना चाहिए। यहाँ शेष अथवा इनसे अन्य—इनमें से किसी एक से ही सिद्ध होने पर दोनों का कथन दूसरों के मत के निराकरण के लिए किया गया है। पिङ्गल आदि आचार्य वहाँ पादान्तवर्ती शेष लघु वर्ण का वैकल्पिक गुरुत्व मानते हैं—उसकी इससे निवृत्ति की जाती है। इससे "सुपत्नीरुप सेदिम"। "समात्मा तनुवा मम" इत्यादि में पाद का अन्तिम अक्षर लघु ही होता है। इसलिए विरामों में गुरुत्व के कारण मात्रा की अधिकता नहीं होती है।

---

(१) १।१।७ (२) १।१।१० (३) ३।४।३ (४) ५।६।२१
(५) २।५।४ (६) ६।३।१० (७) १।६।१२ (८) ४।२।४
(९) १।१।१० (१०) १।१।१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत्।
अननुस्वारसंयुक्तमेतल्लघु निबोधतैतल्लघु निबोधत ॥१५॥

मा०—अव्यञ्जनान्तं यदक्षरं व्यञ्जनान्तं न भवति तत् ह्रस्वं यच्च ह्रस्वमक्षरं सर्वं लघ्विति वेदितव्यम्। यथा—"विभृता स्वेनम्"[1] ॥ १५ ॥

त्रि०—अव्यञ्जनान्तं यत् अक्षरं, यत् च ह्रस्वं यत् च असंयोगपरं, यत् अननुस्वारसंयुक्तं एतत् सर्वमक्षरं लघु निबोधत=जानीध्वम्। यथा—"मदुदयनाः"[2] इत्यादि। व्यञ्जनमन्ते यस्य तत् व्यञ्जनान्तं, न व्यञ्जनान्तं अव्यञ्जनान्तम्। संयोगः परो यस्मात् तत् संयोगपरं, न संयोगपरं असंयोगपरम्। अनुस्वारेण संयुक्तं अनुस्वारसंयुक्तं, न अनुस्वारसंयुक्तं अननुस्वारसंयुक्तम् ॥ १५ ॥

वै०—शेषाण्याह—

यद्ध्रस्वमक्षरमव्यञ्जान्तं भवति स्वयमेव विरामावधिभूतं यच्च; (असंयोगपरम्=) संयोगपरं न; भवति, (अनुस्वारसंयुक्तम्=) अनुस्वारपरं च न; भवति

सू० अ०—जो व्यञ्जन से समाप्त नहीं होता है, जो ह्रस्व होता है और जिसके बाद में संयोग नहीं होता है तथा जो अनुस्वार से संयुक्त नहीं होता है—इन (अक्षरों) को लघु जानना चाहिए।

त्रि० अ०—अव्यञ्जनान्तम्=जो व्यञ्जन से समाप्त नहीं होता है; यत् च ह्रस्वम्=और जो ह्रस्व होता है; यत् असंयोगपरम्=जिसके बाद में संयोग नहीं होता है; जो; अननुस्वारसंयुक्तम्=जो अनुस्वार से संयुक्त नहीं होता है;—इन सब अक्षरों को लघु जानना चाहिए। जैसे—"मदुदयनाः" इत्यादि। व्यञ्जन है अन्त में जिसके वह=व्यञ्जनान्तम्, जो व्यञ्जन से समाप्त नहीं होता है=अव्यञ्जनान्तम्। संयोग है बाद में जिससे वह=संयोग पर; जिसके बाद में संयोग नहीं है वह=असंयोगपर। अनुस्वार से संयुक्त=अनुस्वारसंयुक्त, जो अनुस्वार से संयुक्त नहीं होता है वह=अननुस्वारसंयुक्तम् ॥१५॥

वै० अ०—शेष को (सूत्रकार) कहते हैं—

यद्ध्रस्वम्=जो ह्रस्व अक्षर; अव्यञ्जनान्तम्=व्यञ्जन से समाप्त नहीं होता है=स्वयं ही विराम रूप अवधि होता है; यच्च=और जो; असंयोगपरम्=संयोगपर (संयुक्त व्यञ्जन है बाद में जिससे ऐसा) नहीं होता है; और जो (अननुस्वारसंयुक्तम्=) अनुस्वारपर (अनुस्वार है बाद में जिससे ऐसा)

---

(१) ४।२।३ (२) ६।१।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतत्सर्वं लघ्विति निबोधतेति आचार्यस्य स्वशिष्याननुशासतो वाक्यम्। विरामस्थं यथा—"धिये पूषन्नयुज्महि"[१]। "हितेनेव जयामसि"[१]। असंयोगपरमननुस्वारसंयुक्तं च यथा—"भुवनमसि"[२]। "हरिरसि"[३]। यद्यपि शेषाणि लघूनीत्येतावतैव लक्षणेन लक्ष्यं सिद्ध्यति, तथाऽपि विष्पष्टार्थं शिक्षायां शेषाण्यपि सङ्गृहीतानीहानुभाव्यन्त इति वेदितव्यम्॥

गुरुलघुविज्ञानस्य तु प्रयोजनं ब्रूमः—

गुर्वक्षरे द्विमात्रत्वं सर्वशास्त्रेषु सुस्फुटम्।
ह्रस्वे गुरौ तत्सम्पत्तिः परव्यञ्जनकालतः॥ १॥

यत्र ह्रस्वादूनकालं विरामव्यञ्जनं परम्।
तत्कालशेषस्संयोज्यो विरामे तु ततः परे॥ २॥

विरामस्थाः कटतपविसर्गाश्चेत्परेष्वतः।
विरामेषु त्वृगादीनामर्धमात्राऽधिका भवेत्॥ ३॥

एतदर्थं हि भगवानृग्विरामाद्यनन्तरम्।
गुरुलघ्वक्षरज्ञानं शिक्षोक्तं प्राह सूत्रकृत्॥ ४॥

नहीं होता है—; एतत्=यह; सब; लघु है—ऐसा; निबोधत=जानो; अपने शिष्य को अनुशासन करते हुए आचार्य का वाक्य है। विराम में स्थित जैसे—"धिये पूषन्नयुज्महि"। "हितेनेव जयामसि"। असंयोगपर और अनुस्वार से असंयुक्त जैसे—"भुवनमसि"। "हरिरसि"। यद्यपि 'शेष लघु हैं'—इतने ही लक्षण से लक्ष्य सिद्ध हो जाता है, तथापि विस्पष्ट करने के लिए शिक्षा में शेष के रूप में संगृहीत (स्थलों) का यहाँ पुनः कथन किया गया है—यह जानना चाहिए—

(अक्षरों के) गुरु-लघु ज्ञान का प्रयोजन कहते हैं—

गुरु अक्षर में दो मात्राओं का होना सभी शास्त्रों में स्पष्ट (कहा गया) है। ह्रस्व (के) गुरु-(त्व) में उसका सम्पादन (पूर्णत्व) परवर्ती व्यञ्जन के काल से होता है। जहाँ पर ह्रस्व से परवर्ती कम काल वाला व्यञ्जन विरामभूत हो तो उसके बाद के विराम में उस (अक्षर) का शेष काल जोड़ देना चाहिए। क, ट, त, प और विसर्ग यदि विराम में हों तो उनके बाद वाले ऋचा आदि के विरामों में आधी मात्रा अधिक हो जाती है। इसलिए ही भगवान् सूत्रकार ने ऋग्विराम आदि के बाद शिक्षा में कहे गए गुरु लघु अक्षरों के विज्ञान को प्रतिपादित किया है॥ १-४॥

---

(१) १।१।१४ (२) १।१।१२ (३) १।४।२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र ऋग्विरामस्सार्धत्रिमात्रिको भवति। "उप चिन्वन्ति वेधसः। पूष्णस्तानि"[१]। "विश्वास्सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे। अश्याम तम्"[२]। पदविरामस्सार्ध द्विमात्रिकः—"वषट्-करोति"[३]। "त्रिष्टुप्-त्वा"[४]। अनुवाकान्तविरामः सार्धपञ्च-मात्रः—"सप्तदशꣳस्तोममुदजयत्"[५]। "स यन्ता शश्वतीरिषः"[६]। प्रश्नान्तविरामस्सा-र्धाष्टमात्रः—"तव ज्योतीꣳष्यर्चयः"[७]॥ "शमु ते तनुवे भुवत्"[८]। काण्डान्तविराम-स्सार्धदशमात्रः—"प्रातार्यग्ने प्रतरां न आयुः"[९]। तन्त्रान्तविरामः सार्धमात्रत्र्यहकालः—"योनिस्समुद्रो बन्धुः"[१०]॥ १५॥

उनमें ऋग्विराम साढ़े तीन मात्रा का होता है। (जैसे) "उप चिन्वन्ति वेधसः। पूष्णस्तानि"॥ "विश्वास्सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे। अश्याय तम्"॥ पदविराम ढाईमात्रा का होता है (जैसे)-"वषट्करोति"॥ "त्रिष्टुप्-त्वा"॥ अनुवाक के अन्त में विराम साढ़े पाँच मात्रा का होता है (जैसे)—"सप्तदशं स्तोममुदजयत्"॥ "स यन्ता शश्वतीरिषः"॥ प्रश्न के अन्त में विराम साढ़े आठ मात्रा का होता है। (जैसे)—"तव ज्योतींष्यर्चयः"॥ "शमु ते तनुवे भुवत्"॥ काण्ड के अन्त में विराम साढ़े दस मात्रा का होता है (जैसे)—"प्रातर्यग्ने प्रतरां न आयुः"॥

(इन सबका) सम्मिलित विराम (संहितापाठ की समाप्ति में) आधी मात्रा सहित तीन दिन के काल का होता है। (जैसे) "योनिस्समुद्रो बन्धुः॥१५॥"

---

(१) १।१।७ (२) १।३।१४ (३) ३।४।८ (४) १।८।१३
(५) १।७।११ (६) १।३।१३ (७) १।३।१४
(८) ५।२।१२ (९) ४।७।१५ (१०) ७।५।२५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अथ वर्णविशेषोत्पत्तिः ॥ १ ॥

मा०—अथेत्यधिकारः। वर्णविशेषोत्पत्तिरित्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। (वर्णविशेषोत्पत्तिः =) वर्णानां विशेषोत्पत्तिः; उच्यते। इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। वर्णानां विशेषो वर्णविशेषः, तस्य उत्पत्तिः, सा तथोक्ता ॥ १ ॥

वै०—(अथ =) इदानीम्; वर्णविशेषोत्पत्त्यादीन्यवशिष्टानि कार्याणि वक्ष्यन्ते—अथेत्यधिकारः। वर्णविशेषाणामुत्पत्तिरधिकृता वेदितव्या ॥ १ ॥

अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्।
जायते वर्णवैशेष्यं परीमाणाच्च पञ्चमादिति ॥ २ ॥

मा०—अनुप्रदानात् अनुप्रदीयते इत्यनुप्रदानम्, तेन, संसर्गात् संसर्गेण, स्थानात् स्थानेन, करणविन्ययात् करणविन्यासेन, परिमाणात् परिमाणेन च, एतैः पञ्चभिः कारणैः वर्णानां वैशेष्यमुत्पद्यते। अकारस्य तावन्नादोऽनुप्रदानम्, कण्ठः संसर्गः, आस्यहनू स्थानम्, ओष्ठौ करणविन्यासौ, मात्राकालः परिमाणमिति। एवं सर्ववर्णानां बोद्धव्यमिति। अपभ्रष्टाश्च ये वर्णाः ककार-रेफ-तकारादयस्तेषां नातीव भेदः, समीपदेशत्वात्। [अपतानौ नकारापभ्रंशं प्रयुञ्जत एव शिष्टा पदादोचास्मत् पययि स यजमानः मानो मित्र + + नादौ तृतीयस्थाकारवभ्रंशा गणपर इति रेफस्य पुरस्तादिति तकारस्य तद्युक्तं किल शिष्टानामपभ्रंशं परिहरेदिति शिक्षापदम् (?)]

सू० अ०—अब वर्णों के रूप भेद (विशेष) की उत्पत्ति (कही जाती है)।

त्रि०अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। (वर्णविशेषोत्पत्तिः =) वर्णों के रूप-भेद की उत्पत्ति; कही जाती है—इससे आगे जो कहेंगे वहाँ यह अधिकार जानना चाहिए। वर्णों का विशेष = वर्ण-विशेष, उसकी उत्पत्ति—वह वैसी कही गई (= वर्णविशेषोत्पत्ति) है ॥१॥

वै०अ०—(अथ =) अब; वर्णविशेषोत्पत्ति = वर्णों के रूप-भेद की उत्पत्ति; इत्यादि अवशिष्ट कार्य कहे जायेंगे—अथ—यह अधिकार का वाचक है। वर्णों के रूप-भेदों की उत्पत्ति अधिकृत जाननी चाहिए ॥१॥

सू०अ०—बाह्य, प्रयत्न (अनुप्रदान) से, संसर्ग से, आभ्यन्तर-प्रयत्न (करण) के विन्यास से और पञ्चम परिमाण से वर्णों में वैशिष्ट्य (विभिन्नता, रूप-भेद) उत्पन्न होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—(अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्। परीमाणाच्च पञ्चमात्=) अनुप्रदानादिभिः पञ्चभिः करणैः; (वर्णवैशेष्यम्=) वर्णानां वैशेष्यम्; जायते। अकारस्य तावत् अनुप्रदानं नादः। संसर्गः कण्ठे। स्थानं हनू। करणविन्ययः ओष्ठौ। विन्ययः नाम विन्यासः। परिमाणं मात्राकालः। एवं सर्ववर्णानां बोद्धव्यम्। विशेषस्य भावो वैशेष्यं, वर्णानां वैशेष्यं, वर्णवैशेष्यम् ॥ २ ॥

वै०—अनुप्रदानं नादादि। संसर्गो वायुस्थानसंसर्गोऽभिघातात्मकः। स त्रिविधः—अयः-पिण्डवद्दारुपिण्डवदूर्णापिण्डवदिति ॥ तदुक्तमापिशलशिक्षायाम्—"स्पर्शयमवर्णंकरो वायुः अयः पिण्डवत्स्थानमापीडयति। अन्तस्थावर्णकरो वायुः दारुपिण्डवत्। ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवदिति"। स्थानं हनूमूलादि। करणमोष्टादि। तस्य विन्ययो विविधस्पर्शनं स्पृष्टादि। एतेभ्यश्चतुर्भ्यो निमित्तेभ्यः वर्णस्य वैशेष्यं असाधारणरूपं जायते। विशेष्यत इति विशेषः, तस्य भावो वैशेष्यम्। तथा परीमाणरूपात् पञ्चमाच्च करणाद्वर्णवैशेष्यं जायते। परीमाणस्य पृथग्वचनं स्वराख्यवर्णमात्रविषयत्वख्यापनार्थम्। तेन व्यञ्जनानां ङकारानुस्वारादीनां कालभेदे वर्णान्यत्वं न भवति। एतेन द्वितीयाध्यायोक्तानामनुप्रदाना-

---

त्रि०अ०—(अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्। परीमाणाच्च पञ्चमात्=) अनुप्रदान आदि पाँच करणों से; (वर्णवैशेष्यम्=) वर्णों का वैशेष्य; उत्पन्न होता है। जैसे—अकार का अनुप्रदान नाद है। कण्ठ में संसर्ग होता है। हनू (दोनों जबड़े) उच्चारण-स्थान हैं। दोनों ओष्ठ करण-विन्यास हैं। विन्यय= विन्यास। परिमाण का अर्थ है मात्राकाल। इसी प्रकार सब वर्णों के (अनुप्रदान आदि को) जानना चाहिए। विशेष का भाव=वैशेष्य, वर्णों का वैशेष्य= वर्णवैशेष्यम् ॥२॥

वै० अ०—नाद आदि अनुप्रदान हैं। संसर्ग=वायु और उच्चारण-स्थान का संसर्ग जो आघात (टकराने) के रूप में होता है। वह तीन प्रकार का होता है—लौह-पिण्ड के समान, काष्ठ-पिण्ड के समान और ऊन के पिण्ड के समान। आपिशलि शिक्षा में यह कहा गया है—"स्पर्श तथा यम-वर्णों को उत्पन्न करने वाली वायु अयःपिण्ड के समान उच्चारण-स्थान को दबाती है। अन्तस्था-वर्णों को उत्पन्न करने वाली वायु दारु-पिण्ड के समान तथा ऊष्म और स्वर-वर्णों को उत्पन्न करने वाली वायु ऊन के पिण्ड के समान उच्चारण-स्थान को दबाती है। हनुमूल इत्यादि स्थान हैं। ओष्ठ आदि करण हैं। उस (करण) का विन्यय= विविध प्रकार का स्पर्शन स्पृष्ट आदि। इन चार निमित्तों से वर्ण का वैशेष्य= असाधारण रूप; उत्पन्न होता है' विशिष्ट किया जाता है इसलिए विशेष है, उसका भाव वैशेष्य है। उसी प्रकार परिमाण-रूप पञ्चम-करण से वर्णों का वैशेष्य उत्पन्न होता है। परिमाण का पृथक् रूप से कथन केवल स्वर संज्ञक वर्णों के विषयत्व को बतलाने के लिए (किया गया है)। इससे ङकार और अनुस्वार आदि व्यञ्जनों का काल-भेद होने पर अन्य वर्णत्व नहीं होता है। इस (सूत्र)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीनां द्वाविंशाध्यायोक्तं रूपान्यत्वं प्रति कारणतामुपदिशता तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वमित्येतद्विवृतम् ॥ २ ॥

वर्णपृक्तः शब्दो वाच उत्पत्तिः ॥ ३ ॥

मा०—वर्णमिश्रः शब्दो वाच उत्पत्तिर्भवति। यथा—आ उ इति। वर्णपृक्त इति किम्? कासष्टीवनक्षवथुप्रभृतिभिः शब्दा उत्पद्यन्ते। तेषु यथायुक्तं न स्यादिति ॥३॥

त्रि०—पृक्तः मिश्र इत्यर्थः; (वर्णपृक्तः=) वर्णमिश्रः; शब्दः; वाचः=वाक्यस्य; उत्पत्तिः=उपादानकारणम्; भवति। वर्णपृक्त इति किम्? दुन्दुभ्यादिशब्दानां वाक्यता मा भूदिति ॥३॥

वै०—एवं वर्णोत्पत्तिरुक्ता। इदानीं वाक्योत्पत्तिमाह—

(वर्णपृक्तः=) उच्चरितप्रध्वंसिभिः पूर्ववर्णैः पृक्तस्संयुक्तोऽन्त्यवर्णात्मकः शब्दः पदवाक्यरूपाया वाचः उत्पत्तिः। एतदुक्तं भवति—वर्णाः खलु पदवाक्यरूपस्य शब्दस्य कारणम्। तेषां तूच्चरितप्रध्वंसिनां तन्त्वादिवत्सहावस्थानायोगात् स्मृत्यारूढैः पूर्ववर्णैः सम्पृक्तोऽन्त्यवर्णः पदं वाक्यं भवति ॥३॥

के द्वारा दूसरे अध्याय में कहे गए अनुप्रदान इत्यादि की बाइसवें अध्याय में कहे गए रूपान्यत्व (रूप-भेद) के प्रति कारणता का उपदेश करते हुए (आचार्य के द्वारा) यह बतलाया गया है कि उसके रूपान्यत्व होने पर वर्णान्यत्व हो जाता है ॥ २ ॥

सू० अ०—वर्ण से मिला हुआ शब्द (=ध्वनि) वाणी का उपादान-कारण है।

त्रि० अ०—पृक्त=मिला हुआ—यह अर्थ है। (वर्णपृक्तः=) वर्ण से मिला हुआ; शब्द; वाचः=वाक्य का; उत्पत्तिः=उपादानकारण; होता है। वर्ण से मिला हुआ—यह क्यों (कहा)? दुन्दुभि इत्यादि के शब्दों का वाक्यत्व न हो जाये ॥ ३ ॥

वै० अ०—इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति कह दी गई है। अब (सूत्रकार) वाक्य की उत्पत्ति बतलाते हैं—

(वर्णपृक्तः=) उच्चारित होने के अनन्तर विनष्ट हो जाने वाले पूर्ववर्ती वर्णों के साथ संयुक्त अन्तिम वर्णरूप; शब्दः=ध्वनि; पदवाक्यरूप; वाचः=वाणी की; उत्पत्ति। कहने का यह अभिप्राय है—वर्ण पदवाक्यरूप शब्द के कारण हैं। किन्तु उच्चारित होने के अनन्तर विनष्ट हो जाने वाले (वर्ण) तन्तु आदि की भाँति एक साथ अवस्थित नहीं हो सकते हैं, अतः स्मृति में आरूढ़ (चढ़े हुए) पूर्ववर्ती वर्णों के साथ संयुक्त अन्तिम वर्ण पद और वाक्य हो जाता है ॥३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्त वाचस्थानानि भवन्ति ॥ ४ ॥

मा०—सप्त खलु वाचः स्थानानि वेदितव्यानि। यैर्वाक् प्रकाश्यते। अस्मिन् तिष्ठन्तीति स्थानानि। यथाक्रममुदाहरिष्यामः ॥४॥

त्रि०—वाचः सप्त स्थानानि भवन्ति तानि उत्तरसूत्रे वक्ष्यन्ते। यैर्वाक् प्रयुज्यते यस्मिंश्च तिष्ठति तत् स्थानम्। तानि यथाक्रममुदाहरिष्यामः ॥४॥

उपा॑शुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमतारा॒णि ॥ ५ ॥

मा०—स्थानानि भवन्ति। उपांश्विति प्रथमं स्थानम्, ध्वानमिति द्वितीयम्, निमदमिति तृतीयम्, उपब्दिमदिति चतुर्थम्, मन्द्रमिति पञ्चमम्, मध्यममिति षष्ठम्, तारमिति सप्तमम्, इत्येतानि नामतः सप्त वाचः स्थानानि वेदितव्यानि ॥५॥

त्रि०—उपांशु इति प्रथमं वाचस्थानम्। ध्वानः इति द्वितीयम्। निमदः इति तृतीयम्। (उपब्दिमन्मन्द्रमध्यमतारा॒णि =) एवमितराण्यपि; नामतः सप्तैतानि स्थानानि जानीयात्। उपरितनं सूत्रमारभ्य प्रत्येकमेषां स्थानानां लक्षणं वक्ष्यते ॥५॥

वै०—इदानीं यज्ञकर्मादिविषयस्य वेदोच्चारणस्य प्रसिद्ध्यर्थमुपांश्वादीनि शब्दतारतम्यस्थानानि लक्षयति—

उपांशु, ध्वानः, निमदः, उपब्दिमत्, मन्द्रम्, मध्यमम्, तारमिति सप्तैतानि वाचः प्रयोगस्य तारतम्यस्थानानि भवन्ति ॥५॥

सू० अ०—वाणी के सात स्थान (अवस्थायें) होते हैं।

त्रि० अ०—वाचः = वाणी के; सप्त = सात, स्थानानि = स्थान; भवन्ति = होते हैं। उनको अगले सूत्र में कहा जायेगा। जिनके द्वारा वाणी प्रयुक्त होती है और जिसमें (वाणी) स्थित होती है—वह स्थान है।

सू० अ०—उपा॑शु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और तार (वाणी के ये सात स्थान हैं)।

त्रि० अ०—उपांशु—वाणी का यह प्रथम स्थान (अवस्था) है। ध्वान—यह द्वितीय, निमद—यह तृतीय (स्थान है)। (उपब्दिमन्मन्द्रमध्यमतारा॒णि =) इसी प्रकार अन्य भी; इन सात स्थानों को नाम से जानना चाहिए। अगले सूत्र से आरम्भ करके इनमें से प्रत्येक स्थान का लक्षण कहा जायेगा ॥५॥

वै० अ०—अब यज्ञ-कर्म इत्यादि से सम्बद्ध वेदोच्चारण की सिद्धि के लिए शब्द (ध्वनि) की वृद्धि के क्रम से स्थानों का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और तार—ध्वनि के चढ़ाव के अनुसार ये सात वाणी के उच्चारण-स्थान होते हैं ॥५॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करणवदशब्दममनःप्रयोगमुपांशु ॥६॥

मा०—यथा यथा स्थानकरणैः वर्णा [अर्थशब्देन] प्रयुज्यमाना न मनसा, तत्स्थानमुपांश्विति वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

त्रि० अ०—करणवत् = प्रयत्नवदित्यर्थः। नास्ति शब्दो ध्वनिरस्मिन् इत्यशब्दम्। मनसा प्रयोगः मनःप्रयोगः नास्ति मनःप्रयोगोऽस्मिन् इति अमनःप्रयोगम्। वाचस्स्थानमीदृशं उपांशु इत्युपदिश्यते। तत्र करणवदिति तूष्णीम्भावनिवृत्त्यर्थः। अशब्दमिति शब्दस्यात्यताल्पतार्थः। अमनःप्रयोगमित्युदात्तादीनां साङ्कल्पिकप्रतिषेधार्थः ॥ ६ ॥

वै०—एतेषामुद्देशः कृतः। इदानीं क्रमेण लक्षणान्युच्यन्ते—

करणवत् करणव्यापारसंयुक्तं, अशब्दं शब्दरहितमित्येतावत् उपांशुस्थानलक्षणम्। तत्र अशब्दमिति किं परग्राह्यस्य शब्दस्याभाव उच्यते ? उत स्वग्राह्यस्यापि ? इति संशयस्य निरासार्थममनःप्रयोगमित्युच्यते। तत्र, "नञिव युक्त" न्यायेन मनःप्रयोगसादृश्यावगमात्स्वयंग्राह्यस्यापि शब्दस्याभाव इहाभिमत इति गम्यते। करणव्यापारसद्भावेऽपि वायुसंसर्गाभावाच्छब्दो नोत्पद्यत इत्यशब्दत्वमुपपद्यते। करणवदित्यनेन मनःप्रयोगो व्यावर्त्यते। अशब्दमिति ध्वानादीनि ॥ ६ ॥

सू० अ०—(सम्बद्ध उच्चारणावयव के) प्रयत्न से बिना शब्द किए तथा मन-ही-मन में न किया जाने वाला उच्चारण (प्रयोग) उपांशु है।

त्रि०—करणवत् = प्रयत्न से समन्वित—यह अर्थ है। नहीं है शब्द = ध्वनि जिसमें वह = अशब्दम्। मन से उच्चारण (प्रयोग) = मनःप्रयोग, नहीं है मनःप्रयोग जिसमें वह = अमनःप्रयोगम्। इस प्रकार का वाणी का स्थान उपांशु कहा जाता है। उनमें से करणवत्—यह पूर्ण खामोशी (चुप्पी) की निवृत्ति के लिए है। अशब्दम्—यह ध्वनि की अत्यन्त अल्पता के लिए है। अमनःप्रयोग—यह उदात्त आदि के साङ्कल्पिक उच्चारण के प्रतिषेध के लिए है ॥ ६ ॥

वै० अ०—इन (उपांशु इत्यादि स्थानों) का नामोल्लेख किया गया है। अब क्रम से (इनके) लक्षण कहे जाते हैं—

करणवत् = उच्चारणावयव (करण) के व्यापार से युक्त; अशब्दम् = शब्द से रहित—इतना उपांशु-स्थान का लक्षण है। उनमें से (जो) अशब्द है उसके द्वारा क्या दूसरों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले शब्द का अभाव कहा जाता है अथवा अपने द्वारा ग्रहण किए जाने वाले (शब्द) का भी ? इस संशय के निराकरण के लिए 'अमनःप्रयोग' कहा गया है, वहाँ "नञिव युक्त" इस न्याय से मनःप्रयोग के सादृश्य के ज्ञान से अपने द्वारा ग्रहण किए जाने वाले भी शब्द का अभाव यहाँ अभिमत है—यह ज्ञात होता है। उच्चारणावयव (करण) के व्यापार का सद्भाव होने पर भी वायु के संसर्ग का अभाव होने से शब्द उत्पन्न नहीं होता है—इससे अशब्दत्व उपपन्न होता है। करणवत्—इससे मनःप्रयोग की निवृत्ति की जाती है। अशब्दम्—इससे ध्वान इत्यादि की निवृत्ति की जाती है ॥ ६ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः ॥७॥

मा०—अक्षराणि स्वकरणवता [शब्देन चैव] यत्र स्वरो वा व्यञ्जनं वा नोपलभ्यते तत्स्थानं ध्वानमिति वेदितव्यम्। उपांशुलक्षणेऽप्यक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धौ सत्यां पुनर्वचनं शब्दोपलब्धिविधानार्थम्। अक्षरव्यञ्जनानां भेदेन ग्रहणमभिख्यार्थम्। अत्यन्तानुपलब्धिरित्यर्थः। तद्यथा—"न ग्राम्यस्य पशोरन्तेनारण्यस्याध्येतव्य" मिति (?)। अन्य आहुः—अक्षराणां च विसर्जनीयानामनुपलब्धिरिति ॥ ७ ॥

त्रि०—अक्षराणि स्वराः। (अक्षरव्यञ्जनानाम् =) अक्षराणां व्यञ्जनानाम् च; अनुपलब्धिः ध्वानः नाम द्वितीयं वाचस्स्थानम्। उपांशुलक्षणेऽप्यनुपलब्धौ सत्यां पुनर्वचनं शब्दोपलब्धिविधानार्थम्। अक्षरव्यञ्जनानां भेदग्रहणमभिख्यार्थम्, अत्यन्तानुपलब्धिरित्यर्थः। अन्ये त्वाहुः, अक्षरव्यञ्जनानां विसर्जनीयादीनामनुपलब्धिरिति। ७ ॥

वै०—यस्मिन्स्थाने प्रयुञ्जानः शब्दसामान्यमुपलभते अक्षरव्यञ्जनानां विवेकं तु नोपलभते तत् खलु ध्वानसंज्ञं भवति ॥ ७ ॥

उपलब्धिर्निमदः ॥८॥

मा०—एतेनैव करणवता अक्षरव्यञ्जनानामुपलब्धिस्तत्स्थानं निमदमिति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥

सू० अ०—स्वरों (अक्षरों) और व्यञ्जनों की जिसमें उपलब्धि नहीं होती वह ध्वान है।

त्रि० अ०—अक्षर = स्वर। (अक्षरव्यञ्जनानाम् =) अक्षरों (स्वरों) और व्यञ्जनों की; अनुपलब्धि ध्वान नामक वाणी का द्वितीय स्थान (अवस्था) है। उपांशु लक्षण में भी अनुपलब्धि होने पर उसका (प्रस्तुत सूत्र में) पुनः कथन शब्दोपलब्धि के विधान के लिए (किया गया है)। अक्षरों और व्यञ्जनों का पृथक् रूप से ग्रहण स्पष्टता के लिए (किया गया है)। (इनके भेद की) पूर्ण अनुपलब्धि होती है—यह अर्थ है। दूसरे लोग तो कहते हैं—अक्षरों, व्यञ्जनों और विसर्जनीय आदि की अनुपलब्धि होती है ॥ ७ ॥

वै० अ०—जिस स्थान में उच्चारण होने पर शब्दसामान्य की उपलब्धि होती है, अक्षरों और व्यञ्जनों के भेद की उपलब्धि नहीं होती है, वह ध्वान-संज्ञक होता है ॥ ७ ॥

सू० अ०—(जहाँ स्वरों और व्यञ्जनों की) उपलब्धि (होती है वह) निमद (-संज्ञक वाणी का स्थान) है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—अक्षरव्यञ्जनानां उपलब्धिः निमदः नाम तृतीयं वाचः स्थानं भवति ॥८॥

वै०—यत्र स्थाने शब्दं प्रयुञ्जानोऽक्षरस्य व्यञ्जनानां; (उपलब्धिः=) विवेकमुपलब्धते; परेण शब्दसामान्येऽप्यनुपलभ्यमाने, तन्निमदसंज्ञं भवति ॥ ८ ॥

सशब्दमुपब्दिमत् ॥९॥

मा०—करणवता शब्देनाक्षरव्यञ्जनानां यत्रोपलब्धिर्भवति तत्स्थानमुपब्दिमदिति वेदितव्यम् । [ध्वाननिमदेऽपि शब्द उच्यते इह सहार्थं संस्कारम् (?) ॥९॥

त्रि०—अक्षरव्यञ्जनानां सशब्दम् उपलब्धिः उपब्दिमत् नाम चतुर्थं वाचः स्थानं भवति ।

वै०—सशब्दं परश्राव्यशब्दसहितम् । यत्र प्रयुज्यमानशब्दः परैरक्षरव्यञ्जनविवेकवर्जं श्रूयते तदुपब्दिमत्संज्ञं भवति ॥ ९ ॥

त्रि० अ०—अक्षरों (स्वरों) और व्यञ्जनों की उपलब्धि निमद नामक तृतीय वाणी का स्थान है[क] ।

वै० अ०—जिस स्थान में शब्द का उच्चारण होने पर अक्षर (स्वर) और व्यञ्जनों का भेद; उपलब्धिः = उपलब्ध होता है—वह निमद-संज्ञक (स्थान) होता है ॥ ८ ॥

सू० अ०—शब्द के साथ (अक्षर और व्यञ्जनों की उपलब्धि) उपब्दिमत् है ।

त्रि० अ०—अक्षरों और व्यञ्जनों की; सशब्दम् = शब्द के साथ; उपलब्धि उपब्दिमत् नामक चतुर्थ वाणी का स्थान होता है[ख] ॥

वै० अ०—सशब्दम् = शब्द के सहित = दूसरे के द्वारा सुने जाने वाले शब्द के सहित । जहाँ उच्चारण होने पर शब्द दूसरों के द्वारा अक्षर और व्यञ्जन के भेद को छोड़कर सुना जाता है वह उपब्दिमत् संज्ञक होता है ॥ ९ ॥

(क) वाणी की निमद नामक तृतीय अवस्था में ध्वनि कुछ और ऊँची हो जाती है जिससे उसमें स्वरों और व्यञ्जनों का भेद स्पष्ट होता है ।

(ख) निमद नामक तृतीय वाणी के स्थान में भी अक्षरों और व्यञ्जनों का भेद प्राप्त होता है, किन्तु उपब्दिमत् नामक चतुर्थ वाणी के स्थान में अक्षरों और व्यञ्जनों का भेद तो स्पष्ट होता ही है, किन्तु ध्वनि कुछ उच्च होती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उरसि मन्द्रम् ॥१०॥

कण्ठे मध्यमम् ॥११॥

शिरसि तारम् ॥१२॥

मा०—यत्रोरसि स्थाने प्रयोग उपलभ्यते तत्स्थानं मन्द्रमिति वेदितव्यम् ॥१०॥

यत्र कण्ठे स्थाने प्रयोग उपलभ्यते तत्स्थानं मध्यमिति वेदितव्यम् ॥ ११॥

यत्र शिरसि शिरस्थाने प्रयोग उपलभ्यते तत् स्थानं तारमिति वेदितव्यम् ॥१२॥

त्रि०—यत्र उरसि स्थाने प्रयोग उपलभ्यते, तत् मन्द्रं नाम पञ्चमं वाचस्स्थानम्। यत्र कण्ठे स्थाने प्रयोग उपलभ्यते, तत् मध्यमं नाम षष्ठं वाचस्स्थानम्। यत्र शिरसि स्थाने प्रयोग उपलभ्यते, तत् तारं नाम सप्तमं वाचस्स्थानम्। एतेष्वादितश्चतुर्णां यज्ञादिषु प्रयोगः। मन्द्रं प्रातस्सवने प्रयुज्यते। मध्यमं माध्यन्दिने सवने। तारं तृतीयसवने। शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
माध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥
तारं तु विद्यात्सवने तृतीये शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वनानां तुल्येन नादेन शिरस्स्थितेन ॥१०-१२॥

सू० अ०—हृदय में मन्द्र, कण्ठ में मध्यम और शिर में तार (नामक वाणी का स्थान होता है)।

त्रि० अ०—जहाँ; उरसि = हृदय स्थान में; उच्चारण होता है, वह मन्द्र नामक पञ्चम वाणी का स्थान है। जहाँ; कण्ठे = कण्ठ स्थान में; उच्चारण होता है, वह मध्यम नामक छठा वाणी का स्थान है। जहाँ; शिरसि = सिर-स्थान में उच्चारण होता है वह तार नामक सप्तम वाणी का स्थान है। इनमें से आदि वाले चार का यज्ञ आदि में उच्चारण होता है। मन्द्र प्रातस्सवन में उच्चारित होता है, मध्यम माध्यंदिन-सवन में, तार तृतीय-सवन में (उच्चारित होता है)। शिक्षा भी यही कहती है—प्रातः सवन में व्यक्ति को हृदय में स्थित स्वर के साथ, जो व्याघ्र के गुर्राने के सदृश होता है, पाठ करना चाहिए। माध्यन्दिन सवन में कण्ठ में स्थित (स्वर) के साथ, जो चक्रवाक के कूजने (चहचहाने) के सदृश होता है, पाठ करना चाहिए। तृतीय सवन में सर्वदा शिर में स्थित तार (स्वर) को प्रयुक्त करना चाहिए। (तार स्वर) शिर में स्थित नाद है जो मयूर, हंस और कोकिल की ध्वनियों के समान होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै०—यत्र स्थाने प्रयुज्यमानश्शब्दः प्रयोक्तुरुरसि तिष्ठन्निव परैरुपलभ्यते अक्षर-व्यञ्जनविवेकसंयुक्तं तन्मन्द्रसंज्ञं भवति। एतेनोत्तरसूत्रे व्याख्याते ॥१०॥

अत्र निमदादिस्थानीयशब्दो ध्वानादिस्थानीयात् प्रकृष्टश्रुतिर्भवति ॥११-१२॥

मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्तसप्त यमाः ॥१३॥

त्रि०—त्रिषु मन्द्रादिषु स्थानेषु एकैकस्मिन् सप्त सप्त यमाः भवन्ति। यमाः स्वरा उदात्तादय इति यावत्। सप्तसप्तेति वीप्सया एकैकस्मिन्निति लभ्यते। के ते यमा इत्याशङ्क्योत्तरसूत्रेणोत्तरमाह ॥१३॥

वै०—इदानीमुदात्तादिस्वरस्वरूपनिरूपणार्थं सामवेदप्रसिद्धान् सप्तस्वरांस्तावदाह—

(मन्द्रादिषु =) मन्द्रमध्यमतारास्येषु; त्रिषु वाचस्स्थानेषु; (सप्त-सप्त =) प्रत्येकं सप्त; (यमाः =) स्वरभेदाः; भवन्ति। तत्र समानस्थानवर्तिनां स्वरभेदानां श्रुति-तारतम्यं न विद्यते। अपि तु उत्क्षेपणादिकृतस्स्वरूपभेद एव ॥१३॥

वै० अ०—जिस स्थान में उच्चारित होने पर शब्द दूसरों के द्वारा उच्चारण-कर्त्ता के; उरसि = हृदय में; स्थित सा-उपलब्ध होता है, अक्षरों और व्यञ्जनों के भेद से युक्त वह स्थान मन्द्र-संज्ञक होता है। इससे बाद वाले दो सूत्रों की व्याख्या (भी) हो जाती है ॥ १० ॥

इनमें से निमद आदि स्थानों में उच्चारित शब्द ध्वान आदि स्थानों में (उच्चारित शब्द से) अधिक उच्च-ध्वनि वाला होता है ॥ ११-१२ ॥

सू० अ०—मन्द्र आदि तीन स्थानों में सात-सात यम (स्वर) होते हैं।

त्रि० अ०—मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु = मन्द्र इत्यादि तीन स्थानों (मन्द्र, मध्यम और तार) में; एक-एक स्थान में; सप्त सप्त यमाः = सात-सात यम; होते हैं। यमाः = स्वर = उदात्त आदि—यह अर्थ है। सप्त-सप्त—इस पुनरुक्ति से एक-एक (स्थान) में (सात यम होते हैं)—यह प्राप्ति होती है। वे यम कौन से हैं ? ऐसी शंका करके बाद वाले सूत्र से उत्तर कहते हैं ॥ १३ ॥

वै० अ०—अब उदात्त आदि स्वरों के स्वरूप के निरूपण के लिए सामवेद में प्रसिद्ध सात स्वरों को कहते हैं—

(मन्द्रादिषु =) मन्द्र, मध्यम और तार नामक; त्रिषु = तीन; वाणी के; स्थानेषु = स्थानों में; (सप्त सप्त =) प्रत्येक के सात; (यमाः) स्वर-भेद; होते हैं। उनमें समान स्थान में वर्तमान स्वर-भेदों में ध्वनि का तारतम्य (उतार-चढ़ाव) नहीं होता है। अपितु उत्क्षेपण आदि के कारण स्वरूप-भेद ही होता है ॥ १३ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः ॥१४॥

मा०—क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-मन्द्रा-तिस्वार्या इत्येते सप्त सप्त स्वरा नामतः मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु भवन्ति ॥ १४ ॥

त्रि०—क्रुष्टश्च प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयश्च चतुर्थश्च मन्द्रश्च अतिस्वार्यश्च ते तथोक्ताः। एते खलु यमा नाम ॥ १४ ॥

वै०—तेषां नामान्याह—

क्रुष्टः, प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, मन्द्रः अतिस्वार्यः इति तेषां नामधेयानि ॥ १४ ॥

तेषां दीप्तिजोपलब्धिः ॥१५॥

मा०—तेषां खलु सप्तानां स्वराणां दीप्तिजो दीप्तित उपलब्धिर्भवति। अतिस्वार्याद्दीप्तो मन्द्रः, मन्द्राच्चतुर्थः, चतुर्थात्तृतीयः, तृतीयाद् द्वितीयः, द्वितीयात्प्रथमः, प्रथमात्क्रुष्टः, इत्येवं सर्वस्थानेषु भवन्ति ॥१५॥

त्रि०—तेषां खलु सप्तयमानां उत्तरोत्तरदीप्तिजा पूर्वपूर्वोपलब्धिः स्यात्। तत्कथम् ? अतिस्वार्यदीप्तिजा मन्द्रोपलब्धिः, मन्द्राच्चतुर्थोपलब्धिः। चतुर्थात् तृतीयः, तृतीयात् द्वितीयः द्वितीयात् प्रथमः, प्रथमात् क्रुष्ट उपलभ्यते ॥१५॥

वै०- तेषां स्वरूपावगतिस्तु कथमिति चेत्तदाह—तेषां क्रुष्टादीनां स्वरभेदानां स्वरूपोपलब्धिर्दीप्तिजा स्फूर्तिभेदाज्जायते ॥१५॥

सू० अ०—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य (ये सात यम हैं)।

त्रि० अ०—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य—ये उस प्रकार कहे गये हैं। ये ही यम नाम वाले हैं ॥ १४ ॥

वै० अ०—उनके नामों को (सूत्रकार ने) कहा है - क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य—ये उन (यमों) के नाम हैं ॥ १४ ॥

सू० अ०—उनकी उपलब्धि स्फूर्तिभेद से होती है।

त्रि० अ०—तेषाम् = उन सात यमों की; (दीप्तिजा =) उत्तरोत्तर की दीप्ति से उत्पन्न होने वाली; पूर्व-पूर्व की उपलब्धि होती है। वह कैसे ? अतिस्वार्य की दीप्ति से मन्द्र की उपलब्धि होती है, मन्द्र से चतुर्थ की उपलब्धि होती है, चतुर्थ से तृतीय, तृतीय से द्वितीय, द्वितीय से प्रथम, प्रथम से क्रुष्ट की उपलब्धि होती है ॥ १५ ॥

वै० अ०—उनके स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है—यह बतलाते हैं-तेषाम् = क्रुष्ट आदि उन स्वर-भेदों के स्वरूप की उपलब्धि; दीप्तिजा = स्फूर्ति के भेद से उत्पन्न होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयप्रथमक्रुष्टात्त्रय आह्वारकस्वराः ॥१६॥

मा०—एते त्रयः स्वरा आह्वारकाः, आयामो दारुण्यमिति लक्षणवशात् उत्क्षेपिण इत्यर्थः। एतेन तृतीयमर्वाधं कृत्वा चतुर्थाद्या अन्ववसर्गं इति लक्षणवशादवक्षेपिणः। तृतीयस्तु धृतप्रचय इति गम्यते।

प्रातिलोम्येन निर्देशात्तृतीयस्त्वविधिः समः।
उत्क्षिप्तोत्क्षिप्ततरकौ द्वितीयप्रथमौ मतौ॥
स्यात् क्षिप्त उत्क्षिप्ततमस्तृतीया उत्तरास्त्रयः।
चतुर्थाद्या अवक्षेप्यास्तारतम्यं तु पूर्ववत्॥
तृतीयस्तु समः। उत्क्षेपावक्षेपयोरित्यर्थः॥

अस्त्वेवं सामवेदे, तैत्तिरीयशाखायां किमायातम्, तत्राह—

त्रि०—द्वितीयश्च प्रथमश्च क्रुष्टश्च ते तथोक्ताः। एते त्रय आह्वारकस्वराः स्युः। एषां तैरेव प्रयोगो वेदितव्यः। आह्वारकाणां स्वराः आह्वारकस्वरा ॥१६॥

मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः ॥१७॥

मा०—तित्तिरिणा प्रोक्तं तैत्तिरीयम्, तत्र भवास्तैत्तिरीयका। मन्द्र-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीया स्युः। अनुदात्तस्वरितप्रचयोदात्ता इत्यर्थः॥

एवं सामवेदोक्तक्रमं निरूप्यास्मदाचार्यक्रमं निरूपयति।

त्रि०—मन्द्रादयश्चत्वारो द्वितीयान्ताः स्वराः मन्द्रचतुर्थतृतीयद्वितीयाः, तैत्तिरीयकाः स्युः ॥१७॥

वै०—ननु यद्यप्येषां दीप्तिभेदात्परस्परभेदोपलब्धिर्जायते, तथाऽपि कीदृशी दीप्तिः

सू० अ०—द्वितीय, प्रथम, क्रुष्ट—ये तीन आह्वारक शाखा वालों के स्वर हैं।

त्रि० अ०—द्वितीय, प्रथम और क्रुष्ट—ये; त्रयः=तीन; आह्वारकस्वराः=आह्वारकों के स्वर हैं। इनका उनके द्वारा ही प्रयोग जानना चाहिए। आह्वारकों के स्वर=आह्वारकस्वर।

सू० अ०—मन्द्र से प्रारम्भ होने वाले और द्वितीय से समाप्त होने वाले चार (स्वर) तैत्तिरीय शाखा वालों के हैं।

त्रि० अ०—मन्द्रादयः=मन्द्र से प्रारम्भ होने वाले; द्वितीयान्ताः=द्वितीय से समाप्त होने वाले; चत्वारः=चार=मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय; ये तैत्तिरीय शाखा वालों के (स्वर) हैं।

वै० अ०—यद्यपि इनकी स्फूर्ति (दीप्ति) के भेद से उनके परस्पर भेद की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस्योपलब्धिहेतुरित्येतत्तु न ज्ञायते। किं च तदवगमेऽप्यस्मच्छाखावर्तिनां स्वराणां किमायातमित्यत आह—

आह्वारका उत्क्षेपिण इत्यर्थः। द्वितीयप्रथमक्रुष्टा इति पूर्वोक्तक्रमप्रातिलोम्यनिर्देश उत्क्षेपक्रमतदवधिसंप्रत्ययार्थः। तेन तृतीयाख्यो मध्यमस्वरः। स मध्यम उत्क्षेपिताया अवधिर्भवति। ततश्च तृतीयाख्यान्मध्यमस्वरादायामादिभिरुत्क्षेपकारणैः किञ्चिदुत्क्षिप्तो द्वितीयाख्यस्वरः। उत्क्षिप्ततरः प्रथमाख्यः। उत्क्षिप्ततमः क्रुष्टाख्यः। एतेन चतुर्थादीनां परेषां त्रयाणां स्वराणामवक्षेपित्वमपि दर्शितं भवति। तत्र मध्यमात्तृतीयाख्यात्स्वरात् अन्ववसर्गादिभिरवक्षेपकारणैः किंचिदवक्षिप्तः चतुर्थाख्यस्वरः। अवक्षिप्ततरः मन्द्राख्यः। अवक्षिप्ततमः अतिस्वार्याख्यः। तदेवं सामवेदवर्तिनः क्रुष्टादयस्सप्त स्वराः सम्यङ्निरूपिताः। तेषु मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्वराः प्रतिलोमक्रमेण मन्द्रचतुर्थतृतीयद्वितीयास्तैत्तिरीयका भवन्ति। तित्तिरिणा प्रोक्तं तैत्तिरीयं अस्मच्छाखा तत्र भवास्तैत्तिरीयकाः। "धन्वयोपधाद्वुञ्"[1] इति वुञ्। यथाक्रममस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः अनुदात्तस्वरितप्रचयोदात्ता भवन्तीत्यर्थः ॥१६-१७॥

उपलब्धि होती है। तथापि कौन-सी दीप्ति किसकी उपलब्धि का हेतु होती है—यह तो ज्ञात नहीं होता है। उसका ज्ञान होने पर भी हमारी शाखा में स्थित स्वरों का क्या ज्ञान हुआ—इसलिए (सूत्रकार) कहते हैं—

आह्वारका = ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने वाले—यह अर्थ है। द्वितीय, प्रथम और क्रुष्ट - यह जो पूर्वोक्त (२३।१२ में उक्त) क्रम से विपरीत निर्देश हुआ है वह उत्क्षेप (ऊँचे उच्चारण) के क्रम और उसकी अवधि के ज्ञान के लिए है। इससे—तृतीय नामक मध्यम स्वर है। वह मध्यम ऊँचे उच्चारण की अवधि है। तदनन्तर तृतीय नामक मध्यम स्वर से, आयाम आदि ऊँचे उच्चारण के कारणों से, कुछ ऊँचा द्वितीय नामक स्वर हैं। प्रथम नामक (स्वर) उससे अधिक ऊँचा और क्रुष्ट नामक सबसे ऊँचा (सबसे अधिक उठा हुआ) होता है। इनसे दूसरे चतुर्थ इत्यादि तीन स्वरों का नीचा उच्चारण भी दिखलाई पड़ जाता है। उनमें तृतीय नामक मध्यम से, गात्रों का ढीलापन आदि नीचे उच्चारण के कारणों से, चतुर्थ नामक स्वर कुछ नीचा (होता है)। मन्द्र नामक उससे भी अधिक नीचा (होता है)। अतिस्वार्य नामक सबसे अधिक नीचा होता है। इस प्रकार सामवेद के क्रुष्ट इत्यादि सात स्वर भलीभाँति निरूपित कर दिये गये हैं। उनमें मन्द्र से प्रारम्भ होने वाले और द्वितीय से समाप्त होने वाले (२३।१२ में उक्त क्रम से) विपरीत क्रम से मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय (ये चार) तैत्तिरीय शाखा वालों के हैं। तित्तिर (आचार्य) के द्वारा प्रोक्त तैत्तिरीय हमारी शाखा है, उसमें होने वाले तैत्तिरीयक हैं। "धन्व—विशेष वाचक और यकार हो उपधा में जिसके ऐसे देश वाचक वृद्धसंज्ञक शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है" इस सूत्र से वुञ् प्रत्यय लगा है। हमारी शाखा में विद्यमान क्रमशः अनुदात्त, स्वरित, प्रचय और उदात्त होते हैं—यह अर्थ है।

---

(१) पा० ४।२।१२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयान्मन्द्रस्तैत्तिरीयाणां तृतीयचतुर्थावनन्तरं तच्चतुर्यमित्याचक्षते ॥१८-२०॥

मा० —द्वितीयादुदात्तादनन्तरं मन्द्र अनुदात्तः तदनन्तरं तृतीयचतुर्थौ प्रचयस्वरितावित्यनेन क्रमेण चतुर्णां यमानां स्वराणां समाहारश्चतुर्यमित्याचक्षतेऽस्मत्पूर्वाचार्याः। उच्चतरादय उदात्तेऽन्तर्भवति; दृढ़प्रयत्नतरादयस्त्वनुदात्ते। अतश्चतुःस्वरमेव तैत्तिरीयशाखायाम्। यद्येवं स्वरितस्याप्यन्तर्भावो त्रियमत्वमेव। तत्राह— ॥१८-२०॥

त्रि०—तैत्तिरीयाणां द्वितीयात् खलु मन्द्रः जायते। तदनन्तरं तृतीयचतुर्थौ स्याताम्। एतदेव द्वितीयादिस्वरमण्डलं चतुर्यमम् इत्याचक्षते। यो द्वितीयः स उदात्तः। यो मन्द्रः सोऽनुदात्तः। यौ तृतीयचतुर्थौ तौ स्वरितप्रचयावित्यर्थः। अनेन सूत्रेण पूर्वोक्तानामेव चतुर्णां स्वराणां क्रमनियमः क्रियते। चतुस्सङ्ख्या तु पूर्वसूत्रेणैवोक्ताः। तस्मादत्र चतुर्यमित्येतत् संज्ञाविधानपरमिति प्रतीयते ॥१८-२०॥

वै०—एवं छन्दोगानां प्रक्रियामाश्रित्य उदात्तादिस्वरस्वरूपं निरूपितम्, इदानीमस्मदीयानां पूर्वाचार्याणां प्रक्रियया निरूप्यते—

तैत्तिरीयाणां प्रक्रियया द्वितीयाख्यस्वर उदात्तः प्रथमं निरूप्यते—"उच्चैरुदात्तः"[1] "आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य"[2] इति हि चतुर्णां स्वराणां

सू० अ०—तैत्तिरीय शाखा वालों के अनुसार द्वितीय से मन्द्र (उत्पन्न होता है)। तदनन्तर तृतीय और चतुर्थ आते है। इसे ही चतुर्यम कहते हैं।

त्रि० अ०—तैत्तिरीयाणाम्=तैत्तिरीय शाखानुयायियों के अनुसार द्वितीयात्=द्वितीय से; मन्द्र उत्पन्न होता है। तदनन्तरम्=उसके बाद तृतीयचतुर्थौ=तृतीय और चतुर्थ; होते हैं। इसी द्वितीयादि स्वरसमूह को चतुर्यम; आचक्षते=कहते हैं। जो द्वितीय है वह उदात्त है। जो मन्द्र है वह अनुदात्त है। जो तृतीय और चतुर्थ हैं वे स्वरित और प्रचय हैं। इस सूत्र के द्वारा पूर्वोक्त ही चार स्वरों के क्रम का नियम किया जाता है। चार संख्या तो पूर्ववर्ती सूत्र के द्वारा ही कह दी गई है। इसलिए चतुर्यम—इससे संज्ञा का विधान किया गया है यह प्रतीत होता है ॥१८-२०॥

वै० अ०—इस प्रकार सामवेदियों की प्रक्रिया का आश्रय लेकर उदात्त आदि स्वरों का स्वरूप निरूपित किया गया है, अब हमारे पूर्वाचार्यों की प्रक्रिया से (उदात्त आदि का स्वरूप) निरूपित किया जाता है—

तैत्तिरीय शाखानुयायियों की प्रक्रिया से द्वितीय नामक स्वर उदात्त है जिसे "ऊँची ध्वनि से उच्चारित स्वर उदात्त है" "गात्रों की दीर्घता, ध्वनि की कठिनता और कण्ठ-विवर की संवृतता—ये शब्द को ऊँचा करने वाले हैं" इन सूत्रों से सर्व-

---

(१) १।३८ (२) २२।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्यत्वात्स्वरान्तरविनाशकत्वाच्च। यत्राप्यस्य स्वरितादेशः—"तस्मिन्ननुदात्ते पूर्व उदात्तस्स्वरितम्"[1] इति तत्राप्यसौ न विनश्यति। "आदिरस्योदात्तसमः"[2] इति वचनात्। तथा नित्यस्वरितमप्यसौ विनाशयति, "सर्वो नेत्येके"[3] इति वचनात्। द्वितीयादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। द्वितीयं निरूप्य मन्द्रो निरूप्यते—"नीचैरनुदात्तः"[4] "अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि"[5] शब्दस्य इति उत्क्षेपणनिमित्तोदात्तसंज्ञा। तद्विरुद्धावक्षेपणनिमित्ताऽनुदात्तसंज्ञेति विरोधरूपात्सम्बन्धात् ॥१८॥

तृतीयाख्यः प्रचयश्चतुर्थाख्यस्स्वरितः। तावुदात्तानुदात्तयोर्निरूपणात्परं निरूप्येते, उभयनिरूप्यत्वात्, उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यस्स्वरित इति। तदुक्तम्—"धृतप्रचय"[6] इति, "समाहारस्स्वरितः"[7] इति च। आयामादीनामन्ववसर्गादीनां च परस्परविरुद्धतया यौगपद्यासम्भवात् पौर्वापर्येण समाहरणं वेदितव्यम्। अतएवोक्तम्—

प्रथम निरूपित किया जाता है क्योंकि चार स्वरों में यह मुख्य है और यह दूसरे स्वरों को विनष्ट (लुप्त) कर देता है। "उस (लुप्त होने वाले अकार) के अनुदात्त होने पर पूर्ववर्ती उदात्त (एकार अथवा ओकार) स्वरित (हो जाता है)"—इस (सूत्र) के अनुसार जहाँ पर इस (उदात्त) का स्वरित आदेश होता है वहाँ पर भी यह विनष्ट नहीं होता है क्योंकि यह कहा गया है—"इस (स्वरित) का प्रारम्भ वाला अंश उदात्त के समान (होता है)।" उसी प्रकार नित्य स्वरित को भी यह (उदात्त) विनष्ट (लुप्त) कर देता है क्योंकि ऐसा कहा गया है—"कतिपय आचार्यों के मत में सभी प्रकार का (स्वरित) नहीं (होता है)"। द्वितीयात्—यहाँ ल्यप् का लोप होने पर पञ्चमी हुई है। द्वितीय का निरूपण करके मन्द्र का निरूपण किया जाता है "नीची ध्वनि से उच्चारित स्वर अनुदात्त होता है" "गात्रों का ढीलापन, स्वर की मृदुता, कण्ठ-विवर का विकास—ये शब्द को नीचा करते हैं"। ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने के कारण 'उदात्त' संज्ञा है। उसके विरुद्ध नीची ध्वनि से उच्चारित होने के कारण विरोध रूप सम्बन्ध से अनुदात्त संज्ञा हुई ॥१८॥

तृतीय नामक प्रचय है और चतुर्थ नामक स्वरित है। उदात्त और अनुदात्त के निरूपण के अनन्तर इन दोनों (प्रचय और स्वरित) का निरूपण किया जाता है क्योंकि दोनों का निरूपण करना अवशिष्ट है। दोनों (उदात्त और अनुदात्त) के करणों के समावेश से उत्पन्न होने वाला स्वरित होता है। इसलिए कहा गया है "धृत पर्याय वाला प्रचय होता है" "(उदात्त और अनुदात्त का) मिश्रण स्वरित है"। (२२।९ में उक्त) आयाम आदि का और (२२।१० में उक्त) अन्ववसर्ग आदि का एक साथ स्थित होना सम्भव न होने पर मिश्रण (समाहरण) को पौर्वापर्य

---

(१) १२।६ (२) १।४६ (३) १४।३३
(४) १।३९ (५) २२।१० (६) १८।३ (७) १।४०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आदिरस्योदात्तसमःशेषोऽनुदात्तसमः"[1] इति ॥१९॥

तदेतदुदात्तादिचतुष्टयं पूर्वाचार्याश्चतुर्यमं चतुस्स्वरमित्याचक्षते। यद्यपि "उच्चैस्तरां वा वषट्कारः"[2] इत्यादिशास्त्रात्प्रथमस्वरः क्वचित्प्रयुज्यते, तथापि तस्योत्क्षेपित्वादुदात्तेऽन्तर्भावः, तथा विक्रमे दृढप्रयत्नतरत्वविधानाद्यद्यप्यतिस्वार्यस्वरः प्रयुज्यते, तथाऽपि तस्यावक्षेपित्वादनुदात्तेऽन्तर्भाव इति, अत्र स्वरचतुष्टयमेव। एतत्तैत्तिरीया आचक्षते ॥२०॥

तस्मिन् द्वियमाऽन्तरा वृत्तिः ॥२१॥

मा०—तस्मिंश्चतुर्यमे द्वियमावृत्तिः स्वरितस्वररूपावृत्तिरन्तरा अन्या चतुर्थाख्यस्वररूपा। अतश्चतुर्यमत्वम्। रत्ने तु द्वियमयोरुदात्तयोरन्तरा मध्ये स्वरितप्रचययोर्वृत्तिर्भवति। अत एव शीक्षा—

कनिष्ठिकाऽनामिका च मध्यमा च प्रदेशिनी।
नीचस्वारधृतोदात्तानङ्गुष्ठाग्रेण निर्दिशेत् ॥

इति ॥२१॥

त्रि०—द्वौ च तौ यमौ च द्वियमौ द्वियमयोः अन्तरा वृत्तिः मध्यवृत्तिः तस्मिन्ननुदात्ते भवति, स्वरितत्वं प्रचयत्वं चानुदात्ते भवतीत्यर्थः। यथा—"तन्नः पर्षत्"[3]। "पर्यवदताम्"[4]। केचिदन्यथा कथयन्ति—तस्मिंश्चतुर्यमे स्वरमण्डले द्वियमान्तरा वृत्तिः,

---

से (प्रथम अंश में उदात्त और परवर्ती अंश में अनुदात्त) जानना चाहिए। इसलिए कहा गया है—"इस (स्वरित) का प्रारम्भ वाला अंश उदात्त के समान तथा अवशिष्ट अंश अनुदात्त के समान होता है" ॥१९॥

इन उदात्त आदि चार (स्वरों) को प्राचीन आचार्य; चतुर्यम = चतुस्स्वर; कहते हैं। यद्यपि "वषट् शब्द उच्चैस्तर (उदात्त से अधिक ऊँचा) होता है", इत्यादि शास्त्र से प्रथम स्वर कहीं पर उच्चारित होता है, तथापि उसके ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने के कारण उसका अन्तर्भाव उदात्त में हो जाता है, उसी प्रकार विक्रम में दृढतर प्रयत्न का विधान किया जाने से यद्यपि अतिस्वार्य स्वर प्रयुक्त होता है, तथापि उसके नीची ध्वनि से उच्चारित होने के कारण उसका अनुदात्त में अन्तर्भाव हो जाता है—इसलिए यहाँ चार स्वर ही हैं। इस प्रकार तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी कहते हैं ॥२०॥

सू० अ०—उस (अनुदात्त) के अन्तर्गत दो स्वरों (यमों) की वृत्ति होती है।

त्रि० अ०—दो यम = द्वियमौ; दो यमों की; अन्तरा वृत्तिः = मध्य वृत्ति; तस्मिन् = उसमें = अनुदात्त में, होती है; स्वरित का गुण और प्रचय का गुण अनुदात्त में होता है—यह अर्थ है। जैसे—"तन्नः पर्षत्"। "पर्यवदताम्"। कुछ लोग दूसरी तरह कहते हैं—तस्मिन् = उस चतुर्यम में = उस स्वर-समूह में; द्वियमान्तरा

---

(१) १।४६ (२) पा० १।२।३५ (३) ४।२।५ (४) १।७।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरद्वयस्य मध्ये वर्तमानं स्यात्। तथाहि—

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वाङ्गे प्रचयस्स्मृतः॥

अस्यायमर्थः—उदात्तानुदात्तयोर्मध्ये स्वरितप्रचययोरन्तरावृत्तिर्भवति। तथा कोहलीये हस्त-विन्याससमयेऽपि स्वरितप्रचययोरन्तरावृत्तिरुपदिश्यते—

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव॥इति॥

शिक्षावचनमपि चैवं वक्ष्यते—

कनिष्ठिकाऽनामिका च मध्यमा च प्रदेशिनी।
नीचस्वारधृतोदात्तानङ्गुष्ठाग्रेण निर्दिशेत्॥

मुख्यमेव व्याख्यानद्वयमेतत्॥२१॥

वै०—यद्येवं स्वरितोऽपि चतुर्थाख्यस्वरतुल्यतयाऽवक्षेपित्वादनुदात्तेऽन्तर्भवतीति स्वरत्रय-मेव स्यादित्याशङ्क्याह—

वृत्तिः=दो स्वरों के मध्य में अन्य ही स्वर हैं। जैसे—"अनुदात्त को हृदय में जानना चाहिए। उदात्त को शिर में उच्चारित होने वाला कहा गया है। स्वरित कानों के मूल में और प्रचय सभी अङ्गों में उच्चारित कहा गया है।"

इसका यह अर्थ है—उदात्त और अनुदात्त के मध्य में स्वरित और प्रचय की अन्तरावृत्ति होती है। इसी प्रकार कोहलीय (शिक्षा) में हस्त (स्वर) प्रदर्शन के समय में भी स्वरित एवं प्रचय की मध्यस्थिति कही जाती है—

अंगुलियों का मुख्य (अंगुष्ठ), तर्जनी के मूल में शिरोभाग (अग्रभाग) लगाये जाने पर उदात्त का निर्देश करता है। उपान्त अंगुलि (अनामिका) तथा मध्य अंगुलि (मध्यमा) में (लगाये जाने पर क्रमशः) स्वरित एवं प्रचय (तथा) कनिष्ठिका (अंगुलि) में (लगाये जाने पर) अनुदात्त को ही (निर्दिष्ट करता है)।

और शिक्षा वचन भी इस प्रकार कहता है—कनिष्ठिका, अनामिका, मध्यमा और तर्जनी (इनमें क्रमशः) अनुदात्त, स्वरित, प्रचय और उदात्त (स्वरों) को अंगुष्ठ के अग्रभाग से प्रदर्शित करें।

(शिक्षा के) ये दोनों विवेचन प्रमुख ही हैं।

वै० अ०—यदि ऐसी बात है तो स्वरित का अन्तर्भाव भी अनुदात्त में हो जाता है क्योंकि चतुर्थ नामक स्वर के तुल्य होने के कारण यह भी नीच ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर है। इस प्रकार तीन ही स्वर होते हैं—यह आशङ्का करके कहते हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मिन् चतुर्यमे द्वियमा स्वरितरूपा स्वरवृत्तिरन्तरा अन्यरूपा न चतुर्थाख्यस्वररूपेत्यस्माकं प्रक्रिया। चतुर्थाख्यस्वरस्तावदवक्षेपी। स्वरितस्तु द्वियमात्मकः उत्क्षेपावक्षेपाभ्यां कर्णमूले जायते, "समाहारस्स्वरितः"[1] इति वचनात्, "स्वरितः कर्णमूलीयः" इति शिक्षावचनाच्च। तेनोदात्तानुदात्तप्रचयविलक्षणत्वात्स्वरितस्य तदन्तर्भावो नास्तीति युक्तं चातुस्स्त्र्यम् ॥२१॥

तामुपदेक्ष्यामः ॥२२॥

मा०—तां स्वरितवृत्तिं क्रम-विक्रमसम्पन्नामित्यस्मिन् सूत्रे उपदेक्ष्यामः विधास्यामः। किम् छन्दोगप्रक्रियया वृत्तिरुपदेक्ष्यते ? नेत्याह—

त्रि०—यदेतदाचार्यैश्चतुर्यममित्युक्तं तस्य चतुर्भेदभिन्ना वृत्तिर्नाम तामुपदेक्ष्यामः इत्युच्यते। तामिति तच्छब्देन पूर्वोक्तवृत्तिमात्रमनुकृष्यते ॥२२॥

वै०—तां स्वरवृत्तिं "क्रमविक्रमसम्पन्नाम्"[2] इत्यस्मिन् सूत्रे; (उपदेक्ष्यामः=) विधास्यामः। प्रयोगार्थं ह्युदात्तादिस्व.स्वरूपनिरूपणम्। अतः प्रयोगविधायकसूत्रे उदात्तादि-स्वरवृत्तिर्विधास्यते। न तु वृथा स्वरवृत्तिरिह वर्णिता, छन्दोगप्रक्रियासिद्धा च ॥२२॥

उस चतुर्यम (चार स्वरों के समूह) में दो यम वाली स्वरितरूप स्वरवृत्ति अन्य स्वरूप वाली है, चतुर्थ नामक स्वर के स्वरूप वाली नहीं है। चतुर्थ नामक स्वर के स्वरूप वाली नहीं है। चतुर्थ नामक स्वर तो नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाला है। स्वरित तो दो स्वरों का मिश्रण है, उत्क्षेप (ऊँचे उच्चारण) और अवक्षेप (नीचे उच्चारण) से कानों के मूल में उच्चारित होता है, "(उदात्त और अनुदात्त का) मिश्रण स्वरित (होता है)"—इस कथन से और "स्वरित कर्णों के मूल में उच्चारित होता है" इस शिक्षा-वचन से। इसलिए उदात्त, अनुदात्त और प्रचय से विलक्षण होने से स्वरित का उनमें अन्तर्भाव नहीं होता है—इसलिए चार ही स्वर हैं।

सू० अ०—उस (वृत्ति) का उपदेश करेंगे।

त्रि० अ०—आचार्यों ने जो यह चतुर्यम (चार स्वरों का समूह) कहा है, उसके चार भेदों से भिन्न जो वृत्ति है, तामुपदेक्ष्यामः=उसको उपदिष्ट करेंगे। 'ताम्'—यहाँ तत् शब्द के द्वारा पूर्वोक्त केवल वृत्ति की अनुवृत्ति होती है ॥२२॥

वै० अ०—ताम्=उस स्वरवृत्ति का "क्रम, विक्रम से सम्पन्न" इस सूत्र में विधान करेंगे। क्योंकि प्रयोग के लिए ही उदात्त इत्यादि स्वरों के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसलिए प्रयोग का विधान करने वाले सूत्र में उदात्त इत्यादि स्वरों की वृत्ति का विधान करेंगे स्वरों की वृत्ति यहाँ वृथा तो वर्णित नहीं की गई है और यह सामवेदानुयायियों की प्रक्रिया से सिद्ध है ॥२२॥

---

(१) १।४० (२) २३।२३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तच्चतुर्यममित्युक्तम् ॥२३॥

मा०—चतुर्यमापेक्षया तदिति नपुंसकत्वम्। सा वृत्तिर्द्वितीयान्मन्द्र इत्यनेन चतुर्यममित्युक्ता। अतोऽस्मदाचार्यप्रक्रियोच्यत इत्यर्थः।

इदानीं उदात्तादिस्वरवृत्तेः प्रयोगमाह—॥२३॥

त्रि०—इति अनेन प्रकारेण, चतुर्यममित्युक्तम्। यद्यपि "मन्द्रादयो द्वितीयान्ताः"[1] इत्यादिसूत्रद्वयेन यमचतुष्टयत्वं सिद्धं तथाऽप्युपसंहारमिषेण मतान्तरनिवृत्त्यर्थमिममर्थं दृढयति। यतः कारणादेवमन्ये मन्यन्ते, स्वरत्रयमात्रम्—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥ इति ॥२३॥

वै०—सा किमुभयीह विधास्यते ? उतान्यतरा ? द्वितीयेऽपि पक्षे सा कतरेत्यत्राह—

"तच्चतुर्यममित्याचक्षते"[2] इति यदुक्तं अस्मत्पूर्वाचार्यप्रक्रियासिद्धं स्वरचतुष्टयं, तदेव विधास्यामः। नोभयम्। नापि छन्दोगप्रक्रियासिद्धमेव। यद्येवं किमर्थं "मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु"[3] इत्यादिना सूत्रचतुष्टयेन छन्दोगप्रक्रियासिद्धं विधान्तरमुपन्यस्तमिति चेत् ?

सू० अ०—इस प्रकार चतुर्यम कह दिया गया है।

त्रि० अ०—इति=इस प्रकार से, चतुर्यममित्युक्तम्=चतुर्यम (चार स्वरों का समूह) कह दिया गया है। यद्यपि "मन्द्र से प्रारम्भ करके द्वितीय की समाप्ति तक" इत्यादि दो सूत्रों के द्वारा चार स्वरों का यत्न सिद्ध हो चुका है तथापि उपसंहार के रूप में दूसरों के मतों की निवृत्ति के लिए इस तथ्य को दृढ़ करते हैं। क्योंकि दूसरे लोग केवल तीन स्वर मानते हैं—

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन स्वर तथा (उच्चारण-) काल की दृष्टि से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—ये स्वरों के ही धर्म हैं ॥२३॥

वै० अ०—क्या दोनों वृत्तियों का विधान किया जायेगा ? अथवा किसी एक का ? द्वितीय पक्ष में भी वह कौन-सी है—यह कहते हैं—

"उसको चतुर्यम कहते हैं" जो इस (सूत्र) में उक्त तथा हमारे पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रक्रिया से सिद्ध स्वरचतुष्टय (चार स्वर हैं), उसका ही विधान करेंगे। दोनों का नहीं। और न सामवेदियों की प्रक्रिया से सिद्ध का। यदि ऐसी बात है तो "मन्द्र आदि तीन स्थानों में" इत्यादि चार सूत्रों के द्वारा सामवेदियों की प्रक्रिया से सिद्ध दूसरी विधा को क्यों प्रस्तुत किया गया, यदि यह पूछते हो

---

(१) २३।१५ (२) २३।१९ (३) २३।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैत्तिरीयप्रक्रियाप्रकटनार्थमेवेति ब्रूमः। यथा—"शाखाग्रे चन्द्रः" इति शाखाग्रनिर्देशश्चन्द्र-प्रकटनार्थः ॥२३॥

क्रमविक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्। नीचोच्चस्वारसम्पन्नां वदेद्धृतवतीं समां वदेद्धृतवतीं समामिति ॥ २४ ॥

मा०—इति। क्रमो द्वित्वम्, विक्रमः स्वरितयोर्मध्य इत्युक्तलक्षणः, ताभ्यां सम्पन्नाम्, अद्रुताम्, अत्वरिताम्, अविलम्बितामसन्दाम्, नीचोच्चस्वारसम्पन्नां अनुदात्तोदात्तस्वरित-सहिताम्, धृतवतीं प्रचयवतीम्, समां मध्यमाम्, [वदेत्] तैत्तिरीयशाखायां द्रुतविलम्बित-वृत्ती स्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

त्रि०—तैत्तिरीयकाह्वारकमतनिरूपकोऽयं श्लोकः। (क्रमविक्रमसम्पन्नाम्=) क्रमविक्रमाभ्यां सम्पन्नां क्रमः नाम द्वित्वं, विक्रमः तु "स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्"[1] इत्युक्त-लक्षणः। अद्रुताम् अत्वरिताम् अविलम्बिताम् असन्दां नीचोच्चस्वारसम्पन्नाम् अनु-दात्तोदात्तस्वरितसहितां धृतवतीं प्रचयवतीं समाम् उदात्तादिभिर्न्यूनातिरेकादिदोषरहितां

तो हम कहते हैं कि तैत्तिरीय प्रक्रिया को प्रकट करने के लिए ही (साम-प्रक्रिया को कहा गया है)। जैसे "शाखा के अग्र में चन्द्र है" यहाँ शाखाग्र का निर्देश चन्द्र के प्रगट करने के लिए है।

सू० अ०—क्रम तथा विक्रम से सम्पन्न; शीघ्रता तथा विलम्ब से रहित; अनुदात्त, उदात्त तथा स्वरित (स्वरों) से सम्पन्न, प्रचय-समन्वित तथा विषमता से रहित (वृत्ति का) उच्चारण करना चाहिए।

त्रि० अ०—यह श्लोक तैत्तिरीय शाखा के अनुयायियों और आह्वारकों के मतों का निरूपण करता है। (क्रमविक्रमसम्पन्नाम्=) क्रम और विक्रम से सम्पन्न; क्रम का अर्थ है द्वित्व, विक्रम तो वह है जिसका लक्षण "दो स्वरितों के मध्य में जहाँ अनुदात्त हो" में कहा गया है। अद्रुताम्=शीघ्रता से रहित, अवि-लम्बिताम् = मन्दता-रहित; नीचोच्चस्वारसम्पन्नाम् = अनुदात्त, उदात्त और स्वरित के सहित; धृतवतीम्=प्रचय सहित; समाम्=उदात्त इत्यादि के विषय में न्यून और अतिरेक आदि दोषों से रहित; वदेत्=बोलना चाहिए। वृत्ति को—

---

(१) १६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वदेत् ब्रूयात्, वृत्तिमित्यर्थः। वृत्तिमिति कथं लभ्यते ? तस्मिन् "द्वियमान्तरा वृत्तिः"[1] इति प्रकृतत्वादिति ब्रूमः ॥ २४ ॥

वै०—क्रमः स्वराणामानुपूर्व्यम्। न तु वर्णद्वित्वं, स्वरवृत्त्युपदेशप्रतिज्ञानात्। तच्चैवं रूपम्—उदात्तात्प्रागूर्ध्वं च प्रचयो नास्ति अनुदात्तात्परं प्रचयो नास्ति, स्वरितात्पूर्वं प्रचयो नास्ति स्वरितद्वयानन्तर्ये पूर्वपदस्थोदात्तात्परस्स्वरितो भवति, स्वरितात्परः प्रचयो भवति प्रचयात्पूर्वं स्वरितः प्रचयो वा भवति, परं त्वनुदात्तः प्रचयो वा भवतीति।

एतस्मिन् हि क्रमे ज्ञाते स्वराणां वृत्तिरञ्जसा।
अनुमातुं शक्यतेऽतः क्वचिन्नातिविलम्बिता ॥

इति क्रमः। विक्रमः प्रागेवोक्तः[2]। (क्रमविक्रमसम्पन्नाम्=) क्रमविक्रमाभ्यां सम्पन्नां समग्रां स्ववृत्तिं वदेत्। अद्रुताम् अत्वरिताम्, अविलम्बिताम् अमन्दां, नीचोच्चस्वाराः अनुनात्तोदात्तस्वरिताः यथाविधि प्रयुज्यमानैस्तैस्सम्पन्नां, धृतवतीं प्रशस्तप्रचयस्वरां, समां

यह अर्थ है। वृत्ति को—यह कैसे उपलब्ध होता है ? "उस (अनुदात्त) के अन्तर्गत दो स्वरों की वृत्ति होती है" यहाँ (वृत्ति के) प्रकृत होने से।

वै० अ०—क्रम का अर्थ है स्वरों का आनुपूर्व्य। (क्रम का अर्थ) वर्ण का द्वित्व नहीं है क्योंकि स्वरों की वृत्ति के उपदेश की प्रतिज्ञा (२३।१८) में की गई है और वह (=स्वरों का क्रम) इस प्रकार का है—उदात्त से पहले और बाद में प्रचय नहीं होता है, अनुदात्त से बाद में प्रचय नहीं होता है, स्वरित से पहले प्रचय नहीं होता है, दो स्वरितों के व्यवधानरहित होने पर पूर्ववर्ती पद में स्थित उदात्त से बाद में स्वरित होता है, स्वरित से बाद में प्रचय होता है, प्रचय से पहले स्वरित होता है अथवा प्रचय होता है, बाद में तो अनुदात्त अथवा प्रचय होता है।

इस क्रम के ज्ञात होने पर स्वरों की वृत्ति का सरलता से अनुमान किया जा सकता है, अतः कहीं पर भी अतिविलम्ब नहीं होता। यह क्रम हुआ। विक्रम पहले ही कहा जा चुका है। (क्रमविक्रमसम्पन्नाम्=) क्रम और विक्रम से सम्पन्न; समग्र स्ववृत्ति को बोलना चाहिए। अद्रुताम्=शीघ्रता से रहित; अविलम्बिताम्=मन्दता-रहित; (नीचोच्चस्वारसम्पन्नां=) अनुदात्त, उदात्त और स्वरित जो स्वर हैं, नियमानुसार प्रयुक्त होते हुए उनसे सम्पन्न; धृतवतीम्=प्रशस्त

---

(१) २३।२१ (२) १९।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नोन्नततत्वरहिताम्, एकस्मिन्नेव स्वरे क्वचिन्निम्नता क्वचिदुन्नतता चेति वैषम्यं न कार्यमित्यर्थः। तदेतत्स्वरचतुष्टयं मानसे उपांशौ च प्रयोगे मनसैव प्रयुज्यते, आश्रयाभावात्। ध्वानादिस्थानीये तु शब्दे स्वरूपेण। यत्तु "मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्तसप्त यमाः"[1] इत्युक्तं, तत्सामवेदप्रसिद्ध्यनुसारात् तत्र स्पष्टत्वाच्च। यत्र योऽर्थस्स्पष्टस्तत्र हि तद्व्युत्पादनीयमिति ॥ २४ ॥

प्रचय स्वर वाली; समाम्=निम्न और उन्नत से रहित; एक ही स्वर में कहीं निम्नता और कहीं उच्चता—यह विषमता नहीं करनी चाहिए। ये चार स्वर मानस और उपांशु प्रयोग में मन से-ही प्रयुक्त होते हैं। ध्वान आदि स्थान वाले शब्द में तो अपने स्वरूप से (प्रयुक्त होते हैं)। "मन्द्र आदि तीन स्थानों में सात-सात यम होते हैं" यह जो कहा गया है वह सामवेद की प्रसिद्धि के अनुसार और वहाँ स्पष्टता के लिए कहा गया है। जहाँ जो अर्थ स्पष्ट है वहाँ ही उसकी व्याख्या करनी चाहिए ॥ २४ ॥

---

(१) २३।१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

अथ चतस्रस्संहिताः ॥ १ ॥

मा०—इत उत्तरं चतस्रः संहिता अधिक्रियन्त इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥

त्रि०—अथ इत्ययमधिकारः। चतस्रः संहिता उच्यन्त इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

वै०—"अथ संहितायामेकप्राणभावे"[1] इत्यादिना संहिताविषयाणि कार्याणि विहितानि। तास्संहितास्तु कियत्य इति न ज्ञायन्ते। यद्यपि "अथ वर्णानाम्"[2] इत्यधिकारात्ततः परं वर्णसंहितेत्येतावदवगम्यते, तथाऽपि संहिताचातुर्विध्यमभिमतं न सिद्ध्यति। (अतः चतस्रस्संहिताः वेदितव्याः) ॥ १ ॥

पदसंहिताऽक्षरसंहिता वर्णसंहिताऽङ्गसंहिता चेति ॥ २ ॥

मा०—पञ्चमाध्यायादुपरि अथ वर्णानामित्येतदन्तं पदसंहिता। उदात्तात्पर इत्याद्यध्यायशेषः स्वरितात्संहितायामिति सूत्रद्वयं चाक्षरसंहिता। व्यञ्जनं स्वराङ्गमित्याद्यङ्गसंहिता। अथ इत्यादि शेषो वर्णसंहिता। एवं चतसृणां संहितानामेतानि चत्वारि नामानि।

सू० अ०—अब चार संहिताओं को (कहा जाता है)।

त्रि० अ०—अथ—यह अधिकार (अर्थ में प्रयुक्त है)। इससे आगे जो कहेंगे वहाँ चार संहितायें कही जाती है—यह अधिकार जानना चाहिए ॥१॥

वै० अ०—"अब (आगे आने वाले नियम) एक श्वास में उच्चारित होने वाली संहिता (संहिता-पाठ) में (लागू होते हैं)"—इत्यादि (सूत्र) से संहिता-विषयक कार्यों का विधान किया गया है, किन्तु वे संहितायें कितनी हैं—यह नहीं ज्ञात होता है। यद्यपि "अब वर्णों (की संहिता का अधिकार किया जाता है)" इस अधिकार से उस (१३।५) से बाद में "वर्ण-संहिता है"—इतना ज्ञात होता है, तथापि अभीष्ट चार प्रकार की संहिताओं की सिद्धि नहीं होती है ("अतः संहिता चार प्रकार की होती है"—यह जानना चाहिए) ॥१॥

सू० अ०—पदसंहिता, अक्षरसंहिता, वर्णसंहिता, अङ्गसंहिता (ये चार प्रकार की संहितायें हैं)।

---

(१) ५।१ (२) १३।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदसंहितालक्षणमाह—

त्रि०—(पदस॑हिताऽक्षरस॑हिता वर्णस॑हिताऽङ्गस॑हिता =) पदाक्षरवर्णाङ्गाश्रयाः; चतस्रः संहिताः क्रमेण बोद्धव्याः। पञ्चमाध्यायमारभ्य आनवमादेकादशद्वादशौ त्रयोदशस्यादौ सूत्रचतुष्टयं च पदसंहिता। दशमोऽक्षरसंहिता। त्रयोदशचतुर्दशौ षोडशश्च वर्णसंहिता। "व्यञ्जनं स्वराङ्गम्"[1] इत्येकविंशोऽङ्गसंहिता। एताश्चतस्रः संहिताः। एतेष्वन्यत्र च विहितं निषिद्धं च कार्यं सर्वसंहितासु कुर्यात्। यत्रार्षग्रहणादिको विशेषो नास्ति ॥ २ ॥

वै०—एवमासामुद्देशः कृतः ॥ २ ॥

नानापदसन्धानसंयोगः पदस॑हितेत्यभिधीयते ॥ ३ ॥

मा०—द्विस्वरविधानेन पदसंहितेत्युच्यते। यथा—"अग्ने दुध्र गह्य कि॑शिल वन्यया ते इषुरिति"[2] ॥ ३ ॥

त्रि०—नानाभूतयोः पदयोः सन्धाने यः संयोगः सा पदस॑हिता इति अभिधीयते उच्यत इत्यर्थः। यथा—"अग्ने दुध्र गह्य कि॑शिल वन्य या ते"[2]। एकार्थयोः सन्धान-

---

त्रि० अ०—(पदस॑हिताऽक्षरस॑हिता वर्णस॑हिताऽङ्गस॑हिता =) पद, अक्षर, वर्ण और अङ्ग पर आधृत; चार संहिताओं को क्रम से जानना चाहिए। पञ्चम अध्याय से प्रारम्भ करके नवम अध्याय तक, एकादश और द्वादश अध्याय तथा त्रयोदश अध्याय के प्रारम्भ में स्थित चार सूत्र—ये पद-संहिता (से सम्बन्धित) हैं। दशम (अध्याय) अक्षर-संहिता है। त्रयोदश, चतुर्दश और षोडश (अध्याय) वर्ण-संहिता है। "व्यञ्जन स्वर का अङ्ग होता है"— यह इक्कीसवाँ (अध्याय) अङ्गसंहिता है। ये चार संहितायें हैं। इनसे अन्यत्र विहित और निषिद्ध कार्य को सभी संहिताओं में करना (जानना) चाहिए। जहाँ पर आर्ष-ग्रहण इत्यादि विशेष-प्रयोग नहीं है ॥२॥

वै० अ०—इस प्रकार इन (संहिताओं) का नामोल्लेख किया गया है ॥२॥

सू० अ०—पृथक् पदों के मिलने पर (जो) संयोग (होता है वह) पद-संहिता कही जाती है।

त्रि० अ०—(नानापदसन्धानसंयोगः =) पृथग्भूत (स्वतन्त्र) पदों की सन्धि होने पर जो संयोग; (होता) है वह पदस॑हिता अभिहित की जाती है = कही जाती है—यह अर्थ है। जैसे—"अग्ने दुध्र गह्य कि॑शिल वन्य या ते"। एकार्थक (एक अर्थ वाले) सन्धान और संयोग शब्दों का प्रयोग सन्धि के आधिक्य

---

(१) २१।१ (२) ५।५।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोगशब्दयोः प्रयोगाः सन्धानाधिक्यार्थः। तथा च वैयाकरणा भणन्ति—"परः सन्निकर्षः संहिता"[1] इति ॥ २ ॥

वै०—अथ क्रमेण लक्षणान्याह—

(नानापदसंधानसंयोगः=) नानापदयोर्निमित्तभूतयोः निमित्तनिमित्तिनोरुभयरूपयोर्वा सन्धानात् यत्संयुक्तरूपं भवति, सा पदसꣳहितेत्युच्यते। निमित्तयोर्यथा—"अपुध्रुवे"[2]। "मिथुश्चरन्तम्"[3]। निमित्तनिमित्तिनोर्यथा—"गृहाणाललमत्यँ"[4]। "स ई मन्द्रासु प्रयसः"[5]। उभयरूपयोर्यथा—"अर्थैकमुभे"[6]—"नास्येन्द्रियं वीर्यम्"[7] ॥३॥

यथास्वमक्षरसꣳहितादीनाप्येवम् ॥ ४ ॥

भा०—यथा पदसंहिता नानापदसन्धाना संहितेत्युच्यते, तथैवाक्षरसंहितादीनां यथास्वं सन्धानं संहितेति वेदितव्यम्। नानाक्षराणां सन्धानमक्षरसंहिता, नानावर्णानां सन्धानं वर्णसंहिता, नानाङ्गानां सन्धानमङ्गसंहिता। यथा अक्षरसंहिता—"अ अर्पयतु प्रार्पयतु"[8]। वर्णसंहिता—"अधिषवणमसि"[9]। अङ्गसंहिता—"अञ्जयावद्यति"[10] ॥ ४ ॥

त्रि०—स्वं स्वमनतिक्रम्य वर्तत इति यथास्वम् क्रियाविशेषणमेवैतत्। एवमक्षरसꣳहितादीनामपि यथास्वं स्वरूपं निरूपणीयम्। नानाऽक्षरसंयोगोऽक्षरसंहिता। नानावर्णसंयोगो वर्णसंहिता। नानाऽङ्गसंयोगोऽङ्गसंहिता। क्रमेणोदाहरणानि भणामः। यथा—

को द्योतित करने के लिए हुआ है। वैसा ही वैयाकरण कहते हैं—"वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता हो।

वै० अ०—अब क्रम से (संहिताओं के) लक्षणों को कहते हैं—(नानापदसंधानसंयोगः=) निमित्तभूत अथवा निमित्त और निमित्ति—इन दोनों के रूप में अवस्थित पृथक् पदों की सन्धि होने पर जो संयुक्त रूप निष्पन्न होता है वह पदसंहिता कही जाती है।

सू० अ०—उसी प्रकार अक्षर-संहिता इत्यादि का भी अपने (नाम के) अनुसार (स्वरूप होता है)।

त्रि० अ०—अपना-अपना अतिक्रमण न करके वर्तमान = यथास्वम्। वह (यथास्वम्) क्रिया-विशेषण ही है। उसी प्रकार; अक्षरसꣳहितादीनामपि = अक्षर-संहिता इत्यादि का भी, अपने-अपने (नाम के) अनुसार स्वरूप का निरूपण करना चाहिए। पृथक् (स्वतन्त्र) अक्षरों का संयोग अक्षर-संहिता है। पृथक् (स्वतन्त्र) वर्णों का संयोग वर्णसंहिता है। पृथक् (स्वतन्त्र) अङ्गों का संयोग

---

(१) पा० १।४।१०९	(२) ४।७।५	(३) ४।७।१५
(४) ३।३।८	(५) ४।१।८	(६) १०।१
(७) २।२।९	(८) १।१।१	
(९) १।१।५	(१०) ६।३।१०	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अथात्रवीत्"[१]। "अधिषवणमसि"[२]। "अक्ष्णया व्याघारयति"[३]। केवलस्वरयोः संयोगोऽक्षरसंहिता। एकपदे स्वरव्यञ्जनसंयोगो वर्णसंहिता। एकपदे केवलव्यञ्जनसंयोगोऽङ्गसंहिता। अन्यत्र पदसंहितेत्यवान्तरभेदो विज्ञेयः॥ ४॥

वै०—अक्षरसंहितादीनामपि एवं लक्षणानि द्रष्टव्यानि। तत्र तु यथास्वं स्वेन-स्वेन प्रतिसम्बन्धिना सन्धानात् संयुक्तरूपं यज्जायते, तत्तासां रूपम्। तत्र हि व्यवहितश्चाव्यवहितश्च प्रतिसम्बन्धी भवति। यथा—"उदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितम्"[४] इत्यक्षरसंहिता। "स इधानः"[५]। "स ते लोकः"[६]। "ऋकारकारस्यपूर्वः"[७] इत्यादिर्वर्णसंहिता। "पितृणाꣳसदनमसि"[८]। "ऋभूणां भागोऽसि"[९]। अङ्गसंहिता—"विभूरसि प्रवाहणः"[१०] इत्यादि। अथ किमर्थं वर्णसंहितायां अवान्तरभेदाश्रयणम्? तदुच्यते—"उदात्तात्परोऽनुदात्तस्स्वरितम्"[११] इत्यत्र यदि वर्णसंहिताऽऽश्रीयेत तदा व्यञ्जनेऽपि स्वरितत्वं स्यात्। "या त इषुः"[१२] अत्र पूर्वसूत्रविहितं स्वरितत्वं तकारस्य स्यात्। "तत्परस्वरम्"[१३] इत्येतत्तु स्वरितादेशविषयावन्यत्र सावकाशतया न ह्यङ्गसंहितास्वरितत्वं बाधेत: तथा—

अङ्गसंहिता है। क्रम से उदाहरण को कहते हैं। जैसे—"अथात्रवीत्"। "अधिषवणमसि"। "अक्ष्णया व्याघारयति"। केवल स्वरों का संयोग अक्षर-संहिता है। एक पद में स्वर और व्यञ्जन का संयोग वर्णसंहिता है। एक पद में केवल व्यञ्जनों का संयोग अङ्ग-संहिता है। अन्यत्र पद-संहिता होती है—इस प्रकार अवान्तर भेदों को जानना चाहिए॥ ४॥

वै० अ०—अक्षरसंहितादीनामपि=अक्षर-संहिता इत्यादि के भी; लक्षणों को इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। किन्तु वहाँ पर; यथास्वम्=अपने-अपने प्रतिसम्बन्धी के साथ संधि होने पर जो संयुक्त रूप उत्पन्न होता है वह उन (संहिताओं) का रूप है। और वहाँ पर प्रतिसम्बन्धी व्यवहित और अव्यवहित भी होता है। जैसे—"उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित हो जाता है"—यह अक्षर-संहिता है। "स इधानः"। "स ते लोकः"। "एक पद में ऋकार, ऋकार, रेफ और पकार पूर्व में होने पर नकार णकार हो जाता है"—इत्यादि वर्ण-संहिता है। "पितृणाꣳसदनमसि"। "ऋभूणां भागोऽसि"। अङ्ग-संहिता—"विभूरसि प्रवाहणः" इत्यादि। किस कारण से वर्ण-संहिता के अवान्तर भेदों का आश्रय लिया गया है? (उत्तर) इसे बतलाते हैं—"उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित हो जाता है"—यहाँ पर यदि वर्ण-संहिता का आश्रय लिया जाता तो व्यञ्जन में भी स्वरितत्व हो जाता। "या त इषुः"—यहाँ तकार का पूर्ववर्ती सूत्र से विहित स्वरितत्व हो जाता। "वह (व्यञ्जन वर्ण) परवर्ती स्वर (का अङ्ग होता है)"—यह (सूत्र) तो स्वरित के आदेश के स्थल से अन्यत्र सावकाश

---

(१) ३।२।११ (२) १।१।५ (३) ५।२।७ (४) १४।२९
(५) ४।४।४ (६) ५।७।२६ (७) १३।६ (८) १।३।१
(९) ४।३।९ (१०) १।३।३ (११) १४।२९ (१२) ४।५।१ (१३) २१।२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"व्युत्त्रितः"[1] इत्यत्र द्वितीयतकारस्य रेफस्य च पराङ्गतया अनुदात्तयोस्ततोः "स्वरितात्सꣳहितायाम्"[2] इति प्रचयः स्यात्। न हि अङ्गसंहितया प्रचयो बाध्येत। यस्तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यत इति न्यायात्। तस्मादियमक्षराणामेव संहितेत्युपगन्तव्यम्। यदा—वर्णसंहिताविषयोऽपि स्वरोऽक्षराणामेवेति सिद्धम्, तदा व्यञ्जनानां स्वतन्त्रत्वाभावादुदात्तत्वादिगुणभाग्भिरक्षरैः सह प्रयोगे तत्स्वरव्यवस्थापनाय अङ्गसंहिताऽप्याश्रयितव्येति युक्तं वर्णसंहितायां त्रैविध्याश्रयणम्। प्रयोजनसद्भावात्। तत्मात्सूक्तं "अथ चतस्रस्सꣳहिता"[3] इति ॥४॥

तदेव व्याकरणोक्तं प्रकृत्यादिसन्देहप्रध्वंसनं कार्यमिह लक्षितं यत्त्रिविधसमाम्नायमध्यवर्ति भवति। यत्तु सूक्ष्मसन्देहनिरसनं प्रकृतिप्रत्ययविशेषादिकार्यं, तत्सर्वं ततएवावधारणीयम्। तत्र चायं ग्रन्थः प्रकृष्टोपकारको भवति। एतद्ग्रन्थार्थनिष्णातैर्हि कृत्स्नस्य व्याकरणस्यार्थस्सुगृहीतो भवति। शिक्षागणोपदिष्टं तु कार्यं नात्र संगृहीतम्, व्याकरणप्रधानत्वात्प्रातिशाख्यस्य। तस्मादत्रास्माभिः—शिक्षागणोपदिष्टं यत्संहिताग्रन्थगोचरम्।

कार्यजातमिहानुक्तं तत्समुच्चीयतेऽधुना ॥

है, अतः अङ्ग-संहिता स्वरित का बाध नहीं करेगी। उसी प्रकार "व्युत्त्रित"—यहाँ पर परवर्ती (स्वर) का अङ्ग होने के कारण द्वितीय तकार के और रेफ के अनुदात्त होने पर "संहिता में स्वरित से बाद में....."—इस (सूत्र) से प्रचय होगा। अङ्ग-संहिता के द्वारा प्रचय का बाध नहीं होगा। क्योंकि जो विधि का निमित्त ही होता है वह बाध नहीं करता है—यह न्याय है। इसलिए यह अक्षरों की ही संहिता है—यह स्वीकार करना चाहिए। जब वर्ण-संहिता का विषय भी स्वर अक्षरों का ही है—यह सिद्ध है तब व्यञ्जनों में स्वतन्त्रता का अभाव होने पर उदात्तत्व इत्यादि गुणों को धारण करने वाले अक्षरों के साथ प्रयोग होने पर उन (व्यञ्जनों) के स्वरों की व्याख्या के लिए अङ्ग-संहिता का भी आश्रय लेना चाहिए—इसलिए वर्ण-संहिता के तीन प्रकारों का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि (ऐसा मानने में) प्रयोजन विद्यमान है। इसलिए (सूत्रकार के द्वारा) ठीक कहा गया है—संहितायें चार हैं ॥ ४ ॥

प्रकृति आदि सन्देहों के निराकरण के लिए व्याकरण में उक्त जो कार्य तीन प्रकार के समाम्नाय (संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ) में होता है उसी का यहाँ लक्षण किया गया है। किन्तु सूक्ष्म सन्देहों के निराकरण के लिए प्रकृति प्रत्यय-विशेष आदि कार्य हैं, उस सबको वहीं से (=व्याकरण से) जानना चाहिए। वहाँ यह ग्रन्थ अत्यधिक उपकारक होता है। क्योंकि इस ग्रन्थ में निष्णात विद्वानों को सम्पूर्ण व्याकरण का अर्थ भलीभाँति ज्ञात होता है। शिक्षा-ग्रन्थों में उपदिष्ट कार्य का तो यहाँ संग्रह नहीं किया गया है क्योंकि प्रातिशाख्य व्याकरण-प्रधान शास्त्र है। इसलिए यहाँ हम लोगों के द्वारा शिक्षा-ग्रन्थों में उपदिष्ट जो कार्य-समूह संहिता-ग्रन्थ से सम्बद्ध है किन्तु यहाँ नहीं कहा गया है, अब उसका समुच्चय किया जाता है।

---

(१) १।८।१० (२) २१।१० (३) २४।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता॥ ५॥

भा०—गुरुत्वमिदं गुर्विति ज्ञेयम्। यथा—"वषट्त् स्वाहा"[1] इति। लघुता इदं लघ्विति ज्ञेयम्। यथा—"उदेनमुत्तराम्"[2] इति। साम्यमिदं साम्यमिति विज्ञेयम्। सर्वत्र साम्यमिति। ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च इदं ह्रस्वमिदं दीर्घमिदं प्लुतमित्येतानि ज्ञेयानि। यथा ह्रस्वः—"गमयति"[3]। दीर्घम्—"वायावेवास्य"[4]। प्लुतः—"पशू३नान्वारभ्या३ इति"[5]। लोपागमविकाराश्च अयं लोपः, अयमागमः, अयं विकारः, इत्येते विज्ञेयाः। यथा लोपः—"स ई मन्द्रासु"[6]। आगमः—"त्रपुश्च मे"[7]। विकारः—"समिन्द्र णो मनसा"[8]। प्रकृतिः इयं प्रकृतिरिति ज्ञेया। यथा—"अग्ने दुध्र गह्य किंशिल वन्यया ते"[9]। "प्रपा असि"[10]। विक्रमः अयं विक्रम इति ज्ञेयः। यथा—"वोढवे जातवेदः"[11]। क्रमः अयं क्रम इति ज्ञेयः। यथा—"यद्वै होताध्वर्युम्"[12]। अन्यतरो विक्रमः क्रम इत्युक्तः। स्वरितोदात्तनीचत्वं इदं स्वरितमिदमुदात्तमिदं नीचमित्येतानि ज्ञेयानि। यथा स्वरितः—"न्यञ्चम्"[13]। उदात्तः—"गां वाव त्वौ तत्परि"[14]। नीचत्वम्—"अवदताम्"[15]। श्वासः अयं श्वास इति ज्ञेयः। यथा—"करोति"[16]। नादः अयं नाद इति ज्ञेयः। यथा "दधाति"[17]। अङ्गमेव च इदमङ्गमिति ज्ञेयम्। यथा—"तं मत्स्यः प्राब्रवीत्"[18]। एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता, एतत् खलु सर्वं यथोक्तं विज्ञेयं गुर्वादिषोडशविधानं छन्दोभाषामधीयता॥ ५॥

सू० अ०—वैदिक भाषा (छन्दोभाषा) का अध्ययन करने वाले के द्वारा गुरुत्व, लघुता, साम्य, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, लोप, आगम, (वर्ण) विकार, प्रकृति (प्रकृतिभाव), विक्रम और क्रम, स्वरित, उदात्त, अनुदात्त, श्वास, नाद तथा अङ्ग—इन सबको जानना चाहिए।

---

(१) ७।३।१२	(२) ४।६।३	(३) १।७।३
(४) ६।३।७	(५) ६।३।८	(६) ४।१।८
(७) ४।७।५	(८) १।४।४४	(९) ५।५।९
(१०) २।५। २	(११) १।६।२	(१२) ३।२।९
(१३) ५।५।३	(१४) १।७।२	(१५) १।७।२
(१६) ५।१।६	(१७) ५।७।१	(१८) २।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रि०—यत् गुरुत्वाद्यष्टादशविधं एतत् सर्वं, छन्दोभाषां वेदरूपां वाचं अधीयता पठता विज्ञेयम्। अथवा छन्दोभाषां वेदलक्षणामित्यर्थः। तु शब्दोऽध्यायेतृव्यतिरिक्तनिषेधार्थः। अनेन तु सर्वथा विज्ञेयमित्यर्थः। गुरुत्वं यथा—"वषट्थ् स्वाहा"[1]। लघुता यथा—"अकुरुत"[2]। साम्यं यथा—स्थानकरणकालादिभिरनयोरस्ति तौल्यमिति। ह्रस्वदीर्घ-प्लुतानि च यथा—"गमयति"[3] "वायावेवास्य"[4]। "अस्तु ही३ इति"[5]। लोपो यथा—"ई मन्द्रासु प्रयसः"[6]। आगमो यथा—"त्रपुश्च मे"[7]। विकारो यथा—"समिन्द्रणः"[8]। प्रकृतिर्यथा—"अग्ने दुध्र गह्य किँशिल वन्य या ते"[9]। "प्रपा असि"[10]। "मिथुनौ अभवन्"[11]। विक्रमो यथा—"वोढवे"[12]। क्रमो नाम द्वित्वं यथा—"यद्वै होता"[13]। स्वरितोदात्तनीचानां भावः "स्वरितोदात्तनीचत्वं" तद्यथाक्रमं निर्दिश्यते—"न्यञ्चम्"[14]। "गां वाव तौ"[15]। "अवदताम्"[16]। "विवृते श्वासः"[17] इत्युक्तम्। श्वासो यथा—"पूषा ते"[18]। "संवृते कण्ठे नादः क्रियते"[19] इत्युक्तो नादः, यथा—"मागधे मागधा"[20]। "व्यञ्जनँस्वराङ्गम्"[21] इत्युक्तमङ्गं यथा—"तं मत्स्यः प्राब्रवीत्"[22]। विज्ञेयमिति नित्यविधिः, विपक्षे बाधात् "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुस्वरतोऽपरा……" ति ॥ ५ ॥

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः। स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसꣳसदं गच्छेदाचार्यसꣳसदमिति ॥ ६ ॥

त्रि०—पदक्रमविशेषज्ञः पदानां क्रमविशेषं यो वेत्ति, वर्णक्रमविचक्षणः यश्च वर्णानां

त्रि० अ०—जो गुरुत्व आदि अट्ठारह प्रकार का है; एतत् सर्वम्, = इस सब को, छन्दोभाषाम् = वेदरूप वाणी को; अधीयता = पढ़ने वाले के द्वारा; विज्ञेयम् = जानना चाहिए। अथवा छन्दोभाषाम् = वेदस्वरूपा (वाणी) को—यह अर्थ है। (सूत्रोक्त) तु शब्द अध्ययन करने वालों के अतिरिक्त का निषेध करने के लिए है। इस (अध्येता) के द्वारा तो सर्वथा जानना चाहिए—यह अर्थ है। …… ॥ ५ ॥

सू० अ०—(जो व्यक्ति) पद (-पाठ) और क्रम (-पाठ) के भेद को

---

(१) ७।३।१२ (२) ५।५।८ (३) १।७।३
(४) ६।३।७ (५) ७।१।६ (६) ४।१।८
(७) ४।७।५ (८) १।४।४४ (९) ५।५।६
(१०) २।५।१३ (११) ५।३।५ (१२) १।६।२
(१३) ३।२।९ (१४) ५।५।३ (१५) १।७।२
(१६) १।७।२ (१७) २।५ (१८) १।१।२
(१९) २।४ (२०) २।५।६ (२१) २१।२ (२२) २।६।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमविचक्षणः, स्वरमात्राविभागज्ञः यश्च स्वराणां विभागं वेत्ति, गच्छेदाचार्यसम्पदम्, एवंविधः स खलु आचार्यसमीपं गच्छति। आचार्याः पुनर्व्यासप्रभृतयः। तेषां च ब्रह्मलोके स्थानम्, यश्चेदं शास्त्रमधीते स आचार्यभूतः तेषां सदनं पूतो मेध्यो ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति। पदक्रमसदनम् ॥ ६ ॥

त्रि०—पदानां क्रमस्तस्य विशेषः तं जानातीति पदक्रमविशेषज्ञः। वर्णानां क्रमः तस्मिन् विचक्षणः निपुणः। स्वराश्च मात्राश्च स्वरमात्राः तासां विभागः तं जानातीति स्वरमात्राविभागज्ञः। मात्राशब्देन कालविशेषः कश्चिदुच्यते। सोऽपि चतुरणुक इत्यवादिष्म। एवंविधः पुरुषो गच्छेदाचार्यसंसदं स्थानम्। आचार्यास्तु व्यासादयः। तेषां ब्रह्मलोको हि स्थानम्। यश्चेदं शास्त्रं जानीते सोऽयमाचार्यत्वात् तेषां संसदं ब्रह्मलोकं गच्छति ॥

तथा च पौराणिका भणन्ति—

गरुडपुराणे—

आहुस्समस्तविद्यानां वेदविद्यामनुत्तमाम्।
अतस्तद्दातुरस्त्येव लाभस्स्वर्गापवर्गयोः ॥
विद्यानां च परा विद्या ब्रह्मविद्या समीरिता।
अतस्तद्दानतो राजन् सर्वदानफलं लभेत् ॥

जानता है, वर्णों के क्रम (अर्थात् संहिता-पाठ) में जो विचक्षण है; (और) स्वर और मात्रा को विशेष रूप से जानता है, वह आचार्य की समृद्धि को प्राप्त करे (अर्थात् वह आचार्यत्व करे)।

त्रि०—पदों का क्रम उसका विशेष उसको जो जानता है वह = पदक्रमविशेषज्ञ। वर्णों का क्रम उसमें विचक्षण अर्थात् निगुण। स्वर और मात्राओं के विभाग को जो जानता है वह = स्वरमात्राविशेषज्ञ। मात्रा शब्द के द्वारा काल-विशेष को कहा जाता है। वह भी चार अणुओं का होता है—यह कर चुके हैं। इस प्रकार का पुरुष आचार्यों की संसद अर्थात् स्थान को जाता है। आचार्य तो व्यास आदि हैं। ब्रह्मलोक में ही उनका स्थान है। जो इस शास्त्र को जानता है वह आचार्यत्व प्राप्ति के कारण उनकी संसद अर्थात् ब्रह्मलोक को जाता है।

और इसी प्रकार पौराणिक भी कहते हैं—

गरुड़ पुराण में (कहा गया है)—

सम्पूर्ण विद्याओं में वेदविद्या को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं अतः उन (वेदविद्या) को प्रदान करने वाले (गुरु) को स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति (होती) है। हे राजन्! विद्याओं में सर्वोत्कृष्ट विद्या ब्रह्मविद्या बतलायी गयी है। अतः उसके दान से समस्त दान का फल प्राप्त करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवीपुराणे—

वेद एव द्विजातीनां साधनं श्रेयसः परम् ।
ततोऽस्याध्यापनाभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
तमेव शीलयेत् प्राज्ञः शिष्येभ्यस्तं प्रदापयेत् ।
तदभ्यासप्रदानाभ्यां तत् किं यन्नाधिगच्छति ॥

तथा याज्ञवल्क्यः—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां दैवकर्मणाम् ।
वेद एव द्विजातीनां निश्श्रेयस्करः परः ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

काशीकाण्डे—

हित्वा श्रुतेरध्ययनं योऽन्यत्पठितुमिच्छति ।
स दोग्ध्रीं धेनुमुत्सृज्य ग्रामक्रोडीं दुधुक्षति ॥
वेदमेव सदाऽभ्यस्य तपस्तप्येद्विजोत्तमः ।
श्रुत्यभ्यासो हि विप्रस्य परमं तप उच्यते ॥

देवी पुराण में (कहा गया है)—

द्विजों के लिए वेद ही कल्याण का सर्वोत्तम साधन है। इसलिए इसके अध्यापन (एवम्) अभ्यास से परब्रह्म को प्राप्त करता है। विद्वान् उस (वेद) का ही अनुशीलन करे (तथा) शिष्यों के लिए उसका प्रदान करे। उस वेद के अनुशीलन और दान के द्वारा ऐसा क्या है ? जिसको नहीं प्राप्त कर सकता।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य (ने भी कहा है)—

यज्ञों के, तपश्चरणों के और कल्याणकर देवकार्यों के (मध्य में) वेद ही द्विजों के सर्वोत्कृष्ट कल्याण का सर्वोत्तम कर्त्ता है। जो द्विज वेदों को न पढ़कर दूसरी ओर परिश्रम करता है वह जीवित अवस्था में ही वंश-सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है।

काशी काण्ड में (कहा गया है)—

वेद के अध्ययन को छोड़कर जो दूसरे (विषय) पढ़ने की इच्छा करता है वह (मानव) पयस्विनी गौ को छोड़कर अल्पदुग्धा (गौ) को दुहना चाहता है। द्विजश्रेष्ठ वेद का ही सर्वदा अभ्यास करके तप का आचरण करे, क्योंकि वेदाभ्यास ब्राह्मण के लिए परम तप कहा गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारतेऽपि—

यो ब्रूयाच्चापि शिष्येभ्यः धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम् ।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां स तुल्यफलमश्नुते ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

वेददानादवाप्नोति सर्वयज्ञफलं नरः ।
उपवेदप्रदानेन गन्धर्वैस्सह मोदते ॥

ब्रह्मपुराणे—

न तत्कल्पसहस्रेण गदितुं शक्यते फलम् ।
यद्वेददानादाप्नोति स्वल्पादपि महामते ॥

भविष्यत्पुराणे—

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम् ।
सदाऽध्ययनयुक्तस्तु परे ब्रह्मणि लीयते ॥

वेदस्वरूपमुच्यते—

यजुर्वेदः पिङ्गलाक्षः कृशमध्यो बृहद्गलः ।
बृहत्कपोलः कृष्णाङ्घ्रि ताम्रः काश्यपगोत्रकः ॥

महाभारत में भी (कहा गया है)—

जो शिष्यों के लिए धर्मप्रद ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट विद्या (वेदवाणी) का उपदेश भी करता है वह भूमि एवं गौ के दानों के समान फल को प्राप्त करता है ।

विष्णु धर्मोत्तर (पुराण) में (कहा गया है)—

मनुष्य वेदाध्यापन से समस्त यज्ञों के फल को प्राप्त करता है उपवेदों के अध्यापन से गन्धर्वों के साथ (गन्धर्व लोक में) आनन्दित होता है ।

ब्रह्मपुराण में (कहा गया है) –

हे बुद्धिमान ! हजारों कल्पों द्वारा भी वह फल वर्णित नहीं किया जा सकता जो थोड़े से भी वेदाध्यायन से प्राप्त होता है ।

भविष्य पुराण में (कहा गया है)—

सन्तति-रहित सन्तति प्राप्त करता है, निर्धन धन प्राप्त करता है, सर्वदा अध्ययन में निरत व्यक्ति (अन्त में) परब्रह्म में लीन हो जाता है ।

वेद का स्वरूप कहा गया है –

यजुर्वेद रक्ताभ नेत्र वाला कृश मध्य भाग वाला पुष्ट कण्ठ वाला स्थूल कपोल एवं श्यामल मुख वाला ताम्र वर्ण एवं काश्यप गोत्रीय है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदाङ्गान्युच्यन्ते—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्यौतिषं तथा।
छन्दसां लक्षणं चेति षडङ्गानि विदुर्बुधाः॥
अनुपदं चानुपदं छन्दो भाषासमन्वितम्।
मीमांसान्यायतर्कश्च उपाङ्गानि विदुर्बुधाः॥

एवं साङ्गोपाङ्गं वेदं गोत्रस्वरूपादीनि विजानन्नधीयानः पूतो भवति।

यथान्तरे यथा तद्विदिदं शास्त्रं यदृच्छया।
असूत्रितेषु स्थानेषु पौरुषेयेषु वर्तते॥

तथाहि—"प्र नक्षत्राय देवाय"[१]। "स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुम्"[२]। "महि सत्पदशेनावस्युवाताः"[३]। "अपि सीद मिथुन्यष्टौ च"[४] इत्यादौ न वर्तते। "सिꣳहे व्याघ्र उत या पृदाकौ"[५]। "द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि"[६]। "आत्मना परा निष्प्रति शुक्रशोचिषा"[७]। "अस्मिꣳस्तनुवस्तुहि पिनाकम्"[८]। "उश्मसी पोषम्"[९] इत्यादौ तु वर्तते। गच्छेदाचार्यसꣳसदं इति पदवीप्सा शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति॥६॥

त्रिलोचनध्यानविशुद्धकौमुदीविनिद्रचेतः कुमुदः कलानिधिः।
स सोमयार्यो विततान सम्मतं विपश्चितां भाव्यमिदं सुबोधकम्॥

॥ इति श्रीत्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

॥ इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने चतुर्विंशोऽध्यायः॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥

वेदाङ्ग इस प्रकार बतलाये गये हैं—

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्दों का निर्देशक ये छह अङ्ग विद्वान् मानते हैं।

प्रतिपद, अनुपद, और छन्दो भाषा (प्रातिशाख्य) सहित मीमांसा, न्याय और तर्क (इन) उपाङ्गों को विद्वान् मानते हैं। इस प्रकार अङ्ग एवं उपाङ्गों सहित वेद का गोत्र, स्वरूप आदि को जानते हुए अध्ययन करने वाला पवित्र होता है।

॥ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सम्पूर्ण॥

---

(१) ब्रा० ३।१३ (२) ब्रा० २।५।२ (३) ४।४।२
(४) ६।५।८ (५) ब्रा० २।७।७ (६) ब्रा० १।२।२
(७) ६।४।१० (८) ४।५।१४ (९) १।३।६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट—१

वर्णक्रमेण तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य सूत्रानुक्रमणिका

अ

अकारवदोष्ठौ	२	२१	अथ विसर्जनीयः	८	५
अकारव्यवेतोऽपि	१	१७	अथ षकारम्	६	१
अकारश्च	१	३२	अथ सकारपराः	१६	१
अकारस्तु संहितायाम्	१५	८	अथ स्वरपरो यकारम्	९	१०
अकारार्धमैकारौकारयोरादिः	२	२६	अथ संहितायाम्	५	१
अकारो व्यञ्जनानाम्	१	२१	अथादावुत्तरेविभागे ह्रस्वं०	३	१
अकुर्व च प्रत्ययात्परः	५	७	अथालोपः	११	२
अक्षरव्यञ्जनानामुपलब्धि	२३	७	अथावर्णपूर्वे	१०	३
अघोषपरस्तस्य सस्थान-मूष्माणम्	९	२	अथैकमुभे	१०	१
अघोषादूष्मणः परः	१४	९	अथैकारेकारौ	४	८
अघोषे प्लाक्षेः	१४	१०	अथैकेषामाचार्याणाम्	१४	२
अघोषेषु श्वासः	२	१०	अधाऽग्नियाज्ये	३	९
अङ्गानामोनेगानिगानां	७	१०	अध्वर स्वरपरे	११	१
अते समानपदे नित्यम्	४	२४	अनन्तरो वा नीचैस्तराम्	१	४४
अत्ता भवता	३	१२	अनवर्णं पूर्वस्तु	८	१६
अथ चतस्र संहिता	२४	१	अनाकारो ह्रस्वस्साङ्कृत्यस्य	१६	१६
अथ न	६	६	अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा	२	२०
अथ न	१४	१४	अनिति परो ग्रहोख्ययाज्या	९	२०
अथ नकारो	७	१	अनुघर्मास आपोमर्तोरथ०	११	५
अथ नवादितस्समानाक्षराणि	१	२	अनुदात्तसमो वा	१	४५
अथ प्रग्रहाः	४	१	अनुदात्तो न नित्यम्	४	४३
अथ प्रथमः	८	१	अनुनासिके अनुनासिकम्	१०	११
अथ मकारलोपः	१३	१	अनुप्रदानात् संसर्गात्	२३	२
अथ लोपः	५	११	अनुस्वारश्च	१	३४
अथ लोपः	१२	१	अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः	१७	३
अथ वर्णविशेषोत्पतिः	२३	१	अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च	२१	६
अथ वर्णसमाम्नायः	१	१	अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः	२	३०
अथ वर्णानाम्	१२	५	अनेकस्यापि	१	२६
			अन्कारादि च	१	५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तरनाद्युदात्ते	८	१०
अन्तस्थापरश्च	५	२
अन्तः	४	३
अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं	२	३३
अन्वगमच्च	११	७
अन्वसर्गो मार्दवमुरुता	२२	१०
अन्वादेशोऽन्तस्य	१	५८
अपि चेन्नानानापदत्थमुदात्त०	२०	३
अपि विकृतम्	१	५१
अप्यकारादिः	१	५२
अग्रग्रहाः समानाक्षरानुनासि०	१५	६
अभिनिहतः च	२०	१०
अभिवात्वपश्च	११	६
अभ्यावर्तिन्नपूपमपिदधा०	१२	७
अमी चक्षुषी	२	३३
अरतिमस्य यज्ञस्यातिद्रुतो	११	१७
अरमृकारपरे	१०	८
अवग्रह आशीर्धूस्सुवरिति	५	१०
अवग्रह इत्येकम्	५	१८
अवग्रह उदातोऽरँसे	१६	२०
अवग्रहो वृषण्छीर्षण्ब्रह्मण्ण	१३	१३
अवग्रहः	६	९
अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते	९	९
अवर्णव्यञ्जन शकुनिपत्यृतु	६	७
अवर्णव्यवेतोऽपि	७	५
अवर्णे नात्युसरँहरतिमोष्ठहनु	२	१२
अवसाने विसर्जनीयजिह्वा०	१४	१५
अवसितं पूर्वस्य	२१	३
अवा सचस्वानुदामृडावर्धा	३	८
अविकृत एकेषाम्	५	३९
अवृत्परः	८	११
अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयो०	२२	१५
अशरँसन	१६	६
असदामासिञ्चरँश्च	६	३
असम्पूर्वोऽरमृकारः	५	९
असि	१२	२
अस्मे	४	९
अस्याश्विना०	११	१२
अं विकारस्य	१	२८
अःकारः आगमविकारिलोपिनाम्	१	२३
अहरहस्सुवरनिङ्क्ष्यान्तः	८	१३
अरँ हश्च सर्वेषाम्	८	१५
अरँहसोरँहतिरनिष्टृतो	११	४
आ		
आकार एकारपूर्वस्तु	४	४०
आकारेकारोकारास्सिषिप्ररा	१६	१४
आदिरहरँतिररँहोरँरहा	१६	२९
अदिरस्योदात्तसमशेषोऽनु०	१	४६
आद्यन्तवच्च	१	५५
आद्याः पञ्चविरँ शतिः स्पर्शाः	१	७
आन्महीं	४	३४
आपः पूर्वोऽद्भिरपांनपादस्मान्	११	८
आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरि०	१	१५
आयामो दारुण्यमणुता	२२	९
आविन्नस्सोमः पूर्वो०	११	१५
आविर्निरिडः शश्वतोऽपसोदेव०	८	२४
आसन्नरँ सन्देहे	१	२५
इ		
इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः	२	२८
इतिपरोऽपि	४.४.८	१२
इति स्वरनामधेयानि	२०	८
इद्विदग्न इमांएनमौषधीः	५	१७
इन्द्रा वह्वन्वान्परः	३	३
इन्द्रोमेऽकरूढ्वमिहाऽप्ये	५	२२
इन्द्रोऽयजुःपूर्व एनं केन	७	८
इवर्णपर एकारम्	१०	४
इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्रः	२०	१
इवर्णोकारौ यवकारौ	१०	१५
ईषत्प्रकृष्टावेकारे	२	१५
ईम्पूर्वो मकारः	५	१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ

उकारस्तूत्तरस्य २ २९
उकारोऽप्रक्तः० ९ १६
उकारौकारपरौ० १० २२
उख्यस्य सपूर्वः ८ २२
उच्चैरुदात्तः १ ३८
उत्तमपर० ८ २
उत्तमपरात्तु० १४ ११
उत्तमलभावात् ५ ३१
उत्पूर्वः सकारो ५ १४
उदथापरश्च ९ २४
उदयस्वरादि० २ ४७
उदात्तपूर्व० २० ७
उदात्तमुदात्तवति १० १०
उदात्तयोश्च० १० १६
उदात्तसमः शेषः १ ४२
उदात्तात्परो० १४ २९
उदात्तानुदात्त० १८ २
उदात्तें० १२ १०
उदात्तो वाल्मीकेः १७ ६
उन्नं वꣳशम् १६ २१
उपबन्धस्तु० १ ५९
उपलब्धिर्निमदः २३ ८
उपसर्गनिष्पूर्वो० ६ ४
उपसर्गपाथ० १४ ८
उपसर्गपूर्व० १० ९
उपसꣳहृततरे २ ६
उपसꣳहृततरे च २ १८
उपाꣳशुध्वान० २३ ५
उरसि मन्द्रं २३ १०
उवर्णपर ओकारम् १० ५
उश्मसी क्रयी० ३ १३

ऊ

ऊकारः ४ ५
ऊभावे च १० १७
ऊभावे प्रश्लिष्टः २० ५
ऊष्मपर एवैकेषाम्० ९ ५
ऊष्मपरो० ९ १
ऊष्मविसर्जनीय० १ १२
ऊष्माऽघोषो हारोतस्य १४ १८
ऊष्मा स्वरपरः १४ १६

ऋ

ऋकाररेफवति ६ ८
ऋकारर्कार १३ ६
ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ १ ३१
ऋग्विरामः० २२ १३
ऋजीषिजिगासि० १६ १८
ऋण्णषण्ण० १३ १४

ए

एकवर्णः पदमप्रक्तः १ ५४
एकव्यवेतोऽपि ४ ५१
एकान्तरस्तु सर्वत्र० २ २५
एकारे च २ २३
एकारैकारपर० १० ६
एकारोऽयम् ९ ११
एकेषामनुस्वार० २ १९
एफस्तु रस्य १ १९
एते तनुवौवैसमेव० ४ ४४
एष स स्य इति च ५ १५
एष्टरेतने० १० १४
एष्टश्च ८ १८

ऐ

ऐकार आयम् ९ १४
ऐकार उख्यस्य० १६ २४

ओ

ओकारन्तु प्रणव० १८ १
ओकारमः सर्वोऽकारपरः ९ ७
ओकारे च २ १३
ओकारोऽसाꣳहितो० ४ ६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओकारैकारपर औकारम् १० ७
ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे २ ४३
ओष्ठाभ्यां पवर्गे २ ३९
ओष्ठोपसꣳहार उवर्णे २ २४
ओष्ठौ तूपसꣳहृततरौ

ओ

औकार आवम् ९ १५

क

ककुच्च मकारपरः ८ ४
कखपकारपरः० ८ २३
कण्ठस्थानौ० २ ४६
कपवर्ग० ९ ४
करणमध्यं तु विवृतम् २ ४५
करणवदशब्द० २३ ६
करावनुदात्त पदे ८ ९
कुत्रा दक्षिणेन ३ १०
कृधिपिन्वपथेपरः ८ २५
कृष्टप्रथमद्वितीय० २३ १२
क्रमविक्रम० २३ २०
क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः २० ९

ग

गमयतो भवतोऽनूकारात् ४ ५२
ग्राह्मानो १२ ८
गुरुत्वं लघुता साम्यꣳ० २४ ५
ग्नी ४ ३६
ग्रहणस्य च १ २२
ग्रहणं वा १ २४

घ

घोषवत्परश्च ४ २८
घ्नी चक्रे पपरे ९ ८

ङ

ङपूर्वः ककारः सषकारपरः ५ ३२

च

चङ्णफणत्० १३ १२
चतुर्थोऽन्तरे० ५ ४०
चापोत्यन्वादेशकौ २२ ५
चित्रा वपरः ३ ४
ची यत्प्रपरः ४ ३३

ज

जकारग्नपर उदात्तः १२ ५
जपरो जकारम् ५ २३
जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु २ ३८
जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य० २ ३७
जिह्वामध्यान्ताभ्यां० २ १७

ट

टनकारपूर्वश्च तकार ५ ३३
टवर्गपरः १३ ११
टवर्गश्च तवर्गपरः १४ २०

त

तकारश्चकारꣳशचछपरः ५ २२
तच्च तुर्यमित्युक्तम् २३ १९
ततस्त्वनुसारः १५ ३
तत्परस्वरम् २१ २
तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम् ५ ३
तत्र शब्दद्रव्या २२ ३
तत्रैकविꣳशतियमाः २२ १२
तर्हाꣳस्तस्मिन् ६ १४
तस्मादकार० २० ४
तस्मिन् द्रियमान्तरा वृत्तिः २३ १७
तस्मिन्नुदात्ते पूर्व १२ ५
तस्य पूर्वपदमवग्रहः १ ४९
तस्य प्रातिश्रुत्कानि० २ ३
तस्य रूपान्यत्वे २२ २
तस्यादिरुच्चैस्तराम् १ ४१
तस्यामेव प्रकृतौ १९ ४
तान्यमानेके २१ १३
तामुपदेक्ष्यामः २३ १८
तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे २ २२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां०	२	४०
तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे	२	३६
ता वर्णप्रकृतयः	२	७
त्रिष्टन्त्येकया सपूर्णः	५	१९
तीव्रतर	१७	१
तुनुपूर्ण उदात्तयोर्वकारः	५	१३
तृतीयँस्वरघोषवत्परः	८	३
तेन च समानकालस्वरः	१	३३
ते पूर्वोऽद्यान्धोऽशुँरग्ने	११	१०
ते मापातं नम०	४	४२
तेषां दीप्निजोपलब्धिः	२३	१३
तैरोव्यञ्जन०	२०	१२
त्रपुमिथुपूर्वशकारश्चपरः	५	४
त्रिः प्लुतः	१	३६
त्वथैवेति	२१	६
त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः	४	१०

थ

थश्च ठम्	७	१४

द

दँसनाभ्यो दँसाभिः०	१६	१९
दन्तमूलेषु च लकारे	२	४२
दिवः सहसस्परिपुत्पपरः	८	२८
दीर्घं च पूर्वः	८	१७
दीर्घँसमानाक्षरे सवर्णपरे	१०	२
देवते उभे भागधे०	४	११
देवा शीका०	३	२
द्वावुत्तमोत्तरीयस्य रेफम्	८	२०
द्वितीयचतुर्थयोस्तु	१४	५
द्वितीयप्रथमकृष्टा०	२३	१४
द्वितीयान् मन्द्रस्तैत्तिरीयाणां	२३	१६
द्वियम एके द्वियमपरे	१९	३
द्विस्तावान् दीर्घः	१	३५
दृढे	४	२७
द्वे	४	४६
द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे	१	३

ध

धषवति	८	३३
धातारातिं	११	३
धीरासोऽदब्धास०	११	१६
धृतप्रचय कौण्डिन्यस्य	१७	३

न

नकार एतेषु	५	२४
नकारश्च	९	१६
नकारस्य	१७	४
नकारस्य	१५	१
नकारस्य	१७	४
नकारोऽनुनासिकम	५	२६
नकारः शकार०	५	२०
न क्रमे	२१	१६
न गर्भं	१२	३
न ग्रामी वर्चसी	४	५३
न ज्ञे अहे	४	३९
न तकारपरः	७	१५
न तत्तस्मात्साँहितः	१	१७
न धामापासि०	१०	१
न धिपूर्णे	६	११
न पदे०	१६	१७
न परो न	४	३२
न पूर्वशास्त्रे	१९	५
न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः	९	६
न प्लुतपूर्वम्	१	४
न प्लुतप्रग्रहौ	१०	२४
न भिर्म्योम्परः	८	१४
न मकारपूर्वः	५	३५
नमस्करोपरः	८	३०
नमः पूर्वोऽग्रे	११	४
न रश्मीञ्छपया०	९	२३
न रुन्धे नित्यम्	४	१४
न रेफपरः	५	२६
न विसर्जनीयः	१	१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न शसनं०	१६	७
न शार्यते	४	४१
न सक्रधकारपरे	८	२६
न सुषुम्नोऽग्नि	१३	१५
न सꣳसामिति	१३	४
नः पूर्वोऽसदः	११	१३
न स्येती मिथूनी	१०	१८
न स्वरस्पर्धा०	६	१३
न हकारः	१	१३
नह्यति०	७	१६
नाकारपरौ	९	१३
नाग्निवेश्यायनस्य	१४	३
नातिव्यक्तं	१७	८
नादोऽनुप्रदान०	२	८
नाध्वरं०	८	३२
नानापदवदि०	१	४८
नानापदसन्धान०	२४	३
नानापदीयं०	१	६०
नानुत्तम उत्तमपरः	१४	२४
नान्तविकारात्	१५	५
नान्तस्थापरमसर्वणम्	२१	१७
नायन्नैरयन्नार्ध्नु०	५	२१
नावग्रहपूर्वः	१६	११
नावग्रहः	४	२
नासः	५	१६
नासावा	१६	३१
नासिकाविवरणदा०	२	५२
नासिक्या नासिकास्थाना	२	४९
नासिक्याः	२१	८
नीचापूर्वो दकारः	५	८
नीचैरनुदात्तः	१	३६
नृश्रीपूर्वो०	७	९
नेति प्रतिषेधकः	२२	८
नैकेषाम्	८	१९
नैकेषाम्	१५	२
नोख्यस्य	१०	२०
नोदात्तस्वरितपरः	१४	३१
नोदात्तस्वरितपरः	२१	११
न्वती	४	२९
प		
पकारपूर्वश्च०	५	३६
पणिपणिवीयमाण०	१३	१०
पतीश्रुतिः	४	३५
पत्नीवेपती०	८	२७
पदक्रमविशेषज्ञो	२४	६
पद ग्रहणेषु पदं	१	५०
पदविवृत्त्यां	२०	६
पदसꣳहिताक्षर०	२४	२
पदान्तश्च०	१४	२८
पदं च०	१५	७
पपरो न	४	३०
पर इत्युत्तरः	१	३०
परश्च	४	१८
परश्च	४	५०
परश्च	१४	२२
परश्च द्वयोः	४	४५
परश्च परश्च	१०	२५
परश्चोभयोः	४	४७
पराश्चतस्रोऽन्तःस्थाः	१	८
परिवाप्रपरः	८	३४
परेण चासꣳहितम्	२१	५
परे षड्ऊष्माणः	१	९
पाणि-गण०	१३	९
पारीपरिपरोप्रपूर्वः	७	४
पुमीपूर्वश्च नित्यम्	१६	९
पूर्व इति पूर्वः	१	२९
पूर्वश्च	४	१६
पूर्वान्तसस्थानो	२	४८
पृक्तस्वरात् परो०	१३	१६
प्रचयपूर्वश्च०	१९	२
प्रथम ऊष्मरो द्वितीयम्	१४	१२
प्रथमद्वितीयतृतीय०	१	११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमपरश्च०	१४	१७
प्रथमपूर्वो हकारश्०	५	३८
प्रथमो वर्गोत्तरो०	१	२७
प्रयत्नविशेषात्०	१७	७
प्रश्लिष्टप्राति०	२०	११
प्रस्थेन्द्रिया द्रविणा	३	५
प्रापर्वश्च	७	७
भ		
भरता याज्यासु	३	११
भूयान् प्रथमेभ्यो०	२	११
म		
मकारः स्पर्श०	५	२७
मध्यमेन स वाक्प्रयोगः	१७	४
मध्ये हकारः	२	६
मन्द्रमध्यम०	२२	११
मन्द्रादयो०	२३	१५
मन्द्रादिषु त्रिषु	२३	११
मर्त्यानुदया०	९	२१
मापदादिरनुदात्तः	१६	८
मासिमासुमासो०	१६	१२
मीमाꣳसकानां च	५	४१
मुखनासिक्या वा	२	५०
मे पूर्वश्च	११	११
मोवचोदधान०	१२	६
मꣳस्ये-मꣳसतै०	१६	२०
मꣳहिष्ठस्य च	१६	२८
य		
यथाप्रयोगं वा सर्वेषां०	१७	७
यथायुक्ताद्विधिस्सा प्रकृतः	५	२
यथास्वमक्षरसꣳहिता०	२४	४
यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपद०	१	६१
यदुपसꣳहरति तत् करणम्	२	३२
यद्व्यञ्जनान्तं	२२	४
यवकारपरश्चैकेषाम्०	५	३०
यवकारपरश्चैकेषाम्	१३	३
यवनहपरः स्वरपरेसु	१२	४
ये अप्रथेतामुर्वी०	४	२०
येन स्पर्शयति तत् करणम्	२	३४
र		
रषःपूर्वो हवन्यह्नेहन्	७	११
रꣳह्यै च	१६	२३
रापूर्वश्च	१६	४
रायस्पोपरः	८	२९
रायेसइन्द्रः पूर्वश्चाकारपदे	११	९
रासः सप्तेऽग्निर्निर्विदुर्मीढुः०	६	५
रुपूर्वो मयान्यत्ती	७	१२
रेफपरश्च हकारः	१४	१९
रेफपूर्वयोश्च नित्यम्	१४	६
रेफमेतेषु	८	६
रेफात् परं च	१४	४
रेफे जिह्वाग्रमध्येन०	२	४१
रेफोष्मपरः	१३	२
रेफोष्मसंयोगे०	२१	१५
ल		
लकारपूर्वे च	१४	२१
लकारो हशवकारपरो	१४	२६
लतवर्गौ यवकारपरौ		
लपरौ लकारम्	५	२५
लवकारपूर्वः०	१४	२
लुप्यते त्वकार०	११	१
लुप्यते त्ववर्णपूर्वो०	१०	१९
लेशो वात्सप्रस्यैतयोः	१०	२३
लोक एवेष्टा	३	६
व		
वफारस्तु साङ्कृत्यस्य	१०	२१
वर्गवच्चैषु	२	५१
वर्णकारौ निर्देशकौ	२१	४
वर्णपृक्तः शब्दो०	२३	२
वर्णस्य विकारलोपौ	१	५६
वर्णः कारोत्तरो०	१	१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसुष्ककारपरः	८	३१
वाघाषपूर्वस्तृष्टम्	७	१३
वाऽमीकारस्यासस्थानपरः	१४	१३
वाससी तपसी,	४	१७
वाहन उह्यमानो०	७	६
विकृतेऽपि	१६	३
विनाशो लोपः	१	५७
विरित्रि सङ्ख्यास्तु	१६	२५
विवृत्ते श्वासः	१	५
वीडद्वारौ कृष्णश्च	४	३८
वेति वैभाषिक	२१	७
व्यचस्वती भरिष्यन्ती	४	१९
व्यञ्जनकालश्च	१७	५
व्यञ्जनपर०	५	३७
व्यञ्जनशेषो०	१	१४
व्यञ्जनꣳ स्वराङ्गम	२१	१
व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि	१४	३०
व्यवेताऽपि	१३	७
व्युतपूर्व०	३	१४
श		
शक्ती रथी	३	७
शब्दः प्रकृतिस्सर्ववर्णानाम्	२२	१
शꣳस्ताऽनन्तोदात्ते	१६	५
शिꣳशुमारः०	१६	२४
शेषो व्यञ्जनानि	१	६
ष		
षुषूक्रधिसुवः०	७	१
षोडशादितः स्वराः	१	५
स		
सकायपरश्च	१६	१०
सन्तानेभ्यः	६	१२
सपूर्वस्यां०	११	१९
सप्त वाचःस्थानानि	२३	४
समहदर्थपित्पूर्वश्च	४	७
समाहारः स्वरितः	१	४०
समीची	४	३१
सम्पूर्वस्सकारः	५	६
समꣳसर्वत्रेत्ति	१७	२
सयकारवकारं	२०	२
संयोगादिः	२१	४
सर्वमेकयमं	१५	९
सर्वौ नेत्येके	१४	३३
सर्वप्रवण इत्येके	१	४७
सवर्णसवर्गीयपरः	१४	२३
सवस्थानम्	६	१०
सव्यञ्जनोऽपि	१	४३
सशब्दमुपब्दिमत्	२९	९
संवृत्तकरणतर०	२	२७
सवृते कण्ठे०	२	४
साङ्कृत्यस्य	८	२१
सितृहहकारपरः	१६	२७
सुपूर्वश्च चन्द्रपरः	५	५
सोमाय स्वैतस्मिन्	४	४८
स्थः परः	४	४३
स्पर्श एवैकेषामा०	१४	३
स्पर्शपूर्वः	५	३४०
स्पर्शश्चोष्म०	२१	१०
स्पर्शस्थानेषू०	२	४४
स्पर्शानामानुपूर्व्येण	१	१०
स्पर्शादनुत्त०	२१	१२
स्पर्शः स्पशपरः	१४	२७
स्पर्शोह पाशपदादयः	१६	२
स्पादिषु चैकपदे०	१५	४
स्वरपूर्वं	१४	१
स्वराणां यत्रोपसꣳहार	२	३१
स्वरितात्०	२१	१०
स्वरितानुदात्त०	१०	१२
स्वरितश्च	१२	११
स्वरिततः प्लाक्षि०	१७	५
स्वानासो दिव्यासो०	६	२
स्वारविक्रमयोः०	१७	६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह		
हकारान्नणम०	२१	१४
हकारो हचतुर्थेषु	२	९
हनूमूले जिह्वामूलेन०	२	३५
हन्यादुप्यमानं च	७	३
हरो सहुरी०	४	१५
ह परः	४	३७

हि पु जिगा०	१६	१३
हिरण्मयम्	१३	८
ह्रस्वपूर्वो ङकारो	९	१८
ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जम्	१	३७
ह्रस्वो वर्णोत्तर०	१	२०
ह्रारभार्वाहार०	८	८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट–२

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्थाचार्याणां नामानि

अग्निवेश्यः ९।४
अग्निवेश्यमानः १४।३२
आत्रेयः ५।३१, १७।८
उख्यः ८।२२, १०।२०-२४
उत्तमोत्तरीयः ८।२०
काण्डमायनः ९।१, १५।७
कौण्डिन्यः ५।३८
गौतमः ५।३८
पौष्करसादिः ५।३८
प्लाक्षायणः ९।६
लाक्षिः ५।३८
वाडवीकारः १४।१३
भरद्वाजः ५।४०
भारद्वाजः १७।३
माचाकयः (मैचिकायः) १०।२२
वात्सप्रः १०।२३
वाल्मीकिः ५।३६
शाङ्खायनः १५।७
शैत्यायनः ५।४०
साङ्कृत्यः ८।२८
स्थविरकौण्डिन्यः ५।४०
हारीतः १४।१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट–३

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्थपारिभाषिकशब्दानामनुक्रमणिका

अक्षर—(१) व्यञ्जन से युक्त स्वरवर्ण (२) केवल स्वरवर्ण

अघोष—नाद-रहित (= श्वास) वायु से उच्चारित होने वाला वर्ण—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, ‿क, ‿प, श, ष, स; तथा विसर्जनीय (:)।

अनुदात्त—उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चारित स्वर।

अनुनासिक—वर्गों के पञ्चम वर्ण—ङ, ञ, ण, न, म, अनुनासिक स्वर अँ तथा अनुनासिक अन्तःस्था य्̃, व्̃।

अनुप्रदान—वर्णोच्चारण में बाह्यप्रयत्न—नाद; श्वास तथा हकार।

अनुस्वार—शुद्ध नासिक्य वर्ण (अं)।

अन्तःस्था—वर्णमाला में स्पर्श तथा ऊष्म वर्णों के मध्य में पठित वर्ण—य, र, ल, व।

अपृक्त—किसी व्यञ्जन से न मिला हुआ एक स्वरात्मक पद।

अभिनिधान—अघोष ऊष्मवर्ण तथा स्पर्श वर्ण के मध्य में स्पर्श के समान स्थान वाले प्रथम स्पर्श का आगम होना।

अभिनिहित स्वरित—पृथक् पदों के अन्त में स्थित उदात्त एकार अथवा ओकार से बाद आने वाले अनुदात्त का लोप होने पर निष्पन्न होने वाला स्वरित।

अवग्रह—इङ्क्रम्य (सावग्रह) पद का पूर्व-पद।

अवसित—पद के अन्त (अवसान) में स्थित व्यञ्जन।

आगम—दो वर्णों के मध्य में अतिरिक्त वर्ण का आ जाना।

आयाम—उच्चारणावयवों का ऊपर जाना।

इङ्क्रम्य—पदपाठ में अवग्रह (ऽ) द्वारा दो खण्डों में विभक्त पद।

उदय—अव्यवहित परवर्ती वर्ण।

उदात्त—उच्चारणावयवों के ऊपर जाने से उच्चारित स्वर।

उपध्मानीय—‿प यह वर्ण।

उपबन्ध—संहिता का वह सुसम्बद्ध अंश जिसे प्रतिशाख्य के सूत्रों में अनेक प्रकार से निर्दिष्ट करके उसके विषय में कार्य का विधान किया जाता है।

उपब्दिमत्—उच्च ध्वनि से किया जाने वाला उच्चारण। वाणी का चतुर्थ स्थान जिसमें स्वर और व्यञ्जन का भेद स्पष्ट होता है।

उपसर्ग—नाम तथा आख्यात के सम्पर्क में आकर अर्थ को प्रकाशित करने प्र, अभि, आ इत्यादि पद।

उपांशु—बिना शब्द किए किन्तु मन ही मन में न किया जाने वाला उच्चारण अर्थात् कानाफूसी के समान उच्चारण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊष्मन्—मुख से निकलने वाली ऊष्म (गर्म) वायु के प्राधान्य से उच्चारित होने वाले वर्ण—ऽक, ऽप, श, ष, स, ह।

एफ—र की आख्या।

करण—वर्णों के उच्चारण में सक्रिय मुखावयव।

कार—स्वर और व्यञ्जन की आख्या।

क्रम—वर्ण का द्विरुच्चारण।

क्रमपाठ—दो-दो पदों का अव्यवहित उच्चारण।

क्षैप्रस्वरित—उदात्त इ वर्ण और उकार का यकार ओर वकार होने पर निष्पन्न स्वरित।

गुरु—(१) द्विमात्रा काल में उच्चारित होने वाले स्वर वर्ण (२) संयोग पूर्व ह्रस्व स्वर वर्ण (३) अनुनासिक युक्त वर्ण तथा (४) व्यञ्जनान्त वर्ण।

ग्रहण—तैत्तिरीय प्रतिशाख्य के सूत्र में उद्धृत वैदिक शब्द।

घोषवत्—अघोष व्यतिरिक्त शेष वर्णराशि—ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व, ह, अनुस्वार, (—) नासिक्य (ँ), क, यम—कँ् खँ् गँ् घँ् आदि स्वरभक्ति।

जिह्वामूलीय—जिह्वा के मूल से उच्चारित होने वाले वर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, ँ क।

तार—उच्चध्वनि से उच्चारण।

तैरोव्यञ्जन स्वरित—एक पद में व्यञ्जन के व्यवधायक होने पर पूर्ववर्त्ती उदात्त के प्रभाव से निष्पन्न स्वरित।

दीर्घ—द्विमात्रिक स्वरवर्ण—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ,।

द्रुत—बोलने की तीव्र गति।

ध्वान—उच्चारण की वह अवस्था जिसमें स्वर तथा व्यञ्जनों के भेद का ज्ञान न हो।

नाद—स्वर और घोषवत् वर्णों की प्रकृति।

नासिक्य—(१) नासिका से उच्चारित होने वाला वर्ण विशेष (ं) (२) यम—कँ् खँ् गँ् घँ् इत्यादि (३) नासिका से उच्चारित किया जाने वाला नासिका से सम्बद्ध आगम हूँ।

नित्यस्वारत—(१) अपूर्व यकार अथवा वकार से युक्त स्वारित जिसके पूर्व (उदात्त अथवा अनुदात्त) कोई भी स्वर न हो (२) अनुदात्त पूर्व—जिसके पूर्व में अनुदात्त हो, ऐसा स्वरित।

निमद—उच्चारण की वह अवस्था जिसमें स्वरों और व्यञ्जनों के भेद का ज्ञान हो।

पादवृत्तस्वरित—विवृत्ति के व्यवधायक होने पर भी पदान्त उदात्त के प्रभाव से पदादि अनुदात्त के स्थान पर होने वाला स्वरित।

प्रग्रह—परवर्ती स्वर वर्ण के साथ विकार संभव होने पर भी विकार को प्राप्त न करने वाले स्वर वर्ण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचय—स्वरित के बाद में विद्यमान तथा उदात्त के समान उच्चारित होने वाला अनुदात्त।

प्लुत—त्रिमात्रिक स्वर वर्ण आ,३ ई,३ ऊ,३।

प्रवण—स्वरित का पर्यायवाची।

प्रश्लिष्ट स्वारित—उकारद्वय की प्रश्लिष्ट सन्धि से निष्पन्न स्वरित।

प्रातिहत स्वारित—पदान्त उदात्त के बाद में विद्यमान पदादि अनुदात्त के स्थान पर होने वाला स्वरित।

मध्यम—कण्ठ में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान (stage)।

मन्द्र—हृदय में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान (stage)।

मात्रा—वर्णों के उच्चारण काल को मापने की इकाई।

यम (tuir) नासिक्य वर्ण—ङँ, ञँ, णँ, नँ, मँ, ङँ, ञँ, णँ, नँ, मँ, ङँ, ञँ, णँ, नँ, मँ।

यम (tone)—षड्ज आदि सात स्वर (musical notes) अथवा इन स्वरों के धर्म।

लघु—एक मात्राकाल से उच्चारित स्वर वर्ण—अ, ई, उ, ऋ, ऌ।

लोप—वर्ण का अनुच्चारण, अदर्शन।

वर्ग—पाँच-पाँच स्पर्शों का समूह—(१) कवर्ग—क, ख, ग, घ, ङ, (२) चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ, (३) टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण (४) तवर्ग—त, थ, द, ध, न (५) पवर्ग—प, फ, ब, भ, म।

वर्ण—अकारादि ध्वनियाँ।

वर्णसमाम्नाय—वर्णमाला (वर्णों का समूह)।

विक्रम—परिस्थिति-विशेष में स्वरित या प्रचय होने पर भी अपरिवर्तित अनुदात्त।

विलम्बित—बोलने की धीमी गति (speed)।

विवृत—स्वरतन्त्रियों की विस्तृतता।

विवृत्ति—दो स्वरवर्णों के मध्य कालकृत व्यवधान।

विसर्जनीय—वायु के विसर्जन से उच्चारित होने वाला वर्ण (:)।

वृत्ति (mode)—बोलने की गति (speed)।

व्यञ्जन—स्वर की सहायता से उच्चारित होने वाले वर्ण—कवर्ग—क, ख, ग, घ, ङ, चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ, टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण, तवर्ग—त, थ, द, ध, न, पवर्ग—प, फ, ब, भ, म, अन्तःस्था य, र, ल, व ऊष्मन्—क̐ श ष स प̐ ह अनुस्वार (ं) विसर्जनीयः (ः), नासिक्य (ँ) यम—ङँ् ञँ् णँ् नँ् मँ् आदि स्वरभक्ति।

श्वास—अघोष वर्णों की प्रकृति।

समानाक्षर—सर्वांश में समान रूप से उच्चारित होने वाले वर्ण—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ।

सवर्ण—समान उच्चारण स्थान, समान करण तथा समान आस्यप्रयत्न वाले वर्ण—अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोग—अव्यवहित व्यञ्जन, व्यञ्जनों का मेल।
संवृत—स्वरतन्त्रियों की अत्यधिक सन्निकटता।
संहिता—वर्णों अथवा पदों की अत्यधिक सन्निधि।
स्थान—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थल।
स्पर्श—स्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न से उच्चारित होने वाले व्यञ्जन वर्ण कवर्ग—क ख ग घ ङ चवर्ग—च छ ज झ ञ टवर्ग—ट ठ ड ढ ण तवर्ग—त थ द ध न पवर्ग—प फ ब भ म।
स्वर (Vowels)—अ, आ,३ इ, ई,३ उ, ऊ,३ इ, ॠ, ॡ, ए ऐ ओ औ :
स्वर (Accents)—स्वरवर्ण के उच्चारण धर्म—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय।
स्वरभक्ति—स्वर का अंश अर्थात् अतिह्रस्वस्वर। स्थिति—स्वर+र+ऊष्म = स्वर+र+स्वरभक्ति+ऊष्म।
स्वरित—उच्चारणावयवों के तिरछे जाने से उच्चारित होने वाला स्वर वर्ण। उदात्त और अनुदात्त का मिश्रित रूप।
ह्कार—संवृत्त और विवृत्त की मध्यम अवस्था। घ झ ढ भ ह इन वर्णों की प्रकृति।
ह्रस्व—एक मात्रा वाले स्वर वर्ण—अ इ उ ॠ तथा ॡ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri